जय श्रीसीतारामजी की

दो शब्द

श्रीसीतारामजी की कृपा से आज पुस्तक-भंडार ने यह तिलक प्रकाशित कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है। हमारी बरसों से इच्छा थी कि श्रीरामचरितमानस पर सुन्दर टीका हम जनता के समक्ष उपस्थित करें। इस कार्य के लिये कई विद्वान् सामने आये और टीका लिख डालने की रुचि दिखलाई। एकाध ने तो आदर्श में कुछ लिखकर दिखलाया भी, परन्तु अज्ञात कारणवश हमें सन्तोष नहीं हुआ। यह कार्य यों ही पड़ा रहा और इधर पुस्तक-भंडार की आयु बढ़ती चली गई!

आज से प्रायः चार बरस पहले हमारे मित्र वैष्णव-भूषण 'श्रीपलटलालजी, एम्० ए०, बी० एल्० के यहाँ इस तिलक के रचयिता श्री १०८ महात्मा पण्डित श्रीकान्तशरणजी ने कृपा करके श्रीरामायणजी की कथा कही थी और उसी समय आपके 'मानस-तत्त्व-विवरण' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था। प्रभु-कृपा से हमारे हृदय में यह बात आई कि इनसे तिलक लिखने के लिये प्रार्थना की जाय! कई दिनों तक प्रार्थना करने का साहस नहीं हुआ। अन्ततः, कथा समाप्त होते-होते हमने प्रार्थना कर ही दी। श्रीमहाराजजी ने इसे स्वीकार किया और श्रीअवध लौटकर तिलक लिखने में हाथ लगाया। प्रायः ढाई बरसों में, रात-दिन अनवरत परिश्रम कर, प्रभुकृपा से यह तिलक आपने लिखा। इतने दिनों तक आपने भगवद्-सम्बन्धी अपने सभी अन्य नियमों को समेट डाला।

श्रीमहाराजजी ने तिलक तो समाप्त कर दिया, लेकिन वर्तमान युद्ध के कारण इस वृहद् ग्रन्थ के छापने की समस्या जटिल जान पड़ी। संयोग से श्रीमहाराजजी श्रीमिथिलाजी विचरते पुस्तक भंडार में इस विचार से आये कि यदि अभी यह तिलक न छपा तो पीछे कापी का सम्पादन तो दूर रहा, यह नष्ट हो जायगी उनके दर्शन मिलते ही हममें वह स्फूर्ति आई कि उसी क्षण प्रेस को कापी दे दी गई और श्रीमहाराजजी से तिलक समाप्त होने तक प्रेस में ठहरने की प्रार्थना की गई। प्रभुकृपा से आपने स्वीकार कर लिया।

इस महँगी के समय कागज़ और छपाई की सामग्री जुटाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव-सा हो गया है। परन्तु, इस तिलक के लिये इसका संग्रह बिना प्रयास होता गया। श्रीमहाराजजी ने भी रात-दिन के अनवरत परिश्रम से ग्यारह महीने यहाँ ठहरकर तिलक के सम्पादन में अपनेको खपा डाला। इस प्रकार आज यह तिलक श्रीसीतारामजी की कृपा से सामने है। हमारी साध पूरी हुई और श्रीमहाराजजी का आशीर्वाद-स्वरूप 'पुस्तक-भंडार' को यह 'तिलक' मिला!

पुस्तक भंडार की स्थायी सम्पत्ति स्वरूप गत २६ बरसों में जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह तिलक शिरोभूषण है और एक एकान्तनिष्ठ महात्मा का आशीर्वाद है। बिना प्रयास के इस गौरव को पाकर यह अपनेको धन्य समझता है।

श्रीमहाराजजी के विषय में हम कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु आपने इसके लिये आज्ञा न दी। इतना अवश्य है कि यह तिलक संसार का कल्याण करता हुआ, श्रीमहाराज-जी को संसार से भूलने न देगा।

हम भी अपनेको धन्य मानते हैं कि इतना बड़ा गुरुतर कार्य पुस्तक-भंडार से सम्पन्न कराके श्रीसीतारामजी ने पुस्तक-भंडार पर निर्हेतुकी कृपा की है। हम और यह पुस्तक-भंडार दोनों श्रीमहाराजजी के सदा कृतज्ञ रहेंगे और जो कुछ अपराध समीप में रहने के कारण हमसे हो गया हो उसे अपनी ओर देखकर क्षमा कर देंगे।

श्रीसीतारामजी के उपासकों का चरणरेणु—

ज्येष्ठ शुक्ल २, २००१,

रामलोचनशरण

—॥ श्रीरामः ॥—

श्रीरामचरित-मानस

की

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ-संख्या

उपोद्घात ... ... १—५
श्रीगोस्वामीजी के दार्शनिक विचार ... ६—३९
श्रीगोस्वामीजी की प्रामाणिक गुरुपरंपरा ... ४०—४१
नवाह्न-मासिक विराम ... ... ४२—४३
पारायण विधि ... ... ४४—४६
अनुष्ठान के प्रयोग ... ... ५०—५४
श्रीरामशलाका प्रश्न ... ... ५५—५६

बालकाण्ड

मंगलाचरण-देव-वन्दना ... ... १—२३
गुरुदेव-वन्दना ... ... २४—३४
विप्र और सन्त-वन्दना ... ... ३४—४६
खल-वन्दना ... ... ४६—५२
साधु-असाधु-वन्दना ... ... ५२—६३
कार्पण्य-युक्त-वन्दना ... ... ६३—९१
कवि-वन्दना ... ... ९१—६५
वाल्मीकि-वेद-ब्रह्म-शिव आदि की वन्दना ... ... ६६—१०१
धाम-परिकर-श्रीसीतारामरूप-वन्दना ... ... १०२—११६
श्रीराम-नाम-वन्दना ... ... ११६—१६१

विषय	पृष्ठ-संख्या
अपनी दीनता एवं श्रीरामगुण-वर्णन	१६१—१६६
श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य	१६९—१८४
श्रीअयोध्याधाम वर्णन एवं रामचरित मानस-अवतार	१८४—१९३
मानस-प्रसंग (कीर्त्ति-सरयू-सहित)	१९४—२४०
श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद	२४०—२५४
उमा-शंभु-संवाद	२५४
सती-मोह-प्रसंग	२५४—२८७
पार्वती-जन्म एवं तप	२८८—३०५
पार्वती-प्रेम-परीक्षा	३०५—३१८
मदन-दहन	३१८—३३०
द्वितीय बार की प्रेम-परीक्षा	३३०—३३४
शिव-बारात-वर्णन	३३४—३३८
उमा-शंभु-विवाह	३३८—३५८
कैलास-प्रकरण	३५८—४१०
उमा-प्रश्न	३५८—३७७
प्रश्नोत्तर	३७७—४१०
अवतार-हेतु	४११—५३८
वैकुंठवासी विष्णु भगवान् के रामावतार का हेतु	४११—४१६
नारद-मोह एवं क्षीरशायी अवतार	४१६—४५०
श्रीरामावतारों के त्रिविध भेद	४५०—४५१
मनु-शतरूपा	४५२—४७६
भानु-प्रताप	४७६—५१६
रावणादि जन्म	५१६—५३८
अवतार और बालचरित	५३८—५७४
विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा	५७४—५८८
अहल्योद्धार	५८८—५९३
श्रीमिथिला-यात्रा	५९४—६२७
पुष्प-वाटिका	६२७—६६५
धनुष-यज्ञ	६६५—७२७
परशुराम-पराजय	७२७—७६३
श्रीसियरघुवीर-विवाह	७६३—८८६

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

भगवते श्रीरामानन्दाय नमः

श्रीमते गोस्वामि तुलसीदासाय नमः

ॐ नमो गुरुभ्यः

उपोद्‌घात

प्रातःस्मरणीय परम-पूज्य जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजी की भक्ति-रसमयी और जगन्मनोहारिणी वाणी के द्वारा निष्पन्न सर्वमान्य द्वादश ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, यथा—"राम-लला नहछू, त्यों विराग संदीपनिहूँ, बरवै बनाइ बिरमाई मति साँईं की। पारबती, जानकी के मंगल ललित गाय, रम्य राम-आज्ञा रची कामधेनु नाईं की॥ दोहा औ कवित्त, गीतबंध, कृष्णकथा कही, रामायन बिनै माँहि बात सब ठाईं की। जग में सोहानी जगदीसहू के मनमानी, संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की॥" यह मिरजापुर-निवासी पं० रामगुलाम द्विवेदीजी ने लिखा है। इनमें श्रीरामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली और रामाज्ञा—ये छः बड़े-बड़े ग्रंथ हैं और रामलला नहछू, वैराग्य-संदीपनी, जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, बरवै रामायण और कृष्णगीतावली—ये छः छोटे-छोटे हैं; (श्रीहनुमानबाहुक कवितावली का ही अंश है।)

श्रीगोस्वामीजी के इन ग्रंथों में श्रीरामचरितमानस एक परम रहस्यमय ग्रंथ है। यह निबन्ध पूर्वक लिखा गया है। इसमें समस्त सद्ग्रंथों का सार तत्त्व अत्यन्त संक्षेप में कहा गया है, जैसा कि—"नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्‥" इस ग्रंथकार की प्रारंभिक प्रतिज्ञा से ही स्पष्ट है। यह इतना सरल है कि हिन्दी की साधारण वर्णमाला जाननेवाले भी इसे पढ़कर लाभ उठा सकते हैं, पर इसका आशय इतना गूढ और गम्भीर है कि बड़े-बड़े विद्वानों को आजीवन प्रयास करने पर भी सम्यक् रूप से उसका ज्ञान होना अति दुर्लभ है। अभ्यास करने से प्रति दिन नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। यह केवल नर-काव्य नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट कहा भी गया है—"भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।" (बा० दो० १५) "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा० दो० ३०) एवं "गुरु-पद-रज‥‥तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥" (बा० दो० १) इत्यादि इन सबकी सहायता से श्रीगोस्वामीजी की दिव्य प्रतिभा के द्वारा यह निष्पन्न हुआ है अतएव इसकी महिमा अपरिमित है। इसी से संसार-भर—कङ्गाल की झोपड़ियों से लेकर राजा के महलों तक—में इसका आदर है।

जिस तरह श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनामाराधन से श्रीरामजी का साक्षात्कार किया, उसी तरह और इसी साधन से आपने इस 'श्रीरामचरितमानस' को भी प्राप्त किया जिसके द्वारा आपने सारे जगत को अपना लिया है। इस ग्रंथ के कहने पर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रह गई जिसके कहने की आवश्यकता हो। यह प्रधानतया आध्यात्म विद्या का ग्रंथ है, साथ ही इसमें प्रकृति-चित्रण एवं लोक-रीतियों के भी पूर्ण रूप से प्रदर्शन कराये गये हैं।

प्राचीन टीकाकार करुणासिंधु श्रीरामचरणदासजी, श्रीशिवलाल पाठकजी, श्रीजानकीदासजी, श्रीसंतसिंहजी पंजाबी, श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी, श्रीवंदन पाठकजी, श्रीहरिदासजी और श्रीविनायकरावजी आदि ने टीकाएँ लिखकर और रामायणी श्रीरामबालकदासजी ने टिप्पणियाँ लिखकर एवं और भी बहुत-से महानुभावों ने इस ग्रंथ पर अपने-अपने विशद भाव व्यक्त किये हैं। पं० रामकुमारजी ने माधुर्य के जितने विशद भाव प्रकट किये हैं, उतने और किसी के नहीं पाये जाते।

ऐसे टीकाकारों एवं रामायणी व्यासों के भाव उनकी कथाओं से लिख-लिखकर, महान् परिश्रम से महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी ने मानसपीयूष का निर्माण किया। जिससे जहाँ-तहाँ के लोग भी रामायणी होने लगे; अन्यथा श्रीअयोध्याजी एवं श्रीकाशीजी आदि में टिप्पणियाँ लिख-लिखकर ही होते थे।

उक्त ग्रंथों के रहते हुए भी इस तिलक को सामने रखने की प्रवृत्ति क्यों हुई? इसका उत्तर यह है कि पूर्व के टीकाकारों में मयङ्ककार श्रीशिवलाल पाठकजी, श्रीकरुणासिन्धुजी एवं और भी कई महानुभाव दर्शन-शास्त्र के भारी विद्वान् थे। पर उस समय इस भाषा के ग्रंथ पर दार्शनिक विचारों की दृष्टि से टीका करने की प्रवृत्ति टीकाकारों में नहीं थी। दिनोंदिन इस ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई। तब कुछ केवलाद्वैत सिद्धान्त के विद्वानों ने मानस पर केवलाद्वैत सिद्धान्त लिखना प्रारंभ किया। तब श्रीरामानन्दीय वैष्णवों की इस ओर विशेष दृष्टि हुई, क्योंकि इनका तो यह ग्रंथ सर्वस्व ही है। श्रीगोस्वामीजी इसी सम्प्रदाय की परम्परा में हैं, इसको सभी जीवनी-लेखकों ने माना है।

कई वैष्णव रामायणियों ने मुझसे कहा कि मानस के सिद्धान्त-निर्णय पर मैं कुछ लिखूँ। पुनः सं० १९९९ में जब मैं श्रीचित्रकूट में था, वहाँ पर न्या० वे० आचार्य पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी पधारे, फिर संयोगतः दर्शननिधि श्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेसरी (सिगरा) भी वहाँ आये। दोनों विद्वानों के समक्ष मानस के उक्त दोहे पर कुछ चर्चा चली। श्रीरघुवराचार्यजी ने मुझसे दो-एक प्रश्न किये। समुचित समाधान होने पर वे प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्पूर्ण मानस की विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक टीका लिखने की मुझे आज्ञा दी। पं० अखिलेश्वरदासजी ने तो यहाँ तक कहा कि आप लिखिये मैं जयपुर में उसे छपवाने का प्रबंध कर दूँगा; इसकी चिन्ता नहीं।

मैंने सोचा कि टीका लिखने में केवल सिद्धान्त-सम्बन्धी बातों से ही तो काम नहीं चलेगा, किन्तु अक्षरार्थ और भावार्थ भी लिखने ही होंगे। अतः, उपयुक्त अवकाश नहीं देखकर मैंने केवल सिद्धान्त-विषय की एक छोटी सी पुस्तक लिखने की इच्छा प्रकट की। चार महीने में 'मानस-सिद्धान्त-विवरण' तैयार हो गया। उसी समय श्रीअयोध्याजी से न्या० वे० आचार्य पं० श्रीरामपदार्थदासजी कुछ समय के

लिये श्रीचित्रकूट में निवास करने आये। आपने इस ग्रंथ का अवलोकन कर उसकी सराहना की। साथ ही आपने भी सम्पूर्ण टीका के साथ इन सिद्धान्तपरक बातों के रखने की ही प्रेरणा की। आपने यह भी कहा कि अवकाशाभाव है तो अक्षरार्थ छोड़ दो, अन्य टीकाओं से पाठक देख लेंगे। इत्यादि।'

'यह मानस-सिद्धान्त-विवरण ग्रंथ जब छप गया, तब उपर्युक्त पं० श्रीरामपदार्थदासजी और न्या० व्या० मीमांसाचार्य स्वामी श्रीवासुदेवाचार्यजी 'दार्शनिक सार्वभौम' ने उसपर अपनी-अपनी सम्मतियाँ भी लिखीं और उन्हें साप्ताहिक पत्रिका 'संस्कृतम्' ता० १२-९-१९२८ ई० में प्रकाशित कराया।

मानस-सिद्धान्त-विवरणोपरि-सम्मतिः

१ श्रीवैष्णव पण्डित श्रीकान्तशरण महोदयेन सम्पादितस्य 'मानससिद्धान्त-विवरणस्य' कतिपयांशो मयेदानीमवलोकितः। मानसे (तुलसीकृत रामायणे) दार्शनिक सिद्धान्तेषु ग्रंथकर्त्ता को वा सिद्धान्तः समादृत इत्यत्र संदिहाना एव बहवो दृश्यन्ते। संदेहमिममपाकर्त्तुं प्रवृत्तनाऽऽधुना साधुना साधीयसीभिः युक्तिभिर्गोस्वामि-पादानां दार्शनिकः सिद्धान्तः विवेचकानां समक्षमानीत इति महानयं प्रमोदविषयः मानसमननशालिनामित्युपगच्छन्ति।

वासुदेवाचार्यः
न्या० व्या० वेदान्त, मीमांसाचार्यः
श्रीअयोध्याजी

(२)

अस्मिन्मानससिद्धान्त-विवरणाख्य ग्रन्थे श्रीगोस्वामिपादानां दार्शनिक सिद्धान्त निश्चयः प्रौढ़प्रमाणेन सद्युक्त्या च सम्यङ् निरूपितो दृश्यते। जीवेश्वरप्रकृतीनां स्वरूपं संसारतरणोपायञ्च तथाऽन्यान्यपि साधनान्यैहिकामुष्मिकफलप्रदानि प्रकाशन्ते। एवं च पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षरीत्या सिद्धान्तस्य स्पष्टीकरणं सम्यगकारि ग्रन्थकारेण तथाचार्थसौष्ठवं ग्रन्थावलोकनेनैव प्रज्ञाविषयीभूतं भविष्यति। किं बहुना एतद्ग्रन्थपर्यालोचनेन वैष्णव-शिरमौलिमणेराचार्य श्रीगोस्वामि तुलसीदासस्य सैद्धान्तिक रहस्ये कस्यचिदपि शङ्कालेशोपि न भविष्यतीत्यवधारयति।

पं० रामपदार्थदासः
न्याय-वेदान्त-आचार्य
जानकीघाट-श्रीअयोध्याजी।

उपर्युक्त स्वामी श्रीवासुदेवाचार्यजी ने उक्त ग्रंथ को देखकर श्रीगोस्वामीजी के मानस की सिद्धान्त-सम्बन्धी पूरी टीका लिखने की ही आज्ञा दी थी और फिर तैयार होने पर 'सिद्धान्त-तिलक' इसका नामकरण भी आपने ही किया है। आपने यह भी कहा था कि अद्वैत-सिद्धान्त-परक तिलक एक विद्वान् ने तैयार किया है। अत, यह कार्य शीघ्र होना ही चाहिये। इस तिलक में प्रमाणों से इसके सिद्धान्त का समर्थनमात्र किया गया है। दूसरे सिद्धान्तों पर तनिक भी आक्षेप नहीं किये गये हैं।

इसके पश्चात् संयोग से मैं श्रीमिथिला-तीर्थ गया। वहाँ पुस्तक-भंडार के अध्यक्ष रायसाहब श्रीरामलोचनशरणजी से भेंट हुई। मेरे मानस-सिद्धान्त-विवरण के—जो कि पहले ही उनके प्रेस में छप चुका था—अवलोकन से उनकी प्रबल इच्छा हुई कि इस सिद्धान्त के अनुकूल पूरा तिलक मेरा पुस्तक-भंडार प्रकाशित करे; अतः उन्होंने इस तिलक को लिखने के लिये मुझसे अनुरोध किया। उनकी विशेष श्रद्धा देखकर मुझे यह निश्चय हो गया कि ग्रंथ प्रस्तुत होते ही प्रकाशित हो जायगा। पुनः पहले भी उपर्युक्त महान् विद्वान् महात्माओं की आज्ञा थी ही। यही समझकर मैंने लिखने का निश्चय कर लिया। कहा भी है—"गुरु० पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहु कुमग पग परइ न खाले॥" (अ० दो० ३१५)। यह भी निश्चित है कि साधक की दृढ़ श्रद्धा को भगवान् पूर्ण करते हैं। यथा—"यो यो यां यां तनुं ..तस्या श्रद्धयायुक्तः..." (गीता ७-२१,२२); इसी बल पर मैंने भी यथामति लिखना प्रारंभ कर दिया।

इस तिलक का मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानस में निहित विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त दिखाने का है; जो श्रीगोस्वामीजी का हार्दिक अभिप्राय और उनकी गुरु-परंपरा से संरक्षित सम्पत्ति है। साथ-साथ अक्षरार्थ और भावार्थ भी दिये गये हैं कि जिससे भावों के साथ-साथ सिद्धान्त-सम्बन्धी बातें भी सबके सम्मुख आ जायँ। इस तिलक के ऐश्वर्य-प्रसंग—जैसे नाम-वन्दना, पाँच गीताएँ (श्रीलक्ष्मणगीता, रामगीता, भगवद्गीता (धर्मरथप्रसंग), पुरजनगीता, और भुशुंडि-गीता) एवं अन्यत्र के ज्ञान, विराग, भक्ति और प्रपत्ति-प्रसंग आदि—प्रायः आज तक की अन्य टीकाओं से निराले हैं। अपने सिद्धान्त की दृष्टि से श्रुति-स्मृति के प्रमाणों के साथ लिखे गये हैं। शेष माधुर्य के भावों में से अधिकांश उपर्युक्त टीकाओं और श्रीअयोध्याजी के विद्वान् महात्मा और रामायणी लोगों के हैं। क्योंकि इनके बिना सर्व-साधारण को सुलभता नहीं होती। एतदर्थ मैं उक्त महानुभावों का कृतज्ञ हूँ। विस्तार-भय से माधुर्य के भाव बहुत ही सूक्ष्मता से लिखे गये हैं। प्रासङ्गिक चरित भी टीका के साथ ही सूक्ष्म रूप में दे दिये गये हैं।

शङ्का-समाधान प्रायः एक ही प्रधान अर्थ से किये गये हैं। प्रमाण भी सर्वमान्य ग्रंथों के ही दिये गये हैं। आवश्यकता के अनुसार कठिन शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट कर दिये गये हैं।

पाठ-संशोधन

पाठ के विषय में प्राचीन प्रतियों में भी बहुत भेद हैं। इसपर विचार करने के लिये श्रीअयोध्याजी के प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामबालकदासजी के यहाँ बड़ी छावनी में एक दिन बैठक हुई। वहाँ श्रीअयोध्याजी के और-और रामायणी लोग एवं पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी भी उपस्थित थे। उसपर फिर दूसरे दिन पंडितजी के स्थान में पं० श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती के यहाँ भी उन्हीं लोगों के समक्ष विचार हुआ। वहीं निश्चय किया गया कि प्राचीन प्रतियों में जहाँ शब्दों का भेद है, वहाँ जिससे अर्थ-सौष्ठव हो वही रक्खा जाय। कवर्गी 'ख' की जगह जहाँ मूर्धन्य 'ष' है, वहाँ 'ख' ही रक्खा जाय। 'राउ' जन्तु, एकु, सबु, आदि के व्यर्थ उकार न रक्खे जायँ, क्योंकि किसी प्राचीन प्रतियों में भी इनका सर्वत्र निर्वाह नहीं पाया जाता। प्रायः आधे से अधिक स्थलों में इनका प्रयोग नहीं है। यदि यह कहा जाय कि बैसवाड़ी अवधी भाषा में ऐसे उकारान्त शब्दों का प्रयोग होता है, तो समाधान यह है कि वहाँ 'चोर' को 'चोरु'; 'इनका' को 'इनकेर' न कहकर 'इनक्यार' कहते हैं। अर्थात् 'ओ' का 'वा' और

'ए' का 'या' प्रयोग होता है। एवं नहाने को 'न्हाना' कहते हैं। ऐसे और भी बहुत-से शब्द हैं, जो मानस में नहीं पाये जाते ; तो हकार-मात्र ही का इतना प्रयोग क्यों रहे ?

पुनः गुरु शब्द का 'गुर' और प्रेम का 'पेम', पाठ भी, कहीं-कहीं है। ऐसे प्रयोग अयोध्याकांड में विशेष रूप से हैं, शेष छः काण्डों में कहीं-कहीं ही पाये जाते हैं। अतः, इनका भी शुद्ध प्रयोग ही लिया गया है। पुनः रायं, सुभायं, कौसिलां, हृदयं आदि के व्यर्थ बिन्दु भी नहीं रहने चाहिये, क्योंकि इनका भी निर्वाह किसी प्राचीन प्रति में नहीं देखा जाता। 'य' पद के आदि में 'ज' और अन्यत्र 'य' ही रहता है। 'व' भी आदि में 'ब' और अन्यत्र 'व' ही रहता है। उक्त श्रीरामबालकदासजी रामायणी की संशोधित प्रति में उपर्युक्त रीति से ही पाठ रक्खा गया है।

पुनः 'श' की जगह पर 'स' तो रहता है, पर आधे 'श' की जगह कहीं 'स' और कहीं 'श' मिलता है, जैसे कि 'श्र' 'श्री' 'श्रु' आदि एवं 'प्रश्न' आदि को देखते हुए एक नियम रखने के विचार से अर्द्ध 'श्' को तालव्य ही रक्खा गया है। ऐसे ही 'बिष्नु' शब्द में भी मूर्धन्य ष् के साथ 'न' का सम्बन्ध उचित न मानकर 'नु' को 'णु' ही रक्खा गया है।

ऐसे ही पूर्व के बालकांड और अयोध्याकांड में 'दोउ' शब्द मिलते हैं, आगे कहीं 'दोउ' और कहीं 'दौ' मिलते हैं। अतः, एक नियम रखते हुए मैंने सर्वत्र 'दोउ' ही रक्खा है, इत्यादि।

इस पाठ-संशोधन में और बालकाण्ड पर्यन्त तिलक के प्रूफ संशोधन में पुस्तकभंडार के विशिष्ट विद्वान्, 'बालक' के सहकारी सम्पादक श्रीअच्युतानन्ददत्तजी का भी हाथ था। किन्तु दैवगति और ही हुई कि वे साकेत पधार गये, जिससे मुझपर संशोधन-कार्य का भीषण भार आ पड़ा। किन्तु श्रीरामजी की कृपा से पुस्तक-भंडार के अध्यक्ष, 'बालक'-सम्पादक (रायसाहब) श्रीरामलोचनशरण 'आचार्य' जी ने स्वयं एक बार अंतिम प्रूफ देखने का भार लिया। इस कार्य को उन्होंने अपने नित्य नियम का एक अंग बना लिया। प्रेस के मैनेजर पं० नारायण राजाराम सोमण जी तथा हेड प्रूफरीडर पं० रामभरोस झा एवं और भी प्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने इस कार्य को पारमार्थिक जानकर श्रद्धापूर्वक किया है। तथापि मानव-स्वभाव के अनुसार इस तिलक में बहुत-सी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, एतदर्थ मैं पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

—तिलककार

श्रीगोस्वामीजी के दार्शनिक विचार

श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे, यह सर्वसम्मति से निश्चित है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी भगवान् बोधायन (श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यजी) की शिष्य-परम्परा में हैं। अतः, बोधायन-वृत्ति में प्रतिपादित सिद्धान्त उनका दार्शनिक सिद्धान्त है। उसी बोधायन वृत्ति का अनुसरण कर भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजी ने भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक 'श्रीभाष्य' लिखा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य्यजी ने अपने आनन्द-भाष्य मे बोधायनवृत्ति के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—"एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्म मीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्।" (ब्र० सू० आनन्दभाष्य १।१।१); अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण की संगति से तथा उपपत्ति (युक्ति) के बल से विशिष्टाद्वैत ही इस ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का विषय है, केवलाद्वैत नहीं। वही सिद्धान्त श्रीगोस्वामीजी का भी है। श्रीरामचरितमानस और विनय-पत्रिका एवं इनके सभी ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट है।

पहले सूक्ष्म रीति से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय करा देना आवश्यक है; फिर वही श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में दिखाया जायगा।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय

चित्, अचित् और ब्रह्म—ये तीन तत्त्व हैं। चित् का अर्थ जीव, चेतन एवं आत्मा है। अचित् का अर्थ जड़, प्रकृति, माया और प्रधान है। ब्रह्म ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, परतत्त्व, नर, आत्मा, भगवान् एवं श्रीराम आदि शब्दों से कहा गया है।

चित् और अचित् व्याप्य हैं और ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य पदार्थ व्यापक में रहता है। जैसे घड़े में आम है, इसमें आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। उसी प्रकार पृथिवी पर रहनेवाले पदार्थ व्याप्य हैं और पृथिवी व्यापिका है। ऐसे ही ब्रह्म में चित् और अचित् स्थित हैं; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४), "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" (ईशा० १), अर्थात् चित् और अचित् का सम्यक् आधार ब्रह्म है।

जो पदार्थ जिसमें रहता है उसका उससे कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वैसे चित्-अचित् का ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। इनका सम्बन्ध कभी टूट नहीं सकता ये तीनों तत्त्व यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते ; यथा—"चिदचिद्वस्तुनोः शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम् , तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव" (ब्र॰ सू॰—आनन्दभाष्य १।१।१) अर्थात् जीव और प्रकृति शरीर रूप से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध के द्वारा विशेषण और इनसे विशिष्ट ब्रह्म शरीरी होने से विशेष्य है। इनका यह सम्बन्ध नित्य है।

अचित् की दो अवस्थाएँ होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सृष्टि बनने के पहले 'सूक्ष्म अचित्' रहती है। उस समय इसे 'नामरूप विभागानर्ह' कहते हैं। जब सृष्टि बन जाती है तब यह 'स्थूल अचित्' कही जाती है और 'नामरूप विभागार्ह' कहाती है। अर्थात् सूक्ष्मा वस्था में इसमें घट-पट आदि नामों और नील-पीत आदि रूपों (आकृतियों) के वि भाग नहीं होते और स्थूलावस्था में उन नामों और रूपों के विभाग होते हैं।

चित् (जीव) अणुपरिमाणवाला है। वस्तुतः इसमें न तो सूक्ष्मावस्था होती है और न स्थूलावस्था ही, परन्तु जब यह स्थूलावस्थ अचित् के साथ सम्बद्ध होता है, तब इसे भी स्थूल मान लिया जाता है; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३) ; ऐसे ही यह चित्-तत्त्व सूक्ष्म अचित् में सम्बद्ध रहने से सूक्ष्म कहा जाता है। अतः, चित् भी दो प्रकार का है—सूक्ष्म चित् और स्थूल चित्।

सूक्ष्म और स्थूल दोनों अवस्थाओं में चित् और अचित् दोनों ब्रह्म में ही रहते हैं। ये दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं। अतः, इनसे विशिष्ट ब्रह्म भी इनकी उभयावस्थाओं के सम्बन्ध से दो प्रकार का कहा जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट-ब्रह्म। यद्यपि ब्रह्म अभेद है तथापि दो भिन्न विशेषणों के कारण वह दो प्रकार का कहा जाता है। इस तरह ब्रह्म दो प्रकार का हुआ और दोनों ही प्रकारों में वह विशिष्ट है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक ही कहा गया है, इस सिद्धान्त में दो क्यों हुए? इस शंका के समाधान के लिये 'विशिष्ट' शब्द के साथ 'अद्वैत' शब्द की भी योजना हुई और इस तरह इस सिद्धान्त का नाम 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया। इसकी परिभाषा इस प्रकार है "विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे ब्रह्मणी। विशिष्टयोः = ब्रह्मणोः, अद्वैतं—अभेदः, विशिष्टाद्वैतम्।" अर्थात् 'विशिष्टं च विशिष्टं च' इसमें विशिष्ट पद दो बार आया है। पहला 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट' कारण-परक है, और दूसरा 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट' कार्यपरक है। इन दोनों का अद्वैत (अभेद) है। दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म के विशेषणों में विकार होते हुए भी उसके स्वरूप में विकार नहीं प्राप्त होता, वह सदा एकरस ही रहता है। यही विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है।

परिणामवाद

उपर्युक्त वर्णन से निश्चित हुआ कि प्रलय काल में ब्रह्म सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट था, वही सृष्टि काल में स्थूलचिदचिद्विशिष्ट हो गया। इसी से प्रपञ्च ब्रह्म का परिणाम कहा जाता है, यही परिणामवाद है।

श्रुतियाँ भी इसीका प्रतिपादन करती हैं, छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि महर्षि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु व्रत-नियमपूर्वक विद्या पढ़ने पर जब पंडित होकर अहङ्कार से भरा हुआ आया, तब उसका अहङ्कार दूर करने के लिये महर्षि उद्दालक ने उससे प्रश्न किया—"हे पुत्र! क्या तुम वह विद्या भी जानते हो कि जिस एक के ही जानने से अन्य सबका ज्ञान हो जाता है?" तब श्वेतकेतु ने इस प्रश्न के उत्तर के लिये पिता से ही प्रार्थना की। तब महर्षि उद्दालक ने कहा—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥" (६।१।४) अर्थात्—हे सौम्य! एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब मृत्तिकामय (मिट्टी के बने हुए पात्रों) का ज्ञान हो जाता है। वाणी का आरम्भ करने के लिये उसके विकारों के नाम रख लिये गये हैं, मिट्टी ही सत्य (पदार्थ) है। भाव यह है कि जैसे मिट्टी के पिंड (लौंदे) के ज्ञान से सब मृन्मय (घड़ा-शकोरा या परई आदि) पात्रों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उस एक कारण-सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से कार्य-रूप सर्व जगत्—स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म—का ज्ञान हो जाता है। मिट्टी के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करती हुई श्रुति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं···' कहकर समझाती है कि वह मिट्टी वाणी के आरम्भ करने के लिये (व्यवहार के उपयोगी होने के लिये) विकार (आकार)-विशेष और नाम-विशेष को धारण करती है; अर्थात् मिट्टी घट आदि आकारों के पिण्ड धारण करती है तब उसको 'घट' नाम दिया जाता है और तभी "घट से जल लाओ" ऐसी वाणी का आरम्भ एवं उससे जल लाने का व्यवहार होता है। पिण्डाकृति में से मृन्मय (घटाकृति होना) रूप गुणवाली मिट्टी ही सत्य है। मिट्टी जैसे स्वयं सत्य है वैसे उसमें उसका गुण भी सत्य है; अर्थात् वह पिण्डाकृति में से घटाकृति होने के गुण से युक्त है। वह गुण उसमें नित्य है, जो कभी उससे अलग नहीं हो सकता। मिट्टी के पिण्ड को ऐसे गुण-विशेषवाला समझने से ही केवल उस मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से सर्व मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो सकता है; अन्यथा नहीं। इसी तरह ब्रह्म की सूक्ष्मावस्था में भी जगत् के उत्पादक गुण उसमें वर्तमान थे। वे ही परिणाम में स्थूलावस्थापन्न हुए। तभी सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् के ज्ञान की प्रतिज्ञा सार्थक होती है।

इस दृष्टान्त के द्वारा महर्षि उद्दालक आगे सिद्धान्त की बात समझाते हैं; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (६।२।१); अर्थात् हे सौम्य! आगे यह

चेतनाचेतनात्मक जगत् सत् ही, एक ही एवं अद्वितीय था। 'इदम्-अग्र-आसीत्' अर्थात् यह जो देख पड़ता है, यही जगत् आगे (पहले)—प्रलयकाल में—था। फिर यह बात भी श्रुति ही कहती है कि अभी जैसा देख पड़ता है, वैसा नहीं था; किन्तु 'सदेव' (सत्+एव)—सत् ही अर्थात् एक ही रूप में था। इससे असत् कार्य-वाद का निराकरण हुआ। जब जीवमात्र सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब प्राकृत पदार्थ-मात्र उत्तरोत्तर मिलते हुए अन्त में त्रिगुणसाम्य मूलप्रकृतिरूप हो जाते हैं और जीव-वर्ग के साथ वह प्रकृति सत् में पैठ जाती है। इसी का नाम प्रलय है। इसी बात को श्रुति समझाती है कि आगे सत् ही था। वह कैसा था? जैसा मृत्तिका का पिण्ड (जो ऊपर दृष्टान्त-रूप में कहा गया है)। घट-शराव (परई, कसोरा) आदि सूक्ष्म-रूप से मृत्पिण्ड में रहते हैं, इसीसे उसमें से कुलाल के व्यापार द्वारा प्रकट होते हैं। पुनः घट, शराव आदि टूट-फूटकर मृत्तिका हो जाने पर मृत्तिका कहे जाते हैं और फिर उसी से वैसे ही घट आदि बनते हैं। इसी प्रकार जीव और प्रकृति प्रलय-काल में सूक्ष्म होकर उस सत् में रहते हैं और सत् ही कहे जाते हैं। पुनः सृष्टि-काल में नाम-रूप से प्रकट होते हैं। इसीसे सूक्ष्मावस्थापन्न प्रपंच 'कारण' और स्थूलावस्थापन्न प्रपंच 'कार्य' कहा जाता है।

'एकमेव' अर्थात् एक ही। इसका भाव यह है कि जो पहले प्रलयावस्था में सत् था, वही जगत् है। सत् को जगत् होने के लिये द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं पड़ी; अर्थात् इस कार्य-रूप जगत् का कारण वही सत् है। अतः, कार्य और कारण—वह एक (अकेला) ही है। इससे स्पष्ट हुआ कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट सत् ही जगत् का उपादान कारण है। पुनः उसी सत् को आगे के 'अद्वितीयम्' शब्द से जगत् के निमित्त-कारण और सहकारी-कारण भी सूचित किया गया है।

कारण तीन प्रकार के होते हैं—उपादान कारण, निमित्त-कारण और सहकारी-कारण। जो वस्तु स्वयं कार्य-रूप में परिणत हो, उसे 'उपादान-कारण' कहते हैं। जैसे, मृत्तिका घट का उपादान-कारण है। जो उपादान वस्तु को कार्य-रूप में परिणत करता है, वह 'निमित्त कारण' है। जैसे, उपादान वस्तु मृत्तिका है, उसे घट-रूप में परिणत करने-वाला कुलाल है। अतएव कुलाल घट का निमित्त-कारण है। जो कार्य की उत्पत्ति में उपकरण (साधन)-रूप हो, वह 'सहकारी-कारण' कहा जाता है। जैसे, दंड चक्र, चीवर आदि घटोत्पत्ति में साधन-रूप हैं। अतः, ये घट के सहकारी कारण हैं।

उपर्युक्त श्रुति के अनुसार जगत् के तीनों कारण वह सत् (ब्रह्म) ही है। सूक्ष्मचिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण है। वही 'बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'मैं बहुत हो जाऊँ'—'अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार सङ्कल्प-विशिष्ट होकर निमित्त-कारण होता है और

वही ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः ऐश्वर्यों से विशिष्ट होकर सहकारी कारण होता है, क्योंकि ये छः ऐश्वर्य ब्रह्म में ही रहते हैं; यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (विष्णुपुराण)। इनमें ऐश्वर्य और वीर्य से उत्पत्ति, शक्ति और तेज से पालन तथा ज्ञान और बल से संहार-कार्य होते हैं।

उपर्युक्त 'सदेव' इस श्रुति में उपादान कारणता स्पष्ट कही गई। उसके आगे की श्रुति से निमित्त-कारणता भी स्पष्ट की जाती है; यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३) अर्थात् उस (सत्) ने ईक्षण (अनुसन्धान) किया—'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। इसमें 'तत्—ऐक्षत' में 'तत्' इस सर्वनाम से उपर्युक्त 'सत्' ही कहा गया है। अतः, बहुत होने का अनुसन्धान उस 'सत्' ने ही किया, इस तरह वही निमित्त-कारण है।

इस प्रकार ब्रह्म में 'अभिन्न निमित्तोपादानत्व' स्पष्ट हुआ। इसीको "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।" (मुं० १।१।७)। इस श्रुति में मकड़ी के दृष्टान्त से भी समझाया गया है कि उर्णनाभि (मकड़ी) जाल को अपने मुँह में से फैलाकर उसमें खेलती है और फिर उसे अपने में ही समेट लेती है। पुनः दूसरी श्रुति भी कहती है; यथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥" (छां० ६।८।४) अर्थात्—हे सौम्य! इन सब प्रजाओं (जगत) का मूल सत् ही है तथा सत् ही इनका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। इसमे 'सदायतनाः' कहकर सत् मे ही जगत का रहना कहा गया है और 'सत्प्रतिष्ठा' से उसी सत् में इसकी लय-स्थिति भी कही गई है।

वह सत् ही जगत् का आधार है, जगत् के प्रत्येक पदार्थ के भीतर भी रहता है, वही सबका आत्मा है; यथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।" (छां० ६।८।७); अर्थात् एतद्रूप ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है। 'ऐतदात्म्यमिदं' जिन सबकी एतत् (सत्) आत्मा है उसे 'एतदात्म' कहते हैं, उसका भाव 'ऐतदात्म्य' है, अर्थात् सब जगत् का आत्मा सत् (भगवान्) ही है। इस तरह सब जगत् भगवान् का शरीर है; भगवान् इसके शरीरी हैं; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७)। शरीर से शरीरी की और शरीरी से शरीर की सिद्धि होती है। इसी तरह जैसे प्रलय-दशा में यह सब 'सदेव' अर्थात् सत् ही कहा जाता है। वैसे ही सृष्टि-दशा में भी यह सब ब्रह्म ही कहा जाता है; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छां० ३।१४।१) अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। तथा—"तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (श्रीरामस्तवराज-सनत्कुमार संहिता)।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हुआ कि, सृष्टि और प्रलय इन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट ही रहता है। वही जगत् का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण है। ये सभी बातें "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" इस श्रुति की व्याख्या में कही गई हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने भी उन्हीं बातों को अपने छंद के एक ही चरण में कहा है; यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।" (बा० दो० १८५)—इसका अर्थ उपर्युक्त 'सदेव' श्रुति के मिलान के साथ तिलक के पृ० ५३३ में देखिये। पुनः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' की व्यवस्था भी इन वचनों मे स्पष्ट कही गई है कि उसके संकल्प के साथ ही जगत् की रचना हो जाती है; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।" (बा० दो० २२४); "भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७). "एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); तथा—"उत्पति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४) इत्यादि।

भगवान् के शरीररूप में जगत् प्रवाहतः नित्य कहा जाता है, वैसे ही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"बिश्व रूप रघुबंसमनि।" (लं० दो० १४) "बिधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (अ० दो० २८१); "पल्लवत फूलत नबल नित संसार बिटप नमामहे।" (उ० दो० १२)—तिलक का पृ० ४०४ भी देखिये।

श्रीगोस्वामीजी ने बहुत जगह जगत् को मिथ्या भी कहा है, इसका समाधान यह है कि जहाँ मिथ्या कहा गया है वहाँ अविद्यात्मक दृष्टि के नानात्व भ्रम से तात्पर्य है—देखिये, तिलक पृ० ११-१४, ३९७-४०४।

केवलाद्वैत निराकरण

यदि कहा जाय कि "रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।" एवं "रजत सीप महँ भास जिमि···" आदि का अर्थ नानात्व भ्रम-परक न करके केवलाद्वैत-सिद्धान्त की दृष्टि से विवर्त्तवाद का क्यों न किया जाय? तो इसका उत्तर यह है कि श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों मे केवलाद्वैत-सिद्धान्त की और-और पारिभाषिक बातें नहीं पाई जातीं, जैसे—

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(१) केवलाद्वैत-सिद्धान्त में निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष माना गया है।	श्रीगोस्वामीजी ने निर्गुण ब्रह्म को अव्यक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं प्रभु कहा है—बा० दो० २२ चौ० ६–८ का तिलक देखिये।

भी - ज्ञप्ति मात्र अर्थात् निर्विशेष-ज्ञान-स्वरूप है।

तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २३१)—अर्थात् परम पद (मोक्ष) में भी किङ्कर-भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य-मुक्ति) मेरे लिये दुःखद एवं दाहक है, इत्यादि!

उपर्युक्त प्रसङ्गों से स्पष्ट हो गया कि श्रीगोस्वामीजी का अभीष्ट केवलाद्वैत-सिद्धान्त नहीं है, किन्तु समन्वय (विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त है।

समन्वय सिद्धान्त में तत्त्वत्रय (चित्-अचित्-ईश्वर) की व्यवस्था है, यथा—"सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥" (श्वे० १।६)—अर्थात् समस्त प्राणियों के जीवन के हेतु-भूत, सबकी स्थिति के एक मात्र आधार, बहुत बड़े ब्रह्मचक्र में हंस (हन्ति गच्छतीति हंसः) = जीव भ्रमण करता रहता है। भ्रमण करानेवाला (प्रेरक) परमात्मा है और भ्रमण करनेवाला मैं उसका शेष (सेवक) हूँ, शरीर-भूत हूँ—इस प्रकार अपनेको पृथक् मानकर जब जीव ध्यान करता है, तब भगवान् की प्रसन्नता से वह मुक्ति पाता है। इसी भाव की ओर भी श्रुतियाँ हैं; यथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।" (श्वे० ६।१६); "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्।" (श्वे० १।१२); "संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।···क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।" (श्वे०१।८—१०)। इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से चिदचित् (जीव और प्रकृति) का प्रेरक (स्वामी) ब्रह्म कहा गया है।

श्रीनारद-पञ्चरात्र में भगवान् ने श्रीशुक से तत्त्वत्रय के वर्णन किये हैं। गीता में भी इसी तरह के सम्बन्ध सहित तीनों तत्त्वों के वर्णन किये गये हैं; यथा—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥" (७।४—६)।

तत्त्वत्रय का वैसा ही वर्णन श्रीगोस्वामीजी ने भी किया है, यह इस श्रीरामचरितमानस के अनुबंध चतुष्टय से ही स्पष्ट हो जाता है।

अनुबन्ध चतुष्टय

(१) विषय, (२) सम्बन्ध, (३) अधिकारी और (४) प्रयोजन—ये भेद हैं।

(१) **विषय**—श्रीराम-नाम का तत्त्व-निरूपण इस ग्रंथ का विषय है। यथा—"येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा॰ दो॰ ९)। इसे ही उपसंहार पर भी पुष्ट किया है; यथा– "मत्वा तद्रघुनाथनाम-निरतं···"। इसीसे श्रीराम-नाम-वंदना प्रकरण विस्तारपूर्वक तत्त्वार्थ-निरूपण की दृष्टि से वर्णित है। मंत्र एवं नाम का अर्थानुसंधान के साथ आराधन होता है। नामार्थ ही चरित है। अतएव, चरित का विस्तार करना नाम का ही अंग है।

(२) **सम्बन्ध**—चार संवाद ही मानस के सम्बन्ध हैं; यथा–"सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचेउँ बुद्धि बिचारि। तेइ येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥" (बा॰ दो॰ ३६)। चारो घाटों के श्रोता-वक्ता लोग कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति की दृष्टि से इस मानस से सम्बन्ध रखते हैं। श्रीगोस्वामीजी प्रपत्ति-घाट के, श्रीयाज्ञवल्क्यजी कर्म-घाट के, श्रीशिवजी ज्ञान-घाट के और श्रीभुशुंडिजी उपासना-घाट के वक्ता हैं।

(३) **अधिकारी**– यथा—"सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुरबर मानस अधिकारी॥" (बा॰ दो॰ ३७); "राम-कथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सतसंगति अति प्यारी॥ गुरु-पद-प्रीति नीति-रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई॥" (उ॰ दो॰ १२७)।

(४) **प्रयोजन**—यथा—"भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ जस कछु बुधि बिवेक-बल मोरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥ निज संदेह-मोह-भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता-तरनी॥" (बा॰ दो॰ ३०)। इन तीनों अर्द्धालियों में तत्त्वत्रय का ज्ञान ही प्रयोजन कहा गया है। तिलक पृ० १७३–१७४ देखिये। अन्यत्र जो यह भी कहा गया है कि अपनी वाणी पवित्र करने के लिये मैं कथा कहता हूँ; यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (बा॰ दो॰ ३६१) उसका भी यही तात्पर्य है कि चरित के पठन-पाठन से उक्त तत्त्वत्रय का ज्ञान हो जायगा, उससे तीनों अवस्थाओं की शुद्धि के साथ-साथ तीनों वाणियों (वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती) की शुद्धि हो जायगी, तब तुरीयावस्था में शुद्ध परा वाणी प्राप्त हो जायगी। अतः, तत्त्वत्रय का ज्ञान प्राप्त करना इस ग्रंथ के अध्ययन का प्रयोजन है।

तत्त्वत्रय में चित् और अचित् ईश्वर के शरीर हैं। अतः, शरीर सहित ईश्वर का ज्ञान ही प्रकर्ष-बोध एवं ब्रह्मविद्या का फल है; यथा—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥" (गीता ११।५३)।

श्रीगोस्वामीजी ने तत्त्वत्रय की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से मानी है। तीनों तत्त्वों का पृथक् दिग्दर्शन कराया जाता है—

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(२) अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है, अन्तःकरण में पड़ा हुआ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है, जीव एक है, इत्यादि रीति से जीव की व्यवस्था है।	जीव ईश्वर का अंश है और यह वास्तविक तत्त्व है, उ० दो० ११६ चौ० २ का तिलक देखिये।
(३) भक्ति का फल ज्ञान माना जाता है और फिर उससे मुक्ति का विधान है।	ज्ञान भक्ति का ही अंग है, यथा—"कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान बिराग ॥" (आ० दो० १४)। इन्होंने भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति मानी है; यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरि· आईं ॥" से "असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥" (उ० दो० ११८) तक। एवं "श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥" से "बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥" (उ० दो० १२१) इसमें नौ असंभव दृष्टान्तों से भक्ति से ही भव-तरण का अपेल सिद्धान्त कहा गया है। अपरोक्ष सरस ज्ञान को पराभक्ति से अभेद कहा गया है—आ० दो० १४ चौ० ७ का तिलक देखिये।
(४) निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार से कैवल्य-मुक्ति का विधान है।	सरस ज्ञान से भिन्न कैवल्य-परक ज्ञान भी योग-शास्त्र के अनुसार उ० दो० ११६–११७ में लिखा है; उसका तिलक देखिये।
(५) वाक्य-ज्ञान से मुक्ति मानी गई है।	इसका खंडन किया है; यथा—"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई ॥" (वि० १२३)।

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(६) शुद्ध निर्विशेष कारण ब्रह्म का अवतार लेना नहीं माना जाता, उनके मत में अशुद्ध मायोपहित कार्य-ब्रह्म (ईश्वर) है, वही अवतार लेता है।	शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अवतार लेना लिखा है; यथा—"सुद्ध सच्चिदानन्द मय; कंद-भानु-कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति सागर सेतु॥" (अ० दो० ८७); "चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)
(७) निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण को न्यून कहा जाता है। निर्गुण को शुद्ध निर्विशेष और सगुण को अशुद्ध मायोपहित विग्रहवान् माना जाता है।	दोनों को अभेद मानते हैं, इन्होंने न्यूनाधिक कहनेवालों को अधम आदि कहकर बड़ी फटकार बताई है—कैलास-प्रकरण बा० दो० ११३ चौ० ८ से दो० ११५ तक देखिये।
(८) माया का अस्तित्व ही नहीं माना जाता। विवर्तवाद की दृष्टि से जगत्-रचना भ्रम-मात्र कही जाती है।	श्रीरामजी की अधीनता में उसका अस्तित्व मानते हैं; यथा—"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं···" (बा० मं० ६); "सो दासी रघुवीर कै···" (उ० दो० ७१); "सोइ राम व्यापक ब्रह्म···मायाधनी।" (बा० दो० ५१)। जगत्-रचना को भी इन्होंने भ्रम से प्रतीत होना नहीं लिखा कि जिससे अद्वैत का विवर्तवाद समझा जाय; प्रत्युत् 'बनाई' कहा है; यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई···" (बा० दो० १८५)।
(९) 'जहदजहत् भाग-त्याग-लक्षणा' से मुक्ति का विधान है। इस लक्षणा में ईश्वर का सर्वज्ञता-रूप ईश्वरत्व और जीव का अल्पज्ञता-रूप जीवत्व—दोनों का त्याग होकर केवल शुद्ध चिति में लक्षणा करके तात्पर्य माना जाता है। वह चिति	मोक्ष होने पर भी जीवों में जीवत्व एवं उनका सेवक-सेव्य भाव माना है; यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। "खेलिबे को खग मृग·

चित (जीव)-प्रकरण

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव वास्तविक तत्त्व है। यह सच्चिदानन्द-स्वरूप, अणुपरिमाण और ईश्वर का अंश एवं विशेषण है। जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं। सब ब्रह्म के शरीर हैं। ब्रह्म समस्त शरीरी है। इन सबका ब्रह्म के साथ अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। जीव ईश्वर का धार्य, नियाम्य, सखा और शेष है। यह कर्त्ता, भोक्ता और निर्विकार है (इन सब लक्षणों पर श्रुतियों के प्रमाण साम्प्रदायिक ग्रन्थों में देखें; यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते)।

इन लक्षणों के उदाहरण—

जीव लक्षण	श्रीगोस्वामीजी
१ सच्चिदानन्द स्वरूप	—"चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)—
२ अणु-परिमाण	" " —(तिलक देखिये)।
३ ईश्वर का अंश	—"ईश्वर अंस जीव अविनासी।" (उ० दो० ११६)।
४ " विशेषण	—"विश्वरूप रघुबंसमनि…" (लं० दो० १४)।
५ " धार्य	—"विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥" (बा० दो० ११६)।
६ " नियाम्य	—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (बा० दो० १२४); "ईस रजाइ सीस सबही के। उत्पति थिति लय विषहुँ अमी के॥" (अ० दो० २८१)।
७ " सखा	—"राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के॥" (अ० दो० ७१); "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती॥" (बा० दो० १६)।
८ " शेष	—"सेवक हम स्वामी सियनाहू।" (अ० दो० २३)।

"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (लं० दो० ११); "नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह।" (अ० दो० ७१)।

९ ईश्वर का शरीर —"हृदय घाव मेरे पीर रघुबीरै।..." (गो० लं० १५); "मम हृदय भवन प्रभु तोरा।" (वि० १२५); तथा लं० दो० १४–१५ में देवताओं को श्रीरामजी का अंग कहा गया है।

१० जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं —"जीव अनेक एक श्रीकंता।" (उ० दो० ७७)।

११ कर्त्ता और भोक्ता —"निज कृत करम-भोग सब भ्राता।" (अ० दो० ९१)। "जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० २१८)। "निज कृत कर्म-जनित फल पायउँ।" (आ० दो० १)।

१२ निर्विकार —"निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई।" (वि० १३६)।

१३ ईश्वर से अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध। विशेषण दो प्रकार के होते हैं—एक पृथक्सिद्ध और दूसरा अपृथक्सिद्ध। जो विशेषण विशेष्य (धर्मी) से पृथक् भी रह सके, वह पृथक्सिद्ध-विशेषण है, जैसे 'कुंडली देवदत्त' इसमें 'कुंडली' (कुंडलवाला) यह विशेषण पृथक् सिद्ध है क्योंकि देवदत्त से पृथक् भी कुंडल रह सकता है। जो विशेषण विशेष्य से पृथक् नहीं रह सके, वह अपृथक्सिद्ध-कहा जाता है। जैसे, 'श्यामो युवा देवदत्तः' इसमें श्यामत्व और युवत्व देवदत्त से पृथक् नहीं रह सकते। अतएव ये उसके अपृथकसिद्ध-विशेषण हैं। ऐसे ही समस्त जीवों का ईश्वर के

श्रीगोस्वामीजी ने इस सम्बन्ध को बहुत स्पष्ट रूप में कहा है; यथा—"अनवद्य अखंड न गोचर गो, सब रूप सदा सब होइ न सो। इति वेद बदन्ति न दन्तकथा रवि-आतप भिन्न न भिन्न जथा।" (लं० दो० १०१); अर्थात् वास्तव में जीव पृथक् तत्त्व है, जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश। सूर्य आकाश के बहुत ऊपर के भाग में रहते हैं, पर उनका प्रकाश भूमि पर सभी को प्राप्त होता रहता है। प्रकाश की सूर्य से पृथक्-सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तब ही उनका प्रकाश भी रहेगा। प्रकाश सूर्य के उदय पर फैलता है और उनके अस्त होने के साथ ही उन्हीं में लीन हो

साथ अपृथक्सिद्ध-सम्बन्ध है ; यथा— "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।" (गीता ७।७) ।

जाता है । वैसे ही प्रकाश-पुञ्ज की तरह समष्टि जीव-वर्ग है । जैसे, व्यष्टि-भेद से प्रकाश में किरणें अनन्त हैं, वैसे ही जीव-वर्ग भी व्यष्टि-भेद से अनन्त हैं । सूर्योदय की तरह सृष्टि-काल में ईश्वर की इच्छा से जीव-वर्ग नाना रूपों और नामों से फैलते हैं । फिर सूर्यास्त-रूपी प्रलयकाल में सब ईश्वर में ही लय को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे, उभय अवस्थाओं में किरणें सूर्य की सत्ता में ही रहती हैं, वैसे ही ईश्वर की सत्ता में जीवों की स्थिति है; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४) ; "तू निज कर्मजाल जहँ घेरो । श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो ।" (वि० १३६) ; "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती ।" (बा० दो० १९); "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ।" (अ० दो० २१६), इत्यादि ।

जीवों के भेद

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीवों के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य । इन्हीं में कोई पाँच और कोई छः भेद मानते हैं । बद्ध के दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु । मुमुक्षु के दो भेद हैं—कैवल्य-परायण और भगवत्प्राप्ति-रूपी मोक्ष-परायण । मुक्त के दो भेद हैं—विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त ।

बद्ध—जो अपने कर्मानुसार संसार में जन्म-मरण-रूप धर्मों को प्राप्त हैं, वे बद्ध हैं । ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जीव परवश होने से बद्ध हैं । बद्ध की दशा ; यथा— "सो माया बस भयउ गोसाईं । बँध्यो कीर मर्कट की नाईं ॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥ तब ते जीव भयउ संसारी । छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥" (उ० दो० ११६) ; "तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे । भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे ॥" (उ० दो० १२) ; "आकर चारि लाख चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥" (उ० दो० ४३) ; तथा— "भव-प्रवाह संतत हम परे ।" (लं० दो० १०८)—यह देवताओं ने कहा है ।

बुभुक्षु—ये धर्म, अर्थ और काम-परायण रहते हैं। इनमें एक तो अर्थ और काम-परायण होते हैं; यथा—"सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।" (उ० दो० ३९); दूसरे धर्म-परायण, यथा।-"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमा-रमन-पद-बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥" (अ० दो० १०२)।

मुमुक्षु—जिसे सज्जनों के संग से अथवा भगवत्कृपा से संसार की करालता समझ पड़े और उसकी निवृत्ति के उपाय में तत्पर हो जाय कि 'मैं कैसे भव-बन्धन से छूटूँ'—वह मुमुक्षु है; यथा—"कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेता। यच्छ्रेय. स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥" (गीता २।७)। इस प्रकार शिष्य गुरु के पास जाकर प्रार्थना करे कि हे कृपालो! कृपया मेरी दुःख-निवृत्ति का उपाय कीजिये। फिर उपाय निश्चित् करके साधन में लग जाय; यथा- "जहँ जहँ बिपिन मुनीश्वर पावउँ। आश्रम जाइ जाइ सिर नावउँ॥ बूझउँ तिन्हहिं राम गुन गाहा। कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा॥ छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ राम-चरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सुफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० १०९)।

कैवल्य परायण—इसका वर्णन ज्ञान-दीपक-प्रसंग उ० दो० ११७–११८ में देखिये; यथा—"सो कैवल्य परम पद लहई।"

भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष-परायण—इनके दो भेद हैं—भक्त और प्रपन्न।

भक्त—यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरि-आईं॥" ... "भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥" (उ० दो० ११८)।

मोक्ष के इन्हीं दो भेदों (कैवल्यपद और भगवत्प्राप्ति) को अन्यत्र स्पष्ट भी कहा है; यथा—"राम-चरन-रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान।" (उ० दो० १२८)।

प्रपन्न—जो अकिञ्चन और अनन्य-गतिक होकर भगवान् की प्रपत्ति (शरणा-गति) करते हैं, वे प्रपन्न हैं। इनके दो भेद हैं—एकान्ती और परमैकान्ती।

एकान्ती—जो मोक्ष के साथ-साथ और फलों की इच्छा भी केवल भगवान् से ही (और स्वतन्त्र देवों से नहीं) रखता है, उसे एकान्ती कहते हैं; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); तथा—"ये सेवक संतत अनन्य गति, ज्यों चातकहि एक गति घन की॥" (गी० म० ७१)।

परमैकान्ती—जो ज्ञान-भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं ; यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह ।" (अ० दो० १३१); "अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहउँ निरवान । जनम-जनम रति राम-पद, यह बरदान न आन ॥" (अ० दो० २०४) ।

परमैकान्ती के भी दो भेद हैं—दृप्त और आर्त्त ।

दृप्त—'जो कुछ मेरे शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल-भोग अवश्य ही करना है' । इस सिद्धान्त पर आरूढ़ रहकर जो प्रारब्ध कर्म का भोग करता हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे दृप्त कहते हैं । इसके उदाहरण-रूप श्रीभरतजी हैं ; यथा—"अवसि हौं आयसु पाइ रहौंगो । जनमि कैकई कोखि कृपानिधि क्यों कछु चपरि कहौंगो ॥" (गी० अ० ७७); "अब गोसाइं मोहि देहु रजाई । सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥" (अ० दो० ३१२) ।

आर्त्त—जो संसार की प्रबल ज्वाला से घबड़ाया हुआ प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष की इच्छा रखता है, वह आर्त्त है । इसके उदाहरण रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं ; यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव । मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१), तथा—"राम विलोकि बंधु कर जोरे । देह-गेह सब सन तृन तोरे ॥" (अ० दो० ६६); "कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान वीर सी छोरे ।" (गी० अ० ११) अर्थात् क्षण-मात्र वियोग भी नहीं सह सके । अतः, "गहे चरन अकुलाइ" (अ० दो० ७१) । तब श्रीरामजी ने उन्हें साथ लिया ही ।

(विदेह) मुक्त—जो भक्ति-प्रपत्ति आदि किन्हीं भी उपायों से भगवान् के स्वरूप का अनुभव करके बन्धन के कारण-रूप सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर तदुपार्जित देह छोड़ दिव्यधाम में सायुज्य मुक्ति का आस्वादन करता है, वह मुक्त (विदेह मुक्त) कहाता है । उस अवस्था में भी ईश्वर और जीवों में भेद रहता ही है ; यथा—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।" विष्णुसूक्तम् इस वेदवाक्य में परम-पद-रूप नित्य-धाम में भी 'सदा पश्यन्ति सूरयः' कहा गया है । 'सूरयः' इस बहुवचन शब्द से मुक्तात्माओं का अनन्त होना और 'सदा पश्यन्ति' से उनका नित्य-पार्थक्य स्पष्ट है । वे सब उपर्युक्त रीति से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध सहित ब्रह्म के साथ-साथ उसके समान ही दिव्य भोगों को भोगते हैं; यथा—"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र० सू० ४।४।१७); तथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।" (तै० २।१) अर्थात् मुक्तात्मा परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है । इसी का नाम सायुज्य मुक्ति है; यथा—"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः । किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः ॥" (नारद पञ्चरात्र परम

संहिता) अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवों से रहित होकर ब्रह्म के साथ-साथ कैङ्कर्य भाव से सब कामनाओं को भोगनेवाले जीव सायुज्य मुक्त कहाते हैं। सायुज्य भोग्य-साम्य को कहते हैं।

श्रीगोस्वामीजी को यही मुक्ति इष्ट थी; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २३१) अर्थात् परम पद (मोक्ष-अवस्था) में भी कैङ्कर्य भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य मुक्ति पाकर भी) दुःख से जलूँगा। इस मानस ग्रंथ के उपसंहार पर भी—"कामिहि नारि पियारि जिमि···" इस निरन्तर भक्ति-याञ्चा का यही अभिप्राय है कि 'तत्क्रतुन्याय' से मुझे यही भक्ति मुक्तावस्था में भी रहे। श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में कहीं-कहीं मुक्ति की उपेक्षा भी की गई है; यथा—"गति न चहउँ निरबान।" (अ० दो० २०४); "सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं।" (लं० दो० १११) इत्यादि। इन वाक्यों में कैवल्य मुक्ति की ही उपेक्षा है, जो कि भक्ति-भाव के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें मुक्तात्मा प्रभु-कैङ्कर्य से रहित रहता है।

मुक्त का उदाहरण; यथा—"मुकुत कीन्हि असि नारि।" (आ० दो० ३६)।

जीवन्मुक्त—जीवन्मुक्ति की व्यवस्था उ० दो० ४२ एवं ११७ चौ० ५ में देखिये; तथा अ० दो० २७६ चौ० १–३ भी देखिये।

यह भी कहा गया है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।" (छां० ६।१४।२) "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥" (छां० ८।१२।१) अर्थात् उस ज्ञानी के मुक्त होने में तभी तक देर है, जबतक उसका देहपात न हो, क्योंकि जिसका शरीर कर्मवश आरब्ध हुआ है, उसके प्रिय और अप्रिय भाव बने ही रहते हैं; नाश नहीं होते। जब वह शरीर-रहित होता है, तब उसे ये प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते।

इन श्रुतियों का तात्पर्य उपर्युक्त विदेह-मुक्ति से है। वह साक्षात् मुक्ति है। वही देहावसान के पीछे प्राप्त होती है। इस जीवन्मुक्ति में भी श्रुति-प्रमाण है; यथा—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (कठ० २।६।१४) अर्थात् जब इस आत्मा के हृदय में से विषय-सम्बन्धी सब मनोरथ निकल जाते हैं, तब उसी समय वह उपासक अमृत हो जाता है (अर्थात् उसके पूर्व-पूर्व पापों का नाश हो जाता है और उत्तर पापों का त्याग हो जाता है)। उसी समय ब्रह्मोपासन-काल में ही वह ब्रह्म का अनुभव करता है।

जीवन्मुक्ति के उदाहरण—

"जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।

"ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ॥" (उ० दो० ५३)।

"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)।

"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि० ८६)।

नित्य–कर्मवश होकर जिनका जन्म मरण न हो और जिन्हें भगवान् के अवतारों की तरह स्वेच्छा से अथवा भगवदिच्छा से ही कभी भूमंडल में आना पड़े—कर्माधीन होकर नहीं—वे नित्य-जीव हैं। इस प्रकार के नित्य-जीव श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअनन्त और श्रीगरुड़जी आदि बहुत हैं। वे त्रिपाद विभूति (नित्य धाम) में ही सदा श्रीभगवान् का अनुभव करते हुए निवास करते हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने इनका वर्णन भी कई स्थलों पर किया है, यथा—"तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥ हम सब सेवक अति बड़ भागी। सतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ दो०—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। यह श्रीजाम्बवान्‌जी ने श्रीअङ्गदजी से कहा है। इसमें 'सतत सगुन ब्रह्म अनुरागी' होना और 'मोक्ष त्यागकर संग आना' उपर्युक्त नित्यत्व का सूचक है, (क्योंकि मुक्तावस्था में भी सेवक भाव से नित्य स्थिति कही गई है।) इनका नित्य शेषत्व भी कहा गया है, यथा—"भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥" (उ० दो० ११) तथा बा० दो० १६–१७ का तिलक पृ० १०८–११३ भी देखिये।

अचित् प्रकरण

जो विविध विकारों का आश्रय है और जिसमें ज्ञान का अभाव है, उसे अचित् (जड़) कहते हैं।

इसे श्रीगोस्वामीजी ने विद्या-माया के नाम से कहा है, क्योंकि विद्या की दृष्टि से प्रकृति एवं उसका कार्य रूप जगत् भगवान् के शरीर-रूप में ही साक्षात्कार होता है। इसके पूर्व-पक्ष रूप में नानात्व दृष्टि रूपा अविद्या-माया है। माया के इन दोनों भेदों का वर्णन तिलक के पृष्ठ ११–१५, ३८७–४०२, १५७१–१५७३ में देखिये।

यह तीन प्रकार का है—शुद्ध-सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य।

शुद्ध सत्त्व—जो रजस् और तमस् से रहित केवल सत्त्व-रूप है, वह शुद्ध सत्त्व है। उसे त्रिपाद विभूति भी कहते हैं। वह नित्य, ज्ञान-जनक और आनन्दजनक है। भगवान् की इच्छामात्र से प्रासाद, मण्डप, गोपुर और विमान आदि रूप से भोगस्थान रूप में परिणत होता है; तथा ईश्वर-शरीर आदि के रूप से भोग्य भी है। भूषण, वस्त्र, आयुध, चन्दन, पुष्प आदि रूप से भोग का साधन भी होता है। निरवधिक तेजोरूप है, स्वयं प्रकाश-स्वरूप है। मुक्त-जीव, नित्य-जीव और ईश्वर से भी अपरिच्छेद्य है।

ईश्वर इसे 'अपरिच्छेद्य' रूप मे ही जानता है। इयत्ताशून्य वस्तु की इयत्ता न जानने मे उसकी सर्वज्ञता में दोष नहीं है, प्रत्युत गुण-रूप है।

शुद्ध सत्त्व के उपर्युक्त नित्यत्व आदि मे प्रमाण—

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" विष्णुसूक्तम् इस श्रुति मे 'सदा पश्यन्ति' शब्द से सूचित किया गया है कि वह धाम तीनों कालों मे अविनाशी है। तभी तो सदा मुक्तात्माओं की दृष्टि का विषय होता रहता है। तथा—"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥" (गीता १५।६) अर्थात् वह भगवान् का धाम स्वयं-प्रकाश-स्वरूप है, वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। इस गीता के वाक्य को कोई-कोई भगवान् के स्वरूप में लगाते हैं, जो ठीक नहीं है, क्योंकि 'मम धाम' यह भेद से कहा गया है और 'गत्वा' शब्द से भी आश्रय-रूप कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं।" (लं० दो० ११६); "हरि-पद-लीन भइ जहँ नहिं फिरे।" (आ० दो० ३६)।

"राम बालि निज धाम पठावा।" (कि० दो० १०)।

"देहि राम तिन्हहुं निज धामा।" (लं० दो० ४४), इत्यादि।

मिश्र सत्त्व—रजस् और तमस् के साथ मिलकर रहनेवाले सत्त्व को मिश्र सत्त्व एव अशुद्ध सत्त्व भी कहते हैं। यह बद्ध-जीवों के ज्ञान और आनन्द का आच्छादक है; विपरीत ज्ञान का उत्पादक है। नित्य है, भगवान् की लीला का साधन है, क्योंकि जीव इस मिश्र सत्त्व के जाल में पड़कर विपर्यय बुद्धि से अनेक प्रकार के कर्म करने लगता है, यही कर्म इसका बाँधनेवाला हो जाता है। कर्मानुसार फल देना भगवान् का स्वभाव है। उसी स्वभाव-प्रवृत्ति को भगवान् की लीला कहते हैं।

भगवान् की लीला का प्रधान साधन होने से इसे लीला-विभूति एवं 'प्रधान' कहते हैं। विचित्र सृष्टि का साधनीभूत द्रव्य होने के कारण इसे 'माया' और विविध विकारों को उत्पन्न करने के कारण इसे 'प्रकृति' कहते हैं।

इसीसे अनन्त ब्रह्माडों की सृष्टि होती है। श्रुति कहती है ; यथा - "गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभाविनी।" अर्थात् 'गौः' (प्रकृति) अनादि और अनन्त है (तीनों कालों में सत्य है,)। वही सब प्राणियों को पैदा करती है, सबकी माता है। तथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०)।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)।
"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥" (सुं० दो० २०)।
'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४)।

इस जगत् को रचनेवाली प्रकृति के चौबीस भेद हैं ; यथा—"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥" (गीता १३।५); अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), ११ इन्द्रिय (१० इन्द्रिय और १ मन) और पाँच इन्द्रिय-विषय एवं तन्मात्राएँ।

इन चौबीसों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है—

(१) तीनो गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है; यथा—"सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति।" (सांख्यसूत्र)। इस अवस्था में तीनों गुण समान रहते हैं।

(२) उपर्युक्त तीनों गुणों के विषम होने पर जो पहला परिणाम होता है, वह महत्तत्त्व है। यह धर्मी (गुण-क्रियादि का आश्रय) है।

(३) महत्तत्त्व का जो कार्य है, वही अहङ्कार है। यह सात्त्विक, राजस और तामस—इन भेदों से तीन प्रकार का है। इनमें सात्त्विक अहङ्कार से एकादश इन्द्रियाँ और तामस से शब्द-तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं। राजस अहङ्कार, सात्त्विक और तामस इन दोनों अहंकारों का सृष्टि करने में सहायक है। (मन को कोई-कोई इन्द्रिय और कोई-कोई अन्तःकरण भी मानते हैं)।

(४) पञ्च तन्मात्रा—अहङ्कार के कार्य और पञ्च महाभूतों की सूक्ष्मावस्था का नाम तन्मात्रा है। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन भेदों से पाँच हैं।

'शब्द-तन्मात्रा' से आकाश और स्पर्श-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। स्पर्श-तन्मात्रा से वायु और रूप-तन्मात्रा की; रूप-तन्मात्रा से तेज (अग्नि) और रस-तन्मात्रा की; रस-तन्मात्रा से जल और गंध-तन्मात्रा की और गंध-तन्मात्रा से पृथिवी-मात्र की उत्पत्ति होती है।

इन्द्रियों के नाम उनके विषय और देवता का वर्णन बा० दो० ११६ चौ० ५ के तिलक पृ० ३९६ में देखिये।

उदाहरण—

पञ्च महाभूत—"गगन समीर अनल जल धरनी।" (सुं० दो० ५८)।
दस इन्द्रियाँ—"दसहुँ दसहुँ कर संजम जो न करइ''''''" (वि० २०४)
अन्तःकरण—"चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहँकार।" ,,
पञ्च तन्मात्रा एवं विषय } "पाँचहुँ पाँच परस रस शब्द गंध अरु रूप।" ,,

पञ्चीकरण

पुराणों के मत से पञ्चीकरण-प्रक्रिया इस प्रकार है—पञ्चभूतों में से एक-एक भूत को लीजिये और उनके दो-दो समान भाग कर डालिये। उन दो-दो भागों में से एक-एक को तो जहाँ का तहाँ रहने दीजिये। परन्तु प्रत्येक के दूसरे भाग के चार-चार समान भाग और कर डालिये। जिस भूत में चार भाग किये गये हैं, उसको छोड़कर शेष जो चार भूत हैं, उनके प्रधान-प्रधान भागों में इसके एक-एक करके चारो भागों को मिला दीजिये। इसी पञ्चीकरण-प्रक्रिया के द्वारा भूतों में शब्द आदि की प्रतीति होती है।

पृथिवी आदि सब भूतों में यद्यपि सब भूत मिले हुए हैं, तथापि किसी को पृथिवी और किसी को जल आदि इसलिये कहा जाता है कि पृथिवी में पृथिवी का ही अंश अधिक है। अन्य तत्त्वों के अंश बहुत अल्प हैं। ऐसे ही जल और अग्नि आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

कोई-कोई सप्तीकरण-प्रक्रिया भी मानते हैं। वे उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों में अहङ्कार और महत्तत्त्व को भी मिला लेते हैं।

वैदिक (छां० ६।३।२-३ के) मत में तो त्रिवृत्करण ही माना गया है, इसमें तेज, जल और पृथिवी, इन्हीं तीन तत्त्वों को मिलाकर सृष्टि बनना कहा गया है। त्रिवृत्करण का क्रम इस प्रकार है कि इन तीनों तत्त्वों के दो-दो भाग समान रूप में करना चाहिये।

प्रत्येक के एक-एक भाग को जहाँ के तहाँ छोड़कर दूसरे-दूसरे भागों के पुनः दो-दो भाग करना चाहिये। फिर उन्हें स्वेतर (अपने से भिन्न) तत्त्वों के प्रधान भागों में मिला देना चाहिये—यही त्रिवृत्करण-प्रक्रिया है।

पञ्चीकृत पाँचो भूतों से बने हुए द्रव्य का नाम अण्ड है। इस अण्डोत्पत्ति से पूर्व सृष्टि का नाम समष्टि-सृष्टि है। अण्डोत्पादन के अनन्तर सृष्टि का नाम व्यष्टि-सृष्टि है।

सत्त्वशून्य—काल सत्त्वशून्य कहा जाता है। काल—"ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।" (श्वे० ६।१६); अर्थात् भगवान् ज्ञाता हैं, काल के भी काल हैं, सर्वगुणाधार हैं और सर्वज्ञ हैं। तथा—"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु-मिह प्रवृत्तः।" (*गीता ११।३२) अर्थात् भगवान् लोकों के क्षय करनेवाले काल हैं।*

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥"—(सुं० दो० ३८)।
"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ९२)।

ईश्वर-प्रकरण

ईश्वर वह तत्त्व है जिसके द्वारा संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं ; यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभि-संविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्त० ३।१); जैसे किसी खेत (क्षेत्र) को जो बोता है, रक्षा करता है और जिसके यहाँ उसका अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी कहा जाता है। वैसे ही उपर्युक्त तीनों कार्य जिस परम तत्त्व से होते हैं, वही ईश्वर है। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामजी में ही वह ईश्वरत्व कहा है ; यथा—"उतपति *पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४); "बिधि हरिहर मय···" (बा० दो० १८);* "हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोद-मय मंगल-मई॥" (वि० १३५); "उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ सृष्टि पुनि पावइ नासा॥" (लं० दो० ३१)। इस प्रकार श्रीरामजी को ही परात्पर तत्त्व कहा है। स्पष्ट कहा है ; यथा—"यन्मायावशवर्त्ति···वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामा-ख्यमीशं हरिम्॥" (बा० मं० ६)। इसका तिलक पृ० १०-१५ देखिये।

पुनः 'अशेष कारणपरम्' पर यहाँ कुछ विशेष भी कहा जाता है; यथा—"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः" से "तवस्त्वमसि

दुर्धर्षोत्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्।" (वाल्मी० ७।१०४।४-१); अर्थात् परात्पर ब्रह्म श्रीरामजी ने लोकों को अपनेमें समेट लिया (महाप्रलय में सर्वजगत् को अपनेमें लीन कर लिया), फिर उन्होंने ही जल पैदा कर और उसमें नारायण-रूप से शयन कर अपने नाभि-कमल से ब्रह्मा को उत्पन्न कर के सृष्टि की। उन्होंने ही विष्णु-रूप से सब प्राणियों की रक्षा का विधान किया—यह श्रीब्रह्माजी का वचन है इसमें सृष्टि के कारण ब्रह्मा, परम कारण श्रीमन्नारायण और उससे पूर्व के अशेष-कारण रूप श्रीरामजी कहे गये हैं।

श्रुतियों में भी परब्रह्म-परत्व ऐसा ही कहा गया है; यथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेश-मीड्यम्॥ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्ति-र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥" (श्वे० ६।७।८) अर्थात् वह ईश्वरों का परम महेश्वर, देवताओं का परम देवता, पतियों का पति, सबसे उत्कृष्ट, भुवनों का ईश्वर और सबसे स्तुत्य है। उसका कोई कार्य और करण नहीं हैं। कोई न उसके समान ही है और न अधिक ही। उसकी परा-शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं।

ग्रंथारंभ में (मङ्गलाचरण में) ही श्रीगोस्वामीजी ने 'अशेष-कारण पर' श्रीरामजी को अपना ध्येय कहा है। श्रीरामजी के नित्य आयुध धनुष-बाण हैं। अतः, उनके स्वरूप के साथ ही इनका भी ध्यान किया जाता है; यथा—"जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६); "सब साधन कर एक फल, जोइ जान्यो सोइ ज्ञान। ज्यों-त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०); तथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर।" (बा० दो० १७) इत्यादि।

धनुष और बाण, इन दोनों के कार्य श्रीरामजी के बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। श्रीरामजी धनुष को अपने हाथ से चढ़ाकर फिर उसे एक हाथ में लेते हैं। पुनः दूसरे हाथ से तर्कश से बाण लेकर उसका सन्धान करते हैं। फिर जितने बल से छोड़ते हैं, उतनी ही दूर वह जाता है और वैसा ही कार्य करता है। इसी प्रकार जीव-समूह बाणों के समान और प्रकृति धनुष के समान है; यथा—"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" (मुं० २।४) अर्थात् प्रणव (ॐकार) धनुष और आत्मा (जीवात्मा) बाण हैं, ब्रह्म इनका लक्ष्य है। शान्त चित से वेधना चाहिये कि जीव बाण के समान तन्मय हो जाय। ॐकार से यहाँ प्रकृति का -

तात्पर्य है ; यथा—"प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।" (रामतापनीय उ०)। प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से ज्ञान-भक्ति आदि उपाय होते हैं । उनका कार्य श्रीरामजी की ही सत्ता से होता है। यथा—"सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।" (गीता १०।३६); यथा—रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।" (गीता ७।८) इत्यादि । जैसे श्रीरामजी के धारण करने से धनुष में कार्य-क्षमता है ; वैसे प्रकृति के द्वारा भी उन्हीं की सत्ता से कार्य होता है, अन्यथा वह जड़ ही है। यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।" (गीता ९।१०) । पुनः जैसे श्रीरामजी बाणों को तर्कश से निकालकर उन्हें धनुष के रोदे पर चढ़ाते हैं, वैसे ही जीवों को श्रीरामजी ही प्रेरणा करके उपायारूढ़ करते हैं। जैसे बाण को श्रीरामजी जितना बल लगाकर छोड़ते हैं उतने ही बल के अनुसार वह आघात करता है, वैसे ही जीवों को भी श्रीरामजी जितना सामर्थ्य देते हैं, वे तदनुसार ही साधन करते हैं ; यथा—"पौरुषं नृषु ।" (गीता ७।८); "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥" (गीता ७।२२)। पुनः जैसे सन्धान करके बाणों को श्रीरामजी ही लक्ष्य पर नियुक्त करते हैं वैसे ही स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का ज्ञान भी श्रीरामजी ही कराते हैं ; यथा—"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।" (अ० दो० १२६); "जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ···" (वि० २५१)।

श्रीरामजी के बाण कार्य करके पुनः लौटकर उनके तर्कश में ही आ जाते हैं ; यथा—"पुनि रघुवीर निषंग महँ, प्रबिसे सब नाराच ।" (लं० दो० ६७); "मंदोदरि आगे भुज सीसा । धरि सर चले जहाँ जगदीसा ॥ ··· प्रबिसे सब निषंग महँ जाई ।" (लं० दो० १०१); उसी प्रकार श्रीरामजी की प्रेरणा से जीव उपायारूढ़ हो उनकी ही दी हुई शक्ति से साधन कर, रावण-रूपी मोह आदि विकारों का नाश कर, फिर श्रीरामजी को ही प्राप्त होते हैं। वे श्रीरामजी के शरीर रूपी नित्य धाम में सायुज्य मुक्त होकर रहते हैं। *ऊपर का 'विदेह मुक्त' प्रकरण भी देखिये। इसी दृष्टि से एवं इसी ज्ञान की प्राप्ति के* लिये कर्मेन्द्रिय भुजाओं पर धनुष-बाण के चिह्न धारण किये जाते हैं कि जिससे कर्मों का कर्तृत्वाभिमान नहीं हो।

जैसे धनुष-बाण के कार्य श्रीरामजी के धारण करने एवं उनकी प्रेरणा के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, वैसे ही जीवों और प्रकृति की व्यवस्था भी श्रीरामजी के द्वारा ही जाननी चाहिये। जैसे श्रीरामजी का धनुष एक है और उनके अक्षय तर्कश में बाण अनन्त रहते हैं ; वैसे ही प्रकृति एक और जीव अनन्त हैं। इससे चिदचित् का भगवान् से अपृथक्-सिद्धि-सम्बन्ध सिद्ध होता है और उपर्युक्त चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की व्यवस्था

भी प्रत्यक्ष होती है। अतएव, श्रीगोस्वामीजी की ध्येय-व्यवस्था भी विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के ही अनुकूल है।

इनके ग्रंथों में ईश्वर-सम्बन्धी और बातें भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल ही हैं। कुछ मिलान आगे लिखे जाते हैं—

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
ईश्वर अखिल हेय प्रत्यनीक है; अर्थात् वह समस्त दोषों का विरोधी है। जैसे तेज तम का विरोधी है; यथा—"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।" (छां० ८।७।१) अर्थात् आत्मा पाप-रहित, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक रहित, क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है।	"सकल विकार-रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥" (अ० दो० ९१); "अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।" (बा० दो० २२), "निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सुं० दो० ४३); "छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहय जान सों।" (गो० सुं० ४३)।
ईश्वर दिव्य गुणों से युक्त है; अर्थात् वह वात्सल्य, सौशील्य एवं शौर्य, पराक्रम आदि गुणों से पूर्ण है।	"राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ९१), "गुन-सागर नागर बर बीरा॥" (बा० दो० २४०)।
ईश्वर अनन्त है; अर्थात् वह सब देशों, सब कालों और सब वस्तुओं में है, क्योंकि वह सर्वात्मा, नित्य और व्यापक है।	"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८४), "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान।" (वि० १०७); "राम अनंत अनंत गुन।" (बा० दो० ३३)।
ईश्वर सर्वान्तर्यामी है; यथा—"अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।" (आर० ३।३।११); अर्थात् वह सबके अभ्यन्तर मे प्रविष्ट है, सब जीवों का शासक है और वही सर्वात्मा है।	"अंतरजामी राम सिय।" (अ० दो० २५६); "सबके उर अंतर बसहु।" (अ० दो० २५७), "राम उमा सब अंतरजामी।" (आ० दो० ३८); "अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५); "रघुबर सब उर अंतरजामी।" (बा० दो० ११८);

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यथा— "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥" (रा० पू० ता० १।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तैत्त० २।१); "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात् ॥" (तैत्त० ३।६)।	"सत चेतन घन आनन्द-रासी।" (बा० दो० ११); "राम सच्चिदानन्द दिनेसा।" (बा० दो० ११५); "जय सच्चिदानंद जग पावन।" (बा० दो० ४१); "सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानु कुल-केतु। चरित करत···" (अ० दो० ८७); "चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६)।
ईश्वर षडैश्वर्य पूर्ण हैं; यथा— "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (विष्णुपुराण); ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण)। ये ऐश्वर्य ईश्वर में निरुपाधिक (स्वाभाविक) एवं निस्सीम हैं; यथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वे० ६।८); "यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४) इत्यादि।	षडैश्वर्य-प्रसंग बा० दो० १२ चौ० ४, बा० दो० ८२ चौ० ६–७ और बा० दो० ११८ देखिये तथा—ज्ञान; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ७७); बल—"मरुत कोटि सत बिपुल बल।" (उ० दो० ६१), "बल धामा।" (उ० दो० ७१); शक्ति—"अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥" (उ० दो० ७१)। ऐश्वर्य—"रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मंड।" (बा० दो० २०१), वीर्य—"पुरुष सिंह दोउ बीर" (बा० दो० २०८); "बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।" (उ० दो० ११); तेज—"राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥" (सुं० दो० ५५)।
ईश्वर अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देनेवाला है, यथा—"श्रुतत्वाच्च" ब्र० सू० ३।२।३८। सर्वं भोगापवर्गादि लक्षण फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते—'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।' (बृह० ४।४।२४) इति।" (ब्र० सू०—आनन्द भाष्य ३।२।३८)।	बा० दो० १८ चौ० ३–७ देखिये। तथा—अर्थ; यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥" (सुं० दो० ४९); धर्म; यथा—"चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा ·····" (उ० दो० २०); काम; यथा—"सकल काम पूरन करै, जानै सब कोइ।" (वि० १०८); मोक्ष—शबरी, गृध्र

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
	•आदि को गति दीं, अंत में अयोध्यावासी जन्तु पर्यन्त को साथ ले गये।
ईश्वर ही जगत् का कारण है। कारण तीन प्रकार के होते हैं। उपादान, निमित्त और सहकारी। तीनों कारण ईश्वर ही हैं।	ईश्वर में तीनों प्रकार की कारणता पृ० ६ में लिखी जा चुकी और उससे श्रीगोस्वामी जी के ग्रन्थ का मिलान भी किया गया है।
ईश्वर की जगत्-रचना का कारण लीला-मात्र है। जैसे राजा आदि गेंद आदि की क्रीड़ा लीला-रूप में करते हैं वैसे ही सर्वकाम-पूर्ण ब्रह्म भी लीला-रूप में जगत् का व्यापार करता है। देव, मनुष्य, पशु और कीट आदि की विषम सृष्टि से उसमें विषमता नहीं आती और न संहार करने की निर्दयता ही। क्योंकि वह जीवों के प्राचीन कर्मानुसार ही सब विधान करता है; यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५)।	श्रीगोस्वामीजी ने भी लिखा है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥" (अ० दो० १२६); "मुनि कर हित मम कौतुक होई।" (बा० दो० १२८); तथा—"कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अ० दो० २१८)। "काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम-भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१); करइ जो करम पाव फल सोई।" (अ० दो० ७६)।

प्रश्न—ऊपर कहा गया कि जगत् के तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म चिद्-चिद्विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म-रूप से परिणत होता है। इस तरह जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। ईश्वर ही जगत् रूप है। जगत् तो विकारी है, तब तो ईश्वर भी विकारी होगा। यह बात श्रुतियों के विरुद्ध है। श्रुतियाँ ईश्वर को निर्विकार कहती हैं।

उत्तर—परिणाम दो तरह का होता है—एक सद्वारक और दूसरा अद्वारक। सद्वारक वह है जो परिणाम अन्य पदार्थ में होता हो, पर उसका निर्देश अन्य वस्तु में किया जाता हो। अद्वारक वह है जिस पदार्थ में परिणाम होता हो उसी में उस परिणाम का निर्देश किया जाता हो। यहाँ ब्रह्म में जो जगत् का परिणाम है वह सद्वारक है; अर्थात् चिदचिद्रूप विशेषण-विशिष्ट ब्रह्म का जगद्रूप से परिणाम होता है। चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं। ये ब्रह्म से भिन्न रह नहीं सकते, क्योंकि इनका ब्रह्म से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। अतः, परिणामी अचित् में परिणाम होता है, परन्तु उसका परिणाम विशेष्यभूत ब्रह्म में निर्दिष्ट होता है। साक्षात् ब्रह्म का परिणाम नहीं होता,

किन्तु अचित् रूप विशेषण द्वारा होता है। अतः, ब्रह्म के स्वरूप में परिणाम-रूप विकार नहीं होता। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने शरीर-भूत विशेषण के द्वारा तन्तु रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है, पर इस कार्य में उसके स्वरूप में विकार नहीं होता ; जैसे जीवात्मा स्वरूपतः निर्विकार है, परन्तु मनुष्य आदि शरीर-विशिष्ट रहने से उसके शरीर के धर्म बालत्व, युवत्व और वृद्धत्व आदि के प्रति उसमें विकार नहीं आता, परन्तु बालत्व आदि उसी के प्रति कहे जाते हैं। ऐसे ही ब्रह्म का शरीर जगत् है, शरीर का परिणाम शरीरी (ब्रह्म) में कहा जाता है ; फिर भी वह स्वरूप से निर्विकार ही है।

ईश्वर विभु (व्यापक) है। उसकी व्यापकता तीन प्रकार की है—(१) स्वरूप से, (२) धर्मभूत ज्ञान से और (३) विग्रह से। सर्वान्तर्यामित्व भगवान् का स्वरूप है। वे सर्वान्तर्यामित्व के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। यह उनकी स्वरूप व्याप्ति है ; यथा—"उर-प्रेरक रघुबंस-बिभूषन।" (उ० दो० १११) ; "सब को प्रभु सब में बसै, सब की गति जान।" (वि० १०७) इत्यादि। भगवान् अपने व्यापक ज्ञान के द्वारा समस्त चराचर जगत् का निरीक्षण करते हैं। यह उनकी ज्ञान-व्याप्ति है ; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।" (अ० दो० २५६) "सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी।" (बा० दो० ११८) इत्यादि। सब जगत् भगवान् का शरीर है ; यथा—"जगत् सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७), "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" (पुरुषसूक्त)। यह जगत् रूप शरीर सर्वत्र है, यही विग्रह-व्याप्ति है ; यथा—"बिस्व-रूप रघुबंस-मनि" से "मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान्॥" (लं० दो० १५) तक।

फल-दातृत्व—किसी भी साधन के द्वारा भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति और किसी देवता एवं ऋषि के वरदान एवं आशिष-द्वारा प्राप्त होनेवाले फलों की सिद्धि ईश्वर के द्वारा ही होती है ; यथा—"फलमत उपपत्ते" (ब्र० सू० ३।२।३७), तथा—"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२२)

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (अ० दो० ७६), "कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१)। इसी से श्रीनारदजी ने भगवान् को ही स्मरण करके आशिष दी है ; यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस॥" (बा० दो० ७०)।

जीवों के कर्मानुसार ही फल देने से ईश्वर में विषमता और निर्दयता का भी प्रसंग नहीं आता; यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" (ब्र० सू० २।१।३४), अर्थात् परमेश्वर जीवों के किये हुए पूर्व के शुभाशुभ कर्मानुसार देव-मनुष्य

आदि की विषम-सृष्टि करता और उसका संहार करता है। अतः, प्रत्येक जीव के कर्म ही उसके वैषम्य और संहार में कारण हैं, ईश्वर नहीं। ऐसा ही श्रुतियाँ कहती हैं; यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५) अर्थात् पुण्य-कर्म से पुण्य और पाप से पाप होते हैं। अतः, शुभाशुभ सृष्टि जीवों के पूर्वार्जित कर्मानुसार होती है।

शंका—जब कर्म ही देव-मनुष्य आदि सृष्टि का कारण है, तब ईश्वर की ईश्वरता का क्या महत्व रह गया?

समाधान—जैसे बीज बोने पर भी, वर्षा के जल बिना उनमें अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती! वैसे ही कर्मों के होने पर भी परमात्मा के बिना देव मनुष्य आदि के आकार की सृष्टि नहीं हो सकती—ब्र० सू० आनन्दभाष्य २।१।३४

पुनः जीवों के पूर्व कर्मानुसार ही ईश्वर के सङ्कल्प होते हैं, तदनुसार जीवों की प्रवृत्ति होती है। उन कर्मों का सम्पादन भी जीव ईश्वर की सत्ता में ही करता है। गीता में कहा है; यथा—"यो यो यां यां तनुं···स तया श्रद्धया···" (७।२१-२२) देखिये। जैसे घर के कोने में, जलते हुए दीपक के प्रकाश में, भोजन-शयन आदि कर्म सम्पन्न किये जाते हैं; यद्यपि उन कर्मों में दीपक तटस्थ रहता है, तथापि यह कहा जाता है कि इस दीपक ने मुझसे भोजन आदि व्यवहार अच्छी तरह कराये। वैसे ही ईश्वर की व्यापक सत्ता में जीवों के समग्र व्यवहार होते हैं। दीपक की तरह ईश्वर भी तटस्थ (पाप-पुण्य से अलिप्त) है, फिर भी ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर ने अमुक-अमुक कर्म कराये; यथा—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥" (कौषी० ३।८) अर्थात् जीव से वही उत्तम कर्म कराता है जिसे उत्तम गति देना चाहता है। वही असत्कर्म कराता है जिसे निकृष्ट गति देना चाहता है। वही लोकपाल, लोकाधिपति एवं सर्वेश्वर है, वही मेरी आत्मा है।

प्रश्न—किससे उत्तम कर्म कराता है और किससे निकृष्ट?

उत्तर—"उक्तञ्च स्वयमेव भगवता—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०); "तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९), इति यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति। यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्ध-

कर्माण्याचरति तस्य तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीति भावः। तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहित, प्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम्।" (ब्र० सू०—आनन्द भाष्य २।१।३१) अर्थात् गीता के 'तेषां···' एवं 'तानहं ···' इन वचनों का आशय यह है कि जो भगवान् का आराधन करते हुए ममत्वरहित कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें भगवान् उस कर्म में रुचि उत्पन्न कराते हुए सद्बुद्धि देकर वैसी ही प्रेरणा करते हैं। और जो अभिमानी हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है, उसे वे उसी प्रकार के कर्मों में प्रीति उत्पन्न करते हुए वैसी ही प्रेरणा करते हैं। अतएव, इसमें परमात्मा का दोष-प्रसंग कुछ भी नहीं है और न इसमें विधि-निषेध कर्मों की ही व्यर्थता होती है।

. जैसे अच्छे राजा की सामान्य दृष्टि प्रजा के हित पक्ष में ही रहती है, वह शिक्षा-द्वारा प्रजा का उत्कर्ष ही चाहता है, पर विशेष दृष्टि से तो प्रजागण अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख पाते हैं; वैसे ही ईश्वर भी शास्त्र एवं सत्संग की प्रवृत्ति कराके जीवों का उत्कर्ष ही चाहता है। फिर भी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख पाते ही हैं। जैसे राजा के स्वामित्व का महत्व रहता ही है, वैसे ईश्वर की ईश्वरता का महत्व है ही। जैसे कि ऊपर इसी प्रसंग में श्रुति-प्रमाण से ईश्वर का 'लोकपाल, लोकाधिपति···' होना कहा गया है।

इसपर अ० दो० २१८ चौ० ३-८ का तिलक एवं वि० २३८, २४६ आदि देखिये।

सगुण-निर्गुण-प्रकरण

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने निर्णय किया है—"निर्गता निकृष्टाः सत्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्। तथैव च—'सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ वि० पु०॥ योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेय सत्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥ प० पु०॥ इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः। तादृश दिव्यगुणानाञ्च 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।" (ब्र० सू०—आनन्दभाष्य १।१।२) अर्थात् जिसमें सत्वादि प्राकृत गुण नहीं हों, वह निर्गुण है। यही 'सत्वादयो···' तथा 'योऽसौ··' इन स्मृति-वाक्यों से भी प्रतिपादित है। ··· प्राकृत सत्वादि गुणों के निषिद्ध होने पर ब्रह्म का दिव्य-गुण-आश्रयत्व सिद्ध है। इस तरह

के दिव्य गुण भी श्रुति में कहे गये हैं ; यथा—'पराऽस्य....' अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है; उसके ज्ञान, बल और क्रिया आदि स्वाभाविक हैं। दिव्य-गुणों के स्वाभाविक कहे जाने से प्राकृत हेय गुणों से रहित होना ही निर्गुणत्व है और दिव्य-गुण-युक्त होना सगुणत्व है। दोनों प्रकार से एक ही ब्रह्म का निर्देश होता है।

भगवान् को जहाँ निराकार कहा गया है वहाँ प्राकृत आकार का ही निषेध है। दिव्य आकार तो भगवान् का है ही। यदि कहा जाय कि आकार-विशेष मानने से ब्रह्म सावयव होगा, उससे अनित्यत्व का प्रसंग आवेगा तो उसका समाधान यह है कि सावयव पदार्थ वही अनित्य होता है जो अनेक अवयवों से बना हो। जैसे, घट अनेक अवयवों से बना है, अतएव अनित्य है। भगवान् का दिव्य विग्रह तो उनकी इच्छा से निष्पन्न है; यथा—"इच्छा मय नर वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१); "निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।" (बा० दो० १९१) । यथा –"सर्वे शाश्वता दिव्या देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥" (वाराहपुराण)।

श्रीगोस्वामीजी ने ब्रह्म की स्थिति उपर्युक्त रीति से ही मानी है। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से निर्गुण ब्रह्म का प्रसंग कहते हुए उसमें षडैश्वर्य माना है और उसे 'प्रभु' एवं 'अविकारी' भी कहा है। बा० दो० २२ चौ० १–८ देखिये। 'प्रभु' शब्द से ब्रह्म का दिव्य-गुण-विशिष्ट होना और 'अविकारी' शब्द से प्राकृत हेय सत्त्वादि गुणों से रहित होना स्पष्ट है। मनु के प्रसंग में भी 'अगुन अखंड अनंत...' से निर्गुणत्व कहकर फिर उन्हीं के अंश से अनेकों त्रिदेवों का आविर्भूत होना कहा है। पुनः 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।' कहकर उसके दर्शनों की अभिलाषा की। तब दिव्य विग्रह से ही भगवान् ने अपने दर्शन दिये हैं।

उसी दिव्य विग्रह के प्रकट होने पर आनन्द से सम्पूर्ण ब्रह्मांड पूर्ण हो गया। सूर्य भगवान् भी एक महीना उस आनंद में बेसुध रह गये। उस मर्म को किसी ने नहीं जाना। अतः, सारा ब्रह्मांड वैसा ही मुग्ध हो गया था।

श्रीगोस्वामीजी ने "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।" (बा० दो० २२) कहा है और निर्गुण से सगुण होना कहा है; यथा—"निर्गुण ब्रह्म सगुन भये जैसा।" (कि० दो० १६); "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।...सो प्रगट करुनाकंद सोभा-वृंद अग जग मोहई॥" (बा० दो० ३१); "अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५) इत्यादि। इसका रहस्य नाम-वन्दना-प्रसंग में विस्तृत रूप से प्रकट किया गया है। वहाँ निर्गुण रूप के प्रसंग मे कहा है; यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥" अर्थात्

उस षडैश्वर्यपूर्ण प्रभु के विना जाने ही जीव दुखी हैं ; यथा—"आनंद-सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६)। इस तरह उसे अव्यक्त जनाया है ; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥" (छं० दो० १११) में यह स्पष्ट भी कहा है।

इसी निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म को वेदों से जानकर मनु-शतरूपा ने आराधन किया है ; यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।" (बा० दो० १४३)। उस समय उनके हृदय में निरन्तर अभिलाषा हुआ करती थी ; यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड...ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत-हेतु लीला तनु गहई॥ जो यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा॥" (बा० दो० १४४)। इस अभिलाषा के साथ आराधन करने पर प्रभु अव्यक्त से व्यक्त (प्रकट) हो गये। उन्हें दर्शन दिये। फिर क्रमशः अपने गुण प्रकट करते हुए संसार का उन्होंने कल्याण किया। यह प्रसंग—"राम-भगत-हित नर-तनु धारी।" से "राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥" (बा० दो० २४) तक कहा गया है। वहाँ अहल्या-प्रसंग के श्रीरामजी के उदारता-गुण से जीवों की कुमति का सुधरना और विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा-प्रसंग के वीर्य-गुण से दुःख-दोष के साथ दुराशा का नाश होना कहा गया है। इसी तरह वहाँ के नवों प्रसङ्गों में नव गुण कहे गये हैं, जिनके द्वारा मुमुक्षुओं को उत्तरोत्तर अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। चरम अवस्था-प्राप्ति—"फिरत सनेह-मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने॥" पर कही गई है। वहाँ दो दोहों में स्पष्ट रूप से सगुण का प्रसंग है। बा० दो० २२–२४, तिलक पृ० १४०–१४१ देखिये।

यों तो ब्रह्म श्रीरामजी में असंख्य गुण हैं, परन्तु आप अवतार लेने पर मुमुक्षुओं के उपयोगी गुणों को प्रकट करके उनके उद्धार का उपाय करते हैं। उन्हीं गुणों के द्वारा साधकों का कल्याण होता है। कहा भी है—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १२१) तथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६) अर्थात् जैसे सब ओर जलपूर्ण जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, वह उसमें से उतना ही जल ले लेता है ; वैसे ही वेदज्ञ लोग वेदों से प्रयोजन-मात्र (मोक्षसाधनीभूत) भगवान् के गुण ही लेते हैं। इसीलिये भगवान् मुमुक्षुओं के उपयोगी अपने गुणों को स्वय प्रकट करके दिखाते है। यही उनका व्यक्त (सगुण) स्वरूप है।

यों भी समझना चाहिये कि जीव उस परमात्मा की सत्ता में विविध कर्म करते हैं, और तदनुसार फल पाते हैं। वह निर्लिप्त भाव से साक्षी-मात्र रहता है, अपनेको प्रकट नहीं करता। यही उसका निर्गुणत्व है ; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।

गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ॥ करम प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥" (अ० दो० २१८) । इसका वर्णन बा० दो० १२ चौ० ३ के तिलक में श्रुति के प्रमाणों के साथ किया गया है और उ० दो० ११० चौ० २-७ में भी इसका वर्णन है। ज्ञान-दीपक-प्रसंग में इसी का आराधन कहा गया है।

पुनः जब भक्त लोग उस (ब्रह्म) के दिव्य गुणों को जानकर प्रेमपूर्वक उसकी आराधना करते हैं तब वह उन्हीं दिव्य गुणों को प्रकट कर उनके द्वारा भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करता है; यथा—"राम सगुन भये भगत प्रेम-बस।" (अ० दो० २१८); "प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी।" (बा० दो० १८४); "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। यही व्यक्त भाव उसका सगुणत्व है।

सारांश यह है कि ब्रह्म एक ही है उसका अव्यक्त भाव निर्गुणत्व और व्यक्त भाव सगुणत्व है; यथा—"व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।" (वि० ५४); "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।···सो प्रगट करुनाकंद सोभावृंद अग जग मोहई ॥" (आ० दो० ३१)। बा० दो० ११५ चौ० १-३, कि० दो० १६ चौ० २, लं० दो० १११ छं० ७ तथा—"जे ब्रह्म अज अद्वैत ··" (उ० दो० १२) भी देखिये।

ईश्वर की पञ्चधा स्थिति

ईश्वर की स्थिति पाँच प्रकार की है; यथा—"परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥ अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः। इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥" ऐसा स्मृतियों में कहा गया है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार—ये पाँच प्रकार हैं।

पर—जो अनेक पार्षदों, नित्य एवं मुक्त जीवों से परिवेष्टित श्रीजानकीजी के साथ साकेतलोक-निवासी भगवान् श्रीरामजी का द्विभुज रूप है, वह 'पर' है; यथा—"स्थूल-मष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्ममेव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं प्रोक्तमाद्यरूपमिदं हरेः ॥" (आनन्द सं०); "वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।" (बा० मं० ६)। इन्हीं से नाना अवतार हुआ करते हैं।

व्यूह—जो सब अवतारों का कंदभूत पर (वासुदेव) परमात्मा है, उससे सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन रूप होकर कार्य करते हैं। कहीं-कहीं इन्हें चतुर्व्यूह भी कहा गया है, उसका तात्पर्य उसी वासुदेव पर्यायी पर परमात्मा को व्यूह में परिगणित करने में है।

विभव—अवतारों को विभव कहते हैं। यद्यपि विभव अनन्त हैं, तथापि उनमें मुख्य और गौण ये दो भेद माने जाते हैं। साक्षात् अवतारों को मुख्य और आवेशावतारों को गौण कहा जाता है। आवेशावतारों में दो भेद कहे जाते हैं—स्वरूपावेश और शक्त्यावेश। परशुराम आदि स्वरूपावेश और ब्रह्मा, शिव आदि शक्त्यावेश हैं। आवेशावतार स्वरूपतः गौण नहीं, किन्तु भगवदिच्छा से गौण हैं।

श्रीरामजी और श्रीकृष्णजी आदि मुख्य विभव हैं। श्रीरामजी जब श्रीसीताजी के साथ नित्य परधाम में विराजमान रहते हैं तब उन्हें 'पर' कहा जाता है। जब वे करुणावश अवतार-रूप में पृथिवी पर पधारते हैं, तब 'विभव' कहे जाते हैं।

अवतार दस हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्की। विनयपत्रिका के ५२ वें पद में दसों के वर्णन देखिये।

अन्तर्यामी—स्वर्ग-नरक आदि सर्वत्र जो सुहृद्भाव से हृदय में स्थित भगवत्स्वरूप है, उसे अन्तर्यामी कहते हैं; यथा—"तू निज कर्म-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६); "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो॥" (वि० २४४); "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" (गीता १८।६१)।

अर्चावतार—प्रतिमावतार को अर्चा कहते हैं; यथा—"अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीन' श्रित सम्भवश्च। सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्त पूर्णोऽर्चकाधीन समाप्तकृत्यः॥" (वैष्णव-मताब्ज भास्कर) अर्थात् देश-काल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रिताभिमत, अर्चक के सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा करनेवाले, दिव्य देह से युक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में वर्तमान तथा अपने समस्त कृत्यों में अर्चक की अधीनता स्वीकार करनेवाले मूर्त्ति-विशेष को अर्चावतार कहते हैं।

अर्चावतार चार प्रकार के हैं—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष। यथा—"स्वयं व्यक्तश्च दैवश्च सैद्धो मानुष एव च। देशादौ हि प्रशस्ते स वर्त्तमानश्चतुर्विधः॥" (वैष्णव-मताब्ज भास्कर) अर्थात् प्रशस्त देश आदि में वर्तमान वह अर्चावतार स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष, इन भेदों से चार प्रकार के हैं।

जो विग्रह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ हो, वह स्वयं व्यक्त है। जो देवों के द्वारा स्थापित हो, वह दैव है। जो सिद्धों के द्वारा स्थापित हो, वह सैद्ध है और जो मनुष्यों के द्वारा स्थापित हो, वह मानुष है।

आदि-ईश्वर के पाँचों प्रकारों का क्रमिक आविर्भाव एवं उनकी उपासना का रहस्य भी श्रीगोस्वामीजी ने बा० दो० १९ चौ० ३–५ में सूक्ष्मतया मार्मिक रीति से वर्णित किया है। तिलक पृ० ८५–८८ देखिये। और भी—अर्चावतार पृ० १२६, अ० दो० १२८ चौ० १–५, और दो० ३२५। विभव लं० दो० १०८ चौ० ७, अवतार-हेतु प्रकरण पृ० ४११–५३८। व्यूह बा० दो० २० चौ० ४–६। 'पर' बा० मं० श्लोक ६ एवं कैलाश-प्रकरण पृ० ३५८–४१०। अन्तर्यामी—बा० दो० २२ चौ० ६–७ देखिये।

उपर्युक्त 'पर', व्यूह आदि पाँचों अवस्थाओं में भगवान् श्रीजी के साथ ही रहते हैं। श्रीजीका विरह कभी नहीं होता। जैसा कि कहा है—"नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः *श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥* देवत्वे देवदेहेयं *मनुष्यत्वे* च मानुषी विष्णोरेवानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्॥" तथा "अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा॥... न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा।" (वाल्मी० ६।११८।१०–२१); "गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीताराम-पद,..." (बा० दो० १८)।

ईश्वर की पञ्चधा स्थिति भी ग्रन्थकार ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही मानी है।

तात्पर्य-निर्णय

इस ग्रन्थ (श्रीरामचरित मानस) का तात्पर्य ज्ञान-विराग-युक्त भक्ति के प्रतिपादन का है। उपक्रमोपसंहार आदि छओं लिङ्गों से इसका निर्णय ग्रन्थ के अन्त में 'सतपंच चौपाई मनोहर' के प्रसंग में किया गया है। वहीं पर देखिये। यह भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ही दृष्टि से है।*

---

* इन सब विषयों का विशेष रीति से वर्णन एवं शंका समाधानपूर्वक निर्णय मेरे "मानस, सिद्धान्त विवरण" ग्रन्थ में किया गया है। पुन हमें यह आशा है कि इस 'सिद्धान्त तिलक' के आद्योपान्त मनन करने से मानसकार के सिद्धान्त-विषय में यथासम्भव पाठक का प्रवेश हो जायगा।

—"तिलककार"

श्रीगोस्वामीजी की प्रामाणिक गुरु-परम्परा

मारवाड़ देश के भीयरा स्थान में श्रीकूबाजी की गद्दी है। श्रीकूबाजी के समकालीन गुरु-भाई श्रीरघुनाथदासजी महाराज ने श्रीकूबाजी की जीवनी लिखी है। वह उक्त गद्दी में वर्तमान है। वह संस्कृत में है, उसके बीच-बीच में भाषा के दोहे भी हैं। उसमें श्रीनरहरि दासजी के प्रथम शिष्य श्री केवलराम कूबाजी लिखे गये हैं। द्वितीय में श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का नाम आया है; यथा—"द्वितीये नरहरि दास के, भये जो तुलसीदास। रामायण शुचि ग्रंथ रचि, जग में कियो प्रकास॥" उसमें यह भी लिखा है कि श्रीकूबाजी का जन्म संवत् १५४५ है। इससे वे श्रीगोस्वामीजी के समकालीन भी थे, क्योंकि श्रीगोस्वामीजी का जन्म संवत् मयङ्क-टीकाकार के मत से संवत् १५५४ है और अन्य लेखकों के मत से १५८९ है।

यह परम्परा इस प्रकार है—

१ भगवान् श्री रामानन्दाचार्यजी
२ अनन्त श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी
३ ,, ,, माधवानन्दजी
४ ,, ,, गरीबानन्दजी
५ ,, ,, लक्ष्मीदासजी
६ ,, ,, गोपालदासजी
७ ,, ,, नरहरिदासजी
८ ,, श्रीकेवल राम कूबाजी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीगोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में एक पद लिखा है, यथा—"जागिये कृपा-निधान जानराय रामचन्द्र ···" इसके 'जानराय' पद से स्पष्ट होता है कि यह पद श्रीगोस्वामीजी ने अपने गुरु-भाई के सम्बन्ध से भीयरा स्थान में रहते हुए वहीं पर निर्माण किया है। भीयरा गद्दी के श्रीठाकुरजी का नाम 'जानराय' है, यह बहुत प्रसिद्ध है। इसकी कथा भक्तमाल की टीका में भी है, यथा—"धर्‌यो जानराय नाम जानि लई ही की बात" (भ० टी० क० १२४)।

अनत श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजी महाराज
लक्ष्मण किला।

अनत श्री प० जानकीवरशरण महर्षि,
लक्ष्मण किला।

अनन्त श्रीस्वामी रामवल्लभाशरणजी महाराज,
श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट।

अनन्त श्री प० रामवल्लभाशरणजी महाराज
जानकीघाट।

अनन्त श्रीस्वामी रामकुमारदासजी, प्रमोदवन, बड़ी कुटिया।

अनन्त श्रीस्वामी गोमतीदासजी महाराज हनुमन्निवास।

अनन्त श्री प० रामपदार्थदासजी 'वेदान्ती' जानकीघाट।

इसी परम्परा को डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने बहुत पहले लिखा है। जिसकी, उपर्युक्त गद्दी के प्रमाण को नहीं जानते हुए, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने समालोचना की है कि श्रीनाभाजी से श्रीगोस्वामीजी की भेंट हुई थी। श्रीनाभाजी श्रीरामानन्दाचार्य से पाँचवीं पीढ़ी में हैं; तब श्रीगोस्वामीजी का आठवीं पीढ़ी में होना युक्त नहीं है। (सभा की प्रति अभी खोजने पर मुझे नहीं मिली। सुनी हुई बात मैंने लिखी है)। उक्त सभा के सभापति बाबू श्यामसुन्दर दासजी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—"श्रीरामानन्दाचार्यजी का समय सं० १३५६ से १४६७ तक है।···अनुमान से सं० १४५० के लगभग उनके द्वादश शिष्यों का शिष्य होना मान्य है।" अर्थात् उक्त स्वामीजी की ६६ वर्ष की आयु के बाद शिष्य होने लगे और कुल ११ वर्षों में ही वे सब कुछ करके साकेत पधारे। उनका यह अनुमान कोई भी नहीं मान सकता।

रही नाभाजी के समकालीन होने की बात।

इसकी मीमांसा इस प्रकार होगी कि भगवान श्रीरामानन्दाचार्यजी का जन्म संवत् १३५६ है और श्रीगोस्वामीजी का, मानस के मयङ्क-टीकाकार के मत से, सं० १५५४ है। शेष लोगों ने १५८९ लिखा है। मयङ्ककार के मत से २०० वर्षों का और अन्यान्य लोगों के मत से २३३ वर्षों का अन्तर है। कम-से कम २०० वर्ष का अन्तर तो है ही। इसमें श्रीनाभाजी पाँचवीं पीढ़ी में हैं। अतः, इनकी ५० वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी लेने से चार पीढ़ियाँ बीतीं। ऐतिहासिक दृष्टि से गृहस्थों की वंश-परम्पराएँ सामान्यतया २५ वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी ली जाती है। साधुओं की गुरु परंपरा की प्रत्येक पीढी ५० वर्ष तक मान्य हो सकती है।

उपर्युक्त परंपरा में श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दाचार्यजी से आठवीं पीढ़ी में हैं। अतः, दो सौ वर्षों में सात पीढ़ियों के बीतने में प्रत्येक पीढ़ी २८ वर्ष की ही पड़ती है। सामान्य रीति से यह ठीक है। साधुओं की परम्परा में अपने वर्त्तमान काल में आज दिन भी प्रायः ४–५ पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। अधिक पीढ़ियों का होना कुछ भी असंगत नहीं, प्रत्युत् कम होना ही असंगत है। यदि ५० वर्ष से भी अधिक में पीढ़ियाँ पड़ें, तो उन्हें ठीक नहीं जानना चाहिये; परन्तु हमारी ऊपर दी हुई परम्परा में कोई दोष नहीं है।

परम्परा के विषय में मतभेद होने का कारण यह है कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस के मंगलाचरण में 'नर रूप हरि' कहकर 'नरहरि दास' मात्र अपने श्रीगुरुजी के नाम का सङ्केत किया है। इस नाम के पाँच महात्मा भक्तमाल में कहे गये हैं। इससे लोगों में दो तीन मत हो गये हैं। किन्तु, उपर्युक्त परम्परा एक बड़ी भारी गद्दी की है और डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर अभी तक के प्रायः सभी प्रतिष्ठित जीवनी-लेखकों ने इसको उद्धृत किया है। पर वे इसके दृढ मूल को न जानकर इसमें संशय कर बैठते थे। अब मैं आशा करता हूँ कि इसके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जायगा। 'तिलककार'

नवाह्न और मासिक विराम

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान	दोहा-संख्या
	१	राम-चरित-राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु	बा० दो० ३२
	२	बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहि कहा समुझाइ	,, ,, ७३
	३	मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह	,, ,, १११
१	×	हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित	,, ,, १२०
	४	यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कहा वृषकेतु	,, ,, १५२
	५	मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस	,, ,, १९६
	६	सतानंद - पद - बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ	,, ,, २३६
२	×	उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग	,, ,, २५४
	७	देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल	,, ,, २८५
	८	मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि	,, ,, ३२५
	९	सिय - रघुबीर - बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं	,, ,, ३६१
३	×	प्रमुदित पुर-नर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार	अ० ,, १३
	१०	द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रवि देखि	,, ,, ३७
	११	सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनक - सुता सुकुमारि	,, ,, ८१
	१२	तात बचन पुनि मातु-हित, भाइ भरत अस राउ	,, ,, १२५
४	×	तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास	,, ,, १५६
	१३	मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि	,, ,, १६४
	१४	तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि - बचन अनुकूल	,, ,, २०५
	१५	भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह	,, ,, २४७
	१६	बार बार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि	,, ,, २८७
५	×	राखि राम रुख धरम व्रत, पराधीन मोहि जानि	,, ,, २९३
	१७	भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं	,, ,, ३२६

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान ※	दोहा-संख्या
	१८	हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान	आ० दो० २०
	१९	दीप-सिखा सम जुवति-तन, मन जनि होसि पतंग	,, ,, ४६
६	×	बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु आज्ञा धरि सीस	कि० ,, २५
	२०	नीलोत्पल तनु श्याम, काम कोटि सोभा अधिक	,, ,, ३०
	२१	निमिष-निमिष करुनानिधि, जाहिं कल्प सम बीति	सुं० ,, ३१
	२२	सकल सुमंगल - दायक, रघुनायक - गुन गान	,, ,, ६०
	२३	रिपु-बल धरषि हरषि कपि, बालि - तनय बलपुंज	लं० ,, ३४
७	×	कछु मारे कछु घायल, कछु गढ चढ़े पराइ	,, ,, ४६
	२४	निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम	,, ,, ७०
	२५	मुरुछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास	,, ,, ९७
	२६	यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु विचार	,, ,, १२०
८	×	ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया - मन - गुन पार	उ० ,, २५
	२७	एहि विधि नगरनारिनर, करहिं राम - गुन - गान	,, ,, ३०
	२८	जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ	,, ,, ७२
	२९	सुनि सिव बचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि	,, ,, १०६
९	३०	पुण्य पापहर सदाशिवकर विज्ञानभक्तिप्रद ·· ·· ··	अंतिम श्लोक

इन विराम-स्थलों में प्राय. रामायणी लोगों में मतभेद रहता है। इनमें विचारना यही है कि नित्य के लिये बराबर बराबर पाठ पड़ें और विश्राम अच्छे स्थल पर हों। किसी-किसी का ऐसा भी मत है कि मासिक पाठ के एक दिन के पाठ में काण्ड का उल्लंघन भी न करना पड़े। मेरे उपर्युक्त निबन्ध मे इसका भी निर्वाह हो गया है और नित्य के लिये पाठ भी बराबर हैं।

नोट—※ जिन दोहों एव सोरठों पर विराम है, उनकी पहली पंक्ति ही यहाँ दी गई है; परन्तु पाठ इनके अंतिम चरण पर समाप्त होते हैं।

पारायण-विधि

श्रीरामचरितमानस का विधिपूर्वक पाठ करनेवाले सज्जनों के लिये सामान्य और विशेष दो प्रकार की विधियाँ हैं। नवाह्न और मास-पारायण—दोनों में इनकी आवश्यकता है।

"सामान्य विधि" यह है कि पाठ करनेवाला पाठ करने बैठे। जो नवाह्न एवं मासिक-परायण के विराम-स्थान इसके पूर्व में बतलाये गये हैं, उनमें क्रमशः एक का प्रति दिन पाठ करता हुआ नवाह्न का नौ दिन में एवं मासिक का एक मास में सम्पूर्ण पाठ समाप्त करे।

"विशेष विधि" इस प्रकार है कि पवित्र स्थान में एक चौकी को दिव्य वस्त्रादि से सुसज्जित करके उसपर श्रीचूर्ण (रोली) से अष्टदल कमलाकार यंत्र बनावे। उस यंत्र के आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, और ईशान कोणवाले चार दलों पर श्रीतुलसीदासजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीकाकभुशुण्डिजी और श्रीमहादेवजी—इन श्रीमन्मानस के चारों आचार्यों का पूजन करे। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन तीन दिशावाले दलों पर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन तीनों श्रीप्रभु के भ्राताओं का शक्तियों के साथ पूजन करे और पूर्व दिशावाले दल पर श्रीहनुमानजी का अर्चन करे। यंत्र की मध्य कर्णिका में परात्पर प्रभु साकेताधीश्वर श्रीसीतारामजी का पूजन करे। यंत्र का चित्र और पूजा के मंत्र आगे दिये जाते हैं—
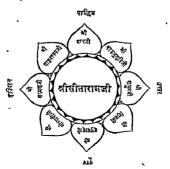
नमस्ते तुलसीदास रामभक्ति महोदधे ।
अग्निकोणे समाविश्य पूजां चेमां गृहाण मे ॥१॥ ॐ तुलसीदासाय नमः
याज्ञवल्क्य नमस्तुभ्यं रामतत्त्वप्रदर्शक ।
नैर्ऋत्ये तिष्ठ विप्रेन्द्र संगृहाण ममार्चनम् ॥२॥ ॐ याज्ञवल्क्याय नमः
भो भुशुण्डिन् नमस्तुभ्यं रामभक्ति दृढव्रत ।
वायव्ये ह्युपविश्याथ प्रतिगृह्णीष्व मेऽर्चनम् ॥३॥ ॐ भुशुण्डिने नमः
गौरीपते नमस्तुभ्यमिहागच्छ महेश्वर ।
ईशाने तिष्ठ देवेश गृहाण मम पूजनम् ॥४॥ ॐ गौरीपतये नमः
श्रीलक्ष्मण नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं संगृहाण मे ॥५॥ ॐ सपत्नीकाय लक्ष्मणाय नमः
श्रीभरत नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठस्य पश्चिमे भागे तिष्ठ पूजां गृहाण मे ॥६॥ ॐ सपत्नीकाय भरताय नमः
श्रीशत्रुघ्न नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठकस्योत्तरे भागे पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥७॥ ॐ सपत्नीकाय शत्रुघ्नाय नमः
श्रीहनुमन्नमस्तुभ्यमिहागच्छ कृपानिधे ।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरु प्रभो ॥८॥ ॐ हनुमते नमः
अथ प्रधानपूजा च कर्तव्या विधिपूर्वकम् ।
पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वा तु ध्यानं कुर्यात्परस्य च ॥९॥
रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतम् ।
श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम् ॥
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितम् ।
वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम् ॥१०॥
आगच्छ जानकीनाथ जानक्या सह राघव ।
गृहाण मम पूजां च वायुपुत्रादिभिर्युतः ॥११॥
सुवर्णरचितं राम दिव्यास्तरण शोभितम् ।
आसनं हि मया दत्तं गृहाण मणि चित्रितम् ॥१२॥
इदं पाद्यं मया दत्तं दिव्यं नरवरोत्तम ।
प्रसीद जानकीनाथ गृहाण सम्मुखो भव ॥१३॥
दिव्यौषधिरसोपेतं दिव्यसौरभ्य संयुतम् ।
तुलसीपुष्पदर्भाढ्यमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम् ॥१४॥

सुगन्धवासितं दिव्यं निर्मलं सरयूदकम् ।
गृहाणाचमनं नाथ• जानक्या सह राघव ॥१५॥
नमो रामाय भद्राय तत्त्वज्ञानस्वरूपिणे ।
मधुपर्कं गृहाणेमं जानकीपतये नमः ॥१६॥
पञ्चामृतं मयानीतं पयो दधि घृतं मधु ।
युतं शर्करया देव गृहाण जगतीपते ॥१७॥
दिव्य तीर्थाहृतैस्तोयैस्सर्वौषधिसमन्वितैः ।
स्नपयामि अहं भक्त्या गृह्यतां जानकीपते ॥१८॥
सन्तप्तकांचनप्रख्यं पीताम्बरमिदं हरे ।
संगृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोस्तुते ॥१९॥
यज्ञोपवीतं सौवर्णं मया दत्तं रघूत्तम
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद करुणानिधे ॥२०॥
किरीटं कुण्डलं हारं कङ्कणाङ्गदनूपुरम् ।
नानारत्नमयं त्वङ्गे भूषणं प्रतिगृह्यताम् ॥२१॥
प्रधानदेवनीयश्च सर्वमङ्गलकर्मणि ।
प्रगृह्यतां दीनबन्धो, गन्धोऽयं मङ्गलप्रद ॥२२॥
मलयाचलसंभूतं शीतमानन्दवर्द्धनम् ।
काश्मीरघनसाराढ्यं चन्दनं प्रतिगृह्यताम् ॥२३॥
नमः श्रीरामचन्द्राय नमो मङ्गलमूर्त्तये ।
उत्तरीयमिदं वस्त्रं गृहाण करुणानिधे ॥२४॥
कोमलानि सुगन्धीनि मञ्जरी संयुतानि च ।
तुलस्याः सुदलान्येव गृहाण रघुवल्लभ ॥२५॥
सौरभाणि सुमाल्यानि सुपुष्परचितानि च ।
नानाविधानि पुष्पाणि गृह्यतां जानकीपते ॥२६॥
दूर्वादलसमायुक्तं पत्र पुष्पं सहांकुरम् ।
यवं तिलं महाभाग गृह्यतां सीतया सह ॥२७॥
नमः श्रीजानकीनाथ सौन्दर्यादिगुणाम्बुधे ।
पादगुल्फादिप्वङ्गेषु ह्यङ्गपूजां - गृहाण मे ॥२८॥
वनस्पतिरसोत्पन्नं सुगन्धाढ्यं मनोहरम् ।
धूपं गृहाण देवेश जानक्या सह राघव ॥२९॥

घृतवर्त्तिसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम् ।
दीपं गृहाण देवेश मम सिद्धिप्रदो भव ॥३०॥
पूपमोदकसंयावपयः पक्वादिक वरम् ।
निर्मितं बहुसंस्कारैर्नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥३१॥
शीतलं स्वादु शुद्धं च परितृप्तिकरं जलम् ।
समस्त देवदेवेश प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥३२॥
सर्वौषधिरसोपेतं सौरभं सरयूजलम् ।
आचम्यं च मया दत्तं गृहाण करुणानिधे ॥३३॥
इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव ।
तेन मे सफला प्राप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥३४॥
ताम्बूलं पूगसयुक्तं चूर्णखादिरसंयुतम् ।
लवङ्गादियुतं दिव्यं राघव प्रतिगृह्यताम् ॥३५॥
आञ्जनेय महाभाग राम - भक्तिमहोदधे ।
प्रसादं रामचन्द्रस्य संगृहाण प्रसीद मे ॥३६॥
भ्रातृसुग्रीवकादिभ्यो देवेभ्यश्च यथार्हतः ।
प्रसादो रामचन्द्रस्य देयस्तुष्यन्ति तेन वै ॥३७॥
नृत्यगीतादि वाद्यादि पुराणपठनादिभिः ।
राजोपचारैरखिलैः सन्तुष्टो भव राघव ॥३८॥
कर्पूरवर्त्तिसंयुक्तं गोघृतेन सुपूरितम् ।
नीराजनं गृहाणेदं कृपया भक्तवत्सल ॥३९॥
मणिसौवर्णमाल्यैश्च युक्तं पुष्पाजलिं प्रभो ।
गृहाण जानकीनाथ कृपया भक्तवत्सल ॥४०॥
श्रीफलं स्वादु दिव्यं च सुधाधिकतरं प्रियम् ।
सदक्षिणं गृहाणेदं प्रणतार्त्तिहर प्रभो ॥४१॥
श्रीवल्लभानन्त जगन्निवास श्रीराम राजेन्द्र नमो नमस्ते ।
त्वया सनाथं कुरु मामनाथं नाथ प्रभो दीनदयालुमूर्ते ॥४२॥
समस्तैरुपचारैश्च या पूजा तु मया कृता ।
सा सर्वा पूर्णतां यातु अपराधं क्षमस्व मे ॥४३॥
यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्तु प्रदक्षिण पदे - पदे ॥४४॥

राजेन्द्रपुत्राय परात्पराय स्वच्छाय सस्मेरशुभाननाय।
श्यामाय रामाय सहप्रियाय नमः सदाभीष्टफलप्रदाय ॥४५॥

सहप्रियस्त्वं हृदये वस प्रभो मुखे यशो नामगुणानुवादनम्।
प्रीत्यार्चनं ते करवाणि सन्ततं प्रदेहि मह्यं कृपया कृपाम्बुधे ॥४६॥

दयाब्धे जानकीनाथ महाराज कुमारक।
ममाभीष्टं कुरुष्वाद्य शरणागतवत्सल ॥४७॥

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥४८॥

इस प्रकार पूजन समाप्त करके हाथ में जल लेकर नीचे लिखा हुआ विनियोग करे—

ॐ अस्य श्रीमन्मानसरामचरितस्य श्रीशिव-काकभुशुंडि याज्ञवल्क्य-गोस्वामि तुलसीदासा ऋषय चतुष्पाद्यादिनि छन्दांसि श्रीरामो देवता श्रीराम नाम बीजं भवरोग हारिणी शक्ति मम निरस्ताशेषविघ्नतया श्रीराम नाम प्रीतिपूर्वक सकल मनोरथ-सिध्यर्थं पाठे विनियोगः ॥

फिर

श्रीरामाय नमः, श्रीरामभद्राय नम, श्रीरामचन्द्राय नम

इन तीनों मंत्रों से आचमन कर युगुल बीज मन्त्र से प्राणायाम करे। इसके बाद नीचे लिखी चौपाईयों से करन्यास और अगन्यास करे—

जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धर्म धाम के ॥ अंगुष्ठाभ्यां नमः
राम-राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥ तर्जनीभ्यां नमः
राम सकल नामन्हते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका ॥ मध्यमाभ्यां नमः
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥ अनामिकाभ्यां नमः
सनमुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नाशहि तबही ॥ कनिष्ठिकाभ्यां नमः
मामभिरच्छय रघुकुल नायक। धृत वर चाप रुचिर कर सायक ॥ करतलकरपृष्ठाभ्यां नम
जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धर्म धाम के ॥ हृदयाय नमः
राम - राम कहि जे जमुहाहीं। तिनहिं न पाप पुंज समुहाहीं ॥ शिरसे स्वाहा
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होहु नाथ अघ खग-गन बधिका ॥ शिखायै वषट्
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥ कवचाय हुं
सनमुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहि तबही ॥ नेत्राभ्यां वौषट्
मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृतवर चाप रुचिर कर सायक ॥ अस्त्राय फट्

फिर निम्नलिखित चौपाइयों से प्रभु का ध्यान करे—

मामवलोकय पंकज लोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन
नील ताम रस श्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि
जातुधान बरूथ बल भंजन। मुनि सज्जन रंजन अघ गंजन
भूसुर ससि नव वृन्द बलाहक। असरन सरन दीनजन गाहक
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खर दूषन बिराध बध पंडित
रावनारि सुख रूप भूपवर। जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर
सुजस पुरान विदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम
कारुनीक व्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसलामंडन
कलिमल मथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन

तत्पश्चात् श्रीराम-मंत्र की एक माला जप कर पाठ प्रारंभ करे, विश्राम पर पाठ समाप्त करके श्रीराम-मंत्र की एक माला फिर जपे और अष्टांग धूप या यव तिलआदि से हवन करे।

जिस दिन पाठ समाप्त हो उस दिन यव, तिल, शक्कर आदि के सवा दो सेर, या सवा पाँच सेर साकल्य से आम की समिध के साथ १००० आहुति हवन करे और हवन से क्रमशः दशांश-दशांश तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण-भोजन करावे।

पाठ करनेवाले को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना चाहिये और दिन में एक बार सात्विक भोजन करना चाहिये।"

अनन्त श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज जानकीघाट, श्रीअयोध्या की प्रति से उद्धृत।

× × × × ×

नोट—जो प्रेम-पूर्वक पाठ के अर्थ पर रखते हुए निष्काम पारायण करते हैं उनके लिये विशेष विधियों का उतना बन्धन नहीं है।

अनुष्ठान के प्रयोग

श्रीरामचरित मानस साक्षात् श्रीरामजी का स्वरूप * है। अत, इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक सभी बातें प्राप्त हो सकती हैं। यह निश्चित है कि इसके द्वारा श्रीरामजी का प्रेम एवं श्रीरामजी का साक्षात्कार होता है, इस कारण प्राकृत वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इसका प्रयोग करना ठीक नहीं। क्योंकि यह मणि देकर काँच लेने के समान गर्हित है। फिर भी पूर्व के महात्माओं ने पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के प्रयोग लिखे हैं। लौकिक स्वामियों के समक्ष चापलूसी करके स्वार्थ साधने की अपेक्षा भगवान् से किसी वस्तु का माँगना उत्तम ही है। कहा भी है-"तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।" (वि० ७८)। पुन, कतिपय लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति से प्रतीति दृढ़ होने पर श्रीरामजी में निष्काम प्रेम करने की भी प्रवृत्ति होती, है, तब परमार्थ भी बनता।

आवश्यक बात तो यह है कि इस मानस को पुस्तक-मात्र न मानकर इसे श्रीरामजी का स्वरूप मानना चाहिये और इसपर दृढ़ श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, तभी सब प्रयोग सिद्ध होंगे। यथा—"भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥" (बा० म०।)

परमार्थिक प्रयोग

(१) श्रीरामजी के प्रत्यक्ष दर्शन पाने के लिये

बालकाण्ड से आरम्भ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति पर्यन्त १०५ पाठ करना चाहिये, चाहे जितने दिनों में हो। प्रत्येक दिन पाठ के आदि में, विसर्जन के समय और बीच बीच में भी इन चौपाइयों को पढ़ना चाहिये—

जौ अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो स्वरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥

---

* बालकाण्ड प्रभु पाय, अयोध्या कटि मन मोहै।
उदर बन्यो आरण्य, हृदय किष्किंधा सोहै॥
सुंदर ग्रीव मुखारविंद, लंका कहि आयो।
जेहि महँ रावन आदि, निसाचर सर्व समायो॥
मस्तक उत्तरकांड गनु, एहि विधि तुलसीदासतनु।
आदि अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस रामतनु॥

जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥
(बा॰ दो॰ १४५)।

इस प्रयोग के विधान में बहुत प्रेम-पूर्वक एक पवित्र स्थान पर एकान्त में शुद्ध चित्त से दर्शनों की काङ्क्षा से नित्य श्रीरामजी का ध्यान करना चाहिये। १०५ पाठों की समाप्ति पर, आशा है कि परम कारुणिक श्रीरामजी दर्शन देंगे।

२—श्रीसीताजी के साथ परम पुरुष श्रीरामजी के दर्शनों के लिये

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोट कोटि सत काम ॥ (बा॰ दो॰ १४६)

इस दोहे से पाठ प्रारंभ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति तक पढ़ जाय और फिर बालकांड के आदि से प्रारंभ कर इसी दोहे के पहले की चौ०—"भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥" पर समाप्त करे।

३—भक्ति-प्राप्ति के लिये

भक्त कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दयाकरि राम ॥ (उ॰ दो॰ ८४)।

इस दोहे का सम्पुट या सम्पुटवल्ली लगाकर सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानस का पाठ करना चाहिये।

मनोरथ की चौपाई एवं दोहे को प्रत्येक पद्य (दोहे-चौपाई आदि) के साथ एक-एक बार पढ़ते हुए पाठ करना सम्पुट और दो-दो बार पाठ करते जाना सम्पुटवल्ली कहा जाता है। जो सम्पुट से कार्य-सिद्धि न हो तो सम्पुट-वल्ली पाठ करना चाहिये। मनोरथ वाले पद्य से प्रारंभ कर ग्रन्थ-समाप्ति तक पाठ करके फिर बालकांड के आदि से प्रारंभ कर उसी पद्य पर पूर्ति करनी चाहिये।

४—ज्ञान-प्राप्ति के लिये

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा ॥
(कि॰ दो॰ १०)

५—प्रेम-वैराग्य-प्राप्ति के लिये

भरत चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति ॥ (अ॰ दो॰ ३२६)

६—वैराग्य सहित भक्ति-प्राप्ति के लिये

अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती । सब तजि भजन करउँ दिन राती ॥
(कि० दो० ६)।

७—संशय-निवृत्ति के लिये

रामकथा सुंदर करतारी । संसय बिहँग उड़ावनहारी ।
(बा० दो० ११३)

७—पराभक्ति वशीकरण

केहरि कटि पट पीत धर, सुखमा सील निधान
देखि भानुकुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान ॥ (बा० दो० २२३)

लौकिक प्रयोग

१—जल वर्षा के लिये

सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवनदाता ॥
(बा० दो० ६)

२—विघ्न-नाश करने के लिये

सकल विघ्न व्यापहि नहिं ताही । राम सुकृपा बिलोकहिं जाही ॥
(बा० दो० ३८)

३—कार्य की सिद्धि के लिये

स्वयसिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियउ ।
अस बिचारि जुबराज, तनु पुलकित हरषित हियउ ॥ (सुं० दो० १७)

४—रक्षा करने के लिये

मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ । येहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥
(बा० दो० १३१)

मामभिरक्षय रघुकुलनायक । धृत वर चाप रुचिर कर सायक ॥
(ल० दो० ११४)

५—विपत्ति का नाश करने के लिये

राजिव नयन धरे धनुसायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥
(बा० दो० १७)

६—तिजरा आदि ज्वर छुड़ाने के लिये

सुनु खगपति यह कथा पावनी । त्रिबिध ताप भव भय दावनी ॥

(उ० दो० १४)

७—प्रियतम-आकर्षण के लिये

जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥

(बा० दो० २५८)

(उपर्युक्त रीति से सम्पुट पाठ करे अथवा इसी चौपाई मात्र को बराबर जपता रहे, जबतक प्रियतम न आवे।)

८—दुःख मिटाने के लिये

जब ते राम ब्याहि घर आये । नित नव मंगल मोद बधाये ॥ (अ० चौ० १)।

६—भूत-प्रेत इत्यादि से बचने के लिये

प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञानघन ।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर ॥ (बा० दो० १७)।

१०—उत्सव करने के लिये

सिय रघुबीर बिवाह, जे सप्रेम गावहि सुनहिं ।
तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस ॥ (बा० दो० ३६१)।

११—उपद्रव की शान्ति करने के लिये

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहि काहुहि ब्यापा ॥ (उ० दो० २०)।

१२—दरिद्रता नाश करने के लिये

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । कामद घन दारिद दवारि के ॥ (बा० दो० ३१)।

१३—जीविका उपार्जन करने के लिये

बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥ (बा० दो० १९६)।

१४—यात्रा में सफलता के लिये

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा । हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥ (सुं० दो० ४)।

१५—संकट नाश करने के लिये

जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥ (बा० दो० २१)।
जो प्रभु दीनदयाल कहावा । आरति हरन बेद जस गावा ॥ (बा० दो० ५८)।
दीनदयाल बिरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥ (सुं० दो० २६)।

१६—सुख और सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं । सुख संपत्ति नाना विधि पावहिं ॥ (उ० दो० १५) ।

१७—विद्या की प्राप्ति के लिये

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई । अलप काल विद्या सब आई ॥ (बा० दो० २०८) ।

१८—विष का नाश करने के लिये

नाम प्रताप जान सिव नीको । कालकूट फल दीन अमी को ॥ (बा० दो० १८) ।

१६—मोहन प्रयोग करने के लिये

करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ॥ (बा० दो० २०३) ।

२०—क्लेश का नाश करने के लिये

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू । महा मोह निसि दलन दिनेसू ॥ (अ० दो० ३२५) ।

२१—पुत्र की प्राप्ति के लिये

एक बार भूपति मन माहीं । भई गलानि मोरे सुत नाहीं ॥ (बा० १८८) ।

यहाँ से आरम्भ कर उत्तरकांड समाप्त करे और बालकाण्ड आरम्भ करके नीचे के दोहे पर समाप्त करे—

कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल विनीत ॥ (बा० दो० १८८) ।

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय
आ०—अरण्यकांड
उ०—उत्तरकांड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किधाकांड
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै० + तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकांड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०—कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत
मुं०, मुण्ड०—मुण्डकोपनिषत्
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकाण्ड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
स०—सर्ग
वि०—विशेष

श्रीरामशलाका प्रश्न

सु	प्र	उ	बि	हो	मुॐ	ग	ब	सु	नु	बि	घ	धि	इ	द
र	रु	फ	सि	सि	रे	बस	है	मं	ल	न	ल	य	न	अं
सुज	सो	ग	सु	कु	म	स	ग	त	न	ई	ल	धा	बे	नो
त्य	र	न्	कु	जो	म	रि	र	र	अ	की	हो	सं	रा	य
पु	सु	थ	सी	जे	इ	ग	म	सं	क	रे	हो	स	स	नि
ति	र	त	र	स	इ	ह्	ब	ब	प	चि	स	य	स	तु
म	का	ा	र	र	मा	मि	भी	म्हा	ा	जा	हू	हीं	ा	जू
ता	रा	रे	री	ह्र	का	फ	खा	जि	ई	र	रा	पू	द	ल
नि	को	मि	गो	न	म	ज	य्	ने	मनि	क	ज	प	स	ल
हि	रा	म	स	रि	ग	द	न	प	म	खि	जि	मनि	त	ऊं
सिं	मु	न	न	कौ	मि	ज	र	ग	धु	ख	सु	का	स	र
गु	क	म	अ	ध	मि	म	ल	ा	न	ब	ती	न	रि	भ
ना	पु	व	अ	ढा	र	ल	का	ए	तु	र	न	नु	व	थ
सि	ह	सु	म्ह	रा	र	स	हिं	र	त	न	प	ा	जा	ा
रू	सा	ा	ला	धी	ा	री	ज	हू	हीं	पा	जू	ई	रा	रे

उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' के द्वारा जब किसी को अपने इच्छित प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की अभिलाषा हो, तब सबसे पहले उसको भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करना उचित है। तत्पश्चात् श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने मन में इच्छित प्रश्न का स्मरण करते हुए प्रश्न की मनचाही बन्धनी में अँगुली रख देनी चाहिये और उस बन्धनी में जो अक्षर हो उसे किसी कोरे कागज अथवा स्लेट पर अलग लिख लेना चाहिये। ऐसा कोई चिह्न प्रश्न की बन्धनी में भी लगा देना चाहिये जिसके द्वारा न तो प्रश्न-संख्या गन्दी हो और न प्रश्नोत्तर की प्राप्ति होने तक वह बन्धनी भूल जाय। बन्धनी का जो अक्षर अब लिख लिया गया है, उससे आगे बढ़ना चाहिये और उसके

दसवें कोष्ठ में जो अक्षर पड़े उसे भी लिख लेना चाहिये। इस तरह हरएक दसवें अक्षर को क्रम के साथ लिखते जाना चाहिये और जबतक सभी पहले कोष्ठ के अक्षर तक अँगुली पुनः न पहुँच जाय तबतक लिखते जाना चाहिये। पहले कोष्ठ का अक्षर जिस कोष्ठ के अक्षर से दसवाँ पड़ेगा, वहाँ तक जाते-जाते एक पूरी चौपाई हो जायगी। वही चौपाई प्रश्नकर्त्ता के इच्छित प्रश्न का उत्तर होगी। इस बात का यहाँ विचार रखना चाहिये कि किसी-किसी कोष्ठ में सिर्फ 'आ' की मात्रा (ा) और किसी कोष्ठ में दो-दो अक्षर हैं। अतएव गिनती करते समय मात्रावाले कोष्ठ को न तो छोड़ना चाहिये और न दो अक्षरोंवाले कोष्ठ को दो बार गिनना चाहिये। मात्रा का कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ पहले लिखे अक्षर के आगे मात्रा लिखनी चाहिये और दो अक्षरोंवाला कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ एक साथ दोनों अक्षर लिखना चाहिये।

उदाहरण-स्वरूप उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' से एक चौपाई किसी प्रश्न के उत्तर में निकाली जा सकती है। पाठकों को ध्यान से देखना चाहिये। यदि किसी ने भगवान् श्रीरामजी का स्मरण और अपने इच्छित प्रश्न का चिन्तन करते हुए प्रश्न-संख्या ❀ इस निशान से युक्त 'सु' वाले कोष्ठ में अँगुली रक्खी और वह क्रम के अनुसार ऊपर बनाये अक्षरों को गिन-गिनकर लिखता गया तो उत्तर में संख्या ❀ ६ की चौपाई बन जायगी—

१—सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन-कामना तुम्हारी॥ (बा॰ दो॰ २३५)।
—प्रश्न अच्छा है, कार्य होगा।

२—प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥ (सु॰ दो॰ ४)।
—भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करके कार्य करो, सिद्ध होगा।

३—उघरे अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥ (बा॰ दो॰ ६)।
—इस कार्य में भलाई नहीं है, कार्य की सफलता में संदेह है।

४—बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥ (बा॰ दो॰ २)
—खोटे मनुष्यों का साथ छोड़ दो, कार्य पूरा होने में संदेह है।

५—होइहै सोई जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावहि साखा॥ (बा॰ दो॰ ५१)।
—अपने कार्य को भगवान् पर छोड़ो, कार्य होने में संदेह है।

❀६—मुद मंगलमय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथराजू॥ (बा॰ दो॰ १)।
—प्रश्न अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

७—गरल सुधा रिपु करय मिताई। गो पद सिंधु अनल सितलाई॥ (सु॰ दो॰ ४)।
—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

८—बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा॥ (लं॰ दो १०२)।
—कार्य सिद्ध होने में संदेह है।

९—सुफल मनोरथ होहु तुम्हारे। राम लखन सुनि भए सुखारे॥ (बा॰ दो॰ २३६)
—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामबालक दासजी, बड़ी छावनी, श्रीअयोध्याजी से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

परमादरणीय पं० श्रीश्रीकान्तशरणजी !

आपका मानस-सिद्धान्त-तिलक मिला। मैंने उसके कतिपय सैद्धान्तिक स्थलों को देखा। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। यद्यपि मानस की गण्यमान्य कई टीकाएँ हुई हैं, तथापि इस सिद्धान्त-तिलक की भाषा तथा लेखन-शैली परिष्कृत है। इसीलिये यह ग्रन्थ सर्वोपादेय होना चाहिये।

—रामायणी रामबालकदास

न्याय-वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामपदार्थदासजी, श्रीजानकी घाट, श्रीअयोध्या से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

इस जगत् के भाषा-साहित्यों में सर्वोच्च स्थान निर्विवाद रूप से श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के 'श्रीरामचरित-मानस' को दिया जाता है। अपनी-अपनी बुद्धि-वैभव के अनुसार विद्वानों ने इस अमूल्य ग्रन्थ पर अनेक दृष्टियों से टीकाएँ की हैं। कहना न होगा कि उक्त टीकाकारों की दृष्टियों से वे अपने-अपने स्थान में उपयुक्त ही हैं।

यह तो विदित ही है कि श्रीगोस्वामीजी ने वैष्णव-साम्प्रदायिक दार्शनिक सिद्धान्तों के निचोड़ों को पूर्णतः ध्यान में रखकर ही अपने ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि श्रीगोस्वामीजी का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत ही है।

इसकी आवश्यकता बहुत दिनों से प्रतीत होती थी कि श्रीगोस्वामीजी के रामचरितमानस की टीका सिद्धान्तानुसार हो। इस अभाव की पूर्त्ति श्री पं० श्रीकान्तशरणजी महाराज ने अथक परिश्रम करके की है। 'तिलक' को देखकर मेरा मन बहुत सन्तुष्ट हुआ। श्रुति-स्मृतियों के प्रमाणों का सुन्दर सामञ्जस्य श्रीगोस्वामीजी महाराज की कृपा से श्रीरामायणजी में जिस भाँति से है उसको श्री पं० श्रीकान्तशरणजी ने स्पष्ट करके आर्य सन्तानों के समक्ष इस सुन्दरता और सरलता से रखते हुए विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के सारांश को झलकाकर जो कल्याण किया है उसके लिये समस्त धार्मिक जगत् के आप धन्यवाद के पात्र बन गये हैं।

शब्द बोध में वक्ता का तात्पर्य ज्ञान कारण माना जाता है। उसके बिना अर्थात् तात्पर्य-विरुद्ध अर्थ करने से वह अर्थ अर्थ नहीं कहा जा सकता। इस तिलक में इस सम्बन्ध की त्रुटियों का लेश भी नहीं मिलने से सहृदय लोगों का यह एक उत्तम आदर्श तिलक होगा।

—वेदान्ती रामपदार्थदास
वै० कृ० २, रविवार, २००१

न्याय-वेदान्ताचार्य पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी, श्रीजानकी घाट, श्रीअयोध्या से लिखते हैं—

॥ श्रीहनुमते नमः ॥

यद्यपि श्रीमानस रामायण के ऊपर अनेकों टीकाएँ लिखी गई हैं और वे सभी यथासाध्य लोक का उपकार कर रही हैं, तथापि यह श्रीमानस-सिद्धान्त-तिलक सम्प्रदाय-सिद्धान्त समझाने के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। इस टीका के देखने में विशिष्टाद्वैत-सिद्धांत मानस के तत्-तत्स्थलों पर—जहाँ देखने में विभिन्न सिद्धान्त प्रतीत होता है—बड़ी खूबी से समन्वित है। वास्तव में यह सिद्धान्त गोस्वामी-पाद का हार्दिक भाव-प्रतीत होता है। उसी सिद्धान्त को टीकाकार ने पूर्ण परिश्रम के साथ विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त अनभिज्ञ प्रजा के और मानस-प्रेमियों के सामने रक्खा है। इस विकाश-युग में ऐसी टीका की परम आवश्यकता थी, जिसको लिखकर टीकाकार ने बड़ा ही उपकार किया है। इनका परिश्रम प्रशंसनीय है।

—अखिलेश्वरदास

स्वामी वैष्णवदासजी शास्त्री न्याय-रत्न, वेदान्त-तीर्थ, तर्कवागीश, न्याय-वेदान्त-केसरी, पहाड़ीबाबा का आश्रम, वंसीवट ग्वाक-चौक, श्रीवृंदावन (यू० पी०) से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

॥ श्री ११०८ आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ॥

जिसकी व्यापकता, विश्वोपयोगिता, विश्वप्रियता तथा निष्पक्षपातिता में यही प्रबल प्रमाण है कि आज उसकी करोड़ों प्रतियाँ आदर-पूर्वक जनता के कर-कमलों में विद्यमान हैं; केवल हिन्दी भाषा में ही जिसकी सैकड़ों टीकाएँ हो चुकी हैं; भारत में कोई भी प्रान्त; कोई भी जाति तथा कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं जो उसे प्रेम-पूर्वक न अपनाता हो; जिसे हिन्दी भाषा में वेदों का उत्तम उपबृंहण; प्रस्थान-त्रय का भाष्य तथा भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीमद्आनन्दभाष्य का तात्पर्य और श्रेष्ठतम भागवत प्रस्थान कहने में अत्युक्ति न होगी; समस्त विश्व जिसके माधुर्यामृत का पिपासु है; दुनिया की भाषाएँ जिसके अनुवादरूप चारु भूषण से विभूषित होने पर अपना परम गौरव समझती हैं; आबालवृद्ध, आपामर पण्डित तथा आरङ्कराव और हीन जाति से लेकर उत्कृष्टतम जाति के नर-नारियों का जो एकमात्र आधार है; जो श्रीसम्प्रदाय के प्रधानाचार्य श्री ११०८ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज यतिसार्वभौम के परम वैदिक तथा युक्तियुक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का उत्कृष्ट प्रकाशक है; श्रीरामानन्द सम्प्रदाय (श्रीसम्प्रदाय) के आचार्य शिरोमणि पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कवि-सम्राट् द्वारा विरचित अपने उसी "श्रीरामचरितमानस" की ओर श्रीसम्प्रदाय की कुछ उपेक्षा देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा था। क्यों? श्रीगोस्वामीजी की श्रीरामायणाध्ययन-परम्परा के अनेकों महानुभावों तथा अन्यान्य श्रीरामायणी महानुभावों ने अनेकों टीका-टिप्पणियाँ लिखी हैं। उक्त महानुभावों ने रहस्य स्थलों का विशद स्पष्टीकरण भी किया है। परन्तु श्रीगोस्वामीजी के सम्प्रदाय (श्रीसम्प्रदाय—श्रीरामानन्द - सम्प्रदाय) के प्रधानाचार्य आनन्दभाष्यकार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज यतिराज के श्रौतयौक्तिकबाधरहित श्रीविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। प्रत्युत आपात प्रतिभासित जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके तो भगवान् श्रीआनन्दभाष्यकार और श्रीगोस्वामीजी के सिद्धान्त का विघात ही किया है। परन्तु श्रीअयोध्या-निवासी स्वामी श्री श्रीकान्त-

शरणजी द्वारा विरचित "सिद्धान्त तिलक" विभूषित "श्रीरामचरितमानस" को देखकर मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ । क्योंकि भगवान् भाष्यकार तथा श्रीमानसकार के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुकूल ही यह व्याख्यान हुआ है । वादी के समाधान के लिये श्रुति-स्मृति गीता पुराणादि तथा श्रीवाल्मीकि-रामायण आदि के प्रमाणों और शास्त्रानुकूल तर्कों को देते हुए व्याख्याकारजी ने स्वसाम्प्रदायिक जनों के समाधानार्थ भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी विरचित श्रीआनन्दभाष्य तथा श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थान्तरों तथा स्थलान्तरों के श्रीमानस-वचनों का प्रमाण दिया है । मैं भगवान् श्रीजानकीनाथ तथा जगज्जननी श्रीजानकीजी से प्रार्थना करता हूँ कि इस उत्कृष्ट साम्प्रदायिक ग्रन्थ का गौरव तथा प्रचार आचन्द्र-दिवाकर बढ़ता ही जावे, तथा भारतीय जनता तथा भावुक सन्तों के मनोमिलिन्द आचार्य सिद्धान्तात्मक गन्ध और भगवत रस से परिपूर्ण इस रमणीय प्रबन्ध-पङ्कज के सर्वथा आस्वादन मे अविरत रत रहें ।

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (दरभंगा) के श्रीमान अध्यक्ष महानुभाव को सहस्रशः धन्यवाद है, जिन्होंने ऐसी-महँगी मे भी इस ग्रन्थ-रत्न का प्रकाशन कर साम्प्रदायिक प्रचार में उत्तम सहयोग दिया । भगवान् आपके ऐश्वर्य, आयुष्य, कीर्त्ति और भक्ति को बढ़ावें । इति शम् ।

— स्वामी वैष्णवदास शास्त्री
१२–५–१९४४ ।

श्रीसीताराम

श्रीगोस्वामितुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

प्रथम सोपान (बालकाण्ड)

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥१॥

टीकाकार कृत मंगल

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

सोरठा—

वन्दउँ श्री गुरु भानु वचन किरण, तम मोह-हर ।
भव रुजहर पद ध्यानु, नख दुति-भासै हरि चरित ॥१॥

सरयाम छप्पय—

वन्दउँ तुलसी वानि रानि हरि - चरित विलासिनि ।
जेहि प्रसाद लहि मरम लसै मम वानि सवासिनि ॥
विनवउँ मारुति वीर धीर लिपि विघन-विनासन ।
रिपुहन लछिमन भरत विविध विधि धरम प्रकासन ॥
प्रनवउँ पुनि सिय-पिय चरन, नाथ ! ढरहु करुनाद्दगनि ।
देहु सुमति जेहि अनुसरहुँ, वर सिद्धान्त-तिलक रचनि ॥२॥

अन्वय—वर्णानां अर्थसंघानां रसानां छन्दसां अपि च मङ्गलानां कर्त्तारौ वाणी-विनायकौ (अहं) वंदे ।

अर्थ—अक्षरों, (अक्षरों के) अर्थसमूहों, रसों, छन्दों एवं मंगलों के करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजी की मैं वंदना करता हूँ ॥१॥

विशेष—

(१) यह श्लोक अनुष्टुप् छंद में बना है, जिसके प्रत्येक चरण का छठा वर्ण गुरु और पाँचवाँ लघु, दूसरे और चौथे चरणों के सप्तम वर्ण लघु तथा प्रथम और तृतीय चरणों के सप्तम वर्ण गुरु होते हैं।

श्रीमद्वाल्मीकिजी के मुख से'श्रीमद्रामायण का बीज-रूप यही छन्द प्रकट हुआ था, यथा—"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥" इस छंद के प्रथमोद्गार से तथा 'व' अक्षर प्रथम देने से आप (श्रीगोस्वामीजी) ने अपने को श्रीवाल्मीकिजी का अवतार सूचित किया है। और भी—"जनम-जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसिदास गाये।" (गीतावली सं० ३६) अर्थात् इन्होंने पूर्व जन्म में भी गाया था। अयोध्याकांड में प्रायः आठ-आठ अर्द्धालियों पर दोहा और पचीस दोहों पर छन्द नियमित रूप से हैं, उसमें कुल तेरह छन्द हैं; बारह में तो 'तुलसी' नाम की छाप है और एक में —जो एक सौ पचीसवें दोहे पर है—'तुलसी' छाप नहीं है; क्योंकि वह श्रीवाल्मीकिजी का कथन कथा-प्रसंग में है ही, इस प्रसंग से अपना वही पूर्व रूप जनाया है। श्रीनाभाजी ने भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥" (भक्तमाल १२९)।

श्रीवाल्मीकिजी श्रीब्रह्माजी के अवतार हैं। श्रीशिवजी ने श्रीपार्वतीजी से कहा है—"वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः ॥" (स्कन्धपुराण); तथा— "ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्। वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं श्रीरामाख्यानमुत्तमम् ॥" (मत्स्यपुराण)। इसी से जो वेद प्रथम चतुरानन श्रीब्रह्माजी के द्वारा प्रकट हुआ है; यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० मंगलाचरण); तथा—"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै " (श्वे० ६, १८) " फिर वही वेद उन्हीं ब्रह्मा के द्वितीय विग्रह वाल्मीकिजी के द्वारा रामायण रूप से प्रकट हुआ। यथा—"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥" (वाल्मी० मू० रा० माहा०); इसीसे वाल्मीकीय रामायण वेदोपबृंहण एवं आर्ष कहता है और उसके रचयिता उपर्युक्त ब्रह्माजी की तरह आदि कवि कहाते हैं। अतः, श्रीगोस्वामीजी श्रीब्रह्माजी के तृतीय विग्रह हैं। यथा—"मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यों जग, तबते बेसाह्यौं दाम लोह कोह काम को ॥" (क० उ० ७०); अर्थात् प्रथम आप ब्रह्मारूप देव-कोटि में भी थे। वाल्मीकि-रूप से मनुष्यकोटि में कहे गये और वहाँ भी प्रथम काम-क्रोध के वश थे। आदि आचार्य होने से ही इनके ग्रन्थों में सब शास्त्रों के सिद्धान्त पाये जाते हैं। अतएव श्रीमद्वाल्मीकीय की तरह यह ग्रंथ भी वेदोपबृंहण—वेदार्थप्रकाशक एवं आर्ष है।

(२) इस श्लोक के आदि में मगण पड़ा है, जो तीन दीर्घ (गुरु) अक्षरों का होता है। इस गण का देवता भूमि है, जो दिव्य गुणवाली है, और मंगल श्री देती है—'मो पृथ्वी श्रीप्राप्तिफल' ऐसा पिंगलशास्त्र में कहा है।

(३) मंगलाचरण ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति एवं उसके मंगलकारी होने के लिये किया जाता है— "आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम्। तत्पठनात् पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत् ॥" ऐसा सुना जाता है। इसीसे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के सातो सोपानों के आदि में नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया है। यहाँ ग्रन्थकार ने वाणी और गणेशजी के नमस्कार करने का प्रयोजन भी व्यक्त किया है—

वर्णाना—"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना ॥ भाव भेद रस भेद अपारा। कवित-दोष-गुन त्रिविध प्रकारा ॥" (बा० दो० ८), इन सबके उत्तम विधानकर्त्ता सरस्वतीजी और श्रीगणेशजी हैं। क से ह तक ३३ वर्ण हल् (व्यञ्जन) हैं और अ से औ तक ९ स्वर (अच्) हैं। सब ४२ अक्षर हैं, इन सबों के अनेक-अनेक अर्थ होते हैं। कविता में कौन अक्षर कहाँ पड़ना चाहिये ; यह ज्ञान इन दोनों के द्वारा मुझे प्राप्त हो। यहाँ अक्षरों और उनके अर्थसमूहों के अंतर्गत वेद के शिक्षा आदि छओ

अंग आ गये। रसों में समस्त काव्य-ग्रंथों का और छन्दों से वेदों का भाव गर्भित है। इन सबों के उपयुक्त भाव योग्य स्थलों पर आवें ; ये सब इन्हीं दोनों के द्वारा प्राप्त होते हैं, यथा—"पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहरचरिता ।। मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत यक हर अविवेका॥" (बा० दो० १४); तथा—"मोदकप्रिय मुद मंगलदाता। विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता।" (विनय० १)।

(४) यह मानस काव्य ध्वन्यात्मक है; क्योंकि ध्वनि से इस श्लोक में सातो काण्डों का वस्तुनिर्देश भी किया है—'वर्णानां' से बालकांड—क्योंकि जिस परब्रह्म की कोई जाति नहीं, उसने वर्ण (जाति) धारण किया और विवाह आदि जातीय लीला भी इसमें हैं। 'अर्थसंघानां' से अयोध्याकाण्ड—क्योंकि इसमें प्रथम राज्य हेतु फिर वनवास के लिये अनेकों अर्थ (प्रयोजन) के साधन अवधवासियों और देवताओं ने किये। 'रसानां' से आरण्य कांड ; क्योंकि रस का अर्थ वीर्य (पराक्रम) है—'श्रृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस इत्यमरः' । इस कांड में केवल अपने ही पराक्रम से श्रीरामजी ने रावण के तुल्य खरादि चौदह हजार राक्षसों का वध किया है। 'छन्दसां' से किष्किंधाकांड—क्योंकि छंद करोड़ों जातियों के होते हैं; वैसे इसमें वानरी सेना एकत्र हुई। छंद का अर्थ स्वतंत्र भी है, ऐसे ही श्रीरामजी सेना सहित युद्धार्थ स्वतंत्र हुए। 'अपि' से सुंदरकांड—क्योंकि अपि निश्चयार्थक है और इस कांड में श्रीसीताजी के लंका में होने का ठीक निश्चय हुआ। 'मङ्गलानां' से लंकाकांड—क्योंकि रावण-नाश से जगत् का मंगल हुआ। 'कर्त्तारौ' से उत्तरकांड—क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने चक्रवर्ती होकर आज्ञा से जगत्-कर्तृत्व किया।

(५) यहाँ मूर्त्तिमान् गणेशजी के साथ में सरस्वतीजी के मूर्त्तिमान रूप की वंदना की है, आगे प्रवाह-रूपा गंगाजी के साहचर्य में प्रवाह रूप में भी करेंगे। यथा—"पुनि बन्दउँ सारद......"उपर्युक्त गणेशजी प्रधानतया मंगल-विधानकर्त्ता हैं और सरस्वती वर्णादि की कर्त्री हैं—दोनों का साथ ही प्रयोजन जानकर साथ ही वन्दना की। पुनः, श्री सरस्वतीजी संभाषण में अद्वितीय हैं, वैसे गणेशजी लिखने में—इसलिये भी एक साथ वन्दना की, क्योंकि यहाँ दोनों प्रयोजन साथ ही हैं।

(६) छन्दसां:—वर्णों की रचना में जब मात्राओं की संख्या, विराम (यति) और गति नियमानुसार होती है, अंत में अनुप्रास होता है, तब उसे छन्द कहते हैं। छन्दों में दोष-गुण के विचार विविध भाँति के होते हैं।

रसानां—मनोविकारों का वर्णन जब कार्यों, कारणों और सहकारियों के सहित किया जाता है, तब वे विकार पढ़नेवाले के मन में भी जाग्रत होते हैं और एक प्रकार का आनंद उत्पन्न करते हैं। इसीको रस कहते हैं। यथा—"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति० २।७)। रस के नव भेद कहे जाते हैं—"शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्त्याख्या नवाप्येतेरसास्मृताः।"

प्रश्न—'व' अक्षर से क्यों प्रारंभ किया ?

उत्तर—(१) श्लोक में कहे हुए वाणी-विनायक का आदि अक्षर व है; अतः, बीजवत् है। बीजयुक्त मंत्र अधिक प्रभावशाली होता है। अतः, इन दोनों के बीज से प्रारंभ कर उसी अक्षर पर समाप्त किया है—'दह्यन्ति नो मानवाः' आदि-अंत बीज से संपुटित करके ग्रंथ को मानों इनसे प्रसादान्वित किया है।

(२) तंत्रशास्त्र की दृष्टि से 'व' अमृत बीज है। अतः, इससे संपुटित ग्रंथ के पठन श्रवण से अमृत रूपा श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति होकर अमर-पद का लाभ होगा। यथा—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि।" (उ० दो० १२०) तथा—"तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम भगति सुठि सीठि॥" (दोहावली ८२)।

शंका—श्रीगोस्वामीजी ने अपने इष्ट श्रीसीतारामजी को छोड़कर वाणी-विनायक की वंदना आदि में क्यों की, जब कि इसी ग्रंथ के शेष तीन वक्ताओं ने श्रीराम ही की वंदना से मंगलाचरण किया है ?

श्रीयाज्ञवल्क्यजी—"प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा।" (बा॰ दो॰ १०४)

श्रीशिवजी—"बन्दउँ बाल रूप सोइ रामू''''''
करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी।।" (बा॰ दो॰ १११)

श्रीकाकभुशुंडिजी—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा।।
प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी।।"(उ॰ दो॰ ६३)

समाधान—(१) श्रीगोस्वामीजी ने इष्ट की वंदना प्रथम व्यष्टि रूप में की है, कि पराघर जगत् श्रीरामजी का शरीर है; जैसा कि सर्वत्र विराट् रूप में दिखाया है—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज-बास सचराचर, रूप राम भगवान।।" (लं॰ दो॰ १५); 'ब्रह्मा शम्भुश्च रुद्रश्च गणेशो भास्करस्तथा। विचिन्त्य वासुदेवस्य तनुभूतानिभूतयः।।" (नारदपंचरात्रे बृहद्ब्रह्मसंहितायाम्)। अतः, जिस अंग से श्रीरामजी जो कार्य करते हैं, उस कार्य के निमित्त आपके उसी अंग की वंदना की है। सरस्वतीजी भी आपकी नियाम्यभूता शक्ति है, यथा—"तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।। सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।। जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।" (बा॰ दो॰ १०४)। इसी प्रकार स्वशरीर-रूप नियाम्य गणेशजी के द्वारा मंगल आदि के विधायक श्रीराम ही हैं।

इस प्रकार सर्व-शरीरी के प्रति अनन्यता है। स्पष्ट कहा भी है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर। रूप स्वामि भगवंत।।" (कि॰ दो॰ ३)। "उमा जे राम चरनरत''' निज प्रभुमय देखहिं जगत ।। (उ॰ दो॰ ११२) एवं—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि। बन्दउँ सबके पद-कमल",''''''से "सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।" (बा॰ दो॰ ७) तक।

(२) फिर आगे—"जनकसुता जगजननि जानकी''''" (बा॰ दो॰ १७) से इष्ट (श्रीसीतारामजी) के माधुर्य रूप की वन्दना प्रारम्भ करके प्रथम नव दोहों में नाम की; "सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा।''''" (बा॰ दो॰ २७) से दो दोहों में रूप की; "निज संदेह मोह भ्रम हरनी" से दो दोहों में लीला की; और—"नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।" (बा॰ दो॰ ३३)। से एक दोहे में धाम की वन्दना की है। इस प्रकार नामादि चतुष्टय की वंदना सम्यक् वंदना हुई। यथा—"रामस्य नाम रूपंच लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।।" (वशिष्ठ-संहिता)। तब कथा प्रारम्भ हुई। अतएव इनकी वंदना उभय प्रकार की अनन्यतापूर्ण है। उपर्युक्त याज्ञवल्क्यादि तीन वक्ताओं की वन्दना सूक्ष्म है; अतः, माधुर्य रूप ही की है।

संबंध—प्रथम श्लोक से छन्दोरचना और उसमें मंगल का अवलम्ब प्राप्त करके, ग्रन्थ में जो वस्तु (श्रीरामचरित) कहना है, उसके आदि आचार्यरूप श्रीशिव-पार्वती की वन्दना करते हैं, कि जिनकी कृपा से प्राप्त श्रद्धा-विश्वास द्वारा उन्हें इस (मानस) की प्राप्ति हुई। वे ही गुण उनके प्रसाद से मुझे प्राप्त हों।

भवानी-शङ्करौ वन्दे, श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥२॥

शब्दार्थ—श्रद्धा-विश्वास—किसी बात की गूढ़ता और विचित्रता से आकृष्ट हो, वेद, शास्त्र एवं गुरु से उसके जानने की उत्कट इच्छा को श्रद्धा कहते हैं और जब उसपर किसी प्रकार ठीक भरोसा हो जाता है, तब वह विश्वास कहाता है।

अन्वय—(अहं) श्रद्धा विश्वास-रूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे, याभ्या विना सिद्धा· अपि स्वान्तःस्थमीश्वरं न पश्यन्ति।

अर्थ—मैं श्रद्धा और विश्वास के रूप श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी की वन्दना करता हूँ, जिनके विना सिद्ध लोग भी अपने अंतःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते।

विशेष—

(१) यहाँ श्रद्धा-रूपा श्रीपार्वतीजी हैं, क्योंकि श्रीराम के प्रति इन्हें सती-रूप मे सन्देह हुआ। उसके निवारण की इच्छा दूसरे जन्म (पार्वती-रूप) में भी बनी ही रही। अत· अत्यंत आर्त्त होकर बारबार प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया है, यथा—"हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी ···" (बा० दो० १०७) से "अति आरति पूँछउँ-सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥" (बा० दो० १०६) तक। यही श्रद्धा का यथार्थ रूप है।

श्रीशिवजी विश्वास-रूप हैं। यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (बा० दो० १८); "जरत सकल सुर वृंद, विषम गरल जेहि पान किय।" (कि० मं०); अर्थात् क्षीर-समुद्र के मथते समय और सब देवता थे और सभी श्रीराम नाम के महत्त्व के ज्ञाता थे; पर कालकूट की तीक्ष्णता न सह सके तथा शिवजी का नाम-प्रताप पर पूरा विश्वास था; अत., वे पी गये, जिससे मरने की अपेक्षा अजर अमर हो गये। यथा—"खायो·कालकूट भयो अजर अमर तन।" (क० उ० १५८)।

(२) यहाँ ग्रन्थकार श्रीपार्वतीजी की सी श्रद्धा और श्रीशिवजी के समान विश्वास चाहते हैं। यह श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी के प्रसाद से होगा। इसलिये इनकी वन्दना की कि श्रीरामचरित-ज्ञान के लिये वैसी श्रद्धा हो। यथा—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।" (गीता ४।३६)। चरित के साथ ही उसके बीज रूप श्रीरामनाम का महत्त्वज्ञान होगा, तब श्रीशिवजी के समान श्रीरामनाम में विश्वास होगा, और नाम-कामतरु से चरित रचना रूपी मनोरथ की सिद्धि होगी। क्योंकि श्रीशिवजी को श्रीराम नाम से ही चरित का साक्षात्कार हो गया। यथा—"मंगल-भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।" (बा० दो० ६); "नामप्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (बा० दो० २५); "ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक वर दानि। रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (बा० दो० २५); नाम के द्वारा चरित का ज्ञान अन्यत्र भी कहा है। यथा—"जानहिं सिय रघुनाथ भरत को सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको रामनाम ते प्रेम नेम निबहा है॥" (गी० अ० ६४); तथा—"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास। जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी तुलसीदास॥" (बा० दो० २६), "हौं तो बलि जाऊँ राम नाम ही ते लह्यो हौं।" (वि० २६०)। श्रीवालमीकि-तन में भी आप (गोस्वामीजी) उल्टे रामनाम (म रा) के जपने से श्रद्धा विश्वास के बल पर रामायण के आदि-निर्माता हुए। यथा—"महिमा उल्टे नाम की मुनि कियो किरातो।" (वि० १५१)।

(३) श्रद्धा और विश्वास जैसे अन्योन्य सापेक्ष्य एवं अभिन्न हैं; वैसे श्रीशिव-पार्वती भी हैं। जैसे
शिव-पार्वती की प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे श्रद्धा-विश्वास की भी। वे ही (श्रद्धा-विश्वास) इन (शिव-उमा)
की वन्दना से प्राप्त होते हैं। विश्वास के विना श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। यथा—"बिनु विश्वास
भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।" (उ० दो० ९०) तथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न
पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा० दो० १३७)। ऐसे ही श्रद्धा विना रामचरित की प्राप्ति नहीं, यथा—"जे श्रद्धा
संबल रहित, नहिं संतन कर साथ। तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥" (बा० दो०
३८)। ये चरित्र-सुगमता के तीन साधन माने गये हैं, इनमें विश्वास द्वारा भक्ति से श्रीरामप्रियत्व और
श्रद्धा यह दोनों स्पष्ट है, और 'संतन कर साथ' के प्रति आगे—'अवध पुरी यह चरित प्रकासा।' (बा० दो०
३३) कहा है; अर्थात् आपने सत्संग के लिये संतों के बीच में (ग्रन्थ-रचना कार्य) प्रारम्भ किया है।
तथा—"अगनित गिरि कानन फिरयों" (विनय २६६) अर्थात् पहले भी बहुत सत्संग किया है।

(४) 'याभ्यां विना···' जब ईश्वर के दर्शनार्थ साधन पूर्ण हुआ, तभी वे सिद्ध कहे गये, फिर उन्हें वह
ईश्वर क्यों नहीं दीख पड़ता ? इसका समाधान यह है, कि वे श्रद्धा-विश्वास के विना केवल तर्क और ज्ञान
से ही साधन करते हैं और ईश्वर तो इन से परे है, यथा—"मनसमेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं
सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०)। "मायागुन-ज्ञानातीत अमाना।···" (बा० दो० १३१)।
"नैषातर्केणमतिरापनेया:" (मुड० ७०)। जीव के मन, बुद्धि आदि परिमित हैं और ईश्वर अपरिमित है। हाँ,
जीव जब श्रद्धानिष्ठ होकर साधन करे, तब भगवान् उस श्रद्धा को अपनी शक्ति से धारण कर उसके हृदय के
विश्वासानुसार प्राप्त होते हैं। यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां
श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव
विहितान्हितान्॥" (गीता ७।२२); तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति
ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥" इत्यादि स्मृतियों में कहा है। अतः, उनकी दी हुई शक्ति से उनका प्राप्त होना युक्त है।
स्वान्त स्थमीश्वरम्—यह श्रीरामजी का ही अव्यक्त रूप है। यथा—"परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत
विकल भयो धायो॥" (वि० २४४), तथा—"अंतरजामी राम सिय, ·····" (अ० दो० २५६)।

शंका—(क) अंतर्यामी रूप अव्यक्त है, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥"
(ल० दो० ११२); तथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।" (गीता ९।४)। वह अनुभवगम्य
है, उसे 'पश्यन्ति' क्यों कहा गया ?

समाधान—उपर्युक्त रीति से जब श्रद्धा-विश्वास से भजन किया जाता है, तब वही रूप व्यक्त होकर
दर्शन का विषय होता है। यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥"
(बा० दो० ११५); "नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥" (बा० दो० २२)।

(ख)—श्रीशिव पार्वतीजी में तो बहुत गुण हैं, यथा—"प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव, सकल-कला- गुन-
धाम। जोग-ज्ञान-बैराग-निधि,······" (बा० दो० १००)। यहाँ श्रद्धा-विश्वास रूप मात्र ही क्यों कहे गये ?

समाधान—ग्रन्थकार को यहाँ मुख्य प्रयोजन इन्हीं दो गुणों से था।

सम्बन्ध—ऊपर श्लोक से श्रद्धा विश्वास द्वारा मानस-प्राप्ति के लिये श्रीशिव-पार्वती की वन्दना की,
तब श्रद्धा-विश्वास को सदुपदेश से दृढ़ करनेवाले श्रीगुरु की वन्दना करते हैं। मानस के आदि आचार्य
श्रीशिवजी हैं, फिर उन्होंने श्रीपार्वतीजी को दिया, तब क्रमशः परम्परा द्वारा श्रीगुरु से इन्हें (गोस्वामीजी
को) मिला। यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा। सोइ सिव···
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी,······तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (बा० दो० ३०)। अतः, साथ ही वन्दना भी करते हैं।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥३॥

अन्वय—यम् आश्रितः हि वक्रः अपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते, (एवं भूतं) बोधमयं नित्यं शंकररूपिणम् गुरुम् (अहं) वन्दे।

अर्थ--जिनके आश्रित होने से निश्चय ही टेढ़ा भी चन्द्रमा सर्वत्र वंदित होता है, ऐसे ज्ञान-स्वरूप, नित्य, शङ्कररूप गुरुजी की मैं वन्दना करता हूँ।

विशेष—

(१) 'बोधमयम्'—गुरु-लक्षण में कहा गया है; यथा—"गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यादुरुशब्दस्तन्निरोधकः। अंधकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥" अर्थात् 'गु' शब्द का अर्थ अज्ञान रूप अंधकार है और 'रु' का अर्थ उसका निवारक है। अज्ञान-निवारक होने से गुरु कहाते हैं। तथा--"महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रविकर निकर ॥" (बा० दो० १); 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान—" (उ० दो० ८९)। एवं—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुंडको० १।१२)।

'नित्यम्'—गुरुत्व तत्त्व नित्य है, वह भगवान् से क्रमशः मंत्र-परंपरा द्वारा श्रीगुरु में प्राप्त है। तन्निष्ठ होने से गुरुजी नित्य हैं, क्योंकि—"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३); अर्थात् - यह पुरुष श्रद्धामय है, (इसलिये) जो जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। अर्थात् भगवान् के गुरुत्व अंश के श्रद्धानिष्ठ होने से भगवान् की तरह वे (गुरु) भी नित्य हैं। यथा—"भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक।" (भक्तमाल)। वेद वाक्य भी है, यथा—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३)। इसमें गुरु को ब्रह्म तुल्य कहा है। एवं—"गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" (गुरुगीतायाम)। आगे भी—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूपहरि।" (बा० मं०) गुरु के उपमान-रूप शंकर भी नित्य हैं। यथा—"नामप्रसाद संभु अबिनासी।" (बा० दो० २५)।

(२) 'वक्रोऽपि—' टेढ़े चन्द्रमा से शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा जानना चाहिये, यथा—"टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। वक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू ॥" (बा० दो० २८०)। द्वितीया के चन्द्रमा को ललाट पर धारण कर शिवजी ने अपना आश्रय दिया। इससे उसकी वन्दना सब कोई करते हैं। इसी प्रकार श्रीगुरु-शरण होने से अनधिकारी चेले का भी मान होने लगता है। ऐसे ही मेरी वक्र-बुद्धि से निर्मित यह श्रीरामयश भी सब कहीं आदर पावे और उस संबंध से मैं भी वंदनीय होऊँ—यही गुरु-वंदना का भाव है। आप वंदनीय हुए भी, यथा—"राम नाम को प्रभाव, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी से जग मानियत महामुनि सो ॥" (क० उ० ७२)। श्रीकाकभुशुंडिजी भी प्रथम वक्र थे, गुरु-कृपा से वंदनीय हो गये। उत्तरकांड में विस्तार से कहा है।

(३) 'शंकररूपिणम्'—श्रीरामचरितमानस सम्बन्धी गुरुत्व श्रीशिवजी से चलकर परंपरा द्वारा श्रीगुरुजी में आया। उपर्युक्त विशेष (१) की रीति से उस गुरुत्वांश में श्रद्धानिष्ठ होने से श्रीगुरुजी को शंकररूप कहा। वैसे ही मंत्र-संबंधी गुरुत्व से आगे 'नररूप हरि' कहेंगे; क्योंकि मंत्र-परंपरा हरि (श्रीराम) जी से है। आप ने कहा भी है, यथा—"हित उपदेश को महेस मानो गुरु कै।" (हनु० बाहुक); तथा—"गुरु पितु मातु महेस भवानी।" (बा० दो० १७)। शंकर कल्याणस्वरूप हैं, वैसे गुरुजी भी हैं। इस वंदना से अपने ग्रंथ एवं इसके श्रोता-वक्ताओं का कल्याण मनाया गया है।

(४) शंका—ऊपर के श्लोक १ में वाणी-विनायक, २ में भवानी-शंकर, एवं आगे भी ४ में कवीश्वर-कपीश्वर, पुनः ५–६ में श्रीसीतारामजी दो-दो की साथ-साथ वंदना की गई है। यहाँ श्रीगुरु की अकेले क्यों ? तथा चार ऊपर चार नीचे, एवं मध्य में रखने का क्या भाव है ?

समाधान—(१) श्रीगुरु महाराज अद्वितीय हैं, इनकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं, यथा—"तुम (श्रीराम) ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।" (अ० दो० १२८); "राखइ गुरु जौं कोप बिधाता। गुरु-बिरोध नहिं कोउ जगत्राता॥" (बा० दो० १६५) अर्थात् ईश्वर से भी अधिक महत्त्व गुरु का है।

(२) चार-चार नीचे ऊपर रत्न के उनके बीच में इन्हें डब्बे में रत्न की भाँति रक्खा।

(३) यंत्र-पूजाविधि में 'प्रधान' बीच में पधराये जाते हैं।

सम्बन्ध—तीन श्लोकों में ग्रंथ-रचना के अंगभूतों की वंदना करके अब रामयश के अनन्य श्रोता-वक्ता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वंदना से आप (ग्रंथकर्त्ता) भी इस श्रीसीताराम-गुणग्राम में विहार करना चाहते हैं—

सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥४॥

अन्वय—सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारिणौ विशुद्ध-विज्ञानौ कवीश्वर-कपीश्वरौ (अहं) वंदे॥४॥

अर्थ—श्रीसीतारामजी के गुण-समूह रूपी पवित्र वन में विहार करनेवाले, विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की मैं वंदना करता हूँ।

विशेष—

(१) गुणग्राम को पुण्य-वन का रूपक इसलिये दिया कि ये दोनों पुण्य वन के रहनेवाले हैं और श्रीसीताराम गुणग्राम भी पवित्र है। नौ वन पवित्र कहे गये हैं, यथा—"दण्डकं सैन्धवारण्यं जाम्बूमार्गश्च पुष्कलम्। उत्पलावर्तमारण्यं नैमिषं कुरुजांगलम्। हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्यंच मुक्तिदाः।" (स्कन्दपुराण)। चरित्रपवित्रता—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)।

(२) 'सीता···विहारिणौ'···—कवीश्वर—"वन्दउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहिं निरमयेउ।" (बा० दो० १४);—"कूजंतं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम्॥" श्रीनारदजी से प्रश्न करके वाल्मीकिजी ने श्रीरामचरित्र सुना भी है, जो मूलरामायण के नाम से ख्यात है। कपीश्वर—"जयति रामायणश्रवणसंजातरोमाञ्चलोचन-सजल-सिथिल वाणी।" (वि० २६); "महानाटक निपुण, कोटि कविकुल-तिलक, गान-गुन-गर्व गंधर्व-जेता (वि० २९)। अर्थात् दोनों इस पुण्य वन में आदर्श श्रोता-वक्तारूप से विहार-कर्त्ता हैं। 'कपीश्वर'—प्रायः अन्यत्र श्रीसुग्रीवजी कपीश कहे गये हैं; पर यहाँ के विशेषण श्रीहनुमानजी पर ही घटते हैं। यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥" (कि० दो० २९); "अतुलित बल······ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥" (कि० मं०); "कपीशमक्षहंतारं वन्दे लंकाभयंकरम्।" (मूल रामायण); "नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरप कपिराय॥" (सुं० दो० ५); गुण-गण-विहार के उदाहरण ऊपर दिये गये। सुग्रीवजी का चरित-रचयिता एवं विज्ञानी होना इस प्रकार प्रसिद्ध नहीं है।

(३) 'विशुद्धविज्ञानौ'—(क) विज्ञानी के मन में भी कामादि से कभी-कभी क्षोभ हो जाता है, यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि, विज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (आ० दो० ३८)। अतः, 'विशुद्ध' विशेषण भी दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का विज्ञान सदा एकरस रहता है। (ख) केवल 'विज्ञानी' से यह भी हो सकता है कि वे निर्गुण मत के विहारी होंगे, यथा—"ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी मोहिं परम अधिकारी जानी ॥ लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।" (उ० दो० ११०)। इस संदेह-निवृत्ति के लिये 'विशुद्ध' पद दिया, क्योंकि ये दोनों सरस ज्ञानी हैं। यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६) और श्रीसीताराम-गुणग्राम-विहारी भी कहकर उक्त दोष को छुड़ाते हुए सगुण मत को स्पष्ट किया।

सम्बन्ध—अब उक्त गुणग्राम के देवता श्रीसीतारामजी की मंत्रात्मक वंदना दो श्लोकों में करते हैं—

उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥५॥

अन्वय—उद्भव स्थिति-संहारकारिणीम्, क्लेशहारिणीम्, सर्वश्रेयस्करीम्, रामवल्लभाम्, सीतां अहं नतः।

अर्थ—उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाली, दुःखों को हरनेवाली, सम्पूर्ण-कल्याणों को करनेवाली, श्रीरामजी की प्रिया श्रीसीताजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

विशेष—

(१) लक्ष्य—"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानंददायिनी।
उत्पत्ति स्थिति-संहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥" (श्रीरामतापनीय०)

(२) विशेषणों के क्रम—उत्पत्ति-पालन और संहार त्रिदेवों की तीनों शक्तियों के कार्य हैं, अतः, 'उद्भव-स्थिति०' से इनकी कारणरूपा मूल-प्रकृति का भ्रम होता। यथा—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०)। इसके निवारणार्थ 'क्लेशहारिणी' भी कहा। यह गुण विद्यामाया में है। अत', 'सर्वश्रेयस्करी' कहा। इससे भी महालक्ष्मी का भ्रम होता। श्रीजानकीजी तो ब्रह्मस्वरूपा एवं सब मायाओं की मूलभूता हैं। यथा—"माया सब सिय माया माहू।" (अ० दो० १५१)। तथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (बा० दो० १४८)। अत 'रामवल्लभा' भी कहा है। यथा—"जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥" (बा० दो० १८)। इस अंतिम पद से विशेषणों की अतिव्याप्ति (दोष) दूर हुई।

(३) उक्त छ विशेषणों से श्रीसीताजी को षड़ैश्वर्यपूर्ण श्रीरामजी के तुल्य कहा। विशेष्य रूप में सीता नाम कहा गया है, क्योंकि यही मुख्य नाम है। इसका अर्थ—"सिनोत्यतिगुणैः कान्तं सीयते तद्गुणैस्तु या। वात्सल्यादिगुणैः पूर्णा ता सीता प्रणतोस्म्यहम् ॥" अर्थात् 'षिञ् बन्धने' धातु से सीता शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार यह श्लोक है—जो अपने अति गुणों से कान्त (श्रीरामजी) को बाँधे एवं उनके गुणों से स्वय बँधी रहें, वात्सल्यादि गुणों से पूर्ण ऐसी श्रीसीताजी को मैं प्रणाम करता हूँ। प्रथम श्रीमनुशतरूपा के वरदान-प्रसंग में भी यही नाम कहा गया है। यथा—"भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बाम-दिसि सीता सोई ॥" (बा० दो० १४८)

श्लोक का मंत्र से मिलान

(४) श्रीसीता-मंत्र का प्रथमाक्षर विन्दु-युक्त श्रीबीज है, वह श्री शब्द 'श्रृ-विस्तारे' धातु से सिद्ध होता है। तदनुसार सृष्टि-विस्तार रूप उत्पत्ति यहाँ कही है। 'श्रण्-दाने गतौ च' से श्री शब्द होता है। अतः, स्थिति-कार्य व्यक्त हुआ। 'शृ-हिंसायां' से श्री शब्द बनता है, इससे संहारकारिणी शब्द हुआ। 'श्रु-श्रवणे' से श्री शब्द हुआ, तदनुसार श्रीरामजी को चेतनों की प्रार्थना सुनाने एवं स्वयं सुनकर रक्षा करने को क्लेशहारिणी कहा है। 'श्रिञ्-सेवायाम्' से श्री शब्द निष्पन्न होता है। तदनुसार वे ब्रह्मा-इन्द्र-रुद्र आदि देव, मुनिगण एवं चराचर चेतनों से सेवित होकर उनका कल्याण करती हैं, इससे सर्वश्रेयस्करी कहा है। इस प्रकार धातुओं के अनुसार 'श्री' के पाँच अर्थ हुए। श्रीशब्द का अर्थ शोभा भी होता है। अपनी शोभा से श्रीरामजी को वश करने से वे उनकी वल्लभा हैं। यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥" (बा० दो० २११)। पुनः "प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख-सनेह-सोभा गुन खानी॥ परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥" (बा० दो० २३१)। इस शोभा से वशीभूत हो श्रीरामजी ने धनुष तोड़कर श्रीजी को वल्लभा किया। अतः, 'रामवल्लभा' यह श्री शब्द का छठा अर्थ है। श्री बीज के अतिरिक्त शेष चतुर्थी सहित सीता शब्द इस श्लोक के 'सीतां' से और मंत्र का अंतिम 'नमः' शब्द यहाँ के 'नतः' से अर्थ में अभेद है। अतः, यह श्लोक श्रीसीता मंत्र का अर्थ ही है।

सम्बन्ध—पहले श्रीसीताजी की वंदना की, क्योंकि यही रीति है कि शक्तिमान् के पहले उनकी शक्ति का नाम कहा जाता है। जैसे—राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण एवं गौरीशंकर इत्यादि। पुनः पहले बालक माँ को ही जानता है। जब वह शृंगार करके योग्य बना देती है, तब पिता की गोद का अधिकारी होता है। अतः, अब इन्हीं श्रीजी से निर्मल मति प्राप्त कर श्रीराम-प्रार्थना करेंगे। यद्यपि तत्त्व की दृष्टि से दोनों तुल्य हैं; तथापि लोक में स्त्री की अपेक्षा पुरुष का प्राधान्य रहता है। अतः, शक्तिमान् अशेष-कारण पर श्रीरामजी की वंदना शेष (अंत) में करते हैं—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥६॥

अन्वय—यन्मायावशवर्त्ति ब्रह्मादि देवाःअसुराः अखिलं विश्वं, यत्सत्वात् सकलं (विश्वं) अमृषा इव भाति, यथा रज्जौ अहेः भ्रमः। भवाम्भोधेः तितीर्षावतां यत्पादप्लवः एकः एव हि, अशेष कारणपरं हरिं ईशं रामाख्यं अहं वन्दे।

अर्थ—जिनकी माया के वश में ब्रह्मादि देवता, असुर और सब जगत् हैं, जिनकी सत्यता से सम्पूर्ण जगत् सत्य सा जान पड़ता है, जैसे रस्सी में साँप का भ्रम हो; भवसागर तरने की इच्छावालों के लिये जिनके चरण ही एक नाव हैं, सम्पूर्ण कारणों से परे, दुःख हरनेवाले ईश्वर को, जिनका 'राम' (यह) नाम है, मैं वंदना करता हूँ।

विशेष—

(१) यह शार्दूलविक्रीड़ित छंद[1] है। इस छन्दवाले मंगलाचरण से ग्रंथकार ने अपने इष्ट को सिंहवत् सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी जनाया है। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १२८)।

(२) 'यन्मायावश ..' अर्थात् ब्रह्मादि देवता सत्त्वगुणी, असुर तमोगुणी, और अखिल विश्व में रजोगुणी भी आ गये। अतः, तीनों लोकों पर इनकी माया की आज्ञा चलती है। यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्व पर, मायाप्रेरक सीव॥" (आ० दो० १५); "जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (उ० दो० ७१); "मायावश्य जीव अभिमानी। ईसवश्य माया गुनखानी॥" (उ० दो० ७७)।

(३) 'यत्सत्त्वादमृषेव'— यहाँ जगत् की नानात्व (अनेकत्व) सत्ता को 'सकलं' शब्द से जनाया है, जो 'सुत-वित्त-देह-गेह नेह (स्नेह) इति जगत्' रूप में प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत अर्थ आगे "जासु सत्यता ते जड़ माया।" से "जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई।" (बा० दो० ११७) तक तथा "झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हिराई" (बा. दो. १११) के स्वतंत्र प्रसंग से किया जायगा।

यहाँ दृष्टान्त में रज्जु और सर्प तथा दार्ष्टान्त (उपमेय) में श्रीरामजी और जगत् हैं। श्रीरामजी सुत-कुटुम्बादि चर और पृथ्वी आदि अचर जगत् में वासुदेव रूप से व्यापक हैं। उनकी प्रेरणा एवं सत्ता से ही सब नातों का बर्ताव एवं गंध-रसादि की अनुभूति होती है। यथा—"जासों सब नाते फुरैं तासों न करी पहिचान।" (वि० १२०); "गुरु पितु मातु बंधु पतिदेवा। सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा॥" (आ० दो० १०); तथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः॥ "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्॥" (गीता ९–१७–१८); इति चर जगत्। पुनः—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। पुण्योगंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ॥" (गीता ७।८–९), इति अचर जगत्। इससे निश्चित हुआ कि श्रीराम ही इस जीव को चराचर जगत् रूप शरीर से पालते-पोसते हैं। चर माता-पितादि में वात्सल्यादि गुणों की प्रेरणा द्वारा और अचर पृथिवी में गंध (भूमि में एक दाना बोने से दस देकर वासनापूर्ति), जल में रस (स्वाद), अग्नि में तेज आदि से पालते हैं। यही उनका रस्सी की तरह सब ओर से आवृत करना है। यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।" (गीता ९।४); तथा—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७७)।

(क) रस्सी प्रधानतया कुँए से जल भरने के काम में आती है। कुँए में रस्सी डालने से गोलाकार बैठती जाती है। वहाँ अँधेरा रहता ही है। अतः, सर्पवत् दीखती है। उसके बीच में पड़ा हुआ मेढक जैसे अँधेरे में उसे सर्प मानकर डरे, वैसे ही भवकूप में पड़े हुए जीवों को अज्ञान रूपी अँधेरे में भय लगता है। यद्यपि अपने सब शरीरों से श्रीरामजी ही उनका पोषण करते हैं, तथापि वे भ्रम से सबको पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानकर उन-उन रूपों के उपकारानुसार ऋणी होकर नानात्व जगत् में आसक्त होते हैं। इसी से जन्म-मरणों के कष्टों को भोगते हैं। अज्ञानी जीव नाना उपायों से जैसे अपने शरीर को पोसते हैं, भगवान् भी अपने शरीर रूपी जीवों को ज्ञानपूर्वक उनके अपने-अपने कर्मानुसार चराचर शरीर के व्यवहार द्वारा पोषण

---

१. इस छन्द के प्रत्येक पद में १९ वर्ण हैं, यानी मगण (तीन गुरु), सगण (दो लघु+एक गुरु), जगण (एक लघु+एक गुरु+एक लघु), सगण, तगण (तीन लघु या ह्रस्व), तगण (दो गुरु+एक लघु) और एक गुरु रहते हैं। ऐसे इसमें चार चरण होते हैं।

करते हैं। यही अपना स्वरूप विस्मृत होना, सर्प काटने की मूर्च्छा है। यथार्थज्ञान-रूपी उजाला होने पर चराचर रूप श्रीरामजी रस्सी की तरह देख पड़ते हैं। वे अपने नानारूपों से इसलिये उपकार करते हैं कि जीव सब प्रकार से मुझे ही पालक जानकर, मेरे लिये ही अपनी स्थिति समझें, और सब ओर से ममता-रूप रस्सी हटाकर मुझमें ही दृढ़ प्रीति करें। यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता-ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥" (सु० दो० ४२)

(ख) जैसे कुँए में पड़ा हुआ जीव जब जान ले कि मेरे चारों ओर यह सर्प नहीं, किन्तु रस्सी है, और यह ऊपर से आई हुई मेरे चारों ओर लिपटी हुई है, तब वह उसी रस्सी को दृढ़ता से पकड़ धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर कुँए से बाहर आ जाय। वैसे मुमुक्षु जीव जब श्रीरामजी को जगत् के कारण (मूल) रूप में ऊर्ध्व-(ऊपर)-स्थित एवं शाखा-रूप में चराचर रूप से अपने सब ओर जानता है, यथा—"ऊर्ध्वमूलमधः शाखं" (गीता १५।१); "अव्यक्तमूलमनादि तरु···" (उ० दो० १२); तब इन नानारूपों से किये हुए उनके उपकारों को समझ-समझ कर प्रीतिपूर्वक उनकी आराधना करता है। यथा—"समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।" (वि० १००)। यही ऊपर चढ़ना है। आयुपर्यन्त आराधना से प्रारब्ध कर्म-कूप की मर्यादा समाप्त करना भव-कूप से बाहर होना है। इसलिये आगे चरण- में 'यत्पादप्लव' का आराधन ही इसका उपाय कहा गया है।

(ग) इस प्रकार के नानात्व भ्रम का प्रमाण—"साँचो जान्यो झूठ कै झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो को न जात है को न जैहै करि हित हानि॥" (वि० १२०); इसमें नानात्व जगत् को 'झूठा' और सत्ता रूप से शरीरी श्रीरामचन्द्रजी को 'सच्चा' कहा है।

तथा—"तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।" (श्रीमद्भागवत स्कं० १ अ०) अर्थात् जैसे तेजस (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टी का विनिमय (एक में दूसरे का भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान् के शरीर रूप में) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य) है, अर्थात् उनके शरीर रूप में तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँच में जल की, अग्नि में काँच की और जल में अग्नि की भ्रांति दृष्टिदोष से हो, वैसे अविद्या के दोष से भगवान् के शरीर-रूप चराचर जगत् में 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व सत्ता की भ्रान्ति होती है। मानसोक्त 'यत्सत्त्वात्' के 'सकलं' में इसके 'त्रिसर्ग' का और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में 'तेजोवारि···' का अन्तर्भाव है।' 'त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च। त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यंति नाना न विपश्चितो ये॥—(भाग० १०।२।२८)

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥" (कठो० २।१।११) अर्थ—(शुद्ध) मन से ही यह ज्ञान प्राप्त करने योग्य है, निखिल प्रपंच में कुछ भी ब्रह्म से भिन्न (पृथक्-पृथक् सत्तावान्) नहीं है। जो कोई भी प्रपंच में भिन्न-भिन्न जैसा देखता है, वह मृत्यु से (फिर) मृत्यु को प्राप्त होता है। इसमें भी उपर्युक्त अविद्या का ही निषेध है।

एवं—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" (यजुर्वेद मं० अ० ४० मंत्र १५) अर्थ—स्वर्णमय पात्र के द्वारा सत्य का मुख आच्छादित हो गया है, हे पूषन् (जगत् के पालनेवाले भगवान्!), आप उसको (ढकने को) सत्य-धर्म के देखने के लिये खोल दीजिये।

भावार्थ—स्वर्णमय पात्र यहाँ 'सुत-वित्त-देह-गेह स्नेह' रूप जगत को कहा है। इसमें जीव का अनादि काल से स्नेह चला आता है। जैसे स्वर्ण में सहज प्रीति होती है, यथा—"मनु मित्र अभ्यास नीति दे मन कीन्ह परियाई। त्यागत गहत उपेन्द्रनीय चढ़ि हाटक तृन की नाई॥" (वि० १२४)। इसमें यथासंख्य अलंकार से स्वर्ण में सहज प्रीति वर्णित है। अतः, इसमें चमचमाता हुआ पात्र समष्टि जगत् हुआ।

सत्यस्य—सत्ता-विद्यमानता-उपस्थितिः तस्य भावं सत्यम् । अर्थात् उक्त देह-गेहादि में व्यापकता (भगवान् की उपस्थिति) का मुख (प्रवृत्ति) अपिहित (छिपा हुआ) है।

अर्थात् जीव कृत्रिम स्नेह में आसक्त हैं; क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जगत् भगवान् का शरीर (व्याप्य) है और उसके द्वारा किये हुए कार्य भगवान् की प्रवृत्ति से हैं। आगे 'पूषन्' कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान् ही सब रूपों से पोषण करनेवाले हैं। अतः, प्रार्थना है कि उस अविद्या रूप ढकने को खोल दीजिये। कारण स्पष्ट है—'सत्यधर्माय दृष्टये'। यहाँ 'सत्यधर्माय' में षष्ठी के अर्थ में वैदिक चतुर्थी हो गई है और 'सत्यधर्म' भी षष्ठीतत्पुरुष है। अतः, 'सत्यस्य धर्मस्तस्य' अर्थात् सत्य का धर्म जो सुत वित्त देह-गेह आदि में ईश्वर की सत्ता (व्यापकता) से (उन-उन रूपों से) किये हुए उपकार हैं उसके 'दृष्टये' अर्थात् जानने के लिये (जिससे सबसे ममता छोड़ भगवान् में दृढ़ प्रीति हो)।

यहाँ स्पष्ट रूप से भगवान् के शरीर में नानात्व कल्पनारूप भ्रम के निवारणार्थ एवं उनके शरीर-रूप में जगत् के ज्ञानार्थ प्रार्थना है।

महर्षि शांडिल्य ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में यही कहा है—'शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम्' अर्थात् ईश्वर की सत्ता में स्थित रहने के कारण यह जगत् मिथ्या नहीं है।

(४) श्लोक के प्रथम चरण में माया का विद्यात्मक स्वरूप कहा, जिसे ग्रंथकार ने विद्यामाया कहा है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); अर्थात् जैसे मनुष्य के हाथ-पैर की प्रवृत्ति उसकी इच्छानुसार होती है, वैसे तीनों लोकों के जीवों की प्रवृत्ति भी श्रीरामजी की प्रेरणा से होती है। दूसरे चरण में उसी में नानात्व कल्पना रूप भ्रम से माया का अविद्यात्मक रूप कहा, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥" (आ० दो० १४)। यह अविद्या माया श्रीगोस्वामीजी की माया का पूर्वपक्ष है और विद्यामाया सिद्धान्त-रूपा है। ये दोनों पक्ष आगे (बा० दो० ११७ में) स्पष्ट होंगे। तीसरे चरण 'यत्पादप्लव' में उक्त भ्रमनिवृत्ति का साधन कहा है।

(५) 'यत्पादप्लव'—यह भ्रम सामान्य नहीं है कि जीव अपने ज्ञान से जान लें, क्योंकि—'भ्रम न सकइ कोउ टारि' (बा० दो० ११७) कहा है। अतः, मुमुक्षुओं के लिये प्रभु चरण ही एक मात्र उपाय है। 'एक एव हि' से जनाया कि दूसरा उपाय है ही नहीं। अतः, अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर चरण ही ग्रहण करना चाहिये, यही शरणागति है ; यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वास-पूर्वकम्। तदेकोपायतायाञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" (भरताचार्यः) अर्थात् अपना अभीष्ट अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर 'आप ही मात्र मेरे उपाय हैं' इस महा-विश्वास पूर्वक ऐसी याचना करना शरणागति है। तथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)। यही ऊपर वि० (३ ख) में रस्सी पकड़कर चढ़ने का भी भाव है।

(६) पुनः चौथे चरण में उपर्युक्त सर्व शरीरी एवं उपेय (फल) रूप श्रीरामजी की वंदना, अशेषकारण पर, ईश और हरि कहकर करते हैं। अशेष कारणों से परे कहकर शरण्य—शरण में रखने की—योग्यता दिखाई गई ; क्योंकि 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि··· ' (वाल्मी०)। यह वही कह एवं कर सकता है, जो सबसे परे हो। अतः—"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः।" (श्रुति) अर्थात् वह सब का प्रेरक और सब को वश में रखनेवाला है। यह ऐश्वर्य श्रीरामजी में ही है, यही स्पष्ट करने के लिये 'ईश' भी कहा गया है।

(७) 'ईश'—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१) अर्थात् हे अर्जुन ! शरीररूपी यंत्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर

अपनी माया से (उनके कर्मानुसार) घुमाता हुआ उनके हृदय में स्थित है। इसमें प्रथम चरणोक्त—'यन्मायावशवर्त्ति' वाला भाव ज्यों-का-त्यों है, क्योंकि श्रीरामजी ही अपने शरीररूप जगत् के कर्मानुसार दैवी-आसुरी संपत्तिरूपा माया के द्वारा नियामक हैं। यथा—"विधि हरिहर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप-महिप जहँलगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई॥ करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (अ० दो० २५३)

(८) 'हरिम्'—'हरिर्हरति पापानि' अर्थात् पाप एवं उसके फलस्वरूप दुःखों के हरनेवालेको, 'हरि' कहते हैं। यह विशेषण ऊपर द्वितीय चरण में कही हुई अविद्या से उत्पन्न दुःखों को तृतीय चरण की शरणागति-द्वारा हरण करने के प्रति है। हरि शब्द इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सूर्य आदि अनेकों का बोधक है। अतः, 'रामाख्य' कहा। राम से भी बलराम-परशुराम आदि का बोध होता है। अतः, 'ईश' भी कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाया है।

(९) शंका—ऊपर के १-२ चरणों में जो रामरूप संसार अर्थ किया गया है, उसके अनुरोध से 'रामाख्यमीशं हरिम्' में संसाररूप राम क्यों नहीं कहा गया? और 'सकलं' के अर्थ में सर्वात्मना (सम्यक् रूप से) जगत् का मिथ्यात्व क्यों न माना जाय?

समाधान—ईश विशेषण में स्पष्ट है, ऊपर वि० (७) देखिये। यही दृष्टान्त-'रज्जुभुजंग' का (बा० दो० १११ में), है। वहाँ स्पष्ट रूप से—'जेहि जाने जग जाइ हेराई।' कहा है, और 'जग' का नानात्व ही अर्थ है। आगे उस प्रसंग में देखिये।

(१०) **सारांश**—श्लोक के प्रथम चरण में श्रीरामजी का शरीररूप जगत् कहा गया। दूसरे में अविद्या के द्वारा विपर्यय बुद्धि से नानात्व रूप सर्प मानकर क्लेश भाजन होना और तीसरे में उसका उपाय शरणागति ही मात्र कहा गया। चौथे चरण में 'अशेष कारणपर' से श्रीरामजी में शरण-योग्यता और-'ईशं हरिम्' से रक्षा करने का प्रकार जनाया गया है कि शरणागत होने पर आसुरी संपत्ति से डरे हुए जीवों के हृदय में (ईशन्=प्रेरण द्वारा) दैवी-सम्पत्ति प्रबल करके उनके क्लेश हरते हैं। यथा—"सतरंज कैसो राज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभू के हाथ हारियो जीतियो नाथ बहु बेप बहु मुख सारदा कहति॥" (वि० २४६)। यही भाव गीता अ० १० के श्लोक ९-१०-११ में भी है।

सिद्धान्त

(११) यहाँ उपक्रम में ग्रंथकार ने अपने उपास्य देव रामाख्य ब्रह्म की चिदचिद्विशिष्ट—जीव माया-युक्त—रूप में वंदना की है। इसके १-२-३ चरणों में क्रमशः तीन बार प्रारंभ में यत् शब्द से इष्टनाम (राम) का र, अ, म तीनों वर्णों के अर्थ रूप में महत्त्व कहा है, जैसे—'रश्च रामेऽनिले वह्नौ' (एकाक्षरकोशे); अर्थात् 'र' श्रीरामजी का वाचक है, जो ब्रह्म है, यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (अ० दो० ९३)। ब्रह्म का स्वरूप—"बंध मोच्छप्रद सर्व पर, मायाप्रेरक सीव॥" (आ० दो० १०)। अपनी माया की प्रेरणा द्वारा—जो बद्ध को विद्या द्वारा मुक्त करे और अविद्या द्वारा मुक्तप्राय को भी बद्ध करे—जैसे नारद कामवश और सनकादि क्रोधवश हुए—ये दोनों कार्य ब्रह्म अपनी दैवी और आसुरी सम्पत्ति से करता है। यथा—"दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता॥" (गीता० १६-५), तथा—"तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥" (वि० १०२)। यही बात श्लोक के प्रथम चरण 'यन्माया...' में है। अतः, प्रथम चरण र का अर्थ है।

द्वितीय वर्ण अ वासुदेव-वाचक है, यथा—'अकारो वासुदेवस्यात्' (एकाक्षरकोशे)। वासुदेव का अर्थ है जो सब में बसे एवं सबको अपने में बसावे। वैसे ही अकार वर्ण भी सब वर्णों में सरा (व्यापक) रूप से बसता है; तभी सब सार्थक होते हैं। वैसे ही 'यत्सत्त्वात्'''में भी 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से सर्प-भ्रम निवृत्त होने पर रज्जु के दार्ष्टान्त—उपमेय से व्यापक (वासुदेव) रूप श्रीरामजी का बोध हुआ, यथा—"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।" (गीता ११।४०) ; अतः, द्वितीय चरण अ का अर्थ है।

तृतीय वर्ण म भक्ति का कारण है, यथा—"रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥" (महारामायणे)। यही भक्ति—'यत्पादप्लव'' ''' इस तीसरे चरण में कही गई है। अतः, यह मकारार्थ है। श्रीराममंत्र में नाम ही अपने मकार का स्वरहीन होने पर बीज होता है और उसी का विवरण (अर्थ) अवशिष्ट मंत्र होता है, अतः, यह श्लोक मंत्रार्थगर्भित है *।

चौथे चरण में उपर्युक्त गुणविशिष्ट श्रीरामजी की वंदना है। इस श्लोक में ब्रह्म, माया और जीव की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के रूप में ही कही गई है। उपाय भी शरणागति ही को कहा गया, जो विशिष्टाद्वैत-वादियों के सम्प्रदाय में प्रधान रूप में है।

सम्बन्ध—वंदना के प्रथम श्लोक में वक्तृत्व और लेख के सहायक वाणी-विनायक की वंदना की, फिर जिस काम के लिये वंदना है, उसके आचार्य उमा-समेत श्रीशिवजी की, तब जिन श्रीगुरुजी से मानस कथा प्राप्त हुई, उनकी वंदना की। पुनः रामायण के मुख्य रचयिता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वन्दना हुई। तत्पश्चात् इस चरित के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी की पाँचवें और छठे श्लोकों में वंदना की है। अब सातवें में 'इस ग्रंथ' के वर्ण्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥७॥

अन्वय—(१) यस्मिन् रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं, क्वचिदन्यतः अपि (निगदितम्), अति मञ्जुलं तत् रघुनाथगाथा स्वान्त सुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धं आतनोति।

(२) यस्मिन् रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं, अति मञ्जुलं तत् रघुनाथगाथा स्वान्तः सुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धं आतनोति, प्रसंगतः क्वचित् अन्यतः अपि निबन्धम्।

अर्थ—(१) जिस रामायण में नाना पुराणों, वेदों और शास्त्रों का सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्र से भी कहा हुआ है; वही बड़ी उज्ज्वल श्री रघुनाथजी की कथा अपने अंतःकरण के सुख के लिये तुलसीदास (जी) भाषा रचना में विस्तारपूर्वक कहते हैं।

(२) जिस रामायण में अनेकों पुराणों एवं वेद-शास्त्रों का सम्मत वर्णित है, अति निर्मल वही श्रीरघुनाथजी की कथा को अपने हृदय के सुख के लिये तुलसीदासजी भाषा-रचना में विस्तार करते हैं, प्रसंगानुसार (साथ-साथ) कुछ और-और भी प्रबंध करेंगे।

* इस श्लोक पर पूर्ण रूप से मंत्रार्थ मिलान मेरे 'श्रीमानस नामवंदना' ग्रन्थ—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई—में है। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा।

विशेष—

(१) यह श्लोक 'वसन्ततिलका वृत्त' * है।

(२) 'नानापुराण'—पद्मपुराण आदि १८ पुराण और १८ उपपुराण प्रसिद्ध हैं। पुराणों के दोनों प्रकारों में छ सात्त्विक, छ राजस और छ तामस हैं। दृष्टान्त द्वारा विषय समझाने के लिये पुराणों की आवश्यकता पड़ती है, अत', राजाओं के त्रिगुणात्मक चरित्र इसमें जहाँ-तहाँ कहे गये हैं, यथा—'सिबि दधीचि हरिचन्द कहानी ' (अ० दो० ४७), 'ससिगुरुतियगामी नहुष, चढेउ भूमि सुर जान। लोकवेद तें बिमुख भा, अधम न वेन समान॥' (अ० दो० २२८)। इसी प्रकार और भी बहुत कथाएँ हैं जो पुराणों से ही जानी जा सकती हैं।

'नानानिगम'—४ वेद और ४ उपवेद, वेद के ६ अंग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् और वेद के ४ उपांग—इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय। स्मृतियाँ भी मुख्य १८ हैं, इनमें ६-६ सत्त्व, रज और तमोगुण सम्बन्धी कही जाती हैं। इतिहास—जैसे श्रीमद्रामायण एवं महाभारत आदि। धर्माधर्म के समझाने में स्मृतियों से सहायता ली गई है, यथा—'कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा।' (बा० दो० १५८), एवं 'नारि धरम सिखवहिं मृदुबानी।' (बा० दो० ३३३)। इतिहास—'तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।' (अ० दो० १५६), वेद काण्डत्रय—कर्म-ज्ञान-उपासना—के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे तीनों भी इसमें बहुत आये हैं। कर्म—'कठिन करम गति जान बिधाता। ' (अ० दो० २८१); एवं 'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥' (अ० दो० २१८)। ज्ञान—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥' (अ० दो० १४)। उपासना—'बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।…' 'हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥' (उ० दो० १२२); 'भगति स्वतंत्र सकल सुखखानी।' (उ० दो० ४४) इत्यादि।

'नानाआगम'—तंत्र और अतंत्र। तंत्र यथा—शैव, बौद्ध एवं कपिलोक्त। अतंत्र के भी बहुत भेद हैं, सकाम जप-यज्ञ के विधान इनमें हैं, यथा—'आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।' (वि० १७३)।

(३) 'यद्रामायणे …' यहाँ किस रामायण का तात्पर्य है—यह आगे के प्रसंगों से और उपसंहार के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है, यथा—'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवासन भाखा॥…' 'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई।' (बा० दो० ३४)

अर्थात् श्रीरामचरितमानस रचकर श्रीशिवजी ने अपने हृदय में रक्खा, फिर सुसमय पाकर उमा को सुनाया, वही शिवजी ने काकभुशुंडी को दिया, उनसे याज्ञवल्क्य को मिला, फिर प्रयाग में कथा हुई, और संसार में प्रचलित हुई, वही श्रीगोस्वामीजी के गुरु महाराज को श्रीशिवजी से प्राप्त हुई, फिर श्रीगोस्वामीजी को मिली। यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।… तदपि कही गुरु बारहिंबारा ''भाषाबद्ध करबि मैं सोई'' (बा० दो० ३०-३०)। उसका लक्षण भी यहाँ के 'नानापुराण …' से मिलता है। यथा—"बरनउँ रघुबर बिमल जस, श्रुति सिद्धान्त निचोरि॥" (बा० दो० १०९)। उपसंहार में भी कहा है, यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं … भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥" (उ० दो० १३०), अर्थात् जिस रामायण (मानस) को प्रथम श्रेष्ठ कवि प्रभु श्रीशिवजी ने दुर्गम रचा था, उसी मानस को मैंने भाषाबद्ध किया है।

* इसके चारों चरणों में १४-१४ वर्ण होते हैं, प्रत्येक चरण के लक्षण—त (दो गुरु+एक लघु), भ (एक गुरु+दो लघु), ज (आदि-अन्त लघु) और दो गुरु रहते हैं।

अतः, स्पष्ट: हुआ कि 'यद्रामायणे' से उमा-शिव-संवाद में वह श्रीरामचरितमानस नामक ग्रंथ है। जैसे गीता का ज्ञान प्रथम कानोंकान प्रचलित था, जब श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा, तब लेखबद्ध होकर जगत् में उसका विशेष प्रचार हुआ। कल्प के आदि मे वेदों और शास्त्रों को तप के द्वारा महर्षियों ने ग्रहण किया; उसी तरह श्रीशिवजी की कृपा से श्रीरामनामनिष्ठ श्रीगोस्वामीजी ने इस रामायण को प्राप्त किया। इससे पूर्व यह लेखबद्ध नहीं हुआ था और न उतना ख्यात ही था। इसीसे तो कहा है—"जिन्ह यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥ कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।" (बा० दो० ३१) अर्थात् कथा अलौकिक है। जैसे परतम प्रभु साकेतविहारी का अवतार मनु-शतरूपा द्वारा हुआ, वैसे उनके चरित का (भाषा में) आविर्भाव श्रीगोस्वामीजी के द्वारा जगत् में लेखबद्ध होकर ख्यात हुआ। प्राचीन रामायणों में एक तो महारामायण और दूसरी अध्यात्मरामायण कुछ अंशों में इससे मिलती हैं, पर पहली तो बहुत कम ही मिलती है और दूसरी अध्यात्म में स्पष्ट रूप से सिद्धान्त-विरोध है; अतः यह अलौकिक कथा उन दोनों से भिन्न रही है।

(३) 'क्वचिदन्यतोऽपि'—नाना पुराणादि जब आ ही गये तब कुछ और प्रसंग कौन हैं ? उत्तर—अन्वय (१) के अनुसार—"औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़मति तोरी॥" (बा० दो० १६५)—यह प्रसंग, एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।" (आ० दो० ३८); "निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।" (उ० दो० ८८), और काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद की कथाएँ तथा और भी श्रीपार्वतीजी के प्रश्न और उनके उत्तर की कथाएँ उक्त शिव-मानस में अन्यत्र की हो सकती हैं।

अन्वय (२) के अनुसार—ग्रंथ के आदि में दो० ३३ तक अपनी दीनता और सबकी वन्दना, उसके पश्चात् मानस-प्रबंध की चारघाट-रचना, सती-मोह, शिव-उमा-विवाह और जहाँ-तहाँ अपने मन के उपदेश एवं लोक-शिक्षात्मक बातें अन्यत्र की कही गई हैं।

'क्वचिदन्यतोऽपि' मे नाना पुराणनिगमागम के अतिरिक्त हनुमन्नाटक, उत्तर रामचरित, प्रसन्नराघव, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि अन्य ग्रन्थों से भी आशय लिये जाने का भाव है।

(४) 'भाषानिबन्धम्'—प्रश्न—जब भाषा मे रचना करने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब यहाँ तक के सात श्लोक संस्कृत मे क्यों बनाये? और, आगे प्रत्येक सोपान के आदि में, ग्रंथ के उपसंहार में, कहीं-कहीं स्तुतियों में भी संस्कृत श्लोक क्यों बनाये ?

उत्तर—(१) संस्कृत देववाणी है; अतः पवित्र एवं मांगलिक है। इससे उसको मंगलाचरण में रक्खा और सम्मान दिया। देवों की स्तुतियों में भी उनकी वाणी से उनका सम्मान किया है।

(२) गोसाईंजी के विषय में कहा जाता है कि प्रथम श्रीकाशीजी में आपने संस्कृत में मानस-रचना प्रारम्भ की। दिन में जो रचना करते, रात में लुप्त हो जाती। सात दिनों तक यही होता रहा। तब रात में श्रीशिवजी ने स्वप्न में भाषा में रचना करने की आज्ञा दी और कहा कि तुम्हारे भाषा-काव्य की महिमा वेद ऋचा की तरह होगी—दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ेगी। फिर गोसाईंजी के जागने पर भी शिवजी प्रकट हुए और आश्वासन दे पूजित होकर अन्तर्धान हो गये, यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥" (बा० दो० १५)। अतः, गोसाईंजी श्रीअवध में आकर

भाषा में रचना करने लगे, तब पूर्वरचित श्लोकों से आगे यह सातवाँ श्लोक बनाकर प्रतिज्ञा जनाई। श्रीशिवजी के अनुरोध से यद्यपि मंगलाचरण के लिये संस्कृत में जहाँ-तहाँ श्लोक भी बनाये, तथापि उनमें जहाँ-तहाँ भाषा-सिद्धि के लिये संधि एवं विभक्ति आदि में भेद कर दिया है, जैसे—"मन-भृङ्ग-संगिनी" (उ० मं०), "गतिं स्वकं" (अ॰ दो० १२); आदि भी एक प्रकार के भाषा-छंद ही हैं। श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें जान-बूझकर रक्खा है, तोड़-मरोड़ की आवश्यकता नहीं है।

सात श्लोकों का एक कारण तो उत्तर (२) में आ ही गया। दूसरा कारण यह है कि वन्दना की बातें इन सात श्लोकों में आई। तीसरा—"यहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना॥" (उ० दो० १२८); अर्थात् सातो सोपानों (काण्डों) के मंगलार्थ भी आदि में सात श्लोक रक्खे। चौथा कारण यह भी कहा जाता है कि सात की संख्या विषम एवं मांगलिक होने से संसार में अधिक है, जैसे—सागर, द्वीप, दिन और ऋषि आदि सात-सात ही ख्यात हैं।

(५) 'अति मंजुलं'—यथा—"सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचेउँ बुद्धि बिचारि।" आदि रचनाएँ अति सुन्दर भाषा में हैं और श्रीराम-कथा तो मंजुल है ही।

(६) 'स्वान्तः सुखाय'—यहाँ हृदय-सुख के लिये प्रारम्भ किया, पूर्ति पर 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा। अंतः का तम (अज्ञान) दूर होने से भी सुख ही होता है; अतः आदि-अन्त में एक ही कामना है और वह सिद्ध भी हुई, यथा—"पायेउँ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" (उ० दो० १३०)।

सम्बन्ध—ऊपर ७ वें श्लोकों में भाषा-निबन्ध की प्रतिज्ञा की। अतः, अब भाषा का मंगलाचरण करते हैं—

सोरठा—

जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवरबदन ।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभगुन-सदन ॥१॥

शब्दार्थ—जो—जिसे, जिसके; यथा—"जो सुमिरत भयो भाँग से, तुलसी तुलसीदास ।" (बा० दो० २६); "जो अवलोकि मोर मन छोभा ।" (अ० दो० १३); "जो अवलोकत लोकपति, लोकसंपदा थोरि ।" (बा० दो० ३३३) ।

अर्थ—जिनके स्मरण से सिद्धि होती है, जो गणों के स्वामी और सुन्दर हाथी के समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धि की राशि और शुभ गुणों के घर (गणेशजी) मुझपर दया करें ।

विशेष—

(१) यह सोरठा छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं और दूसरे तथा चौथे में १३-१३; अतः, प्रथम की अपेक्षा दूसरे में वृद्धिक्रम है, जिससे ग्रन्थ की दिनों-दिन वृद्धि हो, यह भाव है। यह बात दोहा, चौपाई और अन्य छन्दों में नहीं होती। दोहे में प्रथम १३ तब ११ मात्राएँ होती हैं, ऊँचे से नीचे गिरने का रूप ह्रासक्रम होता है और चौपाई आदि छन्दों में समक्रम होता है।

(२) शंका—इस सोरठे में ज अक्षर प्रथम पड़ा है, वह दग्धाक्षर है, तब इससे मंगल कैसे किया ?

समाधान—(क) इसका जकार गुरु (दीर्घ) है और देव-काव्य है, फिर वंदना भी उन्हीं देव की की गई है जो सिद्धि के दाता एवं विघ्नहर्ता हैं, अतः दोष नहीं है, यथा—"सुर कविता मंगलमयी, आदि जो गुरु कल होय। दग्धाक्षर अरु गणन को, दोष न व्यापै कोय ॥" ऐसा छन्दःशास्त्र में कहा है।

(ख) इसका प्रथम गण भगण है, दूसरा नगण है। दोनों मित्र हैं; अतः दोष नहीं है।

(३) इसमें श्रीगणेशजी का नाम-रूप-लीला-धामात्मक स्मरण है। यथा—'गननायक' से नाम, 'करिवरबदन' से रूप, 'करउ अनुग्रह' 'बुद्धिरासि' और 'सुभगुन' से लीला और 'सदन' से धाम ध्वनित है।

(४) श्रीगणेशजी के सिद्धि और बुद्धि नाम की दो शक्तियाँ हैं, उनके साथ प्रार्थना की जिससे विघ्नों से बचते हुए कार्य-सिद्धि हो और कार्य के योग्य बुद्धि हो, इसलिये दोनों के साथ प्रार्थना है तथा ग्रन्थ में शुभ-गुण पड़ें; अतः 'सुभगुन' सदन कहा। 'सुमिरत' से यह जनाया कि पूजा का अधिकार सबको नहीं होता, पर स्मरण सब कर सकते हैं। पुनः स्मरण करते ही सिद्धि होती है, देर नहीं लगती। किन बातों की सिद्धि होती है, यह नहीं लिखा, क्योंकि अमुक-अमुक कहने में इति हो जाती कि इतने ही की सिद्धि होती है। अतः, सिद्ध हुआ कि जो इच्छा करे, सबकी सिद्धि होती है। प्रस्थान करने में गणेशजी का स्मरण ही किया जाता है। 'जो' शब्द से यह भी निकलता है कि चाहे जो वर्ण हों, सब उनका स्मरण कर सकते हैं।

(५) क्रम—प्रथम स्मरण का फल सिद्धि कहकर स्मरणार्थ नाम 'गननायक' कहा। नामस्मरण के साथ रूप का ध्यान चाहिये, इसलिये 'करिवरबदन' से रूप कहा। रूप के विशेषण में पशुत्व दोष है; अतः, बुद्धिराशि और शुभगुणसदन कहा। साथ ही इन दो गुणों की कामना भी रूप से की। पुनः गण-नायक से स्वामिकार्त्तिक भी समझे जाते हैं। यथा—"स्कंदश्च सेनापतिः" तथा—"सेनानीनामहं स्कंदः" (गीता १०।२४); इसके निवारणार्थ 'करिवरबदन' साथ ही कहा है।

(६) अपने इष्ट श्रीसीतारामजी के अतिरिक्त गणेशजी की प्रार्थना क्यों की ? इसका समाधान ऊपर प्रथम श्लोक के 'वाणी-विनायक' प्रसंग में हो चुका है।

(७) प्रथम श्लोक की तरह इस पहले सोरठे में अक्षरों की ध्वनि से सातों काण्डों का अनुसंधान टीकाकारों ने किया है। रामायणी लोग भी यही कहते हैं। यथा—'जो सुमिरत सिधि' से बालकाण्ड, क्योंकि इसमें शिव-पार्वतीजी, नारदजी, मनुशतरूपा का स्मरण और उससे सिद्धि वर्णित है और श्रीदशरथजी एवं जनकजी की कामना-सिद्धि कही गई है।

'होइ गननायक' से अयोध्या काण्ड, क्योंकि इसमें राजा-प्रजा सभी चाहते थे कि श्रीरामजी युवराज हों। मंथरा-कैकेयी चाहती थीं कि श्रीभरत युवराज हों।

'करिबरबदन'—से आरण्य, क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने श्रेष्ठ प्रतिज्ञा की और अपने सुन्दर मुख से निशिचरों को मोहित किया।

'करउ अनुग्रह सोइ'—से किष्किंधा, क्योंकि 'सोइ' पूर्व परिचयसूचक है, यथा—"प्रभु पहिचानि परेउ···" (दो० १); श्रीहनुमान्जी, सुग्रीवजी, बालि, तारा, अंगदजी और सब ऋक्ष-वानरों पर श्रीरामजी ने अनुग्रह किया।

'बुद्धिरासि'—से सुन्दर, क्योंकि इसमें जाम्बवान्जी, विभीषणजी और श्रीहनुमानजी की बुद्धि की चतुरता की परीक्षा वर्णित है।

'सुभ गुन' से लंका, क्योंकि इसमें निशिचरों को भी शुभ गति का मिलना, सुरों का बंदीगृह से छूटना, विभीषण का राज्य पाना, जगत् में शुभ गुणों का पुनः प्रचार होना आदि शुभ घटनाएँ हैं।

'सदन' से उत्तर, क्योंकि इसमें श्रीरामजी अपने सदन श्रीअवध में आये, और बंदर-भालू तथा विभीषण आदि भी अपने-अपने घर गये, देवता लोग भी अपने-अपने लोकों में सुख से बसे।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये उदाहरण विस्तार-भय से नहीं दिये गये। और टीकाओं में देखें।

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमलदहन॥२॥

शब्दार्थ—बाचाल = बोलने में तेज, वाक्पटु। गहन = गंभीर, दुर्गम।

अर्थ—जिनकी कृपा से गूँगा भी श्रेष्ठ वक्ता होता है तथा लूला-लँगड़ा भी दुर्गम पहाड़ पर चढ़ता है, वे कलि के पापों को जलानेवाले दयालु (मुझपर) दया करें।

विशेष—

(१) इसका अर्थ कोई विष्णुपरक और कोई सूर्यपरक करते हैं—

विष्णुपरक—(क) विष्णु भगवान् का नाम पापनाशन है, वही अर्थ 'कलिमलदहन' का है। ये पाँव के देवता हैं; अतः, इनकी कृपा से पंगु का पर्वत पर चढ़ना कहा गया है। ये गिरा के पति हैं—'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।' (बा० दो० १०४); अतएव मूक का वाचाल होना भी स्वयंसिद्ध है।

इसमें वैकुंठवासी विष्णु का और आगे क्षीरशायी का वर्णन करेंगे, क्योंकि दोनों का अवतार कहना है। दो कल्प (जय-विजय, जलंधर) के लिये वैकुंठ से और एक कल्प (रुद्रगणों) के लिये क्षीरसागर से अवतार कहा जायगा। साकेतवासी की वंदना आगे प्रधान रूप में है ही। अतः, चारों कल्पों के अधिदेवता का मंगलाचरण हो जाता है।

(ख) पुनः—"मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वंदे परमानंदमाधवम्।"

यह प्राचीन श्लोक है जिसे श्रीधरजी ने श्रीभागवत-टीका के मंगलाचरण में लिखा है। यह इस सोरठे से मिलता है, केवल 'सो दयाल···' की जगह—'तमहं वंदे परमानंदमाधवम्' है। श्लोक में 'माधवं' से स्पष्ट विष्णु को कहा है। यह बहुत प्रसिद्ध है, अतः सोरठे में नाम नहीं कहा।

(२) सूर्यपरक—(क) बालक जन्म-काल में मूक और पंगु भी रहता है, सूर्य बालक को दिनोंदिन पोसते तथा उक्त दोष दूर करते हैं। सोरठे में कथित गुण भी इनमें हैं, यथा—"दीनदयाल दिवाकर देवा।···दहन दोष दुख दुरित रुजाली।·· सारथि पंगु दिव्य रथगामी।" (वि० २)।

(ख) प्राचीन श्लोक से विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि सूर्य नारायण के रूप भी हैं, यथा—"हरि संकर विधि मूरति स्वामी।" (वि० २); "एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कंदः प्रजापतिः।" (वाल्मी० यु० स० १०६)।

(ग) विनय-पत्रिका में गणेशजी के पश्चात् सूर्य की स्तुति है। उस क्रम से यहाँ भी सूर्यपरक अर्थ चाहिये। सूर्य रघुकुल के गुरु (पूर्वज) भी हैं, इनसे चरित जानने में सहायता मिले, यथा—"कुल रीति प्रीति समेत रवि कहि देत सब सादर किये।" (बा० दो० ३२३); गुरु—"उदय करहु जनि रवि रघुकुल-गुरु।" (अ० दो० ३६)।

श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रंथ का प्रारंभ श्रीअवध में किया। अवधवासियों का मत भी पंचदेवोपासना से श्रीरामजी की प्राप्ति और प्राप्त होने पर रक्षा चाहना है, यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२); अतः, इसे सूर्यपरक मानने से पंचदेव की पूर्ति हो जाती है, जो भाषा के मंगलाचरण में आवश्यक है।

(३) 'सकल कलिमल'—"जे पातक उपपातक अहहीं। करमबचनमनभव कवि कहहीं॥" (अ० दो० १६६); "मन क्रम वचन जनित अघ जाई।" (उ० दो० १२५); अर्थात् पाप कायिक, वाचिक और मानसिक होते हैं। बड़े पाप पातक हैं और छोटे उपपातक। मूक और पंगु होना पापों के फल हैं। वे पाप इनकी कृपा से नष्ट होकर पुण्य-प्राप्ति से मूक वाचाल होते और पंगु पहाड़ पर चढ़ते हैं।

यहाँ श्रीरामचरित रूपी पहाड़ पर चढ़ना है और मानसकार पंगु हैं, यथा—"सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन-मति रंक मनोरथ राऊ॥" (बा० दो० ७); अर्थात् बुद्धि से पंगु हैं। वाणी से मूक हैं—"सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥ जौं बालक कह तोतरि बाता।" (बा० दो० ७); हृदय को कलिमल भरा माना है, इसीसे उक्त तीनों गुणों का स्मरण करते हुए प्रार्थना की है।

शंका—'कलिमल दहन' गुणवाले से 'द्रवउ' की प्रार्थना क्यों की ? परस्पर विरोध है—दहन अग्नि का और द्रव जल का धर्म है।

समाधान—पाला भी जल ही है, पर कृषि को जला देता है, यथा—"सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥" (अ० दो० ७०)।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम, सदा छीरसागर-सयन ॥३॥

शब्दार्थ—अरुन = वह लालिमा जो प्रकट न हो, नेत्रों के किनारे वाले डोरों की-सी थोड़ी ललाई; यथा—"अरुणोऽव्यक्तरागे स्यात्"— इति विश्वकोशे।

अर्थ—जो नील कमल के समान श्याम हैं, जिनके नेत्र नवीन खिले हुए अरुण कमल के समान हैं और जो सदा क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले हैं, वे (श्रीमन्नारायण) मेरे हृदय में घर करें।

विशेष—

(१) श्रीरामचरित की प्रेरणा करने के लिये हरि को हृदय में निवास कराते हैं, यथा—"जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥" (बा० दो० ३०)।

(२) 'नील सरोरुह स्याम'—श्याम रंग नेत्रप्रिय होता है, भगवान् भी प्रियदर्शन हैं, कमल की भाँति कोमल आपका स्वभाव भी है—'बेगि पाइयहि पीर पराई।' (अ० दो० ८४)। श्याम रंग फीका नहीं होता और उसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, वैसे प्रभु शरणागत की सँभाल रखते हैं, कृपारूप रंग सदा रहता है।

'तरुन अरुन···'—नवीन कमल आर्द्र होता है, वैसे आपके नेत्र करुणारस पूर्ण हैं, तरुणता के कारण दुःख हटाने में आलस्य न करेंगे।

'सदा छीरसागर···'—दुर्वासाजी के कोप से श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसिंधु में लुप्त हो गईं और मथने पर प्रकट हुईं, वैसे कलि-कोप से भक्ति का लोप है; अतः, मेरा हृदय मथकर श्रीराम-भक्ति प्रकट कीजिये जिससे जगत् का उद्धार हो। जहाँ राजा रहता है, वहाँ चोर नहीं रह सकते; अतः आप बसें, तब कामादि नहीं आवेंगे। आपके साहचर्य में सर्प रूप से भी शेषजी निरंतर श्रीराम-यश गाते हैं, मेरा हृदय भी कामादि सर्पों के संग से विकृत हो गया, उससे भी श्रीराम-यश गान कराइये। यह अभिप्राय है।

अलंकार—(३) 'नील सरोरुह स्याम' में नील कमल उपमान और श्याम धर्म है, वाचक और उपमेय लुप्त हैं, अतः वाचकोपमेयलुप्तोपमालंकार है। तरुन अरुन धर्म, बारिज—उपमान, नयन—उपमेय है, अतः वाचकलुप्तोपमालंकार है।

शंका—(४) सर्वत्र तो श्रीरामजी को ही हृदय में निवास कराते हैं, यथा—'बसहिं राम सिय मानस मोरे।' (वि० १); यहाँ क्षीरशायी रूप को क्यों निवास कराया ?

समाधान—(क) श्रीरामजी के नाम रूपादि का परत्व जानने के कारण क्षीरशायी भगवान् भी श्रीरामरूप धारण कर लीला करते हैं। नारद-शाप की कथा इसी प्रसंग में है। तथा—"पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई॥" (अ० दो० १३८); अतः, श्रीगुसाईंजी ने चरित-वर्णन में उनकी सहायता पाने की इच्छा से उन्हें हृदय में बसाया। "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा० दो० ३०) कहा ही है।

(ख) क्षीरशायी रूप से भगवान् हृदय में बसेंगे, तब क्षीरसमुद्र की तरह हृदय स्वच्छ हो जायगा और वह श्रीसीताराम रूप के निवास-योग्य होगा, यथा—"हरि निर्मल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥" (वि० १८५)।

(ग) अगस्त्य-संहिता, श्रीरामतापनीय उपनिषद् आदि में क्षीरशायी भगवान् पीठदेवता कहे गये हैं; अतः इष्ट श्रीरामरूप के पूर्व इनका निवास कराना योग्य ही है।

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन ।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन-मयन ॥४॥

शब्दार्थ—कुंद उज्ज्वल, कोमल और सुगंधित फूल का नाम है, इसका पौधा जूही की तरह होता है।

अर्थ—कुन्द और चन्द्रमा के समान (गौर) देह वाले करुणा के घर—जिनका दीनों पर स्नेह रहता है—(ऐसे) काम को जलानेवाले श्रीपार्वती के पति (शिवजी मुझपर) कृपा करें।

विशेष—

(१) यहाँ 'उमारमन' से शक्तिविशिष्ट भाव जनाया है, क्योंकि शिवजी अर्द्धनारीश्वर हैं; अतः, यहाँ श्रीशिव-पार्वती दोनों का बोध होता है। इसके ऊपर के तीन सोरठों के क्रमशः गणेश, सूर्य, और रमापति को लेने से पंचदेव-वंदना की पूर्त्ति हो जाती है।

शंका—(२) 'उमारमन' में शिव-उमा दोनों का अर्थ लेने से उमा में 'मर्दन-मयन' कैसे घटेगा ?

समाधान—शिवजी की काम जलाने की कथा प्रसिद्ध है। उमा ने अपने त्याग से ही काम का मर्दन कर रक्खा है। यथा—"अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस।" (बा० दो० ८९) इस प्रकार सप्तर्षियों के कहने पर उमा का उत्तर है—"तुम्हरे जान काम अब जारा। अबलगि संभु रहे सबिकारा॥ हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ जो मैं सिव सेयेउँ अस जानी।" (बा० दो० ८९)।

(३) 'कुन्द इन्दु'—गोराई के साथ कोमलता और प्रकाश-युक्त होना भी प्रकट किया। जब उमा-रमण से श्रीशिव-पार्वती दोनों का अर्थ हो, तब कुन्द के समान कोमलता, दया-युक्त सरसता और सुगंध गुण युक्त उमा का शरीर और शुद्ध ज्ञान स्वरूप, शीतल स्वभाव वाले, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान यश-पूर्ण शिवजी का रूप जानना चाहिये।

(४) 'मर्दन मयन—उमारमन'—जब काम को भस्म ही कर दिया, तब उमा-रमण कैसे ? उत्तर यह है कि इनका विहार दिव्य चिन्मय है। इस नाम से ग्रंथकार ने अपने हृदय को निष्काम बनाने की कामना ध्वनित की है।

(५) 'उमारमन-करुनाअयन'—शिवजी ने उमा को तप करते और देवताओं को तारकासुर से दुखी देखा, तब उमा से विवाह किया। फिर उमा की प्रार्थना से करुणा करके उन्हें श्रीरामचरित सुनाया।

(६) 'मर्दन······दीन पर नेह'—काम को जलाने पर रति रोती हुई गई, तब शिवजी ने उसकी दीनता पर करुणा करके वर दिया—"अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसंग॥ जब जदुबंस ''कृष्णतनय होइहि पति तोरा।" (बा० दो० ८७)।

सम्बन्ध—यहाँ चार सोरठों में वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया गया है, क्योंकि कथा के प्रयोजनीय गुणों के निमित्त प्रार्थना की गई है। यहाँ देव-वंदना का प्रथम प्रसंग पूरा हुआ। अब आगे नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रारंभ करते हैं—

वंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नर-रूप हरि ।
महामोह तमःपुंज, जासु बचन रविकर-निकर ॥५॥

अर्थ—मैं श्रीगुरुजी के चरण कमलों की वंदना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और नर के रूप में हरि (भगवान्) ही हैं, जिनके वचन महामोह-रूप अंधकार समूह के विनाश के लिये सूर्य-किरण समूह हैं ।

विशेष—

(१) श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रंथ में तीन गुरुओं का आश्रय लिया है—

(क) श्रीशिवजी का —"गुरु-पितु-मातु महेस भवानी ।" (बा० दो० १४)

(ख) निज मंत्रोपदेष्टा गुरु अनन्त श्रीस्वामी नरहरिदासजी का ; यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत । ।" (बा० दो० ३०)

(ग) श्रीरामचरित का —"सद् गुरु ज्ञान बिराग जोग के ।" (बा० दो० ३१.) ।

तीनों से काव्य को गौरव प्राप्त होना भी कहा है । क्रमशः—

(क) "भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती । ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥" (बा० दो० १४) ।

(ख) "तदपि कही गुरु बारहिं बारा । समुझि परी कछु मति अनुसारा । भाषाबद्ध करबि मैं सोई···" (बा० दो० ३०); इसकी ख्याति प्रत्यक्ष ही है ।

(ग) "प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी ॥" (बा० दो० १) ।

तीनों गुरुओं का कर्त्तव्य भव-सागर से पार उतारना है । क्रमशः—

(क) "गुणागारसंसारपारं नतोऽहम् ।" (उ० दो० १०७) ।

(ख) "गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई ।" (उ० दो० ९२) ।

(ग) "भवसागर चह पार जो पावा । राम-कथा ता कहँ दृढ़ नावा ।" (उ० दो० ५२) ।

(२) गुरुजी का नाम प्रत्यक्ष लेने का निषेध जानकर रूप शब्द की ओट से लिखा है और युक्ति से जनाया है । श्रीगोस्वामीजी के गुरु का नाम अनंत श्रीनरहरिदासजी था । जीवनी से प्रसिद्ध है । साथ ही महत्त्व भी उन्हीं शब्दों में कहा है कि गुरु नर रूप में हरि ही हैं । जैसे—हरि मीन, कमठ वाराह आदि अवतार धारण करते हैं, वैसे ये नरावतार हरि हैं । हरि के अवतार का कारण कृपा है, यथा—"कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं ।" (बा० दो० १२१); "भये प्रकट कृपाला···" (बा० दो० १९१), "कृपासिंधु मानुष तनुधारी ।" (सुं० दो० ३९) । ऐसे ही यहाँ भी 'कृपासिंधु' शब्द से नर-रूप में अवतार का कारण कहा । 'महामोह तमपुंज, जासु बचन रविकर-निकर' से अवतार की लीला कही गई है ।

श्रीरामजी और श्रीगुरुजी के अवतार का मिलान

श्रीरामजी	श्रीगुरुजी
श्रीरामावतार रावण-वध के लिये हुआ ।	(१) श्रीगुरु का अवतार महामोह-नाश के लिये है । महामोह ही रावण है,—'महामोह रावण······' (वि० १८१) ।

श्रीरामजी ने बाण से रावण को मारा।	(२) यहाँ वचन ही बाण हैं, उनसे महामोह का नाश किया। यथा—'जीभ कमान बचन सर नाना।' (अ० दो० ४०)।
श्रीरामबाण सूर्य के समान हैं।	(३) यहाँ गुरु-वचन को भी 'रविकर-निकर' कहा है।

यथा—'रामबान रवि उये जानकी।' (सुं० दो० १५)।

(३) श्रीगुरुजी के हरि-रूप होने के प्रमाण—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" (गुरु-गीता) और भी—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३)।

(४) 'जासु वचन रविकर······'—जिनके वचनों में मोह-नाशक सामर्थ्य हो, वे ही गुरु हैं; क्योंकि गु शब्द का अर्थ अंधकार और रु का अर्थ उसका निरोधक है। मोहांधकार का नाश करने से गुरु कहाते हैं। ऐसे ही गुरु हरि के रूप हैं। यह लक्षण श्रुति में कहा है; यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" (मुंडको० १।२।१२)। इसमें श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ शब्दों के द्वारा सामर्थ्य जनाया है।

(५) यहाँ श्रीगुरु के मन, वचन और शरीर तीनों दिखाये। मन—कृपासिंधु शरीर—नर-रूप हरि और वचन—'महामोह तमपुंज' के लिये 'रविकर-निकर' हैं।

(६) 'रविकर निकर'-किरणें चन्द्रमा में भी हैं, पर उनसे तम का नाश नहीं होता। अतः, 'रविकर' कहा। सूर्य सहस्रांशु कहे जाते हैं। अतः, यहाँ भी 'निकर' कहा है। जब गुरु-वचन रविकर हैं, तब उनका हृदय ब्रह्मांड और ज्ञान सूर्य है; यथा—"जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। वचन किरन मुनि कमल बिकासा॥" (अ० दो० २७६)। ऊपर श्लोक में 'बोधमयं नित्यं' कहा है, अर्थात् हृदय में सदा ज्ञान-रूप सूर्य का उदय रहता है। ऊपर 'शंकर' रूप और यहाँ 'हरि' रूप कहकर दिखाया गया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याण करते हैं और (भवसागर का) क्लेश हर लेते हैं।

'महामोह'—ईश्वर में संदेह होना महामोह है—"भवबंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब-निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" इसे ही आगे कहा है—'महामोह उपजा उर तोरे।' (उ०दो० ५८।५६); तथा ऐसे ही संदेह के प्रति—'जिन्ह कृत महामोह मद पाना।' (बा० दो० ११८) भी कहा है। श्रीगुरुजी ईश्वर का ज्ञान कराते और उस सम्बन्ध के सब संशय-समूह रूप अंधकार निवृत्त करते हैं। इसीलिये महामोह को 'तमपुंज' कहा है।

(७) पाँच सोरठों में भाषा का मंगलाचरण क्यों हुआ? इसका उत्तर 'मूकं करोति··· ' में विष्णुपरक अर्थवाले यह देते हैं कि गोस्वामीजी ने सूर्य में खास प्रयोजन की बात न देखी और उनका ज्ञानांश गुरु द्वारा प्राप्त होता है। अतः, गुरु की ओट से उपमान रूप में वंदना करके पंचदेव-वंदना की पूर्ति की। पुनः 'नर-रूप हरि' का अर्थ नर-रूप सूर्य भी होता है।

(८) 'नर रूप हरि'—से नरहरि अर्थात् नृसिंह (नर रूप में सिंहाकृति) का भी ध्यान होता है, क्योंकि श्रीगुरु महाराज पंच संस्कार-विशिष्ट हैं। सिंह को 'पंचानन' भी कहते हैं, क्योंकि उसके चार पंजे भी चीर-फाड़ का काम मुख के समान ही करते हैं। सिंह अजा (बकरी) के मुख को मुख से और उसके चार पाँवों को अपने पंजों से पकड़े तो क्षण-भर में मार लेता है। वैसे ही श्रीगुरु महाराज भी पंच संस्कारों के द्वारा माया (अजा) का पाँचों अंगों (शब्द स्पर्श-रूप-रस गंध) समेत सहज में नाश कर सकते हैं।

माया प्रकृति का पर्यायवाची शब्द है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाम भी 'अजा' है। यथा—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।" (श्वे० ४।५)। इस श्रुति में माया का अजा नाम और रक्त-श्वेत-कृष्ण से क्रमशः रज, सत्त्व, तम के अनुसार उसका रंग भी कहा है। वैसे बकरियाँ भी कुछ लाल एवं श्वेत रंग की होती हैं; विशेषकर काली ही होती हैं, क्योंकि माया विशेषतः तमरूपा ही है। बकरी 'मैं-मैं' बोलने से जानी जाती है। माया की पहचान भी 'मैं' ही है; यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव-निकाया॥" (आ० दो० १४)। इसमें मैं से मोर और तैं हुए, फिर तैं से तोर भी हुआ। बकरी के चार खुर (पाँव) दो-दो भागों में बँटे रहते हैं तथा मुख भी नीचे ऊपर दो फाँकों का होता है, वैसे माया के भी शब्दादि पाँचों विषय शुभ और अशुभ दो-दो प्रकार के होते हैं।

श्रीगुरुजी स्वयं पाँचों संस्कार (नाम, माला, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा और मन्त्र) धारण किये रहते हैं और उन्हीं से शिष्यों की रक्षा माया के उपर्युक्त पाँचों अंगों से करते हैं। शब्द-ग्रहण की इंद्रिय कान है, रक्षार्थ मन्त्र कान में ही देते हैं और उसी को कर्मेन्द्रिय वाक् से जपाते हैं। स्पर्श के वायु-तत्त्व की कर्मेन्द्रिय हाथ है। रक्षार्थ धनुष-बाण हाथ पर देते हैं। रूप का केन्द्र ललाट है, क्योंकि रूप मुख एवं ललाट ही पर देखा जाता है; रक्षार्थ ऊर्ध्वपुंड्र ललाट पर (द्वादश तिलक सर्वांग में भी; क्योंकि सब रूप ही हैं) देते हैं। रस विषय की इन्द्रिय रसना से गृहीत पदार्थ कंठ होकर भीतर जाता है। रक्षार्थ कंठी (माला) भी कंठ ही में पहनाते हैं और नाम का सम्बन्ध पृथ्वी-भर में रहता है—भाई, पिता, मित्र आदि सम्बन्धों से बँधा रहता है, रक्षार्थ भगवत् सम्बन्धी नाम देकर पृथिवी के सांसारिक-वासनात्मक गन्ध-विषय से भी बचाते हैं।

कौन संस्कार किस अर्थ के अनुसंधान से किस विषय से रक्षा करता है, ये सब विस्तार-पूर्वक मेरे ग्रंथ 'श्रीमन्मानस नाम-वंदना' में हैं, यहाँ इन्हें विस्तारभय से नहीं लिखा। और, पंच संस्कार की नृसिंह-स्वरूपता भी उसी में 'राम नाम नरकेसरी....' के अर्थ में दिखाई गई है; क्योंकि नाम बीज और मंत्र उसका विवरण (अर्थ) है, यथा—"न च ,नाममंत्रयोर्भेदाशंकातयोर्बीजतद्विवरणरूपेणैक्यात् ।" (श्रीरामतापनीय० उ० भाष्य पृ० २०४)।

सम्बन्ध—इस सोरठे में मोह-नाश कराने के लिये 'पदकंज' की वंदना की, आगे उसके कार्य-रूप भव-रोगों के नाश के लिये 'गुरु-पद-पदुम-पराग' की वंदना करते हैं—

चौपाई *

वंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ १॥

अर्थ—(१) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज (धूल) की वंदना करता हूँ, जो सुरुचि रूपी सुगंध और अनुराग रूपी रस से युक्त है।

(२) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज की वंदना करता हूँ, जो सुष्ठु (उत्तम) रुचि, सुष्ठु वास, सम्यक्-रस और अनु (अल्प) ललाई से युक्त है।

(३) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज की वंदना करता हूँ जो सु-रुचि, सु-वास और श्रेष्ठ अनुराग से पूर्ण है।

(४) मैं सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वासना और श्रेष्ठ अनुराग सहित गुरु-पद-पद्म-पराग की वंदना करता हूँ।

* इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं।

विशेष—

(१) अर्थ (१) 'पदुम'-शब्द दीपदेहली न्याय से पद और पराग दोनों का विशेषण है। ऊपर सोरठे में 'पद-कंज' की वंदना की, तब विचारा कि श्रीगुरुचरणों को कमल क्या कहूँ, जब कि कहीं से लिपटी हुई धूल में ही कमल के धर्म हैं, कमल में सुगंध और रस होता है, इसमें सुरुचि ही सुगंध और अनुराग ही रस है।

शंका—धूल तो जड़ पदार्थ है, उसमें रुचि और अनुराग कैसा?

समाधान—श्रीगुरु-पद-पद्म पराग में शिष्य की जितनी उत्तम रुचि एवं श्रद्धा होगी, पराग से उतनी ही सुगध की प्राप्ति उसको होगी और जितना शिष्य का अनुराग होगा, उतना ही रस का अनुभव होगा। भगवान् की मूर्त्ति और तीर्थों में भी यही देखा जाता है। जैसे श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामयश के विषय में अपनी कार्पण्य रूपी लघुता को श्रीरामयश रूपी जल का हलकापन रूप गुण कहा है। यथा—"आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी।" (बा० दो० ४२)

(२) अर्थ (२) लाल कमल के पराग का रूप कुछ ललाई लिये हुए होता है और उसके धर्म के तीन प्रकार हैं—गुण, स्वभाव और क्रिया। पराग में रुचिकारकता गुण, सुगंध, स्वभाव और रस उसकी क्रिया है, यह उपमान में है और उपमेय रूप श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग का भी रूप अल्प ललाई से युक्त है, क्योंकि चरण लाल हैं, उनके सेवन का गुण है कि शिष्य के हृदय में उत्तम रुचि उत्पन्न हो, तब वह अच्छे धर्म में रत होता है और उसकी सुष्ठुयश रूपी सुगंध का फैलना स्वाभाविक है। अतः, यह स्वभाव हुआ। पुनः उस शिष्य में रसरूपा भक्ति जाग्रत होती है। यही सरसता रूप क्रिया है।

(३) श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग के चार विशेषण हैं, उनके सेवन से चारों फल भी प्राप्त होते हैं। सुरुचि से अर्थ, क्योंकि रुचि चाह को भी कहते हैं। यथा—'सब पायेउँ रज पावनि पूजे" (अ० दो० १) यहाँ राजा दशरथजी ने अर्थ प्राप्ति ही कही है। सुवास से धर्म, क्योंकि धर्म से यशरूपी सुगंध फैलती है। सरस से काम, क्योंकि वह भी रसरूप है। अनुराग से भक्ति की प्राप्ति जनाई, यथा—'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।' (उ० दो० ६१)। कमल में चार गुण हैं, वही पराग में आते हैं, वैसे ही श्रीगुरु-चरण के गुण धूल में हैं।

(४) अर्थ (१) के अनुसार इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है, क्योंकि कमल पराग में रुचि, वास और रस है और गुरु-पद-पद्मपराग में सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वास और श्रेष्ठ अनुराग है। इस पराग की उपासना से शिष्य की भी उत्तम रुचि एवं भक्ति भगवान् में होती है। श्रीगुरु के साथ इसका भी यश होता है। यह सुवास है और गुरु के संसर्ग से गुरु के समान इसमें भी श्रेष्ठ अनुराग होता है; जैसे श्रीभरत के प्रसंग में कहा है—"जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (अ० दो० २११)।

(५) पदुम-पराग उपमान, गुरु-पद-पराग उपमेय, सुबास सरस के अनुरूप सुरुचि-अनुराग धर्म हैं, वाचक जनु, मनु, सम आदि लुप्त हैं; अतः, वाचकलुप्तोपमा अलंकार है।

(६) प्रथम शंकर-रूप में स्वरूप की वंदना की और द्वितीया के चन्द्रमा के समान उनके आश्रित हुए, तब स्वरूप की अगाध महिमा समझी और अपने को उसके अयोग्य मानकर चरण-कमल की वंदना कर वचनों द्वारा महामोह की निवृत्ति चाही। फिर श्रीचरण-कमल की समीपता में धृष्टता समझकर उसकी

धूल की वंदना कर भव-रोग नाश आदि का उपाय ग्रंथकार कर रहे हैं, आगे अपने को धूल के भी योग्य न मानकर नख-प्रकाश की शरण लेंगे, जो श्रीचरण से कुछ दूर है ; क्योंकि धूल तो चरण में लगी हुई है।

सम्बन्ध—इस अर्द्धाली में जो सुरुचि गुण आदि कहे गये हैं, उनका चरितार्थ अगली तीन अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुजपरिवारू ॥२॥

अर्थ—(यह धूल) अमृत मूरि-(जड़ी)-मय सुन्दर चूर्ण है, भव-रोग के सब परिवार (कामादि) का नाश करनेवाली है।

विशेष—

(१) अमिअ-मूरि—जोग संजीवनी जड़ी के सेवन से अमर (देवरूप) हो जाते हैं, वैसे यह चूर्ण मोक्ष रूपी अमृतमय है, असाध्य भव-रोगों का नाश करता है, परिणाम में दिव्य रूप प्राप्त कराता है। वह चूर्ण खाने में मधुर, देखने में सुन्दर, रोगनाशन गुणवाला है, वैसे यह सेवन में सुलभ (मधुर), लोक में शोभा और असाध्य भव-रोगों का नाशक है।

(२) इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है—वह देह-रोग दूर करता है, यह भव-रोग। देह-रोग दो-चार हैं और भव-रोग बहुत। यथा—"एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाध्य बहुव्याधि।" (उ० दो० १२१), असाध्यत्व—"नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान। भेषज पुनि कोटिक नहि, रोग जाहि हरिजान।" (उ० दो० १२१)। अर्थात् देह-रोग साध्य हैं और ये असाध्य, यह चूर्ण उनका भी नाश करता है। अतः, उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है।

शंका—भव-रोग सूक्ष्म हैं, यथा—"घट्टे अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।" (वि० १२७); और श्रीगुरु-पदरज स्थूल है। फिर इससे उनका नाश कैसे हो सकता है ?

समाधान—जैसे यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि से साधक की भावना के अनुसार मन की शुद्धि होती है, वैसे यहाँ भी उत्तम रुचि से शिष्य के हृदय में रुचि अर्थात् प्रकाश (रुच् दीप्तौ धातु है) होगा, अविद्या-नाश के साथ ही भव-रोग भी नष्ट होंगे। यथा—"प्रबल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम ···" (उ० दो ११०); यहाँ उपर्युक्त सुरुचि चरितार्थ हुई।

सुकृत संभु-तनु विमल विभूती। मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती ॥३॥

शब्दार्थ—मंगल - बाह्य इन्द्रियों का सुख। मोद=अन्तःकरण का सुख।

अर्थ—(यह धूल) पुण्य रूपी शिवजी के शरीर को निर्मल करने की विभूति (भस्म) है तथा सुन्दर मंगल और मोद को उत्पन्न करनेवाली (माता) है।

विशेष—

(१) यहाँ 'सुकृत' को 'संभु-तनु' कहा है, क्योंकि शिवजी स्वयं धर्म के मूल हैं, यथा—'मूलं धर्मतरोः' (आ० मं०)। सुकृत-सेवन और शिव-सेवन का फल एक है। यथा—"सकल सुकृत फल राम-सनेहू।" (बा० दो० २१); एवं—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई॥" (उ० दो० १०५)।

(२) श्मशान की धूल स्वयं तो अपवित्र है, परन्तु शिवजी के शरीर के स्पर्श से पवित्र होती है। श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की धूल स्वयं इतनी अधिक पवित्र है कि सुकृत रूपी शिवजी के शरीर ही को निर्मल करती है, अतएव उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है। इससे यहाँ भी अधिक तद्रूपकालंकार है।

पुण्य का विमल होना यह है कि गुरु-आश्रित होकर जो सुकृत किया जाता है, शास्त्र-सम्मत होने के कारण उसमें ममता, फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान रूप मल नहीं रह पाते। अतः, कल्याण-रूप होने से 'संभुतनु' हो गया है।

(३) 'मंजुल' शब्द से पाया गया कि कोई-कोई मंगल और मोद मलिन भी होते हैं। जो निंदित कर्मों द्वारा वाह्य सुख कामादि सम्बन्धी हैं, इन विचारों से जो प्रकट होते हैं, ऐसे मंगल-मोद मलिन हैं।

'विमल' विशेषण देकर सुकृत से मंजुल, मंगल और मोद पैदा करने में उपर्युक्त 'सुवास' चरितार्थ हुआ, उत्तम पुण्य से यश रूप सुगंध फैलती ही है।

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी ॥२॥

शब्दार्थ—मल = मैल, यथा—"मोह जनित मल लाग''''''मन मलिन विषय संग लागे।" (वि० ८२); 'काई विषय मुकुर मन लागा।' (बा० दो० ११४)।

अर्थ—(यह धूल) जन (दास) के सुन्दर (स्वच्छ) मन रूप दर्पण की मैल को हरनेवाली है और तिलक करने से गुण-समूहों को वश में करनेवाली है।

विशेष—

(१) जन का मन स्वभावतः निर्मल होता है, फिर भी 'मंजु, विशेषण से उसकी उत्तमता व्यक्त की गई है, तब यह मल कैसा ?

उत्तर—यद्यपि दासों का मन निर्मल रहता है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥" (कि० दो० १६); 'जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।' (कि० दो० १५ ; तथापि—"काल-सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ॥" (बा० दो० ६); इस नियम से—'बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं।' (बा० दो० ३); क्योंकि—"विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे ॥" (उ० दो० १२१); और—'विषय बश्य सुर नर मुनि स्वामी।' (कि० दो० १०) भी कहा ही है। श्रीनारदजी कामवश और सनकादि क्रोध-वश हुए, जिनके मन प्रथम 'मंजु' ही थे। जनों का स्वधर्माचरण मंजुता है, भगवान् एवं उनके भक्तों से विमुख होना मलिनता है।

(२) यहाँ तक त्रिविध जीवों का हित जनाया—"विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥" (अ० दो० २७१) यथा—'जनमन मंजु''' से विषयी का हित होगा, उनके मन की मैल दूर होगी। 'समन सकल भव रुज '' से मुमुक्षु का हित होगा, क्योंकि कामादि शत्रु साधन मे बाधा डालते हैं। 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से मुक्त कोटि के सिद्धों का हित होगा, क्योंकि उनके 'मुद' (आनंद-कल्याण) आदि बने रहेंगे।

(३) 'किये तिलक गुन गन बस करनी'—तन्त्र-शास्त्र की रीति से वशीकरण प्रयोग होता है जो जिसके उपलक्ष्य मे किया जाता है, वह वश में आ जाता है, वैसे यह धूल श्रद्धालु के लिये (निष्ठा से) तिलक करने से शुभ गुणों को वश में कर देती है। यथा—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २)

(४) 'समन'''परिवारू'—में मारण, 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से सुकृति को सुशोभित कर मंगलादि को मोहित करके लाने में मोहन, 'मल हरनी' में उचाटन, 'गुनगन बस करनी' में वशीकरण—ये चार प्रयोग सिद्धियाँ रज से दिखाईं।

ग्रंथकार का प्रयोजन ग्रंथ-रचना के सम्बन्ध में 'भवरुज' से नीरोग होना और शुभ गुणों से युक्त होना प्रत्यक्ष था; अतः, दो प्रयोग प्रकट कहे गये और शेष दो युक्ति से बतलाये गये हैं।

(५) श्रीगुरु-पदपद्म-पराग का यश सं० व्याकरण के तीनों लिगों में गाया है। यथा—'पराग' पुँल्लिग है। अतः, 'चूर्ण' पुँल्लिग, 'विभूति' स्त्रीलिंग है, उसे वैसे ही प्रसूती, मलहरनी, बसकरनी कहा और 'रज' नपुसक है। इसे ही आगे अंजन (नपुंसक) भी कहेंगे।

(६) यहाँ तक यह दिखाया कि रज की वचन से वंदना करे, चूर्ण रूप में उसे खाय, सुकृत के शरीर में लगावे, मन से सेवे, उसका तिलक करे। आगे नेत्रों में उसका लगाना भी कहते है। यथा—'गुरुपदरज मृदुमंजुल अंजन।' इस प्रकार वचन, मन और कर्म से श्रीगुरुचरणरज का सेवन करे।

श्रीगुरु पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥५॥

शब्दार्थ—दिव्यदृष्टि = दिव्यनेत्र = बुद्धि में पारमार्थिक प्रकाश; यथा—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' (उ० दो० १११); 'दिव्य ददामि ते चक्षु.' (गीता ११।८)

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों की नखरूपी मणि-समूह के प्रकाश का स्मरण करते ही हृदय मे दिव्य दृष्टि होती है। (मैं उनकी वंदना करता हूँ)।

विशेष—

(१) यहाँ ग्रंथकार ने 'बंदउँ' न देकर 'श्री' शब्द दिया, इससे श्री शब्द को उपर्युक्त 'पदकंज' और 'पद-पद्म पराग' के साथ जनाया और 'बंदउँ' शब्द को यहाँ के नख-प्रकाश के साथ भी जनाया। इस प्रकार थोड़े अक्षरों से अधिक काम लिया। यह काव्य-कला का चमत्कार है। यथा—"सौंपि भूप रिषिहिं सुत, बहु बिधि देइ असीस। जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस॥" (बा० दो० २०८) इसमें एक जगह आशीष और दूसरी जगह शीश नवाना कहकर दोनों जगह दोनों बातें दिखाई हैं।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि 'बंदउँ' शब्द 'पद कंज' के साथ दे चुके हैं, नख चरणों में ही है; अतः, फिर नहीं दिया। रज को श्रीचरण से भिन्न पदार्थ जानकर 'बंदउँ' शब्द उसमें दिया है। नखों को मणिगण कहा, मणिगण श्री (लक्ष्मी) जी के विभव हैं; अतः, 'श्री' शब्द गुरु के साथ भी दिया है।

(२) पहले 'रज' से भव रोगों का शमन करके मन रूपी दर्पण भी स्वच्छ किया, तब नख-प्रकाश के स्मरण के अधिकारी हुए। अब 'दलन मोहतम''' तक में मोह का सूक्ष्मांश भी निवृत्त करेंगे। तब हृदय के 'विमल' नेत्र का उघरना कहेंगे।

(३) श्रीचरण में कई नख हैं, अतः, उपमान में 'मनिगन' कहा। मणि कहने का हेतु यह है कि ज्योति तो दीपों मे भी होती है, पर वायु एवं पतंगों से उनके बुझने का भय होता है। मणि का प्रकाश एक रस रहता है, यथा—'परम प्रकास रूप दिन-राती।' (उ० दो० ११८)

(४) 'हिय होती'—सिद्धांजन आदि लगाने से बाहर की दिव्य दृष्टि होती है। यंत्र, मंत्र आदि से देवता द्वारा एवं ज्योतिष से बाहर की दृष्टि अधिक होती है, परन्तु हृदय के ज्ञान विराग रूप नेत्र ऐसी दिव्य मणियों के प्रकाश से ही खुलते हैं।

(५) शंका—'रज' का प्रसग फिर आगे कहेंगे, उसे अधूरा छोड़कर बीच मे नखों का प्रसंग क्यों कहने लग गये ?

समाधान—आगे दोनों का मेल दिखाना है, अत, प्रथम चार अर्द्धालियों मे 'रज' का प्रसग कहकर यहाँ से चार ही में नख प्रकाश का भी गुण दिखाते हैं, नख-प्रकाश से जब हृदय के निर्मल नेत्र उघरेंगे, तब अजन की आवश्यकता होगी। फिर अजन रूप में 'रज' का प्रसग चलेगा।

दलन मोहतम सोसुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू ॥६॥

शब्दार्थ—सोसुप्रकास=सो-सुप्रकासू=वह सुन्दर प्रकाश अथवा (सोसु=सहस्रांशु=हजार किरणोंवाले, सूर्य) सूर्य का प्रकाश।

अर्थ—(क) (नख का) वह सुन्दर प्रकाश मोह रूपी अधकार का नाश करनेवाला है। जिसके हृदय में (नख प्रकाश का ध्यान) आवे, उसके बड़े भाग्य हैं।

(ख) वह सुन्दर प्रकाश मोह रूपी अधकार नाश करने को सूर्य के प्रकाश के सामान है।......

विशेष—

(१) अर्थ (क) के अनुसार—'बड़े भाग'—जैसे अनमोल मणियाँ भाग्यवान् ही को प्राप्त होती हैं, वैसे गुरु पद नखों की ध्यान रूपी परम भक्ति बडे भाग्य के उदय पर ही होती है, यथा—"जे गुरुपद अबुज अनुरागी। ते लोकहु वेदहु बड भागी॥" (अ० दो० २५८) अर्थात् यह भक्ति अति दुर्लभ है।

(२) अर्थ (ख) के अनुसार मणियों में सामान्य प्रकाश विचार कर उनके साथ सूर्य के प्रकाश से तुलना की।

(३) शंका—'महामोह तमपुज' का तो नाश कर चुके, अब यहाँ 'दलन मोहतम' की क्या आवश्यकता पडी ?

समाधान—महामोह और मोह दोनों पचपर्वा (तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अधतामिस्र—ये पाँच पोरों वाली) अविद्या में पृथक् पृथक् माने गये हैं, अत, यहाँ दोनों का नाश भी भिन्न भिन्न उपाय से कहा। यहाँ भी ग्रथकार की विलक्षण सँभाल है कि महामोह का नाश मुख से वचन द्वारा कहा और मोह महामोह से प्रजा की भाँति छोटा है, उसके लिये पैरों के नखों को ही योग्य समझा, अत मुख से मुखिया को और चरण से प्रजा को जीता।

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के ॥७॥

शब्दार्थ—बिलोचन ही के हृदय के दोनों नेत्र—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' (उ दो० ११९)

अर्थ—(उक्त नखों के प्रकाश से) हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं तथा ससार रूपी रात्रि के दोष और दुःख मिट जाते हैं।

विशेष—

(१) शंका—'उघरहिं' से प्रथम बद रहना सूचित होता है। मन-मुकुर की शुद्धता एव 'दिव्य दृष्टि हिय होती' से तो हृदय के नेत्र शुद्ध थे ही, फिर बद क्यों थे ?

समाधान—जब तक सूर्य का प्रकाश न था, तब तक 'भवरजनी' थी। अँधेरे मे नेत्र खुलकर ही क्या करते ? उजाला होते ही लोग जागते हैं और नेत्र भी खोलते हैं। जब रात्रि का दोष रूप अधकार दूर

हुआ और दु:ख रूप चोर, साँप, बिच्छू आदि का भय मिटा तब नेत्रों का भी खुलना योग्य ही है। अतः, नख-सूर्य का प्रकाश कहकर नेत्रों का खुलना कहा।

(२) 'दोष दुख'—'भव-रजनी' का दोष अविद्या रूपी तम (अंधकार) है, चोर रूप कामादि, राग आदि सर्प, मत्सर आदि बिच्छू अविद्या रात्रि के दु:ख हैं। मोह रूपी तम से न सूझना भी दु:ख ही है। यथा—'मत्सर मान मोह मद चोरा।' (उ० दो० ३०), 'रागादि सर्प गन पन्नगारि। (वि० ६४), 'मोह आदि तम मिटइ··· ' (उ० दो० ११७)।

(३) बाहरी नेत्रों के देवता सूर्य हैं, सूर्य से उनमें प्रकाश होता है, वैसे ज्ञान विराग रूपी नेत्रों के देवता नख-रूपी सूर्य हैं, अत , नखों के प्रकाश से नेत्रों का 'उघरना' कहा।

(४) मणिगण रूप नखों की ज्योति से दिव्य दृष्टि हुई। जब रात का मिटाना हुआ, तब सूर्य की उपमा दी, वस्तु दीखने लगी। फिर नेत्रों का खुलना योग्य ही है।

सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥८॥

अर्थ—(क) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ और जिस खान में गुप्त और प्रकट हैं, देख पड़ने लगते हैं।

(ख) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ जिस खान में गुप्त हैं, वे प्रत्यक्ष देख पड़ने लगते हैं।

विशेष—

(१) अर्थ – (क)—'मनि-मानिक—मणि सर्प में गुप्त रहती है, दैव-योग से मिलती है, पारखी (मर्मी) की समझ से बाहर है, वैसे ही गुप्त चरित भी श्रीरामकृपा होने पर अनुभवी संतों से मिलते हैं, *यथा—'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' (सु० दो० ६) गुप्त चरित—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।"* (बा० दो० १६५), "प्रभु चरित काहु न लखे, नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।" (ल० दो० १०७); इत्यादि। माणिक्य पर्वतों और खानों में होता है, उसके मर्मी उसे जानते हैं, वैसे श्रीरामचरित वेद-पुराण रूपी पर्वतों में गुप्त है, सज्जन (विद्वान्) मर्मी हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥ मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी······" (उ० दो० १२१)। यह माणिक्य रूप बाह्य चरित मर्मी से मिलता है, अत , प्रकट कहा। प्रमाण—"मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहिगिरि गज सिर सोह न तैसी॥" (बा० दो० १०), इसमें यथासंख्यालंकार से 'अहि' में मणि और 'गिरि' में माणिक्य कहा है।

(२) अर्थ (ख)—'जहँ जो जेहि खानिक'—इसमें कोई-कोई अनेक रसों के चरित्रों का भाव लेते हैं—*शृंगार-श्याम, करुणा-पीत, वीर-लाल, वात्सल्य हरा, शांत श्वेत इत्यादि। लंका में वीर, लक्ष्मण के* शक्ति-प्रसंग में करुणा, फुलवारी में शृंगार इत्यादि। सूझना = रसानुसार चरित चित्रण होना है।

(३) आवृत्तियाँ—१—रज मुक्त-मुमुक्षु विषयी से सेव्य, २—रज मन कर्म वचन से सेव्य, ३—रज मारणादि चार प्रयोगों का साधक, ४—लिंग-त्रय में रज की महिमा, ५—सात गुण रज के और सात ही नख-प्रकाश के कहे गये हैं, ६—रज का छः प्रकार से सेवन, ७—रज से भवरोग का, नख-प्रकाश से भव के दोष दु:ख का और श्रीरामचरित में भय का (स्वयं) भी मिटना तटस्थ हो में कहते हैं। इन भेदों से सात आवृत्तियाँ इस प्रसंग में हैं।

सम्बन्ध—चार-चार अर्द्धालियों में रज और नख-प्रकाश कहकर अब कहते हैं कि साधक आदि सिद्धांजन से भूतल आदि के द्रव्य देखते हैं, वैसे मैं रज-रूप अंजन से श्रीरामचरित का अनुभव करता हूँ।

दोहा

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥१॥

शब्दार्थ—सुअंजन = सिद्धांजन—जिसको नेत्रों में लगाने से भूमि में गड़ी वस्तुएँ, पहाड़ों में खानें और जल एवं वन के गुप्त पदार्थ देख पड़ते हैं। भूरि निधान = अनेक लयस्थान।

अर्थ—जैसे नेत्रों में सिद्धांजन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान लोग पहाड़ों, वनों और पृथिवी पर अनेक लयस्थानों के कौतुक देखते हैं।

विशेष

(१) जीव तीन प्रकार के हैं—विमुक्त, विरत और विषयी (प्रमाण उ० दो० १४ में देखिये), इसीसे यहाँ भी तीन 'साधक-सिद्ध सुजान' कहे। इससे यह दिखलाया कि जीव की योग्यता से प्रयोजन नहीं, अंजन के प्रभाव से ही देख पड़ता है। ऐसे ही 'रज' के सब अधिकारी हैं, द्रव्य देखने में साधक प्रधान होते हैं; अतः इसे प्रथम रक्खा।

(२) निधान का अर्थ कोश में लयस्थान (जहाँ कोई वस्तु अदृश्य रूप में गुप्त हो) लिखा है और कौतुक का अर्थ आश्चर्य भी होता है। अतः, शैल आदि के अनेक गुप्त स्थलों के आश्चर्यजनक पदार्थ भी दीखते हैं, जैसे—पहाड़ों में माणिक्य। वन का अर्थ जल भी है; अतः उसमें मुक्ता और 'भूतल' (भू + तल = बिल) में सर्पों की मणि आदि देख पड़ती हैं। जगत् में तीन स्थान हैं—नभ (आकाश), स्थल और जल। पहाड़ों से नभ, 'भूतल' से स्थल और वन से जल कहा। वन का अर्थ जंगल लेने से वहाँ दिव्य ओषधियों को देखते हैं।

(३) प्रश्न—'जथा···' मे उपमान कहा गया है, उपमेय में रज-रूपी अंजन से 'रामचरित' ही आगे कहा है, उसमें शैल आदि की गुप्त बातें क्या हैं ?

उत्तर—(क) वेद-पुराणादि पर्वतों मे राम-कथा रूपी खानें हैं, जिनमें माणिक्य रूप चरित हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद-पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना" (उ० दो० ११६), चराचर संसार ही वन है, उसमें अंतर्यामी श्रीरामजी के बहुत चरित्र हुआ करते हैं, जो भवरोग के दिव्य ओषधि रूप हैं। यथा—'संसारकान्तार अतिघोर गंभीरघन ' (वि० ५६), सिद्ध भक्तों का हृदय 'भूतल' है, उनके अनुभवात्मक श्रीरामचरित मणि हैं। यथा—"शंकर-हृदय भक्ति भूतल पर··" (गी० उ० १५)।

(ख) श्रीचित्रकूट-सुवेल आदि पर्वत, दण्डकादि वन और श्रीअवध-मिथिला आदि 'भूतल' हैं; इन स्थलों में होनेवाले गुप्त प्रकट चरित ही मणि, माणिक्य और मुक्ता हैं।

सम्बन्ध—दोहे में उपमान कहा, अब उपमेय-रूप रज-अञ्जन का वर्णन करते हैं—

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग-दोष-बिभंजन ॥१॥

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों का रज कोमल स्वच्छ अंजन है, (यह) नयनामृत नेत्रों के दोषों को दूर करनेवाला है।

विशेष—

(१) यह अंजन नेत्रों के लिये अमृत-रूप है, इसीसे इसका नाम 'नयनामृत' है। श्रीरामचरित के सम्बन्ध में 'ज्ञान-विराग' नेत्र हैं (उ० दो० ११९); इन्हीं से चरित दीखना लिखा है—'ज्ञान नयन निरखत मनमाना।' (बा० दो० ३९); इन नेत्रों के दोष अहं-मम हैं, यथा—"कबिहिं अगम जिमि ब्रह्म-सुख, अह मम मलिन जनेपु॥" (अ० दो० २२५); अर्थात् चरित गुरु-द्वारा प्राप्त होने से 'मैंने शास्त्रों द्वारा ज्ञान से प्रकट चरित जाना एवं वैराग्य से चित्त एकाग्र करके अनुभव से गुप्त चरित जाना' आदि दृग-दोष नहीं रहते। अतः, 'दृग-दोष-विभंजन' यह इसका गुण है। अंजन लगाने में मृदु और देखने में सुन्दर है, अर्थात् तत्त्वज्ञ गुरु दयालु होते हैं, अतः सेवन में मृदुता है, तत्त्वार्थ बतला देते हैं, शास्त्र-मंथन-रूप कठिनाई नहीं पड़ती। गुरु-मुख से चरित प्राप्त करने में शोभा है, यही सौंदर्य है।

(२) प्रथम रज और नख-प्रकाश को समान कहा। अब यहाँ रज-द्वारा ही चरित-वर्णन करते हैं, इससे यह दिखलाया कि मैं रज का ही अधिकारी हूँ।

तेहि करि विमल विवेक विलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥२॥

अर्थ—उस अंजन से ज्ञानरूपी नेत्र स्वच्छ करके भव (संसार) को छुड़ानेवाले श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ।

विशेष—

'तेहि करि...' नख-प्रकाश से भी विवेक-नेत्र खुलता (निर्मल होता) है, यथा—'उघरहिं बिमल...' और उससे भी श्रीरामचरित सूझता है—'सूझहिं रामचरित...'; पर मैंने रज अंजन से ही दृग दोष रूप अज्ञान का निवारण कर ज्ञान-नेत्र से वर्णन करता हूँ अर्थात् नख-प्रकाश और रज-अंजन का प्रभाव बराबर है—

मिलान

नख प्रकाश	रज
उघरहिं बिमल विलोचन ही के।	(१) तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन।
सूझहिं रामचरित मनि-मानिक॥	(२) बरनउँ रामचरित भवमोचन॥
मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के।	(३) समन सकल भव-रुज-परिवारू।

सिद्धांजन से बाहरी नेत्र और रज-रूप अंजन से हृदय के नेत्र निर्मल होते हैं; अतः, उपमेय में बहुत विशेषता है।

श्रीगुरु-देव-वन्दना-प्रसंग समाप्त

बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना। मोह-जनित संसय सब हरना ॥३॥

अर्थ—मैं प्रथम ब्राह्मणों के चरणों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न सब सन्देहों के हरनेवाले हैं।

विशेष—

(१) चार सोरठों में स्वर्ग के देवों की वन्दना का एक प्रकरण हुआ। फिर 'बरनउँ राम चरित भव-मोचन' तक 'नर रूप हरि' कहकर ईश्वर-कोटि ही में गुरु वंदना-प्रकरण हुआ। अब तीसरा प्रकरण

प्रारंभ करने के अवसर पर प्रथम-प्रथम पृथ्वी के देवता-रूप ब्राह्मणों की वंदना करते हैं, क्योंकि पृथ्वी तल में वे ही श्रेष्ठ हैं। 'महीसुर' शब्द ही से प्रथम शब्द का भाव एवं ब्राह्मणों की वन्दोग्र-योग्यता दिखाई कि चारों वर्णों में वे प्रथम हैं। अतः, प्रथम शब्द साभिप्राय है।

(२) 'मोह-जनित······'—मोह देहाभिमान को कहते हैं, इससे देह के हितैषियों में राग और विपक्षियों में द्वेष होता है, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४); राग-द्वेष सर्व-शरीरी ब्रह्म को न जानने से होते हैं, क्योंकि जगत् भगवान् का शरीर है। भगवान् अपने व्यष्टि अर्थात् विभिन्न शरीरों से तत्तत्कर्मानुसार (उन-उन जीवों के कर्मानुसार) उनके साथ यथायोग्य ही व्यवहार कर रहे हैं, जैसे—मनुष्य अपनी देह के फोड़े को एक हाथ से चीरता है और दूसरे से उसमें दवा भी भरता है। ये सब संशय ब्राह्मण लोग कथा-द्वारा दूर करते हैं, क्योंकि कथा ब्राह्मणों से सुनी जाती है।

सम्बन्ध—प्रथम गुरु-वंदना की, तब विप्रों की वंदना की, क्योंकि विप्र श्रीराम-रूप हैं, यथा—'मम मूरति महिदेवमयी है।' (वि० १३६); गुरु को उनसे भी श्रेष्ठ मानना कहा है—"तुम्हते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥" (अ० दो० १२८); यही चरितार्थ भी है, यथा—"पुनि बसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये।··· विप्र वृन्द बन्दे दुहुँ भाई।" (बा० दो० ३०७) तथा—"पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सबबिधि करहु भूमिसुर-सेवा॥" (अ० दो ५), अतः, श्रीगुरु के पीछे ब्राह्मणों की वंदना की।

विप्र पूजन का फल संतों का मिलना है, यथा—"पुन्य एक जगमहँ नहिं दूजा॥ मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥" (उ० दो० ४४); ऐसे पुण्य-समूह हों, तब संत मिलते हैं; यथा—"पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४); इस नियम के चरितार्थ-द्वारा संसार को शिक्षा देते हुए, विप्र-वंदना के पीछे अब सुजन-(संत)-वंदना करते हैं।

सुजन-समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥४॥

अर्थ—(मैं) सर्व गुणों की खान सज्जनों (साधुओं) के समाज को, प्रेम-सहित सुन्दर वाणी से प्रणाम करता हूँ।

विशेष—

(१) 'सुजन ···'—जैसे माणिक्य और चाँदी इत्यादि की खानें होती हैं, वैसे संत-समाज भी गुणों की खान है। जो इन संतों का संग करेगा, उसीको शुभ गुण प्राप्त होंगे। यहाँ 'गुनखानी' के साथ 'सुजन', आगे परोपकार साधक गुण के साथ 'साधु' और मुद-मंगलमय के साथ इन्हें ही 'संत' भी कहेंगे। यद्यपि ये तीनों शब्द पर्यायी हैं, तथापि गुणों के अनुसार शब्दों में कुछ भेद भी ध्वनित किये। 'सुबानी'—यथा—"अर्थ बड़ो आखर अलप, मधुर श्रवण सुखदानि। सोंची समय सुहावनी, कहिये ताहि सुबानि॥" (बैजनाथ-टीका)

सम्बन्ध—'गुनखानि सुजन समाज' के गुणों का अब विस्तार करते हैं—

साधु-चरित सुभ चरित-कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥५॥

अर्थ—साधु-चरित कपास के चरित से शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय होता है।

विशेष—

यहाँ विशेषणों के सब शब्द श्लिष्ट हैं जो साधु और कपास दोनों विशेष्यों में लागू हैं। कपास-चरित उपमान और साधु-चरित उपमेय है। कपास के फल में तीन भाग होते हैं; अतः, तीन ही

विशेषण भी दिये गये हैं। 'सुभ'—अभिप्राय यह है कि ये संत शुभ ही कर्म करते हैं एवं कपास से अधिक शुभ हैं। फल का अर्थ कपास-पक्ष में वनस्पति-विकार और साधु-पक्ष में कर्म-परिणाम है।

जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥६॥

अर्थ—जो दुःख सहकर पराये दोषों को ढक लेते हैं, जिससे वे जगत् में वंदनीय हैं। उन्हीं को यश प्राप्त है।

विशेष—

कपास और साधु चरित का मिलान (क्रमशः)

कपास	साधु
'निरस' है=इसमें रस नहीं होता।	(१) साधु काम-क्रोधादि विकारात्मक रसों से रहित होते हैं, इसीसे विषय में लिप्त नहीं होते—'बिगत काम…' 'बिषय अलंपट…' (अ० दो० ३०), 'तो नव रस षट रस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।" (वि० १७०) या चरित का फल नीरस है=वे अनासक्ति भाव से कर्म करते एवं भोगास्वाद नहीं चाहते हैं।
'बिसद'=उज्ज्वल है।	(२) साधु के कर्म निष्काम और भक्ति रूप में सात्त्विक होते हैं। इसी कारण इनका हृदय निष्काम एवं चरित्र उज्ज्वल होता है। यथा—"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा।…हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५)।
'गुनमय'=सूत्रमय है।	(३) सन्त भी गुणमय हैं—"सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ।" से "सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥" (अा० दो० ४५) तक।
फल=तीन फाँकें, छिलके, बिनौले और रुई।	(४) साधु के तीन गुण फाँकें, तीन अवस्थाएँ छिलके और तीनों गुणों के अभिमान बिनौले हैं। इन तीनों पदार्थों को प्रकृति का कर्तृत्व मानते हुए अपने को उनसे पृथक् मानकर रुई की तरह तुरीयावस्था ही को सार समझ ग्रहण किये रहते हैं, यही परिणाम (फल) अवस्था है।
'सहि दुख'=प्रथम ओटी जाती है, फिर धुनकी से रेशा अलग कर काती जाती है, फिर वह सूत के रूप में बाँटी और पीटी जाती और वस्त्र के रूप में बुनी जाती है और अंत में सुई से छेदी जाती है।	(५) साधु का जन्म गृहस्थी में होता है। वे उसकी ममता के त्याग का कष्ट तथा गुरु के यहाँ की शिक्षा एवं परीक्षा का कष्ट पाते हैं; ज्ञान-विराग एवं भक्ति के साधनों का कष्ट और तीर्थाटन में शीत-उष्णादि कष्ट सहते हैं, पराये हित के लिये भी कष्ट सहते हैं। खलों के अपकार भी सहते हैं।
परछिद्र दुरावा=वस्त्र-रूप होकर दूसरे की (गुह्य-उपस्थ आदि) छिद्रात्मक इन्द्रियों के साथ शरीर को ढकती है।	(६) साधु दूसरों के अवगुणरूप छिद्रों को छिपाते हैं, यथा—"गुन प्रगटहिं अवगुनन्हि दुरावा।" (कि० दो० ६); अर्थात् उपदेश से गुण प्रगट करते हैं और पहले के रहे हुए अवगुण छुड़ा देते हैं। वे अवगुण फिर देखने में न आवें; यही ढकना है।

प्रश्न—उक्त रीति से संतों के चरित दूसरों के लिये होते हैं, तब उन संतों का उद्धार कैसे होता है ?

उत्तर—साधुओं के साधन ऊपर कहे गये हैं, उनसे सम्पन्न होकर विश्वरूप श्रीरामजी की ही उपासना परोपकार के रूप में भी करते हैं। यथा—"सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम।" (उ० दो० १६); तथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ३); इसीसे वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं, यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।" (गीता १२।४)।

मुद-मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥७॥

शब्दार्थ—मुद-मंगलमय = भीतर-बाहर सुखमय। जंगम = चलनेवाला।
अर्थ—संत-समाज मुद-मंगलमय है जो जगत् में चलता-फिरता प्रयाग-राज है।

विशेष—

संत-समाज में भक्ति-सम्बन्धी परमानन्द और ज्ञानात्मक ब्रह्मानन्द-रूप में 'मुद' और भगवान् के सम्बन्ध के उत्सवादि में बाह्य सुख रूप में 'मंगल' रहता है। 'जंगम' शब्द से स्थावर प्रयाग से इसमें विशेषता दिखाई है। यहाँ से प्रयाग का सांग रूपक कहते हैं—

राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा॥८॥
बिधि-निषेधमय कलिमलहरनी। करम-कथा रबि-नंदिनि बरनी॥९॥
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥१०॥
बट बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथ साज समाज सुकर्मा॥११॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-बिचार-प्रचार = ब्रह्मज्ञान कथन करना। बिधि = ग्राह्य कर्म। निषेध = त्याज्य कर्म। हरिहर-कथा = भगवत्-भागवत-कथा। हरि = भगवान्। हर = शिवजी। वे भागवत हैं, यथा—'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (श्रीमद्भागवत)। निज धर्म = शास्त्र-दृष्टि से गुरुद्वारा उपदेश किया हुआ अपना धर्म। साज = सामग्री। समाज=समूह।

अर्थ—जहाँ (संत-समाज में) श्रीरामभक्ति गंगाजी की धारा है, ब्रह्म-विचार का कथन सरस्वतीजी हैं॥८॥ विधि-निषेधात्मक कर्मों की कथा, जो कलि के पापों को हरनेवाली है, यमुनाजी है॥९॥ भगवत् और भागवत- कथा त्रिवेणी रूप से शोभित है, (वह) सुनने से सब आनन्द मंगल की देनेवाली है॥१०॥ अपने धर्म में अटल विश्वास वट वृक्ष (अक्षयवट) है, शुभ कर्मों के समूह ही तीर्थ-राज के साज हैं॥११॥

विशेष—

(१) प्रयाग में श्रीगंगाजी श्रेष्ठ हैं और संतसमाज में श्रीराम-भक्ति श्रेष्ठ है। इसलिये प्रथम इन्हीं का कथन हुआ। दोनों की समता—(क) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं, यथा—'सर्वतीर्थमयी गंगा' तथा—"ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।''''''सब पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल''' " (उ० दो० ४८)। (ख) दोनों की उत्पत्ति हरिचरणों से है। भक्ति भी गंगा की तरह चरणों के ध्यान से उपजती है। (ग) दोनों छोटे-बड़े को पावन कर अपने समान बनाती हैं, यथा—"कर्मनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु

सीस नहिं धरई ॥" (अ० दो० १६१); पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि ······" (उ० दो० १३०); "निज संगी निज सम करत,'·····मलयाचल हैं संत जन·····" (वैराग्य सं० १४) । (घ) दोनों का शिवजी के यहाँ आदर है, यथा–'देवापगा मस्तके' (अ०मं०); 'संकर हृदय भगति भूतल ···' (गी०उ०१५)।

(२) यमुना और कर्मकथा की समता—(क) यमुनाजी की सूर्य से उत्पत्ति है और कर्म का सूर्योदय से (संध्यादि रूप में) प्रारम्भ । (ख) यमुना श्याम वर्ण हैं और कर्म कुछ अहंकार के सम्पर्क से श्यामल । (ग) 'जमुना कलिमलहरनि सुहाई ।' (लं० दो० ११९); 'कलिमलहरनी कर्मकथा' (उपर्युक्त) ।

(३) सरस्वती और ब्रह्मविचार की समता—(क) सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री हैं और ब्रह्मविद्या भी ब्रह्माजी ने प्रथम अथर्वा ऋषि से कही । (ख) सरस्वती गंगा-यमुना के मध्य में गुप्त रहती है और ब्रह्म विचार भी कर्म एवं भक्ति में गुप्त रीति से रहता है ।

(४) त्रिवेणी और हरिहर-कथा की समता—कथा में कर्म-ज्ञान-भक्ति तीनों साथ ही होते हैं ।

(५) अक्षयवट और अपने धर्म में अटल विश्वास—(क) वट का प्रलय में भी नाश नहीं होता, वैसे संत का विश्वास आमरण बना रहता है – " कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग ॥" (लं० दो० ३३) । (ख) दोनों शिव-रूप हैं—"प्राकृतहु बट बूट बसत पुरारि हैं ।" (क० उ० १३४) तथा— 'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' (बा० मं०) । (ग) प्रलय में अक्षयवट पर भगवान् रहते हैं, वैसे ही विश्वास में भगवान् रहते हैं ।—"बिनु बिस्वास भगति नहि, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ॥" (उ० दो० ९०) कहा है ।

(६) तीरथ-राज—"त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकीम् । वंदेऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥" कहा है, वैसे संतों में पाप-नाशक सुकर्म-समूह के आचरण होते हैं ।

(७) 'राम-भगति······'—'जहँ' का भाव यह कि उत्तमा भक्ति यहीं (संतसमाज में) है । 'धारा' उत्तम भक्ति भी तैल धारा के समान कहाती है । 'ब्रह्म-विचार'—संत-समाज में ही गुप्त रूप से सरस्वती की तरह रहता है, क्योंकि और लोग उसके अनधिकारी होते हैं । कर्म भी अधिकारी से ग्राह्य है । भक्ति का अधिकारी सर्व जगत् है । गंगाजी में मिला होने से आगे श्रीसरस्वती का जल भी सबको सुलभ हो जाता है, वैसे ही भक्ति के सहारे ब्रह्मविद्या भी सबको सुलभ हो जाती है, यथा—'जुग बिच भगति देवधुनि-धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥" (बा० दो० ३१)

(८) हरिहर-कथा को वेणी कहा, क्योंकि कथा भी धारा-प्रवाह के तुल्य कही जाती है या हरिहर-कथा में उपर्युक्त तीनों धाराएँ शोभित होती हैं, क्योंकि इसमें उसी कथा का विस्तार है ।

(९) पहले 'कर्म-कथा' को यमुना कहा है, उसका तात्पर्य कर्मशास्त्र से है, जिसमें उसके विधि-निषेध कहे गये हैं और 'समाज सुकर्मा' का सुकर्म-समूह के आचरण से तात्पर्य है; अतः, पुनरुक्ति नहीं है ।

सम्बन्ध—आगे संत-समाज में प्रयाग से अधिकता दिखाते हैं—

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥१२॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥१३॥

शब्दार्थ—अलौकिक = लोक से परे । कलेस = क्लेश, दुःख । दुःख योग-सूत्र में ५ प्रकार के माने गये हैं— 'अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः ।' (अस्मिता = अहंभाव, अहंकार । अभिनिवेश = मृत्यु का भय ।)

अर्थ—संत-समाज रूप प्रयाग सभी को, सब दिन और सभी देशों में सुलभ है, आदर पूर्वक सेवन करने से यह क्लेशों का नाश करनेवाला है ॥१२॥ यह तीर्थ-राज अलौकिक है और (इसकी महिमा) अकथनीय है। इसका प्रभाव (ऐसा) प्रसिद्ध है कि यह तुरत फल देता है ॥१३॥

विशेष—

(१) उपमेय में उपमान से अधिक अभेदरूपक—(व्यतिरेक अलंकार)-द्वारा विशेषता दिखाते हैं—

प्रयाग	संत-समाज
स्थावर—एक ही जगह है।	(१) जंगम है, क्योंकि संत सर्वत्र विचरण करते हैं।
धनी और नीरोग को ही प्राप्त होता है, सबको नहीं।	(२) 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।'—ऊँच नीच, धनी-निर्धन—आदि सबको सुलभ है।
इसका विशेष माहात्म्य माघ महीने एवं मकर के सूर्य-सम्बन्ध में है।	(२) इसका माहात्म्य सब दिन एकरस रहता है सत्संग सब देशों में प्राप्त होता है, यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ, मग-लोगन्ह कर भाग। जनु सिंहलबासिन भयो, बिधि-बस सुलभ प्रयाग ॥" (अ० दो० २२३)
इसकी महिमा कथ्य है, यथा—'बंदी बेद-पुरानगन, कहहिं बिमल गुनग्राम।' (अ० दो० १०४)।	(३) इसका माहात्म्य अकथ्य है, यथा—"बिधिहरिहर कबि-कोबिद-बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २)।
यह लौकिक है=इसके अंग देख पड़ते हैं।	(४) इनके निष्ठा-विश्वास-भाव आदि अचिन्त्य हैं।
पंचप्रयाग तीर्थ हृषीकेश में दूसरा भी है, जो इससे अधिक भी कहाता है।	(५) इसके तुल्य और तीर्थ देवता आदि लोक में नहीं हैं, क्योंकि इसके सेवन से संत-स्वभाव तुरत प्राप्त होता है।
इससे चारों फल प्राप्त होते हैं; यथा—'चारि पदारथ भरा भँडारू।' (अ० दो० १०४,; पर मोक्ष मरने पर ही मिलता है; अतः, प्रभाव प्रकट नहीं है।	(६) इससे चारों फल इसी शरीर में शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। सत्संग से जीवन मुक्त हो जाता है। अतः, इसी शरीर में मोक्ष प्राप्त होता है। अतः, प्रभाव प्रकट है।

(२) 'जंगम', 'सबहिं', 'सब दिन', 'सब देसा' 'अकथ', 'अलौकिक' और 'सद्य' शब्द संत-समाज की विशेषता के सूचक हैं।

दोहा

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु - समाज प्रयाग ॥२॥

अर्थ—जो लोग एवं भक्त-जन साधु-समाज प्रयाग (की महिमा) को आनंदपूर्वक सुनकर समझते हैं और अनुराग के साथ (उसमें) स्नान करते हैं, वे इसी शरीर में चारों फल पा जाते हैं।

विशेष—

(१) संतों में सप्रेम सत्संग ही स्नान है, यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०); यहाँ सुनना किनारे पहुँचना, समझना धारा में हलना और अनुराग होना गोते लगाना है।

(२) 'सुनि' से श्रवण, 'समुझहिं' से मनन, 'मुदितमन' से निदिध्यासन (पुनःपुनः स्मरण) कहा गया है। फिर समझते हुए अति अनुराग-युक्त होना जीवन्मुक्तावस्था है।

(३) उपमान रूप प्रयाग के माहात्म्य को सुन तथा समझकर प्रसन्न मन से अनुराग-पूर्वक स्नान करे तो चारों फल मिलते हैं, पर मोक्ष तो मरने ही पर मिलता है।

सम्बन्ध—'अछत तनु' में भी कितने काल में प्राप्त होगा; अब यही कहते हैं—

मज्जन-फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥१॥
सुनि आचरज करइ जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई॥२॥
बालमीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥३॥

शब्दार्थ—पेखिय (प्रेक्षण)=देखा जाता है। बकउ=बगला भी। घटजोनी (घटयोनि)=अगस्त्यजी। होनी=क्या-से-क्या हो गये, वृत्तान्त।

अर्थ—संत-समाज रूपी प्रयाग में स्नान का फल तत्काल ही देखा जाता है कि कौए कोकिल और बगले भी हंस हो जाते हैं॥१॥ यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्संगति की महिमा छिपी हुई नहीं है॥२॥ वाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी ने अपने-अपने मुख से अपना-अपना वृत्तान्त कहा है॥३॥

विशेष—

(१) 'ततकाला' शब्द देहलीदीपक है, जो 'मज्जन-फल' के साथ भी है और 'काक-पिक' आदि के साथ भी। काक और बक कुत्सित पक्षी हैं और कोयल तथा हंस उत्तम। यथा—"जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल।" (अ० दो० २८१); भीतर-बाहर की शुद्धि दिखाने के लिये दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

'काक होहिं पिक'—काक कटुभाषी और (निंब आदि) तिक्त फल खानेवाला होता है। कोयल मधुर भाषी और सरस (आम्रादि) फल खानेवाली होती है, बाहरी रूप दोनों का मिलता हुआ होता है। कटुवादी और विषयी ["बिषय निंब कटु लगत न ताही।" (वि० १२०)] लोग कौए के समान हैं। वे सत्संग में पड़ने से मधुर भाषी और श्रीराम-नाम का कीर्त्तन करनेवाले हो जाते हैं, यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १६) और भगवत्प्रसाद सात्त्विक भोजन करने लगते हैं। यह उनकी बाह्य शुद्धि हुई। यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविता-शाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम्॥" यह प्रसिद्ध है।

'बकउ मराला'—बक के समान जो दुष्ट दंभी और कपटी होते हैं, वे सत्संग से विवेकी और सुहृद् हो जाते हैं। यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥" (बा० दो० ६) यह भीतरी शुद्धि हुई अर्थात् सत्संग से प्रथम बाह्य आचरण सुधरता है, तब भीतरी शुद्धि होती है, यह क्रम का भाव हुआ।

(२) ऊपर चारों फलों की भाँति इसी शरीर से बतलाई थी। अब यह दिखाते हैं कि उनमें अनेक गुण भी आ जाते हैं और रूप वही बना रहता है। बगले और हंस में, बाहरी आकृति में, कौए और कोयल का-सा सादृश्य नहीं होता, चरणों तथा चोंचों के रंग और चाल में भेद होता है, पर उनके अंतरंग से ही उपमा का प्रयोजन है।

काक-चक का स्वभाव बदल जाना कहा गया, यह आश्चर्य है, यथा—"एष मे सहजो दोषः स्वभावोदुरतिक्रमः।" (वाल्मी० यु०) तथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (गीता ३।३३) अतः, संदेह-निवारण के लिये कहते हैं—

(३) 'सुनि आचरज''' महिमा बढ़ाकर कही गई जान पड़ती है। अतः, प्रसिद्ध प्रमाण की आवश्यकता हुई। इसीसे कहा कि सत्संगति की महिमा छिपी नहीं है। यदि कहो कि काक से पिक आदि कौन-कौन, कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे हुए? तो इसको सत्य सिद्ध करने के लिये प्रसिद्ध महात्माओं की स्वयं कही हुई घटनाएँ—आत्मकथाएँ—कहते हैं।

(४) 'बालमीकि''' 'इन तीनों महात्माओं की उक्तियों को संसार प्रमाण-रूप में मानता है। वाल्मीकिजी के आश्रम पर जब श्रीरामजी गये थे, तब उन्होंने अपनी कथा कही थी। सत्संग के अवसर पर श्रीनारदजी ने व्यासजी से और अपने आश्रम में अगस्त्यजी ने शिवजी से अपना वृत्तान्त कहा था। यथा—"एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥" (बा० दो० ४७)

महर्षि वाल्मीकिजी ने अध्यात्म रामायण (अयोध्या कांड, सर्ग ६) में अपना हाल श्रीरामजी से कहा है—"हे रघुनन्दन! मैं पूर्वकाल में, बचपन से, किरातों में पाला गया। जन्म तो विप्रकुल में था, पर आचार शूद्रों का रहा। शूद्रा स्त्री से मेरे बहुत पुत्र हुए। पीछे मैं चोरों के संग से चोर हुआ और धनुषबाण से जीवों का घात किया करता था। एक समय एक भारी वन में सात तेजस्वी मनुष्यों को देखकर उनके पीछे दौड़ा। उन मुनियों ने पूछा—'रे द्विजाधम! तू क्यों दौड़ा आ रहा है? मैंने कहा कि मेरे पुत्र स्त्री आदि हैं और वे बहुत भूखे हैं। अतः, आपलोगों के वस्त्रादि लेने के लिये आ रहा हूँ। वे डरे नहीं और प्रसन्न मन से बोले कि तू उन सब से पूछ आ कि वे इस पाप में भी भागी होंगे या नहीं? मैंने घर आकर हरएक से पूछा। उत्तर मिला—'नहीं।' यह सुनकर मेरे मन में वैराग्य हुआ। मैं खेद और ग्लानि के साथ मुनियों के पास गया। उनके दर्शनों से हृदय शुद्ध होने पर मैं उनके चरणों पर दंडाकार गिरा और दीन वचनों से अपने उद्धार की प्रार्थना की। उन्होंने आश्वासन देते हुए उठाकर कहा कि हमलोग तुझे उपदेश करेंगे, जिससे तू मोक्ष पावेगा। मुनियों ने परस्पर विचार कर मुझ अधम शरणागत की रक्षा के लिये 'मरा-मरा' जपने का उपदेश दिया और कहा कि जबतक हमलोग न लौटें, इसी जगह रहकर एकाग्र मन से जप कर। मैंने वैसा ही किया। नाम में लीन होने से देह की सुधि भूल गई। दीमकों ने देह पर मिट्टी का बेमौर (बाँबी) बना दिया। हजार युग बीतने पर वे मुनि लोग फिर आये और कहा कि बाँबी से निकल। सुनते ही मैं निकला, तब उन्होंने कहा कि तेरा (नया) जन्म बाँबी (वल्मीक) से हुआ, अत तू 'वाल्मीकि' नाम का मुनीश्वर है। हे रघुनन्दन! उसी के प्रभाव से ऐसा हुआ कि मुझे अपने घर बैठे सीता-लक्ष्मण सहित आपके दर्शन हुए।"

श्रीनारदजी ने श्रीमद्भागवत (स्कंध १, अ० ५-६) में श्रीव्यासजी से अपनी कथा कही है कि मैं एक वेदवादी ब्राह्मण की दासी का पुत्र था। एक समय उसके यहाँ कुछ ऋषि लोग चातुर्मास व्रत करने के लिये ठहर गये। मैं उनकी सेवा करता और उनका उच्छिष्ट भोजन मुझे मिलता था। उससे ज्ञान-दृष्टि हुई। भगवत् कथा सुनने एवं सत्संग से भगवद्धर्म में सप्रेम निष्ठा बढ़ी। व्रत की पूर्त्ति पर ऋषियों के जाते समय

उनके साथ जाने के लिये मैं रोने लगा। मेरी दीनता पर इन ऋषियों ने भगवान् के दर्शनों के लिये उपाय बतलाया। उससे ईश्वर में पराभक्ति हुई। मेरी माँ औरों की सेवा कर मुझे पालती थी। मेरी ज्ञानवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई। माँ सर्प काटने से मर गई। तब मैं घोर वन में जाकर एक पीपल के नीचे भगवान् का चिन्तन करने लगा और देह की सुधि भूल गया। तब भगवान् के दर्शन हुए। समय पर, काल प्राप्त होने पर, मैं भगवान् का पार्षद हुआ।

श्रीअगस्त्यजी की कथा—वाल्मीकीय उत्तर कांड में श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा है कि राजा निमि के शाप से वशिष्ठजी देह-रहित हुए, तब पिता ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि देह के बिना धर्म-कर्म एवं कोई भी क्रिया नहीं होती; अतः मुझे देह प्राप्त हो और मैं पुत्र आप ही का रहूँ। तब ब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि मित्रावरुण के तेज में जाकर प्रवेश करो जिससे अयोनि रहोगे। वशिष्ठजी ने वैसा ही किया।

एक समय श्रीशिवजी अगस्त्यजी के आश्रम पर श्रीरामचरित सुनने गये थे। तब उस प्रसंग में श्रीअगस्त्यजी ने आत्मकथा कही है कि मित्रावरुण ने एक बार यज्ञ किया। उसमें अनेकों ऋषि, सिद्ध और देवगण एकत्र हुए थे। सब ने मिलकर घट स्थापित किया और उसमें अपनी-अपनी शक्ति और तेज रक्खे। उसी घट से मेरी तथा वशिष्ठजी की उत्पत्ति हुई। उसी कुंभ में वशिष्ठजी के साथ मेरा सत्संग हुआ था।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥४॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥५॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥६॥

शब्दार्थ—जड़ = श्वास-रहित, ज्ञानशून्य (स्थावर)। चेतन = श्वास-सहित, ज्ञानयुक्त (जंगम)। जहान = संसार। गति = शुभ गति, मोक्ष। भूति = वैभव, वृद्धि।

अर्थ—जल, स्थल और आकाश में विचरनेवाले अनेकों जीव, जड़ या चेतन जो संसार में हैं ॥४॥ (इनमें) जब कभी और जिस यत्न से, जहाँ भी जिसने बुद्धि, कीर्त्ति, सद्गति, वैभव एवं भलापन पाये, वे सब सत्संग के ही प्रभाव से जानना चाहिये। लोक में भी तथा वेदों में (इनकी प्राप्ति का) दूसरा उपाय नहीं है।

विशेष—

(१) सृष्टि में प्रथम जल, तब स्थल और फिर नभचरों की प्रवृत्ति हुई तथा प्रथम जड़ पदार्थ हुआ, तब चेतन हुए, उसी क्रम से ये कहे भी गये हैं। ये जड़-चेतन विशेषण तीनों प्रकार के जीवों के साथ हैं। संसार के सभी जीव सत्संग से ही बढ़ते हैं।

(२) 'जलचर'—जड़ मैनाक पर्वत था, पवन और समुद्र के संग से सुमति उपजी, तब श्रीरामजी के दूत को विश्राम दिया। चेतन मकरी थी। श्रीहनुमान्जी के संग (स्पर्श) से सुमति उपजी और कालनेमि का छल बतलाया।

'थलचर'—जड़ वनों के वृक्षादि थे जिन्होंने श्रीरामजी और उनके भक्तों के संग से परोपकार कर कीर्त्ति कमाई। यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी ॥" (लं० दो० ४)

चेतन शबरीजी, सुग्रीवादि वानरों, जाम्बवान् आदि भालुओं, कोल-भील आदि जंगली मनुष्यों की सुमति एवं कीर्त्ति प्रसिद्ध है, यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥" (अ०दो० १२७)

'नभचर'—जड़ श्रीभरतजी के संग (दर्शनों) से मेघों को सुमति मिली। उन्होंने उनकी सेवा कर कीर्त्ति और गति पाई। यथा—"किये जाहि छाया जलद, सुखद बहइ बर बात। तस मग भयेउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात।" (अ० दो० २१६)। चेतन संपाति को चन्द्रमा मुनि के संग से सुमति हुई, यथा—"तिन्हहि देखाय दिहेसु तैं सीता।'''राम हृदय धरि करहु उपाई॥" (कि० दो० २८–२९) इत्यादि। सीताजी को दिखाने का और वानरों से भलाई का श्रेय मिला। बदले में दिव्य पंख, लोचन एवं गति को पाया।

उपर्युक्त सब जीवों ने मति-कीर्त्ति आदि प्राप्त कीं, सत्संग से प्रधानतया विवेक की प्राप्ति कही जाती है, यथा—'बिनु सतसंग विवेक न होई।' अतः, 'मति' को प्रथम कहा।

(३) इस प्रसंग का अर्थ यथासंख्यालंकार से यों होता है। 'जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन' ये पाँच प्रकार के जीव तथा 'मति, कीरति, गति, भूति और भलाई' पाँच ही प्रकार की प्राप्ति कही गई है। अत, क्रमश लगाना चाहिये—जैसे, जलचर मकरी को सुमति मिली। थलचर।(स्थलचर) गजेंद्र को (पूर्व के राजा इन्द्रदमन के शरीर मे) अगस्त्य का सग हुआ, उससे गजेन्द्र का शरीर पाकर विशाल कीर्त्ति मिली। गजेन्द्र-मोक्ष प्रसिद्ध है। नभचर जटायु को उस समय श्रीदशरथ महाराज का संग हुआ था, जब शनैश्चर-पराजय में इन्होंने राजा की सहायता की थी (पद्मपुराण में कथा है)। इससे सुमति पाकर श्रीसीताजी के लिये प्राण दिये और उत्तम गति पाई। जड़ अहल्या गौतम के संग (शाप) से श्रीरामजी का चरण-रज चाहती थी, जिसे पाकर पति की भूति को प्राप्त हुई। चेतन श्रीसुग्रीव-विभीषण आदि ने श्रीहनुमान्जी के संग से भलाई का श्रेय प्राप्त किया।

(४) संतों के संग से मति आदि पाँच फलों की प्राप्ति हुई और इनके विरुद्ध कामी के संग (विषय) से इन्हीं पाँचों का नाश भी कहा है, क्योंकि—'संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।' (उ० दो० ३३)। यह नियम है, यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥" (सुं० दो० ३०)। इसमें—'जो चाहइ' से उपर्युक्त जलचरादि सब जीव आ गये, और उपर्युक्त मति, कीरति, गति, भूति, भलाई—ये पाँचो यहाँ के सुमति, सुयश, शुभगति, सुख, कल्याण में क्रमश अभेद हैं। अत, ये पाँचो सुसंग से प्राप्त और कुसंग से नष्ट होते हैं।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥७॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥८॥

अर्थ—बिना सत्संग के विवेक नहीं होता और वह (सत्संग) श्रीरामजी की कृपा के बिना सुलभ नहीं है ॥७॥ सत्संगति आनन्द-मंगल की जड़ है, सब साधन फूल हैं, वही (सत्संगति) सिद्धि (रूप) फल है।

विशेष—

(१) इन दोनों अर्द्धालियों में सत्संग के दो साधन और दो फल कहे गये हैं। सत्संग का एक फल विवेक और दूसरा 'मुद-मंगल' हुआ। इसी तरह एक साधन तो श्रीरामकृपा है और अन्य फूल रूप में कथित

सब साधन हैं; क्योंकि फूल में ही सिद्धि-(परिपक्व अवस्था)-रूप फल कहा है। अतः, एक प्रकार का सत्संग कृपासाध्य और दूसरे प्रकार का साधनसाध्य है। कृपासाध्य का सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्य का मुदमंगल फल कहा है।

कृपासाध्य—"बिनु हरि-कृपा मिलहिं नहिं संता।" (सुं० दो० ६) "जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु-संगति पाइये।।" (वि० १३६)

साधनसाध्य—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।। पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन-क्रम-बचन बिप्रपद-पूजा।" (उ० दो० ४४)

(२) बिवेक—"कहहिं बेद इतिहास"—से "संत हंस गुन गहहिं पय,'''अस बिबेक जब देइ बिधाता।" (बा० दो० ५-६) तक में कहा गया है।

(३) इस प्रसंग में 'मुद मंगल' तीन बार तीन भावों के लिये आया है। यथा—'मुद-मंगलमय संत समाजू।'—संत मुद-मंगल के स्वरूप हैं। 'सुनत सकल मुद मंगल देनी।'—कथा सुनाकर मुद मंगल देते हैं। यहाँ 'मुद मंगल मूला' कहा है कि 'मुद मंगल' उत्पन्न करते हैं।

(४) यदि प्रथम 'मति-कीरति' आदि की प्राप्ति कही गई, तो सत्संग सब लोग क्यों नहीं करते? इसका उत्तर यहाँ है कि श्रीरामकृपा के बिना सत्संग की प्राप्ति नहीं होती।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परस कुधातु सुहाई॥९॥
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥१०॥

अर्थ—शठ सत्संग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहा शोभित होता है॥९॥ दैवयोग से सज्जन (यदि कभी) कुसंग में पड़ जाते हैं, (तो वे) साँप की मणि के समान अपने गुणों को ही व्यक्त करते हैं॥१०॥

विशेष—

(१) लोहा कुधातु है, पारस उसे सुधातु (सोना) बना देता है, तब वह शोभा पाता है। वैसे सत्संग से शठों की महिमा बढ़ती है और वे शोभा पाते हैं।

शंका—संत तो संगी को अपने समान करते हैं, यथा—'निज संगी निज सम करत,'''मलयाचल हैं संत जन,''' (वैराग्य सं० १८) और यहाँ तो पारस सोना मात्र ही बनाता है, पारस नहीं। यह क्यों?

समाधान—जो शठ नहीं हैं, उनको अपने समान करते हैं और शठ को नीच से उत्तम बनाते हैं। पुनः 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' का ही प्रसंग चल रहा है। अतः, तत्काल ही स्पर्श मात्र से उत्तम बनाते हैं। तत्काल का भाव दिखाने का भी यह दृष्टान्त है।

इस दृष्टान्त से यह भी दिखलाया कि सत्संग निष्कपट भाव से करना चाहिये, क्योंकि पारस और लोहे के बीच में यदि महीन भी कागज या कपड़े का अंतर रहे, तब वह सोना नहीं होता।

(२) 'बिधिबस'''—ऊपर पारस-लोहे के दृष्टान्त से दूसरों को सुधारना कहा। अब मणि के दृष्टान्त से दिखाते हैं कि उनके संग से स्वयं नहीं बिगड़ते। यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई।।" (उ० दो० १२१); बिधिबस अर्थात् जैसे मणि की उत्पत्ति सर्प के यहाँ हुई, वैसे

प्रारब्ध की प्रबलता से शठों के यहाँ सज्जनों का अवतार हो, तब ही वे कुसंगति में पड़ते हैं—कुछ अपनी इच्छा से नहीं पड़ते। 'परहीं' अर्थात् जैसे मणि सर्प के पास उसके जन्म भर भी रहे, तो भी उसके विष का दुर्गुण मणि में नहीं आता, प्रत्युत मणि विष ही को मारती है, वैसे संत शठ के यहाँ चाहे जन्म-भर भी पड़े रह जायँ, तो भी वे नहीं बिगड़ते ; प्रत्युत शठों को ही सुधारते हैं, जैसे श्रीप्रह्लादजी और श्रीविभीषणजी की कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

बिधिहरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥११॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक-बनिक मनि गन गुन जैसे ॥१२॥

शब्दार्थ—साक (शाक)=साग, भाजी वा काँच की पोत वा गुरिया। कोविद =(बृहस्पति के समान) पंडित।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि और कोविद की वाणी भी साधु-महिमा कहने में सकुच गई ॥११॥ वह (महिमा) मुझसे कैसे नहीं कही जाती, जिस प्रकार साग वा काँच की गुरिया बेचनेवाला मणियों के गुणों को नहीं कह सकता ॥१२॥

विशेष—

(१) ब्रह्मा आदि दिव्य ज्ञान वाले और ईश्वर-कोटि के सन्त मणि के जौहरी कहलाते हैं। वे भी इस रत्न का यथार्थ मोल नहीं कर पाते हैं तो उसकी महिमा कुँजड़े एवं गुरिया बेचनेवाले के समान मैं कैसे कह सकता हूँ ? महिमा कह देने में उतनी ही उसकी मिति हो जाती है, यही मोल कर देना है। संतों की महिमा अपरिमित है, क्योंकि सच्चे भक्तों के अधीन भगवान् सेवक की तरह रहते हैं, तब उनकी महिमा का क्या अन्दाजा है ? यथा—"अहं भक्तपराधीनोह्यस्वतंत्र इव द्विज ॥" (श्रीमद्भागवत)।

'सकुचानी'—इतने बड़े-बड़ों की भी वाणी असमर्थ होकर नहीं कह सकती है तो आश्चर्य है। अतः, लज्जा होती है। ग्रंथकार ने और जगह भी कहा है; यथा—"क्यों बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिबेक, सेष गनेस न कहि सकहिं ॥" (वैराग्य संदीपनी)।

इसपर एक आख्यायिका भी है कि किसी समय स्वर्ग में सब देवगण इकट्ठे हुए और साधु-महिमा कहने में उद्यत होकर श्रीब्रह्माजी को नियुक्त किया। उन्हें कहते हुए बहुत काल बीते। तब श्रीसरस्वतीजी की प्रेरणा से श्रीशिवजी नियुक्त हुए; क्योंकि वे पंचानन हैं। बहुत काल के पीछे देवताओं ने षडानन को नियुक्त किया; पर वे भी अंत न पा सके। तब श्रीपार्वतीजी की प्रेरणा से देवताओं ने शेषजी को नियुक्त किया; क्योंकि उनके सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वाएँ हैं; अतः शीघ्र साधु-महिमा कह लेंगे। इन्हें भी कई कल्प बीत गये, तब ये हार मानकर पाताल लोक में जा शिर झुकाकर बैठे, लज्जा से आज तक बैठे ही हैं। यथा—"सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्।" (स्कन्दपुराणे)।

दोहा

बंदउँ संत समान-चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ॥

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल-विनय सुनि करि कृपा, राम-चरन रति देहु ॥३॥

शब्दार्थ—सुम सुमन = उत्तम एवं सुगंधित फूल। कर = हाथ, करता है।

अर्थ—मैं समान चित्तवाले संतों को प्रणाम करता हूँ, जिनके कोई मित्र और शत्रु नहीं है और जो अंजलि में प्राप्त उत्तम फूल की तरह (दाहिने-बायें) दोनों हाथों को बराबर सुगंधित करते हैं ॥ संत सरल-चित और संसार के हितैषी होते हैं, ऐसा स्वभाव और स्नेह जानकर (विनती करता हूँ कि मुझ) बालक की विनती सुनकर कृपा करके (मुझे) श्रीरामचरण में प्रीति दीजिये ॥३॥

विशेष—

(१) 'बंदउँ' शब्द आदि में देने से दोनों दोहों के साथ अन्वित हो गया है। 'समान चित' से संतों को पराभक्तिनिष्ठ जनाया, यथा—"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४) प्रथम समान-चित्त कहकर फिर उसे 'हित अनहित नहिं कोउ' से स्पष्ट किया, पर इससे जगत् से उदासीन होने की शंका हुई; अतः 'अंजलि ·····' कहा। भाव यह कि एक हाथ फूल को तोड़ता है तो दूसरा ग्रहण करके रखता है। अतः, तोड़नेवाला शत्रु और रखनेवाला मित्र हुआ। फूल दोनों भावों पर दृष्टि न देकर दोनों हाथों को बराबर सुगंधित करता है, ऐसा ही सर्व-हितैषी स्वभाव संत का है, यथा—"काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥" (उ० दो० ३६)।

'संत सरल····· ' उपर्युक्त दोहों में कथित गुण लेकर इसमें अपना प्रयोजन प्रकट करते हुए कहते हैं कि संत सरल अर्थात् सीधे एवं निश्छल चित्त हैं; अतः मुझे भी वैसा ही निश्छल मानेंगे, यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरलचित, सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान॥" (अ० दो० २१७), फिर उनका जगत् हितैषी एवं स्नेही स्वभाव भी है, तब मुझ बालक की बिनती पर कृपा अवश्य होगी; मुझे श्रीरामचरण में रति प्राप्त होगी। आगे भी कहा है—'बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल (बा० दो० १४)।

'बाल-विनय'—बालकों की साधारण बात माता-पिता पूरी करते हैं, यदि वह विनय से भी कहे तो क्या कहना?

(२) 'समान चित' और 'सरल चित' में मन से; 'हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी'॥ में वचन से और 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।' में कर्म एवं शरीर से परोपकार करना दिखाया। यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

संत-वंदना प्रकरण का यहाँ उपसंहार हुआ जिसका उपक्रम "सुजन समाज सकल गुनखानी" से हुआ था।

संत-समाज एवं संत-वंदना प्रसंग समाप्त

बहुरि बंदि खल गन सतिभाये। जे बिनु काज दाहिनेहु बाँये॥१॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥२॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर (संत-वंदना के पीछे)। सतिभाये=सच्चे भाव से।

अर्थ—फिर (मैं) सच्चे भाव से खल-समाज की वंदना करता हूँ जो बिना प्रयोजन ही अपने हितैपियों के भी प्रतिकूल हो जाते हैं ॥१॥ पराये हित की हानि ही जिनका लाभ है तथा दूसरों के उजड़ने मे जिनको हर्ष और बसने में दु:ख होता है ॥२॥

विशेष—

(१) प्रश्न—एक तो खलों की वंदना और 'सतिभाय' से—ऐसा क्यों ?

उत्तर—(क) जैसे 'सुजन-समाज' को 'सप्रेम सुबानी' से प्रणाम किया है वैसे खलों के साथ भी चाहिये, क्योंकि अभी ऊपर 'संत समान चित······अंजलि—' से संत-लक्षण कह आये हैं। स्वयं आचरण करके दिखाया। संत ऐसा इसलिये करते हैं कि वे चराचर-रूप में भगवान् ही को देखते हैं, यथा—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३)। वे ही दैवी और आसुरी सम्पत्ति युक्त संसार में व्याप्त हो रहे हैं। अतः, 'सतिभाय' शब्द की सार्थकता होती है। अन्यथा व्यंग्य में कवि की गंभीरता मे दोप आवेगा।

(ख) इसका समाधान स्वयं ग्रंथकार ने भी किया है, यथा "तेहि ते कछु गुन दोप बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥" (बा० दो० ५); अर्थात् इस प्रसंग से संतों के गुण संग्रह के लिये और खलों के अवगुण त्याग के लिये कहे गये। अतः, इससे लोगों को ग्रहण और त्याग का उपदेश हुआ।

(२) 'वंदि' का अर्थ वन्दना करके भी है जो अपूर्ण क्रिया है। इसका भाव यह है कि अभी खल गण (साधारण खलों) की वंदना है, आगे इनके (खलों के) राजाओं की वंदना करेंगे, तब वहाँ पूर्ण क्रिया देंगे। यथा—"बंदउँ खल जस सेप सरोपा॥" से "सहस नयन परदोप निहारा॥" तक। अतः, प्रजा में अपूर्ण और राजा में पूर्ण वंदना देकर उनकी एकता और यथायोग्य बर्ताव भी दिखाया। अपूर्ण क्रिया से खल राजों को धैर्य भी देते हैं कि आपके गणों की वंदना करके शीघ्र ही आप की भी करूँगा।

(३) 'दाहिनेहु बाँये'—संत स्वयं दु:ख सहकर भी शत्रुओं की भलाई ही करते हैं, यह 'सम सुगंध कर दोउ' में कहा गया है। वैसे खल अपने दाहिनेहु अर्थात् हितैपियों का भी निष्प्रयोजन अहित करते हैं, यथा—"जो कर हित अनहित ताहू सों।" (उ० दो० ३८) "खल बिनु स्वारथ पर-अपकारी।" (उ० दो० १२०)। प्रयोजन के लिये वाम (शत्रु) के साथ साधारण लोग भी वाम होते हैं और ये विना प्रयोजन दाहिने (मित्र) से भी वाम होते हैं, यही इनकी विशेपता है।

(४) 'परहित हानि ···'—दूसरे की हानि देखकर इनको सुख होता है। 'उजरे हरप' किसी के यहाँ चोरी हो या आग लगे तो हर्ष होता है। यथा— "जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती॥" (उ० दो० ३९)।

'बिपाद बसेरे'—किसी का घर धन जन से पूर्ण देखकर इनको दु:ख होता है। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेपी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

हरि-हर-जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से ॥३॥
जे पर-दोप लखहिं सहसाखी। पर-हित घृत जिन्हके मनमाखी ॥४॥

शब्दार्थ—राकेस (राका + ईश = राकेश) पूर्णचन्द्रमा। से = सदश = समान। सहसाखी = सहस-आँखी, सह-साखी (साक्षी) और सहसा (बलात्) आँखी।

अर्थ—(खल) हरि-हर यश-रूपी पूर्ण चन्द्रमा के लिये राहु के समान हैं, दूसरे का कार्य बिगाड़ने के लिये सहस्रबाहु के समान योद्धा हैं ॥३॥ जो पराये दोषों को 'सहस्राखी' देखते हैं, दूसरे के हितरूपी घी में जिनके मन मक्खी (की तरह जा पड़ते) हैं।

विशेष—

(१) 'हरि-हर-जस''''' भगवान् और महादेव की कथा को पूर्णचन्द्र कहा, क्योंकि 'चदि-आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द बनता है अर्थात् चन्द्रमा अमृतमय किरणों से जगत्-मात्र को आह्लादित करता है, वैसे कथा के ज्ञानामृत से जगत् का उपकार होता है। पूर्णचन्द्र ही से राहु का वैर है। अतः, उसीको पूनो में ग्रसता है, अन्य तिथियों में नहीं। यथा—"बक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू।" (बा० दो० २८०); वैसे खलों का हरिकथा से वैर है, यथा—"संत-संग हरिकथा न भावा।" (उ० दो० ३६); क्योंकि कथा में उनका दोष प्रकट होता है। पूर्णचन्द्र-रूपा रसीली कथा यदि कहीं सौम्य स्वभाव के भोलेभाले पंडित कहते हैं, वहाँ खल जाकर तर्क करके विघ्न डालते हैं। यदि कोई ऐसा कुतर्क कर दे, जिससे कथा बन्द हो जाय तो यही सर्वग्रास होना है। हर पूर्णिमा को राहु नहीं ग्रसता, अपनी संधि पाकर ही ग्रसता है। यथा—"ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई।" (बा० दो० २३७); वैसे खल भी जिस प्रसंग में कुतर्क की संधि पाते हैं, उसी के अवसर पर आकर विघ्न डालते हैं। यदि पंडित वक्रोक्ति वाले हों तो उनकी कथा में नहीं आते, जैसे टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं ग्रसता।

(२) 'पर अकाज''''' सहस्रबाहु का नाम कार्तवीर्य भी है। यह कृतवीर्य का पुत्र था। इसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। भगवान् दत्तात्रेय ने इसे योग सिद्ध करा दिया था कि घर बैठे प्रजा के मन की बात जान ले। अतः, जैसे कोई किसी की हानि का विचार मन में लाता कि यह तुरत वहाँ धनुष-बाण लेकर पहुँच जाता; इससे प्रजा हानि से डरती थी। यह हजारों भुजाओं से एकसाथ ही सूर्य का तर्पण करता था। परशुरामजी के पिता जमदग्नि ऋषि से उनकी कपिला गाय बलात् छीन ले गया, फिर उन्हें मार भी डाला। इसीसे परशुरामजी ने इसका वध किया। सर्वदा इसके भुजाएँ दो ही रहती थीं; युद्ध आदि के अवसर पर हजार हो जाती थीं। यथा—"तस्य बाहु सहस्रं तु युद्धतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया ॥" (हरिवंश ३३।१५)।

सहस्रबाहु की तरह खलों के भी भुजाएँ दो ही हैं, परन्तु पर-हानि करने में इतना श्रम करते हैं, मानों हजार भुजाओं से हानि कर रहे हों। ये भी किसी का काम बनता सुनते हैं तब वहाँ जा पहुँचते हैं, तो उसे भय हो जाता है कि विघ्न न करें। जैसे उक्त राजा ने मुनि की गाय छीनने में अत्याचार किया वैसे ये भी पर वस्तु हरने में करते हैं। उसके पर (शत्रु) के अकाज में हजार भुजाएँ युद्ध के लिये होती थीं, ये पराये अकार्य में उतना ही पुरुषार्थ दो भुजाओं से ही कर दिखाते हैं।

(३) 'जे परदोष लखहिं''''' (क) यहाँ 'लखहिं' का अर्थ लक्ष्य करते हैं, यथा—"लखा न मरम राम बिनु काहू।" (अ० दो० २११)। जो दोष प्रकट नहीं है, उसे भी (खल) जान लेते हैं। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं; मानों हजार आँखों से देखते हों। (ख) वे दुष्ट हैं; अतः अकेले उनके कहने से लोग सत्य न मानेंगे, इसलिये साक्षी के सहित देखते हैं। (ग) 'सहसा-आँखी' = बलात् देख लेते हैं कि कोई दोष छिपाने भी न पावे।

(४) यहाँ पर 'पर-दोष लखहिं' और 'पर-दोष निहारा' कहा है, पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'लखहिं' का अर्थ गुप्त दोष के जानने में है और 'निहारा' का अर्थ प्रकट दोष देखने का है।

(४) 'पर हित घृत···' हित को घी के समान कहा, क्योंकि घी भी आयु एवं बल-वर्द्धक रूप से हितकर है। मक्खी घृत में पड़ने पर चिपक जाती है, उसका अंग भंग हो जाता है, लोग उसे निकाल फेंकते हैं, फिर वह मर जाती है। इसी प्रकार 'खल' भी पर-हित हानि में लगते हैं। यदि हानि न हो सकी तो मनोरथ-भंग से दुःख होता है यही अंग-भंग के समान है। इनकी बातें झूठी होने से फिर कोई विश्वास नहीं करता, यही मरने के समान है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा ॥५॥
उदय केतु सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके ॥६॥
पर-अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ॥७॥

शब्दार्थ—महिषेसा=(क) महिषासुर। यह असुर बड़ा क्रोधी था। इसके क्रोध से देवतागण काँपते थे। इसे कालिका देवी ने मारा। (ख) महिषेश=महिष+ईश=भैंसे का देवता=वह देवता जिसका वाहन भैंसा है=यमराज।

अर्थ—(ये दुष्ट) तेज में अग्नि के और क्रोध में महिषेश के समान हैं तथा पाप और अवगुण रूपी धन में कुबेर के समान धनी हैं ॥५॥ सभी के हित में केतु के समान हो जाते हैं। अतः, कुंभकरण के समान इनका सोते रहना ही अच्छा है ॥६॥ दूसरे की कार्यहानि के लिये शरीर भी छोड़ देते हैं; जैसे ओले खेती का नाश करके (स्वयं भी) गल जाते हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'तेज कृसानु···' (क) अग्नि स्वयं तपता रहता है, जितना ईंधन पाता है, उतना ही दूसरों को अधिक तपाता है, वैसे 'खल' स्वयं क्रोधाग्नि से जलते रहते हैं, जितना ही विभव पाते हैं, उतना ही अधिक प्रचंड होते हैं, इससे अपनेको तेजस्वी समझते हैं।

(ख) अग्नि जो पाता है, सभी को जलाता है, वैसे ये 'खल' शत्रु-मित्र किसी को नहीं छोड़ते।

(ग) बात-बात में खलों का रोष प्रचंड हो जाता है। ये महिषासुर की तरह लाल आँखें निकाल-कर हाँफने लगते हैं तथा यमराज की भाँति भयंकर रूप धारण कर प्राण हरने को उद्यत हो जाते हैं।

(२) "अघ अवगुन धन···"—'खल' कुबेर की तरह पाप और अवगुण रूप धन बटोरते हैं और उन्हीं की तरह इनके भी इस धन की संख्या नहीं है। यथा—"खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥" (बा० दो० ५)। कुबेर के भंडार से जितना धन नित्य निकलता जाता है, वह भरा ही रहता है, वैसे खलों के हृदय से भी नित्य चाहे जितने 'अघ अवगुन' प्रकट होते जायँ, पर हृदय उनसे भरा ही रहता है—कभी खाली नहीं होता।

(३) "उदय केतुसम···" (क) केतु पुच्छल तारा है। इसके उदय से राजा-प्रजा की हानि होती है। लोगों को अनेक कष्ट होते हैं। वैसे ये खल किसी का भी हित होता जानकर वहाँ जा धमकते हैं, उसे हानि का भय होता है।

(ख) भाग्य से कुछ विभव-प्राप्ति रूप उदय हुआ तो 'खल' सभी के बाधक होते हैं। अतः, "कुंभकरन-सम···" कुंभकरण की तरह जब ये सोते ही रहें अर्थात् ऐश्वर्य एवं अधिकार-हीन होकर मर मिटें, तभी संसार का कल्याण हो। जैसे—केतु के अस्त होने पर जगत् सुखी होता है। यथा—"दुष्ट उदय जग आरत-हेतू। जथा प्रसिद्ध अधमग्रह केतू ॥" (उ० दो० १२०)।

(४) पूर्व 'हरिहर-जस राकेस राहु से' कहा था, यहाँ केतु के समान भी कहा, क्योंकि दोनों एक

ही शरीर के शिर और धड़ हैं; अतः एक ही प्रसंग में प्रथम शिर कहा, तब धड़। समुद्र-मंथन के पीछे चोरी से अमृत पीते समय भगवान् ने राहु का शिर काटा था। तब शिर राहु और धड़ केतु कहलाया।

(५) 'पर अकाज लगि ·' प्रथम सहस्रबाहु के समान पुरुषार्थ करने में खलों को योद्धा कह आये हैं। अब दिखाते हैं कि यदि न हो सका तो पराये अकाज के लिये ये स्वयं भी मर मिटते हैं। शरीर का भी त्याग हो जाय, पर अकाज करके ही मरते हैं, यथा—"पर-संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम-उपल बिलाहीं॥" (उ० दो० १२०)। जैसे—ओले बहुत संख्या में एक साथ गिरकर कृषि का नाश करते हैं, वैसे 'खल' भी अपने दल बाँधकर 'अकाज' करते हैं, क्योंकि यहाँ 'परिहरहीं' और 'मरहीं' बहुवचन हैं। 'खल-गन' का ही प्रसंग भी है।

सम्बन्ध—यहाँ तक 'खल गन' के अवगुण कहे, अब उनके राजाओं के अवगुण कहते हैं—

बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर-दोषा॥८॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर-अघ सुनहिं सहस दस काना॥९॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥१०॥
बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन पर-दोष निहारा॥११॥

शब्दार्थ—यहाँ सरोषा, सहस बदन, पर-दोषा, पर अघ और सुरानीक पद श्लिष्ट हैं, अर्थात् इनके एक अर्थ खल-पक्ष के और दूसरे अन्य पक्षों के हैं—

'सरोषा' = (१) जोश के साथ, क्रोध-पूर्वक। (२) प्रसन्नतापूर्वक (महर्ष) यथा—"सर्बस देउँ आजु सहरोषा।" (अ० दो० २०७); वा शेषनाग के प्रलयकालीन रोष की भाँति।

'सहस बदन' = (१) स + हास्य-बदन = हँसते मुख से। (२) हजार मुखों से।

'पर-दोषा' = (१) पराये दोषों को। (२) दोषों से परे हरि (का यश)।

'पर-अघ' = (१) दूसरे के पाप। (२) पापों से परे हरि (का यश)।

'सुरानीक' = (१) अच्छी शराब, मदिराप्रिय। (२) सुर + अनीक = देव सेना।

अर्थ—मैं खलों को शेषजी के समान प्रणाम करता हूँ, जो हजार मुखों से जोश के साथ 'पर-दोष' का वर्णन करते हैं॥८॥ पुन राजा पृथु के समान (मानकर उनको) प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानों से 'पर-अघ' को सुनते हैं॥९॥ फिर इन्द्र के समान उनकी विनय करता हूँ, जिनको 'सुरानीक' सर्वदा प्रिय है,॥१०॥ जिन्हें वचन-रूपी वज्र सदा प्रिय लगता है और जो हजार नेत्रों से 'पर-दोष' को देखते हैं॥११॥

विशेष—

(१) 'बंदउँ खल जस···' (क) जैसे—शेषजी प्रलयकाल में क्रोध करते हैं, वैसे 'खल' दूसरे का सर्वनाश करने के लिये क्रुद्ध होते हैं, शेष हजार मुखों की दो हजार जिह्वाओं से हरियश उत्साह जोश-पूर्वक कहते हैं, 'खल' हँसते हुए मुख से एवं एक मुख से ही हजार मुखों के तुल्य पराये दोष कहते हैं।

(ख) शेष प्रसन्नता के साथ हरियश और 'खल' क्रोध-पूर्वक पराये दोषों को नित्य कहा करते हैं। 'पर-दोषा' से अपने दोषों पर ध्यान नहीं देते—यह भी ध्वनित है।

(२) 'पुनि प्रनवउँ पृथुराज···' राजा वेणु बड़ा दुष्ट था। इसीसे मुनियों ने शाप देकर उसे मार डाला और उसका शरीर मथा, तब उससे पृथुराज प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने इनको राज्य दिया। ये बड़े प्रतापी हुए। इन्होंने अनेक यज्ञ किये। इन्द्र ने भय मानकर दो बार यज्ञ का घोड़ा चुराया। राजा पृथु ने इन्द्र को भस्म करने के लिये कुशाबाण अभिमंत्रित किया; तब ब्रह्माजी ने आकर समझाया कि सौ यज्ञ करने पर इन्द्र पद मिलता है, परन्तु वह भी अनित्य ही है। अतः, तुम यज्ञ में न पड़ो; भगवान् के भक्ति-रूप अमृत से कृतार्थ हो। इन्होंने वही किया। इनकी उत्कृष्ट अभिलाषा पर प्रभु ने दर्शन दिये, तब इन्होंने वरदान माँगा कि आपका यश सुनने में मुझे दस हजार कानों की शक्ति मिले और उससे तृप्ति न हो। प्रभु ने वही वर दिया। वैसी शक्ति से पृथु 'अघ' से परे भगवान् का यश सुनते हैं, 'खल' भी अपने दो ही कानों से दस हजार कानों की तरह चाव के साथ पराये पापों को सुना करते हैं।

(३) 'बहुरि सक्र सम···' इन्द्र को देव-सेना प्रिय है, वैसे खलों को तेज मदिरा प्रिय है, (मादक पदार्थ गाँजा आदि भी मद मे गिने जाते हैं)। इन्द्र देव सेना को हितैषी जानकर, उनके भरोसे निश्चिन्त रहते हैं, वैसे खल भी नशे में निश्चिन्त रहते हैं।

(४) 'बचन बज्र ' इन्द्र को वज्र भी प्रिय है तो खलों को भी वज्रवत् कठोर वचन प्रिय है। इन्द्र वज्र को सदा धारण नहीं किये रहते हैं पर इन्हें वचन रूप वज्र सदा प्रिय रहता है। 'खल' वचन ही से वज्रवत् चोट करते हैं, जिससे पर्वत के समान धीरों के हृदय भी विदीर्ण हो जाते हैं। 'सहस नयन ··' इन्द्र हजार नेत्रों से 'अघ' से परे (श्रीरामजी) को निहारते हैं, यथा—"रामहिं चितव सुरेस सुजाना।···आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥" (बा० दो० ११६); 'खल' दो ही नेत्रों से हजार नेत्रों की तरह पराये छिद्र देखते हैं और वैसा ही सुख पाते हैं।

(५) इस प्रसंग मे सहस्र संख्या की चार बातें कही गई हैं—(१) 'पर-दोष लखहिं सहसाखी।' (२) 'सहस बदन बरनइ पर-दोषा।' (३) 'पर-अघ सुनहिं सहस दस काना।' (४) 'सहस नयन पर-दोष निहारा।' अर्थात् खल पराये दोष परखते हैं, कहते हैं, सुनते हैं और देखते हैं। अतः, इन चारों दोषों से सज्जनों को बचना चाहिये। खलों का लक्ष्य करना, कहना, सुनना और देखना—सब दोष-युक्त ही है, खलों की उपमा के लिये तीनों लोकों में *श्रेष्ठ श्रेष्ठ एक-एक ही व्यक्ति मिले—शेष पाताल के, पृथुराज* भूमि के और इन्द्र स्वर्ग के। अतः, एक एक कर्म के लिये तीनों लोकों में ढूँढ़ना पड़ा। उपमानवाले तीनों अपने अपने गुणों से बड़े हैं और खल अवगुणों से बड़े हैं।

दोहा—उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति ॥४॥

अर्थ—चाहे कोई उदासीन (शत्रु-मित्र से पृथक्=मध्यस्थ) हो, शत्रु हो या मित्र ही हो, खल तीनों का हित सुनकर जलते हैं; यह उनकी रीति है—ऐसा जान दोनों हाथ जोड़कर यह जन (मानसकार) प्रेम सहित उनसे विनय करता है।

विशेष—(१) ऊपर 'परहित हानि' में लाभ कह आये हैं। यहाँ स्पष्ट किया कि 'खल' मित्र की भी हानि में लाभ ही मानते हैं और उनकी उन्नति में जलते हैं। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी।

जरहिं सदा पर संपति देखी ॥" (उ० दो० १८) । प्रायः शत्रु के हित में साधारण लोग भी जलते हैं, पर मित्र के हित में जलना खलों की रीति है। यह दोष उनका स्वाभाविक है। सब जगत् भगवान् का शरीर है; अतः, इन रूपों में मैं विचित्र-स्वभाववाले श्रीरामजी की ही सप्रीति विनती करता हूँ, यह सप्रीति का भाव है। अन्यथा अहितकर्ताओं के प्रति 'सप्रीति' विनती नहीं हो सकती।

(२) 'जन······' अपने अनुगतों एवं बालकों पर तो बाघ आदि हिंसक जन्तु भी स्नेह करते हैं, इसी तरह 'जन' होकर विनती से वे 'खल' भी कृपा करेंगे, यह आशा है। 'जानि' का पाठान्तर 'जानु' भी है जिसका अर्थ 'घुटना' है।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥१॥
बायस पलिअहिं अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहिं कि कागा ॥२॥

अर्थ—मैंने अपनी ओर से प्रार्थना की, (पर) वे (खल) अपनी तरफ से न चूकेंगे; (क्योंकि स्वभावज दोष छोड़ना कठिन है, (देखिये) ॥१॥ कौए को अत्यन्त प्रीति-पूर्वक पालें, तो क्या कौए कभी मांस खाना छोड़ सकते हैं ? ॥२॥

विशेष—(१) 'कबहिं कि······' यहाँ वक्रोक्ति है, अर्थात् कभी नहीं। अब यह शंका होती है कि प्रार्थना का ही व्यर्थ प्रयास क्यों करते हैं ? इसका उत्तर 'अपनी दिसि' से दिया है कि वे दुष्ट हमारे ग्रंथ में दोष लगाने से नहीं चूकेंगे, पर जैसे वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते; वैसे मैं भी अपना (संत) स्वभाव नहीं छोड़ता। उनका स्वभाव पर-निन्दा का है, तो मेरा स्वभाव सभी को सम्मानित करने का है।

(२) शंका—इसमें 'बायस' और 'कागा' शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं और दो बार होने से पुनरुक्ति दोष की शंका है।

समाधान—'कागा' से पुनरुक्ति दोष तब होता जब एक 'बायस' कर्ता शब्द से ही 'पलिअहिं' और 'निरामिष होहिं' इन दोनों क्रियाओं का काम चल जाता, पर यहाँ तो 'निरामिष होहिं' के लिये 'बायस' का ही सर्वनाम 'वह' कर्ता की विवक्षा करनी ही पड़ती है। अतः, 'वह' न देकर 'कागा' ही दे दिया गया है, दो क्रियाएँ होने से पुनरुक्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि संज्ञा के दुहराने के बदले उसका सर्वनाम रूप ही वाक्य-निर्बंध में उत्तम है—'कागा' शब्द का प्रयोग कुछ न्यून है तो समाधान यह है कि महाकवि के द्वारा प्रयुक्त होने में यह न्यूनता नहीं के समान है। कोई-कोई 'पायस (खीर खिलाकर)' पाठान्तर देकर दोष-परिहार करने की चेष्टा करते हैं, पर यह (पाठान्तर) प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता।

खल-वंदना-प्रकरण समाप्त

बंदउँ संत असज्जन चरना । दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥३॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥४॥

अर्थ—(मैं) संत और असंत के चरणों की वंदना करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं, (पर उनमें) कुछ अंतर कहा जाता है ॥३॥ एक (संत) बिछुरते ही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असंत) मिलते ही तीव्र दुःख देते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बंदउँ संत-असज्जन······' यहाँ से संत-असंत के गुण-अवगुण का वर्णन एक चामत्कारिक रीति से करते हैं। प्रथम भिन्न-भिन्न वर्णनों से यह संदेह हो सकता था कि संतों और खलों में जाति-भेद एवं देश-भेद होगा। अतः, एक-साथ वंदना से सूचित करते हैं कि संत और खल एक ही देश एवं जाति में होते हैं। इनका भेद लक्षणों से जाना जाता है। जैसे—एक ही भूमि में बीज-भेद से विष और संजीवनी ओषधियाँ होती हैं, वैसे पूर्व के संस्कार-भेद से एक ही देश और जाति में खल और साधु होते हैं। वैद्यक शास्त्र के अनुसार गुण-दोष जानकर ओषधियों का संग्रह या त्याग होता है, वैसे यह वर्णन भी संग्रह-त्याग के लिये है।

(२) 'दुखप्रद उभय ···· ' यहाँ प्रथम तो संतों की निन्दा जान पड़ी, पर जब कहा कि, एक (संत) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं, तब बड़ाई हुई कि इनका संग सदा बना रहे कभी वियोग न हो, यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहूँ तात कहत अब जाना ॥" (सुं० दो० २६)। पुनः 'बंदउँ संत असज्जन ··' से प्रथम खलों की स्तुति हुई, फिर जब प्रयोजन का भेद खुला कि ये मिलते ही प्राण हर लेते हैं, जैसे—यती के वेष से रावण ने मिलते ही श्रीसीताजी को प्राणान्त-तुल्य दुःख दिया; तब दोष-कथन हुआ, अर्थात् इनका संयोग न हो, तभी भला। यहाँ क्रम से व्याजस्तुति और व्याज निंदा अलंकार हैं।

संत अपने समागम से भगवत् कथा-रूपी अमृत पान कराते हैं; अतः, वियोग में उस अमृत के बिना प्राण जाने का दुःख होता है। खलों के मिलने पर उनके विष-रूप वचनों से प्राण जाने की दशा आ जाती है अर्थात् दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसीको आगे दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं—

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥५॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥६॥

अर्थ—(दोनों) जगत् में एक साथ पैदा होते हैं, जैसे—कमल और जोंक, (परन्तु इनके) गुण भिन्न-भिन्न होते हैं ॥५॥ साधु अमृत और असाधु मदिरा के समान हैं, दोनों का उत्पत्ति-स्थल एक ही जगत्‌रूपी अगाध समुद्र है ॥६॥

विशेष—(१) 'उपजहि एक संग···' यहाँ 'जग माँही' से एक देश के उत्पन्न में भेद दिखाते हैं। कमल जड़ है और जोंक चेतन। दोनों जल ही में उत्पन्न होते हैं। वैसे साधु और खल भी विषय-रूप जल के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं। पर, कमल जड़ रूप से जल में निर्लिप्त रहता है, वैसे संत भी विषय-रूप जल के सम्बन्धियों—नातों से निर्लिप्त एवं मानापमान आदि द्वन्द्व-सहिष्णु होने से जड़ के तुल्य रहते हैं; यथा—"जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥" (अ० दो० ३१६); जोंक चेतन है, जल को प्रिय जानती है, उसी में डूबती-उतराती हुई लिप्त रहती है, वैसे 'खल' संसार को प्रिय जानते हैं और उसी के सुख-दुःख में डूबते-उतराते रहते हैं।

कमल सूँघने से रक्तवृद्धि होती है और आनन्द होता है। जोंक खून चूसती है और उसे देखकर डर लगता है। ऐसे ही संतों के दर्शनों से क्षमा आदि गुण बढ़ते हैं और आनन्द होता है। खलों के देखने से डर लगता है, इससे खून सूखता है। इनके संसर्ग से क्षमा आदि गुण घटते हैं। जैसे—कमल देवों के सर पर चढ़ता है, वैसे संत अपने गुणों से देवताओं से भी अधिक सम्मान पाते हैं। जोंक फोड़े का दूषित रक्त ही पीती है, वैसे 'खल' राग-द्वेष सम्बन्धी धान्य (अन्न) से निर्वाह करते हैं।

ग्रंथकार ने अन्यत्र खलों को जोंक से अधिक भी कहा है—"जोंक सूध-मन कुटिल गति, खल विपरीत विचारि। अनहित सोनित सोष सो, सो हित सोषनिहार ॥" (दोहावली ४००)। कहीं-कहीं 'जल माँहीं' भी पाठ मिलता है जो प्राचीन नहीं है।

(२) 'सुधा सुरा सम···' इसमें 'जनक एक' से एक जाति में भेद होना दिखाते हैं। सुधा (अमृत) और मदिरा एक ही समुद्र के मंथन से निकलीं, वैसे एक ही जगत्-रूप अगाध समुद्र के साधु और असाधु भी रत्न हैं। कमल और जोंक का उत्पत्तिस्थान नियत नहीं; अतः, जलमात्र ही कहा जाता है, क्योंकि इन (जलज-जोंक) दोनों का जन्म तालाब, नदी, गड्ढे एवं समुद्र में भी होता है; किन्तु सुधा-सुरा का नियत जन्म-स्थान समुद्र ही है।

भल अनभल निज-निज करतूती। लहत सुजस अपलोक विभूती ॥७॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू ॥८॥

शब्दार्थ—अपलोक = अपयश। कलिमल सरि = कर्मनाशा नदी। ब्याधू = ब्याध = खल।

अर्थ—अच्छे और बुरे (दोनों) अपनी-अपनी करनी से सुयश और अपयश की विभूति (ऐश्वर्य) पाते हैं ॥७॥ साधु अमृत, चन्द्रमा और गंगाजी के समान हैं और असंत विष, अग्नि और कर्मनाशा के समान हैं ॥८॥

विशेष—'भल अनभल···' उपर्युक्त दृष्टान्तों की करनी यहाँ दिखाते हैं कि कमल और अमृत के समान साधु अपनी भली करनी से सराहे जाते हैं और अंत में सुयश की विभूति स्वर्ग (वा परविभूति) को पाते हैं। जोंक और मदिरा के समान असाधु अपनी बुरी करनी से दूषित हो जाते हैं और अंत में अपयश की विभूति (नरक) को पाते हैं।

(२) 'सुधा-सुधाकर···' यहाँ साधुओं और खलों के तीन-तीन दृष्टांत क्रमशः उनके वचन, मन और तनु (कर्म) दिखाने के लिये हैं। साधु का वचन सुधा के समान मधुर, सन्तुष्टि-प्रद, पुष्टि-रूप विराग-वर्द्धक और अमरत्व-रूप मोक्षदाता है। मन चन्द्रमा के समान शीतल, स्वभाव सबको आह्लाद-कारक है और शरीर गंगाजी की तरह पवित्र है जिसका कर्म स्पर्श से पाप का हरण करना है। यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।" (वि० १३६)। यहाँ दर्शन को चन्द्रमा के समान तापहारी, स्पर्श को गंगा के समान पापहारी और समागम को सुधा के समान वचनों द्वारा संशयहारी कहा है। संत इन तीन प्रकारों से पापराशि का नाश करते हैं। खलों के वचन विष के समान मृत्युकर, मन अग्नि के समान तापकर और तनु कर्मनाशा के समान शुभ कर्म हरनेवाला है। इनके भी समागम से मृत्यु, दर्शनों से ताप और स्पर्श से पाप की प्राप्ति दिखलाई।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥९॥

दोहा—भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच ॥५॥

अर्थ—गुण और अवगुण सब कोई जानते हैं, पर जिसको जो रुचता है, उसे वही अच्छा लगता

है ॥६॥ भला भलाई ही पर (प्रशंसा) पाता है और नीच निचाई ही पर (शोभा) पाता है, जैसे अमृत अमरता पर सराहा जाता है और विष मृत्यु पर सराहा जाता है ॥५॥

विशेष—(१) 'गुन अवगुन···' उपर्युक्त प्रसंग से शंका हुई कि 'खल' अवगुणों को नहीं जानते होंगे, जानते तो वैसा नहीं करते। इसपर कहते हैं कि जानते हैं, पर प्रारब्धानुसार जिस विषय में जैसी चित्त-वृत्ति होती है, वही भाव हुआ करता है। यह बिना गुण-दोष विचारे ही स्वतः हो जाता है, यही स्वभाव कहाता है। यह सत्संग से ही बदलता है। जैसे—'काक होहिं पिक बकउ मराला।' पर कहा गया; अन्यथा अमिट है। यथा—"जो जो जेहि-जेहि रस मगन, तहँ सो मुदित मन मानि ॥" (दोहावली ३७१); "महादेव अवगुनभवन, बिष्णु सकल गुनधाम। जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥" (बा० दो० ८०) अर्थात् 'खल' सुधा आदि के गुण भी जानते हैं, पर 'गरल' आदि के गुण उनके भावानुसार हैं; अतः, उन्हीं को ग्रहण किया है और उन्हीं में उन्हें हर्ष रहता है। संत भी दोनों पक्षों के ज्ञाता हैं, पर वे सुधा आदि की भाँति गुण-ग्रहण किये हुए हैं, उन्हींमें उन्हें हर्ष होता है, यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है।

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥१॥
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥२॥

शब्दार्थ—गाहा (गाथा) = कथा। अवगाहा = अथाह। अगुन = अवगुण।

अर्थ—खलों के पापों और अवगुणों की तथा साधुओं के गुणों की कथाएँ—ये दोनों अपार और अथाह समुद्र की भाँति हैं ॥१॥ इसीसे कुछ गुण-दोष कहे गये हैं, क्योंकि बिना पहचाने इन (गुण-दोषों) का ग्रहण और त्याग नहीं हो सकता।

विशेष—(१) 'खल अघ···' अर्थात् खलों के पापों का पार और थाह नहीं मिल सकता। इनके विस्तार और गंभीरता का अंत नहीं है। दैवी-आसुरी संपत्ति अनादि काल से आ रही है, और आगे भी कल्पान्त तक जायगी। तब कहने का प्रयास क्यों किया ? इसपर कहते हैं—

(२) 'तेहिते कछु···'—साधारणतया तो गुण-अवगुण सभी जानते ही हैं, ऊपर कह आये हैं; पर उतना ही जानना प्रकृति प्रवाह में काम नहीं देता, इसलिये यहाँ 'बखाने' कहा है अर्थात् विस्तार-पूर्वक कहा। जैसे, साधुओं को सुधा आदि तीन और खलों को गरल आदि तीन दृष्टान्तों द्वारा जनाया। ऊपर भी बड़े-बड़े दृष्टान्तों द्वारा बतलाया है, यही सत्संग स्वभाव-भंग का साधन है, जो पूर्व 'काक होहिं पिक···' में कहा गया था।

शंका—गोस्वामीजी तो श्रीरामचरित लिखते हैं, इन गुण-दोषों के कथन से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—विस्तार-पूर्वक कहने से उसपर चित्त-वृत्ति रहेगी; अतः, संग्रह-त्याग में सहायता होगी। गुणी का संग और अवगुणी का त्याग करेंगे; अतः यह वर्णन शिक्षात्मक है।

सम्बन्ध—ऊपर गुण-अवगुण के स्वरूप कहे गये हैं, इनका ग्रहण और त्याग विवेक से होता है। विवेक का स्वरूप अब कहते हैं—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये ॥३॥
कहहिं वेद इतिहास पुराना। बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना ॥४॥

शब्दार्थ—इतिहास = श्रीमद्वाल्मीकीय, महाभारत आदि। पुराण = १८ पुराण आदि।

अर्थ—बुरे और भले सभी को ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया है, गुणों और दोषों को विचार कर वेदों ने उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया है ॥३॥ वेद, इतिहास और पुराण कहते हैं कि ब्रह्मा की सृष्टि गुण-अवगुण से सनी हुई है ॥४॥

विशेष—'भलेउ पोच···' ब्रह्मा ने भला बुरा मिलाकर उपजाया है, उसे ही समझाने एवं अलग अलग करने के लिये वेद की प्रवृत्ति हुई। 'विद्-ज्ञाने' धातु से 'वेद' शब्द निष्पन्न है—जो भले-बुरे का ज्ञान करावे, वह वेद है। 'गनि'—विचार-पूर्वक संख्या कर दी है कि विधि-प्रपंच में ये गुण और ये अवगुण हैं। वेद के कहे हुए उन्हीं गुणों को गुण और दोषों को दोष हम भी कह रहे हैं। ग्रहण-त्याग के लिये यह विवेक-पूर्ण परिपाटी वेद की चलाई हुई है। वेद के बिलगाने के स्वरूप का जैसा विस्तार इतिहास-पुराणों ने किया है, वही आगे कहते हैं—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥५॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सजीवन माहुर मीचू ॥६॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥७॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा। मरु मारव महिदेव गवासा ॥८॥
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगम अगम गुन दोष बिभागा ॥९॥

शब्दार्थ—लच्छि = लक्ष्मी। मरु = मारवाड़। मारव = मालवा। गवासा = गोभक्षी = कसाई। क्रमनासा = कर्मनाशा नदी, ['क + विनासा' = 'क' से कर्म अर्थ हुआ—'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्—इति न्यायात्, यथा—"अंगद हनू समेत।" (सुं॰ दो॰ ४४), और विनाश का अर्थ नाश लेने पर 'कर्मनाशा' स्पष्ट हुआ, इसका पाठान्तर 'क्रमनासा' भी है। यह भी कर्मनाशा का ही बोधक है, पर प्राचीन प्रतियों का पाठ 'कबिनासा' ही है] कर्मनाशा नदी शाहाबाद जिले के कैमोर पहाड़ से निकलकर चौसा के पास गंगाजी में मिली है। श्रीमद्वाल्मीकीय में कथा है कि राजा त्रिशंकु ने सदेह स्वर्ग-प्राप्ति के लिये यज्ञ कराने को गुरु वशिष्ठजी से कहा। गुरुजी ने कहा कि इस देह से स्वर्ग-प्राप्ति नहीं हो सकती। तब राजा ने गुरु पुत्रों से भी वही कहा। उन्होंने भी अस्वीकार किया। जब फिर राजा ने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे, तब गुरुपुत्रों ने चांडाल होने का शाप दिया। फिर चांडाल-रूप से वे श्रीविश्वामित्रजी की शरण में गये। उन्होंने त्रिशंकु को अपने तपोबल से स्वर्ग पहुँचाया। वहाँ से देवताओं ने उसे ढकेल दिया, तब वह 'त्राहि-त्राहि' करता हुआ उलटा नीचे गिरा। विश्वामित्रजी ने उसे तपोबल से आकाश ही में रोक दिया। उसी त्रिशंकु के शरीर से पसीना गिरा और मुख से जो लार गिरी, उससे कर्मनाशा नदी हुई, जो स्पर्श से शुभ कर्मों का नाश करती है। उसी त्रिशंकु के रथ की छाया ८६ कोस पूर्व-पश्चिम और ६४ कोस उत्तर-दक्षिण पर पड़ी, वही स्थान मगह (मगध) देश है। यह बिहार प्रान्त का दक्षिण भाग है। यह देश अपवित्र माना गया है।

अर्थ—दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, साधु-असाधु, उच्च जाति और नीच जाति ॥५॥ दैत्य-देवता, ऊँच-नीच, अमृत जीवनरूप-विष मृत्युरूप ॥६॥ माया-ब्रह्म, जीव-जगदीश (ईश्वर), लक्ष्मी-दरिद्रता, रंक-राजा ॥७॥ काशी-मगध, गंगा-कर्मनाशा, मारवाड़-मालवा, ब्राह्मण-कसाई ॥८॥ स्वर्ग-नरक, अनुराग-विराग—[सृष्टि के इन द्वन्द्व (जोड़े) पदार्थों में] वेद-शास्त्रों ने गुण-दोषों का विभाग कर दिया है ॥६॥

विशेष—यहाँ एक साथ सम्बन्धवाली परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। दुःख-सुखादि स्पष्ट हैं। माया—त्रिगुणात्मिका—सत्त्व, रज और तम तीन गुणोंवाली, जो जीवों को मोहित करती है, यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥" (आ० दो० १६)। ब्रह्म—जो जीव को मोह के रज्जु (रस्सी) से छुड़ाता है, यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्वपर, मायाप्रेरक सीव।" (आ० दो० १७)। जीव—नियाम्य—किसी के बनाये हुए नियमों से चलनेवाला। 'जगदीश' से यहाँ लोकपाल, इन्द्रादि एवं त्रिदेव लिये जायँगे, जो जीव की बाहर-भीतर इन्द्रियों में एक-एक रूप से रहकर सामान्य जीवों के नियामक (नियमों मे चलाने वाले) हैं।

शंका—माया, ब्रह्म और जीव ब्रह्मा के 'उपजाये' कैसे हैं? क्योंकि माया से शिव-ब्रह्मा स्वयं डरते हैं, जीव ईश्वर का अंश और ब्रह्म ब्रह्मा का ही अंशी है।

समाधान—ग्रंथकार ने यहाँ दो भूमिकाएँ लिखी हैं। एक—'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।' की और दूसरी—'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।' की। अतः, जो ब्रह्मा के 'उपजाये' हैं, पहली भूमिका के अनुसार उनकी गणना 'विधि-प्रपंच' में करनी चाहिये और जो स्वतः सने हुए हैं; जैसे—माया ब्रह्म और जीव, दूसरी भूमिका के अनुसार उन्हें 'विधि प्रपंच' में नहीं गिनना चाहिये। जैसे—"सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल। लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर साल॥" (अ० दो० १२) यहाँ 'साल' होना भरत-शत्रुघ्न के विषय में नहीं है।

जीव कर्मानुसार फल-भोग के लिये हैं, माया का कार्य ही प्रपंच है और ब्रह्म अंतर्यामी रूप से प्रपंच मे सना हुआ-सा है।

(२) 'निगम अगम गुन दोष···' इस द्वन्द्व कथन का उपक्रम 'भलेउ पोच सब···गनि गुन दोष बेद बिलगाये।' से है और यहाँ उपसंहार हुआ। इसके बीच में दुःख दोषरूप और सुख गुणरूप तथा पाप दोषरूप और पुण्य गुणरूप है, इसी तरह सब द्वन्द्वों में समझना चाहिये।

सम्बन्ध—ऊपर वेदों का गुण-दोष विभाग करना कहा, अब उसका प्रयोजन कहते हैं—

दोहा—जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥६॥

अर्थ—इस जड़-चेतन और गुण दोषमय विश्व (प्रपंच) को ब्रह्मा ने रचा है, हंस रूपी संत दोष रूपी जल को छोड़कर गुण रूपी दूध को ग्रहण करते हैं।

विशेष—यहाँ गुण-अवगुण से सने हुए प्रपंच का स्वरूप प्रकट करते हैं कि वह जल और दूध की तरह एक दूसरे में सना (मिला) है, जैसे जल मिश्रित दूध यन्त्र के द्वारा जाना जा सकता है कि इसमें इतना जल है और इतना दूध, पर दोनों के मिश्रण से जल त्यागकर दूधमात्र पी लेना हंस ही का कार्य है।

वैसे ही यन्त्र-रूप वेद-शास्त्र के द्वारा गुणों और दोषों का स्वरूप जाना जा सकता है, पर उनमें से दोषों को त्यागकर गुणमात्र ग्रहण करना संतों का ही कार्य है। यह सामर्थ्य दूसरे में नहीं होता, यथा—"सगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥" (अ० दो० २३१); अर्थात् संतों को चाहिये कि उपर्युक्त द्वन्द्वों में दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह करें॥

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मन राता॥१॥

अर्थ—जब ब्रह्मा ऐसा (उपर्युक्त हंस का-सा) विवेक दें; तभी मन दोषों को छोड़कर गुणों में रत (अनुरक्त) होता है।

विशेष—'अस बिबेक…' 'अस' शब्द से स्पष्ट हुआ कि उपर्युक्त दोष-रूपों का त्याग और गुण-रूपों का ग्रहण ही विवेक का स्वरूप है। उसकी प्राप्ति ब्रह्मा के देने से कही गई है अर्थात् वेद के बिलगा कर कहने से ही विवेक नहीं हो सकता, क्योंकि विवेक बुद्धि से होता है, उसके देवता (प्रकाशक) ब्रह्मा हैं, यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज।" (लं० दो० १५)। वे जब बुद्धि में वेद का तात्पर्य समझने की शक्ति दें, तब विवेक हो। ब्रह्माजी ने 'भलेउ पोच' को उपजाया है; अतः गुण-दोषों के यथार्थ ज्ञाता भी वे ही हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रीब्रह्माजी ने जगत् की रचना की और वेद का भी विस्तार करके संसार को गुणों और दोषों का रूप बतलाया। तब लोग उपर्युक्त गुणों में अनुरक्त होने लगे, अर्थात् काशी और मालवा में वास करते तथा मगह और मारवाड़ का त्याग करते, इसी प्रकार वे ब्राह्मण का संग, कसाई का त्याग, माया का त्याग, ब्रह्म का ग्रहण आदि करते हैं। वैसे शरीर-रूपी अंड (सृष्टि) में भी एक रूप से बुद्धि में ब्रह्मा हैं और प्रत्येक इन्द्रिय और अन्त करण में शुभ-अशुभ वृत्ति रूप दो देश हैं। संत को ब्रह्मा से प्रसादित (अनुगृहीत) बुद्धि-द्वारा शुभ ही को ग्रहण करना चाहिये। जैसे, काशी के पास ही मगह भी है, पर संत काशी में बसते हैं, मगह का त्याग करते हैं, वैसे बुद्धि में परमार्थ-वृत्ति काशी है और संसार-वृत्ति मगह; चित्त से श्रीरामजी में प्रेम होना मालवा और व्यावहारिक राग द्वेष-वृत्ति 'मरु' देश है। भक्ति-सम्बन्धी अहंकार-वृत्ति गंगाजी और कर्म की अहंकार-वृत्ति कर्मनाशा है। मन की परमार्थ-वृत्ति ब्राह्मण और सांसारिक वृत्ति कसाई है। इसी प्रकार श्रवण आदि इन्द्रियों में भी परमार्थ पक्ष की वृत्तियाँ गुणरूपा और सांसारिक वृत्तियाँ दोषरूपा हैं। गुण रूपा वृत्तियों का ग्रहण और दोष रूपा वृत्तियों का त्याग करना विवेक है; अतः, असत् पक्ष का त्याग और सत् पक्ष का ग्रहण-रूप विवेक जो शास्त्रों में कहा गया है, यहाँ स्पष्ट हुआ। यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); तथा—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" (गीता २।१६), इसमें भी सत् से जीवात्मसम्बन्धी परमार्थ पक्ष और असत् से देहसम्बन्धी व्यवहारपक्ष लिया गया है।

सत्संग से भी विवेक का होना कहा गया है, यथा—"बिनु सतसंग बिबेक न होई।" (बा० दो० ३) अर्थात् संत लोग सब इन्द्रियों से गुण-रूप भगवद्भजन ग्रहण कर चुके हैं, शुद्ध सत्त्वमय होने से भगवत् भजन दूध के समान है उसके ग्रहण से संत हंस के समान होते हैं। इन्द्रियों से विषय-व्यवहार त्याग रखना है, यही 'बारि-बिकार' का त्याग है, क्योंकि विषय को 'बारि' कहा गया है, यथा—"बिषय बारि मनमीन भिन्न नहिं होत…" (वि० १०२)। संतों के संग से इन्द्रियाँ भजन में लग जाती हैं, विषय-व्यवहार छूट जाता है। यही विवेक का होना है।

काल सुभाव करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ॥२॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष विमल जस देहीं ॥३॥
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥४॥

अर्थ—काल, स्वभाव और कर्म की प्रबलता से भले लोग भी मायावश होकर भलाई से चूक जाते हैं ॥२॥ उस चूक को हरिजन जैसे सुधार लेते हैं और दुःख-दोष का संहार कर निर्मल यश देते हैं ॥३॥ (वैसे ही) खल भी सुसंग पाकर भलाई करते हैं, (पर) उनका मलिन एवं अमिट स्वभाव नहीं छूटता ॥४॥

विशेष—(१) 'काल सुभाव करम···' इन कालादि की प्रबलता सबपर व्याप जाती है, यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।" (वि० १३१); काल अपने अनुकूल मनुष्यों की प्रवृत्ति बना देता है, जैसे—राजा परीक्षित भलाई से चूक गये, मुनि के गले में साँप डाल दिया। दुर्भिक्ष आदि काल के वश में कितनों का धर्म छूट जाता है। कर्म की प्रबलता से ही राजा नृग भलाई से चूक गये, जिससे उन्हें गिरगिट होना पड़ा। स्वभाव की प्रबलता किसी अंश में ज्ञानी को भी वश में रखती है यथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (गीता ३।३३); मायावश होने से सतीजी भलाई से चूक गईं, यथा—"बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥" (दो० ५५)

(२) 'सो सुधारि···' यहाँ हरिजनों का सुधार-कार्य करना कहते हैं; अतः, उपर्युक्त भले लोग जो कालादिवश चूके हैं वे सामान्य हैं, और ये हरिजन विशेष हैं, इनपर कालादि की प्रबलता नहीं पड़ती, यथा—"बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥" (दो० ३) तथा—"कोटि बिप्र ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥" (लं० दो० ३४); ये संत हंस की तरह विवेकी हैं; अतः, दुग्धरूप गुण छोड़कर दोषरूप जल को ग्रहण नहीं करते। कहा भी है—"जे रहीम सोंचे प्रकृति, का करि सकत कुसंग। चंदन बिष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥" इत्यादि। अतः, ये संग करनेवालों के भी दोष-दुःख का नाश कर और उन्हें अपना गुण देकर निर्मल यश देते हैं।

(३) 'खलउ करहिं भल···' खल स्वाभाविक मलिन होते हैं। यदि संयोगवश उन्हें सत्संग प्राप्त हो गया, तब कुछ काल तक भलाई करने लगते हैं, पर ज्यों ही उन्हें कुसंग मिला कि फिर वे पूर्व स्वभाव के हो जाते हैं, क्योंकि साधारणतया तो स्वभाव अभंग ही होता है। अनेक जन्मों की कुटेवें थोड़े सुसंग से नहीं सुधरतीं, विशेष सत्संग की आवश्यकता रहती है। तभी उनका सुधार होता है। यथा— "सठ सुधरहिं सतसंगति पाई॥" (दो० २)।

(४) 'दुख दोष···' दुःख उक्त चूक का है और दोष कालादिवश होने से आ जाते हैं। दुःख-दोष मिटने पर उनकी प्रशंसा होने लगती है। राजा परीक्षित की चूक के प्रति हरिजन शुकदेवजी ने उनके दुःख-दोष मिटाये और निर्मल यश भी दिया। ऐसे ही सती की चूक को शिवजी ने और काकभुशुंडि की चूक को उनके गुरु ने सुधारा और निर्मल यश प्राप्त कराया। हरिजन अपने परोपकारी स्वभाव से दुःख-दोष छुड़ाते हैं, यथा—"पर-उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

सम्बन्ध—ऊपर स्वभाव-व्यतिक्रम कहा, अब वेष-व्यतिक्रम कहते हैं—

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष-प्रताप पूजिअहिं तेऊ ॥५॥

उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥६॥
कियेहुँ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥७॥

अर्थ--जो जगत् को ठगनेवाले भी हैं, सुन्दर वेष (धारण करते हैं, उसको) देखकर उस वेष के प्रताप से वे भी पूजे जाते हैं ॥५॥ परन्तु अंत में खुल जाते हैं, (फिर उनका) निर्वाह नहीं होता, जैसे कालनेमि, रावण और राहु का (निर्वाह नहीं हुआ) ॥६॥ कुवेष किये रहने पर भी साधु का सम्मान होता है, जैसे संसार में श्रीजाम्बवान् और श्रीहनुमानजी का हुआ ॥७॥

विशेष—(१) 'लखि सुबेष···' 'जगवंचक,' यथा—"वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥" (दो० ११); बिरचि हरिभगति को वेष बर टाटिका कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं ॥" (वि० १०८)। ऐसे ठग भी सुवेष के प्रताप से पूजे जाते हैं, पर हृदय शुद्ध न रहने से कलई खुल जाती है, यथा--"वचन वेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४)।

(२) 'उघरहिं अंत···' वंचक कपट खुलने पर मारे जाते हैं, जैसे—सुवेष देखकर ही श्रीहनुमानजी ने पहले कालनेमि की पूजा की (माथ नवाया), फिर कपट खुलने पर मारा इसकी कथा 'लं० दो० ५५-५६' में है। रावण पंचवटी में यति वेष बनाकर श्रीसीताजी के पास गया। वेष देखकर उन्होंने 'गोसाईं' कहा, और दुष्ट वचन सुनकर भी 'दुष्ट की नाईं' कहा, दुष्ट नहीं कहा। अंत में कपट खुला, श्रीहनुमानजी से जानकर श्रीरामजी ने उसे मार ही डाला। राहु भी सुवेष (देव-रूप) करके अमृत पीने पाया, यह आदर हुआ, फिर तुरत कपट खुला, तब शिर काटा गया।

(३) 'कियेहुँ कुबेष······' साधु अपने कल्याण के लिये कुवेष बनाये रहते हैं, यथा—"सब विधि कुसल कुबेष बनाये।" (दो० १६०), क्योंकि सुवेष से लोक में प्रतिष्ठा होगी, उससे अपनी हानि है, यथा—"लोकमान्यता अनल सम, कर तप कानन दाहु।" (बा० दो० १६१), खल तो पुजाने के लिये सुवेष बनाते हैं और संत पुजने के डर से कुवेष बनाये रहते हैं।

सम्बन्ध—अब आगे कुसंग-सुसंग से हानि लाभ दिखाते हैं—

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु बेद बिदित सब काहू ॥ ८ ॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥ ९ ॥
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहि राम देहिं गनि गारी ॥१०॥

अर्थ—कुसंग से हानि और सुसंग से लाभ होता है, यह बात लोक में भी और वेद में सभी को विदित है ॥ ८ ॥ वायु के संग से धूल आकाश पर चढ़ती है और नीच (गतिवाले) जल के संग से कीचड़ में मिलती है ॥ ९ ॥ साधु के घर के तोता-मैना राम-नाम का स्मरण करते हैं और असाधु के घर के चुनी हुई गालियाँ देते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'हानि कुसंग ······' यथा—"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥" (अ० दो० २३) एव—"केहि न सुसंग बड़प्पन पावा।···" (दो० ३)।

(२) 'गगन चढ़इ ......' यथा—"रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई।" (उ० दो० १०५) अर्थात् सबकी लात सहनेवाली तुच्छ धूल को ऊर्ध्व गतिवाली हवा ऊँचे ले जाती है, वही धूल नीचे जानवाले जल के संग कीचड़ में जा मिलती हैं, फिर हवा उड़ाना भी चाहे, तो नहीं उड़ा सकती, वैसे जो कुसंग में बहुत समय तक पड़े रहने से अति मूर्ख हो गये हैं, उनके हृदय में सत्संग का प्रभाव नहीं पड़ता, यथा—"फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद। मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥" (लं० दो० १६)।

(३) 'साधु असाधु—' साधु के संग से तोते-मैना की पहले तो लोक में प्रशंसा होती है, फिर राम-नाम से परलोक बनता है। असाधु के संग से लोक में उनकी निंदा होती है और परलोक भी बिगड़ता है। यथा—संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।" (उ० दो० ३३)। गनि गारी=चुनी-चुनी गालियाँ—यह मुहावरा है।

धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई॥११॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता॥१२॥

शब्दार्थ—कारिख=कालिख (स्याही)। अनिल=वायु। संघाता=मेल से। जीवन=प्राण।

अर्थ—धुआँ कुसंग से कालिख होता है, वही (सुसंग से) सुन्दर स्याही (मसि) बनता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं॥११॥ वही (धुआँ) जल, अग्नि और पवन के संग से मेघ होकर संसार का जीवनाधार बनता है॥१२॥

विशेष—(१) 'धूम कुसंगति ' ' धुएँ लकड़ी, कंडे आदि के कुसंग से स्याही होकर घर काला करता है, तेल-बत्ती आदि के सुसंग से काजल बनकर 'मसि' बनता है और पुराण लिखने में काम आता है, जिससे वह पूजनीय हो जाता है। पुराण ही का लिखा जाना कहा है, वेद का नहीं, क्योंकि वेद श्रुति कहाता है। अतः, कानों-कान ही आने में उसका सम्मान है, लिखना मना है। यथा—"वेदस्य लेखकाश्चैव-नरा निरयगामिनः।" (महाभारत, अनुशासन पर्व; भीष्मवचन)।

(२) 'सोइ जल...' ताप-बल से जल ज्यों ही भाप बनकर अंतरिक्ष में इकट्ठा होता है और धूम-कण अथवा रजःकण से जमता है, त्योंही जलद (मेघ) बन जाता है। यथा—"धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥" (मेघदूत) तथा—'यज्ञाद्भवति पर्जन्य.' (गीता ३।१४); "धूम अनलसंभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥" (उ० दो० १०५)।

'जीवनदाता'—(धुआँ) स्याही बनकर पंडितों का जीवनदाता हुआ, मेघ बनने पर अन्न आदि पैदा कर जगत्मात्र का जीवनाधार बना।

(३) इस प्रसंग में 'रज, पवन, जल, धूल'—इन जड़ों में और 'सुक-सारी' आदि चेतनों में भी परस्पर संग का प्रभाव कहा गया, अर्थात् जड़ में जड़ के संग का और चेतन में चेतन के संग का प्रभाव पड़ता है।

दोहा—ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलक्खन लोग॥

सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह ॥

शब्दार्थ—सुलच्छन (सुलक्षण)=अच्छे लखनेवाले, ज्योतिषी, वैद्य आदि।

अर्थ—ग्रह, ओषधि, जल, पवन और वस्त्र—(ये) बुरा और भला योग (संग) पाकर संसार में बुरे और भले पदार्थ हो जाते हैं, सुलक्षण लोग ही इसे लख (जान) सकते हैं ॥ दोनों (कृष्ण शुक्ल) पक्षों में उजाला और अँधेरा बराबर ही रहता है, (पर) ब्रह्माजी ने नाम में भेद कर दिया (एक का कृष्ण और दूसरे का शुक्लपक्ष नाम रख दिया), एक चन्द्रमा को घटानेवाला और दूसरा उसकी वृद्धि करनेवाला है, ऐसा समझकर संसार ने एक (कृष्णपक्ष) को अपयश और दूसरे (शुक्लपक्ष) को यश दिया ॥

विशेष—(१) ग्रह भेषज'''—'ग्रह—रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नौ हैं। ये ग्रह शत्रु-मित्र के संयोग से क्रूर और शुभ होते हैं, यथा—"ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रमते गनहि, घातचन्द्र जिय जानु ॥" (दोहावली ४५१) अर्थात् चन्द्रमा इन इन स्थानों पर घातक है—मेषादि राशियों पर क्रमशः १,५,६,२,६,१०,३,७,४,६,११,१२। ऐसे ही और ग्रहों के भी संयोगादि की व्यवस्था ज्योतिषी जानते हैं। इनमें कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ। कितने अशुभ भी शुभ के योग से शुभ और शुभ भी अशुभ के योग से अशुभ हो जाते हैं।

'भेषज'—रोग के निदान, समय एवं अनुपान के योग से ओषधियों में गुण या दोष होता है, जैसे सर्पादि के जंगम विष से संखिया आदि के स्थावर विष के द्वारा रक्षा होती है अन्यथा संखिया प्राण घातक है, यह भेद वैद्य लोग ही जानते हैं।

'जल'—गुलाब आदि के संग से सुगंधित और मोरी आदि के संग से दुर्गंधित होता है। कर्मनाशा में पड़ने से अशुभ और गंगाजी में पड़ने से शुभ होता है तथा स्वाती का जल अनेक स्थलों के योग से अनेक रूपों का होता है, ऐसा प्रसिद्ध है। 'पवन'—फुलवारी आदि के संग से सुगंधित एवं सड़े चमड़े आदि के संग से दुर्गंधित होता है। 'पट'—देवता का चढ़ा हुआ तथा महात्मा की मृतक देह पर का भी प्रसाद-रूप शुभ माना जाता है। साधारण मृतक की कफन अशुभ है, आदि।

(२) 'सम प्रकास तम''' दोनों पक्षों में पन्द्रह-पन्द्रह ही तिथियाँ होती हैं, और चन्द्रमा की कलाएँ बराबर रहती हैं, परन्तु कला घटानेवाले को कृष्ण और बढ़ानेवाले को शुक्ल पक्ष नाम रक्खा गया। तदनुसार संसार एक को अँधेरा एव अशुभ पक्ष और दूसरे को उजेरा एवं शुभ पक्ष कहकर अपयश और यश देता है।

पाठान्तर—'ससि पोषक सोषक' भी अन्य प्राचीन प्रतियों का पाठ है जिससे पहले प्रकाश और पोषक, फिर तम और शोषक एवं यश और अपयश का क्रम लेने से प्रथम शुक्ल तब कृष्ण पक्ष सूचित होता है। पुनः आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।" (बा० दो० २१७); में प्रथम कृष्ण, तब शुक्ल पक्ष कहा है। इसपर कहा जाता है कि नर्मदा के उत्तरार्द्ध में प्रथम कृष्ण और दक्षिणार्द्ध में प्रथम शुक्ल पक्ष माना जाता है। अतः, ग्रंथकार ने दोनों मतों की रक्षा कर दी है।

मैंने उपर्युक्त 'सोषक-पोषक' श्रीअयोध्या के श्रावण कुंज का पाठ रक्खा है, जिसका बालकाण्ड सब से प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार प्रथम कृष्ण तब शुक्ल पक्ष ही ग्रहण होता

है। अतः—'घटइ बढ़इ······' में कवि के वर्त्तमान देश की अनुकूलता है। भेद इसमें केवल 'जस अपजस' के क्रम-भंग का है, क्योंकि इस पाठ से 'अपजस जस' होना चाहिये; पर इसमें दक्षिण और उत्तर देशों का समन्वय नहीं करना पड़ता।

साधु-असाधु-वंदना-प्रकरण समाप्त।

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बंदउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥७॥

शब्दार्थ—गंधर्व=ये सब ब्रह्माजी की कांति से पैदा हुए हैं, देवयोनि हैं, स्वर्ग में रहते हैं, गान-विद्या में निपुण और रूपवान् होते हैं। किन्नर=ये पुलस्त्य वंशज देवयोनि के हैं, संगीतवेत्ता हैं, इनके मुख घोड़े की भाँति होते हैं। नाग=ये भी एक देवयोनि ही में हैं, भोगावती पुरी में रहते हैं। जत (यत्) = जितने।

अर्थ—संसार में जड़ और चेतन जितने भी जीव हैं, सब को 'राममय' मानकर, मैं सदा दोनों हाथ जोड़ उन सबके चरण-कमलों की वंदना करता हूँ। देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गंधर्व, किन्नर और निशिचर सबको प्रणाम करता हूँ, कि अब सब कोई मुझपर कृपा करें।

विशेष—'जड़ चेतन····' अब उपर्युक्त साधु-असाधु से पृथक् जीवों को वन्दना करते हैं। वंदना आदि कोई भी व्यवहार किसी नाते से होता है। यहाँ 'राममय' का नाता है अर्थात् एक श्रीरामजी के शरीर-रूप में ही सर्व जगत् है, श्रीरामजी सबके अंतर्यामी हैं, यथा—"विश्वरूप व्यापक रघुराई।" (कि० दो० २१); "हरि व्यापक सर्वत्र समाना।·····देसकाल दिसि विदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अग जग मय ·····" (दो० १८४); "जगत् सर्वं शरीरं ते" (वाल्मी० यु०); "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥" (भाग० स्कंध ११)।

सम्बन्ध—ऊपर जीवों की समष्टि (समूह-रूप से) वंदना की, अब व्यष्टि (पृथक्-पृथक्) करते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल वासी॥१॥
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥२॥

शब्दार्थ—आकर चार = जीवों की चार खानें हैं,—१ अंडज = जो अंडे से पैदा होते हैं, २ जरायुज = जो झिल्ली में बँधे हुए पैदा होते हैं, ३ उद्भिज् = जो बीज से भूमि फोड़कर उगते हैं, ४ स्वेदज = जो पसीने से पैदा होते हैं। जाति का अर्थ यहाँ योनि है, चौरासी लाख योनियाँ = स्थावर (वृक्षादि) २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, वानर ४ लाख—इन ८४ लाख योनियों से मानवयोनि भिन्न है। यथा—"स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्। कृमेश्च रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥" प्रसिद्ध है।

अर्थ—जो जीव आकाश, जल और पृथ्वी पर रहनेवाले तथा चार खानों और चौरासी लाख योनियों में हैं ॥१॥ (इन जीवों से पूर्ण) सब जगत् को 'श्रीसीताराममय' जानकर और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'आकर चारि···' यथा—"आकर चारि लाख चौरासी। जोनिभ्रमत यह जिव अविनासी ॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस······" (उ० दो० ४३)। यहाँ 'नभ, जल, थल' को उनकी उत्पत्ति के क्रम से कहा है।

प्रथम ग्रंथकार ने श्रीराममय जगत् की वंदना ऐश्वर्य दृष्टि से की, क्योंकि जड़-चेतनात्मक जगत् के श्रीरामजी प्रकाशक हैं, जगत् उनका प्रकाश्य है, यथा—"बिषयकरन सुर जीव समेता ॥ सकल एक तें एक सचेता। सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥ जगत् प्रकाश्य प्रकासक रामू।" (दो० ११६); उस 'जड़ चेतन जग···' दोहे के 'सकल' की व्याख्या के रूप में 'देव दनुज नर···' यह दोहा कहा और उन श्रीराम-प्रकाश्य रूप जीवों से कृपा माँगी ॥ अब माधुर्य रीति से श्रीसीताराममय जगत् की वंदना करते हुए प्रथम जीवों के व्यष्टि-भेद को 'नभ, जल, थल' वासियों, चार खानों और चौरासी लाख योनियों द्वारा कहकर और पीछे दोनों हाथ जोड़कर वंदना की। ऐश्वर्य रूप की वंदना में 'जोरि जुगपानी' कहा था, वैसे यहाँ भी कहा है, अतः, दोनों में तुल्यभाव दिखाया।

(२) 'सीयराममय··' अंतर्यामी-रूप में भी श्रीरामजी सीता-सहित ही हैं, यथा—"अंतरजामी रामसिय,···" (अ० दो० २५६)।

सम्बन्ध—ऐश्वर्य-प्रसंग में जैसे 'कृपा करहु···' माँगा था, वैसे माधुर्य में भी माँगते हैं—

जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू ॥३॥

शब्दार्थ—कृपाकर = कृपा के आकर, कृपा की खान, कृपा करनेवाले।

अर्थ—मुझे भी कृपालु श्रीरामजी का दास समझते हुए आपलोग सब मिल छल छोड़कर कृपा करें।

विशेष—(१) प्रथम जगत् को 'सीयराममय' कहा, फिर यहाँ 'किंकर' कहा, यह श्रीगोसाईंजी की अनन्यता है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३); इस भाँति सचराचर रूप स्वामी से सेवक भाव द्वारा कृपा चाहते हैं कि कृपा के 'आकर' श्रीरामजी आपलोगों पर कृपा करते हैं। आप यह जानकर मुझ श्रीरामजी के किंकर पर कृपा करें, इससे श्रीरामजी आपलोगों पर अधिक प्रसन्न होंगे।

(२) 'सब मिलि'—(क) एक-दो की कृपा से मुझे उतनी बुद्धि न, हो सकेगी, जिससे अगाध श्रीरामचरित कहा जाय; अतः सब मिलकर कृपा करें। (ख) सबसे 'सीयराममय' मानकर प्रार्थना है। अतः, श्रीसीतारामजी सर्वान्तर्यामी रूप से सबकी एक मति करके कृपा करावें, यह भी धारणा है। अन्यथा आपस के वैर से एक दूसरे का भक्त जानकर बाधा करते हैं; इसलिये एक अंतर्यामी का शरीर मानकर प्रार्थना है।

(३) 'छाँड़ि छल छोहू'—स्वार्थ ही छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); संसार स्वार्थी है, यथा—स्वारथ मीत सकल जग माहीं।" (उ० दो० ४६); "सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११); इसलिये कहते हैं कि मुझसे स्वार्थ

की इच्छा नहीं कीजिये, क्योंकि इन सबमें देव, पितर आदि भी कहे गये हैं। सब जीवों पर इनका ऋण रहता है। जबतक ये तृप्त न किये जायँ, परमार्थ-साधन में बाधक भी होते हैं, जैसे जरत्कार ऋषि के पितरों ने विघ्न किया है। महाभारत के आस्तीक-अनुपर्व में इनकी कथा है। कहा भी है—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेव्यमानो व्रजत्यधः॥" (मनुस्मृति)।

यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने 'कृपाकर-किंकर' कहकर प्रथम अपनेको शरणागत-रूप अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि प्रपन्न (प्रभु-शरण में आया हुआ) ही उपाय-शून्य होकर केवल कृपा से गति चाहते हैं, तब स्वार्थ त्याग कर 'छोह' करना कहा, क्योंकि शरणागत पर किसी का भी ऋण नहीं रहता, यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतं मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥" (श्रीमद्भागवत, ११ स्कंध)। अतः, स्वार्थ छोड़कर अब यशःप्राप्ति के लिये मुझपर 'छोह' करें।

निज बुधि-बल भरोस मोहिं नाहीं। तातें विनय करउँ सब पाहीं॥४॥
करन चहउँ रघुपतिगुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥५॥

अर्थ—मुझे अपनी बुद्धि के बल का भरोसा नहीं है, इससे सबसे विनय करता हूँ॥४॥ मैं रघुनाथजी के गुणों की गाहा (गाथा = कथा) करना (कहना) चाहता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि थोड़ी है और चरित अथाह है॥५॥

विशेष—'लघुमति···अवगाहा' यथा—"क्व सूर्यप्रभवोवंशः क्व चाल्पविषयामतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥" (रघुवंश); अर्थात् कहाँ सूर्य-वंश का चरित और कहाँ मेरी अल्पश्रुत मति! मैं मोह वश उडुप (घन्नई-बेड़ा) से दुस्तर सागर पार करना चाहता हूँ।

सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिअ जग जुरइ न छाछी॥७॥

अर्थ—मुझे काव्य का एक भी अंग (दोष, गुण, रीति और अलंकार) और उन अंगों के उपाय (साधन) नहीं सूझते, मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा है॥६॥ बुद्धि तो अत्यन्त नीची है और रुचि (इच्छा) ऊँची एवं अच्छी है, (कहावत है कि 'चाहैं अमृत मिलै न छाछ') संसार में अमृत की चाह है और जुड़ता छाछ भी नहीं॥७॥

विशेष—(१) 'मन मति रंक···' श्रीराम-गुण गाने का मनोरथ राजा है, मन और मति उसकी साधन-सम्पत्ति से रंक हैं; अतः, प्रवेश नहीं कर पाते, इसलिये आगे इन्हें तीर्थस्नान के योग्य बनावेंगे। बुद्धि को मानस तीर्थ में—"अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥" (दो० ३८); और मन को कविता-सरयू में—"मति-अनुहारि सुबारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।" (दो० ४३) नहलावेंगे। इस प्रकार दोनों निर्मल होने पर योग्य बनेंगे, तब कथा कहेंगे।

(२) 'मति अति नीचि···' मति—यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥" (दो० ११) अतः, 'अति नीची' कहा, इसे प्राकृत राजा-रईसों के चरित-गान रूपी छाछ की भी योग्यता नहीं है। श्रीरामचरित गान रूपी अमृत चाहते हैं, अतः, रुचि को ऊँची और

अच्छी कहा है। छाछी मट्ठे की हंडी की धोवन को भी कहते हैं, उससे और अमृत से जितना अंतर है, उतना ही अंतर प्राकृत चरित और श्रीरामचरित में सूचित किया। 'जग ···'—अर्थात् छाछी जगत् की तुच्छ वस्तु है, अतः, प्राकृत है और श्रीरामचरित अप्राकृत (अमृत) है।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई ॥८॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥९॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर-दूषन-भूषन-धारी ॥१०॥

अर्थ—सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे और मुझ बालक के वचन को मन लगाकर सुनेंगे ॥८॥ जैसे जब बालक तोतली बोली बोलता है, तब माता-पिता प्रसन्न मन से उसे सुनते हैं ॥९॥ क्रूर, कुटिल और कुत्सित विचारवाले—जो पराये दोष रूपी भूषण को धारण किये रहते हैं—हँसेंगे ॥१०॥

विशेष—(१) 'छमिहहिं ·····' ऊपर कहा है कि 'ऊँचि रुचि आछी' आगे भी कहेंगे—'साधु-समाज भनिति सनमानू।' (दो० १३)। इसपर यह संदेह हो सकता है कि मैं ऊँची रुचि से व्यास-वाल्मीकि की श्रेणी में बैठने की धृष्टता करता हूँ। इसपर कहते हैं कि मैं सज्जनों का बालक बनकर प्राकृत भाषा के टूटे-फूटे शब्दों में श्रीरामचरित सम्बन्धी अपनी ऊँची रुचि की पूर्ति चाहता हूँ। अतः, पिता-माता रूप सज्जन क्षमा करेंगे ही। जैसे श्रीभरतजी ने कहा है—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी।··· आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस॥" (अ० दो० १८३); वैसे मुझे भी सज्जनों का विश्वास है।

(२) 'जौं बालक ···' बालक जैसे लड्डू को अड्डू, रोटी को ओटी आदि अशुद्ध शब्दों में कहता है, उन्हें सुनकर माता-पिता प्रसन्न हो उसकी रुचि-पूरी करते हैं, वैसे सज्जन मेरी भद्दी वाणी भी सुनेंगे। इसका सम्मान करना ही लड्डू देना है। यथा—'बेद बचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुनाअयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन॥" (अ० दो० १३६)।

(३) 'हँसिहहिं कूर ···' क्रूर अर्थात् जो मुझ बालक पर भी दया न करें वे निर्दय और कुटिल हैं, यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥" (कि० दो० ६)। 'कुबिचारी' अर्थात् कुत्सित विचारवाले, यथा—"येहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ॥" (अ० दो० ४६)।

'जे परदूषन भूषन धारी।'—जिसमें स्वयं ऐसे गुण नहीं हैं कि जिनसे भूषित हों, अतः, छिद्रान्वेषी बनकर उल्टेसीधे कुतर्क करके अपनेको अच्छे ज्ञाता एवं समालोचक सिद्ध करते हैं, और इसी बड़ाई से अपने को भूषित करते हैं।

यहाँ हँसनेवालों के क्रूर आदि चार विशेषण दिये गये हैं। इनका हँसना आगे 'काक कहहिं कलकंठ ·' (दो० ८) से प्रारंभ करके कहेंगे। पुन, यहाँ सज्जनों से तो माता-पिता का नाता जोड़ा, पर खलों से नहीं जोड़ा, क्योंकि—"'खल परिहरिय स्वान की नाईं।" (उ० दो० १०५) कहा है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से पाया गया कि हँसनेवालों की कविता उत्तम होती होगी। इसपर आगे कहते हैं—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥११॥

जे पर - भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥१२॥
जग बहु नर सर-सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥१३॥
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ॥१४॥

अर्थ—अपनी (बनाई हुई) कविता किसे अच्छी नहीं लगती है—चाहे वह रसीली हो या अत्यन्त फीकी ? ॥११॥ जो दूसरे की कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं ॥१२॥ हे भाई ! संसार में तालाब और नदी के समान बहुत-से मनुष्य हैं, जो जल पाकर अपनी ही बाढ़ से बढ़ते हैं ॥१३॥ समुद्र के समान कोई एक ही सज्जन होता है जो चन्द्रमा को पूर्ण देखकर बढ़ता है ॥१४॥

विशेष—(१) 'निज कवित्त केहि···' की उपमा 'जग बहु नर ···' है, और 'जे परभनिति सुनत···' की उपमा 'सज्जन सकृत···' है जो क्रम से हैं; अतः, यथासंख्य अलंकार है। अपनी कविता नीरस होने से भी अच्छी ही लगती है, जैसे—'ग्वालिन अपने खट्टे दही को भी खट्टा नहीं कहती'—यह कहावत है। इसे ही 'सरसरि' की उपमा से समझाते हैं।

(२) 'जग बहु नर ' नदियाँ और तालाब जगत् में बहुत हैं जो थोड़े जल की बाढ़ से ही मर्यादा छोड़ देते हैं, वैसे तुच्छ लोग भी बहुत हैं, जो थोड़ी विद्या-बुद्धि पाकर मर्यादा भंग करके सबको तुच्छ समझने लगते हैं। यथा—"क्षुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल इतराई ॥" (कि० दो० १३)। 'भाई'—यह प्रिय सम्बोधन सबके लिये तथा अपने मन के लिये भी है, यथा—"जो नहाइ चह येहि सर भाई।" (दो० ३८); "चली सती सिव-आयसु पाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥" (दो० ५१), इत्यादि।

(३) 'जे पर-भनिति 'तथा 'सज्जन सकृत ···'—विद्या-रूपी जल से पूर्ण समुद्र के समान सज्जन विरले (एक) ही होते हैं, जो बहुत उन्नति से भी नहीं उछलते, जैसे समुद्र बहुत नदियों का जल पाकर अपनी बाढ़ से नहीं उछलता। वरन् जब चन्द्रमा की पूर्णता देखता है, तभी उछलने लगता है, यही उसका हर्ष है, जिसे 'ज्वार आना' कहते हैं; यथा—"राका ससि रघुपतिपुर, सिंधु देखि हरषान। बढ़्यो कोलाहल करत जनु, नारि-तरंग समान ॥" (उ० दो० ३); इसी तरह सज्जन भी दूसरे की वृद्धि पर आनंदित होते हैं।

चन्द्रमा पर समुद्र का वात्सल्य भी है, क्योंकि वह समुद्र का पुत्र है, वैसे श्रीगोस्वामीजी ने भी अपने को बालक और सज्जनों को पिता-माता माना है, अतः, उनकी काव्य-कीर्त्ति पर भी सज्जन आनंदित होंगे—यह गर्भित है। 'निज कवित्त···नाहीं' तक के भाव को मिलाइये -'अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः' (प्रसन्नराघव १।११)।

पाठान्तर—कहीं-कहीं 'सकृत' की जगह 'सुकृत' भी है; अतः, सुकृत-सिंधु का अर्थ 'पुण्य समुद्र के समान' होगा। 'सरसरि' की जगह 'सुरसरि' भी है, पर इसमें 'बहु नर' के साथ मेल नहीं है। 'सुरसरि' एकवचन भी है। यहाँ 'सरसरि' (क्षुद्र नदी तालाब) ही पाठ संगत है।

दोहा—भाग छोट अभिलाष बड़, करउँ एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहहिं उपहास ॥८॥

अर्थ—मेरा भाग्य तो छोटा है और रुचि बड़ी है, पर एक विश्वास करता हूँ कि इसे सुनकर सज्जन सुख पावेंगे और खल उपहास करेंगे।

विशेष—(१) प्रथम 'मन' और 'मति' को रंक कहा, तब 'मनोरथ' को राजा कहकर उसकी दुर्लभता कही, फिर भाग्य का सहारा लिया, उसे भी छोटा देखकर निराश हुए। हाँ, यही एक विश्वास है कि सज्जन इससे सुख पावेंगे। इसीसे मेरा श्रम सफल होगा। यथा—"जो प्रबंध बुध नहि आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।" (दो० १३); अपनी बुद्धि और भाग्य का भरोसा नहीं है, यथा—"निज बुधि-बल भरोस मोहि नाहीं ॥" (दो० ७)।

'भाग छोट'— मेरा भाग्य छोटा है अर्थात् मैं प्राकृत कवियों में बैठने योग्य हूँ और अभिलाषा बड़ी है कि मैं व्यास आदि की श्रेणी में जाऊँ, पर उतनी योग्यता नहीं है। हाँ, सज्जनों के सुख मानने से मेरा श्रम सफल हो जायगा। यथा—"तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे।" (दो० ११)। सुख पाना तो खलों का भी सूचित किया, क्योंकि परिहास सुख से ही होता है।

(२) 'छमिहहिं सज्जन··' से 'पैहहिं सुख सुनि··' तक में साधुओं और खलों मे कविता का आदर और निरादर बतलाया। सज्जनों के सुनने एवं आदर करने में पाँच हेतु कहे हैं, १—शुभ बालक की तोतली बात मानकर—"सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।" २—दूसरे की वृद्धि पर प्रसन्न होने के स्वभाव से—"सज्जन सकृत सिंधु··"। ३—इसे राम-भक्ति से भूषित जानकर—'राम-भगति भूषित ··'। ४ श्रीरामयश से अंकित जानकर—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि···' ५—श्रीरामनाम का यश अंकित जानकर—'सब गुन रहित···'। इसी तरह खलों के परिहास में भी पाँच ही हेतु हैं—१—'हँसिहहिं क्रूर', २—'कुटिल', ३—'कुविचारी', ४—'जे परदूषन भूषनधारी', ५—'जे निज बाढ़ बढ़हिं···'।

खल-परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥१॥

अर्थ—खलों के हँसने से मेरा हित होगा, (जैसे) कौए मधुरकंठ (कोयल) को कठोर कहते हैं (पर इससे कोयल का कुछ नहीं बिगड़ता)।

विशेष—कौए और कोयल की बोली सुनकर सभी जान लेते हैं। इससे कोयल का आदर और कौए का निरादर होता है। खल मेरा पक्ष लेते तो मैं भी वैसा ही नीच समझा जाता; अतः उनकी निन्दा से संत समझा जाऊँगा और मेरी कविता का आदर होगा।

हंसहि बक गादुर चातक ही। हँसहि मलिन खल बिमल बतकही ॥२॥

अर्थ—बगला हंस को और चमगादर पपीहे को हँसते हैं, (वैसे) मलिन स्वभाववाले खल (असज्जन) निर्मल वाणी पर हँसते हैं।

विशेष—(१) हंस और चातक, बगले और चमगादर की निन्दा से, निन्दित नहीं माने जाते, वैसे मलिन खलों की हँसी से मेरी कविता निन्दित नहीं होगी।

(२) तीन उपमानों द्वारा खलों के वचन, कर्म और मन की व्यवस्था बतलाई है। कौआ कोयल के वचन को कठोर कहता है। बगला हँस के क्षीर-नीर अलग-अलग करने रूप कर्म को हँसता है। चमगादर चातक की टेक को हँसता है, टेक मन का धर्म है; परन्तु संसार में जैसे रात की अपेक्षा दिन और कटु

की अपेक्षा मधुर सराहा जाता है, जैसे कौए के कठोर शब्द के साथ तुलना में कोयल के मधुरस्वर की, वक के हृदय की कुटिलता के प्रति हंस के विवेकपूर्ण कर्म को और चमगादर के स्वमल-भोजन-रूप कुविचार की अपेक्षा चातक की अनन्यतापूर्ण टेक की सराहना होती है, वैसे खलों की कुयुक्तियों से की हुई मन-वचन-कर्मात्मक निन्दा को जान-सुनकर सज्जन लोग अपनी सुंदर युक्तियों से उनका खंडन करेंगे और इस कविता को सराहेंगे, तब इसका महत्त्व बढ़ेगा, यही हित होगा।

(३) उपर्युक्त 'हँसिहहिं क्रूर···' के चारों प्रकारों को यहाँ चरितार्थ किया, 'काक' क्रूर, 'वक' कुटिल, 'गादुर' कुविचारी और 'मलिन खल' 'परदूषन भूषन धारी' हैं। 'बिमल···' बतकही निर्मल भी है तब भी वे हँसते हैं।

(४) इन दो अर्द्धालियों में तीनों दृष्टान्त पक्षी के ही दिये, क्योंकि ये सब पक्षपाती हैं और विपक्ष की अपेक्षा अपने पक्ष का हित भी सिद्ध किया। स्वपक्ष-ग्रहण से काकभुशुंडिजी ने पक्षी होने का शाप पाया।

(५) 'बिमल बतकही'—'बतकही' का अर्थ बात-चीत एवं वार्त्तालाप है। श्रीगोस्वामी ने इसे बड़ा महत्त्व दिया है और धर्म-सम्बन्धी बात में इसका प्रयोग कर शिक्षा दी है कि धर्म ही की बात करनी चाहिये। आपने सात कांडों में सात ही बार यह शब्द लिखा है; अतः सातों कांडों को 'बतकही' जनाया है यथा—१—'हंसहिं बक गादुर चातकहीं ···' यह यहीं पर है, पर इसे अयोध्याकांड में लेना चाहिये, क्योंकि उसमें 'भरत हंस···' कहा है और उनके विरुद्ध मलिनों—दुष्टों को कौशिल्याजी, वशिष्ठजी एवं श्रीरामजी ने भी शाप दिया एवं दोष लगाया है। २—"करत बतकही अनुजसन,···" (दो० २१०); यह बालकांड में है। ३—"दसकंधर मारीच बतकही।" (अ० दो० ६५); यह आरण्यकांड में ही हुई है। ४—"यहि बिधि होत बतकही,·· " यह किष्किंधाकांड (दो० २१) में है। ५—"तब बतकही गूढ़ मृगलोचनि।" (लं० दो० १५); इसे सुन्दरकांड में लगाना चाहिये, जो श्रीरामपरत्व श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था, वही मंदोदरी ने प्रथम कहा, फिर यह विराट्‌रूप में कहा है। ६—"काज हमार तासु हितहोई। बतकही सोई।" (लं० दो० १६)। ७—"निज-निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥" (उ० दो० ४६)।

पाठान्तर—'गादुर' की जगह 'दादुर' पाठ भी है। दादुर और चातक दोनों मेघ-प्रेमी और वर्षा के आकांक्षी हैं। दादुर सामान्य जल में संतुष्ट रहता है, जल का विचार नहीं करता और चातक विशिष्ट जल (स्वाती) का प्रेमी है। दादुर चातक के विचार के प्रति हँसता है कि नाहक प्याससे मरता है, मेरी तरह सब जल में विहार नहीं कर के प्राण गँवाता है। पर 'गादुर' में विशेषताएँ हैं—१—दोनों (गादुर-चातक) पक्षी हैं। यहाँ तीनों पक्षियों के ही दृष्टान्त हैं, यहाँ वाणी का प्रसंग है, जिसकी उपेक्षा पक्षियों के गान आदि में दी जाती है। २—'काक' क्रूर तथा 'बक' कुटिल हैं और साथ ही 'गादुर' कुविचारी भी ठीक है, क्योंकि स्वमल-भोजी है, ३—दोनों नभचर हैं, वृक्ष पर टँगा रहना भी शून्यावास है, ४—जैसे काक-पिक और हंस-बक का एक रंग है, वैसे इन दोनों का भी वर्ण साम्य है। ५—पक्षी का पक्षी के प्रति हँसना भी युक्त है, सजातीय ही एक दूसरे को हँसते हैं।

सम्बन्ध—प्रथम 'खल-परिहास' से अपना हित कहकर आगे सब प्रकार के श्रोताओं का हित कहते हैं—

कवित-रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास-रस येहू॥३॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥४॥

प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥५॥
हरिहर-पदरति मति न कुतरकी । तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की ॥६॥
राम-भगति-भूषित जिय जानी । सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥७॥

अर्थ— जो (केवल) कविता के रसिक हैं (पर) श्रीरामचरणों में स्नेह नहीं रखते, उनको यह (मेरी रचना) हास्य रस के रूप में सुख देगी ॥३॥ भाषा की कविता और (फिर भी) मेरी भोली बुद्धि (से रचित, अतः,) हँसने के योग्य ही है, हँसने में उनका दोष नहीं है ॥४॥ जिनकी प्रभु के चरणों में न तो प्रीति है और न समझ ही अच्छी है, उनको यह कथा सुनने पर फीकी लगेगी ॥५॥ हरिहर के चरणों में जिनकी प्रीति है और बुद्धि कुतर्कवाली नहीं है, उनको श्रीरघुवर की कथा मीठी लगेगी ॥ ॥ सज्जन लोग इसे हृदय से श्रीराम-भक्ति-भूषित जानकर सुन्दर वाणी से सराह-सराहकर सुनेंगे ॥७॥

विशेष—(१) 'कवित-रसिक न हँसिबे जोग'''—यहाँ से पात्रानुसार सभी का सुख सूचित करते हैं। जो संस्कृत काव्य के अभिमानी हैं, उनका इस टूटी फूटी 'भाषा-भनिति' पर हँसना योग्य ही है। यद्यपि श्रीरामचरित चाहे भाषा में हो चाहे संस्कृत में, हँसना दोष ही है, तथापि ग्रंथकार उन्हें भी निर्दोष बनाते हैं, यह इनकी साधुता है।

(२) 'प्रभु-पद प्रीति न ''' 'प्रभु-पद' में प्रीति के विना भक्ति-रस का स्वाद नहीं मिलेगा। समझ अच्छी नहीं रहने के कारण काव्य में भी रस नहीं मिलेगा एवं तर्क भी बहुत होंगे; अतः, फीकी लगेगी।

(३) 'हरिहर-पद-रति मति'' '—हरि= विष्णु, हर= शिव, इन दोनों में दोनों के उपासक लोग प्रायः कुतर्क करते हैं, वह न हो, किन्तु अभेद बुद्धि रहे, तब कथा मधुर लगती है; क्योंकि शिवजी परम भागवत हैं; अत. श्रीरामजी के प्रिय हैं। शिवजी श्रीरामजी को इष्ट-रूप में प्रिय मानते हैं, इसके विरुद्ध भाव पर दोनों अप्रसन्न होंगे।

अथवा यदि 'हरिहर पदरति' को पृथक् मानें तो 'मति न कुतरकी' का अर्थ श्रीरामजी के अवतार एवं माधुर्य लीलाओं में कुतर्क बुद्धि करना होगा, यथा—'तजि कुतर्क संसय सकल' (उ० दो० ९०)। 'मधुर कथा'—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि॥" (उ० दो० १२०); इस अर्द्धाली में मधुरता के साधन के ठीक विरुद्ध ऊपर की अर्द्धाली फीकी लगने की है।

(४) 'राम-भगति भूषित''' सुजन कवित्व-विवेक पर ही नहीं रीझते, वे भक्ति के भावुक होते हैं। अत., इसमें भक्ति-भूषित देखकर सुनेंगे और सराहेंगे कि कैसी उत्तम रचना है!

(५) इन पाँच अर्द्धालियों में क्रमशः चार प्रकार के श्रेष्ठ श्रोता हैं—(१) अधम—'कवित-रसिक न'''भाषा-भनिति ''' (२) निकृष्ट—'प्रभु-पद प्रीति न'''' (३) मध्यम—'हरिहर''' (४) उत्तम—'राम भगति'' '।

इन्हीं उत्तम श्रोता-रूप सुजनों को श्रोता के रूप में जहाँ-तहाँ कहा है, यथा—"सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० १४) आदि।

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्याहीनू॥८॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद-प्रबंध अनेक बिधाना॥९॥

भाव - भेद रस - भेद अपारा। कवित-दोष गुन विविध प्रकारा ॥१०॥
कवित - विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥११॥

शब्दार्थ—सकल कला=गाना, बजाना, आदि ६४ कलाएँ हैं। सब विद्या=व्याकरण, ब्रह्मज्ञान, ज्योतिष आदि १४ विद्याएँ हैं। कागद=कागज।

अर्थ—मैं न कवि हूँ और न वक्तृत्व में ही निपुण हूँ, (किन्तु) सब कलाओं और विद्याओं से हीन हूँ ॥८॥ अक्षर, अर्थ, अनेक प्रकार के अलंकार और अनेक भाँति की छन्द-रचना ॥९॥ भावों और रसों के अपार (अगणित) भेद, अनेक प्रकार के दोष और गुण काव्य में होते हैं ॥१०॥ (इनमें से) एक भी कविता का विवेक मुझमें नहीं है, यह मैं कोरे कागज पर लिखकर सत्य ही कहता हूँ ॥११॥

विशेष—(१) 'कवि न होउँ' (क) आप काव्य के सब गुणों से पूर्ण हैं; यह कार्पण्य शरणागति है। जैसे श्रीहनुमानजी भक्ति के पूर्ण ज्ञाता हैं, फिर भी शपथ करके कहा है, यथा—"तापर मैं रघुबीर-दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई ॥" (कि० दो० ३)।

(ख) आप यह यथार्थ भी कह रहे हैं कि मेरे कवित्व-विवेक से ऐसी उत्तम कविता नहीं बनी, प्रत्युत देव-प्रसाद से बनी है, यथा—"जदपि कवित-गुन एकउ नाहीं। रामप्रताप प्रगट येहि माहीं ॥" (दो० ६); और—"भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती।" (दो० १४); पुनः, स्मरण-द्वारा आकर श्रीसरस्वतीजी ने काव्य के अंग भी सम्पन्न कर दिये, यथा—"सुमिरत सारद आवति धाई। जौं बरखइ बर होहिं कवित मुकता मनि चारू ॥" (दो० १०)। अतः, यह अलौकिक काव्य है, इसके प्रेरक और संयोजक और हैं।

(ग) यह भी भाव कहा जाता है कि मेरी दृष्टि केवल श्रीरामयश पर ही है, काव्य के अंगों पर नहीं। वे स्वतः आवें तो आते जायँ, अन्यथा दोष-गुण का विचार नहीं करूँगा। मेरी कविता श्रीरामयश ही से भूषित होगी।

(२) 'सत्य कहउँ लिखि···' कोरे कागज पर स्याही चढ़ाना शपथ है अर्थात् मैं निष्कपट भाव से कहता हूँ। इस शपथ की अक्षरशः सार्थकता यों भी होती है कि जो चरित-चित्रण करना है, यह उनका है जिन्हें श्रुतियाँ मन-वाणी से परे कहती हैं, यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्ती० २ वल्ली)। तथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार। सोइ सचिदानंदघन, करत चरित्र उदार ॥" (उ० दो० २५)। उन रामजी के मुकाबले में एक मनुष्य की विद्या-बुद्धि क्या काम दे सकती है—भले ही संसार की दृष्टि मे वह अप्रतिम विद्वान् हो। इसी दृष्टि से अभी आगे भी कहेंगे, यथा—"जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥" (दो० ११)।

(३) 'आखर अरथ···' यहाँ काव्य-रचना के अंगों का स्मरण करते हैं—'आखर' अर्थात् अक्षर ऐसे प्रयुक्त होने चाहिये जो सार्थक एवं प्रसंगपोषक हों। शब्द से अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, अतः, साथ ही अर्थ भी कहा है। 'अलंकृति' का अर्थ अलंकार है। अलंकार-ग्रंथों में प्रधान अलंकार १०८ प्रकार के कहे गये हैं। उनमें भी बहुत भेद हैं। जैसे भूषण धारण करने से मनुष्य की शोभा होती है, वैसे शब्दार्थ की शोभा अलंकारों से होती है। 'छन्द' से गायत्री, दोहा, चौपाई आदि का ग्रहण है। छन्द वर्णिक और मात्रिक इन दो भेदों में बहुत प्रकार के होते हैं और 'प्रबंध' का अर्थ वाक्य-विस्तार है, यथा—"कोटि छानवे जाति हैं, नाग-सूत्र में छंद। तैंतिस कोटि प्रबंध हैं, भेद अनेक असंद ॥" (छन्द-शास्त्र)।

(४) 'भाव भेद रस भेद ·····' भाव का अर्थ मन का तरंग है। किसी रस के अनुकूल मन के विकार को भाव कहते हैं, जैसे—"कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥" (दो० २२१); यहाँ शृंगार-रस के अनुकूल मन की दशा हो गई। यही मनोविकार भाव हुआ। इसके प्रथम चार भेद हैं—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) और स्थायी। एतद्‌तिरिक्त और ३८ भेद भी हैं। फिर उन एक-एक में भी बहुत भेद हैं। रस के शृंगारादि नव भेद हैं; (मं० के १ श्लोक में देखें)।

(५) 'कवित दोष गुन······' उपर्युक्त बातें काव्य के गुण हैं। काव्य में दोष वे हैं जो उसके उत्कर्ष को नष्ट करते हैं। यदि छन्दों के आदि में म, न, भ, य ये चार उत्तम गण पड़ें तो गुण और ज, र, स, त गण पड़ें तो दोष हैं। और भी दोष प्रथम ५ प्रकार के हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। फिर ग्यारह दोष और भी हैं—देश-काल-आगम-विरोध, यतिभंग, पुनरुक्ति आदि छन्दःशास्त्र में हैं। इनका विवरण एवं उदाहरण विस्तारभय से यहाँ नहीं दे सके। पुनः गुण प्रधानतया तीन कहे जाते हैं—

(१) माधुर्य, जिसके सुनते ही मन द्रवीभूत हो जाय, यथा—"कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥" (दो० २२०)।

(२) ओज, जिसके सुनते ही मन उत्तेजित हो और उसमें टवर्ग एवं संयुक्ताक्षर विशेष हों, यथा—"कट-कटहिं जंबुक प्रेत ···" (आ० दो २१) तथा—'चिक्करहिं मर्कट भालु ···' (लं० दो० ८०)।

(३) प्रसाद—जिसके वर्ण रुचिकर एवं अर्थ स्पष्ट हों, यथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार। केहि के लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ० दो० ७०)।

पाठान्तर—'बचन प्रबीनू' की जगह 'चतुर प्रबीनू' भी पाया जाता है, उसका अर्थ है चतुरों में प्रवीण। यदि चतुर और प्रवीण को एकार्थी मानें तो पुनरुक्ति हो जाती है। पर कथा-रचना में वचन-प्रवीणता की आवश्यकता विशेष है कि पाठकों का चित्त मुग्ध हो जाय, अतः 'बचन' पाठ ही उत्तम है। श्रावण कुंज का यही पाठ भी है।

दोहा—भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक॥ ६॥

येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति-सारा॥ १॥
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥ २॥

अर्थ—मेरी कविता सब गुणों से रहित है, (परन्तु उसमें) एक जगत् प्रसिद्ध गुण है, उसे विचार कर सुन्दर बुद्धिवाले व्यक्ति और वे, जिनका विवेक निर्मल है, इसे सुनेंगे॥६॥ इसमें अत्यन्त पवित्र वेदों और पुराणों का निचोड़, मंगलों का घर और अमंगलों का नाश करनेवाला श्रीरघुनाथजी का उदार नाम है जिसे श्रीपार्वतीजी के सहित श्रीशिवजी जपते हैं॥१-२॥

विशेष—(१) 'भनिति मोरि···गुन एक'—मेरी कविता काव्य के सब गुणों से रहित है, परन्तु इसमें एक ही गुण है। जो एक अर्थात् अद्वितीय है और जिसे संसार जानता है तथा जिसके बराबर दूसरा गुण नहीं है, वह श्रीराम नाम है, आगे स्पष्ट होगा। यथा—"यस्यनाममहद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति"—यह वेद-वाक्य है। इस गुण (नाम) के प्रताप से कविता भी विश्वविदित होगी। यथा—"नाम राम! रावरो

सयानो किधौं बावरो, जो करत गिरी ते गरु तृन ते तनक को ॥" (कवित्ता० उ० ७७३)। 'विश्वविदित', यथा—"रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः" (श्रीरामतापनीय उ०); अर्थात् श्रीरामनाम सर्वप्रियत्व से जगत् में ख्यात है, जैसे लोग शपथ में रामदुहाई, सत्य में रामोराम, आश्वासन में राम-राम, मिलने में राम-राम-सीताराम, सौदा तौलने में राम-राम, आदि कहते हैं। 'सो बिचारि सुनिहहिं···' इसके विचारने के लिये निर्मल विवेक वाली सुंदर बुद्धि चाहिये, यथा—"उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।" (दो० १) वह गुण यदि लौकिक होता तो 'मति' और 'विवेक' ही पर्याप्त थे, किन्तु वह अलौकिक एवं दिव्य है; अतः, 'सु' और 'विमल' विशेषण दिये। फिर केवल 'सुमति' भी हो तो सदसद्विवेक के बिना मनुष्य शास्त्रों के वाद ही में रह जाते हैं, फिर विवेक भी हो, पर विमल न हो तो कामादि के क्षोभ का भय है, अतः, विमल विवेक हो, तब श्रीराम-नाम में निष्ठा होगी और तभी लोग मेरी कविता को प्रीति से सुनेंगे।

(२) 'येहि महँ रघुपति नाम···' उपर्युक्त गुण को यहाँ अंगुल्या-निर्देश किया—साफ-साफ बतला दिया कि वह उदार श्रीराम नाम है। उदार अर्थात् श्रेष्ठ एवं अत्यन्त दाता है, यथा—"जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका॥" (आ० दो० ४१); पुनः जो देश, काल एवं पात्र का विचार न करके सब को दे, वह उदार है, यथा—"पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः॥" (भगवद्गुणदर्पणे)। उदारता—"पाई न गति केहि···कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं···" (उ० दो० १२१); वही इस ग्रंथ में है, यथा—"राम नाम जस अंकित जानी।" आगे कहते हैं।

'अति पावन···'अन्यान्य नाम पावन हैं, यह अति पावन है, यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघपुंज-नसावन॥" (उ० दो० ९१); पुरान श्रुति सारा'—वेद का उपबृंहण-(वृद्धि, सञ्चय)-रूप रामायण है, उसका सार राम नाम है, यथा—"रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (दो० २५); तथा वेद-पुराण का प्रतिपाद्य ब्रह्म है, उसके साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप का वाचक यह नाम है, अतः, 'सार' कहा, क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं।

(३) श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम—चारो उदार एवं मंगलकारी हैं; यथा—नाम—औदार्य और मंगलकारित्व दोनों इसी चौपाई में स्पष्ट हैं। रूप—'सुनहु उदार परम रघुनायक।' (आ०दो०४१); 'मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ अजिरबिहारी॥" (दो० ११)। लीला—"देखन चरित उदार" (लं० दो० ११५); "मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० १) धाम—"नृप-गृह कलस सो इंदु उदारा।" (दो० १९४); "सब बिधि पुरी···मंगलखानी।" (दो० ३४); क्योंकि चारो सच्चिदानन्दरूप हैं—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।" (वसिष्ठ-संहिता)।

(४) 'मंगलभवन···उमा सहित···' पूर्वार्द्ध में नाम का फल प्रापक (प्राप्त करानेवाला गुण) कहकर उत्तरार्द्ध में साधन कहा है कि जिस श्रीराम-नाम के जपने से अमंगल साजवाले शिवजी मंगल-राशि हो गये, यथा—"नाम-प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (दो० २५); 'उमासहित' से विधि बतलाई कि जप भी यज्ञ है, यथा—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०।२५); अतः, वह सपत्नीक होना ठीक ही है। नाम का शिष्ट-परिग्रहत्व भी जनाया कि आद्याशक्ति-सहित ईश्वर शिवजी भी जपते हैं। साथ ही 'पुरारी' कहने से दिखाया कि इसी के प्रभाव से शिवजी ने त्रिपुरासुर का वध भी किया।

भनिति बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ॥३॥

बिधुबदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥४॥

अर्थ—विलक्षण कविता हो और अच्छे कवि की बनाई (क्यों न) हो, वह भी श्रीराम-नाम के बिना नहीं सोहती ॥ ३ ॥ (जैसे) सब प्रकार से सजी हुई चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती ॥ ४ ॥

विशेष—'भनिति विचित्र···' यह अर्द्धाली उपमेय है और 'बिधुबदनी···' उपमान है। अतः, 'चन्द्रमुखी' की तरह सुकवि-कृत कविता स्वरूप से सुंदर हो, 'सब भाँति सँवारी' अर्थात् सब अलंकारों से युक्त हो, तो भी वस्त्ररूप श्रीराम नाम के बिना वह नहीं सोहती। यथा—"बादि बसन बिनु भूषन भारू।" (अ० दो० १७७); प्रत्युत उसके देखने से पाप होता है, जैसे नंगी स्त्री के देखने से पाप होता है, यथा—"न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन ॥" (कूर्म-पुराण)। 'सब भाँति सँवारी' से वस्त्र छोड़कर शेष पन्द्रह शृंगारों से युक्त अर्थ है।

इन्हीं के प्रतिरूप दो अर्द्धालियाँ सुंदरकांड में भी हैं—"राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी ॥" (दो० २२)।

सब गुन रहित कुकबि-कृत बानी । राम-नाम जस अंकित जानी ॥५॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही । मधुकर सरिस संत गुनग्राही ॥६॥

अर्थ—सब गुणों से हीन और फिर बुरे कवि की कही हुई वाणी को भी, श्रीरामजी के नाम-यश की छाप से युक्त जानकर, बुद्धिमान् लोग आदर के साथ कहते और सुनते हैं, (क्योंकि) संत लोग भ्रमर के समान गुण ही को ग्रहण करनेवाले होते हैं ॥ ५-६ ॥

विशेष—(१) 'राम-नाम जस अंकित' वाक्य 'बानी' और 'जानी' दोनों के बीच में देहली-दीपक रूप है। अंकित अर्थात् चिह्नित, जैसे राजा का नाम और रूप अंकित होने से ताँबे, और गिलट के भी सिक्के एवं कागज के भी नोट बहुमूल्य रूप में माने जाते हैं, वैसे ही जिस कविता में श्रीराम-नाम-यश की छाप होती है, संत उसीका आदर करते हैं, यथा—"नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चाम को।" (वि० ९९)।

(२) 'सादर कहहिं···' संत आदर करते हैं, अतः, श्रीराम-नाम-रूपी गुण को ग्रहण करते हैं, इसीसे गुणग्राही हैं और असन्त अवगुणग्राही, क्योंकि वे निरादर करते हैं। पूर्वार्द्ध में 'बुध' और उन्हें ही उत्तरार्द्ध में 'सन्त' कहा, अतः, पर्यायी सूचित किया। पूर्व काव्य विचित्र और उसके रचयिता सुकवि थे; अतः, कार्य और कारण दोनों उत्तम थे और यहाँ दोनों ही बुरे हैं, पर श्रीराम-नाम-यश ही से इसे ग्राह्य और सुशोभित कहा, क्योंकि—"राम नाम हीन तुलसी न काहू काम को।" (क० उ० १७८)।

'मधुकर सरिस···' भ्रमर सब जगहों के और सब प्रकार के फूलों से रस लेता है—वह रसग्राही है, वैसे सन्त भी सब देशों एवं सब जातियों के द्वारा की हुई कविता से श्रीराम-नाम-यश ग्रहण करते हैं। पुनः फूल चाहे काला हो या लाल, भ्रमर की दृष्टि रस पर रहती है, वैसे कविता चाहे भाषा में हो या संस्कृत आदि में—चाहे उत्तम हो या निकृष्ट—सन्तों की दृष्टि श्रीराम-नाम-यश पर ही रहती है, वे उसी को पाकर आदर करते हैं, यथा—"तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥" (श्रीमद्भागवत स्कंध १ अ० ५)।

(३) 'सब गुन रहित···' में 'सबगुन' का अर्थ काव्य के समस्त गुण और 'गुनग्राही' में गुण का अर्थ उपर्युक्त 'गुन एक' में कथित श्रीराम-नाम अर्थ है, अतः, 'गुन' से उपक्रम और 'गुन' ही पर उपसंहार करके छः अर्द्धालियों में श्रीराम-नाम का महत्त्व कहा गया, क्योंकि श्रीराम-नाम में छः मात्राएँ हैं, यथा—"रामनाम्नि तु विज्ञेयाः षण्मात्रास्तत्त्वबोधकाः।" (शिवरहस्य)।

जदपि कवित-रस एकउ नाहीं। राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं॥ ७॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥ ८॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगर-प्रसंग सुगंध बसाई॥ ९॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी॥१०॥

शब्दार्थ—अगर = सुगंधित लकड़ी। प्रसंग = साथ। बसाई = वास देता है। भदेस = भद्दा।

अर्थ—यद्यपि इस (कविता) में काव्य-रस एक (कुछ) भी नहीं है; तथापि इसमें श्रीरामजी का प्रताप प्रत्यक्ष है॥ ७॥ यही भरोस मेरे मन में आया है कि भले के संग से किसने बड़ाई नहीं पाई ? (अर्थात् सब ने पाई)॥ ८॥ धुआँ अगर के संग से अपना स्वभाविक कड़ुवापन भी छोड़ देता है और सुगंध से वासित होता है॥ ९॥ वाणी तो भद्दी है, पर इसमें जगत् का मंगल करनेवाली श्रीरामकथारूप अच्छी वस्तु कही गई है॥ १०॥

विशेष—(१) ऊपर श्रीरामनाम-द्वारा कविता की शोभा बतलाई, अब श्रीरामजी के प्रताप-द्वारा कहते हैं कि अन्य कविताओं में वह प्रताप गुप्त है, पर इसमें तो प्रकट है, यथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥" (दो० २४१); "बान-प्रताप जान मारीचा।" (लं० दो० ३५-१७); "प्रभु-प्रताप उर सहज असंका।"··· से—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा।···" (लं० दो० १७-२४) तक; "जबते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो···" से "यह प्रताप रबि जाके, उर जब करइ प्रकास।" (उ० दो० ३०-३१) तक। 'सोइ भरोस···' इसी श्रीराम-प्रताप के भरोस को धुएँ के दृष्टान्त से समझाते हैं।

(२) 'धूमउ तजइ···' कविता धुएँ के समान है, 'अगर' श्रीराम-प्रताप है। धुएँ में कोई गुण नहीं है, पर अगर के संग से देवताओं के योग्य हो जाता है, यही धुएँ को बड़ाई मिलती है। धुआँ अगर के संबंध से ही निकलता है, जो उसमें गंध-रूप से रहता है, वैसे मेरी कविता में कोई गुण नहीं है, पर यह श्रीरामप्रताप-द्वारा ही निकलती है और वही प्रताप इसमें प्रत्यक्षरूप से है। अतः, यह भी संतरूप देवताओं के योग्य होगी, यही इसे बड़ाई मिलेगी।

'जदपि कवित···' से 'सुगन्ध बसाई' तक में प्रताप कहा, आगे—'भनिति भदेस···' से 'सरित पावन पाथ की।' तक में कथा के गुण कहते हैं—

छन्द—मंगलकरनि कलिमलहरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥

शब्दार्थ—पाथ = जल। कूर (कूट) = टेढ़ा।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की कथा मंगल करनेवाली और कलि के पापों को हरनेवाली है। इस कविता-नदी की चाल टेढ़ी है, जिस प्रकार पवित्र जलवाली नदी की (हुआ करती है।)

विशेष—(१) इस छंद का नाम हरिगीतिका है। इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं और उनमें १६-१२ पर विराम होता है। अंत में लघु-गुरु होते हैं।

(२) यहाँ 'कविता-नदी' उपमेय, 'सरित पावन पाथ की' उपमान, 'ज्यों' वाचक और 'गति कूर' धर्म है; अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। उपमान में किसी पवित्र नदी का नाम न देकर सरयू, गंगा, यमुना, मंदाकिनी एवं नर्मदा आदि सभी को सूचित किया। वाणी (सरस्वती) का स्थूलरूप नदी है और 'एकतार भाषण' को धाराप्रवाह कहते भी हैं। अतः, इस पुण्य यश युक्त कविता को यहाँ तथा अन्यत्र भी नदी का रूपक दिया है, यथा—"पावन गंग तरंग माल से।··· राम कथा मन्दाकिनी, ··· जग जमुना सी। ··· मेकल सैल-सुता सी॥" (दो॰ ३०-३१); "चली सुभग कविता सरिता सी। ··· सरजू नाम ···" (दो॰ ३८)।

(३) 'गति कूर ···' कूर का अर्थ कविता-पक्ष में भद्दी और नदी-पक्ष में टेढ़ी है, जैसे, गंगा आदि के पवित्र जल के सम्बन्ध से टेढ़ाईरूप दोष पर कोई दृष्टि नहीं देता, वैसे ही इस कविता में पवित्र कथा के सम्बन्ध से भद्दापन दोष नहीं है, प्रत्युत पावन है।

'सरित पावन पाथ की' और 'कविता सरित' का मिलान (क्रमशः)—(क) दोनों प्रवाहरूपा हैं, (ख) गति टेढ़ी—भद्दी, (ग) पवित्र जल—पावन कथावस्तु, (घ) पवित्र नदी पाप नाश करके मोक्ष देती है—कथा कलिमलहरणी और मंगलकरणी है और (ङ) पुण्य जल से टेढ़ाई दूषित नहीं—कथा की पावनता से कविता का भद्दापन भी दूषित नहीं।

कथा की चाल भी टेढ़ी है—श्रीअयोध्या से प्रारंभ होकर मिथिला गई, फिर अयोध्या, चित्रकूट, कैकयदेश, अयोध्या, चित्रकूट, अयोध्या, लंका और पुनः अयोध्या आई, अतः गंगा, सरयू आदि से भी अधिक टेढ़ी है।

सम्बन्ध—ऊपर टेढ़ाई से गुण दिखाकर अब 'असुहावनि अपावनि' को 'सुहावनि पावनि' कहते हैं—

प्रभु-सुजस-संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव-अंग-भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी॥

शब्दार्थ—भव = शिवजी। भूति = विभूति, राख।

अर्थ—श्रीरामजी के सुन्दर यश के संग से यह कविता अच्छी हो जायगी और सज्जनों के मन को भी अच्छी लँचेगी, जैसे शिवजी के अंग में लगने से श्मशान की (अपवित्र) विभूति भी स्मरण करते ही शोभित और पवित्र होती है।

विशेष—यहाँ 'प्रभु-सुजस' और 'भव-अंग,' 'भनिति' और 'मसान की भूति' 'सुजन मनभावनी'—'भलि होइहि' और 'सुहावनि-पावनी' (होती है), ('कहत-सुनत' गुन) और सुमिरत, क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। कविता श्मशान की राख की तरह भद्दी एवं अपवित्र है, पर प्रभु-सुयश रूप शिवजी के अंग-संग से 'भली' एवं 'सुजन मनभावनी' होगी। कविता भद्दी है, इसीलिये इसका कहना-सुनना नहीं कहा। जैसे वह श्मशान की राख स्वयं पवित्र होती है और दूसरे को अच्छी लगती है, वैसे 'भनिति' स्वयं अच्छी होगी और सुजनों को भी पसंद आवेगी।

यहाँ तक कविता में योग्यता-प्राप्ति के पाँच हेतु कहे गये हैं—१—'राम-भगति भूषित जिय जानी ॥ २—'येहि महँ रघुपति-नाम उदारा ।' ३—'राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं ।' ४—'भनिति भदेस-बस्तु··· रामकथा ···' । ५—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि'···।

दोहा—प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति रामजस-संग ।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिय मलय-प्रसंग ॥

अर्थ—श्रीराम-यश के संग से मेरी कविता सभी को अत्यन्त प्रिय लगेगी, जैसे मलय-गिरि के प्रसंग से सब काष्ठ वंदनीय हो जाते हैं । फिर क्या कोई लकड़ी का विचार करता है ?

विशेष—मलय पहाड़ पर बबूल, निम्ब एवं कुरैया आदि जो भी वृक्ष हों, उनमें उसके असली चंदन की गंध वायु-द्वारा प्राप्त होकर चन्दन की-सी सुगध आ जाती है; उन वृक्षों के पत्ते आदि का पूर्व आकार ज्यों-का-त्यों रहता है, तब भी चन्दन के गंध-गुण की प्रधानता से उनकी लकड़ियाँ चन्दन ही मानी जाती हैं । उस चंदन को भी लोग देवताओं पर चढ़ाते और मस्तक पर लगाते हैं । फिर बबूल, नीम आदि के नाम भी उनमें नहीं रह जाते । यथा—"किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्तरव । मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥" (भर्तृहरिशतक) । इसी प्रकार बबूल आदि के सदृश मेरी कविता है, वह भी श्रीरामयश रूप मलयाचल के संग से चन्दन के समान सुगंधित एवं आदृत होगी ।

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सियराम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान ॥१०॥

अर्थ—काली गाय का दूध अति उज्ज्वल और गुणकारी होता है, (अतः उसे) सब लोग पीते हैं, इसी तरह श्रीसीतारामजी का यश (ग्रामीण भाषा में होने पर भी) सुजान लोग गावेंगे और सुनेंगे ।

विशेष—यहाँ 'स्याम सुरभि' और 'गिरा ग्राम्य,' 'पय बिसद', 'अति गुनद' और 'सियराम जस,' 'करहिं पान' और 'गावहिं''सुनहिं' 'सब' और 'सुजान' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं ।

यश का रंग उज्ज्वल है और श्रीसीतारामजी का यश परम उज्ज्वल है, यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे । ससि मलीन रवि सीतल लागे ॥" (दो० २११) । इसीसे चारों दृष्टान्त उज्ज्वल वस्तुओं के दिये गये हैं—गंगा का जल, शिवजी का शरीर, मलयाचल, और दूध । चारों दृष्टान्तों से यशःसम्बन्धी पृथक्-पृथक् बातें दिखाई गई । तीन के विषय में ऊपर कहा गया है । यहाँ सबके ग्रहण करने के लिये ग्राम्य भाषा का दृष्टान्त स्यामा गाय से दिया गया है ।

वैद्यक ग्रन्थों में स्यामा गाय का दूध विशद एवं अति गुणद कहा गया है । गाय के शरीर की श्यामता (कालापन) दूध में नहीं आती, वैसे मेरी भाषा का भद्दापन यश में न्यूनता नहीं ला सकेगा ।

'अति गुनद'—"कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वाताहारि गुणाधिकम्" (वैद्यरहस्य); अर्थात् काली गाय का दूध वात रोगों का नाशक और अधिक गुणवाला होता है । वैसे भाषा-काव्य में अधिक गुण यह

है कि यह थोड़े परिश्रम में ही सबके पढ़ने-समझने में आ जाता है और इसके पाठ का अधिकार भी सब को है। संस्कृत सत्त्वगुणी देववाणी है, अतः, उजली गाय के समान हुई। उजली गाय का दूध काली गाय के दूध की अपेक्षा कम गुणद होता है, क्योंकि वह कफवर्द्धक कहा जाता है, वैसे संस्कृत में वर्णित यश को कम ही लोग पढ़-समझ सकते हैं, यही कम गुणद हुआ, क्योंकि संसार की अधिकांश जनता उससे वंचित ही रह जाती है।

'गिरा ग्राम्य' एवं 'गावहिं सुनहिं सुजान' से यह भी आशय निकलता है कि जिस गाँव में जो चरित्र हुआ है, वहीं की भाषा में उसका वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त है। अतः, अवध का चरित्र अवधी भाषा में ही अधिक यथार्थ है। श्रीमद्वाल्मीकीय उसी समय की रचना है। उसमें श्रीहनुमान्‌जी के शुद्ध संस्कृत बोलने की प्रशंसा श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से बहुत की है। अतः, उस समय भी प्राकृत भाषा थी। श्रीहनुमानजी लंका में अशोक-वृक्ष पर बैठे सोच रहे हैं—'यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ वानरस्य विशेषेण कथं स्याद‌भिभाषणम्। अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवित्॥ (वाल्मी॰ सुंदर॰ सर्ग ३०, श्लोक १८।१९), इन वाल्मीकीय श्लोकों से भी उस समय संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा (मानुषवाक्य) का अस्तित्व सूचित होता है। संस्कृत का अर्थ 'व्याकरण द्वारा संस्कार की हुई भाषा' है। हाँ, उस समय संस्कृत विशेष रूप में प्रचलित थी। फिर भी प्राकृत का-सा स्वारस्य साधारण जनता के लिये संस्कृत में नहीं आता। यथा—'भैया! कहहु कुसल दोउ बारे।' यह वचन श्रीदशरथ महाराज का है जो वात्सल्य में मुग्ध होकर श्रीजनकपुर के दूतों से कहा गया है। श्री अवध में ज्येष्ठ पुत्र और बड़े भाई को 'भैया' कहते हैं। राजा ने श्रीरामजी का कुशल-समाचार लाने से उन्हें श्रीराम के समान मानकर 'भैया' कहा है। ऐसे ही श्रीकौशल्याजी ने भी श्रीरामजी को 'भैया' कहा है, यथा—"पितु समीप तब जायेहु भैया।" (अ॰ दो॰ ५२)। इस 'भैया' शब्द का स्वारस्य संस्कृत में नहीं आ सकता। अतः, इस प्राकृत भाषा में चरित ज्यों-का-त्यों कहा गया है, इससे ग्राम्य भाषा 'अति गुणद' और 'सुजानों' से ग्राह्य कही गई है।

गाय के दृष्टान्त पर यशः-प्रसंग की समाप्ति से यह भी भाव है कि गाय सर्वत्र विचरनेवाली एवं पंचगव्य द्वारा कल्याण करनेवाली तथा लोकपूज्या है एवं कामधेनु सब मनोरथों को देती है, वैसे इस कविता का सर्वत्र प्रचार होकर कल्याण होगा। कामधेनु की तरह यह चारों फल देगी और लोक-पूज्या होगी; यथा—"राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥" (दो॰ ३०)।

सम्बन्ध—ऊपर कविता के गुण-दोष दिखाकर वह गुण कहा जिससे सज्जन ग्रहण करेंगे। इसपर यदि कोई कहे कि कोई ग्रहण करे या न करे—आप तो गाते ही हैं। उसपर कहते हैं—

मनि-मानिक-मुकता छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥१॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥२॥
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥३॥

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ता जैसी छबिवाले हैं, उसी तरह सर्प, पर्वत और हाथी के सिर में नहीं शोभित होते॥१॥ (ये सब ही) राजा के मुकुट और युवती स्त्री के शरीर के सम्बन्ध से अधिक शोभा को प्राप्त होते हैं॥२॥ पंडित कहते हैं कि उसी तरह सुकवि की कविता और जगह रची जाती है तथा और ही जगह शोभा पाती है॥३॥

विशेष—(१)'मनि-मानिक-मुकता···' मणि-माणिक्य और मुक्ता का क्रमशः यथासंख्यालंकार की रीति से सर्प, पर्वत और हाथी से होना सूचित किया है। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं, वैसे कविता भी ध्वनि, व्यंग्य और सामान्य क्रम से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट समझी जाती है।

(२) 'नृप-किरीट···' राजा के मुकुट में मणि आदि का जड़ा जाना और युवती के अंग में हार आदि के रूप में रहना कहा ; इससे दोनों के अंगों और भूषणों में इनका जटित होना भी जनाया, जैसे (दो० २०८) 'सौंपे भूप···' में पिता के यहाँ आशीष और माता के यहाँ शीश नवाना कहा है, पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं।

(३) 'तैसेहिं सुकवि···' जैसे मणि आदि की उत्पत्ति सर्प आदि से होती है और उनकी शोभा 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी-तनु' में होती है, वैसे कविता की उत्पत्ति कवि से और उसकी शोभा पंडितों के समाज में होती है, यथा—कविः करोति काव्यानि बुधः संवेत्ति तद्रसान्। तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्।" ऐसा प्रसिद्ध है।

सम्बन्ध—ऊपर मणि-मुक्तादि की उपमा दी। आगे यह कहते हैं कि वैसी कविता श्रीसरस्वती की कृपा से होती है और वे श्रीरामयश के सम्बन्ध में ही कृपा करती हैं—

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥४॥
रामचरित-सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये ॥५॥
कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी ॥६॥
कीन्हे प्राकृतजन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ॥७॥

शब्दार्थ—कोबिद = पंडित। प्राकृतजन = साधारण मनुष्य, सांसारिक मनुष्य। गिरा = सरस्वतीजी।

अर्थ—कवि के स्मरण करते ही सरस्वतीजी भक्ति के कारण ब्रह्मलोक को छोड़कर दौड़ी आती है ॥४॥ उनके तुरंत दौड़कर आने का वह श्रम, बिना श्रीरामचरित-रूपी तड़ाग में स्नान कराये, करोड़ों उपाय करने पर भी, नहीं जाता ॥५॥ ऐसा हृदय में विचार कर कवि-कोविद लोग कलि के पापों को हरने-वाले भगवान् के यश गाते हैं ॥६॥ संसारी मनुष्यों के गुण गाने से सरस्वतीजी अपना सिर पीट-पीटकर पछताने लगती हैं (कि मैं श्रम करके नाहक आई) ॥७॥

विशेष—(१) 'भगति हेतु···' सरस्वतीजी उपासिका हैं, यथा—"सारद उपमा···एक टक रही रूप अनुरागी।" (दो० ३१८), इसीसे वे श्रीराम-यश-गान रूपा भक्ति के लिये ब्रह्मलोक का आनन्द पूर्णभवन छोड़कर उत्साह से दौड़ी आती हैं। दौड़कर आना यों भी है कि परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये चार वाणियाँ हैं, जिनके स्थान क्रमशः नाभि, हृदय, कंठ और जिह्वा हैं। हरियश सम्बन्धी वाणी परा है, वह नाभि-स्थल में बुद्धि के देवता ब्रह्मा के पास रहती है। वह स्मरण होने से हृदय, कंठ होती हुई वैखरी पर शब्द-रूप होकर आती है। यही दौड़कर आना है, यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख-पंकज आई॥" (अ० दो० २१६); अनुभवात्मक कविता का स्वतः उद्गार होना, शारदा का दौड़कर आना है, जैसे श्रीवाल्मीकिजी के मुख से 'मा निषाद···' श्लोक निकला। थके हुए का श्रम स्नान से दूर होता है, अतः, इस 'रामचरित-सर' में नहलाना कहा। महाकवि जयदेव ने भी अपने 'प्रसन्नराघव नाटक'

की प्रस्तावना में सूत्रधार से यही कहलाया है—'भगति जगती मागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत। अपि कथमसौ मुञ्चे देनं नचेदवगाहते। रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामय-दीर्घिकाम्॥ (प्रस्तावना १।११)।

(२) 'कीन्हे प्राकृत'''सिर धुनि''' शारदा का सम्बन्ध श्रीरामजी से है, यथा—"सुमिरि गिरा-पति प्रभु धनुपानी।" (दो० १०४) अतः, उनका उपयोग अदिव्य के विषय में होने से उन्हें दुःख होता है, तब वे सिर पीट-पीटकर पछताती हैं और कोसती हुई कहती हैं कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ, वैसे तुम्हारी कविता भी व्यर्थ हो। मुझे नीच के कथन में लगाया; अतः, तुम भी नीच गति पाओगे। पुनः मनुष्य-यश-वर्णन में सूर्य के समान प्रताप, चंद्रमा के समान यश आदि उपमानों द्वारा मिथ्या कथन भी होता है, जिससे उन्हें दुःख होता है, यथा—"मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।" (भर्तृहरिः)।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥८॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकतामनि चारू॥९॥

दोहा—जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥११॥

अर्थ—पंडित लोग कहते हैं कि हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और सरस्वती स्वाती के समान हैं॥८॥ यदि (शारदा-रूपा स्वाती) श्रेष्ठ विचार-रूपी उत्तम जल की वर्षा करे तो कविता-रूपी सुन्दर मुक्तामणि (उत्पन्न) होते हैं॥९॥ (उन कविता-रूपी मुक्तामणियों को) युक्ति से वेध (छेद) कर रामचरित-रूपी सुन्दर धागे में गूँथें (तो उसे) सज्जन अपने निर्मल हृदय पर पहनते (धारण करते) हैं और अत्यन्त अनुराग-रूपी शोभा पाते हैं।

विशेष—(१) 'हृदय सिंधु''' हृदय समुद्र के समान गंभीर हो, उसमें सीप-(सितुही)-रूपा बुद्धि कविता-रूपी मुक्तामणि के उत्पन्न के लिये, शारदा-रूपा स्वाती के बरसे हुए सद्विचार-रूप जल को धारण करे। प्रथम मूर्त्तिमती शारदा का कथा सुनने को दौड़कर आना कहा था। यहाँ उनका वाणी रूप से विचार देना कहते हैं, इससे यहाँ उनके दो रूप सूचित किये।

(२) 'जौं बरषइ''' स्वाती की वर्षा प्रायः कम होती है। यथा—कहुँ-कहुँ वृष्टि सारदी थोरी।' (कि० दो० १५); सब जगह उसकी वर्षा नहीं होती, वैसे शारदा भी श्रेष्ठ विचार-रूपी जल सब कवियों के हृदय में नहीं बरसातीं। स्वाती समुद्र के अन्य पात्रों पर एवं सब सीपियों पर वर्षा नहीं करती, वैसे शारदा की भी कृपा किसी विरले ही भाग्यवान् पर होती है; अतः, संदिग्ध सूचक 'जौं' कहा गया।

स्वाती का जल हाथी के कान में पड़े तो गजमुक्ता, कदली में कपूर, गाय में गोरोचन एवं बाँस में पड़ने से वंशलोचन पैदा करता है, पर सबसे अधिक मूल्य का पदार्थ सीप ही में पड़ने से होता है, वैसे सद्विचार बुद्धि ही द्वारा प्रकट होता है; अतः, 'मति' को 'सीप' कहा।

(३) 'जुगुति बेधि''' प्रथम कविता को मुक्ता के समान कहा था। वहाँ गजमुक्ता थी। यहाँ सीप को मुक्ता है। वहाँ उन मणि-मुक्ता आदि से 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी तनु' में शोभा होना कहा गया, यहाँ सज्जनों में शोभा होना कहा है। 'बिमल उर' के सज्जनों में अनुराग प्रकट करने से इस मुक्ता-हार की शोभा और इस हार से सज्जनों की शोभा है; अतः, अन्योन्य सापेक्ष्य हैं।

(४) पूर्ण रूपक का क्रमशः उपमेय और उपमान—हृदय-सिंधु, मति-सीप, शारदा-स्वाती, शारदा की कृपा कभी किसी पर होती है जैसे स्वाती को वर्षा भी कहीं-कहीं होती है; वर विचार—वर वारि, कविता—मुक्तामणि, सूक्ष्म युक्ति से काव्य की शोभा—महीन छिद्र से मोती की शोभा, युक्ति—महीन बरमा, रामचरित का काव्य में वर्णन-रूप प्रवेश—डोरे का मोती में गूँथना, हृदय में धारण करना—माला का छाती पर पहनना, सज्जन—धनी, अति अनुराग होना—शोभा होना।

इस मानस-ग्रंथ में चार संवादों के द्वारा सब कथाएँ वर्णित हैं। सूक्ष्म युक्ति-रूप बरमे से कविता-मणि में छेद किया। फिर श्रीरामचरित-रूप धागे को लेकर प्रथम श्रीगोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलाया। उन्होंने शिवजी के संवाद में, फिर शिवजी ने काकभुशुंडि के संवाद में मिलाया, यही संपूर्ण चरित का गूँथना है।

(५) यहाँ 'विमल उर' के साथ 'अति अनुराग' कहा गया है। अतः, सामान्य लोगों का सामान्य अनुराग होना सूचित हुआ। मुक्ता के पक्ष में युक्ति का अर्थ चतुरता है और काव्य-पक्ष में अर्थ यह है कि वक्ता के वचन अपने गुप्त आशय को श्रोता के हृदय में प्रकट कर विनोद प्राप्त करें; यथा—"जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३)।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से प्रश्न हो सकता है कि क्या मानस की कविता ऐसी ही है? उसपर कहते हैं कि ऊपर की बातें तो सत्कवियों के विषय में कही हैं; मेरी कथा अब सुनिये—

जे जनमे कलि काल कराला। करतब बायस बेष मराला ॥१॥
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥२॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥३॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधक धोरी ॥४॥

शब्दार्थ—कलेवर = देह। भाँड़ = बर्तन। बंचक = ठग। कोह = क्रोध। रेख = गिनती। धिग (धिक्) = धिक्कार। धर्मध्वज = धर्म का आडंबर खड़ा करके स्वार्थ साधन करनेवाला, पाखंडी। धंधक = काम-धंधे का आडंबर, जंजाल। धोरी = धुरी का धारण करनेवाला, वह बैल जो अधिक बोझे की गाड़ी में दो बैलों के आगे जोता जाता है। धंधक धोरी = हर घड़ी जंजाल में जुता रहनेवाला।

अर्थ—जिनका जन्म कराल कलिकाल में हुआ है और जिनका वेष तो हंस के समान है, पर करनी कौए की-सी है ॥१॥ जो वेद-(विहित)-मार्ग को छोड़कर कुमार्ग में चलते हैं, जो कपट के पुतले एवं कलि के पापों के बर्तन हैं ॥२॥ जो ठग हैं, कहाते वो हैं श्रीरामजी के भक्त; पर दास हैं लोभ, क्रोध और काम के ॥३॥ जगत् के ऐसे लोगों में प्रथम हमारी गिनती है, जो धिक्कार के योग्य और धर्मध्वजी हैं तथा हर घड़ी जंजाल में जुते रहनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—'जे जनमे...' कलि सब युगों की अपेक्षा अति भयंकर है, इसका वर्णन—"सो कलि-काल कठिन उरगारी..." से 'सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।' (उ० दो० १०२) तक है। ऐसे काल में इन पाखंडियों का जन्म है, अतः, तदनुसार ही इनका आचरण भी है; यथा—"ऐसे अधम मनुज खल,...बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माँहि।" (उ० दो० ४०)।

(२) 'करतब बायस ' वे लोग कौए की तरह छली, मलिन एवं अविश्वासी हैं, यथा—"काक समान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (अ० दो० ३०१); पाप का रूप काला है, वे भी पाप-रूपधारी हैं; अतः काले कौए के समान कहे गये हैं। हंस का वेष उजला है, वैसे वे भी दूसरों को ठगने के लिये विवेकी साधुओं का-सा उज्ज्वल वेष धारण किये रहते हैं।

(३) 'चलहिं कुपथ···' पाखंडियों के चलाये हुए मार्ग कुपंथ हैं, यथा—"दंभिन्ह निज मत कलपि करि, प्रगट किये बहु पंथ।" (उ० दो० ९७); तथा—'इमि कुपंथ पग देत खगेसा।' (आ० दो० ३७), अर्थात् ये चोरी, व्यभिचार आदि भी करते हैं। 'कपट कलेवर'—कलियुग कपट-निधान है, यथा—'कालनेमि कलि-कपटनिधानू।' (दो० २६); ये कलि में जनमे हैं, अतः, कपट के पुतले हैं। 'भाँड़े' अर्थात् भीतर भी पाप ही भरा है। 'करतब बायस···' में कपट, और 'चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े।' में पाप कहकर उत्तरार्द्ध 'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े' में दोनों एकत्र कहे।

(४) 'बंचक भगत···' 'भगत' के साथ 'कहाइ' और 'कंचन' आदि के साथ 'किंकर' पद दिया, अर्थात् ये पाखंडी श्रीरामजी के भक्त कहाते मात्र हैं, पर दास तो 'कंचन' आदि के ही हैं, क्रोध और काम के साहचर्य से 'कंचन' शब्द लोभ का वाचक है। प्रस्तुत प्रसंग द्रव्य ठगने के लिये वेष बनाने का है, अतः, यहाँ लोभ प्रथम कहा गया है।

(५) 'तिन्ह महँ प्रथम ··' कलिकाल जब से हुआ एवं इसमें जन्मे हुए जिनके कर्म ऊपर तीन अर्द्धालियों में कह आये हैं, वैसे-वैसे जगत्-भर के पापियों में मैं सबसे अधिक हूँ। सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में राक्षस, और द्वापर में दुर्योधन आदि खल थे, वे सामान्य थे; कलि के 'खल बृंद' उनसे अधिक हैं, उनमें भी मैं श्रेष्ठ हूँ।

(६) 'धिग धर्मध्वज ··' यह धिक्कार केवल अपने प्रति है। धर्म का पताका लिये हुए अर्थात् उत्तम साधु के वेष में निकम्मे धंधे (जंजाल) का भार ढोनेवाले (मुझ जैसे) बैल को धिक्कार है।

पाठां०—'धंधक' की जगह 'धंधक' भी पाठ है, पर कोष में उसका भी अर्थ धंधक ही है।

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥५॥
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरेहि महँ जानिहहि सयाने॥६॥

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणों को कहूँ तो कथा बढ़ जायगी पर पार नहीं पाऊँगा॥५॥ इसीसे मैंने (अपने विषय में) बहुत थोड़ा ही कहा, चतुर लोग थोड़े ही में समझ जायँगे॥६॥

विशेष—'जौं अपने···' मेरे अवगुण अपार हैं, यथा—"जद्यपि मम अवगुन अपार···" (वि० ११८); "मैं अपराधसिंधु ·" (वि० ११७); इत्यादि लिखकर पूरा हो सकता तो लिखता भी, इतने ही से काम नहीं चलेगा। अपने अवगुण-कथन में एक तो बात बढ़ जायगी, दूसरे सयाने तो इशारे से भी जान लेते हैं; अतः, संक्षेप ही में कहा, यथा—"*सुंदर सुजान सुसाहिबहिं बहुत कहब बड़ि खोरि।*" (अ० दो० ३००)। सरस्वती कृत * अर्थ सयानों के लिये यह भी है कि यह ग्रंथकार का कार्पण्य है, जो शरणागति के छः अंगों (अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान् के द्वारा रक्षा का विश्वास, रक्षा के लिये प्रार्थना करना, आत्म समर्पण और कार्पण्य) में छठा है।

---

* सरस्वती [illegible] है। ये भक्तों और भगवान् के [illegible] शब्दों के [illegible] करती हैं। उदाहरणार्थ [illegible] लिये [illegible] देखिये।

समुझि विविध विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥७॥
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका ॥८॥

अर्थ—मेरी अनेकों प्रकार की प्रार्थनाओं को समझकर कोई भी कथा सुनकर दोष न देगा ॥७॥ इतने पर भी जो आशंका (शंका) करेंगे, वे मुझसे भी अधिक मूर्ख एवं बुद्धि के दरिद्र (सिद्ध) होंगे ॥८॥

विशेष—'समुझि···'— मैंने ही कह दिया तो कोई दोष क्यों देगा ? शंका का तात्पर्य यहाँ दोष देने में ही है। भाव यह कि जो कोई चतुर हो, कवि हो तो उसकी समालोचना करके दोष निकालना बुद्धिमत्ता है, जड़मति की कविता में दोष निकालना जड़ता ही है। यही बात आगे कहते हैं—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति-अनुरूप राम गुन गावउँ ॥९॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥१०॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥११॥

अर्थ—मैं न कवि हूँ और न चतुर कहलाता हूँ (वा चतुर कहलाने की चेष्टा करता हूँ,), किन्तु मति के अनुसार श्रीरामजी के गुण गाता हूँ ॥९॥ कहाँ तो श्रीरघुनाथजी के अपार चरित और कहाँ मेरी संसार (के विषय) में रचित बुद्धि ? ॥१०॥ जिस वायु से सुमेरु आदि पहाड़ उड़ जाते हैं, (उसके सामने) कहिये तो (भला,) रुई किस गिनती में है ? ॥११॥

विशेष—(१) प्रथम मणि-मुक्ता के समान कविता से सज्जनों की शोभा कहकर अपना कार्पण्य कहने लगे कि मुझसे वैसी कविता नहीं बन सकती; अत', इस कविता से मैं न तो कवि और न चतुर कहलाना चाहता हूँ, प्रत्युत मति के अनुरूप ज्यों त्यों करके राम-गुण गाता हूँ। फिर यह प्रश्न होता है, कि क्या इस मति से श्रीराम गुण गा लेंगे ? इसपर कहते हैं—

(२) 'कहँ रघुपति···'— कहाँ यह और कहाँ वह ? यह बहुत अंतरसूचक है। चरित की अपारता, यथा—"रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौने लह्यो।" (दो० ३६१)। पूर्वोक्त दो० ७ की चौ० ५ भी देखिये। यहाँ से आगे —'करत कथा मन अति कदराई।' तक अपनी कादरता कहते हैं।

(३) 'जेहि मारुत···' श्रीरामचरित रूपी वायु के सामने शारदा शेष आदि वक्ता भी, जो सुमेरु की भाँति हैं, हलके होकर उड़ जाते हैं अर्थात् 'नेति-नेति' कहकर हार मानते हैं, तब रुई के समान हलकी बुद्धिवाला मैं तो उड़ा हुआ हूँ ही।

समुझत अमित राम-प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई ॥१२॥

दोहा—सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति-नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान ॥१२॥

अर्थ—श्रीरामजी की अमित प्रभुता को समझकर कथा की रचना करते हुए मेरा मन अत्यन्त कदराता (डरता) है ॥१२॥ सरस्वतीजी, शेषजी, शिवजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण, जिन (श्रीरामजी) के गुणों को 'नेति-नेति' कहते हुए सदा गाते रहते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'समुझत ···'—'राम-प्रभुताई'—यथा—"सुनु खगेस रघुपति-प्रभुताई।···"से—"देखि चरित यह सो प्रभुताई।" (उ० दो० ७१-८१) तक तथा—"महिमा नाम रूप-गुन गाथा।" से—"राम अमित गुनसागर,···" (उ० दो० ९०-९२) तक, इत्यादि। 'करत कथा'—शब्द के भीतर जो बातें आती हैं, वे कहने पर अपने अर्थों से सीमित हो जाती हैं। इस प्रकार कहने से 'प्रभुताई' भी शब्दों के अनुसार ही सीमित रूप में अल्प समझी जाती है और तब उसकी लघुता होती है, यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम, कवि-कुलमति सकुचानि॥" (अ० दो० २८८)।

(२) 'सारद सेष ···'—यहाँ से अपनी कादरता का निवारण और धैर्य का साधन कहते हैं कि उक्त शारदा आदि सातो वक्ता भी 'राम-प्रभुताई' को दिन-रात कहते रहते हैं, फिर भी 'इति' नहीं लगती। सब कोई 'नेति' ('न+इति' अर्थात् इति नहीं है,) ही कहते हैं, यथा—"तुमहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति-महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ९०); यहाँ सात मुख्य वक्ताओं के नाम दिये गये हैं, इन्हें ही प्रथम 'गिरि मेरु' की उपमा से बतलाया था, क्योंकि ग्रंथकार ने मुख्य सात ही पर्वत माने हैं, यथा—"उदय अस्त गिरिबर कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिंध मुदित मन सुख न समाई।" (अ० दो० १३७)। शारदा प्रथम कही गई हैं, क्योंकि वे वक्तृत्व की ही देवता हैं, अतः, सबकी जिह्वा पर रहती हैं।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥१॥

अर्थ—(उन) श्रीरामजी की उसी प्रभुता को सब जानते हैं, तो भी बिना कहे किसी से नहीं रहा गया।

विशेष—'सोई' वही, जिसके लिये मैं कदराता हूँ और शारदा आदि 'नेति-नेति' कहते हैं। तात्पर्य यह कि वे लोग एक दूसरे को थका हुआ एवं नहीं पार पाया हुआ देखकर भी चुप न रहे, उसी नियम से मैं भी अपनी शक्ति-भर कहने का साहस करता हूँ। इसपर एक आख्यायिका है कि एक समुद्र के तट पर कुछ तैराक इकट्ठे हुए। वे एक-एक कर तैरने के लिये कूदते गये। कोई मील भर पर, कोई आधे मील पर, कोई अधिक, कोई कम दूरी पर डूबते ही चले गये। सब के पीछे एक तैराक कूदा। वह थोड़ी ही दूर पर डूबने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया और डाँटा कि जब तैरने का साहस नहीं था तब कूदा क्यों? उसने उत्तर दिया कि जैसे सब कूदे, वैसे मैं भी कूदा। वे लोग भी तो पार नहीं ही हो सके।

तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाव भाँति बहु भाखा॥२॥

अर्थ—इस (विषय) में वेदों ने ऐसा कारण रक्खा है कि भजन का प्रभाव (प्रकट करने के लिये एक ही ब्रह्म को) बहुत प्रकार से कहा है।

विशेष—प्रथम वेदों ने एक ही ब्रह्म को अनेक नामों से कहा है। उन नामों के अर्थों से प्रकट गुण उस ब्रह्म के विशेषण हुए। उन विशेषणों के अनुकूल भक्त लोग ध्यान करने लगे, तदनुसार ब्रह्म ने रूप धर कर लीला की, उन्हीं गुणों एवं लीलाओं को उपर्युक्त अन्य वक्ता लोग गाते हैं कि एक-एक गुण भी निःसीम है। उनका अंत न पाकर वक्ता लोग 'नेति-नेति' कहते हैं। यथा—"जो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति

कहि श्रुति गावहीं (कि० दो० ९)। भगवान् का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है; अतः, जिस विशेषण के द्वारा उनमें जैसा ध्यान होता है, वैसे ही गुणों से वे मनोरथ-पूर्ति करते हैं। यथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥" (श्रीरामतापनीय)। स्मृति वाक्य भी है—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युत ।" इसीलिये आगे वेदों के कहे हुए ब्रह्म के 'एक, अनीह' आदि नाम और फिर उसका अनेक रूपों में आविर्भाव भी कहते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥३॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ॥४॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥५॥

शब्दार्थ—एक = अद्वितीय। अनीह = चेष्टारहित। अरूप = रूप में अनासक्त। अनाम = नामाभिमान-रहित। अज = अजन्मा। सच्चिदानंद = जिसका आनन्द सत् (सदा एकरस रहनेवाला) और चित् (ज्ञानात्मक) हो वा नित्य-चैतन्य आनंद रूप। परधामा = जिसका धाम सबसे परे हो। व्यापक = जो सब का आधार एवं सब में हो। बिस्वरूप = विराट् रूप। भगवान् = ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः भगों (ऐश्वर्यों) से पूर्ण।

अर्थ—जो ब्रह्म एक, चेष्टारहित, रूपासक्तिरहित, नामाभिमानरहित, अजन्मा एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप है और जिसका धाम सबसे परे है ॥३॥ जो चराचर मे व्याप्त है, जगत् ही जिसका शरीर है और जो षडैश्वर्य पूर्ण है, उसीने देह धारण करके अनेकों चरित किये ॥४॥ वह (देह धर करके नाना चरित करना) केवल भक्तों के हित के लिये है, (क्योंकि) वह परम कृपालु और शरणागतों का अनुरागी है ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ ब्रह्म के एक, अनीह आदि नौ विशेषण कहे गये हैं। सच्चिदानन्द में सत्, चित् और आनन्द—इस भेद से तीन और लिये जायँगे। नौ से आगे संख्या नहीं है, क्योंकि आगे फिर वह एक और शून्य से दस आदि संख्याएँ चलती हैं। इससे ब्रह्म के अनंत नाम जनाये। यथा—'अनंत नामानी।' (४० दो० ५१) कहा है, इन्हीं नौ विशेषणों को वेद ने भी एक साथ ही कहा है—"एकोदेव. सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥" (कृ० यजु० श्वे० ६।११) अर्थ—एक ही देव सब जीवों में गुप्त रूप से रहता है, सब में व्यापक है, सब प्राणियों का अंतरात्मा है, कर्मों का मालिक है, सब प्राणियों में अधिपति रूप से निवास करता है, सबका साक्षी है, चैतन्यकर्ता और कैवल्य-स्वरूप तथा निर्गुण है।

इनमें अंत का 'निर्गुण' शब्द ब्रह्म का मुख्य वाचक है, यथा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। ···' फिर इसे ही निर्गुण मत कहा—'निर्गुन मत मम हृदय न आवा।' (उ० दो० ११०), पुन —"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म ···" से प्रसंग लेकर वहीं ही 'ब्रह्म राम ते।" (दो० २२) कहा। अत, यह विशेष्य भी है, इसलिये निर्गुण शब्द सब के साथ भी लिया जायगा।

'एकोदेव ···'—जो गुणासक्त नहीं है अर्थात् अपने प्रकाश (गुणों) से होनेवाले कर्म-फलों का भोक्ता नहीं है, वह एक ही देव (प्रकाशकरूप से) सब प्राणियों में गुप्तरूप से रहता है, चराचर रूप से पालन करता हुआ भी अपने को गूढ़ (गुप्त) रखता है, जिससे मोहासक्त जीवों को जगत् में नानात्व का भ्रम होता है, पर है वह 'एक'। संसार के पालन करने के श्रेय से निर्लिप्त (निर्गुण) है, इसीसे अपने को गुप्त रखता है। 'सर्वव्यापी' जल में रस, अग्नि में तेज आदि रूपों से सर्वव्यापी है, फिर भी निर्लिप्त होने से

'अनीह' है। 'सर्वभूतान्तरात्मा'—सब जीवों के शरीरों में अंतर्यामी है, उसीके तेज से रूप-लावण्य है, यथा—'जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं।' (उ० दो० ८१); फिर भी वह इन सब रूपों से निर्लिप्त है, क्योंकि समय पर सब रूपों को मृत्यु-द्वारा नष्ट करता है। अतः, रूप-ममत्वरहित होने से 'अरूप' है। 'कर्माध्यक्षः'—गीता (१८।२४) में देह, इन्द्रियाँ, प्राण, कर्त्ता (जीव) और दैव (ईश्वर)—इन पाँचों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का होना कहा गया है। पाँच में प्रथम तीन तो जड़ ही हैं, चौथा, जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन है, क्योंकि यह भगवान् का शरीर है, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्" (माध्य० ५।७।२२ वृ० ३।७।२२)। अतः, शरीर के कर्तृत्व का अभिमानी शरीरी होता है, इससे वह कर्माध्यक्ष है, पर स्वयं कर्मों से निर्लिप्त है, यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४); अतः, वह 'अज' है, क्योंकि जीवों को कर्म-वश ही नाना जन्म लेने पड़ते हैं और उसके जन्मों (अवतारों) में कर्म हेतु नहीं है। 'सर्व भूताधिवासः'—वह सब जीवों के हृदय में अधिपति-रूप से बसता है, पर उन शरीरों का नामी नहीं होता। अतः, उपर्युक्त रीति से वह 'अनाम' है। 'साक्षी'—जीव पूर्ववासना के अनुसार अनेकों संकल्प करके कर्म करता है, ब्रह्म साक्षी रूप से देखता हुआ, लिप्त नहीं होता, उसीसे सदा एकरस रहता है, अतः 'सत्' रूप है। 'चेता'—सब को चैतन्य करता हुआ स्वयं 'चित्' रूप है। 'केवलः'—वह 'आनन्द' रूप है यथा—'तुरीयमेव केवलम्' (आ० दो० ४); अर्थात् वह आनन्दमय तुरीय में स्थित 'केवल' (शुद्ध ज्ञान) रूप है। 'निर्गुणः'—त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परे है, अतः 'परधामा' है।

इस प्रकार नौ विशेषणों के दिखाने का तात्पर्य है। श्रुति—"द्वासुपर्णा······समाने वृक्षे पुरुषो···" (श्वे० ४।५-६) में कहा है कि ईश्वर और जीव दोनों पक्षी की तरह शरीररूप वृक्ष में रहते हैं। जीवशरीर-रूप वृक्ष के कर्मरूप फलों में स्वाद मानकर उनका भोक्ता होकर रहता है और ईश्वर प्रकाशक मात्र रहता है। जीव उस स्वाद में निमग्न हो असमर्थता के कारण मोह को प्राप्त होकर सोचता रहता है। जब अपने सहायक साथी समर्थ ईश्वर की महिमा देखे तब शोकरहित हो, वही महिमा वेद के 'एको देवः···' से कही गई है कि जिससे 'एक-अनीह' आदि नओ विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, प्रकृति, और स्वेच्छा नामक नओ आवरणों से मुक्त हो, (इन नओ लक्ष्यों से—नओ आवरणों से छूटना मेरे 'श्रीमन्मानसनाम-वंदना' ग्रंथ में विस्तार से है) जब वेद-वाक्य मात्र से कार्य न हो सका, तब व्यापकादि पाँच रूपों से जीवों के उद्धार का उपाय किया।

(७)—'व्यापक विश्वरूप···'—'व्यापक' अर्थात् अंतर्यामी, 'विश्वरूप' अर्थात् विराट् (पर) रूप, 'भगवान्' में ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये छः ऐश्वर्य, होते हैं, वे ही भगवान् ज्ञान-बल से युक्त संकर्षण; ऐश्वर्य-वीर्य से युक्त प्रद्युम्न और शक्ति-तेज से युक्त अनिरुद्ध-रूप से क्रमशः संहार, उत्पत्ति और पालन करने से व्यूह-रूप कहे जाते हैं। 'तेहि धरि देह'—मत्स्य, कूर्म आदि 'विभव' और 'चरित कृत नाना' से अर्चा रूप हुए, क्योंकि विभव-रूप में भगवान् ने जिस प्रकार जो चरित किये हैं, उनके पार्थिव आदि आठ प्रकार के विग्रहों से अर्चा रूप होते हैं। इस प्रकार इस अर्द्धाली में ईश्वर की पंचधा स्थिति कही गई है।

जैसे किसी का प्यारा पुत्र किसी कारण जेलखाने में आ पड़े तो उसके छुड़ाने के लिये उसी मार्ग से (स्वेच्छापूर्वक-कृपावश) पिता भी जाता है और उसके सहित लौटने में व्यतिक्रम से उन्हीं मुकामों को तय करता हुआ आता है, वैसे प्रिय पुत्र रूप जीव क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में आकर बद्ध हुआ सोचता है। इन पाँचो तत्त्वों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पाँचो विषयों से छुड़ाने के लिये क्रमशः पाँचो तत्त्वों को स्वेच्छा एवं निर्लिप्ततापूर्वक धारण करते हुए ईश्वर के पाँच रूप होते हैं।

ब्रह्म का पहला व्यापक (अंतर्यामी) शरीर आकाश है। यथा—"यद्वाऽकाश सनातनम्।" (वाल्मी० उ० स० ११०); यहाँ सनातन आकाश-रूप मे व्यापक ही कहा है तथा—"स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' (यजु० अ० ४०, मंत्र ८)—यहाँ भी 'परि-अगात्' से आकाश के समान कहा है। इसका वर्णन ऊपर 'एको देवः···' में हो गया। आकाश का विषय शब्द है, उसके सुनने से उसके अर्थ से उत्पन्न विषयों मे कामनाएँ होती हैं, जिनका विस्तार आकाश के समान है। वे कामनाएँ उपर्युक्त एक-अनीहादि के लक्ष्य से निवृत्त होती हैं।

दूसरा, विराट् रूप धारण करना ब्रह्म का वायु तत्त्व मे आना है, क्योंकि वह इस रूप मे कर्म-परिणाम रूप जगत् को अपने शरीर में धारण करता है। कर्म प्राणवायु की चेष्टाओं से होते हैं और कर्मेन्द्रिय हाथ भी पवन-तत्त्व का है। अतः, संपूर्ण जगत् के द्वारा निष्पन्न कर्मों का कर्त्ता स्वयं ब्रह्म ही हुआ, क्योंकि शरीर द्वारा किये गये कर्म शरीरी के कहे जाते हैं। इस रूप के ज्ञान से कर्म के कर्तृत्वाभिमान से जीव की रक्षा होती है। यही वायु के विषय से रक्षा है।

तीसरा, व्यूहरूप धारण करना ब्रह्म का अग्नि-तत्त्व में आना है, क्योंकि व्यूह देवरूप हैं। देवताओं के शरीर अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन ही तत्त्वों के होते हैं। उनमे अग्नि प्रधान रहता है। व्यूह के तीन रूप हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ब्रह्मरूप वासुदेव के उपर्युक्त छः ऐश्वर्यों में प्रत्येक व्यूहरूप के दो-दो ऐश्वर्य होते हैं। संकर्षण का स्वरूप 'ज्ञान'मय होता है। वे 'बल' अर्थात् विराग-द्वारा मोह का संहार करते हैं, यथा—'जब उर बल बिराग अधिकाई।' (उ० दो० १२१)। प्रद्युम्न का रूप 'ऐश्वर्य'मय होता है। वे 'वीर्य' से दिव्य गुण उत्पन्न करते हैं। अनिरुद्ध का रूप 'तेज'मय होता है। वे 'शक्ति' से भक्ति-द्वारा पालन करते हैं। इस (व्यूह) रूप से जीव की रक्षा अग्नि के रूप-विषय से होती है, क्योंकि रूप में आसक्ति ही मोह है—'मोह न नारि नारि के रूपा।' (उ० दो० ११५) तथा—'मुनिहिं मोह मन हाथ पराये।' (दो० १३३); पुनः मोह से बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—"मुनि मति-बिकल मोह मति नाठी।" (दो० १३४) अतः, दिव्य गुण नहीं उपजते। रूपासक्तिरूपी कामुकता से भक्ति नहीं हो पाती, यथा—" ·····कामिहिं हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा।" (सुं० दो० ५७)। वे तीनों (मोह, बुद्धि-नाश, भक्ति-नाश) दोषों का निवारण इस (व्यूह) रूप से करते हैं। यही अग्नि के विषय से रक्षा है।

चौथा, विभवरूप धारण करना ब्रह्म का जल-तत्त्व में आना है; क्योंकि वे रज-वीर्य से होनेवाले शरीरों के समान बाल, युवा आदि अवस्थाओं को अपने दिव्य रूप में धारण करते हैं। इससे असुरों का संहार और धर्म-संस्थापन के द्वारा साधुओं की रक्षा होती है। जीवमें कामादि आसुरी संपत्ति की प्रबलता रसना के द्वारा षट्रस पदार्थों से होती है। रसना-द्वारा इस रूप के लीला-गान से हृदय की आसुरी संपत्ति का नाश होकर धार्मिक वृत्ति होती है, इससे जीव रूप साधु की रक्षा जल के रस विषय से होती है।

पाँचवाँ, अर्चा-रूप में पाषाण आदि के विग्रहों मे आना ब्रह्म का पृथ्वी-तत्त्व मे आना है। इनका सेवक (साधक)-अपनी देह और तत्संबंधी वस्तुएँ इन्हीं (अर्चारूप) को अर्पण कर, सेवा में ही आयु समाप्त कर देता है; इससे वह पार्थिव देह सम्बन्धी तीनों (देव, पितृ, ऋषि) ऋणों से मुक्त हो जाता है; यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना य शरणं शरण्यं गतं मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥" (श्रीमद्भागवत ११ स्कंध), यही पृथ्वी के विषय से रक्षा होती है।

जीव प्रतिलोम—उल्टी रीति से इन पाँचों रूपों की उपासना करता हुआ उत्तरोत्तर अवस्थाओं का लाभ करता जाता है, क्योंकि इसे नीचे से ऊँचे चढ़ना है। अत, यह क्रमश. अर्चा, विभव, व्यूह, पर (विराट्) और अंतर्यामी के ज्ञान का अधिकारी होता है। जैसे जीव ब्रह्म के प्रथम अर्चा रूप की आराधना करता हुआ,

उसी की सेवा के साथ-साथ विभव आदि का अनुभव करेगा, अन्त में परिज्ञान सहित 'पर' की आराधना से अंतर्यामी के साक्षात्कार करने में समर्थ होगा। भगवान् प्रत्येक अवस्था में षडैश्वर्य पूर्ण ही रहते हैं। इस पंचधास्थिति का विस्तार पंचरात्र एवं रहस्य ग्रंथों में है, यथा—"स एव करुणासिंधुर्भगवान्भक्तवत्सल। उपासकानुरोधेन भजते मूर्त्तिपंचकम्॥ तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मातर्यामिसंज्ञकम्। यदाश्रित्यैव चिद्वर्गास्तत्तज्ज्ञेय प्रपद्यते॥ पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मष। उत्तरोत्तरमूर्त्तीनामुप स्त्यधिकृतो भवेत्॥" इन श्लोकों के भावार्थ उपर्युक्त ही हैं।

इसमें आराधन क्रम है और श्रीगोस्वामीजी ने भगवान् के रूप धरने का क्रम लिखा है। शेष करुणासिन्धु भक्तवत्सल आदि विशेषण दोनों में समान हैं।

(३) 'सो केवल ''' ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट है कि भक्तों के ही लिये भगवान् ने पाँच रूप धरने की कृपा की, यथा—"तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सु० दो० ४०), राम सगुन भये भगत प्रेमबस।" (अ० दो० २१८), 'अवतरेउ अपने भगत हित, " (दो० ५१) तथा 'भगत-हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२)। 'केवल'—दुष्टों का नाश और धर्म स्थापना साधुरक्षा के ही अंग हैं। ऊपर विभव प्रसंग देखिये। 'परम कृपाल'—कृपा से ही सब रूप धारण करते हैं, यथा—कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। (दो० १२१) एवं भये प्रगट कृपाला " (दो० १९१)। महर्षि शाण्डिल्य भी इस विषय में कहते हैं— मुख्य तस्य हि कारुण्यम्।" इत्यादि।

सम्बन्ध—इसी परम कृपालुता को आगे दो अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥६॥
गई बहोर गरीब-निवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥७॥

अर्थ—जिसके (हृदय में) अपने दास पर ममता और दया है, जिसने करुणा करके फिर क्रोध नहीं किया॥ ६॥ जो गई हुई वस्तु को दिलानेवाले, गरीबनिवाज, सरलस्वभाव, सबल, समर्थ स्वामी और रघुकुल के राजा हैं॥ ७॥

विशेष—(१) 'जेहि जन ' ऊपर के 'परम कृपाल' को 'अति छोहू' और 'प्रनत अनुरागी' को 'ममता' शब्द से व्यक्त किया। अति 'छोहू' के कारण ही भक्त को शरणागत होते ही आप (श्रीभगवान्) स्वीकार करते हैं और उसके सब अपराध भूल जाते हैं, यथा—"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' (सु० दो० ४४)।

उपर्युक्त 'प्रनत अनुरागी' के प्रति यह संदेह हो सकता है कि फिर क्रोध भी करते होंगे, क्योंकि राग के साथ द्वेष भी होता है। यहाँ उसका निवारण किया कि आप जिसपर 'ममता' और 'छोह' करते हैं, उस पर क्रोध नहीं करते, यथा—"जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।" (दो० २८) तथा—"कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० अ० १।११)। क्रोध न करने का कारण आपकी पूर्ण समर्थता है, क्योंकि कम सामर्थ्य होने पर क्रोध होता है, यथा—"भली भाँति जाने पहिचाने साहिब जहाँ लौं जग जूड़े होन थोरे ही थोरे हो गये॥" (वि० २६६)। फिर ममता के कारण यह विचारते हैं कि जब यह मेरा है तब मुझे सँभालना था, मेरे ध्यान न देने पर ही इसमें यह विकार हो

गया। अतः, इसका दोष नहीं है। करुणा गुण ही दूसरे के दुःख दूर करने की प्रेरणा करता रहता है। अतः, दास के दोष चित्त में आने नहीं पाते। यथा—"सरल प्रकृति ··· करुनानिधान की। ··· दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की॥" (वि० ४२)।

(२) 'गईबहोर ···।' राजा दशरथ का कुल जा रहा था, जन्म लेकर आपने उसे लौटाया। विश्वामित्र का यज्ञ भी बंद हो रहा था, बाहु-बल देकर सम्पन्न कराया। अहल्या का पातिव्रत्य पुनः प्राप्त कराया एवं गौतम को उनकी गई हुई स्त्री लौटा दी। सुग्रीव का गया हुआ राज्य फिर प्राप्त कराया। देवताओं की संपत्ति रावण-द्वारा छिन गई थी, फिर से लौटा दी। यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहै॥" (गीतावली उ० १३)।

'गरीब-निवाज'—यथा—"बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को, बिरद गरीब-निवाज॥" (दोहावली १५८) तथा—"राम कृपाल निषाद निवाजा।" (अ० दो० १४६)। भगवान् ने 'गहोरा (जंगली देश) वासियों एवं कोल-किरातों को निहाल किया। ऐसे उदाहरण अयोध्याकांड-भर में तथा अन्यत्र भी बहुत हैं। 'सरल'—यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥" (दो० २३६); "सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥" (आ० दो० ९)। 'सबल'—यथा—"तव भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन परिपाटी॥" (दो० १३८)। "देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" (कि० दो० ६); "अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।" (आ० दो० १)।

'साहिब'—यथा "बडी साहिबी मे नाथ बड़े सावधान हो।" (कविता० उ० १२६); "हरि तजि और भजिये काहि। नाहिंने कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि॥ · " (वि० २१६) तथा—"नाहिं न भजिबे जोग बियो। श्रीरघुनाथ समान आन प्रभु पूरन कृपा हियो॥" (गीतावली, सुं० ४६) एवं "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (लं० दो० २१)।

'रघुराजू'—रघुकुल में एक-से एक शरणपाल राजा हुए हैं, उनमें आप श्रेष्ठ हैं। आपका-सा राज्य भी किसी ने नहीं किया। यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" · · से "बिधु महि पूरि मयूखन्हि, रबि तप जेतनहिं काज। माँगे बारिद देहि जल, रामचन्द्र के राज॥" (उ दो० २२) तक देखिये।

(३) आप भक्तों के लिये 'सरल' हैं, राक्षसों के मारने को 'सबल' भी हैं और तीनों लोकों की रक्षा करने को 'साहिब' (समर्थ) हैं। धर्म-रक्षा तो 'रघुराज' शब्द से ही ध्वनित है।

(४) श्रीराम मे पूर्व के सातों अवतारों के गुण सूचित किये गये हैं, क्योंकि ये सबके अवतारी हैं। यथा—'गईबहोर' में मीन, कमठ, वाराह के गुण हैं। मीन रूप द्वारा शंखासुर से वेद लाकर ब्रह्मा को लौटाया, कमठ रूप से समुद्र मथाकर लक्ष्मी को फिर प्रकट किया जो दुर्वासा के शाप से समुद्र में लुप्त हो गई थीं। वाराह-रूप से हिरण्याक्ष से पृथ्वी को लौटा लाये। 'गरीब निवाजू' से नृसिंह-अवतार के गुण जनाये जिन्होंने दीन प्रह्लाद की रक्षा की थी। 'सरल' से वामन-अवतार के गुण जनाये, क्योंकि प्रभुता छोड़कर भीख माँगी। 'सबल' से परशुराम के गुण सूचित किये, क्योंकि उन्होंने बल से पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियरहित किया। 'साहिब रघुराजू' से श्रीरामरूप के गुण जनाये, क्योंकि इस अवतार से सम्पूर्ण वानरों और ऋक्षों को निःशुल्क सेवक बनाकर दुष्टों का निग्रह और आश्रितों की रक्षा की। पुनः रघुवंशियों की गद्दी पर राज्य शासन किया।

(५) इसमें सातो कांडों के चरित भी सूचित किये गये हैं। 'गईबहोर' से बालकांड, इसमें विश्वामित्र अहल्या, गौतम, जनक आदि के प्रति उनकी खोई हुई वस्तु लौटा लेने की बात ऊपर विशेष (२) में लिखी

गई है। 'गरीब निवाज़' के उदाहरण अयोध्या कांड के दिये गये हैं। 'सरल' से आरण्य कांड सूचित हुआ, क्योंकि इसमें भगवान् ने सब मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर सुख दिया है। 'सबल' से किष्किंधा सूचित है। कारण, बलशाली बालि का वध एवं बली वानरों को वशीभूत करना है। 'साहिब' से सुन्दर और लंका दोनों जनाये, क्योंकि भगवान् ने श्रीसीताजी का पता लगा सेना के साथ जाकर समुद्र को वश किया, भगवान् ने विभीषण को शरण में लिया, उसके विरोधी को मारकर उसे राज्य दिया और श्रीसीता-सम्बन्धी प्रतिकार भी रावण के प्रति किया। 'रघुराजू' से उत्तर जानना चाहिये क्योंकि इसमें रघुवंशियों की गद्दी पर उत्तम रीति से राज्य किया।

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी ॥८॥
तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा ॥९॥
मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥१०॥

शब्दार्थ—सुफल = वाणी की सफलता इसके सत्य होने में है, ईश्वर के विषय में जितना भी बढ़ाकर कहा जाय—सत्य ही होगा। मोहिं भाई = हे भाई ! मुझे वा मेरी समझ में।

अर्थ—ऐसा (जो ऊपर तीन अर्द्धालियों में कहा गया) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हरि-यश का वर्णन करते हैं, उससे अपनी वाणी को पवित्र और सुफल करते हैं ॥८॥ उसी के बल से मैं श्रीरामजी के चरणों को शीश नवाकर, उन्हीं रघुपति के गुणों की कथा कहूँगा ॥९॥ मुनियों ने प्रथम भगवान् की कीर्ति गाई है, उसी मार्ग पर चलना मेरी समझ में सुगम है। (वा हे भाई ! उसी मार्ग पर चलना मेरे लिये सुगम है।)

विशेष—(१) 'करहिं पुनीत'—यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो॥" (दो० १११); यहाँ यश गाने का यह भी प्रयोजन कहा।

(२) 'तेहि बल···' (क) उपर्युक्त वाणी के पावन एवं सफलता के लिये 'रघुपति गुनगाथा' कहता हूँ। (ख) बुधों अर्थात् पंडितों को ऐसा करते देखकर मैंने श्रीरामचरित-वर्णन को उचित समझा; अतः, मुझे भी अधिकार है। (ग) जैसे पंडित श्रीरामजी का वर्णन उन्हें 'गईबहोर ··' आदि जानकर करते हैं, वैसे मैं भी 'कहिहउँ' अर्थात् आगे कहूँगा, तब माथा नवाकर—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ 'जुगल···' (दो० ४२)—वर्णन करने लगूँगा, अभी तो वंदना करता हूँ।

(३) 'मुनिन्ह प्रथम···' पूर्व बहुत मुनियों ने गाया है, वही मार्ग मैं भी ग्रहण करूँगा। मार्ग का भाव यह है कि बाल, वन एवं रण-चरित आदि जिस क्रम से गाये हैं, उसी क्रम से मैं भी कहूँगा। पुनः भाव के साथ गाने से प्रभु प्रसन्न होते हैं; अतः, यह भी भजन का एक मार्ग है, यथा—"तदपि कहे बिनु रहा न कोई।" (उपर्युक्त); "यहि भाँति निज-निज मति-बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सचु पावहीं॥" (उ० दो० ११)।

सम्बन्ध—मार्ग की सुगमता आगे के दोहे में दृष्टान्त-द्वारा कहते हैं—

दोहा—अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं ॥१३॥

येहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहउँ रघुपति-कथा सुहाई ॥१॥

अर्थ—जो बड़ी नदियाँ अत्यन्त अपार (दुस्तर) हैं उनपर यदि राजा पुल बनवा दें तो अत्यन्त छोटी-छोटी चींटियाँ भी बिना परिश्रम के पार चली जाती हैं ॥१३॥ इस प्रकार का बल मन को दिखाकर श्रीरघुनाथजी की शुभ कथा कहूँगा ॥१॥

विशेष—(१) 'अति अपार'... ऊपर 'कहँ रघुपति के चरित अपारा।' कहा था, इसीलिये अपार नदी की उपमा दी। समुद्र साधारणतः अपार होता ही है, उसकी उपमा न दी, क्योंकि अभी ऊपर चरित को 'कीरति' कह आये हैं, आगे भी 'रघुपति कथा' कहेंगे; इसलिये स्त्रीलिंग के विचार से 'अति अपार' कहकर नदी ही की उपमा दी है। यहाँ उपमान—उपमेय सरितवर—रामयश, नृप—वाल्मीकि आदि, सेतु—उनके ग्रंथ हैं, 'कराहिं' धर्म है, वाचक शब्द (जिमि, इव आदि) लुप्त हैं, अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

(२) 'येहि प्रकार बल'... ऊपर 'तेहि बल मैं'... कहा था, यहाँ फिर 'येहि प्रकार बल'... कहा। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम—"समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥" से मन के कदराने का प्रसंग लेकर 'तेहि बल मैं'... तक के प्रसंग से मन को धैर्य देकर प्रवृत्त किया। फिर मन को पार जाने में संशय आ पड़ा, तब 'मुनिन्ह प्रथम'... से इसका प्रसंग लेकर यहाँ 'येहि प्रकार'... पर पूरा किया।

ऊपर 'तेहि बल मैं ... कहिहउँ नाइ राम'... कहा था और यहाँ 'करिहउँ रघुपति कथा सुहाई।' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर 'बुध बरनहिं हरिजस'... के बल पर अपने लिये भी वर्णन के पर्याय में 'कहिहउँ' पद दिया और यहाँ 'नृप सेतु कराहिं' के बल पर अपने लिये भी 'करिहउँ' दे रहे हैं कि मैं भी दूसरों के लिये वैसा ही करूँगा, यह ध्वनित किया। 'सुहाई'—कथा सुन्दर है, अतः, मुझे प्रिय लगती है और सबको प्रिय लगेगी, यथा—"प्रिय लागिहि अति सबहिं मम, भनिति राम-जस संग।" (दो० १०)।

कार्पण्य-युक्त वंदना का प्रकरण समाप्त

ब्यास आदि कबिपुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि-सुजस बखाना ॥२॥
चरन-कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥३॥

अर्थ—व्यास आदि अनेक कवि श्रेष्ठ (हुए), जिन्होंने आदर के साथ हरि-सुयश कहा है ॥२॥ उन सबके चरण-कमलों की वंदना करता हूँ, आप (वे) सब मेरे मनोरथ को पूरा करें ॥३॥

विशेष—(१) 'व्यास आदि ...' पहले कहा था—'मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई।' यहाँ 'कवि पुंगव' कहकर उनकी ही वंदना करते हैं, क्योंकि वंदना ऐश्वर्यवान् की की जाती है। 'नाना' से यहाँ अगस्त्य, वशिष्ठ, नारद आदि हैं। व्यासजी को आदि में रखकर उन्हें परम समर्थ सूचित किया, क्योंकि वे भगवान् के २४ अवतारों में हैं तथा १८ पुराणों एवं वेदों के भी शिरोभाग वेदान्तशास्त्र के रचयिता हैं। वे सत्यवती और पराशर ऋषि के पुत्र तथा श्रीशुकदेवजी के पिता हैं। उन्होंने ही संजय को दिव्यदृष्टि दी थी जिससे वे घर बैठे हुए धृतराष्ट्र को महाभारत का हाल कहते थे। ग्रंथकार भी व्यासजी से वैसी ही दिव्य दृष्टि चाहते हैं, जिससे श्रीरामचरित सूझे, इसी लिये उन्हें आदि में रक्खा और बड़ाई दी अन्यथा उनसे पहले के नारद-पराशर आदि भी कविपुंगव ही हैं।

'सादर बखाना'—मन से स्नेह-समेत, बुद्धि से समझकर, सावधानता पूर्वक और चित्त से हर्षित होकर कहना आदर-सहित है, यथा—"जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥" (दो० १४); "रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह।" (दो० १११) तथा "सुनहु तात मन-मति चित लाई।" (आ० दो० १४)।

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति - गुनग्रामा ॥४॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने ॥५॥
भये जे अहहिं जे होइहहि आगे। प्रनवउँ सबहि कपट सब त्यागे ॥६॥

अर्थ—मैं कलियुग के (उन) कवियों को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने श्रीरघुनाथजी के गुण-समूह का वर्णन किया है ॥४॥ जो परम चतुर प्राकृत कवि हैं, जिन्होंने भाषा में हरि-चरित का बखान किया है ॥५॥ और जो (ऐसे कवि) हो गये एवं मौजूद हैं तथा जो आगे होंगे, उन सबको समस्त कपट छोड़कर (मैं) प्रणाम करता हूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'कलि के कबिन्ह ···' उपर्युक्त व्यासादि को सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के कवि व्यक्त किया। उन्हें 'कबिपुंगव' एवं 'चरनकमल बंदउँ' कहा। कलियुग के कवियों को केवल 'प्रनवउँ' कहा; अतः, यथायोग्य सम्मान दिया। व्यासादि तीन युगों के कवियों को एक श्रेणी में रक्खा, कलि के कवियों के दो भाग किये—एक संस्कृत के कालिदास एवं भवभूति आदि की वन्दना इसी अर्द्धाली में की। दूसरी श्रेणी में भाषा के कवियों को रक्खा, इन्हें 'जे प्राकृत ··' से कहते हैं।

(२) 'जे प्राकृत कबि ··' प्राकृत गुण-विशिष्ट नायकों का यश रचनेवाले, यथा—"यह प्राकृत-महि-पाल-सुभाऊ।" (दो० २०); इन्हें 'परम सयाने' इसलिये कहा कि संस्कृतवालों ने समय पर ध्यान नहीं दिया कि इस कलि में संस्कृत के ज्ञाता बहुत कम होंगे और इन्होंने समयानुसार भाषा में सबके लिये 'हरि चरित' सुलभ कर दिया।

(३) 'भये जे अहहिं ·' 'भये' अर्थात् जो पूर्व हो चुके, यथा—चन्द कवि, विद्यापति ठाकुर आदि; 'अहहिं'—वर्त्तमान के सूरदास, केशवदास आदि और जो आगे भविष्य में होंगे।

(४) तीनों श्रेणियों के प्रति—'जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।' 'जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा।' एवं 'भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।' कहा है अर्थात् इन तीनों में प्रयोजन हरिचरित-वर्णन का सम्बन्ध लेकर ही है।

(५) 'कपट सब त्यागे'—भाषावाले कवियों के प्रति कपट की संभावना है कि ऊपर से प्रणाम करता है, भीतर से बराबरी करने का अभिप्राय है अथवा इस स्वार्थ से कि कोई मेरे ग्रंथ की निन्दा न करें। पुनः भविष्यवालों के प्रति भी प्रणाम किया है। वे छोटे होते हैं,; अतः, उनके प्रति कपट नहीं समझा जाय। इन सब प्रकारों के कपट त्याग कर सद्भाव से प्रणाम करता हूँ।

पाठान्तर—'कपट सब' की जगह 'कपट छल' भी पाठ है, इसमें 'कपट' का अर्थ भेद-भाव और छल का धूर्त्तता है।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू ॥७॥

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ॥८॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥९॥

शब्दार्थ—प्रबंध = काव्य = निबंध। बादि = व्यर्थ। बाल = मूर्ख। भूति = ऐश्वर्य।

अर्थ—आपलोग प्रसन्न होकर वरदान दें कि इस मेरी कविता का आदर साधु-समाज में हो ॥७॥ क्योंकि जिस कविता का आदर बुध (साधु) नहीं करते, उसका श्रम ही व्यर्थ है—ऐसा काव्य मूर्ख कवि करते हैं ॥८॥ कीर्त्ति, कविता और ऐश्वर्य वे ही अच्छे हैं, जो श्रीगंगाजी के समान सबको उपकार करनेवाले हों ॥९॥

विशेष—(१) 'जो प्रबंध बुध ···' साधु-समाज में काव्य का सम्मान माँगने से संदेह हो सकता है कि तुम यश चाहते हो। उसका निराकरण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि इसमें मैं आत्मश्लाघा नहीं करता, प्रत्युत श्रम की सफलता चाहता हूँ। साधुओं में सम्मान के योग्य कैसी कविता होती है, इसे कहते हैं—

(२) 'कीरति भनिति ···' जैसे भगीरथजी बड़े श्रम से श्रीगंगाजी को पृथिवी पर ले आये, जिससे उनके ६०००० 'पुरुषा' तरे और आज तक गंगाजी से संसार भर का हित हो रहा है। गंगाजी प्राणिमात्र का हित करती हैं; वैसे कविता भी पवित्र और श्रीरामयश से युक्त तथा सरल हो जिससे प्राणिमात्र का हित हो सके। साथ ही वह 'निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी।' भी हो एवं 'सकल जनरंजनि' तथा 'भव-सरिता तरनी।' होकर श्रीगंगाजी की तरह मोक्ष भी देनेवाली बने।

इसी तरह कीर्त्ति भी परोपकार एवं दान-पुण्य द्वारा निःस्वार्थ भाव से हो, जिससे अपना और जगत् का हित हो। ऐश्वर्य भी जो संसार के हित सम्बन्धी है, वही गंगाजी के समान हितकर है, अन्यथा खुशामद से ऊँचा पद पा प्रजा को चूसकर सम्मान पाना भला नहीं है।

उपमान-रूपा श्रीगंगाजी त्रिपथगामिनी हैं; अतः उपमेय भी तीन कहे गये।

राम - सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥१०॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥११॥
करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी ॥१२॥

शब्दार्थ—असमंजस = दुविधा। अँदेसा = चिन्ता। पटोर = रेशमी वस्त्र। अनुग्रह = कृपा। अनुहरइ = सुरुपता (योग्यता) पावे।

अर्थ—श्रीरामजी की कीर्त्ति सुन्दर है और मेरी वाणी भद्दी है; यह असमंजस है, इसी की मुझे चिन्ता है ॥१०॥ आप (कवि-कोविदों) की कृपा से वह भी मुझे सुलभ हो सकता है, (कि मेरी कविता कीर्त्ति के योग्य हो जाय) जैसे रेशम की सिलाई से टाट सुशोभित होता है ॥११॥ ऐसा जी में जानकर कृपा कीजिये कि मेरी सुन्दर वाणी निर्मल हरिचरित-वर्णन करने के योग्य हो जावे ॥१२॥

विशेष—(१) 'असमंजस अस···' मेरी वाणी कीर्त्ति के योग्य नहीं है। यदि इस असंगति से संत इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला, पर रुचि प्रबल है; अतः, बिना कहे भी नहीं रहा जाता। पर 'अँदेसा' इसी बात का आ पड़ा है कि कहीं मेरी भद्दी वाणी के संग से श्रीरामयश की न्यूनता न हो, जैसे

नीच मनुष्यों के नाम-सम्बन्ध से देवी-देव के नाम भी निरादर से पुकारे जाते हैं, यथा—"तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम॥" (दोहावली ३६०)।

(२) 'तुम्हरी कृपा सुलभ···' इसमें 'पटोरे' और 'रामचरित्र', 'टाट' और मेरी 'भदेस भनिति' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं। 'सुहावनि' धर्म है, वाचक जिमि-तिमि आदि लुप्त हैं; अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

पूर्व 'रामचरित वर ताग' कह भी आये हैं, अतः, यहाँ भी वह 'पटोरे' (रेशम) के अर्थ में होगा। भद्दी 'भनिति' की उपमा टाट से दी गई, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों में टाट का उस समय अधिक महत्त्व हो जाता है, जब दस भाई इकट्ठे होकर उसपर बैठते हैं, तब 'अमुक जगह टाट पड़ा है' इस तरह प्रशंसा होती है। इसी तरह कविता में श्रीरामचरित रूपी 'बर ताग' की 'सुहावनि सियनि' है; क्योंकि अच्छी सीवन से मोटे वस्त्र की भी शोभा बढ़ जाती है। उस सम्बन्ध से इसे सुशोभित देखकर आपलोग कृपा करके ग्रहण करेंगे तो इसकी भी शोभा हो जायगी, यही मेरे श्रम की सफलता होगी, तब वह असमंजस दूर हो जायगा, क्योंकि संतों के ग्रहण से सब यही कहेंगे कि योग्य है, तब संतों ने इसे अपनाया; यही सुलभता है।

जैसे टाट में रेशम के तागे की 'सुहावनि सियनि' दूर से चमकती है और सब की दृष्टि 'सियनि' की उत्तमता पर ही जाती है, वैसे इसमें 'सरल कवित कीरति बिमल' है, इसके अर्थ और भाव सर्वसाधारण को भी सुस्पष्ट बोध होंगे—यही चमकना है, तब भाषा की न्यूनता न देखकर लोग इसके चरित-चित्रण की ही प्रशंसा करेंगे।

(३) 'करहु अनुग्रह···' अर्थात् टाट पर रेशम की 'सियनि' है, इसे अपने जी में जानकर अनुग्रह कीजिये कि टाट के समान मेरी वाणी रेशम के तुल्य हो जाय, तब रेशम में 'रेशम की सियनि' के योग्य हो। जैसे आजकल पाट (सन) को साफ करके रेशम की तरह बड़े चमकीले वस्त्र आदि वस्त्र बनाये जाते हैं, इसी प्रकार आपलोग 'बिमल मति' देंगे तो 'सरल कवित' में हो निर्मल कीर्त्ति का सुन्दर चित्रण होगा, यही वस्त्र की तरह रेशम की तुल्यता है, इसी का स्पष्टीकरण आगे तीन दोहों द्वारा करते हैं—

दोहा—सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति-बल अति थोर।
करहु कृपा हरि-जस कहउँ, पुनि-पुनि करउँ निहोर॥
कबि कोबिद रघुबर चरित, मानस - मंजु - मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥

शब्दार्थ—सरल कवित=प्रसाद गुण की कविता जिसका आशय सुनते ही समझ में आ जाय। कीरति बिमल = (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति, यथा—"बरनउँ रघुबर-बिमल जसु।" (दो० १४)। सहज बैर = स्वाभाविक बैर, जो पूर्व के कर्म से प्रकृति के साथ निहित हो, जैसे मूसे-बिल्ली का। बखान = प्रशंसा पूर्वं वर्णन।

अर्थ—जो कविता सरल हो और जिसमें (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति का वर्णन हो, चतुर लोग उसीका आदर करते हैं और उसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रशंसा करते हैं अर्थात् सरलता और निर्मल कीर्त्ति के कारण ही चतुर और वैरी दोनों ही आदर करते हैं ॥ वह (ऐसी कविता) निर्मल बुद्धि के विना नहीं हो सकती और मुझमें बुद्धि का बल बहुत कम है। अतः, आपसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं हरि का यश कह सकूँ ॥ जो कवि एवं कोविद (विद्वान्) श्रीराम-चरित-मानस रूपी उज्ज्वल-मानस-सरोवर के सुन्दर हंस हैं, वे मुझ बालक की प्रार्थना सुनकर और मेरी सुन्दर रुचि देखकर मुझपर कृपा करें ॥१४॥

विशेष—(१) 'सरल कवित···' कविता में दोनों ही चाहिये। प्रथम तो कविता सरल हो, फिर उसमें भगवान् की निर्मल कीर्त्ति हो, तभी 'सुजान' आदर करते हैं, कठिन काव्य में कवि का विद्या-मद रूपी दोष रहता है और श्रीराम-कीर्त्ति के बिना चतुरों को उससे कुछ प्रयोजन ही नहीं। यथा—"सब गुन-रहित कुकवि कृत बानी। राम-नाम जस-अंकित जानी ॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही ॥"। (दो० ६)। 'सहज वैर' छूटना यद्यपि असंभव-सा है, तथापि उत्तम काव्य उसे भी भुला देता है। शत्रु पहले तो सुनते ही नहीं, सुनें तो उपेक्षा कर देते हैं, पर 'बखान' करना भी असंभव-सा ही है और जब शत्रु भी 'बखान' करते हैं, तब उसे दिव्य कविता समझना चाहिये। यथा—"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।" (नैषध काव्य) अर्थात् नैषध-रचयिता श्रीहर्ष के पिता के शत्रु कान्यकुब्जेश्वर के दरबार के प्रधान पंडित ने नैषध की कविता सुन हार मानकर पान के दो बीड़े दिये और अपनी जगह अर्थात् प्रधान राज-पंडित के पद पर भी श्रीहर्ष को ही नियुक्त किया।

(२) 'सो न होइ···' वैसी कविता मेरे थोड़े मति-बल से न हो सकेगी, इसलिये आपलोगों से *बार-बार विनय करता हूँ, यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू।···करहु अनुग्रह···करहु कृपा···'* आदि इसी प्रसंग में कहे हैं।

(३) 'कवि कोविद ' कवि काव्य-रचयिता को कहते हैं, जैसे व्यास आदि। कोविद का अर्थ वक्ता एवं टीकाकार है—जैसे, श्रीशुकदेवजी आदि। 'मंजु' शब्द देहलीदीपक न्याय से 'मानस' और 'मराल' दोनों के साथ है। हंस की उज्ज्वलता मानस-सरोवर के प्रति अनन्यता में है कि वह उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता। वैसे कवि-कोविद भी हरियश को नहीं छोड़ते, यथा—"कवि-कोविद अस हृदय बिचारी। गावहि हरि-जस कलिमलहारी ॥" (दो० १०); यथा—"सीताराम गुणग्रामपुण्यारण्य-विहारिणौ···कवीश्वरकपीश्वरौ" (मं० श्लोक)। 'बाल बिनय'—पिता पुत्र के मानपूर्ण भी वचन को पूरा करता है, यदि बालक विनय-युक्त वचन कहे और अच्छे काम की रुचि प्रकट करे, तब पिता-माता उसको पूरा करने में देर नहीं करते, वैसा ही नाता यहाँ ग्रंथकार चाहते हैं कि जैसे आप लोग श्रीराम-चरितमानस के 'मंजु मराल' हैं, वैसी ही रुचि मेरी भी है, कृपा से ही पूर्ण करें। पुत्रवत् भाव से विनय एवं सुरुचि प्रकट करने के अतिरिक्त और उपाय मेरे पास नहीं हैं। 'लखि'—मेरे हृदय के भाव को आपलोग लक्ष्य कर लें।

पूर्व ही ग्रंथकार ने 'संत सरल चित···' से सरल स्वभाव पाया। इस कवि-प्रसंग में 'बिमल मति' पाई और विमल-यश से काव्य को अंकित किया। पुनः सरल कविता की रीति भी प्राप्त की। अतः, इनका ग्रंथ देश-भर में आदर पा रहा है, यह प्रत्यक्ष है।

कवि-वंदना-प्रकरण समाप्त

सम्बन्ध—सब कवियों की वंदना करके अब मुख्य विषय रामायण के आदिकवि वाल्मीकिजी की वंदना करते हैं, जैसे वीरता के काम में श्रीमहावीरजी की वंदना होती है—

सोरठा—बंदउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहि निरमयेउ।
स-खर सुकोमल मंजु, दोष-रहित दूषन-सहित ॥

शब्दार्थ—स खर = खर राक्षस की कथा सहित। दूषन = दूषण नामक राक्षस, दोष।

अर्थ—उन (महर्षि वाल्मीकि) मुनि के चरण-कमलों की मैं वंदना करता हूँ जिन्होंने रामायण का निर्माण किया है, जो (रामायण) खर-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी सुष्ठु-(उत्तम), कोमल और सुन्दर है तथा दूषण-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी दोष-रहित है।

विशेष—"दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।" (उ० दो० २२) इस दोहे के अर्थ में कहा है कि श्रीराम-राज्य में दंड केवल यती के हाथ में और भेद नर्तकों के नृत्य-समाज में रह गया अर्थात् दंड और भेद-नीति का नाममात्र इन दो स्थलों में पाया जाता था और कहीं ये दोनों नीतियाँ न थीं; ऐसा उत्तम राज्य था। वैसे इस सोरठे का भी अर्थ है—रामायण के आदिकवि (निर्माता) मुनि की रामायण कैसी है कि उसमें कठोरता का नाममात्र खर राक्षस के नाम के साथ है, सारा ग्रंथ सुकोमल एवं मंजु है। इसमें दोष भी नहीं है। हाँ, दोष के स्थल में दूषण राक्षस का नाम ही मिलेगा।

(२) इसमें श्लेषालंकार का सुन्दर चित्रण किया गया है। 'स-खर' और 'दूषन-सहित' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। 'स खर' का एक अर्थ कठोरता-सहित और दूसरा खर नाम राक्षस के सहित है। ऐसे ही 'दूषन-सहित' का एक अर्थ दोष सहित और दूसरा दूषण नाम राक्षस के सहित है। यथा—"नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सकोमला॥" (महारामायण)। इसमें भी महर्षि की ही वंदना है और भाव एवं श्लेषालंकार ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। अतः, सोरठे का उक्तार्थ ही यथार्थ है। 'सखर…'—'सखर' और 'सुकोमल-मंजु' तथा 'दोष रहित' 'दूषन सहित' में विरोध जँचता है, पर अर्थ पर विचारने से जरा भी विरोध नहीं रहता। अतः, विरोधाभास अलंकार है। इस अर्थ के प्रति व्यर्थ ही लोग शंका करते हैं कि रावण कुम्भकर्ण मुख्य हैं, उनके नाम न देकर खर दूषण ही क्यों कहे गये? समाधान यह है कि कवि को कठोरता और दोष का पर्याय नाम खर-दूषण ही में मिला। अतः, उसे ही ग्रहण किया।

बंदउँ चारिउ बेद, भव-बारिधि-बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, बरनत रघुबर-बिसद-जस॥
बंदउँ बिधिपद-रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल-बिष-बारुनी॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज (बड़ी नाव)। खेद = दुःख, थकावट।

अर्थ—मैं चारों वेदों की वंदना करता हूँ जो संसार-सागर के लिये जहाज के समान हैं, जिन्हें श्रीरघुनाथजी का उज्ज्वल यश वर्णन करते हुए स्वप्न में भी खेद नहीं होता। श्रीब्रह्माजी के चरण-रज को वंदना करता हूँ, जिन्होंने संसार रूपी समुद्र बनाया, जहाँसे अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु-रूपी संत निकले और विष और मदिरा रूपी खल प्रकट हुए।

विशेष—(१) वन्दना का क्रम—भगवान् का अवतार जानकर प्रथम व्यासजी की वन्दना की। वाल्मीकिजी प्रचेता के ही पुत्र हैं, अतः उनकी वन्दना पीछे की। वाल्मीकिजी वेद के उपबृंहण-(विस्तार)-रूप रामायण के रचयिता हैं। अतः, इनके पीछे रामायण के मूल-रूप वेदों की वन्दना की। फिर वेदों के आदिवक्ता ब्रह्मा की वन्दना की। तत्पश्चात् और देवों की वंदना की। वाल्मीकि और ब्रह्मा के बीच में वेदों की वन्दना की गई है, क्योंकि ब्रह्मा के मुख से वेद आविर्भूत हुए और वे ही वेद रामायण-रूप से वाल्मीकिजी के द्वारा प्रकट हुए।

'भव-बारिधि ......' वेदों के अनुसार चलने से मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो सकता है। 'खेद'—श्रीराम-यश वेदों का नित्य विषय है, अतः, उत्साहपूर्वक वर्णन करने से क्लेश या थकावट नहीं होती। दूसरों को जानने में श्रम होता है, इन्हें नहीं, क्योंकि ये श्रीरामजी के ज्ञान-रूप हैं। 'बरनत रघुबर-बिसद जस'—इसमें प्रायः शंका की जाती है कि वेदों में तो श्रीराम शब्द भी बहुत कम आये हैं, फिर वेदों का निरंतर वर्णन करना क्यों कहा गया ? इसका समाधान यह है कि वेदों में अधिकतर ब्रह्म के 'इन्द्र' और 'देव' नाम आये हैं, वे राम शब्द के पर्यायी हैं, क्योंकि 'इंधी-दीप्तौ' धातु से 'इन्द्र' शब्द और 'राजृ दीप्तौ' से 'राम' शब्द बनता है तथा 'दिवु क्रीड़ायां' धातु से देव और 'रमु क्रीडायां' से राम शब्द निष्पन्न होता है। वेद परोक्षवादी कहे गये हैं, अतः, वे अपने इष्ट को साक्षात् नाम ('राम') के अतिरिक्त अन्य नामों से पुकारते हैं।

दूसरा समाधान यह है। श्रीरामजी ही ब्रह्म हैं। इसीको पुष्ट करने के लिये श्रीमद्रामायण का आविर्भाव हुआ। यथा—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,...सोइ दसरथ-सुत जगतहित,..." (दो० ११८) तथा—"सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।" (दो० १९८)—यथा—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥" (गीता ४।६)। अतः, जो ब्रह्म का यश है, वही रघुबर-यश है, फिर वेद तो अनन्त कहे गये हैं। कितने ग्रंथ विधर्मियों के अत्याचार से नष्ट हो गये जो इतिहास के पाठकों को विदित ही है। जैसे, रामायणें ही सौ करोड़ कही जाती हैं, पर उनमें बहुत कम ही उपलब्ध हैं।

वेद श्रीरामजी के माधुर्य-यश का भी गान करते हैं। यह स्वयं वेदों ने ही कहा है—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० वेदस्तुति)।

(२) 'बंदउँ बिधिपद ...'—'भव' को 'सागर' रूप कहा। 'सागर' से भली और बुरी वस्तुएँ निकली हैं, वैसे 'भव' से भी। संत के वचन अमृत रूप हैं, जिसके द्वारा वे जीवों को मृत्यु रूप 'भव' से बचाते हैं और प्रियभाषी होते हैं। संत का मन चन्द्रमा के समान शीतल है और वे उज्ज्वल यश को पाये हुए हैं। संत कर्म से कामधेनु के समान परोपकारी एवं सरल प्रकृति हैं। खल इनके विपरीत स्वभाव के हैं। जैसे विष घातक होता है, वैसे खल भी संसार का अहित करते हैं। मदिरा मादक एवं मोहक होती है, वैसे खलों में भी अज्ञान और उन्माद होता है। ब्रह्मा इन सबके परम पितामह हैं। अतः, इनके चरणों की धूल की वंदना करता हूँ।

यहाँ यह शंका की जाती है कि शाप-वश ब्रह्माजी अपूज्य हैं, फिर यहाँ इनकी वंदना क्यों हुई ? समाधान यह है कि यहाँ तो नमस्कार है जो वर्जित नहीं है। इनका प्रणाम किया जाना बहुत जगह है।

दोहा—बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहउँ कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोरि ॥१४॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पंडित, ग्रह इन सबके चरणों की वंदना करके हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आप सब प्रसन्न होकर मेरे उज्ज्वल मनोरथ को पूर्ण करें ॥

विशेष—'मनोरथ मोरि'—मनोरथ पुँल्लिंग शब्द है, अतः 'मोर' क्यों नहीं कहा ? समाधान यह है गोस्वामीजी कुछ शब्दों का व्यवहार दोनों लिंगों में करते थे। जैसे—प्रश्न और मनोरथ। इसके उदाहरण बहुत हैं।

यहाँ तक १४ दोहों मे १४ भुवनों के जीवों की वंदना 'सियाराममय' रूप से की गई है।

पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता ॥१॥
मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका ॥२॥

अर्थ—पुनः शारदा और गंगाजी की वन्दना करता हूँ। ये दोनों पवित्र एवं मनोहर चरित वाली हैं ॥१॥ एक (गंगाजी) में स्नान करने और इनके जल पीने से पाप दूर होते हैं और दूसरी (शारदा) के कहने-सुनने से अज्ञान का नाश होता है ॥२॥

विशेष—ऊपर सब देवों के साथ ब्रह्माजी की वंदना की गई है। फिर आगे श्रीशिवजी की वंदना हुई है। बीच में यहाँ दोनों की शक्तियों की एकसाथ वंदना की गई है। ब्रह्माजी की शक्ति शारदाजी और शिवजी की गंगाजी हैं, यथा—"दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी।" (वि० १८)। गंगाजी की तरह सरस्वतीजी भी द्रव-रूपा हैं और गंगाजी की ही तरह वाणी भी धारा प्रवाहवाली कहाती है। अतः, एकसाथ वंदना हुई। प्रथम शारदा का नाम लिया, फिर गुण-कथन में प्रथम गंगाजी को कहा; इससे दोनों में तुल्य भाव दिखाया। प्रथम मंगलाचरण 'वाणी-विनायकौ' में स्वरूप की वंदना थी, यहाँ वाणी के रूप की वंदना की गई; इसलिये नदी-रूप के साथ कहा। 'मज्जनपान' और 'कहत-सुनत', यथा—"कहत-सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।" (दो० ४१)। 'कहत-सुनत' से वक्ता-श्रोता—दोनों का अविवेकहरण कहा।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी ॥३॥
सेवक स्वामि सखा सिय-पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के ॥४॥

अर्थ—मैं शिव-पार्वतीजी को प्रणाम करता हूँ जो गुरु, पिता और माता हैं, दीनबंधु और नित्य दान देनेवाले हैं ॥३॥ श्रीसीताजी के पति (श्रीरामजी) के सेवक, स्वामी और सखा हैं, सब प्रकार से (मुझ) तुलसीदास के बाधारहित हितकारी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु···'—'महेस भवानी' हित उपदेश के गुरु हैं, यथा—"हित उपदेस को महेस मानौ गुरु कै।" (हनु० बा० ४४); साथ ही माता-पिता रूप भी हैं, यथा—"जगत मातु पितु संभु भवानी।" (दो० १०१); अथवा किसी कल्प में ये उत्पत्ति-पालन एवं संहारकर्त्ता भी होते हैं। इससे भी माता-पिता हैं। 'दीनबंधु'—यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ७); 'दिनदानी'—प्रतिदिन दान देनेवाले, यथा—"दानि बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी॥ (वि० ७)।

(२) 'सेवक स्वामि···' शिवजी रामजी के सेवक हैं, यथा—"रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ।" (दो० १११); स्वामी हैं, यथा—"तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायेउ माथा।" (अ० दो० १०२) तथा सखा भी हैं, यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप-भरि, घोर नरक महँ बास॥" (लं० दो० २)।

पुनः सेतु-बंध के प्रसंग में भी 'रामेश्वर' नाम की व्याख्या में तीनों भाव निकलते हैं, यथा—"रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ऋषयः कर्मधारयम्॥" अर्थात् 'रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः' (तत्पुरुष), 'रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः (बहुव्रीहि), 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' (कर्मधारय)—इन तीन प्रकारों में क्रमशः शिवजी के स्वामी, सेवक और सखाभाव पाये जाते हैं।

शिवजी सदा सेवक-भाव ही रखते हैं, इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में वही प्रथम दिया गया है। भक्ति-भाव में सभी नाते बन सकते हैं। 'सब बिधि'—और लोगों को शिवजी एक-एक प्रकार ही के हितैषी हैं, यथा—'कलि बिलोकि जगहित···।' जिसे आगे कहते हैं। पर, मेरे लिये तो 'सब बिधि' हितैषी हैं।

कलि बिलोकि जग-हित हर-गिरिजा। साबर-मंत्र-जाल जिन्ह सिरजा॥५॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस-प्रतापू॥६॥

अर्थ—कलियुग को देखकर जगत् के हित के लिये जिन शिव-पार्वतीजी ने शावर-मंत्रों को रचा॥५॥ जिन मंत्रों में अक्षर बेमेल पड़े हैं, (प्रसंग से ठीक) अर्थ नहीं है और न (विशेष) जाप (का विधान) है। शिवजी के प्रताप से उनका प्रभाव प्रकट है॥६॥

विशेष—(१) 'कलि बिलोकि···' कलि के प्रारंभ में प्रकट प्रभाववाले वैदिक एवं तांत्रिक मंत्र कील दिये गये, तब जीवों के दुःख-निवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीजी भील-रूप में प्रकट हुए। श्रीशिवजी भील-भाषा में मंत्र-समूह रचते गये और श्रीपार्वतीजी की आज्ञा से श्रीगणेशजी उन्हें लिखते गये, वही ग्रंथ 'सिद्ध शाबर' तंत्र कहलाया। सर्प-बिच्छू आदि का विष झाड़ने से तुरन्त उतर जाता है। यह तो सर्वत्र उन मंत्रों का प्रभाव प्रकट है। और भी नाना प्रकार की बाधाओं के लिये उसमें मंत्र हैं जिनके प्रभाव प्रत्यक्ष रूप मे देखे जाते हैं।

(२) 'अनमिल आखर···' अन्य मंत्रों के सिद्ध करने में लाख, सहस्र, इत्यादि बार जप का परिमाण होता है तथा कुछ विशेष विधि भी रहती है। विधिवत् जप में मंत्रार्थ के अनुसंधान से उसके देवता का स्मरण गुणों के साथ होता है, तदनुसार ही फल भी मिलता है। शावर मंत्रों के अक्षर सार्थक तो हैं, पर उनके, अर्थों और ठीक प्रसंगों का मेल नहीं है। कुछ सामान्य ही विधि एवं जप करना पड़ता है; पर उसका 'प्रगट प्रभाव' अर्थात् फल तुरत ही देखा जाता है। यह केवल महेश का ही प्रताप है—न कि अक्षर और उसके अर्थ का प्रभाव।

उदाहरणार्थ शाबर का एक मन्त्र यहाँ दिया जाता है—"गौरा जाई अंजनी सुत जाये हनुमंत। वह रुकारी गलसुआ तथैला ये चारों भसमंत ॥१॥ काली कंकाली कहाँ चली कैलाश पर्वत को चली कैलाश पर्वत पै जायके क्या करंगी, निहानी वसूली गढ़ावैगी। निहानी वसूली गढ़ाकर कहा करंगी, वहकों कमारी कों गलसुए कों ले कों तीनों कूँ काटैगी कपटैगी करंगी विचार, देखूँ तेरी शक्ति गुरु की भक्ति फुरो मंत्र ईश्वर उवाच ॥२॥

सोउ महेस मोहि पर अनुकूला। करहिं कथा मुद-मंगल मूला ॥७॥
सुमिरि सिवा-सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सिवा = श्रीपार्वतीजी। पसाऊ = प्रसाद, प्रसन्नता। चाऊ = चाव, उत्साह।

अर्थ—वे ही शिवजी मुझपर अनुकूल हों और (भाषा में भी) कथा को 'मुद-मंगल-मूल' करें ॥७॥ (मैं) श्रीशिव-पार्वतीजी का स्मरण और उनकी प्रसन्नता पाकर उत्साह-सहित श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'सोउ महेस''' यहाँ उक्त शाबर मंत्र के प्रभाव का लक्ष्य करके शिवजी को **'महेस'** अर्थात् 'महान्-ईश' कहकर कहते हैं कि जैसे कलि के जीवों के हित के लिये आपने अनमिल आखर आदि में अपना प्रताप रक्खा, वैसे मेरी भाषा-कविता में भी अपना प्रताप रक्खें, जिससे यह भी कलि के जीवों के लिये 'मंगल-मूल' हो। इसपर यह शंका हो सकती है कि कथा तो स्वतः मंगल-मूलक है, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (दो० ९); फिर श्रीशिवजी की क्या अपेक्षा है? इसका समाधान इस प्रसंग के उपसंहार से स्पष्ट हो जाता है, यथा—"सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ ॥" (दो० १५); अर्थात् भाषा में भी होने से इसका प्रभाव वैसा ही हो। संदिग्ध वाक्य के निर्णय का यही नियम भी है, यथा—"संदिग्धं तु वाक्यशेषात्।" अर्थात् संदिग्ध बात का निर्णय वाक्य के उपसंहार से करे। उपक्रम में 'कथा' मात्र से संदेह था; वही अंत में 'भाषा-भनिति' से स्पष्ट हो गया। संस्कृत देव (दिव्य) वाणी है; अतः, उसमें स्वतः भी प्रभाव है। ग्रन्थकार इस प्राकृत भाषा में देवों में श्रेष्ठ महादेव का प्रताप चाहते हैं जिससे भाषा की न्यूनता न रहे, क्योंकि अन्यत्र संस्कृत और भाषा में गंगाजल और सामान्य जल का-सा अंतर कहा जाता है। वेद मंत्रात्मक है, उसका उपबृंहण-रूप रामायण भी मंत्र ही है। मंत्र संस्कृत के ही द्वारा महत्त्वशाली होते हैं; अतः प्रार्थना की अपेक्षा हुई।

(२) 'सुमिरि सिवा-सिव''' श्रीगोस्वामीजी के प्रति श्रीशिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता हुई; इसे अनुभव-द्वारा जानकर कथा के लिये चित्त में उत्साह हुआ, तब वर्णन में प्रवृत्त हुए।

पाठा०—'करहिं' की जगह 'करिहिं' और 'करहु' भी है, पर अर्थ उपर्युक्त ही होगा।

भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती। ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥९॥
जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥१०॥
होइहहिं राम-चरन-अनुरागी। कलिमल-रहित सुमंगल-भागी ॥११॥

शब्दार्थ—बिभाती = सुशोभित। सुराती = सुष्ठु रात्रि, शुक्ल पक्ष की रात।

अर्थ—मेरी वाणी श्रीशिवजी की कृपा से सुशोभित है—जैसे नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा से मिलकर सुन्दर रात (सोहती है) ॥९॥ (अतः,) जो इस कथा को स्नेह-पूर्वक सावधानी से समझकर कहे-सुनेंगे ॥१०॥ वे श्रीरामजी के चरणों में अनुरागी बन जायँगे तथा कलि के पापों से रहित होकर अच्छे मङ्गल के भागी होंगे।

विशेष—(१) 'भनिति मोरि···' इसमें 'भनिति मोरि' और 'राति', सिव-कृपा' और 'ससि-समाज' क्रमशः उपमेय और उपमान हैं, 'मनहुँ' वाचक और 'बिभाती' धर्म है; अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। रात अंधकार एवं और भी बहुत दोषों से युक्त होती है, वैसे मेरी कविता विविध दोषों से युक्त है, पर शिव-कृपा से मिलकर सुशोभित हुई; अतः, 'सुराती' हुई। शिव-कृपा चन्द्रमा, पार्वतीजी की कृपा रोहिणी, गणेशजी की कृपा बुध और शिव-गणों की कृपा तारागण हैं, सब मिलकर 'ससि-समाज' हुए। शिवजी ने कृपा करके वही शाबर मंत्रवाला प्रताप इस ग्रंथ में भी दिया; अतः, इसमें प्रकाश आ गया।

(२) 'जे येहि कथहि ···' इसमें 'समुझि' अपूर्ण क्रिया है; अतः, सावधानी के साथ समझकर कहना और सुनना व्यक्त किया; यथा—"जे गावहिं यह चरित सम्हारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥" (दो० ३७); तथा—"कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं।" (दो० ४०)। 'कहत सुनत'—इसका भाव यह है कि इसे कहे या सुने अथवा दोनों ही करे। 'जे' पद से इसमें सर्वाधिकार भी जनाया। 'सनेह समेता' अर्थात् कहने एवं सुनने में तृप्ति न हो, प्रेम की उमंग बढ़ती जाय।

(३) 'होइहहिं राम-चरन ····' इसमें 'राम चरन-अनुरागी' से उपासना का फल, 'कलिमल-रहित' से कर्म का फल और 'सुमंगल भागी' से ज्ञान का फल सूचित किया, क्योंकि 'सुमंगल' और मोक्ष पर्यायी शब्द कहे जाते हैं। इससे तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण सूचित किया। विषयी जीव के लिये 'कलिमल-रहित' होना, विरक्त के लिये 'ज्ञान' और विमुक्त के लिये 'राम-चरन-अनुरागी' होना है। यथा—"सुनहि बिमुक्त बिरत और बिषयी। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)।

दोहा—सपनेहु साँचेहु मोहिं पर, जौं हर-गौरि-पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ ॥१५॥

अर्थ—जो मुझपर स्वप्न में भी सचमुच शिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता है तो भाषा-कविता के जितने प्रभाव मैंने कहे हैं, सब सत्य हों ॥१५॥

विशेष—उपर्युक्त 'सुमिरि सिवासिव...' का स्मरण करके कहते हैं कि जो मैंने 'होइहहि रामचरन···' ऊपर कहा है, वह 'फुर' हो। 'फुर' शब्द भी 'शाबर मंत्र' के प्रायः सब के अंत में आता है। अपनी कविता की उपमा उसके 'अनमिल आखर—' की दे ही चुके हैं, उसी का प्रसंग ले आ रहे हैं, उसमें 'प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।' कहा था; वैसे यहाँ भी-'भाषा भनिति प्रभाउ' कहते हैं। 'सपनेहु' यह मुहाविरा है अर्थात् किसी तरह एवं कैसी भी दशा में यदि ठीक ठीक कृपा हुई हो तो 'फुर'। पुनः, श्रीगोस्वामीजी को स्वप्न एवं प्रत्यक्ष में भी शिवजी की प्रसन्नता की कथा मं० श्लोक ७ की टिप्पणी में दी गई है, वह भी इस दोहे में घटित है।

बाह्य चिदचिद्विभूतिवंदना-समाप्त

बंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि-कलुष नसावनि ॥१॥
प्रनवउँ पुर-नर-नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥२॥

अर्थ—मैं अति पवित्र और कलियुग के पापों का नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदी की वन्दना करता हूँ ॥१॥ फिर मैं अयोध्यापुर के नर-नारियों को प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामजी के हृदय) में ममता कम नहीं है अर्थात् बहुत है ॥२॥

विशेष—(१) 'बंदउँ अवध····' श्रीशिव वंदना के पीछे अब श्रीरामजी के धाम और परिकर की वन्दना करते हैं, क्योंकि शिव कृपा से श्रीराम-भक्ति मिलती है, यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३०)। श्रीअवध-सरयू का नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये एक ही अर्द्धाली में साथ ही वन्दना की और 'बंदउँ' शब्द आदि में देकर दोनों की अभिन्नता भी सिद्ध की, क्योंकि दोनों के विशेषणों के भाव दोनों में हैं, जैसे अति पावन होने से अवधपुरी भी 'कलि कलुष नसावनि' है, ऐसे ही सरयूजी भी हैं; अतः, 'अति पावनि' भी हैं। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या का अंग हैं, इसीलिये महर्षियों ने भी एक साथ ही वर्णन किया है, यथा—"कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्॥ ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते॥ सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।" (वाल्मी० बा० स० २४।८–१०)।

'अति पावनि'—मोक्ष देनेवाली सप्तपुरियों (अयोध्या, मथुरा, माया अर्थात् हरिद्वार, काशी, कांची, अवन्तिका अर्थात् उज्जैन और द्वारका) में अयोध्याजी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सप्तपुरियों को विष्णु-अंग में कहते हुए इसे मस्तक (उत्तमांग) कहा है। यथा—"विष्णोः पादमवन्तिका····ऽयोध्यापुरी मस्तके।" यह प्रसिद्ध है। यहाँ सब तीर्थों के राजा प्रयाग भी नौमी पर आकर पवित्र होते हैं—"तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।" (दो० ३३)। श्रीअयोध्याजी श्रीसीतारामजी का विहारस्थल एवं प्रिय पुरी है, यथा—"पावनि पुरी रुचिर यह देसा।···जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।" (उ० दो० ३)। सरयूजी की महिमा भी पुराणों में बहुत कही गई है; यथा—"मन्वन्तरसहस्रेण काशीवासेन यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शनान्नरः॥" (स्कन्दपुराण)। अतः, 'अति पावनि' है।

'कलिकलुष····' कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पाप है, यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माँहि॥" (उ० दो० ४०), 'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन-मीना॥ (दो० २६)। जब ऐसे युग के भी पापों का नाश करती है, तब अन्य युगों की तो कोई बात ही नहीं।

(२) 'प्रनवउँ पुर नर नारि····' अयोध्यानिवासियों पर प्रभु की बहुत ममता है, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'पुर नर नारि' कहकर 'ममता' का प्रयोग किया, अतः, 'पुर' के सम्बन्ध से ममता सूचित की; अतः, पुरी में भी ममता है—"मम पुरी सुहावनि' (उ० दो० ३); इससे पुरवासियों को पुण्य-पुंज सूचित किया, यथा—हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २०३)। आगे ममता का स्पष्ट उदाहरण देते हैं—

सिय निंदक अघ-ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये ॥३॥

अर्थ—(क) श्रीसीताजी की निन्दा करनेवालों (पुरजनों एवं रजक) के पाप समूह का नाश कर उन्हें शोकहीन करके अपने शोकरहित लोक में बसाया।

(ख) श्रीसीताजी की निन्दा करनेवालों के पाप-समूह का नाश किया और विशोक लोक बनाकर (उसमें उनको) बसाया।

विशेष—(१) उपर्युक्त पुर के नर-नारियों पर श्रीरामजी की अत्यन्त ममता दिखाते हैं। उनमे कितनों ने श्रीजानकीजी की निन्दा में भाग लिया था। श्रीरामजी को राज्य करते हुए दस हजार वर्ष हो जाने पर जहाँ तहाँ गुप्त रूप में श्रीसीताजी के विषय मे अपवाद होने लगा। गुप्त चरों द्वारा श्रीरामजी ने जान लिया, यथा—"चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ। दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥" (गीतावली उ० २७), निन्दकों मे रजक प्रकट हो गया था, इसीसे उसका नाम 'विनय' में प्रकट आया है, यथा—"बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको॥" (वि० १५२) तथा—"सिय निंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई॥" (वि० १६५)। श्रीमद्वाल्मीकीय में भी उपर्युक्त 'लोक धुनि' गीतावली की तरह ही है।

दूसरे के दोष कथन को 'परिवाद' और किसी पर झूठा दोष लगाने को 'अपवाद (निन्दा)' कहते हैं, यथा—"परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते।" (वाल्मी० अ० स० १२।२७)। निन्दा का स्वरूप—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास।······जब तेहि कीन्ह राम की निंदा।" (लं० दो० ३०)। यहाँ रावण ने झूठा दोष श्रीरामजी पर लगाया, यही निन्दा हुई। यह बहुत भारी पाप है, यथा—"पर-निंदा सम अघ न गिरीसा।" (उ० दो० १२)। किसी सामान्य व्यक्ति की निन्दा भी भारी पाप है; फिर जगज्जननी एव आदिशक्ति की, जो उमा रमा आदि की कारणभूता एव उनसे वन्दिता हैं, निन्दा तो पाप-समूह का ही संचय करना है; इसीसे 'अघ-ओघ' कहा है।

उपर्युक्त अर्थ—(क) के अनुसार ऐसे भारी पाप से उन लोगों को शोकमय नरक जाना चाहिये और जीवितावस्था में कराल दंड द्वारा शोक (कष्ट) होना चाहिये, परन्तु अति ममता के कारण उनके महान् पाप का नाश कर, उन्हें आदर पूर्वक बसा रक्खा। इसके लिये श्रीसीताजी का भी त्याग कर दिया। फिर साथ-साथ उनलोगों को अपने नित्य विशोक धाम में ले गये। इस पक्ष मे उपर्युक्त 'निज नय नगर ' का अर्थ 'अपनी लोकोत्तर नीति से नगर मे ही बसाये रक्खा' है।

अर्थ—(ख) के अनुसार मनुष्य इस लोक मे जैसे-जैसे भारी पुण्य करता है, तदनुसार उसके लिये परलोक में लोक बनता जाता है। जैसे परशुरामजी के बने हुए लोकों का श्रीरामजी के अमोघ बाण द्वारा नाश होना वाल्मी० बाल०, सर्ग ७५ मे, लिखा है, वैसे इन निन्दकों के अन्य सुकृत एव अवध-वास रूप पुण्य से जो लोक परलोक मे बने, वे इस घोर निन्दा-जन्य पापों से नष्ट हो गये थे। उनके लिये श्रीरामजी ने नया 'विशोक लोक' बनाया और अपने साथ ले जाकर उसमे बसाया, यही उनके पापों का (फल) नाश करना एव नये नगर में बसाना है।

बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची॥४॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्वसुखद खल-कमल-तुषारू॥५॥

अर्थ—मैं कौशल्या-रूपी पूर्व दिशा को प्रणाम करता हूँ, जिसकी कीर्त्ति सम्पूर्ण संसार में फैली

है ॥४॥ जहाँ से संसार को सुख देनेवाले और खल रूपी कमल के लिये पाले की भाँति श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमा के समान प्रकट हुए ॥४॥

विशेष—(१) इसमें कौशल्या और पूर्व दिशा, श्रीरामजी और चन्द्रमा, खल और कमल—क्रमश केवल उपमेय और उपमान हैं। अतः, रूपकालंकार है। चन्द्रमा के उदय से पूर्व दिशा प्रकाशित होती है, वैसे कौशल्याजी की कीर्त्ति फैली, यही सफेदी है। चन्द्रमा पूर्व से प्रकट भर होता है, उसका जन्म वहाँ से नहीं होता, वैसे श्रीरामजी भी प्रकट-मात्र हुए—गर्भ से जन्म नहीं हुआ, यथा—'भये प्रकट कृपाला ···' (दो० १९१)। चन्द्रोदय से संसार को सुख होता है; वैसे श्रीरामजी के प्रकट होने से संसार-भर को सुख हुआ। चन्द्रमा कमल को भस्म करता है, वैसे श्रीरामजी से खल भस्म हुए, यथा—"रजनीचर-वृंद पतंग रहे। सर-पावक तेज प्रचंड दहे।" (ल० दो० १३)। 'ससि चारू' से पूर्णिमा का चन्द्रमा ही अभिप्रेत है, वही पूर्व से उदित भी होता है और उस दिन चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त होकर उगता है; वैसे श्रीरामजी का भी षोड़श कलापूर्ण अवतार है, यथा—"षोड़शकलः सोम्यपुरुषः ···" (छां० ६।७।१) अर्थात् परमात्मा षोडश कलाओं से परिपूर्ण है, इस वेद-वाक्य के अनुसार परब्रह्म का पूर्ण अवतार यहाँ सूचित किया।

'बिस्वसुखद'—शंका—खल भी तो विश्व में ही हैं, फिर 'विश्व सुखद' कैसे? समाधान—अधिक लोगों को सुखद होने से समस्त कहा गया, यह 'प्रायोवाद' कहा जाता है। जैसे जिस ग्राम में मल्ल अधिक होते हैं, वह 'मल्ल ग्राम' कहा जाता है—चाहे भले ही उसमें कुछ व्यक्ति नरककाल हों। यहाँ चन्द्रमा के योग में कमल से खल की उपमा दी गई, यथा—"कीचहिं मिलइ नीच जल-संगा।" (दो० ६)।

यहाँ अकेले श्रीकौशल्याजी की वन्दना, बीच में 'दसरथराउ सहित सब रानी' की और फिर अकेले 'अवधभुआल' की वन्दना की गई है। इसका भाव यह है कि—(क) इस प्रस्तुत अवतार में मनु-शतरूपाजी दशरथ-कौशल्या हुए हैं और अन्य कल्पों में कश्यप-अदिति होते हैं, अत, इस कल्प की कौशल्या को आदि में और 'अवधभुआल' को अंत में रक्खा, अन्य-वीन कल्पों की रानियों के साथ राजा को बीच में कहा। (ख) श्रीकौशल्याजी सुकृति एव कीर्त्ति में सब रानियों से बड़ी हैं। अत, इन्हें सब रानियों की समता से भिन्न रक्खा और मनु-रूप में राजा ने भी शतरूपा के साथ-साथ समान तप किया था, अत, रानी की समता के लिये इन्हें भी अत में अकेले कहा। आदि में शक्ति को और अन्त में शक्तिमान् को कहा, क्योंकि यह नियम है कि शक्ति का नाम पहले लिया जाता है।

दसरथराउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी ॥६॥
करउँ प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत-सेवक जानी ॥७॥
जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा-अवधि राम-पितु माता ॥८॥

अर्थ—सब रानियों के साथ राजा दशरथ को पुण्य और सुंदर मंगल की मूर्त्ति मानकर ॥६॥ कर्म, मन और वचन से प्रणाम करता हूँ कि वे अपने पुत्र का सेवक जानकर मुझपर कृपा करें ॥७॥ जिनकी रचना कर ब्रह्माजी भी बड़े हुए, ऐसे श्रीरामजी के पिता-माता हैं, अत, महिमा की सीमा हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'दसरथ राउ······' राजा और रानियों ने बराबर सुकृत किये हैं, इसीसे श्रीरामजी के पिता-माता हुए, यथा—"तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर-सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥···

तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना।" (दो० २१२) अर्थात् सुकृत से कल्याण-रूप 'सुमंगल' होते हैं, वे दम्पती दोनों की मूर्त्ति हैं। 'सब रानी'-ये रानियाँ ७०० कही गई हैं, यथा—"पालागन दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता। देहिं असीस ते 'बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता'॥" (गी० बा० १०८)।

(२) 'सुत-सेवक जानी'—पुत्र का सेवक अत्यन्त प्रिय होता है; अतः, कृपा अवश्य करें।

(३) 'जिन्हहिं बिरचि...' परात्पर ब्रह्म ने भी जिन्हें अपना माता-पिता बनाया, वे महिमा की सीमा क्यों न हों, क्योंकि इन्होंने निरवधि ब्रह्म को भी आकार-विशेष में नियुक्त कर गोद में लिया। फिर उनके निर्माणकर्त्ता ब्रह्माजी भी धन्य हैं कि जिनको ऐसी बड़ाई मिली। ब्रह्माजी के पुत्र मनु-शतरूपा हैं, वे ही दशरथजी और कौशल्याजी हुए, ब्रह्माजी इस प्रकार भी धन्य हुए।

दोहा—बंदउँ अवधभुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥१६॥

अर्थ—मैं श्रीअयोध्या के राजा की वंदना करता हूँ, जिनका प्रेम श्रीरामजी के चरणों में ऐसा सच्चा था कि (जिन्होंने) दीनदयालु भगवान् के बिछुड़ते ही अपने प्यारे शरीर को तृण की तरह त्याग दिया।

विशेष (१) 'सत्य प्रेम...' सच्चे प्रेम का स्वरूप यही है कि प्रिय का वियोग न सह सके, प्राण तक त्याग दे, यथा—"मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह॥" (दोहावली ३१८)। "निंदहिं आप सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना॥" (अ० दो० ८५); "आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥ सत्य करहि मम प्रीति सयानी।" (सुं० दो० ११)।

मनुजी ने भगवान् से प्रथम अभीष्ट वर माँगा कि मुझे आपके समान पुत्र प्राप्त हो, यही शतरूपाजी ने भी माँगा। दोनों को श्रीरामजी ने वर दिया कि मैं ही पुत्र-रूप से प्रकट होऊँगा। फिर मनुजी ने पुत्र-विषयक प्रीति माँगी और उसका लक्षण भी कहा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुमहिं अधीना॥ एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥" इसपर श्रीरामजी ने कहा—"होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥" (दो० १५१)। वही 'अवध-भुआल' शब्द यहाँ पड़ा है और उसी वर के 'जल बिनु मीना' की सराहना भी है। इसपर कहा जाता है कि राजा की रानियों के साथ ऊपर की वंदना मनु-रूप के प्रथम वर के अनुसार है और यह पृथक् वंदना दूसरा पृथक् वर माँगने के उपलक्ष्य में है।

(२) 'अवधभुआल' कहकर सूचित किया कि श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य एवं सुख-समन्वित शरीर को भी त्याग दिया, यथा—"अवध-राज सुरराज सिहाई। दसरथ-धन लखि धनद लजाई॥ (अ० दो० ३२३); तथा—"नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे। लोकप करहिं प्रीति-रुख राखे॥" (अ० दो० १)। दशरथजी की प्रीति सच्ची थी। अवध-धाम के और भी राजा हुए, पर 'सत्य प्रेम' आदि से राजा दशरथ ही का बोध होगा; क्योंकि—'जीवन राम दरस आधीना।' 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' (अ० दो० ३२) की बातें इन्हीं में थीं। 'रामपद'—इनका वात्सल्य भाव था; अतः, सामान्य रीति से चरणों में प्रेम कहना अयोग्य-सा लगता है, पर इन्होंने 'सत्य प्रेम' के साथ ही यह भी माँगा था कि—"सुतविषयक तव पद-रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥" (दो० १५०)। जीवन-काल में 'पद-रति' रही भी—"अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० ३५५)। इसपर यह भी कहा जाता है कि राजा दिन में तो सामान्य वात्सल्य की रीति रखते थे और रात को रामजी के चरणों में प्रेम की स्थिति रहती थी।

(३) 'बिछुरत दीनदयाल ···'—इसपर यह संदेह हो सकता था कि राजा का तो प्रेम सच्चा था, पर श्रीरामजी निष्ठुर थे, जिनके वन जाने ही से इनके प्राण छूटे। इसका समाधान 'दीनदयाल' कहकर किया कि राक्षसों के अत्याचार से 'संत सुर' दुखी एवं दीन थे, उनपर दया करके वन गये, यथा-"तुलसिदास जौं रहौं मातु हित को सुर-बिप्र भूमि-भय टारे।" (गी० अ० २)। "तुलसिदास सुरकाज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महिआयक।" (गी० अ० ३)। अर्थात् दीनदयालुता इतनी उत्कृष्ट है कि ऐसे प्रेम निधि पिता का भी वियोग सहकर उसे बचा रक्खा। 'प्रिय तनु'—देह सबको प्रिय होती है, यथा—"सबके देह परम प्रिय स्वामी।" (सुं० दो० २१), "देह-प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७) तथा श्रीरामजी इसी शरीर से पुत्र रूप से मिले, इससे यह परम प्रिय है, यथा—"राम-भगति येहि तनु उर जामी। ताते मोहिं परम प्रिय स्वामी॥" (उ० दो० ६५)। श्रीराम ही के वियोग में उस शरीर को छोड़ा, अन्यथा वह परम प्रिय था।

'तृन इव परिहरेउ'—जैसे तृण (खरपात) के फेंकने मे किसी को ममता नहीं होती, वैसे दशरथजी ने श्रीराम-वियोग के समक्ष शरीर का मोल कुछ नहीं समझा; अत, त्याग दिया, यथा—"सो तनु राखि करनि मैं काहा। जेहि न प्रेम-पन मोर निबाहा॥" (अ० दो० १५४)। श्रीरामजी की वन-यात्रा इसी शरीर-द्वारा की गई प्रतिज्ञा के कारण हुई, अत', शरीर को श्रीराम-विमुख मानकर त्याग दिया, क्योंकि "राम-विमुख लहि विधि सम देही। कवि-कोविद न प्रसंसहिं तेही॥" (उ० दो० ६५)।

शंका—राजा ने श्रीरामजी की वन-यात्रा के कई दिन पीछे शरीर त्याग दिया, फिर 'बिछुरत' क्यों कहा ?

समाधान—राजा ने रामजी के वन जाते समय ही सुमंत्रजी से कह रक्खा था कि वन दिखलाकर चार दिनों में लौटा लाना, अथवा श्रीजानकीजी ही को लौटा लाना, जिससे मेरे प्राणों का अवलंब हो, क्योंकि जानकीजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी एवं अभिन्नतत्त्व हैं। फिर श्रीसुमंत्रजी के कहने से पिता के वचन मानकर श्रीरामजी रथ पर चढे, तब लौटानेवाले वचन भी माने जाने को आशा हुई और इसी आशा पर सुमंत्रजी रामजी का रथ पुरजनों से छिपाकर रात में ले गये थे। जब तक श्रीसुमंत्रजी नहीं आये थे, राजा 'मनि बिनु फनि' की तरह जीते थे, यथा—"जाइ सुमंत दीख कस राजा। अमिअ-रहित जनु चंद बिराजा॥" (अ० दो० १४०)। फिर सुमंत्र से ठीक-ठीक रामजी का वन जाना सुनते ही व्याकुल होकर गिरे और तृणवत् प्राण त्याग दिये। इससे प्रथम 'मनि बिनु फनि' के अनुसार व्याकुल होकर जिये, पुन 'जल बिनु मीन' के अनुसार शरीर छोड़ा, क्योंकि यही वरदान माँगा गया था।

शंका—*पहले भी श्रीविश्वामित्र के साथ श्रीरामजी के जाने पर राजा को वियोग हुआ, तब* उन्होंने शरीर क्यों नहीं छोड़ा ?

समाधान—इसमें प्रथम वशिष्ठजी ने समझाया, फिर विश्वामित्र ने भी कहा, यथा—"रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति अलप दिननि घर अइहैं।" (गी० बा० ४८)। पुन. राजा ने अपना पितृत्व भी विश्वामित्र में स्थापित किया था जिसमें वे पिता की तरह श्रीरामलक्ष्मण का लाड़-प्यार करते रहें, यथा—"तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ।" (दो० २०७)। श्रीरामजी इस यात्रा में वैसा तापस वेष बनाकर गये भी नहीं थे और उनके अंश एवं उन्हींके समान रूप भरत-शत्रुघ्न आधार के लिये भी थे, तब भी 'मनि बिनु फनि' की तरह व्याकुल जीते रहे। यह दशा जनकपुर पहुँचने पर कही गई है, यथा "सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।" (दो० ३००)। अत, इसमें 'मनि बिनु फनि' की दशा रही और दूसरी बार १४ वर्षों के वियोग में 'जल बिनु मीन' की दशा चरितार्थ हुई।

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम-पद गूढ़ सनेहू ॥१॥
जोग-भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥२॥

शब्दार्थ—परिजन = परिवार। गूढ़ = गुप्त, गंभीर। भोग = विषय। गोई = छिपा।

अर्थ—मैं परिवार के साथ जनकजी को प्रणाम करता हूँ, जिनका गूढ़ स्नेह श्रीरामजी के चरणों में था ॥१॥ (जिस स्नेह को उन्होंने) योग और भोग में छिपा रक्खा था, (पर) श्रीरामजी के देखते ही वह प्रकट हो गया ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ परिजन···' परिजन में भी श्रीजनक महाराज के गुण थे; अतः, 'सहित' पद से साहचर्य कहा। 'गूढ़ सनेह'—यह पद राजा दशरथ की वंदना के पास ही है। अतः, गूढ़ कहने से जनकजी का गुप्त और दशरथजी का प्रेम प्रकट सूचित किया। दशरथजी ने रामजी के वियोग पर प्राण त्याग कर अपने प्रेम को प्रमाणित किया, यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुवर-हित कियो प्रेम परवान।" (गी० अ० ५६); और राजा जनक ने पहले स्नेह को गुप्त रक्खा था, श्रीरामजी के संयोग होने पर उसे प्रत्यक्ष करके प्रमाणित किया। गूढ़ स्नेह होने ही से जनकजी ने श्रीराम की वन-यात्रा पर अपना शरीर नहीं छोड़ा।

'विदेहू'—श्रीवशिष्ठजी के शाप से राजा निमि का शरीर प्राण-रहित हुआ था। तब ऋषियों ने यज्ञ-द्वारा उन्हें शरीरधारी बनाना चाहा, पर निमि ने प्राणियों की पलकों पर वास करने की इच्छा की। फिर उनका शरीर मथा गया और उससे एक पुरुष प्रकट हुआ जिनका नाम 'मिथि' हुआ और उन्हीं का नाम 'विदेह' भी पड़ा, क्योंकि उनका शरीर, माता-पिता के संयोग के बिना ही, यज्ञ-द्वारा बना था। उनके नगर का नाम 'मिथिला' एवं 'विदेह' पड़ा, जिसका नाम पहले 'वैजयंत नगर' था। तब से उस गद्दी के राजाओं की उपाधि 'विदेह' एवं 'मिथिलेश' होती आई है। दशरथजी के समकालीन विदेह महाराज का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। इस गद्दी के प्रायः सभी राजा योगीश्वर होते आये हैं, परन्तु महाराज सीरध्वज बड़े ज्ञानी थे और याज्ञवल्क्य मुनि के शिष्य थे। इनके ज्ञान की प्रशंसा गीता एवं उपनिषदों में भी है। श्रीजानकीजी इन्हीं की पुत्री हुईं।

शंका—*अवधवासियों के बीच में ही मिथिलेश महाराज की वंदना क्यों हुई?*

समाधान—श्रीदशरथजी श्रीरामजी के पिता हैं और श्रीजनकजी श्वशुर। अतः, तुल्य मानकर एक साथ रखना योग्य समझा। यथा—"सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥" (दो० ३१२)। शास्त्रों में श्वशुर को पिता के तुल्य कहा भी है, यथा—"जनिता च प्रणेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। कन्यादाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।" (चाणक्य)। सुकृत में भी दोनों तुल्य हैं, क्योंकि ब्रह्म युगल स्वरूप में तत्त्वतः अभिन्न होने से मिलकर एक ही है। उसने एक-एक रूप से दोनों के यहाँ प्रकट होकर तुल्य आदर दिया। यथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही ॥" (दो० ३०१)। दोनों भक्ति में भी तुल्य हैं, एक का प्रेम वियोग पर प्रगट हुआ तो दूसरे का संयोग पर। अतः, परिकर-रूप में इन्हें भी अवधवासियों के ही साथ रक्खा।

(२) 'जोग भोग महँ···' श्रीविदेहजी योग की परिपाक दशा के साथ अनासक्त भाव से भोगों का भी अनुभव करते थे। तत्त्वज्ञ लोग उनको योगी और सामान्य लोग भोगी समझते थे। उनकी वृत्ति स्वाभाविक ब्रह्मानंदमय रहती थी, अचानक श्रीराम-लक्ष्मण पर दृष्टि पड़ते ही वे उनके सौन्दर्य

से मुग्ध हो गये। हठात् ब्रह्मानंद को त्याग कर मन अत्यन्त अनुरागपूर्वक उनमें लग गया। उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से पूछा—"कहहु नाथ !···बरबस ब्रह्म-सुखहिं मन त्यागा॥" (दो० २१५)। इससे उन्हें ब्रह्म का निश्चय श्रीराम-रूप में हुआ और उनका परम उच्च कोटि का अनुराग श्रीरामजी में है, ऐसा सब ने जाना।

शंका—जब श्रीविदेहजी पूर्ण ज्ञानी थे, तब फिर श्रीरामजी में प्रेमरूप साधन की क्या आवश्यकता थी?

समाधान—श्री जनकजी सिद्ध ज्ञानी थे। यथा—"मुनिगन गुरु धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३१६); इनकी जड़-चेतन ग्रंथि भी निर्मुक्त थी, यथा— 'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।" (गी० बा० ८६) और ये भजननिष्ठ थे। यही उच्च कोटि के ज्ञानियों की रीति है। यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणोहरिः॥" (श्रीमद्भाग०); क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल-जानू॥" (अ० दो० २७१)। श्रीनारदजी एवं सनकादि इसी दृष्टि से भजन करते हुए पाये जाते हैं।

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥३॥
राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥४॥

अर्थ—मैं पहले श्रीभरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनके नियम और व्रत का वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ जिनका मन श्रीरामजी के चरणकमलों में भौंरे की तरह लुब्ध है, (उनका) पास नहीं छोड़ता॥४॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ प्रथम···' इतनी वंदना कर चुकने पर भी 'प्रथम' कहा, क्योंकि (क) यहाँ से श्रीरामजी के नित्य विशिष्ट पार्षदों की वंदना प्रारंभ होती है। इनमें श्रीभरतजी प्रधान हैं। (ख) यहाँ से भ्राताओं एवं सखाओं की वंदना प्रारंभ हुई, उनमें भी श्रीभरतजी बड़े हैं। (ग) श्रीभरतजी श्रीराम-प्रेम की मूर्त्ति ही हैं। यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (अ० दो० १८३) अतः—'जग जपु राम राम जपु जेही।' (अ० दो० २१७)। पुनः अन्य भक्तों का जितना प्रेम श्रीराम-चरणों में था, इनका उससे कहीं अधिक प्रेम श्रीराम-पादुका में था। इन प्रेमियों में सर्वोपरि होने से 'प्रथम' कहा। (घ) अभी तक प्रायः मूर्त्ति की वंदना होती आई, यहाँ से चरणों की प्रारंभ हुई, तब प्रथम भरत की वंदना की।

'चरना'—भगवान् के चरण धन्य हैं, अतः, जो भगवान् के तुल्य एवं उनके मुख्य अंश से उत्पन्न माने जाते हैं, उनके भी चरणों की वंदना की जाती है। श्रीभरत आदि श्रीरामजी के विशिष्ट पार्षद एवं अंगभूत हैं, अतः, उनके चरणों की वन्दना हुई। 'जासु नेम ब्रत···' 'नेम-व्रत'—"नित नव राम-प्रेम पन पीना।···सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥···मुनि मन नेम साधु सकुचाहीं।···मुनि-मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।···" (अ० दो० ३२४)। 'जाइ नहिं बरना'—' भरत-रहनि-समुझनि-करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं॥" (अ० दो० ३२४); "मोहि भावति कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि।" (गीता० अ० ८१)।

(२) 'रामचरन पंकज मन···' उपर्युक्त 'नेम-व्रत' शरीर से करते हैं। यहाँ मन का धर्म कह रहे हैं। यह नियम-व्रत का फल है, यथा—जप तप नियम जोग व्रत धरमा।···तव पद-पंकज-प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८)।

'लुबुध मधुप इव···' भ्रमर सब फूलों का रस लेता है, पर जब कमल को पाता है, तब उसमें इतना लुभा जाता है कि कमल के संपुट होते समय उसीमें बँध जाता है। यद्यपि काष्ठ-भेदन में भी समर्थ होता है, तथापि प्रीतिवश कमल की कोमल पंखुरियों को नहीं काटता। इसी तरह श्रीभरतजी भी श्रीरामचरण-कमल के प्रेम-रस-पान में इतने निमग्न रहते हैं कि अन्य सामान्य धर्मों एवं प्राकृत सुख-ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं फेरते, प्रेम का यथार्थ स्वरूप यही है। यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतोनेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

वंदउँ लछिमन-पद-जल-जाता। सीतल सुभग भगत-सुखदाता॥५॥
रघुपति-कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका॥६॥

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजी के चरण-कमलों की वंदना करता हूँ, जो शीतल सुन्दर और भक्तों के सुख देनेवाले हैं॥५॥ श्रीरघुनाथजी की कीर्त्तिरूपी निर्मल पताका में जिनका यश डंडे के समान हुआ॥६॥

विशेष—(१) 'बंदउँ लछिमन पद···' यहाँ चरणों की वंदना करते हुए विशेषणों द्वारा स्वरूप के गुण कहते हैं। लक्ष्मणजी का स्वभाव शीतल है, वे शरीर से सुंदर हैं और इनमें भक्तों को सुख देनेवाले गुण हैं। यथा—"सहज सुभाय सुभगतनु गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥" (अ० दो० २१६) अर्थात् इनके सुंदर शरीर से भक्तों के नेत्रों को और शीतल स्वभाव से हृदय को सुख होता है। इसी तरह अन्यत्र भी चरण-वंदना के साथ स्वरूप के गुण कहे गये हैं, यथा—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।···" (मं० सो०); इत्यादि।

(२) 'रघुपति कीरति···' यहाँ कीर्त्ति की उपमा स्त्रीलिंग शब्द पताका से एवं यश की पुँल्लिंग दंड से दी गई है। दंड पताका का आधार होकर उसे ऊँचा करके दिखाता है, वैसे जब धनुर्भंग-प्रसंग में लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के प्रताप से अपना बल कहा और उसकी सत्यता प्रकट करने के लिये पृथिवी डोल गई तथा दिग्गज डोले, तब प्रथम इनका यश हुआ और इन सब कार्यों को ये केवल श्रीराम-प्रताप से ही कर सकते हैं, इसमें श्रीरामजी की कीर्त्ति फहराई।

सम्पूर्ण युद्ध-कीर्त्ति में भी ये सहायक रहे। मारीच आदि के वध में, विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा में, वन की एवं रण की लीलाओं में इन्होंने प्रधान भाग लिया है। श्रीरामजी के प्रति न्यूनता किये जाने का अनुमान करके इन्होंने श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं श्रीभरतजी से कुछ उठा नहीं रक्खा। श्रीरामकीर्त्ति को उच्च रखने का विशेष प्रयत्न किया।

सेष सहससीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन॥७॥
सदा सो सानुकूल रह मोपर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥८॥

अर्थ—जो हजार शिरोंवाले शेषजी और जगत् के कारण हैं तथा जिन्होंने पृथिवी का भय दूर करने के लिये अवतार लिया॥७॥ वे कृपा के समुद्र श्रीसुमित्राजी के पुत्र और गुणों की खान (लक्ष्मणजी) मुझपर सर्वदा अनुकूल रहें॥८॥

विशेष—(१) 'सेष सहस्र सीस...' श्रीलक्ष्मणजी सहस्र शिरोंवाले शेषजी और जगत् दोनों के कारण हैं; अर्थात् ये शेषजी के भी शेषी (अंशी) हैं। यथा—"दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ राम चहहिं संकर-धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥" (दो० २५१)। यहाँ 'अहि' अर्थात् शेषजी को आज्ञा दे रहे हैं; अतः शेषजी के भी कारण हैं। जहाँ ये शेष संज्ञा से कहे गये हैं, वहाँ चार कल्पों की कथा एक साथ होने के कारण अथवा कार्य-कारण की एकता की दृष्टि से जानना चाहिये। इनका महत्त्व अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"तुम कृतान्त-भच्छक सुर-त्राता।" (लं० दो० ८३); "सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर-नर-अग-जग जाही॥" (अ० दो० ५४) तथा—"जय अनंत जय जगदाधारा।" (लं० दो० ७६)। शेषजी सहस्र फणों पर पृथिवी का धारण करते हैं और इनके विषय में सम्पूर्ण ब्रह्मांडों का एक ही शिर पर रजःकण की तरह धारण करना लिखा है, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रजकनी।" (लं० दो० ८२)। अतः, शेष की कारणता स्पष्ट है। श्रीलक्ष्मणजी का द्विभुज किशोर रूप ही नित्य है, क्योंकि श्रीसतीजी की परीक्षा में भी इनका स्वरूप नित्य, अखंड तथा एकरस सिद्ध हुआ। यथा "सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता।" (दो० ५४)।

(२) 'सदा सो सानुकूल···' 'कृपासिंधु' कहकर अवतार लेने का कारणभूत गुण कहा और ऊपर 'भूमि-भय-टारन' कार्य कहा है। 'सौमित्रि' शब्द से श्रीसुमित्राजी के उपदिष्ट गुणों की स्थिति इनमें सूचित की, जो—"गुरुपितु मातु बंधु सुर साई।—" से—"तुलसी प्रभुहिं सिख देइ···" (अ० दो० ७३–७५); तक में कहे गये हैं। 'गुनाकर' से और भी शुभगुणों की खान बतलाई। ग्रंथकार इनकी सदा अनुकूलता चाहते हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के प्राण-प्रिय एवं परम समीपी हैं, यथा—"सिय-रघुबीरहिं प्रानपियारे।" (अ० दो० ११६)। 'लखन राम के नेत।' (अ० दो० १६)

प्रश्न—इनकी वंदना सबसे अधिक चार अर्द्धालियों में क्यों की गई?

उत्तर—श्रीगोस्वामीजी पर इनकी अनुकूलता सबसे अधिक है, जैसे जब 'विनय' में श्रीगोस्वामीजी ने कहा—'बहुरि बूझिये पाँचो।' तब पाँचों में प्रत्यक्षरूप से श्रीरामजी से इन्हीं ने पैरवी की है, यथा—"मारुति-मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ नाम सो प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।" (२७९)। अतः, इनकी सेवा विशेष की है।

रिपु-सूदन-पद-कमल नमामी। सूर सुसील भरत-अनुगामी॥९॥

अर्थ—(मैं) श्रीशत्रुघ्नजी के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूँ, जो शूर, सुशील और श्रीभरतजी के अनुगामी हैं।

विशेष—आपका नाम रिपुसूदन है। शत्रु का नाश शूरता से होता है, इसलिये शूरता का वर्णन पहले किया। शूरता की शोभा शील से है। अतः, सूर के पीछे सुशील कहा। शील की प्राप्ति 'बुध-सेवकाई' से होती है। यथा "सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ० दो० ८९)। इसलिये 'बुध' भरत की सेवा भी बताई है। आप भरतजी के अनुगामी हैं, यथा—"भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९०)। आप शूर हैं, यथा—"जयति लवणांबुनिधि-कुंभसंभव, महादनुज-दुर्जन-दवन दुरित हारी।" (वि० ४०)।

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥१०॥

सो०—प्रनवउँ पवनकुमार, खल-बन-पावक ज्ञान-घन ।
जासु हृदय-आगार, बसहिं राम सरचाप धर ॥१७॥

शब्दार्थ—ज्ञान घन = ज्ञान-पूर्ण, वा ज्ञान के मेघ अर्थात् औरों को भी आप से ज्ञान प्राप्त होता है। आगार = घर। धर = धारण किये हुए वा धारण करनेवाले।

अर्थ—(मैं) महावीर्यवान् श्रीहनुमानजी की विनती करता हूँ, जिनके यश का वर्णन श्रीरामजी ने स्वयं किया है ॥ १८ ॥ वायु के पुत्र, दुष्ट रूपी वन को अग्निरूप और ज्ञान से पूर्ण (अथवा ज्ञानरूपी मेघ) श्रीहनुमान्जी को प्रणाम करता हूँ, जिनके हृदयरूपी घर में श्रीरामजी धनुषबाण धारण किये हुए बसते हैं ॥ १७ ॥

विशेष—(१) 'महावीर' यथा—"कह्यो द्रोन-भीषम समीर-सुत महावीर, वीररस वारिनिधि जाको बल जल भो।" (हनुमानबाहुक ५)। सुंदरकांड एवं लंकाकांड में आपकी वीरता के उदाहरण स्थान-स्थान पर देखने योग्य हैं। 'हनुमान'—आपने जन्म-समय में ही प्रातःकालीन सूर्य को लाल फल समझकर, उन्हें निगलने के लिये छलाँग मारी। उसी समय ग्रहण का अवसर था। अतः, राहु ने आकर देखा कि आप सूर्य का ग्रहण कर रहे हैं और जाकर इन्द्र से कहा। राहु को डरा हुआ देख और हाल सुनकर इन्द्र चकित हो गये तथा राहु की रक्षा के लिये आये। तब आपने उनके ऐरावत हाथी को श्वेत फल समझकर पकड़ना चाहा। इतने में इन्द्र ने वज्र का प्रहार कर दिया। उस अमोघ अस्त्र से आपकी 'हनु' (ठुड्डीमात्र) दब गई और थोड़ी देर के लिये मूर्च्छित हो गये। फिर पवन देव के कुपित होने पर सब देवों के साथ ब्रह्माजी आये और सब ने वरदान दिया। इन्द्र ने आपकी अत्यन्त दृढ़ हनु (ठुड्डी) देखकर 'हनुमान्' नाम रक्खा।

'राम'''आप बखाना' यथा—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।"'''से—"सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'''" (सुं० दो० ३१) तक तथा "तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।" (कि० दो० २)। शिवजी ने भी कहा है, यथा—"गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई।" (उ० दो० ४९)।

(२) 'प्रनवउँ पवनकुमार,''''''' प्रथम आपकी वंदना श्रीरामजी के भाइयों के साथ की गई, क्योंकि आप उनके भी सेवक एवं परम प्रिय हैं तथा उन्हींके साथ भी रहते हैं। यथा—"भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥" (उ० दो० ३१) तथा—"हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक-सुख-दाता ॥" (उ० दो० ४९)। अब वानरों के साथ भी वन्दना हुई, किन्तु सुग्रीव आदि से प्रथम आपकी वन्दना करते हैं, क्योंकि श्रीरामजी का सम्बन्ध प्रथम आपको, तब सुग्रीव को, फिर जाम्बवान् को और उसके पीछे विभीषणजी को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से वन्दना भी की गई है, पुनः सब वानरों की अपेक्षा आपपर श्रीरामजी का ममत्व भी अधिक है, क्योंकि राजगद्दी के पीछे और वानरों की विदाई हुई, परन्तु आप बराबर साथ रहे।

श्रीगोस्वामीजी पर आपकी कृपा निरुपाधि एवं निराली है, यथा—"तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निरारी।" (वि० ३४)। इसलिये मंगलाचरण मे 'कवीश्वरकपीश्वरौ' कहा तथा दो बार यहाँ भी वन्दना की।

(३) विशेषणों के क्रम और भाव—यहाँ तीन विशेषण क्रम से हैं—'खल-बन-पावक,' 'ज्ञान-घन' और 'जासु हृदय आगार बसहि राम'''।' काम क्रोध-लोभादि विषय खल हैं, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥" (सुं० दो० ४६)। प्रबल वैराग्य के द्वारा आप इनके नाशक हैं। यथा—प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषय बन दहनमिव धूमकेतू।" (वि० ५८)। विषय-वि-

से चित्त का शुद्ध होना निष्काम कर्म का फल है। 'ज्ञान-घन' से ज्ञान की पूर्णता और श्रीरामजी के हृदय में बसने से उपासना की पूर्णता है। अतः, क्रमशः काण्ड-त्रय की पूर्णता आपमें दिखाई गई है।

जीव तीन प्रकार के होते हैं। इन गुणों से आप तीनों के सेवन करने योग्य हैं। यथा—"बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। 'खल-बन-पावक' होने से विषयी के, 'ज्ञान-घन' से साधक के और 'बसहिं राम···' से सिद्धों के सेवन करने योग्य हैं, क्योंकि विषयी को हृदय-शुद्धि, साधक को ज्ञान और सिद्ध को भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रीरामजी परम स्वतंत्र हैं, अतः, सिद्धों के भी वश नहीं हो सकते, पर श्रीहनुमानजी के ऋणी हैं, यथा—"रिनियाँ राजा राम से, धनिक भये हनुमान॥" (दोहावली १११)। अतः, सेवन करने से प्रसन्न होकर सिद्धों के भी हृदय में 'रामरूप' बसा देंगे।

निष्काम कर्म का फल ज्ञान है, यथा—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥" (गीता ४।३३); और ज्ञान का फल भक्ति है, यथा—"जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा।···" (उ० दो० ४८)। इसलिये उक्त तीनों विशेषण क्रम से कहे गये हैं।

(४) शंका—जब 'ज्ञान-घन' हैं, तब 'खल-बन-पावक' कैसे ? क्योंकि ज्ञान में तो समता चाहिये, यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६।३२) और पूर्ण ज्ञान के पीछे उपासना क्यों ?

समाधान—ज्ञानी जगत् को विराट् रूप में देखता है। खल विराट् रूप में फोड़े-फुंसी की तरह है। अतः, जब एक बाँह में फोड़ा होता है; तब दूसरा हाथ चीरता-फाड़ता है। पीछे आरोग्य होने पर उस हाथ को भी सुख होता है; अतः, यह निष्ठुरता भी सौहार्द का साधन है। श्रीहनुमानजी ने राक्षसों को मारा, वे सब मुक्त होकर सुखी हुए। यथा—"रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर···" (क० सुं० २५)—इस कवित्त में विस्तार से वर्णित है। परमेश्वर की अपेक्षा किसी की भी बुद्धि अधिक सम नहीं है, परन्तु वह भी अवतार लेकर दुष्ट-निग्रह और साधु-अनुग्रह करता है। जैसे—श्रीरामजी ने दुष्ट कर्म के कारण रावण को दंड दिया, फिर विभीषण के प्रति सौहार्द दिखाते हुए उनसे स्वयं रावण की अन्त्येष्टि किया करवाई, क्योंकि आपकी बुद्धि उसके प्रति निर्वैर थी। ज्ञान की पूर्णता पर भी उपासना से उसकी शोभा है, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥" (अ० दो० २७६)। ज्ञानी को कामादि शत्रुओं से स्वयं सावधान रहना पड़ता है और जब वह उपासक होकर श्रीरामजी को हृदय में बसाता है, तब वे धनुष-बाण सहित उन शत्रुओं से उसकी रक्षा करते हैं। यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६) तथा—"भरत हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥" (अ० दो० २९४); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (आ० दो० ४२)।

श्रीहनुमानजी के हृदय में भी एक बार अभिमान हुआ था। यथा—"सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ५६); तब उसी क्षण हृदय-स्थित प्रभु ने अपने प्रभाव स्मरण-द्वारा रक्षा की है, यथा—"राम-प्रभाव बिचारि बहोरी।···" (लं० दो० ५७-५८)। भक्त-वत्सल श्रीरामजी भक्तों की रक्षा करने में शीघ्रता के लिये सर्वदा धनुष-बाण धारण ही किये रहते हैं।

कपिपति रीछ निसाचरराजा। अंगदादि जे कीस-समाजा॥१॥
बंदउँ सबके चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥२॥

अर्थ—वानरों के राजा सुग्रीवजी, ऋक्षों के राजा जाम्बवानजी, निशाचरों के राजा विभीषणजी और अंगद आदि जितने वानरों के समूह हैं, ॥१॥ जिन्होंने अधम शरीर से ही श्रीरामजी को प्राप्त किया है, इन सब के शोभायमान चरणों की मैं वंदना करता हूँ ॥२॥

विशेष—'अधम शरीर…।' सभी पांचभौतिक शरीर अधम हैं, यथा—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा।" (कि० दो० १०); फिर उनमें वानरी देह तो और भी निकृष्ट है। यथा—"असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे तें बानर रीछ बिकारी।" (वि० १६६); पर श्रीराम-भजन से वे वानर, ऋक्ष और भी पावन तथा सुहावन हो गये। यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९६) और इसी जगत् में उनका सम्मान हुआ, यथा—"कियेहुँ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥" (दो० ६), क्योंकि—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहि सुजान। रुद्र देह तजि नेह-बस, बानर भे हनुमान॥" (दोहावली १४२)।

'चरन सोहाये'—मनुष्य-देह 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' है, उसके द्वारा भी भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है, उन्होंने तो पशु-राक्षस देह से भगवान् की प्राप्ति कर ली। अतः, इनके चरण शोभायमान कहे गये। उन्होंने इन्हीं चरणों से दौड़ धूपकर श्रीसीताजी को खोजा है, जिससे श्रीरामजी के प्रिय हुए।

रघुपति-चरन-उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥३॥
बंदउँ पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥४॥

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुर—इन सबको लेकर श्रीरामजी के चरणों के जितने उपासक हैं ॥३॥ जो श्रीरामजी के निष्काम सेवक हैं, मैं उन सबके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'बंदउँ प्रथम भरत के चरना।' से नित्य-परिकरों की वंदना प्रारम्भ करके 'बंदउँ सबके चरन सोहाये।…' तक मैं उसे पूरा किया। अब उन भक्तों की वंदना समष्टि रूप से करते हैं, जिन्होंने उपासना-द्वारा इन परिकरों का साहचर्य प्राप्त किया और पूर्ण काम होकर श्रीराम-सेवा-परायण हैं। इसी से यहाँ 'खग-मृग' के भी चरणों की उपमा कमल से दी है, क्योंकि वे भक्त उपासना-द्वारा संसार से मुक्त हो श्रीराम रूप होकर दिव्य शरीर से श्रीभरत आदि के साथ श्रीराम-सेवा करते रहते हैं और दिव्य भोगों को भोगते हैं। यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तै० उ० २।१)।

(२) 'खग'-'मृग' और 'नर' से मृत्युलोक के, 'सुर' से देव लोक के और 'असुर' से पाताल-लोक के उपासकों की वन्दना है। अतः, तीनों लोकों के उपासक आ गये।

कोई भी जीव हों, वे निष्काम भक्ति से अपने इष्ट के रूप को प्राप्त होते हैं। अतः, खग-मृग आदि भी निष्काम भक्ति से रामरूप हुए; तब इनके भी चरण 'सरोज' कहे गये। यहाँ खग से जटायु, मृग से सुग्रीव आदि, सुर से इन्द्रावतारी बालि, नर से अनेक नर-शरीरधारी भक्त और असुर से मारीच आदि पर लक्ष्य है।

शंका—प्रथम तो "देव दनुज नर नाग खग,…" (दो० ७) में 'सुर-असुर' आदि की वन्दना हो ही चुकी, फिर यहाँ दोबारा क्यों?

समाधान—प्रथम सब जीवों की वन्दना है, यहाँ उनमें उन्हीं उपासकों की की गई है, जिन्हें उपासना-द्वारा फल भी प्राप्त हो चुका है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यानबिसारद ॥५॥
प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥६॥

शब्दार्थ—विज्ञान = तीन अवस्थाओं एवं तीन गुणों से अपनी स्थिति पृथक् समझते हुए तुरीयावस्था में स्थित रहना, प्रकृति-वियुक्त (रहित) आत्मा का ज्ञान। बिसारद = चतुर। जन = दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारजी और श्रीनारद आदि जितने श्रेष्ठ मुनि भक्त हैं और विज्ञान में प्रवीण हैं ॥५॥ मैं उन सबको पृथ्वी पर शिर रख कर प्रणाम करता हूँ, हे मुनीशो! अपना दास जानकर मुझपर कृपा करें।

विशेष—(१) यहाँ भक्त, मुनि एवं विज्ञानी आदि विशेषण सबके साथ हैं। भक्त कहकर इनको 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि के रुच ज्ञानियों से पृथक् किया। यहाँ पृथ्वी पर शिर रखकर प्रणाम से विशेष श्रद्धा एवं नम्रता दिखाई, क्योंकि ये सब ज्ञानी भक्त हैं; जो भगवान् के विशेष प्रिय हैं। यथा—"ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।" (दो० २१)।

'करहु कृपा…' आप सब मुनीश हैं और मैं आपका दास हूँ; इस नाते से मुझपर कृपा कीजिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (दो० १६६)।

सुग्रीव आदि ने अधम शरीर से श्रीरामजी को पाया। शरीर की अधमता दूर होना कर्म का फल है। 'रघुपति चरन उपासक जेते।…' में उपासना-कोटि की और यहाँ पे—'सुक सनकादि…' में ज्ञान-कोटि की वन्दना है।

शंका—सनकादि ब्रह्मा के मानसी पुत्र आदि सृष्टि के हैं और शुकदेवजी उनके बहुत पीछे हुए, फिर शुकदेवजी का नाम प्रथम क्यों रक्खा गया?

समाधान—(क) शुक में दो ही वर्ण हैं और सनकादि में चार। छोटा शब्द बड़े के पूर्व रहे तो क्रम अच्छा बनता है; इसलिये ऐसा रक्खा। (ख) शुकदेवजी वैराग्य और विवेक में सनकादि से भी अधिक हैं, क्योंकि सनकादि को जब ब्रह्माजी ने सृष्टि करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने अपने पिता से वाद कर वन की राह ली और तप करके वर माँगा कि हम नित्य बाल्यावस्था ही में स्थित रहें, पर इस अवस्था में भी जय-विजय को शाप दे ही दिया। शुकदेवजी जन्मते ही किशोर अवस्था के हो गये। गर्भ से पैदा होते ही वन की राह ली। माता-पिता की ओर देखा तक नहीं। पिता व्यासजी रोते हुए आपके पीछे-पीछे चले और समझाने का यत्न किया, तब आपने वृक्ष में प्रवेश कर उनसे बातें कीं। आपका विवेक ऐसा दृढ़ है कि किसी के प्रति क्रुद्ध न हुए कि शाप देने का संयोग लगे। राजा परीक्षित की सभा में भी बालक शुकदेवजी को आते देख उनको ज्ञानवृद्ध जानकर बड़े-बूढ़े ऋषि खड़े हो गये थे।

(ग) ऊपर नित्य परिकरों की और आगे श्रीसीतारामजी की वंदना है। बीच में इन मुनियों की दो अर्द्धालियाँ (१ चौ०) में वंदना है, यह तो व्यास तथा वाल्मीकि आदि के साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करने में एक रहस्य है और वह है ग्रंथ के तात्पर्य-निर्णय की विधि जो उपक्रम उपसंहार आदि छः लिंगों (चिह्नों) के द्वारा होता है। इस रामायण का उपक्रम इसी चौपाई से है, क्योंकि श्रीसीतारामजी की वंदना अब प्रारंभ होगी, जो ग्रंथ के प्रतिपाद्य हैं। उपक्रम में पूर्व ही यह 'सुक सनकादि…' की चौपाई वंदना क्रम से भिन्न रक्खी गई है। ऐसे ही इस ग्रंथ के उपसंहार पर जहाँ गरुड़जी के सातों प्रश्न पूरे हुए, वहाँ भी—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म-बिचार बिसारद ॥ सब कर

मत सग-नायक येहा। करिय राम-पद-पंकज नेहा॥" (उ० दो० १२१) है। बस, यहीं से मानस के चारों घाटों का विसर्जन प्रारंभ हुआ। वहाँ पर भी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल 'सिव-अज' दो नाम और जोड़ दिये गये हैं और यह चौपाई वहाँ भी इसी प्रकार प्रसंग से अलग-सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ निवृत्तिपरक है; अतः, प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी; तब पंचायत होगी (इस पंचायत का वर्णन 'सत पंच चौपाई मनोहर···' पर होगा); इसलिये अपने निवृत्ति-पक्ष के दो सत-पंच इन शुक-सनकादि का यहाँ वरण किया कि आपलोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात् इस जन के यहाँ आवें और इस ग्रंथ में शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एवं विवेकी हैं—प्रतिपक्षी के पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सत-पंच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपंच) रूप से किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षों के मान्य हैं। रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के देवर्षि तो हैं ही। श्रीनारदजी उभय पक्षों के ज्ञाता भी हैं, यथा—"अस कहि चले देवरिषि, करत राम-गुन-गान। हरिमाया-बल बरनत, पुनि-पुनि परम सुजान॥" (उ० दो० ५१)। नारदजी व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं। सबको 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य बताया कि मैं भक्ति-परक ही ग्रंथ लिखूँगा, और 'बिग्यान-बिसारद' से विज्ञान-सम्बन्धी अनुमति भी चाही कि मेरा भक्ति-सिद्धान्त विज्ञान-सम्मित रहे जिससे पंचायत में मेरी हार न हो। इतना प्रबंध करके 'जनकसुता जगजननि···' से ग्रंथ का आरंभ कर चले।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना-निधानकी॥७॥
ताके जुग-पद-कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥८॥

शब्दार्थ—करुना-निधान = करुणा के सागर। [करुणा-लक्षण—"सेवक को दुख देखि कै, स्वामि विकल हो जाय। तजि दुख-सुख साजै सकल, करुना गुन सो आय॥" प्रसिद्ध है।]

अर्थ—श्रीजनकजी की कन्या, जगन्माता और करुणा-सागर (श्रीरामजी) की अतिशय-प्रिया श्रीजानकीजी के दोनों चरण-कमलों को मनाता हूँ, जिनकी कृपा से (मैं) निर्मल बुद्धि पाऊँ॥७-८॥

विशेष—(१) 'जनक-सुता जग जननि···' यहाँ श्रीजानकीजी की चारो प्रकार की उत्तमताएँ तीन विशेषणों से सूचित कीं—'जनक सुता' से जन्म-स्थान की श्रेष्ठता, यथा—"पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही॥" (अ० दो० ११८); तथा—"जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥" (अ० दो० २७६); 'जग-जननी'—से स्वभाव और रूप की श्रेष्ठता, यथा—"आदि-सक्ति जेहि जग उपजाया।" (दो० १५१); तथा—"उमा-रमा ब्रह्मादि-बंदिता।" (उ० दो० २३); 'अतिसय-प्रिय···' से संग की श्रेष्ठता, अखिल ब्रह्मांड-नायक श्रीरामजी का संग एवं प्रियत्व है। यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" (सुं० दो० १४)।

'जनकसुता' मात्र कहने से श्रीजनकजी की और कन्याओं का भ्रम होता। 'जगजननि' शब्द भी गिरिजा आदि में प्रयुक्त होता है, यथा—"जगतजननि दामिनि-दुति गाता।" (दो० २३४); तथा—'अतिसय प्रिय' भी भक्तों के प्रति कहा गया है, यथा—"सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे॥" (सुं० दो० ४८), एवं—"सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥" (आ० दो० ३५)। अतः, तीनों को एक साथ कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाते हुए, श्रीजानकीजी का बोध कराया। जानकी शब्द विशेष्य और तीन विशेषण हैं। अतः, 'जनकसुता' शब्द से पुनरुक्ति नहीं है।

करुणा-निधान के प्रियत्व से जानकीजी का स्वभाव भी करुण सूचित हुआ, क्योंकि विना प्रकृति मिले प्रियत्व नहीं होता। यह भी सुना जाता है कि श्रीजानकीजी पति के लिये सम्बोधन-रूप में 'करुणा-निधान' शब्द कहा करती थीं। जब श्रीहनुमान्‌जी ने 'सत्य सपथ करुना-निधान की।' (सु० दो० १२) कहा, तब इस गुप्त संकेत से श्रीजानकीजी ने इनका विश्वास किया।

(२) 'ताके जुग-पद-कमल···' बालक माता के यदि दोनों चरण पकड़ ले, तो वह जिस वस्तु के लिये मचला रहता है, माता को देते ही बनता है। यथा—"हौं मचला लै छाड़िहौं जेहि लागि अर्‌यो हौं।" (वि० २६७); वैसे ही श्रीगोस्वामीजी निर्मल बुद्धि के लिये दोनों चरण मना रहे हैं। निर्मल बुद्धि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य विदित होता है। श्रीरामजी का ऐश्वर्य उनके दोनों चरणों के २४-२४ चिह्नों के परिज्ञान से जाना जाता है। जो-जो चिह्न श्रीरामजी के दाहिने-बायें चरणों में हैं, वे ही क्रमशः श्रीजानकीजी के बायें-दाहिने में हैं। अतः, दोनों चरणों के संकेत से अपना अभीष्ट भी जना रहे हैं।

सम्बन्ध—प्रथम शक्ति की वंदना करके तब शक्तिमान् की करते हैं, यही नियम है—

पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन-कमल बंदउँ सब लायक॥९॥

राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥१०॥

अर्थ—फिर मैं मन, वचन और कर्म से राजीवलोचन, धनुष-बाणधारी, भक्तों के दुःख हरनेवाले और सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो सब प्रकार से योग्य हैं॥९-१०॥

विशेष—(१) 'सब लायक'—(क) सबके लायक अर्थात् श्रीरामजी सबको सब सुख देने में समर्थ हैं। यथा—"सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित पद-रेनू॥" (दो० १४५); "नाथ देखि पद-कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥" (दो० १४८)। (ख) इनके सेवन से मन वचन-कर्म शुद्ध होते हैं; इसीलिये इन्हीं तीनों से यहाँ वंदना भी की गई है। मन—यथा—"जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥ (दो० ३२४); वचन—"जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४); कर्म—"पाप करत निसि-बासर जाहीं। ·····अब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" (अ० दो० २५०)। (ग) ये कोल-किरात ऐसे दीनों और ब्रह्मादि बड़ों से सेवा कराने के योग्य हैं। यथा—"बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन।" (अ० दो० १३६); "जासु चरन अज-सिव अनुरागी।" (उ० दो० १०५)

(२) 'राजिवनयन···' राजीव लाल कमल को कहते हैं। भक्तों की विपत्ति के भंजन में धनुष-बाण से काम लिया जाता है। अतः, रौद्र और वीर में लाल नेत्रों की आवश्यकता है। ऐसे ही प्रसंगों पर 'राजीवनयन' कहे गये हैं। यथा—"सुनि सीता-दुख प्रभु सुखअयना। भरि आये जल राजिवनयना॥" (सुं० दो० ३१); "राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन···" (दो० ३१०), इत्यादि। ऐसे ही शांत रस में पुंडरीकाक्ष (श्वेत कमल-तुल्य नेत्र) और शृंगार रस में नील कमल के समान नेत्र कहे जाते हैं।

दोहा—गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥१८॥

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजी के चरणों की वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन अत्यन्त प्रिय हैं। जो वाणी और अर्थ एवं जल और जल की लहर के समान कहने में तो भिन्न हैं, पर (तत्त्वतः) भिन्न नहीं हैं।

विशेष—(१) प्रथम श्रीसीताजी और श्रीरामजी की पृथक् पृथक् वंदना की, अब एक ही में क्यों ? उत्तर—(क) वे वाह्यतः भिन्न-भिन्न देखे-सुने जाते हैं। अतः, भिन्न-भिन्न ही वंदना हुई। तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतः, अभिन्न वंदना हुई। (ख) श्रीगोस्वामीजी आगे नाम-वंदना करेंगे, तब–'बंदउ नाम राम···' कहेंगे। वहाँ यह शंका होगी कि मानसकार केवल श्रीराम ही के उपासक हैं अन्यथा 'सीताराम नाम बंदउँ' या और कोई युगल नामसूचक शब्द कहते। अतः, सीता नाम ब्रह्म का नहीं है। इसलिये यहाँ प्रथम ही दोनों रूपों को अभिन्न सिद्ध करते हैं। तब नाम की तत्त्वतः अभिन्नता स्वतः हो जायगी; क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं। यथा—"न भिन्नो नाम नामिनोः। (पद्मपुराण में पार्वतीजी के प्रति शिवजी का वाक्य)। जो गुण एवं ऐश्वर्य रूप में होता है वही उसके नाम में भी रहता है। जैसे कोई ज्योतिषी चोरी को प्रकट करने की विद्या में निपुण हो और इसमें उसकी ख्याति हो जाय, तब उसके निवास से दूरस्थल पर भी जहाँ चोरी होने पर घरवाला ज्योतिषी का नाम लेते हुए उससे जाँच कराने को कहता है; तब चोर डरकर चुराया माल भी किसी युक्ति से दे जाते हैं। इस रीति से ज्योतिषी की समग्र विद्या-शक्ति ने उसके नाम द्वारा रूपका-सा कार्य किया। पुन नाम की प्रशंसा से रूप प्रसन्न होता है, नाम-द्वारा मुहूर्त्त शोधकर कार्य करने से रूप का कल्याण होता है, इत्यादि।

यही एकता अन्यत्र के प्रमाणों से भी पाई जाती है, यथा—"द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः॥" (बृहद् विष्णुपुराण)। इसमें भी तत्त्वतः रूप की एकता दिखाते हुए मन्त्र एवं नाम की भी एकता कही गई है। तथा—"श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयम्। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु सधन्योभाविनांवरः॥" (महारामायण)।

(२) 'गिरा अरथ···' इसमें 'गिरा-बीचि' और 'अर्थ-जल' उपमान है, क्रमशः सीता और राम उपमेय, 'कहियत भिन्न न भिन्न' धर्म और 'सम' वाचक हैं। अत., पूर्णोपमा है। इसमें ग्रन्थकार का प्रयोजन धर्म के द्वारा दोनों रूपों को तत्त्वतः अभिन्न दिखाने का है। वाणी और अर्थ तत्त्वत. एक हैं, जैसे 'पय' वाणी और 'दूध' उसका अर्थ है। इसमें पय और दूध एक ही वस्तु हैं। ऐसे ही जल और उसकी लहर दोनों जल-रूप की एक ही वस्तु हैं; इसी प्रकार सीता और राम एक ही वस्तु हैं, दोनों ही मिलकर एक अखंड ब्रह्म-तत्त्व हैं। रघुवंश के मंगलाचरण में भी यही कहा है—'*वागर्थाविव सम्पृक्तौ*'। यही बात मनु-शतरूपाप्रकरण (दो १४१ से १५२ तक) में खोलकर दिखाई गई है। वहाँ स्वायंभुव मनु और शतरूपा प्रथम सच्चिदानंद ब्रह्म का स्मरण करते थे, फिर उसीको हरि-(क्लेशहर्त्ता) रूप से प्राप्ति के लिये तप करने लगे और यह अभिलाष करने लगे कि हम उसी परम प्रभु को अपने नेत्रों से देखें, जो निर्गुण, अखंड, अनंत और अनादि है; जिसका चिन्तन परमार्थ-वादी करते हैं, वेद 'नेति नेति' कहकर जिसका निरूपण करते हैं, जो स्वयं आनंदरूप और उपाधिरहित एवं अनूप है, जिसके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उपजते हैं, ऐसा प्रभु भी सेवक के वश में है और वह भक्तों के लिये लीला को अपने शरीर में ग्रहण करता है। लीला का अर्थ यह कि अपने दिव्य शरीर में ही प्राकृत मनुष्यों की तरह बाल पौगंड आदि अवस्थाओं का धारण करता है, वैसी बात करता एवं देख पड़ता है। यदि यह (ब्रह्म के 'लीला तन गहई' का) वचन वेद ने सत्य कहा है तो हमारी अभिलाषा पूरी होगी। ऐसा दृढ संकल्प करके तप करते थे, तब विधि-हरि-हर बहुत बार आये, वर के लिये बहुत प्रकार से लोभ दिखाया, पर इनकी अखंड वृत्ति परब्रह्म में लगी थी। अत', उनके वचन ही न सुने। तब परब्रह्म परमात्मा ने मनु को अपना अनन्य दास जानकर ब्रह्म-वाणी द्वारा वर माँगने को कहा। उससे इनका क्षीण शरीर पहले की तरह हो गया। तब इन्होंने कहा कि जो स्वरूप शिवजी के मन में रहता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं और जो भुशुंडी के मन-मानस का हंस है, वेद जिसकी प्रशंसा 'सगुण निर्गुण कहकर करते हैं, हम वही रूप नेत्र भरकर देखें। (अर्थात्

(२) यहाँ अग्नि आदि तीन ही कारण कहने के प्रयोजन ये हैं—(क) नामी (रूप) का गुण ही नामार्थ-द्वारा प्रकट होता है। श्रीरामजी से तीनों की उत्पत्ति वेद में कही गई है, यथा—"चन्द्रमा मनसो· जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥" (यजुर्वेद); तथा—"नयन दिवाकर''' आनन अनल'''मन ससि'''" (लं० दो० १४)।

(ख) श्रीराम-नाम अग्नि आदि तीनों का कारण है, मूल है और जिह्वा पर इन्हीं तीनों का निवास भी है, यथा—"जिह्वामूले स्थितोदेवःसर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः ॥" (योगियाज्ञवल्क्यः); अतः, जिह्वा से इन तीनों वर्णात्मक श्रीराम-नाम के जपने से—अपने-अपने मूल की प्रकाश-प्राप्ति से— अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा द्वारा होनेवाले उपर्युक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का पूर्ण विकास होता है तब वैराग्य-द्वारा अन्तःकरण-शुद्धि से कर्म-दोष, ज्ञान-द्वारा गुणातीत होने से गुण-दोष और भक्ति-द्वारा काल-दोष निवृत्त होता है, क्योंकि काल भगवान् की इच्छा है, यथा—"भृकुटिविलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४); और भक्ति से भगवान् अधीन हो जाते हैं; यथा—"भगति अवसहिं बसकरी॥" (आ०दो०२५)।

(ग) श्रीराम-नाम में इन तीनों का कारण अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला"। (अ० दो० २४७); "जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा।" (दो० ११५); "राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।" (आ० दो० ४२)।

(३) प्रश्न—श्रीरामजी के अनेकों नाम हैं, यहाँ श्रीराम-नाम ही की वंदना क्यों ?

उत्तर—भगवान् के और सब नाम गुण-कर्म के द्वारा हैं और श्रीरामनाम साक्षात् सच्चिदानंद-स्वरूप का वाचक होने से मुख्य है, यथा—"रमन्ते योगिनोनंते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ· परंब्रह्माभिधीयते ॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय० १।६); अर्थात् अनंत, नित्यानंद और चिदात्मा में योगी रमण करते हैं। इस प्रकार राम शब्द के द्वारा ये दाशरथी श्रीरामजी परंब्रह्म कहे जाते हैं। 'राम' नाम के अर्थ में ब्रह्म-स्वरूप के सत्, चित् और आनंद का अर्थ ज्यों-का त्यों है, यथा—"चिद्वाचकोरकारस्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दवाचीस्यात् सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥" (महारामायण) अर्थात् र चिद्वाचक, आ सद्वाची और म आनंदवाची है; अतः, सच्चिदानंद अविनाशी ब्रह्म श्रीरामजी हैं। यथा—"नारायणादि नामानि कीर्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनामप्रकाशकः ॥" (महारामायण) इसी अभिप्राय से श्रीनारदजी ने—"राम सकल नामन्ह ते अधिका।" (आ० दो० ४१) कहा है और इसी नाम से श्रीवशिष्ठजी ने भी नामकरण किया है; अतः, आत्मा की वंदना से सम्पूर्ण शरीर के समान अन्यान्य नामों की भी वंदना हो गई।

बिधि-हरि-हर-मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन-निधान सो ॥२॥

शब्दार्थ—अगुन = प्राकृत सत्व, रजस् और तमोगुण से परे। गुन-निधान = दिव्य गुणों की खान।

अर्थ—यह (श्रीराम-नाम) विधि-हरि-हर-मय है, वेद का प्राण है; गुणों से परे, उपमा-रहित और दिव्य गुणों की खान है ॥२॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरि-हर-मय'—'मय' तद्धित का एक प्रत्यय है जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य अर्थ में शब्दों के साथ लगता है। तद्रूप—'सियाराममय सब जग जानी।' विकार—'अमिअ-मूरिमय चूरन चारू।' प्राचुर्य—'मुद-मंगल-मय संत-समाजू।'

ग्रंथकार ने 'मय' के प्राचुर्यभाव को श्रीराम-नाम के विषय में लिया है, यथा—"जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम-नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास॥" (दोहावली २६) अर्थात् जैसे अनन्त बीज पृथिवी में रहते हुए, उसकी ही सत्ता से, वृक्ष-अन्न आदि उत्पन्न कर सकते हैं, वैसे ही श्रीरामनाम के द्वारा बुद्धि में सब धर्मों का विकाश होता है, फिर आकाश में अनन्त नक्षत्रों की स्थिति की भाँति नाम ही से हृदयाकाश में अनन्त दिव्य गुण जगमगाते रहते हैं।

इसी प्रकार यहाँ 'बिधि-हरि-हर-मय' का अर्थ यह होगा कि श्रीराम-नाम ही के अंश से अनेकों त्रिदेव अपने-अपने ब्रह्मांडों के साथ आविर्भूत (प्रकट) होते हैं और इसी के आधार से उनमें उत्पत्ति, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं। यथा—"राम-नामांशतोजाता ब्रह्माण्डाः कोटि-कोटिशः। रामनाम्नि परे-धाम्नि संस्थिता स्वामिभिस्सह॥" (पद्मपुराण—ब्राह्मणों के प्रति व्यासजी का कथन) तथा—"राम-नाम-प्रभावेण स्वयंभूः सृजते जगत्। बिभर्त्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥" (महाशंभुसंहिता)। यही अर्थ श्रीराम-नाम के अक्षरार्थ से भी प्रकट होता है अर्थात् राम शब्द में 'र, आ, म, अ' ये चार वर्ण हैं। उनमें प्रथम का 'र' आधार और शेष तीनों उसके आधेय हैं, यथा—"रेफारूढ़ा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च।" (श्रीरामतापनीय २।३)। 'रेफारूढ़ा मूर्त्तयः वृक्षारूढ़ा वानरा इव' अर्थात् जैसे वृक्ष के आधार से वानर स्थित रहते हैं, वैसे रेफ के आश्रित 'आ, म्, अ' तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ हैं। रेफ के वाच्य श्रीरामजी, आ के ब्रह्मा, म् के शिव और अ के विष्णु हैं, यथा—"रश्च-रामेऽनिलेवह्नौ, अकारो वासुदेवः स्यात्। ह्याकारस्तु प्रजापतिः। 'मः शिवश्चन्द्रमाः'" (एकाक्षरकोश)

नाम का यही अर्थ महत्त्व रूप में भी कहा है, यथा—"हरिहिं हरिता सिवहिं सिवता बिधिहिं बिधिता जेहि दई। सोइ जानकीपति···" (वि० १३५); यही परात्परत्व का असाधारण लक्षण है। यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्तिरीयो० भृ० व०)।

(२) 'बेद प्रान सो'—प्राण का अर्थ जीव, सार और तत्त्व है, यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (दो० ६); तथा—"वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः॥" (महारामायण)। पुनः वेद का प्राण प्रणव (ओम्) है, वह राम-नाम से सिद्ध होता है। जैसे 'राम'—इस पद में 'र, अ, अ, म, अ' ये पाँच अक्षर हैं, उनमें वर्ण-विपर्यय करने पर 'अ, र, अ, म्, अ' होता है, उसमें "अतोरोरप्लुतादप्लुते" (पा० ६।१।११३) इस सूत्र से 'र' का 'उ' हुआ और "आद्गुणः" (पा० ६।१।८७) सूत्र से 'अ उ' के स्थान में 'ओ' हुआ, और "एङः पदान्तादति" (पा० ६।१।१०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्व रूप और अंतिम 'अ' का पृषोदरादित्व से वर्णनाश होकर 'ओम्' बनता है। अथवा राम शब्द की प्रकृतिभूत 'रम्' धातु मे वर्ण-विपर्यय मानकर पूर्वोक्त 'अतोरो०' से 'र' से 'उत्व' और उपर्युक्त 'आद्गुणः' से 'ओत्व' करने पर 'ओम्' बनता है। यथा—"रकारं गुरुराकारस्तथा वर्णविपर्ययः। मकारं व्यञ्जनं चैव प्रणवं चाभिधीयते॥ रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः।" (महारामायण) तथा—"स्वभूर्ज्योतिर्मयोनंतरूपी स्वेनैवभासते। जीवत्वेनेदमोंयस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च॥" (राम पू० ता० २।१४) अर्थात्···"सर्ववेद-मंत्रकारणस्य प्रणवस्य तत्प्रकाश्यत्वमाह जीवत्वेनेदमों यस्येति यस्य वह्नि बीजस्य जीवत्वेन स्फोटकत्वेनेदं सर्ववेदसर्वमन्त्रात्मकं ॐ काराक्षरं भासते ननु वस्तुतः तद्भिन्न ॐकारोस्तीत्यर्थः" (श्रीहरिदास कृत भाष्य)।

(३) 'अगुन अनूपम ''' अगुण अर्थात् गुणातीत, अनुपम अर्थात् इसकी उपमा के योग्य कुछ

हम देखकर ही जानेंगे कि उस अखंड ब्रह्म का कैसा रूप है ?) तब भक्त-वत्सल भगवान् युगल (सीता-राम) रूप से ही प्रकट हुए अर्थात् यही अखंड ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म नित्य सर्वशक्तिमान् है, अतः, शक्ति-सहित ही अखंड है। यही प्रायः सभी दार्शनिकों का सिद्धान्त भी है कि शक्ति और शक्तिमान् को अभिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग पर कोई-कोई कहते हैं कि 'लीला तन गहई' का अर्थ यह है कि ब्रह्म लीला का शरीर ग्रहण करता है और मनु ने लीला-शरीर के दर्शन माँगे। अतः, यह लीला का शरीर भगवान ने दिखाया और उदाहृत शिव आदि भी इसी लीला-शरीर के प्रेमी हैं, परन्तु ब्रह्म का परस्वरूप और है।

यह कहना अयोग्य है, क्योंकि 'ब्रह्म नित्य रूप से अतिरिक्त लीला का शरीर दूसरा ग्रहण करता है।' इस तरह आदि विग्रह (शरीर) से पृथक् विग्रह धारण करने पर वह दूसरा शरीर सादि होने से घटादिवत् अनित्य होगा, फिर उस रूप के उपासक को मुक्ति कैसे सिद्ध होगी और "यं यं भावं स्मरन्वापि त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति···" (गीता ८।६) यह वाक्य व्यर्थ होगा। ऐसे और भी इस अर्थ में बहुत दोष हैं। श्रीरामतापनीय भाष्य के पृ० १५७-१६६ में "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" की व्याख्या देखें। भगवान् के सब शरीरों के भाव इस प्रकार नित्य हैं, जैसे कोई स्फटिकमणि नील-पीतादि पुष्पों के बीच में रक्खी हो तो उस-उस ओर नील-पीतादि रूप से देख पड़ती है। ऐसे ही भगवान् उपासकों के ध्यान के अनुसार अपने आदिविग्रह में लीला के द्वारा अनेक रूपों और भावों के साथ दीखते हैं। यथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" (दो० १४२)

(३) शंका—एक ही दृष्टान्त से एकता सिद्ध हो जाती तो दो क्यों दिये गये और स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग की उपमाओं का हेरफेर क्यों किया गया ?

समाधान—'गिरा-अर्थ' मात्र कहे गये होते तो 'गिरा' शब्द के स्त्रीलिंग होने से सीताजी का कारण होना और अर्थरूप श्रीरामजी का कार्य होना सिद्ध होता, क्योंकि 'गिरा' से अर्थ होता है। ऐसे ही 'जल-बीचि' में भी जल संस्कृत में नपुंसक लिंग होते हुए भी भाषा में पुँल्लिंग है। अतः, जल श्रीरामजी के लिये है और बीचि स्त्रीलिंग श्रीसीताजी के प्रति है। जल का कार्य 'बीचि' है; अतः, श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य समझे जाते।

इन दो दृष्टान्तों से दोनों में कार्य-कारण का निराकरण किया। इसपर यदि पूर्वपक्ष किया जाय कि—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥" (अ० दो० ९६); इसमें प्रभा और चंद्रिका क्रम से सूर्य और चन्द्रमा की कार्यरूपा हैं, इस अनुरोध से यहाँ 'गिरा' को श्रीरामजी की उपमा मानकर श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य मान लिये जायँ।

सिद्धान्त—उपमा के धर्म से ही कविता का प्रयोजन रहता है। जैसे 'कमल के समान कोमल चरण' में 'कोमल' धर्म है, अतः, कोमलता ही दिखाने का प्रयोजन है, कमल के रंग-रूप-रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसे ही उक्त चौपाई में—प्रभा, चंद्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चंद्र और श्रीरामजी क्रमशः उपमान-उपमेय हैं, 'जाइ कहँ···बिहाई'—कहँ ···तजि जाई' ये दोनों धर्म हैं, वाचक पद सम, इव आदि लुप्त हैं। अतः, उपमा-द्वारा कवि का प्रयोजन, केवल श्रीजानकीजी का अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध दिखाना मात्र है कि प्रभा और चंद्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्र से पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसे मैं आपके बिना नहीं रह सकूँगी। ऐसे ही "तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥" (अ० दो० ९६) में अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध ही दिखाने का प्रयोजन है। अतः, उपर्युक्त 'गिरा-अरथ' में लिंग विरोध करके श्रीरामजी ही को

कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिंग के अनुकूल उपमान का अर्थ असंगत होता है, वहाँ लिंग-विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकीजी को कार्य कहने में अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।

और भी देखिये। राजा दशरथ को वरदान था कि वे श्रीरामजी के दर्शनों के बिना 'जल बिनु मीन' की तरह नहीं जी सकते। उन्होंने सुमंत्र से कहा कि यदि जानकी फिरें तो मेरे प्राणों का अवलंब हो (अ० दो० ८१)। यदि श्रीजानकीजी श्रीरामजी से भिन्न तत्त्व होतीं, तब राजा कैसे जी सकते थे? इत्यादि।

(४) 'परम प्रिय खिन्न'—साधारण रीति से प्रभु को सभी जीव प्रिय हैं, पर 'खिन्न' परम प्रिय हैं, यहाँ खिन्न का अर्थ दीन-हीन है, जो संसार को भयंकर जानकर प्रभु के शरणापन्न हैं, शरीर-निर्वाह के अतिरिक्त जगत् से सम्बन्ध नहीं रखते। इस तरह अभिमानरहित जीव ही श्रीसीतारामजी को परम प्रिय हैं। यथा—"करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानविहीन। तुलसी त्रिपथ विहाय गो, राम-दुआरे दीन। (दोहावली ६६); "जेहि दीनपियारे वेद पुकारे ···" (दो० १८५)।

इति धाम परिकर-श्रीसीतारामरूप-वंदना-प्रकरण समाप्त

नाम-वन्दना-प्रकरण *

बंदउँ नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥१॥

अर्थ—(मैं) श्रीरघुवर के राम-नाम की वंदना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का हेतु (कारण एवं बीज) है।

विशेष—(१) 'बंदउँ नाम···' अभी ऊपर रूप की वंदना की थी, अब नाम की वंदना प्रारंभ करते हुए कहते हैं कि 'बंदउँ नाम'; कौन नाम? उसपर 'राम' कहा। फिर यह प्रश्न होगा कि कौन राम? क्योंकि 'राम' शब्द से परशुराम एवं बलराम का भी बोध होता है; अतः, 'रघुवर को' कहा अर्थात् दशरथ-कुमार श्रीरामजी के 'राम'-नाम की वंदना करता हूँ। अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध से नाम का परिचय देकर उत्तरार्द्ध में उसके गुण कहते हैं—'हेतु कृसानु···'। राम-नाम में सामान्यतः तीन वर्ण 'र, अ और म' हैं। इनमें 'र' अग्नि-बीज, 'अ' भानु-बीज और 'म' चन्द्र-बीज है, यथा—"रकारोऽनलबीजं स्यात्ते सर्वे वाडवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्॥ अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या याऽविद्या हृदये तमः॥ मकारश्चन्द्रबीजश्च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥" (महारामायणे शिव-वाक्यम्)। इन्हीं गुणों से ये तीनों क्रमशः कर्म के फल रूप वैराग्य, ज्ञान एवं भक्ति के भी कारण हैं, यथा—"रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥" (महारामायणे) अर्थात् शुभाशुभ कर्म भस्म होने से वैराग्य और अविद्या दूर होने से ज्ञान होता है तथा भक्ति रूपी सुधा से इंद्रियाँ तृप्त होती हुई तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों से बचती हैं, इस प्रकार से भक्ति की पहचान होती है। एकाक्षरकोश से भी—'रश्च रामेऽनिलेवह्नौ', 'अकारो वासुदेवः स्यात्'— वासुदेव, नारायण, विष्णु के पर्यायी नाम हैं, सूर्य भी नारायण-रूप हैं। 'मः शिवश्चन्द्रमाः'—इस प्रकार उक्तार्थ ही सिद्ध होता है।

* यह प्रकरण यहाँ से— भाय कुभाय अनख ··· तक नौ दोहों में है। इसका विस्तार मेरे लिखे श्रीराम-नामार्थ पर नामाराधन रीति की अखिल साधन-सम्पन्न व्याख्या रूपी 'तत्त्वार्थ-सुमिरनी' टीका सहित 'श्रीमन्मानस-नाम-वंदना' ग्रंथ में है। यहाँ यह विषय संक्षेप ही में लिखा जाता है।

नहीं है, यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति।" (यजुर्वेद)। 'गुन-निधान' अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, शांति, क्षमा आदि दिव्य गुणों का खजाना है।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥३॥

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीराम नाम महामंत्र है, जिसे शिवजी जपते हैं और जिसका उपदेश काशीजी में मुक्ति का कारण है ॥३॥ जिस (राम नाम) की महिमा गणेशजी जानते हैं, वे इसी नाम के प्रभाव से (सब देवताओं से) प्रथम पूजे जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'महामंत्र…' 'महेसू'—महान् ईश अर्थात् सब देवताओं के स्वामी भी इसे जपते हैं। अतः, यही महामंत्र है। यथा—"महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।" (वि० १०८), "उमा सहित जेहि जपत पुरारी।" (दो० ६)। माहात्म्य-कथन में प्रथम शिवजी को कहा, क्योंकि—"नाम प्रभाउ जान सिव नीको।" (दो० १८); "महिमा रामनाम की जान महेस। देत परम पद कासी करि उपदेस॥" (बरवा ५२) तथा—"यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनामरसायनम्॥" (शुकपुराण)। भारी महत्त्व एवं सुलभता से भी यह महामंत्र है, क्योंकि महा अपावन यवन, किरात, अजामिल आदि भी इस नाम के उल्टे-पुल्टे कहने से पावन हो गये। शुद्ध, अशुद्ध एवं मृतदेह लिये हुए भी लोग इसका उच्चारण कर मंगल-भागी होते हैं और यह विधि - अनुष्ठानादि की भी अपेक्षा नहीं रखता। 'भाय कुभाय अनख आलसहूँ' आदि सब भाँति कल्याण ही करता है।

संसार के संहारकर्त्ता ईश्वर महेश भी उसे जपते हैं। अतः, यह महामंत्र शिष्टपरिगृहीत—बड़े बड़ों से ग्राह्य है। 'कासी मुकुति ……' काशी में मरते समय जीवों को श्रीशिवजी श्रीराम नाम ही का उपदेश करते हैं, उसीसे उनकी मुक्ति होती है। यथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥" (कि० दो० १)।

शंका—श्रीरामतापनीय उपनिषद् में षडक्षर मंत्रराज के उपदेश से शिवजी का मुक्ति देना कहा है और यहाँ श्रीराम-नाम से कहते हैं। ऐसा क्यों ?

समाधान—श्रीराम-नाम ही मंत्रराज का बीज होता है और उसीका विवरण अवशिष्ट-मंत्र है, अतः, नाम और मंत्र तत्त्वतः अभेद हैं, यथा—"सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥" (मत्स्यपुराण)। 'उपदेसू'—यथा—"पेयं पेयं श्रवणपुटके राम-नामाभिरामं, ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्। जल्प्यं जल्प्यं प्रकृति-विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले, वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी॥" (स्कंदपुराण—काशीखंड)। यहाँ श्रीशिवजी ने स्वयं मोक्ष-फल पाया और औरों को मोक्ष-फल लुटा रहे हैं। अतः, नाम का मोक्ष-फल देना सिद्ध है।

(२) 'महिमा जासु ……' गणेशजी के राम-नाम-प्रभाव जानने की कथा पद्मपुराण में इस प्रकार है कि एक समय श्रीब्रह्माजी ने सब देवताओं के समक्ष प्रथम पूज्य पद का प्रस्ताव किया। सभी अपने को योग्य कहने लगे। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि जो तीनों लोकों की परिक्रमा करके मेरे पास प्रथम आवेगा, वही यह पद पावेगा। सब देवता अपने-अपने वाहन पर शीघ्रता से चले। गणेशजी का वाहन चूहा है। अतः, वे सबसे पीछे रह गये और उदास हुए। तब भगवान् की दया से श्रीनारदजी आ गये और

उपदेश किया कि श्रीराम-नाम सर्वब्रह्मांडमय है, तुम उसे ही पृथिवी पर लिखकर और उसीकी परिक्रमा करके श्रीब्रह्माजी के पास चले जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। अन्य देवता जहाँ जाते वहीं चूहे के पैरों का चिह्न आगे पाते थे। अतः, वे सब निराश हुए और गणेशजी ने ही यह पद पाया। इन्होंने स्वयं कहा है—"अहं पूज्योऽभवँल्लोके श्रीमन्नामानुकीर्त्तनात्। अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्त्तनं सर्वदोचितम् ॥" (गणेशपुराण)।

यहाँ श्रीगणेशजी की अपनी कामना सिद्ध हुई और वे संसार की कामनासिद्ध करते हैं, इसीसे सम्पूर्ण शुभ कार्यों में इनका प्रथम पूजन होता है। अतः, यहाँ श्रीराम-नाम का काम फल देना सिद्ध है।

जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥५॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकिजी श्रीराम नाम का प्रताप जानते हैं ये उल्टा नाम (मरा) जपकर शुद्ध हो गये।

विशेष—'उलटा जापू' यथा—"राम विहाइ 'मरा' जपते बिगरी सुधरी कविकोकिलहू की।" (क० उ० ८९)। "जहाँ बाल्मीकि भये व्याध ते मुनीन्द्र साधु 'मरा-मरा' जपे सुनि सिप रिषि सात की ॥" (क० उ० १३८)।

श्रीवाल्मीकिजी की कथा—इनका पूरा वृत्तान्त दो० २ की तीसरी चौ० में लिखा गया है। यहाँ प्रयोजन मात्र लिखते हैं। ये ऋषि के बालक थे। बचपन ही में भीलों का संग हो गया। एक भील-कन्या से विवाह भी हुआ। ससुराल ही में रहने लगे। उन्हीं के संग से पूरा व्याधा हो गये। फिर तो ये ब्राह्मण-साधु को भी नहीं छोड़ते, जीव-हत्या करते थे और धन वस्त्रादि लूटकर कुटुम्ब पालते थे। एक समय सप्तर्षियों को भी मारना चाहा, तब उनके प्रभाव एवं उपदेश से आँखें खुलीं और दीनतापूर्वक उद्धार का उपाय पूछा। उन्होंने राम-नाम का उपदेश किया। वह भी इनसे न बना। तब दयालु ऋषि 'मरा मरा' जपने का उपदेश देकर चले गये। ये उसी शरीर से व्याधा से मुनि हुए। 'नाम-प्रतापू'—प्रताप, यथा—"जाकी कीरति सुयश सुनि, होत शत्रु उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप॥" अर्थात् किसी व्यक्ति की कीर्ति और सुयश ही से शत्रु को भय हो जाय, उस व्यक्ति को-वहाँ न जाना पड़े तो वह प्रताप कहा जायगा। वैसे ही यहाँ साक्षात् नाम के बिना 'मरा-मरा' से करोड़ों ब्रह्महत्या आदि पापों की शुद्धि हुई। यही नाम का प्रताप है। 'हराम' कहने से यवन की गति हुई। अतः, वहाँ भी नाम का प्रताप कहा गया, यथा—"ऑधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन····· नाम के प्रताप बात विदित है जग में।" (क० उ० ७६)। 'भयेउ सुद्ध'—जो पाप करोड़ों यज्ञों से शुद्ध नहीं हो सकता था, वह नाम के प्रताप से हुआ। अतः, यहाँ नाम का अमित अर्थ फल देना है, क्योंकि बहुत शुद्ध धान्य एवं द्रव्य प्राप्त होता, फिर उससे उत्तम समय में एवं अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता द्वारा सैकड़ों यज्ञ किये जाने से जो फल होता वह वाल्मीकिजी को केवल उलटा नाम जपने ही से प्राप्त हुआ। ऐसे वे श्रीवाल्मीकिजी भी नाम-द्वारा प्राप्त गुणों से रामायण रचकर उसके एक-एक अक्षर से संसार के पापों की शुद्धि करते हुए अर्थ-फल प्रदान कर रहे हैं। यथा—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" (मू० रा० माहात्म्य)।

अन्य मंत्र किंचित् भी अविधि होने पर उल्टे विघ्न करते हैं, पर श्रीराम-नाम तो उल्टे जप में भी भारी फल देते हैं। आश्चर्य महत्त्व है। इससे यह भी सूचित हुआ कि नाम का प्रत्येक अक्षर पृथक्-पृथक् भी बड़े महत्त्व का है।

इस दोहे भर में सब श्रीशिवजी और उनके ही परिवार हैं। बीच में एक महर्षि कहे गये, क्योंकि श्रीराम-नाम एवं श्री रामचरित के सम्बन्ध से महर्षि भी शिवजी को गणेशजी के समान प्रिय हैं।

सहस नाम सम सुनि सिव-बानी। जपति सदा पिय संग भवानी ॥६॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय-भूषन ती को ॥७॥

अर्थ—श्रीशिवजी के ये वचन सुनकर—"एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनाम के समान है"—श्रीपार्वतीजी उसे अपने पति के साथ सदा जपती हैं ॥६॥ उनके हृदय की प्रीति को देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि स्त्री (श्रीपार्वतीजी) को अपना भूषण बना लिया अर्थात् भूषण की तरह इन्हें आधे अंग में धारण करके शोभा मानी ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी की कथा—श्रीशिवजी की आज्ञा से श्रीपार्वतीजी ने वामदेव ऋषि से वैष्णव मंत्र का उपदेश लिया। गुरुजी ने इन्हें नित्य विष्णुसहस्रनाम के पाठ का नियम करा दिया। ये किया करती थीं। एक दिन भोजन के समय श्रीशिवजी स्वयं भोजन करने बैठे और इन्हें भी भोजन करने के लिये बुलाया। इन्होंने कहा कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब श्रीशिवजी ने सुअवसर समझकर उनको उपदेश दिया कि एक बार श्रीराम नाम कहकर आओ और भोजन कर लो। इन्होंने वैसा ही किया। पीछे इन्होंने श्रीशिवजी से पूछा कि आपने मेरा नियम क्यों छुड़ा दिया ? शिवजी ने कहा कि तुम्हारा नियम एक बार ही राम नाम कहने से पूरा हो गया, क्योंकि राम नाम विष्णुसहस्र नाम-समूह के तुल्य है, यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामतत्तुल्यं राम नाम वरानने॥" (पद्मपुराण, पाताल खण्ड)। 'सिवबानी'—ईश्वर की वाणी है, अतएव कल्याणकारी एवं सत्य है। यथा—"संभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (दो० ५०)। अत, तत्काल प्रभाव पड़ा।

'जपति सदा''' यथा—"मंगलभवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी॥" (दो० ६); 'जपति सदा' पाठ अयोध्या श्रावणकुंज का है, यह उपर्युक्त कथा से भी मिलता है, क्योंकि सहस्र नाम की तुल्यता भोजन के पीछे कही गई है, परन्तु कई प्रतियों का पाठ 'जपि जेई' भी है जिसका अर्थ है 'जपकर भोजन किया।'

(२) 'हरषे हेतु हेरि''' पार्वतीजी का श्रीराम नाम में विश्वास एवं अपने वचन में हेतु (प्रीति) देखकर शिवजी को हर्ष हुआ। हर्ष का ध्वनितार्थ हेतु यह भी है कि सती-शरीर में संदेह के कारण उपदेश नहीं लगा था। यथा—"लाग न उर उपदेस—" (दो० ५१); और अब पूर्ण श्रद्धा है।

इसमें श्रीपार्वतीजी को पातिव्रत्य धर्म के फलस्वरूप पति के रूप की प्राप्ति, जो अन्यत्र मृत्यु के बाद होती है, वह इसी शरीर से हो गई। पार्वतीजी भी संसार को यही धर्म लुटा रही हैं, यथा—"येहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा॥" (दो० ६६), यह वचन हस्त-रेखा से भविष्य के लिये कहा गया है, नाम जपने पर यह सामर्थ्य हुआ। स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, यथा—"एकइ धरम एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति-पद-प्रेमा॥" (आ० दो० ४)। अत, यहाँ नाम का 'धर्म फल' प्रदान करना सिद्ध है।

इस प्रसंग से यह भी सिद्ध हुआ कि पतिव्रता को भी, पति के रहते हुए भी, भगवान् का भजन करना चाहिये। अन्य प्राकृत जीवों की भक्ति मना है। भगवान् तो दिव्य एवं चराचर के पति हैं, यथा—'पतिं विश्वस्य' वेद में कहा है। श्रीनारदजी ने याज्ञवल्क्यजी से कहा है—"रामनाम रता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥ पतिव्रताना सर्वासां रामनामानुकीर्त्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्वशो मुने॥" (ब्रह्माण्डपुराण)।

नाम-प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥८॥

अर्थ—श्रीशिवजी नाम का प्रभाव भली भाँति जानते हैं; इसी से कालकूट (विष) ने उनको अमृत का फल दिया।

विशेष—'नाम-प्रभाव जान…' प्रभाव और देवगण भी जानते हैं, पर उसे भली भाँति श्रीशिवजी ही जानते हैं; इसी से कहा है—"रामायन सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि।" (दो० १६); "तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगअराती॥" (दो० १०७); तथा—"जासु नाम सर्वस सदासिव पार्वती के।" (गी० बा० १२) उदाहरण उत्तरार्द्ध में देते हैं, यथा—'कालकूट फल…'—श्रीमद्भागवत स्कंध ८ अ० ५ से ७ तक में शिवजी के हालाहल पीने की कथा आई है। यहाँ सारांश मात्र लिखी जाती है। पूर्व समय में, जब देवासुर संग्राम हो रहा था और दैत्य लोग प्रबल होकर देवताओं का विनाश कर रहे थे, उसी समय विष्णु भगवान् ने दुर्वासा ऋषि को प्रसाद रूप में फूलों की एक माला दी थी। ऋषि ने वह माला इन्द्र को दी जो ऐरावत पर चढ़े हुए रणभूमि की ओर जा रहे थे। इन्द्र ने उसे हाथी के मस्तक पर रख दिया। माला नीचे गिर पड़ी, हाथी ने पैरों से उसे कुचल डाला। यह देखकर ऋषि ने शाप दिया—'तू शीघ्र ही भ्रष्ट-श्री हो'। वैसा ही हुआ। संग्राम में तीनों लोकों के साथ इन्द्र श्री-विहीन हो गये। यज्ञादि धर्म बंद हो गये। इन्द्रादि देवता शिवजी को साथ लेकर सुमेरु पर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने सबके साथ क्षीर-सागर पर जाकर भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने प्रकट होकर उपाय कहा कि इस समय अपनी कार्य-सिद्धि तक तुमलोग दैत्यों से मेल कर लो और उनके साथ अमृत निकालने के लिये, क्षीर सागर में तृण ओषधि आदि डालकर मंदराचल की मथानी से उसे मथो। वासुकी नाग से रस्सी का काम लो। प्रथम कालकूट निकलेगा, उससे नहीं डरना। फिर रत्न भी प्रकट होंगे। उनका भी लोभ न करना। अन्त में अमृत निकलेगा जिसको पीकर तुमलोग अमर और अजेय हो जाओगे, इत्यादि समझाकर भगवान् अंतर्धान हो गये।

भगवान् का आदेश पाकर इंद्र दैत्यराज बलि से मिले तथा सबने मिलकर मंदाराचल उखाड़ा और ले चले। राह में थककर गिर पड़े। उनमें बहुत कुचल गये। उनकी दीनता पर भगवान् आये और पर्वत को लीला-पूर्वक गरुड़ पर रखकर क्षीरसागर पहुँचा दिया। अमृत के लोभ से वासुकी रस्सी बने। समुद्र मंथन होने लगा। पर्वत को जल पर स्थित रखने के लिये भगवान् ने कच्छपरूप धारण कर उसे अपनी पीठ पर उठा रक्खा था। बहुत मथने पर भी देव-दानवों को सफलता नहीं मिलती देखकर भगवान् स्वयं मथने लगे। प्रथम कालकूट निकला, वह सबको असह्य हो गया। भगवान् की प्रेरणा से सब मृत्युंजय शिवजी की शरण गये और स्तुति की, तब शिवजी ने सतीजी के अनुमोदन से, जगत् कल्याण के लिये श्रीरामजी का नाम लेकर कालकूट को हथेली पर रख पी लिया। श्रीरामनाम के प्रताप से उस कालकूट ने अमृत का काम किया। यथा—"खायो कालकूट भयो अजर अमर तन" (क० उ० १५८)। उस विष को शिवजी ने कंठ में ही रख लिया जिससे उनका कंठ नीला हो गया और इसीसे उनका नाम 'नीलकंठ' हुआ। श्रीनन्दीश्वर के वचन भी हैं—"*श्रृणुध्वं भो गणास्सर्वे रामनामपरं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहलमथीं पिबेत्॥* जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥" (नंदीपुराण)। इससे जाना गया कि नाम महत्त्व के ज्ञाता सब देव वहाँ थे भी, पर विश्वास न था। शिवजी ही यथार्थ जानते थे; तभी विश्वासपूर्वक कालकूट पी गये।

सारांश—(क) इस दोहे में आदि-अंत श्रीशिवजी कहे गये हैं, क्योंकि ये जापकों एवं ज्ञाताओं में

आदि और फल पानेवालों में अवधि हैं, नाम से अविनाशी हो गये। (ख) श्रीगणेशजी और वाल्मीकिजी को साथ कहा, क्योंकि एक तो नाम से आदिपूज्य हुए और दूसरे आदिकवि बने। (ग) श्रीपार्वती और श्रीशिवजी को साथ कहा, क्योंकि दोनों नाम के श्रद्धा-विश्वास के आदर्श हैं और श्रद्धा विश्वास से ही सिद्धि होती है। (देखिये, मं० श्लोक।) (घ) इस दोहे में चारों प्रकार के नाम के अर्चा-रूप कहे गये—स्वयंव्यक्त, दिव्य, सैद्ध और मानुष्य। जैसे श्रीशिवजी के हृदय में 'स्वयंव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि इन्हें स्वयं नाम का ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजी के हृदय में इसी विश्वास तथा ज्ञान को महादेवजी ने स्थापित किया। अतः, 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिजी के हृदय में सप्तर्षि सिद्धों ने स्थापित किया; अतः 'सैद्ध' हुआ। गणेशजी ने स्वयं (अपनेआप) पृथिवी पर लिखकर और नाममूर्ति निर्माण कर परिक्रमा करके फल पाया। अतः, यहाँ 'मानुष्य' हुआ।

दोहा—बरषा रितु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास ॥१९॥

अर्थ—रघुपति-भक्ति वर्षा-ऋतु है, तुलसी एवं अच्छे दास धान हैं। श्रीरामनाम के दोनों श्रेष्ठ अक्षर सावन-भादों के महीने हैं।

विशेष—(१) बरषा रितु''' ऋतुएँ छः होती हैं, वैसे भक्ति भी पाँच तो पंचदेवों की और एक रघुपति की है। वर्षा से ही पाँचों ऋतुएँ हरी-भरी रहती हैं, वैसे ही श्रीरामभक्ति से ही पाँचो देवों में महत्त्व है। अतः, वे लोग रामभक्त के प्रति स्वतः प्रसन्न रहते हैं।

पंचदेव—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२)। इनमें गणेश, गौरी और शिव का राम-भक्ति करना ऊपर कहा गया। सूर्य—"दिनमनि चले करत गुन गाना" (दो० १९५); विष्णु—"हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥" (दो० ३१८)। 'तुलसी सालि सुदास'—यहाँ 'सु' उपसर्ग उपमेय 'दास' में लगा है, पर उसकी उपमा 'सालि' में नहीं है, क्योंकि उसमें 'सु' का भाव स्वतः है। सालि (शालि) जड़हन धान को कहते हैं, जो प्रथम बीज रूप में बोया जाता है, यह ग्रीष्म ऋतु के ही मृगशिरा नक्षत्र (जब इस नक्षत्र में सूर्य आते हैं) की तपन के पीछे आर्द्रा में बोया जाता है, फिर उखाड़कर श्रावण के पुष्य आदि नक्षत्रों में लगाया (रोपा) जाता है। इसमें बीज रूप में सामान्य धान रहता है। रोपने पर 'शालि' कहाता है और उसमें बड़ी-बड़ी बालें होती हैं। वैसे उपमेय रूप रघुपति-भक्ति के पक्ष में सुदास की अभक्त अवस्था का मन मृगशिरा की भाँति तीनों तापों से तपता हुआ वर्षा-रूपी रामभक्ति चाहता है। मन का देवता चन्द्रमा है, उसका वाहन मृग है; अतः वह मृग का शिररूप स्वामी होने से मृगशिरा का उपलक्षक है। फिर आर्द्रा की वर्षा की तरह सत्संग द्वारा नाम रटन होने लगा, यही बीज बोना है, परन्तु योंही भक्ति रहने से श्रीराम प्राप्ति रूप उत्तम बालें नहीं लगतीं, क्योंकि अभी मिथुन राशि के सूर्य की तरह मैथुनी शरीर द्वारा की जानेवाली भक्ति है। अतः, 'मनमुखी' (गुरु-दीक्षा के बिना मनमानी) है। श्रावण में कर्क के सूर्य होते हैं, तब बीज उखाड़कर रोपा जाता है। वैसे ही मनमुखी भक्त भी कर्क अर्थात् दीनता से भिन्न होकर गुरुमुख होते हैं, तब उनका नया जन्म होता है। फिर वे शालि के समान होकर सुदास कहाते हैं। तदनन्तर रामनाम रटने लगते हैं। तब रकारार्थ का ज्ञान कर्क के सूर्य और मकारार्थ का ज्ञान सिंह

के सूर्य के समान पोषक होता है। श्रावण-भादों में वर्षा होती है, तब शालि (धान) होता है, वैसे राम नाम के 'र' के अर्थ से ब्रह्मस्वरूप, 'म' के अर्थ में जीव स्वरूप और दोनों के बीच के अकारार्थ से जीव ईश्वर के संबंध का ज्ञान होता है, जिससे भक्ति होती है। यथा—"रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजल-धिर्मकारार्थो जीवः सकलविधकैंकर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्यार्हं ब्रूते त्रिनिगमस्वरूपोऽयमतुलः॥" (श्रीराममंत्रार्थ)। शालि का जीवन वर्षा है, वैसे तुलसी एवं सुदास का जीवन श्रीरामनाम है। यथा—"श्यामघन सींचिये तुलसी सालि सफल सुखाति।" (वि० २२१।); "अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥" (वैराग्य-संदी०)।

ऊपर के दोहे में तीन वर्णों के रूप में माहात्म्य कहा। यहाँ से एक दोहे में दो वर्णों के रूप में कहते हैं—

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥१॥

शब्दार्थ—बिलोचन=नेत्र एवं विशेष नेत्र। जोऊ=देख लो। जिय=हृदय।

अर्थ—दोनों अक्षर (रा और म) मधुर और मनोहर हैं, सब वर्णों के नेत्र हैं। हे जनो! हृदय में देख लो।

विशेष—(१) नाम का जप उसका अर्थ विचारते हुए करना चाहिये, यथा—"तज्जपस्तदर्थ-भावनम्" (योगसूत्र)। उपर्युक्त रीति से दोनों वर्णों से ब्रह्म और जीव के स्वरूप एवं संबंध का ज्ञान होते हुए मधुरता एवं मनोहरता का अनुभव हृदय में होता है। इसीलिये 'जन जिय जोऊ' कहा है। जैसे आम का स्मरण होने पर उसके मीठे स्वाद एवं रस पर मन जाता है, वैसे नाम का अर्थभूत महत्त्व उसके स्मरण करते ही हृदय में आता है, मधुर लगता और मन भी हर जाता है। यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥" प्रसिद्ध है तथा—"हे जिह्वे! मधुर प्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकम्। पीयूषं पिब प्रेम-भक्ति मनसा···" (सनकसनातन संहिता)।

(२) 'बरन बिलोचन'—जब तन्त्रशास्त्र की रीति से वर्णमाला के कुल अक्षरों द्वारा सरस्वती का चित्र बनता है, तब र और म नेत्र रूप से स्थापित किये जाते हैं। अतः, इन दो वर्णों के बिना सरस्वती भी अंधी हैं। अथवा 'दोऊ' पद को दीप-देहली मानकर अर्थ करने से दोनों वर्णविशेष नेत्र अर्थात् ज्ञान-विराग रूपी नेत्र हैं। यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११९); क्योंकि रकारार्थ से ईश्वर स्वरूप का ज्ञान होता है और मकारार्थ से ईश्वर का शेष (भोग्य) रूप जीव का ज्ञान होता है। उस दृष्टि से इसका जगत् से वैराग्य स्वतः होता है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥२॥

अर्थ—उक्त दोनों अक्षर स्मरण करने में सब को सुलभ और सुख देनेवाले हैं तथा लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह करते हैं।

विशेष—(१) 'सुमिरत सुलभ···' इन दोनों अक्षरों के उच्चारण में व्याकरण की अपेक्षा नहीं रहती, सहज ही में बच्चे एवं अनपढ़ भी कह लेते हैं तथा सबके लिये सुलभ (अधिकार) है एवं जैसे-तैसे स्मरण किया जा सकता है, किसी विशेष नियम और आसन-विधि आदि की अपेक्षा नहीं है। 'सुखद सब

काहू ...' शूद्र, अंत्यज एवं स्त्री आदि सबको इस नाम में अधिकार भी है और सुख भी देता है। यथा—"नीचेहू को ऊँचेहू को, रंक हू को राय हू को, सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।" (वि० २५५)। इसमें नाम का ही प्रसंग है। अपने घर में सब सुख एवं सबको अधिकार रहता है।

(२) 'लोक लाहु परलोक निबाहू' हरएक मंत्र लोक (स्वार्थ) और परलोक (परमार्थ) दोनों नहीं बना सकते, पर इसमें दोनों लाभ हैं। यथा—"स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम।" (दोहावली १५), "स्वारथ साधक परमारथ-दायक नाम।" (वि० २५४) अर्थात् नाम लोक में रोटी, लुगा (वस्त्र), धन, यश और परलोक में श्रीरामजी को प्राप्त कराता है।

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥३॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु) = अत्यन्त वा पूरा-पूरा, यथा—"सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।"

अर्थ—वे कहने, सुनने एवं स्मरण करने में बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदास को तो श्रीराम-लक्ष्मण के समान प्रिय हैं।

विशेष—'कहत ...नीके' यथा—"बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६); 'सुनत ...' यथा—"जाकर नाम सुनत सुभ होई।" (दो० १९२)। 'सुमिरत' यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगलमूला॥" (अ० दो० २४७) तथा—"राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे।" (वि० ६७); यही 'सुठि नीके' है। 'रामलखन सम ...' र श्री राम ब्रह्म का वाचक और म जीव-रूप श्री लक्ष्मण का वाचक है। नाम नामी अभेद होते हैं; इसलिये 'राम-लखन सम प्रिय' कहा है। श्रीरामलक्ष्मण सबको प्रिय हैं। यथा—'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (दो० २१५)। 'तुलसी' इन्हीं के उपासक हैं, अतः प्रिय होने ही चाहिये। यथा—"बंदउँ राम लखन वैदेही। जे तुलसी के परम सनेही॥" (वि० ३६)। कहा भी है—"सुमिरे सहाय राम लखन आखर दोउ..." (हनु० बाहुक) अर्थात् नाम में नामी (रूप) के समान प्रेम करना चाहिये।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ॥४॥

अर्थ—रकार और मकार अक्षर (पृथक्-पृथक् वर्ण के रूप में) वर्णन करने में दोनों वर्णों की प्रीति-पृथक्ता (सी) जान पड़ती है, पर वास्तव में ये वर्ण ब्रह्म और जीव के समान स्वाभाविक साथी हैं।

विशेष—(१) 'बरनत बरन ...बिलगाती' अर्थात् अलग होती है, यथा—"मो बिलगाउ बिहाइ समाजा।" (दो० २००)। जैसे—(क) 'र' वर्ग और 'म' पवर्ग। (ख) प्रयत्न के अनुसार 'र' तालु सम्बन्धी है और 'म' ओष्ठ सम्बन्धी। अत, इनके वर्णन में न संग है और न प्रीति, ऐसा जान पड़ता है, पर वास्तव में संग और प्रीति दोनों हैं। र ब्रह्मवाचक है और म जीववाचक। यहाँ वाच्य को उपमान और वाचक को उपमेय कहा है। अतः, अगले नि० २ से भाव स्पष्ट होगा।

(२) 'ब्रह्म जीव सम...' ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध अपृथक् है। यही स्वाभाविक संग है, जीव का अस्तित्व ही ब्रह्म से भिन्न नहीं है और ब्रह्म सदा संग रहकर प्रकाश करं रहा करता है। यथा—"तू निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६) "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (दो० २१६) तथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया..." (श्वे० ४।५)।

इसी तरह वर्णमाला में 'र' और 'म' के बीच में 'य' अक्षर पड़ता है, यही दोनों को विलग किये हुए है, तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जैसे बीच में नाक होने पर भी दोनों नेत्रों के अवयव एक हैं। जहाँ एक आँख जाती है, वहाँ दूसरी भी। दोनों नेत्र एक-तत्त्व हैं और एक-सी शक्तिवाले हैं। वैसे ही सरस्वती के वर्णात्मक विग्रह में 'र' और 'म' नेत्र रूप तथा 'य' नासिका रूप माना जाता है। इस तरह विचार करने पर सहज प्रीति स्पष्ट हो जाती है। पुनः रा जब बीज रूप 'रां' रूप में कहा जाता है, तब म स्वयं अनुस्वार रूप से आ जाता है, यही सहज संघातीपन (मैत्री) है।

नरनारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेषि जनत्राता ॥५॥
भगति-सुतिय कल करनविभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु पूषन ॥६॥

अर्थ—दोनों (वर्ण) नर-नारायण के समान सुन्दर भाई हैं, साधारणतया तो जगत् भर के पालक हैं, पर अपने जनों के विशेष रक्षक हैं। ॥५॥ भक्ति-रूपिणी सुन्दरी स्त्री के सुन्दर कान के भूषण (कर्णफूल) हैं तथा जगत् के हित के लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'नर-नारायन ···' इनका भायप प्रसिद्ध है। जैमिनीय भारत में कथा है कि सहस्र-कवची दैत्य ने सूर्य भगवान् को तप से प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरे शरीर में हजार कवच हों और जब कोई हजार वर्ष युद्ध करे, तब कहीं मेरा एक कवच टूट सके। फिर कवच के टूटते ही वह शत्रु भी मर जाय। उसके मारने को नर-नारायण का अवतार हुआ। एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके एक कवच तोड़कर मरता, तब दूसरा उसे मंत्र से जिला लेता और स्वयं हजार वर्ष युद्ध कर दूसरा कवच तोड़कर मरता। फिर पहला दूसरे को जिलाता और स्वयं लड़ता। निदान जब एक कवच रह गया, तब वह दैत्य भागकर सूर्य में लीन हो गया। नर-नारायण बदरीनारायण में तप करने लगे, वही असुर द्वापर में कर्ण हुआ, जो गर्भ ही से कवच धारण किये हुए निकला, तब नर-नारायण ही ने अर्जुन और श्रीकृष्ण होकर उसे मारा।

इसी तरह दोनों वर्ण भी भाई हैं, क्योंकि जिह्वा रूपी माता से प्रकट होते हैं, यथा—"जोह जसोमति हरि हलधर से।" (दो० १९) तथा एक ही स्थल रूप वेद समुद्र से हुए, यथा—"*ब्रह्माम्भोधि-समुद्भवं···*" (कि० मं० श्लोक)। यहाँ जगत् के पालन रूप के अनुरोध से सगुण की उपमा दी, क्योंकि निर्गुण से स्पष्टतया पालन नहीं होता। 'बिसेषि जनत्राता'—नर-नारायण ने जगत् भर की अपेक्षा भरत-खंड की विशेष रक्षा की, वैसे ही ये दोनों वर्ण जगत् मात्र की अपेक्षा जापक रूप जन की विशेष रक्षा करते हैं, अर्थात् ईश्वरत्व धर्म से सबकी और भक्त-वात्सल्य गुण से जन की विशेष रक्षा करते हैं, यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।···सुचि सेवक मम प्रान-प्रिय।···" (उ० दो० ८५-८७)।

(२) 'भगति-सुतिय ···' जैसा सुन्दर भूषण हो, वैसा ही सुन्दर धारण करनेवाला भी चाहिये, तब शोभा होती है। स्त्रियाँ कर्णफूल धारण करती हैं और स्त्रियों में भक्ति से सुन्दर और कोई नहीं, क्योंकि परम नागर श्रीरामजी इस भक्ति के रहते हुए, लोकत्रयमोहिनी माया की ओर ताकते भी नहीं, यथा—"माया भगति सुनहुँ तुम दोऊ।···पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।" (उ० दो० ११५)। अतः, भक्ति को 'सुतिय' कहा है। कानों के भूषण कहने का भाव यह है कि यह और इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, क्योंकि कान अन्य चार तत्त्वों के कारण आकाश तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है। इसी नाम के मंत्र रूप को कान के द्वारा श्रवण से उत्तम भक्ति प्रारम्भ होती है, एवं नवधा में भी श्रवण भक्ति आदि है। कहा भी है—"मुक्तिस्त्रीकर्णपूरो ··" (महारामसंहिता में शिव-वाक्य)। कान में कर्णफूल का रहना सौभाग्य का चिह्न

है। पुरुष अपने सम्बन्ध-सूचक कर्णफूल के बिना स्त्री को अपने से बेपरवा जानकर उससे उपेक्षा रखता है, वैसे श्रीरामजी भी श्रीरामनाम के बिना भक्त से उपेक्षा रखते हैं, अतः श्रीरामनाम भक्ति का कारण एवं रक्षक है। श्रीरामनाम के बिना भक्ति विधवा के समान अशोभन है और उससे उत्तम फल रूप संतान की भी आशा नहीं। कान से कर्णफूल का गिरना सुहाग (सौभाग्य) भंग का सूचक है, यथा—"मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ॥" (लं० दो० ११)। अतः, भक्त को सदा श्रीरामनाम जपना चाहिये।

'जग-हित-हेतु ···' यहाँ 'रा' सूर्य और 'म' चन्द्रमा रूप हैं। सूर्य किरणों द्वारा अंधकार हरते, जल बरसाते एवं अन्नादि उपजाते हैं, इसी प्रकार रकार अपने ज्ञान-रूप प्रकाश से अज्ञान तम का नाश कर अनुभव रूपी वर्षा से दिव्य गुण उपजाते हैं। चन्द्रमा अमृतमय किरणों से वनस्पतियों एवं अन्नादि में रस प्रदान करता और ताप हरता है, वैसे मकार जीव के शेषत्वपरक * अर्थ से विवेक विरागादि दिव्य गुणों को भक्ति रस से पूर्ण करता है। भक्ति ही अमृत है, यथा—"भगति सुधा सुनाज" (वि० २१६)। वह मकार नवधा, प्रेमा और परा भक्ति द्वारा क्रमश दैहिक, भौतिक, और दैविक ताप हरना है। 'विमल' अर्थात् 'रा' और 'म' विमल (निर्मल) हैं। सूर्य और चन्द्रमा समल हैं। सूर्य जल बरसाता है और फिर सोखता है ऐसे ही कमल को पोसता है, फिर उसी को जलाता भी है, तथा चन्द्रमा जड़ी-बूटी को पुष्ट करता है, फिर पाले के द्वारा जलाता भी है, पर 'रा' और 'म' सदा दिव्य गुण द्वारा वृद्धि ही करते हैं।

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥७॥

अर्थ—(वे दोनों अक्षर) शुभ गति रूपी अमृत के स्वाद और संतोष के समान हैं तथा कच्छप और शेषजी के समान पृथ्वी को धारण करनेवाले हैं।

विशेष—(१) 'स्वाद तोष सम · ' अमृत में स्वाद और संतोष दो गुण होते हैं। अमर करना तो उसका स्वरूप ही है वैसे श्रीराम नाम शुभ गति प्राप्त करा देते हैं, जिसके अनुभव में आह्लाद रूपी स्वाद होता है। फिर अन्य साधनों की तृष्णा नहीं रह जाती। यथा—"राम नाम-मोदक सनेह-सुधा पागि है। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागि है॥" (वि० ७०)। इस अवस्था में जीव फिर माया के चक्कर में नहीं पड़ता।

(२) 'कमठ सेष ··· ' 'वसु' का अर्थ धन और 'धा' का अर्थ धारण करना है ऐसे ही धर्म-ज्ञान अनेक सुख-धन हैं, उनका धारण नाम के 'रा' कमठ और 'म' शेष बनकर पृथिवी की तरह करते हैं, यथा—"यथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास।" (दोहावली २१); सकल परम धरनीधर सेषू॥" (अ० दो० २०५)। जैसे अमृत स्वाद और संतोष के बिना व्यर्थ है, वैसे ही श्रीराम-नाम के बिना मुक्ति भी व्यर्थ है।

जन-मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥८॥

अर्थ—(नाम के दोनों अक्षर) भक्त के उज्ज्वल मन रूपी सुन्दर कमल के लिये मधु (दल) और कर (सूर्य किरण) के समान हैं तथा जीभ रूपी यशोदाजी के लिये श्रीकृष्ण और बलरामजी के समान हैं।

---

* जो वस्तु व व्यक्ति जिसके भोग में आवे वह उसका शेष है। जैसे पैर का जूता पैर का शेष कहा गया। इसी प्रकार जीव ईश्वर का शेष (अंश) है और ईश्वर शेषी (अंशी)।

विशेष—(१) 'जन मन'''—उपर्युक्त अवस्था के अनुसार मन स्वच्छ हो चुका है। अतः, सुन्दर कमल की तरह है। कमल के लिये जल और सूर्य की किरण दोनों साथ-साथ चाहिये; तब वह प्रफुल्ल रहता है। 'मधु' जल का एक नाम है, यथा—'मधु मद्ये जले क्षौद्रे'— रत्नकोश। 'कर' का अर्थ किरण मात्र है, पर 'कंज' के साहचर्य से यहाँ सूर्यकिरण' ही अपेक्षित है। यहाँ मधु रूप मकार और रवि-किरण रूपी रकार है। जीव के शेषत्व रूप के प्रकाशक मकार से भक्ति गुण रूपी जल की वर्षा हुआ करेगी और ब्रह्म रूप श्रीरामजी के अनुभव रूप किरणों का प्रकाश रकार से हुआ करेगा; तब इस 'मंजु 'मन' की 'मंजुता' एकरस रहेगी।

(२) 'जीह जसोमति''''''' जैसे श्रीकृष्ण भगवान् देवकीजी से प्रकट हो गुप्त ही आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये और बलरामजी भी देवकी के ही गर्भ से योगमाया-द्वारा रोहिणीजी के गर्भ से प्रकट हुए तथा मित्रता के संयोग से बाहर से आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये। वैसे ही नाम उच्चारण के समय प्रथम दोनों वर्ण नाभि स्थान रूप मथुरा में परावाणी रूपिणी देवकी से स्फुरित होते हैं। वाणी—"नाभिहृत्कंठजिह्वोरथाश्रतसः क्रमतोगिरः। परा तथा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च ताः॥ श्रीसीतारामयोस्तत्त्वं वर्णनं सा परा भवेत्। याथात्म्यजीवतत्त्वं च पश्यन्ति कथयेत्तदा॥ धर्मार्थस्वर्गकामादीन् वर्णयेत्सा तु मध्यमा। व्यवहारे वैखरी प्रोक्ता केवलं यच्च प्राकृतम्॥" (जिज्ञासापंचक)। अकेले श्रीकृष्णजी की तरह रा मुख-रूप गोकुल में आकर जिह्वा-रूप यशोदा से प्रकट होता है। अतः, नाम-मात्र पुत्र हुआ, पर यशोदाजी की तरह जिह्वा भी रा को अपना पुत्र अर्थात् अपने द्वारा उच्चारित ही जानती है और मकार रूप बलरामजी को ओष्ठ स्थानरूपिणी रोहिणी ने भी अपना पुत्र प्रसिद्ध रूप में समझा, यह भी इसे परावाणी रूपिणी देवकी के गर्भ से उत्पन्न नहीं जानती। वैखरी वाणी से नाम लेने में मकार के उचारण के समय जिह्वा से ओष्ठ का संयोग होता है, यही यशोदा-रोहिणी की मित्रता से बलराम की प्राप्ति है। जैसे श्रीकृष्ण-बलराम एकत्र हुए और यशोदा द्वारा ही उनका पुत्र-रूप से लालन-पालन स्नेह-पूर्वक हुआ, वैसे वैखरी वाणी द्वारा श्रद्धा एवं स्नेह सहित अहर्निश रटन करते रहना चाहिये, तब मन रूप मथुरा से स्वभाव रूप कंस से प्रेरित काल, कर्म, गुणादि द्वारा, जितनी बाधाएँ प्राप्त होंगी, नाम ही द्वारा नष्ट होती जायँगी। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखते हैं। प्रायः श्रीकृष्ण के मुख्य-मुख्य सब चरित्र 'राम-नाम' में आ गये हैं। मेरे 'श्रीमन्मानस नाम-वंदना' ग्रंथ में देखें। जैसे धन से भरा भी घर बिना बालक के सूना लगता है, वैसे ही मुख रूपी घर में जिह्वा रूपिणी माता की गोद में 'रा-म' बालक न हों, तो शोभा नहीं होती, यथा—"दम्पति-रस रसना दसन, परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु, संपति सहज सनेह॥" (दोहावली २४)। इसमें रूपक स्पष्ट है।

यहाँ एक ही वर्ण्य (विषय) के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये 'राम-लखन सम' से यहाँ तक नौ दृष्टान्त दिये गये, अतः 'भिन्नधर्ममालोपमालंकार' है।

दोहा—एक छत्र एक मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ॥२०॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि देखो, श्रीरघुनाथजी के नाम के दोनों वर्णों में से एक छत्र रूप (ँ) से और दूसरा मुकुट-मणि रूप (ं) से सब अक्षरों पर शोभित होता है।

विशेष—यहाँ से दोनों वर्णों के रूप का महत्त्व कहते हैं। यथा—"निर्वर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां मकारो रेफ व्यंजनम्॥" (महारामायण) अर्थात् इस अर्थ के द्वारा नाम के दोनों वर्ण जीवों को भरोसा देते हैं कि जैसे स्वर-हीन होने पर हम सवर्गीय सब वर्णों के ऊपर शोभित होने लगते हैं, वैसे ही जापक को स्वर (श्वास) हीन (मृत्यु) होने पर उर्द्ध्व गति-रूप परात्पर साकेत लोक प्राप्त करावेंगे। यथा—"यन्नामसंसर्गवशादृद्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्। तन्नामपादौ हृदि संनिधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥" यह प्रसिद्ध है। नाम का नित्य स्वरूप भी यही है। इस रूप से जैसे नाम स्वयं सवर्गीय वर्णों से पूज्य होते हैं, वैसे जापक भी प्राकृत रूप रहित होने पर लोकत्रय पूज्य आत्मरूप पाता है। यथा—"त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।" (वि० १३६) तथा च—"निर्वर्णं रामनामेदं वर्णानां कारणं परम्। ये स्मरंति सदा भक्त्या ते पूज्या भुवनत्रये॥" (महारामायण)। लोक में जिसके शिर पर छत्र और मणि-जटित मुकुट होता है, वह राजा कहाता है, वैसे जो भक्त श्रीरामनाम-नैष्ठिक होते हैं, वे भक्त-शिरोमणि कहाते हैं, जैसे श्रीप्रह्लादजी और श्रीहनुमानजी।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥१॥

नाम रूप दुइ ईस-उपाधी। अकथ-अनादि सुसामुझि साधी॥२॥

शब्दार्थ—नामी=रूप। दुइ (दु=दोनों, इ=यह)=ये दोनों। ईस (ईश)=समर्थ। उपाधि (उप=समीप, अधि=प्राप्त)=समीप प्राप्त हैं=धर्म चिंतावाले। सुसामुझि=सुन्दर समझवाली बुद्धि से। साधी (साध्य)=साधने के योग्य।

अर्थ—नाम और रूप (श्रीरामजी) समझने में एक से हैं और परस्पर दोनों में स्वामी-सेवक की भाँति प्रीति है॥१॥ (क) नाम और रूप—ये दोनों समर्थ हैं और अपने समीप अर्थात् हृदय स्थान में ही प्राप्त हैं। दोनों 'अकथ-अनादि' हैं। अतः, सुन्दर समझवाली बुद्धि से साधने के योग्य हैं। (ख) नाम और रूप—ये दोनों समर्थ एवं अपने-अपने धर्म की चिन्ता (सावधानता) वाले हैं।..... ॥२॥

• विशेष—(१) 'समुझत सरिस नाम···' ऊपर दोहे में नाम का अनिर्वचनीय रूप एवं परावाणी में उसकी स्थिति कही गई है। परावाणी के साथ तुरीयावस्था रहती है, जिसका साक्षी परमात्मा का अंतर्यामी (वासुदेव) रूप है, अतः नाम और नामी की तुल्यता सूक्ष्मरूप में हुई। अब यहाँ गुण की तुल्यता का समझौता करते हैं कि समझने पर नामी के गुण नाम में ज्यों-के-त्यों रहते हैं, अतः, दोनों समान हैं। पूर्व ज्योतिषी के दृष्टान्त से कहा गया। परन्तु इनमें परस्पर स्वामी-सेवक की प्रीति है, जैसे नाम अपने अर्थ से रूप के ही गुणों का विस्तार करता है, अतः नाम अनुगामी और रूप प्रभु हुए। रूप भी नाम के व्यक्त किये हुए गुणों के अनुसार, जापक की पुरुषार्थ-कामना पूरी करने के लिये, अपने ऐश्वर्यों को आधार किये हुए रहता है और उसकी श्रद्धा को अपने बल से धारण कर नाम की सेवा करता है। यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥" (गीता ७। २१—२२)। इस तरह रूप नाम-प्रभु का अनुगामी हुआ।

(२) 'नाम रूप दुइ ईस...' दुइ ईस, यथा—"लोगों को जो नाम लाजते, नहिं राखे रघुबीर।" (वि० १७५); "धारफ राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६)—यह नाम का

सामर्थ्य है तथा—"मम पन सरनागतभयहारी।" (सुं० दो० ४२); "कोटि विप्र-बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥" (सुं० दो० ४१)—यह रूप का सामर्थ्य है। उपाधि, यथा—"अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो ॥" (वि० २४५)— यह नाम की सामीप्य प्राप्ति है तथा—"परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत विकल भयो धायो ॥" (वि० २४५)—यह रूप की सामीप्य प्राप्ति है। इसके दूसरे अर्थ में 'धर्म-चिंता' के उदाहरण उपर्युक्त 'दुइ ईस' वाले ही हैं, क्योंकि आश्रित रक्षा रूप धर्म की सावधानता से तात्पर्य है।

शंका—हृदय तो जड़ अंतःकरण को कहते हैं, इसमें रहने से नाम भी मायिक होगा। यथा—"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई ॥" (आ० दो० १६)।

समाधान—ऊपर जो नाम का अनिर्वचनीय रूप कहा गया,वह वाणी का विषय नहीं है और यह 'वासुदेव रूप' भी अनादि है अतः मायिक नहीं है, इसीलिये 'अकथ - अनादि' विशेषण भी साथ ही कहे हैं।

'सुसामुझि साधी'—अभी तक मोहवश भूला तो भूला, अब सुन्दर समझवाली बुद्धि से निश्चय-पूर्वक साधन करना चाहिये। साधन की रीति आगे कहते हैं। इस दोहे में 'समुझत, सुसामुझि, समुझिहहिं, समुझत'— यह चार बार लिखकर इसे अति गूढ़ सूचित किया है।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू ॥३॥
देखियहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना ॥४॥

अर्थ—(नाम और नामी में) कौन बड़ा है और कौन छोटा—ऐसा कहने में अपराध होता है। उनके गुण सुनकर साधु लोग भेद समझ लेंगे ॥३॥ देखा जाता है कि रूप (नामी) नाम के अधीन होता है और रूप का बोध नाम के बिना नहीं होता ॥४॥

विशेष—(१) 'को बड़ छोट···' यहाँ पर दोष ऐसा कहने में है, कि नाम सर्वव्यापक, सर्वेश्वर तथा सर्वरक्षक आदि है और रूप नहीं है। यह तो कहते नहीं हैं, किन्तु इनके गुण-रूप की समानता तथा स्वामी सेवक की भाँति प्रीति से साधुओं (साधन करनेवालों) को गुण (लाभ) होता है, उसे सुनकर भेद (मर्म=वह अभिप्राय जिसके लिये इन्हें 'प्रभु-अनुगामी' आदि कहा है) साधु लोग समझेंगे।

(२) 'देखियहि रूप ···' देखा जाना यह नियम लिखकर इशारा है कि उपर्युक्त साधु भी देखें। लोक में किसी का नाम लेने से रूप चला आता है। नामानुकूल संशोधित मुहूर्त में रूप के यात्रा आदि कार्य सिद्ध होते हैं तथा तांत्रिक रीति से नाम के बेधने से रूप की मृत्यु होती है, वैसे यहाँ रूप को नाम के अधीन कहकर नाम में षड़ैश्वर्यों का 'बल' ऐश्वर्य आया। षड़ैश्वर्य—यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः ॥" (विष्णुपुराण)।

'रूप ज्ञान नहिं—' नाम के बिना कोई वस्तु नहीं समझी जा सकती। नाम की प्रशंसा से रूप प्रसन्न होता है। इस प्रकार समग्र गुणों के साथ रूप नाम में ही रहता है। अतः, नाम का स्वरूप ज्ञानमय हुआ। इस प्रकार नाम में 'ज्ञान' ऐश्वर्य भी आया।

ऊपर जो 'समुझिहहिं साधू' कहा गया, उसके समझने का प्रसंग यहाँ से है कि ऊपर दोहे में नाम निर्गुण सूक्ष्म रूप और उसका वाच्य सूक्ष्म वासुदेव रूप भी कहा गया। वासुदेव में षडैश्वर्य रहते हैं, वे कार्य हेतु व्यूह (सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) रूप होकर क्रमशः संहार, उत्पत्ति तथा पालन करते हैं। उनमें 'ज्ञान-बल' युक्त सङ्कर्षण, 'ऐश्वर्य वीर्य' युक्त प्रद्युम्न और शक्ति तेज' युक्त अनिरुद्ध रूप होता है। पहले दो० १८ के अर्थ में ज्योतिषी के दृष्टान्त से कह आये हैं कि रूप ही के गुण नाम द्वारा कार्य करते हैं। यहाँ भी ऊपर कहा गया है कि नाम द्वारा व्यक्त गुणों के अनुसार रूप द्वारा वह कार्य होता है और इसीलिये नाम और नामी में स्वामी-सेवक की प्रीति कही गई है। यहाँ नाम-जापक के हृदय में नाम द्वारा सङ्कर्षण का कार्य होना कहा गया, 'ज्ञान' मय नाम का स्वरूप और 'बल' द्वारा रूप के वश करने में मोह का संहार हुआ, क्योंकि ब्रह्म के वश होने में आप्तकामादि गुणों से प्रबल वैराग्य होता है, उसीसे मोह की निवृत्ति होती है। वैराग्य ही बल है—'जब उर बल बिराग अधिकाई।' (उ० दो० १११)।

रूप बिसेष नाम बिनु जाने। कर-तल-गत न परहिं पहिचाने ॥५॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥६॥

अर्थ—रूप विशेष्य है (अतः, नाम विशेषण हुआ, ऐसे) नाम के बिना जाने साक्षात् हथेली पर प्राप्त भी रूप की (गुणैश्वर्य सहित) पहचान नहीं होती ॥५॥ रूप के बिना देखे ही यदि नाम का स्मरण कीजिये तो विशेष (ऐश्वर्यवान् = रूप) के प्रति हृदय में स्नेह आता है ॥६॥

विशेष—(१) 'रूप बिसेष नाम—' रूप विशेष (विशेष्य) है। जिसमें कुछ ऐश्वर्य हो, वह विशेष्य कहाता है और उसके ऐश्वर्य के प्रकाशक शब्द को विशेषण कहते हैं। वैसे यहाँ नाम को विशेषण सूचित करते हुए रूप को विशेष्य कहा। जैसे कोई गुण विशिष्ट वस्तु चाहे अपने हाथ में भी हो, पर उसके विशेषण (नाम) के बिना गुणैश्वर्य के साथ उसकी पहचान तथा उसके गुणों में प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार रूप यद्यपि अपने ही हृदय में प्राप्त है, तथापि प्रेरक रूपसे रमण करानेवाले उसके गुणों की पहचान नाम के जाने बिना नहीं होगी। जीवों को रमण करानेवाले ब्रह्म में गुण 'एक अनीह आदि हैं। यह वर्णन दो० १२ की अर्द्धाली ३ के अर्थ में वेद प्रमाण के साथ किया गया है और महिमा रूप उन्हीं गुणों के लक्ष्य से साधक जीव के भी हृदय में कुछ अंशों में वे ही गुण आते हैं, जिनसे यह जीव नओ आवरणों—अष्टधा प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) और जीव की स्वेच्छावृत्ति—से मुक्त होता है। अतः, यहाँ रूप के सब ऐश्वर्य नाम में होने से नामका 'ऐश्वर्य'मय रूप हुआ और भक्त हृदय रूपी भूमि में 'एक अनीह' आदि दिव्य गुण उपजाने में वीर्य' ऐश्वर्य का भी कार्य हुआ। इससे यहाँ नाम द्वारा 'प्रद्युम्न' रूप के 'ऐश्वर्य वीर्य' के कार्य आये।

(२) 'सुमिरिय नाम रूप—' रूप (विशेष्य) के बिना देखे ही यदि विशेषण रूप नाम द्वारा स्मरण करें तो नामार्थ द्वारा रूप के अपने 'एक अनीह' आदि गुणों को प्रकट करते हुए, निर्हेतु जीवों की रक्षा करने की प्रतीति होकर विशेष्य (रूप) के प्रति प्रीति उपजती है, जिससे उसमें स्नेह पूर्वक दृढ़ भक्ति होती है। स्नेह—"चलनि मिलनि बोलनि भली, ललित दृष्टि सो नेह। प्रीति होय सर्वांग उर दृष्टि अधीन सनेह॥" तथा "प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल की चिकनाई॥" (उ० दो० ८८)। इसी दृढ़ भक्ति से जीव को दिव्य सुख प्राप्त होता है, जिससे इसका पालन होता है। यथा—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। ..फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।" (दो० २५)।

रूप के बिना देखे हुए गुणों का ज्ञान कराके भक्ति द्वारा रूप का आविर्भाव कराने में नाम का प्रभाव ('तेज') मय रूप हुआ और उक्त पालन कार्य 'शक्ति' का है, अत, यहाँ अनिरुद्ध रूप के 'तेज—शक्ति' ऐश्वर्य के कार्य नाम द्वारा आये।

नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥७॥
अगुन सगुन-बिच नाम सुसाखी। उभय-प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥८॥

अर्थ—नाम-रूप की गति की कहानी अकथ्य है जो समझने में सुख देती है—कहते नहीं बनती ॥७॥ निर्गुण और सगुण के बीच में नाम सुन्दर साक्षी है। चतुर दुभाषिये (दो भाषाएँ जाननेवाले) की तरह दोनों का प्रकर्ष बोध करानेवाला है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाम रूप-गति ' भाव यह कि इन दोनों की गति परस्पर सुख के लिये है, इसीसे दोनों ऐसे गुँथे हैं कि एक की बड़ाई के साथ दूसरे की बड़ाई झलकती है। नामार्थ के अन्तर्गत गुणों की पूर्ति रूप करता है और नाम रूप के ही गुणों का विस्तार करता है। अत दोनों में अगाध प्रीति है, इसीसे अकथ्य है। यथा—"मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥" (अ० दो० २४०); पर समझने में सुखद है। यथा "सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहँ जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८७); । 'एक छत्र एक मुकुट मनि' से नाम और रूप की अनिर्वचनीयता का उपक्रम और यहाँ क 'अकथ' पर उपसंहार हुआ तथा 'समुझत सरिस...' से नाम-नामी के समझौते का उपक्रम और 'समुझत सुखद ..' पर उपसंहार है।

(२) 'अगुन-सगुन बिच···' साक्षी तीन प्रकार के होते हैं—एक तो 'कुसाक्षी' होते हैं जो जिधर झुके उसकी रक्षा और प्रतिपक्षी का नाश कराते हैं। दूसरे 'साक्षी' हैं, वे जिधर रहते हैं, उसका हित लिये हुए सत्य कहते हैं और तीसरे 'सुसाक्षी' हैं, ये दोनों पक्षों के लिये निरपेक्ष कहते हैं। निर्गुण-सगुण के समझौता कराने में नाम ऐसा ही सुसाक्षी है। 'उभय प्रबोधक .. ' साधारण दुभाषिया तो दो देशों के लोगों को उनकी पृथक् पृथक् भाषा में बोध कराता है, तब उन दोनों में प्रीति और व्यवहार होता है; पर नाम यहाँ चतुर दुभाषी है जो एक ही अपने शब्द 'राम' से निर्गुण-सगुण दोनों देशों का प्रकर्ष बोध कराकर प्रीति दृढ़ कर देता है। 'बोधक' के साथ 'प्र' उपसर्ग भी (प्रकर्ष अर्थ में) दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का समझौता बड़ा कठिन है। यथा—"जिनके अगुन न सगुन बिवेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥" (दो० ११४)। उनका भी एक ही शब्द से बोध कराते हैं। दोनों तत्त्वत एक ही हैं, इसलिये एक ही शब्द से बोध कराते हैं। यथा—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जलहिम उपल बिलग नहिं जैसे॥" (दो० ११५)। श्रीजनकजी ने भी दोनों को एक ही तत्त्व कहा है। यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥" (दो० २१५)।

दोनों का बोध—'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' अर्थात् जिसमें योगिगण रमण करते हैं, ये निर्गुण राम और—"कोटिकंदर्पशोभाढ्यो सर्वाभरणभूषिते। रम्यरूपार्णवे 'रामे' रमन्ते सनकादय॥" (महारामायणे) ये सगुण राम हैं। दोनों का अर्थ 'रम्' धातु से निष्पन्न राम शब्द से होता है।

सम्बन्ध—दोनों का बोध और उसका फल अगले दोहे से कहते हैं—

दोहा—राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जौं चाहसि उजियार ॥२१॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो तू भीतर और बाहर भी उजाला चाहता है तो (मुख रूपी) द्वार की जीभ रूपी देहली पर श्रीराम-नाम रूपी मणि-दीपक रख।

विशेष—(१) 'राम नाम मनि दीप ······' भाव यह कि तेल बत्ती के दीप में तेल का घटना, पवन एवं पतंगों की अधिकता से बुझना और प्रकाश का भी न्यूनाधिक रहना रहता है, वैसे कर्म-ज्ञानादि साधनों में धन घटने का भय एवं कामादि भय रहते हैं। ये बाधाएँ मनि-दीप में नहीं होतीं, यहाँ अन्य दीपों के समान ज्ञानादि साधनों के समक्ष श्रीराम-नाम को मणि-दीप कहा है। अन्यत्र भी "राम-नाम महामनि फनि जग जाल रे।" (वि॰ ६८), तथा "पायो नाम चारु चिन्तामनि···" (वि॰ १०६) प्रमाण हैं।

ऊपर दो॰ १६ के 'बर्षारितु ······' के प्रसंग में नाम को मुख्य भक्ति रूप कहा है, तदनुसार भक्ति-चिन्तामणि के रूप में भी इसके गुण कहे गये हैं—"परम प्रकास रूप ······"से —"तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥" (उ॰ दो॰ ११६) तक। मणि-दीप के समान रखने का यह भी भाव है कि मणि-दीप बुझता नहीं और सदा एक रस प्रकाशित रहता है, वैसे नाम भी जिह्वा पर सदा एक रस चला करे।

'भीतर बाहरहुँ'—भीतर निर्गुण और बाहर सगुण देख पड़ता है, यथा—"हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम। मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥" (दोहावली ७)।

'जौं चाहसि ······' बिना (नाम) जपे (हृदय में) उजाला नहीं हो सकता, यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवनिमूरि॥" (दोहावली ८)।

'जीह देहरी द्वार'—देह, मंदिर, मुख द्वार और जिह्वा देहली है। पूर्व 'हेतु कृसानु भानु हिम करको।' के अर्थ-प्रसंग में कहा गया है कि जिह्वा पर अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के निवास हैं, वे अपने कारण श्रीराम-नाम के जप सम्बन्ध से क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्ति की पूर्णावस्था प्राप्त कराते हैं। अतः, यहाँ वैराग्य ज्ञान से निर्गुण और भक्ति से सगुण का देखना जानना चाहिये। 'जीह' से यहाँ रूपक-द्वारा वैखरी वाणी ही स्पष्ट है।

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि-प्रपंच-बियोगी ॥१॥
ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥२॥

अर्थ—योगी लोग नाम को जीभ से जपकर जागते हैं और वैराग्यवान् होकर ब्रह्मा के प्रपंच से रहित हो जाते हैं॥१॥ और उपमा-रहित ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं, जो अकथनीय—कहने में नहीं आ सकता तथा रोग-रहित है और जिनके नाम है, न रूप।

विशेष—(१) 'नाम जीह जपि ······' यहाँ 'जोगी' योग-शास्त्र के नियमानुसार साधक है जो कैवल्य ज्ञानी भी कहा जाता है। 'जागहिं'—यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥ येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥" (अ॰ दो॰ ९२)। देहाभिमान मोह रूपी रात है, धन एवं कुटुम्ब की ममता सोना है और इनसे वैराग्य वृत्ति का जागना

होना जागना है। यथा—"सुत बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥" (वि० १४१), "अहंकार ममता मद त्यागू। महामोह निसि सोवत जागू॥" (लं० दो० ५५); "जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥" (अ० दो० ९२)।

'बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।'—माया की गुण-अवगुण-मिश्रित रचना 'विधि-प्रपंच' है। यथा—"बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना।" ···से—"जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार॥" (दो० ६) तक। प्रपंच का विकार, यथा—"जोग-बियोग भोग भल मंदा।"······से—"मोह मूल परमारथ नाहीं॥" (अ० दो० ९१) तक देखिये। उपर्युक्त 'जागहिं' में विषय-विलास रूपी गृह-कुटुम्ब की ममता का छूटना और 'बिरति बिरंचि प्रपंच' में प्रपंच-विकार का त्यागना है। पुनः 'बियोगी' इसलिये कहा गया है कि विषय-त्याग पर भी सूक्ष्म विषयानुराग रहने से तत्संबंधी संकल्प हुआ करते हैं, उनका भी योग न रहे, तब योगिपना सार्थक हो। यथा—"नह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥" (गीता ६।२)।

इस प्रकार शुद्ध योगी होने पर ब्रह्मसुख का अनुभव होता है, यथा—"योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य.। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥" (गीता ५ २४)। इसी ज्ञान को उ० दो० ११७ में दीपक के रूप में कहा है। यहाँ 'बिरति' शब्द उक्त ज्ञान की सप्तभूमिकाओं में चौथी भूमिका का भाव कहकर शेष को 'बियोगी' से ध्वनित किया है।

(२) 'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं···' 'ब्रह्मसुख'—यथा—"ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै। तो कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर धावै॥" (वि० ११७)। 'अनुभवहिं'—ब्रह्मसुख के ज्ञानमात्र से आनन्द होता है, क्योंकि वह स्थूल वस्तु नहीं है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों से भिन्न अणु-परिमाण है, अतः, रूप नहीं और जब रूप नहीं है, तब प्राकृत नाम भी नहीं है, अतः, अकथ्य भी है और इसीसे वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमयों (रोगों) से रहित है। इस आत्मसुख के समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है; अतः अनूप है।

जिस ज्ञान की परम दुर्लभता एवं घुणाक्षर न्याय से सिद्धि कही गई है, वही यहाँ श्रीरामनाम के जीभ से जपने मात्र से प्राप्त होना कहा गया है। इसी प्रकार चरित्र से भी निर्वाण-पद नाम-द्वारा इसी कैवल्य की प्राप्ति कही है, यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुटपान॥" (उ० दो० १२८)।

यहाँ ऊपर निर्गुण सगुण दोनों का प्रबोधक कहकर प्रसंग प्रारम्भ हुआ है। अतः, प्रथम योगी के प्रसंग द्वारा निर्गुण मत रूपी रूक्ष ज्ञान कहकर आगे चार प्रकार के भक्तों के उदाहरण देकर सगुण मत विस्तार से कहेंगे; उसमें सरस ज्ञानी भक्त को पृथक् कहेंगे।

इस योगी को निष्काम कर्मयोग के द्वारा जीवात्म-साक्षात्कार के साधक रूप में लेकर आगे के जिज्ञासु का अंग मानना भी प्रसंग से संगत है। पूर्वापर प्रसंग मिलान के साथ विस्तार-पूर्वक मेरे बनाये 'श्रीमन्मानसनामवंदना' ग्रन्थ में कहा गया है।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥३॥
साधक नाम जपहिं लव लाये। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये॥४॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥५॥

अर्थ—जो गूढ़ गति को जानना चाहते हैं, वे भी नाम को जीभ से जपकर जान लेते हैं ॥३॥ साधन करनेवाले नाम को लौ लगाकर जपते हैं तो अणिमादिक सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं ॥४॥ जो भक्त बड़े आर्त्त होकर नाम जपते हैं, उनके कुसंकट दूर हो जाते हैं और वे सुखी होते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जाना चहहिं ··' यहाँ जिज्ञासु भक्तों को कहते हैं। वे ब्रह्म की जिज्ञासा चाहते हैं और 'गूढ़ गति' ब्रह्म ही को कहा गया है, यथा—"एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ़"—यह श्रुति अर्थ के साथ पूर्व दो० १२ चौ० ३ में कही गई है। 'जेऊ' और 'तेऊ गूढ़तासूचक हैं। इनके सिवा वे भक्त और भी अपेक्षित गूढ़ गतियों को जानते हैं, अतः कोई एक न कहा। 'जीह जपि'—क्योंकि जिह्वा पर ज्ञान प्रकाशक सूर्य का वास है। यह पहले 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' के अर्थ में कहा गया है।

(२) 'साधक नाम ' सिद्धि प्राप्ति की कामना में लौ लगाये हुए और एक लय (एकतार) से नाम जपते हुए नामरूपी कामतरु (कल्पवृक्ष) से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यथा—"कामतरु रामनाम जोई-जोई माँगि हैं। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगि हैं॥" (वि० ७) तथा—"सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।" (दो० १११)। यहाँ अर्थार्थी भक्त कहे गये। 'अनिमादिक'—ये आठ सिद्धियाँ भगवत् सम्बन्धी हैं, श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० १५ में भगवान् ने उद्धवजी से इनका वर्णन किया है और वहीं इनके नाम और प्राप्ति के उपाय भी कहे हैं। आठ सिद्धियों के नाम—१ अणिमा—जिससे देह अणु (सूक्ष्म) हो, २ महिमा—जिससे देह बढ़े, ३ गरिमा—जिससे देह पर्वत आदि की तरह भारी हो, ४ लघिमा—देह हलकी करनेवाली, ५ प्राप्ति—अप्राप्त वस्तु प्राप्त करानेवाली, ६ प्राकाम्य—स्वच्छन्द करनेवाली, ७ ईशता—प्रेरणा करनेवाली, ८ वशिता—वश करनेवाली। और भी गुण सम्बन्धी तुच्छ सिद्धियाँ हैं, वे भी वहीं श्रीमद्भागवत में कही गई हैं। यहाँ आठ ही का प्रसंग है।

(३) 'जपहिं नाम जन ··'—'जन' अर्थात् जिन्हें भगवान् के बल का भरोसा है, यथा—'जनहि मोर बल ··' (आ० दो० ४५)। 'आरत भारी' का भाव यह कि जनसाधारण दुःख में प्रभु को नहीं पुकारते, जब भारी संकट पड़ता है, तब शरणापन्न हो नाम का सहारा लेकर प्रभु को पुकारते हैं, जो संकट प्रभु ही से निवृत्त हो सकता है। यथा—"जेहिकर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।" (वि० १३६)। जैसे द्रौपदीजी ने प्रथम स्वयं चीर कसकर बाँधा, फिर भीष्म द्रोणादि तथा समर्थ पाँचो पतियों की ओर देखा। निदान सबसे निराश होने पर पूर्ण दीनता से भगवान् की शरण में आने से कष्ट दूर हुआ। ऐसी ही गजेन्द्र की भी व्यवस्था है। 'होहिं सुखारी'—दुःख छुड़ाकर फिर सुखी भी करते हैं। यहाँ आर्त्त भक्त कहे गये।

'जपहिं'—जप शब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने जिह्वा से बार-बार कहने के रूप में यहाँ-वहाँ माना है। अतः, स्पष्ट उच्चारण को ही विशेष माना है, क्योंकि अंतःकरण के जप से जीवन्मुक्ति और जीभ के जपने से भक्ति की प्राप्ति होती है। यथा—"अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च राम समीपका ॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषांचैव पराभक्तिर्नित्यं रामसमीपका ॥"

(महारामायण)

राम-भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥६॥

चहू चतुर कहुँ नाम-अधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥७॥

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम-प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहि आन उपाऊ ॥८॥

अर्थ—जगत् में श्रीराम-भक्त चार प्रकार के हैं, वे चारो पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार होते हैं ॥६॥ चारो चतुरों का आधार नाम ही है, पर ज्ञानी भक्त प्रभु को अधिक प्रिय हैं ॥७॥ चारो युगों और चारो वेदों में नाम का प्रभाव है; कलियुग में तो विशेषकर दूसरा उपाय ही नहीं है ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-भगत जग चारि···' इन चारों के नाम और 'सुकृती' आदि विशेषण भी गीता के उसी प्रसंग में कहे गये हैं। यथा—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥" (गीता ७।१६-१८)। ये चारो सुकृती हैं, तभी भजन करते हैं। यथा—"सकल सुकृत-फल राम-सनेहू।" (दो० २६) एवं अनघ भी हैं। यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (सु० दो० ४१) तथा उदार का अर्थ श्रेष्ठ है। वे भक्त श्रेष्ठ इससे हैं कि अन्य अवलंब रूपी छल छोड़ मन-वचन-कर्म से श्रीरामजी को ही सर्वोपाय रूप जानकर भजन करते हैं। ऐसे ही भक्तों को श्रेष्ठता के विशेषण दिये जाते हैं। यथा—"सोइ सर्वज्ञ सोइ गुनज्ञाता" से—"जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥" (उ० दो० १२६) तक। 'चतुर' यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर॥" (आ० दो० ८)। 'चतुर' अंत में और 'नामअधारा' के साथ रखकर इन भक्तों की चतुराई दिखाई है कि उपर्युक्त बातें अन्य साधनों से दुर्घट थीं, पर इन सबने नाम-द्वारा अल्प प्रयास में प्राप्त कर लिया।

(२) 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि···' यहाँ ज्ञानी प्रभु का विशेष प्यारा कहा गया है। इससे अन्य भक्त भी प्यारे हैं, पर ज्ञानी विशेष प्रिय हैं—यह गर्भित है। यथा—"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥" (उ० दो० ८५)। इस ज्ञानी को यदि उपर्युक्त 'योगी' मानें तो उसमें भक्ति-सम्बन्धी एक भी बात नहीं है, और भक्त ही जहाँ-तहाँ प्रभु के प्रिय कहे गये हैं। अतः, इसीके अगले दोहे में कथित 'सकल कामना हीन जे, राम-भगति रस लीन।···' का भक्त ही यहाँ का ज्ञानी भक्त है। वहाँ 'जे' शब्द से पूर्वोक्त इसी ज्ञानी को सूचित करते हुए कहा गया है; क्योंकि उपर्युक्त गीता में कहे हुए, ज्ञानी के लक्षण प्रियत्व के मिलते हैं, जैसे—'तेषां ज्ञानी···' में ज्ञानी 'एकभक्तिः' कहा गया है और 'ज्ञानी को प्रभु अति प्रिय हैं' तथा 'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है' ऐसा कहा है। वैसे यहाँ योगी को ब्रह्म सुख की चाह थी, कैवल्य होने से वह भक्त नहीं है। जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान की और प्रभु की चाह (भक्ति), अर्थार्थी को अर्थ की और प्रभु की चाह एवं आर्त्त को दुःख निवारण की और प्रभु की चाह है। अतः, ये सब द्वि-भक्ति वाले हैं; पर ज्ञानी 'एकभक्तिः' है। वह एक प्रभु ही को चाहता है, इसीसे उसे प्रभु अति प्रिय हैं, यही बात उपर्युक्त दोहे के 'सकल कामनाहीन' में 'एकभक्तिः' का भाव और 'नाम सुप्रेम···मीन' में प्रभु का अति प्रिय होना स्पष्ट है तथा—'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है'—यह बात यहाँ के 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा' में है। गीता में 'तेषां' से चार में ही एक ज्ञानी है, वैसे यहाँ भी तीन ही भक्त ऊपर के और एक इन्हें लेकर चार हुए।

(३) 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति···' 'चहुँ जुग'—यथा—"गायन्ति रामनामानि वैष्णवाश्च युगे-युगे। त्यक्त्वा च सर्वकर्माणि धर्माणि च कपिध्वज॥" (आदिपुराण)। सत्ययुग में श्रीप्रह्लाद, श्रीध्रुवजी आदि; त्रेता में श्रीहनुमानजी, श्रीशबरीजी आदि नाम-जापक हुए। इनके प्रमाण आगे दोहा २४-२५ में हैं। द्वापर में श्वपच आदि, यथा—"आभीर जमन किरात खस, स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं···" (उ० दो० १२९) और कलियुग के भक्तों के उदाहरण भक्तमाल में बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें श्रीगोस्वामीजी आदि भी हैं। 'चहुँ श्रुति'—यथा—"यस्य नाम महद्यशः" (यजुर्वेद म० ३२ मं० ३) इत्यादि। सब वेदों के संहिता-भागों में भी प्रमाण बहुत हैं।

'कलि बिसेषि'…' यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ॥" (महासंहिता) तथा—"कलि केवल मलमूल मलीना।" से "पालिहि दलि सुरसाल ॥" (दो० २७–२८) तक। "नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।" (उ० दो० १०३)।

दोहा—सकल कामनाहीन जे, राम-भगति-रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किये मनमीन ॥२२॥

अर्थ—जो सब कामनाओं से रहित और श्रीराम भक्ति के रस में लीन हैं, वे भी नाम के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत कुंड में अपने मन को मछली बनाये हुए हैं।

विशेष—(१) यहाँ 'जे' शब्द से उसी ज्ञानी भक्त का संकेत है जिसके लिये 'बिसेषि पियारा' ऊपर कह चुके हैं। वहीं इसके गुणों के भाव भी देखिये।

यहाँ श्री 'राम-भक्ति' को 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'पियूष ह्रद' कहा, इससे 'नाम सुप्रेम' को अन्य भक्ति से बहुत श्रेष्ठ सूचित किया गया है। यथा—"पसु सुरधेनु कलपतरु रूखा। अन्नदान अरु रस पीयूषा ॥" (लं० दो० २५) अर्थात् पशुओं और अन्य वृक्षों के समान रस और कामधेनु और कल्पतरु के समान अमृत है। जल एवं गुड़-संतरे आदि के रस को भी रस ही कहते हैं, इन सब रसों में स्वाद तो होता है, पर संतोष नहीं होता। अमृत में स्वाद और संतोष दोनों हैं। अतः, इसके पीने पर और पदार्थ के खाने पीने की इच्छा नहीं रहती। यथा—'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के।' (दो० १९)। वैसे ही उपर्युक्त जिज्ञासु आदि भक्तों के और-और कामना रूप स्वाद कहे गये, पर यह ज्ञानी सकल कामनाहीन है, क्योंकि इसे नाम सुप्रेम-रूपी अमृत-कुंड ही प्राप्त है। तात्पर्य यह कि नाम में उत्तम प्रेम होने से श्रीरामजी इसके हृदय में निरन्तर बसते हैं, फिर इसे कभी कोई कामना होती ही नहीं। यथा—"सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥" (दो० २५)। इसीलिये निष्काम ज्ञानी भी नाम से उत्तम प्रेम करते हैं।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥१॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते ॥२॥

अर्थ—ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—सगुण और निर्गुण। (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय), अगाध (अथाह), सनातन और उपमा रहित हैं ॥१॥ मेरी सम्मति में नाम (निर्गुण सगुण) दोनों से बड़ा है कि जिसने अपने पराक्रम से दोनों को अपने वश में कर रक्खा है ॥२॥

विशेष—(१) 'अगुन सगुन दुइ ……' इसमें 'अकथ' आदि विशेषण दोनों के हैं। निर्गुण में ये सब सहज एवं प्रसिद्ध हैं। सगुण के उदाहरण—'अकथ'—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा ॥" (दो० १९८); 'अगाध'- "प्रभु अगाध सतकोटि पताला ॥" (उ० दो० ९१), "राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ९१), 'अनादि'—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" ……से—"सोइ दसरथसुत ……" (दो० ११८) तक; 'अनूपा'—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); "चिदानंद निरुपाधि अनूपा।" (दो० १४१)।

निर्गुण और सगुण दोनों भगवान् के अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं, यथा—"अगुन अरूप अलख

अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (दो० ११५); "व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।" (वि० ५४), "फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६); "कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। मोहिं भाव कोसलभूप, श्रीराम सगुन सरूप॥" (लं० दो० ११२)।

(२) 'मोरे मत बड़ नाम'····' भाव—औरों का चाहे जो मत हो, पर मेरा मत यही है। उत्तरार्द्ध में प्रमाण भी देते हैं—'किये जेहि युग'·····' वश होनेवाला छोटा और वश करनेवाला बड़ा कहा जाता है और नाम के अधीन निर्गुण-सगुण सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्व।" (दो० २५६)। नाम भी मंत्र ही है—'महामंत्र जोइ'····' (दो० ८) में कहा गया है। मनु-शतरूपा ने प्रथम निर्गुण ब्रह्म का स्मरण किया, यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।" (दो० १४४)। स्मरण नाम से ही होता है, वह वश में हुआ, तब सगुणत्व धारण कर आकाशवाणी की और सगुण (व्यक्त) रूप से दर्शन भी दिये।

'निज बूते' का भाव यह है कि नाम को श्रुतियों की तरह प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, किन्तु वह पराक्रम से वश कर लेता है। ऐसा बलवान् है कि 'अकथ अगाध अनादि अनूपा।' को भी वश कर लेता है।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥३॥
एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म-बिबेकू॥४॥
उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते॥५॥

अर्थ—सज्जन लोग इसे मुझ दास की प्रौढ़ता (एवं प्रौढ़ोक्ति) न समझें, मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहता हूँ॥३॥ ब्रह्म के उपर्युक्त दोनों स्वरूपों का ज्ञान दो अग्नियों के समान है। एक अग्नि लकड़ी में रहता है और दूसरा प्रकट देखने में आता है॥४॥ दोनों (का ज्ञान) कठिन हैं और दोनों नाम (के साधन) से सुगम हो जाते हैं, इसीसे मैं नाम को ब्रह्म (अगुण) और राम (सगुण) से बड़ा कहता हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रौढ़ि सुजन······'—'मोरे मत' कहने से प्रौढ़ता पाई जाती है, इसलिये ग्रंथकार यहाँ नम्र प्रतिज्ञा करते हैं कि थोड़ी देर आपलोग मुझ जन की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढोक्ति पर ध्यान न दें तो मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहूँ। वेद, शास्त्र और सद्गुरु द्वारा नाम प्रभाव जानकर प्रतीति हुई, उससे प्रीति हुई, तब प्रीति-पूर्वक नाम रटने से जो मन में रुचि अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) हुआ, वही कहता हूँ। अतएव यह आस्तिक्य है, 'प्रौढ़ि' नहीं। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।··" (उ० दो० ८८)।

(२) एक दारुगत·····' प्रथम ब्रह्म के दो स्वरूप कहे। अब दोनों का विवेचन कहते हैं। एक अग्नि लकड़ी में है, वह रगड़ने से प्रकट होता है, वैसे निर्गुण ब्रह्म चराचर रूप लकड़ी में व्याप्त है, अव्यक्त होने से दिखाई नहीं देता, प्रकृति के सत्त्वादि गुण और मुमुक्षु जीव के योगादि साधन रूप रगड़ से वह ज्ञानाग्नि रूप से प्रकट होता है। यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०); "अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चन्दन ते होई।" (उ० दो० ११०)। सगुण ब्रह्म प्रकट अग्नि के समान है। इसके गुण अग्नि के प्रकाश एवं उष्णत्व की तरह प्रकट देख पड़ते हैं। गुण रूपी प्रकाश से

भक्तों का हित और क्रोध रूपी उन्नत्व के द्वारा दुष्टों का दलन होता है। तत्त्वत. दोनों अग्नि एक ही हैं—केवल मनमें अव्यक्त और व्यक्त रूप का ही भेद होता है। वैसे दोनों ब्रह्म के भी (व्यक्त-अव्यक्त) रूप मात्र का भेद है। ऊपर सप्रमाण कहा गया।

(३) 'उभय अगम जुग······' दोनों ही अन्य साधनों से अगम हैं, नाम ही से सुगम हैं। यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवन मूरि॥" (दोहावली ८)। नाम द्वारा निर्गुण का सुगम होना अगली तीन अर्द्धालियों में और सगुण की सुगमता अगले दोहे में बड़ाई-छोटाई के द्वारा कहते हैं—

> व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनँदरासी ॥६॥
> अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥७॥
> नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते ॥८॥

अर्थ—जो ब्रह्म अंतर्यामी-रूप से सबमें व्याप्त है, अद्वितीय है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा एकरस रहता है, चेतन है और घन-आनंद की राशि है॥६॥ ऐसे विकार-रहित समर्थ (ईश्वर) के हृदय में रहते हुए, सब जीव संसार में दीन और दुखी हैं॥७॥ नाम के अर्थ-विचार-पूर्वक नाम के जपने से वह (निर्गुण ब्रह्म) भी प्रकट होता है, जैसे रत्न से मोल प्रकट होता है॥८॥

विशेष—(१) 'अस प्रभु हृदय···'— ऊपर की अर्द्धाली में ब्रह्म के छ विशेषण कहे गये हैं। फिर उसे ही यहाँ 'प्रभु' और 'अविकारी' भी कहा है। भाव यह कि इन छ विशेषणों के अंतर्गत वह छ ऐश्वर्यों से पूर्ण है, *इसी से प्रभु अर्थात् समर्थ है और इन षडैश्वर्यों के रहते हुए, इसमें कामादि छः विकारों का* अवकाश नहीं है। ऐसे प्रभु के हृदय में होते हुए भी जीवों के दीन-दुखी रहने का हेतु यह है कि ये उस प्रभु को नहीं जानते। यथा—"आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६) इस आनद-सिंधु प्रभु के बिना जाने जीव विषयतृष्णा रूपी प्यास से 'दीन' हैं और उस अविकारी के ज्ञान के बिना काम-क्रोधादि छ विकारों से 'दुखारी' हैं।

ब्रह्म के षडैश्वर्य और षड्विकाराराहित्य अर्थात् छ विकारों का अभाव—

निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त रूप है। अत , इसके षडैश्वर्य भी अव्यक्त रूप में ही हैं, युक्ति से व्यक्त होते हैं। जैसे, षडैश्वर्य—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छ हैं। षड्विकार—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर ये छ विकार हैं। तदनुसार ही क्रम से ब्रह्म के छ विशेषण भी हैं—व्यापक, एक, अविनाशी, सत, चेतन और घन-आनदराशि। ब्रह्म शब्द विशेष्य है, यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (दो० २५) अर्थात् यह मुख्य सज्ञा है। अब क्रम से प्रत्येक विशेषण से एक-एक ऐश्वर्य की पूर्णता और एक-एक विकार का राहित्य (अभाव) दिखाया जाता है—

१—'व्यापक'—जैसे घड़े में आम हो तो आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है, वैसे अखिल ब्रह्मांड रूप ऐश्वर्य व्याप्य है और वह (ब्रह्म) व्यापक है। अत , सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसमें है तो वह कामना किसकी करे ? क्योंकि कामना अपने से भिन्न पदार्थ की होती है। इस प्रकार ब्रह्म के पहले 'ऐश्वर्य' की पूर्णता और 'काम' का राहित्य प्रकट हुआ।

२—'एक'—वह एक ही चराचर रूप से जीवों की रक्षा एवं पालन करता है। अतः उसे जानकर उसकी शरण में जाने से तीनों ऋणों के अधिकारियों का भय छूटता है। यथा—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता० ।८।६६) अर्थात् अर्जुन ने भीष्म-द्रोणादि की हिंसा को ही धर्म समझा था, उस भ्रम को भगवान् ने यह कहकर मिटाया कि मैं 'एक' ही सब रूपों से रक्षा-शिक्षा आदि करनेवाला हूँ। अतः, मेरी शरण में आओ, मैं सब पापों से मुक्त कर दूँगा। अतः, जो पाप सब धर्मों से छूटते हैं उन्हें एक प्रभु ही छुड़ाते हैं तो सब धर्म यहाँ 'एक' विशेषण में आये। जहाँ धर्म की पूर्णता होती है, वहाँ 'क्रोध' नहीं रह सकता, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी।" (कि० दो० १४)। क्रोध पाप मूल और धर्म पुण्य-मूल है। इसमें 'धर्म' की पूर्णता और 'क्रोध' का राहित्य प्रकट हुआ।

३—'अविनासी'—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' (दो० १८) के विशेष में श्रीरामजी से अनेकों चन्द्रमाओं का होना कहा गया। चन्द्रमा सुधाकर है, उसी से अमृत पाकर देवता अमर रहते हैं, तब उसके परम कारण रूप ब्रह्म का अविनाशी होना युक्त ही है। चन्द्रमा की कारणता से यश की पूर्णता है, यथा—'भेन्दुर्यशो-निर्मलम्' (श्रुतबोध) अर्थात् भगण का देवता चन्द्रमा निर्मल यश का दाता है तो वह यश का भंडार है। अतः, उसका कारण-रूप ब्रह्म 'यश' पूर्ण है। जहाँ यश की पूर्णता होगी, वहाँ लोभ के लिये स्थान ही नहीं रह जायगा। यथा—"लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥" (आ० दो० १८)। अतः, इसमें 'यश' की पूर्णता और लोभ' का राहित्य आया।

४—'सत' (सत्) इसका अर्थ 'सदा एक रस 'स्थित' होता है। इससे उसका हर्ष-विषाद-रहित एक रस रहने में ब्रह्म का 'श्री' ऐश्वर्य है, यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥" (अ० म० श्लोक)। मुख-श्री एक रस रहने में मद का अभाव है, क्योंकि धन मद, विद्या-मद आदि की हर्षमय चेष्टाओं से श्री एकरस नहीं रह सकती। अतः, ब्रह्म के 'सत' होने में 'श्री' की पूर्णता और 'मद' का अभाव प्रकट हुआ।

५—चेतन'—ब्रह्म स्वयं चित् (ज्ञान) रूप है और सबका चैतन्यकर्त्ता है। अतः, उसमें 'ज्ञान' ऐश्वर्य की पूर्णता और 'मोह' का राहित्य है, क्योंकि ज्ञान की पूर्णता होने पर मोह नहीं रह सकता यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० १६८)।

६—'घन आनँद रासी'—इससे ब्रह्म में 'वैराग्य' की पूर्णता और 'मत्सर' का राहित्य है, क्योंकि जब वह स्वयं पूर्ण आनन्द रूप है, तब नश्वर विषय सुखों में राग क्यों करेगा तथा स्वयं सुख की पूर्णता पर 'मत्सर नहीं रह सकता, क्योंकि जब अपने सुख की न्यूनता होती है, तब दूसरे के अधिक सुख के प्रति ईर्ष्या-रूप मत्सर होता है।

श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप, विवेक, लक्षण और अगली चौपाई में साधन भी स्वतंत्र रूप में लिखा है। इसपर भी जो निर्गुण ब्रह्म को 'चिति मात्र' एवं 'निर्विशेष' कहते हैं, उन्हें इसपर अवश्य विचार करना चाहिये।

(२) 'नाम निरूपन नाम···' निरूपन-(निरूपणः स्यादालोके विचारे च निदर्शने।-मेदिनी।) अर्थात् अर्थ-महत्त्व का विचारना, यथा—"करइ निरूपन बिरति बिबेका।" (दो० १६२)। 'जतन' अर्थात् रटना, जपना, अभ्यास आदि। 'सोउ' अर्थात् उपर्युक्त छः विशेषणोंवाला निर्गुण ब्रह्म भी। जो हृदय में रहकर भी स्वतः नहीं जनाता, जो अगम है, वह भी। 'प्रगटत जिमि मोल रतन ते'—जैसे किसी (हीरे आदि) रत्न का मोल जौहरी के द्वारा प्रकट होता है, तब उसके भँजाने पर बड़े बड़े मूल्यवाले सिक्के मिलते हैं, फिर उन प्रत्येक

से बहुत बहुत मुहरें मिलती हैं, फिर उनसे भँजानेवाले को भोजन-वस्त्रादि के लिये कुछ कमी नहीं रहती। यथा—"असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे।" (वि० १०४), वैसे नाम के निरूपण से प्रथम निर्गुण ब्रह्म के षडैश्वर्य रूप छः बड़े-बड़े सिक्के प्रकट होंगे जिनसे साधक का उपर्युक्त दैन्य दुःख दूर होगा। यथा "जाके भवन बिमल चिन्तामनि सो कत काँच बटोरै।" (वि० ११६), "पायो नाम चारु चिन्तामनि " (वि० १०५)। यहाँ साधन-क्रम होने से चिन्तामणि न कहकर रत्न ही कहा है क्योंकि यहाँ भँजाने एवं मोल प्रकट करने का रूपक लेना था। जापक चिन्तामणि-रूप में नाम का महत्त्व सिद्धावस्था में जानेगा।

(३) 'नाम निरूपन'—श्रीसीतारामजी कल्पवृक्ष के समान हैं, उनके निकट ज्ञानपूर्वक मनोरथ करने से अभीष्ट प्राप्त होता है। यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। ··" (अ० दो० २६७), वैसे ही सद्गुरु द्वारा नाम भी हृदय में ही कल्पवृक्ष के समान प्राप्त रहता है। यथा—"अपनेहि धाम नाम-सुरतरु ··" (वि० २११)। इससे भी निरूपण अर्थात् पहचान करके निकट जाय अर्थात् आराधन रूपी यत्न करे, तो यह भी अप्रकट ब्रह्म को प्रकट करके साधक की दीनता एवं दुःख दूर कर देता है।

नाम का अर्थ पूर्व ही "हेतु कृसानु भानु हिमकर को। बिधि हरि हर मय ··" (दो० १८) के विशेष में कहा गया है। इन्हीं छओं के साथ क्रमशः ब्रह्म के उपर्युक्त छओं ऐश्वर्यों की आराधना अनुसंधानपूर्वक करनी चाहिये। जैसे षडैश्वर्यों में प्रथम 'ऐश्वर्य' है। उन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप ऐश्वर्य का कारण यज्ञमूलक अग्नि है, यथा—"सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा " (गीता ३।१०) और अग्नि का कारण 'हेतु कृसानु' रूप नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, इससे ब्रह्म के सम्पूर्ण 'ऐश्वर्य' का साक्षात्कार होगा। दूसरा ऐश्वर्य 'धर्म' है। उसके कारण सूर्य हैं, क्योंकि सूर्य ही सब धर्मों के प्रकाशक हैं और सूर्य का कारण 'हेतुभानु' के नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, 'धर्म' ऐश्वर्य, साक्षात्कार होगा तथा 'हेतु हिमकर' में राम नाम के यशोमय चन्द्रमा के कारण होने से 'यश' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। चौथा ऐश्वर्य 'श्री' है, इसके लिये 'विधिमय' नामार्थ सहित यत्न करना चाहिये। ब्रह्मा सम्पूर्ण संसार को कर्मानुसार रचकर सब जीवों से मान्य होने से 'श्री' ऐश्वर्ययुक्त (शोभायुक्त) विराजते हुए एक रस रहते हैं, ये औरों की भी श्री के विधाता हैं। अतः, इस लक्ष्य से 'श्री' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। पाँचवाँ ऐश्वर्य 'ज्ञान' है, इसके लिये 'हरिमय' नामार्थ सहित जपना चाहिये। विष्णु ज्ञान धाम हैं, यथा—"ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी।" (दो० ५०)। अतः, 'ज्ञान' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। छठा ऐश्वर्य 'वैराग्य' है, इसके लिये 'हरमय' नामार्थ है। शिवजी वैराग्य के प्रकाशक हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम् ··" (अा० म० श्लोक)। अतः, 'वैराग्य' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। इन छः ऐश्वर्यों के साथ के उपर्युक्त छः विशेषण अनुसंधान में क्रमशः रहने चाहिये। इस प्रकार षडैश्वर्य पूर्ण 'प्रभु' की आराधना से और उपर्युक्त रीति से साथ-साथ छः विकारों के अभाव से 'अविकारी' ब्रह्म प्रकट होता है।

इस प्रकार ब्रह्म के प्रभुत्व के ज्ञान से साधक की दीनता और उसके अविकारित्व से दुःख छूटता है, यथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे ··" (श्वे० ४।६)—इन दोनों श्रुतियों में कहा है कि सखा एवं सेव्यरूप ब्रह्म की महिमा के ज्ञान से जीव शोकरहित होता है।*

* इन छः ऐश्वर्यों [illegible] —[illegible] [illegible] रूपों के छूटने का वर्णन [illegible] में देखें।

दोहा—निरगुन ते येहि भाँति बड़, नाम-प्रभाव अपार ।
कहउँ नाम बड़ राम ते, निज बिचार अनुसार ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है, अब मैं अपने विचार के अनुसार नाम को श्रीरामजी से बड़ा कहता हूँ ॥२३॥

विशेष—'येहि भाँति'—नामरूपी रत्न के अभ्यास से नामी का प्रकट होना ही मानों नामी को नाम से मोल लेना है। इस रीति से सुलभता-द्वारा नाम बड़ा है। श्री राम नाम (महामंत्र) में यह भारी प्रभाव है कि वह निर्गुण ब्रह्म को भी प्रकट करके जीव का कल्याण करता है। अब नाम को सगुण ब्रह्म (राम) से भी बड़ा कहते हैं। पूर्व 'मोरे मत' कहा था। यहाँ भी 'निज बिचार अनुसार' कहते हैं, क्योंकि ग्रन्थकार का यह विचार विलक्षण है। अन्यत्र भी कहा है यथा—"प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो। ताको भलो "राम ते अधिक नाम करतब जेहि किये नगर गत गामो॥" (वि० २२८) तथा—"राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः। त्वया तु तारितायोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥" (हनुमत्संहिता)।

राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥१॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद-मंगल-बासा॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने भक्तों के लिये मनुष्य का शरीर धारण किया और दुःख सहकर साधुओं को सुखी किया॥१॥ परन्तु प्रेम के साथ नाम जपने से भक्त लोग विना परिश्रम (मानसी) आनन्द और (उत्सव आदि) मंगल के निवास-स्थान हो जाते हैं॥२॥

विशेष—'राम भगत-हित नरतनु धारी।' यथा—"कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।" (दो० १११); "राम सगुन भये भगत-प्रेम बस।" (दो० २१८)। 'नरतनुधारी'—श्रीमन्नारायण और विष्णु भगवान् जब श्रीराम-रूप में अवतार लेते हैं, तब चतुर्भुज से द्विभुज नराकार होकर लीला करते हैं और परात्पर साकेतविहारी का श्रीरामरूप में 'नरतनु' धरना यह है कि वे अपने नित्य किशोर दिव्य विग्रह में ही प्राकृत नरवत् बाल-पौगंड आदि अवस्थायें धारण करते एवं नरवत् ही सब व्यवहार करते हैं। आपका नराकार रूप ही परात्पर है, यथा—"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः।" (बृहदा० १।४।१); "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥" (आनन्दसंहिता)। वे नित्य किशोर अवस्था में रहते हैं, वे ही मनु शतरूपा की प्रार्थना से प्रकट हुए। यह पहले 'तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लो०)' में कहा भी गया है।

'सहि संकट'—यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात। बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात॥" (अ० दो० २११)।

'किय साधु सुखारी।' यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाय जाय सुख दीन्ह॥" (आ० दो० ११)। 'नाम सप्रेम जपत'''बासा।' यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी'''से "भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥" (दो० २५) तक।

तात्पर्य यह है कि श्रीरामजी ने भक्तों के लिये नर-नाट्य करते हुए, कष्ट सह-सहकर अपने एक-एक गुण का विस्तार किया जिससे साधुलोग सुखी हुए। वे ही गुण नाम द्वारा लोक में अनन्त होकर विस्तृत

हुए। जैसे कोई लता यदि किसी फल के बीज से उत्पन्न होकर बहुत शाखाओं में फैल जाय तो उसके फूल-फल आदि से लोककल्याण हो, वैसे ही श्रीराम रूप फल, और उनका गुण बीज है। उन गुणों से कीर्त्ति का फैलना और तदनुसार सर्वत्र नाम का होना अनेक फल है। नाम के अर्थों में गुण विचार कर उसका जपना फल खाने के समान हुआ। इस फल के खानेवाले को भी पूर्व के बीज-कारण रूप फल के ही स्वादादि गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ कारण के एक फल के समान श्रीराम रूप है, उसीसे होनेवाले बहुत फलों के समान नाम हुआ। रूप के गुण नाम-द्वारा एक ही समय करोड़ों स्थलों पर भक्तों के हृदय में रूप का-सा कार्य करते हैं। पहले दो० १८ में ज्योतिषी के दृष्टान्त से भी यही लिखा गया था। यहाँ से दो दोहों में इसी प्रकार नाम द्वारा रूप से कोटि गुण कार्य का होना कहा जायगा। यही नाम का बड़प्पन है।

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥३॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी ॥४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने एक तपस्वी (गौतम ऋषि) की स्त्री (अहल्या) को तारा और नाम ने तो करोड़ों खलों की कुत्सित बुद्धि सुधार दी ॥३॥ श्रीरामजी ने विश्वामित्र ऋषि के लिये सुकेतु यक्ष की कन्या (ताड़का) का सेना और पुत्र के साथ नाश किया ॥४॥ परन्तु नाम दासों की दुराशा को दुःख और दोष के साथ ऐसे नष्ट करता है, जैसे सूर्य रात को (बिना श्रम नष्ट करते हैं) ॥५॥

विशेष—(१) 'राम एक तापस-तिय ···' —अहल्या की कथा आगे दो० २०६ में आवेगी। इसमें श्रीरामजी का गुण उदारता एवं निर्हेतु कृपालुता है। यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन-रहित कृपाल।" (दो० २११)। देश-काल एवं पात्र न देखकर याचक मात्र को देना उदारता है, वही यहाँ भी है। अहल्या शापित एवं दुराचारिणी होने से गति देने के योग्य नहीं थी। देश भयंकर जंगल था, तीर्थ आदि भी न थे। रूप का यही गुण लेकर नाम ने करोड़ों खलों की कुमति सुधारी, यथा—"सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। कासों कहाँ कौने गति पाहनहिं दई है।" (वि० १४१)। रूप ने एक को तारा और वह भी तपस्वी की स्त्री थी, नाम करोड़ों खलों और कुमतियों को सुधार रहा है—यही उसमें विशेषता है।

(२) 'रिषि हित राम···'। ताड़का—सुकेतु एक वीर यक्ष था। इसने संतान के लिये तपकर ब्रह्मा के वरदान से कन्या पाई, जिसमें हजार हाथियों का बल था। यह सुंद से ब्याही गई थी। मारीच और सुबाहु सुंदोपसुंद के पुत्र थे। सुंद अगस्त्य के शाप से मारा गया। इससे ताड़का क्रुद्ध हो पुत्रों के साथ ऋषि को खाने दौड़ी और ऋषि ने सबको शाप देकर राक्षस बना डाला। ताड़का ने राक्षसी बनकर मलद और कारूषक -दो प्रान्तों को निर्जन जंगल बना डाला। तब से यह विश्वामित्र के आश्रम के मुनियों को दुःख दिया करती थी। ताड़कादि वध की कथा आगे आवेगी। 'रिषिहित'—ऋषि की आज्ञा से उनके हित के लिये रामजी ने ताड़का को मारा, अन्यथा वीरों के लिये स्त्रीवध निषिद्ध है। 'बिबाकी' अर्थात् निश्शेष, उस स्थान पर एक भी शेष न बचा। 'सहित दोष दुख' के अर्थ में उपमान के 'सेन' का होना 'स+हित' में है, हित का अर्थ सहायक (सेना)—उसके सहित, 'दुरासा' अर्थात् दुःखप्रद चाह, यथा—"अब तुलसिहिं दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची॥" (वि० १६३)। यहाँ श्रीरामजी का वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था में अब साधारण भी युद्ध नहीं देखा था, खेलने के अनुपगाण से विकट वीर राक्षसों को युद्ध करके मारा तो भी ग्लानि नहीं आई।

यही वीर्य गुण लेकर नाम अनंत दासों की दुराशा एवं दोष-दुःख का नाश कर रहा है। हृदय की दुराशा के अनुसार इन्द्रियों के प्रवृत्त होने से उनमें कुटेव रूप दोष पड़ जाता है। इन इन्द्रियों का प्रेरक दूषित मन मारीच हुआ और दुराशा-सम्बंधी अनेक संकल्पों का समूह सुबाहु एवं और सेना है। यथा—"पदराग याग चहौं कौशिक ज्यों कियो हौं। कलिमल खल देखि भारी भीति भियो हौं।" (वि० १८१); 'जिमि रवि निसि नासा।' अर्थात् रूप को श्रम हुआ और मारने के लिये निकट जाना पड़ा। पर नाम को कुछ भी श्रम नहीं होता है और न कहीं जाना पड़ता है। अतः, नाम बड़ा है। दुराशा आदि अज्ञान से होने से रात के समान हैं।

प्रश्न—अहल्या का प्रसंग विश्वामित्र से पहले क्यों रक्खा गया?

उत्तर—यहाँ नामाराधन क्रम के अनुसार अहल्या-प्रसंग के गुण की प्रथम आवश्यकता थी, क्योंकि प्रथम कुमति सुधरे, तब उससे दुराशा आदि दूर हों।

भंजेउ राम आप भव-चापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू ॥६॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन-मन-अमित नाम किय पावन ॥७॥
निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलि-कलुषनिकंदन ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो स्वयं शिवजी के धनुष को तोड़ा और नाम का प्रताप ही जन्म-मरण के भय का नाश कर देता है ॥६॥ प्रभु ने दंडक वन को शोभायमान कर दिया और नाम ने असंख्य दासों के मन को पवित्र कर दिया ॥७॥ श्रीरामजी ने तो निशिचर-समूह का नाश किया, परन्तु नाम सम्पूर्ण कलि के पापों को जड़ से उखाड़ डालता है ॥८॥

विशेष—(१) 'भंजेउ राम आप भव-चापू।' रूप (रामजी) को पिनाक धनुष तोड़ने में श्रम नहीं हुआ, क्षण-भर में तोड़ डाला। इससे यहाँ श्रीरामजी का बल गुण है। यथा—"तब भुज-बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी॥" (दो० २३८)। इसी बल-गुण से जनकजी की रक्षा हुई, जिससे सुयश हुआ और अहल्योद्धार आदि की कीर्त्ति मिलकर प्रताप हुआ। यथा—"जाकी कीरति सुयश मिलि, होत शत्रु-उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप॥" (बैजनाथ)। यही प्रताप गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर सर्वत्र जड़ धनुष के समान जन्म-मरण के दुःख का नाश करता है। शिवजी त्रिगुणात्मक अहंकार के देवता हैं। वही अहंकार धनुष है। जीव का गुणाभिमानी होना उसमें जड़त्व है, उसीसे 'भव-भय' है। यथा—"कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।" (गीता १३।२१)। अतः, धनुष और अहंकार में समता है। नाम की विशेषता यह है कि 'रूप' को जाकर हाथ से धनुष तोड़ना पड़ा और नाम का प्रताप ही वह कार्य किया करता है। इसीसे कहा है—"प्रभु हू ते अधिक प्रताप प्रभु-नाम को।" (क० उ० ७०)। 'भव-चाप' श्रीरामजी से ही टूटा, वैसे भव-भय का नाश भी नाम से ही होता है।

(२) 'दंडकवन प्रभु···' दंडक-वन—इस स्थान में पहले महाराज इक्ष्वाकु के कनिष्ठ पुत्र राजा दंड की राजधानी थी। पीछे यहाँ के सब पदार्थ झुलस गये, प्रजा का नाश हो गया और राक्षस रहने लगे। इसका कारण ग्रंथकार ने लिखा है—"उग्र साप मुनिवर कर हरहू।" (आ० दो० १४)। यह शाप श्रीमद्-वाल्मीकीय के अनुसार यों है कि राजा दंड ने अपने विद्यागुरु शुक्राचार्य की कन्या अरजा पर बलात्कार किया। इसपर शुक्राचार्य ने शाप दिया कि यहाँ जलती हुई रेत बरसेगी। वैसा ही हुआ। तब से यह

'दंडकारण्य' प्रसिद्ध हुआ। 'कीन्ह सोहावन'—भयावन से शोभायुक्त (हरा-भरा, फल फूल युक्त) कर दिया। यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन-दिन प्रति अति होत सोहाये॥" (आ० दो० १५) 'सोहावन' की जगह 'पुनीत' भी कहा है। यथा—"दंडक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन फरन।" (वि० २५८)।

इसमें श्रीरामजी का दया गुण है, क्योंकि आपने निःस्वार्थ रूप से ही अपने पतित-पावन चरणों से स्पर्श करके दंडक वन को 'पावन' तथा 'सोहावन' कर दिया। यथा—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।" (भगवद्गुण दर्पण)। उसी दया गुण के साथ नाम ने अनंत रूप से अनन्त भक्तों के मन को दंडक-वन के समान पवित्र कर दिया है।

(३) 'निसिचर निकर···' यहाँ पंचवटी के खर-दूषणादि चौदह हजार राक्षसों के वध का प्रसंग है। इसमें श्रीरामजी का शौर्य गुण है। सुर, असुर, नर, नाग आदि तीनों लोकों के वीर एकत्र होकर युद्ध करें तब भी आप उत्साह के साथ उनका सामना करें और क्षण-भर में सबका नाश करें। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८) तथा—"खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (आ० दो० २१)।

इसी शौर्य गुण के साथ नाम अनन्त रूपों से अनन्त स्थलों के जीवों के हृदय की एकादश इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण—इन चौदहों की कामादि सम्बन्धी सहस्र-सहस्र पाप रूप संकल्पों का निकन्दन (समूल नाश) करता है। काष्ठजिह्वा स्वामी (देव) ने भी कहा है—'भाई! पंचवटी के रन में, बड़ो रंग समुमन में। चाह सुपनखा सदासुहागिनि डोलि रही मन बन में। लखन दास ताके धरि काटे नाक कान यक छन में। खर है क्रोध लोभ है दूषन काम बसै त्रिसिरन में। कामे क्रोध लोभ मिलि दरसै तीनों एकइ तन में॥ भाई०॥" (वैराग्यप्रदीप)।

दोहा—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेदबिदित गुनगाथ॥२४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो शबरीजी और जटायुजी-जैसे सुन्दर सेवकों को शुभ गति दी, पर नाम ने अगणित खलों का उद्धार किया। इन गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है।

विशेष—'सुसेवकनि'—श्रीशबरीजी की प्रेमपूर्ण सेवा गीतावली और भक्तमाल में प्रसिद्ध है। यथा आगे (आ० दो० ३५-३६ में) आवेगी। तथा—"घर गुरुगृह प्रियसदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।" (वि० १६४); "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० मू० रा०)। गीधराज जटायुजी ने श्रीजानकी जी की रक्षा में अपने प्रिय प्राण ही दे दिये। इससे दोनों 'सुसेवक' कहे गये। 'सुगति दीन्हि'—यथा (शबरी)—"जोगि वृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" (आ० दो० ३५); (गीध) "गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥" (आ० दो० ३३)। दोहावली में इनकी मृत्यु की सराहना छः दोहों में की है। 'नाम उधारे···' यथा—"श्वपच सबर खस जमन जड़, पामर कोल किरात। राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥" (अ० दो० १९४)। "अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ॥" (दो० २६)।

इन दोनों भक्तों के प्रति श्रीरामजी का अनुकंपा-गुण है। यथा--"रक्षिताश्रितभक्तानामनुराग-सुरेच्छया। भूयोभीष्टप्रदानाय यश्च ताननुधावति॥ अनुकंपागुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। अर्थात् पूर्व से रक्षित एवं आश्रित भक्तों की अभिलाषा पूरी करके सुखी करने की इच्छा बनी रहना अनुकंपा है। यही गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर अमित खलों को भी शबरी-गीध की सी गति देता है। नाम ऐसा बड़ा है।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥१॥
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥२॥

अर्थ--श्रीरामजी ने सुग्रीव और विभीषण दोनों को शरण में रक्खा--यह सब कोई जानते हैं॥१॥ और नाम ने अनेक गरीबों की रक्षा की, इस (नाम) की श्रेष्ठ बिरुदावली लोक और वेद में जगमगा रही है॥२॥

विशेष--नाम में 'बर बिरद' कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने परिश्रम करके सुग्रीवादि की रक्षा की। पीछे लोक-दिखावे में एक ने सेनासहित और दूसरे ने भेद बतलाकर कुछ सहायता भी की, किन्तु नाम में वह सहायता भी नहीं। रूप की विरद को 'जान सब कोऊ' कहा अर्थात् वेद-पुराण के बतलाने से लोग जानते हैं और नाम की विरद को 'बिराजे' कहा है कि अब भी जापक इससे सुखी होते हैं। यह प्रत्यक्ष है। अतः, नाम बड़ा है।

श्रीसुग्रीव और विभीषणजी आर्त्त भक्त थे। यथा--"सो सुग्रीव दास तव अहई॥ ·····दीन जानि तेहि अभय करीजे॥" (कि० दो० ४); तथा--"कृत भूप विभीषन दीन रहा॥" (उ० दो० ११०) और दोनों दुःख से अकुला कर शरणागत हुए थे। यथा--"बालि-त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥" (कि० दो० ११) तथा--"रावन क्रोध अनल निज, श्वास समीर प्रचंड। जरत विभीषन राखेउ······" (सुं० दो० ४९)। इस प्रकार से आश्रित की रक्षा करने में श्रीरामजी का करुणा गुण है। यथा--"सेवक को दुख देखि के, स्वामि विकल होइ जाय। दलि दुख साजै सकल सुख, करुणा गुण सो आय॥" यह प्रसिद्ध है। जैसे सेवक सुग्रीव का दुःख सुनते ही रामजी की भुजाएँ फड़क उठीं, अकुलाकर झट बालि-वध की प्रतिज्ञा कर ही दी, फिर गाली सहकर भी उसका निर्वाह करना पड़ा, ऐसे ही विभीषण का भी तुरंत ही राज्याभिषेक कर दिया। रावण का संग्राम अभी शेष ही था। इसी गुण ने नाम-द्वारा अनंत रूप हो अनेक गरीबों को सुखी किया।

राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा॥३॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥४॥

अर्थ--श्रीरामजी ने तो भालु-वानरों की सेना इकट्ठी की और पुल के लिये थोड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बहुत श्रम किया॥३॥ नाम लेते ही लेते संसार रूपी समुद्र सूख जाते हैं; हे सज्जनो! अपने मन में (नाम की बड़ाई पर) विचार कीजिये॥४॥

विशेष--श्रीरामजी को प्रथम भालु कपियों का कटक बटोरना, फिर तीन दिनों तक समुद्र से राह माँगना, फिर पत्थर आदि ढुलवाकर पुल बाँधना--आदि कामों में बहुत श्रम पड़ा, फिर भी सागर बना

ही रहा, पर नाम के लेते ही संसार-सागर सूख जाते हैं। यहाँ 'सुखाहीं' बहुवचन है। जैसे—सागर सात हैं, वैसे भवसागर भी सात हैं। भव-सिंधु दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनतापों से भरा है। इसके कारण संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीनों सकाम शुभाशुभ कर्म हैं। कर्म के सकाम होने का कारण अविद्या है। अतः, सब मिलकर सात हुए। ये सातों श्रीराम-नाम से नष्ट होते हैं—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को ··।' (दो० १८) का अर्थ देखिये। ऊपर अविद्यात्मक कर्म का परिणाम देह कहा गया, उसे ही सागर भी कहा है। यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर······" (वि० ५८)। यह देह सप्त धातुओं से निर्मित है, यथा—"सातैं सप्त धातु निर्मित तनु करिय बिचार।" (वि० २०७)। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—"जायमानो ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।' (स्कं ३, अ० ३१)। इस प्रकार भी सप्त सागर आ जाते हैं। तीनों ताप देह के ही कार्य हैं। अतः, देहाभिमान को सोखना ही भव-सिंधु को सोखना है।

यहाँ श्रीरामजी का चातुर्य गुण है, क्योंकि आपने वानर भालुओं एवं राक्षसों से उनकी भाषा में बोलने एवं प्रीति-व्यवहार से दुःसाध्य कार्य अपनी बुद्धि से किया। यथा—"केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थ विदुत्तमाः। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्यं चतुराः विदुः ॥····" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। यही गुण लेकर नाम ने सतांग भव-सिंधु को सुखा ही दिया। यह नाम की बड़ाई देखिये। आप लोग सुजान हैं; अतः, थोड़े ही में जान लें।

राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥५॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥६॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती ॥७॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो कुटुंब-समेत रावण को मारा और श्रीजानकी के सहित अपने पुर (श्रीअवध) में आये ॥५॥ श्रीरामजी अयोध्या राजधानी में राजा हुए। देवता और मुनि श्रेष्ठ वाणी से उनके गुण गाते हैं ॥६॥ पर सेवक प्रीति सहित नाम-स्मरण करते हुए, बिना श्रम ही बड़े भारी बली मोह को उसकी सेना समेत-जीतकर, नाम के स्नेह के साथ अपने सुख में मग्न हुए विचरते हैं और नाम के प्रसाद से उन्हें स्वप्नों में भी सोच नहीं होता ॥७-८॥

विशेष—'सकुल रावन' तथा 'प्रबल मोह दल'—मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार पाकारि-जित काम विश्रामहारी। लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ठ विबुधांतकारी ॥ द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद-सूलपानी। अमितबल परम दुर्जय निसाचर निकर···" (वि० ५८)। तथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।" (आ० दो० ४३)।

'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'—देवता बंदीगृह से छूटे और मुनियों का भय मिटा। अतः, सब सुखी होकर गुण गाते हैं। यथा—"त्रिपुरन जीति सुजस सुर गावत।" (उ० दो० १); "बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं।" (उ० दो० ५१)। देवता दिव्य होते हैं, उनकी वाणी भी दिव्य एवं सत्य होती है और मुनि लोग भी सुव्रती होते हैं। अतः, सुव्रत की रक्षा के लिये झूठ नहीं बोलते। यथा—"सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २८); "सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (अ० दो० २०१)।

'सनेह मगन' अर्थात् नाम के स्नेह में डूबे हुए हैं। यथा—"राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।··· जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हिये। बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये॥" (वि० १३५); 'सुख अपने' अर्थात् निजानंद (आत्मसुख)। 'सप्रीती'—"नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। पावनं किय रावन रिपु तुलसिहुँ से अपत॥" (वि० १३०)।

'सेवक सुमिरत नाम ···'। यहाँ के सकुल रावण-वध सम्बन्धी श्रीरामजी के स्थिरता, शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज और बल आदि गुणों को नामार्थ में विचारते हुए तथा 'सेवक' अर्थात् श्रीरामजी के प्रकट अर्चा-रूप में एवं मानसी सेवा ध्यानपूर्वक करते हुए प्रीति से नाम जपना चाहिये। प्रीति, यथा—"अत्यंत-भोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। परिपूर्णेश्वररूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा।" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) अर्थात् जब इन्द्रियों के विषय मन में मिलें और मन, चित्त, अहंकार की वासना बुद्धि में मिले, तब शुद्ध बुद्धि अनुकूल होकर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए लाखों अभिलाषाएँ करती रहे, वही उत्तम प्रीति है।

'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'—जैसे श्रीरामजी अवध के राजा हुए, तब विभीषण आदि विशेष स्नेहपूर्वक सेवा-सहित ब्रह्मानंद (आत्मसुख) के भोक्ता हुए। यथा—"ब्रह्मानंद-मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस निसि, गये मास षट बीति॥" (उ० दो० १५)।

'नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।'—जैसे श्रीरामजी के परिकरों के प्रति लिखा है—"बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।" (उ० दो० १५); वैसे जापक के पक्ष में गृह रूप स्थूल-सूक्ष्म शरीर आदि में वृत्ति का जाना है। जापक नाम के प्रसाद से बराबर तुरीयावस्था में ही रहता हुआ आनंदपूर्ण रहता है, फिर सोच कहाँ रहता है? यथा—"तरति शोकमात्मवित्"—यह श्रुति है। तथा—"प्रीति रामनाम सो प्रतीति राम नाम की प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूतिहौं॥" (क० उ० ६६)।

दोहा—ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥२५॥

अर्थ—(१) ब्रह्म (निर्गुण) और राम (सगुण) से यह (राम) नाम बड़ा है और वर देने-वालों का भी वरदाता है। शिवजी ने हृदय में ऐसा जानकर सौ करोड़ रामचरितों में से (अपने लिये 'राम' नाम) लिया॥ (२) शिवजी ने सौ करोड़ रामचरितों का जीव (या प्राण) जानकर लिया।

विशेष—(१) ऊपर 'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामते।' उपक्रम है, उसीका उपसंहार यहाँ—'ब्रह्म राम ते नाम बड़···' पर हुआ। 'बरदायक बरदानि' का भाव यह है कि वर देनेवाले त्रिदेव हैं। यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु-समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये।···" (दो० १४४)। नाम इनका भी वरदाता है। यथा—"सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च। शंभुना राम रामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥" (पुलहसंहिता)। 'लिय महेस जिय जानि'—। यथा—"सतकोटि चरित अपार दधि-निधि मथि, लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु है।" (वि० २५४)।

शंका—तब तो शेष सभी चरित छाछ की तरह निस्सार रह गये?

समाधान—यहाँ उपमा का केवल इतना ही अंश लिया गया है कि जैसे घी दही में सार तत्त्व है, वैसे नाम चरित का सार रूप है। चरित नाम का अर्थ है और गिरा-(वाणी)-अर्थ का नित्य सम्बंध है।

यथा—'गिरा अरथ ···' (दो० १८) में कहा गया। इसीसे रामचरित के एक-एक अक्षर प्रभावशाली हैं। यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम॥" कहा है। अत, 'मथि लियो काढ़ि' का 'छानबीन करके निश्चित किया' यह भाव है।

इसकी कथा इस प्रकार है – ब्रह्माजी ने सौ करोड़ रामचरित रचे और नारदजी को पढ़ाये। श्रीनारदजी से सूत्र रूप में प्राप्त कर ब्रह्माजी की प्रेरणा से श्रीवाल्मीकिजी ने सौ कोटि श्रीरामचरित बनाये और भक्तों में अगुआ जानकर श्रीशिवजी को दिखाये। कैलाश पर कथा होने लगी। वहाँ तीनों लोकों के श्रोता सुनने आये। सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं ने चाहा कि ये सब सुर-लोक में ही रहें, तब श्रीशिवजी ने उनके तीन भाग कर दिये। अब जब सौ करोड़ श्लोकों में से प्रत्येक (स्वर्ग मर्त्य-पाताल) को ३३३३३३३३३ मिलने पर १ श्लोक बचा, जो अनुष्टुप छंद का था; क्योंकि गणना इसी छंद से होती है, इसके ३२ अक्षरों में भी दस-दस अक्षर फिर तीनों लोकों में बाँटे गये, शेष दो अक्षर 'रा–म' बचे। इन्हें श्रीशिवजी ने अपना भाग कहकर ले लिया कि इन्हीं से हम त्रिलोकों से न्यारी काशी के निवासियों का उद्धार करेंगे।

अतः, प्रथम अर्थ के अनुसार श्रीशिवजी ने अपने वर देने का प्रकाशक जान कर और दूसरे के अनुसार चरित का सार तत्त्व जानकर लिया। वे निरंतर जपते रहते हैं। यहाँ तक दो दोहों में सगुण की अपेक्षा भी सौलभ्य गुण में नाम को बड़ा कहा।

नाम - प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥१॥

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम-प्रसाद ब्रह्म-सुख भोगी॥२॥

अर्थ—नाम के प्रसाद से शिवजी अविनाशी हैं और शरीर में अमंगल साज रखते हुए भी मंगल की राशि हैं॥ १॥ श्रीशुकदेवजी और श्रीसनकादिक (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) सिद्ध मुनि और योगी नाम ही के प्रसाद से ब्रह्म-सुख के भोगी हैं॥ २॥

विशेष—(१) 'नाम प्रसाद संभु ··' श्रीरामतापनीयोपनिषद् में कहा है कि श्रीशिवजी ने काशी-वासियों को मुक्त करने के लिये हजारों मन्वंतरों तक श्रीराम मंत्राराधन कर श्रीरामजी से वर माँगा। तब श्रीरामजी ने वर दिया और कहा कि आप इस काशी-क्षेत्र में जिसके कान में मेरा मंत्र उपदेश करेंगे, वह मुक्त होगा। इसीसे श्रीशिवजी जन्तुमात्र को मुक्ति देते हैं। अत., मंगल की राशि हैं। वे कालकूट पीकर नाम के प्रसाद से ही अविनाशी हुए, जो पूर्व दो० १८ में कहा गया। 'साज अमंगल'—भूत प्रेतों का संग, भाँग धतूर आदि का सेवन, चिता-भस्म आदि का लेपन, मुंडमाल का धारण, बैल की सवारी, सर्पादि का लपेटना इत्यादि अमंगल साजों से भी नाम के प्रसाद से शिवजी मंगल-राशि हैं।

(२) 'सुक सनकादि ··' शुकदेवजी। यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शङ्कराच्छुकजन्मना। साक्षाद् ईश्वरतां प्राप्त पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥ नान्यत्परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्तगोचरे। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचो मम॥" (शुकसंहिता) अर्थात् एक समय शिवजी पार्वतीजी को अमर कथा (रामनामार्थ) सुनाते थे। शिवजी ने यद्यपि करताली से सब पक्षियों को उड़ा दिया था, फिर भी संयोग से एक तोते का अंडा, जो सूख गया था, समीप में रह गया। बस, वह अमरकथा के प्रभाव से सजीव होकर सुनने लगा। 'हम से कथा सुन रहा है'—यह जानकर शिवजी ने उसे त्रिशूल से मारना चाहा। वह उड़ता हुआ आया और जम्हाई लेती हुई व्यासजी की पत्नी के मुख से उदर में प्रवेश कर गया। वही शुकदेव के रूप से प्रकट हुआ जो परमहंसों के भी गुरु हुए। गणेशपुराण में भी यह कथा आई है। इसी महत्त्व का स्मरण कर

शुकदेवजी ने स्वयं कहा है कि जिनका नाम-वैभव शिवजी से सुनकर मैंने शुकजन्म से भी इतनी श्रेष्ठता पाई कि मुनीश्वरों से भी पूज्य हुआ। अतः, नाम से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। श्रीमद्भागवत मे भी उन्होंने नाम का प्रभाव बहुत कहा है। सनकादि की नाम-निष्ठा उनकी (सनत्कुमार) संहिता से प्रकट है, यथा—"श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।" (श्रीरामस्तवराज)। 'सिद्ध, मुनि,'जोगी'—यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत···" (वि० ८६); तथा—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।" (श्रीमद्भागवत १२।१३)। शुक को सनकादि से प्रथम कहे जाने का भाव पूर्व दो० १७ (चौ० ५) के विशेष में कहा गया है।

नारद जानेउ नाम - प्रतापू। जग-प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥३॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रह्लादू ॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने नाम का प्रताप जाना है। संसार को हरि प्रिय हैं और हरि को हर (महादेव) प्रिय हैं, तथा हर को (वा हरि-हर दोनों को) आप (नारदजी) प्रिय हैं ॥३॥ नाम जपने से प्रभु ने अनुग्रह (प्रसन्नता प्रकट) किया, जिससे प्रह्लादजी भक्तों मे शिरोमणि हुए ॥४॥

विशेष—(१) 'जग प्रिय हरि···' में मालादीपक अलंकार है। यथा—"जग जपु राम राम जपु जेही।" में है। जगत् को हरि प्रिय हैं, यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (दो० १२५); हरि को हर प्रिय हैं, यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (दो० १३०) और हरि-हर—दोनों को नारदजी प्रिय हैं। यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई।···कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम माँगी ॥" (आ० दो० ४०-४१)। यह हरि-प्रियत्व है तथा —"मार-चरित संकरहि सुनाये। अति प्रिय जानि महेस सिखाये॥" (दो० १२६) यह हर-प्रियत्व है।

'नारद जानेउ नाम प्रतापू '—नारद-मोह के प्रसंग मे नाम का प्रताप प्रकट है जो कथा आगे आवेगी। ये जब भगवान् का नाम-स्मरण करने लगे, तब शाप की गति रुक गई और अचल समाधि लग गई। इन्द्र ने काम को भेजा, वह सम्पूर्ण कला करके हार गया, यथा—"काम-कला कछु मुनिहि न ब्यापी।" फिर काम ने डरकर चरण पकड़ लिये। नारद के मन मैं भी कुछ रोष नहीं हुआ। प्रत्युत उन्होंने उसे प्रिय वचनों से समझाया। यथा—"भयेउ न नारद मन कछु रोषा॥" उस समय उन्होंने नाम का प्रताप नहीं समझकर अपना प्रभाव मान लिया। इसपर जब विश्वमोहिनी-द्वारा काम क्रोध दोनों से हारे, तब जाना कि पूर्व में नाम के प्रताप से ही मैंने काम को जीता था। काम जीतने से शिवजी के प्रिय हुए, क्योंकि शिवजी ने भी काम को जीता है। सजातीय मे प्रियत्व होता ही है। यथा—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' भृगु की परीक्षा में भगवान् क्रोधजित् सिद्ध हैं, इससे नारदजी क्रोध के जीतने से हरि के प्रिय हुए।

(२) 'नाम जपत ' प्रह्लादू।'—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि कहे गये, क्योंकि बारह परम भागवतों में इनकी प्रथम गणना है। यथा—"प्रह्लाद नारद-पराशर-पुंडरीक-व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्। रुक्मांगदार्जुन - वसिष्ठ - विभीषणादीन् पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि ॥" (पांडवगीता)। यहाँ श्रीनारदजी का नाम प्रह्लादजी से प्रथम लिखे जाने का कारण, एक तो नामार्थ के अन्तर्गत तत्त्व विचार का क्रम है, दूसरे यह कि नारदजी इनके गुरु हैं।

श्रीप्रह्लादजी ने अपनी कथा (भा० स्कं० ७ अ० ७ में) दैत्य बालकों के समझाने के समय नाम में विश्वास के लिये कही है—"जब हिरण्यकशिपु तप करने को गया, तब इन्द्रादि देवताओं ने दैत्यों पर

धावा किया। वे सब जान बचाकर भागे, तब इन्द्र राजरानी (मेरी माँ) को पकड़कर स्वर्ग को चले। मार्ग में श्रीनारदजी मिले और इन्द्र के इस कर्म को अयोग्य कहा। तब इन्द्र ने कहा कि इसके गर्भ में दैत्यराज का वीर्य है, उससे उत्पन्न पुत्र को जन्मते ही उसका वध करके इसे छोड़ दूँगा। नारदजी ने कहा कि इसके गर्भ में महाभागवत है। विश्वास मानकर इन्द्र ने मेरी माँ को छोड़ दिया। तब नारदजी मेरी माता को आश्रम पर लाये और मेरे उद्देश्य से धर्म-तत्त्व और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया। ऋषि के अनुग्रह से मैं उसे अभी तक नहीं भूला। जो लज्जा छोड़कर हरिकीर्तन करता है, वह मुक्त हो जाता है।"

श्रीप्रह्लादजी सर्वत्र श्रीरामजी ही को देखते थे, यह वृत्ति छुड़ाने के लिये इनके पिता ने इन्हें पानी में डुबोया, आग में जलाया, विष पिलाया, हाथियों के आगे डलवाया, पर इनका कुछ नहीं बिगड़ा। इन्होंने 'श्रीराम-नाम' का त्याग नहीं किया। अंत में उसने स्वयं इनका वध करना चाहा, तब भगवान् श्रीरामजी नृसिंह रूप से पत्थर के खंभे से प्रकट हो गये और उस दुष्ट का वध किया। फिर इनकी प्रार्थना से प्रसन्न हो इन्हें गोद में लेकर आश्वासन दिया।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥५॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥६॥

अर्थ—ध्रुवजी ने ग्लानि के साथ,हरि का नाम जपा, (उससे) अचल और उपमारहित स्थान पाया ॥५॥ पवन के पुत्र श्रीहनुमान्जी ने इस पवित्र नाम का स्मरण करके श्रीरामजी को अपने वश में कर रक्खा है ॥६॥

विशेष—'ध्रुव सगलानि''' ध्रुवजी की कथा श्रीमद्भागवत (स्कं० ४, अ० ८-१२) मे विस्तार से है। यहाँ संक्षेप में लिखते हैं। स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद हुए। उनके सुनीति और सुरुचि नाम की दो रानियाँ थीं। छोटी सुरुचि से 'उत्तम' का और बड़ी 'सुनीति' से ध्रुव का जन्म था। राजा के यहाँ सुरुचि का आदर और सुनीति का निरादर था। एक समय राजा उत्तम को गोद में लिये हुए सिंहासन पर बैठा था। ध्रुवजी ने भी (जो अभी निरा बालक थे) पिता की गोद में बैठना चाहा। वैसे ही विमाता सुरुचि बोल उठी कि पहले तप करके हमारे उदर से जन्म ले, तब इस गोद का अधिकारी होना। यह सुनकर ये ग्लानि के साथ रोते हुए अपनी माता के पास आये। उसकी सप्रेम.आज्ञा और उपदेश पाकर तप करने को निकले। मार्ग में श्रीनारदजी मिले। इन्होंने दया करके मंत्र का उपदेश किया। तब ध्रुवजी मथुरा में जाकर यमुना-तट पर मंत्राराधन रूप से तप करने लगे। शीघ्र ही प्रकट होकर श्रीहरि ने वर दिया और कृपा करके इनके कपोल में अपने शंख का स्पर्श करा दिया। बस, ये सम्पूर्ण विद्याओं के निधान हो गये। फिर वेद-विधि से भगवान् की स्तुति की। प्रभु ने कहा कि छत्तीस हजार वर्ष इस पृथिवी पर राज्य करने के उपरान्त अचल और अनुपम लोक का राज्य करोगे। ऐसा कहकर भगवान् अंतर्धान हो गये और ये घर आये। तब श्रीनारदजी की प्रेरणा से इनके पिता इन्हें राज्य देकर स्त्री-समेत वन को गये। अंत में इन्हें अचल लोक मिला। ध्रुव तारा इन्हीं का लोक है। 'विनय' का ८६ वाँ पद भी देखिये।

(२) 'सुमिरि पवनसुत''''''। 'पावन' नाम के साहचर्य में स्मरणकर्त्ता भी योग्य कहे गये, क्योंकि पवन स्वतः पवित्र है तथा औरों को भी पवित्र करता है। यथा—"पवनः पवतामस्मि।" (गीता १०।३१)। उसके पुत्र परम पावन हैं। पावन वह है, जिसमें विकार न हो और छवो विकारों में सबका मूल काम है। कामनाएँ जिन पदार्थों की होती हैं, वे सब मणि में रहती हैं। यथा—"असन

बसन बसु वस्तु विविध विधि सब मनिमहँ रह जैसे।" (वि० ११५)। ऐसी बहुमूल्य मणियों की माला को भी श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीरामनाम से हीन (निःसार) जानकर तोड़ डाला। फिर अपने रोम-रोम में श्रीरामनाम को ध्वनि समेत दिखा दिया।" (भक्तमाल टीका-प्रियादास क० २७) तथा—"नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराजराजः। यद्रूपरागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसंतम्॥" (प्रमोदनाटक)। आपने निष्काम नाम जप किया है, इसीसे श्रीरामजी आपके वशीभूत हैं। यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदय कमल महँ, सदा करउँ बिश्राम॥" (आ० दो० १६)। सकाम स्मरण अपावन है। श्रीहनुमान्‌जी ने साधन एवं सिद्धि किसी भी अवस्था में कुछ नहीं चाहा, यही बात 'राखे' पद में है कि प्रभु को वश में कर लेने पर भी उनसे कुछ नहीं चाहते। यथा—"दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ।" (वि० १००)। और देवता मंत्र से वश होते हैं, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्ब।" (दो० २५६)। श्रीरामजी का मंत्र 'राम' नाम है, इसीसे इसके जप से वे वश होते हैं। यहाँ तक उच्चकोटि के छः भक्त कहे गये। आगे तीन पतित भी कहते हैं—

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ॥७॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई॥८॥

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका ऐसे पतित भी हरि-नाम के प्रभाव से मुक्त हुए॥७॥ मैं नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, श्रीरामजी भी नाम के गुण नहीं गा सकते॥८॥

विशेष—'अपत अजामिल...' 'अपत'=पतित। यथा—"पावन किय रावन-रिपु तुलसिहुँ से अपत।" (वि० १२१); तथा—"पतितपावन राम नाम सों न दूसरो।" (वि० ६६)। 'अजामिल'—इनकी कथा श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में विस्तार से है। यहाँ सारांश लिखते हैं—अजामिल एक योग्य एवं विद्वान् ब्राह्मण थे जो कन्नौज के रहनेवाले थे। एक दिन यज्ञ-सामग्री लाने को वन में गये। वहाँ एक कामी शूद्र को वेश्या से निर्लज्जतापूर्वक रमण करते देखकर काम-वश हो गये। फिर उसी वेश्या के पीछे इन्होंने पिता की सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी। अपनी सती स्त्री एवं परिवार को भी छोड़कर उस कुलटा के साथ रहने तथा जुआचोरी आदि से निर्वाह करने लगे। उस दासी से इनके नौ पुत्र हुए, दसवाँ गर्भ में था। संयोग से उस ग्राम में एक साधु-मंडली आई। लोगों ने परिहास से उन संतों को इनका नाम बतलाया कि वह संत-सेवी धर्मात्मा है, अतएव वहीं जाइये। संत वहाँ गये। उस दासी ने आदर किया। संतों के दर्शनों से अजामिल की बुद्धि सात्त्विक हो गई। सेवा पर रीझकर संतों ने कहा कि गर्भस्थ बालक का नाम 'नारायण' रखना। अतः, छोटे पुत्र का नाम 'नारायण' पड़ा। यह पुत्र इनको प्राणों से भी प्रिय था। अंतकाल में इनका चित्त इसी पुत्र में लग गया और दूर खेलते हुए इसे 'नारायण-नारायण' कहकर पुकारा। तुरत नारायण भगवान् के पार्षद आये और इनको यमदूतों से छीन लिया। पार्षदों और यमदूतों का विवाद सुनकर इन्हें पश्चात्ताप हुआ। पार्षदों के दर्शनों से इनकी एक वर्ष की आयु भी बढ़ गई और भगवद्भजन कर परमधाम की प्राप्ति हुई। इसपर श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥" (भाग० स्कंध ६ अ० २) तथा—"नाम लिये पूत को पुनीत कियो पातकीस।" (क० उ० १८)।

'गज'—क्षीर-सागर के मध्य में त्रिकूटाचल नाम का एक पहाड़ है। वहाँ वरुण भगवान् का 'ऋतुमत्' नाम का बगीचा है और मध्य में एक सरोवर भी है। एक गजेन्द्र हथिनियों के साथ उसमें

क्रीड़ा कर रहा था। उसी में एक बली ग्राह भी रहता था। उसने गजेंद्र का पैर पकड़ लिया। हजार वर्षों तक खींचातानी होती रही। अंत में साथियों ने भी गजेन्द्र को छोड़ दिया। तब देवताओं का स्मरण कर, उनसे भी हताश हो भगवान् को पुकारा। आर्त्तनाद सुन भगवान् गरुड़ पर से कूदकर तुरंत आ गये और दोनों को बाहर निकालकर ग्राह का शिर काट डाला और गजेन्द्र को पार्षद बनाया। इसकी विस्तृत कथा भाग० स्कंध ८, अ० २-३-४ में है।

'गणिका'—सत्ययुग में परशू नामक वैश्य के एक स्त्री थी। उस स्त्री के पिता का नाम रघु था। यह स्त्री विधवा होने पर व्यभिचारिणी हो गई। उसके कोई सन्तान न थी। उसने एक तोते का बच्चा पाला था। किसी संत के उपदेश से उसे रामनाम पढ़ाया करती थी। तोते को पढ़ाते-पढ़ाते एक दिन उस कुलटा की मृत्यु हुई और नाम के प्रभाव से वह मुक्त हो गई। (क्रियायोगसार)।

इन पतितों के द्वारा यह दिखाया कि जाने या अनजाने भी नामोच्चारणमात्र से मुक्ति होती है। यथा—"जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।" (वि० १६०), जैसे आग छू जाने मात्र से जलाती है। 'कहउँ कहाँ लगि नाम ··' यहाँ ग्रंथकार को नाम की बड़ाई असीम देख पड़ी कि अजामिल, गज और गणिका आदि 'अपत' ने भी जैसे-तैसे नाम के उच्चारणमात्र से गति पाई। फिर उस नाम का महत्त्व मैं कहाँ तक कहूँ ? स्वयं श्रीरामजी भी (जिनका यह नाम है और जो सर्वज्ञ हैं) इसके पूर्ण गुण नहीं कह सकते। यथा—"राम एवाभिजानाति रामनामफलं हृदि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा ॥"(वसिष्ठ तंत्र)

श्रीरामजी के भी न कह सकने के कारण—(क) नाम की महिमा अनंत है। यथा—"महिमा नाम रूप गुन-गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥" (उ० दो० ९०); "रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥ (दो० ४५)। यह संतों एवं वेदादि की कही हुई मर्यादा है। किसीके द्वारा भी कह चुकने पर मर्यादा का भंग होता है। फिर श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं। अतः, *अनंत को अनंत रूप में ही जानना* सर्वज्ञता है। (ख) श्रीरामजी जीवों को रमण कराने से श्रीराम संज्ञा से सुशोभित हैं। उस कार्य में रूप की अपेक्षा नाम अनंत रूप होकर जीवों को सुलभता से रमण कराता है। यही ऊपर दो दोहों में कहा है। अत, श्रीरामजी कृतज्ञता से भी नाम की अनंत महिमा की सिद्धि के लिये नहीं कह सकते।

शंका—ऊपर अजामिल आदि में कहीं कहीं 'नारायण-वासुदेव' आदि अन्य नामों का भी प्रसंग है, फिर सब श्रीराम नाम में क्यों लिये गये ?

समाधान—श्रीराम नाम ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप का साक्षात् वाचक है और विष्णु-नारायण आदि नाम गुण-कर्म-सूचक ब्रह्म के नाम हैं, पूर्वोक्त दो० १८ चौ० १ में भी देखिये। अत, कारण-रूप रामनाम में सबका अंतर्भाव हो जाता है। यथा—"विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामत ॥" (पद्मपुराण)

दोहा—नाम राम को कलपतरु, कलिकल्यान निवास।
जो सुमिरत भये भाँग ते, तुलसी तुलसीदास ॥२६॥

अर्थ—कलियुग में श्रीरामजी का नाम कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याण का निवास है, जिसके स्मरण करने से तुलसीदास भाँग से तुलसी हो गये।

विशेष—कल्पवृक्ष के नीचे पहचानकर जानेवाला मनोरथ पाता है। यह अर्थ, धर्म और काम देता है, घाम हरता है और श्रीराम नाम मोक्ष भी देता है और त्रिताप हरता है। यथा—"राम नाम कामतरु देत फल चारि रे।" (वि० ६८); "सुमिरे त्रिविध घाम हरत।" (वि० २५५); यहाँ पहचानना उपर्युक्त अर्थ जानना है। 'कलि-कल्याननिवास' का भाव यह है कि इस घोर कलियुग में अन्य साधन रूप वृक्षों में फल नहीं लगते। कल्याण-रूप ज्ञान-विरागादि फल नाम ही में आ बसे हैं। यथा—"यहि कलिकाल सकल साधन तरु हैं श्रम फलनि फरो सो।···सुरत सपनेहुँ न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरोसो। काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो॥" (वि० १७३)। 'भाँग ते तुलसी'—भाँग और तुलसी की मंजरी एक-सी होती है, पर गुण में बड़ा अंतर है। भाँग मादक है। हरएक मादक में विषाक्त परमाणु रहते हैं। तभी तो उसका सेवन अधिक मात्रा से होने पर मृत्यु हो जाती है। भाँग के विरुद्ध धर्मवाली तुलसी है। इसके रस-सेवन से विष का नाश एवं मादकता दूर होती है। वैसे श्रीगोस्वामीजी विषयी से रामभक्त हो गये। इनके उपदेश से औरों का विषय-रूप विष उतर जाता है। यथा—"केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥" (बरवा रा०)। "राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो॥" (क० उ० ७२) तथा तुलसीदासजी तुलसी के समान पावन एवं श्रीराम-प्रिय हुए। यथा—"रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी।" (दो० ३०)।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥१॥
बेद - पुरान - संत - मत येहू। सकल - सुकृत - फल राम-सनेहू॥२॥
ध्यान प्रथम जुग मख-बिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे॥३॥
कलि केवल मलमूल मलीना। पाप-पयोनिधि जन - मन - मीना॥४॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥५॥

अर्थ—चारो युगों, तीनों कालों तथा तीनों लोकों में जीव नाम जपकर शोक-रहित हुए॥१॥ वेदों, पुराणों और संतों का यही मत है कि सब पुण्यों का फल श्रीराम-स्नेह है॥२॥ सत्ययुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ की विधि से और द्वापर में पूजा से प्रभु प्रसन्न होते थे॥३॥ कलियुग में 'केवल' (नाम से), क्योंकि कलि पाप का मूल और मलिन है तथा पापरूप समुद्र में लोगों के मन मछली हो रहे हैं॥४॥ ऐसे कठिन काल में नाम कल्पवृक्ष है, स्मरण (करते ही) सब सांसारिक जाल का नाश करता है॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ जुग तीनि काल···' चारो युग कहकर फिर तीन काल भी कहे गये अर्थात् जापक निरंतर विशोक होते आये, होते हैं और होंगे। चारो युगों के जापकों के प्रमाण पूर्व दो० २१ चौ० ८ में देखिये।

(२) 'बेद-पुरान-संतमत···' सब सुकृत रूप साधनों का फल श्रीराम-स्नेह है, यह वेदादि सब का मत है। यथा—"जप तप नियम जोग निज धर्मा। ··सब पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर॥" (उ० दो० ४८)। "साधन सिद्धि राम-पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत येहू॥" (अ० दो० २२८); "तुम्ह तो भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" तथा—"सकल सुमंगल

मूल जग, रघुवर-चरन सनेहु ॥'''सो तुम्हार धन जीवन प्राना ॥" (अ० दो० २०७) अर्थात् श्रीभरतजी का सा स्नेह ही सर्वमत से उपर्युक्त 'चहुँ जुग''' के शोक के अभाव का कारण है। श्रीभरतजी का स्नेह अयोध्या कांड भर में कहा गया है, उसीके लिये आगे चारो युगों में साधन कहते हैं—

(३) 'ध्यान प्रथम जुग'''। यथा—"कृत जुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरि-ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥ त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं ॥ द्वापर करि रघुपति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥" (उ० दो० १०७)। 'परितोषन' अर्थात् तृप्ति, प्रसन्नता। भगवान् प्रसन्न होते हैं, तभी शान्ति एवं परम स्नेह उनमें होता है। यथा—"तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।" (गीता १८।६२)। तथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं। प्रभु-गुन सुनि हिय हरषि है नीर नयननि ढरिहैं। तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि'''" (वि० २६८)।

(४) 'कलि केवल, मल मूल''' यहाँ कलि के साथ 'केवल' कहकर उसे उद्देश्यांश में साकांक्ष ही छोड़ कलि की करालता कहने लगे, उसे फिर अगली चौ०—'नाम काम तरु''' से खोलेंगे, क्योंकि फिर वहाँ 'कलि' का नाम नहीं है। अतः, वह करालता यहीं के 'कलि'-प्रसंग की है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है—"कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥" (१२।३।५२)

इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलि में केवल नाम ही अभीष्ट-पूरक है, तब अन्य युगों में दो-दो साधन थे। जैसे ऊपर चौ० में 'मखविधि' कही है। अतः, ध्यान और पूजा भी विधि हुई। जैसे प्रजा खेती वाणिज्य आदि विधि (उपाय) करती है, तब राजा उसकी विधि का निर्वाह करता है। नहीं तो चोर-डाकू आदि से निर्वाह न हो, वैसे नाम सब युगों के विधि-रूप साधनों का राजा है। जैसे—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" आदि कहे हैं। फिर जब कोई कराल काल (अकाल) पड़ता है, तब वही राजा अपने ही कोष से प्रजा का अभीष्ट सिद्ध करता है। वैसे ही उपर्युक्त तीन युगों में नाम (राजा) विधि सहित लोगों का अभीष्ट पूरा करता था, परिपूर्ण श्रीराम-स्नेह प्राप्त कराता एवं रक्षा करता था। करालकाल (अकाल) रूप कलि में केवल जप (नामाराधन) मात्र ही श्रीराम स्नेह प्राप्त कराता है। कारण भी कहते हैं। कलि पापमूल एवं मलिन है और लोगों के मन पाप-समुद्र की मछली हो रहे हैं जो पापमूलक विषय सामग्री विना तड़पने लगते हैं। यथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १००)।

(५) 'नाम कामतरु काल'''—'काल कराला'—"सो कलिकाल कठिन उरगारी।"'''से—"सुनु ब्यालारि कराल कलि, मलअवगुन आगार ॥" (उ० दो० ९८–१०२) तक। 'जग जाला'—"जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥ "जनम मरन जहँ लगि जग-जालू।" (अ० दो० ९१); अर्थात् योग वियोग आदि द्वन्द्वों से चित्त भ्रमित होकर जन्म-मरण में फिरने लगता है। यही जगत् रूप जाल है। जाल जल में मछलियों को फँसाता है, वैसे ही उपर्युक्त द्वंद्व विषय वारि में ही रहते हैं। यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता० ३।३)। कलि में भी जापक के मन रूप मीन को जगत्‌जाल से हटाकर नाम अपने प्रेम रूप अमृत का कुंड प्राप्त कराता है। यथा—"सकल कामनाहीन जे।'''मन मीन ॥" में कहा गया, वही यहाँ का उपर्युक्त स्नेह है।

राम नाम कलि - अभिमत - दाता। हित परलोक लोक - पितु माता ॥६॥

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥७॥

कालनेमि कलि कपट निधानू । नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥८॥

अर्थ—कलियुग में राम नाम सब मनोरथों को देनेवाला है, परलोक का हितैषी और इस लोक के लिये माता-पिता के समान है ॥६॥ कलियुग में न कर्म है, न भक्ति और न ज्ञान ही है; एक श्रीराम नाम ही का सहारा है ॥७॥ कपट का खजाना कलियुग कालनेमि के समान है, (उसका नाशक) नाम सुन्दर मतिमान् बलवान् श्री हनुमान्‌जी है ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-नाम कलि अभिमत······' ऊपर 'कामतरु' कहा था, यहाँ गुण-द्वारा जनाया । 'हित परलोक' से मोक्ष भी देना कहकर कल्पतरु से अधिकता कही । 'पितु-माता' रूप से भी नाम की अधिकता ही है, क्योंकि कल्पवृक्ष से माँगना पड़ता है, एवं वह कुपथ्य भी देता है, पर नाम माता-पिता रूप है । अतः, विना माँगे ही देता है और कुपथ्य नहीं देता । उदाहरण दो० १६, चौ० २ में देखिये ।

(२) 'नहिं कलि करम न भगति······' यथा—"करम जाल कलि काल कठिन आधीन सुसाधित दाम को । ज्ञान विराग जोग जप तप भय लोभ-मोह-कोह-काम को ॥" (वि० १५५) । "करम उपासना कुवासना विनास्यो ज्ञान, बचन विराग वेष जगत हरो सो है ॥" (क० उ० ८४) अर्थात् कलिकाल में मन पापरत होने से और कुसंग के कारण उक्त कर्म आदि के साधन नहीं निवहते । इसीसे कलि के जीव इनके अनधिकारी भी कहे जाते हैं । यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः । कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ॥" (महासंहिता) ।

(३) 'काल नेमि कलि कपट·······', कलि ने राजा नल तथा राजा परीक्षित से भी छल ही किया, क्योंकि बल से उनको नहीं जीत सकता था.। ऐसे ही कर्म-ज्ञानादि पर इसका बल चलता है, पर श्री राम नाम को बल से नहीं जीत सकता ; अतः कपट से जीतना चाहता है । जैसे श्रीहनुमान्‌जी के प्रभाव से कालनेमि पहले ही डरा था, इससे कपट से मारना चाहा । जैसे श्रीहनुमान्‌जी ने सुमति से उसके कपट को जान लिया और सामर्थ्य से मारा, वैसे नाम भी 'सुमति' से कपट जानकर सामर्थ्य से कलि का नाश करता है । कालिनेमि का प्रसंग लं० दो० ५६-५७ में है । वहाँ प्रथम श्रीहनुमान्‌जी उससे श्रीराम गुण-गाथा सुनते ही गये, जब अपने ज्ञान की बड़ाई करने लगा तब 'सुमति' से ताड़ गये कि यह संत नहीं है । फिर मकरी-द्वारा भी सुनकर मारा । यहाँ नाम ने कलि का कपट नष्ट किया ।

दोहा—राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल ॥२७॥

शब्दार्थ—सुरसाल=देवताओं को दुखानेवाला एवं सुर-रूप सद्गुणों का नाशक, यथा—"सद्गुन सुरगन ।"

अर्थ—जैसे नृसिंह भगवान् ने देवताओं को दुखानेवाले हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद की रक्षा की, वैसे ही श्रीराम का नाम सद्गुण-नाशक कलिकाल का नाश करके जापक को पालेगा ।

विशेष—(१) 'राम-नाम नरकेसरी···' श्रीराम का नाम अपने जापक के विरोधी कलि पर महान् क्रोध करता है, इसलिये नृसिंह भगवान् की उपमा दी । हिरण्यकशिपु नृसिंह के अतिरिक्त सबसे अवध्य था, वैसे नाम ही से कलि का समूल नाश होता है । अन्य उपाय कलि में व्यर्थ हो जाते हैं ।

'सुरसाल'—इस पद का उपमेय नहीं प्रकट किया गया, उपमान में यह 'कनक-कसिपु' का विशेषण है, उपमेय में यही 'कलिकाल' का भी विशेषण होगा और इसका अर्थ 'सद्गुण एवं सद्धर्म पर धक्का पहुँचानेवाला' होगा। यथा—"सद्गुन सुरगन अब अदिति-सी।" (दो० २०), "कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचाल चलाई।" (वि० १३५), "कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रंथ।" (उ० दो० ९७)।

अतः, जैसे हिरण्यकशिपु प्रथम बहुत काल से देवताओं को दुःख देता रहा, पर नृसिंह-भगवान् नहीं प्रकट हुए किन्तु, भक्त प्रह्लाद पर विघ्न करते ही प्रकट हुए। यथा—"सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥" (अ० दो० २६७)। वैसे कलि भी सद्गुणों एव सद्धर्मों पर बाधा करता रहता है, तब तक नाम उसकी उतनी परवाह नहीं करता, पर जापक रूप प्रह्लाद पर बाधा करने पर उसका समूल नाश कर डालता है।

प्रश्न—श्रीहनुमान् रूपी नाम के द्वारा कलि का नाश कह चुके, फिर दोहे में कलि का मारना क्यों कहा गया? प्रथम रूपक में 'कालनेमि' रूप कलि प्रथम है, दूसरे में 'राम नाम नरकेसरी' प्रथम क्यों?

उत्तर—प्रथम रूपक में 'कलि' का कपट नष्ट हुआ, उसमें जापक-रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं, वे मूर्च्छित थे, तब नाम के नामी (श्रीरामजी) ही ने नाम रूपी हनुमान्‌जी को उपाय रूप में नियुक्त किया। अत, वहाँ की बाधा परम समर्थ श्रीरामजी एव नाम पर ही थी। इसीलिये कलि ने कपट-द्वारा ही सामना किया और उसका वह कपट रूप नष्ट हुआ। इसमें अपने पर ही बाधा जानकर तुच्छ बाधक से लापरवा रहे, सामने आने पर पीछे मारा। अत, इसमें 'कलि' ही प्रथम कहा गया। दूसरे रूपक में जापक शिशु प्रह्लाद रूप में है, वहाँ कलिकाल ने इसे तुच्छ समझकर अपने पुरुषार्थ से ही मारना चाहा, तब नाम अपने वात्सल्य गुण-प्राधान्य से प्रथम ही 'नरकेसरी' संज्ञा से कहा गया और उसके पुरुषार्थ का भी नाश कर सर्वांश से उसे दूर किया।

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥१॥

अर्थ—भाव, कुत्सित भाव, अनख (अन=बुरी, अख=आँख=क्रोध) और आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपने से दशों दिशाओं में मगल ही होता है।

विशेष—विजय-दोहावली में इन सबके भावगर्भित उदाहरण हैं—"भाव-सहित संकर जप्यो, कहि कुभाव मुनिबाल। कुंभकरण आलस जप्यो, अनख जप्यो दसभाल॥" मानस में इनके क्रमश उदाहरण—"सादर जपहु अनगआराती।" (दो० १०७)। "भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू।" (दो० १८)। "राम रूप गुन सुमिरत, मगन भयेउ छन एक।" (ल० दो० ६३)। "कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।" (ल० दो० १०२) अर्थात् चाहे शिवजी की तरह प्रेमपूर्वक मन, वचन की एकाग्रता एव नामार्थ विचार-पूर्वक सादर जपे, चाहे श्री वाल्मीकि की तरह उल्टा (अनादर-सहित) जपे, चाहे कुंभकरण की तरह आलस्य में जँभाते-अँगड़ाते हुए नाम कहे, चाहे रावण की तरह क्रोध से कहे, नाम-द्वारा सब प्रकार से कल्याण ही होता है। 'दिसि दसहूँ'—चाहे मथुरा, अयोध्या आदि पुरियों में, चाहे प्रयाग आदि तीर्थों में, चाहे गिरि-वन आदि कैसे भी स्थल में नाम-जप से मगल ही होता है। दश दिशाएँ—"देसकाल दिसि बिदिसिहु माँहीं।" (दो० १८४)। अर्थात् पूर्व आदि ४ दिशाएँ, अग्नि आदि ४ विदिशाएँ (कोण), ऊपर और नीचे मिलकर दस दिशाएँ होती हैं।

नौ दोहों में नाम का विस्तृत महत्त्व कहकर अंत में यहाँ सारांश रूप में कहा गया कि यह नाम देश-काल एवं पात्र की अपेक्षा न कर मंगल ही करता है, यथा—"श्रद्धया हेलया नाम वदन्ति मनुजा भुवि। तेषां नास्ति भयं पार्थ रामनामप्रसादतः ॥" (आदिपुराण) तथा—"दुभहू कलि नामकुम्भज सोचसागर सोखु।" (वि० १५१), "मंत्रोऽयं रसनास्पृशेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥" (शुकसंहिता)।

प्रश्न—श्रीरामनाम की वंदना सबसे अधिक नौ दोहों में क्यों की गई ?

उत्तर—(क) श्रीरामनाम गोस्वामीजी का सर्वस्व है, इसी से इनका कल्याण हुआ है। अतः, प्रेम से अंकों की सीमा तक वंदना की। अंकों की सीमा नौ ही तक है, आगे शून्य है। तदनुसार कल्याण-दायक पुरुषार्थों की सीमा का भी इन्हीं में पर्यवसान किया अर्थात् इनसे आगे जो अन्य पुरुषार्थों को खोजें, तो शून्य ही हाथ लगेगा, क्योंकि विघ्नों से निर्वाह न होगा। यथा—"तुलसी अपने राम को भजन करहु निःसंक। आदि अंत निर्वाहिवो, जैसे नव को अंक ॥" (तुलसीसतसई); "रामनाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे ॥" (वि० ६६), "राम की सपथ सर्वस मेरे राम नाम कामतरु कामधेनु मोसे छीन-छाम को।" (क० उ० १०२); "सकर साखि जो राखि कहउ कछु तो जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नाम हि ते तुलसिहिं समुझि परो ॥" (वि० २२६)।

(ख) जैसे नौ का पहाड़ा लिखते हुए उसके दूने-तिगुने आदि में इकाई-दहाई जोड़ने पर भी वह (नौ का मान) नहीं घटता। समान ही (नव का नव ही) रहता है, वैसे ही नामाराधन काल, कर्म, गुणादि की किसी भी प्रकार की बाधाओं में नहीं घटेगा।

श्रीरामनाम वन्दना-प्रकरण समाप्त

सुमिरि सो नाम राम-गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा ॥२॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती ॥३॥

अर्थ—उस श्रीराम-नाम का स्मरण कर और श्रीरघुनाथजी को माथा नवाकर उनके गुणों की कथा की रचना करता हूँ ॥२॥ वे मेरी त्रुटियाँ सब तरह से सुधार लेंगे, जिनकी कृपा कृपा करते रहने से भी नहीं अघाती (चुकती) ॥३॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो नाम ……' ऊपर नाम की वंदना कर चुके। अब यहाँ से—"येहि विधि निज गुन दोष कहि' तक दो दोहों में अपनी दीनता और स्वामी के गुण वर्णन करते हुए रूप की बड़ाई करते हैं कि जिस नाम के भाव-कुभावादि द्वारा भी स्मरण से सब देशों एवं सब कालों में मंगल होता है, अब मैं उसी का स्मरण कर और उसके नामी (श्रीरामजी) ही को माथा नवाकर उनकी गुण-गाथा की रचना करता हूँ। यदि कोई कहे कि गुण-गाथा करने में जो-जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिये क्या प्रबन्ध किया ? तदर्थ आगे कहते हैं—

(२) 'मोरि सुधारिहि सो' ' 'सुधारिहि' अर्थात् मेरी बहुत तरह से बिगड़ी है—(क) "सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥" (दो० ७) अर्थात् मन और मति अयोग्य हैं। (ख)—' कवित-विवेक एक नहीं मोरे।" (दो० ८); "भनिति मोरि सब गुन-रहित, ……" (दो० ९) अर्थात् मेरी विवेकहीनता से रचना में काव्यगुण नहीं आ सकते। (ग)—भाग्य छोटा है—"भाग छोट अभिलाष बड़,—" (दो० ८), इत्यादि सबको सुधारेंगे।

(३) "जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" अर्थात् जिसपर कृपा हुई, फिर बराबर हुआ करती है, अतः, मुझपर भी हुई है, फिर बराबर होती रहेगी, इससे सब सुधर जायँगे। किस प्रकार कृपा की और करेंगे, यही आगे कहते हैं—

राम सुस्वामि कुसेवक मो सो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ॥४॥
लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥५॥

अर्थ—कहाँ श्रीरामजी-से अच्छे स्वामी और कहाँ मुझ-सा कुत्सित सेवक? पर दयासागर ने अपनी ही ओर देखकर मुझे पाला ॥४॥ वेदों में और लोक में भी अच्छे स्वामी की यह रीति है कि वे विनय सुनते हुए हृदय की प्रीति को पहचान लेते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'राम सुस्वामि कुसेवक···' और स्वामी कुसेवक को नहीं रखते, जिसको रखते भी हैं उसे सेवा के अनुसार ही फल देते हैं, पर श्रीरामजी ऐसे सुस्वामी हैं कि बिना सेवा ही कृपा करते हैं और कुसेवक पर भी दया करते हैं। ऐसा दयानिधि स्वामी कहीं नहीं, क० उ० २३-२४-१२ तथा "जौं पै दूसरो कोउ होइ··· ··" (वि० ११०) आदि देखिये। तथा—"बेचे खोटो दाम न मिलै न राखे काम रे। सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम रे।" (वि० ७१)।

(२) 'लोकहुँ वेद सुसाहिब···' लोक में देखा जाता है और वेद में लिखा है, इसीका विस्तार करते हैं।

गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर ॥६॥
सुकवि कुकवि निज-मति-अनुहारी। नृपहिं सराहत सब नर नारी ॥७॥

शब्दार्थ—गनी = अमीर। मलीन = मलिन वृत्तिवाले। उजागर = स्वच्छ, प्रसिद्ध।

अर्थ—अमीर, गरीब, गँवार, चतुर, पंडित, मूर्ख, मलिनवृत्ति और स्वच्छवृत्ति, अच्छे और बुरे कवि—ये लोग सब स्त्री-पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार (अपने) राजा की बड़ाई करते हैं ॥६-७॥

विशेष—इन दसों की सराहना का विषय और उनके भेद आगे कहते हैं—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला ॥८॥
सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी ॥९॥

शब्दार्थ—साधु = सद्भाववाला। सुजान = अच्छा जानकार। नृपाल = नरों का पालक (राजा)। नति = प्रणाम एवं नम्रता। गति = पहुँच, दशा। भव = उत्पन्न।

अर्थ—साधु, सुजान, सुशील, ईश्वर के अंश से उत्पन्न और परम कृपालु राजा ॥८॥ सबकी सुनकर, उनकी वाणी, भक्ति, नति और गति पहचानकर, सुन्दर वचनों से उन सबका आदर करता है ॥९॥

विशेष—(१) 'ईस-अंस-भव'—यथा—"नराणां च नराधिपम् ॥" (गीता १०।२७) तथा—"इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ यस्मादेष सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येषु सर्वभूतानि तेजसा॥" (मनुस्मृति)। यहाँ राजा की स्तुति करनेवाले पाँच प्रकार के हैं—१—गनी—गरीब, २ ग्रामनर नागर, ३—पंडित-मूढ़, ४—मलीन-उजागर, ५—सुकवि-कुकवि। राजा भी पंचगुण युक्त है - १—साधु, २—सुजान ३ - सुशील, ४- ईश-अंश-भव, और ५—परम कृपालु। राजा भी अपने इन गुणों से प्रजा की पाँच ही बातों को पहचानकर उसका सम्मान करता है, १—प्रीति ('बिनय सुनत पहिचानत प्रीती।' ऊपर कहा है), २-गति, ३—नति, ४ - भक्ति, और ५—भनिति [इस भनिति, भक्ति, नति, गति में उल्टा क्रम है, यथा—"कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।" (उ० दो० १०२)।]

प्रशंसकों के नाम	गनी-गरीब	ग्रामनर-नागर	पंडित-मूढ़	मलीन-उजागर	सुकवि-कुकवि
सम्मान के हेतुभूत गुण	प्रीति	गति	नति	भक्ति	भनिति
पहचान के हेतुभूत राजा के गुण	साधुता	परम कृपालुता	ईशअंश भवता	सुशीलता	सुजानता

उपर्युक्त बातों के प्रमाण—साधुता से प्रीति की पहचान। यथा—"मानत साधु प्रेम पहिचानी।" (अ० दो० २४६)। ईश-अंश-भवगुण से नति=प्रणाम पहचानता है, क्योंकि ईश्वर एकबार प्रणाम से ही अपनाते हैं। यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८) और सुजानता से काव्य के गूढ़ आशय एवं काव्य कला आदि जानता है।

यह प्राकृत महिपाल-सुभाऊ। जानसिरोमनि कोसलराऊ॥१०॥
रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मो ते॥११।

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण। जानि=ज्ञानी, सुजान। निसोत=निस्सोत=तैल धारावत् एकरस रहनेवाला वा मिलावट से रहित —'कहाँ सो साँच निसोते।' (वि० १६१)।

अर्थ—यह तो प्राकृत राजाओं का स्वभाव है। कोशल के राजा श्रीरामजी तो सुजानों के शिरोमणि हैं॥१ ॥ श्रीरामजी शुद्ध प्रेम से रीझते हैं, (परन्तु) संसार में मुझसे बढ़कर मंद और मलिन बुद्धिवाला कौन है ? ॥११॥

विशेष—और राजा प्राकृत हैं, श्रीरामजी अप्राकृत (दिव्य) हैं, यह गर्भित है एवं और सुजान हैं, तो श्रीरामजी सुजानशिरोमणि हैं। यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५४) तथा "राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०३); "सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७)। जैसे सुजानता में अधिकता कही गई, ऐसी ही अधिकता उपर्युक्त राजा के अन्य गुणों की अपेक्षा भी श्रीरामजी में है, यह गर्भित है। यहाँ राजा की तुलना के संबंध से श्रीरामजी को भी 'कोसलराऊ' कहा है।

(२) 'रीझत राम···' अर्थात् और राजा लोग उक्त गुणों के साथ स्नेह से रीझते हैं और श्रीरामजी केवल शुद्ध स्नेह से रीझते हैं, पर मैं अति मलिन हूँ, क्योंकि 'निसोत' स्नेह नहीं है। स्नेह जल रूप है, उससे हृदय का मल नहीं रह जाता। यथा—"राम-चरन-अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

दोहा—सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु॥
हौंहुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास॥२८॥

अर्थ—(मुझ) शठ सेवक की प्रीति और रुचि को कृपालु श्रीरामजी रक्खेंगे, जिन्होंने पत्थरों को नाव और भालू वानरों को सुन्दर मतिमान् मंत्री बनाया है॥ मैं भी कहलाता हूँ और सबलोग कहते हैं तथा श्रीरामजी इस उपहास को सहते हैं कि कहाँ तो श्रीसीतानाथ-ऐसे स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा उनका सेवक।॥२८॥

विशेष—(१) 'सठ सेवक की···।' जब प्राकृत राजा भी कृपालुता-गुण से सब का सम्मान करते हैं, तब मुझे विश्वास है कि मुझ शठ की भी प्रीति और रुचि श्रीरामजी अवश्य रक्खेंगे, क्योंकि वे कृपालु हैं, इसी को शठ कपि-भालुओं और जड़ पत्थरों की उपमा से पुष्ट करते हैं। जैसे—मुझे श्रीराम-कथा कहने की प्रीति एवं रुचि है, वह सुमति के बिना नहीं हो सकती। यथा—"सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति बल अति थोरि।" (दो० १४)। अतः, जिन्होंने भालू-वानरों को सुमति देकर मंत्री बनाया, वे मुझे भी सुमति देंगे।

पुनः—"करन चहउँ रघुपति-गुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥" (दो० ७) अर्थात् रघुपति की कथा अथाह सागर की तरह है। मैं शठ बुद्धि से कैसे पार पाऊँगा? अतः, दूसरा दृष्टान्त दिया कि जिन्होंने जड पत्थरों को जल पर उतराया और उन्हीं का पुल बनाकर शठ बन्दरों को पार लगाया, वे मुझ शठ-बुद्धि को भी पार लगावेंगे। जैसे पत्थर स्वयं डूबते और दूसरों को भी ले डूबते हैं, वैसे सगुणचरित ऐसे ऐसे गुरु (भारी) हैं, जिनको बुद्धि से ग्रहण करते ही सती एवं गरुड आदि भी संशयसिंधु मे डूब गये। श्रीराम के प्रताप से ही पत्थर पुलरूप में हो गये, वैसे उन्हीं की कृपा से चरितरूपी सेतु हो सकता है। यथा—'जौं नृप सेतु कराहिं' (दो० ११) में रूपक है। नटों के नचाने योग्य वानर-भालुओं को सुमति देकर मंत्री बनाया तो मैं तो नर-शरीर हूँ, क्यों न सुमति देंगे?

ऊपर जो प्राकृत राजाओं के पाँच गुण कहे थे, उनमें से 'सुजानता' की जगह श्रीरामजी को 'जानि-सिरोमनि' ऊपर कहा, यहाँ 'कृपालुता' भी प्रकट की, शेष आगे कहते हैं।

(२) 'हौंहुँ कहावत···'—यहाँ अपने उपर्युक्त विश्वास का प्रमाण प्रत्यक्ष रूप मे दे रहे हैं कि प्रभु मेरी प्रीति-रुचि अवश्य रक्खेंगे, क्योंकि—'सीतानाथ' शब्द से श्री रामजी का बडप्पन कहा गया है। यथा—"सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (अ० दो० २४३), "सीतापति से साहिबहि, कैसे दीजे पीठि।" (दोहावली ६८)। श्री सीताजी के विषय में कहा है—"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।" (उ० दो० २१), एवं—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२)। वे सीताजी भी जिनकी सेवा करती हैं, यथा—"राम पदारबिंद-रति करति सुभावहिं खोइ।" (उ० दो० २४)। ऐसे सीतापति का मैं सेवक बनता हूँ, पूछने पर कहता हूँ कि मैं रामदास हूँ'। इससे लोग भी मुझे 'राम-दास' कहते हैं। इसमे श्री रामजी का बडाभारी उपहास होता है कि जिनकी सेवा त्रिदेव करते हैं—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ ···बंदत चरन करत प्रभु-सेवा।" (दो० ५४)। फिर त्रिदेव भी शक्तियों सहित जिनके चरणों की वंदना करते हैं, वे अमितप्रभावा ब्रह्मस्वरूपिणी श्रीसीताजी भी जिनकी

सेवा करती हैं, उनका दास ऐसा तुच्छ शठ हो, इस अयोग्यता पर लोग मजाक उड़ाते हैं कि भगवान् को कोई अच्छा सेवक न जुड़ा, तब तो ऐसे शठ को सेवक बना रक्खा है ! इस उपहास को श्रीरामजी अपने शील-गुण से सहते हैं। सहने का प्रमाण यह है कि वे सर्वप्रेरक हैं, मेरा यह नाता न स्वीकार होता तो लोगों से न कहलाते अथवा मुझे ऐसा उद्वेग कर देते कि उनका वेष-बाना भी छोड़ बैठता। यहाँ 'सुशीलता' गुण प्रकट किया।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सिकोरी ॥१॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने ॥२॥

अर्थ— इतने बड़े स्वामी का सेवक बनना—(यह) मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है जिस पाप को सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता है ॥१॥ अपनी ढिठाई और दोष को समझकर मुझे अपने ही अपडर के कारण डर हो रहा है, (पर) श्रीरामजी ने स्वप्न में भी उसका स्मरण नहीं किया ॥२॥

विशेष—(१) अति बड़ि मोरि'''ढिठाई'—ढिठाई यह कि जिनकी सेवा त्रिदेव-वंदिता श्री सीताजी भी करती हैं, उनका सेवक बनना, फिर भी मैं इतना बड़ा निर्लज्ज हूँ कि जान-बूझकर इतना ऊँचा बनने का साहस करके सुशील स्वामी को उपहास सहने का कष्ट दे रहा हूँ। यथा—"धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं, परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः। विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यंतदूरं, तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ॥" ऐसा अभियुक्तों ने कहा है तथा—"बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजै द्वार ते लबार लालची प्रपंची सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरि हौं ॥" (वि० १५८) इत्यादि। ऐसे महापाप के प्रति नरक को भी घृणा लगती है, अतः वह भी नाक सिकोड़ता है।

(२) 'समुझि सहम मोहि''' 'अपडर' अर्थात् झूठा डर—जहाँ डर की बात न हो वहाँ डरना—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहिं न दोष देव दिसि भूले ॥" (अ० दो० २१६)। अपनी 'ढिठाई खोरी' रूप पाप को समझकर मुझे अपनी ओर से डर हुआ, यद्यपि पापी पाप से नहीं डरता; तथापि मेरा पाप इतना भारी है कि मैं स्वयं डर गया हूँ, पर श्री रामजी ने तो स्वप्न में भी इसका स्मरण नहीं किया। ईश्वर में स्वप्नावस्था नहीं होती, पर यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी खयाल नहीं किया—यह माधुर्य दृष्टि से कहा है, क्योंकि लीलामानव 'कोसलराऊ' के गुण कह रहे हैं।

प्रत्युत इस ढिठाई को प्रभु ने भक्ति मानकर ही ग्रहण किया। यथा—"ऐसेहुँ कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं ॥" (वि० १७१) तथा—"सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥" (अ० दो० २१७) अर्थात् श्री भरतजी ने जिसे ढिठाई कहा उसे ही श्री रामजी ने स्नेह एवं सेवकाई माना। अतः, सिद्ध है कि श्री रामजी ने इस ढिठाई की सुधि तक नहीं की। यह इससे भी जाना कि यदि वे सुधि करते तो मेरे हृदय में उद्वेग होता और रही-सही भक्ति-वृत्ति भी नहीं रहती।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥३॥
कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥४॥

शब्दार्थ—सुचित = सुन्दर चित्त। चख = (चक्षु) नेत्र। चाही = देखी, विचारी। यथा—'सीय चकित चित रामहि चाहा।' (दो० २४७)। सुचित चख चाही = हृदय से विचार कर।

अर्थ--दूसरों से सुनकर और स्वय सुन्दर चित्तरूपी नेत्र से देखकर मेरी भक्ति और बुद्धि की स्वामी ने सराहा ॥३॥ कहने मे चाहे बिगड़ जाय परन्तु हृदय की अच्छी हो, श्रीरामजी दास के हृदय की (अच्छाई) जानकर रीझते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि अवलोकि सुचित • '—इसके कुल भाव विनय के अन्तिम पद मे आ गये हैं। यथा—"मारति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकाल हू नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है। कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है। बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥ २७९)। इसमे लखन कही है' और 'सुधि मैं हूँ लही है'—यह श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजी से सुनना, 'देखत' मे 'अवलोकि' का भाव, 'बिहँसि राम कह्यो ' मे 'सुचित चख चाही' का भाव और 'सत्य है' मे उपर्युक्त सभा की सराहना स्वीकार करने मे 'सराही' का भाव है। प्रतीति प्रीति की सराहना 'मति' की सराहना है। चूक को भुला देते हैं और भक्ति को देखते, सुनते एव सराहते हैं, क्योंकि आप भक्तिप्रिय हैं। यद्यपि ईश्वर का ज्ञान निरावरण है, अत देखना, फिर सुचित से देखना नहीं बनता, तथापि यहाँ माधुर्य लेकर कथन है। अत, ठीक है।

इसका यों भी अर्थ होता है—सुनि (गुरु एव सतों से) सुनकर हृदय के नेत्रो से सुचित्त होकर अव लोकन किया, तब देख पड़ा कि मेरी मति के अनुसार जो भक्ति मुझमे है वह स्वामी की सराही हुई है। कौन भक्ति सराही हुई है ?—उत्तर—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रत मम ॥" (वाल्मी० यु०), इसके अनुसार—'हौंहुँ कहावत सब कहत • " इस उपर्युक्त दोहे मे वही भक्ति (शरणागति) सराही गई है।

'कहत नसाइ होइ • ' यथा—"कहत नसानी है है हिये नाथ नीकी है। जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है ॥" (वि० १९८) 'कहत नसाइ' अर्थात् मैं शठ होते हुए भी जो अपने को सेवक कहता हूँ, यह बात अयोग्य होने से नसानी'—नष्ट है पर जो हृदय मे प्रीति रुचि' है, यह नीकी' है। यथा—"सठ सेवक की प्रीति रुचि" (उपर्युक्त)। इसीसे श्रीरामजी रीझते हैं। यथा—'तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (दो० ३४१)। 'जानि जन जी की'—हृदय की निकाई (स्वच्छता) पर रामजी रीझते हैं चाहे कर्म और वचन ठीक न भी हों और वचन कर्म मात्र से नहीं रीझते—यह गर्भित है।

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की ॥५॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥६॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥७॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने ॥८॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, धोखा। किय की=की हुई। सय=सौ। सुरति=स्मरण। हेरी—देखी।

अर्थ—प्रभु के चित्त में अपने भक्त की की हुई चूक (याद) नहीं रहती। वे उसके हृदय की नीकी' को बारबार स्मरण करते रहते हैं ॥५॥ जिस पाप से वालि को (श्रीरामजी ने) व्याध की तरह (छिपकर) मारा था, फिर वही कुचाल सुग्रीवजी ने की ॥६॥ और वही करतूत विभीषणजी की थी, (परन्तु) श्रीरामजी

स्वप्न में भी उस दोष को हृदय में नहीं लाये ॥७॥ ये सब श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मानित किये गये और राजसभा में भी श्रीरघुवीर ने उनकी बड़ाई की ॥८॥

विशेष—'रहति न प्रभुचित ···' उपर्युक्त 'कहत नसाइ' का विवरण करते हैं—'चूक किये की'—चूक करना यह कर्म है। भाव यह कि कर्म एवं वचन—ये बहिरंग हैं। इनके बिगड़ने को प्रभु नहीं देखते हैं—यदि हृदय का भाव अच्छा हो। यथा—"बचन बेष से जो बनै सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४); "अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥" (गीता ९।३०) अर्थात् जन के मन में तो अनन्य भजन का निश्चय है, पर काल-कर्मादि की बरियाई (बली प्रभाव) से चूक (धोखे में अनुचित) हो जाती है, उसे प्रभु नहीं देखते, प्रत्युत हृदय की 'निकाई' का ही बार-बार स्मरण करते हैं। यथा—"अपने देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धरयो॥" (दोहावली ४७)।

(२) 'जेहि अघ बधेउ ···' इसमें 'जेहि अघ', 'सोइ कुचाली' और आगे 'सोइ करतूत' कहे गये। अतः, तीनों का एक ही अर्थ है। वालि ने छोटे भाई सुग्रीवजी की स्त्री को पत्नी बनाया। यथा—"हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी। (कि० दो० ५)। छोटे भाई की स्त्री कन्या के समान है। यथा—"अनुजबधू भगिनी सुत नारी सुनु सठ कन्या सम ये चारी॥" (कि० दो० ८)।

वालि के मरने पर सुग्रीवजी ने भी वालि की स्त्री तारा को अपनी स्त्री बनाया। बड़े भाई की स्त्री भी माता के समान है। यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही।" (अ० दो० ७१)। इसी तरह विभीषणजी ने भी मंदोदरी को अपनी स्त्री बनाया था। यह भी इनकी माता के तुल्य थी। कन्या और माता पर कुदृष्टि का पाप बराबर है। फिर भी श्रीरामजी ने इन दोनों के अवगुणों पर भूलकर भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे इनके पूर्व की हृदय की नीकी (अच्छाई) का बार-बार स्मरण करते थे। इनके हृदय की निकाई—यथा—सुग्रीव—"सुख-सम्पति-परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥" (कि० दो० ६) तथा—विभीषण—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सब बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु ···" (सु० दो० ४८)। इन दोनों को श्रीरामजी ने अपनी प्रसन्नता से राज्य दिया, फिर राज्य-मद-संसर्ग से 'कुचालि' एवं 'करतूत' दोनों की बिगड़ी, पर हृदय की निकाई नहीं गई थी। अतः, उपर्युक्त नियम से उसे नहीं देखा।

'ब्याध जिमि'—ब्याधा छिपकर पक्षियों को मारता है, वैसे रामजी ने वालि का वध किया। अपने जन के लिये गाली तक सुनी। यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० ११६)। जैसे सुग्रीव आदि के दोष न देखे, वैसे मेरी 'ढिठाई-खोरी' भी नहीं देखेंगे।

'ते भरतहिं भेटत ···' श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मान—"ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे।" से "भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे॥" (उ० दो० ७) तक तथा—"राम सराहे भरत उठि, मिले राम सम जानि।" (दोहावली १०८) में यह भी भाव है कि चौदह वर्ष पर श्रीरामजी श्रीभरतजी से मिले थे। संभव था, उस समय सुग्रीव आदि को भूल जाते, पर श्रीरामजी ने उस समय भी इनके सम्मान पर दृष्टि रक्खी। इस हार्दिक प्रीति से उपर्युक्त 'सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी' की पुष्टि है।

'राज-सभा रघुबीर ···' यथा—"तब रघुपति सब सखा बुलाये।" ··से—"मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५) तक। 'राज-सभा'—सभा के समक्ष में कही हुई बात अधिक प्रामाणिक होती है।

सम्बन्ध—सुग्रीव-विभीषण की बहिरंग चूक की क्षमा कहकर अब अन्य वानरों के (बहिरंग) अपराध कहते हैं। इन्होंने तो श्रीरामजी ही का अपराध किया है—

दोहा—प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान ।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान ॥
राम निकाईं रावरी, है सबही को नीक ।
जौं यह साँचो है सदा, तौ नीको तुलसीक ॥

शब्दार्थ—सील = हीन दीन-मलिन से घृणा न करके आदर करना । यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि । महतो छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) । तुलसीक = तुलसी को ।

अर्थ—स्वामी श्रीरामजी तो पेड के नीचे रहते हैं और बंदर डाल पर ! (कहाँ मर्यादापुरुषोत्तम चक्रवर्तिकुमार और कहाँ पशु-योनि बंदर, फिर भी बेअदब इतने कि सिर के ऊपर चढ़कर बैठे ।) उनको भी आपने अपने बराबर किया श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के समान शील-निधान स्वामी कहीं भी नहीं है ॥ हे श्रीरामजी ! आपकी भलाई सभी को अच्छी है । यदि यह सदा सच है तो तुलसीदास के लिये भी अच्छी ही होगी ॥

विशेष—(१) 'प्रभु तरु तर कपि डार पर...' वानर-भालू भी बेअदबी के कारण चूके हैं । श्रीरामजी ने इनके भी दोषों पर ध्यान नहीं दिया । केवल हृदय की निकाई ही देखते रहे कि जो इनलोगों ने प्रीतिपूर्वक रामकार्य करने में शरीर तक का छोह नहीं किया । यथा—"रामकाज लयलीन मन, बिसरा तनुकर छोह ।" (उ० दो० ११), *"ममहित लागि जनम इन्ह हारे ।"* (उ० दो० ७); "प्रेम-मगन नहिं गृह कै इच्छा ।" (लं० दो० ११७); इत्यादि ।

'ते किय आप समान'—(क) यथा—"आप सरिस कपि अनुज पठावउँ ।" (लं० दो० १०५) । यहाँ वचन से अपने तुल्य कहा है । (ख) सखा बनाया, फिर अपने तुल्य रूप भी दिया । यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।" "हनुमदादि सब बानर बीरा । धरे मनोहर मनुज-सरीरा ॥" (उ० दो० ७) । (ग) कीर्ति भी अपने समान दी—*"मोहिं सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसार-सिंधु* अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥" (लं० दो० १०६) । अत, श्रीरामजी के समान शील-निधान कोई स्वामी नहीं है । यहाँ तक दिखाया कि जैसे मेरी 'ढिठाई खोरी' पर स्वप्न में भी ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत साकेत में बखान किया, उसकी पुष्टि के लिये सुग्रीव-विभीषण और वानरों का दृष्टान्त दिया कि इनकी भी 'ढिठाई-खोरी' को स्वप्न में भी नहीं देखा और राजसभा में बखान (बडाई) किया है । अत, और भक्तों को भी उपदेश है कि श्रीरामजी हृदय की 'निकाई' से रीझते हैं ।

(२) 'राम निकाई रावरी ..' सेवक का अपराध नहीं देखना—यह 'निकाई' है । यथा—'जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥" (उ० दो० १), "जनगुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन ॥" (वि० २०६) । यही इस दोहे भर में दिखाते आये कि सभी का भला होता है—"रावरी भलाई सबही की भली भई ।" (वि० १५२) । इसी नियम एवं स्वभाव से तुलसी का भी भला हुआ एवं होगा । यथा—' लहइ न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज । सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीबनिवाज ॥" (दोहावली १०८); "मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई ॥' (वि० ७२) ।

येहि विधि निज गुन दोष कहि, सबहिं बहुरि सिर नाइ ।
बरनउँ रघुबर-बिसद जस, सुनि कलिकलुष नसाइ ॥२६॥

अर्थ—इस तरह अपने गुण-दोष कहकर और सबको सिर झुकाकर श्रीरघुनाथजी के निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जिसके सुनने से कलियुग के पाप नष्ट होते हैं।

विशेष—'निजगुन दोष'—यथा—"तुलसी राम कृपालु सों, कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरी दीनता, परम पीन सन्तोष ॥" (दोहावली ६६)। सन्तोष इस गुण-दोष कथन के लाभ का परिणाम है। 'गुन'—"है तुलसी के एक गुन, अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग ॥" (दोहावली ८५) अर्थात् मैं श्रीरामजी का हूँ और उन्हीं की कृपा का भरोसा है। यही गुण है, यही ऊपर—"सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु ।"—से "तौ नीको तुलसीक ॥" तक कहा गया। साथ-साथ—"को जग मंद मलिन मन मोते ।"—'सठ सेवक' 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी ।' पूर्व भी—'जो अपने अवगुन सब कहऊँ ।' (दो० ११) इत्यादि दोष भी कहे हैं। अपना गुण इसलिये कहा कि वह श्रीरामजी के प्रसन्न करने योग्य है। 'सुनि कलि-कलुष नसाइ'—यथा—"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥" (दो० ३४); "कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की ।" (दो० १०)। 'सबहिं बहुरि सिर नाइ ।' प्रथम सबकी वंदना कर चुकने पर नाम की बड़ाई की; फिर रूप को माथा नवाकर उसी की बड़ाई की—'करिहउँ नाइ राम-पद माथा ।' (दो० १७)। फिर यहाँ लीला की बड़ाई कहने के लिये सबको सिर नवाते हैं, ऐसे ही आगे धाम की बड़ाई कहने के लिये भी—"पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी ।" (दो० ३३) कहा है।

अपनी दीनता एवं श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण समाप्त

जागवलिक जो कथा सुहाई । भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई ॥१॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी । सुनहु सकल सज्जन सुख मानी ॥२॥

अर्थ—(यहाँ से मानस-परंपरा कहते हैं—) श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने जो शोभायमान कथा मुनि-श्रेष्ठ भरद्वाजजी को सुनाई है ॥१॥ वही संवाद मैं बखान कर कहता हूँ, हे सब सज्जनो ! सुख-पूर्वक सुनिये ॥२॥

विशेष—इस ग्रंथ में चार संवाद चार घाट-रूप में हैं, चारों के प्रथम बीज कहकर, पीछे संवाद कहते हैं।

(१) श्रीगोस्वामीजी और सज्जन-संवाद का बीज—"तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ राम-पद माथा ॥" (दो० १२); संवाद का प्रारंभ—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥" (दो० ३४)।

(२) याज्ञवल्क्य और भरद्वाज-संवाद का बीज—"जागवलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज ···"; प्रारंभ—"कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥" (दो० ४१)।

(३) शिव-पार्वती संवाद का बीज—"कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि विधि संकर कहा बखानी ॥" (दो० ३२), प्रारंभ—"कहउँ स्वमति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद।" (दो० ४७)।

(४) भुशुंडी-गरुड़ संवाद का बीज—"सुनु सुभ कथा भवानि:···कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँगनायक गरुड़ ॥" (दो० १२०)। प्रारंभ—उत्तरकांड दो० ६३ से किया गया है।

इन चारों घाटों के वर्णन आगे आवेंगे। ये चारो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के घाट हैं। ग्रंथकार यहाँ दक्षिण घाट से इस मानस-सर में प्रवेश करते हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥३॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगत अधिकारी चीन्हा ॥४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥५॥

अर्थ—श्रीशिवजी ने यह शोभायमान चरित रचा, फिर कृपा करके पार्वतीजी को सुनाया ॥३॥ वही चरित शिवजी ने कागभुशुंडीजी को श्रीराम-भक्त और अधिकारी, जानकर दिया ॥४॥ उन (काक-भुशुंडीजी) से याज्ञवल्क्यजी ने पाया और फिर उन्होंने इसे भरद्वाजजी से कहा ॥५॥

विशेष—'संभु कीन्ह यह ·····' ऊपर 'कथा सुहाई' कहा था, यहाँ 'चरित सुहावा' स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दो प्रकार से कहा, क्योंकि आगे १ दोहे में कथा-रूप में और फिर १ दोहे में चरितरूप में माहात्म्य कहेंगे, उसका बीज यहाँ परंपरा में भी जनाया।

जैसे शिवजी ने उमा को और याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाज को दिया—यह लिखा, वैसे काकभुशुंडीजी का गरुड़जी को देना नहीं लिखा, क्योंकि इनका संवाद उत्तरकांड में है। उमा को कृपा करके सुनाना कहा गया है, क्योंकि स्त्री होने से वे अनधिकारिणी थीं, यथा—"जदपि जोपिता अनअधिकारी। दासी मन-क्रम-बचन तुम्हारी ॥ गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥ अति आरत पूछउँ सुरराया।" (दो० १०१), अर्थात् दासी और आर्त्त होने से शिवजी ने इनपर कृपा करके सुनाया। यह भी सूचित किया कि ईश्वर के कृपापात्र भी अधिकारी ही हैं।

(२) 'सोइ सिव काग ·····' यहाँ भी राम-भक्त और अधिकारी पहचान कर देना कहा है, क्योंकि शाप होने के पीछे चरित की प्राप्ति हुई। भुशुंडीजी चांडाल पक्षी के रूप में अनधिकारी थे। यथा—"देखु गरुड़ निज हृदय विचारी। मैं रघुबीर-भजन अधिकारी ॥ सकुनाधम सब भाँति अपावन।" (उ० दो० १२२)। अत, लोमश के द्वारा परीक्षा लेकर सच्चा राम-भक्त जानकर दिया। भक्त चाहे किसी योनि में हो, उसे अधिकार है। यथा—"ताकहँ यह विसेष सुखदाई। जाहि प्रान-प्रिय श्रीरघुराई ॥" (उ० दो० १२७)।

शंका—भुशुंडीजी को तो लोमशजी से राम-चरित मिला है। उ० दो० ११०–११२ में इसकी विस्तृत कथा भी है। फिर यहाँ शिवजी ने दिया, यह क्यों कहा गया ?

समाधान—शिवजी ने भुशुंडीजी को आशीर्वाद दिया था — पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (उ० दो० १०९)। इस वरदान के अनुसार भक्ति के भाव इनमें आ गये, तब शिवजी के भी अंतर्यामी श्रीरामजी ने लोमश-रूप द्वारा परीक्षा ली, जब सच्चे निकले, तब

मुनि-द्वारा श्रीरामचरितमानस इन्हें मिला। उसी समय लोमशजी ने कह भी दिया—"संभु-प्रसाद तात मैं पावा ॥ तोहि निज भगत राम कर जानी। तातें मैं सब कहेउँ बखानी॥" (४० दो० ११२)।

श्री भुशुंडीजी को अनेक जन्मों की सुधि भी है। अतः, यह बात जानते हैं कि शिवजी ने भक्ति दी और उस भक्ति को देखकर ही लोमशजी ने 'मानस' दिया और भी कहा कि यह शिवजी का दिया हुआ है, जो मैं तुम्हें देता हूँ। अतः, शिवजी का देना सिद्ध है, क्योंकि दाता चाहे स्वयं दे अथवा दूसरे के द्वारा दे, दोनों रीतियाँ हैं। इसीसे यहाँ 'दीन्हा' लिखा है, सुनाना या कहना नहीं; क्योंकि सुनाने-कहने में श्रोता-वक्ता का समीप होना पाया जाता है। शिवजी का दिया हुआ जानकर उनमें गुरु-भाव सहित भुशुंडीजी का उनके साथ रहना भी पाया जाता है। गीतावली बा० पद १४ में 'संग सिसु शिष्य' कहा है।

श्री पार्वतीजी का किसी को देना या सुनाना नहीं कहा गया, अतः वे परंपरा में नहीं हैं। शिवजी से भुशुंडीजी और उनसे याज्ञवल्क्यजी को मिला, फिर याज्ञवल्क्य ने जब भरद्वाज को सुनाया तब साथ में बहुत ऋषियों ने भी सुना, जिनसे औरों को प्राप्त हुआ।

श्री भरद्वाजजी पूर्ण अधिकारी हैं, अतः इनमें अधिकार-हेतु नहीं कहा गया।

ते श्रोता बकता समसीला। सवदरसी जानहिं हरिलीला ॥६॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल-गत आमलक-समाना ॥७॥
औरउ जे हरि-भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना ॥८॥

अर्थ—वे सुनने और कहनेवाले समान चरित्र वाले हैं, सर्वज्ञ हैं और हरिलीला को जानते हैं ॥६॥ अपने ज्ञान से तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्त्तमान) का हाल हथेली में प्राप्त आँवले के समान जानते हैं ॥७॥ और भी जो सुजान हरिभक्त हैं, वे अनेक प्रकार से कहते, सुनते और समझते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'ते श्रोता बकता···' यहाँ समशीलता ग्रंथकार ने अक्षरों से भी दिखा दी है, क्योंकि पूर्व शिव आदि वक्ताओं के ही नाम प्रथम आये हैं, वैसे ही याज्ञवल्क्य के पीछे भरद्वाज भी कहे गये हैं, पर यहाँ श्रोता पद ही प्रथम दिया है। अतः, दो बार में हेर-फेर से तुल्यता दिखाई है। सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीला भी जानते हैं, अथवा दोबार 'जानहिं' के प्रयोग से अनुभवात्मक लीला का भी जानना है।

(२) 'जानहिं तीनि काल···' उपर्युक्त 'सबदरसी' से संदेह था कि वर्त्तमान काल ही जानते होंगे, इसलिये यहाँ 'तीनि काल' भी कहा गया। 'निज ग्याना' अर्थात् अपने ज्ञान-बल से जाना। जैसे व्यासजी के वर से संजय की दिव्य-दृष्टि महाभारत में कही गई है, वैसा ज्ञान नहीं। 'आमलक समाना'—हथेली पर आँवला रखने से वह पूर्णरूप से दिखाई देता है। उसी तरह तीनों काल की बातें उनके लिये प्रत्यक्ष-सी थीं। अयोध्याकांड में—"गुरु बिबेक-सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व करबदर समाना॥" (दो० १८१) कहा है। आँवला पथ्य और बदरी फल कुपथ्य है। यथा—"धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।" प्रसिद्ध है। दो जगह दो प्रकार से कहने का भाव यह है कि तीनों कालों पर दृष्टि रखना पथ्य और संसार पर दृष्टि रखना कुपथ्य है एवं निष्काम कर्मकांडी संसार को पथ्य और ज्ञानी कुपथ्य समझते हैं।

(३) 'औरउ जे हरि···' अर्थात् भरद्वाज से और-और हरिभक्तों ने सुना, क्योंकि यहाँ तो प्रति संवत् सत्संग होता ही रहता है। क्रमशः यह श्री गोस्वामीजी के गुरु महाराज तक आया। यह आशय भी गर्भित है। प्रथम मुख्य-मुख्य वक्ता-श्रोताओं के नाम देते आये। अब बहुत हो गये। अतः, नाम नहीं देते।

'कहहि सुनहिं'·· भक्त लोग श्रोता से कहते, वक्ता से सुनते और श्रोता-वक्ता के अभाव में समझते हैं। नाना विधि की शंकाएँ प्रकट करके समझौता करते हैं, यद्यपि सुजान हैं, फिर भी 'मानस' शिवजी का बनाया हुआ है। अतः, गंभीर है, इसीसे नाना विधियों से समझना पड़ता है। यहाँ तक श्रोता-वक्ता को समशील एवं सुजान कहते आये। आगे गुरु के समक्ष मे स्वयं श्रोता होंगे, तब अपनेको न्यून कहेंगे, क्योंकि गुरु से न्यूनता ही चाहिये।

दोहा—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
श्रोता-बकता ज्ञान-निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥३०॥

शब्दार्थ—सूकरखेत=वाराह क्षेत्र जो सरयू घाघरा के संगम-स्थल पर श्री अवध से बारह कोस पश्चिम है। तसि=यथार्थ या जैसा उपर्युक्त श्रोताओं ने समझा।

अर्थ—फिर मैंने उस कथा को वाराहक्षेत्र में अपने गुरुजी से सुना। उस समय मैं बालकपन के कारण अत्यंत अचेत था। इसीसे वह वैसी (भली भाँति) समझ मे नहीं आई, (जैसी औरों ने समझी थी)॥ श्री रामजी की कथा गूढ़ है, इसके श्रोता और वक्ता ज्ञान-पूर्ण होने चाहिये, मैं कलिमल का ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख, जड़ जीव कैसे समझ सकूँ ?॥३०॥

विशेष—(१) भरद्वाजजी तक उत्तम, हरिभक्त सुजान आदि मध्यम और यहाँ निकृष्ट श्रोता कहते हैं। तब मैं 'अति अचेत' था, भाव अचेत तो अब भी हूँ, जिसे आगे 'कलिमल-ग्रसित' आदि से व्यक्त किया है। अपने गुरु का किसी से मानस पढ़ना नहीं कहा, क्योंकि वे शिष्य के भगवान् हैं। यथा—"तुम ते अधिक गुरुहिं जिय जानी॥" (अ० दो० ११८)। अतः, किसी का शिष्य होना प्रत्यक्ष में नहीं कहा, आशय से उपर्युक्त 'औरउ जे'··'में जनाया है।

(२) 'कथा राम कै गूढ़' अर्थात् गंभीर आशय वाली कथा। यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरिबिमुख न धर्मरति॥" (आ० दो० १)।

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥१॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥२॥
जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥३॥

अर्थ—तो भी श्रीगुरुमहाराज ने बारंबार कथा कही, तब बुद्धि के अनुसार कुछ समझ पड़ी॥१॥ उसी को मैं भाषा (निबंध=काव्य) मे रचूँगा, जिससे मेरे मन को पूरा बोध होता रहे (या हो)॥२॥ मुझमें बुद्धि-विवेक का जैसा कुछ बल है, वैसा ही मैं हृदय में (स्थित) हरि की प्रेरणा से कहूँगा॥३॥

विशेष—(१) 'तदपि कही···' ग्रंथकार का कहना है कि श्रीगुरुजी ने मेरे न समझने पर भी मुझे जड़ जानकर त्याग नहीं किया, प्रत्युत बारंबार समझाया। अतः, गुरुजी को ज्ञाननिधि एवं परम दयालु जनाया। ऐसे गुरु हों, तो कैसा भी शिष्य रहे, बोध करा ही देते हैं। ग्रंथकार की बुद्धि थोड़ी थी; अतः, कुछ समझ पड़ा तो जगत्-भर का उपकार हुआ, मति भारी होती और यथार्थ समझते तो क्या होता? 'बारहि बारा' से १२+१२=२४ बार भी ध्वनितार्थ लिया जाता है अर्थात् गुरुजी ने मुझे २४ बार समझाया तो कुछ समझ पड़ा; क्योंकि गायत्री के २४ अक्षरों का विवरण ही रामायण है।

(२) 'भाषाबद्ध करबि···' 'सोई' अर्थात् जो गुरुजी से संस्कृत में पढ़ा था, उसे ही भाषा में बनाऊँगा।

शंका—गुरुजी के पढ़ाने से प्रबोध नहीं हुआ तो क्या स्वयं रचने से होगा?

समाधान—आगे भूल जाने का भय नहीं रहेगा। गूढ़ विषय है, लिखा रहने से बार-बार देखने से हृदयस्थ रहेगा। उसीसे प्रकर्ष बोध रहेगा, यहाँ का प्रकर्ष बोध तत्त्वत्रय-सम्बंधी है आगे—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' से स्पष्ट होगा। उसे बारंबार मनन करने की आज्ञा शास्त्र में है। यथा—"आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्।" (ब्र० सू० ४।१।१२) तथा—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।" (गीता ८।७); पुनः यथार्थ समझना भी तभी कहा जाता है, जब दूसरों को समझा सके। तभी अपने हृदय को सांत्वना (तसल्ली) होती है, प्रबोध का अर्थ तसल्ली भी होता है।

यहाँ 'मन प्रबोध' ग्रंथ के उपक्रम मे 'स्वांतः सुखाय' और अंत में 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा गया है—यही ग्रंथकार का प्रयोजन है। अंत. का अर्थ मन है। जब तत्त्वत्रय का बोध होता है, तभी मन में सुख एवं शांति आती है।

(३) जस कछु बुधि···' ग्रंथकार 'कछु' कह रहे हैं, यह कार्पण्य है, क्योंकि इन्हें बुद्धि-विवेक का पूर्ण बल प्राप्त है। यथा—"जनकसुता·· जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १०) तथा—"संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (दो० १५) अर्थात् श्रीजानकीजी से और शिवजी से बुद्धि-बल प्राप्त है। तथा—"गुरु-पदरज मृदु मंजुल अंजन।···तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भव-मोचन॥" (दो० १) अर्थात् गुरु प्रसाद से विवेक बल प्राप्त है। फिर भी हरि-प्रेरणा का बड़ा बल है। यथा—"तस *कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥"तथा—"उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन।" (उ० दो० ११२) । हरि-प्रेरणा से सरस्वतीजी* वश हो जाती हैं, यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतर्यामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि-उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४)

निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी। करउँ कथा भवसरिता-तरनी॥४॥

अर्थ—अपने संदेह, मोह और भ्रम को हरनेवाली और संसार रूपी नदी के लिये नाव-रूपी कथा रचता हूँ। (यहाँ से २५ स्त्रीलिंग और २८ पुँल्लिंग विशेषणों के द्वारा कथा-माहात्म्य कहते हैं)।

विशेष—यहाँ 'संदेह, मोह और भ्रम'—तीनों एक साथ कहे गये हैं, अन्यत्र ये पर्यायी भी माने जाते हैं। पर यहाँ तीनों तीन लक्ष्यों पर कहे गये हैं। अतः, ठीक है।

'संदेह'—अर्थात् संशय, किसी वस्तु के ज्ञान में द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजी को परब्रह्म मानकर श्रीशिवजी ने प्रणाम किया और पार्वतीजी की चरित की दृष्टि से रामजी मनुष्य जान पड़े। अतः, संदेह हो

गया कि शिवजी ईश हैं, इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो ? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दीखते हैं। यथा—"सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी॥" (दो० ५१)। फिर वहीं पर कहा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" शिवजी ने भी कहा—"संसय अस न धरिय उर काऊ।" और समझाया भी कि श्रीरामजी परब्रह्म हैं। न मानने पर भी शिवजी ने कहा—"जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥" इसपर सतीजी ने ईश्वरता की ही परीक्षा ली। फिर दूसरे शरीर से कैलाश-प्रकरण सुनकर ईश्वर-रूप का निश्चय होने पर कहा—"तुम कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-सरूप जानि मोहिं परेऊ॥" (दो० ११९)। रामायण-उपसंहार पर भी गिरिजा का वचन है—"नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम-चरन उपजेहु नव नेहा॥" (उ० दो १२८)। अतः, संदेह का अर्थ ईश्वर के स्वरूप ज्ञान में द्विधा है।

'मोह' का अर्थ अपने (जीव) स्वरूप में अज्ञान होना है, जिससे अपने को देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसो इन्द्रियों के भोक्ता होने में दशमुख-रूप होना है। यथा—"मोह-दसमौलि···" (वि० ५८)।

'भ्रम' का अर्थ अचित् (माया) तत्त्व में अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्म के शरीर-रूप जगत् में नानात्व सत्ता का भ्रम होना है—"रज्जौयथाऽहेर्भ्रमः" पर यह लिखा गया, आगे—"जासु सत्यता ते जड़ माया।···भ्रम न सकइ कोउ टारि॥" (दो० ११७) पर भी कहा जायगा।

अतः, यहाँ संदेह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और माया के विषय में कहे गये हैं। इन्हीं तीनों (तत्त्वत्रय) का ज्ञान 'प्रकर्षबोध' कहा जाता है और इसी से 'भव' का भी नाश होता है। यह कथा का मुख्य गुण प्रथम कहकर तब और सामान्य गुण कहेंगे।

भव को अन्यत्र 'भवसागर' रूप कहा जाता है, यहाँ 'सरिता' ही कहा, क्योंकि कथा के समक्ष यह साधारण नदी-सा रह जाता है और कथारूपी नाव से शीघ्र ही उसका पार मिल जाता है।

बुध - बिश्राम सकल-जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि॥ ५॥
रामकथा कलि-पन्नग - भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी॥ ६॥

शब्दार्थ—पन्नग = साँप। भरनी = मयूरनी; यथा—'भरणी मयूरपत्नी स्यात्' (मेदिनीकोश)। अरनी = अरणि, काठ का बना एक यंत्र, जिससे यज्ञ में आग प्रकट की जाती है।

अर्थ—राम-कथा पंडितों के लिये विश्रामरूपा, सब प्राणियों को आनंद देनेवाली और कलि के पापों का नाश करनेवाली है॥ ५॥ रामकथा कलि-रूपी साँप के लिये मोरनी के समान है और विवेकरूपी अग्नि के (उत्पन्न करने के) लिये अरणी है॥६॥

विशेष—(१) 'बुध-बिश्राम···' जो पंडित वेद-शास्त्र पुराणादि पढ़ते हुए थक जाते हैं, पर यथार्थ तत्त्व-ज्ञान नहीं प्राप्त होता, वे इस ग्रंथ में तत्त्वार्थ का निश्चय कर विश्राम पावेंगे, क्योंकि इसमें—"श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०६) कहा है तथा इसमें पुराण श्रुति का सार श्रीराम-नाम का यश कहा गया है। यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (दो० ९)। उसमें निष्ठा प्राप्त कर 'बुध लोग' और सबको छोड़कर विश्राम ले लेते हैं। यथा—"विश्रामस्थानमेकं कविवर-वचसां,······भूतये राम-नाम॥" (हनुमन्नाटक)। प्रायः जहाँ बुद्धिमानों का विश्राम होता है, वहाँ 'सकल जन रंजन' नहीं होता, पर इस कथा में दोनों का हित है।

'कलि-कलुष···' इसमें 'वि-भंजनि' अर्थात् कथा कलि के पापों को विशेष रीति से नष्ट करती है, जिससे वह फिर पनप नहीं सके। अन्यान्य सुकृतों से पाप नष्ट होते हैं, फिर बढ़ते भी हैं। यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज सम बाढ़त जाहीं॥" (वि० १२८)। यहाँ कलि का कार्य-रूप कलुष नाश कहा, आगे चौ० में कलि (कारण-रूप) का भी नाश कहते हैं।

यहाँ तक कथा से तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण कहा गया। 'बुध-विश्राम' से मुक्त कोटि का, 'संदेह-मोह-भ्रम हरनी', एवं 'भव सरिता-तरनी' से मुमुक्षु का और 'सकल जन रंजनि' से विषयी का हित निश्चित हुआ। यथा—"सुनहि विमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

(२) 'रामकथा कलि-पन्नग······' मोरनी सर्प को पाते ही निगल जाती है, वैसे ही यह कथा कलि को निर्मूल करती है। अरणी देखने में काष्ठमय है, पर उसमें अग्नि भरा है, क्योंकि रगड़ने से अग्नि ही प्रकट होता है। वैसे ही यह कथा भी देखने में सर्वथा उपासना-रूपा है, पर इसके अभ्यंतर ज्ञान भरा है। अभ्यास रूपी रगड़ से प्रकट होता है। कलि और उसके पाप के रहते हुए विवेक नहीं होता। अतः, इनके नाश के पीछे विवेक का होना कहा।

राम-कथा कलिकामद गाई। सुजन - सजीवन - मूरि सुहाई॥७॥
सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि। भयभंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि॥८॥

अर्थ—श्री राम-कथा कलियुग में कामधेनु-रूपा है और सज्जनों के लिये सुंदर संजीवनी जड़ी है॥ ७॥ पृथिवी पर वही (रामकथा) अमृत की नदी है, भय का नाश करनेवाली और भ्रम-रूपी मेंढक के लिये सर्पिणी है॥ ८॥

विशेष—(१) 'राम-कथा कलि···' कलि में और धर्म लुप्तप्राय हो गये। उसमें भी यह कथा कामधेनु के समान चार फल देती है, फिर और युगों में तो इसका महत्त्व अप्रमेय है। कलि में उद्धार करनेवाली यही एक है। यथा—"कलिजुग केवल हरिगुन-गाहा। गावत नर पावहि भवथाहा॥" (उ० दो १०२)।

कामधेनु सर्वत्र पूज्य है, इसी तरह कथा की भी पूजा करनी चाहिये।

'सुजन सजीवनि मूरि···'—यह कथा सज्जनों की जीवन-रूपा है, अत्यन्त प्रिय है। अतः, वे इसे अहर्निश सँजोये रहते हैं। यथा—"जिवनमूरि जिमि जोगवत रहेऊँ।" (अ० दो० ५८)। इसी से अविनाशी-पद पाते हैं, यही अमरत्व है।

सकामों के लिये 'कामधेनु' और निष्कामों के लिये 'सजीवन मूरि' कहा है।

(२) 'सोइ बसुधातल···'—पृथ्वी तल पर अमृत की बूँद भी अप्राप्य है, पर कथा अमृत की नदी रूपा है, क्योंकि इससे सबके जन्म-मरण छूट सकते हैं।

'भ्रम-भेक भुअंगिनि'—सर्पिणी नदी के समीप के मेंढकों को खाती है। वैसे ही कथा-प्रसंग के सम्बन्ध से जो-जो भ्रम होंगे, उनका इसी से समझौता हो जायगा। ऊपर 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' में माया-सम्बन्धी भ्रम का हरण कहा गया, यहाँ और-और कथा-सम्बन्धी भ्रमों का नाश कहा गया। अथवा वहाँ 'निज भ्रम' का नाश और यहाँ औरों के भ्रमों का नाश अर्थ है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

असुर-सेन-सम नरक - निकंदिनि । साधु-बिबुध-कुल - हित गिरिनंदिनि ॥ ९ ॥
संत - समाज - पयोधि - रमा-सी । बिस्व - भार - भर अचल छमा सी ॥१०॥

अर्थ—जैसे श्रीपार्वतीजी ने दुर्गा-रूप से देवताओं के समाज के हित के लिये असुरों की सेना का नाश किया, वैसे यह कथा साधु-समाज के लिये नरक-समूह को निर्मूल करती है ॥९॥ संत-समाज रूपी क्षीरसागर के लिये राम-कथा लक्ष्मीजी के समान है और संसार का भार धारण करने को अचल पृथ्वी के तुल्य है ॥१०॥

विशेष—(१) 'असुर-सेन-सम''' पार्वतीजी ने असुर-सेना का संहार किया। यथा—"दुसह-दुरितवन्नभसि जगदम्बिके !'''चंड भुज दंड-खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भग करि अंग तोरे। शुंभनि शुंभ कुंभीशरणकेसरिणि, क्रोधवारिधि बैरि वृन्द बोरे ॥" (वि० १५)। इसी प्रकार यह कथा भक्तों के लिये नरकसमूह का नाश करती है। पार्वतीजी गिरिनंदिनी हैं। वैसे कथा भी 'पुरारि-गिरि संभूता' है। उमा से देवताओं के साथ औरों का भी हित हुआ। वैसे कथा से साधुओं के साथ औरों का भी हित होता है। जैसे असुरों की सेना बहुत है, वैसे नरक भी शास्त्रों में २८ प्रकार के कहे गये हैं। उन एक एक का विस्तार बहुत है। असुरों से प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है, वैसे नरकों से भी। असुरों का रूप भयंकर और घृणित है, वैसे नरकों का भी। 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर भी किया जाता है, पर उसमें लिंग-दोष एवं अप्रसिद्धि दोष भी है, क्योंकि वह पुँल्लिंग है और यहाँ कथा की सब उपमाएँ स्त्रीलिंग ही हैं और इसका 'गयासुर' अर्थ कोषों की छानबीन से ही मिलता है। जहाँ साधारण अर्थ में असंगति होती हो, वहाँ ही इतनी दौड़ लगाने की रीति है। ग्रंथकार की 'सरल कवित कीरति-बिमल' (दो० १४) की प्रतिज्ञा भी है।

(२) 'संत-समाज-पयोधि-रमा-सी।'—क्षीरसागर श्वेत वर्ण है, वैसे संत समाज शुद्ध सत्त्वगुणी है। क्षीरसिंधु से लक्ष्मी प्रकट हुईं, लक्ष्मीजी के संबंध से भगवान् भी वहीं रहते हैं। वैसे कथा भी संत-समाज से प्रकट हुई और यहीं रहती है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१) और कथा के संबंध से भगवान् भी संतों के हृदय में रहते हैं। लक्ष्मीजी क्षीरसिंधु की सर्वस्व-रूपा हैं, वैसे ही कथा भी—'सन्तन को सर्वस' कही गई है।

'बिस्व-भार-भर'' '—यद्यपि पृथ्वी अचला-सी है, तथापि प्रलय आदि कारणों से चलायमान होती है, पर कथा सप्तर्षि एवं शिव आदि के हृदय में निवास होने से सदा अचल रहती है, यह अधिकता है। पृथ्वी की तरह कथा भी संसार के धर्मों की आधारभूता है। यहाँ पार्वती और 'रमा' की उपमा तो दी, पर सरस्वती की न दी, क्योंकि कथा तो वाणी-रूपा है ही। यह बात "कहत सुनत एक हर अबिबेका।" (दोहा० ११) एवं—"जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥" (दो० १०) में कही गई है।

जम-गन-मुँह-मसि जग जमुना सी। जीवन-मुकुति-हेतु जनु कासी ॥११॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी। तुलसिदास-हित-हिय-हुलसी-सी ॥१२॥

अर्थ—यह कथा यमदूतों के मुख में स्याही लगाने को जगत् में यमुनाजी के तुल्य है, जीवों को मुक्ति देने के लिये मानों काशीपुरी ही है ॥११॥ श्रीरामजी को यह कथा पवित्र तुलसी के समान प्रिय है, मुझ तुलसीदास के लिये हृदय के आनन्द (उल्लास) के समान है ॥१२॥

विशेष—(१) 'जम-गन-मुँह-मसि'''—पद्मपुराण में कथा है कि कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया को यमराज ने अपनी बहिन यमुनाजी के यहाँ भोजन किया और वर दिया कि इस दिन जो तुममें स्नान करेगा, उसे यमदूत नरक को नहीं ले जायँगे। पर श्रीगोस्वामीजी यह महत्त्व यमुना में नित्य मानते हैं। यथा—"जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।''' ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों जमगन मुख मलीन भये आढ़न।" (वि० २१)। यमदूतों के मुख में स्याही लगना यह है कि जब पापी को लेने दूत आते हैं, वहाँ उसके या उसके पास के किसी के मुख से एक-आध चौपाई रामायण की कही जाय तो तुरन्त श्रीराम-पार्षद आकर पापी को यमदूतों से छीन लेते हैं। दूत लज्जित होकर लौट जाते हैं। यही मुँह में कालिख (स्याही) लगना है। यमपुर से निवृत्त होने पर मुक्ति चाहिये। अतः, उत्तरार्द्ध में कथा को काशीरूपा कहते हैं। 'जीवनमुकुति हेतु''' उपर्युक्त मुख्य अर्थ के अनुसार काशी मुक्ति की खान है, वैसे कथा भी मुक्ति देती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जीवन्मुक्ति की कारणरूपा कथा काशी के समान है जो जीते ही मुक्तप्राय कर देती है।

(२) 'रामहिं प्रिय पावनि''' तुलसी पवित्र है एवं प्रभु में अनन्या है। अतः, श्रीरामजी को प्रिय है, वे अर्चारूप में बराबर धारण करते हैं। तुलसी की माला भी सदा धारण करते हैं। वनमाला में तुलसी मुख्य है। यों भी—"उरन्हि तुलसिका माल।" (दो० २४३)); तथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।" (आ० दो० ५) कहा ही है। वैसी ही रामकथा भी पवित्र है, श्रीराम ही का यश-कथन है। अतः, उनमें अनन्या भी है; यथा—"आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। नह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते॥" (वा० उ० ९८।१८) और इसी से प्रिय है। 'हुलसी सी'—कथा आनन्दरूपा एवं उल्लासरूपा है, यथा—"सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये॥" (दो० ३२३) अर्थात् मेरे हृदय के श्रीरामविषयक उल्लास का उद्दीपन करनेवाली है। कोई-कोई 'हुलसी' श्रीगोस्वामीजी की माता का नाम कहते हैं और अर्थ करते हैं कि हिय को हित करनेवाली माता के तुल्य है, पर उनकी माता का यही नाम था—इसमें सन्देह है।

सिव-प्रिय मेकल सैल-सुता-सी। सकल - सिद्धि-सुख-संपति-रासी॥१३॥
सद्‌गुन सुरगन अंब अदिति-सी। रघुबर-भगति-प्रेम परिमिति-सी॥१४॥

शब्दार्थ—मेकल सैल-सुता = नर्मदाजी। अदिति = देवताओं की माता। परिमिति = सीमा।

अर्थ—यह कथा शिवजी को नर्मदाजी के समान प्रिय है, सब सिद्धियों, सुखों और संपत्तियों की राशि है॥१३॥ सद्‌गुण रूपी देवताओं को (उत्पन्न करने में) माता अदिति के समान है तथा श्रीरघुनाथजी की भक्ति और प्रेम की सीमा है॥१४॥

विशेष—(१) 'सिवप्रिय''' शिवजी को नर्मदा नदी बहुत प्रिय है, इसी से वे नर्मदेश्वर रूप से उसमें निमग्न रहते हैं। वे अनेक रूप धारण कर नर्मदा में क्रीड़ा करते रहते हैं। नर्मदा ही की तरह शिवजी को यह कथा प्रिय है, तभी तो निर्माण करके अपने 'मानस' में ही इसे बहुत समय तक रक्खा था। पुनः इसे पूर्ण अधिकारियों को ही दिया। वे इसके अक्षर-अक्षर में निमग्न रहते हैं, यही अनेकरूपत्व है। कोई-कोई 'मेकल-सैल-सुता' का द्वन्द्व समास करके 'मेकल-सुता' (नर्मदा) और 'शैल-सुता' पार्वती—दोनों के समान प्रिय कहते हैं।

(२) 'सद-गुन सुरगन ···'– जैसे अदिति से देवताओं की उत्पत्ति हुई वैसे कथा से सद्गुणों की उत्पत्ति होती है, तथा जैसे वे देवता अमर एवं दिव्य होते हैं, वैसे कथा से प्राप्त सद्गुण भी दिव्य एवं चिरस्थायी होते हैं। जैसे अदिति ने अपने पुत्रों (इन्द्रादिकों) की रक्षा एवं उनके सुख-विधान के लिये तप करके भगवान् को वामन-रूप से प्रकट कराया था, इसी तरह कथा भी भक्तों के सद्गुणों की रक्षा के लिये उनके हृदय में भगवान् का आविर्भाव कराती है। इससे कलिमल से रक्षा होती है और सद्गुण चिरस्थायी रहते हैं।

'रघुबर-भगति'···'—सद्गुणों के पीछे भक्ति कथारसिकों में प्रेम का उत्कृष्ट रूप उत्पन्न करती है, जिससे भगवान् हृदय में बसते हैं। यही सद्गुण आदि साधनों का फल है। यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥" (उ० दो० ४८)। 'परिमिति' का भाव यह है कि भक्ति और प्रेम का प्रतिपादक ऐसा ग्रंथ दूसरा नहीं है।

दोहा—रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर बिहारु॥३१॥

अर्थ—श्री रामकथा मंदाकिनी नदी है, सुंदर एवं पवित्र चित्त चित्रकूट है। श्री तुलसीदासजी कहते हैं, सुन्दर स्नेह वन है, जहाँ श्री सीतारामजी का विहार होता है।

विशेष—मन्दाकिनी-यह नदी त्रिपथगा गंगाजी की एक धारा है जो अनसूया स्थान के पास पर्वत से निकली है और यमुना में मिली है। अनसूया स्थान चित्रकूट से पाँच कोस दक्षिण है। इसे श्री अनसूयाजी अपने वृद्ध पति अत्रि के स्नानार्थ अपने तपोबल से लाई हैं। इसकी कथा अ० दो० १३१ में है। 'सुभग सनेह' को वन कहा है, क्योंकि वन की तरह स्नेह में भी लोग भूल जाते हैं, वन में मार्ग भूलते हैं और स्नेह में मार्ग एवं देह भी भूल जाते हैं। यथा—"सराहि सनेह बिबस मग भूला।" (अ० दो० २३७)। मंदाकिनी का महत्त्व चित्रकूट के साहचर्य में विशेष है। यथा—"नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि-साउज नाना॥ ···चित्रकूट जनु अचल अहेरी।" (अ० दो० १३२); वैसे 'चारु-चित्त' के चिंतन से कथा का महत्त्व विशेष है। मंदाकिनी में सब ऋतुओं में प्रवाह रहता है, वैसे कथा में सर्वत्र प्रेम-प्रवाह के गुण परिपूर्ण हैं। चित्रकूट और मंदाकिनी की शोभा वन से है, तभी श्री रामजी का मन रमा। यथा—"रमेउ राम मन देवन जाना॥" (अ० दो० १३२); वैसे सुभग स्नेह से कथा एवं चित्त की शोभा होती है और तभी 'सिय-रघुबीर बिहार' होता है अर्थात् क्रीड़ा-सहित श्री सीतारामजी चित्त में बसते हैं। फिर खल कामादि भी निकट नहीं आते, जैसे श्री रामजी के डर से राक्षस समीप नहीं आते थे।

चित्रकूट-विहार श्री सीताराम-लक्ष्मण को इतना प्रिय है कि वे गुप्त रूप से सब दिन बसते हैं। यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत॥" (दोहावली ४); वैसे 'चारु-चित्त' से कथा के सुभग स्नेही के हृदय में वे सदा विहार करते हैं।

'रघुबीर' अर्थात् वीर हैं तभी स्त्री के साथ वन में विहार करते हैं। रघुबीर से श्री राम-लक्ष्मण दोनों का अर्थ लेना भी संगत है, क्योंकि विहार-गर्भित रूपक में तीनों हैं—"राम-लखन-सीता सहित, सोहत परन-निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥" (अ० दो० १४१)।

राम - चरित-चिंतामनि चारू । संत - सुमति-तिय-सुभग-सिंगारू ॥१॥
जगमंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥२॥

अर्थ—श्रीरामचरित सुन्दर चिन्तामणि है, संतों की सुमतिरूपिणी स्त्री का सुंदर शृंगार है ॥१॥ श्रीरामजी के गुणसमूह जगत् का मंगल करनेवाले हैं और मुक्ति, धन, धर्म तथा धाम के दाता हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'रामचरित चिंतामनि चारू ।'—चिंतामनि मनमाँगे पदार्थों को देकर चित्त की चिंता मिटा देती है । यथा—"तुलसी चित चिन्ता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ।" (वि० २२५); वैसे श्रीरामचरित भी तृप्त कर चिंता मिटाता है । चिंतामणि के गुण भक्ति-रूपक में कहे गये हैं, यथा—"राम-भगति चिंतामनि सुंदर ।"...से—"दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥" (उ० दो० ११६) तक । इन सब गुणों को यहाँ भी जानना चाहिये । चिंतामणि में प्रधान चार गुण हैं—तम का नाश करना, दरिद्रता का हरण करना, रोग को दूर करना और विघ्नों को हटाना, वैसे इस कथा से अविद्या तम का नाश, मोह रूपी दरिद्रता का हरण, मानस रोगों का शमन और कामादि विघ्न निवारण होते हैं । चिंतामणि मणियों में श्रेष्ठ है ; यथा—"चिंतामनि पुनि उपल दसानन ।" (लं० दो० २५) । वैसे चरित सब धर्मों में श्रेष्ठ है । 'सुभग'—स्त्रियाँ मणि को सिर पर रखती हैं, वैसे संत इस कथा से सुमति की सर्वोपरि शोभा मानते हैं । 'चारू'—क्योंकि यह चरित भक्ति-मुक्ति भी दे सकता है ।

(२) 'जगमंगल गुनग्राम...' यहाँ चारो फलों का देना सूचित किया, जैसे मुक्ति और धर्म स्पष्ट हैं और धन अर्थ का ही पर्याय है, तथा धाम अर्थात् गृह से गृहिणी समेत का तात्पर्य है, क्योंकि गृहिणी ही गृह है; यथा—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥ वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम् । प्रासादोऽपि तया हीनं कान्तार इति निश्चितम् ।" (महाभारत) । अतः, काम भी आ गया ।

सदगुरु ग्यान बिराग जोग के । बिबुधबैद भव-भीम रोग के ॥३॥
जननि जनक सियराम-प्रेम के । बीज सकल ब्रत-धरम-नेम के ॥४॥

शब्दार्थ—बिबुधबैद=अश्विनी कुमार, ये सूर्य के पुत्र हैं । इन्होंने एक कुंड में बूटी आदि ओषधियाँ डालकर बूढ़े च्यवन ऋषि को स्नान कराया जिससे वे किशोर अवस्था के युवा हो गये । ये स्वर्ग के वैद्य हैं ।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण-समूह ज्ञान, वैराग्य और योग के सद्गुरु हैं और जन्म-मरण रूपी भयंकर रोग के लिये देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार हैं ॥३॥ श्रीसीतारामजी के प्रेम के (उत्पन्न करनेवाले) माता-पिता हैं तथा सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियमों के बीज हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सदगुरु ग्यान...' यथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ ॥" (कि० दो० १६) । वैसे श्रीरामचरित ज्ञानादि सम्बंधी संशय-भ्रम के नाशक हैं और उसका यथार्थ बोध करानेवाले हैं । छोटे रोगों को छोटे वैद्य भी अच्छा कर सकते हैं, पर भव (संसार) भीम (भयंकर) रोग है, अतः, 'बिबुध-बैद' कहा ।

(२) 'जननि जनक...' माता-पिता की तरह प्रेम को उत्पन्न करके फिर पालते (थिर रखते) भी हैं । बीज से वृक्ष होते हैं, वैसे चरित से व्रत आदि स्फुरित होते और बढ़ते हैं ।

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥५॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ-उदधि-अपार के ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण पाप, संताप और शोक के नाशक हैं, इस लोक और परलोक के प्रिय पालक हैं ॥५॥ विचार रूपी राजा के मंत्री और अच्छे योद्धा हैं। लोभ-रूपी अपार समुद्र सोखने के लिये अगस्त्यजी हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रिय पालक'—श्रीरामजी के गुण प्रेमपूर्वक इस लोक में सुख देकर अंत में सुगति भी देते हैं। 'पाप' कारण और 'संताप-शोक' कार्य हैं, कार्य-कारण दोनों का नाश करते हैं।

(२) 'सचिव सुभट ···' राजा के सात अंग हैं, यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।" अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, कोश, देश, (भूमि) दुर्ग (किला) और सेना। इनमें मंत्री और सुभट (सेना) मुख्य हैं। मंत्री सलाह देता है, सेना रक्षा करती है। इससे राज्य स्थिर रहता है। इस प्रकार चरित में विचार मुख्य राजा है। चरित-द्वारा सद्विचारों के लक्ष्य प्राप्त होंगे और कामादि से रक्षा उदाहरणों द्वारा होगी। राजा के ये दो अंग सदा साथ रहने चाहिये। यथा—"संग सचिव सुचि भूरि भट,···" (दो० २१७)। मंत्री को चतुर और योद्धाओं को लड़ाका होना चाहिये, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना।···अमित सुभट सब समर जुझारा॥" (दो० १५१)। रामचरित में दोनों योग्यताएँ पूरी हैं।

'कुंभज लोभ···'। कुंभज=(कुंभ—ज=घड़े से पैदा) अगस्त्यजी। इन्होंने 'रामाय, रामचन्द्राय, रामभद्राय' कहकर तीन चुल्लुओं में समुद्र को पी लिया। इसी से ये 'समुद्रचुलुक' एवं 'पीताब्धि' भी कहाते हैं। लोभ लाभ के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है। यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १०१)। इसलिये उसे अपार समुद्र के समान कहा। श्रीरामचरित से संतोष प्रकट होता है, उसी से लोभ सूखता है। यथा—"जिमि लोभहि सोखइ संतोषा।" (कि० दो० १५)। जैसे, समुद्र सोखने के पीछे अभी दीखता भर है, पर पीने के काम का नहीं रहा, वैसे संतोष की पूर्णता पर अनायास विभव आता भी है, पर अनासक्ति से जन्म-मरण का साधक नहीं रहता। यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापःप्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥" (गीता २।७०)।

काम कोह कलिमल करि-गन के। केहरि-सावक जन मन बन के ॥७॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के ॥८॥

अर्थ—(श्रीराम के गुण) भक्तजनों के मनरूपी वन में बसनेवाले कलि के विकार रूप काम, क्रोध आदि हाथियों के झुंड के (नाश करने के) लिये सिंह के बच्चे के समान हैं ॥७॥ त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी को अतिथि के समान पूज्य और अति प्रिय हैं। दरिद्रतारूपी दावानल के (बुझाने के) लिये कामनापूर्ण करनेवाले मेघ के समान हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'काम कोह कलि······'—ऊपर लोभ और यहाँ कामक्रोध भी कहकर तीनों कहे, क्योंकि ये तीनों नरक के द्वार हैं। यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथालोभः" (गीता १६।२१)। ये तीनों पापरूप हैं। अतः, 'कलिमल' कहा। जिस वन में सिंह रहता है, वहाँ हाथी नहीं जाते और जाते तो मारे जाते हैं, वैसे जिस जन के मन में श्रीरामचरित रहता है, वहाँ कामादि जाते ही नहीं, यदि जायँ तो नष्ट होते हैं।

(२) 'अतिथि पूज्य प्रियतम''' सभी अतिथि पूज्य हैं, यथा—"तस्मादेव सदापूज्यः सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥' (हितो०)। इनमें जो श्रेष्ठ हैं वे प्रियतम पूज्य हैं अर्थात् जीवन-सर्वस्व हैं, वैसे श्रीरामचरित शिवजी का 'सर्वस्व है। शिवजी कामारि हैं अत', निष्काम प्रेम करते हैं। इसी से यहाँ उनके लिये फल देना नहीं कहा गया। सकामों के लिये उत्तरार्द्ध में देना कहा कि सुकृत मेघ होकर सुखरूपी जल की वर्षा करके दारिद्र्य रूपी अग्नि बुझाते हैं।

मंत्र-महामनि विषय व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥९॥

हरन मोहतम दिनकर-कर से। सेवक-सालि-पाल जलधर से ॥१०॥

अर्थ—(श्रीरामजीके गुण) विषयरूपी सर्प (का विष हरण) के लिये मंत्र और महामणि हैं, ललाट पर लिखे हुए कठिन बुरे अंकों को मेट देनेवाले हैं ॥९॥ मोहरूपी अंधकार के हरने को सूर्य-किरण के समान हैं और सेवकरूपी धान के पालनेवाले मेघ के तुल्य हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'मंत्र-महामनि ''' मंत्र के सुनने और मणि के धारण करने से विष उतरता है, इसी प्रकार रामजी के गुण सुने और हृदय में धारण करे तो ये हृदय की विषय-वासना हर लेते हैं, इसीलिये दो उपमाएँ दी गईं। यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल ''" (अ० दो० १८३)। 'महा' पद को दीपदेहली रूप मानने से महामंत्र और महामणि अर्थ होगा, इससे मंत्र और मणि में समानता होगी।

मेटत कठिन''' विषय-सेवन के फल-स्वरूप भाल के कुअंक हैं; अत. विषय-नाश के पीछे कुअंक का मिटना कहते हैं कुअंक की कठिनता—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥" (दो० ६८)। ये कुअंक पूर्वकृत बुरे कर्मों के फल-रूप हैं; अतः, अभाग्य भी कहे जाते हैं। यथा—"भाग है अभागहू को ''"(वि० ६९) तथा—"वाम विधि भाल हू न कर्मदाग दागि है।" (वि० ७०); यह नाम द्वारा कहा है, वैसे रामजी के चरितों से भी जानना चाहिये।

(२) 'हरन मोहतम ' यों तो मोह का नाश होना बहुत कठिन है। यथा—"माधव ! मोह फाँस क्यों टूटै ?" (वि० ११५); पर चरित रविकिरण-रूप से बिना श्रम ही उसका नाश करते हैं। यथा—"उगेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (दो० २३८)। पुनः सूर्य-किरणों से वर्षा भी होती है। यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टिः''''(मनुस्मृति); अत', साथ ही चरित को जलधर-रूप भी कहते हैं कि सेवक के समान धान को पालते हैं। धान के समान सेवक भी 'रामचरित' से ही जीते हैं।

अभिमतदानि देव तरु-बर-से। सेवत सुलभ सुखद हरि-हर से ॥११॥

सुकवि-सरद-नभ मन उड़गन से। राम-भगत जन जीवन - धन से ॥१२॥

अर्थ—ये चरित वांछित फल देने में श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान हैं, सेवा करने से हरि-हर के समान सुलभ और सुखद हैं ॥११॥ सुकविरूपी शरद ऋतु के मन-रूपी आकाश (को शोभित करने) के लिये तारों के समान हैं और राम-भक्तों के तो जीवन सर्वस्व ही हैं ॥१२॥

विशेष—(१)'अभिमतदानि''' यहाँ चरितों को श्रेष्ठ कल्पतरु कहा है, क्योंकि ये हित ही करते हैं, चाहने पर भी अनहित नहीं करते। प्राकृत कल्पवृक्ष क्षीरसागर से प्रकट हुआ है, इसकी छाया में भली या

बुरी जैसी कामना हो, उसी क्षण प्राप्त होती है। यथा—"देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सन्मुख विमुख न काहुहिं काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥" (अ० दो० २६७)। ऊपर सेवक को 'सालि' स्थावर (जड़) और चरित को 'जलधर'-जंगम (चेतन) कहा है और यहाँ चरित को वृक्ष-(स्थावर) तथा सेवक को जंगम सूचित किया अर्थात् चरित सेवक के पास जाकर (अपना आशय अल्प प्रयास से जनाकर) सुख देते हैं और इसके अपने पास आने पर भी तत्त्वार्थ ज्ञान से सुख देते हैं।

'सेवत सुलभ सुखद···' चरित-द्वारा हरि की सुलभता—"सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सुं० दो० ४३)। हर की सुलभता -"सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे।" (वि० ८)—दोनों सुखद भी हैं। शिवजी भुक्ति और श्रीराम नाम के द्वारा मुक्ति भी देते हैं। हरि (श्रीरामजी) के सुख-प्रदान के सहस्रों उदाहरण हैं। इसी तरह चरितों का सेवन (पढ़ना) भाषा में होने से बहुत ही सुलभ है और इनसे श्रुति-सिद्धान्त की प्राप्ति से सुख भी बहुत मिलता है। सुख देने में 'हरिहर' ही की उपमा दी, क्योंकि इनकी सेवा में विघ्न नहीं होता और अत्यधिक सुख भी मिलता है।

(२) 'सुकवि सरद नभ···' जिन कवियों का मन शरद् ऋतु के आकाश की तरह निर्मल है, यथा-"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५); उन्हींके मन में रामचरित उदित होकर शोभा बढ़ाते हैं। अतः, रामचरित का अनन्त और अनादि होना सूचित किया। सुकवि के हृदय में उदित होते हैं, उनके बनाये नहीं हैं। यथा—"हर-हिय रामचरित मन आये।" (दो० १११)। यहाँ 'सुकवि' भगवान् के यश गानेवालों को कहा है।

सकल-सुकृत-फल भूरि भोग-से। जगहित निरुपधि साधु लोग से॥१३॥
सेवक-मन-मानस-मराल-से। पावन गंग-तरंग माल-से॥१४॥

अर्थ—(ये चरित) सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप भोगों के समान हैं, जगत् का एकरस हित करने में संतों के समान हैं॥१३॥ सेवक के मन रूपी मानस-सरोवर के लिये हंस के तुल्य हैं तथा पवित्रता में गंगाजी के तरंग-समूह के समान हैं॥१४॥

विशेष—(१) 'सकल-सुकृत-फल···' सकल सुकृतों का फल होने से भोग भी 'भूरि' (बहुत) कहे गये। तात्पर्य यह कि श्रीरामचरित में सब सुकृतों का फल है, यथा—"धर्ममार्गं चरित्रेण···" (श्रीरामतापनी०)।

ऊपर सेवकों एवं जनों का हित करना कहा था। यहाँ जगत-भर का हितकारित्व भी कहा। निरुपधि=(निः+उपाधि), निरवधि=एकरस।

(२) 'सेवक-मन-मानस···' गंगाजी के समान श्रीरामजी और तरंगों के समूह के समान उनके चरित हैं। जैसे तरंग अनंत हैं, वैसे चरित भी। गंगा से तरंगें उठती हैं, वैसे श्रीरामजी से चरित-समूह प्रकट होते हैं। तरंग और गंगा अभेद हैं, वैसे श्रीरामजी और चरित भी अभेद हैं, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दमव्ययम्॥" (वसिष्ठसंहिता)।

दोहा—कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम-गुन-ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥
रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन-कुमुद चकोर-चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥३२॥

अर्थ—कुमार्ग, कुत्सित तर्क, बुरी चाल, कलह, कपट, दंभ और पाखंड रूपी ईंधन को जलाने के लिये श्रीरामजी के गुण-समूह प्रज्वलित अग्नि के तुल्य हैं॥ श्रीराम के चरित पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों के समान सब किसी को समान रूप से सुख देनेवाले हैं, (परन्तु) सज्जन-रूपी कुईं और चकोर के चित्त के विशेष हितकारी एवं बड़े लाभदायक हैं॥३२॥

विशेष—(१) 'कुपथ कुतरक···' 'कुपथ'—यथा—"चलत कुपंथ वेद-मग छाड़े।" (दो० ११); कुतर्क=व्यर्थ या बेढंगी दलीलें करना। कुचालि=खोटे कर्म करना। कलि=कलह=झगड़ा करना। कपट=भीतर से अपने स्वार्थ-साधन के भाव को छिपाये रखना और ऊपर से प्रिय बर्ताव—यह हृदय से होता है, यथा—"लखी न भूप कपट चतुराई।" (अ० दो० २६)। दंभ=औरों को दिखाने के लिये उत्तम वेष एवं आचरण करना, जिससे आदर हो यथा "नाना वेष बनाइ दिवस निसि परवित जेहि तेहि जुगति हरौं॥" (वि० १४१)। पाखंड=दुष्ट तर्कों और युक्तियों से वेद-विरुद्ध मत की स्थापना करना, यथा—"जिमि पाखंडवाद ते, गुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥" (कि० दो० १५) अर्थात् कपट, दंभ और पाखंड का क्रमशः मन, कर्म और वचन से सम्बन्ध है।

(२) 'रामचरित राकेस कर···' यहाँ 'सरिस' पद दीप-देहली है; अतः, सब किसी को समान सुखद है, पर सज्जन को विशेष है। चन्द्रमा से जगत् का हित होता है। यथा—"जग-हित हेतु बिमल बिधु पूषन।" (दो० १६)। सज्जन दो प्रकार के हैं—एक कुमुद की तरह स्थावर अर्थात् प्रवृत्ति मार्गवाले और दूसरे चकोर की तरह जंगम अर्थात् निवृत्ति मार्गवाले। प्रवृत्तिवाले चित्त लगाये हुए प्रफुल्लित रहते हैं, तथा चरित-सम्बन्ध में ही शोभा और इसी सम्बन्ध के सुयश-रूप सुगंधवाले होते हैं। विषय-वारि संबंध में भी उससे निर्लिप्त चित्त रहते हैं। निवृत्तिवाले चकोर की भाँति चित्त लगाये हुए श्रीरामचरित का पान चन्द्रिका (अमृत) के समान करते हैं, शरीर-मन-सहित निमग्न रहते हैं। यथा—"राम-कथा ससि-किरन समाना। सत चकोर करहिं जेहि पाना॥" (दो० ४६)। प्रवृत्तिवाले विशेषकर नवधा भक्तिवाले हैं और निवृत्तिवाले विशेषकर प्रेमा और पराभक्तिवाले हैं। इससे प्रवृत्तिवाले अपना बड़ा हित और निवृत्तिवाले बड़ा लाभ मानते हैं।

श्रीराम-कथा-माहात्म्य तथा रामचरित-माहात्म्य—दोनों को चित्त ही के प्रसंग पर समाप्त किया—'चित्रकूट चित ··' और 'कुमुद चकोर चित' क्योंकि कथा चित्त ही तक है।

यहाँ तक दो दोहों के बीच भक्त जनों के मन, बुद्धि और चित्त का लगना और कथा से तीनों का हित होना दिखाया गया है। यथा—'सेवक मन मानस मराल से।' 'संत सुमति तिय ··' 'सज्जन कुमुद चकोर चित।' दार्शनिक दृष्टि से मति, मन और चित्त भिन्न-भिन्न हैं। प्रमाण—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥' (आ० दो० १४)।

कथा-माहात्म्य और चरित-माहात्म्य में छ-छ, चार साधुओं का ही हित होना, साधु के पर्यायी पदों द्वारा, कहा गया है, क्योंकि चरित के विशेष अधिकारी वे ही हैं।

श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य-प्रसंग समाप्त

कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी । जेहि बिधि संकर कहा बखानी ॥१॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई । कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार श्री पार्वतीजी ने प्रश्न किया और जिस रीति से शिवजी ने विस्तार से कहा ॥१॥ उन सब कारणों को मैं कथा की विचित्र रचना करके गाकर (प्रेम एवं विस्तारपूर्वक) कहूँगा ॥२॥

विशेष—(१) 'कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति'— यह प्रसंग दो० १०७ से १११ पर्यन्त है। पुन उ० दो० ५२ से ५४ तक है। 'जेहि विधि संकर···'—यह दो० १११ से प्रारंभ है।

(२) 'सो सब हेतु कहब मैं···' अर्थात् उमा के प्रश्न करने के हेतु शिवकृत मानस में नहीं हैं, वे 'याज्ञवल्क्य-भरद्वाज' के संवाद में हैं, इसीलिये मैं उन कारणों को विस्तार से कहूँगा और उसी में संवाद का हेतु भी कहूँगा। अतः, 'सब हेतु' कहा अथवा 'सब' अर्थात् विस्तार से कहूँगा, संक्षेप में नहीं।

'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई।'—प्रबंध का अर्थ एक दूसरे से संबद्ध वाक्यों की रचना है। इसमें विचित्रता यह है कि प्रथम मानस सरोवर का रूपक स्वयं रचेंगे। वह बड़ा ही विचित्र है, जिसमें चार घाटों, चार प्रकार के श्रोता-वक्ताओं के सम्बन्ध और उनके द्वारा काण्डत्रय एवं प्रपत्ति (शरणागति) की सँभाल रखते हुए, मुख्य उपासना रूपा ही कथा चलेगी। तब आगे हेतु कहेंगे।

जेहि यह कथा सुनी नहि होई । जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥३॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी । नहिं आचरज करहिं अस जानी ॥४॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं । असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं ॥५॥

अर्थ— जिन्होंने यह कथा अन्यत्र न सुनी हो, वे इसे सुनकर आश्चर्य न करें ॥३॥ जो ज्ञानी अपूर्व कथा को सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते।४॥ संसार में राम-कथा की सीमा नहीं है—ऐसा विश्वास उनके मन में रहता है ॥५॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज करइ ···' क्योंकि यह कथा पूर्वोक्त रामायणों से विलक्षण है।

(२) 'कथा अलौकिक····' अब आश्चर्य न करने के कारण बतलाते हैं—पहला—ज्ञानी का प्रमाण देते हैं और कहते हैं कि उन्हीं के मन में यथार्थ प्रतीति होती है कि राम-कथा की 'मिति' नहीं है। इस कथा में भी अलौकिकता है, जिसके लिये आश्चर्य नहीं करना कहते हैं, जैसे—सती-मोह प्रसंग, भानु-प्रताप और मनु शतरूपा-प्रसंग, फिर कश्यप-अदिति और नारद शाप आदि चार कल्पों की लीलाएँ एक साथ सिद्ध हों, यह आश्चर्य ही सा है, क्योंकि प्रत्येक कल्प के परिकर भिन्न-भिन्न होते हैं और कालभेद होना भी स्वाभाविक है, पर इसमें सब एक परात्पर की लीला में अंतर्भूत हैं।

नाना भाँति राम-अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा ॥६॥
कलप-भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये ॥७॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के अवतार अनेक प्रकार से हुए हैं। रामायणें सौ करोड़ एवं अपार हैं ॥६॥ कल्पभेद के कारण भगवान् के सुन्दर चरित मुनीशों ने अनेक प्रकार से गाये हैं ॥७॥ ऐसा मन में जानकर संदेह नहीं करना चाहिये और कथा को आदर-पूर्वक प्रेम से सुनना चाहिये ॥८॥

विशेष—(१) अब आश्चर्य-निवारण का दूसरा कारण कहते हैं कि अनेक प्रकारों एवं कारणों से श्रीरामजी के अवतार हुए हैं। अतः, कुछ-न-कुछ भेद पड़ना स्वाभाविक है। इसी से अमित प्रकार होने के कारण हैं, जिससे ज्ञानियों की प्रतीति ऊपर कही गई।

'सतकोटि'—"रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥" (उ० दो० ५१) एवं—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।" भी कहा है। अर्थात् रामायणें सौ करोड़ (अनन्त) हैं—इसी से अपार कहा है।

'कलप-भेद'—कल्प ब्रह्मा के एक दिन को कहते हैं, इसमें १४ मन्वन्तर होते हैं। इस एक दिन में एक-एक सहस्र बार चारों युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) बीत जाते हैं, फिर उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। यथा—"सहस्रयुग पर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)

(२) 'करिय न संसय ...' 'संशय' यह है कि अमुक-अमुक ग्रंथ में तो और प्रकार हैं, गोस्वामीजी ने ऐसा कैसे लिखा? अथवा इन्हीं ने अमुक जगह ऐसा लिखा, पर इस जगह ऐसा क्यों? 'अस' उपर्युक्त कल्पभेद एवं अपारता आदि। 'सादर' अर्थात् मन-मति-चित्त लगाकर भाव-सहित, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४); "भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान॥" (उ० दो० १२८)।

दोहा—राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा-बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं, जिनके बिमल बिचार ॥३३॥

अर्थ—श्रीरामजी अनंत हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं, और उनकी कथा का विस्तार भी अमित है; अतः, जिनके विचार निर्मल हैं, वे सुनकर आश्चर्य नहीं करेंगे।

विशेष—श्रीरामजी अनंत हैं। अतः, इनके विषय में आश्चर्य न करें कि अमुक ग्रंथ के एवं अमुक ऋषि के प्रतिपाद्य राम में और श्रीगोस्वामीजी के राम में अमुक अंतर क्यों है? गुण भी अनन्त हैं, यथा—"विष्णु कोटिसत पालनकर्त्ता।......" (उ० दो० ९१) आदि। कथा का विस्तार भी अमित है, 'पूर्व—'रामकथा के मिति जग नाहीं।' से कथा के अनेकप्रकारत्व पर किये गये संदेह का का निवारण किया था। अब उसके विस्तार का भी संदेह निवृत्त करते हैं कि अमुक कथा अमुक ग्रंथ में इतनी ही है, यहाँ इतनी अधिक कहाँ से लाये, इत्यादि। यहाँ आश्चर्य-निवारण का तीसरा हेतु समझाया। ऊपर ज्ञानियों और यहाँ विमल विचारवालों को प्रतीति होना दिखाया। यथा—"सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके बिमल बिबेक॥" (दो० ९) अर्थात् अज्ञानियों और अविवेकियों को तो आश्चर्य होगा ही।

येहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु-पद-पंकज-धूरी ॥१॥
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥२॥

अर्थ—इस प्रकार सब संदेहों को दूर कर और श्रीगुरु-पद-कमल की धूल शिर पर धारण करके ॥१॥ फिर से हाथ जोड़कर सबसे विनती करता हूँ जिससे कथा (निर्माण) करने में दोष न लगे ॥२॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि सब संसय···' उपर्युक्त तीनों प्रकारों के समाधानों को यहाँ इकट्ठे कहते हैं। 'सिर धरि गुरु...' पूर्व ग्रंथकार ने गुरु-पद-रज के अंजन से नेत्र (विवेक विलोचन) निर्मल किये थे। यथा—"तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भवमोचन ॥" (दो० १)। अब यहाँ शिर पर धारण करना लिखा, इससे सब विभव वश होते हैं, यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २)। फिर आगे इसके सेवन से मन निर्मल करेंगे। यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि। बरनउँ रघुबर बिसद जस..." (अ० मं०) अर्थात् ग्रंथ में तीन बार रज-सेवन तीन प्रयोजनों से लिखा है। यहाँ चरित-विभव के लिये है।

(२) 'पुनि सबही बिनवउँ···' प्रथम एक बार इस विषय पर सबसे विनती कर चुके हैं। यथा—"समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥" (दो० ११) अर्थात् इस कथा को सुनकर कोई जिससे दोष न दे और यहाँ इसलिये फिर विनती की, जिससे इस कथा में दोष लगे ही नहीं। रचने में मेरी असावधानी से दोष न आ पड़े; अतः, वहाँ कार्य के लिये और यहाँ कारण-निवृत्ति के लिये विनती है। वंदना की यह अंतिम आवृत्ति है।

सादर सिवहिं नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम-गुन-गाथा ॥३॥
संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा ॥४॥
नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥५॥

अर्थ—अब आदरपूर्वक शिवजी को शिर झुका (प्रणाम) कर श्रीरामजी के गुणों की निर्मल कथा कहता हूँ ॥३॥ भगवान् के चरणों पर शिर रखकर संवत् १६३१ में कथा प्रारम्भ करता हूँ ॥४॥ नवमी तिथि, भौम अर्थात् मंगलवार और मधुमास अर्थात् चैत्र के महीने में, अयोध्याजी में, यह चरित प्रकाशित (प्रारंभ) हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सादर सिवहिं...।' शिवजी इस ग्रंथ के आचार्य हैं। अतः, प्रारंभ-काल में फिर वंदना की। यह इनकी तीसरी बार वंदना है।

(२) 'संवत सोरह सै···' यहाँ से ग्रंथकार इस ग्रंथ का जन्म, संवत्, महीना, दिन, तिथि, पक्ष, आदि तथा जन्मभूमि, नामकरण और नाम का अर्थ एवं फल कहते हैं—

इस संवत् में प्रारंभ करने का कारण यह कहा जाता है कि इसमें श्रीरामजन्म के प्रायः सब योग, लग्न आदि एकत्र थे। अतः, चरितों और उनके नायक के जन्म में समता हुई।

१६३१ संवत् पर यह भी भाव कहा जाता है कि श्रीरामजी १६ कलाओं से पूर्ण अवतार थे। अतः, चरित भी १६ कलाओं से पूर्ण कहे गये हैं। यथा—"बालचरित मय चंद्रमा, यह सोरहकला निधान।"

(गीतावली ११)। श्रीरामजी ने ३१ बाण छोड़कर रावण को मारा है। यथा—'छाड़े सर यकतीस' (लं० दो० १०२)। इसीलिये १६ में ३१ लगाने से जो संवत् बना, उसी में चरित का प्रारंभ किया कि इससे भी मोहरूपी रावण का संहार हो। यथा—"मोह दसमौलि...।" (वि० ५८)।

(३) 'नौमी भौमवार...' नवमी तिथि यद्यपि रिक्ता कही जाती है, तथापि जो ईश्वर ने जन्म के लिये उस तिथि को ग्रहण किया तो यह परम श्रेष्ठ है। फिर भी रिक्तादोष भी कोई कोई दिन के दस ही बजे तक मानते हैं और श्रीरामजी का और कथा का जन्म १२ बजे दिन में हुआ तथा मंगलवार भी परमभक्त श्रीहनुमान्जी का जन्मदिन है और श्रीहनुमान्जी की आज्ञा से श्रीअवध में रामायणजी का प्रारंभ भी कहा जाता है। इसीलिये उसी दिन प्रारंभ किया। श्रीरामजन्म भी इसी दिन ग्रंथकार ने लक्षित किया है जो जन्म-प्रसंग में कहा जायगा। ज्योतिष ग्रन्थों में भी कहा गया है—'शनिभौमगता रिक्ता सर्वसाम्राज्यदायिनी'। वा 'रथार्थ्यं समाप्यं शनिभौमवारे'। 'प्रकासा'- अर्थात् श्रीरामजी की तरह उनके चरित भी नित्य हैं, जैसे वे प्रकट होकर चन्द्रवत् प्रकाशित हुए। यथा—"प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।" (दो० १५), वैसे चरित भी पूर्ण चन्द्र रूप से प्रकाशित हुए। यथा—"रामचरित राकेस कर, सरिस...।" (दो० ३२)। चरित भी सनातन हैं, ऋषियों के द्वारा प्रकट होते हैं।

जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥६॥

अर्थ—जिस दिन श्रीरामजी का जन्म होता है, वेद कहते हैं कि उस दिन (पृथिवी भर के) सब तीर्थ वहाँ (श्रीअयोध्याजी में) चले आते हैं।

विशेष—(१) 'जेहि दिन राम-जनम...' श्रीरामजन्म किस दिन हुआ, इसमें मतभेद है। कोई रवि, कोई सोम और कोई बुधवार को कहते हैं। ग्रंथकार ने किसी एक दिन का नाम नहीं लिखा, परन्तु गीतावली बा० २ पद से (ध्वनि से) मंगल पाया जाता है। यथा—"चैत चारु नौमी सिता मध्य गगनगत भानु। नखत जोग ग्रह बार भले दिन मंगल-मोद-निधान॥" इसमें दिन के साथ मंगल पढ़ने से आ जाता है। ग्रंथकार सब मतों की रक्षा करते हुए अपना मत रखते हैं। वही मंगलवार यहाँ मानस के जन्म में स्पष्ट कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी की यह रीति है कि जो बात दो जगहों में कहनी होती है, उसे कुछ एक जगह और कुछ दूसरी जगह कह देते हैं। दोनों को मिला देने से दोनों जगहों की पूर्त्ति होती है। अतः, श्रीराम जन्म-प्रसंग का—'काल लोक बिश्रामा' (दोपहर), 'शुक्ल पक्ष' और 'अभिजित मुहूर्त्त' ये दो० १९० से लेकर यहाँ लगाना चाहिये और यहाँ का 'अवधपुरी' और 'भौमवार' वहाँ दो० १९० पर ले जाना चाहिये; तभी दोनों स्थलों की पूर्त्ति होगी।

इसपर यह शंका होगी कि जब योग आ गया, तब श्रीरामजी का ही अवतार क्यों न हुआ? इसका समाधान यह है कि रूप की जगह लीला का ही अवतार हुआ। तत्त्वतः रूप और लीला तुल्य हैं। यथा—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंदमव्ययम्॥" (वसिष्ठसंहिता)।

कहा जाता है, इस सं० १६३१ के भौमवार को नवमी स्मार्त्तों की थी; क्योंकि उदयगामिनी तिथि न थी। वैष्णवों के व्रत की नवमी दूसरे दिन बुध को थी। ग्रंथकार के इस दिन नवमी लिखने पर कुछ लोग उनको स्मार्त्त कहते हैं, पर यह भूल है। श्रीगोस्वामीजी उस दिन अपना व्रत करना नहीं लिख रहे हैं। वे तो मध्याह्नकालव्यापिनी नवमी को ग्रंथारंभ करना लिख रहे हैं। यदि बुध को लिखना प्रारंभ करते तो मध्याह्न

में सब योग एवं नवमी न मिलती। आज दिन भी वैष्णव एकादशी का व्रत जब दूसरे दिन करना होता है तब भी तिथि को एकादशी ही लिखते हैं। श्रीगोस्वामीजी अनन्य वैष्णव हैं। इसके लिये इन्होंने शपथ करके बहुत जगह कहा है। अन्य देवताओं की वन्दना-प्रार्थना इन्होंने श्रीराम-भक्ति के लिये ही की है। मंगलाचरण में इसपर कुछ लिखा जा चुका है। 'तीरथ···चलि आवहिं' सब तीर्थों के अधिष्ठातृ देवता कामरूप से चलकर उस दिन अयोध्याजी में आते हैं। यथा—"बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥ काम-रूप सुन्दर तनु धारी। सहित समाज सहित बर नारी॥ गये सकल तुहिनाचल-गेहा।···" (दो० ९३)। भारत में रीति है कि जो ग्राम आदि प्रथम बसाये जाते हैं, उनके अधिष्ठातृ देवता भी स्थापित किये जाते हैं। तीर्थराज प्रयाग अन्य तीर्थों में नहीं जाते, पर वे भी उस दिन श्रीअवध में आते हैं। अयोध्या-माहात्म्य से सिद्ध है। इसीलिये यहाँ 'सकल' लिखा है। सब तीर्थ पाँव-पाँव चलकर आते हैं, इससे श्रीरामनवमी और अयोध्या का माहात्म्य सबसे बढ़कर दिखाया।

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक-सेवा॥७॥
जनम-महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम-कल-कीरति गाना॥८॥

अर्थ—असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर श्रीरघुनाथजी की सेवा करते हैं॥७॥ सुजान लोग जन्म के महान् उत्सव की रचना करते हैं और श्रीरामजी की सुन्दर कीर्त्ति का गान करते हैं।

विशेष—'असुर नाग खग' से श्रीरामोपासक असुर प्रह्लाद-विभीषण आदि, नाग से शेष वासुकी आदि और खग से काक भुशुंडी-गरुड़-जटायु आदि को जानना चाहिये। 'असुर-नाग' पाताल के, 'नर-खग-मुनि' मृत्यु-लोक के और 'देवा' स्वर्ग के हैं। अतः, तीनों लोक-वासी भक्त उस दिन आते हैं, यह जनाया।

ऊपर तीर्थ आदि स्थावर का आना और यहाँ असुर आदि जंगम का आना कहा गया। अतः, चराचर जगत् भर के हरि-भक्तों का आना सूचित हुआ।

श्रीराम-जन्म के समय देवता पृथिवी पर नहीं आये, महोत्सव की रचना पुरवासियों ने ही की थी, दो० १९३ से १९५ तक कहा है। देवताओं ने आकाश ही से सेवा की थी और महोत्सव देखकर ऊपर ही से भाग्य सराहते चले गये थे। यथा—"गगन-बिमल संकुल सुर-जूथा।·····बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा॥" दो० १९०)। पुनः—"देखि महोत्सव सुर-मुनि-नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥" (दो० १९५)। कारण यह था कि उस समय प्रभु को विधि-वचन सत्य करना था कि नर के ही हाथ से रावण का मरण हो, देवताओं के आकर प्रकट होने से ऐश्वर्य खुलता। शिवजी ने भी कहा है—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" (दो० ४८)। अतः, देवता लोग गुप्त रीति से ही उत्सव में आये थे और अब हर साल नवमी के अवसर पर आते हैं और महोत्सव-रचना में भी सम्मिलित होते हैं। 'सुजान'—जो रचनाप्रवीण हैं।

दोहा—मज्जहिं सज्जन बृन्द बहु, पावन सरजू-नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर॥३४॥

अर्थ—झुंड-के-झुंड सज्जन पवित्र श्रीसरयू-जल में स्नान करते हैं और सुन्दर श्याम शरीरवाले श्रीरामजी का ध्यान हृदय में धारण करके उनका नाम जपते हैं।

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार ने श्रीरामोपासकों को उस दिन का कर्त्तव्य बतलाया है कि श्रीसरयूजी में स्नान करके श्रीरामजी का रूपध्यान-समेत नाम जपना चाहिये। समय के अनुरोध से यहाँ बाल-स्वरूप का ही ध्यान उपयुक्त है। यह स्नान महोत्सव के पीछे लिखा है। अतः, इसे 'दधिकाँदो' के पीछे का स्नान जानना चाहिये। 'जपहिं राम धरि ध्यान उर,''।' का भाव यह है कि रूप के ध्यान के साथ नाम जपना विधि है, क्योंकि नाम या मंत्र का अर्थ उसके देवता का रूप है और अर्थ-विचार एवं भावना के साथ ही मंत्र जपने से फल प्राप्त होता है। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र); एवं—"मंत्रोयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योगएतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। रूप का ध्यान या तो श्रीसीताजी के साथ किशोर अवस्था का किया जाता है या बाल-रूप का। किशोरावस्था के ध्यान में कृपामयी श्री जानकीजी के साहचर्य-वश कृपा-गुण का उद्दीपन रहने से श्रीरामजी की सर्वज्ञता (जो जीवों के दोष प्रकट करती है) और सर्व-शक्तिमत्ता (जो दोषानुसार दंडविधायिका है) की कुछ नहीं चलती और जीव का कल्याण हो जाता है। बाल-रूप के ध्यान में उस अवस्था के अनुरोध से भी भगवान् में उक्त दो गुण अंतर्भूत रहते हैं और उदारता आदि गुण तो स्वाभाविक रहते ही हैं। अतः, जीव का कल्याण होता है। यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥" (दो० ११२)। इसी से अयोध्या-माहात्म्य में राम-जन्म-भूमि के स्थल पर नाम-जप का बहुत महत्त्व लिखा है। लौकिक दृष्टान्त भी दिया जाता है कि जैसे भानुपीठ (आतशी शीशा) और भानु (सूर्य) का ठीक सामना होने पर ही आग प्रकट होती है, वैसे ही रूप के ध्यान के साथ नाम के जप से रूप की प्राप्ति होती है।

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह वेद पुराना॥१॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति॥२॥

अर्थ—वेद-पुराण कहते हैं कि (श्रीसरयूजी के) दर्शन, स्पर्श, स्नान और जलपान ये पाप को हर लेते हैं॥१॥ यह नदी निस्सीम पवित्र है, इसकी महिमा अत्यन्त है, (जिसको) निर्मल बुद्धिवाली शारदाजी भी नहीं कह सकतीं॥२॥

विशेष—(१) 'दरस परस मज्जन अरु पाना।' ये चारों क्रम से होते हैं। प्रथम दूर ही से दर्शन होते हैं फिर पहुँचकर स्पर्श, फिर जल में प्रवेश कर स्नान और पीछे जल-पान होता है। इन चारों कर्मों में एक भी हो, तो भी पाप नष्ट होते हैं। यहाँ से श्रीसरयू-माहात्म्य कहते हैं।

(२) 'नदी पुनीत अमित'''।' श्रीसरयूजी की निस्सीम महिमा श्रीरामजी के सम्बन्ध से है। जैसे जहाँ-जहाँ क्षण-भर के लिये भी श्रीराम-सम्बन्ध हुआ, वहाँ-वहाँ की महिमा बहुत कही गई है। यथा—"जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देवसरसरित सराहहिं॥" (अ० दो० ११२)। "सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या।"'''से—"कहहिं देव दिन राति॥" (अ० दो० १३८) तक और श्रीसरयूजी में तो श्रीरामजी की नित्य स्नान-क्रीड़ा होती थी। ऐसे ही ११००० हजार वर्षों तक वे रहे। पुनः उनके गुरु की कन्या (महर्षि वशिष्ठ मनु के हित के लिये सरयूजी को मानससरोवर से ले आये थे। अतएव सरयूजी उनकी कन्या हुईं) एवं कुलमान्या भी हैं। अतः, अमित महिमायुक्त ही हैं। पद्मपुराण आदि में इनकी बहुत महिमा कही गई है।

'कहि न सकइ सारदा'''।' शारदा एक तो विमल मति हैं, फिर अनंत रूप से सबकी जिह्वा पर कहनेवाली भी हैं। जब वे नहीं कह सकतीं, तब दूसरे के लिये तो अकथ्य ही है।

रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥३॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥४॥

शब्दार्थ—राम-धाम-दा = रामजी के (परधाम = साकेत) धाम को देनेवाली।

अर्थ—यह सुहावनी पुरी साकेत धाम को देनेवाली है, समस्त लोकों में प्रसिद्ध है और अत्यन्त पवित्र है ॥३॥ जगत् के अनगिनत जीवों की चार खानें (उत्पत्ति-स्थान) हैं, श्रीअयोध्याजी में शरीर छूटने से फिर (उनका) संसार नहीं रहता अर्थात् वे जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ॥४॥

(१) 'राम-धाम-दा पुरी'''' इसमें पूर्व पाप का नाश होना कहा, तब रामधाम की प्राप्ति कही, क्योंकि पाप-नाश से ही परधाम की प्राप्ति होती है।

शंका—राम-धाम तो श्रीअयोध्या ही है, फिर वह कौन है जिसे यह अयोध्या देती है ?

समाधान—श्री अयोध्याजी दो हैं—एक भूतल पर और दूसरी ब्रह्मांड से परे। दोनों तत्त्वतः एक हैं। भेद केवल माधुर्य और ऐश्वर्य लीला का है। यथा—"भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानं त्वियं भुवि।" (शिवसंहिता)। भोगस्थान परायोध्या साकेत नाम से ख्यात है और लीला-स्थान अयोध्या यही है, जो वर्त्तमान काल में फैजाबाद जिले में कही जाती है। तत्त्वतः एकता से दोनों का एक नाम है। यथा—"अयोध्या नंदिनी सत्यानामा साकेत इत्यपि। कोशलाराजधानी च ब्रह्मपूरपराजिता ॥ अष्टचक्रा नवद्वारा नगरी धर्मसम्पदा। दृष्ट्वैवं ज्ञाननेत्रेण ध्यातव्या सरयूस्तथा ॥" (शिवसंहिता अ० २० श्लोक १५-१६)। इसीका वेद में विस्तृत वर्णन है। यथा—"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥ नैनं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥ तस्मिन्हिरण्ययमये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥" (अथर्ववेद संहिता, दशमकांड, प्रथम अनुवाक्, द्वितीय सूक्त, मंत्र २८–३३)। इन साढ़े पाँच मंत्रों में अत्यन्त स्पष्टरूप में श्रीअयोध्याजी का वर्णन है। इनमें व्याख्याताओं को अपनी ओर से कुछ मिलाना नहीं पड़ता।*

लीला-स्वरूप। अयोध्या प्रकृति-मंडल में रहती है, परन्तु उसको प्रकृति का विकार नहीं लगता, प्रत्युत जीवों के प्रकृति विकार को हरकर अपने नित्य रूप को देती है। इसी से यहाँ इस पुरी को 'राम-धाम-दा' कहा है।

(२) 'चारि खानि जग जीव '''—ऊपर 'अति पावनि' कहा। वह पावनता यहाँ दिखाते हैं कि चारों खानों (इनका वर्णन—'आकर चारि''' दो० ७ में हो गया) के सभी प्रकार के जीव इस धाम में शरीर-त्याग करके मुक्ति पाते हैं अर्थात् पाप शुद्ध होकर श्रीरामजी के धाम को प्राप्त होते हैं। यहाँ एक शंका

* इनकी व्याख्या "अयोध्या श्रीमद्रामप्रसार प्रपन्नानामपि ५" में विस्तारपूर्वक हिन्दी में है। पाठक वहीं देखें।

हो सकती है। श्रुतियों का सिद्धान्त है कि—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानोपासना के बिना मुक्ति नहीं होती और यहाँ धाम में शरीर-त्यागने मात्र से मुक्ति कही गई है। *यह विरोध है। इसका समाधान यह है* कि धाम से मुक्ति होने की भी श्रुतियाँ हैं। यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह प्रसिद्ध है तथा यहाँ ऊपर की चौपाई के अर्थ में उद्धृत श्रुतियाँ अयोध्या के ध्यान से मुक्ति का विधान करती हैं। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—यह सामान्य रीति से सब जीवों के प्रति है; अतः, सर्वदेशीय एवं सामान्य है और—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह एक काशी के लिये है। अतः, विशेष है। विशेष (अपवाद) सामान्य (उत्सर्ग) की अपेक्षा बलवान होता है। यथा—"···अपवादरिवोत्सर्ग···" (रघुवंश १५।७)। जैसे कोई विज्ञापन निकाले कि मैं अमुक गाँव के लोगों से व्यवहार नहीं करूँगा, यह वहाँ के सर्वसाधारण के लिये है और यह उसी गाँव के किसी एक व्यक्ति के नाम पत्र लिखे कि आप कृपा करके आवें, मेरा अमुक प्रयोजन है। यह विशेष वाक्य है, तब आशय यह हुआ कि इसे छोड़कर शेष के लिये उक्त सामान्य वचन है। अतः, धाम से मुक्ति प्राप्त होना निर्विरोध है।

फिर भी यह शंका होगी कि तब तो सभी धामवासी साधन छोड़ बैठेंगे। इसका समाधान यह है कि साधन से क्रमशः मुक्ति के लक्षण यहीं प्राप्त होते जायँगे और अंत के लिये भी निश्चय रहेगा, पर धामवास मात्र में विकारों का दौरा रहेगा और मरने का भी निश्चय नहीं। यदि किसी कारणवश अन्यत्र शरीर छूटा तो फिर पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ना होगा।

'बंदउँ नाम राम रघुबर को···' से—यहाँ तक क्रमशः नाम, रूप, लीला और धाम की वंदना एवं माहात्म्य-कथन हुआ। पृथक्-पृथक् का भेद दो० २६ के अर्थ में देखिये।

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि-प्रद मंगलखानी ॥५॥

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा ॥६॥

अर्थ—अयोध्यापुरी को सब प्रकार से मनोहर और सब सिद्धियों की देनेवाली एवं सब मंगलों की खान समझकर ॥५॥ इस निर्मल कथा का मैंने (यहीं) प्रारंभ किया, जिसके सुनने से काम, मद और दंभ का नाश होता है ॥६॥

विशेष—(१) 'सब बिधि पुरी···' विधियाँ ऊपर कही गई कि यहाँ ब्रह्म का अवतार होता है और इस समय श्रीरामजन्म के योग भी पड़े हैं। इस अवसर पर सब तीर्थ भी आये हैं, जन्मोत्सव होता है, देवता भी आये हैं। यह मनोहरपुरी अति पवित्र एवं रामधाम देनेवाली तथा सर्व सिद्धियों एवं मंगलों की खान है। अतः, 'बिमल कथा' का जन्मस्थल होने के योग्य है; क्योंकि जैसी कथा 'विमल' है वैसा ही उसका जन्मस्थल भी विमल चाहिये। ऊपर 'रामधामदा' आदि से परलोक का बनना और यहाँ 'सकल सिद्धिप्रद' आदि से लोक-सुख का प्रदान करना भी जनाया।

'काम-मद-दंभा'—ये तीनों ही कथा के विरोधी हैं, पर काम मुख्य है। यथा—"क्रोधिहि सम कामिहिं हरि-कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सु० दो० ५७)। अतः, काम प्रथम कहा गया। मानस का अवतार इन कामादि के नाश के लिये है। आगे नामकरण करते हैं—

रामचरित-मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा ॥७॥

मन-करि बिषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई ॥८॥

अर्थ—इसका नाम 'रामचरित-मानस' है, इसे कानों से सुनते ही विश्राम मिलता है ॥७॥ मन रूपी हाथी विषय रूपी दावानल में जल रहा है, यदि वह इस सर में पड़े तो सुखी हो ॥८॥

विशेष—'रामचरित-मानस ' यहाँ तो ग्रन्थकार नाम का परिचय दे रहे हैं कि इसका नामकरण शिवजी ने किया है। यथा—"धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर।" आगे कहा है, जैसे श्रीरामजी का नामकरण वसिष्ठजी ने किया है।

'सुनत श्रवन्'''—कानों से सुनते ही विश्राम पाकर मन तृप्त हो जाता है, फिर इधर-उधर नहीं भटकता। यथा—"पायेउँ परम विश्राम ··" (उ० दो० १३०)।—श्रीगोस्वामीजी, "सुनेउँ पुनीत राम गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ विश्रामा॥" (उ० दो० ११४)।—गरुड़जी। तथा, इसी तरह और जो भी सुनेंगे, विश्राम पावेंगे।

(२) 'मन-करि विषय''' मनरूपी हाथी। 'मन-मतंग' प्रसिद्ध है। कामादि विषय ही अग्नि हैं, यथा—"बुझइ न काम अगिनि ··" (वि० १९८), इन्द्रिय समूह वन हैं, इन सबकी कामनाएँ दावानल के समान हैं। मन इसी आग में जल रहा है। वह इस सरोवर में 'परई' अर्थात् पड़ा ही रहे तो सुखी हो जाय, क्योंकि यह कथा सुखमय है, यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्दसन्दोह॥" (उ० दो० ४६) तथा—"सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहि॥ सुनि गुन-गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥" (उ० दो० ४१) तथा—"बिषइन्हि कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)। 'येहि सर' अर्थात् मानस-सर हिमालय पर है, अत, अन्य सरों की अपेक्षा अत्यन्त शीतल है, वैसे यह 'राम-चरित-मानस' भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यन्त शान्ति देनेवाला है।

रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥९॥
त्रिविध-दोष-दुख-दारिद-दावन। कलि कुचालि-कुलि-कलुष नसावन॥१०॥

शब्दार्थ—त्रिविध-दोष = कायिक-वाचिक एवं मानसिक कुचेष्टें। त्रिविध दुख = दैहिक-दैविक और भौतिक ताप। त्रिविध-दारिद = तन-जन और धन सम्बन्धी दरिद्रता। दावन = नाशक।

अर्थ—मुनियों के मन को भानेवाले, सुहावने और पवित्र इस 'रामचरित-मानस' को श्रीशिवजी ने रचा॥९॥ यह तीन प्रकार के दोषों, दुःखों और दरिद्रताओं का दमन (नाश) करनेवाला और कलियुग के कुत्सित आचरणों तथा सम्पूर्ण पापों का नाशक है॥१०॥

विशेष—'मुनि भावन' ''रामचरित-मानस शांतिरस पूर्ण है, इससे यह मुक्तकोटि के मुनियों (सिद्धों) को भी भाता है। ऊपर—'मन करि विषय ' ' से विषयियों का और—'सुनत नसाहिं काम-मद-दम्भा' से मुमुक्षुओं का हित कहा गया। अत, तीनों प्रकार के जीवों का प्रियत्व बताया। यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

'बिरचेउ संभु'—ईश्वर का रचा हुआ है। 'सुहावन'—काव्य-गुणों से पूर्ण है।

'पावन'—क्योंकि इसमें पवित्र रामयश रूपी जल भरा है। यहाँ इसका अपना सौष्ठव कहा गया है। इसका सेवक को सुन्दर बनाना तो प्रसिद्ध है जो 'त्रिविध-दोष ··' से स्पष्ट है।

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमय सिवा सन भाषा ॥११॥
तातें रामचरित-मानस बर । धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥१२॥

अर्थ—शिवजी ने (इसे) रचकर अपने हृदय में रक्खा और अच्छा अवसर पाकर श्री पार्वतीजी से कहा ॥११॥ इसीलिये श्री शिवजी ने अपने हृदय में विचार कर हर्ष पूर्वक इसका श्रेष्ठ नाम 'रामचरित-मानस' रक्खा ॥१२॥

विशेष—(१) 'रचि महेस'''अब नामकरण का हेतु कहते हैं। 'राखा' अर्थात् बहुत काल तक आठो पहर इसीके मनन में रहा करते थे। अतः, यह शिवजी का अष्टयाम-ध्येय था।

'पाइ सुसमय'''यहाँ तक श्री पार्वतीजी से तीन बार कथन करना कहा गया। यथा—"बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।" (दो० ३१); इसमें 'सुनावा' पद संवाद सूचक है, फिर—"कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥" (दो० ३३)। इसमें प्रश्नोत्तर के हेतु एवं प्रश्न-प्रकार की प्रस्तावना है और यहाँ 'सुसमय' में वर्णन जनाया। इन्हीं तीनों को आगे—"कहउँ सुमति-अनुहारि अब, उमा संभु-संबाद। भयेउ समय जेहि, हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥" (दो० ४७) पर—एकत्र करेंगे और वहीं से इन तीन सूत्रों की व्याख्या प्रारंभ होगी।

(२) 'ताते रामचरित'''—'ताते' अर्थात् अपने मानस में रखने के कारण। 'बर—हेरि' अर्थात् बहुत विचारा, पर इससे श्रेष्ठ और नाम नहीं समझ पड़ा और चित्त में इसके स्फुरण से हर्ष हुआ। इस-लिये 'हरषि' भी कहा है। 'धरेउ नाम ' हर' अर्थात् मैंने गुरु-परंपरा से पाकर इसका प्रारंभ किया और नाम कहा, पर नाम-करण तो शिवजी ने ही किया था, मैंने नहीं।

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई । सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥१३॥

अर्थ—मैं उसी सुख देनेवाली और सुहावनी (श्री रामचरित-मानस) कथा को कहता हूँ, हे सज्जनो ! मन लगाकर आदर-पूर्वक सुनिये।

विशेष—पूर्व—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिवरहिं सुनाई॥" (दो० ३१) पर ग्रंथ को चारों संवादों का बीज बोना और कथा का प्रारंभ करना लिखा गया, उसके अनुसार श्री गोस्वामीजी का संवाद यहाँ से प्रारंभ हुआ। इनका प्रारंभ-स्थल अयोध्या है—"अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" (दो० ३३) से निर्दिष्ट है। वैसा ही याज्ञवल्क्यजी का कथास्थल प्रयाग है—"भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा।'''जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥" (दो० ४३-४४)। काकभुशुण्डीजी का नीलगिरि है, यथा—"उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥ ''गयेउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी '''।" (उ० दो० ६१-६२) और शिवजी का कैलाश है, यथा—"परमरम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ-सिव उमा निवासू॥ ' कथा जो ' सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥" (बा० दो० १०४-१०६)।

'सुखद'—'सादर'—जो आदर-पूर्वक मन लगाकर सुनेंगे, कथा उन्हीं के लिये सुखद एवं सुहावनी होगी।

श्री अयोध्याधाम-वर्णन एवं रामचरितमानस-अवतार-प्रसंग समाप्त

———

मानस-प्रसंग

दोहा—जस मानस जेहि बिधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु ।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब, सुमिरि उमा-बृषकेतु ॥३५॥

शब्दार्थ—बृषकेतु=(बृष=बैल=नंदी, केतु=ध्वजा) जिनकी ध्वजा पर नंदी है (शिवजी) वा बृष अर्थात् चारों चरणों (सत्य, शौच, दया, दान) से पूर्ण धर्म जिनकी ध्वजा पर हो एवं धर्म के ध्वजा-रूप (शिवजी) ।

अर्थ—जैसा मानस का स्वरूप है, जिस तरह मानस हुआ (बना) और जिस कारण से जगत् में इसका प्रचार हुआ, वे ही सब प्रसंग अब मैं श्रीगौरी-शंकर का स्मरण करके कहता हूँ ।

विशेष—(१) यहाँ से दो० ४३ तक मानस-प्रसंग आठ दोहों में है । उस समस्त प्रसंग की प्रस्तावना इस दोहे में की गई है—

'जस मानस'—'सुमति भूमि थल'''से—'अस मानस मानसचख चाही ।' (दो० ३८ चौ० १) तक मानस का स्वरूप कहा गया है ।

'जेहि बिधि भयेउ'—जिस तरह उत्पन्न हुआ, यह प्रसंग—"भयेउ हृदय आनंद उछाहू ।'''से—सुमिरि भवानी संकरहिं, कह कवि कथा सुहाइ ॥" (दो० ४३) तक है ।

'जग प्रचार जेहि हेतु' यह प्रसंग—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद । कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संबाद ।" (दो० ४३) से है । 'सुमिरि उमा-बृष-केतु'—स्मरण के कारण—(क) ये दोनों श्रद्धा-विश्वासरूप हैं, मं० श्लोक में कहे गये हैं । इनके लक्ष्य से ये दोनों गुण दृढ़ होंगे, तब भगवान् से वैसी शक्ति प्राप्ति होगी, जिससे ग्रन्थ-रचना में सफलता होगी । गीता ७-२१-२२ में प्रमाण है । (ख) दोनों की प्रसन्नता चरित-वर्णन के विषय में पा चुके हैं, यथा—"सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ ।" (दो० १४) ; (ग) शिवजी ने इसे रचा और पार्वतीजी ने जगत् के हित के लिये प्रकट कराया, यथा—"कीन्हेहु प्रस्न जगत हित लागी ।" (दो० १११) ; अतएव ये मुख्य वक्ता-श्रोता हैं ।

संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरित-मानस कवि तुलसी ॥१॥
करइ मनोहर मति-अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥२॥

शब्दार्थ—हुलसी=विकसित हुई=उल्लसित हुई । सुचित=ध्यान देकर वा सुन्दर चित्त से ।

अर्थ—श्रीशिवजी की प्रसन्नता से हृदय में सुमति का विकास हुआ, जिससे मैं तुलसीदास रामचरित-मानस का कवि बना ॥१॥ तुलसी इसे अपनी बुद्धि के अनुसार मनोहर ही बनाता है । हे सज्जनो ! आपलोग सुन्दर चित्त से सुनकर इसे सुधार लें ॥२॥

विशेष—(१) 'संभु-प्रसाद सुमति'''' यहाँ 'सुमति हुलसी', अतः ध्वनित हुआ कि ग्रन्थकार पहले डरराते थे । यथा—"मति अति नीच" (दो० ७) और—"करत कथा मन अति कदराई ।" (दो० ११) । इसके लिये ग्रन्थकार ने प्रथम 'सीयराममय' चराचर से मति माँगी । यथा—"निज बुधि-बल भरोस मोहि नाहीं । ताते बिनय करउँ सब पाहीं ॥" (दो० ७) । फिर शांडाशजीवों से भी मति माँगी ।

यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (दो० १७), उसी कृपा का फल शिवजी के प्रसाद-रूप से प्राप्त हुआ, यह पूर्व ही—"सुमिरि सिवा-सिव पाइ प्रसाऊ" (दो० १४) में कहा गया; उसी को यहाँ कहते हैं। अतः, जो मति पहले अति नीच थी, वही 'सुमति' पाकर 'तुलसी'। और, तब इस भाषा राम-चरित-मानस के कवि तुलसी हुए। भाव संस्कृत रामचरित-मानस के कवि शिवजी हैं। यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना…" (उ० दो० १३०)। उनके प्रसाद से मैं भी भाषा का कवि हुआ। इसके पहले न था। यथा—"कवि न होउँ…" (दो० ८)। 'संभु-प्रसाद' होने पर अपने को 'कवि' कहा, आगे भी कहते रहेंगे, यथा—'यह कवि कथा सुहाइ' (दो० ४३); 'सुकवि लपन-मन की गति भनई।" (अ० दो० २३१); "सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू।" (अ० दो० ११७); "कवि-कुल कानि मानि सकुचानी।" (अ० दो० ३०२)। यहाँ अपने को 'कवि' कहना आत्मश्लाघा-रूप में नहीं है, किन्तु कवि का तात्पर्य ग्रंथ-रचयिता होने से है। पूर्व योग्यता न थी, अब वह शिवप्रसाद से हुई, तब अपने को रचयिता कहा। अतः, यह शिवप्रसाद एवं उपर्युक्त उसकी कारणरूपा श्रीजानकीजी की कृपा की बड़ाई है। यथा—"रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप तुलसी से जग मानियत महामुनी सो॥" (क० उ० ७२)। श्रीशिवजी के ही कहने एवं ग्रन्थ में प्रभावास्थापन के आश्वासन से ये ग्रंथ-रचना में उत्साहपूर्वक आरूढ़ हुए। पूर्व मं० श्लोक ७ और दो० १५ पर कहा गया, यहाँ उसका स्मरण किया गया है।

(२) 'करइ मनोहर मति…' 'मनोहर' अर्थात् काव्य-गुण युक्त एवं प्रत्येक रस के प्रेमियों के अनुकूल। जब 'संभुप्रसाद' से सुमति प्राप्त हुई, तब उससे विरचित कथा का प्रबंध मनोहर होगा, यह विश्वास है। फिर भी सज्जनों की सहायता लेते हैं कि मानव-स्वभाव वश रचना में कहीं त्रुटि रह जाय, तो आपलोग सुधार लेंगे।

'मति अनुसारी…।' ईश्वर की देन पर भी 'मति अनुसारी' कहा है, क्योंकि मानव-हृदय परिमित सुमति ही धारण कर सकता है, इसीसे सुधारना भी कहा और यह कार्पण्य दृष्टि से शिष्ट परं-परा भी है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥३॥

शब्दार्थ—[यहाँ से इस चरित का मानस सर से सावयव रूपक बाँधकर स्वरूप कहते हैं कि वह मुझे कैसे प्राप्त हुआ ?]—भूमि = तालाब के आसपास की ऊँची भूमि, जहाँ का बरसाती जल तालाब में आता है, यहाँ वही ग्राह्य है। थल = तालाब की गहरी भूमि जिसमें जल आकर ठहरता है, यथा—"जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।" (उ० दो० ११८)। उदधि = समुद्र।

अर्थ—सुमति भूमि है, हृदय गहरा स्थल है, वेद-पुराण समुद्र हैं और साधु बादल हैं॥३॥

विशेष—'सुमति भूमि…'—जैसे भूमि चराचर का उत्पत्ति-स्थान है, वैसे सुमति भी गुणगण का उत्पत्ति-स्थान (योनि) है। यथा—"सोक कनकलोचन, मति छोनी। हरी विमल गुनगन जग-जोनी॥ भरत-बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥" (अ० दो० २९६)। यहाँ संसार रूप हिरण्याक्ष ने सुमति रूपी पृथ्वी को हरा था। यथा—"कहँ मति मोरि निरत संसारा।" (दो० ११)। अब 'संभुप्रसाद' रूप वाराह ने उद्धार किया, तब यह सुमति भी गुणों का उत्पादक होकर राम सुयश रूप 'बर बारि' के धारण करने योग्य हुई।

'थल हृदय अगाधू।' यहाँ हृदय का अर्थ 'सु-मानस' अर्थात् सुष्ठु (श्रेष्ठ) मन है। यहीं पर

आगे कहा गया है—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना।' श्रुति भी है—"हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा।" (ऐतरेयो०)। सुमति भूमि वाला हृदय गहरा होता ही है। यथा—"कहि न सकत कछु अति गभीरा। प्रभु प्रभाव जानत मतिधीरा॥" (दो० ५२)। 'वेद पुरान उदधि'—वेद-पुराण ही ज्ञान की राशि हैं, जैसे समुद्र जल की राशि है। समुद्र का जल मेघ-द्वारा सर्वत्र प्राप्त होता है। नदी, तालाब, कुँए, बावली आदि में पूर्ण रहता है, वैसे ही वेद-पुराण का ही ज्ञान संसार-भर में फैला है। इसके प्रचारक सब देशों के साधु ही हैं। जैसे समुद्र का जल प्रथम आकाश में जाकर भूमि पर आता और जमीन के नीचे जाता है। फिर खोदकर पाताल से निकाला जाता है—सहसा समझ में नहीं आता। वैसे ही रसायन, विज्ञान आदि सब विद्याएँ इसी विद्यासमुद्र से यूरोप और अमेरिका को प्राप्त हैं, किंतु गति सहसा समझ में नहीं आती।

शंका—पूर्व ग्रन्थकार ने कहा था कि मैं शिवकृत मानस को ही भाषाबद्ध करूँगा और अब वेद-पुराण से साधुओं द्वारा प्राप्त करना कहते हैं। यह क्यों?

समाधान—(क) कथा भाग ही शिवकृत है। इसमें अन्य विचित्रताएँ और अनेक मत साथ-साथ हैं, वे सब मुनियों द्वारा-प्राप्त वेदपुराण-सम्मित हैं।

(ख) समुद्र का जल प्रथम सूर्य-किरण से आकाश में जाकर चन्द्रकिरण और वायु आदि के संयोग से मेघ बनता है, तब भूमि पर आता है, वैसे यह वेदादि से प्रथम शिवजी के हृदय में आया, यथा—"बरनहुँ रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि॥" (दो० १०६); फिर भुशुंडीजी, याज्ञवल्क्यजी तथा परंपरा से श्रीगुरुजी को प्राप्त हुआ। श्रीगुरुजी से श्रीगोस्वामी की मेधा में आया। गुरु को साधु कहा है, यथा—"परम साधु परमारथ-बिंदक।" (उ० दो० ११२)।

बरषहिं राम-सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥४॥

अर्थ—(साधु रूपी मेघ) राम सुयश रूपी श्रेष्ठ जल बरसाते हैं, जो मधुर, मनोहर और मङ्गलकारी होता है।

विशेष—यहाँ 'राम-सुजस' को 'बर बारि' कहा, क्योंकि मेघ का जल भी श्रेष्ठ होता है, पर समुद्र का जल खारा होता है, जो न तो पीने ही योग्य होता है और न खेत ही सींचने योग्य। वैसे अखिल धर्ममूल होने से वेद-पुराणों में काम्य कर्म का भी विशेष प्रतिपादन है, वह ऐसे विषयी जलचरों के लिये अनुकूल है जिनका मन विषय वारि में मछली के समान रहता है। वे निवृत्ति मार्गवालों को अथ पशु आदि समझते हैं और इनके लिये त्याग की महिमा मानते हैं, पर विवेकी साधुलोग वेदों का वास्तविक सिद्धान्त राम-यश ही निकालते हैं। यथा—"बंदउँ चारिउ बेद'''बरनत रघुबर बिसद जस।" (दो० १४), "हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १३)। यह वेदों ने ही कहा है। साधुलोग काम्य कर्म आदि को खारा, अज्ञानियों से माह्य होने से कुरूप और भवरोगमय होने से अमंगलकारी मानते हैं। राम सुयश कहने-सुनने में प्रेमोत्पादक होने से मधुर, भवरोगहारक होने से मंगलकारी और इन्हीं गुणों से यह मन हर लेता है, यही मनोहरता है। भूमि में पड़ने से पहले मेघ के जल में मधुरता आदि गुण रहते हैं। वर्षा के प्रथम कुछ देर वायु रुककर गर्मी होती है, तब वर्षा होती है, ऐसे साधु भी राम-यश-कथन के पूर्व ध्यान विचार करने में चित्त-वृत्ति को एकाग्र करते हैं, यही वायु का रुकना है, उत्साह का होना गर्मी है, यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥"

(दो० १११)। मेघ जंगम होते हैं, वैसे साधु-समाज भी—"ज्यों जग जंगम तीरथराजू।" (दो० १); में जंगम कथित हैं। राम-सुयश के गुणों के उदाहरण—मधुर, यथा—"श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति-चरित सोहाहीं॥" (उ० दो० ५२), मनोहर, यथा—"लागे कहन कथा अति सुंदर॥" (सुं० दो० ३२) और मंगलकारी, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० १)।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी ॥५॥
प्रेम-भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥६॥

अर्थ—जो सगुण लीला का वर्णन करके कहते हैं, वही स्वच्छता मल का नाश करती है॥५॥ और इसमें जो प्रेमा-भक्ति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही मिठास और तरावट है॥६॥

विशेष—(१) 'लीला सगुन जो''''''' सगुण लीला कहने से निर्गुण लीला भी ध्वनित होती है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त है, निष्क्रिय है, पर उसके सन्निधान (समीप की स्थिति) से माया द्वारा संसार का व्यापार चलता रहता है, यही उसकी लीला है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १५) तथा—"सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।" (सुं० दो० २०)।

'सगुन लीला'—जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिये प्रभु अवतीर्ण होकर लीला करते हैं कि जिसे गा-गाकर भक्त लोग भवसागर से तर जायँ। यथा—"जब-जब होइ धरम कै हानी।''''" से—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं॥" (दो० १२०—१२१) तक। यही लीला सम्पूर्ण रामायण है, जो सूत्र-रूप में—"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी।''''''से—"कथा समस्त भुसुंडि बखानी।" (उ० दो० ६१—६७) तक के ८४ प्रसंगों में कही गई है कि जिसे गाकर भक्त लोग ८४ लाख योनियों से मुक्त हो जायँ। 'कहहिं बखानी'—निर्गुण लीला के विस्तार से कहने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः, उसका बखान नहीं कहा और सगुण लीला तो गाने के लिये ही की जाती है, जिससे बड़ा लाभ यह होता है कि संसार से छुटकारा मिल जाता है। अत, वह गाई जाती है। यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं॥" (दो० १२१)।

'सोइ स्वच्छता'—राम-यश रूपी जल में सगुण लीला का बखान स्वच्छता है। जल की शोभा स्वच्छता में है, वैसे राम यश की शोभा सगुण-लीला के बखान में है। भगवान् के जन्म-कर्म दिव्य हैं, यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यम्'" (गीता ४।९)। उनका जन्म स्वेच्छा से होता है, यथा—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१) और वे कर्म की ममता तथा फलेच्छा से रहित हैं, इसी से वे निर्लिप्त रहते हैं। यथा—"कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (दो० १३६) उनके जो कर्म देखे जाते हैं वे लोक-कल्याण के लिये लीला-रूप में हैं। यथा—"जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ। असि रघुपति लीला उरगारी।'" (उ० दो० ७२)। अत, भगवान् की लीला कर्मवशतारूपी मलिनता से-रहित है और लीला का दिव्य होना उसकी स्वच्छता है।

'करइ मलहानी'—स्वच्छ जल से ही मल छूटता है। सगुण ब्रह्म मे मनुष्यता की कल्पना मल है जो भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ के हृदय में हुई थी। इन सबने ब्रह्म मे प्राकृतत्व (मनुष्यता) का आरोपण किया, फिर सम्पूर्ण सगुण लीला के सुनने से वह भ्रम निवृत्त हुआ। यथा—गरुड़ की मोहनिवृत्ति—"गयेउ

मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति-चरित।" (अ० दो० ६४)। पार्वतीजी की मोहनिवृत्ति "तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।" (उ० दो० ५२) और कवि ने स्वयं भी कहा है—"रघुवंसभूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥" (उ० दो० १३०)। इस अर्द्धाली में उपर्युक्त 'मनोहरता' का स्पष्ट हुआ। आगे मधुरता और तरावट कहते हैं—

(२) 'प्रेम भगति जो बरनि'''—प्रेमाभक्ति में मधुरता का अत्यंत स्वाद है, जिससे उसका वर्णन नहीं होता, जैसे अत्यन्त मीठा खाने से मुख बँध जाता है। यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।" (नारद भक्तिसूत्र) तथा—"कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥" (अ० दो० २४१); "परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥" (अ० दो० २४०) "बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई। सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ५) इत्यादि।

'सुसीतलताई' अर्थात् अनुकूल शीतलता (तरावट)। जो दुःख से तप्त है उसका सुखी होना शीतल होना है। यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्।" (उ० दो० १०७); "मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं येहि सर परई॥" (दो० ३४)।

शंका—पूर्व—'मधुर मनोहर मंगलकारी।' में मधुर कहा ही है, यहाँ फिर क्यों कहा?

समाधान—वहाँ मधुर होना कहा था। यहाँ यह दिखाया कि मधुरता क्या वस्तु है।

सम्बन्ध—उक्त जल को मनोहर और मधुर कह चुके, आगे उसका मंगलकारित्व कहते हैं—

सो जल सुकृत सालि हित होई। रामभगत जनजीवन सोई॥७॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन-मग चलेउ सुहावन॥८॥

शब्दार्थ—मेधा = अंतःकरण की धारणाशक्ति जिससे देखी-सुनी बात मन में बनी रहती है। सकिलि=सिमटकर।

अर्थ—वह जल पुण्यरूपी धान के लिये हितकर है और श्रीरामभक्तजनों का जीवन वही है॥७॥ (साधुरूपी मेघों का बरसाया हुआ) वह सुहावन पावन जल धारणा शक्ति रूपी पृथिवी पर प्राप्त हुआ और कान के रास्ते से सिमटकर चला॥८॥

विशेष—(१) 'सो जल सुकृत सालि'''—'सुकृत'—"तीर्थाटन साधन समुदाई।"—से—"जहँ लगि साधन बेद बखानी॥" (उ० दो० ११५) तक देखें। धान की तरह सुकृत को भी रामसुयश रूपी जल की बड़ी प्यास है। यथा—"धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः। (श्रीरामतापनीय उ०) तथा—"बीज राम-गुन गन नयन, जल अंकुर पुलकालि। सुकृती सुतनु सुखेत बर, बिलसत तुलसी सालि॥" (दोहावली ५६८)। सुकृत की वृद्धि से श्रीराम में स्नेह होता है। यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (दो० २१)। वही—'रामभगत जन''' से उत्तरार्द्ध में कहा है कि रामकथा ही श्रीरामभक्तों का जीवन है। यथा—"यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥ यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथां ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥" (वाल्मी० उ० स० ४०।१७।१८)। अर्थात् श्रीहनुमान्जी ने श्रीरामजी से वर माँगा है कि आपकी कथा जबतक सुना करूँ, तभी तक मेरे शरीर में प्राण रहें।

(२) 'मेधा महिगत सो जल···' जहाँ तक का जल बहकर आता है, वही मानस सर की प्रान्त-भूमि है, वैसे ही जहाँ तक की बात सुनाई दे, वही इस मेधा (धारणवाली बुद्धि) की प्रान्तभूमि है।

'सकिलि श्रवन मग ···' जब जल सिमटकर बहता है, तब एक रास्ता बन जाता है। उसी मार्ग होकर सब पानी बहता है। इसी तरह राम-सुयश श्रवण-बुद्धि द्वारा आकर धारण-बुद्धि (मेधा) में प्राप्त होता है। 'सकिलि' अर्थात् जो बात समझ में बैठती है वही श्रवण-बुद्धि में आती है। यहाँ जो श्रवण-धारण बुद्धि कही गई है उसका प्रमाण—"बुद्ध्याह्यष्टांगया युक्तम्···" (वाल्मी॰ कि॰ स॰ ५४।२) अर्थात् बुद्धि आठ प्रकार की है। यथा—"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥" बहती हुई नाली की तरह कान के छिद्र से बात आती है। यह रूपक का बाह्य मेल है। यथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवन-रंध्र होइ उर जब आई॥" (दो॰ १४४)।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥९॥

शब्दार्थ—सीत (शीत) = ठंढा। रुचि = स्वादिष्ट। चिराना (सं॰ चिरंतन) = पुराना, जीर्ण।

अर्थ—(श्रवणमार्ग से आये हुए राम यश रूप जल से) सुन्दर मानस भर गया, अच्छे स्थल में जल थिर हुआ। फिर वह सुखद, ठंढा, स्वादिष्ठ, सुन्दर और पुराना हुआ।

विशेष—(१) 'भरेउ सुमानस सुथल···' यहाँ 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। उपमान-पक्ष में सुंदर मानस सर के अर्थ में और उपमेय में सुन्दर मन के अर्थ में है। तालाब जल से भरा और मन रामसुयश से भर गया। यहाँ 'श्रवन-मग चलेउ' में श्रवण, 'भरेउ सुमानस' में मनन और 'सुथल थिराना' में निदिध्यासन तथा 'चिराना' में समाधि का भाव है। चिराना हुआ अर्थात् परिपक्व हुआ, जैसे दूसरे साल का चावल पुराना और तीसरे साल का 'चिराना' कहा जाता है, वैसे वर्षा का जल नया, शरद् का पुराना और हेमन्त का 'चिराना' कहा जाता है। यह जल वैद्यक में भी अत्यन्त गुणकारी कहा गया है। श्री गोस्वामीजी ने बचपन में गुरुजी से सुना, तब नया था, फिर सत्संग-द्वारा मध्यावस्था में मनन किया, तब पुराना हुआ और वृद्धावस्था में 'चिराना' होने पर मानस प्रकट हुआ। प्रथम—'जस मानस' और 'थल हृदय' कहा गया था, यहाँ जब राम-सुयश रूप जल से भरा, तब 'सु-मानस' और 'सु-थल' कहा गया, यह कवि के भाव को अ॥र॥ है।

वर्षा का जल भूमि पर पड़ने से डाबर (गँदला) हो जाता है। पुराना होने पर मिट्टी बैठ जाती है। फिर चिराना होने पर जल में पूर्व गुण आ जाते हैं। यहाँ के 'शीत', 'रुचि' और 'चारु'—ये ही पूर्व के 'मंगलकारी', 'मधुर' और 'मनोहर गुण' हैं। वैसे ही 'राम-सुयश भी प्रथम सुनते ही संशय, तर्क आदि से डाबर हो जाता है। सत्संग से स्वच्छ और फिर मनन आदि से पूर्व गुण युक्त होने पर सुखद होता है। बुद्धि में रजोगुण का भी अंश है, इसके संशय, तर्क आदि ही धूल के समान हैं, जिनसे डाबर-पना हुआ, बुद्धि पृथिवी के अंश से उत्पन्न भी है, यथा—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।" (जिज्ञासापंचक)।

दोहा—सुठि सुंदर संबाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर और श्रेष्ठ संवाद बुद्धि से विचार करके (मैंने) बनाये हैं, वे ही इस पवित्र, सुन्दर तालाब के चार मनोहर घाट हैं।

यहाँ एक तो चारों घाटों को 'मनोहर' कहा है। फिर भी 'बिरचे' भी कहा है। केवल 'रचेउ' से काम चल जाता। यहाँ विशेषतासूचक 'वि' उपसर्ग है। लोक में घाट की जब विशेष रचना होती है, तब मणि-माणिक्य आदि भी लगाये जाते हैं। वैसी ही रचना इन घाटों में भी है। श्रीरामचरित को भी मणि माणिक्य के समान कहा है। यथा—"सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (दो० १)। यहाँ चार संवाद-रूप खानों के चरित्र चार प्रकार के रत्न हैं। श्रीशिवजी 'गरल कंठ' हैं, अतः, इनकी कविता सर्पमणि है। याज्ञवल्क्य की कथा माणिक्य है, क्योंकि यह—'पावन पर्वत बेद पुराना' (उ० दो० ११६) से निकलती है। यही बात—"करगत बेद-तत्व सब तोरे।" (दो० ४५) से सूचित की गई है। भुशुंडीजी की कथा गजमुक्ता है, क्योंकि जैसे हाथी के खाने के दाँत और तथा दिखाने के और होते हैं, वैसे ये देखने में काक हैं, पर बोलते मधुर हैं। यथा—"मधुर बचन बोलेउ तब कागा।" (उ० दो० ६२)। अतः, यह कथा मणि-माणिक्य-मुक्ता रूप होने से 'सुठि सुन्दर' है, क्योंकि यह सुकवियों द्वारा निर्मित है, पर इनकी कविताएँ जहाँ उत्पन्न हुईं वहाँ पर शोभित नहीं हुई, जैसी मेरे संवाद में पड़कर हुई। यथा—"मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहिगिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृपकिरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥ तैसहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥" (दो० १०)।

ज्ञान नृप है, यथा—"सचिव बिराग बिबेक नरेसू।" (अ० दो० २३४)। कर्म मुकुट है, यथा—"मुकुट न होहिं भूप-गुन चारी॥ साम दाम अरु दंड बिभेदा।" (लं० दो० ३७)। ये चारो प्रकार की नीतियाँ कर्म हैं। उपासना तरुणी है, यथा—"भगति सुतिय ···" (दो० १६)। इन तीनों की कविताएँ यहाँ के ज्ञान-घाट, कर्म-घाट और उपासना-घाट पर आकर सुशोभित हुईं। रहा तुलसी-सज्जन संवाद। उसे सीपी का मोती कहा है। यथा—"हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥ जौं बरखइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित-मुकुतामनि चारू॥ जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥" (दो० ११)। सज्जनों का उर पाकर इसकी भी शोभा बढ़ गई। अतः, यह भी 'सुठि सुन्दर' है। इस प्रकार चारों घाट रत्नमय हैं।

प्रथम ग्रंथकार ने प्रतिज्ञा की थी कि "मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (दो० २), पर यहाँ घाट रूप संवाद-रचना में इन्होंने किसी का अनुकरण नहीं किया, क्योंकि इस तरह चार-चार कल्पों की कथाएँ एकसाथ कहीं नहीं पाई जातीं। इसी से 'बिरचे बुद्धि बिचारि' लिखा है अर्थात् अपनी ही बुद्धि से काम लिया है।

'तेइ येहि पावन सुभग सर'—मैल एव पाप दूर करनेवाली वस्तुएँ 'पावन' कहाती हैं और मन को आकृष्ट करनेवाली वस्तुएँ 'सुभग' (सुंदर) कही जाती हैं। दोनों बातें एकत्र कम होती हैं, पर यहाँ दोनों हैं। पावन, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (दो० ३६१)। ये घाट सुन्दर हैं, तभी तो विषयी लोगों के भी चित्त को आकर्षित करते हैं। यथा—"बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मन माना॥१॥

अर्थ—सातो प्रबंध (काण्ड) इस मानस की सुन्दर सीढ़ियाँ हैं जिन्हें ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है।

विशेष—'सप्त प्रबंध'—प्रथम घाट कहे, घाटों में सीढ़ियाँ भी होती हैं। उन्हें अब बतलाते हैं कि सात कांड ही सात सीढ़ियाँ हैं। इन सब पर राम-सुयशरूपी जल भरा है। इन्हीं पर से आगे कविता-सरयू बहेगी। इसपर प्रश्न हो सकता है कि जल-भरा होने से सीढ़ियाँ दिखाई कैसे देंगी? इसलिये उत्तरार्द्ध में कहते हैं—"ज्ञाननयन निरखत मनमाना।" सातो कांड—बाल, अयोध्या आरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर के नामों से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि यह भी कहा जाता है कि ग्रंथकार ने इन (बाल आदि) नामों को नहीं लिखा, लोगों ने अन्य रामायणों की रीति से नाम रख लिये हैं, तथापि इन नामों को माने बिना भी काम नहीं चलता। जैसे ग्रंथभर में कहीं भी किष्किंधा का नाम नहीं आया है। यदि चौथे प्रबंध का किष्किंधा नाम न मानें तो—"मंत्रिन पुर देखा बिनु साईं।" आदि वाक्यों में 'पुर' का नाम कहाँ से जाना जायगा?

'प्रबंध' का अर्थ प्रकर्ष करके बाँधना है। नीचे की सीढ़ी दाबकर ऊपर की सीढ़ी बाँधी जाती है, वैसे यहाँ एक कांड की फल-स्तुति का दूसरे कांड के मंगलाचरण से संयोग होना ही 'दबाव' है और कांडों का सम्बन्ध मिलाना सीढ़ियों का जोड़ना है। यथा—

बालकांड का अंत—"आये राम ब्याहि घर जबते। बसे अनंद अवध सब तबते॥" पर है, इसका जोड़ अयोध्याकांड के आदि—"जबते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥" से है। इन दोनों अर्द्धालियों के बीच का प्रसंग ("प्रभु बिवाह जस भयेउ उछाहू।"—से—"जो दायक फल चारि" तक) 'दबाव' है। इस दबाव (दोनों जोड़ों के बीच) में चूना दिया जाता है, वैसे ही सातो कांडों के मंगलाचरण में संस्कृत के श्लोक सात्त्विक देववाणी में होने से सफेद चूने की तरह हैं। इनसे दोनों जोड़ों को बाँधा है।

अयोध्याकांड का अंत—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं···।" पर है, इसका जोड़ आरण्यकांड के आदि - "पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

आरण्यकांड का अंत—"सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि···" या 'देखी सुन्दर तरुवर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया॥" पर है, इसका जोड़ किष्किन्धाकांड के आदि—"आगे चले बहुरि रघुराया।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

किष्किन्धाकांड का अंत—"जामवन्त मैं पूछउँ तोही।" पर है, इसका जोड़ सुंदरकांड के आदि—"जामवंत के वचन सुहाये।" से है। बीच का भाग 'दबाव' है।

सुंदरकांड का अंत—"निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायेऊ।" पर है, इसका जोड़ लंकाकांड के आदि—"सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि ··" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

लंकाकांड का अन्त—"प्रभु हनुमंतहिं कहा बुझाई। धरि बटु रूप···तुम चलि आवहु।" पर है, इसका जोड़ उत्तरकांड के आदि—"राम बिरह-सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र-रूप धरि पवनसुत आइ गयेउ जनु पोत॥" से है। इसके बीच में दोनों कांडों के 'दबाव'-प्रसंग बहुत हैं, क्योंकि सीढ़ी नीचे से बँधती है और यह ऊपर की सीढ़ी है। अत:, इसमें 'दबाव' अधिक चाहिये ही।

बालकांड के आदि में और उत्तरकांड अंत में श्लोक अधिक हैं, क्योंकि नीव में चूने की मजबूती और ऊपरी भाग में भी चूने की गच चाहिये।

(२) 'ज्ञाननयन निरखत मनमाना।'—उत्तरकांड दो० १२८ में कहा है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना॥" इससे इसके भाव स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् सातो सोपान श्रीराम-

विशेष—(१) 'सुठि सुंदर संवाद बर'—श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तर को 'संवाद' कहते हैं। इन संवादों के श्रोता-वक्ता श्रेष्ठ हैं। अतः, 'बर' कहा है। संवाद-पक्ष में 'सुठि सुंदर' और घाट के पक्ष में 'मनोहर' कहा है, क्योंकि सुंदरता के उत्कर्ष में मनोहरता आ जाती है। यथा—"तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर ॥" (सु० दो० १२)। अतः, वस्तु-भेद नहीं है। श्री रामजी के चरित मनोहर हैं, अतः उनके घाट भी मनोहर होने ही चाहिये। यथा—"परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥" (दो० २०२)।

(२) इस ग्रंथ में चार संवाद हैं, वे ही घाट-रूप हैं। घाट से जल ग्रहण करना सुगम होता है। वैसे इन संवादों से चरित-सम्बन्धी क्रमशः प्रपत्ति (शरणागति), कर्म, ज्ञान और उपासना के गूढ़ रहस्य सुगमता से समझ में आ जायँगे।

१—सबसे पूर्व श्री गोस्वामी जी का संवाद प्रारंभ हुआ। यथा—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥" (दो० ३४)। इसी से यह 'पूर्व घाट' कहलाया। प्रायः तालाबों में पूर्व की ओर ही जल बहने की ढालू भूमि होती है। अतः, उधर ही से लूले, लँगड़े एवं पशु वगैरह भी जल पीने आते हैं। इसीसे वह 'गो-घाट' कहाता है। वैसे कर्म ज्ञानादि हीन दीनों के लिये 'प्रपत्ति घाट' एवं 'दैन्य घाट' भी कहाता है। गोस्वामी जी ने प्रपन्नों (दीनों) के आश्वासन के लिये प्रपत्ति की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है। यथा—"भव-भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥" (दो० १२४)।

२—मानसकार ने अपना संवाद-रूप घाट कर्मप्रधान याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद-रूप घाट से मिलाया है। यथा—"कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥" (दो० ४१)। यह माघ-स्नान के सम्बन्ध से प्रारंभ है। अतः, कर्मप्रधान पंचायती घाट कहाता है। प्रदक्षिणा-क्रम से यह 'दक्षिण घाट' है। इन्होंने कर्म की सँभाल जहाँ-तहाँ की है, यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥" (दो० १७५)।

३—याज्ञवल्क्य ने अपना संवाद-रूप घाट ज्ञानप्रधान शिवजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है। यथा—"कहउँ सुमति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद।" (दो० ४०)। "झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। ··" (दो० १११) आदि ज्ञान संबंध से प्रारंभ होने के कारण यह 'ज्ञान-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह पश्चिम का 'राजघाट' है। इन्होंने ज्ञान की सँभाल भी की है। यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥" (दो० १२४)।

४—शिवजी ने अपना संवाद रूप घाट उपासना प्रधान काकभुशुंडीजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है। यथा—"सुनु सुभ कथा भवानि,··· ··कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँगनायक गरुड़ ॥ सो संवाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब ॥" (दो० १२०)। इन्होंने अनुराग-पूर्वक प्रारंभ किया। यथा—"प्रथमहि अति अनुराग भवानी ·· · " (उ० दो० ६२)। इसीसे 'उपासना-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह उत्तर का 'पनिघट' है। इन्होंने उपासना की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है। यथा—"कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि। चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि ॥" (उ० दो० १९)।

इन चारों घाटों की समाप्ति विलोम (उलटे क्रम) से लगी है, क्योंकि जिसने जिसका आवाहन किया है, उसी के द्वारा उसका विसर्जन भी योग्य है। यथा—४—गयेउ गरुड़ बैकुंठ तब, हृदय राखि रघुबीर ॥" (उ० दो० १२५) । यह उत्तर घाट की इति शिवजी ने लगाई। ३—"राम-कथा गिरिजा मैं बरनी।" (उ० दो० १२८) यह पश्चिम घाट की इति है। इसीको आगे अपनी इति पर याज्ञवल्क्य के

वचन है—२—"यह सुभ संभु-उमा-संबादा। सुखसंपादन समन बिषादा।" (उ० दो० १२९)। यह दक्षिण घाट की इति है। इसी पावन चरित का हेतु लेकर श्रीगोस्वामीजी ने इति कही। १—रघुपति-कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सोहावा॥" (उ० दो० १२९)।

(३) तालाब के घाट जैसे एक दूसरे से मिले होते हैं, वैसे ही ये चारों भी परस्पर सम्बद्ध हैं। मानस सर के राजघाट पर इन्द्रादि उत्तम देव, पनिघट भँभरीदार घाट पर देवांगनाएँ, पंचायती घाट पर सामान्य देवगण और गोघाट पर देवों के वाहन एवं और लूले लँगड़े स्नानादि करते हैं।

वैसे ही इन संवादात्मक घाटों के भी स्वरूप हैं—१—पहला गोघाट एव दैन्य घाट दीनतापूर्वक है। यथा—"करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एकउ अंग उपाऊ।···" (दो० ७) इत्यादि। यह दीनों के लिये सुगम 'प्रपत्ति' घाट है जो आचार-विचार-हीन पशुतुल्य एवं कर्म-धर्म हीन लूले-लँगड़े हैं, वे इस दृष्टि से यहीं अवगाहन करें।

२—दूसरे पंचायती घाट में स्मार्तों की दृष्टि से श्रीराम-भक्ति का निरूपण है। श्री याज्ञवल्क्यजी ने प्रथम श्रीराम-कथा कहने का संकल्प किया। यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (दो० ४६)। फिर प्रथम गौरी, गणेश और महेश का महत्त्व-वर्णन-पूर्वक मंगल किया। यथा—शिव-महत्त्व—"संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा॥" (दो० ४१); "सब सुर बिष्णु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता॥" (दो० ८७); शक्ति-महत्त्व—"मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी। अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि···।" (दो० ६७); गणेश-महत्त्व—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजे संभु भवानि।" (दो० १००) इत्यादि। इसका प्रयोजन यह कि इन सबके उपासक भी अपने इष्ट का महत्त्व पाकर इस मानस में प्रवेश करें। तभी यह कथा 'सकल-जन-रंजनि' होगी। यथा—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा···" (दो० ३०)। अतः, सर्वसाधारण के प्रवेश योग्य होने से यह पंचायती घाट है।

३—तीसरा राजघाट है। इसमें ज्ञान-दृष्टि से मानस का प्रवेश एवं भक्ति का निरूपण है। अतः, श्रेष्ठ ज्ञानी लोग इस घाट से प्रवेश करें। इसमें प्रथम ब्रह्मविद्या रूपी श्री उमाजी को ब्रह्म के सगुणत्व में संदेह हुआ। यथा—"ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज,···सो कि देह धरि होइ नर,···" (दो० ५०)। शिवजी ने समाधान भी किया। यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।··· सोइ दसरथ-सुत भगत हित,···" (दो० ११८)। इनकी दृष्टि से प्रवेश करने पर यह 'मानस' "पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०) रूप से ज्ञात होगा।

४—चौथा पनिघट है। यथा—"पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥" (उ० दो० २८)। यह भँभरीदार घाट (सती) स्त्रियों के स्नान आदि के लिये होता है। यह अनन्य उपासना का घाट है। उपासक अपने इष्ट का अपकर्ष नहीं सह सकते। अतः, गरुड़जी ने काकजी से प्रश्न किया और उन्होंने अनुराग-पूर्वक इष्ट (उपास्य देव) का ही मंगलाचरण किया। इष्ट की महिमा ही से प्रबोध किया। यथा—"राम काम सतकोटि सुभग तन।···" (उ० दो० ९१) तथा—"सेवक-सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" (उ० दो० ११९) इत्यादि। इसी दृष्टिवालों के लिये कहा है कि—"रामकथा कलि-कामद गाई। सुजन-सजीवनमूरि सुहाई॥" (दो० ३०)। इस संवाद में श्रीराम-परत्ववार्ता के अतिरिक्त अन्य वार्ता नहीं है, ऐसी ही अनन्यता सती स्त्रियों की होती है।

(४) 'बिरचे बुद्धि बिचारि'—श्री गोस्वामीजी ने विचारा कि शिव-कृत मानस दुर्गम है। यथा—'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमम्।" (उ० दो० १३०)। उसे उक्त चार प्रकार के अधिकारियों को सुगम कराने के लिये आपने चार संवाद-रूप घाटों का अपनी बुद्धि से निर्माण किया।

भक्ति के क्रमशः ऊर्ध्वगति के मार्ग हैं। जैसे, प्रथम बालकांड है, इसमें श्रीरामजी के जन्म, व्रतबंध एवं विवाह आदि का वर्णन है। यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।" (दो० ३६१)। यह कर्म है। कर्म का फल सुख है। अतः, इसका नाम 'सुखसंपादन' है। दूसरे सोपान में प्रेम-वैराग्य का वर्णन है। यथा—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति।" (अ० दो० ३२६)। इसीसे इसका नाम—'प्रेम-वैराग्य संपादन' है। तीसरे में विमल-वैराग्य निष्कर्ष रूप में कहा गया है, यथा—"दीप-सिखा सम जुबति-तनु, मन जनि होसि पतंग।" (आ० दो० ४६)। अतः, इसका नाम 'विमल वैराग्य सम्पादन' है। चौथे में मनोरथ-सिद्धि फलरूप में कही गई है। यथा—"तिनकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।" (कि० दो० ३०)। मनोरथ-सिद्धि से संतोष होता है। अतः, यह 'विशुद्ध-संतोष-सम्पादन' कहा गया है। पाँचवें में ज्ञान-प्राप्ति कही गई है। यथा—"सुख-भवन संसय-समन दमन बिषाद रघुपति-गुनगना।··· सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान॥" (सुं० दो० ६०) अर्थात् संशय-शमन एवं भव-निवृत्ति को ज्ञान कहते हैं। अतः, यह 'ज्ञान-संपादन' है। छठे की फलश्रुति में विज्ञान कहा गया है, यथा—"कामादि हर बिज्ञान कर ···" (लं० दो० १२१)। इसलिये यह 'विज्ञान-सम्पादन' कहा गया है। सातवें की फलश्रुति में 'अविरल-हरि-भक्ति' वर्णित है, यथा—"कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥" (उ० दो० १३०)। इसीसे यह 'अविरल-हरि-भक्ति-संपादन' कहा गया है।

जैसे एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ा जाता है, वैसे क्रमशः साधनों के फलरूप सातों सोपान हैं अर्थात् कर्म से प्रेम-वैराग्य, उससे विमल वैराग्य, फिर संतोष, तब ज्ञान, पुनः विज्ञान, तत्पश्चात् अविरल-हरि-भक्ति प्राप्त होती है। इसी ज्ञान-विज्ञान के फलरूप पराभक्ति है। यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥" (गीता १८/५४)। ये ही (सीढ़ियाँ) ज्ञान नयन से देखने पर मन प्रसन्न करनेवाली हैं।

रघुपति-महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥२॥

शब्दार्थ—अगुन = गुणातीत होना। अबाधा = बाधा-रहित, एकरस। बरनब = कथन करना।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की निर्गुण एकरस महिमा का कथन ही उत्तम जल की गहराई है।

विशेष—'महिमा अगुन अबाधा'—यथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोह ममता मद त्यागी॥ ब्यापक ब्रह्म अलख अविनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी॥···महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई॥" (दो० ३४०) तथा—"जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥···ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥···" (आ० दो० १४) इत्यादि।

सगुण की लीला के वर्णन से जल की स्वच्छता कही गई और निर्गुण-महिमा से अगाधता, क्योंकि ऐश्वर्य-वर्णन एवं उसकी निर्लिप्ति से यश की गंभीरता होती है। प्रथम 'थल हृदय अगाधू' से स्थल की अगाधता कही थी, अब उसमें रहनेवाले जल की अगाधता बतलाई। 'अबाधा'—सगुण की महिमा लीला सम्बन्ध से न्यूनाधिक देखने में आती है। जैसे प्रभु ने श्रीसीता-विरह में विलाप आदि किये और नागपाश में बँधे, इत्यादि। पर निर्गुण-महिमा में बाधा नहीं है, सदा एकरस रहती है।

राम-सीय-जस-सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥३॥

अर्थ—श्रीसीताराम का यश अमृत के समान जल है, इसमें जो उपमाएँ दी गई हैं, वे ही मन को रमानेवाली लहरों के विलास हैं।

विशेष—'राम-सीय-जस···' का भाव यह कि श्रीरामयश में श्रीसीताजी का भी यश मिला, तो माधुर्य और शृंगार दोनों एकत्र हो गये। यह युगल यश भक्तों को विशेष आह्लादवर्द्धक होता है। इसी से पुष्पवाटिका एवं विवाह का प्रसंग इस ग्रंथ में सर्वोत्तम माना जाता है। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये।"···से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा समाना॥" (आ० दो० १-२) तक। यहाँ श्रीसीतारामजी का गुप्त रहस्य है और 'श्रुति-सुधा समाना' कहा भी है। तथा—"रामसीय सोभा अवधि'···" (दो० ३०६); "हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु।'··येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा।" (दो० ३१४)। 'उपमा बीचि बिलास···' उपमा एक अर्थालंकार है, जिसमें दो वस्तुओं में भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म दिखाया जाता है। जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है, उसे 'उपमेय' और जिसके साथ समता दी जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं। इसमें 'जिमि, तिमि, सम' आदि शब्द 'वाचक' और जिस गुण, लक्षण एवं देश की समानता दिखाई जाती है, वह 'धर्म' कहाता है। उपमा का प्रयोजन धर्म से रहता है। उपमा में चारों अंग (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) होते हैं, तब वह पूर्ण-उपमा होती है। जैसे—'कमल-सम कोमल चरण' यह पूर्णोपमा है। इसमें कमल उपमान, चरण उपमेय, सम वाचक और कोमल धर्म है। इसी में तमाम अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है और अर्थालंकारों के बिना सरस्वती विधवा की भाँति शोभाहीन हो जाती है। यथा—'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती'॥ (अग्निपुराण)। उदाहरण—'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू' (दो० ११६) तथा 'स्यामसरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥' (सुं० दो० ६) इत्यादि।

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु-मनि-सीप सोहाई ॥४॥

अर्थ—सुन्दर चौपाइयाँ ही घनी फैली हुई पुरइनें (कमल के पत्ते) हैं, कविता की युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियों की सुन्दर सीपियाँ हैं।

विशेष—जैसे तालाबों में पुरइनें जल को आच्छादित कर, सघन फैली हुई हों, वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में विस्तृत चौपाइयाँ हैं। इन्हीं की ओट में श्रीराम-सुयश रूपी जल है। जो भावार्थ के मर्मी हैं, वे ही श्रीरामसुयश रूपी जल को देखते हैं, अन्य तो पत्ते ही देखते हैं। यथा—"पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म। मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (आ० दो० ४०)। अतः, मर्मी ही राम-सुयश रूप जल का पान करते हैं, और लोग तो ऊपर की बातों में भटकते हुए, काव्य के ही गुण-दोषों पर दृष्टि रखते हैं।

'जुगुति मंजु मनि सीप···' जुगुति (युक्ति)—क्रिया से कर्म के छिपाने को युक्ति कहते हैं, यथा—"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥" "पुनि आउब येहि बिरियाँ काली।" (दो० २३१) तथा—"देखित पीर बिहँसि तेहि गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥" (अ० दो० २६)। "गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥···जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० २३)।

युक्ति के भीतर जो बात है, वही मोती है। मोती बहुमूल्य होता है, वैसे युक्ति की बात भी बुद्धि की चतुरता से प्रकट होने पर अच्छा विनोद प्रकट करती है। जैसे सीप में मोती दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ग्रंथकार ने भी मोती को स्पष्ट नहीं लिखा, किंतु मणि की सीप कहकर जनाया है।

शंका—पुरइन के साथ ही कमल कहना था, पर यह न कहकर बीच ही में 'मणि-सीप' क्यों कहा ?

समाधान—पुरइन के नीचे सीपियाँ रहती हैं, ऐसे ही चौपाई के भीतर युक्तियाँ हैं। सुंदर युक्तियाँ सुंदर मोती हैं, इसलिये इन्हें साथ ही कहकर तब ऊपर की अन्य बातों (कमल आदि) का वर्णन करेंगे।

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥५॥

अर्थ—इसमें जो सुंदर छन्द, सोरठे और दोहे हैं, वे ही बहुत रंगों के कमल-समूह शोभित हैं ॥५॥

विशेष—'छंद'—वह वाक्य-निबंध है जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार यति आदि का नियम हो। यह दो प्रकार का होता है—एक वर्णिक और दूसरा मात्रिक। जिस छंद के प्रत्येक चरण की गणना वर्णों द्वारा हो और लघु-गुरु का नियम हो, वह वर्णिक (वर्णवृत्त) है और जिसमें केवल मात्राओं की संख्या के अनुसार यति आदि का एवं प्रत्येक चरण का नियम होता है, वह मात्रिक छंद कहा जाता है। हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छंद हैं और अनुष्टुप, नगस्वरूपिणी, तोमर आदि वर्णिक छंद हैं। इस ग्रंथ में प्रायः १४ प्रकार के छंद पाये जाते हैं, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखे गये।

'बहुरंग कमल-कुल'—बहुरंग से यह दिखाया कि इन कमलों में अनेक रस भरे हुए हैं। इस ग्रंथ में चार प्रकार के कमलों का होना पाया जाता है। यथा—"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥" (दो० २८७)। इसमें चार प्रकार के रत्नों के रंगों के अनुसार चार रंगों के कमल कहे गये। वे लाल, श्याम, पीत और श्वेत रंग के कहे जाते हैं। यथा—"नील पीत जलजाभ सरीरा।" (दो० १३२) "कंजारुन लोचन" (सुं० दो० ४४); "कमल-सित-श्रेनी।" (दो० ३३१)। 'कुल' अर्थात् एक-एक रंग में कई-कई भाँति के होते हैं।

कमल पुरइन से प्रकट होता है, वैसे छंद-सोरठा आदि भी चौपाई से निकलते हैं। यथा—"सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा।" यह चौपाई का उत्तरार्द्ध है, इसी में से छंद निकला, तब उसके ही शब्दों को लेकर प्रकट हुआ, यथा—"मन जाहि राँच्यो मिलिहि सो बर..." (दो० २३६)। सब पुरइनों से कमल नहीं होता, वैसे आठ, नौ, दस और कहीं-कहीं ११, १५, २६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर छंद-सोरठा आदि होते हैं।

लाल कमल भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं। श्वेत कमल काशी के आस-पास और जहाँ-तहाँ हैं। नील मिथिला के उत्तरी भाग में नौआही सीतामढ़ी के अगलबगल, विशेष कर काश्मीर के उत्तर तिब्बत, चीन आदि में और पीत कमल यहाँ कहीं-कहीं पाये और सुने जाते हैं।

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥६॥
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान-बिराग-बिचार मराला ॥७॥

शब्दार्थ—सुकृतपुंज = पुण्य-समूह या पुण्य-समूह वाले। अलिमाला = भौंरों का समूह।

अर्थ—उपमारहित अर्थ, सुंदर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग, मकरंद और सुगंध हैं ॥६॥ पुण्यों के समूह सुन्दर भ्रमरों की पंक्ति हैं तथा ज्ञान, वैराग्य और विचार हंस हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'अरथ अनूप''' ऊपर कमल कहे गये। अब उनके गुण कहे जाते हैं। जैसे शब्द के भीतर अर्थ होता है, वैसे ही पराग फूल की पंखुरी के भीतर की ओर रहता है। जैसे मकरंद पराग के नीचे रहता है और सहज में दिखाई नहीं पड़ता, वैसे सुन्दर भाव भी अर्थ के अंतर्गत होते हैं। सुगंध का विस्तार दूर तक होता है, वैसे ही यह प्रधानतया अवधी भाषा में है, पर इसमे पूर्वी, बंगाली, पंजाबी, बुंदेलखंडी, गुजराती, फारसी, अरबी आदि दूर-दूर की भाषाएँ भी सम्मिलित हैं और दूर-दूर के देशों में प्रचार है। इसमें पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान क्रमशः हैं। अतः, यथासंख्यालंकार है। यों तो यह प्रकरण ही सांगोपांग रूपक-अलंकार का है।

(२) 'सुकृतपुंज'' कमल और उसके गुण कहकर अब उसके स्नेही हंस को कहते हैं, क्योंकि हंस कमल पर बैठता है। यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥ बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥" (अ० दो० २९९)। "पुनि नभसर मम कर-निकर, कमलन्हि पर करि बास। सोभत भयेउ मराल इव, संभु सहित कैलास॥" (लं० दो० ११)।

इस ग्रंथ मे जहाँ-तहाँ पुण्यकर्म के स्वरूप वर्णित हैं, जैसे विप्रपद-पूजा और परोपकार आदि। और, पुण्य-पुरुष भी बहुत जगह कहे गये हैं। यथा—"पुन्य एक जगह महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्रपद-पूजा॥" (उ० दो० ४४) "परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०) तथा— "ते पुनि पुन्य पुंज हम लेखे। जे देखहि देखिहहिं जिन्ह देखे॥" (अ० दो० ११९); "हम सम पुन्य-पुंज जग थोरे। जिन्हहि राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २०२); "पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (दो० २१३)। 'ज्ञान बिराग बिचार मराला।' यहाँ ज्ञान, विराग और विचार हंस कहे गये हैं, क्योंकि हंस श्वेत रंग के होते हैं। वैसे ही ज्ञानादि भी सत्त्व गुण से होते हैं। इस गुण का भी रंग श्वेत हो माना जाता है। हंस दूध और जल अलग करके दूध-मात्र ही पी लेता है, वैसे ही इनसे सत्-असत् का निर्णय होकर सत्-मात्र का ग्रहण होता है।

'बिचार'—यह सोचना कि सुत-वित-देह-गेह-स्नेह रूप नानात्व जगत् का व्यवहार भ्रम से है। भ्रमात्मक व्यवस्था भी अनित्य है। यथा—"देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये विचार। ज्यों कदली तरु मध्य विलोकत कबहुँ न निकसत सार॥" (वि० १८८)। तब वैराग्य उत्पन्न होता है, जैसे मनु-शतरूपा को प्रथम विचार उठा कि—"होइ न विषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयो हरि-भगति बिनु॥" (दो० १४२)। तब वैराग्य उत्पन्न हुआ, यथा—"नारि समेत गवन बन कीन्हा।" कहा है। फिर वैराग्य से ज्ञान होता है। यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। मान का सर्वथा निर्मूल हो जाना ज्ञान का लक्षण है। यथा—"ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥" (आ० दो० १४)।

ज्ञानादि तीन हंस कहे गये हैं; क्योंकि हंस तीन ही प्रकार के होते हैं—हंस, कलहंस और राज-हंस। यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥" (दो० ६);"बोलत जल-कुक्कुट कल-हंसा।" (आ० दो० ३९) और "सखी संग लइ कुँअरि तब, चलि जनु राज-मराल।" (दो० १३४)।

कमल में भ्रमर और हंस वास करते हैं, वैसे इन छन्दादि में सुकृत एवं ज्ञानादि वास करते हैं, अर्थात् इनके कहने-सुनने से सुकृत होता है और ज्ञान, विराग तथा विचार हृदय में आते हैं।

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥८॥

अर्थ—(इस श्रीरामचरित-मानस में) ध्वनि, अवरेब, गुण और जाति ही—जो कविता के भेद हैं—बहुत प्रकार की सुन्दर मछलियाँ हैं।

विशेष—(१) यहाँ ध्वनि, अवरेब, कवित्त-गुण और कवित्त-जाति—इन चार को मछली कहा है, क्योंकि मछलियाँ चार जातियों की होती हैं। फिर इन एक-एक में भी अनेक भेद होते हैं। मछली जल के भीतर रहती है। इसी तरह ध्वनि आदि भी काव्य के अंतर्गत रहती हैं। मीन के चार भेद हैं। यथा—"बुधि बल सील सत्य सब मीना।" (अ॰ दो॰ ४४)।

'धुनि' (ध्वनि)—जहाँ शब्दार्थ के सामान्य रूप के कुछ भिन्न ही अर्थ या भाव झलकता हो, उसे ध्वनि कहते हैं—चाहे वह वाच्यार्थ से प्रकट हो अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ से निकले। व्यंग्य भी ध्वनि के ही अन्तर्गत होता है। भेद यही है कि *व्यंग्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे ही प्रकार के विलक्षण* अर्थ की प्रतीति होती है। यथा—"समर बालि सन करि जसु पावा।" (सुं॰ दो॰ ११); पुनः—"पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी इक आली॥" (दो॰ २३३)। इसमें ध्वनि यह है कि अब चला जाय, तब तो कल इसी समय फिर आने का संयोग होगा। तथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।...कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥...येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ।" (दो॰ १३२)। इसमें ध्वनि यह है कि मैं अपना रूप तुम्हें न दूँगा; पर ऊपर अर्थ से हित कहने में मनोरथ-सिद्धि मालूम होती है।

'अवरेब'—तिरछी या टेढ़ी चाल अर्थात् जिसमें शब्दों का उलट-फेर (अन्वय) करने पर ठीक अर्थ निकले। यथा—"रामकथा कलि पन्नग-भरनी।" (दो॰ ३०)। इसमें 'भरनी' को उलटकर रामकथा के साथ लगाना पड़ता है। एवं—"रामकथा कलि बिटप कुठारी।" (दो॰ ३०) तथा—"*इहाँ हरी निसचर बैदेही।* बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥" (कि॰ दो॰ १); इसमें 'इहाँ' को 'खोजत' के साथ लगाना चाहिये।

'गुन'—जिससे चित्त को हर्ष हो। उत्कर्ष सम्पादन में यह रस का मित्र कहाता है। गुण मुख्य तीन हैं और वे माधुर्य, प्रसाद और ओज के नामों से प्रसिद्ध हैं। माधुर्य—जिससे श्रोता का चित्त द्रवीभूत हो, *टवर्ग और कटु वर्ण न पड़ें* और अनुस्वार-युक्त हो, कोमल वर्ण भी पड़ें। यह कर्ण-प्रिय उपनागरिका वृत्ति में होता है। यथा—"उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग।" (दो॰ २५४) "रामचंद्र मुखचंद्र छबि, लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥" (दो॰ ३२१)।

'प्रसाद'—जिसमें भाव की झलक स्पष्ट हो, पद कोमल हों, इसकी प्रवृत्ति गौड़ी वृत्ति में है। यथा—"लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥" (दो॰ २२६) तथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोबिद गुनआगार। केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ॰ दो॰ ७०)।

'ओज'—यह प्रायः परुषा वृत्ति में होता है और वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों में इसकी प्रवृत्ति रहती है। इसमें उद्धत शब्द और संयोगी वर्ण एवं बड़े-बड़े समास होते हैं। इसमें कवर्ग, टवर्ग की अधिकता होती है। यथा—"धिग धर्मध्वज धंधक धोरी। (दो॰ ११); "धरु धरु मारु मारु धरु मारू।" (लं॰ दो॰ ५२); "कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं। (आ॰ दो॰ १६); "मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।" (लं॰ दो॰ ४८) इत्यादि।

'जाति'—जिसके अर्थ स्पष्ट देख पड़ें और जैसा जिसका रूप, गुण, स्वभाव हो, वैसा ही वर्णन किया जाय। यथा—"जाको जैसो रूप गुन, कहिये ताको साज। तासों जाति सुभाव कहि, बरनत सब कविराज॥" (भाषाभूषण)। उदाहरण—"मनु जाहि राँच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।'

(दो० १२६); "बिद्या-बिनय-निपुन गुन सीला। खेलत खेल सकल नृप-लीला॥" (दो० २०३)। "राजकुमारि बिनय हम करहीं।"···से—"को आहिं तुम्हारे॥" (अ० दो०.११५-११६) तक।

(२) ध्वनि आदि के साथ मानसर की चार प्रकार की मछलियों से समता—

(क) पाठीन—यह बड़ी मछली होती है। इसे पढ़िना, रोहू भी कहते हैं। यह बिना सेहरे की होती है। इसका पेट लम्बा, मुख काला होता है और इसके कंठ में मंजरी होती है। यह जल के भीतर रहती है। भेदी ही इसको जानते हैं। वैसे ही ध्वनि भी शब्दों के भीतर होती है।

(ख) बामी—यह मुख और पूँछ मिलाकर चलती है, जैसे अवरेब में आगे-पीछे के शब्द मिलाने से अर्थ निकलता है।

(ग) सिधरी (सहरी)—ये छोटी होती हैं और दस-बीस मिलकर एक साथ चलती हैं, वैसे ही गुणकाव्य में भी दो-दो तीन-तीन अक्षरों के पद होते हैं और उनमें यमक, अनुप्रास की आवृत्तियाँ होती हैं। उनमें दो-चार मिलकर चलने में समता है।

(घ) चेल्हवा—यह चमकती हुई चलती है और पृथक् रहती है। वैसे जातिकाव्य में भी अर्थ शब्दों से चमकता है।

सम्बन्ध—ऊपर-"पुरइनि सघन" से—"कवित गुन जाती।" तक तल्लीन जलचरों की उपमाएँ दी गईं, जो सर से बाहर क्षण भर भी नहीं रह सकते। वैसे ध्वनि आदि भी शब्दों के भीतर ही रहती हैं। अब आगे तद्‌गत की उपमा दी जायगी—अर्थात् मगर-घड़ियाल आदि की जो सर से बाहर भी आ जाते हैं। पूर्व मीन और अब जलचर कहकर शब्द-भेद भी किया है—

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी॥ ९॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥१०॥

अर्थ—अर्थ, धर्म काम और मोक्ष—ये चारो और ज्ञान-विज्ञान का विचार करके कहना, ॥९॥ नवो रसों, जप, तप, योग और वैराग्य (का कथन)—ये सब इस सुंदर तालाब के जलचर हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'अरथ धरम कामादिक······' यहाँ शंका होती है कि ऊपर—'ज्ञान-बिराग-बिचार मराला।' कह ही आये हैं, फिर यहाँ ज्ञान क्यों कहा गया? इसका समाधान एक तो यह भी है कि वहाँ ज्ञान का स्वरूप कहा गया और यहाँ उसका कथन। दूसरा यह कि जैसे हंस दूर से देख पड़ता है, वैसे कहीं-कहीं ज्ञान का स्वतंत्र प्रसंग विस्तार से कहा है। जहाँ ज्ञान का आनुषंगिक वर्णन संकोच से है, वहाँ जलचर जानना चाहिये, क्योंकि जलचर जल में गुप्त रहते हैं।

जैसे मछली आदि जाल, बंसी से ऊपर करने से दिखाई पड़ती हैं, वैसे ध्वनि आदि बुद्धि की चतुरता से दिखाई देती हैं और मगर आदि जलचर स्वतः देख पड़ते हैं, वैसे यहाँ के अर्थ आदि स्वतः स्पष्ट रहते हैं।

यहाँ उपर्युक्त अर्थ आदि १९ वस्तु-कथनों के उदाहरण इस ग्रंथ से दिये जाते हैं—

अर्थ—जैसे सुग्रीव-विभीषण को धन-धाम प्राप्त हुए। यथा—"पावा राजकोष पुर नारी।" (कि० दो० १०) तथा—"सोइ संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९) यह अर्थ है।

धर्म—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।" (उ० दो० २०)। यह धर्म है।

काम—कामना सिद्ध होना, जैसे पुत्र-काम यज्ञ से राजा दशरथ की एवं औरों की कामना-पूर्ति भी हुई। यह काम है।

मोक्ष—यथा—"मुकुति कीन्ह असि नारि।" (आ० दो० ३६); कीन्हें मुकुत निसाचरझारी।" (लं० दो० ११३)। यह मोक्ष हुआ।

ज्ञान - विज्ञान—उ० दो० ११६ से ११७ तक तथा आ० दो० १३ से १६ तक।

नौरस—यथा—शृंगार—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (दो० २४१) एवं और भी जनकपुर के प्रसंगों में देखें। आरण्यकांड 'एक बार चुनि कुसुम सुहाये'''' (आ० दो० १) में भी शृंगार रस है। ये उदाहरण संयोग शृंगार के हैं। वियोग शृंगार के उदाहरण भी आरण्य, किष्किंधा और सुन्दर में भरे पड़े हैं, यथा—"कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहँ सकल भयेउ विपरीता।" (सुं० दो० १४) इत्यादि।

हास्य—"नाना जिनिस देखि प्रभु कीसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीसा॥" (लं० दो० ११७)।

करुणा—"मुख सुखाहिं''''' मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (अ० दो० ४६)।

बीभत्स—"वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।" (लं० दो० ४५)।

रौद्र—"जौं सत संकर करहिं सहाई। तौ मारउँ रन राम-दुहाई॥" (लं० दो० ७४)।

भयानक—"डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥" (दो० २४०)।

बीर—"उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥" (अ० दो० २२४)।

अद्भुत—"जो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ।" (उ० दो० ८०)।

शांत- "बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (दो० १०६)।

जप—"द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।" (दो० १४३)।

तप—पार्वतीजी, नारदजी, मनु-शतरूपा और रावण आदि का तपःप्रसंग देखिये।

योग—यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि के भेदों से अष्टांग है। इस ग्रंथ में शिवजी की एवं नारदजी की समाधि वर्णित है।

विराग—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥" (आ० दो० १४)।

सुकृती साधु नाम-गुन गाना। ते बिचित्र जल-बिहँग समाना॥११॥
संत-सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥१२॥

अर्थ—पुण्यात्माओं, साधुओं और राम-नाम के गुणों का गान विचित्र जलपक्षियों के समान है॥११॥ संत-सभा ही (इस सर के) चारों दिशाओं की अमराई (बागीचा) है और श्रद्धा वसन्त ऋतु के समान कही गई है॥१२॥

विशेष—(१) 'सुकृती साधु नाम गुन ''''' यहाँ 'गुन गाना' सुकृती, साधु और नाम तीनों के साथ है। पूर्व 'सुकृतपुंज' को भ्रमर कह आये हैं। यहाँ 'सुकृती-गुन-गान' को जलपक्षी कहते हैं।

'सुकृती-गुन-गान'—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके॥" (दो० २११)।

'साधु-गुन-गान'—"सुजन समाज सकल गुनखानी।"..... से—"सम-सुगंध कर दोउ॥" (दो० ३) तक तथा आरण्यकांड दो० ४४ से ४६ तक एवं उ० दो० ३६ से ३८ तक, इत्यादि। 'नाम-गुन-गान'—दो० १८ से २७ तक।

'सुकृत' से साधु मिलते हैं। यथा—"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४)। इसलिये साधु से प्रथम सुकृत कहा गया। साधु ही नाम गुण गान करते हैं। अतः, नाम से प्रथम कहे गये।

यहाँ जल के प्रसंग में ही जलचर, स्थलचर और नभचर तीनों प्रकार के जीव कहे गये हैं—

(क) 'पुरइनि सघन चारु .....' पुरइन स्थलचर है, क्योंकि यह स्थल के ही आधार से होती है।

(ख) 'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला।'......से—'जलबिहँग समाना।' तक नभचर हैं।

(ग) 'धुनि अवरेब कबित'...से—"ते सब जलचर चारु तड़ागा॥" तक जलचर हैं।

(२) 'संत-सभा चहुँ दिसि......' पूर्व साधु-गुण-गान को विहंग कहा। अब संत-सभा को अमराई कहते हैं। 'चहुँदिसि'—जैसे मानस-सर के चारों तरफ आम के बगीचे हैं, वैसे इस चरित (मानस) के चारो घाटों के चारो वक्ताओं के पास की संत-सभाएँ हैं।

(क) पूर्व दिशा की—"सादर सुनहु सुजन मन लाई।" श्रीगोस्वामीजी और सज्जनों की सभा।

(ख) दक्षिण की—"भरद्वाज आश्रम अति पावन......" से—"जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥" तक याज्ञवल्क्य-भरद्वाज की संत-सभा है।

(ग) पश्चिम की—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनि वृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल,....." (दो० १०५), यह शिव-उमा तथा अन्य (श्रोताओं) की सभा है।

(घ) उत्तर की—"वृद्ध-वृद्ध बिहँग तहँ आये। सुनहिं राम के चरित सुहाये॥" (उ० दो० ६२)—यह श्रीभुशुंडि-गरुड़ की संत-सभा है।

पहले जल मे तल्लीन और तद्‌गत—उसमें रहनेवाले पदार्थ कह आये हैं। इस अर्द्धाली से तदाश्रित—सर के आश्रित पदार्थ कहते हैं, क्योंकि अमराई आदि सर के बाहर हैं, पर रहते हैं सर के आश्रित ही।

भगति-निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥१३॥
संयम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद - रति रस बेद बखाना॥१४॥

अर्थ—अनेक प्रकार से भक्ति के निरूपण (जो संत सभा में होते हैं) वृक्ष हैं। क्षमा, दया, लता और वितान (चँदोवा) हैं अथवा लताओं के वितान हैं॥१३॥ संयम, नियम (इस अमराई) के फूल हैं, ज्ञान फल है, भगवान् के चरणों में प्रीति का होना फल का रस है (ऐसा) वेदों ने कहा है॥१४॥

विशेष—(१) 'भगति निरूपन ...' ऊपर श्रद्धा को वसंत ऋतु कहा था। अब उसके धर्म कहते हैं कि लताएँ फैलती हैं और वृक्ष फूलते-फलते हैं, फिर पक्व होने पर रस होता है, वैसे ही श्रद्धालु संत-सभा में विविध प्रकार की भक्ति के निरूपण रूप वृक्ष के आधार-पर क्षमा-दया का आविर्भाव एवं विस्तार होता है। जैसे लता वितान से वृक्ष की शोभा होती है, वैसे ही क्षमा-दया से भक्ति की भी होती है। अमराई में

वृक्ष रहते हैं और उनपर लताएँ लिपटती हैं, वैसे ही संत-सभा में भक्ति-निरूपण और उसके आश्रित क्षमा-दया गुण रहते हैं।

विविध विधान भक्ति के निरूपण—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से आ० दो० १५-१६ में कहा है, फिर आ० दो० ३५ में श्रीशबरीजी से भी कहा है। श्रीलक्ष्मणजी से श्रवणादिक नवधा तथा सूक्ष्मतया प्रेमा और परा भी कही है। श्रीशबरीजी से निवृत्तिपरक नवधाभक्ति कही गई है। अ० दो० १२७ से १३१ तक भी १४ आश्रम-वर्णन रूप में श्रीवाल्मीकिजी ने भक्ति के ही मार्ग बतलाये हैं। उ० दो० ४५-४६ में पुरजनों के प्रति श्रीरामजी ने भक्ति ही कही है। फिर भुशुंडीजी ने भी गरुड़जी से कई प्रकार से कई प्रसंगों में इसे कहा है।

(२) 'संजम नियम फूल···' संयम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (दान नहीं लेना)—ये पाँच प्रकार के यम (संयम) के भेद हैं। नियम—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (अनुराग), ये पाँच प्रकार के नियम के भेद हैं। पूर्व 'योग' को जलचरों में कहा था, अब उसके अन्तर्गत यम-नियम को फूल और योग की सिद्धिरूप ज्ञान को फल कहते हैं।

वसंत में बौरें लगती हैं और आम फलते हैं। संत-सभा में श्रद्धा से संयम, नियम और ज्ञान होते हैं। फल पक्व होने पर उसमें रस होता है, वैसे ही ज्ञान की पूर्णता पर हरि-पद में प्रीति होती है। यही ज्ञान का रस है। यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६) अर्थात् संयम-नियम का फल ज्ञान और ज्ञान का फल भक्ति है। यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (आ० दो० १७) तथा "होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

पाठांतर—कहीं-कहीं 'संजम' की जगह 'सम जम' भी पाठ मिलता है।

औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥१५॥

अर्थ—और भी कथाओं के अनेक प्रसंग (जो इस मानस में आये हैं वे) ही तोता, कोयल आदि बहुत रंगों के पक्षी हैं॥१५॥

विशेष—जैसे मानस-सर की अमराई में बाहर के शुक आदि पक्षी आते हैं, जल पीते और अमराई में कुछ देर ठहर फिर उड़कर चले जाते हैं, वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में भी अनेक कथाओं के प्रसंग आते हैं। इन्हीं को वक्ता लोग बाहर से प्रमाण लेकर विस्तार से कहते हैं। फिर मानस की कथा कहने लगते हैं, यही उन प्रसंगरूप पक्षियों का उड़ जाना है।

प्रसंग, यथा—"सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम-हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥" (अ० दो० ९४); तथा—"ससि गुरु-तिय गामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर-जान। लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेनु समान॥ सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू॥" (अ० दो० २२८) इत्यादि।

दोहा—पुलक बाटिका बाग बन, सुख सु-बिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु॥३७॥

शब्दार्थ—पुलक = आनंद से रोमांच होना। सुमन = सुन्दर (निर्मल) मन।

अर्थ - (संत-सभा में कथा से) रोमांच होना फुलवारी, बाग और वन है। जो सुख होता है, वह सुन्दर पक्षियों का विहार है। निर्मल मन माली है और वह स्नेहरूपी जल से सुन्दर नेत्र-(रूपी घड़ों के) द्वारा सींचता है।

विशेष—यहाँ भीतर (सर) की ओर से अमराई की तीन परिखाएँ सूचित कीं कि प्रथम चारों ओर वाटिका है, फिर बाग और फिर वन। यही क्रम श्रीजनकपुर में है। यथा—"सुमनवाटिका बाग वन, बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥" (दो॰ २१२)। अन्य प्राकृत वनों में माली नहीं रहता, पर यहाँ मानस-सर के पास का वन वृन्दावन, प्रमोद वन आदि की तरह का है। अतः, माली का भी रहना युक्त है। पुलक के लिये तीन उपमाएँ हैं। अतः, पुलकावली तीन प्रकार की हैं। वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस के पास की संत-सभारूपी अमराई में भी तीन परिखाएँ (विभाग) हैं। भक्तिकांड वालों की पुलकावली वाटिका है। वाटिका में दिन-भर जल की नहर लगी रहती है, वैसे भक्तिशालों के नेत्रों से बार-बार अश्रुपात हुआ करते हैं, इसीसे पुलकरूप वाटिका बारहों मास फूलती रहती है। इन पुलक-रूप फूलों में श्रीसीता-रामजी के गुण एवं रूप-माधुरी रस है। उसमें अपने भावानुकूल जो सुख होते हैं, वे ही रायमुनियाँ आदि पक्षी हैं। वे भक्त विहार-पूर्वक माधुरीरस को ग्रहण करते हैं। ज्ञान कांडवालों की पुलकावली बाग है। बाग में कहीं छठे-छमासे वा वर्ष मे जल दिया जाता है, वैसे ज्ञान में 'पुलकावली' थोड़ी होती है। बाग मे फल होता है, वैसे इनमें जीवन्मुक्ति फल है और ब्रह्मानन्द ही उसका रस है। बुद्धि के अनुसार सुख शुक आदि विहंग हैं जो ब्रह्मानन्द मे विहार किया करते हैं। कर्म कांडियों की पुलकावली वन है। वन की सिंचाई दैवात् कभी होती है, वैसे कर्मकांडियों में और भी कम पुलकावली होती है और अर्थ, धर्म, काम ही मध्यम, उत्तम और निकृष्ट फल लगते हैं। अहंकारपूर्वक होनेवाले सुख ही तीन प्रकार के लवा आदि पक्षी हैं। वे फलों के भोगरूप रस को ग्रहण करते हुए विहार किया करते हैं। तीनों प्रकारों में सुन्दु मन की बड़ी आवश्यकता है।

जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥१॥
सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते सुरबर मानस अधिकारी॥२॥

शब्दार्थ— सँभारे = सावधानता-पूर्वक। ☞ यहाँ वक्ता-श्रोता बतला रहे हैं।

अर्थ—जो इस रामचरितमानस को सावधानी से गाते हैं, वे इस सर के चतुर रखवाले हैं॥१॥ जो स्त्री-पुरुष इसे आदर के साथ सुनते हैं, वे ही इस सुन्दर मानस के देवता रूप उत्तम अधिकारी हैं॥२॥

विशेष—(१) 'जे गावहिं यह ...' ऊपर दोहे तक सर का वर्णन हुआ। अब उसके बाहर की बात कहते हैं कि जैसे सर में बाहर की खराबियों (थूक-खखार आदि) से रक्षा करने को पहरेदार रहते हैं, वैसे इस रामचरित मानस के रखवालों को कहते हैं। 'जे गावहिं'—इस मानस के चार श्रोता-वक्ता तो घाट के ही रूपक मे हैं। यहाँ अन्य गानेवालों को कह रहे हैं कि रखवालों का काम है कि स्त्री के घाट पर पुरुष न जाय, कोई सर मे नहीं थूके और न निषिद्ध वस्तु ही डालने पावे। वैसे ही गानेवालों को चाहिये कि स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग का विचार रक्खें। पाठ बदलना एवं क्षेपक मिलाना निषिद्ध वस्तु डालना है और अशुद्ध पढ़ना थूकना है—ये सब बचाते हुए सँभालकर पढ़ें। प्रसंग पर ध्यान रखते हुए, तदनुसार अशुद्धि बचाते हुए, सावधानी से पढ़ना चतुरता है।

(२) 'सदा सुनहिं सादर···' मानस सर में स्नान के अधिकारी ऋषि एवं देवता लोग हैं, वैसे इस रामचरितमानस के अधिकारी वक्ता ऊपर कहे गये। अब श्रोताओं को कहते हैं। श्रोताओं के लिये दो बातें आवश्यक हैं—एक तो सदा सुनना और दूसरी आदर के साथ सुनना। आदर यह कि बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुने। यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४)। उत्तम श्रोता आदर के साथ ही सुनते हैं। यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (दो० ४६), "सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" (दो० ११३); "भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२४) अर्थात् यह मानस तीर्थ है। अतः, सादर स्नान करने से ही फल मिलता है। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१)। 'नर-नारी' अर्थात् उक्त दो नियमों से चाहे जो हो, सबको अधिकार है। 'वर' पद दीपदेहली रूप से 'सुर' और 'मानस' दोनों के साथ है, क्योंकि कथा-श्रवण भक्ति है और देवता लोग अपने ऐश्वर्य-मद से भक्ति नहीं कर पाते। यथा—"हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत तव भगति बिसारी॥" (लं० दो० १०९)। अतः, श्रोता देवताओं से श्रेष्ठ हैं।

सम्बन्ध—ऊपर अधिकारी कहे, अब अनधिकारी कहते हैं—

अति खल जे बिषई बग कागा। येहि सर निकट न जाहिं अभागा॥३॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥४॥
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥५॥

शब्दार्थ—संबुक = घोंघा। भेक = मेढक। सेवार = जलाशयों में किनारे के पास पानी में काई की तरह हरी-हरी घास जमती है, उसमें छोटे-छोटे जीव फँसकर रहते हैं। काक-बक इन्हें खाते हैं। सेंवार से हलवाई लोग चीनी साफ करते हैं। बलाक = बगुला।

अर्थ—जो विषयी अत्यन्त दुष्ट हैं, वे बगुले और कौए के समान हैं। वे अभागे इस सर के पास नहीं जाते॥३॥ (क्योंकि यहाँ) घोंघे, मेढक और सेंवार की तरह अनेक प्रकार की विषय—रस की कथाएँ नहीं हैं॥४॥ इसी कारण बेचारे कौए और बगुले रूपी कामी यहाँ आने में हृदय से हार मानते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'अति खल जे बिषई···' भाव यह है कि सामान्य खल विषयी कामी सत्संग से सुधर जाते हैं। यथा—"खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।" (दो० ६); "काक होहिं पिक बकउ मराला।" (दो० २), "बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवनसुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)। इसी से यहाँ 'अति' विशेषण दिया गया कि ये स्वयं सत्संग से दूर रहते हैं। अतः, अभागे हैं। यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होंहिं बिषय अनुरागी॥" (आ० दो० ३२); "काई बिषय मुकुर मन लागी।···सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥" (दो० ११४)। ये काक हैं। क्योंकि इन्हें विषयरूपी नीम कड़वी नहीं लगती, विषय के लिये दंभ करते हैं। अतः, बक भी हैं। 'अभागा'—भाग्यवान् श्रीराम यश सुनते हैं और अभागे विषयरस चाहते हैं।

(२) 'बिचारे'—इनका चारा संबुक, भेक और सेवार ही है, वे सब यहाँ नहीं हैं तो किसलिये आवें? इसी से दीन-हीन पड़े रहते हैं। 'हिय हारे'—क्योंकि कामी के हृदय में हरि-कथा की जगह नहीं है, यथा—"क्रोधिहिं सम कामिहिं हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सु० दो० ५७)।

सम्बन्ध—जैसे मानस-सर में आने की कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ हैं, वैसे रामचरितमानस में भी हैं। यही आगे कहते हैं—

आवत येहि सर अति कठिनाई। राम-कृपा बिनु आइ न जाई ॥६॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके बचन बाघ हरि ब्याला ॥७॥

शब्दार्थ—हरि = सिंह। ब्याल = सर्प, खूनी हाथी (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ)

अर्थ—इस (रामचरितमानस) सर में आने में बहुत ही कठिनाइयाँ हैं। श्रीराम-कृपा बिना यहाँ आना नहीं हो सकता ॥६॥ कठिन कुसंग ही भयंकर बुरे रास्ते हैं, उन (कुसंगियों) के वचन बाघ, सिंह और साँप (अथवा खूनी हाथी) हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'आवत येहि सर···' उस मानस-सर में कठिनाई है और इसमें 'अति कठिनाई' है। इसमें आने का साधन श्रीराम-कृपा ही है। यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥" (उ० दो० ११८) और कृपा का साधन भजन है। यथा—"मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥" (दो० १६१)।

(२) कठिन कुसंग···' मानस-सर में भयंकर, जंगली एवं पहाड़ी ऊबड़-खाबड़ रास्ते हैं और वहाँ बड़े-बड़े बाघ, सिंह और साँप एवं खूनी हाथी रहते हैं। वैसे इस रामचरितमानस में आने के मार्ग में कठिन कुसंग है। कठिन कुसंग वह है, जो छूटने योग्य न हो—जैसे-विद्यागुरु, माता, पिता, भ्राता और स्त्री-पुत्र आदि का होता है। उनकी परवशता कठिनता है। यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे (क० उ० ३०); "कह संग सुसील सुसंतन सों तजि कूर कुपंथ कुसाथहिं रे ॥" (क० उ० ३१)। इन कुसंगियों के वचनों की तीन उपमाएँ हैं। उनमें बराबरवाले भाई-सखा आदि के वचन बाघ हैं, क्योंकि वे ईर्ष्या करते हैं और कहते हैं कि वहाँ (कथा में) लोग परस्त्रियों से नजरें लड़ाने जाते हैं जिससे और पाप लगता है। यों तो अनजान का क्षम्य है, इत्यादि। पिता-माता आदि गुरु-जन यदि दुष्टप्रकृति हुए, तो चाहे स्पष्ट न भी रोकें, तब भी भय रहता ही है। जैसे सिंह विशेषकर हाथी ही पर चोट करता है, पर उससे डर तो सभी को रहता है। यदि वे रोकें तो धर्मभय से सिंह के गर्जन की तरह उनसे हृदय दहल जाता है। स्त्री-पुत्रादि छोटों के वचन साँप हैं। ये प्रत्यक्ष न भी कहें तो भी फुसकार मारते हैं अथवा ममता के कारण इनका मधुर बोलना ही डँसना है या ममता में फँसे रहनेवाले को स्त्री-पुत्रादि खूनी हाथी की तरह कुचल डालते हैं। इन्हीं लोगों के प्रति कहा है—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम-पद, करइ न सहस सहाइ ॥" (अ० दो० १८५)।

गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥८॥
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना ॥९॥

शब्दार्थ—बिषम = दुर्गम, तीक्ष्ण। मोह = शरीराभिमान वा आसक्ति। मद = अपने गुणों का गौरव प्रत्यक्ष रूप में मानना। मान = आत्मगौरव (मानसिक) रहना।

अर्थ– घर के कार्यों और अनेक धंधों के बंधन ही अति कठिन ऊँचे बड़े-बड़े पर्वत हैं ॥८॥ मोह, मद और अभिमान ही बहुत-से कठिन वन हैं और कुतर्क ही अनेक प्रकार की भयकर नदियाँ हैं ॥६॥

विशेष –(१) 'गृहकारज नाना···' मानस-सर के रास्ते में एक-से-एक ऊँचे पहाड़ पड़ते हैं। उनका ताँता नहीं टूटता। फिर चढ़ाई भी कठिन, इससे मार्ग नहीं चुकता, वैसे यहाँ घर के एक काय से छुट्टी मिली नहीं कि दूसरे और भारी आ जाते हैं, उनमें भी शास्त्रोक्त कार्य—जैसे श्राद्ध, व्याह, यज्ञोपवीत आदि आ पड़ते हैं, इनकी चढ़ाई चुकने नहीं पाती। 'नाना जंजाला'—अपने और मित्रों के अनेक प्रकार की उपाधियाँ (उपद्रव) और मामले आ पड़ते हैं, जिनकी मानसिक चिंताएँ भी पिंड नहीं छोड़तीं।

(२) 'वन बहु विषम···' भाव यह है कि सामान्य वन एवं सामान्य नदी से पार जाना हो सकता है, वैसे सामान्य मोह, मद मानवाले एवं सामान्य तर्कवाले किसी तरह कथा में चले जाते हैं, पर विषम एवं भयंकर मोहादिवाले नहीं जा सकते।

गृहकार्य से किसी तरह छूटे भी तो मोह-मद-मान बड़े कठिन जान पड़ते हैं। यहाँ से पहाड़ों के ऊपर के वन कह रहे हैं। मद पाँच प्रकार के कहे जाते हैं। यथा—"जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपयौवन-मेव च। यत्नेन परिवर्ज्येया: पंचैते भक्तिकंटकाः॥" प्रसिद्ध है।

मोह—स्त्री घर में अकेली है, बच्चा हिलमिल गया है—जाने नहीं देता, घर में ताला न टूट जाय, परिवार में अमुक दुखी है, मित्र आ गये, इनके पास न बैठें तो नहीं बनता, इत्यादि।

मद—मैं उत्तम ब्राह्मण हूँ, शूद्र से अथवा अपनेसे न्यून से कथा क्या सुनूँ, फिर वह हमसे अधिक पढ़ा हुआ भी नहीं है। श्रोता बनने से उसे श्रेष्ठ मानना होगा।

मान—वक्ता अभिमानी है, वहाँ जाने से मेरा मान हो वा न हो।

कुतर्क—घरवाले लड़कों को स्वार्थ-दृष्टि से भय देते हैं कि रामायण साधुओं के लिये है, उसमें पड़कर फिर गृहस्थी के काम का नहीं रहता, दरिद्रता आ जाती है। देखो, असुर ने कुछ काल सुना था, उसका वंश ही नष्ट हो गया। वक्ता लोगों ने स्वार्थ-साधने के लिये परलोक की लीला रच ली है। भला, किसी श्रोता के लिये स्वर्ग से विमान आया है या वहाँ से किसी का पत्र आया है ? इत्यादि।

'कराल कुपथ' से पहाड़ अधिक, फिर उससे कठिन विषम वन, उससे भी कठिन भयंकर नदी है, वैसे उनके उपमेयों की क्रमश: अधिक कठिनता जाननी चाहिये।

विषमवन से यह भी जनाया कि प्रथमोक्त 'पुलक वाटिका बाग वन' वाले वन ललित थे, क्योंकि वे मानस के पास के थे और ये विषम वन रास्ते के हैं।

यहाँ प्रथम पहाड़-वन कहकर नदी का वर्णन किया, क्योंकि नदियाँ अधिकतर पहाड़ से निकलती हैं। यथा—"अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहु रोष-तरंगिनि बाढी॥ पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥" (अ० दो० ३३)।

दोहा—जे श्रद्धा - संबल - रहित, नहि संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहि न प्रिय रघुनाथ ॥३८॥

अर्थ—जिनके पास श्रद्धा रूपी राहखर्च नहीं है और न संतों का साथ है एवं जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय नहीं हैं, उनको यह मानस अत्यन्त कठिन है ॥३८॥

विशेष—इस मानस की अगमता का उपक्रम—'आवत येहि सर अति कठिनाई।' से हुआ। बीच में कई प्रकार की अगमताएँ कहीं—जैसे कुसंग, कुसंगियों के वचन, गृहकार्य, नाना जंजाल, मोह-मद-मान और कुतर्क। इनसे भी मानस अगम ही है, पर यहाँ के कथित श्रद्धाहीन, संतसंग-रहित और श्री राम-स्नेह-रहित मनुष्यों को तो 'अति अगम' है। इससे यह भी दिखाया कि मानस इन्हीं तीन उपायों से सुगम हो सकता है—श्रद्धा हो, संतों का साथ हो और श्रीरामजी में प्रेम हो।

जैसे तीर्थ में प्रेम हो, खर्च पास हो अथवा किसी धनी का साथ हो तो रास्ते की कठिनाइयाँ नहीं जान पड़तीं, वैसे इस मानस के देवता श्रीरामजी हैं। अतः, उनमें प्रेम हो, कथा में श्रद्धा हो और सत्संग करे, तभी यह सुगम हो।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥ १॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयेहुँ न मज्जन पाव अभागा॥ २॥

अर्थ—फिर भी जो कोई मनुष्य कष्ट झेलकर वहाँ पहुँच जाय, तो उसे जाते ही नींद रूपी जूड़ी आ जाती है ॥१॥ जड़ता रूपी कठिन जाड़ा हृदय में लगा, (अतः) वह अभागा जाने पर भी स्नान नहीं कर पाया ॥ २॥

विशे —(१) 'जौं करि कष्ट···' अभी तक मार्ग के कष्ट कहे। अब पहुँचने पर भी स्नान में जो विघ्न होते हैं, उन्हें कहते हैं। 'करि कष्ट' जानेवाले न तो 'अति खल विषयी कामी' ही हैं, क्योंकि वे तो जा ही नहीं सकते और न वे ही हैं जिनका श्रद्धा आदि साधनों से पहुँचना कहा गया। ये वे हैं जिनके पास श्रद्धा आदि तीनों नहीं हैं, किंतु ईर्ष्या से कष्ट करके जा पहुँचते हैं। 'जातहिं', अर्थात् कुछ देर पीछे जूड़ी (जड़ैया-बुखार) आवे तो स्नान कर लें, वैसे कथा में पहुँचकर कुछ तो सुन लें, पर जाते ही नींद आ जाती है कि एक अक्षर भी न सुनें।

(२) 'जड़ता जाड़···' ऊपर का जाड़ा आग तापने से भी छूट जाता है, पर हृदय का जाड़ा किसी तरह नहीं छूटता। जड़ता (मूर्खता) हृदय से होती है, इसलिये 'उर लागा' कहा है। मूर्खता से कथा पर ध्यान न देने एवं न समझने से ही नींद आती है, इसी से श्रवण-मनन रूपी स्नान नहीं हो पाता। ऊपर—'अति खल जे···अभागा।' कहा था। फिर यहाँ भी 'अभागा' ही कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो कथा में नहीं गये अथवा जो जाकर भी सो जाते हैं, दोनों ही अभागे हैं।

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥ ३॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर-निंदा करि ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—(श्रीरामचरितमानस-रूपी सरोवर) में स्नान-पान तो किया नहीं जाता और अभिमान-सहित लौट आता है ॥३॥ फिर जो कोई पूछने आया तो सर की निन्दा करके उसको समझा दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'करि न जाइ ····' स्नान से मैल छूटती है और पीने से प्यास बुझती है, वैसे ही कथा का श्रवण करना स्नान है, धारण करना पीना है; अभिमान ही मैल है, यथा—"मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।" (भक्तमाल-टीका-प्रियादास) और मैल ही पाप कहाती है। आशा ही प्यास

है। यथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (दो० ४२)। आशा से ही भाँति-भाँति के परिताप होते हैं, कथा से पाप-परिताप दोनों ही छूटते हैं। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४२)। स्नान-पान होता तो अभिमान-रहित होकर लौटता।

(७) 'जौं बहोरि कोउ ......' 'बहोरि' अर्थात् दूसरी बार (लौटने पर)। 'बुझावा'—जैसे जल डालकर अग्नि बुझाई जाती है, वैसे निन्दा-रूपी जल से उसकी श्रद्धा-रूपी उत्तेजित अग्नि को बुझा दिया कि वहाँ क्या है, जाड़ों मरना है। पुरइनें भरी हैं। जल जो वहाँ है वही यहाँ भी, ऐसे ही मानस में दोहा-चौपाई ही तो हैं, हम घर में ही बाँच ले सकते हैं तथा और वक्ता-श्रोताओं के सम्बन्ध की भी निन्दा कर देता है।

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥५॥

सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥६॥

अर्थ—जिसको श्रीरामजी अत्यन्त कृपा-दृष्टि से देखते हैं, ये सब विघ्न उसको बाधक नहीं होते॥५॥ वही इस सर में आदर के साथ स्नान करता है और महा घोर दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से नहीं जलता॥६॥

विशेष—(१) 'सकल बिघ्न...' ऊपर बतलाया गया है कि श्रीरामजी की कृपा के बिना कैसी गति होती है। अब कृपा-दृष्टि होने की व्यवस्था कहते हैं कि जितने विघ्न ऊपर कह आये हैं, उनमें से कोई भी विघ्न नहीं होता। 'सुकृपा' अर्थात् अन्य वस्तुएँ कृपा के अवलोकन से प्राप्त होती हैं, पर श्रीरामचरितमानस का स्नान तो तभी होता है, जब 'सुकृपा' अर्थात् प्रभु अति कृपा करते हैं। यथा—"अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाँव देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८)।

(२) 'सोइ सादर सर ......' सोइ अर्थात् अति हरि-कृपा पात्र ही। 'त्रयताप'—"दैहिक दैविक भौतिक तापा।" (उ० दो० २०); अर्थात् शरीर सम्बन्धी ज्वर आदि दैहिक, साँप—चोर आदि की बाधाएँ भौतिक और ग्रहादि एवं दुःकाल आदि बाधाएँ दैविक ताप हैं। यथा—"श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥" (उ० दो० १३०)।

'सादर'—यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१), मानस-सर के मज्जन से ताप दूर होता है, इससे त्रयताप दूर होते हैं—यह आधिक्य है। ऐसे स्थलों में व्यतिरेक अलंकार होता है।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्हके रामचरन भल भाऊ॥७॥

जो नहाइ चह येहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों में जिनका उत्तम प्रेम है, वे इस सर को कभी नहीं छोड़ते॥७॥ हे भाई! जो इस सर में स्नान करना चाहे, वह मन लगाकर सत्संग करे॥८॥

विशेष—(१) पूर्व दोहे में श्रद्धा, श्रीरामपद-प्रेम और सत्संग को श्रीरामचरितमानस की प्राप्ति के साधन बतलाया। यहाँ की ६, ७, ८ वीं अर्द्धालियों में उनका ही क्रमशः विशेष वर्णन किया। जैसे—'सादर मज्जन' में श्रद्धा स्पष्ट है। शेष दो में भी श्रीराम-पद-प्रेम और सत्संग स्पष्ट कहा ही है।

'तजहिं न काऊ' अर्थात् श्रद्धा-हीनों को—'फिरि आयइ समेत अभिमाना।' कहा, पर ये श्रद्धालु इसे कभी छोड़ते ही नहीं। वे सर-निन्दा करके औरों की भी श्रद्धा घटा देते हैं, पर इन्हें देखकर दूसरों को भी श्रद्धा होती है।

(२) 'जौं नहाइ चह····' यहाँ इसका साधन सत्संग ही कहा है। यथा—"बिनु सत्संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। 'मन लाई' अर्थात् बहुत काल तक बराबर सत्संग करे तब इसके संशय-भ्रम दूर होते हैं। यथा—"तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा॥" (उ० दो० ६०)।

अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबि-बुद्धि बिमल अवगाही॥९॥

शब्दार्थ—चाही=देखकर, यथा—"सीय चकित चित रामहिं चाहा।" (दो० २४७)। मानस-चख=हृदय के नेत्र से, ज्ञानदृष्टि से।

अर्थ—कवि की बुद्धि ऐसे 'मानस' को हृदय के नेत्र से देखकर, (उसमें) गोता लगाकर, निर्मल हो गई।

विशेष—(१) 'अस मानस'—इसका—'अस मानस जेहि बिधि भयेउ, '' पर उपक्रम हुआ था, यहाँ 'अस मानस' कहकर उपसंहार किया अर्थात् इस उपक्रम-उपसंहार के बीच में मानस का स्वरूप कहा गया।

'मानस-चख चाही'—बारंबार मनन करके। 'अवगाही'—गोता लगाकर' थाह पाकर अर्थात् चरित्र-चित्रण का अन्दाज़ा करके। 'भइ कबि-बुद्धि बिमल'—भाव प्रथम जो काव्य करने में बुद्धि कदराती थी, वह मैल छूट गई; अब बुद्धि काव्य-निर्बंध के लिये उत्साहित हुई।

प्रश्न—इस मानस-प्रसंग में प्रथम 'आइ न जाई' और 'इहाँ आदि निकटसूचक शब्द आये हैं। फिर बीच में 'जौं करि कष्ट जाइ, जातहिं, गयेउ' इत्यादि दूरसूचक पद आये और फिर अंत में 'अस मानस' 'यह' आदि निकटसूचक पद क्यों हैं?

उत्तर—प्रथम समीप का वर्णन-प्रसंग था, तब समीप के शब्द पड़े, जब दूर की कहने लगे, तब वैसे शब्द दिये, फिर बुद्धि स्नान करने के लिये सर के समीप आई, तब फिर निकट-सूचक शब्द दिये।

अगली चौपाई से श्रीसरयूजी के समान कीर्त्ति-सरयू का रूपक प्रारंभ होता है, इसके लिये श्रीसरयूजी की जन्म-कथा जानने की आवश्यकता है। अतः, वह कथा सत्योपाख्यान अ० ३७ के अनुसार संक्षेप में दी जाती है—

श्रीसरयूजी ने स्वयं अपनी उत्पत्ति की कथा राजा दशरथजी से कही है कि सृष्टि के आदि में जब श्रीब्रह्माजी भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए और तप की आज्ञा पा दिव्य हजार वर्षों तक कुम्भक(साँस) को चढ़ाकर भगवान् की आराधना की तब भगवान् वहाँ आये और अपनी आज्ञा में निष्ठा एवं अपनी भक्ति में तत्परता देखकर उनके नेत्रों से करुणा-जल बह चला। ब्रह्माजी ने नेत्र खोलकर देखा, तब दंडवत् किया और उस दिव्य जल को हाथ में उठा लिया। फिर बड़े प्रेम से उसे कमंडल में रक्खा। भगवान् के अंतर्धान होने पर, इस दिव्य जल को रखने के लिये मन से एक 'मानस' सर रचा और उसी में इस 'ब्रह्मद्रव' को स्थापित किया।

फिर बहुत काल बीतने पर तुम्हारे पूर्वज राजा इक्ष्वाकु की प्रार्थना से श्रीवशिष्टजी मानस सर पर गये। वहाँ मंजुकेशि ऋषि (जो इस जल की रक्षा के लिये नियुक्त थे) की स्तुती की। ऋषि ने वर माँगने को कहा, तब इन्होंने नदी माँगी। ऋषि ने (नेत्रजा' को) ले जाने की आज्ञा दी, तब उस सर से हम नदी रूप होकर निकली। श्रीवशिष्टजी आगे आगे चले और हम पीछे-पीछे यहाँ श्री अयोध्या को प्राप्त हुई। फिर यह भी कहा है, हम श्रीरामजी को सदा अपनी कुक्षि में धारण किये रहती हैं, क्योंकि इन्हीं के नेत्र से हमारी उत्पत्ति है।

यहाँ कीर्त्ति-सरयू के सम्बन्ध में शिवजी ब्रह्मा हैं, जिन्होंने हरि-करुणा नेत्र से चरित जल प्राप्त करके अपने मन-मानस रूप कमंडल में रक्खा था। कवि का मन इक्ष्वाकु और मनोरथ वशिष्ट हुआ, तब काव्यरूपा सरयूजी को संत-समाज रूपी अयोध्या में ले आये। मानस से सरयूजी नदी-रूप होकर निकलीं, वैसे हृदय-मानस में जो राम-यश-जल भरा था, वह कविता रूपा नदी होकर निकला और उसका नाम 'कीर्त्ति-सरयू' पड़ा।

भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमँगेउ प्रेम-प्रमोद प्रवाहू ॥१०॥
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस-जल-भरिता सो ॥११॥

अर्थ—हृदय में आनंद और उत्साह हुआ, (उससे) प्रेम और आनद का प्रवाह उमड़ आया ॥१०॥ और कविता रूपी सुन्दर नदी बह चली, जो निर्मल श्रीराम यश रूपी जल से भरी हुई है ॥११॥

विशेष—(१) पूर्व दो० ३५ में—'जग प्रचार जेहि हेतु' कहा था, उसका प्रकरण यहाँ से प्रारंभ हुआ कि हृदय में आनंद और उत्साह बढ़ा जिससे कविता प्रवाह-रूप में निकल पड़ी। अब, इस 'कीर्त्ति सरयू' की उत्पत्ति हृदय से हुई। हृदय और मानस (मन) एक ही हैं। सरयूजी भी मानस-सर से निकलीं, इससे दानों मानस-नन्दिनी हैं। इसीसे इनका मूल पहाड़ नहीं कहा गया। करुणा भी मन से होती है, इसीलिये वहाँ—'सेन मनहुँ करुनासरित' (अ० दो० २७५) पर भी पहाड़ का वर्णन नहीं है।

(२)—'राम बिमल जस जल......' ऊपर श्रीसरयूजी के जन्म प्रसग में कहा गया कि श्रीसरयूजी श्रीरामजी को सदा अपनी कुक्षि में रखती हैं, वैसे ही यहाँ 'कीर्त्तिसरयू' ने श्रीरामजी के यश रूप सच्चिदानन्दविग्रह को भी अपने उदर में भर रक्खा है, ऐसा कहा है।

शंका—श्रीराम-सुयश प्रथम मानसकार ने श्रीगुरुजी से वाराहक्षेत्र में सुना था, फिर साधुओं ने वेद पुराण से लेकर मेघ रूप से बरसाया, तब यह 'कीर्त्ति-नदी' किस प्रसंग की है ?

समाधान—प्रथम श्रीराम सुयश श्रीगुरुजी से सुना था। वह हृदय रूप कुंड में भरा था। फिर साधुओं द्वारा बरसकर भी आया, तब जहाँ-तहाँ भेद जान पड़ा। यही मलिनता हुई। जब बहुत काल मनन-रूप गोते लगाये, तब मानस का पूर्व रूप, जो श्रीगुरुजी से सुना था, यथार्थ रूप में देख पड़ा। इससे असदिग्ध बुद्धि निर्मल होकर उत्साहित हुई और राम-यश कविता रूप से प्रवाहित हुआ। 'कीर्त्ति नदी' का जन्म कहकर आगे नामकरण भी कहते हैं—

सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक • वेद • मत मंजुल कूला ॥१२॥
नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि । कलि-मल-तृन-तरु-मूल निकंदिनि ॥१३॥

अर्थ—(इस कवितारूपिणी नदी का) नाम सरयू है, जो सुन्दर मंगलों की जड़ हैं। लोकमत और वेदमत (इनके दोनों) सुन्दर किनारे हैं ॥१२॥ ये 'सुमानस नन्दिनी' नदी पुनीत हैं और कलि के पाप रूपी तृणों और वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाली हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'सरजू नाम······' सरश्च्युता होने से—सर से निकलने से 'सरयू' नाम है। लोक-रीति का वर्णन लोकमत है । यथा—"लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिनि सकुचाहिं।" (दो० ३५०)। वेदमत श्रीरामजी का परब्रह्म परत्व प्रतिपादन एवं कांडत्रय की बातें तथा और भी वेद-विधियों का वर्णन है। यथा—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू॥" (दो० ११६); दोनों मत, यथा—"निगम-नीति कुल-रीति करि······" (दो० ३२१); "करि लोक-वेद-बिधान कन्यादान नृपभूपन किये।" (दो० ३२३) इत्यादि। ये 'कीर्त्ति-सरयू' दोनों मतों की प्रतिपादिका हैं। नदियों में एक किनारा खड़ा और दूसरा प्रायः ढालू होता है, वैसे इनमें कहीं वेदमत की प्रधानता तो कहीं लोकमत की प्रधानता है। ये कीर्त्ति सरयूजी दोनों मतों का प्रतिपादन मंजुल रूप में करती हैं। दोनों मत राम-यश रूप में ही हैं। अतः, सुयश-वारि से पूर्ण हैं।

(२) 'नदी पुनीत···'—एक में भगवान् का नेत्र-जल और दूसरी में राम-सुयश-रूप जल है। अतः, दोनों पुनीत एवं सु-मानस-नन्दिनी हैं।

'कलिमल तृनतरु'···'—पाप दो प्रकार के होते हैं—पातक और उपपातक। यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन मन-भव कवि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)। यहाँ पातक तरु और उपपातक तृण हैं। 'मूलनिकंदिनि' पाप के मूल 'करम-बचन मन' हैं, इन्हें शुद्ध कर देती हैं। अतः, पाप होते ही नहीं। यथा—"मन क्रम-बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५) अर्थात् मनन से मन शुद्ध होता है, कथन से वचन शुद्ध होता है, फिर तदनुसार कर्म भी होने लगते हैं।

(३) अधमता और उत्तमता भी चार प्रकार से देखी जाती है—जन्म, संग, स्वभाव और शरीर से। यथा—"निसिचर-बंस जनम सुरत्राता।" (सु० दो० ४४)—जन्म-स्थान-दूषित ; "नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (सुं० दो० ४४) ;—संग-दूषित; 'सहजपापप्रिय'—स्वभाव-दूषित और 'तामस देहा'—शरीर-दूषित। ऐसे ही यहाँ कीर्त्ति-सरयू में चारों की उत्तमता है। यथा—'सुमानसनंदिनि' में जन्मस्थान, 'नदी पुनीत' में तनु, 'राम-भगति सुरसरितहिं जाई, मिली···' में संग और 'सुकीरति सरजु सुहाई।' में स्वभाव की उत्तमता है।

दोहा—श्रोता त्रिबिध समाज पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत-सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल ॥३९॥

अर्थ—तीन प्रकार के श्रोताओं के समाज इसके दोनों किनारों के पुर, ग्राम और नगर हैं। उपमा-रहित और सब उत्तम मंगलों की खान संत-सभा श्रीअयोध्याजी हैं।

विशेप—(१) 'श्रोता त्रिविध'—यथा—"सुनहिं विमुक्त विरत अरु विपई। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)। उदाहरण—मुक्त—"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)। विरत (विरक्त)—"महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर विरति विवेका॥" (उ० दो० १४)।—विपई—"विपइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो ५२)। यहाँ जो 'विरत' हैं, वे ही मुमुक्षु भी कहे जाते हैं।

(२) यों तो पुर, ग्राम, नगर पर्यायी भी कहे जाते हैं, पर यहाँ त्रिविध के रूपक में कहे गये हैं। अतः, लोक में जैसे पुर (पुरवा) से ग्राम बड़ा कहा जाता है और ग्राम से नगर बड़ा। वैसे यहाँ भी लेना चाहिये। यहाँ विपयी पुरवा हुए, जो कथा में श्रवण-सुख एवं मनोरञ्जन के लिये जाते हैं। अतः, इनकी निष्ठा दृढ़ नहीं होती। जैसे पुरवे के किनारे के स्थल प्रायः धार से कट जाते हैं; अतः, उजड़ जाते हैं, वैसे विपयी कथा में कम ठहरते हैं। मुमुक्षु (विरत) ग्राम-रूप हैं, इन्हें विराग-विवेक के लिये कथा में विपयी से अधिक निष्ठा रहती है। मुक्त-नगर रूप हैं। किनारे पर नगर कम होते हैं, वैसे जीवन्मुक्त श्रोता भी कम होते हैं, पर ये नगर की तरह दृढ होते हैं; अतः, कथा से प्रायः नहीं हटते; जैसे नदी की धार से नगर प्रायः नहीं कटते; यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।

(३) 'संत-सभा अनुपम अवध ···'—यह संत-सभा उपर्युक्त तीनों प्रकार के श्रोताओं से पृथक है। जैसे श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या के लिये ही आईं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी संत-सभा के लिये प्रकट हुईं। यथा—"होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥" (दो० १४)। यह संत-सभा निष्काम अनुरागी है, इसीके लिये कहा है—"येहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥" (उ० दो० १२४)। तथा—"संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(४) 'अनुपम'—अयोध्या और संत-समाज दोनों अनुपम हैं। यथा—"विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २)। अतः, इनके बराबर दूसरा नहीं है। तथा—'जद्यपि सब वैकुंठ बखाना।···अवध-सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।' (उ० दो० ३)। अतः, अनुपम हैं।

(५) दोनों सुमंगलमूल हैं। यथा—"मुदमंगलमय संत-समाजू।" (दो० १) एवं—"सतसंगति मुद-मंगल-मूला।" (दो० २) तथा—"अवध सकल सुमंगल मूल" है।

(६) दोनों (संतसभा और अवध) ही श्रीसीतारामजी के विहारस्थल हैं। अयोध्याजी विहारस्थल प्रसिद्ध ही हैं और संत-समाज में कथा के सम्बन्ध से विहार रहता है। यथा—"रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर-विहारु॥" (दो० ३१) एवं—"संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(७) श्रीसरयू का महत्त्व श्रीअयोध्या में अधिक है, वैसे कीर्त्ति-सरयू का संत-सभा में। जैसे श्री-अयोध्या की शोभा श्रीसरयू से और श्रीसरयू की श्रीअयोध्या से है, वैसे ही संत-सभा और कीर्त्ति-सरयू में परस्पर शोभा-सापेक्ष्य है।

राम-भगति सुरसरितहिं जाई। मिली सुकीरति-सरजु सुहाई॥ १॥

अर्थ—सुकीर्त्ति रूपी सुन्दर सरयू राम-भक्ति रूपी गंगा में जाकर मिलीं॥१॥

विशेप—सुकीर्त्ति रूपी सरयू पहले शिवजी के मानस में थीं, गिरिजाजी के प्रश्न से उमड़ीं और निकल पड़ीं—"सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। विपुल विसद निगमागम गाये॥" (दो० ११०) से

इसका प्रवाह चला। इसके प्रथम शिवजी ने—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।…"…से—"मिटि गइ सब कुतर्क कइ रचना॥" (दो० ११८) तक श्री राम-यश का स्वरूप कहा है।

जैसे श्री सरयूजी कुछ दूर चलकर छपरे के पास गंगाजी में मिली है, वैसे कीर्ति-सरयू का प्रवाह उपर्युक्त गिरिजाजी के प्रश्नोत्तर से चला। बीच के तीन कल्पों के अवतार-प्रसंग कथित होते हुए चौथे कल्प के परब्रह्म श्री साकेतविहारी के अवतार-प्रसंग तक पहुँचा। वहाँ मनु-शतरूपा की अनन्य भक्ति कही गई। यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥" (दो० १४४) अर्थात् त्रिदेव के भी प्रलोभन में नहीं आये। यही उत्तम भक्ति है। यही कीर्ति-सरयूजी का गंगाजी में मिलना है। गंगाजी और श्रीराम-भक्ति का रूपक पूर्व—"राम भगति जहँ सुरसरि-धारा।" (दो० २) में कहा गया है।

शंका—श्री सरयूजी राजा इक्ष्वाकु के समय में आई हैं और गंगाजी उनसे बत्तीसवीं पीढ़ी पीछे राजा भगीरथ के समय में आईं। फिर सरयू का गंगा में मिलना कैसे कहा गया ?

समाधान—उपमा के जितने अंश मिलते हैं, कवि को उतने ही से प्रयोजन रहता है। वर्त्तमान काल में श्री सरयूजी का ही मिलना श्री गंगाजी में कहा जाता है। अतः, काल के अनुरोध से कवि का कथन यथार्थ ही है।

यह भी कहा जाता है कि श्री गंगाजी ने ब्रह्माजी से वर माँग लिया था कि जिस किसी भी नदी से मेरा संगम हो, उसके आगे फिर मेरा ही नाम रहे।

इस कीर्त्ति-सरयू का रूपक सम्पूर्ण श्री रामचरितमानस है। अतः, इसकी उपमाएँ इसी ग्रंथ के प्रसंगों के साथ लगेंगी। जैसे, यहाँ मनु-शतरूपा का प्रसंग कहा गया।

सानुज राम-समर-जस पावन। मिलेउ महानद सोन सुहावन॥ २॥

अर्थ—छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी के युद्ध का पवित्र यश 'सुहावन' महानद शोण (सोन) उस (गंगा) में मिला है।

विशेष—'सानुज राम-समर' ' मारीच-सुबाहु की लड़ाई में साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजी भी थे। इन्होंने सम्पूर्ण सेना का संहार किया और श्रीरामजी ने सुबाहु को अग्निबाण से मारा और मारीच को वहाँ से उड़ा दिया। अन्य लड़ाइयों में श्रीरामजी अकेले हैं और आगे लंका में तो वानर-भालु भी थे। इस समर को महानद सोन कहा है, क्योंकि महासंग्राम हुआ। युद्ध में रक्त की धारा चलती है, सोन के जल में भी वर्षा का लाल रंग मिला होता है। यथा—"बरषा घोर निसाचर-रारी।" (दो० ४१)। सोन की धारा विस्तृत, तीव्र और भयावनी लगती है। वैसे समर भी भयावन लगता है। सोन नद विन्ध्याचल के अमरकंटक के पास से निकला है और मगह होकर बहता हुआ गंगाजी में मिल जाता है। इस नद के सम्बन्ध से मगध भूमि पवित्र और उर्वरा बन गई है, इसलिये इसका एक नाम 'मागध' भी है। समर-भूमि में राक्षसों की मुक्ति हुई। 'पावन'—क्योंकि निश्छल युद्ध हुआ है, इससे निशिचरों की मुक्ति हुई। अधर्म होना बंद हो गया। भक्तों और देवताओं को सुख मिला। कहा ही है—"निर्बानदायक क्रोध जाकर…" (आ० दो० २५)।

यहाँ कोई-कोई महानद को पृथक् मानकर शोण के सामने गंगा में मिलनेवाले महानद संज्ञक नद को लेते हैं और दोनों भाइयों के यश को पृथक्-पृथक् मानते हैं, पर यह असंगत इसलिये मालूम होता है

कि यहाँ 'सानुज' पद से अनुज का सहायक रूप में साथ होना है। अतः, एक ही यश का लेना ठीक है, फिर आगे त्रिमुहानी की संगति भी यहाँ के एक लेने में ही होगी, अन्यथा सरयू-गंगा-शोण और महानद ये चार प्रवाह हो जायँगे।

जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥३॥
त्रिबिध ताप-त्रासक तिमुहानी। राम - सरूप सिंधु समुहानी ॥४॥

शब्दार्थ—तिमुहानी=तीन मुखोंवाली=गंगा में सरयू, फिर सोन के मिलने के बाद की धारा। समुहानी= सामने की ओर चली।

अर्थ—दोनों के बीच में गंगाजी की धारा कैसी सोहती है जैसे ज्ञान और वैराग्य के साथ भक्ति शोभित हो ॥३॥ तीनों तापों को डरानेवाली यह त्रिमुहानी (गंगा) राम-स्वरूप-सिंधु की ओर चली ॥४॥

विशेष—(१) 'जुग बिच भगति...' यहाँ कीर्त्ति-सरयू विरति, सोन विचार और भक्ति गंगा हैं। कीर्त्ति सुनने से वैराग्य होता है, जैसे राजा परीक्षित को भूख प्यास तक की भी सुधि न रही और समर-यश से विचार (ज्ञान)-क्योंकि लंकाकांड का नाम ही विज्ञान-संपादन सोपान है। ऐसी ही ज्ञान विचार-युक्त भक्ति की शोभा है। यथा—"श्रुतिसंमत हरिभगति पथ, संजुत बिरति बिबेक।" (उ० दो० १०), "कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान-बिराग।" (दो० ४४)।

(२) 'त्रिबिध ताप त्रासक ...' सरयू, गंगा और सोन के संगम का नाम 'त्रिमुहानी' हुआ। आजकल सोन की धारा जहाँ गंगाजी में मिलती है, पहले उससे बहुत दूर पच्छिम ही यह संगम था जहाँ दूसरी ओर सरयूजी गंगाजी में मिलती हैं। इससे गोस्वामीजी ने उस स्थान को ठीक ही 'त्रिमुहानी' कहा है। इसका माहात्म्य ऐसा कहा जाता है कि राजा दशरथ की माता इन्दुमतीजी एक दिन छत पर विराजमान थीं। आकाश-मार्ग से जाते हुए, श्रीनारदजी की वीणा से एक पुष्पमाला खिसक पड़ी जो इन्दुमतीजी के ऊपर आ पड़ी। अत्यन्त सुकुमारता के कारण इनका प्राणान्त हो गया। तब इसी त्रिमुहानी में स्नान कराने पर जी उठीं और इसका माहात्म्य प्रकट हुआ।

त्रिमुहानी से आगे गंगाजी प्रधान रहीं। वे ही इन दोनों के साथ समुद्र से मिलने चलीं, वैसे विराग और विचार के साथ भक्ति से श्रीरामजी मिलते हैं। अत, श्रीराम प्राप्ति कराने में भक्ति ही मुख्य है।

ये कीर्त्ति-सरयू कैलाश प्रकरण से चलीं। मनुशतरूपा प्रकरण की अनन्य भक्तिरूपा गंगा में मिलीं। फिर मारीच-सुबाहु के समर-प्रसंग में समर-यश सोन से भी मिलकर त्रिमुहानी हुईं। फिर राजसिंहासनासीन श्रीराम स्वरूप समुद्र के सम्मुख चलीं। समुद्र में पहुँचने पर कुछ दूर समुद्र के भीतर भी गंगाजी चली गई हैं, वैसे राजगद्दी के-"प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा।" (उ० दो० ११), से लेकर 'शीतल अमराई' के प्रसंग दो० ५१ तक चरित का वर्णन है। वह नित्य-चरित है। उस नित्य-चरित में कुछ दूर-प्रवेश ही सिंधु में कुछ दूर जाना है। यहाँ तक त्रिमुहानी का फल कहकर अब केवल कीर्त्ति-सरयू का ही वर्णन करेंगे।

'त्रिबिध ताप त्रासक ...' जैसे त्रिमुहानी की तीनों धाराओं की तीव्रता से भय लगता है, वैसे इस कथा से तीनों तापों को भय होता है। ताप—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०)।

मानस - मूल मिली सुरसरिहीं। सुनत सुजन मन पावन करिहीं ॥५॥
बिच-बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर-तीर बन बागा ॥६॥

अर्थ—कीर्त्ति - सरयू का मूल (उत्पत्ति-स्थान) मानस है और ये गंगाजी में मिली हुई हैं, (अत.) सुनने पर ये सुजनों के मन को पवित्र करेंगी ॥५॥ बीच-बीच में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की विचित्र कथाएँ कही गई हैं, वे ही नदी के किनारे के पास-पास के वन और बाग हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'मानस मूल···' सब नदियों की अंतिम गति सिंधु है, जिसे त्रिमुहानी के द्वारा कह चुके। अब मूल और संगम के द्वारा माहात्म्य कहते हैं। आगे भी इन्हा दोनों के बीच के रूपक कहेंगे। जैसे इस कीर्त्ति नदी के आदि-अंत शुद्ध हैं, वैसे यह श्रोता को भी शुद्ध करेगी। मन की मलिनता विषय है। यथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४)। यह विषय - वासना दूर कर भगवान् को ही इन्द्रियों का विषय बना देगी अर्थात् भक्ति देगी।

(२) 'बिच-बिच कथा···' जैसे नदी के किनारे-किनारे ऊपरी भाग में वन और बाग होते हैं; वे नदियों के सम्बन्ध से प्रफुल्लित रहते हैं; उनसे पथिकों को आनन्द मिलता है; वैसे कीर्त्ति-सरयू में भी विचित्र कथाएँ वर्णित हैं। वे मुख्य रामचरित से पृथक् हैं, पर उससे सम्बन्ध रखती हैं। जैसे जलंधर, नारद-मोह, भानुप्रताप आदि की कथाएँ। इनमें बड़ी कथाएँ वन और छोटी बाग हैं। मुख्य रामचरित छोड़कर इनका प्रसंग आता है। इनकी समाप्ति पर फिर मुख्य चरित का प्रारंभ हो जाता है। अतः, बीच की कथाएँ हैं। जैसे वन-बाग से लोगों को आराम होता है, वैसे इन चित्र-विचित्र कथाओं से श्रोताओं को आनन्द होता है। ये कथाएँ मुख्य श्रीरामचरित से सम्बन्ध रखती हैं, इसीसे ललित लगती हैं।

प्रथम भी सरयूजी 'कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि' कही गई हैं, पर वे 'तृन तरु' बिल्कुल तट के हैं, इसीसे उनका उखाड़ फेंकना कहा गया है। मानस-सर के किनारे वाटिका भी वर्णित है—'पुलक वाटिका बाग बन।' पर यहाँ 'वाटिका' नहीं कही गई, क्योंकि तालाब के तट पर वाटिका होती है, नदी-तट पर नहीं।

उमा - महेस - बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती ॥७॥
रघुबर - जनम अनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई ॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वती और शिवजी के विवाह की बारात के लोग ही (कीर्त्ति-सरयू के) बहुत भाँति के अगणित जलचर हैं ॥७॥ श्रीरघुवर-जन्म की आनन्द-बधाइयाँ ही भँवरों और तरंगों की मनोहरता है ॥८॥

विशेष—(१) 'उमा-महेस-बिबाह ···' नदियों में रंग बिरंग के और भाँति-के भाँति की आकृतियों वाले असंख्य जलचर होते हैं—कोई भयानक और कोई सुन्दर, वैसे ही शिवजी के विवाह में बरयात्री भी कहे गये हैं। यथा—"कोउ मुख-हीन बिपुल मुख काहू। ·" से—"देखियत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥" (दो० ९१-९३) तक, इत्यादि भयानक जलचर हैं। ब्रह्मा-विष्णु आदि के समाज सुन्दर जलचर हैं। शिवजी जलप्रिय हैं, क्योंकि उन्हें जल बहुत चढ़ाया जाता है, इससे भी उनके बरयात्री जलचरों की भाँति कहे गये।

(२) 'रघुवर जनम अनंद······' यहाँ आनंद और बधाई क्रमशः भँवर और तरंग हैं। आनन्द—यथा—"दसरथ पुत्र-जनम सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥ परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मतिधीरा॥" (दो० १९१)। आनंद में मन वैसे ही डूब जाता है, जैसे नदी की भँवर में पड़कर मनुष्य का निकलना कठिन हो जाता है। इस आनंद में पड़कर सूर्य को भी ऐसी दशा हुई। यथा—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवनि विधि होइ॥" (दो० १९५)। 'बधाई' बजने पर तरंग उठने की तरह शब्द होता है, लोगों की भीड़ होती है, कितने भीतर से बाहर और बाहर से भीतर जाते हैं। यह आना-जाना भी तरंगों की तरह होता है। बधाई—यथा—"गृह-गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद। हरषवंत सब जहँ-तहँ, नगर नारि नर-बृंद॥" (दो० १९४); "कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा।" (दो० १९३)।

'रघुबर' शब्द चारों भाइयों का भी बोधक है। यथा—"नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाये।" (गी० बा० ६); "नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि। चारि फल त्रिपुरारि तो को दिये कर नृप-घरनि।" (गी० बा० २५)। "मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ ······" (कि० मं० श्लोक)। अतः, यहाँ चारों भाइयों की बधाइयाँ भी आ गईं।

दोहा—बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।
नृप रानी परिजन सुकृत, मधुकर बारिबिहंग॥४०॥

शब्दार्थ—बनज (बन = जल, ज = उत्पन्न) = कमल। सुकृत = धार्मिक, शुभ कार्य-कर्त्ता।

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी) के बाल-चरित (कीर्त्ति-सरयू में) विविध रंगों के बहुत-से कमल हैं। धार्मिक श्रीदशरथ महाराज और रानियाँ (उन कमलों पर के) भ्रमर हैं और धार्मिक कुटुम्बी लोग जलपक्षी हैं।

विशेष—(१) 'बाल-चरित' का प्रसंग—"बालकेलि रस तेहि सुख माना"॥ ·····से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" (दो० २०५) तक बहुत रंगों के कमलों का होना कहा गया, क्योंकि भाई चार हैं, कमल भी चार रंगों के होते हैं। यथा—"सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।" (दो० ३१) में कहे गये हैं। ऐसे ही बाल-चरित भी सात्त्विकादि भेदों से चार रंगों के होते हैं। यथा—"वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आप कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥" (बा० दो० २०४); इसे श्वेत रंग, "देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।"·····से—"अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि॥" (दो० २०२) तक, इसे पीत रंग, "आयसु माँगि करहिं पुरकाजा।" (दो० २०४); इसे अरुण रंग और—"पावन मृग मारहिं जिय जानी।" (दो० २०४), इसे नील रंग का कमल जानना चाहिये।

(२) 'नृपरानी परिजन ·····' इसमें यथासंख्य अलंकार की रीति से धार्मिक नृप रानी को भ्रमर और धार्मिक परिजनों को 'बारिबिहंग' (जलपक्षी) जानना चाहिये। राजा-रानियों एवं परिजनों को वात्सल्य रस का आनंद पाना शुभ कर्म के फल-रूप में ही है। यथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथघरनि।" (गी० बा० २४); "दसरथ सुकृत मनोहर बिरवनि रूप करह जनु लाग।" (गी० बा० १६)। भ्रमर कमल का आलिंगन करता है, रस चूसता है, वैसे राजा-रानी चारों भाइयों को दुलारते हैं गोद में लेते हैं और मुख चूमते हैं। यथा—"कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन

भ्रमर भुलावों।" (गी० बा० १५); और जलपक्षी कमल को देखकर प्रसन्न होते हैं, वैसे परिजन रघुवरों की बाल-केलि देखकर प्रसन्न होते हैं। भ्रमर और जल-पक्षी दोनों कमल से सुख पाते हैं वैसे बाल-चरित से नृप रानी और परिजन सुख पाते हैं; यथा—"बंधु सखा सँग लेहिं बुलाई।"...... " से—"देखि चरित हरषइ मन राजा॥" (दो० २०४) तक और "जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥" (दो० २०४)। कमल में रस होता है, वैसे बाल-केलि में भी रस है। यथा—"बाल-केलि रस तेहि सुख माना।"(दो० ११०)। तथा— सुख मकरंद भरे श्रीमूला।" (अ० दो० ५१)।

सीय-स्वयंवर-कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥१॥
नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥२॥

शब्दार्थ—पटु = प्रवीण, अन्यत्र पटु का अर्थ सुन्दर भी होता है। कुसल = चतुर।

अर्थ—श्रीसीताजी के स्वयंवर की जो सुन्दर कथा है, वही इस सुहावनी नदी में छवि छा रही है॥१॥ प्रवीणों के अनेक प्रश्नों का होना इस (कीर्त्ति) नदी की नावें हैं और उनका विवेक-सहित उत्तर देना चतुर केवट है॥२॥

विशेष—(१) 'सीय-स्वयंवर-कथा ......'—स्वयंवर चार प्रकार के होते हैं, १—इच्छा स्वयंवर (इस स्वयंवर में कन्या अपनी इच्छा से चुनकर अभिलषित वर के गले में जयमाल डाल देती है।) जैसे, विश्वमोहिनी का। २—शुल्क स्वयंवर (इसमें कन्या उस योग्य वर को चुनती है जो कन्या के मन के अनुसार उसके पिता या भाई की इच्छा पूरी करता है) जैसे, तारावती (जिसकी प्रतिज्ञा थी कि जो शत्रु को मारकर पिता का राज्य लौटा देगा उसे ही मैं पति बनाऊँगी) का। ३—पण या प्रतिज्ञा-स्वयंवर, जैसे, द्रौपदी का. सीय-स्वयंवर भी इसी पण स्वयंवर के अन्तर्गत है, यथा—"टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।" (दो० २८५); फिर यहाँ जयमाल पड़ी। यथा—"रघुबर उर जयमाल,..." (दो० २६४) और ४—वीर्य-स्वयंवर इसमें जो अधिक वीरता या उत्कर्ष गुण दिखाता है, कन्या उसी को पसंद करती है। जैसे, महाभारत में कथित काशीराज की कन्याओं का।

'सीय-स्वयंवर' कथा का प्रसंग—"धनुष-यज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले कौसिक मुनि साथा।" (दो० २०६) से ही इसकी भूमिका है, पर प्रसंग—"सीय-स्वयंवर देखिय जाई।......" (दो० २११) से—"गौतम-तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि। ....." (दो० २६५) तक है।

'सरित ''छबि छाई।' अर्थात् इस स्वयंवर की कथा से कीर्त्ति-नदी में छवि छा गई, जैसे कोई सुन्दरी स्त्री हो और फिर वह शृंगार करे, वैसे कीर्त्ति-नदी स्वयं सुन्दरी है, पर यह 'सुहाई कथा' इसका शृंगार है।

ऊपर 'रघुबर-जन्म' कहा और यहाँ 'सीय-स्वयंवर' कहते हैं, क्योंकि पुत्र का जन्मोत्सव सुखवर्द्धक और कन्या का विवाह सुखद होता है।

(२) 'नदी नाव पटु'...' ग्रंथ में अनेक प्रश्न और उनके उत्तर हैं, वैसे अनेक नावें और केवट जानना चाहिये। जैसे छोटे-बड़े प्रश्न हैं, वैसी ही नावें और उनके उत्तरों को भी वैसे ही केवट समझना चाहिये। प्रश्न का उत्तर न बनना नाव का डूबना है। इस ग्रंथ में सब उत्तर चतुराई से दिये गये हैं। अतः, कोई नाव नहीं डूबी। प्रश्नोत्तर परशुराम-लक्ष्मण संवाद में हुए। श्रीरामजी के प्रश्न के उत्तर श्री वाल्मीकिजी ने (अ० दो० १२५ में) दिये। यह विषय अंगद-रावण संवाद तथा श्री हनुमान्‌जी और रावण के संवाद में भी देखना चाहिये।

सुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिक-समाज सोह सरि सोई ॥ ३ ॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम-बरबानी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनुकथन = (परस्पर) बातचीत। पथिक = नदी के उतरनेवाले राही।

अर्थ—सुनकर परस्पर बातचीत होना ही कीर्त्ति-सरयू में यात्रियों का समाज शोभा पा रहा है ॥३॥ इसमें जो परशुरामजी के क्रोध का वर्णन है, वही नदी की घोर धारा है, (उनके क्रोध को शान्त करनेवाला) श्री रामजी का श्रेष्ठ वचन ही अच्छी तरह से बाँधा हुआ (पक्का) घाट है ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि अनुकथन···' यहाँ अनुकथनवालों की ही शोभा वर्णित है, क्योंकि नदी की शोभा ऊपर 'सरित सुहावनि सो छवि छाई।' में कही गई।

(२) 'घोर धार भृगु···' घोर धार ; यथा—"सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा।।"···से—"देखत भृगुपति बेष कराला। उठे सकल भय-बिकल भुआला।।" (दो० २१७-१८) तक। यहाँ 'घोर धार' का स्वरूप प्रकट हुआ। 'घोर धार' देखकर डर लगता है, वैसे सब राजा डर गये। 'घोर धार' में बहुत-सी नावें डूबती हैं, वैसे इनके क्रोध में सहस्रबाहु ऐसे वीर नष्ट हुए तथा २१ बार सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश हुआ। 'घोर धार' से बड़े बड़े नगर भी कट जाते हैं, वैसे इस समय भी इन्होंने जनकनगर को उलटना चाहा था। यथा—"उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू।" (दो० २११)। अतः, नगर-रक्षार्थ घाट बँधने की आवश्यकता हुई, तब श्री रामजी सम्मुख हुए और शीतल वचनों से उन्हें शांत करना चाहा। यही कोठी गलाना है। पर, वे शांत न हुए, मानों धारा ने कोठी उखाड़ फेंकी तब श्री लक्ष्मणजी ने सामना किया, इन्होंने दो कोठियों को गलाना चाहा। यथा—"बहु धनुहीं तोरी लरिकाई।···येहि धनु पर ममता केहि हेतू।" इन दो बातों में से एक को तो इन्होंने उखाड़ फेंका; अर्थात् उत्तर दे दिया,—"धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु।" दूसरी का उत्तर न बना, अतः एक कोठी जमी। धारा का मुख थोड़ा मुड़ा और विदेह की ओर 'निहोरा' करने लगे। फिर श्री विश्वामित्र का निहोरा करने लगे। पीछे श्री रामजी से भी कहा—'अनुहरइ न तोही।' इत्यादि। धारा कुछ शिथिल पड़ी, तब श्री रामजी ने अपने वचनों से क्रोध शांत किया, यही घाट का सुदृढ़ बँधना हुआ कि परशुरामजी की शक्ति भी श्री रामजी में आ गई और शांत हो हथियार भी सौंपकर तप के लिये चले गये।

'भृगुनाथ रिसानी'—भृगु की तरह परशुराम ने भगवान् ही पर क्रोध किया और उसी तरह यहाँ भी भगवान् ने क्षमा की है। ये भृगु के वंशज हैं। अतः, क्रोध होना योग्य ही है। इस चरित-प्रसंग का भी इसी नाम से उपक्रम तथा उपसंहार किया गया है। यथा—उपक्रम—"आये भृगुकुलकमल-पतंगा···"; उपसंहार—"भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।।" (दो० २८४)।

सानुज राम-बिबाह उछाहू। सो सुभ उमँग सुखद सब काहू ॥५॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥६॥

अर्थ—भाइयों के साथ श्रीरामजी का विवाह-उत्सव कीर्त्ति-सरयू की शुभ बाढ़ है, जो सब किसी को सुख देनेवाली है ॥५॥ जिनको इसके कहने-सुनने में हर्ष और रोमाञ्च होता है, वे ही सुकृती कीर्त्ति-सरयू में प्रसन्न मन से नहाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'सानुज राम …' चारों भाइयों के विवाह का उत्साह-प्रसंग—"धेनुधूलि बेला विमल…" से—"प्रभु-बिबाह जस भयेउ उछाहू।" (दो० ३६०) तक है। इसे शुभ उमंग कहा है। और नदियों की अशुभ उमंग से बाढ आती है, तब वह तटस्थलोगों को दु खद होती है, पर श्रीसरयूजी में शुभ उमग की बाढ ग्रीष्म ऋतु में बर्फ गलने से आती है वह सबको सुखदायी होती है, वैसे ही कीर्त्ति-सरयू में जनकपुरवासी विदेह की प्रतिज्ञा से तप रहे थे और अवधवासी प्रभु के वियोग से तप्त थे, इस विवाहोत्सव रूप बाढ से दोनों सुखी हुए।

सरयूजी की इस बाढ से दूर के लोगों को भी स्नान में सुलभता होती है और माँझा (कछार) वाले लोग खेती से लाभ उठाते हैं, वैसे इस विवाह-उत्सव से और भी बहुतों को सुख हुआ एवं होता रहेगा। यथा—"सिय-रघुबीर-बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस॥" (दो० ३६१)

(२) 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं …'—कहने-सुनने में हर्ष और पुलक का होना उत्साह है। उत्साह-पूर्वक ही तीर्थ-स्नान करना चाहिये। यथा—"मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" (दो० ४३) तथा—"सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।" (दो० २)। वैसे यहाँ भी कहा गया।

'ते सुकृती'—यह हर्ष-पुलक स्नेह से होता है और श्रीराम-स्नेह सब सुकृतों का फल है, यथा—"वेद पुरान संत मत येहू। सकल सुकृत-फल राम-सनेहू॥" (दो० २६)। अत, सुकृती का स्नान करना कहा गया। 'हरष-पुलक'—"सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जो चरित रघुबंसराय।" (वि० ८३)। बड़े सुकृत से श्री सरयू-स्नान प्राप्त होता है, वैसे चरित-सरित् का स्नान भी दुर्लभ है। यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पॉव देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८)।

राम-तिलक हित मंगल साजा। परब जोग जनु जुरेउ समाजा॥७॥
काई कुमति कैकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥८॥

शब्दार्थ—परब (पर्व) = ग्रहण, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, गोविंदद्वादशी आदि पर्वदिन हैं। पर्व योग = पर्व के दिन। इस दिन पुण्य कर्म ही करना चाहिये, मास मैथुन आदि इस दिन बहुत निषिद्ध हैं। साज = सामग्री।

अर्थ—श्रीरामजी के राज्याभिषेक के लिये जो मंगल साज सजाया गया, वही इस कीर्त्ति नदी पर पर्व के योग में यात्रियों के समाज का जुटना (एकत्र होना) है॥७॥ कैकेयी की दुर्बुद्धि कीर्त्ति-सरयू में काई है, जिसके कारण बहुत विपत्ति आ पड़ी॥८॥

विशेष—(१) 'राम-तिलक हित …' यह प्रसंग—"सबके उर अभिलाष अस,… जुबराज-पद, रामहिं देउ नरेस॥" (अ० दो० १) से प्रारभ होकर—"सकल कहहि कब होइहि काली॥" (अ० दो० १०) तक है। जैसे पर्वयोग दुर्लभ होता है, वैसे श्रीराम-राज्य दुर्लभ था। अत सब चाहते थे।

जब सोमवार को तीन प्रहर तक अमावस्या हो, तब प्रतिपदा के योग से सूर्यग्रहण लगता है, वैसे यहाँ राज्याभिषेक-समारोह के दिन तीन प्रहर तक मानों अमावस्या रही। कैकेयी ने चौथे प्रहर मथरा से सुनकर विघ्न का आरभ किया, वही प्रतिपदा का योग है, जिससे राज्याभिषेक-रूप सूर्य पर बाधा-रूप ग्रहण लगा।

(२) काई कुमति कैकई केरी। ...' इसका प्रसग—"नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि। ..." (अ० दो० १२) से—"सजि बन साज'''प्रभु चले करि सबहिं अचेत।।" (अ० दो० ८१) तक है।

सब विपत्तियों का कारण कैकेयी की कुमति ही है। यथा—"कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस-बेनु-बन आगी।। ' से—"बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा।।" (अ० दो० ४६।४०) तक तथ—"भइ दिनकर-कुल-बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी।।" (अ० दो० ४१) । 'बिपति घनेरी' का प्रसंग—"येहि बिधि बिलपहि पुर नरनारी।" ' से—"अति बिषाद-बस लोग-लोगाई।" (अ० दो० ५०) तक। पुनः—"चलत राम लखि अवध अनाथा। ..." (अ० दो० ८२) से—"बिपम बियोग न जाइ बखाना।।" (अ० दो० ८५) तक; इत्यादि।

ऊपर—'घाट सुबद्ध राम बरबानी।' पर पक्के घाट का बँधना कहा गया। पक्के घाट पर जल और कीचड़ के संयोग से काई जम जाती है। यहाँ मंथरा कीचड़ और कैकेयी की राज्य-वासना रूप जल का संयोग होकर कुमति रूपी काई जमी। काई का होना उत्पात है, वैसे ही कुमति का फल विपत्ति हुआ। राजा का मरण, रानियों का विधवापन, प्रजा का शोक और भरतजी का दुःख—आदि विपत्तियाँ पड़ीं।

काई को बिना जाने बेधड़क चलने से लोग फिसल पड़ते हैं, वैसे इस काई को राजा दशरथ नहीं जानते थे। अतः, सहसा वचन दे दिया। फिर प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये श्रीराम-शपथ भी कर डाली, यही इसपर चलना हुआ, जिससे ऐसा गिरे कि फिर न उठे।

दोहा—समन अमित उतपात सब, भरत - चरित जप जाग।
कलि-अघ खल-अवगुन-कथन, ते जलमल बक काग।।४१।।

अर्थ—असंख्य उपद्रवों को शान्त करनेवाला भरतजी का चरित जप यज्ञ रूप है, कलि के पापों और खलों के अवगुणों का कहना इस नदी के जल की मैल के (लिये) बगले और कौए हैं।।४१।।

विशेष—(१) 'समन अमित'...' काई का होना उत्पात है। ऐसा जहाँ होता है, वहाँ धर्मात्मा लोग प्रथम तो काई निकलवाते हैं, फिर उत्पात-शांति के लिये यज्ञ करते हैं। यहाँ धर्मात्मा श्रीभरतजी आये और कैकेयी का कुमति के कारण त्याग किया। फिर माता न कहा, यही काई निकलवाना है। पश्चात् कैकेयी की कुमति नहीं रह गई, प्रत्युत उसके कारण उसे पश्चात्ताप हुआ। यथा—"गरइ गलानि कुटिल कैकेई।" (अ० दो० २७२)। यही काई का सूखना है। यह भी श्रीभरतजी के चरित से ही हुआ।

पुनः एक-दो उत्पात हों तो सामान्य यज्ञ किया जाता है, पर यहाँ अमित उत्पात हैं। अत, विशेष यज्ञ (जप-यज्ञ) की आवश्यकता हुई, यथा—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।" (गीता १०-२५) अर्थात् जप सब यज्ञों में श्रेष्ठ है। यहाँ जप-यज्ञ रूप श्रीभरतजी के चरित से श्रीसीताराम और लक्ष्मण तीनों प्रसन्न हुए, प्रजा सुखी हुई, और स्वर्गस्थ राजा दशरथ भी संतुष्ट हुए। भरत-चरित का माहात्म्य, यथा—"परम पुनीत भरत-आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगलकरनू।।" समन सकल संताप समाजू।'''राम-सनेह सुधाकर सारू।।" (अ० दो० ३२५)। तथा—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार।।" (अ० दो० २६३)।

(२) 'कलि अघ खल-अवगुन''' श्रीसरयूजी जब मानस-(दिव्य)-सर में थीं, तब वहाँ न तो जल के मलरूप घोंघे-सेंवार थे और न बगले-कौए ही थे। यथा—"संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय-कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥" (दो० ३०)। जब श्रीसरयूजी प्राकृत देशों को चलीं, तब देश-देश की भूमि के योग से 'संबुक-भेक-सेवार' रहने लगे और इनके सम्बंध से बक-काक भी रहने लगे। वैसे ही कीर्त्ति-सरयू जबतक कवि के स्वच्छ हृदय रूप मानस में रहीं, तबतक वहाँ विषय कथा के संबंध न थे, जब उनका काव्य-निबंध करने लगे, तब प्राकृत लोगों को समझाने के लिये प्राकृत दृष्टान्त दिये गये, वे ही जल में मैल हुए। जैसे कहा गया है—"कद्रू बिनतहिं दीन्ह दुख" (अ० दो० १६); इत्यादि. तब राम-सुयश-वारि के साथ-साथ इसे भी सुनकर लोगों के मन में आया कि जब देव-कोटि वाले भी ऐसा करते हैं, तब हमलोग क्यों न करें? यही जल में मैल है।

इन दोषों के निवारण के लिये कलि के पाप कहे गये हैं। यथा—"कलिमल ग्रसे धर्म सब" ·· ·· से—"सुनु व्यालारि करालकलि, मल अवगुन आगार।" (उ० दो० १००—१०२) तक। इन सब पाप-समूह के कथन बक-समूह हुए। पुनः—'खल-अवगुन कथन'—'बहुरि बंदि खलगन सति भाये।"··· ··से—"उभय अपार उदधि-अवगाहा॥" (दो० ३—५) तक; तथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ।"—से—"ऐसे अधम मनुज खल,''''''बृंद बहु, होइहहिं कलियुग माहिं॥" (उ० दो० ३८—४०) तक, इत्यादि।

जैसे जल की उक्त मैल को बगले-कौए खा जाते हैं, जल साफ हो जाता है, वैसे ही इन पापों और अवगुणों को सुनकर उपर्युक्त मल धारण करनेवालों को ग्लानि होती है कि ये सब कर्म, जो हम करते हैं, पाप हैं; कलि के विकार हैं और दुष्टों के कर्म हैं। अतः, इन कुकर्मों को त्यागना चाहिये। इस पश्चात्ताप से हृदय साफ हो जाता है, फिर वे कर्म छूट जाते हैं, इसी से ये कथन बक और काक के रूप में कहे गये हैं।

सम्बन्ध—चरितके जितने अंश नदी के अंग-रूपक में आये, वे कहे गये। अभी बहुत मुख्य-मुख्य अंश-छूट गये हैं, उन्हें तत्संबंधी ऋतुओं के रूपक से कहते हैं—

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥१॥

अर्थ—यह कीर्त्ति-नदी छओं ऋतुओं में प्रशस्त है, पर समय-समय पर बहुत ही सुहावनी और पावनी (पवित्र) है॥१॥

विशेष—(१) 'छहूँ रित रूरी'—अन्यत्र के ऋतु-भावों की अपेक्षा यहाँ छओ ऋतुएँ प्रशस्त रूप में सब काल रहती हैं, इसी से यह नदी अत्यन्त सुहावनी है। कीर्त्ति श्रीरामजी की है, इसी से अत्यधिक पवित्र है। आगे छओं के पृथक्-पृथक् निर्देश किये हैं, उनमें चार की सुन्दरता स्पष्ट है, शेष ग्रीष्म राम-वन-गमन है, वह भी सुहावा' है, यथा—"कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा।" (अ० दो० १४१) और—'बर्षा घोर......' की सुंदरता उत्तरार्द्ध में ही कह दी है कि वह—'सुरकुल-सालि सुमंगलकारी।' है।

(२) 'समय सुहावनि...' श्रीसरयूजी सब ऋतुओं में सुन्दर ही रहती हैं, पर कातिक, श्रीरामनवमी आदि विशेष अवसरों पर अधिक सुहावनी एवं पवित्र मानी जाती हैं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी वन-चरित तथा युद्ध की लीलाओं द्वारा भी तारने में समर्थ हैं, पर पुष्पवाटिका एवं शरणागति आदि प्रसंगों के द्वारा अत्यन्त सुहावनी और पवित्र हैं।

'छहूँ रितु'—(१) हिमऋतु—अगहन-पूस में (२) शिशिर—माघ-फागुन में (३) वसंत—चैत्र-बैशाख में (४) ग्रीष्म—जेठ-आषाढ़ में (५) वर्षा—सावन-भादों में और (६) शरद्—आसिन-कातिक में रहती है।

शंका—वर्षाऋतु में नदियाँ अपवित्र कही जाती हैं, क्योंकि वर्षा में उनका रजस्वला होना कहा जाता है, यहाँ कीर्ति-सरयूजी को सब ऋतुओं में प्रशस्त और पावन कैसे कहा है ?

समाधान—कीर्त्ति-सरयू में उपमा का उतना अंश न लेने से भी समाधान हो सकता है, पर इसकी उपमान-रूपा मातृस्वरूपिणी श्रीसरयूजी एवं गंगा-यमुना भी दिव्य होने से उक्त दोष से रहित हैं। यथा—"सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यः रजस्वलाः। तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः।" साथ ही यह भी लिखा है—"नदीसु मातृतुल्यासु रजोदोषो न विद्यते॥" (कृत्यशिरोमणि)। तथा—"न दुष्येचीरवासिनाम्" (निगम)

यह भी समाधान है कि रजोधर्म बाल्य और वृद्धावस्था में नहीं होता और सरयू-गंगा आदिवाली वृद्धावस्थावाली कही जाती हैं। अजर होने पर भी पृथ्वी के संयोग से देवताओं में वार्धक्य संभव है।

हिम हिमसैल-सुता सिव-ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम उछाहू॥२॥

अर्थ—श्रीशिव-पार्वती का ब्याह हेमन्त ऋतु है। श्रीरामजी का जन्मोत्सव सुखदायी शिशिर ऋतु है॥२॥

विशेष—(१) यहाँ से ऋतु-धर्म का मिलान करते हैं। प्रथम हिम कहा, क्योंकि अमरकोष में 'हिम' को प्रथम गिना है। इसका प्रथम मास अगहन है, यही मार्गशीर्ष भी कहाता है। इसे भगवान् ने अपनी विभूति कहा है. यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहम्···" (गीता १०।३५)। प्राचीन वैदिक क्रम के अनुसार यह अग्रहायण अर्थात् वर्ष का प्रथम मास भी है। गुजरात में यह क्रम वर्त्तमान भी है।

(२) उमा-शंभु के ब्याह ही से वर्णन का प्रारंभ क्यों हुआ ? उत्तर यह है कि यह मानस-प्रसंग ग्रंथ भर के चरित की एक प्रकार की सूची है और साथ ही यह भी दिखाना है कि—'जग प्रचार जेहि हेतु।' इसमें इस प्रसंग की प्रथम आवश्यकता है, तब श्रीराम-जन्म के प्रसंग की। पुनः इससे रूपक मिलान भी ठीक-ठीक होता है। और भी—'हिम हिमसैलसुता···' हिम ऋतु में पाला पड़ता है और पार्वतीजी 'हिमसैलसुता' हैं, यह मेल है। जाड़ा अमीरों को सुखद और गरीबों को दुःखद होता है और बहुतों को कँपाता है। वैसे अमीर रूप देवता लोग इस ब्याह से सुखी हुए; यथा—"तारक असुर भयेउ तेहि काला" से—"येहि बिधि भलेहि देव-हित होई॥" (दो० ८१-८२) तक। इसमें मैना आदि अबलाएँ गरीबिन हैं, इन्हें दुःख हुआ। यथा—"बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेषा॥" से "बहु भाँति बिधिहिं लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥" (दो० ९५-९७) तक। शिवजी के कोप से तीनों लोक काँप उठे। यथा—"भयेउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥" (दो० ८९)। शिव-उमा-विवाह-प्रसंग दो० ९०-१०३ में है।

(३) 'सिसिर सुखद प्रभु···' यह जन्म प्रसंग दो० १९२-१९७ में है। शिशिर के माघ मास में तीर्थराज में समाज का सुख और फाल्गुन में होली की बहार सुखद है, वैसे श्रीरामजी के जन्म-समय पर देवता, ऋषि गन्धर्व आदि का समाज एकत्र हुआ। फिर—"ध्वज पताक तोरन पुर छावा।··· मृगमद चंदन-कुंकुम-कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥···अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥" (दो० १९३-१९७)—यह होली की बहार भी है। अतः, सुखद है।

बरनब राम - बिबाह - समाजू। सो मुद-मंगल-मय रितुराजू ॥३॥
ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पंथ-कथा खर आतप पवनू ॥४॥

शब्दार्थ—दुसह (दुस्सह) = असह्य। आतप = तपन। खर = तीक्ष्ण।

अर्थ—श्रीरामजी के विवाह के समाज का वर्णन ही आनन्द-मंगलमय वसन्त-ऋतु है ॥३॥ श्रीरामजी का वन-गमन ग्रीष्म-ऋतु है और वन के मार्ग की कथाएँ तीक्ष्ण धूप और लू हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बरनब राम-बिबाह···' जैसे उमा-शिव के ब्याह को हिम और उनकी बारात (समाज) को जलचर रूप में पृथक् कहा है। 'बराती' ही विवाह-समाज हैं। यथा—"बिहँसे सिव समाज निज देखा॥" (दो० ६२)। यहाँ 'विवाह-समाज' को वसन्त-ऋतु कहते हैं, क्योंकि दोनों मुद-मंगलमय हैं। वसंत में वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और फिर फूल-फलों से युक्त हो जाते हैं। वैसे ब्याह में बराती लोग पुराने वस्त्राभूषण उतारकर रंग-बिरंग के नये वस्त्राभूषण पहनते हैं। जैसे राम-विवाह के 'बराती' जो वस्त्राभूषण अयोध्या से नये पहनकर गये थे, वहाँ बहुत दिन रहने के कारण वे सब उतर गये और नये दिव्य वस्त्राभूषणों से सजधज के आये, जो श्रीमिथिलेश महाराज के यहाँ से ऋद्धि-सिद्धियों-द्वारा प्राप्त हुए थे। कहा भी है—"बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाहीं॥" (दो० ३०७)।

(२) 'ग्रीषम दुसह राम-बन···' ग्रीष्म और वन-गमन दोनों दुःसह हैं। ग्रीष्म में ताप होता है, वन-गमन में भी लोगों को विरह-ताप हुआ। यथा—"राम चलत अति भयेउ बिषादू। सहि न जाइ पुर आरत-नादू॥" (अ० दो० ८०); "सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥" (अ० दो० ८३); "सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥" (अ० दो० १५२)। इत्यादि।

'बन-गवनू'—यह प्रसंग अ० दो० ७६ से १३२ तक है।

'पंथ-कथा', यथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं।"—से—"होहिं प्रेम-बस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं॥" (अ० दो० ११८–१२१) तक तथा क० अ० ११–१३ में भी कही गई है।

ग्रीष्म के दिन बड़े होते हैं, वैसे ही दुःख के दिन भी जल्द बीतते नहीं जान पड़ते। यथा—"अति परिताप सीय मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं॥" (दो० २५७); "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (सुं० दो० ११)। सुख के दिन बीतते नहीं जान पड़ते, बहुत छोटे होते हैं। यथा—"कछुक दिवस बीते यहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती॥" (दो० ११६); 'सुख समेत संवत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहि जाता॥" (अ० दो० २७१)।

इसी लिये दुःख के दिनों की उपमा ग्रीष्म से दी गई है और उमा-शंभु के विवाह और श्रीरामजन्म के उछाह से भरे सुखमय दिनों को उपमा हेमन्त-शिशिर के छोटे दिनों से दी गई है। जैसे वसन्त के दिये हुए धन-ऐश्वर्य को ग्रीष्म की लू और तपन नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वनगमन कथा ने विवाह-समाज के आनन्द को नष्ट कर दिया!

यद्यपि वनगमन-कथा दुःखद है, तथापि श्रोताओं को परधाम देनेवाली है। यथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहि लखन सिय राम बटाऊ॥ रामधाम पथ पाइहिं सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (अ० दो० १२३); "भव-भेषज रघुनाथ-जस, " (कि० दो० ३१); इसी से—"कहेउँ राम-बन गवन सुहावा।" (अ० दो० १४१) कहा है।

बरषा घोर निसाचर-रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥५॥
राम-राज-सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई ॥६॥

अर्थ—घोर निशाचरों के साथ भयानक लड़ाई घोर वर्षा है, जो देव समाज रूपी धानों के लिये अत्यन्त मंगलकारी है ॥५॥ श्रीरामराज्य का सुख और विशेष नीति की बड़ाई ही उज्ज्वल, सुखद और सुहाई शरद् ऋतु है ॥६॥

विशेष—(१) 'बरषा घोर'''' घोर वर्षा और घोर-निशाचर-युद्ध दोनों भयावन हैं। 'घोर रारी' और 'घोर बरषा' में सामान्य 'रारी' और 'बरषा' भी गर्भित हैं, जैसे वर्षा ऋतु से प्रथम ही आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्रों में सामान्य वर्षा भी होती है, वैसे विराध-कबन्ध-वध वर्षा होने के पूर्व की पुरवाई का चलना और मेघों का एकत्र होना है। खर-दूषण आदि का समर आर्द्रा की वर्षा और सुन्दरकांड में हनुमान्‌जी का युद्ध पुनर्वसु की वर्षा है। लंकाकांड की 'घोर-निशाचर-रारी' घोर वर्षा है, उसमें वर्षा का पूरा रूपक भी कहा गया है। यथा—"प्रलय काल के जनु घन घट्टा॥" से—"जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥" (लं० दो० ८६–८७)। तक। अन्यत्र भी कहा है—"लागे बरषन राम पर, अस्त्र-सस्त्र बहु भाँति॥" (आ० दो० १९); "दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई॥" (लं० दो० ७२); इत्यादि।

'सुरकुल सालि'''' जैसे-जैसे वर्षा होती है, धान का पोषण होता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों राक्षस मरते हैं, देवता सुखी होते हैं, जैसा कि प्रथम खर-दूषणादि के युद्ध पर कहा है—"हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।" (आ० दो० २०)। यहाँ धान का अंकुर जमा, क्योंकि देवताओं को भरोसा हुआ, पुनः श्रीहनुमान्‌जी के कर्त्तव्य से श्रीरामजी का प्रताप देखकर विभीषण शरणागत हुए। उनका तिलक देखकर देवताओं को पूर्ण भरोसा हुआ कि अब रावण-वध अवश्य होगा। अत, देवताओं ने बहुत आनन्द मनाया, यथा—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥" (सुं० दो० ४८)। यही धान का पुन' रोपा जाना है, क्योंकि यह आनन्द शरणागत (विभीषण) के नये जन्म के उपलक्ष्य में है, शरण होने पर दूसरा जन्म माना जाता है। पुनः कुंभकर्ण-वध पर—"सुर दुंदुभी बजावहिं हरषहिं। ''" मेघनाद - वध पर—"बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं।''" और रावण-वध पर—"बरषहि सुमन देव-मुनि-बृंदा।" कहा है।

(२) 'राम-राज-सुख''' जैसे राम-राज्य सुखद है, वैसे, शरद् भी है। विशेष नीति उज्ज्वल है वैसे शरद् भी उज्ज्वल है और विशेष नीति प्रजा को सुख देनेवाली तथा सुन्दर कीर्त्ति बढ़ानेवाली होती है। यही बड़ाई है जिसके अनुरूप शरद् को 'सुहाई' कहा है।

इसका प्रसंग—"राम-राज बैठे त्रयलोका।''' से—"करहिं राम-गुन गान॥" (उ० दो० १९–३०) तक। यहाँ तक मुख्य चरित है। अतः, यहीं पर ऋतुओं का प्रसंग समाप्त किया गया।

सती-सिरोमनि-सिय - गुन - गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम-पाथा ॥७॥
भरत - सुभाव सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई ॥८॥

अर्थ—पतिव्रताओं की शिरोमणि श्रीसीताजी के गुणों की कथा इस उपमा-रहित जल का अनुपम-निर्मल गुण है ॥७॥ श्रीभरतजी का स्वभाव इस नदी की सुष्ठु शीतलता है जो सदा एकरस रहती है और जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'सती-सिरोमनि'...' यह गुण-गाथा,—"पति अनुकूल सदा रह सीता।"... से—"राम-पदारविंद-रति, करति सुभावहिं खोइ॥" (७० दो० २४–२४) तक प्रधानतया वर्णित है तथा—"पति-देवता-सुतीय-मनि, सीय'..." (अ० दो० १६६) में भी है।

शरद् ऋतु कहकर जल के गुण कहते हैं, क्योंकि जल में निर्मलता, शीतलता और मधुरता आदि गुण शरद् ही में आते हैं। श्रीराम-सुयश-बरवारि को अनुपम कहकर भी श्रीसीताजी के सतीत्व को उसकी निर्मलता कहा, क्योंकि श्रीसीताजी के पातिव्रत्य गुण से श्रीरामजी की कीर्त्ति निर्मल है ; यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥" ...से—"पितु कह सत्य सनेह सुबानी॥" (अ० दो० २८६) तक।

शंका—मानस-रूपक में 'सगुण-लीला' को स्वच्छता कहा है; यथा—"लीला सगुन... सोइ स्वच्छता..." (दो० ३५) ; वही गुण-'सिय-गुन-गाथा' में क्यों कहा गया ?

समाधान—श्रीसीतारामजी तत्त्वतः एक हैं। यथा—"गिरा अरथ जल बीचि..." (दो० १८) में कहा गया है। जब 'राम-सुजस-बारि' को 'बर' कहा तब 'सिय-गुन-गाथा' को 'अमल' बतलाया। पुनः श्रीरामजी की सगुण-लीला श्रीजानकीजी की ही इच्छा के प्राधान्य से होती है। अतः, दोनों की गुण-गाथा एक ही है। यद्यपि नर नाट्य में लोक-शिक्षा के लिये श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्म के अनुसार सेवा करती हैं, पर श्रीरामजी भी उनको सँजोते रहते हैं; यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (अ० दो० १४१)।

(२) 'भरत-सुभाव ...' यहाँ 'भरत - सुभाव' को 'बरनि न जाई' कहा है, यथा—"सुनहु लखन भल भरत - सरीसा।"...से—"कहत भरत-गुन-सील सुभाऊ। प्रेम-पयोधि मगन रघुराऊ॥" (अ० दो० २३०–२३१) तक। यहाँ श्रीरामजी वर्णन करते-करते ही प्रेम में डूब गये, वर्णन भी न कर सके, यथा—"प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी।..." से—"भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ रघुराउ सिथिल सनेह साधु-समाज मुनि मिथिलाधनी। मन महँ सराहत भरतभायप ..." (अ० दो० २९७–३०१) तक। यहाँ इनका स्वभाव देखकर सब प्रेम-निमग्न हो गये और सराहना चाहा, पर सबके कंठ रुँध गये, इससे मन में ही सराहने लगे। तात्पर्य यह कि भरतजी का स्वभाव चित्त में आते ही प्रेम उमड़ आता है, फिर कोई कह ही नहीं पाता। इनका स्वभाव प्रेम-भक्तिमय है, प्रेम-भक्ति में भी यही गुण कहा गया है यथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥" (दो० ३५)। प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यथा—'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम्।' (नारदभक्तिसूत्र)। इसीसे कहा है—"भरत-सुभाव न सुगम निगम हू। लघु मति चापलता कवि छमहू॥" (अ० दो० ३०३)। 'सुसीतलताई'—ऐसी शीतलता नहीं कि छूते ही कँपा डाले; प्रत्युत सुष्ठु शीतलता है अर्थात् सुखद है। भरतजी के स्वभाव में सदा एकरस शीतलता रहती है—कभी क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती।

दोहा—अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परस्पर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की, जल - माधुरी सुबास॥४२॥

अर्थ—चारों भाइयों (सर्व श्री राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी) का परस्पर देखना, बोलना, मिलना, प्रीति करना, हँसना और सुन्दर भाईचारा—ये इस जल की मिठास और सुगंध हैं।

विशेष—इनमे बाह्य-इन्द्रियों के व्यवहार—'अवलोकनि, बोलनि, मिलनि और हास'—जल की 'सुवास' हैं, क्योंकि सुगंध जल के बाहर फैलती है। अंतःकरण के व्यवहार—'भायप और प्रीति'—माधुरी हैं, क्योंकि माधुरी जल के भीतर का गुण है, यह समता है। उदाहरण—

'अवलोकनि'—"अनुरूप वर दुलहिनि परस्पर लखि सकुचि हिय हरषहीं।" (दो० ३२५)। इसमें 'लखि' से 'अवलोकनि' और 'सकुचि' से 'हास' है; क्योंकि चारों बड़े छोटे श्याम-गौर जोड़ों को एक साथ सपत्नीक बैठने से परस्पर देख-देखकर सकुच में ध्वनि से 'हास' है।

'बोलनि'—"बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई।" "आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।"……(दो० २०४), तथा—"करत बतकही अनुज सन।" (दो० २३१)।

'मिलनि'—"बरबस लिये उठाय उर, लाये कृपानिधान। भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥" (दो० २४०)। "मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिं, केवट भेंटेउ राम। भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम॥ भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई॥ …" (अ० दो० २४०)।

'प्रीति'—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु-सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९७); "राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती॥"—"सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन-रति अति अधिकाई॥" (उ० दो० २४)।

'भायप'—"अनुज सखा सँग भोजन करहीं।" (दो० २०४); "चलत पयादे खात फल, पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहिं, भरत सरिस को आज॥ भायप भगति भरत आचरनू।" (अ० दो० २२२); "गुरु सिख देइ राय पहँ गयेऊ।…… से—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।" (अ० दो० ९) तक और "जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे।" (अ० दो० १४१) इत्यादि।

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥१॥
अदभुत सलिल सुनत गुनकारी। आस-पियास मनोमल हारी॥२॥

अर्थ—मेरी आर्ति, प्रार्थना और दीनता—ये इस सुन्दर जल का हलकापन है। ये ललित हैं, इनसे इस सुन्दर जल की न्यूनता नहीं है॥१॥ यह जल-विलक्षण है, सुनते ही गुण करता है, आशा-रूपी प्यास और मन की मलिनता को दूर करता है॥२॥

विशेष—(१) 'आरति बिनय दीनता …'—ग्रंथ के आदि में ३५ वें दोहे तक आर्ति आदि वर्णित हैं। 'मोरी लघुता'—रचयिता की लघुता से ग्रंथ की भी लघुता होती है, जो मैंने अपने गुरु से अपनी आर्ति आदि कही है, ये कार्पण्य रूप में गुण हैं, उनसे यश की लघुता नहीं है, औरों की आर्ति आदि स्वार्थ के लिये होती हैं पर मेरी आर्ति आदि श्रीराम यश के लिये हैं। अतः, इनसे यश-रूपी जल की बड़ाई ही है, क्योंकि जल में यदि हलकापन न हो तो वह बादी होता है।

(२) 'अदभुत सलिल ……' ऊपर जल का बाह्य रूप कहा। अब प्रयोग द्वारा गुण दिखाते हैं—

'सुनत गुनकारी'—जल पीने से गुण करता है, इस यशरूपी जल का पान श्रवण से होता है। यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान॥" (उ० दो० १२८)। यह जल आशा-रूपी प्यास हरकर श्रीरामजी में विश्वास दृढ़ करता है, यथा—"मोर दास कहाइ नर

आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५) अर्थात् इससे श्रीरामजी के शरण्यत्व आदि गुण से औरों की आशा छूटकर उनमें विश्वास होगा।

'मनोमलहारी।'—विषय ही मन की मैल है, यथा —"मन मलिन विषय सँग लागे।" (वि० ८२) तथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४)। इसके श्रवण से श्रीरामजी में प्रीति होती है, तब सब इन्द्रियों के विषय श्रीरामजी ही हो जाते हैं। विषय-तृष्णा छूट जाती है। यथा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सुं० दो० ४८); "रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलि-कलुष-गलानी॥३॥
भव-श्रम-सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख-दारिद-दोषा॥४॥

अर्थ—यह जल श्रीरामजी में सुन्दर प्रेम को बढ़ाता है और कलियुग के समस्त पापों की ग्लानि को दूर करता है॥३॥ संसार के आवागमन के परिश्रम का शोषण करनेवाला, संतोष को भी संतुष्ट करनेवाला तथा पाप और दुःख-दरिद्रता आदि दोषों का नाश करनेवाला है॥४॥

विशेष—(१) 'राम सुप्रेमहिं पोषत···'—वह जल देह पुष्ट करता है, यह राम-प्रेम को पुष्ट करता है, यही राम-प्रेम को उत्पन्न भी करता है, यथा—"जननि जनक सियराम-प्रेम के।" (दो० ३१) अर्थात् माता-पिता की तरह राम-प्रेम को पैदा करता है, फिर उसे पुष्ट भी करता है।

'हरत सकल कलि···' कलि के पापों को, जो मलिन स्वभाव से हो गये हैं, समझकर ग्लानि होती है; यथा—"तउ न मेरे अघ अवगुन गनि हैं।" (वि० ९५); "जौं करनी आपनी बिचारौं तउ कि सरन हौं आवउँ।" (वि० १४२)। ये सब ग्लानियाँ राम-सुयश रूपी जल से दूर होती हैं, यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥" (सुं० दो० ४३) इत्यादि सुयश सुनकर दृढ़ प्रतीति के साथ शरण होने से ग्लानि नहीं रह जाती।

प्रथम रामकथा 'कलि को हरनेवाली' कही गई, यथा—"रामकथा कलि पन्नग भरनी।" (दो० ३०); फिर कहा कि यह उससे उत्पन्न कलुष का भी नाश करती है; यथा—"रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि।" (दो० ३०)। यहाँ कलुष-जन्य ग्लानि को भी हरना कहा है।

(२) 'भवश्रम सोषक···' अनेक योनियों का भ्रमण परिश्रम है, यथा—"भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।" (उ० दो० १३)। यही श्रम भवसागर का जल हुआ, यह उसे सोखता है।

'तोषक तोषा'—संसार को संतुष्ट करनेवाले संतोष को भी संतुष्ट करता है। इस तरह के प्रयोग 'मानस' में अन्यत्र भी हैं; यथा—"धीरजहू कर धीरज भागा।" (अ० दो० १५२)।

'समन दुरित···' दुरित का अर्थ पाप है पाप कारण है और दुःख-दारिद्रय आदि कार्य हैं। यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००)। यह जल कार्य-कारण दोनों को हरता है।

काम-कोह-मद-मोह-नसावन। बिमल-बिबेक-बिराग-बढ़ावन ॥५॥
सादर मज्जन-पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥६॥

अर्थ—(यह जल) काम-क्रोध-मद और मोह का नाश करनेवाला तथा निर्मल विवेक और विराग का बढ़ानेवाला है ॥५॥ आदर के साथ स्नान-पान करने से हृदय के पाप-परिताप दूर होते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'काम-कोह-मद···' कथा का मुख्य शत्रु काम है; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल यथा॥" (सुं० दो० ५७)। इसलिये इसका नाम प्रथम लिया। ये कामादि मानस रोग हैं, इनका नाश होने पर ही विवेक-विराग बढ़ते हैं। इसलिये क्रम से कहे हैं। सामान्य विवेक-विराग और साधनों से भी बढ़ते हैं, यथा—"धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।" (आ० दो० १५); पर 'बिमल बिबेक-बिराग' राम-सुयश से ही बढ़ते हैं। ये विवेक आदि सद्गुण हैं, इनकी उत्पत्ति भी चरित से ही होती है। यथा—"सदगुन सुरगन अंब अदितिसी।" (दो० ३०) यह प्रथम ही कहा था। यहाँ इन्हीं का बढ़ाना भी कहा।

(२) 'सादर मज्जन पान···' सादर का भाव यह है कि आदर ही से फल प्राप्त होते हैं, यथा—"सादर मज्जहि सकल त्रिबेनी।" (दो० ४३) एवं—"सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रय ताप न जरई॥" (दो० ३८)। राम-यश रूपी जल के सम्बन्ध में कहना-सुनना ही मज्जन-पान है; यथा—"मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥" (दो० ११)। 'सादर'—मन मति चित्त लगाकर सुनने का फल पाप परिताप का मिटना कहा है। पाप का फल ही परिताप है। परिताप मानसी व्यथा (आधि) को कहते हैं। यथासंख्यालंकार की रीति से मज्जनरूप कहने से पाप और पान रूप सुनने से परिताप का दूर होना जानना चाहिये।

इस प्रसंग में पाप का नाश तीन बार कहा गया, यथा—(क) "हरत सकल कलि कलुष गलानी।" (ख) 'समन दुरित···' (ग) 'मिटहिं पाप··'। अतः, कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापों का नाश जानना चाहिये; यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक चरित सम्मुखता का फल कहा, आगे विमुखता का कहते हैं—

जिन्ह येहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये ॥७॥
तृषित निरखि रबिकर भवबारी। फिरहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥८॥

अर्थ—जिन्होंने इस (राम-सुयश-रूप) जल से अपने हृदय को नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने नष्ट कर डाला है ॥७॥ वे जीव उन प्यासे मृगों की तरह, जो सूर्य-किरणों से उत्पन्न जल को देखकर मारे-मारे फिरते हैं, भटकते हुए दुखी रहा करेंगे ॥८॥

विशेष—(१) 'जिन्ह येहि बारि···' जैसे देह पर मिट्टी आदि की मैल लगी रहती है, वह नहाने से छूटती है, वैसे मानस की मैल श्रीराम-सुयश रूपी जल के कहने-सुनने से छूटती है; यथा—"जनम अनेक किये नानाविधि करम कीच चित सानेउ। होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखानेउ॥"

(वि० ८८)। इसमें विवेक को जल कहा है। वह भी राम-सुयश से ही होता है। यथा—"पुनि विवेक पावक कहँ अरनी।" (दो० २०)। अतः, अभेद है। तथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (उपर्युक्त)।

'ते कायर...' कायर शब्द कादर का ही रूपान्तर है। जैसे लोचन का लोयन, मदन का मयन आदि। बिगोये (विगोपन)= नष्ट किये हुए। यथा—"राज करत निज कुमति बिगोई।" (अ० दो० २१)। जो लोग स्नान से डरते हैं, वे 'कादर' कहे जाते हैं, वैसे यहाँ राम सुयश रूपी जल के श्रवण-कथन-रूप स्नान-द्वारा कलिकाल से युद्ध करना है, इसमें कदराने से कलिकाल नष्ट ही कर देगा। विषय में मन लगाना ही नष्ट होना है, यथा—"जो पै जानकीनाथ सों नातो नेह न नीच। स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच॥" (वि० १९२)।

(२) 'तृषित निरखि...' यहाँ उपर्युक्त नष्ट व्यक्तियों की दशा कहते हैं। बालू के मैदान में सूर्य-किरणों के संयोग से प्यासे मृग को जल का धोखा होता है। वह जल की आशा से दौड़ता फिरता है। इसी को 'मृगतृष्णा' 'मृगजल' आदि कहते हैं। सांसारिक विषय-सुख की आशा को 'मृगतृष्णा' कहते हैं, क्योंकि इससे तृप्ति नहीं होती और तृष्णा बढ़ती ही जाती है; यथा—"बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते॥" (वि० १९८); तथा—"जो पै राम-चरन रति होती।...तौ कत बिषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।" (वि० ११८);। "तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निशि बासर धावै।" (वि० ११७); यही आशा-रूप प्यास है, जिसका मिटना ऊपर श्रीराम-सुयश रूपी जल से कहा गया। यथा—"आस पियास मनोमलहारी।" अर्थात् यह मृगतृष्णा राम-सुयश रूपी जल की वर्षा से ही शांत होती है।

दोहा—मति-अनुहारि सुबारि-गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी - संकरहिं, कह कवि कथा सुहाइ॥

अर्थ—अपनी बुद्धि के अनुसार इस उत्तम जल के गुण-समूह को विचार कर और उसमें मन को स्नान (मनन) कराके श्रीउमा-शिव का स्मरण-पूर्वक कवि (तुलसीदासजी) सुंदर कथा कहता है।

विशेष—(१) 'मति अनुहारि...' श्रीरामजी के गुण तो अनंत हैं, पर मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनमें से कुछ ही का विचार किया है। प्रथम तीर्थ-माहात्म्य कह-सुनकर स्नान करने की विधि है। अतः, प्रथम गुण-गण कहकर मन को नहलाया। यथा—"गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ ...तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। (दो० २११); तथा—"चित्रकूट-महिमा अमित, कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरितबर, सिय समेत दोउ भाइ॥" (अ० दो० १३२), इत्यादि।

पूर्व ग्रंथकार ने मन और मति को रंक कहा था। यथा—"मन मति रंक मनोरथ राऊ" (दो० ७)। इसलिये मति को मानस-सर रूप चरित में नहलाया। यथा—"अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥" (दो० ३८) और यहाँ मन को कीर्त्ति-सरयू में स्नान कराया। यथा—"गुन गन गनि मन अन्हवाइ।" इस प्रकार दोनों को निर्मल करके अब श्रीराम-यश कहते हैं।

मानस-प्रकरण यहाँ संपुटित हो रहा है। अमूल्य रत्न डब्बे में रक्खा जाता है, वैसे इस प्रकरण रूपी रत्न को आदि-अंत के तीन-तीन उपक्रम-उपसंहार-रूपी डब्बों में सुरक्षित किया है। यथा—उपक्रम (क) "संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (ख) "सुमिरि उमा-वृषकेतु।" (ग) "कवि तुलसी।" (दो० ३५)

और उपसंहार, (क) "मति अनुहारि ···" (ख) "सुमिरि भवानी-संकरहिं" (ग) "कहइ कवि कथा।" उपक्रम में नाम दिया और यहाँ 'कवि' मात्र लिखकर सम्बन्ध जनाया।

यह मानस-प्रकरण सम्पूर्ण चरित का बीज है। इसे हर-गिरिजा के स्मरण से सम्पुटित किया। अतः, इनके प्रसाद से शाबर-मंत्र जाल के महत्त्व की तरह इसके भी अक्षर-अक्षर से सर्व-सिद्धियाँ चाहते हैं। यह वर्णन दो० १४-१५ में किया गया है।

पूर्वोक्त—"जस मानस, जेहि विधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु।" की तीनों प्रतिज्ञाएँ यहाँ तक पूरी हुईं। आगे संवादों का प्रसंग कहेंगे।

मानस-प्रकरण (कीर्त्ति-सरयू सहित) समाप्त

अब रघुपति-पद - पंक-रुह, हिय धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥४३॥

अर्थ—अब श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों को हृदय में रखकर और उनकी प्रसन्नता पाकर (मैं) दोनों मुनिश्रेष्ठों का मिलना और उनका सुन्दर संवाद कहता हूँ।

विशेष—(१) 'अब' से पूर्व प्रसंग का स्मरण करते हैं—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥···कहिहउँ सोइ संवाद बखानी।" (दो० २१)। वहाँ—'कहिहउँ' कहा था, वही अब ('कहउँ') कहते हैं।

ऊपर—'सुमिरि भवानी संकरहि' कहकर तब यहाँ 'रघुपति-पद···' अर्थात् श्रीराम-चरण-कमल का हृदय में धरना और प्रसाद पाना लिखा, क्योंकि शिव-कृपा से श्रीराम-पद की प्राप्ति होती है। यथा— "जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३७) एवं प्रथम—"सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ।" (दो० १५) कहा ही था। अब यहाँ 'पाइ प्रसाद' अर्थात् श्रीराम-प्रसाद पाना लिखा है। अतः, यह काव्य देवप्रसाद है। यद्यपि पूर्व में श्रीरामजी की बहुत प्रकार से वंदना कर आये, तथापि अब यहाँ से रामायण के मुख्य प्रसंग का प्रारंभ है। अतः, 'रघुपति-पद' से माधुर्य रूप की फिर वंदना की।

'जुगल मुनिवर्य' का संवाद कर्मघाट का है, इसी से कथा प्रारंभ करते हैं। इसके बाद ज्ञानघाट और उसके पीछे उपासनाघाट कहेंगे, क्योंकि प्रथम कर्म से अंतःकरण शुद्ध होकर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होता है, तब उत्तम उपासना की रीति है।

भरद्वाज मुनि बसहि प्रयागा। तिन्हहिं राम-पद अति अनुरागा ॥१॥
तापससम-दम-दया-निधाना। परमारथ-पथ परम सुजाना॥२॥

अर्थ—श्री भरद्वाज मुनि प्रयाग में रहते हैं, उन्हें श्रीराम पद में बहुत ही प्रेम है ॥१॥ वे तपस्वी हैं तथा शम, दम और दया के निधान हैं, साथ ही परमार्थ-मार्ग में बड़े ही प्रवीण हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज मुनि बसहिं······' भरद्वाजजी का स्थान प्रयाग है। ये आंगिरस गोत्र के उतथ्य ऋषि की स्त्री ममता के गर्भ से उत्पन्न एक वैदिक ऋषि हैं जो गोत्रप्रवर्तक और मंत्रकार हैं। द्रोणाचार्य इनके ही पुत्र थे। 'भावप्रकाश' के अनुसार ये अनेक ऋषियों की प्रार्थनापर स्वर्ग जाकर इन्द्र से आयुर्वेद सीख आये थे। ये राजा दिवोदास के पुरोहित और सप्तर्षियों में हैं। ये श्रीवाल्मीकिजी के शिष्य हैं। वन-यात्रा में श्रीरामजी की और श्रीभरतजी की पहुनई इन्होंने विशेष रूप से की है। यह कथा श्रीमद्वाल्मीकीय और इस ग्रंथ में भी है।

(२) 'तापस सम दम···' तापस, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं॥" (अ० दो० २०१) अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने के लिये तथा अभीष्ट-सिद्धि के लिये भी सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहकर व्रतोपवास आदि नियम से रहने को 'तप' कहते हैं। तप कायिक, वाचिक और मानसिक और गुणत्रय रीति से तीन-तीन प्रकार के (गी० १७।१४-१९ में) माने गये हैं। 'सम'—अंतःकरण का निरोध करना। 'दम'—बाह्य इन्द्रियों का रोकना। 'दया'—निःस्वार्थ परोपकार करना। भरद्वाजजी इन तीनों गुणों में पूर्ण हैं। यहाँ 'तापस' शब्द से अपने शरीर की बाह्य इन्द्रियों का और शम, दम, दया से अंतःकरण का कसना जनाया है। साथ ही ये स्वयं तो कष्टसहिष्णु हैं ही, पर दूसरों के लिये दया के निधान हैं। इससे इनका कर्मकांडी होना सूचित हुआ।

'परमारथ पथ परम···' अर्थ-द्रव्य आदि लौकिक वस्तुओं को कहते हैं और परम अर्थ से विवेक-विराग आदि पारलौकिक सामग्री का ग्रहण होता है। यथा—"येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥" (अ० दो० ९१)। परमार्थ पथ में 'परम सुजान' कहकर इनका श्रेष्ठ ज्ञानी होना भी जनाया।

ऊपर 'अति अनुराग' से उपासना में श्रेष्ठता और इस चौ० में 'निधान' और 'परम सुजान' से कर्म और ज्ञान में श्रेष्ठता कही गई है। उपासना इनके हृदय में प्रधान है, इसलिये प्रथम उसीकी चर्चा की गई है।

माघ मकर-गत रवि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥३॥
देव-दनुज-किन्नर-नर-श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी॥४॥
पूजहिं माधव-पद-जलजाता। परसि अखयबट हरषहिं गाता॥५॥

अर्थ—माघ महीने में जब सूर्य मकर-राशि में प्राप्त होते हैं तब प्रयागराज में सब कोई आते हैं॥३॥ देवताओं, दैत्यों, किंपुरुषों और मनुष्यों के झुंड आदर के साथ त्रिवेणीजी में स्नान करते हैं॥४॥ वे बिंदु-माधव के पदकमल की पूजा करते हैं और अक्षयवट का स्पर्श करके शरीर से हर्षित होते हैं अर्थात् हर्ष से शरीर पुलकित होता है (अक्षयवट के भेंटने की रीति है)।

विशेष—(१) 'माघ मकर-गत रवि···' यहाँ 'माघ' और 'मकरगत रवि' से चांद्र (अमावस्या से अमावस्या तक चांद्रमास है) और सौर (संक्रांति से संक्रांति तक सौरमास कहाता है।) -दोनों मास सूचित किये। आगे इन दोनों को स्पष्ट भी कहेंगे—"येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं।" "एक बार भरि मकर नहाये।" (दो० ४४)। माघ-स्नान चन्द्रमा की तिथि के अनुसार पूर्णमासी तक होता है और मकर स्नान मकर की संक्रान्ति से प्रारंभ होता है—वह चाहे पौष में पड़े, चाहे माघ में। 'सब कोई' जिन्हें देव आदि नामों से आगे कहा है।

(२) 'देव-दनुज ···' इनमें देव-किन्नर स्वर्ग के, दनुज पाताल के और नर मृत्युलोक के हैं। नर शब्द को अंत में दिया और उसकी श्रेणी भी लिखी। इससे जनाया कि सब कोई नर-रूप में ही आते हैं।

'सादर मज्जहिं ···' क्योंकि सादर स्नानादि से ही तीर्थ का फल मिलता है। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१) एवं—"सेवत सादर समन कलेसा।" (दो० १)। प्रयाग में सादर मज्जन की रीति यह है कि लोग वहाँ भद्र होते हैं (शिर-मूँछ-दाढ़ी आदि मुड़ाते हैं)। माहात्म्य सुनते, स्नान-दान करते और त्रिवेणी की पूजा करते हैं।

(३) 'पूजहिं माधव-पद ···' क्योंकि भगवान् का पद भी प्रयाग ही है। यथा—"रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। ··· प्रभु-पद प्रयाग अनुरागे॥" (गी० उ० १५)। इस पद में पूरा रूपक है। पुन बारह महीनों में भगवान् बारह नामों से पूज्य माने जाते हैं, उनमें माघ के माधव पूज्य हैं, इसीसे यहाँ इनकी पूजा की विशेषता है।

प्रलय-काल में माधव अक्षयवट के पत्र पर निवास करते हैं। इसलिये यहाँ साथ ही अक्षयवट का स्पर्श भी होता है।

'पूजहिं माधव' में 'दर्शन', 'परसि अषयबट' में स्पर्श और 'सादर मज्जहिं' में स्नान भी कहा, क्योंकि—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद-पुराना॥" (दो० ४१) ऐसा कहा है।

यहाँ चार प्रयाग हैं—एक तो त्रिवेणी-रूप में भूमंडल का प्रयाग, दूसरा माधव-पद प्रयाग, तीसरा भानु-मंडल का प्रयाग होता है। कुछ उदित रवि गंगा, प्रात काल की पूर्व की अरुणाई सरस्वती, कुछ रात्रि का सम्बध यमुना होकर वह काल प्रयाग माना जाता है। मकर के सूर्य भी अरुण नाम के होते हैं, यथा-'अरुणो माघ मासे तु'। प्रयाग-स्नान इसी समय श्रेष्ठ माना जाता है। संत-समाज भी एकत्र होने पर चौथे 'साधु समाज प्रयाग' (दो० २) का भी सत्संग-रूप मज्जन होता है।

भरद्वाज-आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर-मन-भावन ॥६॥
तहाँ होइ मुनि-रिषय-समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा ॥७॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरि-गुन-गाहा ॥८॥

शब्दार्थ—रम्य=रमणीक। मुनि और ऋषि, दोनों अन्यत्र पर्यायी शब्द रहते हैं, यहाँ दोनों हैं। (मुनि=मननशील; ऋषि=मंत्र-द्रष्टा)। प्रात=सवेरे सूर्योदय से डेढ़ घंटा पहले से अर्थात् जब पूर्व में अरुणाई देख पड़ती है, तब से सूर्योदय तक प्रात काल माना जाता है। गाहा (गाथा)=कथा।

अर्थ—श्री भरद्वाजजी का आश्रम बहुत ही पवित्र और अत्यन्त रमणीक तथा मुनिश्रेष्ठों के मन को रमानेवाला है॥६॥ वहाँ (उन) मुनियों और ऋषियों का समाज होता है, जो तीर्थराज (प्रयाग) में स्नान को जाते हैं॥७॥ प्रात काल उत्साह-पूर्वक स्नान करते हैं और एक दूसरे से हरि के गुणों की कथा कहते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज-आश्रम ···' 'अति पावन'—पावन तो औरों के भी आश्रम हैं, पर इनका अति पावन है क्योंकि—'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।' आगे कहा है। 'मुनिवर मन-भावन'—जो स्थान पवित्र और रमणीक होता है, वही मुनिवरों को भाता है। यथा—"आश्रम परम पुनीत सुहावा।

देखि देवरिषि मन अति भावा॥" (दो० १२७); "सुचि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजिव-नैन॥" (अ० दो० १२४)।

(२) 'तहाँ होइ मुनि रिषय···' अर्थात् आते सभी हैं, पर समाज बाहर से आनेवाले मुनियों तथा ऋषियों का ही होता है। औरों का समाज भी अन्य स्थलों पर भले ही होता हो, पर 'तहाँ' (भरद्वाज के आश्रम) पर नहीं।

(३) 'मज्जहिं प्रात समेत···'—स्नान तो त्रिकाल होता है, पर प्रातःकाल का स्नान मुख्य होता है और भरद्वाज-आश्रम पर समाज का जुड़ना इसी समय का नियम है। अन्यत्र प्रायः दिन के चौथे पहर में कथा होती है।

'समेत उछाहा'—क्योंकि उत्साहपूर्वक कार्य से धन-धर्म की वृद्धि होती है, अन्यथा हानि। यथा—"उत्साहभंगे धन-धर्म हानिः।" यह प्रसिद्ध है। यह भी भाव है कि वे सब शीत से नहीं डरते।

'परसपर'—यह कोई नियम नहीं रहता कि कोई विशेष व्यक्ति ही कथा कहे, प्रत्युत देश-देश के मुनि-ऋषि रहते हैं। अतः सब की वाणी सुनने की रुचि सब को रहती है। समय-समय पर अपनी-अपनी मति के अनुसार सभी कहते हैं।

प्रथा भी चल पड़ी है कि प्रातः स्नान करे, फिर माधव-पूजन तथा अक्षयवट-स्पर्श करके भरद्वाज-दर्शन-पूर्वक कथा सुने।

सम्बन्ध—'भरद्वाज-आश्रम' से देश तथा 'प्रात' से काल का निर्देश किया। अब अगले दोहे में वस्तु कहते हैं, जो उस देश-काल में होती है—

दोहा—ब्रह्म-निरूपन धर्म-बिधि, बरनहिं तत्त्व-बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत के, संयुत ज्ञान-बिराग॥४४॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-निरूपन = ब्रह्म का विचार = उत्तर मीमांसा। धर्म-बिधि = पूर्व-मीमांसा (जिसमें धर्म कर्म का विधान है)। तत्त्व-बिभाग = सांख्य-शास्त्र, यथा—"सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व-बिचार निपुन भगवाना॥" (दो० १४१)। भगति अर्थात् भक्ति के एवं उसके ग्रंथ = शांडिल्य सूत्र आदि। ज्ञान = उत्तर मीमांसा के साधनांश।

अर्थ—(इस गोष्ठी में मुनि लोग) ब्रह्म के निरूपण, धर्म के विधान एवं तत्त्वों के विभाग का वर्णन करते हैं और ज्ञान-वैराग्य के सहित भगवान् की भक्ति कहते हैं।

विशेष—(१) 'ब्रह्म निरूपन···' इस दोहे के पूर्वार्द्ध में तीन बातें कही गई हैं और इन्हीं तीनों की धर्मभूत तीन बातें उत्तरार्द्ध में हैं। जैसे ब्रह्म-विचार का निष्कर्ष ज्ञान है और धर्म-विधान का वैराग्य; यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ग्याना।" (आ० दो० १५)। तत्त्व-विभाग का निर्णय होने पर जीव का कर्त्तव्य भगवान् की भक्ति ही रह जाता है। इनमें प्रथम ब्रह्म-निरूपण होता है, तब धर्म-विधि की आवश्यकता होती है, फिर धर्म-निष्ठ को तत्त्व-विभाग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। तब तत्त्व-निर्णीत भक्ति के सहायक-रूप में ज्ञान-विराग रहते हैं।

(२) 'ब्रह्मनिरूपन'—यह प्रसंग पूर्व—"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥" (दो० १३) के विशेष में कहा गया है। वहीं देखना चाहिये। उसका निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म के एक अनीह-अरूप आदि नवों विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथिवी, जल अग्नि, वायु, आकाश, मन,

प्रथम भी 'आव सब कोई' और 'सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी।' सर्व साधारण के लिये कहकर, पीछे मुनियों का आना कहा गया है और मुनियों का स्नान भी पृथक् ही कहा गया है। यथा—"तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥" और—'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" इसी तरह सर्वसाधारण का जाना भी प्रथम कहकर तब मुनियों का कहा।

एक बार भरि मकर नहाये। सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाये॥३॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥४॥

अर्थ—एक बार मकर-भर स्नान करके सब मुनीश्वर अपने आश्रमों को चले॥३॥ तब भरद्वाज मुनि ने परम विवेकी याज्ञवल्क्य मुनि के चरणों पर प्रणाम कर उनको रोक रक्खा॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भरि······' अर्थात् माघ और मकर बीतने पर फाल्गुन में कथा होगी।

(२) 'जागबलिक मुनि ······' ये ऋषि यज्ञवल्क्य मुनि के पुत्र और व्यास-शिष्य वैशंपायन के भाँजे तथा शिष्य भी थे। किसी कारण से अप्रसन्न हो जाने पर इन्होंने उनसे पढ़ी हुई सब विद्याएँ उगल दीं। उन्हें वैशंपायन के अन्य शिष्यों ने तीतर-रूप से चुन लिया। अतः, उनकी शाखाओं का नाम 'तैत्तिरीय' पड़ा। श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने फिर तप करके सूर्य को प्रसन्न कर लिया और उनसे विद्या पढ़ी। तब ये शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) के आचार्य हुए। इसीसे इनका नाम वाजसनेय भी हुआ। इनके गार्गी और मैत्रेयी नाम की दो स्त्रियाँ थीं जो बड़ी ही ब्रह्मवादिनी और विदुषी थीं। उपनिषद् में इनकी कथा आई है।

'परम बिबेकी'—एक समय श्रीजनक महाराज ने ऋषि-समाज एकत्र करके यह प्रतिज्ञा की कि जो मेरे प्रश्नों के उत्तर दे सकें, वे इन लक्ष अलंकृत गौओं को ले जायँ। श्रीजनकजी के प्रश्नों के उत्तर देने में वह समाज असमंजस में था कि याज्ञवल्क्यजी ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि गौओं को ले जाओ, हम उत्तर दे लेंगे। ऐसा ही हुआ। उसी समय ब्रह्मवादिनी गार्गी से इनका वाद हुआ था। शास्त्रार्थ में हारकर ही गार्गी इनकी पत्नी बनी थीं। तब से ये याज्ञवल्क्यजी निमि-कुल के गुरु हुए। यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५) तथा—"यह सब जागबलिक कहि राखा।" (बा० दो० २८७)।

'राखेउ पद टेकी।'—पंजाबी मुहावरा है—'मत्था टेकूँ' ऐसा उदासियों में कहा जाता है अर्थात् चरणों पर मत्था धरके प्रणाम करना। टेकना का अर्थ धरना है—यथा—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि ···· " (लं० दो० ८३) अर्थात् चरणों पर प्रणाम करके चरण पकड़ लिये। भाव यह कि विदा करने की मेरी इच्छा नहीं है—बलात् आप भले ही चले जायँ। यह भी अभिप्राय है कि गुरु भाव से रोका, कुछ बराबरी से नहीं।

सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥५॥
करि पूजा मुनि-सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी॥६॥

अर्थ—(भरद्वाजजी ने) आदर-पूर्वक चरण-कमलों का प्रक्षालन करके उन (याज्ञवल्क्यजी) को अत्यन्त पवित्र आसन पर बैठाया॥५॥ मुनि की पूजा करके उनका सुयश-वर्णन (स्तुति) किया और अति पवित्र कोमल वाणी बोले॥६॥

विशेष—'करि पूजा'—षोड़शोपचार पूजन किया। यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च ॥ सुगन्धं सुमनोधूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम्।" इनमें यहाँ चरण धोना (पाद्य) और आसन—दो विधान कहकर स्तुति कही है। शेष को 'पूजा' शब्द से सूचित किया। 'सुजस बखानी'—आपने अमुक-अमुक का अज्ञान दूर किया था, अमुक-अमुक को भक्ति-उपदेश से कृतार्थ किया, बड़े-बड़े ज्ञानी जनक आदि भी आपके पद-कंज के भ्रमर हैं। 'अति पुनीत मृदुबानी।' निश्छल एवं सरल वाणी पुनीत कही जाती है। यथा—"लछिमन बचन कहे छलहीना।" (अ० दो० १३); "सुनत गरुड़ के गिरा विनीता। सरल सप्रेम सुखद सु पुनीता॥" (उ० दो० ६३)। अपनी चतुराई दिखाने अथवा परीक्षा लेने के विचार से किये हुए प्रश्न 'अपुनीत' हैं; पर ये वचन निश्छल (पुनीत) हृदय से कहे गये और कानों को सुनने में कोमल भी हैं।

नाथ! एक संसय बड़ मोरे। करगत बेद-तत्त्व सब तोरे ॥७॥

कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! मेरे हृदय में एक बड़ा भारी संदेह है और सम्पूर्ण वेद-तत्त्व आप के हाथ में प्राप्त हैं (आप वेद-तत्त्व अच्छी तरह जानते हैं) ॥७॥ वह (संशय) कहने में मुझे डर और लज्जा लगती है और यदि न कहूँ तो बड़ी भारी हानि होती है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाथ! एक संसय...'—सामान्य संशय होता तो स्वयं विचार करने से निवृत्त हो जाता, पर यह बड़ा संशय है। यथा—"नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा" (उ० दो० ५८)। अतः, यह संदेह आप-जैसे परम विवेकी से ही निवृत्त होगा। 'करगत वेद-तत्त्व सब...'—उपर्युक्त परम विवेकी का भाव यहाँ खोला कि जिसे वेदतत्त्व का साक्षात्कार हो, वही परम विवेकी है। इनसे श्री रामजी के विषय में प्रश्न करना है और श्री रामजी ही वेद-तत्त्व हैं। यथा -"वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दं० १९७) और श्री रामजी के चरित भी वेद-तत्त्व हैं। यथा—"बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०९)। तत्सम्बंधी ही प्रश्न करना है, इसलिये 'करगत वेदतत्त्व' कहकर अपना अभीष्ट सूचित किया। फिर इसी (रामायण) से ही उन्होंने इनका संदेह भी दूर किया।

(२) 'कहत सो मोहिं लागत भय लाजा।'—भय का कारण यह कि ये यह न समझ लें कि मेरी परीक्षा ले रहे हैं। अतः, अप्रसन्न होकर कहीं शाप न दे दें, क्योंकि श्री याज्ञवल्क्यजी को जब सूर्य से विद्या प्राप्त हुई तब विद्यार्थी लोग इनसे बड़े उत्कट (उग्र) प्रश्न करने लगे। इसपर इन्होंने सूर्य से कहा। तब सूर्य भगवान् ने वर दिया कि जो कोई तुमसे वैसा प्रश्न करेगा, उसका सिर फट जायगा। एक बार श्री जनकजी के यहाँ ऋषि-सभा में पंचशिखा ऋषि ने वैसा ही उग्र वाद किया। अतः, उनका शिर फट गया था!

अप्रसन्नता के और भी कारण हैं। जैसे—ये प्रश्न करेंगे—'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ'। वैसा ही श्री पार्वतीजी ने किया, जिससे शिवजी ने अप्रसन्न होकर बहुत कटु वाक्य कहे थे। यथा—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर..." से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११४) तक। यहाँ भी याज्ञवल्क्यजी कहेंगे ही—"कीन्हेउ प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा।" अतः, भय का यही कारण है कि कहीं मेरी भी माथा फटने की दशा न हो!

'लाजा'—लाज का कारण यह है कि परम तत्त्व-वेत्ता महर्षि वाल्मीकिजी के शिष्य होकर भी (भरद्वाजजी को तत्त्व का) बोध नहीं हुआ, वृद्ध हो चले, इतना भी नहीं जाना। दंभ से श्रेष्ठ बने प्रयाग-क्षेत्र में बैठे हैं। पुनः इसमें गुरु वाल्मीकिजी की निन्दा होगी कि उन्होंने कुछ नहीं बतलाया।

बुद्धि, प्रकृति और स्वेच्छा नाम के नवों आवरणों से मुक्त हों। ये नौ आवरण इसकी सांसारिक सुखों की चाह (राग) से हुए हैं। अतः, विराग की आवश्यकता होती है और विराग का साधन धर्म है। अतः, आगे 'धर्म विधि' कहते हैं।

(३) 'धर्म-विधि'—धर्म-शास्त्र में कथित विधि। विधि-निषेधात्मक कर्म-धर्म का विधान कहा जाता है। यथा—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥" (गीता १८।४५-४६)। यहाँ 'सिद्धि' वैराग्य के अर्थ में है, क्योंकि इसे ही आगे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' कहकर फिर 'सिद्धि प्राप्त' (गीता १८।४९-५०) से यही वैराग्यपरक अर्थ बतलाया गया है। तथा—"प्रथमहिं बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म-निरत श्रुति-रीती॥...येहि कर फल मन विषय विरागा।"(आ० दो० १५); इत्यादि रीतियों से वैराग्य होगा। परन्तु इसमें आसक्ति और फलेच्छा त्याग के साथ कर्म-योग के लिये तत्त्व-विभाग के ज्ञान की आवश्यकता है। यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥" (गीता १८।६)। इसमें के 'संगं' अर्थात् कर्तृत्वाभिमान रूप आसक्ति और फलेच्छा की तभी निवृत्ति हो सकती है, जब कर्तृत्व से अपने को पृथक् जाना जाय। अतः, तत्त्व-विभाग का ज्ञान चाहिये।

(४) 'तत्त्व-विभाग'—यथा—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रिय-गोचराः॥" (गीता १३।५)। इसमें पञ्चतत्त्व, अहंकार, बुद्धि और चित्त, ११ इन्द्रियाँ (मन और दसो इन्द्रियाँ) और पाँच विषय—इन चौबीस तत्त्वों का स्थूल शरीर कहा गया है। प्रत्येक कर्म के पाँच कारण कहे गये हैं, यथा—"अधिष्ठान तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ शरीर-वाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥" (गीता १८।१४-१५) अर्थात् अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (जीव), इन्द्रियाँ, प्राण और दैव (ईश्वर)—इन पाँच के द्वारा कर्म होते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण तो जड़ ही हैं। रहा जीव—इसका कर्तृत्व ईश्वर-परतंत्र है। यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१)। अतः, यह (जीव) ईश्वर का नियाम्य (नियम में चलनेवाला) मात्र है, तो इसका कर्तृत्वाभिमानी होना अयोग्य है। अपनी प्रकृति रूपी देह के द्वारा ईश्वर ही कर्त्ता है। यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" (गीता ३।२७) अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादि गुणों के प्राधान्य से तीनों अवस्थाओं के कार्य होते हैं।

आकाशादि तत्त्वों के साहाय्य में सात्त्विक अहंकार द्वारा कान आदि इन्द्रियाँ होती हैं, वे सब अपने-अपने मूल तत्त्व के शब्दादि विषयों के प्रवाह में निमग्न रहती हैं अर्थात् श्रोत्र (कान) आकाश के विषय (शब्द) में, त्वचा वायु के विषय (स्पर्श) में और नेत्र अग्नि के विषय (रूप) में स्वभावतः अनुरक्त रहा करता है। वैसे ही जीव ईश्वर का अंश है। यथा—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता १५।७), तथा—"ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)। अतः, इसे गुण कृत कार्यों से अनधिकार चेष्टा-रूप अहंकार-वृत्ति हटाकर अपने अंशी ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। उसी में स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिये। यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहैं। जेहि सुभाय विषयनि लग्यो त्यों सहज नाथ सों नेह छाड़ि छल करि है"॥ (वि० २६८)।

(५) 'भगति भगवंत कै'—भगवंत (भगवान्) शब्द में ही भक्ति का बीज है अर्थात् भगवान् अपने षडैश्वर्यों (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज) के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन और

संहार करते हैं। जैसे खेत को जो बोता है, सींचता है, और काटता है, उसका अन्न उसी के लिये होता है। उस अन्न का वही भोक्ता है, अन्न भोग्य है। वैसे ही जगत् रूप खेत के तीनों कार्य (उत्पत्ति-पालन-संहार) करने से भगवान ही भोक्ता हैं और सम्पूर्ण जगत् के चराचर जीव उनके भोग्य हैं। जीव का हर अवस्था में भगवान् के भोग्य रूप में रहना ही भक्ति है। कान से उनका यश श्रवण, हाथ से कैंकर्य (सेवा) नेत्र से दर्शन आदि करते रहना इन्द्रियों द्वारा भोग्यत्व है। यथा— 'हृषीकेश हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।" (नारदपंचरात्र)। यह नवधा भक्ति है यही परिपक्व होने पर प्रेमा और फिर परा रूप में परिणत होती है। विस्तार-भय से इनके भेदों को यहाँ नहीं लिखते।

(६) 'संयुत ज्ञान-विराग'—ऊपर कह आये हैं कि ब्रह्म निरूपण का निष्कर्ष रूप ज्ञान और धर्म-विधि का निष्कर्ष रूप वैराग्य है। उन्हींको यहाँ अंग रूप में भक्ति का सहायक होना कहा है। उस ज्ञान के प्रसंग मे वहाँ एक अनीह आदि गुणों के प्रदर्शन मे भगवान् का निःस्वार्थ भाव से जीवों का पालन करना दिखाया गया है और उनकी महिमा भी ज्ञात हुई। इससे प्रतीतिपूर्वक प्रीति दृढ़ रहेगी। पुनः उक्त वैराग्य से अन्य कर्मों की चेष्टा से बची हुई इन्द्रियाँ भजन में लगी रहेंगी। प्राकृत कामनाओं से वैराग्य रहने में भक्ति की अनन्यता भी सुरक्षित रहेगी। यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥" (गीता ७।२०) अर्थात् कामनाओं की पूर्ति के लिये ही अन्य देवताओं की आराधना में चित्त-वृत्ति दौड़ती है।

अतएव, इस साधु-समाज प्रयाग के सत्संग का निष्कर्ष ज्ञान-विराग संयुक्त भक्ति है, यही और जगह भी कही गई है। यथा—"जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥" (दो० १६), "श्रुति-संमत हरि-भगति-पथ, संयुत बिरति बिबेक।" (उ० दो० १००) इत्यादि।

यह सत्संग इस ग्रंथ का मूलाधार है, क्योंकि यहीं से सत्संग-कथा का उद्घाटन हुआ है। अतः, इसमें कही हुई बातों का आगे ग्रंथ में जहाँ-तहाँ विस्तारपूर्वक कथन आवेगा।

येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज-निज आश्रम जाहीं॥१॥
प्रति संबत अस होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा॥२॥

अर्थ—इसी प्रकार सब माघ भर स्नान करते हैं, फिर अपने-अपने आश्रमों को लौट जाते हैं॥१॥ प्रत्येक वर्ष ऐसा ही आनन्द होता है और मकर-स्नान करके मुनियों की मंडलियाँ चली जाती हैं॥२॥

विशेष—(१) 'येहि प्रकार भरि माघ······' 'येहि प्रकार' से कथा का और 'भरि माघ' से माघ-स्नान का निरंतर होना एवं पूरे माघ तक रहकर पूरा कल्पवास (किसी निश्चित समय तक अनवरत तीर्थ सेवन) करना सूचित किया; क्योंकि एक दिन भी कम होने से कल्पवास खंडित हो जाता है। ऐसा ही सौर मास के लिये भी आगे—'भरि मकर नहाये।' कहते हैं।

(२) 'प्रति संबत अस······' कल्पवास में किसी वर्ष का अंतर नहीं पड़ता अर्थात् किसी साल नियम खंडित हो जाने से कल्पवास अधूरा छूट जाता है।

'मकर मज्जि गवनहिं······' प्रथम भी जाना कहा था—'पुनि सब निज'···' ये चांद्र मास वाले हैं, वे माघ की पूर्णिमा नहाकर चले जाते हैं। वे मकर की पूर्ति नहीं देखते और सौर मास वाले सौर मास देखते हैं, पर मुनिवृंद तो दोनों रीतियों से मास की पूर्ति करके ही जाते हैं।

'होइ अकाजा'—अकाज की बात अगले दोहे में कहते हैं—

दोहा—संत कहहिं असि नीति प्रभु, श्रुति-पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव ॥४५॥

अर्थ—हे प्रभो ! संतलोग ऐसी नीति कहते हैं तथा वेद, पुराण और मुनि लोग भी (यही) गाते हैं कि गुरु से छिपाव करने पर निर्मल ज्ञान नहीं होता।

विशेष—(१) लाज की बात औरों से भले ही न कहे, गुरु से अवश्य कहे, अन्यथा बड़ी हानि है, क्योंकि गुरु से कपट रहने से उनकी करुणा न होगी और उसके बिना विमल-विवेक भी नहीं होगा और न भव-निवृत्ति ही होगी। यथा—"तुलसिदास हरि-गुरु करुना-बिनु बिमल बिबेक न होई। बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई॥" (वि० ११५)। 'बिमल'—गुरु के बिना जो 'मनमुखी' (गुरुहीन) ज्ञान होता भी है, वह समल होता है। यथा—"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्ति नहिं होई॥" (वि० १२३)। जैसे सतीजी ने शिवजी से 'दुराव' किया। यथा—"भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ।" (दो० ५५)। फिर उस शरीर में विमल विवेक हुआ ही नहीं। इसीसे श्रीरामजी ने सरलता दिखाई है। यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥" (दो० २३६)। अतः, गुरु से दुराव नहीं चाहिये।

अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥१॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥२॥

अर्थ—ऐसा विचारकर अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ, हे नाथ ! इस दास पर कृपा करके इस (अज्ञान) को दूर कीजिये ॥१॥ श्रीरामनाम का असीम प्रभाव है, उसे संतों, पुराणों और उपनिषदों ने गाया है ॥२॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि···' मुझे विमल विवेक की इच्छा है। 'करि छोहू'—दया करके ही मोह हरिये, क्योंकि मुझमें प्रत्युपकार की योग्यता नहीं है। ऊपर 'गुरु' कहा था, यहाँ उसका कार्य ['गु' से अंधकार (मोह), रु = निवारण करना] प्रकट किया।

(२) 'राम नाम कर···' संत, पुराण और उपनिषद—तीन का प्रमाण दिया। उपनिषदें वेद के अंतिम (शिरो) भाग हैं। इनमें ब्रह्मविद्या का ही निरूपण रहता है। ईश केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्य—ये दस प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, मैत्रायणी और कौशीतकी भी आर्ष ही मानी जाती हैं। भक्ति एवं श्रीरामनाम और मंत्र के महत्त्व-प्रकाशन में श्रीराम-तापनीय प्रधान है। उपनिषदें १०८ तक मानी जाती हैं।

उपनिषदों के गूढ़ तत्त्व पुराणों में उदाहरणों के साथ सविस्तर दिखाये गये हैं तथा संतों ने आराधन करके साक्षात्कार किया है और अपनी-अपनी संहिताओं में कहा भी है। अत, तीनों जिसका वर्णन एक-स्वर से करते हैं, वह अवश्य मान्य है।

श्रीराम-यश के चरित (रामायण) का उपक्रम यहाँ के 'राम' शब्द से हो रहा है और उपसंहार भी 'बिप साणु मोहि राम' में 'राम' शब्द ही पर होगा।

'पूछउँ'—क्योंकि बिना पूछे श्री रामतत्त्व को नहीं कहना चाहिये। फिर 'कृपानिधि' कहने का यह भाव है कि ऐसे प्रश्न पर क्रोध होने का योग है। अतः, दया से समझाकर कहें।

(२) 'एक राम अवधेस···' आगे कहेंगे—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' अर्थात् सतीजी की तरह इनको भी ब्रह्म के अवतार लेने में और उनके चरित में भी सन्देह है। यथा—"ब्रह्म जो व्यापक···सो कि देह धरि होइ नर···" (दो० ५०), "जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि, नारि-बिरह मति भोरि॥" (दो० १०८)। ये ही दोनों संदेह इन्हें भी हैं। इसी से शिवजी के इष्ट राम का महत्त्व नाम द्वारा ही कहा--रूप नहीं बतलाया, क्योंकि इनके मत में ब्रह्म अरूप है। सगुण लीला में भी ब्रह्म को कामी-क्रोधी कहकर संदेह प्रकट किया।

शिवजी के इष्ट राम ब्रह्म हैं और मैं जिनको जानता हूँ, वे तो अवधेश के कुमार हैं। ये राम ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष दो विरोधी बातें हैं--एक तो यह कि ब्रह्म अजन्मा है और इनका जन्म दशरथ महराज के यहाँ हुआ है। दूसरी यह कि ब्रह्म सम एवं बोध स्वरूप है और ये कामी क्रोधी हैं। फिर शिवजी सदा से जपते हैं और ये मत्स्य पुराण के अनुसार इस कल्प के चौबीसवीं चतुर्युगी के त्रेता में हुए हैं।

'बिदित संसारा'—इनके इन काम-क्रोध के चरितों को संसार-भर जानता है, क्योंकि चक्रवर्ती के कुमार होने से प्रसिद्ध थे। ब्रह्म में ऐसे अज्ञान के विकार सुने भी नहीं गये।

(३) 'रन रावन मारा।'--बराबर दोनों ओर से युद्ध हुआ। श्री रामजी नागपाश से बाँधे भी गये तो ईश्वर कैसे? यथा—"भृकुटि-भंग जो कालहिं खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लड़ाई॥" (ल० दो० ६५); 'मोहिं भयेउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि। चिदानंद-संदोह, राम बिकल कारन कवन॥" (उ० दो० ६८) अर्थात् ब्रह्म होते तो इच्छामात्र से ही रावण को मार डालते। यथा—"उमा काल मर जाकी ईछा।" (लं० दो० १०१)। फिर इतना श्रम क्यों करते?

तात्पर्य यह कि शिवजी के इष्ट राम में तो अमित प्रभाव है, और इनमें कुछ नहीं। ऐसा ही गरुड़जी ने भी कहा है—"सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥" (उ० दो० ५१)।

दोहा—प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सरबज्ञ तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि॥४६॥

अर्थ—हे प्रभो! ये वही राम हैं या कोई और हैं जिनको त्रिपुर के शत्रु (श्री महादेवजी) जपते हैं? आप सत्य के धाम और सर्वज्ञ हैं, अतः विवेक से विचारकर कहिये॥४६॥

विशेष—'त्रिपुरारि'—त्रिपुर दैत्य तीनों लोकों में एक एक रूप से रहता था। इसे यह वर प्राप्त था कि जब कोई इसके तीनों रूपों को एक साथ ही परास्त कर सकेगा, तब यह मरेगा। तीनों लोकों में इसके किले थे, जिनमें अमृत रहता था। शिवजी ने संग्राम में बहुत श्रम किया, पर यह न मरा। तब शिवजी ने श्रीरामजी का ध्यान किया। श्रीरामजी ने वत्स रूप से अमृत पी लिया, तब शिवजी से त्रिपुर का संहार हुआ।

(क) शिवजी ने भी जिनसे सहायता ली, क्या ये वे ही राम हैं?

(ख) त्रिपुर के जीतनेवाले एवं कामारि शिवजी कामी क्रोधी को कैसे भजेंगे?

(ग) ऐसे समर्थ शिवजी जिन्हें भजते हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं? यथा—"हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (लं० दो० ६२)।

'सत्यधाम सरबग्य ···' एक तो आप सब जानते हैं, फिर सत्य ही कहेंगे। अतः, यथार्थ ही होगा।

यद्यपि भरद्वाज मुनि ने यह संशय पूर्व पक्ष रूप में किया है, परन्तु सगुण-चरित्र ही ऐसे गूढ़ होते हैं कि मुनियों को भी भ्रम होता है। यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥" (उ० दो० ७३)।

जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ! बिस्तारी॥ १॥

अर्थ—हे नाथ! जिससे (मेरा) भारी मोह और भ्रम दूर हो, वही कथा विस्तार से कहिये॥१॥

विशेष—(१) ऊपर—"अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू।" में मोह-कथन का उपक्रम है और यहाँ "जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" पर उपसंहार हुआ। इससे प्रथम—"नाथ! एक संशय बड़ मोरे।" इन्होंने ही कहा था। 'संसय' को बड़ और 'मोह-भ्रम' को भारी कहकर दोनों को बराबर कहा।

ये ही तीनों बातें चारों घाटों के प्रसंग में बीज रूप में हैं—

श्री पार्वतीजी—"हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।" (दो० १०७); "जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू।" तथा "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८)।

श्री गरुड़जी—"जो नहिं होत मोह अति मोही।"—"भयेउ हृदय मम संसय भारी"॥ "छोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।" (उ० दो० ९८)।

श्री गोस्वामीजी—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता तरनी॥" (दो० ३०)। यहाँ संदेह=संशय और मोह-भ्रम एक साथ ही कहे गये हैं जिनका अभिप्राय क्रमशः ईश्वर जीव और माया (=तत्त्वत्रय) के अज्ञान में है। इस चौपाई के विशेष में लिखा गया कि इन्हीं तीनो तत्त्वों का बोध होना इस ग्रंथ का प्रयोजन है। यही प्रयोजन चारों घाटों का है। यह ग्रंथकार की सावधानता है।

(२) 'कहहु सो कथा···'—कथा ही से तीनों निवृत्त होंगे—अन्य उपायों से नहीं। यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" (दो० १०७)। 'बिस्तारी'—मूढ बनकर प्रश्न किया है इसलिये विस्तारपूर्वक कहने की प्रार्थना है; अन्यथा समझ में न आवेगी।

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहिं बिदित रघुपति-प्रभुताई॥२॥
राम-भगत तुम्ह मन-क्रम-बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥३॥
चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥४॥

अर्थ—श्री याज्ञवल्क्यजी ने मुसकुराकर कहा कि तुमको श्रीरघुनाथजी की प्रभुता ज्ञात है॥२॥ तुम मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के भक्त हो, मैंने तुम्हारी चतुराई जान ली॥३॥ (कि इस व्याज से) श्रीरामजी के गूढ़ गुणों को सुनना चाहते हो, (इसीसे ऐसे) प्रश्न किये हैं, मानों बड़े मूर्ख हो॥४॥

विशेष—(१) "जागबलिक बोले·" मुसकुराने का कारण इनकी चतुराई का लखना है। यथा—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" (बा० दो० ११)। स्वयं ज्ञाता होकर भी मूढ बनकर पूछने में चतुराई है जिससे मुनि विस्तारपूर्वक कथा कहें। अन्यथा इस प्रकार प्रश्न मूर्ख नहीं कर सकता। जैसे—प्रथम—"राम नाम कर अमित प्रभावा।"·· से—"कहहु बुझाइ कृपा-

निधि मोही ।।" तक 'विषय' कहा। फिर -"एक राम अवधेस" से--"भयेउ रोष रन रावन मारा ।।" तक 'पूर्व पक्ष' किया। पीछे—"प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ. " इस दोहे में 'संशय' किया। अब सिद्धान्त चाहते हैं। यह वेदान्तियों की रीति है, पर सरल भाव से 'नाथ ! कृपनिधि ! प्रभु !' आदि मृदु सम्बोधन भी हैं। अतः, बराबरी एवं वाद की छाया नहीं है। इसमें भीतर चतुराई है, पर ऊपर से मूढता की तरह है। अत', 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है।

'चतुराई' का प्रयोग श्रीराम-भक्ति के विषय में अन्यत्र भी आया है। यथा—"रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई ।।" (उ० दो० ८४)।

(२) 'राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी ।'—चतुराई को देखकर इनकी भक्ति भाँप ली और इसीसे मोहादि का न होना भी समझा। यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।।' (उ० दो० ६१)। इसीसे 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है, मूढ़ तो हो नहीं, पर बने हो। किस लिये बने हो ? वही-'चाहहु सुनइ···' से कहा है।

(३) 'राम-गुन गूढ़ा'—इसे ही ऊपर 'रघुपति प्रभुताई' कहा था अर्थात् रघुपति की प्रभुता लीला में अप्रकट रूप में है। लीला के अति माधुर्य-प्रसंग में बहुत को भ्रम हो जाता है जैसे जिन दो बातों पर इन्होंने संदेह प्रकट किया है, उन्हें ही सतीजी ने वास्तव में नहीं समझा। इसी लक्ष्य पर शिवजी ने कहा भी है—"उमा राम-गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति ।" (आ० दो० १)।

(४) ऊपर कहा गया है कि भरद्वाज का, सती का और गरुड़ का संशय, मोह और भ्रम करना एक समान है। इसीसे तीनों श्रोताओं के प्रति इन तीनों वक्ताओं का बर्ताव भी समान है। प्रश्न सुनकर प्रथम जिज्ञासुओं का आदर किया गया कि वे घबरा न जायँ। फिर युक्ति से उनके प्रश्नों का अनौचित्य भी कह दिया।

शिवजी—"तुम्ह रघुबीर-चरन-अनुरागी। कीन्हेहु प्रस्न जगत हित लागी ।। राम-कृपा ते पारबति, सपनेहु···कछु नाहिं ।।" (दो० ११२)।

भुशुंडीजी—"सब निधि नाथ पूज्य तुम मेरे।" तुम्हहिं न संसय मोह न माया ।" (उ० दो० ६६)।

याज्ञवल्क्यजी—"तुम्हहि बिदित···राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई···"

तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई ।।५।।
महा मोह महिषेस बिसाला। राम-कथा कालिका कराला ।।६।।

अर्थ—हे तात! आदर-सहित मन लगाकर सुनो। मैं श्रीरामजी की सुन्दर कथा कहता हूँ ।।५।। महामोह रूपी बड़े भारी महिषासुर के लिये श्रीराम-कथा बड़ी कराल (भयंकर) कालिका है ।।६।।

विशेष—(१) 'तात सुनहु सादर ···'—ऊपर 'राम-गुन-गूढ़ा' कहा था, अतः, 'सादर' और 'मन लाई' सुनने को कहते हैं, क्योंकि गूढ़ विषय के समझने की यही रीति है कि मन-मति-चित्त कथा में लगे रहें और स्नेहपूर्वक सुने। 'तात' शब्द यद्यपि छोटे-बड़े सभी के प्रति आता है, पर यहाँ बराबर के भाव में है। यथा—"तात ! तात बिनु बात हमारी।" (अ० दो० २०१)। इसमें पहला तात भाई के लिये और दूसरा पिता के लिये है। "सुनहु तात ! तुम कहँ मुनि कहहीं।" " (अ० दो० ७६)। इसमें पुत्र के लिये आया है। यह अत्यत प्रेमसूचक सम्बोधन है।

(२) "महा मोह महिषेस···"—भरद्वाज ने कहा था - "जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" उसी के प्रति यह वचन है। जीव के स्वरूप मे अज्ञान होना 'मोह' है और ईश्वर के रूप में अज्ञान होना 'महा मोह' है। यथा—"महा मोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)। इस महा मोह को विशाल महिषासुर कहा गया, क्योंकि महिषासुर को कालिका देवी ने मारा और इस महा मोह ने तो कालिका (सती) को ही जीत लिया। यथा—"भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा।" (दो० ६७)। दूसरे जन्म तक भी यह महा मोह रह ही गया। यथा—"जदपि मोहबस कहेहु भवानी।" (दो० ११३)। इसलिये महा मोह को विशाल महिषासुर और उसको नष्ट करनेवाली कथा को कराल कालिका कहा है।

'कालिका'—महिषासुर से परास्त होकर देवता लोग ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा, शिव तथा और भी देववृंद विष्णु के पास गये। विष्णु भगवान ने कहा कि उसके वध के लिये सब देवता मिलकर थोड़ा-थोड़ा तेज निकालें। उससे एक स्त्री बनेंगी और वे ही उस असुर का वध करेंगी क्योंकि वर के कारण वह किसी भी पुरुष से नहीं मर सकता। तब ब्रह्मा ने अपने मुख से रक्त वर्ण का, शिव ने रौप्य वर्ण का, विष्णु ने नील वर्ण का, इन्द्र ने विचित्र वर्ण का, एवं सब देवताओं ने अपना-अपना तेज निकाला, उससे एक तेजस्विनी देवी प्रकट हुई। इन्हींने महिषासुर का संहार किया। वर्ण काला होने से इनका नाम 'कालिका' पड़ा। यह कथा देवी भागवत के अनुसार है।

'महिषासुर'—यह रंभ नामक दैत्य का पुत्र था और इसकी आकृति भैंसे की-सी थी। इसने हेमगिरि पर कठिन तप करके ब्रह्मा से वर पाया था कि स्त्री छोड़कर पुरुष मात्र से मेरा वध न हो। जब इसने इन्द्रादि देवों को जीत लिया तब कालिका के द्वारा मारा गया।

जिस महा मोह ने सती को भी हराया, उसे कथा ने ही जीता। यथा—"ससि-कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (दो० ११६)।

राम-कथा ससि-किरन समाना। संत-चकोर करहिं जेहि पाना॥७॥
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥८॥

अर्थ—श्रीराम-कथा चन्द्रमा की किरण के समान है, संत-रूपी चकोर जिसका पान करते हैं॥७॥ इसी प्रकार का संदेह श्रीपार्वतीजी ने किया था। तब शिवजी ने विस्तारपूर्वक (राम-कथा का) वर्णन किया था॥८॥

विशेष—(१) 'राम कथा ससि-किरन···' चकोर चन्द्रमा का अनन्य प्रेमी होता है, वैसे संत श्रीरामचंद्र के अनन्य भक्त होते हैं। वह किरण-पान करता है, वैसे संत कथा-श्रवण करते हैं। यथा—"नाथ! तवानन ससि स्रवत, कथा-सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति-धीर॥" (उ० दो० ५२); "राम-चरित राकेस-कर, सरिस···" (दो० ३२)।

यहाँ कथा के लिये दो दृष्टान्त हैं—महा मोह नाश के लिये कराल है, संतों के लिये शशि-कर के समान शीतल एवं आह्लादवर्द्धक है। प्रथम मोह नाश करके फिर सुख देती है, जैसे असुर का नाश कर देवी ने देवताओं को सुखी किया।

(२) 'ऐसेइ संसय कीन्ह·····' ऐसेइ अर्थात् जैसे भरद्वाजजी ने ब्रह्म के अवतार लेने में संदेह किया और उसकी लीला में कामुकता कही; इसी प्रकार श्रीपार्वतीजी ने भी संशय किया था। भवानी =

भव-पत्नी = श्रीपार्वतीजी, जिन्होंने सती-शरीर में संशय किया। फिर दूसरे (पार्वतीजी) शरीर से कथा सुनकर संशय-निवृत्त किया।

श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद-प्रकरण समाप्त

उमा-शंभु-संवाद-प्रकरण प्रारम्भ

दोहा—कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा - संभु - संवाद।
भयेउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ॥४७॥

अर्थ—अब मैं (अपनी) बुद्धि के अनुसार वह शिव-पार्वती का संवाद, जिस समय और जिस कारण से हुआ, कहता हूँ। हे मुनि ! उसे सुनो, तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा॥ ४७॥

विशेष—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने 'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' से अपना संवाद उमा-शंभु-संवाद में मिलाया। अब उनके संवाद-द्वारा भरद्वाज का सदेह मिटाना चाहते हैं, क्योंकि शिवजी के इष्ट पर उनका विश्वास है। यथा—"राम नाम कर अमित ··" से—"जाहि जपत त्रिपुरारि।" तक कहा गया है। अत', उन्हीं के मुख का कहा हुआ, भरद्वाजजी के लिये विश्वस्त एवं प्रिय होगा। अतः, यह वक्ता की चातुरी है। पुनः यह प्रायः सभी वक्ताओं की रीति है कि वे श्रुति परंपरा की ही कथा कहते हैं। जैसे आगे शिवजी भी भुशुंडीजी से सुनी हुई ही कथा कहेंगे—यद्यपि यह भुशुंडीजी को भी शिवजी से ही प्राप्त हुई है। 'सो'—जिसके लिये पूर्व दो० ३२ चौ० १–२ में प्रतिज्ञा भी की थी।

सती-मोह-प्रसंग

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥१॥
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी॥२॥

अर्थ—त्रेता युग में एक समय शिवजी अगस्त्य ऋषि के पास गये॥१॥ साथ में जगन्माता भवानी सतीजी थीं, ऋषि ने सर्वेश्वर जानकर उनकी पूजा की॥२॥

विशेष—(१) 'एक बार त्रेता जुग ··' यह त्रेता युग प्रथम कल्प के प्रथम मन्वन्तर का है जिसमें स्वायंभुव मनु और शतरूपा के तप से परात्पर साकेतविहारी का अवतार हुआ था। इसीका प्रारम्भ श्रीशिवजी ने "अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।···" (दो० १४०) से किया है। शिवजी वहाँ (अगस्त्यजी के पास) बराबर जाया करते थे, पर यह प्रसंग एक बार का है।

'कुंभज'—अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति विलक्षण है कि घड़े से पैदा हुए और समुद्र सोख लिया। अत, बड़प्पन दिखाया कि बड़े बड़े ऋषि भी अगस्त्यजी के पास सत्संग के लिये आते थे। यथा—"तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी॥" (उ० दो० ३१); तभी शिवजी इनके पास गये, क्योंकि बड़े लोग बड़े के यहाँ जाते ही हैं।

(२) 'संग सती जगजननि भवानी। ···'—कथा-श्रवण के लिये जाने में सतीजी के लिये तीन उत्तम विशेषण दिये गये और लौटते समय कथा के चरित में संदेह होने के आगम पर 'दच्छ-कुमारी' ही कहेंगे। इन तीन विशेषणों के द्वारा सतीजी का क्रमशः पालन, उत्पत्ति और संहार करना जनाया। 'सती' से सत्त्व गुण धारण कर जगत् का पालन, 'जग-जननि' से उत्पत्ति और 'भवानी' (भव-पत्नी) से संहार-कर्तृत्व सूचित किया। यथा— जग-संभव-पालन-लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥" (दो० ९७)। "जगजननि के साथ ही भवानी' कहने का भाव यह है कि ये ईश्वर के संग से ही जगत् की उत्पत्ति आदि कर सकती हैं।

केवल 'सती' कहने से अन्य सतियों का भी भ्रम होता। अतः, 'जगजननी' कहा; फिर रमा और सरस्वती का भ्रम होता, इसलिये 'भवानी' भी कहकर अतिव्याप्ति मिटाई। 'अखिलेश्वर जानी'—अतिथि मात्र जानकर नहीं, प्रत्युत (अ=नहीं, खिल=शेष) निःशेष (सम्पूर्ण) जगत् का ईश्वर जानकर मुनि ने शिवजी की पूजा की।

राम-कथा मुनिबर्य बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥३॥
रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥४॥

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी ने राम-कथा विस्तार से कही और शिवजी ने परम सुख मानकर सुनी॥३॥ ऋषि अगस्त्यजी ने भगवान् की सुन्दर भक्ति पूछी। शिवजी ने अधिकारी पाकर कही॥४॥

विशेष—(१) 'राम कथा मुनिबर्य ···' अगस्त्यजी मुनिवर्य हैं, क्योंकि इनके श्रोता शिवजी हैं और इनके पास सनकादिक भी आते हैं। 'परम सुख मानी'—क्योंकि सनकादिक और शिवजी भी ध्यान के ब्रह्मानंद आदि सुख छोड़कर चरित सुनते हैं। यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)। तथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥" (दो० १११)। चरित परानंद-रूप है। यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६)।

शंका—शिवजी के बिना जिज्ञासा किये ही मुनि ने कथा क्यों कही? इसमें कथा का अपमान है।

समाधान—अगस्त्यजी जानते हैं कि शिवजी राम-कथा से ही रीझते हैं, क्योंकि यही उनको परम प्रिय है। यथा—"सिव-प्रिय मेकलसैल सुता सी।" (दो० ३०), "अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।" (दो० ३१)। अतः, पूजा के अंत में स्तुति की जगह राम-कथा ही सुनाई। इसी तरह अनसूयाजी ने श्रीजानकीजी की पूजा वात्सल्य दृष्टि से करके अंत में बिना उनके पूछे ही पातिव्रत्य धर्म कहा है, क्योंकि यह इन्हें प्रिय है। अतः, सुनकर प्रसन्न होंगी।

(२) 'रिषि पूछी हरि-भगति ···' ऋषि ने पूछा, क्योंकि शिवजी श्रीरामभक्ति के कोषाध्यक्ष—'खजांची' हैं। यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३७)। जब शिवजी चरित सुनकर परम सुखी हुए, तब मुनि ने भक्ति पूछी, फिर भी शिवजी ने इन्हें अधिकारी पाकर ही कही, क्योंकि भक्ति परम दुर्लभ वस्तु है। यहाँ परा भक्ति से तात्पर्य है, जो शांडिल्य सूत्र आदि ग्रंथों में कही गई है, क्योंकि वक्ता-श्रोता दोनों उच्च कोटि के हैं। यह भक्ति अनधिकारी से अग्राह्य है। अधिकारी के लक्षण कथा-अधिकारी के प्रसंग उ० दो० ११२ और १२७ में कहे गये हैं। तथा—"राम-भगत-अधिकारी चीन्हा।" (दो० २१)। इसके अधिकारी पहचानने का प्रसंग लोमश के वाद-प्रसंग में है।

यथा—"लीन्ही प्रेम-परीक्षा मोरी।" (उ० दो० ११)। यहाँ—"उमा जे रामचरन रत, बिगत काम-मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहिसन करहिं बिरोध॥" इस दोहे में भक्ति के लक्षण कहे और उस प्रसंग में चरितार्थ रूप में दिखाये भी हैं।

कहत सुनत रघुपति-गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा॥५॥
मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की कथा कहते-सुनते शिवजी वहाँ कुछ दिनों तक रहे॥५॥ अगस्त्य मुनि से बिदा (जाने की आज्ञा) माँगकर शिवजी दक्ष की पुत्री (सती) के सहित अपने स्थान को चले॥६॥

विशेष—'बिदा माँगि'—यह प्रीति की रीति है। प्रीति का मुख्य अंग प्रणय है अर्थात् मैं आपका हूँ। अत, आप की आज्ञा के बिना नहीं जा सकता। यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥" (आ० दो० ३), "चले राम मुनि-आयसु पाई।" (आ० दो० ११)।

'सँग दच्छकुमारी'—यहाँ पति का संबंधसूचक नाम नहीं दिया, क्योंकि आगे सतीजी पति द्वारा त्यागी जायँगी। दक्ष ने जामाता ही मानकर शिवजी का निरादर किया और उसका फल भी पाया, वैसे सतीजी भी पति के इष्ट रामजी को प्राकृत मनुष्य मानकर परीक्षा-रूप से उनका निरादर करेंगी। यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गी० ९।११) फिर पति का वचन न मानकर अपमान करेंगी और वैसा फल पावेंगी। इसी से दक्ष सम्बंधी नाम दिया गया। दक्ष एक प्रजापति हैं जिनका जन्म ब्रह्मा के दाहिने अंगूठे से और इनकी पत्नी का जन्म बायें अंगूठे से हुआ। इस पत्नी से दक्ष के ६० कन्याएँ हुईं, जिन में एक सती हैं जो शिवजी से ब्याही गई थीं। पुराणों में इनकी कथा है।

यहाँ सती मात्र का संग कहा गया है। अतः, और कोई गण शिवजी के साथ नहीं थे।

तेहि अवसर भंजन महि-भारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥७॥
पिता-बचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अबिनासी॥८॥

अर्थ—उस समय पृथिवी का) ' भार हरने के लिये हरि'(भक्तों के दु:खहर्ता) ने रघुवंश में अवतार लिया॥७॥ पिता के वचन से राज्य को छोड़कर और उदासी वेष से वे अविनाशी (भगवान्) दंडक वन में विचरते थे॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर ' '—शिवजी अगस्त्यजी के यहाँ सत्संग में थे और कथा का ही अनुकथन होता था। यहाँ 'लीन्ह अवतारा' से बालकांड, 'तजि राज' से अयोध्याकांड और 'दंडक बन बिचरत' से आरण्यकांड की वर्तमान कथा तक हुई। वही इन दो अर्द्धालियों में कही गई है। सम्भवत इसी प्रसंग में अगस्त्यजी ने कह दिया होगा कि वे ही प्रभु इस समय निर्जन वन में भाई और सीताजी के साथ घूम रहे हैं जिसे सुनकर शिवजी ने उत्कंठित हो प्रभु दर्शन का अच्छा अवसर जानकर बिदा माँगी और चल पड़े। अत, आगे कहते हैं कि—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।" ऐसा ही एक प्रसंग और भी है। यथा—"आनि समय सनकादिक आये। तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥ राम-कथा मुनिबर बहु बरनी।..."(उ० दो० ३१); यहाँ भी कथा में प्रभु के वाटिका (एकान्त) में आने की लीला और समय जानकर आना लिखा है।

'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिं' (मंगल श्लोक ६) में कहे हुए श्रीरामजी।

'रघुबंस लीन्ह...' पहले यह वंश सूर्यवंश या इक्ष्वाकु मनु वंश के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कुल में उत्पन्न दीर्घबाहु दिलीप ने सन्तान-प्राप्ति के लिये गुरु वशिष्ठजी की आज्ञा से नन्दिनी धेनु की आराधना कर उससे वंश चलानेवाले पुत्र की याचना की। फल-स्वरूप 'रघु' नामक पुत्र हुआ। इसीसे पीछे इस वंश का नाम 'रघुवंश' पड़ गया। पद्मपुराण के आधार पर कवि कालिदास ने 'रघुवंश' में यह कथा लिखी है। इस वंश के लोग तेजस्वी होते आये हैं, उनमें प्रभु का तेज छप जायगा—प्रकट न होगा, क्योंकि ब्रह्मा का वचन सत्य करने के लिये मनुष्यत्व ही दिखाना है। पुनः यह धर्मात्मा वंश है और हरि ने भी धर्म की रक्षा के लिये अवतार लिया है। 'लीन्ह'—स्वेच्छा से अवतीर्ण हुए। यथा—"इच्छामय नर-वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट..." (दो० १५१)।

(२) 'पिता-बचन तजि राज...' पिता के वचन की रक्षा के लिये राज्य छोड़ा, उदासीन वेष धारण किये हुए, दंडक वन ऐसे दुःखमय वन में भी विचरते हैं अर्थात् आनन्द वृत्ति के साथ लीला कर रहे हैं। राज्य छोड़ने में त्याग-वीरता है। यथा—"पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर। बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥" (अ० दो० १६५)। वेष – यथा—"तापस वेष बिसेषि उदासी।" (अ० दो० २८)। 'अविनासी' - 'लीन्ह अवतारा' से जन्म कहा गया और जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी निश्चित रहता है। यथा—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (गीता २।२७), पर भगवान् का जन्म-कर्म दिव्य एवं स्वेच्छा से होता है। अतः, अविनाशी हैं। पुनः खर-दूषणादि इनको न मार सके और न आगे कोई इनका विनाश कर सकेगा।

'दंडक वन'—इसकी कथा पूर्वोक्त दो० २३ चौ० ७ के विशेष में देखिये।

शंका—पिता ने वचन से नहीं कहा, कैकयी ने वचन-बद्ध होना कहा, जिससे श्रीरामजी वन को चले आये। तब यहाँ 'वचन' क्यों कहा गया ?

समाधान—पिताजी वचन-बद्ध होने में-श्रीरामजी की शपथ भी कर चुके थे, इसी से उसके विरुद्ध कुछ कह न सके। पिता के सामने ही कैकयीजी ने वे वचन कहे, राजा ने क्रूर वचन स्वयं न कह सकने के कारण उन्हीं (कैकयीजी) को ही कह दिया था—"अब तोहिं नीक लाग करु सोई।" (अ० दो० ३५)। 'अपना नीक लगना'—उन्होंने अपनी पसंद की बात पहले ही राजा से कह दी थी। यथा—"होत प्रात मुनि-वेष धरि, जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस..."(अ० दो० ३३); फिर उसे आजन्म त्याग की प्रतिज्ञा भी कर ली। अतः, कैकयी द्वारा कहे हुए वचन राजा ही के हैं। यही चरितार्थ भी है। यथा—"हम पितु-बचन मानि बन आये।" (कि० दो० २); "पिता-बचन मैं नगर न आवउँ।" (लं० दो० १०५) इत्यादि। पिता के स्वयं स्पष्ट न कहने पर भी श्रीरामजी ने मान लिया और प्रतिज्ञाबद्ध पिता को कैकयी से उऋण किया और उन्हें सत्यव्रत सिद्ध किया। यह उत्कृष्ट पितृ-भक्ति है।

दोहा—हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।
गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ॥

सोरठा—संकर उर अति छोभ, सती न जानइ मरम सोइ।
तुलसी दरसन-लोभ, मन डर लोचन लालची॥४८॥

अर्थ—श्रीशिवजी हृदय में विचारते जाते हैं कि किस प्रकार से दर्शन हों, क्योंकि प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने गुप्त रूप से अवतार लिया है और मेरे (समीप) जाने से सब कोई उन्हें जान जायँगे॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि शिवजी के हृदय में बड़ी खलबली है, दर्शनों की लालसा से नेत्र ललचा रहे हैं, पर मन डर (भी) रहा है। इस भेद को सतीजी नहीं जानतीं ॥४८॥

विशेष—'केहि बिधि दरसन होइ'—शिवजी श्रीरामजी के दर्शनों के लिये समयानुसार किसी विधि से आया करते हैं, जैसे बाल-रूप के दर्शनों के लिये आगमी बनकर आये, विवाह एवं राज्याभिषेक पर भी आये। वैसे ही यहाँ विधि (युक्ति) खोज रहे हैं कि निकट आकर भी इष्ट के दर्शन न करें तो मन नहीं मानता। यदि दर्शन करते हुए अनजान की भाँति प्रणाम आदि न करें तो इष्ट का अनादर होता है और जो प्रणामादि करें तो सब कोई जान जायँगे कि ये परब्रह्म हैं, तभी तो शिवजी भी प्रणाम आदि करके इनसे सेवक का बर्ताव करते हैं। इससे लीला में बाधा होगी और स्वामी को संकोच होगा। यह मेरे सेवक-धर्म के विरुद्ध होगा। यथा—"जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥" (अ० दो० २६७) इत्यादि ; पर कोई युक्ति न बनी।

'गुपुत रूप'—ब्रह्मा का वचन मनुष्य-रूप से रावण के मरने का है, उसकी रक्षा के लिये प्रभु ने रघुवंश में अवतार लिया कि यहाँ रघु आदि बड़े-बड़े तेजस्वी हुए हैं, जिनके प्रताप के आगे रावण भी ठंढा पड़ गया था। इस कुल में प्रभु के बल, प्रताप, वीरता को देखकर कोई ईश्वर न कहेगा। इस छिपाव का कारण अगली चौपाई में कहेंगे। 'मन डर'—प्रभु के संकोच का डर है।

रावन-मरन मनुज-कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा॥१॥
जौं नहिं जाउँ रहइ पछितावा। करत बिचार न बनत बनावा॥२॥

अर्थ—(शिवजी सोच रहे हैं कि) रावण ने अपना मरण मनुष्य के हाथ से माँगा है। प्रभु ब्रह्माजी के वचनों को सत्य करना चाहते हैं॥ १॥ जो नहीं जायँ तो मन में पछतावा रहेगा। (इस प्रकार अनेक) विचार करते हैं, पर कुछ बनाये नहीं बनता॥२॥

विशेष—(१) 'रावन-मरन मनुज…' रावण ने घोर तप से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और वर माँगा—"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥" इसपर ब्रह्मा ने कहा—"एवमस्तु तुम बड़ तप कीन्हा।……" (दो० १७६)। फिर उसने इन्द्रादि देवताओं को बंदीगृह में डाल दिया, त्रिदेव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे। फिर बेचारे मनुष्य क्या कर सकते ? इसलिये प्रभु ने स्वयं मनुष्य-रूप से रावण का वध करना और ब्रह्मा का वचन सत्य करना निश्चित किया है। इसलिये प्राकृत मनुष्य की सी लीला कर रहे हैं। 'प्रभु'—वे परम समर्थ हैं, यथा—"भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० २७); "प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (लं० दो० ११३)। ब्रह्मा को यह अधिकार प्रभु ने ही दिया है। यथा—"बिधिहिं बिधिता ……जेहि दई। सोई जानकीपति ……" (वि० १३५)। यदि ब्रह्मा का वचन (वर) सत्य न हो, तो फिर इनका तप कोई क्यों करेगा ?

(२) 'जौं नहिं जाउँ रहइ…'—'हृदय बिचारत जात हर…' उपक्रम है और यहाँ 'करत बिचार न बनत' पर उपसंहार हुआ। 'न बनत बनावा'—एक भी युक्ति ठीक न बनी। इतने निकट आकर भी दर्शन न हुए, तो पछतावा रहेगा, वह किस काम का ? यथा—"समय चुके पुनि का पछिताने।"(दो० २६०)।

येहि विधि भये सोच-बस ईसा। तेही समय जाइ दससीसा ॥ ३ ॥
लीन्ह नीच मारीचहिं संगा। भयेउ तुरत सोइ कपट कुरंगा ॥ ४ ॥
करि छल मूढ़ हरी बैदेही। प्रभु-प्रभाव तस बिदित न तेही ॥ ५ ॥

अर्थ—इस प्रकार शिवजी सोच के वश हुए। उसी समय नीच रावण ने आकर नीच मारीच को साथ लिया। वह (मारीच) तुरंत ही कपट का मृग बन गया। ३-४॥ मूर्ख (रावण) ने छल करके श्री जानकीजी को हर लिया, (क्योंकि) प्रभु का जैसा प्रभाव है, वैसा उसे मालूम नहीं था ॥ ५ ॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि···' यद्यपि ईस (ईश) समर्थ शिवजी हैं, तथापि ऐसे सोच में पड़ गये हैं जैसे कोई असमर्थ किसी के वश में अचानक पड़ जाय और छूटने का उपाय न सूझे। 'तेही समय'— इधर शिवजी उपाय के तर्क-वितर्क में पड़े हैं। 'बस'—बड़ी देर सोच में रहे। उधर नीच रावण अपने छल कार्य में लगा।

(२) 'लीन्ह नीच मारीचहिं···' 'नीच' विशेषण रावण और मारीच दोनों के लिये है, क्योंकि दोनों ने नीचता की है। यथा—"बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानहि नीचा ॥" (लं॰ दो॰ ३५)। यहाँ मंदोदरी ने रावण को नीच कहा है, क्योंकि चोरी से पर स्त्री हरण नीचता है। रामजी ने मारीच को बिना फर के बाण से सौ योजन सागर पार भेजकर प्राण बचाये। इसने बाण-प्रताप जान लिया, और उपकार भी, पर फिर भी रावण के वश (एवं ईर्ष्यावश कि इसका वंश समेत नाश हो—वाल्मीकि आ॰, सर्ग, ४१, श्लोक १७-१८) होकर इसने नीचता की कि तुरत कपट का मृग बन गया फिर (छल करके) प्रभु को दूर ले जाकर वचन से भी छल किया। यथा—"लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा ॥" (आ॰ दो॰ २६)। श्री राम का-सा स्वर मिलाकर ऐसा बोला कि श्री जानकीजी को धोखा हुआ, यह उसकी नीचता है। यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी नीच मरत सिखावन देइ चले, गीधराज मारीच ॥" (दोहावली ३३१)।

'कपट कुरंगा'— यथा—"तब मारीच कपट मृग भयेऊ। ···अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई ॥ ··· सीता परम रुचिर मृग देखा।" (आ॰ दो॰ २१)।

(३) 'करि छल मूढ़ हरी···' रावण ने मारीच को छलकारी मृग बनाया और स्वयं छल से यती (संन्यासी) का रूप धारण किया। यथा—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप-नारी ॥" (आ॰ दो॰ २४)। मारीच ने छल किया भी—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहिं गयउ लै दूरी ॥" (आ॰ दो॰ २६)।

'रावण का छल'—"सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा ॥" (आ॰ दो॰ २७)।

'प्रभु प्रभाव तस ···' 'तस' वैसा अर्थात् जैसा है, वैसा नहीं जानता था। ध्वनि से आता है कि कुछ जानता भी था। यथा—"जौं रघुबस लीन्ह अवतारा।" (आ॰ दो॰ २२); पर वह संदेह में पड़ गया। इसी से कपट-मृग से परीक्षा का भी अभिप्राय था। जो यथार्थ प्रभाव जानता तो अपनी वृत्ति के अनुसार भजन ही करता। यथा—"उमा राम-प्रभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥" (सुं॰ दो॰ ३३)। फिर बराबरी भी नहीं करता। यथा—"जो पै प्रभु-प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥" (दो॰ २७६) इत्यादि। प्रभाव न जानने और छल करने आदि से 'मूढ़' भी कहा है।

मृग वधि बंधु सहित प्रभु आये। आश्रम देखि नयन जल छाये ॥ ६ ॥
बिरह-बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥ ७ ॥
कबहूँ जोग - वियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके ॥ ८ ॥

अर्थ—हिरन को मारकर प्रभु (श्रीरामजी) भाई (लक्ष्मणजी) के साथ आश्रम पर आये। उसे (शून्य) देखकर उनके नेत्रों में आँसू भर आये ॥ ६ ॥ श्री रघुनाथजी मनुष्यों की तरह विरह से व्याकुल हैं और दोनों भाई वन में (माया-सीता को) ढूँढ़ते-फिरते हैं ॥ ७ ॥ जिनके (यथार्थ में) कभी संयोग-वियोग (के विकार रूप हर्ष-विषाद) नहीं हैं, उनको प्रकट में विरह का दुःख देखा गया ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'मृग वधि······ प्रभु···' पूर्व कहा गया था—"सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति वैदेही ॥" (आ० दो० २६)। कार्य पूरा हुआ। अतः, 'प्रभु' कहा गया। यहाँ माधुर्य लीला है। इसलिये 'प्रभु' और 'नर इव' कहा जिससे इनमें पाठकों की प्राकृत बुद्धि न हो जाय। ऐश्वर्य दिखाया कि ये विरह आदि नर-नाट्य हैं। कहा ही है—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२६)। श्री रामजी सोचते हैं कि यदि दुःख प्रकट न करें तो सीताजी के हरण से हमको कलंक लगेगा! सीताजी कहाँ किस अवस्था में दुःख भोग रही हैं—इससे तथा प्रिय-वियोग आदि कारणों से भी उनकी आँखों में आँसू भर आये।

(२) 'विरह विकल···'—विरह की विकलता में केवल 'रघुराई' (श्रीरामजी) हैं और खोजने में दोनों भाई कहे गये हैं। चौपाई का पूर्वार्द्ध पृथक् और उत्तरार्द्ध पृथक् है।

(३) 'देखा प्रकट···'—दुःख प्रकट में (दिखाव में) ही है। यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (आ० दो० २९)। वास्तव में दुःख नहीं है।

दोहा—अति बिचित्र रघुपति-चरित, जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह - बस, हृदय धरहिं कछु आन ॥४९॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का चरित्र बड़ा ही विचित्र है, इसे परम सुजान ही जानते हैं। जो मन्दबुद्धि विशेष मोह के वश हैं, वे हृदय में कुछ और ही मान लेते हैं ॥४९॥

विशेष—(१) 'अति विचित्र···' इस चरित में ब्रह्म-विचाररूपिणी सती को ही भ्रम हो गया, तब 'अति विचित्र' अवश्य है और इसके ज्ञाता भक्तों में अग्रगण्य शिवजी के समान भगवान् के कृपापात्र ही 'परम सुजान' हैं। यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि···तुम्हरि हि कृपा तुम्हहिं ······' चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ नरतनु धरेउ ''राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२६) तथा "उमा रामगुनगूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्मरति॥" (आ० मं०) अर्थात् दैवी बुद्धिवाले एवं भक्त-जन ही परम सुजान हैं और हरि-विमुख आसुरी बुद्धिवाले मतिमंद आदि हैं। परम सुजान ही (जानने के) अधिकारी हैं, जो 'चिदानंदमय देह ' रूप से प्रभु को जानते हैं।

लीला एक है—उसके समझनेवाले दो तरह के हो गये। जैसे पवन एक ही है, पर उसके स्पर्श से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता होती है; वैसे इस चरित से पंडित मुनि वैराग्य ग्रहण करते हैं,

कि स्त्री की आसक्ति दुःखद है, तब तो श्रीरामजी भी रो रहे हैं। अतः, हमें इसका त्याग करने को उपदेश दे रहे हैं, पर मूढ़ लोगों की बुद्धि में आता है कि स्त्री की आसक्ति बहुत उत्तम है, तभी तो श्रीरामजी इसके लिये रो रहे हैं। यथा —"कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥" (आ० दो० ३८)।

(२) 'अति बिचित्र'—पर अनेकों भाव हैं—जैसे (क)—जहाँ अनेक रंग मिले होते हैं, वहाँ विचित्र रंग कहा जाता है। वैसे यहाँ अनेक रसों के मिले हुए चरित हैं, यही विचित्रता है। तपस्वी-वेष—शांत रस—श्वेत रंग, धनुर्बाण धारण—वीररस—पीत, मारीच वध—रौद्र रस—काला, प्रिया-वियोग वियोग शृंगार रस – श्याम इत्यादि अति विचित्र हैं। (ख) अंतर्यामी का चरित्र चित्र, विराट् का विचित्र और रघुपति का अति विचित्र है। इन्हें जाननेवाले क्रमशः जान, सुजान और परम सुजान हैं और न जाननेवाले भी क्रमशः मंद, अतिमंद और 'मतिमंद बिमोहबस' हैं।

संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरष बिसेषा॥१॥
भरि लोचन छबि-सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी॥२॥

अर्थ—शिवजी ने उसी समय श्रीरामजी को देखा तो उनके हृदय में बहुत बड़ा आनन्द हुआ॥१॥ छवि के समुद्र श्रीरामजी को देखा, परन्तु अनवसर जानकर जान-पहचान न की॥२॥

विशेष—(१) 'संभु समय तेहि···'—विशेष हर्ष का कारण इष्ट-दर्शन है और नर-नाट्य की पूर्णता भी शोकादि के स्वाँग में देखी। इससे हर्ष हुआ कि कैसा स्वाँग रचा है!

(२) 'भरि लोचन···' नेत्र रूप घड़ों को छवि-समुद्र में भर लिया अर्थात् रामजी के अंग-अंग में अपार छवि है, अल्पांश छवि में ही वे घड़े पूर्ण हो गये। पूर्व के लालची नेत्र तृप्त हो गये। कहा गया था—"तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची।" 'कुसमय'—ब्रह्मा का वचन रखना है, रावण-वध के पीछे सुसमय होगा। यथा—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान।" (लं० दो० ११४)।

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोजनसावन॥३॥
चले जात सिव सती-समेता। पुनि-पुनि पुलकत कृपानिकेता॥४॥
सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी॥५॥

अर्थ—'जय सच्चिदानन्द जगपावन' ऐसा कहकर काम के नाश करनेवाले शिवजी चल दिये॥३॥ कृपा के स्थान शिवजी सतीजी के साथ चले जाते हैं और बारंबार पुलकायमान हो रहे हैं॥४॥ शिवजी की उस प्रेम की दशा को देखकर सती के हृदय में विशेष संदेह उत्पन्न हुआ॥५॥

विशेष—(१) 'जय सच्चिदानन्द···'—हे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान् रामजी! आपकी जय हो—(सच्चिदानन्द का अर्थ दो० १२ चौ० ३ में देखिये)। 'जग पावन' क्योंकि इस लीला को गाकर जगत् पवित्र होगा। यथा—"पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥" (दो० १११)। पूर्व—'बिरह बिकल नर इव रघुराई।' कहा गया था, उसका निराकरण यहाँ हुआ कि वे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, नर नहीं। 'मनोजनसावन' यद्यपि शिवजी काम का नाश आगे करेंगे, तथापि कवि भविष्य की बात पूर्व भी कहते हैं, उसे भाविक अलंकार कहा जाता है। जैसे—"रावनरिपुजन सुखदाई।" (दो० २११);

यह अहल्या ने कहा—यद्यपि रावन की रिपुता आगे सिद्ध होगी। पुनः देवताओं के स्वरूप अनादि हैं और उनके गुण भी उनमें नित्य हैं। यथा—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजे संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि ॥" (दो० १००) । शिवजी में कामजित् गुण भी नित्य है। यथा--"तुम्हरे जान काम अब जारा । ·" "अभोगी ॥" (दो० ८९) । तात्पर्य यह कि यदि श्रीरामजी यथार्थ कामी होते तो उनमें कामारि शिवजी की सच्ची निष्ठा कैसे रहती ? अतः, यह स्वांग-मात्र है।

(२) 'संदेह निसेपी'—सतीजी को संदेह तो विरहाकुल नर को 'सच्चिदानंद···' कहने ही पर हुआ था। शिवजी के प्रेम की दशा देखकर विशेष सन्देह हो गया। यही आगे कहते हैं—

संकर जगत-बंद्य जगदीसा। सुरनर मुनि सब नावत सीसा ॥६॥
तिन्ह नृप-सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा ॥७॥
भये मगन छवि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ॥८॥

अर्थ—शिवजी जगद्वन्दनीय और जगदीश्वर हैं, सुर-नर-मुनि सभी उनको सिर झुकाते हैं ॥६॥ उन्होंने एक राज-पुत्र को 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम किया ॥७॥ और उनकी छवि को देखकर (ऐसे) निमग्न हो गये हैं कि अभी भी हृदय में प्रीति नहीं समाती ॥८॥

विशेष—'तासु'—सतीजी श्रीरामजी को सामान्य राजपुत्र ही मान रही हैं, इसीसे 'तासु' हलका पद देती हैं। 'रहति न रोकी'—शिवजी उस प्रेम की दशा को छिपाना चाहते हैं, पर प्रेमाश्रु एवं पुलकावली आदि दशाएँ उसे प्रत्यक्ष किये देती हैं। कहा भी है—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।" (अ० दो० २६३)।

दोहा—ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥५०॥

शब्दार्थ—बिरज = रजोगुण-रहित, निर्मल। अकल = कला-रहित, पूर्ण, जो घटता-बढ़ता नहीं। अनीह—वासना या चेष्टा से रहित। अभेद = शत्रु-मित्र उदासीन, भेद-रहित, समदृष्टि।

अर्थ—जो ब्रह्म व्यापक, निर्मल, अजन्मा, कला-रहित, चेष्टारहित और भेद-रहित है, जिसको वेद भी (यथार्थ) नहीं जानते, वह देह धरकर मनुष्य कैसे हो सकता है ?

विशेष—सतीजी विचारती हैं कि यदि शिवजी के सच्चिदानंद-परधाम कहने पर रामजी को ब्रह्म माना जाय तो बहुत तर्कणाएँ होती हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है और ये एक तनुधारी हैं। वह विरज और ये मन के मलिन (कामी) हैं एवं इनका जन्म हुआ, ये बाल युवादि रूप में बढ़े भी, इनमें चेष्टाएँ भी होती हैं, ये शत्रु-नाशन में तत्पर हैं। अतः, उपर्युक्त ब्रह्म के लक्षणों के विरुद्ध हैं।

बिष्णु जो सुरहित नरतनुधारी। सोउ सरबज्ञ जथा त्रिपुरारी ॥१॥
खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी ॥२॥
संभु-गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबज्ञ जान सब कोई ॥३॥

अर्थ—विष्णु भगवान् जो देवताओं के लिये मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, वे भी शिवजी की तरह सर्वज्ञ हैं ॥१॥ जो ज्ञान के धाम, लक्ष्मी के पति और असुरों के शत्रु हैं, वे क्या अज्ञानियों की तरह स्त्री को खोजते फिरेंगे? अर्थात् कभी नहीं ॥२॥ फिर शिवजी के वचन भी तो झूठे नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, यह सब कोई जानते हैं ॥३॥

विशेष—यहाँ तीन प्रकार के संदेह आरोपित हुए—(क) निर्गुण ब्रह्म नर-शरीर नहीं धारण कर सकता। (ख) सगुण विष्णु भगवान् हैं, वे अवतार लेते हैं, पर वे सर्वज्ञ हैं तब सीता की सुधि क्यों नहीं जानेंगे? 'ज्ञान धाम' हैं, अज्ञानियों की तरह रोते क्यों हैं? 'श्रीपति'—जिनका श्री से वियोग नहीं हो सकता, फिर वे तो 'असुरारी' हैं—असुर स्वयं डरते रहते हैं, वे उनकी स्त्री को कैसे हरेंगे? (ग) शिवजी भूलते हों, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, इत्यादि संशय ही हैं।

अस संसय मन भयेउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥४॥
जद्यपि प्रकट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥५॥
सुनहि सती तव नारि-सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ॥६॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥७॥
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार से मन में अपार संदेह हुआ। हृदय में पूर्ण बोध का प्रचार (प्रकाश) नहीं होता ॥४॥ यद्यपि सतीजी ने प्रकट नहीं कहा, तथापि हृदय के जाननेवाले शिवजी सब जान गये ॥५॥ (और कहा) हे सती! तुम्हारा स्त्री-स्वभाव है, तुम्हें मन में ऐसा संदेह कभी नहीं करना चाहिये ॥६॥ जिनकी कथा अगस्त्यजी ने कही है और जिनकी भक्ति मैंने मुनि को सुनाई है ॥७॥ वे ही ये हमारे इष्टदेव श्रीरघुवीर हैं, जिनकी सेवा धीर मुनि लोग सदा करते रहते हैं ॥८॥

विशेष—'नारि सुभाऊ'—स्त्रियों के स्वाभाविक आठ अवगुण रावण ने कहे हैं। यथा—"अहो मोह महिमा बलवाना ॥ नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया ॥" (लं० दो० १५)। इनमें यहाँ साहस, अविवेक और चपलता का ग्रहण है।

'मम इष्टदेव'—मेरा कहना यथार्थ है। ये ही इष्टदेव हैं। अत, तुम्हें भी ऐसा ही मानना चाहिये। आगे—'सेवत जाहि' से—'रघुकुलमनी' तक में प्रमाण देते हैं।

छंद—मुनिधीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥

अर्थ—धीर मुनि और सिद्ध योगी विमल मन से जिनका ध्यान निरंतर करते हैं। वेद, पुराण और शास्त्र जिनकी कीर्त्ति 'नेति-नेति' कहकर गाते हैं ; उन्हीं व्यापक ब्रह्म, समस्त ब्रह्मांडों के स्वामी, माया के स्वामी, स्वतंत्र, नित्य श्रीरामजी ने अपने भक्तों के लिये रघुकुलमणि रूप में अवतार ग्रहण किया है।

विशेष—धीर मुनि, सिद्ध योगी निर्मल मन से जिसका ध्यान करते हैं, वेद आदि जिसे ही नेति कहते हैं; इन सबका निश्चय अन्यथा नहीं हो सकता। 'नेति'—दो० १२ देखिये। 'अपने भगत हित' यथा—"सो केवल भगतन हित लागी।···" (दो० १२) भी देखिये। इससे अनन्य भक्त मनुशतरूपा का भी लक्ष्य है, क्योंकि यह प्रसंग उसी कल्प का है। 'निज तंत्र'=स्वतंत्र, यह 'अवतरेउ' और 'रघुकुल मनी' दोनों के साथ है। यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ" (कि० दो० २९); "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" (दो० १३६)।

सोरठा—लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस, हरि-माया-बल जानि जिय ॥५१॥

अर्थ—यद्यपि शिवजी ने बहुत बार कहा, तो भी सतीजी के हृदय में उपदेश नहीं लगी, तब महादेवजी अपने हृदय में भगवान् की माया का बल जान मुसकुराकर बोले।

विशेष—'बोले बिहँसि'—हँसे इसलिये कि सतीजी मुझे देवता मानती हैं। अतः, इष्ट का उपदेश—फिर भी वह बहुत बार हुआ, पर उससे बोध नहीं होता, तो अवश्य भारी कारण है और वह हरिमाया ही है। 'हरि-माया-बल'—"सुनु खग प्रबल राम कै माया।"···से—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन॥" (उ० दो० ५८–६१) तक।

जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥१॥
तब लगि बैठ अहउँ बट-छाहीं। जब लगि तुम्ह अइहहु मोहि पाहीं॥२॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥३॥
चलीं सती सिव-आयसु पाई। करहि बिचार करउँ का भाई॥४॥

अर्थ—जो तुम्हारे मन में अत्यन्त संदेह ही है तो जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं? ॥१॥ जबतक तुम मेरे पास (लौटकर) आओगी, तबतक मैं वट-वृक्ष की छाया में बैठा रहूँगा ॥२॥ जिस तरह तुम्हारा भारी मोह भ्रम दूर हो, वही उपाय विवेक-पूर्वक विचार कर करना ॥३॥ शिवजी की आज्ञा पाकर सतीजी चलीं और हृदय में विचारती हैं कि हे भाई, मैं क्या करूँ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अति संदेहू', फिर इसे ही 'मोह भ्रम भारी' भी कहा है, क्योंकि मेरे (शिवजी के) उपदेश से भी न मिटा (दूसरे शरीर तक लगा रहेगा)।

शंका—शिवजी सती को परीक्षार्थ भेज रहे हैं, जिससे उसे दुःख होगा, यह क्यों?

समाधान—जाने बिना प्रतीति न होगी और न प्रीति ही, इसका उपाय अब परीक्षा ही शेष है। उसमें भी शिवजी सावधान करके भेज रहे हैं कि विवेक से काम लेना, सहसा अनुचित न कर बैठना। भावीवश अनुचित ही हो गया; शिवजी का दोष नहीं है।

'वट छाहीं'—वट-वृक्ष शिवजी को प्रिय है। यथा—"प्राकृतहुँ बट-बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०) तथा—"तेहि गिरि पर वट बिटप बिसाला।···सिव बिश्रामबिटप श्रुति गाया॥" (दो० १०५); एवं पास में यही वृक्ष रहा होगा।

पुनः दोपहर दिन के समय धूप कड़ी होने से भी इसकी छाया की आवश्यकता रहती है, क्योंकि यह जाड़े में गर्म और गर्मी में ठंडा रहता है। यथा—"कूपोदकं वटच्छाया श्यामास्त्री चेष्टकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥" (हितोपदेश)।

'करषु का भाई'—'भाई' हृदय के प्रति संबोधन है, ऐसा मुहावरा है। यथा—"होइहि जाव गहरु मोहिं भाई।" (दो० १३१)।

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहँ नहिं कल्याना॥५॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥६॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा॥७॥
अस कहि जपन लगे हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥८॥

अर्थ—यहाँ शिवजी ने मन में अनुमान किया कि दक्ष की पुत्री (सती) का कल्याण नहीं है॥५॥ मेरे कहने से भी संदेह दूर नहीं होते; (इससे जान पड़ता है कि) विधाता वक्र हैं। अतः, भलाई न होगी॥६॥ होगा वही, जो श्रीरामजी ने रच रक्खा होगा, तो तर्क करके शाखा कौन बढ़ावे?॥७॥ ऐसा (हृदय में) कहकर वे भगवान् का नाम जपने लगे और सतीजी वहाँ गईं, जहाँ सुख के धाम प्रभु श्रीरामजी हैं॥८॥

विशेष—(१) 'इहाँ संभु ··' शंभु कल्याणकर्त्ता हैं, इसी से सती के कल्याण पर दृष्टि है। 'दच्छ-सुता'—हठी दक्ष की कन्या हैं। अतः, कल्याणकर्त्ता पति से भी हठ ही किया, उपदेश नहीं माना। अतः, दक्ष की-सी दशा भी होगी।

(२) 'को करि तरक बढ़ावइ····' तर्क की शाखा बढ़ाना यह कि ऐसा होगा, फिर ऐसा, तब ऐसा भी हो सकता है, इत्यादि।

'जो राम रचि राखा'—जीव का भविष्य उसके कर्मानुसार भगवान् के हृदय में प्रथम ही आ जाता है, तदनुसार युक्त-निमित्त-द्वारा होता है। जैसे, गीता में युद्ध का भविष्य प्रथम ही अर्जुन को भगवान् ने अपने में दिखा दिया। यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गी० ११।३३)। भक्त लोगों को जब कोई असमंजस आ पड़ता है, तब वे अपना तर्क छोड़कर हरि-इच्छा को ही मुख्य मानते हैं। यथा—"भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि इच्छा बलवान॥ राम कीन्ह चाहहिं सोइ होइ। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (दो० १२७) तथा—"राम-रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५३) इत्यादि। फिर तर्क छोड़कर अपने भजन नियम में लग जाते हैं। वैसे यहाँ भी आगे कहते हैं।

(३) 'अस कहि जपन लगे····' क्योंकि भजन ही माया से बचने का उपाय है। यथा—"हरि-माया कृत दोष गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।" (उ० दो० १०४)। 'हरि' शब्द यहाँ क्लेशहरण के लक्ष्य पर है।

'प्रभु सुखधामा'—सतीजी उन्हें असमर्थ एवं दुःखपूर्ण समझकर जा रही हैं, पर वहाँ वे 'प्रभु' और 'सुखधाम' हैं, ऊपर का दृश्य दिखावा-मात्र है।

दोहा—पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि, जेहि आवत नरभूप ॥५२॥

अर्थ—(सतीजी) बार-बार हृदय में विचार कर श्रीसीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग की ओर आगे बढ़ चलीं, जिधर राजा रामजी आ रहे थे।

विशेष—'पुनि पुनि ···' परीक्षा के विषय में बहुत सोचने पर यही हृदय में आया कि श्रीरामजी इस समय श्रीसीताजी के विरह में व्याकुल हैं। अतः, सीताजी का रूप धरने पर सहसा हर्षित होकर मिलने दौड़ेंगे। यह न जान पावेंगे कि ये 'सती' हैं, क्योंकि 'नरभूप' तो हैं ही और यदि ईश्वर होंगे तो जान जायँगे।

'नरभूप'—यथा—"तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा।" (दो० ४१) अर्थात् सती समझती हैं कि रामजी प्राकृत नर हैं।

लछिमन दीख उमा कृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा ॥१॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु-प्रभाव जानत मतिधीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने सतीजी का कृत्रिम वेष देखा तो चकित हुए और हृदय में विशेष भ्रम हुआ ॥१॥ कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि अत्यन्त गंभीर और मति के धीर हैं, तथा प्रभु के प्रभाव को जानते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'लछिमन दीख···' श्रीलक्ष्मणजी ने सती के कपट को नहीं जाना, क्योंकि जीव ध्यानावस्था ही में सर्वज्ञ हो सकता है। यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥" (दो० ५५)। स्वतः सर्वज्ञ तो श्रीरामजी ही हैं, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीताबर।" (उ० दो० ७७)। इसीसे लक्ष्मणजी चकित हुए कि रूप के अनुसार यदि श्रीसीताजी ही हैं तो ये निर्भय अकेली वनमार्ग में क्यों फिरेंगी? वे तो श्रीरामजी के सकुशल दर्शनों के लिये व्याकुल थीं, यहाँ क्योंकर आ गईं? 'भ्रम'—यह कि रूप तो ठीक-ठीक सीता ही का है। जैसे असत् में सत् का भ्रम होता है। वैसे इन्हें कृत्रिम रूप में सीता का भ्रम हुआ। श्रीरामजी ईश्वर, सर्वदर्शी एवं सर्वान्तर्यामी हैं। अतः, वे जानेंगे। श्रीलक्ष्मणजी ने ही सती को प्रथम देखा, क्योंकि खोजने में सावधान हैं। चित्रकूट में श्रीभरतजी को भी प्रथम इन्हीं ने देखा है।

(२) 'कहि न सकत कछु···' कुछ न कहने के कारण—(क) अति गंभीर हैं। अतः, उतावली न की। (ख) मति के धीर हैं, अतः विचार रहे हैं—सहसा कुछ-का-कुछ नहीं कह बैठते। (ग) प्रभु का प्रभाव जानते हैं—"लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥ भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई ॥" (आ० दो० १७), "सपने होइ भिखारि नृप," से—"सिय-रघुबीर-चरन-रति होहू ॥" (अ० दो० ९२-९३) तक अर्थात् प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं निर्णय करेंगे।

सती-कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब-अंतरजामी ॥३॥

सुमिरत जाहि मिटइ अज्ञाना। सोइ सरबज्ञ राम भगवाना ॥४॥

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि-सुभाव-प्रभाऊ ॥५॥

अर्थ—देवताओं के स्वामी श्रीरामजी ने सती का कपट जान लिया, क्योंकि वे सर्वदर्शी और सब के अंतःकरण की बात जाननेवाले हैं ॥३॥ जिनके स्मरण मात्र से अज्ञान मिट जाता है, वे ही सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामजी हैं ॥४॥ (*श्री याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाजजी !*) स्त्री के स्वभाव की महिमा तो देखो, सतीजी वहाँ भी दुराव (छिपाव = कपट) करना चाहती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सती-कपट'''—ये शिवजी की शक्ति हैं और—"भव-भव-विभव-पराभव-कारिनि।" (दो० २३४) कही गई हैं। इनका कपट मनुष्य क्या, देवता भी नहीं जान सकते। महादेवजी भी ध्यान धरकर ही जानेंगे। उस कपट को श्रीरामजी ने देखते ही जान लिया। अतः, वे 'सुरस्वामी' कहे गये। प्रथम सतीजी की दृष्टि के अनुसार 'नरभूप' कहे गये थे। देवता मन की जान लेते हैं और ये तो उनके भी स्वामी हैं, क्यों नहीं जानेंगे ?

(२) यहाँ 'जानेउँ' क्रिया के लिये ये तीन विशेष्य पद दिये गये—सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ। अतः, 'परिकरांकुर अलंकार' है। 'सबदरसी' अर्थात् आपके सूर्य और चंद्रमा नेत्र हैं, यथा—"शशिसूर्यनेत्रम्" (गीता ११।१६)। अतः, दिन-रात में इनसे सूझता है। 'सबअंतरजामी' अर्थात् सब के भीतर की भी सब बातें जानते हैं। 'सरबज्ञ' अर्थात् तीनों कालों की भी सब बातें जानते हैं। 'भगवाना'—षडैश्वर्य पूर्ण हैं। यथा—"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव जीवानां गतिमागतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यांच स वाच्यो भगवानिति।"

(३) स्त्री कितनी भी उच्च कोटि की क्यों न हो पर उसका स्वभाव नहीं छूटता। देखिये, एक तो पतिव्रता-शिरोमणि, फिर शिवजी की पत्नी, तब भी इस तरह का अज्ञान उनमें देखने में आया तो प्राकृत स्त्रियों के लिये क्या कहना है ?

निज माया - बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥६॥

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता - समेत लीन्ह निज नामू ॥७॥

कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥८॥

अर्थ—हृदय में अपनी माया के बल की प्रशंसा करके श्रीरामजी मुसकुराकर कोमल वाणी में बोले ॥६॥ प्रभु ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पिता के साथ अपना नाम लिया ॥७॥ फिर कहा कि 'वृषकेतु' (शिवजी) कहाँ हैं ? आप अकेली वन में किस लिये फिर रही हैं ? ॥८॥

विशेष—(१) 'निज माया-बल' ' माया का काम है प्रभु को तमाशा दिखाना। उसने इतनी प्रभावशालिनी सती को भी मोहित कर लिया, इस कौतुक पर प्रभु हँसे।

(२) 'पिता समेत''' प्राचीन काल में प्रणाम करने की ऐसी ही रीति पाई जाती है। यथा—"पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (दो० २६८)।

'वीरभद्र-चम्पू' में भी ऐसा ही कहा गया है—"किं यक्ष्या दनुजा नागा वानरा किन्नरा नराः। धरस लक्ष्मण पश्यैतां मायां मायाविमोहिताम् ॥ नमस्ते दक्षतनये नमस्ते शम्भुभामिनि। किमर्थं धूर्जटिं देवं त्यक्त्वा भ्रमसि कानने ॥"

दोहा—राम-बचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोच ।
सती सभीत महेस पहिं, चलीं हृदय बड़ सोच ॥५३॥

अर्थ—श्री रामजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर (सतीजी के) हृदय में बड़ा संकोच उत्पन्न हुआ, इससे डरी हुई सतीजी शिवजी के पास चलीं । उनके हृदय में बड़ा शोच है ।

विशेष—'मृदु'—श्री रामजी ने तीन बातें कही हैं—(क) मैं दाशरथी राम हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ । (ख) वृषकेतु कहाँ हैं ? (ग) आप वन में अकेली क्यों फिर रही हैं ? कोमल तो सभी कथन हैं, पर हाथ जोड़कर कहे गये हैं, इससे और अधिक मृदुता आ गई है ।

'गूढ़'—(क) अपने स्वरूप का परिचय दिया कि कथा में अगस्त्यजी ने मनु-शतरूपा का दशरथ-कौसल्या होना कहा है, हम उन्हीं के पुत्र वही राम हैं ।

(ख) 'वृषकेतु' अर्थात् जिनकी ध्वजा पर वृष है । वृष=बैल, धर्म । यह शिवजी का नाम कहकर अपना जानना जनाया । पुनः आप पातिव्रत्य धर्म की ध्वजा लिये फिरती थीं, वह अब कहाँ गई ? अब पराई स्त्री बनने चली हैं !

(ग) 'बिपिन अकेलि···' शिवजी की अर्द्धांगिनी होकर अकेले फिरने में स्वतंत्रता है, यह आपको अयोग्य है । यथा—' जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी ।' (कि॰ दो॰ १४) । पुनः हम तो श्री जानकीजी को खोजने में फिर रहे हैं, आप किस लिये फिर रही हैं ?

'अति संकोच'—संकोच तो रामजी के प्रणाम ही करने पर हुआ था, वचनों से और भी हो गया ।

'सभीत'—क्योंकि शिवजी ने विवेक से यत्न करना कहा था, पर मैंने अनुचित किया । अतः, अवज्ञा हुई, वे कोप करेंगे ।

'सोच'—अब शिवजी को क्या उत्तर दूँगी ? इन संकोचादि के कारण आगे कहते हैं—

मैं संकर कर कहा न माना । निज अज्ञान राम पर आना ॥ १ ॥
जाइ उतर अब देइहउँ काहा । उर उपजा अति दारुन दाहा ॥२॥
जाना राम सती दुख पावा । निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा ॥३॥

अर्थ—मैंने शंकरजी का कहा न माना और अपना अज्ञान श्रीरामजी पर आरोपित किया ॥१॥ अब जाकर (शिवजी को) क्या उत्तर दूँगी ? (यह विचार करने पर) हृदय में बड़ी कठिन जलन उत्पन्न हुई ॥२॥ श्रीरामजी ने जाना कि सतीजी को दुःख हुआ । (शिवजी के वचन—'रामजी सच्चिदानन्द परधाम ब्रह्म हैं'—को प्रमाणित करने के लिये) अपना कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखाया ॥३॥

विशेष—(१) 'मैं संकर कर ···'—वे वचन मेरे कल्याण-कर थे (शं=कल्याण) ।

(२) 'जाना राम ···' राम हैं, सब में रमे हैं, इससे जान गये । 'दुख पावा'—सती के दुःख पर दया उमड़ पड़ी और विचारा कि मेरे सामने आने पर तो इनका भ्रम मिट ही जाना चाहिये, इससे पति-वचन में भी विश्वास हो जायगा । मेरा प्रभाव मेरी ही कृपा से जाना जाता है । यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत-भगत उर चंदन ॥" (अ॰ दो॰ १२६) और बिना प्रभाव जाने प्रतीति·

प्रीति नहीं होती। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८)। अतः, अपना प्रभाव कुछ प्रकट करके बता दूँ तो संदेह दूर हो जाय।

सती के हृदय में कई संदेह थे। वे सब इस दृश्य में निवृत्त हो जायँगे। वचनों द्वारा 'गूढ़' रूप में कहा गया, अब दृश्य-द्वारा प्रकट कर देंगे। जैसे भगवान् ने अर्जुन को गीता के १० वें अध्याय में पहले वचनों से (विभूति-योग) कहा, फिर दृश्य से ११ वें में (विश्वरूप) दिखाया।

'प्रभाव कछु'—उतना ही प्रभाव दिखाना है जितना सती को अपेक्षित है। यों तो वह अमित है।

गूढ़ वचनों से सतीजी श्रीरामजी को सर्वदर्शी; सर्वांतर्यामी और सर्वज्ञ तथा भगवान् जान भी गई हैं, वे भाव भी दृश्य में पुष्ट होंगे। पहले के संदेह निर्गुण ब्रह्म का अवतार नहीं लेना एवं सगुण (विष्णु) सम्बन्ध की बातें तथा सीताहरण और रामविरह आदि थे, वे इसमें निवृत्त होंगे।

सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता ॥४॥
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर बेखा ॥५॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना ॥६॥
देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका ॥७॥
बंदत चरन करत प्रभुसेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा ॥८॥

दोहा—सती बिधात्री इंदिरा, देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर, तेहि तेहि तनु अनुरूप ॥५४॥

अर्थ—सतीजी ने मार्ग में जाते हुए यह कौतुक देखा कि श्रीरामजी श्री (सीताजी) और भाई (लक्ष्मणजी) के साथ आगे चले आ रहे हैं ॥४॥ फिर कर देखा, तो प्रभु को भाई और श्रीजानकीजी के साथ सुन्दर वेष में पीछे भी देखा ॥५॥ जहाँ देखती हैं, वहाँ प्रभु बैठे हैं और प्रवीण सिद्ध और मुनीश्वर उनकी सेवा कर रहे हैं ॥६॥ अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु एक-से-एक अमित प्रभाव वाले देखे गये, जो प्रभु के चरणों की वंदना और सेवा कर रहे हैं, सब देवताओं को अनेक वेषों में देखा ॥७-८॥ उपमा-रहित असंख्य सतियों, सरस्वतियों और लक्ष्मियों को देखा, जिस-जिस वेष में शिव-ब्रह्मादिक देवता थे, उन्हीं के अनुरूप इन देवियों के भी वेष थे ॥५४॥

विशेष—पूर्व कह आये थे कि—"कबहूँ जोग बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके॥" (दो० ४८), वही नित्य संयोग यहाँ 'आगे राम सहित श्री भ्राता' और 'पाछे'—'सहित बंधु सिय' के दृश्य से दिखाया। इससे—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥" (दो० ५०)—यह सती का भ्रम दूर होगा अर्थात् श्रीसीताराम का वियोग न तो पहले हुआ था और न आगे होगा। खोजना एवं विरह लीला मात्र हैं। माया-सीता का ही हरण हुआ है।

प्रथम 'आगे' देखने पर चित्त में आया कि अभी तो ये दो ही पीछे थे, तीनों आगे कैसे आ गये? लौट (फिर) कर पीछे भी देखा, किन्तु सुन्दर वेष (पूर्ण शृंगार युक्त) देखा, जिससे वन के कष्ट झेलने का भी भ्रम दूर हुआ कि वह भी लीला ही थी।

'फिर अब जहाँ देखती हैं, वहाँ ही प्रभु सिंहासनासीन (सिंहासन पर बैठे) हैं और सब देवता अपनी अनुरूप शक्तियों के साथ सेवा में तत्पर हैं। सिद्ध-मुनीश एवं त्रिदेव भी सेवा-परायण हैं। अतः शिवजी ने जो श्रीरामजी को अपना और अगस्त्य आदि का इष्ट कहा था, वह प्रत्यक्ष हुआ।

'जेहि जेहि बेष अजादि' "अनुरूप'—जिस रंग तथा आकृति के जो देवता हैं, उनकी शक्ति भी उसी आकृति एवं वर्ण की हैं, जैसे-जहाँ विष्णु चतुर्भुज हैं वहाँ वैसी ही और जहाँ अष्टभुज हैं, वहाँ उसी तरह की लक्ष्मी भी हैं, इत्यादि। सप्तशती चंडी-पाठ में भी इसी भाव का एक श्लोक है—"यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण-वाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ॥" (अ० ८)।

यहाँ अनेक आकृतियों के विष्णु आदि से अनेक ब्रह्मांडों का होना जनाया। इससे—"भुवन-निकायपति मायाधनी।" (दो० ५१) का प्रत्यक्षीकरण हुआ।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥१॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥२॥
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेखा। राम-रूप दूसर नहिं देखा॥३॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥४॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भईं सभीता॥५॥

अर्थ—(सतीजी ने) जहाँ-जहाँ जितने रघुपति देखे, वहाँ वहाँ शक्तियों-सहित उतने ही उतने देवता भी देखे॥१॥ चर और अचर जितने जीव संसार में हैं, वे सब अनेक प्रकार के देखे॥२॥ देवता लोग तो अनेक वेषों से प्रभु को पूजते हैं; पर श्रीरामजी का दूसरा रूप कहीं नहीं देखा॥३॥ सीताजी के साथ बहुत-से रघुपति देखे, परन्तु उनमें वेषों की अनेकता न थी (प्रत्युत एक-सा ही वेष सब जगह था)॥४॥ वही रघुवर, वही लक्ष्मण और वही सीता—(सर्वत्र इस दृश्य को) देखकर सतीजी बहुत ही डर गईं॥५॥

विशेष—'सकल अनेक प्रकारा' और 'रामरूप दूसर नहिं'—अर्थात् जीव अनेक हैं और वे कर्म-परतंत्र हैं। *विविध-कर्मानुसार उनके वेष एवं आकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। श्रीरामजी कर्म से निर्लिप्त हैं।* यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४) तथा—"करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (दो० १२६)। अतः, इनके वेष स्वेच्छानुसार हैं। यथा—"इच्छामय नरवेष सँवारे। होइहउँ प्रगट..."(दो० १५१) और ये अखंड ज्ञानस्वरूप हैं। अतः, इनके रूप में भेद नहीं है। इसी प्रकार श्री सीताजी भी हैं। अतः—'सीता सहित न वेष घनेरे' कहा गया है।

इसी तरह भुशुंडीजी ने भी देखा। यथा—"प्रति ब्रह्मांड राम-अवतारा। देखेउँ बाल-बिनोद अपारा॥ भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन॥" (उ० दो० ८१)।

शंका—यहाँ 'सोइ लछिमन' से लक्ष्मणजी का भी सर्वत्र एक वेष कहा गया, पर उ० दो० ८० में—'बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।'—कथित है, यह भेद क्यों ?

समाधान—श्री भरत, लक्ष्मण आदि के विग्रह भी श्रीरामजी के समान दिव्य हैं, पर ये नित्य जीव-कोटि में हैं, कर्म-परतंत्र नहीं हैं। ये स्वेच्छा से एवं भगवान् की इच्छा से अवतारों की तरह भू-मंडल में आते हैं। श्रीहनुमानजी एवं गरुड़जी भी नित्य जीवों में ही हैं, इनमें जहाँ अज्ञान एवं कर्म-वशता के भेद की अनेक आकृतियाँ देखी जाती हैं, वे भगवान की इच्छा से लीला-विधि के लिये अथवा किसी वैदिक धर्म की संस्थापना के लिये हैं। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

यहाँ तीन अर्द्धालियों में तीन प्रकार हैं—जो केवल रामरूप के, जो युगल रूपों के और जो तीनों रूपों के उपासक हैं, उन-उन के ध्यान-भेदों से भी ऐसा दिखाया है।

'देखि सती अति भईं सभीता।'—यह उपसंहार हुआ। इसका उपक्रम—'सती सभीत महेस पहिं, चलीं' है। 'सभीत' तो गूढ़ वचन से थीं, दृश्य देखकर 'अति सभीत' हो गईं। इसकी दशा आगे कहते हैं—

सर्वत्र के विराट्-दर्शन की तरह यहाँ भी अद्भुत रस ही है।

हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं ॥६॥
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी ॥७॥
पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा ॥८॥

दोहा—**गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।**
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात ॥५५॥

अर्थ—(सती का) हृदय काँपने लगा, देह की सुधि न रह गई, (तब) वे आँखें मूँदकर राह में बैठ गईं ॥६॥ फिर आँखें खोलकर देखा तो वहाँ दक्ष की पुत्री सतीजी कुछ नहीं देख पाईं ॥७॥ बार-बार श्रीरामजी के चरणों में शिर झुकाकर, वे वहाँ को चलीं, जहाँ कैलाश के स्वामी शिवजी थे ॥८॥ जब पास पहुँचीं, तब शिवजी ने हँसकर कुशल पूछा और यह भी कहा कि तुमने किस प्रकार परीक्षा ली, सब बातें सच-सच बताओ ॥५५॥

विशेष—'नयन मूँदि'—डरने पर लोग स्वभावतः ऐसा करते हैं, जिससे डरानेवाली वस्तु फिर न देख पड़े। शरीर-सुधि की विस्मृति से कुछ देर में शान्ति आई, तब फिर आँखें खोलीं।

'कछु न दीख'—वह अद्भुत दृश्य नहीं देख पड़ा। पूर्ववत् प्रभु का नर-नाट्य ही रह गया।

'दच्छकुमारी'—सतीजी परम भक्त शिवजी के विरोधी दक्ष की कन्या हैं। अतः, अभी भी पूर्ण बोध की धारणा न रहेगी, झूठ भी बोलेंगी।

'पुनि पुनि नाइ···' सतीजी प्रथम जब परीक्षा के लिये 'नर-भूप' समझकर रामजी के पास आई थीं, तब प्रणाम नहीं किया था। जब प्रभाव देखा तब बारंबार प्रणाम करती हैं। पश्चात्ताप और भय-की दशा है। ऐसे ही गीता में अर्जुन भी विराट् रूप देखने पर बारंबार प्रणाम करने लगे थे।

'हँसि पूछी'—क्योंकि सतीजी के मन का थाह लेना है, अथवा उनकी बाहरी चेष्टा से कुछ अनर्थ का भाव समझकर शिवजी अवहेला से भी हँसे और इसीसे सत्य-सत्य बात पूछते हैं।

सती-मोह और अद्भुत रूप-दर्शन प्रकरण समाप्त

सती समुझि रघुबीर-प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ ॥१॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं ॥२॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई ॥३॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥४॥

अर्थ--श्रीरघुनाथजी का प्रभाव समझकर सतीजी ने भय के वश शिवजी से छिपाव (छल) किया ॥१॥ (और कहा कि) हे गोसाईं! मैंने कुछ परीक्षा नहीं ली, आप ही की तरह उन्हें प्रणाम कर लिया ॥२॥ जो आपने कहा, वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मन में यह पूरा विश्वास है ॥३॥ तब शिवजी ने ध्यान धरके देखा और सतीजी के किये हुए सब चरित जान गये ॥४॥

विशेष—'कीन्ह दुराऊ'—पहले पति के इष्ट से दुराव किया था। यथा—"सती कीन्ह चह तहँहु दुराऊ।" (दो॰ ५२) । अब पति से भी करने लगीं।

'धरि ध्याना'—शिवजी ने सती की चेष्टा देखी और फिर यह भी विचारा कि प्रथम बहुत समझाने पर भी न समझ सकीं, अब कैसे प्रतीति आ गई? अतः, संदेह हुआ। तब ध्यान किया। प्रभु ने स्वतः जान लिया था, क्योंकि वे ईश्वर हैं और ये जीव। अतः, ध्यान से जाना।

बहुरि राम-मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥५॥
हरिइच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना ॥६॥
सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव-उर भयउ बिषाद बिसेषा ॥७॥
जौ अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगतिपथ होइ अनीती ॥८॥

अर्थ—फिर (शिवजी ने) श्रीरामजी की माया को शिर नवाया, जिसने प्रेरणा करके सती से झूठ कहलाया ॥५॥ सुजान शिवजी हृदय में विचारते हैं कि हरि-इच्छा रूपी भावी प्रबल है ॥६॥ सतीजी ने श्रीसीताजी का रूप धारण किया, (इस बात का) शिवजी के हृदय में भारी दुःख हुआ ॥७॥ यदि अब मैं सती से (दाम्पत्य) प्रेम करूँ तो भक्ति-मार्ग का नाश होगा और अनीति होगी ॥८॥

विशेष—'राम-मायहि…'—शिवजी ने माया की प्रबलता समझकर प्रणाम किया। यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।" (उ॰ दो॰ ७०) । 'प्रेरि'—बलात् नियुक्त करके। अन्यथा—'सतिहि'—अर्थात् पतिव्रताशिरोमणि देवी पति से झूठ कहें, यह असंभव है।

'हरि-इच्छा भावी'—जीवों के कर्मानुसार फल देने के लिये भगवान् की जो इच्छा होती है, वही भावी, दैव अथवा अदृष्ट कहाती है। उसीको कर्मवादी भावी—दैव, ज्ञानी अदृष्ट और उपासक हरि-इच्छा कहते हैं। 'बलवाना'—क्योंकि अपने (शिवजी के) उपायों को निष्फलता हुई। यथा—"सुनति भावी मिटइ नहिं।" (दो॰ १०१) । 'सुजाना'—यथा—"अति बिचित्र रघुपतिचरित, जानहिं परम सुजान।" (दो॰ ४९) अर्थात् शिवजी जानते हैं, तभी हरि-इच्छा ही समझ रहे हैं। 'बिषाद बिसेषा'—दुःख तो उसी समय से था, जब उपदेश निष्फल हुए थे—"मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि-बिपरीत भलाई नाहीं॥" (दो॰ ५१) । अब अपनी इष्ट-देवी का रूप बनाना जानकर सती के प्रति विशेष दुःख हो गया।

दोहा—परम पुनीत न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संताप ॥५६॥

अर्थ – सतीजी परम पवित्र हैं। अतः, छोड़ते नहीं बनता और प्रेम करने में बड़ा पाप है। शिवजी कुछ खोलकर नहीं कहते, पर हृदय में बड़ा संताप है।

विशेष—'परम पुनीत'—सती पतिव्रता-शिरोमणि हैं, इधर जो श्रीरामजी के रूप में सन्देह और पति के वचन का न मानना एवं मूठ बोलना आदि अपराध हुए वे तो राम-माया की अधीनता में हैं, ऐसा शिवजी का मत है। विवशता के दोष विवेकी नहीं गिनते। अतः, सती 'परम पुनीत' हैं। सामान्य धर्म की दृष्टि से पतिव्रता स्त्री त्याज्य नहीं है। याज्ञवल्क्य ने भी इसी दृष्टि से कहा है कि—"शिव सम को रघुपतिव्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (दो० १०३)।

'किये प्रेम बड़ पाप'—शिवजी रघुपति-व्रत-धारी हैं। अतः, इष्ट श्रीरामजी पिता-तुल्य हैं और श्रीसीताजी माता-तुल्य होती हैं सती ने माता का वेष धारण किया। उपासना विशेष धर्म है। उसकी दृष्टि से सती से पत्नीत्व प्रेम में पाप है। इसी दृष्टि से श्रीनारदजी ने सती का अपराध कहा है। यथा—"प्रिय-वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शंकर परिहरी।" (दो० ९७)।

इधर तो अग्नि को साक्षी बना-ब्याही हुई पाणि-गृहीती पतिव्रता पत्नी का त्यागना धर्म-संकट है और उधर उपासना-व्रत की बाधा रूपी परम हानि है। शिवजी इस द्विविध संकट में पड़े हैं—खुलकर कुछ नहीं कहते, क्योंकि गंभीर-स्वभाववाले हैं।

'परम पुनीत' का पाठान्तर 'परम प्रेम' भी है, इसमें अर्थ होगा कि एक ओर प्रिया-वियोग और दूसरी ओर धर्म-संकट। इस द्विविधा में शिवजी पड़े हैं, इसका भी प्रमाण मिलता है –"दुखी भयेउँ वियोग प्रिय तोरे।" (उ० दो० ५५)।

तब संकर प्रभुपद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा ॥१॥
येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥२॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥३॥
चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥४॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। रामभगत समरथ भगवाना ॥५॥

अर्थ—(जब हृदय में बहुत संतप्त होते हुए कुछ भी निश्चय नहीं कर सके) तब शिवजी ने प्रभु के चरणों में सिर नवाया (प्रभुपद को उपाय-रूप में वरण किया)। प्रभु का स्मरण करते ही हृदय में यह आया ॥१॥ कि सती को इस शरीर से हमसे (दाम्पत्य भाव में) भेंट न होगी—शिवजी ने मन में यह संकल्प किया ॥२॥ धीर-बुद्धि शिवजी ऐसा विचार कर श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए, घर (कैलाश) को चले ॥३॥ चलते समय सुन्दर आकाशवाणी हुई कि हे महेश! आपकी जय हो, आपने भक्ति भली भाँति दृढ़ की है ॥४॥ ऐसी प्रतिज्ञा आपके बिना और कौन कर सकता है; क्योंकि आप रामभक्त, समर्थ और भगवान् हैं ? ॥५॥

विशेष—'संकल्प कीन्ह'—जैसे हाथ में कुश जल लेकर मंत्र-सहित लोग दृढ़ प्रतिज्ञा-रूप में संकल्प करते हैं, वैसे शिवजी ने सती-त्याग का संकल्प मन से किया। श्रीरामस्मरण से यह विचार आया था। अतः, उत्तम है कि जिस शरीर से सती ने माता जानकीजी का वेष किया था, उसी का त्याग हुआ; दूसरे शरीर से संयोग होगा ही। इस शरीर से प्रेम करने के पाप से भी बचे। संकल्प इसलिये किया कि बहुत काल के स्नेह-संबंध से कहीं असावधानी में प्रेम न हो जाय जिससे बड़ा पाप लगे।

'मति धीरा'—'सुमिरत रघुबीरा'—(क) यद्यपि शिवजी नियम निबाहने में मति के धीर हैं तथापि कामादि शत्रु बड़े धोखेबाज हैं। कहीं पत्नी-सहवास पाकर विघ्न न करें। अतः, बचने के लिये रघुबीर का स्मरण किया। यथा—"तिनको न काम सकै चापि छाँह, तुलसी जे बसहिं रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ११)। (ख) दक्षसुता का त्याग किया है, उसका पक्ष लेकर दक्ष कोई उपाधि न करे, अथवा शाप न दे जैसे कि अन्य पत्नियों को छोड़कर रोहिणी ही से प्रेम करने के कारण चन्द्रमा को क्षयी होने का शाप दिया था।

शिवजी के संतोषार्थ आकाशवाणी भी हुई जिसमें इनकी मन.कामना की सफलता है। उपदेश भी है कि जो भक्ति को दृढ करके ग्रहण करेगा, उसकी जय है। यथा—"विरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरि भगति।'' " (उ० दो० १२०)।

सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा ॥६॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला ॥७॥
जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुरआराती ॥८॥

अर्थ—आकाशवाणी सुनकर सतीजी के मन में शोच हुआ और सकुचती हुई उन्होंने शिवजी से पूछा ॥६॥ हे कृपालो ! आपने कौन-सा प्रण किया है—यह कहिये। आप सत्य के धाम हैं और समर्थ तथा दीनदयालु हैं॥७॥ यद्यपि सतीजी ने बहुत प्रकार से पूछा, तो भी त्रिपुरारि शिवजी ने नहीं बतलाया। ॥८॥

विशेष—'उर सोचा' और समेत सकोचा' क्योंकि सतीजी से अपराध हो गया है और कपट इन्होंने किया ही था, उसे भी शिवजी ने ध्यान से जान लिया।

'कीन्ह कवन पन ' ' इसमें चारों विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपाला'—आप दयालु हैं। अतः, क्रोध न करें। 'सत्यधाम' होने से सत्य ही कह दें, 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, अमिट भी प्रतिज्ञा को मिटा सकते हैं। यदि कहें कि मुझे प्रतिज्ञा मेटने का क्या प्रयोजन है? तो आप 'दीनदयालु' हैं और मैं 'दीन' हूँ, यह नाता है।

'जदपि सती ···'—'बहु भाँती'—उपर्युक्त चार विशेषणों के भावों से पूछा। 'न कहेउ'—तो भी नहीं कहा, क्योंकि 'त्याग' का वचन अप्रिय है, इसलिये चुप ही रहे, क्योंकि—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥" ऐसी मनुजी की आज्ञा है।

'त्रिपुरआराती'—यहाँ कामादि तीनो पुरों के साथ विजय का प्रसंग है। सती ऐसी स्त्री रत्न के त्याग में काम और लोभ का जीतना और अवज्ञा एवं अपराध पर भी क्रोध न किया, इसमें क्रोध का जीतना भी है, इसलिये यह विशेषण साभिप्राय है।

दोहा—सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सरबज्ञ।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ ॥

सोरठा—जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥५७॥

अर्थ—(तब) सतीजी ने हृदय में अनुमान किया कि सर्वज्ञ शिवजी ने सब जान लिया है। मैंने शंभु (कल्याण-कर्त्ता) से कपट किया; क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः ही मंद और विवेकरहित होती हैं॥ प्रीति की भली रीति देखिये कि जल भी (दूध में मिलने से) दूध के भाव बिकता है, किन्तु कपट रूपी खटाई के पड़ते ही दूध फट जाता है; (अर्थात् दूध और पानी अलग-अलग हो जाते हैं) और रस (स्वाद) जाता रहता है ॥५७॥

विशेष—'जल-पय'—जल दूध में अभेद भाव से मिल जाता है, यह प्रीति है। फिर दूध के भाव बिकता है, यह महत्त्व पाता है। अग्नि जब दूध को जलाने लगता है, तब जल प्रथम अपना शरीर जलाता है। इसकी पीर मिटाने के लिये दूध बार-बार अग्नि को बुझा देने एवं घृतांश देकर उसे तृप्त करने को उफनता है। पानी का छींटा पड़ने से मित्र को आया जानकर शान्त हो जाता है। फिर मित्र के बिना वह जितने अंश में रह जाता है, उसे लोग 'खोआ' कहते हैं कि इसने मित्र को खो दिया, पर इस दशा में भी वह मित्र को चाहता रहता है जिससे खोए में जल मिलाकर खाने से गुणद होता है। उसी जल और दूध मे खटाई पड़ जाने से सब रस चला जाता है, वैसे प्रीति में कपट पड़ जाने से वह निस्तत्त्व (साररहित हो जाती है। इसमें दृष्टांत अलंकार है।

हृदय सोच समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी ॥ १ ॥
कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा ॥ २ ॥
संकररुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी ॥ ३ ॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई ॥ ४ ॥

अर्थ—अपनी करनी समझकर (सतीजी के) हृदय में शोच और अपार चिंता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १ ॥ शिवजी कृपासिंधु एवं परम गंभीर हैं, इससे मेरा अपराध प्रकट नहीं कहा ॥ २ ॥ शिवजी का रुख देखकर भवानी समझ गईं कि प्रभु ने मेरा त्याग किया, (तब) हृदय में व्याकुल हुईं ॥३॥ अपना दोष समझकर कुछ कहा नहीं जाता, हृदय अवाँ की तरह भीतर-ही-भीतर और भी अधिक जलने लगा ॥ ४ ॥

विशेष—'चिंता अमित'—यथा—"चिंता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि लग जाय। प्रगट धुआँ नहिं देखिये, उर अंतर धुँधुआय। उर अंतर धुँधुआय जरै ज्यों काँच कि भट्ठी। रक्त मांस जरि जाय रहै पाँजर की टट्टी॥ कह गिरिधर कविराय सुनो हो मेरे मिंता। वे नर कैसे जियैं जिन्हैं तन व्यापै चिन्ता॥"

'न कछु कहि जाई।'—क्योंकि-'कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई।' (सुं० दो० १४); पर ये जिससे कहेंगी, वही उल्टे इन्हीं को दोष देगा। अतः, कहकर भरम गँवाना है।

'अवाँ इव'—कुम्हार की भट्ठी की तरह भीतर-ही-भीतर संताप की आग से हृदय जल रहा है, कोई अंश खाली नहीं है, बाहर से नहीं देख पड़ता।

सतिहिं ससोच जानि वृषकेतू। कहीं कथा सुंदर सुख-हेतू॥ ५॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिश्वनाथ पहुँचे कैलासा॥ ६॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥ ७॥
संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ ८॥

अर्थ—सतीजी को चिन्तान्वित जानकर वृषकेतु शिवजी ने उनको सुख देने के लिये सुन्दर कथा कही॥ ५॥ मार्ग में नाना प्रकार के इतिहासों का वर्णन करते (सतीजी का जी बहलाते) हुए शिवजी कैलाश पहुँचे॥ ६॥ फिर अपना प्रण समझकर वहाँ वट के नीचे शिवजी कमलासन लगाकर बैठ गये॥ ७॥ शिवजी ने अपना स्वाभाविक रूप सँभारा (स्मरण किया) तो अखंड और अपार समाधि लग गई॥ ८॥

विशेष—(१) 'सतिहिं ससोच···' 'वृषकेतू'=शिवजी धर्म की ध्वजा हैं। धर्म में दया श्रेष्ठ है, सती शरण में हैं, उनको सन्तोष और आनन्द देने के लिये इतिहासात्मक कथाएँ कहते हैं, जिनके सुनने में सुख हो। कुछ संदेह मिटाने के लिये नहीं कहते, क्योंकि वह प्रयास तो प्रथम ही व्यर्थ हुआ।

(२) 'बरनत पंथ···' कथा-इतिहास से मार्ग शीघ्र कटता है। यथा—"सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाय सौं सिरानो पथ छन में।" (क० सुं० ३१)। धारा-प्रवाह इतिहास-पर-इतिहास कहते ही गये कि सती को बात छेड़ने का अवसर ही नहीं मिले।

(३) 'तहँ पुनि संभु···' कमलासन'—यह योगक्रिया का एक आसन है। इसे पद्मासन भी कहते हैं। इसमें दोनों जंघाओं पर पैर चढ़ाकर फिर दाहिना हाथ पीठ पर से घुमाकर दाहिने पैर का अँगूठा, जो बाईं जंघा पर रक्खा है, पकड़ते हैं, इसी प्रकार बायें हाथ को पीठ पर से घुमाकर दाहिनी जंघा पर का अँगूठा पकड़कर सीधे बैठते हैं।

(४) 'संकर सहज सरूप···' (क) शिवजी साकेत लोक में महाशंभु-रूप से श्री सीतारामजी की सेवा में नित्य रहते हैं, उस रूप में वृत्ति ले जाने तथा इस देह से वृत्ति का अभाव होने से अखंड तथा अपार समाधि लग गई।

(ख) एक ब्रह्म ही गुण-त्रय सम्बन्ध से त्रिदेव रूप होकर उत्पत्ति-पालन और संहार करता है। शंकरजी ने उसी अपने शुद्ध, बुद्ध और नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप को सँभारा, इसीसे अखंड तथा अपार समाधि लग गई।

'सहज स्वरूप'—"निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।" (वि० १३६) तथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (आ० दो० ३५)।

दोहा—सती बसहिं कैलास तब, अधिक सोच मन माहिं।
मरम न कोऊ जान कछु, जुग सम दिवस सिराहिं ॥५८॥

अर्थ—तब सतीजी कैलाश पर रहती थीं, परन्तु उनके मन में शोच बढ़ता ही गया। इस भेद को कोई कुछ भी नहीं जानता, परन्तु इनके दिन युग के समान बीतते हैं।

विशेष—कैलाश परम रमणीक और सब सुखों से पूर्ण है। यथा—"परम रम्य गिरिवर कैलासू।" ...से—"सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५) तक। वहाँ भी सतीजी के लिये सुख न था, क्योंकि इनके मर्म का ज्ञाता कोई न था, जिससे दुःख कहें और कुछ घटे। यथा—"कहेहूँ ते कछु दुःख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥" (सुं० दो० १४)।

नित नव सोच सती-उर भारा। कब जइहउँ दुख-सागर-पारा॥ १॥
मैं जो कीन्ह रघुपति-अपमाना। पुनि पतिबचन मृषा करि जाना॥ २॥
सो फल मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥ ३॥
अब बिधि अस बूझिय नहिं तोही। संकरबिमुख जियावसि मोही॥ ४॥

अर्थ—सतीजी के हृदय में नित्य नई चिन्ता का बोझ उत्पन्न होता है कि मैं इस दुःख-समुद्र के पार कब जाऊँगी?॥ १॥ मैंने श्री रघुनाथजी का अपमान किया और पति के वचनों को झूठा करके जाना॥२॥ उसका फल ब्रह्माजी ने मुझे दिया, जैसा उचित था, वही किया॥ ३॥ अब हे विधि! ऐसा आपको नहीं समझना चाहिये जो शिवजी से विमुख रखकर मुझे जिला रहे हैं॥ ४॥

विशेष—'सागर पारा'—दुःख सागर की तरह अपार है, अतः पार की प्रतीक्षा है।

'मैं जो कीन्ह...'—श्री रामजी को नर कहना—यह वचन से, शिवजी के समझाने पर भी विश्वास न हुआ—यह मन से तथा परीक्षा के लिये सीता का रूप धारण करना—यह कर्म से रघुपति का अपमान है। पति के वचनों में अविश्वास से पति का भी अपमान हुआ। 'सो फल...'—रघुपति के अपमान के फल-रूप में व्यभिचारिणी बनाई गईं और पति के अपमान से पति द्वारा त्यक्त हुईं। 'उचित'—"जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० २१८), "करइ जो करम पाव फल सोई॥" (अ० दो० ७७)।

'अब बिधि...' आप विधिवत् विधान करने से ही 'विधाता' कहाते हैं। अतः, ऐसी बूझ (बुद्धि या समझ) आपके लिये होना अयोग्य है; क्योंकि मैंने शंकर-विमुखता के अभिप्राय का कर्म अपनी बुद्धि से नहीं किया।

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महुँ रामहिं सुमिरि सयानी॥५॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥६॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी॥७॥

अर्थ—हृदय की ग्लानि कुछ कही नहीं जाती, सयानी सतीजी ने मन में श्रीरामजी का स्मरण किया ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! जो आप दीनदयालु कहाते हैं और 'विपत्तिहरण' कहकर आपका ऐसा यश वेद गाते हैं ॥ ६ ॥ सो मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि मेरी यह देह शीघ्र छूट जाय ॥ ७ ॥

'सयानी'—सब उपायों से हताश होकर श्रीरामजी की शरण में प्राप्त होना अर्थात् इन्हीं को एक मात्र उपाय-रूप में वरण करना चतुरता है। यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर ॥" (अ० दो० ६) । पुनः श्रीरामजी के अपमान से दुःख हुआ। अतः, इन्हीं की शरण से उसकी निवृत्ति सोचना भी सयानपना है।

'जौ प्रभु···'—आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, और मैं दीन हूँ, आर्त हूँ, अपने सामर्थ्य से रक्षा करें। यहाँ—'मन महँ' 'बिनय करउँ' और 'करजोरी' से क्रमशः मन, वचन और कर्म से शरणागत हुई। 'छूटउ बेगि देह यह'—शिवजी की प्रतिज्ञा जान गई—'येहि तन सतिहिं···' यह श्रीराम-स्मरण का फल है। ऐसे ही स्मरण से शिवजी में भी प्रण की बुद्धि हुई थी।

जौं मोरे सिवचरन सनेहू । मन क्रम बचन सत्य ब्रत येहू ॥८॥

दोहा—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु, करउ सो बेगि उपाइ ।
होइ मरन जेहि बिनहि श्रम, दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥५६

अर्थ—जो मेरा शिवजी के चरणों में मन, वचन एवं कर्म से स्नेह हो और यह व्रत मेरे मन, वचन तथा कर्म से सत्य हो ॥८॥ तो हे सर्वदर्शी प्रभो ! शीघ्र वह उपाय कीजिये जिससे मेरी मृत्यु हो और बिना परिश्रम ही दुःसह दुःख दूर हो ॥५६॥

विशेष—'ब्रत येहू'—मन, वचन और कर्म से पति के चरणों में सच्चा स्नेह ही पातिव्रत्य धर्म है। यथा—"एकइ धर्म एक ब्रतनेमा। काय बचन मन पति पद-प्रेमा॥" (आ० दो० ५)। 'सबदरसी'—मेरे मन, वचन और कर्म की व्यवस्था भी आप जानते ही हैं।

येहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी ॥१॥
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी ॥२॥
रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे ॥३॥
जाइ संभुपद बंदन कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार से दक्ष प्रजापति की कन्या सतीजी दुःखित हैं, उनका भारी और विषम दुःख कहने योग्य नहीं है ॥१॥ सत्तासी हजार वर्ष बीतने पर अविनाशी शिवजी ने समाधि छोड़ी ॥२॥ शिवजी श्रीराम नाम का स्मरण करने लगे, तब सतीजी ने जाना कि जगत् के स्वामी शिवजी जाग गये हैं ॥ ३ ॥ जाकर शिवजी के चरणों की वन्दना की। उन्होंने सामने बैठने के लिये आसन दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि विधि…'—"सती बसहिं कैलास…" से—"बिपति बिहाइ ॥" तक अर्थात् पूरे एक दोहे में दशा कहकर श्रीराम-शरणागति के साथ ही विपत्ति की इति लगाई। 'प्रजेस कुमारी'—क्योंकि सती शिव-विमुख दक्ष की कन्या हैं, दुःखित क्यों न हों ? और, यह भी भाव है कि इष्ट और पति के अपमान से 'प्रजेस-कुमारी' तक की यह दशा है तो प्राकृत स्त्रियों के लिये क्या कहना ?

(२) 'बीते संबत सहस…'—जब तक सतीजी विधि आदि के आश्रय लेती थीं, तब तक प्रभु चुप थे। जब सब भरोसा छोड़कर शरण में आईं तब प्रेरक प्रभु ने आर्त का दुःख हरने के लिये, वैसी प्रेरणा की जिससे शिवजी समाधि छोड़ें और सती के दुःख मिटें।

शंका—सत्तासी हजार वर्ष के बीच में ही श्रीरामजी की रण-क्रीड़ा एवं राज्याभिषेक चरित में शिवजी का आना कहा है, यथा—"हमहूँ उमा रहे तेहि संगा।" (लं० दो० ८०) तथा—" ''संभु तब, आये जहँ रघुबीर।" (उ० दो० १२); फिर इसकी संगति कैसे लगेगी ?

समाधान—हिमाचल राज के निमंत्रण में नदी-तालाब आदि का भी सुंदर शरीर धर-धरकर आना इसी ग्रंथ में लिखा गया है। उस समय वे सब दूसरे रूप से जगत् के कार्य में रहे। यदि नदी-तालाब आदि के अधिष्ठातृ देवताओं में यह सामर्थ्य है तो शिवजी तो महादेव हैं। ये एक रूप से कैलाश में रहते हैं, दूसरे रूप से रण देखते तथा अन्य रूपों से किसी के तप का फल देते एवं संहार आदि कार्य करते हैं। श्रीसौभरि ऋषि की कथा भी प्रसिद्ध है कि वे एक ही समय में ५० रूपों से मान्धाता की ५० कन्याओं के महलों में पृथक्-पृथक् रहते थे, तब शिवजी के लिये शंका क्यों ?

'तजी समाधि' शिवजी ने प्रभुप्रेरित होकर अपनी इच्छा से समाधि छोड़ी। दूसरी बार प्रभु की आज्ञा पर ध्यान न रखकर समाधिस्थ हो जायँगे, तब वह समाधि काम की उपाधि से छूटेगी। यह "छूटि समाधि…" (दो० ८९) पर कहा जायगा।

'अबिनासी'—प्राकृत-देहधारी की समाधि इतने काल तक नहीं रह सकती, शिवजी का शरीर अविनाशी है, इसी से बनी रही।

'जागे'—क्योंकि समाधि में बाहर की इन्द्रियाँ भीतर स्वरूप में लीन रहती हैं, निद्रा की तरह शरीर जड़वत् रहता है। अतः, समाधि छूटने पर जागना कहा जाता है।

(३) 'जाइ संभुपद…' 'संभु-पद'—अर्थात् कल्याणकारी चरण हैं, सती इन्हीं से कल्याण चाहती हैं। शिवजी सती में अब मातृ (सीता) भाव मानते हैं, इसी से सम्मुख आसन दिया, क्योंकि माता को सम्मुख ही आसन दिया जाता है।

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला ॥५॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहिं कीन्ह प्रजापतिनायक॥६॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमान हृदय तब आवा ॥७॥
नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥८॥

अर्थ—(शिवजी सती से) रसीली हरिकथा कहने लगे, उसी समय में दक्ष प्रजापति हुए ॥५॥ ब्रह्माजी ने विचारकर दक्ष को सब तरह योग्य देखा, तब उन्हें प्रजापतियों का नेता (सरदार) बनाया ॥६॥

जब दक्ष ने बड़ा अधिकार (दर्जा) पाया, तब उनके हृदय में बहुत अभिमान हुआ ॥७॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि जगत् में ऐसा कोई नहीं पैदा हुआ, जिसे प्रभुता (आधिपत्य) पाकर अभिमान न हुआ हो ॥८॥

विशेष—'प्रजेस' एवं 'प्रजापति नायक'—सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले प्रजापति कहाते हैं। इनकी संख्या के कल्पभेद से कई प्रकार हैं। मरीचि, अत्रि आदि दस और कहीं इक्कीस तथा कहीं ब्रह्मा, सूर्य, मनु दक्ष आदि १३ कहे गये हैं। दक्ष अपने कल्प के वर्ग में नेता हुए थे।

सम्बन्ध—दक्ष का अभिमान शिव-विरोध का कारण है। अब कार्य कहते हैं—

दोहा—दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर, जे पावत मख-भाग ॥६०॥

अर्थ—दक्ष ने सब मुनियों को बुलवा लिया और बड़ा भारी यज्ञ करने लगे। उसमें उन सब देवताओं को, जो यज्ञ में भाग पाया करते हैं, आदर सहित नेवता दिया।

विशेष—जब यज्ञ करने लगे तब नेवता भेजा, क्योंकि उसी क्रम से कहा गया है। 'नेवते सादर' में शिवजी के निरादर का आशय है, क्योंकि शिवजी का नेवता काटना है। शिवजी को अपमानित करने के अभिप्राय से यह यज्ञ किया जा रहा है, अतएव 'तामस' है। यथा—"परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।" (गी० १७।१९)। इसीसे विघ्न भी हुआ।

किंनर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा ॥१॥
बिष्नु बिरंचि महेस बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई ॥२॥
सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना ॥३॥
सुरसुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना ॥४॥

अर्थ—किन्नर, नाग, सिद्ध, गंधर्व और सब देवता अपनी अपनी स्त्रियों के साथ चले ॥१॥ विष्णु, ब्रह्मा और महेश को छोड़कर सभी देवता विमान सजाकर चले ॥२॥ सतीजी ने देखा कि अनेक प्रकार के सुन्दर विमान आकाश-मार्ग में चले जा रहे हैं ॥३॥ देव-नारियाँ सुन्दर गान कर रही हैं, जिसे कानों से सुनते ही मुनियों का ध्यान छूट जाता है ॥४॥

विशेष—(१) 'बिष्नु बिरंचि महेस ...' ब्रह्मा और विष्णु तो निमन्त्रित थे, पर तो भी नहीं गये, क्योंकि जानते थे कि इस यज्ञ में शिवजी को भाग नहीं दिया जायगा। शिवजी के अपमान में अपना भी अपमान मानते थे। और देवता लोगों ने लोभ वश इस बात पर ध्यान नहीं दिया। अतः, दण्ड पावेंगे। यथा—"सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा।" (दो० ६७)।

(२) 'सती बिलोके ...' शिवजी का स्थिर चित्त कथा में लगा था और सतीजी का चित्त अंतरंग दुःख के कारण व्यग्र था, इससे इन्होंने ही देखा।

(३) 'सुरसुंदरी करहिं ...'—'कल गान' का प्रभाव ही है कि यह मुनियों का ध्यान छुड़ा दे। यथा—"कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।" (दो० ३११)। यह यश हरद्वार-कन

रत्न में हुआ। वहाँ से कैलाश तक उस राह में बहुत मुनियों के आश्रम थे, जिस होकर विमान जा रहे थे। यथा—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनिवृन्द। बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५)। इनके गाने से मुनियों को विघ्न हुआ। अत, भविष्य के अमंगल का हेतु यह भी कहा जाता है।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिताजग्य सुनि कछु हरषानी॥५॥
जौ महेस मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहउँ मिस येहीं॥६॥
पतिपरित्याग हृदय दुख भारी। कहइ न निज अपराध विचारी॥७॥
बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम-रस सानी॥८॥

दोहा—पिता-भवन उत्सव परम, जौ प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन, सादर देखन सोइ॥६१॥

अर्थ—(सतीजी ने) पूछा (कि ये विमान कहाँ जा रहे हैं), तब शिवजी ने विस्तार-पूर्वक कहा। पिता का यज्ञ-उत्सव सुनकर कुछ हर्ष हुआ॥५॥ (हृदय में विचारती हैं कि) जो महादेवजी मुझे आज्ञा दें, तो कुछ दिन इसी बहाने वहाँ जाकर रहूँ॥६॥ पति के त्यागने का हृदय मे भारी दुःख है, (परन्तु) अपना ही अपराध विचारकर कहती नहीं हैं॥७॥ भय, संकोच और प्रेम-रस से सनी हुई मनोहर वाणी सतीजी बोलीं॥८॥ हे प्रभो! पिता के घर में बहुत बड़ा उत्सव है, जो आपकी आज्ञा हो, तो हे कृपालु! मैं आदर-सहित देखने जाऊँ॥६१॥

विशेष—(१) 'पूछेउ तब···' प्राय सब उत्सवों मे स्त्रियाँ नहीं भी जाती हैं। इसमें जा रही हैं। अतः, पूछा। 'कछु हरषानी'—यद्यपि यह बड़े हर्ष की बात थी, तथापि इनको कुछ ही हर्ष हुआ, क्योंकि हृदय में भारी परिताप है, हर्ष भी इससे हुआ कि कुछ दिन जी बहलेगा।

(२) 'जौ महेस···' 'जौ' से दुविधा है कि आज्ञा दें या न दें। 'मिस येहीं' · 'सादर' क्योंकि पति का त्यागना अभी औरों को नहीं मालूम है, यज्ञोत्सव के बहाने वहाँ जाने और कुछ दिन रहने में यह कोई न जानेगा कि पति के त्यागने से आई हैं। पति से त्यागी हुई स्त्री को कहीं आदर नहीं मिलता है।

(३) 'बोलीं सती मनोहर बानी···' भय, सकोच और प्रेम-रस से वाणी मनोहर है। 'जौ तौ' 'आयसु होइ' आदि में संकोच का भाव है। 'कृपायतन,' 'आयसु होइ' आदि के भावों मे प्रेम रस-भरा है। 'महेस' 'प्रभु' आदि से भय दर्शित होता है। यों तो सम्पूर्ण वाणी इन तीनों गुणों से सनी है।

कहेहु नीक मोरेहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥१॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरे बैर तुम्हहुँ बिसराई॥२॥
ब्रह्म-सभा हम सन दुख माना। तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना॥३॥
जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥४॥

जदपि मित्र-प्रभु-पितु-गुरु-गेहा। जाइय बिनु बोलेहु न सँदेहा ॥५॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गये कल्यान न होई ॥६॥

अर्थ—(शिवजी ने कहा) तुमने अच्छी बात कही, वह मेरे मन को भी भाई, परन्तु (दक्ष ने) नेवता नहीं भेजा, यह अनुचित है ॥१॥ दक्ष ने अपनी और सब कन्याओं को बुलाया, (परन्तु) हमारे वैर से तुम्हें भी भुला दिया ॥२॥ ब्रह्माजी की सभा में (दक्ष ने) हमसे दुःख माना था, इसीसे अब भी हमारा अपमान करते हैं ॥३॥ हे भवानी! जो बिना बुलाये जाओगी तो शील और स्नेह न रहेगा और न मर्यादा ही बचेगी ॥४॥ यद्यपि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बुलाये भी जाने की रीति है, इसमें संदेह नहीं ॥५॥ तो भी जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जाने से कल्याण नहीं होता ॥६॥

विशेष—(१) 'नीक'—यह भगवान् का अंग है; अतः, देखना अच्छा है। सती के वचन का समर्थन करके फिर उसमें अनुचित-अंश कहा, जिससे वे प्रीति से ग्रहण करें।

(२) 'दच्छ सकल निज...' 'दच्छ' का अर्थ चतुर भी है। यह उन्होंने चतुराई की है कि सबको बुलाकर एक को न बुलाने में उसका अपमान होगा और वैर सधाया जायगा। वास्तविक चतुराई तो उनकी तब थी कि तुम्हारे सम्बन्ध से हमारा भी वैर भुला देते, पर उन्होंने हमारे वैर से तुम्हें भी भुला दिया।

(३) 'ब्रह्म-सभा...' भागवत स्कंध ४, अ० २-३ में, कथा है—"प्राचीन समय में विश्व-स्रष्टाओं ने एक यज्ञ किया। उसमें समस्त बड़े-बड़े ऋषि और देवता उपस्थित थे। दक्ष उस समय आये। उनके तेज से धर्षित हो ब्रह्माजी और शिवजी को छोड़कर सबने आसन से उठ उनका सम्मान किया। ब्रह्मा को प्रणाम करके उनके दिये हुए आसन पर दक्ष बैठ गये। दक्ष ने देखा कि शिवजी जामाता होकर भी सामने ही बैठे रहे—उठकर मेरा सम्मान नहीं किया। अतः उन्हें क्रूर दृष्टि से देखते हुए बहुत दुर्वचन कहे, पर शिवजी कुछ न बोले। फिर दक्ष ने शाप भी दिया कि देव-यज्ञ में इन्द्रादि देवगण के साथ ये यज्ञ-भाग नहीं पावेंगे। फिर चल दिये, इसके प्रतिकार रूप में इधर से नन्दीश्वर ने भी दक्ष को और उनके अनुयायियों को घोर शाप दिया। फिर उधर से भृगुजी शिवजी के गणों को घोर शाप देने लगे, तब शिवजी पार्षदों समेत चल दिये। दक्ष द्वेष-भाव हृदय में रक्खे रहे। 'दुख माना'—मैंने जान-बूझकर उनका अपमान नहीं किया, पर उन्होंने मान लिया। 'अजहूँ'—यह यज्ञ भी मेरा निरादर करने के लिये ही किया है।

(४) 'जौं बिनु बोले जाहु...' बिना बोलाये जाने पर शील, स्नेह और 'कानि' (मर्यादा) न रहेगी। यही तीनों आगे दो० ६२ में चरितार्थ होंगे। *यथा*—"दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥"—यहाँ स्नेह न रहा। "दच्छ-त्रास काहु न सनमानी" "भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता।"—शील न रहा। "कतहुँ न दीख संभु-कर भागा।" "प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ।" इत्यादि मर्यादा भी न रही।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावीबस न ज्ञान उर आवा ॥७॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाये। नहिं भलि बात हमारे भाये ॥८॥

दोहा—कहि देखा हर जतन बहु, रहइ न दच्छकुमारि।
दिये मुख्य गन संग तब, बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ॥६२॥

....—अनेक प्रकार से शिवजी ने समझाया, पर भावीवश सतीजी के मन को बोध न हुआ ॥७॥ फिर प्रभु (शिवजी) ने कहा कि जो तुम विना बुलाये जाओगी, तो हमारी समझ में अच्छी बात नहीं है ॥८॥ शिवजी ने बहुत यत्न से कहकर देखा कि दक्ष-सुता नहीं ही रहना चाहती है, तब त्रिपुरारि शिवजी ने मुख्य गण साथ कर दिये और इन्हें बिदा किया ॥६२॥

विशेष—(१) 'भावी बस न ज्ञान ·····' सतीजी अभी भावी-वश नहीं समझ सकीं। जब शिवजी का भाग वहाँ न देखेंगी, तब यह ज्ञान होगा। यथा—"तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।" (दो० ६२)। 'भाँति अनेक'—'उपर्युक्त बातें और यह भी कि पतिव्रता को पति-द्रोही का सर्वथा त्याग करना चाहिये, इत्यादि।

(२) 'नहिं भलि बात'—अर्थात् वहाँ तुम्हारा कुछ अमंगल न हो जाय, शिवजी के वचनों में भावी का ज्ञान होना गर्भित है, पर भावी अमिट होती है। फिर भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये। फल तो ईश्वर की इच्छा से होगा ही। इसी दृष्टि से शिवजी समझाते ही हैं।

(३) 'कहि देखा हर······'—'रहइ न' भा० स्क० ४, अ० ४ में लिखा है कि सतीजी बिन आज्ञा लिये ही चल दीं। 'दच्छ-कुमारि'—दक्ष हठी थे, वैसा इनमें भी हठ है। 'दिये मुख्य गन संग'—क्योंकि सतीजी ने 'सादर देखन' की आज्ञा माँगी थी। अतः, उनके आदरार्थ गण साथ कर दिये, उनके मानापमान में अपना भी मानापमान है ही। पुनः दक्ष से वैर है, यदि वे विघ्न करें तो उसके प्रतिकार के लिये अस्त्र शस्त्र में निपुण हजारों गण भेजे। ऐसा भा० स्कं० ४, अ० ४ में प्रमाण है। 'त्रिपुरारि'—शिवजी त्रिपुर के जेता (जीतनेवाले) हैं, दक्ष से कुछ भय नहीं है।

पिता-भवन जब गईं भवानी। दच्छत्रास काहु न सनमानी ॥१॥
सादर भलेहि मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता ॥२॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहिं बिलोकि जरे सब गाता ॥३॥
सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा ॥४॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ ॥५॥

अर्थ—जब सतीजी पिता के भवन में पहुँचीं, तब दक्ष के डर से किसी ने उनका सम्मान नहीं किया ॥१॥ भले ही एक माता आदर-पूर्वक मिली और बहनें तो बहुत मुसकुराती हुई मिलीं ॥२॥ दक्ष ने कुछ कुशल भी नहीं पूछा, प्रत्युत सतीजी को देखकर उनके सब अंग जलने लगे। (क्योंकि पहले का शिवकृत अपमान चित्त में आ गया) ॥३॥ तब सती ने जाकर यह देखा, वहाँ शिवजी का भाग कहीं नहीं देख पड़ा ॥४॥ तब शिवजी का कहा हुआ चित्त में चढ़ा और पति का अपमान समझकर हृदय जलने लगा ॥५॥

विशेष—(१) 'गईं भवानी'—प्रथम 'दच्छ-कुमारि' कहा था क्योंकि दक्ष के यहाँ जाने को उद्यत थीं, यहाँ 'भवानी' कहा, क्योंकि भव (शिवजी) के संबंध से ही अपमान हो रहा है।

(२) 'सादर भलेहि······' माता का स्नेह कन्या पर अत्यन्त होता है। सतीजी की माता मनु की कन्या हैं, अतः, हृदय शुद्ध है और दक्ष की भी पत्नी होने से तुल्या हैं; अतः, उनका भय नहीं, इससे आदर से मिली। नेत्रों में आँसू चले और गद्गद स्वर से कुशल पूछा।

'भगिनी ·····मुसुकाता'—क्योंकि ये सब नेवता देकर सादर बुलाई गई थीं। हँसने में व्यंग्य है, कि शिवजी का वह घमंड अब कहाँ गया, जो ब्रह्म-सभा में पिताजी का अपमान किया था, अब नेग लेने के लिये पत्नी को भेजा है।

(३) 'सती जाइ देखेउ तब ·····'—'तब' अर्थात् जब पिता के दल से अपना अपमान देखा, तब संदेह हुआ कि कहीं शिवजी का तो अपमान न हुआ हो, इसलिये यज्ञशाला में गईं। 'कतहुँ न'—ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं गये थे, तो भी उनके भाग रक्खे गये थे, पर शिवजी का भाग ही न था। 'प्रभु अपमान'—प्रथम अपने अपमान पर वैसा संताप नहीं हुआ था, पर जब शिवजी का अपमान देखा, तब पहले अपमान की भी प्रतीति हुई।

पाछिल दुख अस हृदय न व्यापा। जस यह भयेउ महापरितापा ॥६॥
जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब ते कठिन जाति-अपमाना ॥७॥
समुझि सो सतिहिं भयेउ अति क्रोधा। बहुबिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥८॥

दोहा—सिव-अपमान न जाइ सहि, हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहिं हठि हटकि तब, बोलीं बचन सक्रोध ॥६२॥

अर्थ—पिछला (पति त्याग का) दुःख ऐसा हृदय में नहीं व्यापा (लगा) था, जैसा यह पति-अपमान का महाघोर दुःख हुआ ॥६॥ यद्यपि जगत् में विषम दुःख अनेक (भाँति के) हैं, तो भी जाति-अपमान इन सबसे कठिन है ॥७॥ यह समझकर सतीजी को बड़ा ही क्रोध हुआ, (इसपर) माता ने उनको बहुत तरह से समझाया ॥८॥ पर शिवजी का अपमान नहीं सहा जाता और न हृदय को प्रबोध ही होता था; अतः, सतीजी सब समाज को हठ पूर्वक हटकि (चुप कराके=अपनी ओर आकर्षित करके) क्रोधपूर्वक बोलीं ॥६२॥

विशेष—(१) 'पाछिल दुख अस ·····' प्रथम भी असह्य दुःख था। यथा—"येहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुःख भारी ॥" (दो० ५९); परन्तु वह अपने हृदय की ही बात थी, कोई नहीं जानता था। यहाँ तो यज्ञ में सुर, मुनि आदि बहुत लोग निमंत्रित हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश का बराबर भाग मिलता था; पर यहाँ शिवजी का अपमान हुआ है, इसे सभी जान गये। इससे अत्यन्त परिताप हुआ। यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन-कोटि-सम दारुन दाहू ॥" (अ० दो० ९५) तथा—"अकीर्तिञ्चापि भूतानि·····" से—"ततो दुःखतरं नु किम् ॥" (गीता २।३४-३६) तक।

(२) 'जननी कीन्ह प्रबोधा'—माता ने पिता से अपमानित सती की चेष्टा देखकर इसका साथ नहीं छोड़ा कि यह निमन्त्रित नहीं है, जिससे कोई कुछ कह न दे। प्रबोध भी किया कि तुम्हारी विदाई सब बहनों से अधिक रूप में मैं करूँगी, इत्यादि।

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर-निंदा ॥१॥
सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भाँति पछिताब पिताहू ॥२॥

संत - संभु - श्रीपति - अपवादा । सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा ॥३॥

काटिय तासु जीभ जो बसाई । श्रवन मूँदि न त चलिय पराई ॥४॥

शब्दार्थ—मुनिंदा (मुनीन्द्र) = मुनीश्वरो । लहब = पाओगे । अपवादा = निन्दा = झूठा दोषारोपण । मरजादा (मर्यादा) = नियम, रीति, रसम ।

अर्थ—हे सभासदो और समस्त मुनीश्वरो ! सुनिये । जिन्होंने शंकरजी की निन्दा कही और सुनी है, उन सबको इसका फल तुरंत ही मिलेगा और पिता भी भली भाँति पछतावेंगे । १-२॥ संत, शंभु और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनने मे आवे, वहाँ नियम तो ऐसा है कि अपना वश चले, तो निन्दक की जीभ काट ले, नहीं तो कान में अंगुल दे (मूँद) कर भाग जाय ॥३-४॥

विशेष—'निंदा'—जो दोष किया गया हो और उसे कोई कहे, उसे 'परिवाद' कहते हैं और झूठा दोष लगाकर कहना अपवाद (निंदा) है—"परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥" (वा० अ० ११।२७)। यथा—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास। सो दुख अरु जुवती-बिरह। ..." से—"बसुकु तजि टेक॥" (लं० दो० ३१) तक—ये सब बातें श्रीरामजी के दोष रूप में रावण की गढ़ी हुई हैं और झूठी हैं । अतः, इसे ही कहा—"जब तेइ कीन्ह राम कै निंदा।" इसपर अंगद ने रावण की जीभ किस तरह काटी है—अंगद ने श्रीरामप्रताप से वहाँ बहुत-कुछ कहा है और प्रभाव प्रकट करके भी दिखाया है। अतएव समर्थ थे, पर शास्त्र प्रमाणों के द्वारा उसकी वाणी का खंडन ही किया है। यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" नरत्व का खंडन इस प्रमाण एवं—"राममनुज कस रे सठ बंगा।'''तव सुन मारि।" (लं० दो० २६) इत्यादि और भी प्रमाणों से किया है। फिर अंगद ने—"मैं तव दसन तोरिबे लायक।" ''से—"आयसु दीन्ह न राम उदारा॥" (लं० दो० ३३) तक अपना पुरुषार्थ कहा। रावण ने 'लबार' कहकर उनकी निन्दा की, तब अंगद उसकी जीभ उखाड़ने को कहते हैं। यथा—'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा॥" (लं० दो० ३३)। इसपर अंगद ने पाँव रोपकर उठाने को कहा। रावण समाज के साथ भी यह न कर सका, इस तरह अपने कर्म से उसकी वाणी (जीभ) को उखाड़ा (खंडन किया)। दूसरे प्रकार में काटने का भाव छुरे से काटना एवं कहीं-कहीं 'काढ़िय' भी पाठ है, जड़ से उखाड़ फेंकने का भाव भी—"गिरिहि न तव रसना अभिमानी॥ गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समर महि माहीं॥" (लं० दो० ३२)। इस वचन से श्रीराम-पुरुषार्थ द्वारा कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी इस अवसर में देवी ने यही कहा है—"कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने। छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः॥ (स्क० ४, अ० ४, श्लोक १७)। यहाँ भी 'छिन्द्यात्' से काटने (शास्त्र-प्रमाणों से वाणी-खंडन करने) का ही भाव है छुरा लगाकर जीभ उखाड़ने का नहीं ! 'न त चलिय पराई'—बैठे रहने पर निंदा में सहमत होना होता है। अतः, पाप है। निन्दा भारी पाप है—"परनिंदा सम अघ न गिरीसा।" (उ०दो० १२०) एवं—"हरि-हर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (लं० दो० ३१)।

जगदातमा महेस पुरारी । जगत-जनक सबके हितकारी ॥५॥

पिता मंदमति निंदत तेही । दच्छ-सुक्र-संभव यह देही ॥६॥

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू ॥७॥
अस कहि जोगअगिनि तनु जारा। भयेउ सकल मख हाहाकारा ॥८॥

अर्थ—महादेवजी जगत् के आत्मा, त्रिपुरासुर के शत्रु, जगत् के उत्पादक और सबका हित करने वाले हैं ॥४॥ नीच बुद्धि पिता उनकी निंदा करते हैं और यह देह उन (पति निंदक) के वीर्य से उत्पन्न है ॥६॥ इस कारण (द्वितीया के) चन्द्रमा को ललाट पर धारण करनेवाले, धर्म को ध्वजा शिवजी को हृदय में धारण करके मैं इस देह को शीघ्र ही त्याग दूँगी ॥७॥ ऐसा कहकर सतीजी ने योगाग्नि में शरीर जला दिया, इससे समस्त यज्ञशाला में हाहाकार मच गया ॥८॥

विशेष—(१) 'जगदातमा महेस'''' जगत् के आत्मा से वैर करना अपने आत्मा ही से वैर करना है (कल्पभेद से शिवजी से सृष्टि भी होती है; यहाँ स्तुति-प्रसंग है। अतः, पूर्ण ऐश्वर्य कहा गया है)। 'महेस'—इन्द्रादि देवों की निंदा भी भारी पाप है, ये तो महादेव हैं। 'पुरारी'—त्रिपुरासुर के वध से इनका बल भी समझ लेना चाहिये। 'जगतजनक'—निंदक के भी पिता हैं। अत, गुरुजन-निन्दा और भी भारी पाप है। 'सब के हितकारी'—अतएव शिव-निन्दक का किसी प्रकार हित नहीं हो सकता।

(२) 'पिता मंदमति निंदत''''—पिताजी ने पूर्व ब्रह्म-सभा में वचन से निन्दा की थी, अब यज्ञ करके उनका नेवता काटकर एवं भाग न रखकर अपमानपूर्वक सहस्रों ऋषियों और देवताओं के समक्ष कर्म-द्वारा शिवजी की निन्दा कर रहे हैं कि शिवजी अयोग्य हैं, तभी तो नेवता कटा एवं भाग बन्द हुआ।

(३) 'तजिहउँ तुरत देह'''' श्रीमद्भागवत, स्कंध ४ में दक्ष के प्रति सती के वचन हैं—"जैसे अज्ञान-वश अशुद्ध अन्न खाने पर वमन करने ही से उसकी शुद्धि होती है, वैसे तुमसे उत्पन्न इस देह का त्यागना ही प्रायश्चित्त है। तेरे संबंध से मुझे लज्जा है, ऐसे जन्म को धिक्कार है, इत्यादि"—कहकर देह त्यागना कहा है। 'तुरत' एक क्षण भी पिता का सम्बन्ध नहीं सह सकती।

'उर धरि चन्द्रमौलि'''' द्वितीया का चन्द्रमा दीन-क्षीण है, उसका धारण कर उसे महत्त्व दिया। वैसे शिवजी मुझ दीना को भी स्वीकार करेंगे और महत्त्व देंगे। वे धर्म की ध्वजा हैं, मेरे पातिव्रत्य-धर्म की रक्षा करेंगे—उसके फलरूप में अपनी प्राप्ति देंगे।

(४) 'अस कहि जोग''''—योगाग्नि में शरीर जलाने की क्रिया, भाग० स्क० ४, अ० ४ में कही गई है—"सतीजी उत्तर की ओर मुख करके मौन होकर बैठ गईं। पीताम्बर धारण कर आचमन किया। नेत्र बन्द कर आसन लगाकर, 'प्राण' और 'अपान' वायु को नाभिचक्र में स्थिर करके 'समान' (वायु) किया। फिर नाभिचक्र से 'उदान' वायु को धीरे-धीरे उठा तीनों मिले हुए वायुओं को हृदय में स्थिर करके, तब वहाँ से उन्हें कंठ-मार्ग से भ्रुकुटियों के बीच में ले गईं। इस प्रकार वायु रोककर योगाग्नि की धारणा की और एक मात्र शिवजी ही इनके ध्यान में रह गये। ऐसा होते ही समाधि से उत्पन्न योगाग्नि द्वारा शरीर तुरंत जल उठा।"

शंका—योगाग्नि से शरीर जलने से पुनर्जन्म नहीं होता। यथा—"तजि जोग-पावक देह हरि-पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।" (आ० दो० ३६)। इसमें शबरीजी की मुक्ति कही गई है। फिर सतीजी का हिमाचल के यहाँ जन्म क्यों हुआ ?

समाधान—शबरीजी ने वैसा कोई वर नहीं माँगा था, इससे लीन होना कहा गया है, पर यहाँ तो सतीजी ने वर माँगा था। यथा—"सती मरत हरिसन बर माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा ॥

तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमीं पारवती-तनु पाई ॥" (दो० ६४)। इसे ग्रंथकार ने ही समझा दिया है। ऐसी ही शरभंग मुनि की भी व्यवस्था है। यथा—"अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा।···ताते मुनि हरि-लीन न भयेऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयेऊ॥" (अ० दो० १०)।

(५) 'हाहाकारा'—भा० स्कं० ४, अ० ५ में कहा गया है कि लोग कहने लगे—"हा-हा! बड़े खेद की बात है। शिवप्रिया सतीजी ने कुपित होकर प्राण ही त्याग दिये। अहो! इस प्रजापति की महामूढ़ता और दुर्जनता तो देखो। इसने अपनी कन्या का ही निरादर किया जो सभी की माननीया एवं पूज्या हैं!"

दोहा——सती-मरन सुनि संभुगन, लगे करन मख खीस।
जज्ञ-बिध्वंस बिलोकि भृगु, रच्छा कीन्हि मुनीस॥६४॥

अर्थ—सतीजी का मरना सुनकर शिवजी के गण यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। यज्ञ का नाश होते देखकर मुनीश्वर भृगु ने उसकी रक्षा की॥६४॥

विशेष—'मरन सुनि'—गण लोग यज्ञशाला में नहीं जाने पाये थे। आकाशचारी देवों के हाहाकार के शब्दों से जानकर अस्त्र-शस्त्र सजे हुए वहाँ घुस पड़े।

'भृगु'—महाभारत के अनुसार रुद्र के महायज्ञ में ब्रह्माजी के तेज - द्वारा अग्निशिखा से इनका जन्म हुआ। ये सप्तर्षियों में भी माने जाते हैं। त्रिदेवों की परीक्षा में इन्हीं ने विष्णु भगवान् की छाती पर लात मारी थी, जिसका तात्पर्य यह था कि उनकी छाती में श्री (लक्ष्मी) का निवास है, उनपर लात मारना अर्थात् विरक्त रहना ब्राह्मण को योग्य है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा श्रीपरशुरामजी इन्हीं के वंश में हुए। दैत्यों का आश्रय देने के कारण इन्हीं की पत्नी को विष्णु ने मार डाला था।

'भृगु रच्छा कीन्ह'···'—ब्रह्म-सभा के शिव-दक्ष-विवाद में भृगुजी दक्ष के पक्ष में थे और इस यज्ञ के (संभवतः) आचार्य भी थे। अतः, रक्षा की। "विघ्ननाशक मंत्रों से आहुति दी, जिससे ऋभु नामक सहस्रशः वीर, तेजस्वी तथा यज्ञरक्षक देवगण तुरंत प्रकट हुए और जलती हुई लकड़ियों से प्रहार करके शिवगणों को मार भगाया।" (भा० स्क० ४ स०, अ० ४)। 'मुनीस'—क्योंकि भृगुजी मुनियों में समर्थ भी थे।

समाचार सब संकर पाये। बीरभद्र करि कोप पठाये॥१॥
जज्ञबिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा॥२॥
भइ जगबिदित दच्छगति सोई। जसि कछु संभु-बिमुख कै होई॥३॥
यह इतिहास सकल जग जाना। ताते मैं संछेप बखाना॥४॥

अर्थ—जब शिवजी ने सब समाचार जाने तब क्रोधित होकर वीरभद्र को भेजा॥१॥ उन्होंने जाकर यज्ञ का नाश कर डाला और सब देवताओं को यथायोग्य फल दिया॥२॥ दक्ष की वही जगत्-प्रसिद्ध दशा हुई, जैसी कुछ शिव-द्रोहियों की हुआ करती है॥३॥ यह इतिहास सारा संसार जानता है, इसी से मैंने थोड़े ही में इसका वर्णन किया है॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार सब···' श्रीनारदजी के द्वारा समाचार पाना (श्रीमद्भागवत स्कं॰ ४) में कहा गया है, अथवा भागे हुए गणों के द्वारा ही जाने गये हों।

'वीरभद्र करि कोप···' श्रीमद्भागवत में लिखा है कि शिवजी ने क्रुद्ध होकर जटा उखाड़ी और उसे पृथिवी पर पटक दिया जिससे वीरभद्र प्रकट हुए। उनका शरीर बड़ा विशाल था और हजार भुजाएँ थीं। सूर्य के समान तेज था, तीन नेत्र थे, दाँत कराल और शिर के केश अग्निज्वाला के समान थे। श्याम वर्ण, मुंडमाला पहने और अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए थे। (वे ही 'ज्वर' कहे जाते हैं।) कुपित होकर शिवजी ने आज्ञा दी—"हे वीर! दक्ष के यज्ञ को नष्ट करो।" वे अपने को कृतार्थ मानकर आज्ञा पालने के लिये कुछ और गणों के साथ दौड़े हुए, यज्ञशाला की ओर चले। उधर यज्ञशाला की ओर अशुभसूचक महाघोर उत्पात आकाश और अंतरिक्ष में होने लगे। दक्ष का हृदय भी काँप उठा।

(२) 'जग्य बिधंस···' वीरभद्र ने गणों के साथ यज्ञशाला को घेर लिया और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। किसी ने होमकुंड में मूत्र कर दिया, अग्नि बुझा दी, इत्यादि।

'सकल सुरन्ह···' मणिमान् रुद्र ने भृगु को बाँध लिया और वीरभद्र ने दक्ष को। चण्डीश ने सूर्य देव को और नन्दीश्वर ने भग देव को जा दबोचा। भृगु की दाढ़ी उखाड़ ली गई, क्योंकि जब दक्ष ने शिवजी की निंदा की थी, तब ये दाढ़ी हिला-हिलाकर इसका समर्थन कर रहे थे। इसी तरह भग देवता की आँखें और पूषा के दाँत निकाले गये तथा और भी जिन्होंने जिन अंगों से दक्ष का अनुमोदन किया था, उनके वे ही अंग नष्ट किये गये। वीरभद्र ने दक्ष को गिरा उसका शिर मरोड़कर उसी से हवनकुंड की पूर्णाहुति की। ऐसी ही विविध दशा अन्य कार्यकर्त्ताओं की भी हुई। फिर यज्ञशाला को जलाकर रुद्र-गण कैलाश को लौट गये।

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद-अनुरागा ॥५॥

तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमी पारबती - तनु पाई ॥६॥

जब ते उमा सैलगृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई ॥७॥

जहँतहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे ॥८॥

अर्थ—सतीजी ने मरते समय हरि (श्रीरामजी) से वर माँगा कि जन्म-जन्म में शिवजी के ही चरणों में मेरा अनुराग हो ॥५॥ इसी कारण वे हिमाचलराज के घर पार्वती-शरीर पाकर उत्पन्न हुईं ॥६॥ जब से उमाजी का हिमाचल के यहाँ जन्म हुआ, तब से वहाँ सब सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ छा गईं ॥७॥ मुनि लोग जहाँ-तहाँ सुन्दर आश्रम बनाकर रहने लगे, उन्हें (आश्रम बनाने के लिये) हिमाचल ने उचित स्थान दिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि कारन···' पूर्व—*'अस कहि जोग-अगिनि···'* (दो॰ ६३) पर कहा गया कि योगाग्नि से शरीर त्याग होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। उसी का समाधान यहाँ करते हैं कि इन्होंने ऐसा वर ही माँग लिया था, इसी से जनमीं।

श्री सतीजी ने हरि से शिवजी के चरणों में अनुराग माँगा था, उसके योग्य हिमगिरि स्थल है, क्योंकि तपोभूमि है और कैलाश था-सा स्वच्छ वर्ण एवं उसका सम्बन्धी है।

सती की इच्छा भी यहाँ के जन्म के विषय में कही जा सकती है। यथा—"निज इच्छा लीला वपु धारिनि।···अब जनमि तुम्हरे भवन निजपति लागि दारुन तप किया॥" (दो० ६०)।

(२) 'जब ते उमा सैल···' घर में प्रभावशाली सन्तान के उत्पन्न होने से अभ्युदय होता ही है। यथा—"तब ते दिन दिन उदय जनक की जब ते जानकि जाई।" (गी० बा० ६६)।

(३) 'जहँतहँ मुनिन्ह···'—ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा एवं सिद्धियों की अधिष्ठात्री उमा के जन्म-संसर्ग से हिमालय को सिद्धपीठ जानकर मुनिलोग विशेष करके रहने लगे हैं।

दोहा—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति ॥६५॥

अर्थ—उस पर्वत पर नाना भाँति के सभी नवीन वृक्ष सदा फूल-फलों से युक्त रहते हैं और बहुत प्रकार की सुन्दर मणियों की खानें पर्वत पर प्रकट हुईं ॥६५॥

विशेष—पत्ते, फूल और फल वृक्षों की ये तीन संपत्तियाँ हैं। यहाँ तीनो सम्पत्तियाँ सदा रहती हैं। फूल, फल-स्पष्ट हैं। 'नव' से नवीन पल्लव भी आ जाते हैं। पुनः 'नव' से अर्थान्तर के द्वारा 'नये (झुके) हुए भी' अर्थ हो सकता है। यथा—"फल भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।" (आ० दो० ४०)। यह उमाजन्म के प्रभाव से है। यथा—"जबते आइ रहे रघुनायक। तबते भयो बन मंगलदायक॥ फूलहिं फलहिं बिटप...' से—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥" (अ० दो० १३६—३८) तक।

सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥१॥
सहज बैर सब जीवन त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥२॥
सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जिन रामभगति के पाये ॥३॥
नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू ॥४॥

शब्दार्थ—सरिता सब=(गंगा, यमुना आदि) सब नदियाँ। पुनीत=पवित्र। सहज बैर=स्वाभाविक बैर (जैसे चूहे-बिल्ली एवं हाथी-सिंह का)।

अर्थ—वहाँ सब नदियाँ पवित्र जल प्रवाहित करती हैं। पक्षी, मृग (जगली जानवर), भ्रमर—ये सब सुखी रहते हैं ॥१॥ सब जीवों ने अपने स्वाभाविक वैर छोड़ दिये और उस पर्वत पर सभी अनुराग रखते हैं ॥२॥ श्रीपार्वतीजी के घर में आने से पर्वतराज हिमाचल का स्थान (राज्य) शोभायमान हो रहा है, जैसे मनुष्य श्रीराम-भक्ति पाने से सोहता है ॥३॥ उसके घर में नित्य नये मंगल होते हैं और ब्रह्मादि यश गाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सहज···' 'बैर'—यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥" (अ० दो० १३०)।

(२) 'जिमि जन राम-भगति...'—श्रीराम-भक्ति परम दुर्लभ है। यथा—"नर सहस्र महँ..." से—"सो हरि-भगति काग किमि पाई।" (उ० दो० ५३) तक।

इस भक्ति के भेद—"भगति-निरूपन विविध विधाना।..." (दो० ३६) में कहे गये हैं। इसके कुछ लक्षण, यथा—"कहहु भगति-पथ कवनि प्रयासा।" से—"परानंदसंदोह ॥" (उ० दो० ४६) तक तथा आरण्य कांड में कई जगह कहे गये हैं। इस भक्ति से श्रीरामजी ही भक्त के वश हो जाते हैं। इससे वह शोभा पाता है, यथा—"आछे को ललात जे ते रामनाम के प्रसाद खात खुनसात सोंधे दूध की मलाई है।" (क० उ० ७४)। इसी प्रकार भक्ति-हीन अशोभित होता है, यथा—"भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥" (आ० दो० ३४)।

(३) 'नित नूतन मंगल...' जैसे छठी, बरही, नामकरण आदि।

नारद समाचार सब पाये। कौतुक ही गिरिगेह सिधाये॥५॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसन दीन्हा॥६॥
नारि-सहित मुनिपद सिर नावा। चरनसलिल सब भवन सिंचावा॥७॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनिचरना॥८॥

अर्थ—नारदजी ने (उमा-अवतार के) सब समाचार पाये, तब वे मनोविनोद के लिये हिमाचल के घर गये॥५॥ पर्वतराज हिमालय ने उनका बड़ा आदर किया, चरण धोकर उत्तम आसन बैठने को दिया॥६॥ फिर स्त्री के साथ मुनि के चरणों में प्रणाम किया, और उनके चरणोदक से सारा घर सिंचाया (छिड़कवाया कि पवित्र हो)॥७॥ (मुनि के शुभागमन पर) गिरिराज ने अपना बहुत सौभाग्य कहा और कन्या (पार्वती) को बुलाकर मुनि के चरणों पर डाल दिया (प्रणाम कराया)॥८॥

विशेष—(१) 'नारद समाचार ..' ऊपर कहा है कि ब्रह्मादिक उमाजी का यश गाते थे। उन्हीं से नारदजी को भी समाचार मिला। 'कौतुकही' क्योंकि नारदजी कौतुक-प्रिय हैं। यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" (दो० १२६)। 'गिरिगेह'—क्योंकि नारदजी सर्वत्र जा सकते हैं और इनसे कहीं कोई परदा नहीं करता। यथा—"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।" (दो० ६६) तथा—"नारद को परदा न नारदसों पारिखो।" (क० बा० १६)। कौतुकी को आलस्य नहीं। अतः, 'सिधाये' कहा है।

(२) 'सैलराज बड़ आदर...' बड़े आदर का ही वर्णन आगे है—परात में चरण धोना, चरणोदक लेना, चरणामृत से घर पवित्र करना, सुन्दर आसन देना और आगमन के सम्बन्ध से अपना भाग्य सराहना—इत्यादि बड़ा आदर है। कहा भी है—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४), "जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥" (सुं० दो० ६)। "बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२।) 'मेली'—डाल दिया, यथा—"पद-सरोज मेले दोउ भाई।" (दो० २६८)।

दोहा—त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष-गुन, मुनिबर हृदय बिचारि॥६६॥

अर्थ—हिमालय ने नारदजी से कहा कि आप तीनों कालों के जाननेवाले एवं सब विद्याओं के भी ज्ञाता हैं, और सब जगह आपकी पहुँच है। अतः, हे मुनिवर! अपने हृदय में विचार कर इस कन्या के दोष-गुण बतलाइये।

विशेष—'त्रिकालज्ञ'—आप तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान के जाननेवाले हैं। अतः, तीनों कहिये! श्रीनारदजी ने तीनों कहा भी है—"सुता तुम्हारि सकल गुनखानी। "सब लच्छन संपन्न कुमारी।"—यह वर्तमान; "होइहि संतत पियहि पियारी"।···से—"परी हस्त असि रेख॥" (दो० ६७) तक भविष्य कहा और भूतकाल के कथन में अभी ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा, तब दंपती को वात्सल्य का सुख न होगा। इसलिये इसे आगे—"पूरव कथा-प्रसंग सुनावा।···"से—"गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया॥" (दो० ६७) तक के प्रसंग से कहेंगे।

'सर्वज्ञ'—आप सामुद्रिक शास्त्र भी जानते हैं। अतः, हाथ देखकर इसके गुण-दोष कहिये। 'गति सर्वत्र तुम्हारि'—अतः, इसके योग्य वर भी आप बतलावें, यह अभिप्राय है। श्रीनारदजी आगे गुण-दोषों के साथ-साथ वर भी बतलाते हैं—

कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुनखानी॥१॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥२॥
सब लच्छनसंपन्न कुमारी। होइहि संतत पियहि पियारी॥३॥
सदा अचल येहि कर अहिवाता। येहि ते जस पइहहि पितु माता॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि ने हँसकर गूढ और कोमल वचन कहा कि तुम्हारी कन्या सम्पूर्ण गुणों की खान है॥१॥ यह स्वाभाविक ही सुन्दरी, सुशील और सयानी है। उमा, अम्बिका और भवानी इसके नाम हैं।॥२॥ यह कुमारी सब सुलक्षणों से पूर्ण है, यह निरंतर पति को प्यारी होगी॥३॥ इसका अहिवात (सुहाग) सदा अचल रहेगा। माता-पिता इससे यश पावेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि गूढ'—'बिहँसि'—कौतुकप्रियता के कारण मुनि हँसे; क्योंकि इस वर्णन से आगे बड़े-बड़े कौतुक होंगे। पुनः हिमालय गिरिजा का ऐश्वर्य नहीं जानते और नारदजी जानते हैं। अतः, प्रसन्न हुए।

'गूढ मृदु बानी'—दम्पती के समझने में स्पष्ट अर्थवाले प्रिय कोमल वचन है, पर इनके गूढ़ाशय में उमाजी की स्तुति और ऐश्वर्य भरा है। प्रकट अर्थ अक्षरार्थ में ही है। गूढ़, यथा—"सकल गुनखानी'—सत्, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं, इनसे ये उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं। यथा—"जग-संभव-पालन-लय कारिनि।" (दो० ६७)। उमा अंबिका भवानी।'—उमा अर्थात् 'ओम्' (अ, उ, म्) स्वरूपा हैं। यह वर्तमान का नाम है, इससे स्वयं शोभायुक्ता हैं, क्योंकि ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा हैं। 'अंबिका'—यह मूल प्रकृति की भी संज्ञा है, इससे भूतकाल का नाम जनाया तथा स्वामि कार्त्तिक और गणेश की अम्बा (माता) हैं, इससे पुत्र सम्बन्ध की भी शोभासम्पन्ना हैं। 'भवानी' भव (शिवजी) की पत्नी रूप में होकर भवानी होंगी, यह भविष्य का नाम कहा। यह पति-संबंध की महिमा है।

'संतत पियहि···सदा अचल ..' से शिवजी का नित्य सम्बन्ध जनाया जिससे—"अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥" (दो० ६७) का महत्त्व भी सूचित हुआ। 'जस पइहहि···'—इससे श्रीरामचरित मानस प्रकट होगा, जिससे इसके साथ पिता-माता की भी कीर्त्ति चलेगी, अन्यत्र पिता से संतान की ख्याति होती है, पर यहाँ संतान से ही पिता-माता की बड़ाई है; यथा—"ध्रुव हरि-भगत भयेउ सुत जासू।" (दो० १७१)।

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। येहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं ॥५॥
येहि कर नाम सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असिधारा ॥६॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी ॥७॥

अर्थ—(यह कन्या) समस्त जगत् में पूज्य होगी, इसकी सेवा करने से कुछ भी दुर्लभ न रहेगा। ॥५॥ संसार में स्त्रियाँ इसका नाम स्मरण कर पातिव्रत्य रूपी तलवार की धारा पर चढ़ेंगी ॥६॥ हे गिरिराज ! यह तुम्हारी कन्या सुलक्षणा है। अब जो दो-चार अवगुण हैं, उन्हें भी सुनो ॥७॥

विशेष—(१) 'होइहि पूज्य···' यथा—"पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख॥" "देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहिं सुखारे॥" "सेवत तोहिं सुलभ फल चारी। वरदायिनी पुरारि-पियारी॥" (दो० २३५)।

(२) 'येहि कर नाम सुमिरि···' इसके नाम में ऐसी शक्ति होगी कि वह स्त्रियों को पतिव्रता बनावेगी। पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ होना तलवार की धार पर चढ़ना है। तलवार की धार पर पैर रखना ही कठिन है, उसपर खड़ा रहना तो असंभव-सा है, वैसे पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ रहना अति कठिन है। वह भी इसके नाम के बल पर सुगम हो जावेगा। स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म की दृढ़ता के लिये गौरी-पूजन करती भी हैं।

(३) 'सैल सुलच्छन सुता···'—'सुता तुम्हारी' अर्थात् जबतक तुम्हारी सुता-रूप में तुम्हारे यहाँ है, तबतक तो इसमें सब सुलक्षण ही हैं। हाँ, विवाह के पीछे पति-सम्बन्ध से अवगुण होंगे, (यहाँ पति-पत्नी एक मानकर पति के अवगुण इसमें कहते हैं, वही आगे स्पष्ट कहेंगे) यथा—'जे जे बर के दोष बखाने।' (दो० ६८)।

'दुइ चारी'—यह अल्पतासूचक मुहावरा है। प्रथम 'दुइ' कहकर 'चारी' कहा कि घबरा न जायँ।

(४) प्रथम—'सुता तुम्हारि सकल गुनखानी।' कहकर 'सुलच्छन सुता तुम्हारी।' पर उपसंहार किया। इसमें उमा के ११ ही गुण कहे गये हैं—'सुंदर, सुशील, सयानी, उमा, अंबिका, भवानी, संतत-पियहिं-पियारी, अचल अहिवात, येहितें जसु पैहहिं पितु-माता, होइहि पूज्य, येहि कर नाम सुमिरि···।' क्योंकि रुद्र ११ हैं और ये रुद्राणी हैं।

अगुन अमान मातु-पितु-हीना। उदासीन सब संसय छीना ॥८॥

दोहा—जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल वेख।
अस स्वामी येहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ॥६७॥

अर्थ—गुणहीन, मानहीन, माता-पिता-हीन, उदासीन, सब चिन्ता रहित, योगी, जटाधारी, काम-रहित मनवाला, नंगा और अमंगल (चिता-भस्मधारी) वेषवाला—ऐसा स्वामी (वर) इसको मिलेगा। इसके हाथ में ऐसी ही रेखा पड़ी है ॥८-६७॥

विशेष—उपर्युक्त दोष-परक प्रकट अर्थ है और इनके गूढ़ार्थ में नारद का हार्दिक अभिप्राय है—

	प्रकट अर्थ	गूढ़ार्थ
अगुन—	एक भी गुण नहीं है	गुणातीत हैं, सत्वादि गुणों से परे हैं।
अमान—	स्वात्माभिमानरहित एवं अप्रतिष्ठित	अभिमान-जित् = निरभिमान
मातु-पितु-हीना—	शिवजी के माँ-बाप का पता नहीं	स्वयंभू = अजन्मा हैं।
उदासीन—	रुक्ष स्वभाव एवं घर-बार-हीन	जीवमात्र पर शत्रु-मित्र भावरहित, निर्लेप।
सब संसय छीना—	घर-द्वार तथा खाने-पीने की चिन्ता नहीं	औरों के भी संशय छुड़ानेवाले हैं, स्वयं तो जगद्गुरु हैं ही।
जोगी—	जोगड़ा = भीख माँगनेवाला	परमात्मा में नित्य योगनिष्ठ एवं सिद्ध हैं।
जटिल—	बड़ी भारी जटावाला (भयानक)	चिरकालीन तपस्वी हैं।
अकाम-मन—	नपुंसक (कन्या पति-सुख से वंचित रहेगी)	कामजित् एवं पूर्णकाम हैं।
नगन—	निर्लज्ज एवं एकाकी रहनेवाला	माया के आवरणरूपी वस्त्र-रहित हैं एवं दिगंबर हैं।
अमंगल बेष—	'ब्याल-कपाल-बिभूषन छारा' = अशुभ	अ + मंगल = अतिशय मंगल। 'अ' अतिशयार्थबोधक भी है। यथा—'बुंद अघात सहैं ···।'

सुनि मुनिगिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी ॥१॥
नारदहूँ यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना ॥२॥
सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना ॥३॥
होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचन हृदय धरि राखा ॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि के वचन सुनकर और जी में सत्य जानकर दंपती (हिमाचल और मैना) को दुःख हुआ और श्रीपार्वतीजी हर्षित हुईं ॥१॥ श्रीनारदजी ने भी यह भेद नहीं जाना, क्योंकि दशा तो सबकी एक-सी थी, पर समझ भिन्न-भिन्न थी ॥२॥ सब सखियाँ, पार्वतीजी, हिमाचल और मैनाजी—इन सभी के शरीर पुलकपूर्ण हैं, और सबके नेत्रों में आँसू भरे हैं ॥३॥ देवर्षि नारदजी के वचन मिथ्या नहीं हो सकते, (अतः) उमा ने उन वचनों को हृदय में धारण कर लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि गिरा सत्य '—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी।' पर है। इसी अर्द्धाली का स्पष्टीकरण आगे की छः अर्द्धालियों में है।

(२) 'नारदहूँ यह भेद न ···'—श्रीनारदजी के वचन अमिट हैं। इससे अवगुणों को सुनकर दंपती और सखीगण दुःखित हुईं और श्रीपार्वतीजी ईश्वरी हैं, इन्हें वचनों का गूढ़ाशय समझ पड़ा। अतः शिवजी की प्राप्ति के सम्बन्ध से हर्ष हुआ, परन्तु पुलक और नेत्रों में आँसू आदि की दशा आपाततः एक-सी दीखती है। श्रीनारदजी ने इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया, लोकरीति के अनुसार यही समझा कि माँ, बाप एवं परिजनों का दुःख देखकर पार्वतीजी भी दुःखित हो गई हैं, जैसे श्रीसीतारामजी को दुःखित समझकर निषादराज को दुःख हुआ है। यथा—"सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस

हृदय विषादू ॥ तन पुलकित जल लोचन बहई ।" (अ० दो० ८१)। श्रीनारदजी की सर्वज्ञता ईश्वर के ध्यान पर निर्भर है, क्योंकि जीव हैं। जीव ईश्वर के ध्यानद्वारा ही सर्वत्र की बातें जान सकता है। यथा—"तव संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (दो० ५५)।

विशेष दृष्टि देने पर हर्ष और दुःख की पुलकावली एवं आँसुओं का भेद भी दिखाया जाता है। जैसे—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन। कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥" (दो० २२८)। यहाँ सखियों ने हर्ष के पुलक एवं आँसू जान लिये। हर्ष में आँसू शीतल और पुलक उमंग से खिले हुए शरीर को प्रकट करता है। दुःख में आँसू गर्म और पुलक में शरीर के चर्म सिकुड़े रहते हैं, इत्यादि। अगली ४, ५, ६ अर्द्धालियों में पार्वतीजी के हर्ष का कारण कहते हैं—

उपजेउ सिव-पद-कमल-सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू ॥५॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी - उछँग बैठि पुनि जाई ॥६॥
झूठि न होइ देवरिषि-बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी ॥७॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिय उपाऊ ॥८॥

अर्थ—शिवजी के चरण-कमलों में स्नेह उपज पड़ा, पर मिलना कठिन है, यह जानकर हृदय में संदेह हुआ ॥५॥ फिर उमाजी अनवसर जानकर प्रीति को छिपा सखी की गोद में जा बैठीं ॥ ६ ॥ देवर्षि की वाणी झूठी नहीं होती; अतएव स्त्री-पुरुष (हिमाचल और मैना) और सयानी सखियाँ सोचती हैं ॥७॥ हृदय में धैर्य धारण करके हिमाचल राज बोले कि हे नाथ ! कहिये, क्या उपाय किया जाय ? ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजेउ सिव-पद··' उमाजी ने नारदजी के गूढ़ाशय को जाना, शिवजी ही मुझे मिलेंगे; इसपर प्रेम उमड़ पड़ा, रोमांच एवं पुलकावली हुई।

(२) 'जानि कुअवसर···'—ऋषि त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ हैं। मेरे हार्दिक प्रेम को न जान जायँ और माँ, बाप एवं सखियों के समक्ष भी पति विषयक प्रेम एवं दुःख भी छिपाना ही चाहिये। फिर कर्त्तव्य कर्म करूँगी ही।

(३) 'झूठ न होइ···' सामान्य देवता भी झूठ नहीं बोलते और ये तो देवर्षि हैं। अतः, कभी झूठ नहीं बोल सकते। दंपती और सयानी सखियाँ सोचती हैं कि ऐसी सुलक्षणा कन्या को ऐसा बुरा वर मिलेगा ! क्या करें ?

(४) 'उर धरि धीर···'—राजा प्रथम अधीर हो गये थे, अब धीर धरा। सामान्य गिरि भी गंभीर होते हैं। ये तो गिरिराज हैं, फिर क्यों न धैर्य धारण करें ?

दोहा—कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार ॥६८॥

अर्थ—मुनीश्वर (नारदजी) बोले कि हे हिमाचल ! सुनो, ब्रह्माजी ने जो ललाट पर लिख दिया है, उसे मिटानेवाला देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं है।

विशेष—यहाँ देवता से देवलोक, दैत्य, और नाग से पाताल, और नर तथा मुनि से मर्त्य लोक-वासी कहे गये हैं। 'नाग' अर्थात् अष्टकुल नाग—ये हरि के द्वारपाल हैं। यथा—"तेषां प्रधानभूतास्ते शेषवासुकितक्षकाः॥ शंखः श्वेतो महापद्मः कम्बलाश्च तरौ तथा। इलापत्रस्तथा नागः कर्कोटकधनञ्जयौ॥" (विष्णुपुराण अंश १ अ० २१)। इसमें नागों के नाम कहे गये हैं।

ऊपर—'परी हस्त असिरेख।' कहा था, उसी को यहाँ—'विधि लिखा लिलार' कहा गया है। इसी को 'भावी' भी कहते हैं अर्थात् जीव के कर्मानुसार हस्तरेखा और ललाट के अंक ब्रह्मा बनाते हैं। यथा—"विधि के लिखे अंक निज भाला।" (लं० दो० २८) इत्यादि।

तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जों दैव सहाई॥१॥
जस घर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं॥२॥
जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥३॥
जौं बिबाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई॥४॥

अर्थ—तो भी मैं एक उपाय कहता हूँ। जो दैव सहाय करे तो कार्य सिद्ध होगा॥१॥ जैसे वर का मैंने तुमसे वर्णन किया है, वैसा ही उमा को मिलेगा, इसमें संदेह नहीं॥२॥ वर के जो-जो दोष मैंने कहे हैं, वे सब मेरे अनुमान से शिवजी में हैं॥३॥ यदि शिवजी के साथ विवाह हो तो दोषों को भी सब लोग गुणों के समान ही कहेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'तदपि एक···' अर्थात् दैव (ईश्वर) की सहायता से भावी भी मिट सकती है। अतः, कर्त्तव्य के साथ दैव का भरोसा भी चाहिये।

(२) 'दोषउ गुन सम···' अन्य लोगों में ये दोष हैं, पर शिवजी में गुणों ही के सदृश हैं, इसी के लिये आगे प्रमाण देते हैं। 'सब कोई' अर्थात् यह प्रसिद्ध बात है—कुछ अकेला मैं ही नहीं कहता।

जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर दोष न धरहीं॥५॥
भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥७॥
समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥८॥

अर्थ—जो हरि (क्षीरशायी भगवान्) शेष-शय्या पर शयन करते हैं, तो पंडित लोग उनको कुछ दोष नहीं लगाते॥५॥ सूर्य और अग्नि सर्व-प्रकार के रस खींचते हैं, किन्तु उनको कोई बुरा नहीं कहता॥६॥ गंगाजी के जल में शुभ और अशुभ सब पदार्थ बहते हैं, पर उन्हें कोई अपवित्र नहीं कहता॥७॥ अतः जैसे गोस्वामी (हरि), सूर्य, अग्नि और गंगाजी को दोष नहीं लगता, वैसे ही किसी भी समर्थ को दोष नहीं लगता॥८॥

विशेष—'समरथ कहुँ...' यहाँ प्रथम हरि का उदाहरण दिया, फिर उनके अंगों का, क्योंकि सूर्य हरि भगवान् के नेत्र, अग्नि मुख और गंगाजी चरणोदक हैं। भगवान् स्वयं समर्थ हैं और सूर्य आदि तीनों उनके अंग होने से समर्थ हैं, वैसे ही शिवजी भी भगवान् के अहंकारस्वरूप हैं। यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज,..." (लं० दो० १५); अतः, समर्थ हैं। समर्थ के संयोग से दूषण भी भूषण हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत के 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' में केवल अग्नि ही का दृष्टान्त है।

'गोसाईं' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियों के स्वामी' (हृषीकेश) 'हरि' ही यहाँ उपयुक्त है, क्योंकि ऊपर चार समर्थ क्रमशः कहे गये, उन्हीं को यहाँ उसी क्रम से एकत्र किया है। अन्यथा हिमाचल के लिये सम्बोधन मानना नारदजी की ओर से उतना संगत नहीं है। यहाँ 'समरथ' उपमेय, 'गोसाईं, रवि, पावक, सुरसरि' उपमान, 'नाईं' वाचक और 'नहिं दोष' धर्म है, अतः, पूर्णोपमा है।

दोहा—जौं असि हिसिषा करहिं नर, जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान ॥६९॥

शब्दार्थ—हिसिषा = ईर्ष्या = स्पर्धा = तुल्य भावना। जीव = मनुष्य, क्योंकि इसी अर्थ में पूर्वार्द्ध में नर शब्द है। ईस = शिवजी, यथा—"भयेउ ईस मन छोभ बिसेषी।" (दो० ८६); यहाँ 'जीव' चराचर जीव के अर्थ में नहीं है, क्योंकि 'विवेक-अभिमान' मनुष्य को ही हो सकता है और 'ईस' भी परमेश्वर के अर्थ में नहीं है, प्रसंगानुसार शिवजी के लिये है।

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य अपने ज्ञान के अभिमान से ऐसी बराबरी (स्पर्धा) करते हैं (वा करें) (कि मनुष्य शिवजी के तुल्य हैं, अर्थात् मैं भी तो ज्ञानी हूँ। अतः, शिवजी के तुल्य हूँ), वे कल्प-भर नरक में पड़ते हैं (वा पड़ें)। मनुष्य क्या शिवजी के तुल्य हो सकता है ?

विशेष—'जीव कि ईस समान'—शिवजी और मनुष्य के अंतर को आगे दृष्टान्त से दिखाते हैं—

सुरसरि-जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ॥१॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे ॥२॥

अर्थ—गंगाजी के किये हुए (छाड़न) जल को मदिरा जानकर कभी संत लोग उसे नहीं पीते हैं ॥१॥ और जो जल गंगाजी में मिला हुआ है वह जैसे पावन है, वैसे समर्थ (शिवजी) और असमर्थ (मनुष्य) में अंतर है ॥२॥

विशेष—यहाँ के प्रसंग के अनुरोध से 'सुरसरि जल कृत' है का अर्थ अवरेब से होगा। जैसे—"राम-कथा कलिबिटप-कुठारी।" में 'कुठारी' को राम-कथा के साथ लगाया जाता है, वैसे ही 'कृत' को 'सुरसरि' के साथ लगाना चाहिये। 'सो पावन' की जगह 'सुपावन' भी पाठांतर है।

गंगाजी का छाड़न जल गंगा 'कृत' है, क्योंकि वह न तो मेघ 'कृत' है और न मनुष्य 'कृत'। इस जल को 'गंगोफ' (गंगोद) कहते हैं। यथा—"तुलसी रामहिं परिहरे, निपट हानि सुनु ओफ। सुरसरि-गत सोई सलिल, सुरा-सरिस गंगोफ॥" (दोहावली १८)। तदनुसार ही अन्यत्र भी कहा

है—"गंगायाः निस्सृतं तोयं पुनर्गंगां न गच्छति। तत्तोयं मदिरातुल्यं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥" अर्थात् जो स्रोत गंगाजी से निकलकर फिर गंगाजी के धार-सम्बन्ध से भिन्न हो जाता है, वही छाड़न (गंगोभ्क) कहाता है, वह मदिरा-तुल्य हो जाता है। दूसरा वह स्रोत है जो गंगाजी से निकला हुआ पृथक् तो है, पर उसका सम्बन्ध गंगाजी की धार से है अर्थात् वह धारा में मिला हुआ है। अतः, पावन है।

यहाँ गंगाजी के तुल्य परब्रह्म परमात्मा हैं, मिले हुए स्रोतों के जल की तरह पूर्णब्रह्म के अंगभूत समर्थ शिवजी हैं और छाड़न जल की तरह अनीश (मनुष्य) हैं। जैसे गंगाजी में मिला हुआ जल और छाड़न जल तत्त्वतः एक हैं, वैसे शिवजी और मनुष्य तत्त्वतः जीव ही है, पर शिवजी नित्य परमात्मा से मिले हुए हैं। अतः, समर्थ एवं पावन हैं। मनुष्य अपनेको परमात्मा से पृथक् सत्ता मानने तथा मायावश परिच्छिन्न (परिमित रूप से भिन्न) होने से असमर्थ एवं अपावन हैं। अतः, तुल्य नहीं हो सकते।

यहाँ उपमा की वर्तमान व्यवस्था से ही प्रयोजन है कि एक वह जल जो मिला हुआ है और दूसरा वह जो भिन्न है। शिवजी प्रथम ही से परमात्मा में मिले हुए हैं, छूटकर नहीं मिले, क्योंकि इन्हें 'संभु सहज समरथ भगवाना।' आगे कहा है; अर्थात् ये 'सह-ज'=जन्म के साथ ही से समर्थ आदि हैं। इससे पावन हैं, छाड़न जल भी कभी वर्षा के संबंध से धारा में मिल जाय तो पावन है, पर उपमा में इसका प्रयोजन नहीं है।

'जाना' शब्द भी शास्त्र-दृष्टि से जानने के अर्थ में है। यदि कहा जाय कि 'गंगाजल की बनी हुई मदिरा' अर्थ क्यों न करें; तो यह 'जाना' शब्द व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि वह तो गंगाजल से बनी ही है, मदिरा है ही। पुनः 'जैसे तैसे' शब्द प्रत्यक्ष होनेवाली बातों में आते हैं, गंगाजल की मदिरा बनाना और गंगा में उसे छोड़ना—आदि का बर्ताव कहीं नहीं देखा जाता। 'संत'—संत ही गंगोभ्क को मदिरातुल्य मानते हैं, और लोग प्रायः ग्रहण ही करते हैं और मदिरा का ग्रहण तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी प्रायः नहीं करते, इत्यादि कारणों से उपर्युक्त अर्थ-संगत है।

उत्तरकांड दो० १११ के 'जीव कि ईस समान' का भाव यहाँ नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वहाँ 'ईस' शब्द परमात्मा के अर्थ में है और यहाँ 'शिवजी' के अर्थ में। "तब संकर देखेउ धरि ध्याना।" (दो० ५५) से शिवजी का जीवत्व सिद्ध है।

संभु सहज समरथ भगवाना। येहि बिबाह सब बिधि कल्याना ॥३॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोप पुनि किये कलेसू ॥४॥
जौं तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥५॥

शब्दार्थ—आसुतोप=शीघ्र संतुष्ट होनेवाले। दुराराध्य=कठिनाई से सेवा करने योग्य।

अर्थ—शिवजी स्वाभाविक ही समर्थ एवं भगवान् हैं। अतः, इस विवाह से सब प्रकार का कल्याण ही है ॥३॥ परन्तु महादेवजी दुराराध्य हैं; फिर भी (साधन) क्लेश करने से शीघ्र संतुष्ट होनेवाले हैं ॥४॥ यदि तुम्हारी कन्या तप करे तो त्रिपुरारि (शिवजी) भावी भी मिटा सकते हैं ॥५॥

विशेष—कल्याण के सम्बन्ध में 'शंभु' (कल्याणकर्त्ता) नाम सुसंगत है, वैसे ही 'दुराराध्य' और 'आसुतोप' के सम्बन्ध में महेश (महान्-ईश=परम समर्थ) नाम है कि उनमें दोनों विपर्यय (विरुद्धभाव) सिद्ध हैं। पुनः भावी मेटने में 'त्रिपुरारी' शब्द बड़ा चोखा है, जैसे त्रिपुर को कोई देवता न जीत सका तो शिवजी ने जीता, वैसे जिस भावी को सुर-नर-नाग-मुनि—इनमें कोई नहीं मिटा सकता, उसे वे मिटा देंगे।

भावी मेटना इसलिये है कि यदि उक्त लक्षणों से शिवजी ही पति होंगे तब मिलेंगे ही। यदि और कोई वर होगा तो उस भावी को मिटाकर स्वयं इसे वरण करेंगे।

जद्यपि वर अनेक जग माहीं। येहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ॥६॥
वरदायक प्रनतारति-भंजन। कृपासिंधु सेवक-मन-रंजन ॥७॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे ॥८॥

अर्थ—यद्यपि संसार में अनेक वर हैं, तथापि इसके लिये शिवजी को छोड़कर दूसरा (वर) नहीं है ॥६॥ शिवजी वर देनेवाले, शरणागत का दुःख मिटानेवाले, कृपा के समुद्र और अपने सेवक के मन को प्रसन्न करनेवाले हैं ॥७॥ विना शिवजी की उपासना किये योग-जप के करोड़ों साधन करने पर भी मनोभिलषित फल नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'जद्यपि वर'''—इसका चरितार्थ आगे दो० ८० में है। वहाँ सप्तर्षियों के बहुत प्रलोभन देने पर भी गिरिजाजी ने शिवजी में ही अटल निष्ठा दिखाई है। यथा—"महादेव अवगुनभवन" से—"वरउँ संभु नत रहउँ कुमारी॥" तक।

(२) 'सेवक-मन-रंजन' एवं 'इच्छित फल ' सेवक को प्रसन्न करने एवं उसकी इच्छा-पूर्ति में आप सहसा 'एवमस्तु' कह ही देते हैं, चाहे उसका परिणाम उलटे अपने ही सिर क्यों न पड़े! जैसे भस्मासुर ने आपसे वर पाकर फिर आप ही को भस्म करना चाहा था।

दोहा—अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस।
होइहि यह कल्यान अब, संसय तजहु गिरीस ॥७०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीनारदजी ने हरि (क्लेशहर्त्ता=भगवान्) का स्मरण करके पार्वतीजी को आशीर्वाद दिया कि अब इसका कल्याण होगा। हे गिरिराज! तुम संदेह छोड़ दो।

विशेष—'सुमिरि हरि'—क्योंकि देवता और मुनि लोग जिस किसी को वर एवं आशीष देते हैं, उसकी पूर्ति भगवान् ही करते हैं। गिरिजा के दुःख-हरण में 'हरि' शब्द संगत है। 'दीन्हि असीस'—प्रथम मुनि आये, तब—'सुता बोलि मेली मुनि-चरना।' कहा है, पर वहाँ आशीर्वाद नहीं लिखा और यहाँ आशीर्वाद लिखते हैं, पर प्रणाम नहीं। अतः, दोनों जगह दोनों बातें लगा लेनी चाहिये। जैसे दो० २०८ में पिता का आशीष देना और माता के यहाँ प्रणाम कहा गया है पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं। यहाँ प्रथम गिरि की भक्ति दिखाने में प्रणाम कराना लिखा, पीछे नारद की प्रीति प्रकट करने में आशीर्वाद लिखना उपयुक्त है।

कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गयेऊ। आगिल चरित सुनहु जस भयेऊ ॥१॥
पतिहि एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे मुनिबैना ॥२॥

जौं घर बर कुल होइ अनूपा। करिय बिबाह सुता-अनुरूपा ॥३॥
न त कन्या बरु रहउ कुआरी। कंत उमा मम प्रान-पियारी ॥४॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) ऐसा कहकर नारद मुनि ब्रह्मलोक को गये, आगे जैसा चरित हुआ, वह सुनो ॥ १ ॥ पति को एकान्त में पाकर मैनाजी ने कहा कि हे नाथ ! मैंने मुनि के वचनों को नहीं समझा ॥२॥ जो घर, वर (दुलहा) और कुल कन्या के योग्य अनुपम हों तो विवाह कीजिये ॥३॥ नहीं तो चाहे कन्या कुँआरी ही पड़ी रहे, (पर अयोग्य से ब्याह न कीजिये) क्योंकि हे नाथ ! उमा मुझे प्राणों से भी प्यारी है ॥४॥

विशेष—'न मैं समुझे'''—क्योंकि मैनाजी वर के दोष सुनकर विह्वल हो गई थीं, इसी से समझने में संदेह है। अब यथार्थ समझना चाहती हैं, अथवा इस रीति से प्रसंग छेड़कर अपना मनोरथ कहना चाहती हैं। 'मैना'—शिवपुराण के अनुसार ये पितरों की मानसी कन्या थीं जो हिमाचल से ब्याही गई थीं।

'घर बर कुल'—कन्या के ब्याह में वर के कुल-विचार में पिता की इच्छा, घर (भोजन-वस्त्र एवं परिवार उत्तम होने) के विचार में माता की इच्छा और वर के विषय में कन्या की इच्छा प्रधान रहती है। यथा—"कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता कुलम्। बान्धवा मानमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥" यह प्रसिद्ध है। यहाँ 'घर' प्रथम कहा गया है, क्योंकि मैना का कथन है, वे अपनी इच्छा आगे रखती हैं। 'न त कन्या''' यथा—"काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। नचैवैनां प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हिचित्॥" (मनु०)

जौं न मिलिहि बर गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहहिं सब लोगू ॥५॥
सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥६॥
अस कहि परी चरन धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥७॥
बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥८॥

दोहा—प्रिया सोच परिहरहु अब, सुमिरहु श्रीभगवान।
पारबतिहि निरमयेउ जेहिं, सोइ करिहि कल्यान ॥७१॥

अर्थ—जो गिरिजा के योग्य वर न होगा तो सब लोग यही कहेंगे कि गिरि (पहाड़) स्वाभाविक जड़ हैं (तभी तो ऐसा अयोग्य वर ढूँढ़ा) ॥५॥ हे पति ! यही विचारकर विवाह करियेगा, जिससे फिर हृदय में जलन न हो ॥६॥ ऐसा कहकर मैनाजी चरणों में सिर रखकर पड़ गईं, तब हिमाचल स्नेह-सहित बोले ॥७॥ चाहे चन्द्रमा में अग्नि प्रकट हो, परन्तु नारदजी के वचन अन्य प्रकार नहीं हो सकते ॥८॥ हे प्रिये ! सब शोच छोड़कर श्रीभगवान् का स्मरण करो, जिन्होंने पार्वती का निर्माण किया है, वे ही इसके कल्याण (के विधान) भी करेंगे ॥७१॥

विशेष—'अस कहि परी'''—इस परिपूर्ण करुणा-सहित प्रार्थना पर गिरिराज को दया आ गई। अतः, स्नेहपूर्वक आश्वासन करने लगे।

'यह पावक...'—चन्द्रमा हिमकर है, वह हिमालय पर हिम बरसाता ही रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसमें अग्नि का प्रकट होना असंभव है। वैसे नारद के वचनों का विपर्यय (उलटा) होना भी असंभव है। चन्द्रमा देवता और नारद देवर्षि हैं। चन्द्रमा भगवान् के मन से पैदा हुआ है और नारदजी भी ब्रह्मारूप भगवान् के मानस पुत्र हैं। अतः, उपमा में देश एवं वस्तु की पूर्ण संगति है।

'श्रीभगवान'—क्योंकि योग्य-विधान में उनकी शोभा है। अत, पार्वती के अनुरूप ही विधान करेंगे।

अब जौ तुम्हहिं सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू ॥१॥
करइ सो तप जेहि मिलहिं महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू ॥२॥
नारद-बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू ॥३॥
अस बिचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहि भाँति संकरु अकलंका ॥४॥

अर्थ—अब जो कन्या पर तुम्हारा स्नेह है, तो अभी जाकर उसे ऐसी शिक्षा दो ॥१॥ जिससे वह ऐसा तप करे कि महादेवजी मिलें, (क्योंकि) और उपायों से क्लेश नहीं मिटेगा ॥२॥ श्रीनारदजी के वचन गर्भित (गूढ़ आशययुक्त) और हेतु (कारण) युक्त हैं। शिवजी सुन्दर और सब गुणों के निधान हैं ॥३॥ ऐसा विचार कर तुम व्यर्थ शंका छोड़ दो। शिवजी सभी प्रकार कलंक-रहित हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'अब जो...'—अभी अवसर है, मुनि के वचनों का प्रभाव सब पर है। अतः, तपसंबंधी शिक्षा शीघ्र प्रभाव डालेगी। ऊपर दोहे में भगवान् का भरोसा कहा, अब उपाय भी कहते हैं, क्योंकि ऊपर दो० ६८ चौ० १ में ऐसा ही कहा है।

(२) 'सो तप'—पूर्व—'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' कहा गया है, उसके अनुसार कठिन तप करे, जिससे इस बालिका के कष्ट पर शिवजी शीघ्र प्रसन्न हों।

(३) 'नारद-बचन सगर्भ सहेतू।'—श्रीनारदजी के वचनों में गूढ़ाशय है। जैसे गर्भ में बालक रहता है, पर दिखाई नहीं देता, वैसे उनके वचनों में अवगुणों के अंतर्गत गुण भरे हैं। कुरूपता वर्णन में सुन्दरता गर्भित है, यही उत्तरार्द्ध में—'सुंदर सब...' से प्रकट है। 'सहेतू'—हेतुयुक्त है, उपाय सिद्ध होने के विचार से वैसे वाक्य प्रबंध से कहे गये हैं। शिवजी के सम्बंध से कन्या भवानी होकर जगत् में पूजी जायगी और हमारी भी महिमा बढ़ेगी, इत्यादि।

(४) 'असंका' (आशंका) = अनिष्ट की भावना, यथ (अ = नहीं, शंका) बिना शंका की शंका।

सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं ॥५॥
उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। सहित सनेह गोद बैठारी ॥६॥
बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई ॥७॥
जगतमातु सर्बग्य भवानी। मातु-सुखद बोलीं मृदुबानी ॥८॥

दोहा—सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सुविप्रवर, अस उपदेसेउ मोहि ॥७२॥

अर्थ—पति के वचन सुन मन में प्रसन्न हो तुरन्त उठकर मैनाजी पार्वतीजी के पास गईं ॥५॥ उमा को देखकर आँखों मे आँसू भर लिये और स्नेहपूर्वक गोद में बैठा लिया॥६॥ बारंबार उनको हृदय में लगा लेती हैं, कंठ गद्‌गद हो गया, कुछ कहा नहीं जाता ॥७॥ जगन्माता, सर्वज्ञ, भवानी माता को सुख देनेवाली कोमल वाणी बोलीं ॥८॥ हे माता ! सुनिये, मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, वह तुम्हें सुनाती हूँ कि एक सुंदर, गौर वर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है ॥७२॥

विशेष—यहाँ मैनाजी का मन, वचन और कर्म से स्नेह प्रकट हुआ, यथा—'हरषि मन माहीं'—मन, 'लेति उर लाई'—कर्म, 'न कछु कहि जाई'—वचन, एवं उमा के लिये पति से प्रार्थना भी वचन-स्नेह है।

'न कछु कहि जाई'—बहुत कुछ कहने आईं, परन्तु राजकन्या की अति सुकुमारता पर मुग्ध हो गईं। प्रेम के कारण कंठावरोध हो गया—गला रुँध गया। तप की शिक्षा के लिये चलने में मन में हर्ष हुआ था, यह तप सिद्ध होने का उत्तम शकुन है।

'जगतमातु सर्वज्ञ भवानी'—माता के समक्ष विवाह-सम्बन्ध की बातें करना अयोग्य है। अतः, कहा कि ये सामान्य कन्या नहीं हैं, प्रत्युत जगत् की माता हैं। 'सर्वज्ञ' हैं, क्योंकि माता के मन की जान गईं, उनके अनुकूल ही कहेंगी। 'भवानी'—क्योंकि भव (शिव) का सम्बन्ध चाहती हैं, अथवा ये तो नित्य शिवजी की पत्नी हैं—'गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया।' (दो॰ ६८)। कोई नया संबंध नहीं चाहतीं कि जिसकी चर्चा माता के सामने अयोग्य हो।

करहि जाइ तप सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी ॥१॥
मातु-पितहिं पुनि यह मत भावा। तप सुखप्रद दुख दोष नसावा ॥२॥
तपबल रचइ प्रपंच बिधाता। तपबल बिष्णु सकल-जग-त्राता ॥३॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तपबल सेष धरइ महिभारा ॥४॥
तप-अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तप अस जिय जानी ॥५॥

अर्थ—(कि) हे शैलकुमारी ! श्रीनारदजी का कहा सत्य समझकर और जाकर तप करो ॥१॥ (यदि संशय हो कि माता-पिता की आज्ञा हो या न हो, उसपर कहते हैं कि) माता-पिता को भी यह मत अभीष्ट है, कि तप सुख देनेवाला और दुःख-दोष को नष्ट करनेवाला है ॥२॥ (देखो) तप के बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और विष्णु सब जगत् की सम्यक् रक्षा (पालन) एवं शिवजी संहार करते हैं। तप ही के बल से शेषजी पृथिवी का भार धारण करते हैं ॥३-४॥ (कहाँ तक कहूँ) हे भवानी ! तप ही के आधार पर सब सृष्टि है, ऐसा जी में जानो और जाकर तप करो ॥५॥

विशेष—'करहि जाइ'—घर में रहते हुए तप न हो सकेगा, क्योंकि संसर्ग रहते हुए विषयों से वैराग्य नहीं होता। यथा "होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।" (दो॰ १४१)।

'सैलकुमारी'—भाव यह कि धैर्य धारण करो। यथा—"धैर्येण हिमवानिव" (मूलरामायण)।

'दुख दोष'—वर के दोष और तत्सम्बन्धी दुःख अर्थात् कार्य-कारण दोनों नष्ट होंगे।

'भवानी'—शिवजी का सम्बन्ध स्वप्न में विप्रमुख से प्राप्त हो चुका, अतः, सिद्धि निश्चय है।

'तप-अधार सब सृष्टि ......' यथा—"जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुर्लभ कछु नाहीं॥" से—"तप ते अगम न कछु संसारा॥" (दो० १६१) तक।

सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनायेउ गिरिहि हँकारी॥६॥
मातु पितहिं बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप-हित हरषाई॥७॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भये बिकल मुख आव न बाता॥८॥

दोहा—बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहि कहा समुझाइ।
पारवती-महिमा सुनत, रहे प्रबोधहिं पाइ॥७३॥

अर्थ—(उमा का यह) वचन सुनकर माता को आश्चर्य हुआ। इन्होंने गिरिराज को बुलाकर स्वप्न सुनाया॥६॥ माता-पिता को बहुत प्रकार समझाकर तप के लिये उमा हर्षित होकर चल दीं॥७॥ प्यारे कुटुंबी, पिता और माता व्याकुल हो गये, (यहाँ तक कि) उनके मुख से वचन नहीं निकलता॥८॥ तब वेदशिरा मुनि ने आकर सबको समझाकर कहा। पार्वतीजी की महिमा सुनकर सब को प्रबोध हुआ, तब वे लोग रहे—रुके॥७३॥

विशेष—'बिसमित'—क्योंकि जिस लिये आई, वह स्वप्न-द्वारा दैवी-गति से हो गया।

'बहु बिधि समुझाई'—"उमाजी माता से कहती हैं कि श्रीनारदजी के वचन ही स्वप्न में भी सिद्ध हुए। तुम्हारा भी सम्मत स्वप्न में कहा गया, वह भी सत्य ही है, तो शेष वचन भी सत्य ही होंगे। मुझे तप के लिये श्रद्धा एवं उत्साह है। अतः, कष्ट न होगा। ध्रुव आदि तो मुझसे कम अवस्था के थे। हृदय में उत्साह के कारण सिद्धि में भी विश्वास है, इत्यादि।

'बेदसिरा मुनि'—"ये हिमालय पर ही रहते थे। इनका उग्र तप देखकर इन्द्र ने अप्सरा भेजी, पर इनके ऊपर उसके उपाय निष्फल हुए, अंत में वह इनके अंग में लिपट गई। तब इन्होंने शाप दिया कि जल हो जा। फिर उसकी प्रार्थना पर उद्धार किया कि तुममें शालग्राम निवास करेंगे।" (कार्तिकमाहात्म्य)।

'रहे'—ये सब पार्वती के साथ ही चले जाते थे, प्रबोध पाकर लौटे।

उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागीं तप करना॥१॥
अति सुकुमार न तनु तपजोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥२॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मन लागा॥३॥

अर्थ—पार्वतीजी प्राणपति शिवजी के चरणों को हृदय में रख वन में जाकर तप करने लगीं॥१॥ शरीर अत्यन्त सुकुमार है, अतः, तप के योग्य नहीं है। इन्होंने पति के चरणों का स्मरण कर

सब भोग छोड़ दिये ॥२। (शिवजी) के चरणों में नित्य नया अनुराग उपजने लगा, तप में (ऐसा) मन लगा कि देह की सुधि न रही ॥३॥

विशेष—'प्रानपति'—'पति-पद' आदि से उमा की निष्ठा पति-भाव से प्राप्ति के लिये ही है, 'प्रानपतिचरना'—सती-शरीर का त्याग करते समय भी चरण ही का ध्यान था। यथा—"ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।" (भा० स्कं० ४, अ० ५) वही संस्कार इस जन्म में भी बना है। 'पति'=रक्षक, वन में रक्षा के लिये पति-चरणों का ही भरोसा है।

संवत सहस मूल फल खाये। साग खाइ सत बरष गँवाये ॥४॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा ॥५॥
बेलपाति महि परइ सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई ॥६॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भयेउ अपरना ॥७॥

शब्दार्थ—मूल=खाने योग्य मीठी जड़ें, जो पृथ्वी के नीचे होती हैं। फल—पृथ्वी के ऊपर वृक्षों में होते हैं। साग=भरसा, चँवराई आदि पत्ते। बतासा=पवन।

अर्थ—सहस्र वर्षों तक मूल-फल खाये सौ वर्ष शाक खाकर बिताये ॥४॥ कुछ दिन जल और पवन का ही आहार रहा, फिर कुछ दिन कठिन उपवास किया ॥५॥ बेल के जो पत्ते स्वयं सूखकर पृथ्वी पर गिरते थे, तीन सहस्र वर्षों तक उन्हीं को खाया ॥६॥ फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये, तब उमा का नाम 'अपर्णा' हुआ ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वती का शरीर अति सुकुमार था, इसलिये यहाँ क्रमशः भोग छोड़ना हुआ। जैसे प्रथम राज-भोग छोड़ मूल (नीरस) सेवन किया, फिर फल, तब साग, फिर जल और अंत में पवन का आहार किया, फिर दूसरी आवृत्ति का प्रारम्भ बेल-पत्र से किया, इसमें सिद्धि ही हो गई।

आहार घटाने के साथ-साथ क्रमशः तप की निष्ठा अधिक होती गई। श्रीपार्वती-मंगल में भी तप एवं आहार का यही नियम है। यथा—"कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ नाम अपरना भयेउ परन जब परिहरे।" (छ० ४१-४३)। कुमार-संभव में भी 'अपर्णा' नाम की व्युत्पत्ति यही है - 'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः। तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥—(सर्ग ५)

(२) तप-क्रम के भाव—(क) श्रीपार्वतीजी ने यवाकार तपस्या की है। यव का एक सिरा पतला होता है, क्रमशः बीच तक अधिक मुटाई होती है, फिर घटते हुए, दूसरा सिरा प्रथम सिरे की तरह पतला होता है। तप का ऐसा ही क्रम है। प्रथम १००० वर्ष, फिर १०० वर्ष (दशांश घटा, इस नियम से) १० वर्ष जल और पवन का और १ वर्ष कठिन उपवास का हुआ। इस प्रकार ११११ वर्षों का प्रथम पुरश्चरण हुआ। इसमें कोई वरदायक न आया। तब दूसरा पुरश्चरण तिगुना करके प्रारम्भ हुआ, तब ३००० वर्ष बेलपत्र आहार से रहीं, फिर ३०० वर्ष उसे भी त्याग के रहीं, इसपर मनोरथ सिद्धि का वर मिल गया। नहीं तो ३०,३ वर्ष का करके ३३३३ वर्षों का दूसरा पूरा होता। फिर ९९९९ का तीसरा, तब ३३३३ का चौथा, पुनः ११११ का पाँचवाँ पुरश्चरण यवाकृति होकर पूर्ण होता। पाँच आवृत्तियों का भाव यह कि शिवजी पंचमुख हैं।

(ख) रुद्री के क्रम से तपस्या की—प्रथम १०००+१००=११०० वर्षों की एक आवृत्ति हुई, यह १ रुद्री हुई, क्योंकि रुद्र ११ हैं। दूसरी आवृत्ति में संख्या नहीं है। परन्तु इसमें प्रथम के 'मूल-फल'—'साग' की तरह 'बारि-बतासा'—'उपवासा' तीन ही साधन वर्णित हैं। अतः, उसी क्रम से और वही संख्या लेने से जल-पवन १००० और उपवास १०० वर्ष=११०० वर्ष की द्वितीय रुद्री हुई। फिर कठिन नियमों से ३०००+३००=३३०० वर्षों की तीन रुद्री हुईं—सब पाँच रुद्री हुईं।

(ग) जप-यज्ञ की रीति से तप किया है। इसमें जप, तर्पण, मार्जन, विप्र भोजन और दक्षिणा—ये पाँच अंग हैं। यहाँ मूल-फल सहित १००० वर्ष जप-यज्ञ हुआ, इसका दशांश १०० वर्ष साग के सहित तर्पण, इसका दशांश १० वर्ष पवन सहित जल का मार्जन, ३००० वर्ष बेलपत्र का अशन विप्रभोजन और इसके दशांश ३० वर्ष उपवास में दक्षिणा-सहित पञ्चांग पूर्ण यज्ञ हुआ। तीनों में पाँच ही पाँच का भाव उपर्युक्त (क) में लिखा है।

देखि उमहिं तपखीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥८॥

दोहा—भयेउ मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराज-कुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहि त्रिपुरारि ॥७४॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी का शरीर तप से क्षीण देखकर आकाश से गंभीर ब्रह्म-वाणी हुई।८ हे गिरिराजकुमारी! सुन। तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। सब दुःसह (कठिन) क्लेश छोड़ दे। अब शिवजी मिलेंगे ॥७४॥

विशेष—'मिलिहहिं'—स्वयं तुम्हारे यहाँ आकर (सादर) तुम्हें मिलेंगे—यह नहीं कि तुम्हारे पिता वहाँ जाकर दे आवें।

अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी ॥१॥
अब उर धरहु ब्रह्म-बर-बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी ॥२॥
आवइ पिता बुलावन जबही। हठ परिहरि घर जायेहु तबही ॥३॥
मिलहिं तुम्हहिं जब सप्तरिपीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा ॥४॥

अर्थ—हे भवानी! अनेक धीर मुनि और ज्ञानी हो गये हैं, पर ऐसा तप किसी ने नहीं किया ॥१॥ अब सदा सत्य और निरंतर पवित्र श्रेष्ठ जानकर ब्रह्मवाणी का धारण हृदय में करो ॥२॥ जभी तुम्हारे पिता बुलाने आवें, तभी हठ छोड़कर घर चली जाना ॥३॥ जब तुम्हें सप्त ऋषीश्वर मिलें, तब शिवजी की (ओर से भी) प्रमाण बात जानना ॥४॥

विशेष—(१) 'अस तप ...' ऐसी सुकुमार अवस्था में जैसा कठिन तप इन्होंने किया है, वैसा किसी ने नहीं किया। 'भवानी'—ब्रह्म-वाणी ने आश्वासन के लिये अभी से ही भवानी (भव-पत्नी) कहा है। 'सत्य सदा संतत...' सत्य और शुचि के भाव ये हैं कि कहीं-कहीं वचन सत्य होते हुए भी

उसमें वक्ता का वंचनात्मक भाव रहता है, जैसे 'कुंजरो नरो' की प्रसिद्धि है, किन्तु ब्रह्म-वाणी उक्त दोष से रहित और शुचि ही होती है।

(२) 'हठ परिहरि'—का भाव यह है कि प्रथम कई बार पिता के आग्रह करने पर भी घर न गई थीं। अब जाना चाहिये, क्योंकि विवाह वहीं होगा और मनोरथ सिद्धि भी हो ही गई।

(३) 'जानेहु तब प्रमान बागीसा।'—प्रायः 'बागीसा' का अर्थ ब्रह्मवाणी का ही किया जाता है, पर मनु आदि के प्रसंगों में इस प्रकार के प्रमाण की व्यवस्था नहीं देखी जाती, यहाँ भी उसे 'सत्य सदा' कहा ही है। हाँ, शिवजी की स्वीकृति के विषय में उमा को संदेह-निवृत्ति चाहिये, क्योंकि यह उमा की दृष्टि में असंभव सी है। यथा—"चहत बारि पर भींति उठावा।" एवं—"बिनु पंजन हम चहहि उड़ाना।" (दो० ७७); आगे शिवजी इसीलिये सप्तर्षियों को भेजेंगे भी। यथा—"दूरि करेहु संदेहु!" (दो० ७७)। अतः, इसका उपर्युक्त अर्थ (वाक् ईसा = शिवजी का वचन) ही ठीक है।

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी ॥५॥
उमा-चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मवाणी, जो आकाश से कही गई है, उसे सुनकर श्री पार्वतीजी हर्षित हुईं और उनका शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं कि) मैंने सुन्दर उमा-चरित कहा। अब शिवजी के सुहावन चरित सुनो ॥६॥

विशेष—'गिरा बिधि'—यहाँ इसका अर्थ सर्व-विधानकर्ता श्रीरामजी की वाणी लेना योग्य है, क्योंकि आगे शिवजी को समझाने के लिये श्रीरामजी ही प्रकट होंगे।

'उमा-चरित सुंदर ...' यहाँ उपसंहार है। इसका उपक्रम—'जब ते उमा सैलगृह जाईं।' (दो० ६१ चौ० ७) पर हुआ था।

सती-मोह और पार्वती-जन्म एवं तप-प्रकरण समाप्त

जब ते सती जाइ तनु त्यागा। तब ते सिवमन भयेउ बिरागा ॥७॥
जपहिं सदा रघुनायक-नामा। जहँ-तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा ॥८॥

दोहा—चिदानंद सुखधाम सिव, बिगत-मोह-मद-काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल-लोक-अभिराम ॥७५॥

अर्थ—जब से सतीजी ने (दक्ष-यज्ञ) में जाकर शरीर त्याग दिया, तब से शिवजी के मन में वैराग्य हो गया ॥७॥ वे श्रीरघुनाथजी का नाम सदा जपने और जहाँ-तहाँ श्रीरामजी के गुण-समूह सुनने लगे ॥८॥ शिवजी ज्ञानानंद-स्वरूप एवं सुख के धाम तथा मोह-मद-काम से रहित हैं, वे समस्त लोकों के आनंद देनेवाले हरि (श्रीरामजी) को हृदय में धारण करके पृथिवी पर विचरने लगे ॥७५॥

विशेष—'तब ते सिव-मन ...'—यहाँ शंका होती है कि क्या पूर्व में शिवजी रागी थे? प्रमाण तो ऐसा है—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (मा० मं०) अर्थात् शिवजी वैराग्य-कमल के लिये सूर्य हैं।

समाधान—यहाँ 'विरागा' का तात्पर्य कैलाश-स्थल से है, उसमें राग (प्रेम) था। सती के संग वहाँ रहते थे, त्याग-प्रतिज्ञा से सतीजी दुःखित रहती थीं, उनका दुःख देखकर आपको भी दुःख होता था। सती के शरीर-त्याग से स्वतंत्र हो गये, सती के सहवास से सत्संग होता था। अब उनके बिना वहाँ से जी उचट गया, सत्संग के लिये जहाँ-तहाँ ऋषियों के धामों में विचरने लगे। यथा—"दुखी भयेउँ बियोग प्रिय तोरे॥ सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा॥"···से—"सादर सुनि रघुपति-गुन, पुनि आयेउँ कैलास॥" (उ० दो० ५५-५७) तक। अतः, यहाँ घर छोड़कर तीर्थाटन करने को 'बिराग' कहा है। 'चिदानंद सुखधाम···' स्वयं ज्ञानानंद स्वरूप हैं, औरों के लिये सुख के धाम हैं। 'सकल लोक अभिराम यथा—"रामनामभुविख्यातमभिरामेण या पुनः।" (श्रीरामतापनी० उप०)।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥१॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख-दुखित सुजाना॥२॥
येहि बिधि गयेउ काल बहु बीती। नित नइ होइ रामपद-प्रीती॥३॥

अर्थ—(शिवजी) कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश करते और कहीं रामयश का बखान करते॥१॥ यद्यपि निष्काम हैं, तथापि वे भगवान् सुजान हैं; अतएव अपने भक्त के विरह-दुःख से दुःखित हैं॥२॥ इस प्रकार बहुत काल बीत गया, श्रीरामजी के चरणों में नित्य नवीन प्रीति होने लगी॥३॥

विशेष—(१) 'कतहुँ मुनिन्ह···' शिवजी ज्ञानियों को ज्ञान सिखाते हैं और उपासकों के प्रति राम-गुण-वर्णन करते हैं। जहाँ अन्य कोई न रहा, वहाँ निरंतर श्री राम-नाम जपते हैं। यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगअराती॥" (दो० १०८)।

(२) 'जदपि अकाम···' भगवान् के छः ऐश्वर्यों में करुणा भी है। अपने आश्रित पर करुणा होती है। फिर भक्त के हृदय की बातें जानते भी हैं; क्योंकि सुजान हैं। साथ ही भक्त के दुःख में दुखी होना योग्य ही है। यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११) सतीजी की आपमें मन, वचन और कर्म से पूर्ण भक्ति है। यथा—"जौं मोरे सिव-चरन-सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत येहू॥" (दो० ५८); "सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद-अनुरागा॥" (दो० ६५) इत्यादि। इसी से शिवजी भी उनके दुःख में दुखी हैं, कुछ काम से नहीं, क्योंकि अकाम हैं। यथा—"हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥" (दो० ८१)।

(३) 'नित नइ होइ राम-पद···'—भाव यह कि सती के विरह-दुःख में भी श्रीराम-प्रेम कम न हुआ, प्रत्युत दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है।

नेम प्रेम संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥४॥
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील-निधि तेज बिसाला॥५॥

अर्थ—शिवजी का नियम, प्रेम और हृदय में भक्ति की अटल रेखा देखकर॥४॥ कृतज्ञ एवं कृपालु श्रीरामजी प्रकट हो गये, जो रूप और शील के निधान हैं और जिनका तेज विशाल है॥५॥

विशेष—(१) 'नेम प्रेम संकर···'—नियम (सती-त्याग का)—"येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥" (दो० ५६); प्रेम—'नित नइ होइ राम पद प्रीती।' 'अबिचल

हृदय ''' यथा—"चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई। अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।" (दो० ५६); यथा—"सिव सम को रघुपति-व्रतधारी।" (दो० १०३)। प्रेम से प्रभु प्रकट होते हैं, यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना! ''प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥" (दो० १८७); अतः, आगे प्रकट होना कहते हैं।

(२) 'प्रगटे राम कृतज्ञ'''—श्रीरामजी कृतज्ञ हैं, अतएव शिवजी के उपर्युक्त नियम-प्रेम को अधिक करके जानते हैं, इसीसे कृपा उमड़ पड़ी और स्वेच्छा से प्रकट हो गये। अतः, 'कृपाला' भी कहे गये हैं। पुनः सती की अवज्ञा को भुलाकर उनपर भी कृपा करेंगे, शिवजी के संयोग के लिये उपाय करेंगे, रूप से शिवजी को सुखी करेंगे और शील-गुण से कोमल वचनों द्वारा कार्य करायेंगे, जिसमें शिवजी और पार्वतीजी का भी हित हो। विशाल तेज से प्रकट हुए, जिससे शिवजी पर प्रभाव पड़े।

यहाँ रूप और तेज की विशालता प्रत्यक्ष है कि उसमें निमग्न होकर शिवजी प्रणाम तक करना भूल गये।

बहु प्रकार संकरहिं सराहा। तुम्ह बिनु अस व्रत को निरबाहा॥६॥
बहु बिधि राम सिवहिं समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥७॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥८॥

दोहा—अब बिनती मम सुनहु सिव, जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहिं, यह मोहिं माँगे देहु॥७६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से शिवजी की सराहना की—"तुम्हारे अतिरिक्त ऐसे व्रत का निर्वाह कौन कर सका है?" ।६। श्रीरामजी ने शिवजी को बहुत तरह से समझाया और पार्वतीजी के जन्म का हाल कहा ॥७॥ कृपासागर श्रीरामजी ने पार्वतीजी की अत्यन्त पवित्र करनी का विस्तार-सहित वर्णन किया ॥८॥ (और कहा)

हे शिव! मेरी विनती सुनिये। यदि आपका मुझपर स्नेह है तो अब जाकर पार्वती को ब्याह लाइये, यह मुझे माँगा दीजिये ॥७६॥

विशेष—(१) 'अस व्रत'—यथा—"सिव सम को रघुपति-व्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (दो० १०३); "अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।" (दो० ५६)। 'सिवहिं समुझावा।'—तुम्हारी प्रतिज्ञा सती-शरीर के विषय में थी—'येहि तनु सतिहिं भेट मोहिं नाहीं।' (दो० ५६); सती के उस शरीर का त्याग हो गया, दूसरा पार्वती-शरीर धारण हुआ, इस शरीर से तुम्हारे लिये बड़ा उग्र तप किया है और वह मन, वचन, कर्म से तुम्हारे प्रति प्रेम रखती है। अतः, ग्रहण करना ही चाहिये। तुम्हारी प्रतिज्ञा भी रही, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं। फिर ब्रह्मवाणी भी हो चुकी, उसे भी सत्य करना ही है, इत्यादि।

'अति पुनीत'''—गिरिजा का अब सती-शरीर से सम्बन्ध नहीं रहा, इस शरीर से तो इसने परम 'पुनीत करनी' की है। तप के आचरण कहे, यही पवित्र करनी है।

१२ रुद्रसावर्णि मन्वन्तर में—शुचि, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति।
१३. देवसावर्णि मन्वन्तर में—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प।
१४. इन्द्रसावर्णि मन्वन्तर में—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित।
प्रत्येक कल्प में ये ही १४ मन्वन्तर होते हैं।

(४) 'प्रेम-परीक्षा लेहु'—प्रश्न—शिवजी ने प्रभु के आज्ञा-पालन को परम धर्म माना है, प्रभु गिरिजा की पुनीत करनी कह गये और स्वीकार के लिये भी आज्ञा दे गये, फिर परीक्षा क्यों? उत्तर—ब्रह्मवाणी में सप्तर्षियों के गिरिजा के पास आने की बात शिवजी की तरफ से कही गई, शिवजी उसे पूरा करना और गिरिजा का प्रेम जगत्-प्रसिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा परीक्षा के साथ ही उनको घर भेजने एवं संदेह मिटाने को नहीं कहते। इससे स्पष्ट है कि इनके सच्चे प्रेम पर शिवजी को पूर्ण विश्वास है। इसी प्रकार अग्नि-परीक्षा से श्रीरामजी ने श्रीजानकीजी का महत्त्व दिखाया है। तथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (अ० दो० २३८)।

(५) 'दूरि करेहु संदेहु'—गिरिजा को संदेह है, यथा—"मिलन कठिन मन भा संदेहू।" (दो० ६०)। हिमाचल को गिरिजा के घर लौटने में संदेह है जो ब्रह्मवाणी से सूचित होता है। यथा—"हठ परिहरि घर जायेहु तबहीं।" अर्थात् पिता कई बार घर लौटाने को गये थे, पर न लौटी थीं। अतः, गिरिजा को मिलने का भरोसा देकर गिरिराज को समझा देना कि अब मनोरथ-सिद्धि पर गिरिजा अवश्य लौटेंगी। अतः, लाइये।

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥१॥
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तप भारी॥२॥
केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरम किन कहहू॥३॥

अर्थ—ऋषियों ने गौरी (श्रीपार्वतीजी) वहाँ कैसी देखी कि मानों तपस्या ही मूर्तिमती हो॥१॥ मुनि बोले कि हे शैलकुमारी! तुम किस कारण से भारी तप कर रही हो?॥२॥ किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो? हमसे सत्य-सत्य भेद क्यों नहीं कहती हो?॥३॥

विशेष—(१) 'देखी तहँ'—यथा—"देखि उमहिं तपखीन सरीरा।" (दो० ७६)।
(२) 'मूरतिमंत तपस्या जैसी।' यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है, क्योंकि तपस्या का मूर्तिमान् होना कवि की कल्पनामात्र है।

सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी। बोलीं गूढ़ मनोहर बानी॥४॥
कहत बचन मन अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई॥५॥
मन हठ परा न सुनइ सिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा॥६॥
नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना॥७॥
देखहु मुनि अबिबेक हमारा। चाहिय सदासिवहिं भरतारा॥८॥

अर्थ—ऋषियों के वचन सुनते ही भवानी गूढ़ और मनोहर वाणी बोलीं ॥४॥ (सीधी) बात कहने में मन सकुचता है, हमारी मूर्खता को सुनकर आपलोग हँसेंगे ॥५॥ मन हठ में पड़ गया है; इसीसे शिक्षा नहीं सुनता। वह पानी पर दीवार उठाना चाहता है ॥६॥ श्रीनारदजी का कथन सत्य समझकर हम बिना पंखों के उड़ना चाहती हैं ॥७॥ हे मुनियो ! हमारा अज्ञान तो देखिये कि हम सदाशिव को पति (बनाना) चाहती हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'बोलीं गूढ़ मनोहर बानी'—क्योंकि भवानीजी जान गई हैं कि ये सप्तर्षि परीक्षा लेने आये हैं। गूढ़—क्योंकि ये जो वचन कहेंगी, उन्हीं पर ऋषियों की वचन-रचना होगी। अपने में अवगुण का आरोपण करना वचन में मनोहरता है। 'सैलकुमारी' के प्रति वक्ता लोग 'भवानी' कहते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनेको भव-पत्नी के भाव में निश्चय कर रक्खा है।

(२) 'कहत बचन मन'''' ऋषियों ने सत्य मर्म पूछा था और संबोधन में शैलकुमारी (जड़ की पुत्री=जड़वत्) शब्द कहा था। जड़ न तो मर्म समझ सकता है और न कह सकता है, इसलिये भवानीजी 'बचन' कहती हैं कि सीधे वचन सुनिये। 'सकुचाई'—क्योंकि 'छोटे मुख बड़ी बात' का विषय कहना है, अथवा स्त्री को अन्य स्त्री के समक्ष भी पति-संबंधी बातें करने में लज्जा लगती है और ऋषि लोग तो पिता-तुल्य एवं चिरकालीन हैं। अतः, 'अति' संकोच है। 'जड़ताई'—क्योंकि 'शैलकुमारी' तो हूँ ही। अतः, जड़ की पुत्री में जड़ता योग्य ही है।

(३) 'मन हठ परा ''' इससे मेरा यह मन आपकी भी शिक्षा नहीं सुनेगा।

'चहत बारि पर भीति '''—शिवजी का मन स्वाभाविक वैराग्य-निष्ठ है, वही जल है, श्रीपार्वतीजी उस मन में राग लाना चाहती हैं, यही 'जल पर भीति उठाना' है अर्थात् असंभव का संभव करना है। शिवजी 'अगेह' हैं, उनकी गेहिनी (गृहिणी) बनना चाहती हैं।

(४) 'बिनु पंखन हम'''—शिव-प्राप्ति के योग्य साधन पंख हैं, मैं उनके बिना शिवजी की प्राप्ति चाहती हूँ। यहाँ विभावना अलंकार स्पष्ट है।

(५) 'सदासिवहिं भरतारा।'—श्रीनारदजी ने कहा है कि—'सदा अचल येहि कर अहिवाता।' उस 'सदा अचल' के अनुसार सदाशिव कहा है, अथवा वे सदा कल्याणरूप हैं।

(६) श्रीपार्वतीजी की मन, वचन और कर्म से शिव-प्राप्ति की इच्छा स्पष्ट हुई—'मन हठ परा' यह 'मन', 'बिनु पंखन''' यह कर्म और 'चाहिय सदा''' यह वचन है।

दोहा—सुनत बचन बिहसे रिषय, गिरिसंभव तव देह।
नारद कर उपदेस सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह ॥७८॥

अर्थ—ये वचन सुनते ही ऋषि लोग बहुत ही हँसे कि वाह, क्यों न हो? पहाड़ से तो तुम्हारा शरीर ही उत्पन्न हुआ है। (भला) कहो तो नारद का उपदेश सुनकर किसका घर बसा है? (किसु= कस्य=किसका)।

विशेष—'बिहँसे'—सप्तर्षि निरादर से हँसे, क्योंकि परीक्षा लेने आये हैं, इसी से नारदजी के प्रति निन्दासूचक वचन कहते हैं, परन्तु भीतर स्तुति का भाव है। 'गिरिसंभव'—पहाड़ जड़ है, तुम उससे

'अस बिनती मम...' यहाँ भक्त-पराधीनता का सुन्दर आदर्श है। प्रभु का जोर भक्तों पर नहीं चलता, इसलिये विनती को और 'माँगे देहु' कहा, यथा—"अहं भक्त-पराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।" (श्रीमद्भागवत, ९।४।६३)। 'जाइ'—सम्मान-पूर्वक बरात सजकर जाइये और ब्याह लाइये।

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं ॥१॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥२॥
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी ॥३॥
तुम्ह सब भाँति परम-हितकारी। आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ॥४॥

अर्थ—शिवजी ने कहा कि यद्यपि ऐसा उचित नहीं है, फिर भी हे नाथ! (आपके) वचन मिटाये नहीं जा सकते ॥१॥ हे नाथ! आपकी आज्ञा सिर पर चढ़ाकर करें, यही हमारा परम धर्म है ॥२॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी की बात बिना विचारे ही शुभ जानकर करनी चाहिये ॥३॥ (फिर) आप तो सब प्रकार से परम हितकारी हैं, हे नाथ! आपकी आज्ञा हमारे सिर पर है ॥४॥

विशेष—(१) 'कह सिव जदपि ...'—आप हमारे स्वामी हैं, आपको केवल आज्ञा ही देनी चाहिये। 'बिनती मम सुनहु' और 'मोहिं माँगे देहु'—ऐसा कहना यद्यपि योग्य नहीं है, तथापि नाथ! कैसे भी कहें, आपके वचन मेटे नहीं जा सकते; क्योंकि "सिर धरि आयसु ''मातु पिता'''तुम्ह सब भाँति'''" यथा—"गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६) अर्थात् जहाँ-जहाँ पुत्र, शिष्य एवं सेवक का भाव है, वहाँ उचित-अनुचित विचार की आवश्यकता नहीं, वहाँ तो—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००) ही कर्त्तव्य है।

अत, 'उचित अस नाहीं' का वक्तार्थ ही माह्य है, शिवजी को अनुचित ठहराने का अधिकार ही नहीं है।

'हमारा'—बहुवचन है, सब भक्तों के सहित अपना धर्म कह रहे हैं।

'बिनहिं बिचार'—क्योंकि—"उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६)

'तुम्ह सब भाँति...' यथा—"मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता।" (कि० दो० १०) तथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। ·से—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु तोषेउ सुनि संकरबचना। भगति-बिबेक धरमयुत रचना ॥५॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ ॥६॥
अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी ॥७॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आये। बोले प्रभु अति बचन सुहाये ॥८॥

दोहा—पारवती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम-परीछा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन, दूरि करेहु संदेहु ॥७७॥

अर्थ—भक्ति, विवेक और धर्मयुक्त रची हुई श्रीशिवजी की वाणी सुनकर प्रभु संतुष्ट (प्रसन्न) हुए ॥५॥ प्रभु ने कहा कि हे शिवजी ! तुम्हारा प्रण रहा (यथार्थ निबहा), अब जो मैंने कहा है, उसे हृदय में रखना ॥६॥ ऐसा कहकर (प्रभु) अंतर्धान हो गये, शिवजी ने (प्रभु की) वही मूर्त्ति हृदय में रख ली ॥७॥ तभी (उसी समय) सप्तऋषि शिवजी के पास आये, प्रभु (शिवजी उनसे) बहुत ही सुहावन वचन बोले ॥८॥ कि पार्वती के पास जाकर उनके प्रेम की परीक्षा लो और गिरिराज को प्रेरित करके, उनके द्वारा पार्वती को घर भिजवाओ, (गिरिराज और पार्वती) का संदेह दूर करना ॥७७॥

विशेष—(१) 'भगत बिबेक धरम···' सब वचनों में तीनो बातें मिश्रित हैं, अथवा उपर्युक्त तीन अर्द्धालियों में क्रमशः 'धरम' 'बिचार' और 'आज्ञा-पालन' शब्द पड़े हैं, उन्हीं में धर्म, विवेक और भक्ति लगा लेनी चाहिये।

(२) 'अंतरधान भये···' रामजी शिव के सामने ही प्रकट हुए थे, फिर वहीं अंतर्धान भी हो गये। उनका कहीं से आना-जाना नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी का ऐसा ही विश्वास, भक्ति एवं प्रीति है। यथा—"जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥"···से—"प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥" (दो० १८४) तक।

'सोइ मूरति'—भक्तों के प्रति भगवान् की झाँकी नित्य नवीन एवं विलक्षण होती रहती है, शिव के हृदय में अभी तक वन के दर्शनों की झाँकी थी, अब इस नवीन छवि को उर में बसा लिया।

(३) 'तबहिं सप्तरिषि···' स्मरण करने से आये, यथा—"चिन्तितोपस्थितांस्तावत् शाधि नः करवाम किम्।" (कुमारसंभव ६।१।२४); तथा—"सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिरनाइन्हि। कीन्ह संभु सनमान जनम-फल पाइन्हि ॥ (पार्वतीमंगल ८४)।

सप्तर्षि—यह सात तारों का एक समूह है जो 'सतभैया' कहलाता है। यह ध्रुव की परिक्रमा करता है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार इस समूह में प्रत्येक मन्वन्तर में सात-सात ऋषि रहते हैं। यथा—

१. स्वायंभुव मन्वन्तर में—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।
२. स्वारोचिष मन्वन्तर में—अर्ज्जता, प्रम्भण, दत्तोली, ऋषभ, निश्चर, चारु और अवीर।
३. उत्तम मन्वन्तर में—प्रमद, विमद, अनुमद, शक्ति, ऋभु, उन्मद और कुमुद।
४. तामस मन्वन्तर में—ज्योतिर्धाम, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वलक और पीवर।
५. रैवत मन्वन्तर में—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और वसिष्ठ।
६. चाक्षुष मन्वन्तर में—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्मत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।
७. वैवस्वत मन्वन्तर में—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।
८. सावर्णि मन्वन्तर मे—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृंग और व्यास।
९. दक्षसावर्णि मन्वन्तर में—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन।
१०. ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर में—आपोमूर्ति, हविष्मत्, सुकृति, सत्य, नाभाग, अप्रतिम और वसिष्ठ।
११. धर्मसावर्णि मन्वन्तर में—हविष्मत्, वसिष्ठ, आरुणि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव।

उत्पन्न हो, इसी से तुम्हारी बुद्धि पथरा (जड़ हो) गई है। स्तुति-पक्ष—गिरि तप-स्थल एवं गंभीर होते हैं, वैसे तुम्हारी देह तप स्थल और बुद्धि गंभीर है।

'बसेउ किसु गेह'—जीव का घर देह है, वह उजड़ जाती है अर्थात् देह से सम्बन्ध-रहित होने पर जीव मुक्त हो जाता है, यह स्तुति-पक्ष है।

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवन न देखा आई ॥१॥
चित्रकेतु कर घर उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥२॥

अर्थ—दक्ष के पुत्रों को जाकर (नारदजी ने) उपदेश दिया, तो उनलोगों ने फिर लौटकर घर का मुँह नहीं देखा ॥१॥ चित्रकेतु का घर भी उन्होंने चौपट किया, फिर हिरण्यकशिपु की भी ऐसी ही हालत (दशा) हुई ॥२॥

विशेष—स्तुति-पक्ष—'भवन न देखा' अर्थात् संसार में न फिरे, मुक्त हुए, चित्रकेतु का भी देहाभिमान मिटा और हिरण्यकशिपु भी मुक्त हुआ।

(१) 'दच्छसुतन्ह ...'—पंच-जन प्रजापति की कन्या से दक्ष ने ब्याह करके हर्यश्व नामक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। उन सबको दक्ष ने सृष्टि रचने के लिये तप करने को भेजा। वे सिन्धु नदी और समुद्र के संगम पर नारायण-सर तीर्थ में तपस्या करते थे। श्रीनारदजी वहाँ पहुँचे और विचारा कि अभी इनका हृदय स्वच्छ है। भगवद्भजन का उपदेश लगेगा। अत, उनसे पारमार्थिक उपदेश-गर्भित दस प्रश्न किये, वे वचन गूढ (कूट के) थे। उनका भाव समझकर उनलोगों ने श्रीनारदजी की परिक्रमा की और उस मार्ग को चल दिये जहाँ से कोई न लौटा हो। (इस कथा का विस्तार, दस प्रश्न और उनके भाव भा० स्कं० ६ अ० ५ श्लो० १-२१ में हैं)।

इसके पीछे फिर दक्ष ने पंचजन की कन्या से सबलाश्व नामक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। इन्हें भी वहीं तप करने को भेजा। श्रीनारदजी ने इनसे भी वे ही प्रश्न किये, फिर इन्होंने भी पूर्व के अपने भाइयों की रीति ग्रहण की, लौटकर घर न गये। दक्ष ने समाचार पा क्रुद्ध होकर नारदजी को बहुत कटु वचन कहे, पुनः कहा कि प्रथम बार तो मैंने ब्रह्माजी के कहने से क्षमा की थी; पर अब मैं शाप देता हूँ—तुम एक जगह स्थिर न रहोगे, तीनों लोकों में घूमते-फिरते रहोगे, कहीं तुम्हारे पैर न जमेंगे। (भा० स्कं० ६ अ० ५) फिर दक्ष ने ६० कन्याएँ पैदा करके ऋषियों को ब्याह दीं और इनके द्वारा सृष्टि रचाने लगे।

'जाई'—प्राय. शिष्य गुरु के पास जाते हैं, पर नारदजी स्वयं उक्त शिष्यों के पास गये, ऐसे ही तुम्हारे (पार्वती के) पास भी स्वयं आये, क्योंकि स्वार्थी हैं (स्तुति-पक्ष—परोपकारी दयालु हैं)।

(२) 'चित्रकेतु कर घर ...'—चित्रकेतु शूरसेन देश के सार्वभौम राजा थे। इनके एक करोड़ रानियाँ थीं, पर न कोई पुत्र था और न कन्या ही। एक दिन अंगिरा ऋषि इनके यहाँ आये और इन्हें चिंतित देखकर कारण पूछा। इन्होंने अपना दुखड़ा कह सुनाया और पुत्र-प्राप्ति के लिये प्रार्थना की। ऋषि ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया और उसका अवशिष्ट चरु ज्येष्ठ रानी को देकर कहा कि इसे खा लो। इससे एक पुत्र होगा, पर उससे तुम्हें हर्ष और विषाद दोनों होंगे। ऐसा कहकर ऋषि चले गये। पुत्र उत्पन्न हुआ, बहुत दान दिये गये। पुत्रवती होने के कारण इस रानी पर राजा की प्रीति दिनोंदिन अधिक होती गई जिससे और रानियों के हृदय में डाह होने लगी। ग्लानि से सब रानियों ने मिलकर अवसर पा बच्चे के ओठों पर विष लगा दिया, जिससे वह मर गया। यह देखकर उसकी माता चिल्ला उठी, कोलाहल मचा, राजा भी रोते हुए मूर्च्छित हो गये।

इस अवसर पर अंगिरा ऋषि और श्रीनारदजी वहाँ पहुँचे और राजा को बहुत प्रकार से समझाया, तब राजा को ज्ञान हुआ और दोनों ऋषियों को जानना चाहा। इन्होंने परिचय दिया। पुनः कहा कि हम दोनों तुमपर अनुग्रह करने को ही आये हैं। फिर ऋषियों ने जगत् की नश्वरता दिखाई। श्रीनारदजी ने राजा को एक मंत्र बतलाया और कहा कि इसके आराधन से सात दिनों में संकर्षण भगवान् के दर्शन होंगे। फिर नारदजी ने मृत पुत्र को जिला दिया। वह लड़का जी उठा और बोला जिसका सारांश यह कि जगत् कर्मानुसार चल रहा है, कोई किसी का पुत्र, पिता, मित्र, शत्रु आदि नहीं है। जीव नित्य, अव्यय, सूक्ष्म और स्वयंप्रकाश है। (भा० स्कंध ६, अ० १४-१५)। इसके बाद वह जीव फिर कहने लगा—"मैं पाञ्चाल देश का राजा था, विरक्त होने पर एक गाँव में गया। एक स्त्री (जो अभी मेरी माता है) ने मुझे भोजन बनाने के लिये कंडा दिया, जिसमें अनेक चींटियाँ थीं। मैंने विना देखे-सुने आग लगा दी। सब चींटियाँ जल गईं। फिर भोजन बनाकर मैंने शालग्राम भगवान् को भोग लगा प्रसाद पाया। वे ही चींटियाँ मेरी सौतेली माताएँ हुईं। प्रभु का भोग लगाने से सबने एक ही साथ एक ही जन्म में बदला ले लिया, नहीं तो करोड़ों जन्म इसी निमित्त होते। यथा—'खिव राखी श्रुति-नीति अरु मैं नहिं पावा कलेस॥' (उ० दो० १०१)।" इतना कहकर वह जीवात्मा उस शिशु शरीर से निकल गया। इससे राजा को ज्ञान हुआ और उन्होंने राज्य छोड़ दिया। नारद मुनि के उपर्युक्त मंत्राराधन से उन्हें संकर्षण भगवान् के दर्शन हुए, फिर उनको एक विमान मिला। उसपर चढ़े आकाश-मार्ग में घूमते हुए, पार्वतीजी के शाप से वृत्रासुर हुए। भा० स्कं० ६ में वृत्रासुर और इन्द्र का संवाद है।"

'कनककसिपुकर'''—नारदजी ने हिरण्यकशिपु की स्त्री को उपदेश दिया, गर्भस्थ प्रह्लाद ने जिसका धारण किया, जिससे पिता से विरोध हुआ। पिता मारा गया। इस प्रसंग की कथा दो० ७५ चौ० ४ में देखिये।

यहाँ तीनो लोकों के एक-एक उदाहरण हैं। दक्षसुत देवलोक के, चित्रकेतु भूलोक के और हिरण्यकशिपु पाताल के हैं अर्थात् तीनो लोकों के घर बिगाड़नेवाले ये ही नारदजी हैं। तीन बहुवचन हैं। अतः, सूचित हुआ कि बहुत घर बिगड़े।

नारद-सिख जे सुनहिं नरनारी। अवसि होहिं तजि भवन भिखारी ॥३॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आप सरिस सबही चह कीन्हा ॥४॥

अर्थ—नारद की शिक्षा जो स्त्री-पुरुष सुनते हैं, वे अवश्य घर छोड़कर भिखारी होते हैं ॥३॥ वे (नारदजी) मन से तो कपटी हैं, तन में सज्जनों के चिह्न हैं, वे अपने समान सभी को करना चाहते हैं॥४॥

विशेष—'अवसि होहिं'''भिखारी।'—नारद को द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़ती है, दुःख उठाना पड़ता है। इसी से स्पष्ट है कि वे मन के कपटी हैं और चाहते हैं कि जैसे हम घर-बार-रहित हैं, वैसे सब हो जायँ, बसा घर उजाड़ने की खोज में रहते हैं। देह में ऊपर से तिलक, कंठी, माला धारण किये हुए, वीणा लिये श्रीराम यश गाते रहते हैं। ये सज्जनों के चिह्न रखते हैं, पर कर्त्तव्य तो निराला ही है कि सज्जन बिछुड़ों को मिलाते हैं और ये फोड़ते हैं।

'नरनारी'— उपर्युक्त तीनो (दक्षसुत, चित्रकेतु और हिरण्यकशिपु) पुरुष हैं, उनमें भी प्रह्लाद-सम्बंधी उपदेश उनकी माता को दिया गया है। स्पष्ट करने को यहाँ 'नर' और 'नारी' भी कहे गये कि कोई भी सुने, वही दशा होती है।

नारद को मन, वचन, कर्म तीनों से पर-घर-घालक सूचित किया। यथा—'मन कपटी'—मन, 'सिख'—वचन, 'तनु सज्जन चीन्हा'—कर्म।

स्तुति-पक्ष—भिखारी अर्थात् विरक्त बनाते हैं, मन को संसार से कपटे (अलग किये) हुए हैं और स्वयं सज्जन का बाना रखते हैं, वैसे ही औरों को भी बनाते हैं।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ॥५॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥६॥
कहहु कवन सुख अस बर पाये। भल भूलिहु ठग के बौराये ॥७॥
पंच कहे सिव सती बिवाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही ॥८॥

अर्थ—उनके वचन पर विश्वास करके तुम (ऐसे को) पति बनाना चाहती हो, जो स्वाभाविक ही उदासीन है ॥५॥ गुण-रहित, निर्लज्ज, बुरे वेषवाला, मुंडमाल-धारी, कुल-हीन, गृह-हीन, नंगा और सर्प लपेटनेवाला है ॥६॥ कहो तो भला, ऐसा वर पाकर कौन सुख मिलेगा ? उस (नारद) ठग के बहकाने में तुम खूब आ गई हो ॥७॥ पंचों के कहने से शिवजी ने सती को ब्याहा था, फिर उसे फेर (चक्कर) में डालकर मरवा डाला ॥८॥ (अवडेरना = फेर में डालना, तंग करना)।

विशेष—शिवजी 'सहज उदासा' 'अगेह'— उदासीन लोगों की तरह श्मशान एवं नदी तट पर पड़े रहते हैं। वहाँ मुर्दा आदि देखते रहने से देह की अनित्यता एवं आत्म-बुद्धि बनी रहती है। शिवजी को किसी का संग नहीं सुहाता। जब गेह (घर) ही नहीं है, तब रहोगी कहाँ ! 'दिगंबर'—वे स्वयं नंगे रहते हैं, तो तुम्हें कहाँ से वस्त्र लाकर पहनावेंगे ? 'अकुल'—तुम्हें सास, श्वशुर आदि परिवार नहीं मिलेंगे, ऐसे सूने स्थान में कैसे रहोगी ?

इन शब्दों के स्तुति-पक्ष के अर्थ से शिवजी में संतों के लक्षण आ जाते हैं। दो० ६६ की चौ० ८ के विशेष में देखिये।

दोहा—अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँकि नारि खटाहिं ॥७९॥

अर्थ—(शिवजी) अब सुख से सोते हैं, कुछ शोच (फिक्र) नहीं है और संसार में भीख माँगकर खाते हैं। भला, जो स्वाभाविक अकेले रहनेवाले हैं, उनके घर में क्या स्त्री कभी ठहर (निभ) सकती है ?

विशेष—'अब सुख सोवत'—जब सती थीं, तब शोच था, उनके मरने से सुखी हैं। पैर पसारकर बेफिक्री की नींद ले रहे हैं।

स्तुति-पक्ष—यथा—"प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।" (क० उ० ११); तथा—"सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।" (क० उ० १०१)।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ बर नीक बिचारा ॥१॥

अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला ॥२॥
दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति-पुर-बैकुंठ-निवासी ॥३॥
अस बर तुम्हहि मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह बचन भवानी ॥४॥

अर्थ—अब भी हमारा कहा मानो तो हमने तुम्हारे लिये अच्छा वर सोच रक्खा है ॥१॥ जो बहुत सुंदर, पवित्र, सुख देनेवाले और सुशील हैं, जिनके यश और चरित को वेद गाते हैं ॥२॥ जो दोषों से रहित और सब गुणों की राशि हैं, लक्ष्मी एवं शोभा के स्वामी और बैकुंठपुर के रहनेवाले हैं ॥३॥ ऐसे वर लाकर (हम) तुमसे मिला देंगे। ये वचन सुनकर भवानी (पार्वतीजी) ने विशेष हँसकर कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'अति सुन्दर सुचि ' बैकुंठ निवासी।'—विष्णु बड़े ही रूपवान् हैं। इनमें पंच मुख, जटा धारण, पन्द्रह नेत्र आदि की तरह कुरूपता नहीं है। 'सुचि'—पवित्र हैं, शिवजी की तरह चिता-भस्म, मुंडमाल, सर्प एवं बाघम्बर आदि नहीं रखते। 'सुखद'—ये जगत् का पालन करते हैं, इनके दर्शनों से ही सुख होता है, शिवजी की तरह भयंकर नहीं हैं और न संहार ही करते हैं। 'सुसीला'—सब का योग्य आदर करते हैं, ऐसे नहीं हैं जैसे शिवजी ने दक्ष का अनादर किया है। प्रत्युत ऐसे शीलवान् हैं कि भृगु के लात मारने पर भी उनका सत्कार ही किया। 'दूषन-रहित'—निर्लज्जता आदि दूषणों से रहित हैं। 'पुर बैकुंठ निवासी'—इनका पुर अत्यंत सुंदर है और घर-बार भी है, शिवजी की तरह 'अगेह' नहीं हैं। 'श्रीपति'—लक्ष्मी के पति हैं, शिवजी की तरह सहज एकाकी नहीं हैं। यद्यपि श्री का प्रधान अर्थ लक्ष्मी है, तथापि यहाँ पार्वती को रुचि बढ़ाने का प्रसंग है, इसमें सपत्नी-द्वेष रुचिघातक होगा। अतः, शोभा अर्थ लेकर शिवजी की कुवेषता के विपर्यय में संगत कहा जाता है।

'मिलाउब आनी'—तुम्हारे इतने उग्र तप पर भी शिवजी न मिले और हम विना श्रम ही वैसे सुन्दर वर को यहाँ लाकर मिला देंगे। 'बिहँसि'—यह यहाँ निरादर के भाव से है।

पूर्व शिवजी मे नौ अवगुण कहे थे, उन्हीं के विपर्यय मे यहाँ विष्णु में नौ गुण कहे हैं। यहाँ क्रमशः शिवजी के अवगुण और उनके जोड़ के विष्णु के गुण साथ ही दिखाते हैं—

१—सहज उदासी—सुशील,	४—कुवेष—अति सुंदर,	७—अगेह—बैकुण्ठनिवासी,
२—निर्गुण—गुणराशि,	५—कपाली—अति शुचि,	८—दिगंबर—सुखद,
३—निर्लज्ज—यशस्वी,	६—अकुल—श्रीपति,	९—व्याली—दूषण-रहित।

अंकों की सीमा नव है, इस तरह एक को अवगुणों की और दूसरे को गुणों की सीमा कहा है। श्रीपार्वतीजी ने भी ऐसा समझा और कहा है। यथा—"महादेव अवगुनभवन, बिष्णु सकल गुन-धाम॥" (दो० ८०)।

यहाँ परीक्षा के लिये ही शिव में अवगुण शब्द कहे गये हैं, वास्तव मे वे सब उनमें गुण ही हैं, यथा—"जौं बिबाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई॥" (दो० ६८)।

सत्य कहेहु गिरिभव तनु येहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा ॥५॥
कनकउ पुनि पषान ते होई। जारेहु सहज न परिहर सोई ॥६॥
नारद-बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ ॥७॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥८॥

दोहा—महादेव अवगुन भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥८०॥

शब्दार्थ—भव—उत्पन्न। कनकउ=सोना भी। पदान=पाषाण=पत्थर। सहज=स्वभाव (यहाँ रंग एवं कठोरता से तात्पर्य है)। बसउ=बसे। उजरउ=उजड़े।

अर्थ—आपने सत्य ही कहा है कि (मेरी) यह देह पर्वत (जड़) से उत्पन्न है, (अतः, इसका) हठ न छूटेगा, चाहे देह भले ही छूट जाय ॥१॥ सोना भी तो पत्थर से ही (उत्पन्न) होता है, वह भी अपना स्वभाव (रंग एवं काठिन्य) तपाये जाने पर भी नहीं छोड़ता ॥२॥ (इसी तरह) श्रीनारदजी का उपदेश मैं नहीं छोड़ूँगी, घर बसे—चाहे उजड़े, मैं इसके लिये नहीं डरती ॥३॥ जिसको गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, उसको स्वप्न में भी सुख एवं सिद्धि सुलभ नहीं ।८॥ शिवजी अवगुणों के घर और विष्णुजी समस्त गुणों के स्थान (हा) हों, परन्तु जिसका मन जिसमें रम जाता है, उसको उसी से प्रयोजन रहता है ॥८०॥

विशेष—(१) 'सत्य कहेहु' '—पूर्व सप्तर्षियों ने कहा था—'गिरि-संभव तव देह', उसी का उत्तर है अर्थात् कारण के अनुसार कार्य होता है, अत, 'गिरि-भव' होने से मेरा हृदय भी कड़ा है, वह 'टस से मस' नहीं होने का।

(२) 'कनकउ पुनि ''' '—यथा—"कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रीतम-पद नेम निबाहे॥" (अ॰ दो॰ २०४)।

(३) 'गुरु के बचन ''' '—ऋषियों के वचन थे—'नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह।' 'तेहि के बचन मानि बिस्वासा।' यहाँ उनके उत्तर हैं। विश्वास का कारण कहती हैं कि वे मेरे गुरु हैं। अत, उनके वचन किसी तरह नहीं छोड़ूँगी, (गुरु में ऐसा ही विश्वास चाहिये)।

(४) जेहि कर मन रम ''' यथा—"सोठ काह कवि कहहिं जाहि जोइ भावइ।" (पार्वती मं॰ ७१)। तथा—"गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥" (दो॰ ५)। कवि कालिदास का 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' (रघुवंश, सर्ग ६) तो प्रसिद्ध है ही।

जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥१॥
अब मैं जनम संभु-हित हारा। को गुन-दूषन करइ बिचारा ॥२॥
जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किये बरेखी ॥३॥
तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं ॥४॥

अर्थ—(यदि ऋषि लोग कहें कि तुम एक के वचन पर दृढ़ रहकर हम सात का अपमान क्यों करती हो ? तो उसका उत्तर उमाजी देती हैं) हे मुनीश्वरो ! यदि आपलोग पहले मिले होते तो आप ही के उपदेश शिर पर चढ़ाकर सुनती ॥१॥ अब तो मैं अपना जन्म शिवजी के लिये हार चुकी, (फिर) गुणों और दोषों का विचार कौन करे ? ॥२॥ जो आपके हृदय में बहुत ही हठ है और बिना बरेखी (विवाह की ठहरौनी—पटकैनी) किये नहीं रहा जाता हो ॥३॥ तो कौतुकियों को आलस तो होता ही नहीं और जगत् में अनेक वर और कन्याएँ हैं, (वहाँ अपनी साध पुरा लें) ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि मीसा'—सादर सुनना, यह मुहावरा है।

(२) 'जनम संभु-हित हारा'—प्रेम-रूप जुए में मै अपने आपको हार गई, इसपर मेरा अधिकार नहीं रहा। यह कुल-कन्या का धर्म नहीं कि मन एक में लगाकर फिर उसका गुणागुण विचारे और गुण सुनकर दूसरे में लगावे।

(३) 'कौतुकियन्ह आलस नाहीं'—खेलाड़ी लोगों को आलस हो तो वे खेल में व्यर्थ काम क्यों करें ? आपलोग तो खेल करने आये हैं, नहीं तो घर की तरफ से नरेखी नहीं की जाती। आप जो विष्णु की ओर से कन्या ढूँढने निकले हों तो अन्यत्र बहुत घर हैं।

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु नतु रहउँ कुँआरी ॥५॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू ॥६॥
मैं पा परउँ कहइ जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भयेउ बिलंबा ॥७॥
देखि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी। जय जय जगदंबिके भवानी ॥८॥

अर्थ—(यदि आप कहें कि अच्छा, यह जन्म गया,तो गया, अगले जन्म के लिये हम अभी से कह रखते हैं। मैं तो यहाँ तक कहती हूँ कि यदि इस जन्म में शिवजी न मिलें, तब भी आशा न रखिये, क्योंकि) करोड़ जन्मों तक मेरी यही रगड़ रहेगी कि ब्याहूँगी तो शिवजी को ही, अन्यथा कुँआरी ही रहूँगी ॥५॥ मैं नारदजी के उपदेश नहीं छोड़ने की, (चाहे) स्वय शिवजी ही सैकड़ों बार (क्यों न) कहें ॥६॥ जगन्माता (पार्वतीजी) कहती हैं कि मैं आपके पाँवों पड़ती हूँ, आप घर जायँ, विलम्ब हुआ ॥७॥ उमाजी का प्रेम देखकर ज्ञानी मुनि बोले, हे जगन्माता ! हे भवानी ! आपकी जय हो, जय हो ॥८॥

विशेष—(१) 'आप कहहिं सत बार महेसू।'—यद्यपि शिवजी इष्ट हैं तथापि आचार्य का पद इष्ट से भी अधिक माना जाता है। यथा—"तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय जानी।" (अ० दो० १२८)। तात्पर्य यह कि कहीं-कहीं इष्ट ही सिद्धि के समय विघ्न करते हैं, जैसे परीक्षार्थ शिवजी का ही आना शिवपुराण, कुमारसम्भव तथा पार्वती-मंगल में कहा है। अत, गुरु के वचन पर दृढ़ रहना चाहिये, फिर अभी तो बिना पाणि-ग्रहण हुए वर का आज्ञा देने का अधिकार भी उतना नहीं है।

(२) 'मैं पा परउँ ···'—यहाँ 'जगदम्बा' कहा है, क्योंकि मुनियों पर भी वात्सल्य है, इष्ट-निन्दा पर भी क्रोध न करके विनती ही करती हैं। यह मुहावरा है—"भाई ! हम तुम्हारे पाँवों पड़ते हैं, अपने घर जाओ, बहुत हो चुका।" वैसे ही हैरान होने पर यहाँ उमा ने भी कहा है।

(३) 'देखि प्रेम बोले···'—'ज्ञानी'—क्योंकि यहाँ 'जगदम्बा' और 'भवानी' कहकर फिर 'माया' और 'भगवान' कहते हैं। इस तरह माधुर्य को ऐश्वर्य से मिलाते हैं। 'जय जय'—उमाजी को परीक्षा में ठीक पाया। अब, मुनि लोग आनन्द के उद्गार से ऐसा कहने लगे।

पूर्व "पारबती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम - परीछा लेहु।" (दो० ७७) से उपक्रम हुआ। यहाँ—'देखि प्रेम बोले मुनि···' पर उपसंहार है। इतना प्रेम परीक्षा का प्रसंग है।

दोहा—तुम्ह माया भगवान सिव, सकल - जगत - पितु - मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषत गातु ॥८१॥

अर्थ—आप माया हैं, शिवजी भगवान् हैं, (आप दोनों) समस्त जगत् के माता पिता हैं। बारबार चरणों में माथ नवाकर मुनि लोग चले, हर्ष से उनके शरीर बारबार पुलकायमान होते हैं।

विशेष—सप्तर्षि प्रथम आये, तब उमा को प्रणाम नहीं किया, क्योंकि राजपुत्री मानकर उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। इसीसे 'सैलकुमारी' ही कहा था, तब राजपुत्री को प्रणाम अयोग्य होता। अब उनको माया अर्थात् आद्याशक्ति कहा, तब प्रणाम भी किया। पहले ही यदि माता मानकर प्रणाम करते तो परीक्षा अनुचित होती।

मन, वचन, कर्म तीनों से स्तुति की—'जय जय' से वचन, 'नाइ सिर' से कर्म, 'हरषित गात' से मन द्योतित हुआ; क्योंकि हर्ष मन का धर्म है, उसके कारण देह पुलकित हो जाती है।

श्रीपार्वती-प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त

जाइ मुनिन्ह हिमवंत पठाये। करि बिनती गिरिजहि गृह ल्याये ॥१॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई ॥२॥
भये मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥३॥
मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक - ध्याना ॥४॥

अर्थ—वहाँ से जाकर मुनियों ने हिमाचल को (गिरिजा के पास) भेजा। वे विनती करके गिरिजा को घर ले आये ॥१॥ फिर सप्त ऋषियों ने शिवजी के पास आकर उमाजी की सारी कथा कही ॥२॥ शिवजी पार्वतीजी का स्नेह सुनते ही प्रेम में मग्न हो गये और सप्तऋषि प्रसन्न होकर अपने आश्रम को गये ॥३॥ तब अपने मन को स्थिर करके सुजान शिवजी श्रीरघुनाथजी का ध्यान करने लगे ॥४॥

विशेष—'बहुरि'—जब श्रीपार्वतीजी घर आ गईं, तब, क्योंकि शिवजी की आज्ञा थी कि—'गिरिहिं प्रेरि पठयेहु भवन' (दो० ७७)।

'मन थिर करि ···'—श्रीपार्वतीजी का प्रेम समाचार सुनकर शिवजी आनन्द में मग्न हो गये। फिर वहाँ से मन हटा (थिर) करके श्रीरामजी के स्मरण में लगे, यही 'सुजानता' है, यथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (आ० दो० ६)।

तारक असुर भयेउ तेहि काला। भुजप्रताप बल तेज बिसाला ॥५॥
तेहि सब लोक लोकपति जीते। भये देव सुख - संपति - रीते ॥६॥
अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई ॥७॥
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे ॥८॥

शब्दार्थ—प्रताप = बिना सामना हुए ही शत्रु डर जाय, वह प्रताप है। तेज = सामने शत्रु दब जाय, वह तेज है। बिसाला = अधिक।

अर्थ—उसी समय तारक नामक दैत्य हुआ, जिसकी भुजाओं का प्रताप, बल और तेज बहुत अधिक था ॥५॥ उसने सब लोकों और लोकपालों को जीत लिया। देवता लोग सुख और सम्पत्ति से

खाली हो गये ॥६॥ वह अजर-अमर था, इसी से जीता नहीं जा सकता था, देवता लोग नाना प्रकार की लड़ाइयाँ करके हार गये ॥७॥ तब देवता लोगों ने ब्रह्माजी के पास जाकर गुहार लगाई। ब्रह्माजी ने सब देवों को दुखी देखा ॥८॥

विशेष—'तारक असुर'''' मधुवंशी वज्रांग दैत्य ने बड़ा उग्र तप किया। ब्रह्माजी ने उसे वर दिया कि तुम्हारे तारक नामक महा बलवान् पुत्र होगा। सहस्र वर्ष बीतने पर तारक पैदा हुआ। इसने भी उग्र तप किया, जिससे सुरासुर को भयभीत देखकर ब्रह्माजी ने उससे इच्छित वर माँगने को कहा। उसने देवताओं को जीतने की इच्छा प्रकट करते हुए वर माँगा कि किसी भी महापराक्रमी एवं किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसा माँगना अयोग्य है। तुमको अपने वरदान में एक-न-एक अपवाद रखना ही होगा। तब उसने माया से मोहित होकर यह माँगा कि सात दिनों के शिशु को छोड़कर और किसी से मेरी मृत्यु न हो। 'एवमस्तु' कहकर ब्रह्मा चले गये। वह भी घर आया। ऐसा जानकर और दैत्य लोग उससे मिले और उसे अपना राजा बनाया। फिर उसने सब देवताओं को जीत लिया, यहाँ तक कि विष्णु का चक्र भी उसका कुछ नहीं कर सकता था। तब सब देवताओं ने ब्रह्मा से पुकार की। यह कथा मत्स्य-पुराण और कुमार-संभव में विस्तार से है।

दोहा—सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुजनिधन तब होइ।
संभु - सुक्र - संभूत सुत, येहि जीतइ रन सोइ ॥८२॥

अर्थ—श्री ब्रह्माजी ने सबसे समझाकर कहा कि इस दैत्य का नाश तब होगा, जब शिवजी के वीर्य से उत्पन्न पुत्र हो, वही इसे लड़ाई में जीतेगा ॥८२॥

विशेष—'कहा बुझाइ बिधि'—"ब्रह्माजी ने समझाया कि इसके तप से सृष्टि जली जाती थी, उसीको बचाने के लिये मैंने इसे ऐसा वर दिया था। सात दिनों के शिशु से इसने मृत्यु माँगी है, जो तेजस्वी के वीर्य से उत्पन्न हो। शिवजी के वीर्य में ऐसा तेज है, जिससे पुत्र होकर तारक का वध करेगा, वही तुम्हारा सेनापति भी होगा। यत्न करो, शिवजी की समाधि छूटे और वे पार्वतीजी को ग्रहण करें।" (कुमार-संभव)। यहाँ 'बिरंचि' और 'बिधि' कहा है, क्योंकि वे सृष्टि के रचयिता हैं। अतः पुकार सुनते हैं। विधि हैं। इससे सब विधान जानते हैं, विधान भी बतलाया कि शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं, इनके वीर्य का पतन (रंभादि) पर-स्त्रियों से न हो सकेगा। अतः, विवाह होना चाहिये।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईस्वर करिहि सहाई ॥१॥
सती जो तजी दच्छमख देहा। जनमी जाइ हिमाचल-गेहा ॥२॥
तेहि तप कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी ॥३॥
जदपि अहइ असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी ॥४॥

अर्थ - मेरा कहा सुनकर उपाय करो, (कार्य) होगा, ईश्वर सहायता करेगा ॥१॥ सतीजी ने, जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में देह त्यागी थी, जाकर हिमाचल के घर में जन्म लिया है ॥२॥ उन्होंने शिवजी को पति होने के लिये तप किया है, (इधर) शिवजी सब त्यागकर समाधि लगाये बैठे हैं ॥३॥ यद्यपि बड़ी दुविधा है, तो भी मेरी एक बात सुनो ॥४॥

विशेष—'तब आपन प्रभाव····'—प्रश्न—इसे शिवजी से ही प्रयोजन था, सब संसार को क्यों सताया ?

उत्तर—इसने विचारा कि मेरी मृत्यु तो होगी ही, एक बार अपना प्रभाव तो जगत् को दिखा दूँ, नहीं तो लोग यही कहेंगे कि सामान्य था, इससे नष्ट हो गया। पुनः इसके विश्व-विजयी सिद्ध होने में शिवजी का भी महत्त्व होगा कि इन्होंने ऐसे को जीता।

(२) 'कोपेउ जबहि······'—काम को 'बारिचर केतू' कहा है, क्योंकि इसकी ध्वजा में मछली का चिह्न है। काम मन से उत्पन्न होता है, अतः, मनसिज कहाता है। मन, काम और मीन तीनों चंचल होते हैं, इसीसे साहचर्य है।

'बारिचर केतू' और 'श्रुतिसेतू'—काम द्रव-रूप होने से जल है। उसकी बाढ़ यहाँ तक बढ़ी कि वेदों के पुल टूट गये। कितना ऊँचा जल चढ़ा ? यह 'बारिचरकेतू' से जनाया कि ध्वजा तक डूबी है, तभी मछली जीती रहती है। भला, पुल क्यों न टूट जायँ ? 'श्रुतिसेतू' अर्थात् वेदों की बाँधी हुई वर्णाश्रम आदि मर्यादाएँ। वही आगे कहते हैं—

(३) 'ब्रह्मचर्य व्रत संजम ·····'—ब्रह्मचर्य अर्थात् मन, वचन, कर्म से मैथुन त्याग करना। मैथुन के आठ प्रकार कहे गये हैं। यथा—"दर्शनं स्पर्शनं केलिः रहस्यं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेवच॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।" इन आठों से बचना ब्रह्मचर्य व्रत है।

विवेक की सेना में ब्रह्मचर्य का नाम प्रथम कहा गया, क्योंकि काम के जीतने में यह प्रधान है और काम से युद्ध का प्रसंग ही है। संयम दो० ३६ चौ० १४ में कहा गया। 'धीरज'=धैर्य=कामादि के उद्वेग से न घबराना। धर्म, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग आदि मानस-प्रसंग दो० ३६ में आ गये हैं।

छंद—भागेउ बिबेक सहाय सहित सो सुभट संजुग-महि मुरे।
सदग्रंथ - पर्वत-कंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभर परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा॥

दोहा—जे सजीव जग अचर चर, नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि, भये सकल बस काम॥८४॥

शब्दार्थ—संजुग-महि = रण-भूमि। मुरे = लौट पड़े, पीठ दी। दुरे = छिपे। खरभर = खलबली।

अर्थ—विवेक अपने सहायकों के साथ भाग खड़ा हुआ। उसके योद्धा लोगों ने रणभूमि में पीठ दे दी और उस अवसर पर वे सब सद्ग्रंथ रूपी पर्वत की कंदराओं में जा छिपे॥ क्या होनेवाला है ? हे ब्रह्मा ! हमारा रक्षक कौन है ? इस प्रकार जगत् भर में खलबली मच गई। ऐसा कौन दो सिरों वाला है जिसके लिये रति के नाथ कामदेव ने कोप कर धनुष-बाण धारण किया है ? जितने चर-अचर जीव हैं, जिनका 'पुरुष' और 'स्त्री' ऐसा नाम है, वे सब अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर काम के वश हो गये॥८४॥

विशेष—इस काम की चढ़ाई के प्रसंग में यह छंद चार बार आया है। इसका भाव यह है कि इसने अपने एक-एक चरण से एक-एक को अर्थात् चारों चतुष्टय को जीता है, १—तप, योग, ज्ञान, वैराग्य, २—देव, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर। ३—चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) ४—चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास)।

'सद्ग्रंथ पर्वत''''''—सद्ग्रंथ पर्वत हैं। यथा—"पावन पर्वत वेद पुराना।" (उ० दो० ११९); उनके अध्याय-श्लोक आदि विभाग ही कंदराएँ हैं। उनमें विवेक आदि लिखे मात्र रह गये, अब किसी व्यक्ति में दिखाई नहीं देते।

'दुइ माथ को''''—एक माथ वाले जीव-मात्र को तो काम ने प्रभाव से जीत लिया, मानों एक-एक सिर कट गये। अब जिसके दो सिर होंगे, उसका एक अभी भले ही बचा हो, जिसका गर्व-नाश करने के लिये काम ने कुपित होकर धनुप-बाण उठाया है। (ये लोग नहीं जानते कि दो नहीं, वहाँ पाँच सिरों वाला है, जिसके लिये काम ने धनुप-बाण धारण किया है)।

सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरुसाखा ॥१॥
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई ॥२॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥३॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी। भये कामबस समय बिसारी ॥४॥
मदन-अंध व्याकुल सब लोका। निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥५॥

अर्थ—सब के हृदय में काम की इच्छा हुई। लताओं को देखकर वृक्षों की शाखाएँ झुकने लगीं ॥१॥ नदियाँ उमड़-उमड़कर समुद्र की ओर दौड़ीं, तालाब और तलाई आपस में संगम (मिलन) करने लगे ॥२॥ जहाँ जड़ों की यह दशा कही गई, वहाँ भला चैतन्य जीवों की करनी कौन कह सकता है ? ॥३॥ आकाश, जल और स्थल पर चलनेवाले पशु-पक्षी (अपने संयोग का) समय भुलाकर काम के वश हो गये ॥४॥ तीनो लोक (एवं सब लोग) काम से अंधे होकर व्याकुल हो गये, चकवे-चकई को रात-दिन तक नहीं दिखाई देता ॥५॥

विशेष—(१) 'सब के हृदय मदन '''—ऊपर 'चर-अचर' कह आये। अब उन्हें कुछ व्यष्टि (विस्तार) रूप में गिनाते हैं। यहाँ से तीन अर्द्धालियों में प्रथम अचर कहते हैं। फिर चर (चैतन्य) जीवों को कहेंगे।

'लता निहारि''' में पुरुष-वर्ग को और 'नदी-उमगि' में स्त्री-वर्ग की प्रबलता हुई। पुनः 'संगम करहिं''' में दोनों वर्गों में तुल्य प्रबलता है अर्थात् सब पर काम का प्रभाव बराबर पड़ा। 'को कहि सकइ'''—क्योंकि घृणित एवं लज्जाजनक बात होने से अकथ्य है।

(२) 'लता निहारि'—इसपर शंका होती है कि जड़ों में नेत्र नहीं होते, फिर 'निहारना' क्यों कहा ? उत्तर भी दिया जाता है कि वर्तमान विज्ञान (साइंस) से भी वृक्षों का क्रोध करना, खाना, पीना, मारना आदि सिद्ध हैं। कहावत भी है—'खरबूजा खरबूजे को देखकर रंग पकड़ता है' तथा—"इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥" (दो० २०२)।

विशेष—'समाधि बैठे'—पूर्व कहा गया है—"लगे करन रघुनायक • ध्याना।" (दो० ८१), उसी ध्यान में समाधि लग गई जो यहाँ के वचन से सूचित होता है।

'असमंजस भारी'—न जाने समाधि कब छूटे ? यदि छुड़ाई जाय तो छूटना कठिन है, फिर छुड़ानेवाले की खैर नहीं, इत्यादि।

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करइ छोभ संकर-मनमाहीं ॥५॥
तब हम जाइ सिवहि सिर नाई। करवाउब बिबाहु बरिआई ॥६॥
येहि बिधि भलेहि देवहित होई। मत अति नीक कहइ सब कोई ॥७॥
अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू ॥८॥

दोहा—सुरन्ह कहीं निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु-बिरोध न कुसल मोहि, बिहँसि कहेउ अस मार ॥८३॥

शब्दार्थ—भलेहि = भले ही = भली भाँति। हेतू = कारण तथा प्रेम से। झखकेतू = काम।

अर्थ—काम को भेजो कि वह जाकर शिवजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करे ॥५॥ तब हम सब शिवजी के पास जाकर, प्रणाम करके बलात् (जबरन्) विवाह करवायेंगे ॥६॥ इस प्रकार भले ही देवताओं का हित होगा। सबने कहा कि यह मत बहुत अच्छा है ॥७॥ देवताओं ने अत्यन्त प्रेम से (वा अत्यन्त कारण पड़ने से) स्तुति की तो मीनध्वज पंचबाण धारी (काम) प्रकट हुआ ॥८। देवताओं ने अपनी सारी विपत्ति कही, उसने सुनकर मन में विचार किया, (फिर) विशेष हँसकर कामदेव ने ऐसा कहा कि यद्यपि शिवजी के वैर से मेरा कल्याण नहीं ॥८३॥

विशेष—'बिषम बान'—बिषम = (यहाँ) पाँच, काम के बाण प्राय फूल के ही पाये जाते हैं, यथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।" (दो० २५६), "ते रतिनाथ सुमन सर मारे।" (अ० दो० २१)। ये पाँच हैं—कमल, अशोक, आम, चंपक और मल्लिका (बेला)। यथा—"करना केतकि केवड़ा, कदम आम के बौर। ये पाँचों सर काम के, केसोदास न और॥" भी कहा है।

'बिहँसि'—हँसना देवताओं की स्वार्थ-साधकता पर उनके प्रति निरादर के भाव से है कि अपना कार्य हो, दूसरे का चाहे नाश ही क्यों न हो जाय। 'मार'—अर्थात् काम—आज सबको मारनेवाला भी मारा जायगा, इसी से 'मार' नाम कहा गया।

तदपि करब मैं काजु तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा ॥१॥
पर-हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥२॥
अस कहि चलेउ सबहि सिरनाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई ॥३॥
चलत मार अस हृदय बिचारा। सिव-बिरोध ध्रुव मरन हमारा ॥४॥

अर्थ—तो भी मैं तुम्हारा काम करूँगा, (क्योंकि) श्रुति कहती है कि उपकार करना परम धर्म है ॥१॥ पराये-हित के लिये जो शरीर छोड़ता है, संत लोग उसकी सदा प्रशंसा करते हैं ॥२॥ ऐसा कह वह (काम) और सबको प्रणाम कर फूलों का धनुष हाथ में लिये सहायकों सहित चला ॥३॥ चलते समय काम ने हृदय में ऐसा विचार किया कि शिवजी के विरोध से निश्चय मेरा मरण ही होगा ॥४॥

विशेष—'परम धरम उपकारा।'—यथा—"परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥···निर्नय सकल पुरान वेद कर।" (उ० दो० ४०)। तथा—"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनम्।" (पुराणसमुच्चय)।

'संतत संत प्रसंसहिं···'—क्योंकि संत स्वयं भी मन, वचन और कर्म से परोपकारी होते हैं। यथा—"पर उपकार वचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया ॥" (उ० दो० १२०)। संत मित-भाषी भी होते हैं, कवि आदि कुछ बढ़ाकर भी कहते हैं।

'सबहिं सिर नाई।'—यहाँ पर सब लोकपालों और देवताओं का राजा इन्द्र भी हैं। अतः, बड़ों को प्रणाम करके जाना शिष्टाचार है। सफलता के लिये भी बड़ों को प्रणाम करके चला। (इस देह से यह इसका अंतिम प्रणाम है)।

'सहित सहाई'—वन, उपवन, वसन्त, भ्रमर, पक्षी आदि काम के सहायक हैं। यथा—"विरह-विकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल। सहित विपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल ॥"··· से-"जेहि के एक परम बल नारी। तेहिते उबर सुभट सोइ भारी ॥"(आ० दो० ३७) तक।

'सुमन धनुष कर'—काम का धनुष भी फूल का ही है। यथा—'धनुः पौष्पं···' (कालिदास)। यहाँ बाण नहीं कहा गया; क्योंकि पूर्व—"विषम बान झखकेतू।" में कह आये, दोनों जगहों पर दोनों बातें मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह ग्रन्थकार की रीति है कि जो बात दो जगह कहनी होती है, उसका कुछ अंश एक जगह और कुछ दूसरी जगह कहते हैं। दोनों प्रसंग मिलाने से पूर्णता होती है।

कामदेव यहाँ मन,वचन, कर्म तीनों से परोपकार में लगा—"मन कीन्ह विचार'—मन, 'चलेउ सबहि सिर नाई।'—कर्म, 'तदपि करबि मैं काज···"—वचन।

'ध्रुव मरन हमारा'—पूर्व अनुमान किया था—'संभु-बिरोध न कुसल मोहि।' अब निश्चय कर लिया कि मरण होगा ही। क्रमशः भय बढ़ता ही गया, यह शिवजी का प्रताप है।

तब आपन प्रभाव बिस्तारा। निजबस कीन्ह सकल संसारा ॥५॥
कोपेउ जबहिं बारि-चर-केतू। छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू ॥६॥
ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना ॥७॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक-कटक सब भागा ॥८॥

अर्थ – तब उसने अपना प्रभाव फैलाया और समस्त संसार को अपने वश में कर लिया ॥५॥ ज्यों ही कामदेव ने कोप किया, त्योंही क्षण-भर में सब वेद-मर्यादाएँ मिट गईं ॥६॥ ब्रह्मचर्य, व्रत, नाना प्रकार के संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, विराग और विवेक की सारी सेना डरकर भाग चली ॥७-८॥

(३) 'समय बिसारी'—जैसे कुत्ता-कुतिया कार्तिक में, गधा-गधी वैशाख में एवं चकवा-चकई दिन में ही संयोग करते हैं, इस समय सब बिना समय के ही कामवश हो गये।

(४) 'निसि दिन नहिं···'—कामोपभोग का समय रात है। इस समय ही काम ने अति प्रबल होकर शिवजी पर चढ़ाई की, पर चकवे-चकई की निराली रीति है कि ये दिन ही में संयोग करते हैं। इसलिये 'समय बिसारी' में इन्हें कहे हुए जीवों से भिन्न भी कहा। 'दिन' तो इनके उपयुक्त ही है, फिर भी न देखना कहा गया, क्योंकि इस तरह द्वंद्व (जोड़ा) बोलने का मुहावरा है। जैसे 'इन्हें पाप-पुण्य का विचार नहीं', इसमें तात्पर्य पाप ही से है तथा मैंने उसे बहुत-कुछ 'भला-बुरा' कहा, इसका भी तात्पर्य 'बुरा' से ही है, वैसे चक्रवाक के भी 'निसि' न देखने में ही तात्पर्य है।

'कोका'—सब-के-सब मानों कोक शास्त्र के रचयिता 'कोका' पंडित ही हो गये। ऐसे कामोपभोग में निपुण हो गये कि रात-दिन, समय-कुसमय नहीं सूझता, क्योंकि सब कामांध हैं। यह भाव भी शब्द-ध्वनि से निकलता है।

देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला ॥६॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी ॥७॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी ॥८॥

अर्थ—देवता, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, सर्प, प्रेत, पिशाच, भूत और वेताल ॥६॥ इनको सदा ही काम के चेरे (चेले एवं चाकर) जानकर मैंने इनकी दशा को विस्तार से नहीं कहा ॥७॥ जो सिद्ध, विरक्त, महामुनि और महायोगी हैं, वे भी काम-वश होकर वियोगी हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'देव दनुज नर ··· '—मनुष्य मरकर प्रेत होते हैं। 'पिसाच-भूत-बेताल'—देवयोनि-विशेष हैं। पिशाच मांसाहारी, भूत भयंकर और वेताल ज्वलितमुख होते हैं।

(२) 'भये बियोगी'—वियोगी के यहाँ दो अर्थ हैं - विगत-योगी अर्थात् काम की प्रबलता में अष्टांग योग-वृत्ति-रहित हो गये। पुनः ये लोग प्रायः स्त्री-रहित ही रहते हैं। अतः, महाकामी की तरह विरही (वियोगी) देख पड़ते हैं। सबका ज्ञान-ध्यान चला गया।

छंद—भये कामबस जोगीस तापस पामरन्हि की को कहे।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥

सोरठा—धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ ॥८५॥

शब्दार्थ—नारिमय=स्त्री-ही-स्त्री। ब्रह्ममय=ब्रह्म-ही-ब्रह्म (सब जगत् ब्रह्म ही है)। दंड=२४ मिनट का समय। मनसिज=काम। अयं=यह।

अर्थ—योगीश्वर और तपस्वी ही जब काम-वश हो गये, तब नीचों की (दशा) कौन कहे? जो चराचर (जगत्) को ब्रह्ममय देखते थे, वे उसे स्त्रीमय देखने लगे॥ स्त्रियाँ जगत् को पुरुषमय और पुरुष सब को स्त्री मय देखने लगे। ब्रह्मांड-भर के भीतर कामदेव ने दो दंडों (घड़ियों) तक यह कौतुक किया॥ किसी ने धैर्य धारण नहीं किया, क्योंकि सब के मन कामदेव ने हर लिये जिनको श्रीरघुनाथजी ने रक्खा (बचाया), वे ही उस समय में उबरे (बचे)॥८५॥

विशेष—'अबला बिलोकहिं···'—स्त्री देखती है कि मैं ही एक स्त्री हूँ और सब पुरुष हैं—सब से संयोग हो तो संतोष हो। यही दशा पुरुषों को भी जगत् के प्रति है।

'दुइ दंड भरि···कृत···'—कामदेव ने दो दंडों में ही ब्रह्मांड-भर में अपना कौतुक रचकर विस्तार कर दिया, ब्रह्मांड का कोई भाग शेष न रहा।

'जे राखे रघुबीर, ते उबरे···'—रक्षा के प्रसंग में रामजी को 'रघुबीर' कहा है, क्योंकि वीर ही रक्षा करता है। पूर्व विवेक का सहाय-सहित भागना कहा है। उसके सहायकों में जप, संयम आदि कर्म हैं। अतएव कर्म और ज्ञान का भागना कहा। उपासना की रक्षा अपनी वीरता से रघुबीर ने की, क्योंकि अमानी भक्त भगवान् के अबोध शिशु के समान होते हैं। अतः, वे उनकी रक्षा करते हैं। यथा—"सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (दो० १२५) तथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ४६)। रघुबीर के रक्षा करने का रहस्य नारद के प्रति (आ० दो० ४२-४३ में) कहा गया है।

उभय घरी अस कौतुक भयेऊ। जब लगि काम संभु पहिं गयेऊ॥१॥
सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू। भयेउ जथाथित सब संसारू॥२॥
भये तुरत जग जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गये मतवारे॥३॥

अर्थ—जबतक काम शिवजी के पास गया तबतक दो दंडों तक ऐसा कौतुक होता रहा॥१॥ शिवजी को देखकर कामदेव डर गया, (तब) सब जगत् ज्यों-का-त्यों स्थिर हो गया॥२॥ तुरंत ही संसार के सब जीव सुखी हो गये, जैसे मद के उतर जाने से मतवाले (सुखी होते हैं)॥३॥

विशेष—(१) 'उभय घरी अस··' पूर्व 'अस कहि चलेउ···' (दो० ८३) में काम का चलना कहा गया, इसी में दो दंडों में तो कौतुक का विस्तार किया। वह विस्तृत कौतुक दो दंडों तक और बराबर सर्वत्र एक प्रकार होता रहा। प्रथम के दो दंडों के बीच रचना-क्रम में कहीं-कहीं व्यतिक्रम भी हुआ, क्योंकि ब्रह्मांड-भर में फैलने में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पीछे के दो दंड मिलकर कुल चार दंड कौतुक हुआ। तब कामदेव शिवजी के पास पहुँचा।

(२) 'ससंकेउ मारू'—यथा—"स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत् साध्वस सन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥" (कुमार-संभव ३।५१) अर्थात् शिवजी पर जैसे ही काम की दृष्टि पड़ी, वह भय से शिथिल हो गया, उसे यह भी सुध न रही कि उसके हाथों से धनुष-बाण भय से गिर पड़े हैं। शंका हुई कि ये तो दुराधर्ष हैं, कैसे सामना करूँ?

(२) 'जिमि मद उतरि गये'''—मतवालों के मन, वचन और कर्म की सँभाल नहीं रहती, यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥" (दो० ११४)। फिर नशा उतर जाने पर सावधानता आ ही जाती है वैसे काम का नशा चढ़ने पर भी बुद्धि हट जाती है। जैसे हाथी मदांध होने पर व्याकुल रहता है, मद निकल जाने पर शांत हो जाता है, वैसे काम का नशा भी उतरने पर शांति आ जाती है।

रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥४॥
फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई॥५॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसुमित नव तरुराजि बिराजा॥६॥
बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥७॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुयेहु मन मनसिज जागा॥८॥

शब्दार्थ—दुराधर्ष=जिसका दमन करना कठिन हो। दुर्गम=जहाँ जाना कठिन हो, कठिन, विकट। राजि=पंक्ति, कतार। उपवन=नजरबाग। अनुरागा=काम की लहर।

अर्थ—दुराधर्ष, दुर्गम और भगवान् रुद्र को देखकर कामदेव भयभीत हो गया॥४॥ फिरने (लौटने) में लज्जा लगती है, कुछ कहा नहीं जाता, अपना मरना मन में निश्चय जानकर उपाय रचने लगा॥५॥ तुरंत ही सुन्दर वसन्त को प्रकट किया, नवीन वृक्षों की कतारें वृक्षों के फूलने से सुशोभित हो गईं॥६॥ वन, उपवन, बावली, तालाब और सब दिशाओं के विभाग परम सुन्दर लगने लगे॥७॥ जहाँ देखो वहाँ ही मानों अनुराग उमड़ रहा है, जिसे देखकर मरे हुए मन में भी काम जाग उठा॥८॥

विशेष—(१) 'रुद्रहि देखि'''—रुद्र शिवजी का ही एक रूप है, इस रूप से वे प्रलय करते हैं। इसी रूप से कामदेव को भस्म किया। यह बड़ा भयंकर रूप है। 'मदन'—क्योंकि इसका मद नहीं रह गया।

(२) फिरत लाज'''—क्योंकि कामदेव ने देवताओं के सामने कहा था—"तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥"—परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (दो० ८३)। लौटने पर लोग हँसेंगे कि झूठी ही डींग हाँकी थी।

(३) 'मुयेहु मन'''—यहाँ यदि मरे हुओं के मन का अर्थ करें, तो 'देखि' से विरोध पड़ता है, क्योंकि मरा हुआ देख नहीं सकता। अतः, 'मरे हुए मन' का अर्थ संगत है, अर्थात् जो नपुंसक हैं एवं जिन्होंने शम-दमादि साधनों से मन को निश्चेष्ट कर मार रक्खा है, उन्हीं का मन मरा हुआ होता है। जैसे पारा जब मारा (फूँका) जाता है, तब उसकी चंचलता दूर हो जाती है, वैसे इनका मन मरा है। इसपर यदि कहा जाय कि—"सिद्ध बिरक्त महा मुनि जोगी।'''" में तो ऐसे लोग आ ही गये, तो उत्तर यह है, यहाँ ये शिवजी के समीपी 'मुये' मनवाले सिद्ध आदि दूसरे हैं। यथा—"सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५); पूर्व मर्यादा में (यहाँ से भिन्न) योगी आदि कहे गये हैं। अथवा मरे हुओं का भी देखना आदि—यहाँ असंभव को संभव करना है, यह काम का प्रताप है।

छंद—जागइ मनोभव मुयेहु मन बन-सुभगता न परइ कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन-अनल-सखा सही॥
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥

दोहा—सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदयनिकेत॥८६॥

अर्थ—मुये मन (वा मरे हुओं के मन) में भी काम जागने (उद्दीप्त होने) लगा। वन की सुन्दरता नहीं कही जाती। शीतल, सुगंधित और सुन्दर मंद वायु, जो कामरूपी अग्नि का सच्चा सखा (सहायं ख्यातीति सखा=सहायक) है, चल रहा है॥ तालाबों में बहुत-से कमल खिल उठे, सुन्दर भ्रमरों का समूह गुंजार कर रहा है। कलहंस, कोयल और तोते रसीली ध्वनि करते हैं और अप्सराएँ गान करके नाचती हैं॥ कामदेव करोड़ों प्रकार से अपनी सब कलाओं (उपायों) को करके सेना-सहित हार गया, परन्तु शिवजी की अचल समाधि न डिगी, तब वह मनोज (काम) कुपित हुआ॥८६॥

विशेष—'मदन-अनल-सखा सही।'—वायु अग्नि को उद्दीप्त करता है, इससे वह अग्नि का सखा है। इसी तरह त्रिविध वायु कामाग्नि को भी उद्दीप्त करता है, यथा—"चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम-कृसानु बढ़ावनि हारी॥" (दो० १२५)। इसी से वह काम का सखा है। जो आपत्काल में सहायक होता है, वह सच्चा सखा कहाता है। यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपतकाल परखियहि चारी॥" (आ० दो० ४)। कहा भी है—"बिपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत।" इस समय काम घबराया हुआ है, वायु इस आपत्ति में उसका सहायक हुआ। अतः, 'सच्चा सखा' है।

'कलहंस'—यह हंसों की एक जाति है जिनका स्वर सुन्दर होता है।

'कोपेउ हृदयनिकेत'—हृदय ही काम का घर है, इसीसे वह मनोज कहाता है। शिवजी की समाधि अचल है। अतः, काम वहाँ जाने का मार्ग ढूँढ़ता है, इसी लिये कोप किया है।

देखि रसाल-बिटपबर-साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥१॥
सुमनचाप निज सर संधाने। अति रिसि ताकि श्रवन लगि ताने॥२॥
छाड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥३॥

शब्दार्थ—रसाल=आम। माखा (मक्ष)=क्रोधित हुआ, यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहें।" (दो० २५१)। संधाना=प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया। बिषम=तीक्ष्ण (एवं पाँच)।

अर्थ—मन से क्रुद्ध होकर कामदेव आम वृक्ष की एक श्रेष्ठ शाखा देखकर उसपर चढ़ा॥१॥ और अपने फूल के धनुष पर अपने (पंच) बाणों का संधान किया। फिर बड़े क्रोध से लक्ष्य कर और कान तक धनुष खींचकर तीक्ष्ण बाण छोड़े। वे (शिवजी के) हृदय में लगे, तब समाधि छूट गई और शिवजी जगे॥२-३॥

विशेष—'देखि रसाल बिटप'''' आम का पेड़ निकट और निशाने के योग्य था। यह काम का रथ भी कहा जाता है तथा रस का आलय (घर) है और काम भी रसरूप है। अतः, उसपर चढ़ा। यद्यपि संस्कृत में 'विटप' शाखा को कहते हैं और 'विटपी' वृक्ष को; तथापि भाषा में विटप पेड़ का ही पर्यायी माना जाता है।

'छूटि समाधि'—शिवजी की इस समाधि में विघ्न हुआ, क्योंकि श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी - "जाइ बिबाहहु सैलजहि"—"अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।" (दो० ७६)। इन्होंने आज्ञा शिरोधार्य करके फिर समाधि लगा ली थी। इधर पार्वतीजी का एवं देवताओं का दुःख शीघ्र मिटाना है।

भयेउ ईस - मन छोभ बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी ॥४॥
सौरभ - पल्लव मदन बिलोका। भयेउ कोप कंपेउ त्रैलोका ॥५॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयेउ जरि छारा ॥६॥

शब्दार्थ—सौरभ = आम।

अर्थ—श्रीशिवजी के मन में विशेष क्षोभ (उद्वेग) हुआ, (तब) उन्होंने आँखें खोलकर सब दिशाओं में देखा ॥४॥ आम के पल्लवों में (छिपे हुए) काम को देखा तो बड़ा कोप हुआ जिससे तीनों लोक काँप उठे ॥५॥ तब शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला, उससे देखते ही कामदेव जलकर राख हो गया। ॥६॥

विशेष—'ईस मन' इतने समर्थ शिवजी के भी मन में विशेष क्षोभ हुआ, यह काम की बड़ाई है। 'तीसर नयन उघारा'—शिवजी के प्रत्येक सिर में तीन नेत्र हैं, वे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के नाम से कहे जाते हैं। यथा—"भारती बदन, बिष अदन सिव ससि-पतंग पावक नयन।" (क० उ० १५२)। प्रथम दो नेत्रों (सूर्य-चन्द्रमा) से देखा था, तब काम को आम के पल्लव में पाया। फिर कुपित होकर तीसरा अग्नि-नेत्र खोला, उससे काम भस्म हो गया, क्योंकि जलाने का काम निष्ठुर अग्नि का है। यथा—"निठुर निहारिये उघारि डीठि भाल की।" (क० उ० १६१)।

हाहाकार भयेउ जग भारी। डरपे सुर भये असुर सुखारी ॥७॥
समुझि काम सुख सोचहि भोगी। भये अकंटक साधक जोगी ॥८॥

अर्थ—संसार में बड़ा हाहाकार मच गया। देवता डर गये और दैत्य लोग प्रसन्न हुए ॥७॥ भोगी (विषयी) लोग काम-सुख का स्मरण करके चिन्ता कर रहे हैं और साधक-योगी निष्कंटक हो गये ॥८॥

विशेष—'डरपे सुर भये असुर''''—देवता लोग डरे कि जब काम भस्म ही हो गया, तब जो—'संभु-सुक्र-संभूत सुत, येहि जीतै रन सोइ' वाला ब्रह्मा का वरदान है। वह सत्य कैसे होगा? अब तो शिवजी के वीर्य से पुत्र उत्पन्न होना असंभव हो गया। वैसे पुत्र के बिना तारकासुर मर नहीं सकता, अब तो दैत्य लोग और भी दुःख देंगे। देवताओं के डरने का यह भी कारण हो सकता है कि हम ही लोगों ने काम को भेजा था। अतः, शिवजी हमें भी दंड न दें।

असुरों को हर्ष हुआ कि अब हमलोग नाश से बचे, यह अच्छा हुआ।

'भये अकंटक''''—साधकों एवं योगियों के साधन-ध्यान में काम चंचलता लाता था, अब ये लोग निष्कंटक होकर प्रसन्न हैं, क्योंकि सब विकारों का मूल ही नष्ट हो गया।

छंद—जोगी अकंटक भये पतिगति सुनति रति मुरछित भई।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही॥

दोहा—अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन-प्रसंग॥८७॥

अर्थ—योगी निष्कंटक हो गये, पति (काम) की दशा सुनकर रति मूर्च्छित हो गई। वह रोती, विलाप करती एवं बहुत प्रकार करुणा करती हुई, शिवजी के पास गई॥ बड़े प्रेम से नाना प्रकार की स्तुति करके हाथ जोड़कर सम्मुख खड़ी रह गई। समर्थ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, कृपालु शिवजी ने अबला (दीन स्त्री) को देखकर सत्य वचन कहा (वा बोले ही तो सही)॥ हे रति! अब से तेरे स्वामी का नाम अनंग होगा और वह बिना शरीर ही के सब में व्याप्त रहेगा। (यदि तू कहे कि मुझे तो उससे सुख न होगा, उसपर कहते हैं कि) फिर तू अपने (पति से) मिलने का प्रसंग (हाल) भी सुन ले॥८७॥

विशेष—'रोदति बदति···'—स्त्रियाँ मृत पति को देखकर छाती पीटकर रोती हैं, साथ ही उसके गुण, तेज, प्रताप आदि भी कहते हुए विलाप करती हैं। यही 'बदति' से कहा गया। पुनः आँसू गिराना करुणा करना है। यथा—"पति-सिर देखत मंदोदरी।" से—"सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥" (लं॰ दो १०१) तक। ऐसा ही रति का रोना विस्तार से कुमारसंभव सर्ग ४ में है। उसमें काम की विलासिता का वर्णन भी विशेष है।

'अति प्रेम करि···'—इसमें 'प्रेम' से मन, 'करि बिनती' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म दिखाया अर्थात् इसने मन, वचन, कर्म से स्तुति की, इससे शिवजी शीघ्र प्रसन्न हुए।

'प्रभु आसुतोष कृपाल सिव'—प्रभु अर्थात् आप समर्थ हैं, मरे हुए का जिलाना असंभव है, उसे भी संभव कर सकते हैं। 'आसुतोष'—अर्थात् कोई आपके कितने भी अपराध करे, फिर दीन होकर प्रार्थना करे तो आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं। आपका क्रोध शीघ्र शांत हो जाता है, यह उत्तम श्रेणी का है। प्रीति और विरोध के तीन भेद दोहावली में कहे हैं। यथा—"उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुन को, बैर व्यतिक्रम जानि॥" (३५२)। 'कृपाल'—इसपर कृपा भी करेंगे। 'सिव'—कल्याण-स्वरूप हैं, देवताओं का कल्याण कैसे होगा? काम के बिना सृष्टि कैसे चलेगी? इत्यादि का प्रबन्ध भी करेंगे।

'अबला निरखि'—स्त्री का बल पति ही है, उसके मरने पर अब यह रति दीन हो गई है। अतः, यथार्थ अबला (बल-हीन) है, इससे दया करने के योग्य है।

'बिनु बपु ब्यापिहि ···'—कोप से प्रसाद में अधिकता हुई, क्योंकि पहले काम एकदेशीय एवं परिमित था; अब वह सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला तथा सर्वदेशीय बन गया। पुनः, रति के लिये उसके शरीर का भी वर देते हैं।

दोहा—कहा हमार न सुनेहु तब, नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस ॥८९॥

अर्थ—तब देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूल बरसाकर 'जय जय सुरसाईं' कहने लगे ॥६॥ उचित समय जानकर सप्तऋषि आये। श्रीब्रह्माजी ने उन्हें तुरंत ही हिमाचल राज के घर भेज दिया ॥७॥ वे पहले वहाँ गये, जहाँ श्रीपार्वतीजी थीं और छल से सने हुए वचन बोले ॥८॥ हमारा कहना तुमने नहीं सुना, उस समय नारदजी के उपदेश (पर मुग्ध थीं), लो ! अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हुआ न ? (क्योंकि) शिवजी ने काम को तो भस्म कर दिया ॥८९॥

विशेष—'सुरसाईं'—आप देवताओं के स्वामी हैं, तभी तो सबका मनोरथ पूरा किया।

'अवसर जानि'—क्योंकि अभी सब देवता एकत्र हैं, यहीं पर लग्न आदि की व्यवस्था भी सबके सामने हो जाय, अवसर पर काम होना उत्तम है। यथा—"अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिये, उदय कहा भरि पाख ॥" (दोहावली ३७४)। इसीसे ब्रह्माजी ने भी तुरंत ही सप्तर्षियों को भेजा ताकि देवताओं को धैर्य हो।

'प्रथम गये जहँ ······'—सप्तर्षियों के प्रथम वहाँ जाने का कारण यह है कि पहले परीक्षा के समय उमाजी तप कर रही थीं, अब भोग स्थान में हैं। देखें, यहाँ कैसी वृत्ति है ! पुनः यह भी भाव है कि इसी बहाने शिवजी के विषय में उनसे कुछ सुनना भी चाहते हैं।

'बचन छल-सानी।'—वचन-मात्र में ही छल है, भीतर से प्रेम है।

'अब भा झूठ तुम्हार पन'—तुम्हारा प्रण था—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।" (दो० ८०)। यह अब नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि शिवजी को ब्याह करना होता तो काम को क्यों जलाते ? अब या तो तुम कुमारी ही रहोगी या दूसरे से ब्याह करोगी।

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी ॥१॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा ॥२॥
हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥३॥

शब्दार्थ—सबिकारा = विकार-सहित। कामादि छः विकार हैं, यहाँ काम से तात्पर्य है। अनवद्य = अनिन्द्य, निर्दोष। अकाम = निष्काम एवं विषय भोग-वासना-रहित। अभोग = स्त्री आदि अष्टांग रूप भोग की इच्छा से रहित [भोग—"सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगाष्टकमुदीरितम् ॥" तथा—"सग चंदन बनितादिक भोगा।" (अ० दो० २१५)]।

अर्थ—यह सुनकर पार्वतीजी मुसुकाकर बोलीं—हे श्रेष्ठ विज्ञानी मुनियो ! तुमलोगों ने यथार्थ ही कहा है ॥१॥ तुम्हारी समझ में शिवजी ने अब काम को जलाया है और अब तक विकारी (कामी) रहे ॥२॥ हमारी समझ में तो सदाशिव सदा से योगी तथा अजन्मा, अनिन्द्य, निष्काम और भोग-विलास से रहित हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'मुसुकाइ'—मुसुकाना इस अभिप्राय से है कि अभी परीक्षा से तृप्ति नहीं हुई ? और कुछ सुनना चाहते हैं क्या ?

'उचित कहेहु''''''—यहाँ व्यंग्य कथन है। अतः, विपर्यय अर्थ होगा कि आप लोग कहाते हैं विज्ञानी, पर अज्ञानियों की तरह अनुचित कहते हैं।

(२) 'सदासिव जोगी'—यथा—"नाम वामदेव दाहिनो सदा असंग रंग अर्ध अंग अंगना अनंग को महनु है।" (क० उ० १६०)।

जौं मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी ॥४॥

तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा ॥५॥

अर्थ—जो मैंने शिवजी को ऐसा (उपर्युक्त प्रकार का) जानकर प्रीतिपूर्वक मन, वचन और कर्म से उनकी सेवा की है ॥४॥ तो हे मुनीश्वरो ! सुनिये, वे कृपानिधान ईश्वर हमारे प्रण को सच्चा करेंगे ॥५॥

विशेष—'प्रीति समेत करम ''''''—प्रीति, यथा—"नित नव चरन उपज अनुरागा।" (दो० ७३); मन, यथा—"बिसरी देह तबहि मन लागा॥" (दो० ७३);—"उपजेउ सिवपदकमल-सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥" (दो० ६०), वचन, यथा—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।''''''से—"आप कहहि सत बार महेसू॥" (दो० ८०) तक और कर्म, यथा—"संवत सहस मूल फल खाये।" (दो० ७४)।

यहाँ तक—'अब भा झूठ तुम्हार पन' का उत्तर हुआ, आगे इसी का पिष्ट-पेषण है।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेक तुम्हारा ॥६॥

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ ॥७॥

गये समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई ॥८॥

दोहा—हिय हरषे मुनि बचन सुनि, देखि प्रीति बिस्वास।

चले भवानिहिं नाइ सिर, गये हिमाचल पास ॥९०॥

अर्थ—तुमने जो कहा कि शिवजी ने काम को जला दिया, यह तुम्हारा बहुत बड़ा अविचार है ॥६॥ हे तात ! अग्नि का तो यह सहज स्वभाव है कि पाला उसके पास कभी नहीं जाता ॥७॥ यदि समीप जाय तो अवश्य ही इस प्रकार नष्ट होता है, जैसे कामदेव शिवजी के पास जाने से (जल मरा) ॥८॥ सप्तर्षि ये वचन सुनकर हृदय से हर्षित हुए और भवानी की प्रीति और विश्वास देख उन्हें सिर नवाकर चले एवं हिमाचल के पास पहुँचे ॥९०॥

विशेष—(१) 'असि ''' नाई।' ऐसे ही—जैसे।

(२) 'सोइ अति बड़ अबिबेक''''' ईश्वर किसी का हित-अनहित नहीं करता, यथा—"जीव करम बस दुख सुख भागी।" (अ० दो० ११) तथा "विश्वद्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयेउ कुमारग-गामी॥" (लं० दो० १०३)।

जब जदुबंस कृष्ण अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा ॥१॥
कृष्णतनय होइहि पति तोरा। बचन अन्यथा होइ न मोरा ॥२॥
रति गवनी सुनि संकर-बानी। कथा अपर अब कहउँ बखानी ॥३॥

अर्थ—जब पृथिवी का बड़ा भारी भार उतारने के लिये यदुवंश में श्रीकृष्ण का अवतार होगा ॥१॥ तब उनका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा पति होगा, मेरा वचन अन्यथा नहीं होगा ॥२॥ शिवजी की वाणी सुनकर रति चली गई। अब आगे की कथा बखान कर कहता हूँ ॥३॥

विशेष—'जब जदुबंस…'—अर्थात् काम का भस्म होना द्वापर से पहले त्रेतायुग में हुआ था।
'होइहि पति तोरा।'—तब वह सदेह होकर तुझे पति-सुख देगा।

मदन-दहन-प्रकरण समाप्त

देवन्ह समाचार सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाये ॥४॥
सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता ॥५॥
पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भये प्रसन्न चंद्रअवतंसा ॥६॥

अर्थ—देवताओं ने सब समाचार पाये, (तब) ब्रह्मा आदि देवता वैकुंठ को चले ॥४॥ (वहाँ से फिर) विष्णु और ब्रह्मा-समेत सब देवता, जहाँ कृपा के धाम शिवजी थे, वहाँ गये ॥५॥ उन सब ने पृथक्-पृथक् (शिवजी की) स्तुति की, (तब) चन्द्रभूषण शिवजी प्रसन्न हुए ॥६॥

विशेष—'कृपानिकेता'—अभी ही रति पर कृपा की है। फिर ब्रह्मादिक पर भी करेंगे, क्योंकि इन्होंने काम को भेजकर विघ्न किया, तब भी रुष्ट न होकर कृपा ही करेंगे।

'चंद्रअवतंसा'—चन्द्रमा क्षीण-दीन था, भूषण-रूप में धारण करके उसको बड़ाई दी, वैसे देवता लोग भी 'सुखसंपति रीते' हो गये हैं। उन्हें आश्रय देकर सुखी करेंगे, फिर देवताओं को निर्विघ्न पूजा होने लगेगी।

बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आये केहि हेतू ॥७॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति-बस बिनवउँ स्वामी ॥८॥

दोहा—सकल सुरन्ह के हृदय अस, संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार बिबाहु ॥८८॥

अर्थ—कृपा के समुद्र, धर्म के ध्वजा-रूप (शिवजी) बोले कि हे देवताओ!, कहो, किस लिये आये हो? ॥७॥ ब्रह्माजी ने कहा कि हे प्रभो! आप तो अंतर्यामी हैं, तो भी हे स्वामिन्! भक्ति-वश

आपसे विनती करता हूँ ॥८॥ हे शंकर (कल्याणकर्त्ता)! सब देवताओं के हृदय में इसका बड़ा उत्साह है। हे नाथ! ये लोग अपनी आँखों से आपका विवाह देखना चाहते हैं ॥८८॥

विशेप—'बोले कृपासिंधु···' प्रश्न—यहाँ शिवजी ने ब्रह्मा-विष्णु को भी प्रणाम क्यों नहीं किया?

उत्तर—संसार के व्यापार चलाने के लिये एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं, इनका परस्पर तुल्य व्यवहार रहता है, जिसके द्वारा कार्य रहता है, उसके पास शेष दो जाते हैं और स्तुति-प्रणाम आदि से बड़ाई देते हैं। यहाँ ब्रह्मादिक से प्रथम अपराध भी हुआ था, शिवजी प्रसन्न हो गये और तुरंत ही आगमन का कारण पूछ बैठे। आगे ब्रह्माजी पिता-रूप से समधी भी बनेंगे और विष्णु भगवान् से सखाभाव के हास-विलास भी होंगे। यथा—"मन-ही-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग्य बचन नहिं जाहीं॥" (दो० ९२)।

यह उत्सव देखिय भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥१॥
काम जारि रति कहुँ बर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥२॥
सासति करि पुनि करहि पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥३॥
पारबती तप कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥४॥
सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभुबानी। ऐसेइ होउ कहा सुख मानी ॥५॥

अर्थ—हे कामदेव के मद का नाश करनेवाले शिवजी! ऐसा कुछ कीजिये जिससे यह उत्सव आँखें भरकर देखें ॥१॥ हे कृपासिंधु! काम को जलाकर रति को वरदान दिया, यह आपने बहुत ही अच्छा किया ॥२॥ हे नाथ! समर्थ स्वामियों का यह सहज स्वभाव ही है कि दंड देकर फिर (उसपर) प्रसाद (कृपा) किया करते हैं ॥३॥ श्रीपार्वतीजी ने अपार तप किया है, अब उन्हें अंगीकार किया जाय ॥४॥ ब्रह्माजी की प्रार्थना सुन और प्रभु (श्रीरामजी) की वाणी का स्मरण करके तथा सुख मानकर (शिवजी ने) कहा कि ऐसा ही होगा ॥५॥

विशेप—'यह उत्सव देखिय···'—शीघ्र विवाह हो, तब तो लोग जी-भरके देख लें अन्यथा यदि कहीं तारकासुर ने कैद कर लिया अथवा कोई कराल दंड देकर दुखी कर दिया तो यह लालसा रह ही जायगी।

'मदन मद-मोचन'—आपने तो काम को जला ही दिया है, विवाह कुछ अपनी तृप्ति के लिये नहीं, वरन् हमलोगों के सुख के लिये करें, जिससे हमलोगों की विपत्ति दूर होगी।

'सासति करि पुनि···'—यह अर्द्धाली दीप-देहली न्याय से ऊपर नीचे की अर्द्धालियों के साथ है। काम को 'सासति' दी, फिर रति के वरदान द्वारा उसपर प्रसन्नता भी की, ऐसे ही सती को अवज्ञा आदि कारणों से त्याग-रूप दंड दिया और अब उन्होंने पार्वती-रूप से आपके ही लिये अपार तप किया है। अतः, उसी प्रभुत्व-स्वभाव से इन्हें भी अंगीकार कीजिये।

'प्रभु-बानी'—"जाइ बिबाहहु सैलजहिं।" (दो० ७६)

तब देवन्ह दुंदुभी बजाईं। बरषि सुमन जय-जय सुरसाईं ॥६॥
अवसर जानि सप्तरिषि आये। तुरतहिं बिधि गिरिभवन पठाये ॥७॥
प्रथम गये जहँ रहीं भवानी। बोले मधुर बचन छलसानी ॥८॥

(३) 'तात अनल कर'''—अग्नि के पास हिम नहीं रहने पाता, यह नियम है। इसी तरह शिवजी में काम-विकार नहीं रहता। ढिठाई से काम वहाँ गया तो अग्निनेत्र के खुलते ही भस्म हुआ, यह उस नेत्र का स्वभाव ही है। 'तात !' सम्मान के लिये है, क्योंकि पूर्व अविवेकी कहे गये हैं।

'नाइ सिर'—यहाँ भी परीक्षा के पश्चात् ही प्रणाम किया। दो० ८१ देखिये।

द्वितीय बार का प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त

सब प्रसंग गिरिपतिहि सुनावा। मदन-दहन सुनि अति दुख पावा ॥१॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुख माना ॥२॥
हृदय बिचारि संभु-प्रभुताई। सादर मुनिबर लिये बोलाई ॥३॥
सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई ॥४॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही ॥५॥

अर्थ—(ऋषियों ने) सारा समाचार हिमाचल को सुनाया। कामदेव का जलना सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ॥ १॥ फिर ऋषियों ने रति का वरदान पाना कहा। यह सुनकर हिमाचल बहुत सुखी हुए॥ २॥ हृदय में शिवजी की प्रभुता को विचारकर आदरसहित श्रेष्ठ मुनियों को बुला लिया॥ ३॥ शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी शोधवाकर शीघ्र ही वेद-विधान से लगन धराई॥ ४॥ हिमाचल ने सप्त-ऋषियों को वह लग्न-पत्रिका दी और उनके चरण पकड़कर उनकी विनती की॥ ५॥

विशेष—(१) 'सब प्रसंग'—तारकासुर से तंग होकर देवताओं का ब्रह्माजी के पास जाना, फिर काम का शिवजी के पास भेजा जाना और उसका भस्म होना।

'दुख पावा'—अब तो शिवजी से विवाह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कन्या को पति-सुख न मिलेगा और न मुझे नाती का। कन्या के महान् तप का श्रम व्यर्थ ही हुआ, इत्यादि।

'बहुत सुख माना'—इसीका हेतु आगे कहते हैं।

(२) 'प्रभुताई'—वही जो प्रथम कही गई। यथा—"सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (दो० ८८)।

'सादर मुनिबर ''' '—ये मुनिश्रेष्ठ वे ही हैं, जो वहीं समीप में रहते हैं, यथा—"जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥" (दो० ६५)। "वेदसिरा मुनि'''" (दो० ७३)।

(३) 'सुदिन सुनखत ''' '—शुभ दिन आदि पञ्चाङ्ग से निश्चित करके लगन लिखाई जाती है, यही वर के पिता के पास भेजी जाती है। 'बेगि'—शिवजी फिर कहीं समाधि न लगा लें और देवताओं की रुचि भी वैसी ही है।

(४) 'बिनय'—यह विनय सप्तर्षियों के द्वारा श्रीब्रह्माजी से किये है कि आपने अपना सम्बन्ध देकर मुझे बड़ाई दी, अन्यथा मैं तो किसी योग्य न था, इत्यादि।

जाइ बिधिहि तिन्ह दीन्हि सो पाती। बाँचत प्रीति न हृदय समाती ॥६॥

लगन बाँचि अज सबहि सुनाई। हरषे मुनि सब सुर-समुदाई ॥७॥
सुमनवृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे ॥८॥

दोहा— लगे सँवारन सकल सुर, बाहन विविध बिमान।
होहिं सगुन मंगल सुभद, करहिं अपछरा गान ॥९१॥

शब्दार्थ—पाती = चिट्ठी (लग्नपत्रिका)। बाहन = सवारी = ऐरावत, हंस, गरुड़, भैंसा आदि। सुभद = शुभदायक, इसका पाठांतर 'सुभग' = सुंदर भी है। बिमान = वायुयान।

अर्थ—उन्होंने जाकर वह लग्नपत्रिका श्रीब्रह्माजी को दी, बाँचने में उनके हृदय की प्रीति उमड़ी आती है ॥६॥ लग्न-पत्रिका पढ़कर ब्रह्माजी ने सबको सुना दी, (सुनकर) मुनि लोग और देवताओं के समूह प्रसन्न हुए ॥७॥ आकाश से फूलों की वृष्टि होने लगी और बाजे बजने लगे। दसो दिशाओं में सब मंगल (द्रव्य) सजाये गये ॥८॥ सब देवता भाँति-भाँति की सवारियाँ सजाने लगे। शुभदायक मंगल शकुन होने लगे और अप्सराएँ गान करने लगीं ॥९१॥

विशेष—'बाँचत प्रीति "लगन बाँचि ''—प्रीति के उमड़ने के कारण ये हैं कि अब देवताओं का दुःख शीघ्र दूर होगा, ब्रह्मवाणी का दिया हुआ वर पूरा होगा और स्वयं समधी बनेंगे। पुनः पत्रिका की रचना भी सुंदर है। दोबारा बाँचने का कारण यह है कि प्रथम स्वयं पढ़कर समझ लिया, तब सबको सुनाने के लिये बाँचा।

'मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे'—यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥"···से—"कनक थार भरि मंगलन्हि, कमल करन्हि लिये मात॥" (दो० ३४५-३४६) तक।

'होहिं सगुन मंगल सुभद'—यथा—"चारा चाष बाम दिसि लेई। ··" से—"जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार।" (दो० ३०२-३०३) तक।

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटामुकुट अहिमौर सँवारा ॥१॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तनु बिभूति पट केहरिछाला ॥२॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा ॥३॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला ॥४॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ॥५॥

अर्थ—शिवजी के गण शिवजी का शृंगार करते हैं। जटाओं का मुकुट (बनाकर) उसपर सर्पों का मौर रचा ॥१॥ शिवजी ने सर्प ही के कुंडल और कंकण पहने, शरीर में भस्म, बाघंबर वस्त्र, ॥२॥ सुंदर मस्तक पर चन्द्रमा और सुन्दर सिर पर गंगाजी, तीन नेत्र और सर्पों का जनेऊ है ॥३॥ कंठ में विष और छाती पर मनुष्यों की खोपड़ियों की माला धारण किये हुए हैं। (इस प्रकार के) अमंगल वेष में भी वे

कल्याण के धाम और कृपालु हैं ॥४॥ हाथ में त्रिशूल और डमरू शोभित हैं, बैल (नन्दीश्वर) पर सवार होकर चले हैं। बाजे बजते जाते हैं ॥५॥

विशेष—'सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा ।'—भाव विशेष सजाते हैं, क्योंकि दुलहा बनाना है। रंग-बिरंग सर्पों का मौर बनाया, जिनमें विविध रंगों की मणियों की-सी चमक है। सर्प की पूँछ और शिर मिलाकर कुंडल बना और सर्प ही कंकणाकार करके कर में लपेटे गये। उबटन की जगह पर विभूति है, जामे की जगह पीला बाघंबर है। डिठौने की जगह तीसरा (अग्नि) नेत्र (कजरार) ललाट पर है, दधि-अक्षत के तिलक की जगह चन्द्रमा है। तीन सूत्रों की तरह तीन सर्पों से जनेऊ बनाया। तलवार या लोहे की कोई चीज दुलहे के पास रक्षार्थ रहती है, वैसे यहाँ त्रिशूल और डमरू है। वर के गले में मुक्ता-मणियों का हार रहता है, वैसे यहाँ मुंडमाला है। दुलहे की शुद्धि के लिये स्नान होता है, वैसे यहाँ स्वयं गंगाजी ही शिर पर हैं जो परम पवित्र हैं।

'असिव बेष सिवधाम कृपाला ।'—यथा—"साज अमंगल मंगलरासी ।" (दो० २५)। "बेष तो भिखारी को भयंकर रूप संकर, दयालु दीनबंधु दानि दारिद-दहनु है ।" (क० उ० १६०)।

देखि सिवहिं सुरत्रिय मुसुकाहीं । बरलायक दुलहिनि जग नाहीं ॥६॥
बिष्णु बिरंचि आदि सुरब्राता । चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता ॥७॥
सुरसमाज सब भाँति अनूपा । नहिं बरात दूलह-अनुरूपा ॥८॥

दोहा—बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज ।
बिलग-बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज ॥६२॥

शब्दार्थ—ब्राता = समूह, समाज। अनुरूपा = योग्य। दिसिराज = चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ हैं, उनके स्वामी। पूर्व के इन्द्र (कहीं-कहीं काल), अग्निकोण के अग्नि, दक्षिण के यम, नैर्ऋत्य के निर्ऋति, पश्चिम के वरुण, वायव्य के वायु, उत्तर के कुबेर और ईशान के ईशान (शिवजी)। यथा—"रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥" (दो० १८२)।

अर्थ—शिवजी को देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुसुकाती हैं (और आपस में कहती हैं कि) इस वर के योग्य दुलहिन तो संसार-भर में नहीं है ॥६॥ विष्णु-ब्रह्मा आदि देवताओं के समाज अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़कर बारात में चले ॥७॥ देव-समाज तो सब प्रकार उपमा-रहित (सुंदर) है, पर बारात दुलहे के योग्य नहीं है ॥८॥ तब विष्णु भगवान् ने सब लोकपालों को बुलाकर हँसते हुए कहा कि सब अपने-अपने समाज समेत अलग-अलग होकर चलें ॥६२॥

विशेष—'बर लायक···'—पार्वतीजी परम सुंदरी हैं और दुलहा भयावन है, यह अयोग्यता है—यही मुसुकाने का कारण है अथवा चिद्रूपा पार्वती के अतिरिक्त इनके योग्य जगत् में दुलहिन नहीं है।

'बिष्णु बिरंचि आदि ···' वर्णन क्रम से सूचित हुआ कि आगे विष्णु भगवान् पार्षदों के साथ हैं, फिर ब्रह्माजी और इनके पीछे देव-समाज हैं।

'नहिं बरात दूलह-अनुरूपा'—सर्पादिक भूषणों से दुलहा ऐसी अनुपम बरात के योग्य नहीं है।

'विष्णु कहा हँसि···' हँसकर कहना व्यंग्य है, वही आगे कहेंगे—"हरि के व्यंग्य वचन नहिं जाहीं।" अतः, यहाँ व्यंग्योक्ति से हास्य रस है। व्यंग्य में अभिप्राय उलटकर कहा जाता है, वही ऊपर कहते हैं—दुलहे के अनुरूप बरात नहीं है, अभिप्राय यह कि बरात के योग्य दुलहा नहीं है। व्यंग्य के और कई भाव हैं—(क) शिवगणों ने शृंगार किया है, उनकी भी लालसा दुलहे के साथ रहने की है, वह भी पूरी होगी, क्योंकि देवताओं के बीच उन्हें अपने विषय में हास-विलास आदि में संकोच होगा। (ख) जब तक शिवगण साथ न रहेंगे, तबतक शिवजी की बरात न जान पड़ेगी, इत्यादि।

> बर-अनुहारि बरात न भाई। हँसी करइहहु पर-पुर जाई ॥१॥
> बिष्णु-बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने ॥२॥
> मन-ही-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग्य वचन नहिं जाहीं ॥३॥
> अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे ॥४॥
> सिव-अनुसासन सुनि सब आये। प्रभु-पदजलज सीस तिन्ह नाये ॥५॥
> नाना बाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा ॥६॥

अर्थ—हे भाइयो, वर के योग्य तो बरात नहीं है, क्या पराये गाँव में जाकर हँसी कराते जाइयेगा? ॥१॥ विष्णु भगवान् के वचन सुनकर देवता लोग मुसकाये और अपनी-अपनी सेना-समेत अलग हो गये ॥२॥ शिवजी मन-ही-मन मुसकाते हैं कि (देखो तो) हरि के व्यंग्य वचन नहीं जाते, (हरि का *अभ्यास-सा पड़ गया है, वे व्यंग्य बोलना नहीं छोड़ते*) ॥३॥ अपने प्रिय के अतिप्रिय वचन सुनते ही भृङ्गीगण को कहकर (अपने) सब गणों को बुलवाया ॥४॥ शिवजी की आज्ञा सुनकर वे सब आये और स्वामी के चरण-कमलों में शिर झुका दिये ॥५॥ (वे शिवगण) अनेक प्रकार की सवारियों और अनेक प्रकार के वेषोंवाले हैं, ऐसे अपने समाज को देखकर शिवजी बहुत हँसे ॥६॥

विशेष—'हँसी करइहहु···'—यहाँ कहते हैं कि क्या आपलोग अपनी हँसी कराइयेगा? पर व्यंग्य का तात्पर्य यह है कि वर की हँसी होगी, क्योंकि बरात अनुपम और वर कुरूप है।

'मन-ही-मन महेस···'—मन ही में मुसकाते हैं, क्योंकि यहाँ सभ्य समाज है। अतः, वर का प्रकट हँसना अयोग्य है। 'व्यंग्य वचन नहिं जाहीं।'—देवता अलग होकर चले, तब भी हरि भगवान् बार-बार व्यंग्य कहते ही जाते हैं। इनका सख्य भाव है। अतः, हँसना आत्मनिष्ठ उत्तम हास्य है।

'अति प्रिय बचन सुनत···' हरि हमारे प्रिय (सखा) हैं। अतः, उनके व्यंग्य का अभिप्राय पूर्ण करना चाहिये। 'भृंगी'—शिवजी का एक पार्षद या गण है, इसके द्वारा कहलाया। इसीसे आगे आज्ञा सुनकर गणों का आना कहा है। भृङ्गी का अर्थ बिगुल नहीं है।

'बिहँसे सिव···'—यहाँ जोर से हँसे, क्योंकि अपना ही समाज है—वह भी भूत-पिशाचों (असभ्यों) का। यह विष्णु भगवान् की व्यंग्योक्ति का उत्तर है कि अब तो वर के 'अनुहारि' बरात हो गई? अब तो 'पर-पुर' में हँसी न होगी?

> कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू ॥७॥
> बिपुलनयन कोउ नयनबिहीना। हृष्टपुष्ट कोउ अति तनुखीना ॥८॥

छंद—तनुखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनु भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥

सोरठा—नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥९३॥

शब्दार्थ—बिपुल = बहुत। हृष्टपुष्ट = मोटा-ताजा। पीन = मोटा। खीन (क्षीण) = दुबला। गति धरे = दशा धारण किये। जिनिस = भाँति। सद्य = ताजा। तरंगी = लहरी, भाँति-भाँति के स्वाँग करनेवाले। जमात = समाज। पावन गति = त्रिपुण्ड्र लगाये, रुद्राक्ष पहने, स्वच्छ वस्त्रादि धारण किये हुए।

अर्थ—(शिव समाज में) कोई बिना मुख का है तो किसी के बहुत-से मुख हैं, कोई बिना हाथ-पैर का है तो किसी के बहुत-से हाथ-पैर हैं॥७॥ कोई बहुत नेत्रोंवाले तो कोई नेत्रहीन, कोई मोटे ताजे तो कोई बहुत ही दुबले॥८॥ कोई बहुत दुबले, कोई बहुत मोटे, कोई पवित्र और कोई अपवित्र दशा धारण किये हुए हैं। भयंकर भूषण (पहने) हाथ में खोपड़ी लिये हैं, सब के शरीरों में ताजा खून लिपा है॥ इनके मुख गधे, कुत्ते, शूकर और सियार के-से हैं। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) गण अगणित वेषोंवाले हैं, उनको कौन गिन सकता है? बहुत भाँति के प्रेतों, पिशाचों और योगिनियों की जमातें (समूह) हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता॥ सब भूत परम तरंगी हैं। अत, नाचते और गीत गाते हैं, देखने में बहुत ही बेढंगे हैं और विचित्र प्रकार के वचन बोलते हैं॥९३॥

विशेष—'बोलहिं बचन बिचित्र बिधि'—भाँति-भाँति की बोलियाँ बोलते हैं अर्थात् कभी बकरे की, कभी उल्लू की, कभी भेड़िये की। ऐसी अनेक प्रकार की बोलियों को विचित्र कहा है। यथा—"नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिं। अज, उलूक, वृकनाद गीत गन गावहिं॥" (पार्वती-मंगल १०४) इत्यादि।

जस दूलह तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता॥१॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जैसा दूलह है वैसी ही बारात बन गई। यों मार्ग में जाते हुए तरह-तरह के तमाशे होते हैं।

शिव बारात-वर्णन-प्रसंग समाप्त

इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना॥२॥
सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥३॥
बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥४॥

कामरूप सुंदर तनु - धारी । सहित समाज सहित वर नारी ॥५॥
गये सकल तुहिनाचल - गेहा । गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥६॥

अर्थ—यहाँ (कन्या-पक्ष में) हिमाचल ने बड़ा ही विचित्र मंडप रचा, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥२॥ संसार मे जहाँ तक छोटे-बड़े सब पर्वत हैं, जो वर्णन करने से चुक (समाप्त हो) नहीं सकते ॥३॥ (उनको) और सब वनों, समुद्रों, नदियों और तालावों को हिमाचल ने नेवता भेजा ॥४॥ ये सब स्वेच्छानुसार रूप धरनेवाले, सुन्दर शरीर धारण कर अपने समाज और श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ ॥५॥ हिमाचल के घर गये और स्नेह-पूर्वक मंगल गाने लगे ॥६॥

विशेष—'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना'—श्रीगोस्वामीजी जिस वस्तु के वर्णन के लिये जहाँ प्रधान स्थान देखते हैं, वहीं कहते हैं, दूसरी जगह वहीं के शब्द-संकेत से सूचित कर देते हैं। मंडप की विचित्र रचना जनकपुर में अति विस्तृत रूप मे कही गई है, वहीं का 'अति विचित्र' विशेषण यहाँ भी दिया है। अतः, वैसा ही जानना चाहिये, यथा—"रचहु बिचित्र बितान बनाई।"...से—"जाइ न बरनि बिचित्र बिताना ॥" (दो० २८६–८८ तक)।

'कामरूप सुंदर तनु धारी।'—गिरि वन आदि के अधिष्ठातृ देवता लोग स्वेच्छा से सुन्दर रूप धरकर चले। ये लोग जब जैसा रूप चाहें, धर सकते हैं। यथा—"गिरि, बन, सरित, सिन्धु, सर... धरि-धरि सुदर बेष चले हरषित हिये। कँचन चीर उपहार हार मनि गन लिये ॥" (पार्वतीमंगल ९४–९५)।

प्रथमहिं गिरि बहु गृह सँवराये। जथाजोग जहँ तहँ सब छाये ॥७॥
पुर - सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि-निपुनाई ॥८॥

अर्थ—हिमाचल ने प्रथम ही से बहुत-से घर सजवाये थे। जो जिसके योग्य था वह उसमें जा बसा। ७॥ नगर की सुहावनी शोभा देखकर ब्रह्मा की निपुणता तुच्छ लगती थी ॥८॥

विशेष—छाये=कुछ अधिक कालतक रहेंगे, यह गर्भित है, यथा—"चित्रकूट रघुनंदन छाये।" (अ० दो० १३३)=डेरा डाल दिया।

छंद—**लघु लागि बिधि कै निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।**
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही ॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह-गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छवि देखि मुनि-मन मोहहीं ॥

दोहा—**जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ।**
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाइ ॥६४॥

शब्दार्थ—तोरन=बन्दनवार। पताका=झंडी, फरहरा। केतु=ध्वजा। रिद्धि (ऋद्धि)=भोजन आदि की सामग्री। सिद्धि=अणिमादि सिद्धियाँ, तथा—रिद्धि-सिद्धि=समृद्धि और सफलता।

अर्थ—पुर की शोभा को देखकर सत्य ही ब्रह्मा की निपुणाई (रचना) तुच्छ जान पड़ती है। वन, बाग, कुएँ, तालाब और नदियाँ सब सुन्दर हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है? ॥ सर्वत्र मंगल, बहुत-से बन्दनवार, झंडियाँ और ध्वजाएँ घर-घर शोभा दे रही हैं। स्त्री-पुरुष सुन्दर और चतुर हैं, जिनकी छवि देखकर मुनियों के भी मन मुग्ध हो जाते हैं ॥ जहाँ पर जगदंबा ने ही अवतार लिया है, उस नगर का वर्णन कैसे किया जा सकता है? ऋद्धि-सिद्धि-सपत्ति और सुख नित्य नये बढ़ते ही जाते हैं ॥६४॥

नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई ॥१॥
करि बनाव सजि बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना ॥२॥
हिय हरषे सुर-सेन निहारी। हरिहिं देखि अति भये सुखारी ॥३॥
सिव-समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे ॥४॥
धरि धीरज तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने ॥५॥
गये भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भयकंपित गाता ॥६॥

शब्दार्थ—खरभर=खलबली, धूमधाम, दौड़-धूप। बनाव=सजावट। अगवाना=अभ्यर्थना, सम्मान के लिये आगे बढ़कर लेना। बिडरि=भड़ककर, बहुत डरकर। सयाने=समझदार, जो शिवजी के अमंगल रूप में भी मंगल-राशि भाव को जानते हैं।

अर्थ—बारात को नगर के निकट आई सुनकर पुर में धूमधाम होने से उसकी शोभा और भी बढ़ गई ॥१॥ लोग अपना-अपना शृंगार कर और अपनी अपनी नाना प्रकार की सवारियों को सजाकर आदर-पूर्वक अगवानी लेने को चले ॥२॥ देवताओं की सेना (समाज) को देखकर हृदय से प्रसन्न हुए और विष्णु भगवान् को देखकर तो बहुत ही सुखी हुए ॥३॥ जब शिवजी का समाज देखने लगे, तब सब वाहन भड़क-भड़क कर भागे, (यहाँ वाहन घोड़े आदि का ही भागना कहा है, वाहनों के कारण उनके सवार भी न रह सके, परन्तु और अगवानी के लोग रहे, वे बारात लेकर लौटेंगे, वे ही सयाने कहे गये हैं) ॥४॥ सयाने लोग धैर्य धरकर रहे, और सब बालक लोग तो प्राण लेकर भागे ॥५॥ घर जाने पर उनके पिता-माता पूछते हैं तो भय के मारे काँपते हुए शरीर से वे वचन बोलते (उत्तर देते) हैं ॥६॥

विशेष—यहाँ पर सयानों में शांत रस, देवताओं में हास्य रस और बालकों में भयानक रस है।

'पूछहिं पितु माता'—पिता घर के बाहर द्वार पर रहने के कारण प्रथम मिले और माता भीतर थी, उसी क्रम से मिलना और पूछना लिखा है।

कहिय काह कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरियाता ॥७॥
बर बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥८॥

छंद—तनु छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जियत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमाबिवाह घर-घर बात असि लरिकन्ह कही॥

दोहा—समुझि महेस-समाज सब, जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाये बिबिध बिधि, निडर होहु डर नाहिं॥९५॥

लै अगवान बरातहि आये। दिये सबहिं जनवास सुहाये॥१॥

शब्दार्थ—धारि = लूटमार के लिये आई हुई सेना। बरियाता = बारात। बौराह = पागल। बसह = बैल, नंदी। छारा = राख, भस्म। जनवास = बारात के ठहरने का स्थान।

अर्थ—क्या कहें, (डर से) वचन भी नहीं कहा जाता है—"यह यमराज की सेना है या बारात? ॥७॥ दुलहा पागल है, बैल पर सवार है, सर्पों तथा मनुष्यों की खोपड़ियों की माला और राख—ये ही उसके विभूषण हैं॥८॥ देह में राख पुती है। सर्प और मुंडमाल ही भूषण हैं, नंगा, जटाधारी और भयंकर है। उसके साथ में भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ और राक्षस हैं॥ जो इस बारात के देखने से जीता बच जायगा सचमुच उसका बड़ा पुण्य समझा जायगा और वही उमा का विवाह भी देखेगा।" घर-घर लड़कों ने ऐसी बात कही। शिवजी का सब समाज समझकर माता-पिता हँस रहे हैं। फिर उन्होंने बालकों को बहुत प्रकार से समझाया कि निडर हो जाओ— डर की कोई बात नहीं है॥९५॥ अगवानी लोग बारात को लेकर आये और सबको ठहरने के लिये सुन्दर जनवास दिये॥१॥

विशेष—'बर बौराह'—वेष देखकर पागल कहा, अथवा किसी-किसी के मत से शिवजी नंदी पर पूँछ की ओर मुख किये बैठे थे, इससे बौराहा कहा।

'नगन'—पूर्व कहा गया कि—"तनु बिभूति पट केहरिछाला।" (दो० ९१); अर्थात् बाघम्बर वस्त्र है, फिर यहाँ नंगा क्यों कहा? इसका उत्तर ऐसा जान पड़ता है कि शिवजी ऊपर से ही बाघम्बर ओढ़े हुए थे, लँगोटी की तरह कुछ नहीं पहना था। बालक छोटे हैं, नीचे खड़े हैं। शिवजी नंदीश्वर पर (ऊपर) हैं, इसलिये बालकों को नंगे देख पड़े।

मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी॥२॥
कंचनथार सोह बर पानी। परिछन चली हरहिं हरषानी॥३॥
बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा॥४॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा। गये महेस जहाँ जनवासा॥५॥

शब्दार्थ—सुमंगल=मंगलाचार के गीत। परिछन (परि-अर्चन)=यह एक रीति है कि स्त्रियाँ वर के पास आकर उसे दही और अक्षत का टीका लगाती हैं, आरती उतारती हैं और उसके ऊपर मूसल बट्टा आदि घुमाती हैं। विकट=भयंकर। पैठीं=घुस गईं।

अर्थ—मैनाजी ने मंगल-आरती सजाई और सुमंगल गाती हुई स्त्रियों के साथ उनके दाहिने हाथ में मंगल-द्रव्य से पूर्ण सुवर्ण का थार शोभा दे रहा है। (इस प्रकार) हर्षपूर्वक शिवजी का परिछन करने चलीं ॥२-३॥ जब भयंकर वेषवाले रुद्र (शिवजी) को देखा, तब स्त्रियों के हृदय में बहुत भय उत्पन्न हुआ ॥४॥ अत्यन्त डर के कारण वे भागकर घर में पैठ गईं, (तब) शिवजी वहाँ गये, जहाँ जनवासा था ॥५॥

विशेष—'अबलन्ह उर भय'''—डरे तो पुरुष भी, क्योंकि—"धरि धीरज तहँ रहे सयाने।' कहा गया है, पर स्त्रियाँ स्वाभाविक भीरु होती हैं। अतः, इन्हें विशेष भय हुआ। पुनः भय तो शिव-समाज देखकर ही हुआ, फिर जब शिवजी को देखा और आरती देखकर उनके भूषण रूपवाले सर्प जीभ लपलपाने लगे तब तो वे बहुत ही डर गईं।

यहाँ प्रसंगानुसार शिवजी के हर, रुद्र और महेश तीन नाम कहे गये हैं। प्रथम शिवजी के उपलक्ष्य में मैनाजी का मनोरथ था कि गिरिजा को पाणिग्रहण करके इसका क्लेश हरेंगे। फिर इससे देवताओं का दुःख-हरण होगा, इसलिये 'हर' नाम कहा गया। फिर विकट वेष की भयंकरता के साथ 'रुद्र' भयानक शिव रूप) भी उपयुक्त है, फिर जब परिछन होने पर (अपमानित होने पर भी) उन स्त्रियों पर यह समझकर दया-दृष्टि रक्खी कि ये भीरु होती ही हैं, हमारा विकट-वेष देखकर डर गईं, क्योंकि हमारे ऐश्वर्य-भाव को नहीं जानतीं इससे जाकर जनवासा में ठहरे। कोई और सामान्य वर होता तो अपमान समझकर बारात-समेत लौट जाता। इस कारण महेश (महान्-ईश) अर्थात् परम समर्थ कहा जाना भी बहुत ठीक है।

मैना हृदय भयेउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी ॥६॥
अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरे बारी ॥७॥
जेहि बिधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ॥८॥

अर्थ—मैनाजी के हृदय में बड़ा भारी दुःख हुआ, उन्होंने पार्वतीजी को बुला लिया ॥६॥ अधिक स्नेह (के कारण) गोद में बिठा लिया और उनके नील कमल के समान नेत्रों में जल भर आया ॥७॥ (और वे बोलीं कि) जिस ब्रह्मा ने तुम्हें ऐसा सुन्दर रूप दिया, उस मूर्ख ने तुम्हारे वर को बावला क्यों बना दिया ? ॥८॥

विशेष—(१) 'मैना हृदय''' 'भारी'—दुःख तो और स्त्रियों को भी हुआ, पर मैनाजी को भारी है।

'लीन्ही बोलि'''—वात्सल्य के कारण करुणा हो गई, इसलिये बुला लिया; क्योंकि गोद में लेकर विलाप करेंगी। साथ ही इनके प्रति अपनी सहानुभूति (हमदर्दी) जनायेंगी। इससे दुःख और भय कुछ कम होंगे, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (सु० दो० १५)। यह भी कहा जाता है कि कहीं गिरिराज बाहर-ही-बाहर ब्याह न दें, इसलिये बुला लिया। 'गिरीसकुमारी'—पर्वत गंभीर होते हैं, ये (पार्वतीजी) पर्वतराज की कन्या हैं, इनमें भी बड़ी गंभीरता है। अतः, माता के विलाप से भी इनका धैर्य न छूटेगा, प्रत्युत माता को ही समझाकर धैर्य देंगी।

(२) 'श्याम सरोज नयन'''—मैनाजी ने सोलहो शृंगार किये हैं। अतः, नेत्रों में काजल अथवा सुरमा लगा है, इसलिये नेत्र श्याम कमल के समान कहे गये।

(३) 'जेहि विधि'''—पार्वतीजी को रूप और तदनुसार ही गुण, बुद्धि, धैर्य आदि विधिवत् देने के सम्बंध से रचयिता को 'विधि' कहा। पुनः इनके वर को अयोग्य समझकर उन ब्रह्मा को जड़ कहा, क्योंकि उन्होंने यह काम मूर्खों का-सा किया है कि ऐसी सुंदरी दुलहिन के लिये ऐसा कुरूप वर दिया! यहाँ विह्वलता में ब्रह्मा को 'जड़' कहा गया। अतः, दोष नहीं है। यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि० ३४)।

छंद—कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फल चहिय सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिवाह न हौं करउँ॥

दोहा—भई बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलाप रोदति बदति, सुता-सनेह सँभारि॥९६॥

शब्दार्थ—घर जाउ = घर बिगड़ जाय, लुट जाय, (शिवगण क्रुद्ध होकर लूट लें)। अपजस = अपकीर्ति (यह कि बारात बुलवाकर विवाह न किया)। हौं = मैं। बिलाप = बिलख-बिलखकर रोना।

अर्थ—जिस विधि ने तुमको सुन्दरता दी, उसने तुम्हारे दुलहे को बावला क्यों बनाया? जो फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिये, वह बलात् बबूल मे लग रहा है॥ मैं तुम्हारे साथ पहाड़ से गिर पड़ूँ, आग में जल जाऊँ, समुद्र में जा पड़ूँ (डूब मरूँ)। घर चाहे बिगड़ जाय और जगत् में अपयश भले ही हो, पर मैं जीते-जी यह ब्याह नहीं होने दूँगी॥ हिमाचल की स्त्री को दुःखित देखकर सब स्त्रियाँ विकल हो गईं। बेटी के स्नेह को स्मरण करके बिलख-बिलखकर रोती और कहती थीं॥९६॥

विशेष—(१) 'जो फल चहिय'''—यहाँ मैनाजी का भाव यह है कि उमा का विवाह तो अति सुन्दर विष्णु भगवान् से योग्य होता, पर महा कुवेष शिवजी से होने को है, यह बड़ा अयोग्य है। सुरतरु– विष्णु; बबूल—शिव; फल—पार्वती (परम सुंदरी); तप कराके ब्याह कराना—बरबस फल लगाना है।

(२) 'तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ'''—प्रथम गिरि से गिरना कहा, फिर सोचने लगीं कि हिमाचल दया करके यदि मृत्यु न होने दें तो अग्नि में जल मरूँगी। अग्नि भी देवता हैं, उस पक्ष के हैं। यदि न जलावें, तो समुद्र मे डूब मरूँगी। पुनः यों भी भाव कहा जाता है कि अंत में शरीर की तीन ही गतियाँ कही गई हैं, यथा—"कृमि-भस्म-विट-परिनाम तनु'''" (वि० १३६) अर्थात् पहाड़ से गिरने से मिट्टी में पड़कर कृमि हो जाऊँगी, अथवा अग्नि में जलकर भस्म होऊँगी और नहीं तो समुद्र में पड़ने पर जलचरों के खाने से बिट तो हूँगी ही।

शंका—मैनाजी ने प्रथम ही शिवजी का रूप ऐसा सुना था, फिर इतना डरीं क्यों ?

समाधान—स्त्री-स्वभाव अत्यन्त भीरु होने के कारण एवं पहले के सुने हुए से भी अत्यंत भीषण वेष देखकर विह्वल हो गईं। अतः, वे वचन भूल गये हैं। पुनः इस लीला से पार्वतीजी की महिमा प्रकट होगी। अतः, हरि-इच्छा से ऐसी घटना हुई है।

नारद कर मैं काह बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा ॥१॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहिं लागि तप कीन्हा ॥२॥
साँचेहु उन्हके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया ॥३॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ॥४॥

शब्दार्थ—माया = कृपा, (माया दंभे कृपायां च)। जाया = वह ब्याही स्त्री जो बच्चा जन चुकी हो। घालक = नाशक। भीरा = भय। प्रसव = बच्चा जनना। मोह = प्रेम।

अर्थ—(कि) नारद का मैंने क्या बिगाड़ा है कि उन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ डाला ॥१॥ जिन्होंने उमा को ऐसा उपदेश दिया कि उसने बावले वर के लिये तप किया ॥२॥ सत्य ही उनके कृपा और प्रेम नहीं है, उदासीन (रूक्ष-वृत्ति) हैं, न उनके धन है, न घर और न स्त्री ही है ॥३॥ दूसरे के घर के उजाड़नेवाले हैं, न उनके लज्जा ही है और न भय। भला, बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा को क्या जाने ? ॥४॥

विशेष—'भवन मोर जिन्ह···'—इसमें घर उजाड़ना कहकर उसका विवरण अगली तीन अर्द्धालियों में कहा है।

'बौरे बरहिं लागि···'—ऐसा वर मुफ्त भी मिलता तो न ब्याहती, फिर उसके लिये तप करवाया कि जिससे उनका अभिप्राय पक्का हो जाय। यही 'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी' में कहा गया था। 'पर घर घालक'—"चित्रकेतु कर घर उन घाला।···" आदि पूर्वोक्त सप्तर्षियों के वचन स्मरण हो रहे हैं, जो परीक्षार्थ कहे गये थे। 'बाँझ कि जान···' अपने स्त्री और कन्या होती और ऐसा वर मिलता, तब जान पड़ता कि माता पिता को ऐसी बातों से कितना दुःख होता है। 'लाज न भीरा'—दक्ष ने शाप भी दिया, तब भी घर घालने की आदत नहीं छोड़ी।

जननिहिं बिकल बिलोकि भवानी। बोलीं जुत बिबेक मृदु बानी ॥५॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥६॥
करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइय काहू ॥७॥
तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥८॥

अर्थ—माता को विकल देखकर भवानी (पार्वतीजी) विवेक-सहित कोमल वाणी बोलीं ॥५॥ हे माता ! ऐसा विचार कर सोच न करो कि जो विधाता लिखता है, वह नहीं टल सकता ॥६॥ हमारे कर्म (प्रारब्ध) में जो बावला ही पति लिखा है, तो फिर क्यों किसी को दोष लगाया जाय ? ॥७॥ क्या तुमसे विधाता के लिखे हुए अंक मिट सकते हैं ? अर्थात् नहीं मिट सकते, (तो फिर) हे माता ! वृथा कलंक मत लो ॥८॥

विशेष—(१) 'जननिहि बिकल ··'—'भवानी' अर्थात् यद्यपि माता आदि व्याकुल हैं और शिवजी में सबकी अप्रीति है तो भी इनकी निष्ठा अटल है, अपनेको भव-पत्नी ही मानती हैं। पुन ये लीला-मात्र मे मैना की बेटी हैं, पर अपनेको—'सदा संभु अरधंग निवासिनि' जानती हैं, नहीं तो लड़की माँ को उपदेश क्योंकर करती?

'बोलीं जुत ··'—इनके समझाने का कारण यह है कि सब सखियाँ व्याकुल हैं। अत, समझा नहीं सकतीं। जैसे दो० २४५ में श्रीसुनयनाजी को उनकी चतुर सखी ने समझाया है, अत, माता के दु ख मिटाने के लिये उमाजी को स्वय समझाना पड़ा। दूसरा यह भी कारण है कि जब मैनाजी श्रीनारदजी को अनुचित कहने लगीं, तब उमा के लिये बोलना आवश्यक हुआ, क्योंकि गुरु-निन्दा सुनना पाप है, इस मर्यादा रक्षा के लिये बोलीं।

(२) 'सो न टरइ जो ··'—यहाँ गिरिजाजी पूर्वकथित नारद के वचनों का ही स्मरण कराती हैं, जो उन्होंने हस्त रेखा देखकर कहे थे। उन्होंने तो हमारे कर्मानुसार ब्रह्मा का लिखा कहा है तो किसी का क्या दोष? यथा—"करम लिखा जो बाउर नाहू।"—"जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल बेष। अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख॥" (दो० ६७)।

(३) 'तुम्ह सन मिटिहि कि ··'—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥' (दो० ६८)। तब तुमसे कैसे मिटेगा?

'व्यर्थ जनि लेहु कलंक'—जब मेरे कर्म ही का दोष है, इसमें न तो मुनि का दोष और न विधाता का ही दोष है, तब फिर व्यर्थ किसी को दोष लगाने से क्या लाभ? तथा गिरि से गिरने आदि में लोग तुम्हीं को दोष देंगे। जब विधि के लिखे के अनुसार ब्याह होगा ही, तब रोने से भी कलंक ही है, लोग कहेंगे कि बहुत रो पीटकर क्या कर लिया? इत्यादि।

छंद—जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमा-बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

दोहा—तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि, गवने तुरत निकेत॥९७॥

शब्दार्थ—करुना (करुणा)=मन का वह धर्म जो आश्रित के दु ख पर विकलता लाकर उस दु ख के मिटाने के लिये उद्यत करता है, पर यहाँ पर इसका अर्थ 'शोक प्रकट करना' है। बिनीत=नम्र। तुहिन=हिम। निकेत=घर।

अर्थ—हे माता! कलंक मत लो, करुणा छोड़ो, इसका समय नहीं है। दु ख और सुख जो हमारे लिलार में लिखा है, वह तो जहाँ ही जाऊँगी, वहीं मिलेगा॥ उमाजी के नम्र और कोमल वचन सुनकर

सब स्त्रियाँ सोचती हैं और बहुत प्रकार से विधाता को ही दूषण लगा-लगाकर आँखों से आँसू गिरा रही हैं॥ यह समाचार सुनकर तुरन्त उसी समय हिमाचल-राज श्रीनारद के साथ और सप्त ऋषियों को भी साथ लिये हुए घर में गये ॥६७॥

विशेष—'सकल अबला सोचहीं'—उमा के विनम्र और कोमल वचनों का प्रभाव पड़ा। अब नारद का दोष देना सब ने छोड़ दिया, क्योंकि आगे—'विधिहिं लगाइ···' कहा है। सोचती हैं कि ऐसी सयानी कन्या को अयोग्य वर मिला। विधि ने ऐसी अविधि क्यों की? अतः, उसपर बहुत भाँति से दोष लगाने लगीं, यथा—"विधि करतब उलटे सब अहहीं।"···से—"तेहि इरषा बन आनि दुराये॥" (अ० दो० ११९) तक, आदि।

'तेहि अवसर नारद सहित ···'—इसमें 'सहित' और 'समेत' दोनों एक ही अर्थ के हैं और एक साथ आये हैं। इससे जनाया कि केवल नारदजी से काम न चलेगा। अतः, सप्तर्षियों को भी साथ ले गये। इनका ले जाना अति आवश्यक दिखाने के लिये एक 'समेत' पद अधिक दे दिया।

श्रीनारदजी को तो स्त्रियाँ दोष देती ही थीं और इनके विरुद्ध में परीक्षार्थ कहे हुए सप्तर्षियों के वचनों को रखती थीं। अतः, नारदजी के समझाने के साथ साथ ये भी रहेंगे और उसमें अपनी सम्मति देते रहेंगे, तब मैना आदि को प्रतीति होगी।

यह भी कहा जाता है कि नारद सहित जाते थे, सप्तर्षि भी आ गये, तब इन्हें भी आवश्यक जानकर साथ ले लिया। यह घटना-क्रम दिखाने के लिये वैसा ही लिख दिया।

तब नारद सबही समुझावा। पूरब - कथा - प्रसंग सुनावा ॥१॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी ॥२॥
अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु-अरधंग-निवासिनि ॥३॥
जग - संभव - पालन - लय कारिनि। निज इच्छा लीला-बपु-धारिनि ॥४॥

शब्दार्थ—अजा=कर्म-वश जन्म-रहित। अविनासिनि=नाश रहित, मोहादि से आत्म रूप नहीं भूलतीं—सदा एकरस स्वरूप-स्मृति रहती है। बपु=शरीर।

अर्थ—तब नारदजी ने सभी को समझाया और (उमा के) पूर्व-जन्म की कथा का प्रसंग सुनाया॥१॥ हे मैना! मेरी सत्य वाणी सुनो। तुम्हारी बेटी जगत् की माता और भवानी (शिवपत्नी) हैं॥२॥ ये अजन्मा, अनादिशक्ति और अविनाशिनी हैं तथा सदा शिवजी के आधे अंग में निवास करनेवाली हैं॥३॥ जगत् की उत्पत्ति, पालन और लय करनेवाली हैं और अपनी इच्छा से शरीर धारण करनेवाली हैं॥४॥

विशेष—श्रीनारदजी ने ही समझाया, क्योंकि इनकी पूर्वोक्त बातों पर मैना को संदेह था। अब दूसरे के समझाने से प्रबोध होता तो इनकी लघुता होती। पुनः पूर्व में हिमाचल ने इनको त्रिकालज्ञ कहा था, उस समय इन्होंने वर्तमान और भविष्य को ही कहा था। भूतकाल का महत्त्व ऐश्वर्यमय होने से नहीं कहा गया था। अब उसकी पूर्ति करेंगे। इस ऐश्वर्य को सुनकर सब को संतोष हो जायगा और विधाता को भी दोष देना छूट जायगा।

'सदा संभु-अरधंग'''—शिवजी से इनका कभी वियोग नहीं है—ये लीला-मात्र से पृथक देख पड़ती हैं, तब यहाँ जन्म होना आदि प्रत्यक्ष बातों का क्या रहस्य है? इसपर आगे कहते हैं कि 'निज इच्छा लीला''' अर्थात् जब चाहती हैं, स्वेच्छा से जन्म लेती हैं। यथा—"जनमी जाइ हिमाचल-गेहा।" (दो० ८२)। कभी इस तरह इनका जन्म और हुआ है? इसका उत्तर आगे कहते हैं—

जनमी प्रथम दच्छगृह जाई। नाम सती सुंदर तनु पाई ॥५॥
तहँउ सती संकरहिं बिबाही। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं ॥६॥
एक बार आवत सिव-संगा। देखेउ रघुकुल-कमल-पतंगा ॥७॥
भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा ॥८॥

अर्थ—प्रथम (इन्होंने) दक्ष के घर में जाकर जन्म लिया। वहाँ इनका नाम सती था और सुन्दर शरीर पाया था ॥५॥ वहाँ भी सतीजी शिवजी से ब्याही गई थीं, यह कथा सब जगत् में प्रसिद्ध है ॥६॥ एक बार शिवजी के संग (कैलाश को) आते हुए, (इन्होंने) रघुवंश-रूपी कमल के (विकाशक) सूर्य-रूप (श्रीरामजी) को देखा ॥७॥ तब इनको मोह हुआ। फिर शिवजी का कहा भी नहीं माना और भ्रम के वश श्रीसीताजी का वेष बना लिया था ॥८॥

विशेष—'कथा प्रसिद्ध''''''—"सती-जन्म और उनका दक्ष-यज्ञ में शरीर त्यागना, वीरभद्र-द्वारा यज्ञ-विध्वंस और पार्वती-जन्म"—ये कथाएँ श्रीमद्भागवत (स्कंध ४ अ० २-६), मत्स्यपुराण, शिवपुराण, कालिकापुराण आदि में विस्तार से हैं। संक्षेपतः इस ग्रंथ में भी पहले (दो० ६० से ६५ तक) कह ही आये हैं।

"सती-मोह, उनका सीता-रूप-धारण, श्रीराम-परीक्षा, सती-त्याग"—ये कथाएँ शिव-पुराण (सती-खंड अ० २५-२६) में हैं। इस ग्रंथ में ये सब कथाएँ दो० ४९–५६ में हैं।

छंद—सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।
हरबिरह जाइ बहोरि पितु के जज्ञ जोगानल जरी॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तप किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकरप्रिया॥

दोहा—सुनि नारद के बचन तब, सब कर मिटा बिषाद।
छन महँ ब्यापेउ सकल पुर, घर-घर यह संवाद ॥९८॥

अर्थ—सतीजी ने जो सीताजी का वेष धारण किया, उसी अपराध से श्रीशिवजी ने इनका त्याग किया। शिवजी के विरह (दुःख) में फिर ये पिता के यज्ञ में जाकर योगाग्नि में जल गईं॥ अब तुम्हारे घर में जन्म लेकर अपने पति के लिये (इन्होंने) बड़ा कठिन तप किया है। ऐसा जानकर संदेह छोड़

दो। गिरिजाजी तो सदा ही शिवजी की प्रिया (प्रिय-पत्नी) हैं ॥ तब नारदजी के वचन सुनकर सबका विषाद (शोक) मिट गया और क्षण-भर में सम्पूर्ण नगर में घर-घर यह संवादात्मक कथा फैल गई ॥९८॥

विशेष—मैना मोह-निवारण की यह कथा शिव-पुराण (पार्वती खंड अ० ४४) में है।

तब मैना हिमवंत अनंदे। पुनि पुनि पारवतीपद बंदे ॥१॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने ॥२॥
लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहि हाटकघट नाना ॥३॥
भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु व्यवहारा ॥४॥
सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी ॥५॥

अर्थ—तब मैना और हिमवान् आनंद में मग्न हो गये और बार-बार पार्वतीजी के चरणों की वंदना करने लगे ॥१॥ स्त्री, पुरुष, बालक, जवान और सयाने (वृद्ध) - नगर के सभी लोग अति हर्षित हुए ॥२॥ नगर में मंगल-गान होने लगे, सभी ने सोने के अनेक कलश सजाये ॥३॥ पाक शास्त्र में जैसी कुछ रीति थी, तदनुसार अनेक प्रकार की रसोई हुई ॥४॥ जिस घर में माता भवानी ही रहती हैं, वहाँ की रसोई का वर्णन क्या हो ? ॥५॥

विशेष—यहाँ आनंदित होने में मैना का नाम प्रथम है, और सब लोगों में 'नारि' प्रथम कही गई है, क्योंकि इनकी व्याकुलता अधिक थी। नारदजी ने मैना के प्रति संबोधन करके कहा भी है, इससे आनंदित होनेवालों में भी प्रथम इन्हीं का नाम लिया।

'भाँति अनेक भई······'—चर्व्य (चबाकर खाने योग्य पदार्थ), चोष्य (चूसे जाने योग्य पदार्थ), लेह्य (चाटे जाने योग्य पदार्थ) और पेय (पीने योग्य पदार्थ)—ये चार प्रकार के भोजन के भेद हैं। यह महाराज नल-रचित 'पाकशास्त्र' में प्रमाण है। कोई-कोई भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—भोजन के ये ही चार भेद मानते हैं। प्रत्येक में षट् रस (छः रस) के व्यंजन होते हैं—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़ुवा, खार (नमकीन) और कषाय (जैसे आँवला) यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक-एक रस अगनित भाँती" (दो० ३२८)।

'सूपशास्त्र'—(सूप = दाल) रसोई में दाल का उत्तम बनना मुख्य है। अतः, पाक-शास्त्र को सूप-शास्त्र कहते हैं।

'लगे होन मंगल ······'—प्रथम मंगल गान होते थे। यथा—"संग सुमंगल गावहिं नारी।" (दो० ९५); पर शिवजी का भयंकर वेष देखने पर स्त्रियों के डरने से वे बंद हो गये थे। अब फिर होने लगे। प्रथम 'सिसु' वर्ग का डरना कहा था; अतः, यहाँ उन्हें भी 'हरषाने' कहा।

सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती ॥६॥
बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा ॥७॥
नारिबृंद सुर जेंवत जानी। लगीं देन गारी मृदु बानी ॥८॥

शब्दार्थ—देव सब जाती=आठ दिग्पाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, उनचास मरुत्, यक्ष, गंधर्व, किन्नर इत्यादि देवताओं की जातियाँ (भेद) हैं।

अर्थ—सब बरातियों को—विष्णु-ब्रह्मा और सब जातियों के देवताओं को आदर-पूर्वक (गिरिराज ने) बुलवा लिया ॥६॥ भोजन करनेवाले विविध (तरह-तरह की कई) पंक्तियों में बैठे, (तब) चतुर सुआर (रसोइये) परसने लगे ॥७॥ देवताओं को भोजन करते जानकर स्त्रियाँ कोमल वाणी (डहकन गीतों) में गाली देने लगीं ॥८॥

विशेष—'विविध पाँति……' क्योंकि देवताओं की कई जातियाँ हैं। 'सब देव अलग-अलग बैठे हैं। 'निपुन सुआरा'—चतुराई से परसनेवाले हैं, भोजन इधर-उधर नहीं गिरने पाता, नम्रतापूर्वक प्रिय वचन कहकर परसते हैं। यथा—"सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत। छनमहँ सब कहँ परुसिगे, चतुर सुआर बिनीत ॥" (दो० ३२८)।

श्रीसीताराम-विवाह में प्रथम विवाह हुआ, तब जेवनार और यहाँ प्रथम भोजन तब विवाह कहा गया है। इसके कारण—(क) श्रीरामजी मनुष्यावतार में हैं। अतः, भूलोक की रीति कही गई है और शिव-विवाह में देवलोक की रीति है। (ख) श्रीरामविवाह में एक जाति के लोग हैं। निमिवंश और रघुवंश एक वंश की दो शाखाएँ हैं। अतः, खाने में संदेह नहीं था, देवताओं में विविध जातियाँ हैं। संभव था कि विवाह हो जाने पर, उनका प्रयोजन निकल जाने पर, इधर-उधर चल दें, इसलिये गिरिराज ने प्रथम ही भोजन करा दिया।

छंद—गारी मधुर सुर देहिं सुंदरि व्यंग्य वचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं ॥
जेंवत जो बढ़यौ अनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यौ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यौ ॥

दोहा—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहँ, लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिवाह कर, पठये देव बोलाइ ॥६६॥

शब्दार्थ—सुर (स्वर)=आवाज। बिनोद=हास-विलास। सचु=सुख।

अर्थ—सुन्दरी (स्त्रियाँ) मीठे स्वर से गाली देती (गाती) और व्यंग्य वचन सुनाती हैं। देवता विनोद सुनकर आनन्दित होते हैं; (इसी लिये) भोजन करने में बड़ी देर लगा देते हैं॥ भोजन के समय जो आनन्द बढ़ा, वह करोड़ों मुखों से भी नहीं कहा जा सकता। हाथ-मुख धुलवाकर पान दिये गये, (तब) जिनका जहाँ निवास स्थल था, वे वहाँ गये॥ फिर मुनियों ने आकर हिमाचल को लग्न-घड़ी सुनाई। उन्होंने विवाह का समय जानकर देवताओं को बुला भेजा ॥९९॥

विशेष—'गारी मधुर सुर देहिं···' ये प्रेम की गालियाँ हैं और विवाह के अवसर की हैं। इनसे देवता लोग विनोद मानते हैं। यथा—"अमिय गारि गार्‌यो गरल, गारि कीन्ह करतार। प्रेम बैर की जननि जुग, जानहिं बुध न गँवार ॥" (दोहावली ३२८)।

'व्यंग्य'—शिवजी के तो माँ-बाप का पता ही नहीं है। ब्रह्माजी समधी हैं। अतः, इनकी स्त्री सरस्वती से गिरिराज का सम्बन्ध लगाकर गाली देती हैं, इत्यादि।

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहिं जथोचित आसन दीन्हे ॥१॥
बेदी बेदबिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी ॥२॥
सिंहासन अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा ॥३॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिर नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई ॥४॥

अर्थ—(हिमालय ने) सब देवताओं को आदरपूर्वक बुलवा लिया और सभी को बैठने के लिये यथायोग्य आसन दिये ॥१॥ वेदोक्त रीति से वेदिका सँवारी (रची) गई। स्त्रियाँ सुंदर मंगल गीत गाने लगीं ॥२॥ (वेदी पर) अत्यन्त दिव्य सिंहासन शोभित है जो ब्रह्मा का (अपने हाथ से) बनाया हुआ है, (इसी से) इसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ हृदय में अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके और ब्राह्मणों को शिर नवाकर शिवजी (सिंहासन पर) बैठे ॥४॥

विशेष—'जाइ न बरनि बिरंचि बनावा।'— पूर्व में कहा गया है—"पुर-सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई॥" (दो० ९४)। इसके अनुसार यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिये कि और सृष्टि ब्रह्मा संकल्प से रचते हैं, वह लघु लगती है, पर इसे अपने हाथों से बनाया है। अतः, विशेष है। इसी से—'जाइ न बरनि' कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—"जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे। ···मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं।" (दो० ३१०); इत्यादि। जहाँ भी ब्रह्मा के हाथ से रचना कहा है, वहाँ अवर्ण्य भी कहा है।

'बैठे सिव बिप्रन्ह···'—विवाह करानेवाले ब्राह्मण लोग सम्मुख थे। सदाचार एवं लोकरीति के अनुसार उन्हें प्रणाम किया, मंगल कार्य में इष्टदेव का स्मरण करना भी योग्य ही है। हृदय में ही स्मरण किया, क्योंकि मानसिक स्मरण श्रेष्ठ है।

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं। करि सिंगार सखीं लै आईं ॥५॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनइ छबि अस जग कबि को है ॥६॥
जगदंबिका जानि भवभामा। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा ॥७॥
सुंदरता - मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी ॥८॥

अर्थ—फिर मुनीश्वरों ने उमा को बुलाया। सखियाँ शृंगार करके उनको वहाँ ले आईं ॥५॥ (उमा का) रूप देखते ही समस्त देवता मुग्ध हो गये, (फिर भला) ऐसा कवि कौन है, जो उस छबि का वर्णन करे ? ॥ ६ ॥ जगत् की माता और भव-पत्नी जानकर देवताओं ने उमा को मन-ही-मन प्रणाम किया ॥७॥ भवानी सुन्दरता की सीमा हैं ; (अतः) करोड़ों मुखों से भी कहने में नहीं आ सकतीं ॥८॥

विशेष—'देखत रूप सकल सुर मोहे।···' यहाँ 'मोहे' का अर्थ 'लुभा गये', 'रीझ गये' है। यथा—"देखि रूप मोहे नर नारी।" (दो० २१०); तथा—"चारयो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरन कौन गने॥" (केशव) अर्थात् अत्यंत शोभा है।

'बरनइ छबि ···'—अमित होने से छवि का वर्णन कवि के सामर्थ्य से बाहर है। यह भी कहा जाता है कि महाकवि कालिदास ने उमा के नख-शिख का वर्णन किया था। फल यह मिला कि कुष्ट हो गया, फिर बहुत प्रार्थना करने पर रघुवंश बनाने की आज्ञा हुई, उसके बनाने पर रोगमुक्त हुए। यहाँ उसी पर लक्ष्य है।

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जग-जननि-सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकहि न सकुच पति-पद-कमल मनमधुकर तहाँ॥

दोहा—मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजेउ संभु-भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥१००॥

अर्थ—जगन्माता श्रीपार्वतीजी की महान् शोभा करोड़ों मुखों से भी कहते नहीं बनती। वेद, शेष और शारदा भी कहते हुए सकुचाते हैं तो तुच्छ बुद्धिवाला तुलसीदास क्या कहेगा? छवि की खान माता भवानी मंडप के मध्य में जहाँ शिवजी थे, वहाँ गईं। लाज (के कारण) से पति के चरण-कमलों को देख नहीं सकती थीं, पर मनरूपी भ्रमर वहीं था। मुनि की आज्ञा से शिव-पार्वतीजी ने गणेशजी की पूजा की। देवता अनादि होते हैं, ऐसा जी में जानकर तथा सुनकर कोई सदेह न करे॥१००॥

विशेष—'सकुचहिं कहत ···'—श्रुति से भूलोक, शेष से पाताल और शारदा से ब्रह्मलोक के प्रधान वक्ता सूचित किये। जब तीनों लोकों के प्रधान वक्ता नहीं कह सकते तब और कोई क्या कहेगा? क्योंकि महा शोभा है। 'जगजननि'—कुछ कहा भी चाहें तो जगन्माता की शोभा (सौन्दर्य) का वर्णन करने का पुत्ररूप कवियों को अधिकार भी नहीं है। पुन जगत् मात्र की जननी हैं, तो शोभा को भी पैदा करनेवाली हैं, फिर प्राकृत उपमाओं द्वारा उमा का वर्णन कैसे हो?

'सकुच पति-पद ···'—लोक लज्जा के कारण उमाजी जनाती-बाराती के बीच में पति-पद-कमल कैसे देखें? क्योंकि दुलहिन बनी हैं!

'सुर अनादि···'—जैसे सूर्य और चन्द्रमा भगवान् के मन और नेत्र से आदि में ही हुए, फिर भी कारण-विशेष से कश्यप और समुद्र के भी पुत्र-रूप में प्रकट हुए, वैसे ही सभी देवता अनादि हैं और वेद की मंत्रमयी मूर्त्ति भी अनादि है ही, इसी से गणेशजी भी अनादि हैं।

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥१॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी॥२॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥३॥
बेदमंत्र मुनिवर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं॥४॥

अर्थ—वेदों में जिस प्रकार विवाह की विधि कही हुई है, वह सब महामुनियों ने करवाई ॥१। गिरिराज हिमाचल ने हाथ में कुश, कन्या का हाथ और जल लेकर, कन्या को भवानी (भव-पत्नी) जानकर भव (शिवजी) को समर्पित कर दिया ॥२॥ जब महादेव ने पाणिग्रहण कर लिया, तब सभी सुरेश (लोक-पाल) हृदय में प्रसन्न हुए ॥३॥ श्रेष्ठ मुनि लोग वेदमंत्र (स्वस्ति-वचन आदि) का उच्चारण कर रहे हैं; देवता "जय जय जय शंकर" (की ध्वनि) करने लगे ॥४॥

विशेष—'गहि गिरीस कुस···'—इसमें 'पानी' शब्द अंत में देकर उसका 'गिरीस' 'कुश' और 'कन्या' तीनों के साथ होना सूचित किया है। पुनः 'पानी' शब्द श्लेषार्थक भी है, इसके अर्थ 'हाथ' और 'जल' दोनों हैं।

'समरपी जानि भवानी'—यहाँ कन्यादान करना नहीं है, क्योंकि गिरीश इनकी महिमा जान चुके हैं। अतः, भवानी अर्थात् भव-पत्नी जानकर भव की वस्तु भव को समर्पित किया है कि ये तो आपकी सदा अर्द्धांगनिवासिनी हैं ही, हमारे यहाँ कुछ काल आकर धरोहर की तरह रहीं; अब मैं आपकी वस्तु आपको सौंपता हूँ।

'हिय हरषे तब···'—पाणि-ग्रहण होने पर तारकासुर के वध का निश्चय हो गया इससे देवताओं को पूर्ण हर्ष हुआ। इससे प्रथम गिरिजा के सती-शरीर से हुए अपराध, एवं अपने द्वारा काम भेज कर की हुई अवज्ञा और शिवजी के प्रबल वैराग्य के कारण संदेह था।

'जय जय जय···'—यहाँ 'जय' शब्द में आदर की वीप्सा है। यथा—"आदर अचरज आदि हित, एक शब्द बहु बार। ताही वीप्सा कहत हैं, जे सुबुद्धि भंडार॥" (अलंकार मं०)। यह भी भाव लिया जाता है कि तीन बार मन, वचन, कर्म से एवं शिवजी की कालत्रय की जय के लिये कहा तथा तीन बहुवचन है। अतः, अनंत बार जय की भी सूचना दी।

बाजहिं बाजन विविध विधाना। सुमनवृष्टि नभ भइ विधि नाना ॥५॥
हर गिरिजा कर भयेउ विवाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू ॥६॥
दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु वसन मनि वस्तु विभागा ॥७॥
अन्न कनक-भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥८॥

अर्थ—तरह-तरह से बाजे बजने लगे, आकाश से नाना प्रकार के फूलों की वर्षा होने लगी ॥५॥ शिव-पार्वती का विवाह हुआ, सब भुवनों (लोकों) में भरपूर उत्साह छा गया ॥६॥ दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि बहुत प्रकार की चीजें ॥७॥ अन्न और सुवर्ण के पात्र—रथों में भर-भरकर इतने पदार्थ दहेज में दिये कि उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'बाजहिं बाजन ···' यथा—"झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥ बाजहिं बहु बाजने सुहाये।" (दो० २६२)। 'वृष्टि'—मघा की सी झड़ी।

(२) 'हर गिरिजा ···'—हर देवताओं के दुःख हरनेवाले और गिरिजा परोपकारिणी हैं। यथा—"संत विटप सरिता गिरि-धरनी। परहित हेतु सबन्हि की करनी॥" (उ० दो० १२४)।

यहाँ सेन्दुर-दान, कोहबर एवं भाँवरी आदि रीतियाँ नहीं हुईं। इससे जान पड़ता है कि देव-लोक में ये रीतियाँ नहीं होतीं। पाणि-ग्रहण मात्र ही होता है।

(३) 'दासी दास तुरग रथ नागा।'''—ये दासी वे हैं जो गिरिजा के शुचि सेवक हैं। यथा—"दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥" (दो० ३३८) तथा—"दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी। दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहिं पियारी पेव की॥" (पार्वतीमंगल १४७)। 'रथ' को 'तुरग' और 'नागा' के बीच में देने से यह भी भाव है कि घोड़े और हाथी जुते रथ दिये और अलग से हाथी-घोड़े भी दिये।

छंद—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यौ।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यौ॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोष सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पद-पाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो॥

दोहा—नाथ उमा मम प्रान सम, गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु॥१०१॥

शब्दार्थ—भूधर = पर्वत। पूरनकाम (पूर्णकाम) = सदा तृप्त एवं औरों की भी कामना पूर्ण करनेवाले। पाथोज = कमल। प्रानसम = प्राणों के समान (प्रिय)। 'सम' का पाठांतर 'प्रिय' भी है।

अर्थ—हिमाचल ने बहुत प्रकार के दहेज दिये, फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे शंकर! आप तो पूर्णकाम हैं। मैं आपको क्या देने के योग्य हूँ? और चरणकमलों को पकड़कर रह गये॥ कृपा के समुद्र शिवजी ने सब तरह से श्वशुर को सन्तुष्ट किया। फिर मैनाजी ने (शिवजी के) चरण-कमल पकड़ लिये, उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण है॥ (वे बोलीं) हे नाथ! उमा मुझे प्राणों के समान (प्रिय) है, इसे अपने गृह की टहलनी बनाइयेगा और अब उसके सब अपराधों को क्षमा कीजियेगा, प्रसन्न होकर यही वर (मुझे) दीजिये॥१०१॥

विशेष—'कर जोरि हिम'''—देने के साथ विनय करने की रीति है अन्यथा अभिमान पाया जाता है।

'गृहकिंकरी करेहु'''—पूर्व 'अकुल अगेह' सुन चुकी हैं। अतः, कहती हैं, अब इससे घर की ही सेवा कराइयेगा अर्थात् घर बनाकर रहियेगा। भाव—पूर्व में सती को अकेली बाहर न छोड़ते तो उसकी वह दशा न होती। अतः, यह मर्यादा से बाहर न जाने पावे।

'छमेहु सकल अपराध''' अपराधों के लिये सती को माफी नहीं दी, पर अब इसके अपराधों को क्षमा कीजियेगा, यह मुझे वर मिले। 'सकल' में यह भी ध्वनि है कि अब सती-शरीर के भी इसके अपराध और जो मैं आपका परिछन न करके भाग गई थी, वह अपराध भी क्षमा कीजियेगा; इत्यादि।

मैनाजी ने मन, वचन, कर्म से विनय की—'प्रेम परिपूरन हियो' से मन, 'गहे पद' से कर्म और 'नाथ उमा मम''' आदि से वचन से विनय जानना चाहिये।

बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनी भवन चरन सिर नाई ॥१॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही ॥२॥
करेहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरम पतिदेव न दूजा ॥३॥
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥४॥
कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥५॥

अर्थ—शिवजी ने सास को बहुत तरह से समझाया, (तब) वे चरणों में माथा नवाकर घर को गईं ॥१॥ तब माता ने उमा को बुला लिया और उछंग (उत्संग=गोद) में लेकर सुन्दर शिक्षा दी ॥२॥ (कि) शिवजी के चरणों की सदा पूजा करना, (क्योंकि) स्त्रियों के धर्म में पति ही देवता है, दूसरा नहीं ॥३॥ यह वचन कहते हुए नेत्रों में जल भर आया, तब कन्या को फिर हृदय से लगा लिया ॥४॥ (और कहने लगीं) विधाता ने जगत् में स्त्री को क्यों बनाया? पराधीन को तो स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि संभु ···'—हम इस (उमा) पर कभी अप्रसन्न न होंगे, आप जो डर गई थीं और परिछन न कर सकीं, वह तो हमारे उस वेष के कारण था, इसमें आपका कोई दोष नहीं, वह वेष भी हम भगवान् की आज्ञा से असुरों को मोहने के लिये बनाये रहते हैं। आपके बड़े भाग्य हैं कि सब देवताओं ने आकर दर्शन दिये और भोजन किया, इत्यादि।

(२) 'नारि धरम पतिदेव··' यथा—"एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति-पद प्रेमा ॥" (आ० दो० ४) अर्थात् स्त्री का पूज्य देवता पति ही है, दूसरा नहीं।

(३) 'लाइ उर लीन्हि'—वचन कहते हुए, वात्सल्य से करुणा उमड़ पड़ी। अतः, फिर हृदय में लगा लिया। भाव यह कि तनु से तो जाती हो, पर इस हृदय से न जाना।

(४) 'पराधीन सपनेहु···'—स्त्रियाँ बाल-अवस्था में पिता के, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती हैं, क्योंकि इनका स्वतंत्र रहना हानिकर है। यथा—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥" (विदुरनीति)। तथा—"जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी।" (कि० दो० १४)। पराधीन व्यक्ति मरे हुए की तरह कहे गये हैं, यथा—"ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्तके मृताः।" (हितोपदेश)।

भइ अति प्रेमबिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी ॥६॥
पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना ॥७॥
सब नारिन्ह मिलि भेंटि भवानी। जाइ जननि-उर पुनि लपटानी ॥८॥

छंद—जननिहिं बहुरि मिल चलीं उचित असीस सब काहू दईं।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतनु तब सखी लै सिव पहिं गईं ॥

जाचक सकल संतोषि संकर उमा-सहित भवन चले।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले ॥

दोहा—चले संग हिमवंत तब, पहुँचावन अति हेतु।
विविध भाँति परितोष करि, बिदा कीन्ह वृषकेतु ॥१०२॥

शब्दार्थ—कुसमय=इस समय करुणा करने से कन्या और भी दुखी होगी, विदाई का समय है। भेंटि=हृदय से लगाकर मिलना भेंटना है। संतोषि=उन्हें फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही।

अर्थ—माता अत्यंत प्रेम से व्याकुल हो गईं, फिर कुसमय समझकर धैर्य धारण किया ॥६॥ बार-बार मिलती हैं और चरणों को पकड़कर उनपर गिर पड़ती हैं, परम प्रेम है। अतः, कुछ कहा नहीं जा सकता ॥७॥ भवानी सब स्त्रियों से मिल-भेंटकर, फिर माता के हृदय से जा लिपटीं ॥८॥ माता से फिर मिलकर चलीं, सब किसी ने इन्हें यथायोग्य असीस दी। वे फिर-फिरकर माता की ओर देखती थीं कि सखियाँ उनको शिवजी के पास ले गईं ॥ सब याचकों को संतुष्ट करके शिवजी उमा के साथ अपने घर (कैलाश) को चले। सब देवता फूल बरसाकर प्रसन्न हुए और आकाश में भली भाँति नगाड़े बजाये ॥ तब हिमाचल, अत्यन्त प्रेम से पहुँचाने के लिये साथ चले। वृषकेतु (शिवजी) ने बहुत तरह से परितोष करके उनको विदा किया ॥१०२॥

विशेष—'मिलति परति गहि चरना'—(माताजी) माधुर्य भाव में वात्सल्य के कारण मिलती हैं और (पुत्री के) ऐश्वर्य की स्मृति होते ही चरणों पर पड़ती हैं।

'फिरि फिरि बिलोकति···'—यह लोक रीति है कि विदा होते समय कन्या पीछे लौट-लौटकर देखती है, अन्यथा लोग कहने लगते हैं कि यह तो मानों पति को पहले से ही पहचानती थी !

'जाचक सकल···'—यहाँ दायज में जो मिले थे उन्हें वहीं पर याचकों को दे डाला।

'बिदा कीन्ह बृषकेतु'—आप धर्म की ध्वजा हैं, श्वशुर के प्रति जिस प्रकार उचित व्यवहार है, उस प्रकार से उन्हें संतुष्ट किया, क्योंकि यह भी धर्म है।

तुरत भवन आये गिरिराई। सकल सैल सर लिये बोलाई ॥१॥
आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना ॥२॥
जबहिं संभु कैलासहिं आये। सुर सब निज-निज लोक सिधाये ॥३॥

अर्थ—हिमवान तुरत ही घर लौट आये, और सब (स्वेच्छा रूपधारी) पर्वतों और तालाबों को बुला लिया ॥१॥ बहुत आदर, दान, विनय और सम्मान के साथ हिमाचल ने सबकी विदाई की ॥२॥ (यहाँ) शिवजी जब कैलाश पहुँचे, तब सब देवता अपने-अपने लोकों को चले गये ॥३॥

विशेष—(१) 'सकल सैल सर लिये···'—पूर्व दो० ६३ में कहा है—"सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ बन सागर सब नदी तलावा हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥" इस प्रकार बहुत को नेवता देकर बुलाना कहा है और यहाँ विदाई के समय 'सैल-सर' दो ही कहे गये। यह काव्य-चमत्कार है कि पूर्व नेवता के समय आदि में 'सैल' और अंत में 'तलावा' कहे गये हैं, उन्हीं दो को कहकर प्रत्याहार (आदि-अन्त को कहकर बीच के सबको कह देने की रीति) से सबको सूचित किया।

(२) 'आदर दान विनय बहु माना।'—जिनकी लड़कियाँ हिमवान् के यहाँ ब्याही हैं, वे यहाँ से द्रव्य आदि नहीं ले सकते, उनका आदर किया। ब्राह्मणों और छोटों को दान, मुनियों से विनय और जो मान्य हैं, जिनके यहाँ अपने घर की कन्याएँ ब्याही हैं, उनका मान किया, इन भेदों से सबकी विदाई की।

हिमाचल ने नेवता देकर बुलवाया था। अतः, इनका विदा करना भी कहा गया है। शिवजी के यहाँ देवगण स्वयं आये थे, वैसे उनका स्वयं जाना भी कहा गया।

जगत - मातुपितु संभु - भवानी।। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी ॥४॥
करहिं विविध बिधि भोग-बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥५॥
हर-गिरिजा - बिहार नित नयेऊ। येहि बिधि बिपुल काल चलि गयेऊ॥६॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारक असुर समर जेहि मारा ॥७॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षण्मुख-जनम सकल जग जाना ॥८॥

शब्दार्थ—सिंगार = शृंगार = दंपती की नख-शिख-शोभा और भोग चेष्टा का उद्दीपक वर्णन। भोग-बिलासा = आमोद-प्रमोद, रति-क्रीड़ा। बिहार = रति-क्रीड़ा, संभोग, टहलना आदि। बिपुल = बहुत, देवताओं के सौ वर्षों तक। यथा—"दृष्ट्वा च भगवान्देवीं मैथुनायोपचक्रमे। तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः। शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ॥" (वाल्मी० बा० स० ३६।६)।

अर्थ—श्रीशिव-पार्वतीजी जगत् के पिता-माता हैं, इस कारण उनका शृंगार बखान कर नहीं कहता ॥४॥ वे अनेक प्रकार से भोग विलास करते हैं और गणों के सहित कैलाश पर बसते हैं ॥५॥ शिव-पार्वतीजी के विहार नित्य नये थे, इस प्रकार बहुत समय (दिव्य सौ वर्ष) बीत गये ॥६॥ तब षट्-वदन (स्वामिकार्तिक) कुमार का जन्म हुआ, जिन्होंने युद्ध में तारकासुर को मारा ॥७॥ शास्त्रों, वेदों और पुराणों में षडानन का जन्म प्रसिद्ध है और उसे सारा संसार जानता है ॥८॥

विशेष—'षण्मुख जनम सकल जग जाना'—श्रीमद्वाल्मीकीय, बा० सर्ग ३६–३७ में इनकी कथा है। इनका जन्म होने पर कृत्तिका ने इनका पालन किया, इससे शिवजी के पुत्र का नाम कार्तिकेय पड़ा। कृत्तिका में छः ताराएँ थीं। अतः, बालक ने छः मुख धारण कर छओं का दूध पिया, तब से षडानन नाम हुआ। गंगाजी और अग्नि के धारण करने से ये गांगेय, अग्निभू तथा स्कंद भी कहे जाते हैं। इन्द्र की सेना के सेनापति होकर इन्होंने तारकासुर से युद्ध करके उसे मारा है, इसीसे सेनानी भी कहे गये। इनकी कथाएँ महाभारत, शिवपुराण, ब्रह्मवैवर्त (गणेशखंड), स्कंदपुराण और मत्स्यपुराण (अ० १५८–१६०) में भी हैं।

छंद—जग जान षण्मुख जनम करम प्रताप पुरुषारथ महा।
तेहि हेतु मैं वृषकेतु-सुत कर चरित संछेपहि कहा ॥
यह उमा-संभु-बिबाह जे नर-नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ॥

दोहा—चरितसिंधु गिरिजारमन, बेद न पावहिं पार ।
बरनइ तुलसीदास किमि, अति मतिमंद गँवार ॥१०३॥

अर्थ—षडानन के जन्म, कर्म, प्रताप और महापुरुषार्थ को संसार जानता है। इस कारण मैंने धर्मध्वज (शिवजी) के पुत्र का चरित थोड़े ही में कहा है ॥ जो स्त्री-पुरुष इस उमा-शंभु के विवाह (की कथा) को कहेंगे या गावेंगे वे कल्याण-कार्य और विवाह-मंगल में सदा ही सुख पावेंगे। श्रीउमा-रमण शिवजी के चरित-समुद्र का पार वेद भी नहीं पाते, तो अत्यन्त मंदबुद्धि और गँवार मैं तुलसीदास उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? ॥१०३॥

विशेष—(१) 'जग जान षण्मुख जनम···'—षडानन कार्तिक के कर्म, प्रताप और पुरुषार्थ तारकासुर के वध-चरित से ही स्पष्ट हैं। 'वृषकेतु सुत'—तारक-वध से फिर धर्म का प्रचार हुआ। अतः, यह नाम साभिप्राय है।

(२) 'कल्यान काज···'—जो धन, धाम आदि कल्याण के लक्ष्य से गावेगा, उसका कल्याण होगा। जो विवाह आदि मंगल कार्य के निमित्त गावेगा, उसे उसमें मंगल होगा और जो निष्काम गावेंगे, उन्हें सदा सुख मिलेगा। यहाँ इस प्रसंग की फलश्रुति कही गई है।

इस विवाह-प्रसग में दो० ९२ से यहाँ तक प्रत्येक दोहे के साथ छन्द दिया गया है। अतः, कुल ११ छन्द हैं। रुद्र भी ११ हैं। भाव यह कि इस प्रसंग को छन्दों की रुद्री से भूषित कर परम मांगलिक बना दिया है, इसी लक्ष्य से फलश्रुति भी दी गई है।

(३) 'चरितसिंधु···'—अपार होने से सिंधु कहा। सिंधु अपार होते हैं; इससे 'वेद न पावहिं पार' कहा, तो मैं कैसे कह सकता हूँ ?

शिव-महिम्नस्तोत्र के—'असित गिरि समं···' इस प्रसिद्ध श्लोक में यह अपारता स्पष्ट है।

संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥१॥

अर्थ—श्रीशिवजी का सुहावन, सरस (रसीला एवं नओ रस पूर्ण) चरित सुनकर श्री भरद्वाज मुनि ने अत्यन्त सुख पाया।

विशेष—शंभु-चरित का उपक्रम—"सुनहु संभु कर चरित सुहावा।" (दो० ७४) पर है और यहाँ—"संभुचरित सुनि सरस सुहावा।" पर उपसंहार हुआ है।

'सरस'—शंभुचरित नओ रसों से पूर्ण है। यथा—
शृंगार—"छविखानि मातु भवानि···" । (दो० ९९) ।
हास्य—"देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। बरलायक दुलहिन जग नाहीं ॥" (दो० ९१)।
करुणा—"रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई।" (दो० ८९)
रौद्र—"भयेउ कोप कंपेउ त्रय लोका।" (दो० ८६)।
वीर—"छाड़े बिषम बिसिष उर लागे।" (दो० ८६)।
भयानक—"ब्रह्मानन्द उर भय भयेउ बिसेखा।" (दो० ९५)।
वीभत्स—"भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनुभरे।" (दो० ९२)।

अद्भुत—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि।"···से—"नाम सती···" (दो० ९७) तक।
शान्त—"मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक-ध्याना॥" (दो० ८१)।
भक्ति के पंच-रस भी इसमें आ गये हैं जिनमें शृंगार और शांत के लक्षण ऊपर कहे गये।
वात्सल्य—"लै उछंग सुंदर सिख दीन्हीं।···" (दो० १०१)
सख्य—"अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।" (दो० ९२)।
दास्य—"सिव-अनुसासन सुनि सब आये।" (दो० ९२)।
'अति सुख पावा'—श्रेष्ठ वक्ताओं की कथा से ऐसा ही सुख होता है, यथा—"हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥" (उ० दो० ५२); इत्यादि।

उमा-शंभु-विवाह-प्रकरण समाप्त

कैलास-प्रकरण

बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी॥२॥
प्रेम-बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी॥३॥

अर्थ—कथा सुनने पर भरद्वाज मुनि की लालसा बहुत बढ़ी, आँखों में आँसू भर आये और रोमावली खड़ी हो गई॥२॥ (ऐसे) प्रेम के विवश हो गये कि मुख से बात नहीं निकलती, यह दशा देखकर ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्यजी प्रसन्न हुए॥३॥

विशेष—(१) 'बहु लालसा···'—ऊपर कहा गया है कि—"भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।" क्योंकि कथा सरस और सुहावनी थी और मुनि की कथन शैली भी उत्तम थी, इसीसे और कथा सुनने के लिये भी अति लालसा बढ़ी।

(२) 'दसा देखि हरषे·······'—याज्ञवल्क्य मुनि सरस ज्ञानी हैं, अतः, प्रेम की दशा देखकर प्रसन्न हुए। ज्ञान की शोभा यही है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७९)।

श्रीभरद्वाजजी के मन, वचन और कर्म तीनों कथा-प्रेम में निमग्न हुए—

'अति सुख पावा' और—'बहुत लालसा ·····'—से मन, 'नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी।' से तनु एवं कर्म और—'प्रेम-बिबस मुख आव न बानी।' से वचन स्पष्ट है।

'आव न बानी'—कृतज्ञता प्रकट करने की उत्कट इच्छा है, पर वाणी ही प्रेम में गद्गद हो गई।

अहो धन्य तव जनम मुनीसा। तुम्हहिं प्रान सम प्रिय गौरीसा॥४॥
सिव-पद-कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥५॥
बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥६॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी बोले कि) अहो! मुनीश्वर! तुम्हारा जन्म धन्य है, (क्योंकि) तुम्हें गौरी-पति (श्रीशिवजी) प्राणों के तुल्य प्रिय हैं॥४॥ श्रीशिवजी के चरणकमलों में जिनकी प्रीति नहीं है, वे श्रीरामजी को स्वप्न में भी नहीं सुहाते॥५॥ संसार के स्वामी श्रीशिवजी के चरणों में निष्कपट प्रेम होना—श्रीराम-भक्त का यही लक्षण है॥६॥

विशेष—(१) 'अहो धन्य……'—प्रथम याज्ञवल्क्यजी इनकी राम-भक्ति कह चुके हैं। यथा—"राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६); परन्तु भागवत-निष्ठा नहीं देखी थी। इसके बिना केवल भगवद्भक्त दंभी कहे गये हैं। यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजनो दाम्भिका जनाः।" (आर्ष वाक्य) तथा—"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयाराधनं स्मृतम्॥" (वाराह पु०)। शिवजी परम भागवत हैं। यथा—"निम्नगानां यथा गंगा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शंभुः पुराणानामिदं तथा॥" (श्रीमद्भागवत १२।१३।१६)। यहाँ, भरद्वाजजी की भागवत-निष्ठा भी देखी तब प्रशंसा करने लगे।

(२) 'सिव-पद-कमल……' यथा—"सिव-द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहिं न पावा॥" (लं० दो० २)।

(३) 'बिनु छल बिस्व ……'—किसी कामना से सेवा करते हुए उपासक कहाना छल है, क्योंकि उसका इष्ट तो अपना स्वार्थ ही है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ छल ही है, इसीलिये कहा है कि—"स्वामि-धरम स्वारथहिं बिरोधू।" (अ० दो० २६२)। अतः, 'बिनु छल'= निःस्वार्थ = निष्काम, यथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥" (लं० दो० ३)।

सिव-सम को रघुपति-ब्रत-धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥७॥
पन करि रघुपतिभगति देखाई। को सिव सम रामहिं प्रिय भाई॥८॥

अर्थ—शिवजी के समान रघुपति (-भक्ति का) व्रत धारण करनेवाला कौन है (जिन्होंने) बिना पाप के ही सती ऐसी स्त्री को त्याग दिया? ॥७॥ प्रतिज्ञा करके श्रीरघुनाथजी की भक्ति दिखा दी है। हे भाई! शिवजी के समान श्रीरामजी का प्यारा कौन है? ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनु अघ तजी सती……'—शिवजी ने श्रीराम-भक्ति का उज्ज्वल स्वरूप दिखाने के लिये ही सती का त्याग किया है। यथा—"जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथ होइ अनीती॥" (दो० ५५) तथा—"पन करि रघुपति-भगति देखाई।" यहाँ भी कहा है। यहाँ भक्ति-व्रत की रक्षा के लिये शिवजी के त्याग की प्रशंसा कर रहे हैं। अतः, 'बिनु अघ' का निष्पाप ही अर्थ है, क्योंकि पाप-कर्म से तो सभी त्याग करते हैं, जैसे परम सुन्दरी अहल्या को भी पाप कर्म पर गौतम ने त्याग दिया तो उनकी कुछ प्रशंसा नहीं है।

शंका—"मैं जो कीन्ह रघुपति-अपमाना। पुनि पति-बचन मृषा करि जाना॥" (दो० ५८); "प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।"…"निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। (दो० ५७); "सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी॥" (दो० ६८); इत्यादि से तो सतीजी के पाप पाये जाते हैं, फिर वे 'बिनु अघ' कैसे सिद्ध होंगी?

समाधान—जो कर्म पाप के उद्देश्य से किया जाता है, वही उसका पाप कहाता है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥" (गीता १७।३)। सतीजी ने प्रभु को जानने के लिये ही परीक्षार्थ सीता-रूप धारण किया था; न कि पाप-बुद्धि से। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)

अर्थात् प्रभु को जाने बिना प्रतीति नहीं होती, बिना प्रतीति के प्रीति नहीं और उसके बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती। भक्ति-दृढ़ता में गोपियों का काममोहित होकर प्रेम करना भी उत्तम ही माना गया है। यथा—"काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ॥" (वि० २१४)। यज्ञ में वैदिक-विधान कर्त्ता प्रधान पंडित ब्रह्मा बनाया जाता है, यज्ञ पूर्णता के पीछे फिर उसे ब्रह्मा नहीं कहते। श्रीराम-कृष्ण के लीलानुकरण में आज दिन भी लड़के श्रीराम-कृष्ण के रूप बनते हैं, फिर भी वे नित्य के लिये उस भाव में नहीं माने जाते, अन्यथा उनके माता-पिता उन्हें दंड दें, तो लोक-वेद से उन्हें दोष लगे, वैसे ही भगवत्-सम्मुखता के लिये सती का सीता-रूप धारण करना पाप नहीं है। यह स्मृतिकार याज्ञवल्क्यजी की सम्मति है। इसे सामान्य धर्म की दृष्टि कहते हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है कि—"परम पुनीत न जाइ तजि" (दो० ५६) एवं यहाँ भी—'सती असि नारी' कहा है।

श्रीशिवजी की दृष्टि विशेष धर्म पर है, इसी से साथ ही वे यह भी कहते हैं—'किये प्रेम बड़ पाप' (दो० ५६)। जैसे गीता अ० १।३६ में अर्जुन ने आततायी के मारने में भी पाप माना है, यद्यपि मनुस्मृति (८।३५०-५१) में आततायी के वध पर पाप न होना ही कहा है। इसका भी यही समाधान होता है कि स्मार्त्त धर्म सामान्य है, उसकी अपेक्षा भागवत धर्म विशेष है, अतः वह बलवान् है, इसमें तो 'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल' कहा गया है, और सामान्य धर्म में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' कहा जाता है।

भागवत धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। शिवजी ने सीता का रूप धारण करने से सतीजी में मातृ-बुद्धि कर ली थी। असली माता की अपेक्षा वह विशेष होती है जिसमें मातृबुद्धि मानी जाती है जैसे, लक्ष्मणजी सुमित्राजी की गोद में भी बैठ सकते थे, पर सीताजी में उन्होंने मातृ-भाव माना था, अतः चरण-मात्र ही देख सकते थे। इसी विशेष धर्म की दृष्टि से शिवजी ने सती में पत्नीत्व भाव का त्याग किया था। सती का सीता रूप धारण करना उच्च भागवत धर्म की दृष्टि से अपराध है। इसी दृष्टि को लेकर उपर्युक्त शंका में कही हुई बातें हैं। शिवजी ने राम-भक्ति को अमल एवं परम शुद्ध रखने का मत दिखाया है। यदि कहा जाय कि पति से झूठ बोलना तो पाप हुआ ही है तो इसे शिवजी ने राम माया का छल माना है। यथा—"बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥" (दो० ५५)।

दोहा—प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित, बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त बिकार ॥१०४॥

अर्थ—मैंने पहले शिवजी का चरित कहकर तुम्हारा भेद समझ लिया कि तुम श्रीरामजी के सम्पूर्ण दोषों से रहित पवित्र सेवक हो।

विशेष—'सुचि सेवक ···' श्रीरामजी और शिवजी में भेद-बुद्धि रखना विकार है। शिवजी के चरित में भी तुम्हें श्रीरामचरित की तरह प्रेम है, क्योंकि रामचरित के प्रश्न पर मैंने शिवचरित कहा, पर तुमने टोका भी नहीं कि दूसरा क्यों कहते हैं? यह कहाँ का राग अलाप रहे हैं? इसीसे तुम श्रीरामजी के शुचि सेवक हो। शिवजी परम भागवत हैं, इनका द्रोही श्रीरामप्रिय नहीं हो सकता।

मैं जाना तुम्हार गुन-सीला। कहउँ सुनहु अब रघुपति-लीला ॥१॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें ॥२॥

अर्थ—मैंने तुम्हारा गुण और शील जान लिया; अब मैं श्रीरघुनाथजी का चरित्र कहता हूँ, सुनो ॥१॥ हे मुनि! सुनो, आज तुम्हारे समागम (सत्संग) से जैसा आनन्द मेरे मन में हुआ, वह कहा नहीं जा सकता ॥२॥

विशेष—(१) 'मैं जाना तुम्हार···'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे अधिकारी पाकर सब कथा कहते हैं। श्रोता के लक्षण—"श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथारसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥" (उ० दो० ६९)। इसमें 'सुमति, सुशील, शुचि, कथारसिक और हरिदास' होना—ये पाँच लक्षण कहे गये हैं। इन (भरद्वाजजी) में पाँचो की जाँच कर चुके। अब कथा कहेंगे। क्रमशः उदाहरण—"चतुराई तुम्हारि मैं जानी।" (दो० ४६); इसमें 'सुमति' जान ली। "मैं जाना तुम्हार गुन-सीला।" "सुचि सेवक तुम्ह राम के।" "बहु लालसा कथा पर बाढ़ी।" "रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६)। 'अब'—प्रथम श्रीराम-चरित का प्रारंभ किया, यथा—"कहउँ राम कै कथा सुहाई।" (दो० ४६) और कहने लगे शिव-चरित, इसीसे—'अब रघुपति-लीला' सुनो, ऐसा कहा।

(२) 'सुनु मुनि आजु समागम···'—'आजु' अर्थात्—"भरद्वाज राखे पद टेकी।" (दो० ४४) से यहाँ तक का सम्पूर्ण शिवचरित एक ही दिन में कहा गया। 'समागम' से 'सुख' होता है, यथा—"संत-मिलन सम सुख जग नाहीं।" (उ० दो० १२०)।

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा ॥३॥
तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥४॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! रामचरित अत्यन्त अपरिमित है, सौ करोड़ शेष भी उसे नहीं कह सकते ॥३॥ तो भी जैसा मैंने सुना है, वह वाणी के स्वामी धनुषधारी प्रभु श्रीरामजी का स्मरण करके बखान (विस्तार) कर कहता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'रामचरित अति अमित···' यथा—"जल-सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं ॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'तदपि जथाश्रुत···'—यही श्रेष्ठ वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्व वक्ताओं से सुनी हुई ही कथा कहते हैं। यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी।" (दो० ३०)—गोस्वामीजी; "तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी।" (दो० ११२)—शिवजी; "संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहिं सुनायेउँ सोइ।" (उ० दो० ९२)—भुशुंडीजी। ऐसे ही यहाँ पर याज्ञवल्क्यजी भी 'जथाश्रुत···' कह रहे हैं अर्थात् इस ग्रंथ के चारों वक्ताओं की एक रीति है।

(३) 'सुमिरि गिरापति···'—वाणी के अधिष्ठाता और प्रभु (प्रेरक) श्रीरामजी ही हैं। वाणी के 'वैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ति' और 'परा' ये चार भेद हैं। परा वाणी से श्रीरामतत्त्व-कथन होता है, वह तुरीयावस्था के साथ रहती है, जिसके स्वामी अंतर्यामी-रूप से श्रीरामजी ही हैं। इसी से श्रीरामजी

को 'वागीश' भी कहा है। यथा—"विमल वागीस वैकुंठस्वामी।" (वि० ५५); "वरद बनदाभ वागीस···" (वि० ५६)। 'गिरापति' के साथ 'प्रभु' भी कहा है कि यथार्थ यश-कथन में वे वाणी को प्रवृत्त करें और तत्संबंधी विघ्नों को धनुषबाण से रोकें, क्योंकि सबके प्रभु हैं, अतएव सब पर शासन कर सकेंगे।

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥५॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि-उर-अजिर नचावहिं बानी ॥६॥
प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा ॥७॥

अर्थ—सरस्वतीजी दारुनारि (कठपुतली) के समान हैं और अंतर्यामी स्वामी श्रीरामजी सूत्रधर हैं ॥५॥ (वे प्रभु) अपना जन जानकर जिस कवि पर कृपा करते हैं, उसके हृदय रूपी अजिर (आँगन) में वाणी को नचाते हैं ॥६॥ उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को प्रणाम करता हूँ और उनके उज्ज्वल गुणों की कथा कहता हूँ ॥७॥

विशेष—यहाँ कठपुतली का सांग रूपक है—परदे के भीतर बैठा हुआ, सूत्र-धर सूत्र के सहारे कठपुतली को आँगन में नचाता है, वैसे यहाँ शारदा कठपुतली, स्वामी राम अंतर्यामी सूत्रधर, कवि-उर—आँगन, क्रमशः उपमेय और उपमान है। 'सम' वाचक और 'नचावहिं' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा है। कृपा-सूत्र, यथा—"कृपा डोरि बंसी पद अंकुस···" (वि० १०२)। कठपुतली का स्वामी नचानेवाला उसका स्वामी है, वैसे वाणी के नचानेवाले स्वामी श्रीरामजी हैं।

परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव-उमा-निवासू ॥८॥

दोहा—सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिबृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद ॥१०५॥

शब्दार्थ—रम्य = रमणीक। तपोधन = तपस्वी, तप ही जिनका धन हो। सुखकंद = आनंद के मेघ या आनंद के मूल।

अर्थ—परम रमणीक, पर्वतों में श्रेष्ठ कैलाश है, जहाँ सदा शिव-पार्वतीजी का निवास है ॥८॥ सिद्ध, तपस्वी, योगी लोग, देवता, किन्नर और मुनियों के वृंद आदि सब पुण्यात्मा वहाँ बसते और आनंद-कंद शिवजी की सेवा करते हैं ॥१०५॥

विशेष—(१) 'परम रम्य ···', हिमालय पर के और भी पर्वत-शिखर रमणीय हैं, पर कैलाश परम रमणीय है, इसी से वहाँ सदाशिव उमा रहते हैं या वहाँ सदा उमा-शिव रहते हैं, इससे वह परम रमणीय है अर्थात् स्थान और स्थानी दोनों श्रेष्ठ हैं।

(२) 'सिद्ध तपोधन···'—इसमें 'वृंद' पद अंत में होने से सिद्ध आदि सब के साथ है। 'सुखकंद'—अर्थात् सभी पर सुख की वर्षा करते हैं, यथा—"सुकृत मेघ बरषहिं सुखबारी।" (बा० दो० ३)। 'कंद' का मूल अर्थ लेने का भाव यह कि शंकरजी सुख-रूपी वृक्ष की जड़ हैं, इनकी सेवा के बिना सुख स्थिर नहीं रह सकता, यथा—"जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" (कि० दो० १६)

हरि-हर-बिमुख धरमरति नाहीं । ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं ॥१॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला । नित नूतन सुंदर सब काला ॥२॥
त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया । सिव-बिश्राम-बिटप श्रुति गाया ॥३॥

शब्दार्थ—विमुख = प्रतिकूल । बिटप = वृक्ष । नित नूतन = सदा ही हरा भरा । सुसीतल = अनुकूल, ठंढा । विश्राम = श्रम-निवृत्ति का स्थान, या कालक्षेप का स्थान , संतों का विश्राम कथा में होता है, यथा—"सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा ।" (दो० ३४); तथा—"येहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा । पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा ॥" (सुं० दो ७) । भोजनोपरांत दोपहर में लोगों के विश्राम का समय है, तब भी संतों में कथा ही से विश्राम होता है । यथा—"करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी । लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥" (दो० २३६) अर्थात् इस वट के नीचे कथा हुआ करती है । इसी से अति सुख भी होता है ।

अर्थ—जो हरि-हर से प्रतिकूल हैं, जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे मनुष्य वहाँ स्वप्न मे भी नहीं जाते ॥१॥ उस पर्वत पर एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ है, जो सब समय हरा-भरा और सुन्दर बना रहता है ॥२॥ शीतल, मंद और सुगंधित वायु के साथ अनुकूल ठंढी छाया वहाँ रहती है, वेदों ने उसे शिवजी के विश्राम का वृक्ष कहा है ॥३॥

विशेष—'हरिहर-बिमुख'—हरि के विमुख हर को प्रिय नहीं लगते, वैसे हर के विमुख हरि को नहीं भाते । यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास । ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास ॥" (लं० दो० २)

'धरम रति नाहीं ।'—क्योंकि यह सुख-स्थल है और सुख का साधन धर्म है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता ।" (उ० दो० १०१) ।

शिवजी एवं इनके नित्य परिकर तो वहाँ के सदा निवासी हैं । यथा—"सदा जहाँ सिव-उमा निवासू ।" (दो० १०४), और दूसरे 'सुकृती सकल' (दो० १०५) हैं, वे ही यहाँ 'धरम-रत' कहे गये हैं, वे सुकृति-भोग पर्यन्त रहते हैं, पुण्यक्षीण होने पर इन्हें फिर मर्त्यलोक मे आना पड़ता है । धर्महीन तो वहाँ जा ही नहीं सकते ।

'नित नूतन सुंदर सब काला'—वे सब कैलाशवासी प्राकृत विकार से रहित हैं । 'बिसाला' और 'श्रुति गाया' से यह वट अनादि काल का जाना गया, क्योंकि वेद अनादि हैं । 'त्रिबिध समीर' वहाँ स्वतः चलता है ।

एक बार तेहि तर प्रभु गयेऊ । तरु बिलोकि उर अति सुख भयेऊ ॥४॥
निज कर डासि नागरिपु-छाला । बैठे सहजहिं संभु कृपाला ॥५॥

शब्दार्थ—डासि = बिछाकर । नाग = हाथी । नाग रिपु छाला = बाघंबर । सहजहिं = स्वाभाविक (कथा एवं समाधि के लिये नहीं) ।

अर्थ—एक समय उसके नीचे प्रभु (शिवजी) गये, वृक्ष को देखकर हृदय में बहुत ही सुखी हुए ॥४॥ अपने हाथ से बाघंबर बिछाकर स्वाभाविक ही कृपालु शिवजी वहाँ बैठ गये ॥५॥

विशेष—(१) 'एक बार तेहि ...'—प्राय: और दिन भी जाते थे, वैसे यह एक बार (समय) की बात है । 'अति सुख'—क्योंकि स्थान और विटप आदि रमणीय हैं, यथा—"परम रम्य आराम यह,

जो रामहिं सुख देत ॥" (दो० २१७); वट सुखदायी होता ही है। यथा—"तिन्ह तरुवरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मनमोहा ॥" (अ०दो० २३६)। "बट तर गयेउ हृदय हरषाना।" (उ० दो० ६२)। शिवजी को वट वृक्ष बहुत ही प्रिय है, यथा—"प्राकृतहुँ बट बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० ११०)।

(२) 'निज कर डासि'''—आप तपस्वी-रूप में रहते हैं, इससे सेवकों की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि—'स्वयं दासास्तपस्विनः' (चण्डकौशिक) कहा गया है। यहाँ आचार्य के लक्षण भी दिखाये कि वक्ता को ऐसा ही निरभिमान एवं निरपेक्ष होना चाहिये, तभी जिज्ञासुओं पर उसका प्रभाव पड़ता है।

जिस प्रकार श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनवमी को श्रीअयोध्याजी में और याज्ञवल्क्यजी ने फाल्गुन वदि द्वितीया को प्रयाग में कथा का प्रारंभ किया, वैसे यहाँ शिवजी ने ग्रीष्म के ज्येष्ठ महीने में कैलाश पर कथा का प्रारंभ किया है, घटना से ऐसा अनुमान है।

कुंद - इंदु - दर - गौर - सरीरा । भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा ॥६॥
तरुन-अरुन-अंबुज-सम चरना । नखदुति भगत-हृदय-तम-हरना ॥७॥
भुजग-भूति-भूषन त्रिपुरारी । आनन सरद-चंद-छवि-हारी ॥८॥

दोहा—जटामुकुट सुरसरित सिर, लोचननलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि, सोह बालबिधु भाल ॥१०६॥

शब्दार्थ—कुंद-इंदु = इसके शब्दार्थ एवं भाव भी मं० सो० ४ में आ गये हैं। दर = शंख। भुजप्रलंब = आजानुबाहु, घुटनों तक लटकनेवाली भुजाएँ। सामुद्रिक शास्त्र के मत से ऐसा लक्षणवाला व्यक्ति जगद्वंद्य होता है। परिधन = कपड़ा, कपड़ा पहनना या कटि के नीचे पहनने के वस्त्र धोती आदि। नलिन = कमल। लावन्यनिधि = सुन्दरता का खजाना या समुद्र। बालबिधु = शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा।

अर्थ—(शिवजी का) शरीर कुंदफूल, चन्द्रमा और शंख के समान गोरा है, भुजाएँ बड़ी लंबी हैं, और मुनियों के (वल्कल) वस्त्र पहने हुए हैं ॥६॥ चरण नवीन प्रफुल्ल लाल कमल के समान हैं, नखों की ज्योति भक्तों के हृदय के अंधकार को नष्ट करनेवाली है ॥७॥ साँप और चिता-भस्म उनके भूषण हैं। वे त्रिपुर दैत्य के शत्रु हैं। उनका मुख शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की छवि को हरता है ॥८॥ शिर पर जटाओं का मुकुट और गंगाजी (विराजमान) हैं, कमल की तरह बड़े-बड़े नेत्र हैं, कंठ नीला है। वे सुन्दरता के समुद्र हैं और उनके माथे पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभित है ॥ १०६ ॥

विशेष—(१) 'कुंद-इंदु-दर'''—शिवजी की देह कुंद पुष्प के समान उज्ज्वल, सुगन्धित और कोमल है और चन्द्रमा के समान शीतल, प्रकाशयुक्त तथा आह्लादरूप है। (अमृत के समान वचन हैं)। शंख के समान सचिक्कन, सुडौल है। कंठ त्रिरेखायुक्त है।

कुंद पृथिवी पर, 'इन्दु' आकाश में और शंख समुद्र में होता है। इससे पाताल लिया जायगा। इन तीनों उपमानों से शिवजी तीनों लोकों की सुंदरता की सीमा हैं तथा इनकी सुंदरता स्थल, नभ और जल तीनों स्थानों में व्याप्त सर्वोपरि है।

(२) 'भुज प्रलंब'''—ऐसे विरक्त हैं, भोजपत्र ही वस्त्र रखते हैं; फिर भी दान देने के लिये भुजा बढ़ाये रहते हैं।

(३) 'तरुन अरुन···'—यहाँ पूर्णोपमा है—'चरन' उपमेय, 'अंबुज' उपमान 'सम' वाचक, और 'अरुन' धर्म है।

(४) 'नख दुति···' शिवजी में सद्गुरु के लक्षण हैं। यथा—"श्रीगुरु-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥" (दो० १); तथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।" (मं० श्लोक)।

'दुति' शब्द स्त्रीलिंग है, इसके योग से क्रिया 'हरनी' चाहिये, पर 'हरना' है, यह 'चरना' के योग से है।

(५) 'भुजग-भूति-भूषन···'—शेषजी भक्त हैं, अतः, शिवजी उनके सम्बन्धी सर्पों को लपेटे रहते हैं। विभूति को सांसारिक व्यवहार से उदासीनताद्योतक जानकर ग्रहण किये हुए हैं। त्रिपुर-वध से जैसे तीनो लोक सुखी हुए, वैसे भक्तों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनो शरीररूप पुरों के विकार का नाश कर उनको सुखी करते हैं।

(६) 'आनन सरद चंद···'—चन्द्रमा तापहारक है और अमृतमय किरणों से रोग दूर करता है, शिवजी अपनी चंद्रकिरण समान वाणी से उपदेश-द्वारा अत्यन्त अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करते हैं और उसीसे विषयाग्नि सम्बन्धी तीनो तापों को हर लेते हैं।

(७) 'जटामुकुट सुरसरित सिर···'—शिर पर श्रीगंगाजी को धारण करते हैं, क्योंकि शिवजी सदा ही सत्य बोलते हैं। उनके बड़े-बड़े नेत्र श्रोताओं के आनंदवर्द्धक हैं, कृपा-रस भरे हैं।

(८) 'नीलकंठ लावन्यनिधि···'—'नीलकंठ'—दयालुता का द्योतक है। यथा—"जरत सकल सुरबृंद, बिषम गरल जेहि पान किय।" (कि० मं०); 'बालबिधु भाल'—चन्द्रमा को दीन जानकर ग्रहण करके उसे बड़ाई दी, फिर उसका त्याग नहीं किया। बराबर धारण किये रहते हैं।

'लावन्यनिधि'—शिवजी शोभा के समुद्र हैं। समुद्र से १४ रत्न प्रकट हुए, वैसे इस शोभा-वर्णन में कई रत्न आये हैं—'नीलकंठ'—विष, 'बालबिधु'—चन्द्रमा, 'दर'—शंख, 'नखदुति···' में कौस्तुभमणि, (ऊपर टि० ४ देखिये), 'पार्वती'-लक्ष्मी (रूपा), नाम कल्पतरु ('प्रनत कलपतरु नाम' दो० १००); 'कथा'—कामधेनु ('राम कथा सुरधेनु सम' दो० ११३); वचन—अमृत ('हरषि सुधासम गिरा उचारी।' दो० १११)। ये आठ रत्न योग्य जानकर गृहीत हुए हैं।

बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे ॥१॥
पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी ॥२॥
जानि प्रिया आदर अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥३॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु शिवजी बैठे हुए कैसे सोह रहे हैं जैसे शांतरस ही शरीर धारण किये हुए हो॥१॥ अच्छा अवसर जानकर जगन्माता भवानी श्रीपार्वतीजी शिवजी के पास गईं॥२॥ प्यारी पत्नी जानकर शिवजी ने उनका अत्यन्त आदर किया और अपनी बाईं ओर बैठने के लिये आसन दिया॥३॥

विशेष—(१) 'बैठे सोह कामरिपु···'—शिवजी के ध्यान-वर्णन का उपक्रम—"बैठे सहजहिं संभु कृपाला।" (दो० १०५) पर है; यहाँ उपसंहार हुआ। बीचमें "कुंद इंदु दर गौर···" से "बालबिधु भाल।" तक उज्ज्वल उपमाओं से उज्ज्वल स्वरूप का वर्णन हुआ, तब 'कामरिपु' कहकर शांतरस का (उज्ज्वल) स्वरूप कहा, क्योंकि जबतक काम-विकार से रहित न हो, शान्तरस नहीं रह सकता।

'सांतरस'—यहाँ मन का वैराग्य-युक्त होना स्थायी, रामतत्त्व का ज्ञान अनुभाव, वट उद्दीपन और समा विभाव है जो रस का आधार बन रही है, करुणा सचारी है। इस रस के स्वामी रामरूप विष्णु (ब्रह्म) हैं, जिनकी कथा शिवजी कहेंगे और प्रमाणस्वरूप में इन्हें अपना स्वामी बतलायेंगे।

(२) 'पारवती भल'''—'पार्वती' अर्थात् पर्वत परोपकारी होते हैं, उनकी कन्या होने से ये भी परोपकार करेंगी। इन्हीं के द्वारा कवितारूपा नदी निकलेगी, जो रामराज्याभिषेकरूपी समुद्र में जा मिलेगी। कहा भी है, यथा—"वाल्मीकि-गिरिसम्भूता रामसागरगामिनी।" नदियाँ प्राय. पर्वत से ही निकलती हैं और समुद्र की ओर जाती हैं।

'मातु'—पुत्र रूप जीवों का कल्याण चाहती हैं। 'भवानी'—भव (शिवजी) कल्याण रूप हैं, वे पत्नीभाव से इनका आदर कर कल्याण करेंगे। 'भल अवसर' यहाँ एकान्त है और शिवजी प्रसन्न बैठे हैं, अपना भ्रम कहने में लाज या डर नहीं है। यथा—"कहत सो मोहि लागत भय लाजा।" (दो० ४४); अवसर पर कार्य करना उत्तम है; यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय-हरन अपराधु। समयहिं साधे काज सब, समय सराहहिं साधु॥" (दोहावली ४४८), "अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख।" (दोहावली ३४४)। उदाहरण—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान॥" (लं० दो० ११४)।

(३) 'जानि प्रिया आदर'''—'हर'—क्योंकि इसी जगह पर प्रथम सती-शरीर में मातृ-भाव मानकर आपने इनका पत्नीत्व का आसन हरण कर लिया था। यथा—"सन्मुख संकर आसन दीन्हा।" (दो० ५५); वह आसन आज पुन. प्राप्त हुआ। 'जानि प्रिया'—पूर्व माता मान चुके थे, अब इस पार्वती-शरीर में प्रिया जानकर बाईं ओर आसन दे रहे हैं। 'आदर अति'—वाम भाग में पास आसन देना ही आदर है, प्रसन्नता पूर्वक प्रिय वचन कहते हुए बैठाया, यह अति आदर दिया। यथा—"अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी।" (लं० दो० ३०)।

सम्बध—इसी वट के नीचे पार्वतीजी का सती-शरीर में सम्मुख आसन देने से अपमान हुआ था। अब आदर हुआ तो पूर्व प्रसंग चित्त में आ गया। अतः कहते हैं—

बैठीं सिवसमीप हरषाई। पूरब-जनम-कथा चित आई॥४॥
पति-हिय-हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥५॥
कथा जो सकल-लोक-हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥६

अर्थ—(पार्वतीजी) हर्षित होकर शिवजी के पास बैठ गईं। तब अपने पिछले जन्म की कथा चित्त में आ गई॥ ४॥ पति (शिवजी) के हृदय में अपने पर अधिक हेतु (प्रेम) समझकर, पार्वतीजी हँसकर प्रिय वचन बोलीं॥५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जो कथा सब लोकों का हित करनेवाली है, वही कथा आज हिमाचल की पुत्री (पार्वतीजी) पूछना चाहती हैं॥६॥

विशेष—'बिहँसि उमा'''' अत्यन्त प्रसन्नता के कारण आनंद उमड़ पड़ा। अतः, हँसकर बोलीं। 'कथा जो सकल''' 'लोक-हितकारी' के सम्बन्ध से 'सैलकुमारी' कहा, ऊपर चौ० २ देखिये तथा आगे कहेंगे—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥" (दो० १११)। जैसे गंगा आदि नदियाँ पहाड़ से प्रकट होकर प्रवाह-रूप से संसार का हित करती हैं; वैसे कथा भी शैल-कुमारी द्वारा प्रकट होकर जगत् का हित करेगी। यथा—"पूछेहु रघुपति-कथा-प्रसंगा। सकल लोक जग-पावनि गंगा॥" (दो० १११)।

विश्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी ॥७॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद-पंकज-सेवा ॥८॥

दोहा—प्रभु समरथ सर्वज्ञ सिव, सकल-कला-गुन-धाम।
जोग-ज्ञान-बैराग्य-निधि, प्रनतकलपतरु नाम ॥१०७॥

अर्थ—हे विश्वनाथ ! मेरे स्वामी ! त्रिपुरारी ! आपकी महिमा तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ॥७॥ चर (चेतन जीव) और अचर (जड़ जीव), नाग, मनुष्य और देवता—सभी आपके चरण-कमलों की सेवा करते हैं ॥८॥ हे प्रभो ! आप समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याणरूप, सब कलाओं और गुणों के स्थान हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य के समुद्र हैं। आपका नाम शरणागतों के लिये कल्पवृक्ष है ॥१०७॥

विशेष—(१) 'विश्वनाथ मम नाथ ...' 'सकल-लोक-हितकारी' कथा पूछनी है, इसलिये विश्वनाथ कहा। साथ ही 'मम नाथ' पृथक् भी कहा, जगत् की अपेक्षा अपने पर विशेष कृपा चाहती हैं। यथा - "हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी।" आगे कहना है। जगत् के स्वामी जगत् की अपेक्षा अपने जन पर विशेषता रखते हैं, यथा—"जगपालक बिसेषि जनत्राता॥" (दो० १६)। 'पुरारी' होने के सम्बन्ध से त्रिभुवन में आपकी महिमा प्रसिद्ध है और इसीसे चराचर आदि आपकी सेवा करते हैं।

(२) 'चर अरु अचर...' अचर की सेवा, यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी।" (लं० दो० ४); "किये जाहिं छाया जलद. सुखद बहइ बर बात।" (अ० दो० २१६) तथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं।" (वि० २३१)। पुनः सेवा करने का हेतु आगे—'प्रभु समरथ...' आदि से भी कहा है। जो 'प्रनत'—शरणागत हैं, उनके लिये तो आपका नाम ही कल्पतरु है।

यहाँ शिवजी के नाम, रूप, लीला और धाम महिमा के साथ कहे गये हैं—"प्रनत कलपतरु नाम।" में नाम; "कुंदइंदु ..." से "धरे सरीर सांतरस जैसे।" (दो० १०५-६) तक रूप; "यह उमा-संभु-विवाह जे" .....से—"चरितसिंधु गिरिजारमन" (दो० १०३) तक लीला; और—"परम रम्य गिरि-बर कैलासू।"......से—"सिवबिश्राम बिटप श्रुति गाया।" (दो० १०५) तक धाम।

(४) पूर्व दो० १०४ चौ० १ पर श्रोता के लक्षण कहे गये हैं, यहाँ वक्ता के लक्षण भी सूचित किये। यथा—'जटामुकुट...' से विरक्त होना, 'सकल-कला-गुन-धाम' से ६४ कलाओं और सम्पूर्ण गुणों के पूर्ण ज्ञाता (शास्त्रज्ञ) होना, "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०) से वैष्णव होना, 'वंदे ब्रह्मकुल...' (भा० मं० श्लोक) से ब्राह्मण होना, 'कामरिपु' से निष्काम और 'सांतरस जैसे' से धैर्यवान् होना—आदि वक्ता के लक्षण हैं।

सम्बन्ध—पार्वतीजी उत्तम वक्ता के सम्पूर्ण लक्षण कहकर आगे प्रश्न करती हैं—

जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी ॥१॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना ॥२॥
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई ॥३॥
ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी ॥४॥

अर्थ--हे सुख के राशि ! जो आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे अपनी सच्ची दासी समझते हैं ॥१॥ तो हे प्रभो ! अनेक प्रकार से श्री रघुनाथजी की कथा कहकर मेरा अज्ञान हरिये ॥२॥ जिसका घर कल्प-वृक्ष के नीचे हो, वह क्यों दरिद्रता से उत्पन्न दुःख सहे ? ॥३॥ हे चन्द्रभूषण ! हे नाथ ! ऐसा हृदय में विचार कर, मेरी बुद्धि के भारी भ्रम को हरिये ॥४॥

विशेष—(१) 'जौं मोपर प्रसन्न ···'—'सुखरासी' ये विशेषण शिवजी के उपर्युक्त गुणों के अनुसार हैं, जो--'प्रभु समरथ···' आदि में कहे गये हैं। पुनः पार्वतीजी ने यहाँ सुखराशि कहकर तुरंत ही कल्पतरु कहा और उपदेश-द्वारा सुख चाहेंगी, वही भाव आगे के वचन से भी सिद्ध होता है। यथा--"नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा ॥" (दो० ११६)।

(२) 'जानिय सत्य मोहि···'--इसमें 'सत्य' विशेषण दासी के साथ है, क्योंकि आगे इसे ही पुष्ट किया है। यथा—"दासी मन क्रम वचन तुम्हारी ॥" (दो० १०६)। पूर्व में जो कहा गया कि—"जानि प्रिया आदर अति कीन्हा।" उससे यहाँ अपने को 'दासी' और शिवजी को 'सुखरासी' कहा।

(३) 'कहि रघुनाथ-कथा···' अर्थात् अज्ञान-निवृत्ति वेदान्त से भी होती है, पर मेरा भ्रम सगुण ब्रह्म श्री रघुनाथजी के प्रति है, अतएव उनकी कथा ही से समाधान कीजिये। ऐसे ही भरद्वाजजी और गरुड़जी ने भी कहा है, दो० ४६ और उ० दो० ६३ देखिये। 'बिधि नाना'- क्योंकि-'मति भ्रम भारी' कहा है, एक-दो विधियों से न मिटेगा। नाम, रूप, लीला, धाम आदि का महत्त्व विस्तार करके कहियेगा, तब मेरा भारी भ्रम दूर होगा।

(४) 'जासु भवन सुरतरु तर··· ···'—यहाँ शिवजी सुरतरु (कल्पवृक्ष) हैं, उनके पास एवं आश्रित रहना, 'सुरतरु' के नीचे रहना है अपना मोह दारिद्र्य है। यथा—"मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० ११६); दारिद्र्य दुःख रूप ही है, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)।

(५) 'ससिभूषन अस··· ·'—चन्द्रमा को भूषण बनाया। अत', प्रकृति का मेल होना युक्त ही है। चन्द्रमा शरदातप—शरद ऋतु की गर्मी हरता है जो असह्य और दुःखद होती है। आपका मुख ही चन्द्रमा है और वचन किरण हैं। उनसे मोह-रूप 'भारी भ्रम' का नाश होता है। मोह ही भारी ताप है। यथा—"ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥" (दो० ११६)।

सम्बन्ध—आगे अपने भ्रम के स्वरूप को दार्शनिक रीति से क्रमश विषय, पूर्वपक्ष और संशय के रूप में प्रकट करती हैं। प्रथम 'विषय' कहती हैं—

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥५॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन गाना ॥६॥
तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग-अराती ॥७॥
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई ॥८॥

दोहा—जौं नृपतनय तौ ब्रह्म किमि, नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥१०८॥

जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥१॥

शब्दार्थ—परमारथवादी = ब्रह्मज्ञानी। अनंग-अराती = काम के शत्रु शिवजी। बिभु = समर्थ।

अर्थ—हे प्रभो ! जो परमार्थवादी मुनि लोग हैं, वे श्रीरामजी को अनादि ब्रह्म कहते हैं ॥५॥ शेष, शारदा, वेद और पुराण (आदि) सभी श्रीरघुनाथजी के गुणों का गान करते हैं ॥६॥ फिर (यही नहीं प्रत्युत) हे शिवजी ! आप भी आदर-पूर्वक रात-दिन राम-राम जपते हैं ॥७॥ वे राम (जो) अवध-नरेश के पुत्र हैं, वे ही हैं या अजन्मा, निर्गुण और अलख गतिवाले कोई दूसरे राम हैं ? ॥८॥ जो राज-पुत्र हैं, तो ब्रह्म कैसे ? और स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली क्यों हुई ? उनके चरित देखकर और महिमा सुनकर मेरी बुद्धि में अत्यन्त भ्रम हो रहा है ॥१०८॥ जो अनीह, व्यापक और समर्थ कोई दूसरा (राम) हो, तो हे नाथ ! मुझे वह भी समझाकर कहिये ॥१॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी यहाँ से प्रश्न का विषय क्रमशः रूप लीला, नाम और धाम के महत्त्व से कहती हैं कि परमार्थवादी मुनि राम (ब्रह्म) के 'रूप' को अनादि कहते हैं। ये मुनि ध्यान वाले हैं और ध्यान रूप का होता है। शेष आदि गुण गाते हैं, गुण ही 'लीला' हैं। आप 'राम-नाम' जपते हैं, यह 'नाम' का प्रश्न है। 'राम सो अवध-नृपति सुत'—इसमें 'धाम' का महत्त्व गर्भित है।

पार्वतीजी एक-से-एक श्रेष्ठ प्रमाण देती गईं, मुनियों से शेष-शारदा आदि श्रेष्ठ हैं और उनसे शिवजी, क्योंकि वेद आदि भी शिवजी के गुण गाते हैं।

(२) 'तुम्ह पुनि ....'—और कहें तो कहें, पर आप भी, जो—'प्रभु समरथ सर्वज्ञ...' हैं, दिन-रात (विराम-रहित) उनके नाम जपते हैं। 'अनंगअराती'—आपको काम से अत्यन्त घृणा है, तब तो उसे जला डाला, फिर उन्हें कामी की तरह महाविरही अवस्था में देखकर भी आपकी प्रीति कम न हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई तो उन्हें अवश्य ही परात्पर जानना चाहिये। पुनः आप कामना जीते हुए हैं, तभी दिन-रात एक रस राम-राम जपते रहते हैं।

पूर्व कहा गया कि—"पूरब जनम कथा चित आई।" (दो० १०६)। पूर्व में श्रीशिवजी ने इसी क्रम से और ऐसे ही तीन प्रकार के प्रमाणों से इन्हें श्रीरामपरत्व कहा था, उन्हीं को यहाँ गिरिजाजी ने प्रश्न के विषय-रूप में कहा है। यथा—"जासु कथा कुंभजरिषि गाई"......से—"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।" (दो० ५०) तक—ये ही 'परमार्थवादी मुनि' हुए। "कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।" (दो० ५०); इसमें शेष-वेद आदि आ गये। "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०)—यहाँ शिवजी स्वयं हुए।

(३) 'राम सो अवध ....'—उपर्युक्त महत्त्व को अवध-नरेश के पुत्र में कहकर प्रश्न के विषय को पूरा किया। 'सोई'—जिन्हें वन में पहले देखा था, वही हैं क्या ? अब इसके उत्तरार्द्ध से पूर्व पक्ष के रूप में उक्त 'विषय' का खंडन करती हैं—

(४) 'की अज अगुन......'—इनमें 'अज-अगुन' के भाव पूर्व आ चुके हैं। 'अलख गति'—जिसकी गति नेत्र, मन, बुद्धि आदि से परे हो।

(५) 'जौं नृपतनय तो.....'—ब्रह्म 'अज' हैं और ये तो नृप के तनय हैं, अतः, जन्म वाले हैं। ब्रह्म 'निर्गुण' है अर्थात् अखिल ब्रह्मांड से निर्लिप्त है और ये तो स्त्री ही के विरह में पागल हो रहे थे। ब्रह्म 'अलख गति' है और इनका तो 'देखि चरित' अर्थात् प्रत्यक्ष चरित्र देखा गया है। यथा—"देखा प्रगट बिरह-दुख ताके।" (दो० ४८)।

(६) 'देखि चरित महिमा सुनत ' '—अब यहाँ से 'संशय' करती हैं कि चरित देखा कुछ और; पुनः महिमा उनकी सुनती हूँ परात्पर ब्रह्म की। यह सुनना पूर्व जन्म का है, जिसे ऊपर वि० २) के दो० ५० में शिवजी का कहा हुआ लिखा गया है। इससे बुद्धि में अत्यन्त भ्रम होता है।

(७) 'जौं अनीह ···· '—ऊपर पार्वतीजी ने कहा है—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" इससे निश्चय होता है कि ये श्रीरामजी को सगुण ही जानकर उनसे लीला का होना तो मानती हैं, पर निर्गुण ब्रह्म में नहीं मानतीं, इसीसे इसे समझाकर कहने को कहती हैं। यहाँ तक 'संशय' किया।

सारांश—'प्रभु जे मुनि''''''से—'राम सो अवध-नृपति-सुत सोई।' तक 'विषय'; 'की अज अगुन'''''' से—'देखि चरित'—तक 'पूर्व पक्ष' और 'देखि चरित महिमा सुनत''''' से—'कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥—तक 'संशय' कहा गया। इन तीन के पीछे 'सिद्धान्त' होना चाहिये, वह वक्ता शिवजी की ओर से होगा।

किन्तु, प्रश्न करने में जो इन्होंने निर्गुण से भिन्न सगुण को माना। इतना ही नहीं, प्रत्युत उन्हें प्राकृत नर एवं विरही आदि कहा, यह इष्ट का अपकर्ष परम उपासक शिवजी को पसन्द नहीं आया। इसे ही आगे कहेंगे—"एक बात नहिं मोहि सुहानी।"······ से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११३-११४) तक। अतः, शिवजी का रुख बदल गया, क्रोध के चिन्ह आ गये, यह देखकर गिरिजाजी आगे प्रार्थना करती हैं—

अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू॥२॥
मैं बन दीखि रामप्रभुताई। अति-भय-बिकल न तुम्हहिं सुनाई॥३॥
तदपि मलिनमन बोध न आवा। सो फल भली भाँति हम पावा॥४॥
अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥५॥

अर्थ—मुझे अबोध जानकर हृदय में क्रोध न लाइये। जिस प्रकार मेरा अज्ञान दूर हो, वही कीजिये॥२॥ मैंने वन में श्रीरामजी की प्रभुता देखी थी, अत्यन्त भय से व्याकुल (होने के कारण) उसे आपको नहीं सुनाया॥३॥ तो भी मेरे मलिन मन को बोध नहीं हुआ। उसका फल मैंने अच्छी तरह से पा लिया॥४॥ अब भी मेरे मन में कुछ संदेह है। आप कृपाकर कृपा करें। मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'अज्ञ जानि''''' अज्ञ अर्थात् अनजान क्षम्य है। यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (दो० २८१); "अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥" (दो० २८५)।

(२) 'मैं बन दीख''''—प्रभुता देखने का प्रसंग—"निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा।" से—"कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥" (दो० ५३–५४) तक है। भय से व्याकुल होने का प्रसंग—"सती सभीत महेस पहिं, चली····" (दो० ५३) से "सोइ रघुबर''' देखि सती अति भईं सभीता॥'''भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥" (दो० ५४–५५) तक है।

(३) 'तदपि मलिन मन बोध''''—यहाँ सती-शरीर में मन की मलिनता माया से थी। यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी।" (दो० ५२), "बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ

कहावा ॥" (दो० ५५); पुनः—"माया-बस न रहा मन बोधा।" (दो० १३५);—इसमें नारदजी के मन का मलिन होना है।

वहाँ साक्षात् दर्शन पर भी मन मलिन ही रह गया, क्योंकि भगवान् ने अपनी माया के द्वारा इन पात्रों से लीला के कुछ अंगों को बनाना चाहा। अतः, वैसे ही संयोग होते गये। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोऽनुसारिणः ॥" (आलवंदार)। 'सो फल···' यथा—"सो फल मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा ··" (दो० ५८)।

(४) 'अजहूँ कछु संसय ···'—पूर्व सती-शरीर में अपार संशय था। यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" (दो० ५०); इसी से त्रिभुवन गुरु शिवजी के समझाने से भी नहीं गया। यथा—"मोरेहु कहे न संसय जाहीं।" (दो० ५१); फिर श्रीरामजी की प्रभुता देखने पर निश्चय हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं और त्रिदेवों के भी इष्ट हैं, किन्तु इतना रह गया था कि निर्गुण-सगुण दो ब्रह्म हैं। सगुण के अवतार आदि होते हैं, निर्गुण के नहीं। इसपर शिवजी की चेष्टा बदली देखकर यह भी चित्त में आ गया कि ये दाशरथी राम ही ब्रह्म (निर्गुण) हैं। अब मुख्य संशय इतना ही रह गया कि निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार सगुण होता है ? शेष बातें इसी के आनुषंगिक हैं। इसी को 'कछु संसय' कहकर कृपा चाहती हैं। शिवजी कृपा करेंगे तो यह भी दूर होगा। यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-स्वरूप जानि मोहिं परेऊ॥" (दो० ११९)।

प्रभु तब मोहिं बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥६॥
तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं ॥७॥
कहहु पुनीत राम-गुन-गाथा। भुजगराजभूषन सुरनाथा ॥८॥

दोहा—बंदउँ पद धरि धरनि सिर, बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर-बिसद-जस, श्रुतिसिद्धान्त निचोरि ॥१०९॥

अर्थ—हे प्रभो ! उस समय आपने मुझे बहुत प्रकार से समझाया था, (फिर भी नहीं समझ पड़ा) उसका स्मरण कर क्रोध न कीजिये ॥६॥ उस समय के समान विशेष मोह अब नहीं है, (क्योंकि) श्रीरामकथा पर मन में चाह है ॥७॥ हे सर्पराज-भूषण ! हे सुरनाथ ! श्रीरामजी के पवित्र गुणों की कथा कहिये ॥८॥ पृथिवी पर सिर रखकर चरणों की वंदना और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि वेदों का सिद्धान्त निचोड़कर श्रीरघुनाथजी का उज्ज्वल यश वर्णन कीजिये ॥१०९॥

विशेष—(१) 'प्रभु तब मोहिं···'—प्रबोध करने का प्रसंग—"जासु कथा कुंभज रिषि गाई।" ···से—"लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु।" (दो० ५०–५१) तक। 'करहु जनि क्रोधा'—ऊपर अज्ञता के लिये क्षमा माँग चुकी हैं। अब ऐसा इसलिये कहती हैं कि इन प्रश्नों में इष्ट का अपकर्ष-कथन हो गया है अथवा अब यह क्षमा तो सती-शरीर में उपदेश न समझने के कारण माँगती हैं कि अब उसे जी में लाकर क्रोध न कीजिये।

(२) 'रामकथा पर रुचि···'—बार-बार कथा के लिये प्रार्थना करना रुचि प्रकट करता है। यथा—"कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना।" (दो० १००)। आगे पास ही कहती हैं—"कहहु पुनीत राम-गुन-

गाथा।'''बरनहु रघुबर बिसद जस,''''इत्यादि। क्योंकि इसी से मोह की निवृत्ति होती है। यथा—"बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग॥" (उ० दो० ६१)।

(३) 'कहहु पुनीत''' यथा—"पावन गंग तरंग माल से।" (दो० ११), पुनः—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)।

(४) 'भुजगराजभूषन'''—शेषजी भारी वक्ता हैं, क्योंकि इन्होंने वात्स्यायन ऋषि से रामजी की कथा कही है। पद्मपुराण के पातालखंड में इसका प्रमाण है। वे भी आपके भूषण हैं, अर्थात् अंगभूत हैं और देवता लोग सत्त्व प्रधान विबुध (विशेष बुद्धिमान्) होते हैं। आप उनके भी स्वामी हैं। अतः, आप सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं।

(५) 'बंदउँ पद धरि'''—पृथिवी पर शिर रखना वन्दना की सीमा और हाथ जोड़कर विनय करना विनय की पराकाष्ठा है। 'बिसद रघुबर-जस'—ही वेदों का सिद्धान्त है। यथा -"बँदउँ चारिउ वेद, बरनेउ रघुबर बिसद जस॥" (दो० १४), यह वेदों ने स्वयं भी कहा है। यथा—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १३)।

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम वचन तुम्हारी॥१॥
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥२॥
अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥३॥

शब्दार्थ—जोषिता=स्त्री। अधिकारी=योग्य पात्र। आरत अधिकारी=भगवत्प्राप्ति के वास्ते जिन्हें आर्तता आतुरता हो। आरति= आतुर होकर, दुःखित होकर।

अर्थ—यद्यपि स्त्रियाँ (श्रीराम-कथा की) अधिकारिणी नहीं हैं, फिर भी मन, कर्म और वचन से मैं आपकी दासी हूँ॥१॥ साधु लोग जहाँ आर्त, अधिकारी पाते हैं, वहाँ गूढ़ तत्त्व को भी नहीं छिपाते॥२॥ हे सुरराज! मैं अत्यंत आतुर होकर पूछ रही हूँ, अतः मुझपर दया करके श्रीरघुनाथजी की कथा कहिये॥३॥

विशेष—(१) ऊपर श्रीराम कथा को 'श्रुतिसिद्धान्त' कह आई। इसीसे यहाँ स्त्री को अनधिकारिणी कहती हैं, क्योंकि स्त्री और शूद्र को वेद में अधिकार नहीं माना जाता। यहाँ अधिकारी होने के तीन प्रकार कहे गये—(क) जो मन, कर्म और वचन से सेवक हो, (ख) जो कथा के लिये आतुर (आर्त) हो और (ग) जिसपर वक्ता की दया हो जावे।

गिरिजाजी में ये तीनों अधिकार प्राप्त हैं,-(क) ये तो पतिव्रताशिरोमणि हैं। यथा—"पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।" (दो० २३५)। (ख) कथा के लिये इतनी आतुर हैं कि बारंबार पूछ रही हैं। ऊपर—'रामकथा पर रुचि''' पर लिखा गया। (ग) आप हैं एवं अत्यंत कठिन तप करके यहाँ प्राप्त हुई हैं। अतः, दया की भी पात्री हैं।

शिवजी अनधिकारी से श्रीराम-यश नहीं कहते। यथा—"यह न कहिय सठ ही हठसीलहि।'''" से—"सुरपति-सरिस होइ नृप जबहूँ॥" (उ० दो० १२८) तक एवं—"कही संभु अधिकारी पाई।" (दो० ७०)।

(२) 'सुरराया'—सामान्य देवता भी आर्त की विनती सुनकर उसपर दया करते और दुःख मिटाते हैं। आप तो महादेव एवं देवताओं के राजा हैं। अतः, मेरा दुःख अवश्य मिटाइये।

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन - बपु - धारी ॥४॥
पुनि प्रभु कहहु राम-अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा ॥५॥
कहहु जथा जानकी बिवाही। राज तजा सो दूषन काही ॥६॥

अर्थ—पहले वह कारण विचार कर कहिये, (जिससे) निर्गुण ब्रह्म सगुण शरीर धारण करता है ॥४॥ फिर हे प्रभो! श्रीरामजी का अवतार कहिये और फिर उदार बाल-चरित कहिये ॥५॥ जिस तरह श्रीजानकीजी ब्याही गईं, वह कहिये। (फिर रामजी ने) राज्य छोड़ा, वह किस दोष से? ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम सो कारन ' पार्वतीजी का पहले तो यही मत था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं। यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०); किन्तु अब इतना ही रह गया है, कि निर्गुण ब्रह्म किस कारण से सगुण होता है? उपर्युक्त दो० १०८ (चौ० ४) भी देखिये। शिवजी इसका समाधान—"सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा।" (दो० ११५) से करेंगे।

'बपु धारी'—वह ब्रह्म प्राकृत मनुष्य की देह की तरह पंच तत्त्व का शरीर धारण करता है, या उसका शरीर किसी और प्रकार का होता है। आगे फिर कहेंगी, यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू। मोहिं समुझाइ कहहु बृषकेतू॥" (दो० ११९); इसीलिये 'बिचारी' कहा है कि स्वयं विचार कर और मुझे समझाकर कहिये।

(२) 'पुनि प्रभु कहहु '—इस प्रश्न में अवतार पूछा है कि ब्रह्म ने कैसे अवतार लिया—गर्भ से उत्पन्न हुआ अथवा साक्षात् प्रकट हो गया? किन्तु जब शिवजी ने यह अच्छी तरह समझा दिया कि सगुण-निर्गुण दोनों ये ही हैं और इनमें हर्ष-विषाद आदि नहीं हैं, तब गिरिजा को विश्वास हो गया। यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥" (दो० ११९), फिर 'अवतार' की जगह पर अवतार का हेतु पूछा। यथा—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० ११९); और इसका उत्तर प्रसंग—"हरि-अवतार हेतु जेहि होई।" ⋯से—"यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।" (दो० १२० से १८०) तक कहा गया। फिर आगे परात्पर ब्रह्म का मुख्य अवतार कहा गया है।

'बाल-चरित पुनि कहहु उदारा।'—यहाँ बाल-चरित को उदार कहा है। उदार का अर्थ सरल और पात्रापात्र विचार-रहित दान-शील है। यहाँ चरित के साहचर्य में उदार शब्द आया है, अतः, शीलवान् एवं ऊँचे दिल का भी अर्थ होगा। सरल, यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये।" (दो० २०३); दानशील, यथा—"जिमि उदार-गृह जाचक भीरा।" (आ० दो० ३८)। शीलवान्, यथा—"मन भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम उदार उर अंतर्यामी॥ ⋯" से—"सुनु बायस तैं सहज सयाना।" ⋯ (उ० दो० ८३–८४); यहाँ कौए का भी आदर किया और उसे परम श्रेष्ठ वर दिया।

बाल-चरित का प्रसंग—भुशुंडीजी ने मूल रामायण कही है, उसमें शिशु-चरित और बाल-चरित ऋषि के आगमन तक माना गया है। यथा—"तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई॥ बाल-चरित कहि बिबिध बिधि, मन महँ परम उछाह। रिषि-आगमन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर-बिबाह॥" (उ० दो० ६४)। शिशु-चरित, यथा—"कीजै सिसु-लीला अति प्रियसीला"⋯से—"येहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा।" (दो० १९२ से १९९) तक, बाल-चरित, यथा—"बाल-चरित कर गान"। ⋯से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" (दो० २०० से २०५) तक। श्रीपार्वतीजी ने शिशु-चरित को भी बाल-चरित में ही माना है।

(३) 'कहहु जथा जानकी ···'—मूलरामायण में 'ऋषि-आगमन' और 'श्रीरघुवीर-विवाह' दो प्रसंग हैं, पर यहाँ ऋषि-आगमन विवाह-चरित में ही लिया गया है, क्योंकि विवाह का कारण ऋषि-आगमन ही है। विश्वामित्रजी ने कहा भी है—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (दो० २००); इसमें—"कल्यान काज बिबाह मगल···" (दो० ३०२) गर्भित है। तथा—"कौसिक मिस सीय स्वयंवर गायो।" (गी० बा० ४१); "अस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ," (गी० बा० ४८)। पुनः—"अथ राजा दशरथस्तेषां दार-क्रियां प्रति॥ चिन्तयामास धर्मात्मा अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।" (वाल्मी० बा० स० १८।२७-२६); अर्थात् राजा समाज में श्रीराम आदि के विवाह की चिन्ता में थे कि विश्वामित्र आ गये।

अतः विवाह प्रसंग—"आगिल कथा सुनहु मन लाई॥" (दो० २०५) से बालकांड के अन्त तक है।

(४) 'राज तजा सो दूषन काही।'—इससे जान पड़ता है कि राज्य छोड़ने की लीला आपने किसी दूषण को देखकर की है। वह यह कि जब राज्य-ग्रहण के लिये चक्रवर्तीजी की आज्ञा श्रीवशिष्ठजी ने सुनाई, तभी आपको उस दूषण का लक्ष्य हुआ और स्पष्ट कहा गया। यथा—"गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम हृदय अस बिसमय भयेऊ।"···से—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥" (अ० दो० ६) तक अर्थात् श्रीभरत शत्रुघ्नजी के न रहने से अकेले राजा होना नहीं चाहा, इसीसे तदनुसार कारण हो गये। यहाँ पाँचवाँ प्रश्न है। इसका उत्तर सम्पूर्ण अयोध्याकांड में दिया गया है, क्योंकि कांड के पूर्वार्द्ध में राज्य छोड़कर जाना है और उत्तरार्द्ध में श्रीचित्रकूट में श्रीभरतजी से प्रार्थित होने पर भी त्यागना ही है।

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥७॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥८॥

दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजासहित रघुबंस-मनि, किमि गवने निज धाम॥११०॥

शब्दार्थ—सुखसीला = सुख (देने) में प्रवृत्त (तत्पर)। करुनायतन = करुणा के स्थान। अचरज = आश्चर्य। निजधाम = श्री साकेत लोक, जहाँ से आकर रामजी ने मनु शतरूपा को दर्शन एवं वरदान दिये थे।

अर्थ—हे नाथ! वन में रहकर अपार (बहुत) चरित किये और जिस तरह रावण को मारा, वह कहिये॥७॥ हे कल्याण करनेवाले! हे सुख देने में तत्पर! राज्य पर बैठकर बहुत-सी लीलाएँ कीं, उन सब को कहिये॥८॥ फिर हे करुणा के स्थान! वह आश्चर्य की बात भी कहिये, जो श्रीरामजी ने की है कि वे रघुवंशशिरोमणि श्री रामजी प्रजा-सहित अपने धाम को कैसे गये?॥११०॥

विशेष—(१) 'बन बसि कीन्हे चरित अपारा'—वन के चरित को 'अपारा' कहा है, क्योंकि सतीजी इसी में परीक्षा के लिये रामजी के पास गई थीं। अपार महिमा देखी और घबरा गईं। पुनः 'बन बसि' से आरण्य, किष्किंधा और सुन्दरकांडों के सम्पूर्ण चरितों से तात्पर्य है, इसी से 'अपार' कहा है, क्योंकि भुशुंडीजी द्वारा कथित मूल रामायण के अनुसार इसमें—"सुरपतिसुत-करनी।"···से—"सागर-निग्रह-कथा सुनाई॥" (उ० दो० ६६।१९) तक ४० चरितों का वर्णन है।

(२) 'जिमि रावन मारा।'—'जिमि'=जिस तरह, इससे सेतु बाँधना, अंगद का दौत्य और सम्पूर्ण सेना के साथ रावण का नाश होना, अर्थात् सम्पूर्ण लंका कांड का ग्रहण होगा।

(३) 'राज बैठि कीन्हीं बहु लीला।'—यह प्रसंग उत्तर कांड के आदि से —"अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये।" (उ० दो० ४६) तक है।

(४) 'सकल कहहु संकर सुखसीला।'—'सुखसीला' विशेषण 'लीला' और 'शंकर' दोनों के साथ है, क्योंकि श्रीरामजी की राज्य - लीला से पुरवासियों को बहुत सुख मिला। यथा—"रघुपति-चरित देखि पुरवासी। पुनि-पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥" (उ० दो० ११) से लेकर—"अवधपुरी बासीन्ह कर, सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥" (उ० दो० २६) तक सुख देना कहा गया है।

गिरिजाजी वही सुख शंकरजी के द्वारा वह चरित सुनने से प्राप्त किया चाहती हैं। यथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया। तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबरनगर-बसैया॥" (गी० बा० ६)। इसीलिये उन्हें 'सुखशीला' कहती हैं।

(५) 'बहुरि कहहु करुनायतन ‥'—'करुनायतन' क्योंकि परधाम यात्रा रुचि-विरुद्ध है, उसे कहलाने के लिये 'करुनायतन' कहकर प्रार्थना की। 'अचरज'—सदेह और प्रजा - समेत परधाम-जाना इसी अवतार में हुआ, यह बड़ा आश्चर्य है।

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप में तो नहीं ही है। हाँ, गुप्त रीति से जना दिया है। विरस जानकर कोमल चित्त से नहीं कहा गया। उपासकों का भाव हो है कि श्रीरामजी नित्य श्री अवध में विहार करते हैं। गुप्त रीति के उत्तर में उपासना-भाव भी रहा और उत्तर भी हो गया। नित्य अवध (साकेत) और लीला-विभूति की अयोध्या एक ही हैं, जिसका जो भाव यहाँ पर जिस प्रकार रहता है, वही वहाँ साकेत में भी उसी प्रकार रहता है एवं वैसा ही विहार-स्थल रहता है। अत, यहाँ से वहाँ जाना लिखना अनावश्यक जानकर प्रकट में नहीं लिखा गया।

इस प्रश्न का उत्तर गुप्त रीति से—"हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ पुनि कृपाल पुर बाहर गये।"‥‥से—"गये जहाँ सीतल अमराई॥" (उ० दो० ४६) तक है। यहाँ 'पुर बाहर' जाने में परधाम-यात्रा सूचित की है, क्योंकि फिर लौटकर महल में आना नहीं लिखा। 'संग लिये सेवक' में 'सेवक' से प्रजागण ध्वनित है। यथा—"सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात येहि ओर निबाहू॥" (अ० दो० २३)। तथा 'सेवक' से सुग्रीव आदि भी आ गये। 'गये जहाँ सीतल अमराई।' से साकेत-लोक सूचित किया है।

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी॥१॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥२॥
औरउ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥३॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥४॥
तुम्ह त्रिभुवनगुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना॥५॥

अर्थ—फिर हे प्रभो ! वह तत्त्व बखान कर कहिये, जिसके विशेष ज्ञान से ज्ञानी मुनि उसमें लीन रहते हैं ।।१।। फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के वर्णन, प्रत्येक के विभाग-सहित, अलग-अलग कीजिये ।।२।। हे नाथ ! और भी जो श्रीरामजी के गुप्त चरित हैं, उन्हें कहिये, (क्योंकि) आपका ज्ञान अत्यन्त निर्मल है ।।३।। हे प्रभो ! जो मैंने नहीं भी पूछा हो, हे दयालो ! वह भी छिपाकर न रखियेगा ।।४।। आप तीनो लोकों के गुरु हैं, ऐसा वेद कहते हैं, दूसरे नीच प्राणी क्या जानें ? ।।५।।

विशेष (१) श्रीरामजी के अवतार-प्रसंग से परधाम-यात्रा तक के प्रश्नों में सम्पूर्ण रामायण कहकर, आगे के प्रश्न 'तत्त्व···' से 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं···' आदि ऊपर से उत्तर देने के विचार से किये गये हैं ; पर वक्ता शिवजी ने इन सबके उत्तर चरित के साथ ही दिये हैं, क्योंकि ये सब बातें रामायण में ही हैं। जिज्ञासु अज्ञ होता है और वक्ता सर्वज्ञ; वही यहाँ चरितार्थ किया है।

(२) 'तत्त्व' का अर्थ ब्रह्म है। यथा—'तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थे'—ऐसा कोश में कहा है।

उदाहरण—"वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दो० १८०); "जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा।" (दो० २४१)।

'भगति'—दोहा ३६ चौ० १३ में देखिये।

'ज्ञान'—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥" (आ० दो० १४); पुनः—"प्रभुहिं जानि मन हरष कपीसा ॥ उपजा ज्ञान वचन तब बोला।"···से—"सुनि बिराग-संजुत कपि-बानी।" (कि० दो० ६); एवं—"तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया ॥"···से—"उपजा ज्ञान चरन तब लागी।" (कि० दो० १०) तक। कैवल्यपरक ज्ञान—उ० दो० ११६-११८ में विस्तार से कहा गया है।

'विज्ञान'—ब्रह्म में लीन। यथा—"दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।" (उ० दो० ५३); "ब्रह्मानंद सदा लयलीना।" (उ० दो० ३१)। कैवल्य परक विज्ञान, यथा—"तब बिज्ञाननिरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।"···से—"तेजरासि बिज्ञानमय॥" (उ० दो० ११७) तक है।

'बिरागा'—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥" (आ० दो० १४)। "निज-निज करम-निरत श्रुति-रीती॥···यहि कर फल मन बिषय-बिरागा।" (आ० दो० १५), इत्यादि। 'सहित बिभागा'—जैसे भक्ति नवधा, प्रेमा, परा आदि भागों में विभक्त है, वैसे ज्ञान की सात भूमिकाएँ इत्यादि रीतियों से प्रत्येक में विभाग होते हैं।

(३) 'औरउ राम-रहस्य ······'—पूर्व जो कहे गये, वे भी रहस्य ही हैं। जैसे उपर्युक्त ज्ञान के विषय में कहा है, यथा—"यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जाने कोइ।" (उ० दो० ११६)। इनसे भी और जो अनेक गुप्त रहस्य हैं, जो विमल विवेक से ही जाने जाते हैं, उनके लिये यहाँ प्रश्न है। शिवजी 'अति बिमल बिवेका' हैं, यथा—"को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिवेक, सेष महेस न कहि सकहिं॥" (वैराग्यसंदीपिनी १४)। और लोग सिद्धांजन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं, गुरु-भक्त लोग गुरु-पद-रज लगाकर गुप्त चरित देखते हैं, पर शिवजी तो स्वाभाविक ही अति विमल विवेक वाले हैं, अतः, उपाय बिना ही सब गुप्त रहस्य देखते हैं।

वे अपार रहस्य जो श्रीरामजी के ही हों और जहाँ तक आपको प्रत्यक्ष हों, सब कहिये। रहस्यों के कुछ उदाहरण—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।······यह रहस्य काहू नहिं जाना।" (दो० १९५); "निज-निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेषा॥" (दो० २४२); "लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥" (आ० दो० २३) इत्यादि।

(४) 'सोउ दयाल''''' अर्थात् कोई भी बात छिपाइये नहीं। यहाँ प्रश्न से अलग की भी बातें जानना चाहती हैं, इसलिये 'दयाल' कहती हैं। ऐसी बातों के उदाहरण—"औरउ एक कहउँ निज चोरी।''''''से—"यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥" (दो० १६५) तक; "उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); इत्यादि।

उमा के प्रश्नों का उपक्रम—"रघुपति-कथा कहहु करि दाया।" से हुआ और यहाँ के—"सोउ दयाल''''''" पर उपसंहार हुआ। इस प्रसंग को दया से ही सम्पुटित किया है। भाव यह कि इन सब के उत्तर दया से ही दीजिये, यह प्रार्थना है।

उमा-प्रश्न-प्रसंग समाप्त

प्रश्नोत्तर-प्रसंग-प्रारंभ

प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई॥६॥
हर-हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥७॥
श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी के सहज सुन्दर और छलरहित प्रश्न सुनकर शिवजी के मन को पसंद आये॥६॥ शिवजी के हृदय में सब श्रीरामचरित आ गये, प्रेम से रोमांच हो आया और आँखों में आँसू छा गये॥७॥ श्रीरघुनाथजी का रूप हृदय में आ गया और उन्हें परमानंद का अमित सुख मिला॥८॥

विशेष—(१) 'प्रश्न उमा कै'''—प्रश्न शब्द यद्यपि पुँल्लिंग है, तथापि ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ स्त्रीलिंग में इसका प्रयोग किया है। यथा—"उमा प्रश्न तव सहज सुहाई।' (दो० ११२)। 'छलविहीन'—प्रश्न चार प्रकार के होते हैं—उत्तम प्रश्न छल-रहित होते हैं, जो जिज्ञासु के द्वारा अज्ञात बातों की जानकारी के लिये गुरु से किये जाते हैं, जिससे भ्रम दूर हो और फिर समझकर उसका मनन करे; यथा—"एक बार प्रभु सुख-आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥" (आ० दो० १३)। मध्यम वह है, जिसमें प्रश्नकर्त्ता अपनी विद्वत्ता भी प्रकट करते हैं कि जिससे वक्ता एवं तटस्थ लोग भी जान जायँ कि ये भी कुछ ज्ञाता हैं। निकृष्ट वह है, जो वक्ता की परीक्षा के लिये किया जाता है। अधम वह है जो सत्संग में विघ्न डालने के उद्देश्य से किया जाय। इन चारों में गिरिजाजी का प्रश्न उत्तम श्रेणी का है; क्योंकि यह केवल अपना संदेह मिटाने के लिये किया गया है। यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना॥" (दो० १०७); "जेहि बिधि मोह मिटइ सो करहू।"—"करहु कृपा बिनवउँ करजोरे॥" (दो० १०८)। 'सहज सुहाई'—क्योंकि इसमें बार-बार नाथ! प्रभु! आदि प्रिय संबोधन आये हैं।

(२) 'हर-हिय रामचरित'''—जैसे-जैसे श्रीपार्वतीजी के प्रश्न होते गये, वैसे-वैसे उनके उत्तर रूप में चरित स्मृति-पथ में आते गये। जैसे किसी पंसारी के पास ग्राहक जो-जो वस्तुएँ माँगता जाता है, उसे उनका स्मरण होता जाता है कि अमुक-अमुक प्रकार की चीजें अमुक-अमुक जगह रक्खी हैं। यथा—"सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई।" (उ० दो ९४); यह काकभुशुंडीजी ने कहा है। 'प्रेम पुलक'''—चरित स्मरण से प्रेम होता ही है। यथा—"रघुबर-भगति प्रेम-परिमिति सी।" (दो० ३०); अर्थात् यह कथा प्रेम की पराकाष्ठा-रूपा है।

(३) 'श्री रघुनाथ रूप उर आवा ।'—आगे-'बदउँ बालरूप ···' कहा गया है। अत, यहाँ भी उसी रूप का ध्यान जानना चाहिये। प्रथम चरित से प्रेम होता है, तब रूप का ध्यान होता है, यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाँती । पुलक गात आई भरि छाती । रामलखन उर कर बर चीठी ।" (दो० २८९)।

'परमानंद अमित सुख ··' श्रीरामजी के दर्शनों से परमानद होता ही है। यथा—"जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानद ।" (दो० २२३); पुन —"जेहि सुख लागि पुरारि, अशिव वेषकृत शिव सुखद। अवधपुरी-नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ । ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति ॥" (उ० दो० ८८)। इन्हीं वचनों के अनुसार यहाँ कहा गया है।

दोहा—मगन ध्यानरस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपतिचरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥१११॥

शब्दार्थ—ध्यानरस=ध्यान का आनद, यथा—"जाग न ध्यानजनित सुख पावा।" (आ० दो० ९)।

अर्थ—श्री शिवजी ध्यान के आनन्द में दो दंड तक डूबे रहे, फिर उन्होंने मन को बाहर किया, और वे हर्ष सहित श्री रघुनाथजी के चरित्रों का वर्णन करने लगे ॥

'मन बाहेर कीन्ह'—यहाँ 'कीन्ह' शब्द से मन का बलात् बाहर करना जान पड़ता है। इसका कारण यह है कि पार्वतीजी ने उत्कंठा-पूर्वक प्रश्न किया है। अब यदि अचानक समाधि लग गई तो वे बैठी ही रह जायँगी। इस कथा से जगत् का हित होगा। पुन कथा में ध्यान के आनन्द से अधिक आनद है, यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानदसदोह ॥" (उ० दो० ४६)। इसके अधिकारियों ने इसको ऐसा ही माना है, यथा—"जीवनमुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)। इष्ट का ध्यान करके कार्य का आरंभ करना भक्तों का नियम भी है जिससे कर्त्तव्य कार्य में सफलता हो।

'हरषित बरनइ लीन्ह'—श्रीरामचरित-वर्णन में वक्ता को हर्ष-सहित प्रवृत्त होना चाहिये। यही इस ग्रंथ के चारों वक्ताओं ने दिखाया है। यथा—"भयेउ हृदय आनद उछाहू।' चली सुभग कविता सरिता सी।" (दो० ३८),—श्री गोस्वामीजी, "सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥···तदपि यथाश्रुत कहउँ बखानी।" (दो० १०४)—याज्ञवल्क्यजी, "करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥" (दो० १११)—शिवजी तथा—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति-गुन गाहा ॥" (उ० दो० ६१)—भुशुंडीजी।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥१॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपनभ्रम जाई ॥२॥

अर्थ—जिसको बिना जाने झूठा भी सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे बिना पहचाने रस्सी में साँप का भ्रम होता है ॥१॥ जिनके जानने से संसार 'हेराय' (खो) जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है ॥२॥

विशेष—यहाँ 'जाहि' और 'जेहि' से श्रीरामजी और 'झूठेउ' और 'जग' से नानात्व रूपवाला जगत् कहा गया है। ऐसे ही सर्प-रूप नानात्व जगत् और रस्सी रूप श्री रामजी हैं। श्री रामजी का

जानना जागना है, जानने पर सम्पूर्ण जगत् का बोध श्री रामजी के शरीर-रूप में हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक-नियामक श्री रामजो जाने जाते हैं और जगत् की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत् का 'हेराय' (खो) जाना है। जैसे स्वप्न की मनःकल्पित सृष्टि जागने पर नहीं रह जाती, वैसे जगत् का नानात्व रूप भी मन से कल्पित है, यथा—"जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाईं। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० ११४) अर्थात् जगत् श्री रामजी का शरीर है, यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी०, युद्ध० सर्ग ११०, श्लो० २७)। ऐसा ज्ञान होने पर फिर कोई शत्रु-मित्र आदि नहीं रह जाते ; क्योंकि श्री रामजी सर्वेश हैं। अतः, अपने शरीर रूप व्यष्टि जगत् के प्रति दूसरे सब अंगों से (प्रत्येक के कर्म के अनुसार) यथायोग्य ही बर्ताव कर रहे हैं अर्थात् शत्रु-मित्र आदि सबके प्रेरक वे ही हैं, हमारे कर्मानुसार सुख-दुःख आदि दे रहे हैं। तब जगत् का नानात्व रूप उनका ज्ञान-पूर्वक विलास ही सिद्ध होता है। यथा—"तुलसिदास प्रभु चिद्विलास जग बूझत बूझत बूझै॥" (वि० १२४)। अतः, हित करनेवाले माता, पिता आदि को मित्र और अनहित करनेवालों को शत्रु आदि की भावना मन की भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्व दृष्टि 'सुत-बित-देह-गेह-स्नेह' रूप जगत् के नाम से प्रसिद्ध है। इस नानात्व जगत् का दश-दिगात्मक रूप—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी।···" (सुं० दो० ४७) है।

इसमें 'रस्सी' और 'सर्प' के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण पूर्व मंगला० के—'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में किया गया है। इसकी चराचररूपता आगे—'रजत सीप महँ···' (दो० ११७) में दृष्टान्तों के आधार से कही जायगी।

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥३॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ-अजिर बिहारी॥४॥
करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥५॥

शब्दार्थ—सब सिधि = सब २१ सिद्धियाँ हैं, उनमें अणिमादि आठ के नाम भी पूर्व दो० २१ चौ० ५ में कहे गये हैं तथा—सब मनोरथों की सिद्धि। जिसु (यस्य) = जिसका। अजिर = आँगन।

अर्थ—मैं उन्हीं बालक-रूप श्रीरामजी की वन्दना करता हूँ, जिनके नाम जपने से सब सिद्धियाँ (सब प्रकार के मनोरथों की सिद्धियाँ) सहज ही में प्राप्त हो जाती हैं॥ ॥ मंगल के घर, अमंगल के हरनेवाले और श्रीदशरथ महाराज के आँगन मे विहार करनेवाले वे (बालरूप श्रीरामजी) कृपा करें॥४॥ त्रिपुरारि श्रीशिवजी श्रीरामजी को प्रणाम करके हर्ष से अमृत के समान वचन बोले॥५॥

विशेष—(१) 'बदउँ बालरूप सोइ रामू।'—'सोइ' अर्थात् जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयों में कहे गये हैं एवं ऊपर दोहे में जिनका ध्यान किया था, तथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा।" (दो० ११०) भी कहा गया था, उसे यहाँ खोला कि वह यही बालरूप था। शिवजी की स्थायी स्थिति शांत रस में रहती है, इससे यह बालरूप उनका इष्ट है। अतः, लोमशजी को भी चरित देने के साथ (संभवतः) यही ध्यान बतलाया है और लोमशजी ने काकभुशुंडीजी को भी यही बतला दिया है। यथा—"बालक-रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं गुरु कृपानिधाना॥" (उ० दो० ११२); "इष्टदेव मम बालक रामा।" (उ० दो० ७४)।

यहाँ बिना किसी उद्दीपन आदि कारणों के हृदय से स्वतः बालरूप का उद्गार हुआ है। इसी कारण यह रूप शिवजी का सहज एवं एकान्त ध्येय समझा जाता है। यों तो ये जगद्गुरु हैं। यथा—"तुम्ह त्रिभुवन-गुर वेद बखाना।" (दो० ११०)। अतः, सभी रसों के भोक्ता हैं, इसी से बाल, विवाह, वन एवं राज्याभिषेक आदि सभी अवस्थाओं की रूप-माधुरी में इनका निमग्न होना कहा गया है।

(२) 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'—बालरूप के साथ नाम-द्वारा सर्व-सिद्धियाँ कहने का तात्पर्य यह है कि जप मंत्र की अर्थ-भावना के साथ होता है। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्।" (योगसूत्र)। नाम का अर्थ रूप है और नाम के शब्दार्थ में कथित गुण रूप के ही होते हैं। अतः, रूप के ध्यान के साथ उसके नामार्थ के अन्तर्गत गुणों को उसमें विचारते हुए जप करना चाहिये। श्रीरामनाम का अर्थ श्रीवशिष्ठजी ने कहा है। यथा—"जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥" (दो० ११६) अर्थात् रामजी में जीवों को आनंदित करने की अपरिमित शक्ति है। फिर बहुत बार नाम जपते हुए भी जीव सुखी क्यों नहीं होते ? इसका कारण यह है कि श्रीरामजी में जो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता गुण हैं, ये दोनों बद्ध जीवों के लिये बाधक हैं। सर्वज्ञता तो इनके पापों की चुगुली करती है, तदनुसार सर्वशक्तिमत्ता उन्हें दंड देने में प्रवृत्त रखती है। अतः, पूर्वकृत पापों एवं जप के साथ-साथ के भी हुए अपराधों से ही जीव मुक्त नहीं हो पाते। जिस समय इन दोनों की प्रवृत्ति न हो, वही अवसर जीवों के कल्याण का है। यह बाल-रूप में सहज ही है, क्योंकि बालक भोला भाला होता है और उसमें शक्ति भी नहीं रहती, क्योंकि दूसरा गोद में ले अथवा अंगुल पकड़ाकर चलावे, तब वह चलता है। अतः, इस अवस्था के ध्यान से साधक के चित्त में स्थित श्रीरामजी में उक्त दो गुण नहीं आते, इसीसे शीघ्र ही सर्व सिद्धियाँ होती हैं।

बालरूप के अतिरिक्त किशोर-रूप का ध्यान श्रीसीताजी के साथ रहता है। श्रीजानकीजी कृपामयी हैं। अतः, श्रीरामजी की चित्तवृत्ति उनके अनुसार कृपामय रहती है, तब उस कृपा के उदय में भी जीवों के दोष नहीं रह जाते; क्योंकि 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से 'कृपा' शब्द बनता है। भगवान् जब अपने सामर्थ्य पर ध्यान देते हैं, तब यह आता है कि मेरी शक्ति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता और जीव जो माया-वश होकर दुखी हैं, यह हमारी ही असावधानी है। हम सँभालते तो देखे दुखी ये क्यों होते ? अतः, 'श्रीसीता-राम' नाम जपने से भी सर्व सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।

(३) 'मंगलभवन अमंगलहारी।'''—श्रीरामजी का ध्यान मंगलमय है। कहा भी है—"*मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः। मंगलं पुंडरीकाक्षो मंगलायतनो हरिः॥*" यहाँ श्रीशिवजी ने नाम, रूप, लीला और धाम—चारों से मंगल किया है, यथा—रूप—'बंदउँ बालरूप'''; नाम—'जपत जिसु नामू।'; धाम—'दसरथ अजिर'; लीला—'बिहारी'। चारों का मंगलकारी होना पूर्व—"मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥" दो० ६ के विशेष में लिखा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी ऐसा ही मंगल कथा के प्रारंभ में किया है। यथा—"नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।'''सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा। करउँ" (दो० १०) अर्थात् नाम और रूप दोनों ही तुल्य 'मंगलभवन अमंगलहारी' हैं।

माधुर्य में यह भी भाव है कि प्रभु ने बाल-स्वरूप से प्रकट होकर दशरथजी के वंश लोप रूप अमंगल को हर लिया, फिर चारो भाइयों के क्रमशः जन्म, छठी, बारहीं आदि उत्सवों से मंगल-ही-मंगल भर दिया, क्योंकि एक-एक उत्सव तीन-तीन दिनों तक होता था, यथा—"ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये॥" (गी० बा० ५)।

(४) 'दसरथ-अजिर-बिहारी ।'—बाल-रूप आँगन में ही विहरते हैं, वैसे मेरे हृदय-रूप आँगन में भी विहरें, यह भाव है। यथा—"अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं ॥" (क० बा० १)। 'सो'—वही, जिनका—'गूढ़उ सत्य'''जेहि जाने''' से निर्गुण रूप और—'धंदउँ बाल-रूप'—'मंगलभवन''' से सगुण रूप कहा गया। यहाँ 'सोइ' और 'सो' शब्द से निर्गुण-सगुण की एकता मंगल में भी की है, क्योंकि पार्वतीजी से यही एकता कहनी है।

(५) 'करि प्रनाम रामहिं '''—त्रिपुर को मारकर तीनो लोकों को सुखी किया, वैसे इस कथा से तीन लोक सुखी होंगे। 'सुधासम'—इस कथा से श्रोतागण मृत्यु धर्म से निवृत्त होंगे।

शिवजी ने मन, कर्म और वचन तीनों से वंदना की है, यथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा।"—मन, 'करि प्रनाम'—कर्म और आगे—"रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ॥" (दो० ११६) में वचन से भी है।

धन्य धन्य गिरिराज-कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी ॥६॥
पूछेहु रघुपति - कथा - प्रसंगा। सकल - लोक - जगपावनि गंगा ॥७॥
तुम्ह रघुबीर - चरन - अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगतहित लागी ॥८॥

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी ! धन्य हो ! धन्य हो ॥ तुम्हारे समान कोई भी उपकारी नहीं है ॥६॥ तुमने श्रीरघुनाथजी की कथा का प्रसंग पूछा है, जो समस्त लोकों के लिये जगत्-पावनी गंगा के समान है ॥७॥ तुम रघुनाथजी के चरणों की अनुरागिणी हो, तुमने जगत् के कल्याण के लिये ही ये प्रश्न किये हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'धन्य-धन्य गिरि '''' दो बार धन्य अधिक आदरार्थ में कहा है। अतः, आदर की वीप्सा (अलंकार-विशेष) है। 'गिरिराजकुमारी' परोपकार के सम्बन्ध से कहा गया है, क्योंकि गिरि (पर्वत) परोपकारी होते हैं। गिरिजा के 'सहज सुहाई' प्रश्न से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें 'धन्य धन्य' कहा है। यथा—"धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥" (उ० दो० ६४)। परोपकार का रूप आगे कहते हैं—

(२) 'पूछेहु रघुपति-कथा '''—प्रसंग का अर्थ चर्चा या वार्ता है। श्रीपार्वतीजी ने प्रथम कथा पूछी थी—'रघुपति कथा कहहु करि दाया।' और फिर उसमें एक-एक प्रसंग पृथक् पृथक् पूछा, वैसे जोड़ में यहाँ भी 'कथा' और 'प्रसंग' दोनों कहे गये।

'सकल लोक जग '''—जैसे भगीरथ महाराज के द्वारा गंगाजी आईं, उनसे उनके पूर्वज तो तरे ही, साथ ही, तीनों लोकों का भी हित हुआ। गंगा की एक-एक धारा तीनों लोकों में गई, इसी तरह तुम्हारे प्रश्न रूप भगीरथ के द्वारा कथा-रूपा गंगा भी सब लोकों का हित करेगी।

(३) 'तुम्ह रघुबीर चरन '''—भरद्वाज जी के प्रश्न प्रसंग में कहा गया था कि उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे प्रथम श्रोता का आदर करते हैं जिससे वह घबरा न जाय और उसके अनौचित्य को युक्ति से कह भी देते हैं कि ऐसा सब कोई न कहने लगें। (इन श्रोताओं ने तो अनुचित बातें पूर्वपक्ष के रूप में कथा कहलाने के लिये कही हैं) यहाँ शिवजी ने गिरिजाजी के हृदय के शुद्ध भाव की सराहना की है। ये अ-

श्रीराम-चरण की अनुरागिणी न होतीं तो श्रीरामजी इनकी प्रशंसा क्यों करते और इनको ग्रहण करने के लिये शिवजी से निहोरा क्यों करते ? (दो० ७६ देखिये ।)

'जगत-हित लागी'—संत स्वयं श्रीरामानुरागी होते हैं, वैसे दूसरों को भी करना चाहते हैं। यथा-"जग-हित निरुपधि साधु लोग से ।" (दो० ३१ '; शिवजी पार्वतीजी को रामानुरागिणी जानते हुए भी कथा कहेंगे। यथा—"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसारहित ।।" (आ० दो० ७५)।

दोहा—रामकृपा ते पारवति, सपनेहु तव मन माहिं ।
सोक मोह संदेह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं ॥११२॥

तदपि असंका कीन्हिहु सोई । कहत सुनत सब कर हित होई ॥१॥

अर्थ—हे पार्वतीजी ! श्रीरामकृपा के कारण हमारे विचार से तो तुम्हारे मन में शोक, मोह, संदेह और भ्रम, स्वप्न में भी कुछ नहीं है ॥११२॥ तो भी तुमने यह अ-शंका (बनावटी शंका = पूर्वपक्ष) की है कि जिसके कहने-सुनने से सबका हित हो ॥१॥

विशेष—(१) 'राम कृपा ते '—श्रीपार्वतीजी पर श्रीराम-कृपा है, तभी इनके लिये रामजी शिवजी के यहाँ प्रकट हुए और इनकी प्रशंसा की। (दो० ७६ देखिये)। शोक-अज्ञान के कारण भव में पड़ने की चिंता, संदेह, मोह, भ्रम के भाव दो० ३८ चौ० ४ में कहे गये हैं। यहाँ संदेह आदि को पार्वतीजी ने अपने में होना प्रश्नों के साथ स्वयं कहा है, यहाँ उन्हींका निराकरण है।

(२) 'तदपि असंका····'—'असंका' का अर्थ झूठी शंका = बनावटी शंका है जैसे दार्शनिक लोग पूर्व पक्ष किया करते हैं। बनावटी शंका यह है, जिसे ऊपर (दो० १०८में) पूर्वपक्ष के रूप में कहा है।

(३) 'कहत सुनत सबकर····' अर्थात् इसके कहने और सुनने का अधिकार सबको है—चह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, सभी का हित होता है, केवल शुद्ध निष्ठा चाहिये। हित, यथा—"सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा ॥···उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा। मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ।।" (उ० दो० १२५)।

शंका—यहाँ शिवजी कहते हैं कि मेरे विचार में मोह आदि तुम्हारे मन में नहीं हैं और आगे कहेंगे—"तजु संसय···भ्रम-तम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५)। "तदपि मोह-बस कहेहु भवानी।" (दो० ११३)। फिर पार्वतीजी भी जगह-जगह पर "मिटा मोह' 'संसय हरेऊ' 'गयेउ बिषादा" (दो० ११६)। फिर याज्ञवल्क्यजी भी कहेंगे—"सुनि सिव के भ्रम-भंजन बचना।···दारुन असंभावना बीती" (दो० ११८)। ऐसा क्यों ?

समाधान—श्रीशिवजी और याज्ञवल्क्यजी ने इनके पूर्व पक्ष के अंशों को लेकर कहा है कि जिनमें ये मोह आदि वास्तविक रूप में होंगे, वे इन वचनों से छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसंग के महत्त्व को कहा है। श्रीपार्वतीजी ने जिस भाव से अज्ञान बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अंत तक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओं के लिये प्रसंगों का महत्त्व और वक्ताओं के प्रति कृतज्ञता वर्णन की रीति बतलाई है।

सम्बन्ध—यहाँ जो 'कहत सुनत सब कर हित होई' कहा, उसी की पुष्टि के लिये आगे कहते हैं—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि-भवन समाना ॥२॥
नयनन्हि संतदरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा ॥३॥
ते सिर कटुतुंबरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ॥४॥
जिन्ह हरिभगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव-समान तेइ प्रानी ॥५॥

शब्दार्थ—श्रवनरंध्र (श्रवणरंध्र)=कानों के छेद। समतूला=तुल्य, बराबर। पदमूला=चरणों के तलवे। लेखा=गिनती या रेखाएँ। सव (शव)=मुर्दा।

अर्थ—जिन कानों ने हरिकथा नहीं सुनी, उनके कान के छिद्र साँप के बिल के समान हैं ॥२॥ जिन नेत्रों ने संतों के दर्शन नहीं किये, वे मोर के पंख से (बने हुए) लोचनों (नेत्रों की आकृति) की गिनती में हैं अर्थात् व्यर्थ हैं ॥३॥ वे शिर कडुवी तुंबी (लौकी) के सदृश हैं जो भगवान् और गुरु के चरणों पर नहीं झुकते ॥४॥ जो हरिभक्ति को हृदय में नहीं लाये, वे प्राणी जीते हुए मुर्दे के समान हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जिन्ह हरिकथा···'—'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिम्' के प्रमाण से हरि=रामजी हैं; उनकी कथा अथवा भगवान् के सब रूपों की कथा से भी तात्पर्य है। 'अहिभवन' (उन कानों में) विषैले सर्पों के समान विषय-वार्ता ही पैठती है। विष तो एक ही बार मारता है, विषय से बार-बार जन्म-मरण होते हैं। सर्प के बिल में दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे इन कानों में रामकथा नहीं सुहाती।

(२) 'नयनन्हि संत दरस···'—'दरस' का प्रयोग स्वरूप (द्रष्टव्य) के अर्थ में हुआ है। यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ···(अ० दो० २२१); "देखहिं दरस नारि-नर धाई।" (अ० दो० १०८); तथा—"जिय सुख पायो ल्यायो दरस दिखाइये।" (भक्तमाल टी० प्रियादास क० २८३) अर्थात् ऐसी प्राचीन भाषा थी।

'लोचन मोरपंख···'—वे नेत्र मोरपंख की नेत्राकार चंद्रिका की तरह चाहे कितने ही सुंदर हों, पर व्यर्थ ही हैं, नाममात्र के हैं।

(३) 'ते सिर कटु···'—'समतूल' गहोरा (चित्रकूट के जांगल) देश की बोली है जो बराबर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा— "कहहिं सीय समतूल।" (दो० २४७)। 'पदमूल'—चरण का तलवा, जिसकी धूल शिर पर रक्खी जाती है, चरणामृत लिया जाता है और चरण-चिह्न का ध्यान भी किया जाता है। इन सब महत्त्वों के स्मरणपूर्वक नमस्कार करना चाहिये अर्थात् जो गुरु-गोविन्द को प्रणाम नहीं करते, उनके सिर व्यर्थ हैं।

(४) 'जीवत सव समान···'—उनका जीवन व्यर्थ है, क्योंकि उनके जीवन से कुछ मनुष्योचित लाभ न हुआ। मुर्दे के छूने से लोग अशुद्ध होते हैं, फिर स्नान-दान से शुद्धि होती है, वैसे हरि-भक्ति से हीनों को अपवित्र समझना चाहिये। वे मुर्दे की तरह घृणा के पात्र हैं। अन्यत्र भी—"विष्णुबिमुख श्रुति-संत-विरोधी।···जीवत सव-सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०)।

सारांश—प्रथम हरि-कथा का न सुनना कहा गया। कथा सन्तों से प्राप्त होती है। यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१)। इसलिये फिर संत-दर्शनों का न होना कहा गया। सन्त दर्शन

भी हों, पर अहंकार-वश इनके प्रणामादि न करने से भी कुछ फल नहीं होता, इसलिये फिर प्रणाम न करना कहा गया। इस प्रकार सत्संग के फल-रूप हरि-भक्ति से वंचित रह गये। यथा—"बिनु सत-संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥" (उ० दो० ६१); फलतः, मृतकतुल्य कहे गये।

इन तथा अगली दो चौपाइयों के भी अर्थ और भाव श्रीमद्भागवत में भी हैं। यथा—"बिलेवतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथा ॥ बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ॥ जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ॥ तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥" (स्कं० २, अ० ३, श्लो० २०–२४)।

जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर-जीह-समाना ॥६॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती ॥७॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुजबिमोहनसीला ॥८॥

दोहा—रामकथा सुरधेनु-सम, सेवत सब-सुख-दानि।
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनइ अस जानि ॥११३॥

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर) = दया-हीन, क्रूर। सीला (शील) = प्रवृत्त, तत्पर; यहाँ यह विमोहन का विशेषण है, अतः यही अर्थ है। बिमोहनसील = विशेष मोहित करनेवाली।

अर्थ—जो जिह्वा श्रीरामजी के गुणों का गान नहीं करती, वह मेढक की जीभ के समान है। ॥६॥ वह छाती वज्र के समान कठोर और निर्दय है, जो हरि-चरित सुनकर भी हर्षित नहीं होती ॥७॥ हे गिरिजे! सुनो, श्रीरामजी की लीला देवताओं का हित करने और दैत्यों को विशेष मोहित करनेवाली है ॥८॥ श्रीराम-कथा कामधेनु के समान है जो सेवा करने से सब सुखों को देनेवाली है। संतों का समाज सम्पूर्ण देवलोक (के समान) है, ऐसा जानकर उसे कौन न सुनेगा? ॥११३॥

विशेष—(१) 'दादुर-जीह···'—मेढक के जिह्वा होती ही नहीं। इसकी कथा यों है कि एक समय अग्निदेव रुष्ट होकर पाताल को चले गये। इनकी गर्मी से मेढक ऊपर निकल आये। इधर देव गण अग्नि की खोज में थे, मेढक से पता पा गये। तब अग्निदेव ने रुष्ट होकर मेढक को शाप दिया कि तुम्हारे जिह्वा न रहे। इसपर अन्य देवताओं ने उसे आशीर्वाद दिया कि तुम गर्मी से मर भी जाओगे तो पावस के प्रथम जल से सजीव हो जाया करोगे। यथा—"अस बर्षा दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम।" (अ० दो० १५१)।

(२) 'कुलिस कठोर निठुर···'—वे बड़े निर्दय हैं, अपने आत्मा का नाश करने में भी दया नहीं रखते। यथा—"ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहिं न रघुपति-कथा सुहाती ॥" (उ० दो० ५२); चाहिये यो ऐसा, यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।" (दो० ३०)।

(३) 'गिरिजा सुनहु राम···'—सुर से यहाँ दैवी संपत्ति और दनुज से आसुरी संपत्ति वाले

कहे गये हैं। यथा—"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।" (गीता १६।६)। हरिभक्त लोग दैवी और हरि-विमुख आसुरी संपत्ति वाले कहाते हैं।

श्रीरामजी की लीला एक ही वस्तु है; पर अधिकारियों के भेद से गुण में भेद होता है, जैसे स्वाती का जल एक ही वस्तु है, पर पात्रों के भेद से उसके गुण भिन्न होते हैं—सीप में पड़ने से मोती होता है और केले से कपूर इत्यादि; प्रसिद्ध है। इसी तरह श्रीरामजी की लीला दैवी (सात्त्विक) प्रकृति वालों को भक्ति, वैराग्य आदि प्राप्त कराती है और राजस-तामस वृत्ति रूपी आसुरी प्रकृति वालों के हृदय में मोह की वृद्धि करती है कि वे ईश्वर को प्राकृत मनुष्य ही कहने लगते हैं। यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म-रति॥" (आ० दो० १); "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जनसुखकारी॥" (उ० दो० ७१)। जैसे श्रीकृष्ण भगवान् का विराट् रूप देखकर अर्जुन शरणापन्न हुए और उसीको दुर्योधन ने नट का खेल माना। यहाँ शिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व की तरह फिर न मोहित हो जाना—मोहारोपण आसुरी प्रकृतिवालों का काम है।

(४) 'रामकथा सुरधेनु···'—कामधेनु देवलोक में प्राप्त है जो देवताओं द्वारा पूजित होकर उन्हें अर्थ, धर्म, काम देती है। विचरनेवाली है, अतः, सर्वत्र प्राप्त रहती है। ऐसे ही कथा संत-समाज में प्रवृत्त रहती है, संतों में पूजित होकर उन्हें चारों फल देती है। संत-समाज विचरनेवाला है, उनके साथ कथा भी विचरती है। 'सब सुखदानि'—सब को और सब सुख देती है। 'सुरलोक सब'—स्वर्ग अनेक कहे जाते हैं—स्वः महः जनः तपः और सत्य लोक—ये सब देवलोक ही हैं। 'रामकथा सुरधेनु'—अन्यत्र भी कहा है—"रामकथा कलि-कामद गाई।" (दो० ३०)।

रामकथा सुंदर करतारी। संसयबिहग उड़ावनिहारी॥१॥
रामकथा कलि-बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥२॥

अर्थ—श्रीराम-कथा सुन्दर हाथ की ताली के समान है। अतः, संशय रूपी पक्षी को उड़ानेवाली है॥१॥ श्रीरामकथा कलि-रूपी वृक्ष के लिये कुल्हाड़ी के समान है, हे *गिरिराजकुमारी*! इसे आदर के साथ सुनो॥२॥

विशेष—(१) 'रामकथा सुंदर···'—'करतारी' का भाव यह कि ऊपर सुरलोक की तरह सत्संग में कथा की स्थिति कही गई। सत्संग यद्यपि भूमि पर ही है, तथापि संतों की प्राप्ति दुर्लभ है। यथा—"सतसंगति दुर्लभ संसारा।" (उ० दो० १२२)। इसलिये दूसरी उपमा करताली की दी कि हाथ सबके होते हैं, वैसे रामायण भी घर-घर में प्राप्त हो सकती है। सभी अपने-अपने समाज में कह-सुन सकते हैं। इस तरह श्रोता और वक्ता दो हाथ हैं। प्रश्नोत्तर होना एवं कहना-सुनना ताली बजाना है, इससे संशय निवृत्त हो जाते हैं। ऊपर रामायण को कामधेनु कह आये, अतएव इसमें संशय-निवृत्ति की कामना से लगे रहने पर यह धीरे-धीरे अपना ज्ञान कराकर संशय मिटा देती है।

(२) 'रामकथा कलिबिटप···'—कलि के अर्थ कलह, पाप और कलियुग हैं। ऊपर संशय-रूपी पक्षी का उड़ाना कहा गया, किन्तु जबतक वृक्ष बना रहता है, पक्षी फिर भी आ बैठते हैं, वैसे यहाँ कलि (पाप) को वृक्ष कहते हैं; क्योंकि इसी के आधार से संशय रहते हैं। यथा—"तदपि मलिन मन बोध न आवा।" (दो० १०८)। इस पाप रूपी वृक्ष को ही कथा काट डालती है, यथा—"मन क्रम बचन जनित

अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)। यहाँ कथा—कुल्हाड़ी, वक्ता—काटनेवाला, वचन—प्रहार (चोट) और कलि—विटप है।

'सादर सुनु गिरि···'—उपर्युक्त संशय-निवृत्ति एवं पाप-नाश तभी होते हैं जब कथा श्रद्धापूर्वक और मन, बुद्धि, चित्त लगाकर सुनी जाय, यही सादर सुनना है। यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४); श्री गोस्वामीजी—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० ३४); श्री याज्ञवल्क्यजी—"भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२४)। वैसे यहाँ शिवजी ने भी कहा है; क्योंकि—"सदा सुनहिं सादर नर-नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥" (दो० ३७)।

इस कथा-माहात्म्य कथन का उपक्रम—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी।" पर हुआ था और यहाँ—"सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" पर उपसंहार हुआ।

राम-नाम-गुन-चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥३॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥४॥
तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥५॥

अर्थ—(यद्यपि) श्री रामजी के सुन्दर नाम, गुण चरित, जन्म और कर्म (सब) को वेदों ने अगणित कहा है॥३॥ (क्योंकि) जिस प्रकार भगवान् श्री रामजी अनन्त हैं, उसी प्रकार उनकी कथा, कीर्त्ति और नाना गुण (भी अनंत) हैं॥४॥ तोभी तुम्हारी अत्यंत प्रीति देखकर; जैसा मैंने सुना है और जैसी मेरी बुद्धि है, (वैसा) कहूँगा॥५॥

विशेष—(१) 'राम-नाम गुन···'—नाम आदि पाँचो कथा में हैं, अगणित होने से अकथ्य हैं। उपसंहार में भी कहा है—"रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥" (उ० दो० ५१)

(२) 'जथा अनंत राम···'—उपसंहार में भी कहा है—"राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी॥" (उ० दो० ५१); यहाँ उपर्युक्त पाँचो को भी अनंत रूप में उपमित (उपमा से युक्त) किया।

(३) 'तदपि जथाश्रुत···'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्वजों से सुनी हुई ही कथा कहते हैं। प्रमाण पूर्व दो० १०४ चौ० ४ में लिखे गये। यहाँ 'जस मति' भी लगा है। इसका भाव यह है, कि सुना तो अधिक भी है, पर मेरी बुद्धि जैसा कुछ धारण रह सकी, वैसा कहूँगा, ऐसे ही और वक्ताओं ने भी कहा है। यथा—गोस्वामीजी—"करइ मनोहर मति-अनुसारी।" (दो० ३५); याज्ञवल्क्यजी—"कहउँ सो मति-अनुहारि अब,···" (दो० ४७), भुशुंडीजी—"निज मति सरिस नाथ मैं गाई।" (उ० दो० ९०); वैसे ही शिवजी ने यहाँ कहा और उपसंहार में भी कहा है—"मैं सब कही मोरि मति जथा।" (उ० दो० ५१)।

श्री पार्वतीजी ने इन्हें—'प्रभु समरथ सर्बज्ञ···' आदि कहकर प्रश्न किया था, उसपर भी कहते हैं कि हम ऐसे होते हुए भी इन नाम आदि अनंत का वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते। हाँ, यथामति कहता हूँ। यथा—"निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥" (उ० दो० ९०)।

(४) 'कहिहउँ देखि प्रीति ···'—श्रीपार्वतीजी ने प्रश्न के पूर्व अपने श्रवण-अधिकार के विषय में तीन बातें कही थीं कि 'मैं मन-वचन-कर्म से आपकी दासी हूँ'; 'अति आरति पूछउँ' 'कहहु करि दाया'। इनमें शिवजी ने 'अति आरति' को यहाँ ग्रहण किया। उसी को अतिप्रीति कहा है। उपसंहार में भी शिवजी ने कहा है—"तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तो मैं रघुपति-कथा सुनाई॥" (उ० दो० १२७)।

उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत-संमत मोहि भाई ॥६॥
एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥७॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥८॥

दोहा—कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह-पिसाच।
पाषंडी हरि-पद-बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥११४॥

शब्दार्थ—सहज सुहाई=स्वाभाविक ही सुंदर। संतसंमत=मूढ़ बनकर पूछना जिससे श्रीरामयश कहा जाय। भाई=अच्छी लगी।

अर्थ—हे उमा! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुन्दर, सुख देनेवाले और संत-सम्मत हैं, (अतएव) मुझे अच्छे लगे ॥६॥ (परन्तु) मुझे (उनमें) एक बात अच्छी नहीं लगी—यद्यपि हे भवानी! तुमने मोहवश (बनकर) कहा है ॥७॥ तुमने तो यह कहा कि—'वे राम कोई और हैं जिन्हें वेद गाते हैं और मुनि जिनका ध्यान धरते हैं?' ८॥ ऐसा तो अधम लोग कहते-सुनते हैं, जो मोह-रूपी पिशाच से ग्रस्त हैं, पाखंडी हैं, हरिपद-विमुख हैं तथा झूठ और सत्य कुछ भी नहीं जानते ॥११४॥

विशेष—(१) 'एक बात नहिं मोहिं···'—शिवजी ने प्रथम इनके प्रश्नों की सराहना की। फिर उनमें एक बात निकाल आक्षेप करते हैं। इसका कारण यह है कि गिरिजा को मोह नहीं है। इन्होंने मोहवश के समान बनकर प्रश्न (पूर्वपक्ष) किया है। उत्तर में शिवजी ऐसा समाधान करें, जिससे जगत् के मोहवश जीवों का कल्याण हो, परन्तु यह अंतरंग भाव शिवजी ही जानते हैं। सर्वसाधारण लोगों को तो श्रीरामजी की निंदा का मार्ग मिल जायगा। इसलिये उसपर ऐसा कहनेवालों के लिये वाग्दंड दे रहे हैं।

(२) 'तुम्ह जो कहा राम '—श्रीपार्वतीजी ने पूर्व दो १०७ के—'प्रभु जे मुनि'...से—'अनंग-अराती।' तक श्रीराम परत्व के लिये तीन प्रमाण दिये—१—परमार्थवादी मुनियों का, २—शेष-शारदा-वेद-पुराण आदि का, ३—शिवजी का। उनमें प्रथम दो को तो यहाँ शिवजी ने वैसा ही दोहराया है, पर अपना नाम नहीं लिया। इसका भाव यह कि इन दाशरथी रामके अतिरिक्त जहाँ दूसरा राम प्रतिपादन होता हो, वहाँ मेरा नाम भी नहीं रहेगा। सहमत होना तो दूर है।

(३) 'कहहिं सुनहिं अस ·····'—अधम=पापात्मा, पुण्य-रहित। अतः, 'अधम नर' से कर्म-काण्ड-रहित, 'ग्रसे जे मोह-पिसाच' से ज्ञान कांड-रहित और 'हरि-पद-बिमुख' से उपासना-कांड-रहित होना जनाया; अर्थात् वे कांडत्रयहीन हैं। अतः, 'भव-साँसति' से नहीं छूट सकते। 'मोह' को पिशाच कहने का भाव यह कि जिन्हें भूत-पिशाच लगते हैं वे बावले से हो जाते हैं। यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥ जिन्ह कृत महामोह-मद पाना।······" (दो० ११४) तथा—"लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर।" (अ० दो० ३५)।

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई-बिषय मुकुर-मन लागी ॥१॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी ॥२॥
कहहिं ते बेद-असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभ नहिं हानी ॥३॥

मुकुर मलिन अरु नयन-विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥४॥

शब्दार्थ—अकोविद = जो पंडित नहीं, मूर्ख। काई = मैल, मुर्चा, जंग। मुकुर = दर्पण। लंपट = व्यभिचारी। असमत = विरुद्ध। दीना = बेचारे।

अर्थ—जो अज्ञानी, अकोविद, अंध और भाग्यहीन हैं, जिनके मन-रूपी दर्पण में विषय रूपी मुर्चा (जंग) लगा है ॥१॥ जो विशेष कर व्यभिचारी, कपटी और कुटिल हैं, जिन्होंने स्वप्न में भी संत समाज को नहीं देखा ॥२॥ जिन्हें हानि लाभ की सूझ (समझ) नहीं है, वे ही वेद-विरुद्ध वचन कहते हैं ॥३॥ दर्पण मैला है और वे नेत्ररहित हैं, इससे वे बेचारे श्रीराम-रूप को कैसे देखें ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अज्ञ अकोविद अंध''''—इसका सम्बन्ध चौथी चौपाई—'मुकुर मलिन''''' से है। 'अज्ञ' हैं अर्थात् ज्ञान विराग रूप नेत्र हीन हैं। यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११९)। यही 'मन मुकुर' की मलिनता है। 'अकोविद' हैं, अर्थात् शास्त्र रूपी नेत्र से हीन हैं। यथा—"सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यंध एव सः।" (हितोपदेश)। यही नयन-विहीनता है, इन दोनों प्रकार के नेत्रों से हीन होने से 'अंध' कहे गये और इसीसे अभागी' हैं। दर्पण-रूपी मन में विषय-रूपी काई लिपटी है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब राम-रूप कैसे देख पड़े ? यथा—"राम प्रेम पथ पेखिये, दिये विषय तन पीठि। तुलसी केंचुलि परिहरे, होति साँपहू डीठि॥" (दो० ८२)। मुकुर की उत्प्रेक्षा से मन के समक्ष में ही श्रीरामजी का होना जनाया। यथा—"दूरि न सो हितू हेरु हिय ही है।" (वि० ११५); "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं ....." (वि० १४४)। इस मुकुर-मलिनता का उपाय भी कहा गया है। यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधारि।" (अ० मं०), एवं—"गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। ... तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन।" (दो० १)।

(२) 'लंपट कपटी कुटिल .....'व्यभिचारी हैं, इसीसे कपटमय व्यवहार रहता है और बाहरी आचरण में कुटिलता रहती है, यही इसे स्वप्न में भी दिखाई देती है, क्योंकि मनुष्य-जैसा व्यवहार जाग्रत में करता है, तदनुसार ही इसे स्वप्न में दिखाई पड़ता है। इसीसे यह स्वप्न में भी संत सभा नहीं देख पाता। संत-सभा देखना कहने का कारण यह है कि संत-सभा के संग से सुधर जाता। यथा—"काक होहिं पिक बकउ मराला।" (दो० २), तथा—"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई" (दो० २) किन्तु संत-संग हो कैसे ? वैसे लोग ऊपर 'अभागी' कहे गये और सत्संग तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। यथा—"बड़े भाग्य पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२), क्योंकि—"संत संगति दुर्लभ संसारा।" (उ० दो० १२२)।

(३) 'कहहिं ते वेद-असंमत......'—वेद विरुद्ध वाणी यही है, जिसे श्रीपार्वतीजी ने दो० १०८ में पूर्व पक्ष रूप में कहा है।

(४) 'लाभ नहिं हानी'—लाभ श्रीराम भक्ति है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (ल० दो० २५), "लाभ कि किछु हरि-भगति समाना।" (उ० दो० १११) और हानि, यथा—"हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नर-तनु पाई॥" (उ० दो० १११), तथा—"लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि।" (दोहावली २१)।

(५) 'राम रूप देखहिं किमि दीना।'—उपर्युक्त उभय नेत्र ही श्रीराम रूप देखने के साधन हैं, उनसे हीन होना ही दीनता है, अतएव दया के पात्र हैं। यह दीनता माया-वश होने से है, यही आगे कहते हैं—

जिन्ह के अगुन न सगुन बिवेका। जलपहिं कलपित बचन अनेका ॥५॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—जलपहिं = बकते हैं, डींग हाँकते हैं। कलपित = मन-गढ़ंत, शास्त्र-विरुद्ध। अघटित = अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—जिनके निर्गुण-सगुण का विवेक नहीं है, वे अनेक मन-गढ़ंत बातें बकते हैं ॥५॥ भगवान् की माया के वश में पड़कर संसार में भ्रमते हैं, उनके लिये तो कुछ भी कह डालना अनुचित नहीं ॥६॥

विशेष—(१) जिन्ह के अगुन न''''''—निर्गुण-सगुण के स्वरूप और उनके विवेक दो० २२ की चौ० १ और ४ में लिखे गये। उनके स्वरूप के विरुद्ध कहना जल्पना है। निर्गुण का प्रकट होना दो० २२ चौ० ८ में नाम-द्वारा लिखा गया है। सगुण का, यथा—"प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।" (दो० १८४); तथा—"नेम प्रेम संकर कर देखा।''''''प्रगटे राम''''''" (दो० ७५)।

(२) 'हरि-माया-बस जगत''''''—भगवान की माया। यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४)। श्रीगोस्वामीजी के मत से यहाँ अविद्या माया से तात्पर्य है। यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥" (आ० दो० १४)। ऐसा ही भुशुंडीजी ने भी कहा है। यथा—"मायाबस मतिमंद'''से—"ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम-कूप॥" (उ० दो० ७२) तक।

बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥७॥
जिन्ह कृत महा-मोह-मद-पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना ॥८॥

दो०—अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज-कुमारि, भ्रम-तम-रबि-कर बचन मम ॥११५॥

शब्दार्थ—बातुल = बावला, उन्मत्त। मद = मदिरा। मतवारे = जो नशे से पागल हों।

अर्थ—जो उन्मत्त हैं, भूतों के विशेष वश और नशे से पागल हैं, वे विचार कर वचन नहीं बोलते ॥७॥ जिन्होंने महामोह रूपी मदिरा का पान किया है, उनके कथन पर कान नहीं देना चाहिये ॥८॥ ऐसा अपने हृदय में विचार कर संदेह छोड़ो और श्रीरामजी के चरणों का भजन (सेवन) करो, हे पार्वती! भ्रम रूपी अंधकार के नाश करनेवाले सूर्य की किरणों के समान मेरे वचन सुनो ॥११५॥

विशेष—(१) 'बातुल भूत...'—'बातुल' का स्वरूप—"लंपट कपटी'''" में कहा गया, क्योंकि लंपट व्यभिचारी कामी को कहते हैं, काम वात रूप है, यथा—"काम बात कफ लोभ '''" (उ० दो० १२०); वात-वश = सन्निपात-ग्रस्त लोग बावले होकर बकते हैं और 'भूत-बिबस' का स्वरूप—"ग्रसे जे मोह पिसाच।' में हो गया, क्योंकि भूत और पिशाच एक ही हैं। रहे 'मतवारे', इनकी नशेबाजी अगली चौपाई से कहते हैं—

(२) 'जिन्ह कृत महा मोह...'—सामान्य मदिरा पीनेवाले भी नशेबाज की बातों का ठिकाना नहीं

रहता और इन्होंने तो महामोह रूपी भारी मद का पान किया है। अतः, इनकी बातों का क्या ठिकाना ?

यह प्रसंग—'ग्रसे जे मोह-पिसाच।' से उठाया और यहाँ—'महामोह मदपाना' पर समाप्त किया। इसमें पाँच बार अनुचित कथन कहा गया—१—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर।" २—"कहहिं ते वेद-असंमत बानी।" ३—"जल्पहिं कलपित बचन अनेका।" ४—"ते नहिं बोलहिं बचन निचारे।" ५—"तिन्ह कर कहा करिय नहि काना।" यह अंत में कहा गया। अत, इसका भाव यह है कि इस प्रकार के इन पाँचो का कहना नहीं मानना चाहिये।

(३') 'करिय नहिं काना।'—यह कथन वर्तमान काल के रूप में पार्वतीजी के प्रति है और शिवजी ने यह कथा त्रेता युग में कही है, क्योंकि—"जब जदुबंस कृष्ण-अवतारा। होइहि " (दो० ८७) से स्पष्ट है कि मदन दहन त्रेता में हुआ और फिर पार्वतीजी के ब्याह होने पर कथा प्रारम्भ हुई है। उस समय तो उपर्युक्त अधम, लंपट, कपटी आदि नहीं थे। यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं।" (उ० दो० ४०) तब शिवजी ने 'करिय' क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि शिवजी तो निश्चित रूप में जानते हैं कि पार्वतीजी में शोक, मोह, संदेह, भ्रम, नहीं हैं, जो दो० ११२ में कहे गये। गिरिजाजी ने संसार के उपकार के लिये प्रश्न किया है, तदनुसार भविष्य जगत् के लिये शिवजी कह रहे हैं।

(४) 'अस निज हृदय ···'– निज हृदय अर्थात् उपर्युक्त विरुद्ध बातें आसुरी संपत्ति वालों की हैं और तुम 'गिरिराजकुमारि' हो। अत, दैवी प्रकृति की हो। फिर तुम्हें तो इन संशयात्मक बातों से अलग ही रहना चाहिये। अत., 'तजु संसय' कहा। पुन जब तक सशय रहता है, श्रीराम भजन नहीं होता। यथा—"अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन।" (उ० दो० ११२)। 'भ्रमतम'—क्योंकि गिरिजाजी ने कहा था—"भ्रमति बुद्धि अति मोरि।" (दो० १०८)। 'रविकर बचन'—ज्ञान सूर्य है, और ज्ञान के वचन किरणें हैं। यथा—"जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनिकमल बिकासा॥" (अ० दो० २०४)। तथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय।" (कि० दो० १७)।

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥१॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥२॥
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल हिमउपल बिलग नहिं जैसे ॥३॥

अर्थ—सगुण और निर्गुण में कुछ भेद (अंतर) नहीं है। मुनि, पुराण, पंडित और वेद (सभी) ऐसा कहते हैं ॥१॥ जो निर्गुण, रूपरहित अलक्ष्य और अजन्मा है, वही भक्त के प्रेमवश होकर सगुण होता है ॥२॥ जो गुणरहित है— वही सगुण है, कैसे ? जैसे, जल और ओले में भेद नहीं है ॥३॥

विशेष—(१) 'सगुनहिं अगुनहिं·· '—श्री पार्वतीजी का पहला प्रश्न है कि—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९)। यहाँ से उसी का उत्तर हो रहा है कि सगुण और निर्गुण दो पदार्थ नहीं हैं—एक ही है, इनमें कुछ भी भेद नहीं है। यह मैं ही नहीं कहता, किन्तु—"गावहिं मुनि·" अर्थात् वे सब ऐसा ही गाते हैं अर्थात् मेरा मत इन सब के सिद्धान्त के अनुसार ही है। आगे भी कहेंगे—"तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही।···" (दो० ११०)

(२)'अगुन अरूप अलख अज···'—श्री पार्वतीजी ने प्रथम—"की अज अगुन अलख गति

कोई॥" (दो० १०७) कहकर निर्गुण को सगुण से अन्य परब्रह्म सूचित किया था, उसका उत्तर इस चौपाई में दिया कि जो गुण, रूप, लक्ष्य, और जन्म से रहित है वही भक्तों के प्रेमवश होकर सगुण अर्थात् गुण-सहित, रूप-सहित, लक्ष्य-सहित और जन्म धारी होता है। यथा—"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७)। "अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥" (दो० ५१); "कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१); "राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥" (दो० २१)।

(३) 'जो गुन-रहित सगुन'''-जो गुणरहित है वही सगुण है। यही समझाने के लिये जल और ओले की एकतत्त्वता का दृष्टान्त देते हैं। बर्फ (ओला) देखने में कठोर और अत्यंत ठंढी ज्ञात पड़ती है, जल से भिन्न-सी जान पड़ती है, पर उसमें दूसरी वस्तु नहीं है—जल ही है, केवल घनीभूत होने से शीतत्व अधिक हो जाता है। ऐसे निर्गुण का ही गुण प्रकट होने से सगुण कहाता है (उपाधि-भेद से नहीं)। सगुण भी चिदानंदमय ही है —"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६); "सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु।" (अ० दो० ८७)।

जल के परमाणुओं में स्वाभाविक शीतलत्व रहता है क्योंकि जल गर्म भी रहे, तो उसके पीने से प्यास शांत होती है, (प्यास अग्नि-प्रकृतिक है), वैसे ही परमात्मा के व्यापक (निर्गुण) रूप में भी जीवों के प्रति उदारता, दयालुता आदि गुण रहते हैं। वे गुण निस्सीम होने से संकुचित ज्ञान वाले जीवों को नहीं देख पड़ते ; जैसे अत्यंत प्रकाश के कारण सूर्य का रूप देखने में चकाचौंध आ जाती है।

जैसे मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मलिन जल की एक बूँद से होती है। पहले उस बूँद में बुद्धि, श्रवण, नेत्र, शीश, हाथ, पाँव, रसना आदि कुछ न थे, केवल श्वेत जल ही था, व्यापक रूप भगवान् ने ही इतने आश्चर्यजनक पदार्थ पैदा किये हैं, यह उनमें कितना चातुर्य एवं जीवों पर दया है ! किसी बादशाह से करोड़ों रुपये देकर नेत्र माँगा जाय, तो न देगा, पर उदारशिरोमणि ने वह चींटी पर्यंत को दिया है ! एक पुरजे (आँख, कान आदि किसी) के बिगड़ जाने पर यदि कोई वैद्य अच्छा करता है तो लोग उसके हाथ बेदाम बिक जाते हैं और जिसने इन यंत्रों को ही बनाया एवं बिना मूल्य दिया, उसके उपकार भूले हुए हैं ! यथा—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" (गीता ७।२५)। कृपालु श्रीगोस्वामीजी ने भी दिखाया है, यथा "कोटिहुँ मुख कहि जाहि न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० १०२)। *जल के परमाणुओं में शीतत्व की तरह ये सब गुण श्रीरामजी में नित्य और निस्सीम हैं। जैसे वह (जल)* अमुक अमुक कारणों से हिमोपल बनकर प्रत्यक्ष होता एवं अधिक शीतत्व का परिचय देता है, वैसे भगवान् भी अमुक-अमुक हेतु बनाकर भक्तों के प्रेमवश सगुण होते हैं और अपने गुणों एवं रूपों को प्रकट करते हैं। भगवान् में गुण तो असंख्य हैं, पर जीवों के उद्धार के लिये जिन-जिन गुणों का प्रयोजन रहता है, क्रमशः उन्हीं-उन्हीं गुणों को व्यक्त करते हुए, शोभा पाते हैं। जैसे भगवान् ने अहल्या के उद्धार में अकारण कृपालुता, विश्वामित्रजी की यज्ञ-रक्षा में दया, वीर्य आदि गुण दिखाये। यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६)।

निर्गुण-सगुण की एकता गीता में भी कही गई है, यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (९।४)। अर्थ—मुझ अव्यक्त मूर्ति (सच्चिदानन्द घन परमात्मा) से यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत (प्राणी) मेरे में स्थित हैं, (किन्तु) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

भावार्थ—पूर्वोक्त घड़े और आम के दृष्टान्त से आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। घड़े में आम

की तरह व्यापक ईश्वर में जगत् स्थित है, किन्तु वह (व्यापक) जगत् में, आम में घड़े की तरह, स्थित नहीं है अर्थात् जगत् से निर्लिप्त है। भगवान् के आधार के बिना जगत् नहीं रह सकता, यही उनमें इसकी स्थिति है, परन्तु भगवान् का जगत् से कोई प्रयोजन नहीं है, यही उनका निर्लिप्तत्व एव निर्गुणत्व है। यथा—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।" (गीता ३।२२)। 'अव्यक्तमूर्त्तिना' शब्द से जनाया कि यह ऐश्वर्य कोई नहीं जान पाता, क्योंकि अपरिमित है और जीवों की बुद्धि परिमित। 'अर्जुन ने कहा भी है—"आप स्वयं अपने को जानते हैं और कोई नहीं (आपको जान सकता)। अत, मुझ से कहिये जैसे आप सब लोकों में व्याप्त हैं।" (गीता १०।१५-१६)। तब प्रथम भगवान् ने नियामकत्व से व्यापकता कही, फिर दिव्य चक्षु देकर अपनी देह ही में सब जगत् दिखाया। ऐसे ही भुशुंडीजी को भी उदर में ही करोड़ों ब्रह्मांडों का होना दिखाया है। यही सर्व जगत् का अपने में स्थित रखना है। वे भगवान् अपनी देह की तरह सब जगत् का पालन-पोषण करते हैं, यही सगुणत्व है। फिर समय पर सबका प्रलय भी कर देते हैं, यह निर्लिप्तत्व है—यही उनका जगत् में न स्थित रहना निर्गुणत्व है।

व्यापक-रूप परमात्मा में सब गुण अव्यक्त भाव में नित्य रहते हैं, पर उन्हें न जानने से उनके हृदय में रहते हुए भी जीव दुखी रहते हैं। मनु-शतरूपा ने वेदों से जानकर उनके गुणों एवं रूप की भावना से तप किया तो उनके प्रेमवश भगवान् ने रूप एव गुण प्रकट किये, देख भी पड़े और जन्म भी धारण किया। यही—"अगुन अरूप अलख अज जोई। ·· " का भाव है। अब लीला रूप से प्रकट किये हुए गुणों की भावना से भक्त लोग सहज में सुखी होते हैं, क्योंकि भगवान् के समक्ष भक्त जैसी भावना करते हैं, उनके प्रति वे वैसे ही प्राप्त होते हैं। यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २११), तथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना।" (श्रीरामतापनीय उ०)। तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)

अतः, निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं है, तत्त्वत. दोनों एक ही हैं—अव्यक्त-व्यक्त भाव में दोनों की स्थिति है। जैसे उपर्युक्त गीता ६।४ में निर्गुण को अव्यक्त-मूर्त्ति कहा है, वैसे ही श्री गोस्वामीजी ने भी कहा है—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥" (लं० दो० ११२); "व्यक्तमव्यक्तगत-भेद विष्णो।" (वि० ५४)। पूर्वोक्त दो० २२ चौ० १–४ भी देखिये।

जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा॥४॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लवलेसा॥५॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञानबिहाना॥६॥

शब्दार्थ—तिमिर = अँधेरा। पतंगा = सूर्य। प्रसंगा = चर्चा। लवलेसा = थोड़ा भी।

अर्थ—जिनका नाम भ्रम-रूपी अँधेरे के (नाश के लिये) सूर्य के समान है, उसके विषय में मोह की चर्चा कैसे की जाय ? ॥४॥ श्री रामजी सच्चिदानंद विग्रह रूपी सूर्य हैं, वहाँ मोह-रूपी रात (का अस्तित्व) कुछ भी नहीं है॥५॥ वे भगवान् (षडैश्वर्यपूर्ण) और स्वाभाविक प्रकाशरूप हैं, इसीसे वहाँ विज्ञान रूपी सवेरा (प्रातः) नहीं होता॥६॥

विशेष—(१)'जासु नाम भ्रम···' श्री पार्वतीजी ने—'नारि बिरह मति भोरि।' कहा था, उसका उत्तर शिवजी देते हैं कि जिनके नाम के द्वारा ही भ्रमनाश हो जाता है, उनमें भ्रम होना तो बहुत

असंभव है। यथा—"हरिविषयक अस मोह बिहंगा ॥ सपनेहुँ नहि अज्ञान प्रसंगा ॥" (उ० दो० ७१); प्रमाण—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती ॥" (दो० २४)।

(२) 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।' जैसे सूर्य का उदय बतलाना नहीं पड़ता, वैसे श्रीरामजी का परब्रह्म होना उनके चरित से स्वतः प्रकट हो जाता है। परशुराम का गर्व जिनके देखते ही चला गया, रावण को काँख में दाबनेवाले बालि को जिन्होंने एक शर से मारा, इत्यादि उनके चरित्र ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट जनाते हैं। 'नहिं तहँ मोह निसा…' यथा –"इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि-सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥" (उ० दो० ७१)। जैसे सूर्य ने कभी रात देखी ही नहीं, वैसे श्रीरामजी में कभी अज्ञान हुआ ही नहीं।

प्रथम नाम को, फिर रूप को भी, पतंग (सूर्य) कहा, क्योंकि नाम के अभ्यास से रूप का साक्षात्कार होता है, दोनों अभेद भी हैं। यथा—"न भिन्नो नामनामिनोः ॥" (पद्मपुराण में शिव-वाक्य)।

(३) 'सहज प्रकास रूप …'—भगवान स्वाभाविक प्रकाश-स्वरूप हैं, अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश भगवान् की सत्ता से है ; यथा—"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥" (गीता १५।१२); तथा—"सूर्यमंडलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ॥" (सनत्कुमार सं०); वैसे श्रीरामजी की प्रकाशस्वरूपता दूसरे से नहीं है, प्रत्युत वे ही सूर्य आदि के प्रकाशक हैं। यथा—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (कठ० ५।१५)।

'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान…'—पूर्व कह आये हैं कि—"तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा।" और—"नहि तहँ मोह-निसा लवलेसा।' अर्थात् उनमें 'अज्ञान' नहीं है। अब उनमें विज्ञान के होने का भी निषेध करते हैं, क्योंकि रात रहने पर ही सवेरा होता है, जब उनमें अज्ञान रूपी रात कभी हुई ही नहीं, तब सवेरा होना कैसे कहें, वे तो नित्य सहज प्रकाशरूप ही हैं। 'पुनि' का भाव यह कि जीव प्रथम ज्ञान-स्वरूपता से अज्ञानवश होता है, तो फिर वह विज्ञान-रूपी प्रभात भी प्राप्त करता है, श्रीरामजी में इस प्रकार पुनर्विज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना ॥७॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना ॥८॥

दोहा—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावरनाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥११६॥

शब्दार्थ—अहमिति—(अहं + इति = मैं यह हूँ) = यथार्थ स्थिति, सत्‌रूपता। अभिमान = अहंकार, जैसे मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी आदि वृत्तियों से नाना-स्थिति, असत्‌रूपता। परेस (पर + ईश)—परमेश्वर। पुराना (पुराण) = सनातन। पुरुष = पुराणपुरुष। प्रसिद्ध = विख्यात, (वेद से) प्रकर्ष रूप से सिद्ध। प्रकासनिधि = वह जहाँ से सबको प्रकाश मिलता है। प्रगट = प्रत्यक्ष, जिसे सब देखते हैं। परावर = (पर + अवर) पर = त्रिपाद्विभूति (नित्यधाम साकेत); अवर = एकपाद् विभूति (अखिल ब्रह्मांड)। परावरनाथ = उभय विभूतियों के स्वामी।

अर्थ—हर्ष-शोक, ज्ञान-अज्ञान, सद्रूपता और असद्रूपता—ये (बद्ध) जीव के धर्म हैं ॥७॥ श्रीरामजी ब्रह्म, व्यापक, परमानंदरूप, परात्पर ईश्वर और सनातन हैं—यह सारा संसार जानता है ॥८॥ वे पुराण-पुरुष

हैं, प्रसिद्ध हैं, प्रकाश के कोष हैं, दोनों विभूतियों के स्वामी हैं और जो रघुकुलमणि-रूप से प्रकट हुए हैं, वे ही हमारे स्वामी हैं—ऐसा कहकर शिवजी ने माथा नवाया ॥११६॥

विशेष—(१) 'हरष बिषाद...'—यहाँ बद्ध जीव के लक्षण कहे गये हैं, और "ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६) में शुद्ध जीव के लक्षण हैं। उसमें 'चेतन' से 'चित्', 'अमल' से सत् और 'सहज सुखरासी' से 'आनंद'-स्वरूपता कही गई है, वही जीव जब माया-वश होता है, तब आनंद के पर्यायी हर्ष के साथ विषाद, चित् के पर्यायी ज्ञान के साथ अज्ञान और सद्रूपता के साथ असद्रूपता भी उसमें आ जाती है अर्थात् ये द्वन्द्व जीवों में होते हैं, जैसे ज्ञानी जीव लोमश और सनकादि में क्रोध का आना कहा गया है, क्रोध अज्ञान का कार्य है। श्रीरामजी इन द्वन्द्वों से परे हैं। वे ब्रह्म हैं, लक्षण आगे कथित हैं।

(२) 'राम ब्रह्म व्यापक...'—पार्वतीजी ने समझा था—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर..." (दो० ५०); उनके समझाने के लिये शिवजी श्रीरामजी ही को उन लक्षणोंवाला व्यापक ब्रह्म कहते हैं।

(३) 'पुरुष प्रसिद्ध...'—जिन्हें वेदान्ती 'व्यापकब्रह्म', सांख्यवादी 'पुराणपुरुष' और योगी 'प्रकाशनिधि' कहते हैं, वे ही उभय विभूतियों के स्वामी हैं, पर (भक्त-प्रेम वश) रघुकुलमणि रूप में प्रकट हुए अर्थात् उभय विभूतियों के स्वामी होते हुए भी भक्तों के हितार्थ एक देश-विशेष अयोध्या के रघुकुल में प्रकट हुए। परात्परत्व के सब विशेषण प्रथम कहकर विशेष्य रूप 'रघुकुलमणि' कहा। यथा—"यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम्। तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम्॥ श्री रामेति..." (श्री सनत्कुमार सं०-रामस्तवराज)। इसमें भी 'परं' आदि सब विशेषण परात्परत्व के कहकर तब 'श्री राम'—यह विशेष्य पद कहा गया है। तथा—"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।" यह हनुमन्नाटक का श्लोक प्रसिद्ध है। 'रघुकुलमनि' शब्द दाशरथी रामजी का ही बोधक है, इसलिये यहीं निर्भ्रान्त विशेष्य पद दिया।

'परावरनाथ' - यथा—"पादोऽस्य विश्वा-भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।" (पुरुषसूक्त) अर्थात् ब्रह्म की पाद (चतुर्थांश) विभूति में सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और शेष त्रिपाद (तीन-चौथाई) विभूति में उसका नित्य धाम है।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥१॥
जथा गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥२॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये ॥३॥

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख लोग अपना भ्रम तो समझते नहीं, (उल्टे) प्रभु (श्रीरामजी) के विषय में मोह का आरोपण करते हैं ॥१॥ जैसे आकाश में मेघों का पटल (परदा) देखकर कुविचारी लोग कहते हैं कि सूर्य ढँक गया ॥२॥ जो कोई आँख में अंगुली लगाये हुए चन्द्रमा को देखे तो उसकी समझ में दो चन्द्रमा प्रकट हुए जान पड़ते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'जथा गगन घन...'—उपर्युक्त चौपाई का भाव समझाने के लिये यह चौपाई उपमान-रूप में कही गई है। निर्विकार श्रीरामजी आकाशवत् हैं, घन-पटल मोह और कुविचारी अज्ञानी मूर्ख हैं। सूर्य का ढँक जाना श्रीरामजी का मोहित होना है।

वास्तव में मेघ का परदा अज्ञानी मूर्ख-रूप कुविचारियों पर रहता है न कि सूर्य पर; इसी तरह अज्ञानियों की बुद्धि में ही भ्रम है, जिससे वे यह नहीं समझ पाते कि श्रीरामजी जो श्रीजानकीजी को खोज रहे हैं, वह तो नर-नाट्य करते हैं। शिवजी तो जानते ही हैं कि गिरिजाजी ने सती-शरीर में श्रीराम-प्रभाव देखने में जान ही लिया है कि श्रीजानकी जी और श्रीरामजी का नित्य संयोग है, अतः अन्य अज्ञानियों के लिये कहते हैं। पहले भी कह चुके हैं—"कीन्हिहु प्रश्न जगत-हित लागी।" (दो० १११)

(२) 'चितव जो लोचन······'—इसमें चन्द्रमा-रूप श्रीसीतारामजी हैं. आँखों में अँगुली लगाकर देखना भ्रमात्मक बुद्धि से देखना है। दो चंद्रमा देखना श्रीसीताजी और श्रीरामजी को पृथक्-पृथक् देखना है कि वे लंका में पड़ी हैं और ये विरही होकर खोजते हैं। वास्तव में रामजी श्रीनारद-वचन पूरा करने का नाट्य कर रहे हैं, यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके देखा प्रगट बिरह-दुख ताके॥" (दो० ४८)।

इन चौपाइयों के जोड़ की चौपाइयाँ उ० दो० ७२ में—'नयन-दोष जाकहँ···' से—'नहिं अज्ञान प्रसंगा।' तक हैं।

उमा रामबिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥४॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी के विषय (सम्बन्ध) का मोह ऐसा जानो, जैसे आकाश में अंधकार, धुआँ और धूल—ये सब शोभा देते हैं।

विशेष—ऊपर देखनेवालों का भ्रम कहा था। अब यहाँ दिखाते हैं कि जिन बातों को देखकर भ्रम होता है, वास्तव में वे श्रीरामजी में किस प्रकार रहती हैं?—

भुशुंडीजी को बाल-चरित में, सतीजी को वन-लीला (सीता-विरह) में और गरुड़जी को रण-लीला में मोह हुआ है। ये ही तीनो मोह क्रमशः 'तम', 'धूम' और 'धूल' कहे गये हैं। जैसे तम, धूम और धूल आकाश में देखनेवालों को देख पड़ते हैं, पर आकाश इन सब विकारों से परे है। तम आदि दर्शकों की ही दृष्टि में हैं, वैसे उपर्युक्त तीनो लीलाओं के विकार से श्रीरामजी परे हैं, चरित्र तो बाहरी स्वांग मात्र हैं। यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (आ० दो० २९)। जैसे तम, धूम, धूल आकाश में कारण पाकर होते हैं, वैसे श्रीरामजी में तीनो लीलाएँ कारण से हुई हैं। तम, धूम और धूल का कारण क्रम से कुहरा, अग्नि और पवन है, वैसे बाल-लीला का कारण मनु-शतरूपा का वरदान, सीता-विरह (वन-लीला) का कारण नारदजी का शाप और रण-(बंधन)-लीला का कारण युद्ध की शोभा दिखानी है। कुहरे आदि कारणों का अभाव होने से तम आदि कार्य नहीं रह जाते, वैसे उक्त तीनो लीलाओं की पूर्ति पर श्रीरामजी में भ्रम के दृश्य नहीं देख पड़ते। आकाश की तरह श्रीरामजी सदा इन कार्यों और कारणों से परे हैं, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (अ० दो० ८७)।

'सोहा'—स्वांग (लीला) की शोभा यही है कि यदि वह वेष के अनुकूल हो, तो सब वाह-वाह करते हैं। यथा—"नर-तनु धरेहु"··· से—"तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥" (अ० दो० १२६); तथा—"जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥" (उ० दो० ७२)।

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥५॥

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥६॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान - गुन - धामू ॥७॥

शब्दार्थ—करन (करण)=इन्द्रियाँ। प्रकाश्य-प्रकाशक = प्रकाशित होनेवाला और प्रकाश करनेवाला। जैसे दीपक से कोई वस्तु देखा जाय, तो दीपक प्रकाशक और वह वस्तु प्रकाश्य कहावेगी। दीपक हटने से वह वस्तु (दृष्टि में) न रह जायगी। वैसे श्रीरामजी दीपक, इनकी सत्ता प्रकाश और वस्तु-रूप जगत् प्रकाश्य है।

अर्थ—विषय, इन्द्रिय, इन्द्रियों के देवता और जीव—सब एक-से-एक चेतन (स्फूर्त्त) होते हैं ॥५॥ जो सभी के परम प्रकाशक हैं, अर्थात् जिनसे सबका अस्तित्व है, वे ही अनादि (ब्रह्म) अयोध्या के स्वामी श्रीरामजी हैं ॥६॥ (अतः) जगत् प्रकाश्य है और इसके प्रकाशक श्रीरामजी हैं जो माया के अधिष्ठाता और ज्ञान-गुण के स्थान हैं ७॥

विशेष—(१) 'विषय करन ···'– ऊपर ब्रह्म को प्रकाशनिधि कहा था, उसकी प्रकाशकता यहाँ दिखाते हैं कि विषय इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ देवताओं से और देवता जीव से सचेत हैं -अर्थात् इन्द्रियों के बिना उनके विषयों की, देवताओं के बिना इन्द्रियों की और जीव के बिना देवताओं की सत्ता नहीं रह सकती। अतः, विषयों के प्रकाशक इन्द्रियगण, इन्द्रियों के प्रकाशक देवता और देवताओं के प्रकाशक जीव हैं, क्योंकि शरीर के जीव-रहित होने पर देवतागण इन्द्रियों को सचेत नहीं कर सकते। ऐसे ही देवता अपना वास हटा लें तो इन्द्रियाँ बेकार हो जायँ, और चक्षु आदि इन्द्रियों के बिना रूप आदि विषयों का अनुभव नहीं हो। यथा—"इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ आवत देखहिं विषय-बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥" (उ० दो० ११७)।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, विषय हैं, क्रमशः श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और दिशा, पवन, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार देवता हैं। बोलना-खाना, ग्रहण करना, चलना, प्रस्राव और मल त्याग (विसर्ग) करना—ये विषय हैं, क्रमशः वाक्-मुख, हाथ, पैर, लिंग और गुदा, इनकी कर्मेंद्रियाँ हैं और अग्नि, इन्द्र, वह्निविष्णु (वामन), दक्ष और यम देवता हैं। 'मन' भी इन्द्रिय है, इसका विषय 'लगा रहना' और देवता 'चन्द्रमा' है। अहंकार, बुद्धि और चित्त अन्तःकरण हैं, इनके देवता क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु और अहंता (अहंभाव) होना, निर्णय करना तथा धारणा विषय हैं।

(२) 'सबकर परम···'—उपर्युक्त (जीव, देव और इन्द्रियाँ) क्रमशः एक दूसरे के प्रकाशक हैं, पर श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक हैं। सब एक-एक के प्रकाशक हैं, श्रीराम सबके हैं। अतः, इन्हें 'परम' कहा है। 'अनादि'– श्रीरामजी का आदि कोई नहीं है; वे त्रेतायुग से ही अवधपति नहीं हुए, किन्तु अनादि काल से हैं, श्रीरामजी का नित्यधाम साकेत भी अयोध्या ही है। (दो०१४ चौ० १ देखिये) 'अनादि' से निर्गुणत्व का बोध होता, इसलिये 'अवधपति सोई' कहा गया।

(३) 'मायाधीस ज्ञान···'—रामजी जगत् ही के प्रकाशक नहीं हैं, किंतु जगत् की रचनेवाली माया के भी अधिष्ठाता हैं। यथा—"सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१)। इसपर शंका होती है कि माया के साहचर्य से उसके अज्ञान और अवगुण भी रामजी में होंगे, इसके निवारण के लिये— ज्ञान गुन धामू' कहा गया। ज्ञान—यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ७७), गुण, यथा—"गुनसागर नागर··" (दो० ११०)।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥८॥

दोहा—रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७॥

येहि बिधि जग हरिआश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥ १ ॥
जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥ २ ॥

शब्दार्थ—रजत = चाँदी। भास (आभास) = झलक या मिथ्या ज्ञान। मृषा = झूठा।

अर्थ—जिसकी सत्यता से जड़-माया मोह की सहायता से सत्य-सी जान पड़ती है ॥८॥ जैसे सीप में चाँदी और सूर्य-किरणों में जल का आभास होता है; यद्यपि यह बात तीनों कालों में असत्य है, तथापि इस भ्रम को कोई हटा नहीं सकता अर्थात् भ्रम होता ही है ॥११७॥ इस प्रकार जगत् भगवान् के आश्रित रहता है, यद्यपि (भ्रम-रूप नानात्व जगत्) झूठा है, तथापि दुःख देता ही है ॥१॥ जैसे, यदि कोई स्वप्न में शिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता ॥२॥

विशेष- (१) यहाँ से शिवजी माया का वर्णन करते हैं। इसका स्वरूप एवं भेद आदि आ० दो० १४ में कहे गये हैं। वहाँ माया के दो भेद कहे गये हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्या दृष्टि से भगवान् के शरीर रूप में जानी हुई प्रकृति को 'विद्यामाया' और इससे उलटी (अविद्या) दृष्टि से वह जैसी जानी जाती है उसे 'अविद्यामाया' कहा है जो वास्तविक प्रकृति का पूर्व पक्ष है। यहाँ दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन-प्रसंग प्रारंभ कर प्रथम अविद्या कहते हैं, क्योंकि ऐसा ही नियम है, यथा—"ज्ञान कहइ अज्ञान बिनु, तम बिनु कहइ प्रकास। निर्गुन कहइ जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसी दास॥" (दोहावली २५१)।

(२) अविद्यामाया भ्रम-रूपा है, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥" (आ० दो० १४)। इसकी दुष्टता, यथा—"देखी माया सब बिधि गाढ़ी।" (दो० २०१); "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल-कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२)। यह भ्रम से उत्पन्न होकर दुःख देती है, किस प्रकार? यही आगे कहा जाता है—

(३) 'जासु सत्यता······'—'जासु' अर्थात् उपर्युक्त सर्वप्रकाशक एवं मायाधीश श्रीरामजी हैं और उनकी सत्ता से जड़-माया सत्य-सी भासती (जान पड़ती) है। 'मोह सहाया'—अर्थात् सबको नहीं, वरन् जो मोह के वशीभूत प्राणी हैं, उन्हींको सत्य भासती है। मोह ही को अज्ञान एवं अविवेक भी कहते हैं। यथा—"जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं।" (अ० दो० १५१) अर्थात् देह को ही अपना रूप मानकर उसीके पालने पोसने में लगी हुई अयाथा को मोह कहते हैं। अतः, दसों इन्द्रियों का अभिमान ही मोह है। यथा—"मोह दसमौलि····· "(वि० ५८ ; अर्थात् दसों इन्द्रियों के भोक्ता होने से मोह की 'दशमुखता' है।

(४) प्रथम 'जासु सत्यता ते··' से माया कहकर उसके लिये ही—'रजत सीप···' में दृष्टांत दिया, पुनः उसी को—'येहि बिधि जग··' में जगत् कहा अर्थात् इस माया का भ्रमात्मक रूप ही जगत् है। जगत्—यथा—"सुत-वित्त-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्" अर्थात् देह और तत्संबंधी सुत आदि (माता, पिता, भाई, स्त्री आदि) का स्नेह, एवं गेह और तत्संबंधी वित्त (पदार्थ मात्र जैसे भोजन, वस्त्र) आदि का स्नेह—यही जगत् है। देह से सुत आदि और गेह से वित्त (धन) आदि आ ही जाते हैं, यथा—"देह

जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २७७)। अतः, श्रीगोस्वामी जी ने 'देह-गेह-नेह' ही को जगत् कहा है, यथा—"जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तबते देह गेह निज जान्यो। मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो॥" (वि० १३६)। इसमें 'देह गेह-नेह' ही को 'मायावश' होने और फिर उसी को 'भ्रम' कहकर उसका कार्य 'नाना दुख पाना' भी कहा है। इसमें 'बिलगाने' का अर्थ यही है कि जीव हरि का शरीर था, इसने उनसे अपनी सत्ता पृथक् मानी। तथा—"जागु-जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी। देह-गेह-नेह जानु जैसे घन दामिनी॥" (वि० ७४)। इसमें भी 'जग जामिनी' कहकर फिर उसे ही 'देह गेह-नेह' कहा, यथा "सुत-वित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०)। इसमें स्नेह ही को ममता कहा है। "येहि जग जामिनि जागहिं जोगी।" (अ० दो० ९३)। ऐसा ही—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" (गीता २।६९) का भी तात्पर्य है। इसी 'देह-गेह-नेह' रूप जगत् को दार्शनिक लोग 'नानात्व रूप जगत्' कहते हैं।

(५) इस देह-गेह-नेह रूप जगत् में देह और तत्संबंधी नर, पशु आदि में सम्पूर्ण चर जगत् तथा गेह और तत्संबंधी वित्त अर्थात् फल, फूल, जौ, चना, घृत आदि में सारा अचर जगत् आ जाता है, यही इसकी 'चराचररूपता' है। तथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥" (सुं० दो० ४८)। इसमें जो जननी आदि दस प्रकार की ममताएँ कही गईं, ये ही दश-दिशारूप हैं।

(६) इन सब उद्धरणों से स्पष्ट हुआ कि देह-गेह आदि को एक श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से व्यष्टि रूप में पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानना तथा उस-उसके किये उपकार के अनुसार ऋणी होकर आसक्ति में नाना दुःख पाना अविद्या से कल्पित नानात्व रूप जगत् है। यही भ्रम 'रजत सीप······', ये दृष्टान्त से कहा गया है।

देह-गेह-नेह के गेह-स्नेह को 'सीप-रजत' और देह स्नेह को 'भानुकर बारि' के समान मिथ्या कहा है। यहाँ दृष्टान्त में 'सीप रजत' और भानुकर बारि' हैं और दार्ष्टान्त (दृष्टान्त देकर समझाये हुए) में अचर-चर जगत् रूप श्रीरामजी हैं। चन्द्रमा की किरणें पड़ने पर खुली हुई सीपी में रजत (चाँदी) की और सूर्य की किरणें पड़ने पर बालू के मैदान में जल की भ्रान्ति होती है। श्रीरामजी सूर्य-चन्द्रमा, सत्ता रविचन्द्र-किरण और जड़-माया बालू एवं सीपी है तथा 'मोह सहाया' (मोह के वशीभूत) जीव के बुद्धि और मन हैं। चर-अचर जगत् के रूप स्पष्ट करने के लिये क्रमशः दो-दो दृष्टान्त हैं, अब दोनों को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

(७) अचर जगत्—पदार्थों में स्वादादि सुख समझकर उनमें स्नेह करना अचर जगत् है, यही सीप में रजत समझना है। वस्तुतः मन का देवता चन्द्रमा है, वह जब स्वादादि की सुधा रूप किरणें फैलाता है, तब पदार्थों से सुख होता है; अन्यथा अजीर्ण में भोजनादि से स्वाद का सुख नहीं होता। उधर पदार्थों में स्वादादि सत्ताएँ भी श्रीरामजी की हैं, यथा—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः···" (गीता ७।८)। चन्द्रमा भी भगवान् का शरीर है। यथा—"मन ससि चित्त महान।" (लं० दो० १५); तथा—"यस्य चन्द्रमाः शरीरम्।" (बृहदा० ३।७।११)। अतः, श्रीरामजी चन्द्रमा के भी प्रवर्तक हैं। अब स्पष्ट हुआ कि मन तो प्रकृति के अंश से उत्पन्न जड़ है। उससे चन्द्रमा के द्वारा श्रीरामजी ही जीव के लिये पदार्थों के प्रति स्वाद आदि की इच्छा करवाते हैं और स्वयं जड़ पदार्थों में

भी स्वादादि रूप से सुख देते हैं। श्रीरामजी की सत्ता के बिना मन और पदार्थ जड़ ही हैं, उनके द्वारा सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसीसे माया को जड़ (जड़-माया) कहा है।

(८) जैसे देही (जीव) अपनी देह का पालन-पोषण करता है, वैसे श्रीरामजी भी जीवों का पालन करते हैं, क्योंकि जीव उनके शरीर हैं, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्।" (बृ० ३।७।१२, मा०पं० ५।७।२२)। अतः, उनका पोसा हुआ शरीर उनके (सेवा के) लिये रहना चाहिये, यथा -"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २२)। इससे इन्द्रियाँ कामादि विकारों से बचेंगी। यथा—"ऊसर बरषे तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन-हिय उपज न कामा॥" (कि० दो० १४)। तब उनमें सत्य रूप चाँदी के भूषण धारण करने के समान शोभा प्राप्त होगी। यथा—"करुना-सिन्धु भक्त-चिन्तामनि सोभा सेवतहूँ।" (वि० ८१)। यह तो हुई सत्य, चाँदी और उससे स्वार्थ सधना एवं अचर जगत् के प्रति विवेक दृष्टि। पुनः इसके विरुद्ध अविवेक (भ्रम) दृष्टि की कल्पित चाँदी (सीप-रजत) दिखाते हैं—

(९) अविद्या (अविवेक दृष्टि) से जीव मन आदि इन्द्रियों का अभिमानी हुआ और उनके द्वारा क्षुधा आदि के द्वारा स्वादकारक (भोक्ता) स्वयं बना। पदार्थों के द्वारा विषय भोगने में स्वादादि सुख पदार्थों के ही समझे। अतः, नाना वस्तुओं मे आसक्त होकर बद्ध हुआ। विषय के पदार्थ देने-दिलानेवालों में राग (प्रेम) और हरण करनेवालों में द्वेष होने लगा। यथा—"*इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।*" (गीता ३।३४); और इसीसे कामादि विकार हुए, यथा—"संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।" (गीता २।६२); इत्यादि से मलिनता एवं अशोभा हुई। जैसे सीप मे चाँदी नहीं रहती, इससे भूषण धारण करने का शोभा रूप स्वार्थ नहीं सधता, वैसे जड़ पदार्थों में स्वादादि सुख देने की शक्ति है ही नहीं जिससे सुख रूप स्वार्थ सधे। इसीसे इन विषयों के भोगने से तृप्ति नहीं होती।

अतएव, जब तक जीव अचर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर, भ्रम से पृथक् देखता हुआ, उसके नानात्वरूप में स्नेहबद्ध है, तब तक तीनो कालों में इसका दुःख अनिवार्य है।

(१०) चर जगत्—ऊपर जो देह और तत्सम्बन्धी कुटुम्ब एवं पशु आदि में स्नेह करना 'भानु कर बारि' के समान मिथ्या कहा गया, उसी का विस्तार किया जाता है। यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २०७) अर्थात् देह-सम्बन्धी नातों का बन्धन झूठा है। यथा—"तृषित निरखि रविकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥" (बा० दो० ४२) अर्थात् संसार में जीव मृगवत् मोहित रहते हैं। मृग नेत्र से मोहित होकर बालू के मैदान में सूर्य-किरणों को जल की लहर के समान देखता है और हृदय से भी उन्हें जल मानकर दौड़ता है। यहाँ बालू (रेत) का मैदान *समष्टि में चर जगत् है, इसके व्यष्टिरूप में सिकता के समान अनन्त नाते हैं। यथा*—"ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल ते न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूछम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥" (वि० १६८)। इस पद में प्रेमाभक्ति का प्रसंग है कि सिकता (बालू) रूप माता-पिता आदि सम्बन्धियों में श्रीरामजी के वात्सल्य आदि गुण शर्करा (चीनी) होकर मिले हुए हैं, चींटी के समान मुमुक्षु-प्रेमी उन उन रूपों से किये हुए उपकारों के गुणों का स्मरण करते हुए प्रेम करे। श्रीरामजी सूर्य, उनके वात्सल्य, करुणा आदि गुण किरणें और नाते सिकता-रूप हैं। मृग सूर्य और उसकी किरणों को नहीं जानता केवल रेत के आश्रय से किरणों को जल-रूप देखता है; वैसे जीव नेत्र और बुद्धि से मोहित होकर माता-पिता आदि से ही वात्सल्य-करुणा आदि गुणों का होना मान लेते हैं और प्रीति पूर्वक उन-उनके किये उपकारों के अनुसार व्यवहार करते हुए सुख की आशा मे आयु बिता देते हैं तथा मृग की तरह तीनो तापों से तपते हुए-तृष्णा रूप प्यास से व्याकुल रहते हैं एवं काल-वश होकर भी वासनानुसार उन्हीं के कुत्ता-बिल्ली आदि

होते हैं, पर मृग को जल प्राप्ति के समान जीव को अपने स्वरूप के अनुसार सुख नहीं मिलता, इसीसे स्थिरता नहीं आती। यथा—"निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (उ० दो० ८९)। तृष्णा के साथ मरकर चौरासी लाख योनियों में जाना मृग के मरने के समान है। जब तक यह भ्रम नहीं मिटता, भव-दुःख तीनो कालों में अनिवार्य है।

(११) अब विवेक-दृष्टि से उसी भानुकर-आदि से सच्चा जल और उससे प्यास का बुझना भी दिखाते हैं। वस्तुतः, सूर्य उन्हीं किरणों के द्वारा सिकतामय पृथिवी का जल शोषण करके फिर मेघ-द्वारा सुधा जल बरसाता है। यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥" (मनु०)। वह जल यदि मृग को मिले तो उसकी प्यास निस्संदेह निवृत्त हो जाय। सूर्य भी श्रीरामजी के नेत्ररूप शरीर हैं; यथा—"नयन दिवाकर···" (ल० दो० १४)। ऐसे ही शास्त्र-दृष्टि का समष्टि ज्ञान-रूप सूर्य नाना वाक्य रूप किरणों द्वारा सिकता-रूप चर जगत् के वात्सल्यादि गुण एवं रक्षकत्वादि कार्य रूप जल का शोषण करे, यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता ९। १७); "जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचान॥" (वि० १९०) अर्थात् इन नाना रूपों से उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, इस सुख का देना उनसे मानना मानों जल का आकाश में जाना है और श्रीरामजी में ही एकत्र होना मेघ बनना है। यथा—"येहि जग में जहँ लगि यहि तन की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि यक ठाईं॥" (वि० १०३)। अतः, संसार भर के नातों से छिटकी हुई प्रीति सिमटकर श्रीरामजी में ही एकत्र होगी। इससे भक्ति दृढ़ होगी, यही प्रेम-भक्ति जल होगी। यथा—"प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ कि जाई॥" (उ० दो० ४८)। इस जल से हृदय की मल रूप तृष्णा आदि प्यास निवृत्त होगी और परमानंद की प्राप्ति होगी। यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह॥" (उ० दो० ४६)। तात्पर्य यह कि जबतक जीव अपने एवं सम्पूर्ण चर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से अलग-अलग सत्तावान् मानता है, तब ही तक मृगतृष्णा में पड़ा है, यह भ्रम यद्यपि तीनो कालों में मिथ्या है, तथापि इसको कोई हटा नहीं सकता।

(१२) 'येहि बिधि जग हरि···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों के अनुसार जगत् हरि के आश्रित रहता है। उपक्रम में—'जासु सत्यता···' कहा था, उसे ही उपसंहार में 'हरि-आश्रित' कहा। इससे सत्ता का ही अर्थ आश्रित रहना है। यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि···" (गी० ९।४)। यही—"भ्रम न सकइ कोउ टारि" का कारण है, क्योंकि यद्यपि असत्य है, पर दुःख दे रहा है, यह क्यों? इसे ही दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—

(१३) 'जौं सपने सिर···'—'स्वप्न'—उपर्युक्त दोहे के दोनो दृष्टान्तों में मन और बुद्धि के मोहवश होने से भ्रम की सत्यता कही गई, उसका कारण यह है कि—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" (अ० दो० ९२)। जाग्रत अवस्था की देखी-सुनी वस्तुओं का स्वल्पनिद्रा में सूक्ष्म-शरीर से अनुभव होना स्वप्न है। सूक्ष्म शरीर, यथा—"पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्। अपंचीकृतमस्थूलं सूक्ष्मांगं भोगसाधकम्॥" (जिज्ञासापंचक) अर्थात् ५ प्राण, १० इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि—इन १७ तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर होता है। इनमें मन और बुद्धि प्रधान हैं। अतः, इस स्वल्पनिद्रा में मन और बुद्धि की निर्मलता से पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जो—"जोग बियोग भोग भल मंदा॥ हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥" (अ० दो० ९२)—इन सब की प्रतीति होना स्वप्नवत् अविद्यामाया का व्यापार है। ऐसे स्वप्न मोह-निशा में होते हैं। मूर्च्छा आदि अवस्थाओं की तरह अर्थपरक 'मुह्-वैचित्त्ये' धातु के अनुसार मोह शब्द है अर्थात् जब श्रीरामजी के शरीर रूप अपने स्वरूप एवं जगत् की स्मृति

नहीं रहती, तब इस निशा में उपर्युक्त स्वप्न-व्यापार सत्यवत् होते हैं। सब पुरुषसंज्ञक (पुरुषार्थनिष्ठ) जीव समष्टि में श्रीरामजी का शरीर हैं, तब श्रीरामजी पुरुषोत्तम होने से उत्तमाङ्ग (शिर) रूप हुए, यथा—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके'''अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥" (गीता १५। १६-१८); उन्हें अपने सबसे पृथक् समझना शिर कटना है। यथा—"आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै। तौ कत तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै॥" (वि० २३८) अर्थात् जगत् को नानात्व सत्ता को श्रीरामजी से भिन्न मानना अपना सिर कटना है।

(१४) 'बिनु जागे न दूरि '''—'दुख' यथा—"जिव जबते हरि ते बिलगान्यो।'''तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।'''भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि-हठि चल्यो। बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।" (वि० १३६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक के इस भ्रमात्मक अविद्या माया के प्रमाण पूर्व मं० श्लोक ६ के वि० (३ ग) ('रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम.' के प्रसंग) में लिखे गये। पूर्व पक्ष में अविद्या माया का स्वरूप कहा गया। आगे इसका उत्तर पक्ष पास ही करते हैं जिसमें विद्यामाया का वर्णन सिद्धान्त रूप में किया गया है; क्योंकि पूर्व पक्ष के पास ही सिद्धान्त भी कहा जाता है। यही जागने का उपाय है।

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥ ३ ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥४॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥५॥
आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥ ६ ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥ ७ ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनकी कृपा से ऐसा भ्रम मिट जाता है, हे गिरिजे! वे ही कृपालु श्रीरघुनाथ जी हैं ॥३॥ जिनका आदि और अंत किसी ने न (जान) पाया, वेद (अनादि हैं वे) भी बुद्धि की अटकल से ऐसा गाते हैं ॥४॥ कि वह (ब्रह्म) बिना पैर के चलता है और बिना कान के सुनता है एवं बिना हाथ ही के नाना प्रकार के कर्म करता है ॥५॥ वह मुख से रहित है, पर सब रसों को भोगता है. बिना वाणी के ही बड़ा योग्य वक्ता है ॥६॥ बिना शरीर के स्पर्श करता है और बिना आँख के ही देखता है, नाक के बिना ही सम्पूर्ण गंध को ग्रहण करता (सूँघता) है ॥७॥ इस प्रकार से उसकी करणी सब भाँति अलौकिक है, जिसकी महिमा कही नहीं जा सकती ॥८॥

विशेष—'जासु कृपा अस'''—ऊपर 'बिनु जागे न दूरि दुख होई' कहा है और यहाँ कृपा से दुःख मिटना कहते हैं। भाव यह कि सपनाते हुए को दूसरा कोई जगा दे, तभी उसका स्वप्नजन्य दुःख दूर होता है, वैसे श्रीरामजी इन दुखी जीवों को अपनी निष्कारण कृपा से जगाते हैं, तब इनकी जड़ बुद्धि चैतन्य होकर सर्व जगत् को श्री रामशरीर-रूप में जानती है। अहल्या-उद्धार का प्रसंग इसका चरितार्थ है। यथा—"सहस सिला ते अति जड़मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है॥" (वि० १८१); तथा—"जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागु '''" (वि० ७४)। कृपा का कार्य—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥" (गीता ११।४७) अर्थात् जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब सब

जगत् अपने शरीर (विराट् रूप) में दिखाते हैं। शरीर से किये हुए कार्य शरीरी के होते हैं। अतएव जगत् (के ऋणत्रयाधिकारियों) से किये गये उपकार श्रीरामजी के हैं। इस ज्ञान से साधक जीव तीनों ऋणों का भय छोड़ जगत् संबंध से पृथक् होकर और जगत् रूप से किये हुए उपकार-सम्बन्धी गुणों का स्मरण करके भगवान् में प्रीति करता है। यथा—"जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन-अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

इस प्रकार वह जगत् के नातों को श्रीराम-रूप मानता हुआ माता-पितादि की यथोचित सेवा को ही श्रीरामोपासना बना लेता है।

यही (विराट् रूप का ज्ञान ही) विद्यामाया का अंग है, यथा—"*रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥* सो माया न दुखद मोहिं काहीं।''' " इसे ही आगे वहीं पर "हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥" (उ० दो० ७८) से विद्यामाया कहा है, क्योंकि जैसे यहाँ 'रघुपतिप्रेरित' और 'प्रभुप्रेरित' कहा है; वैसे ही—"*एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके॥*" (आ० दो० १४)। विद्या-माया के इस प्रकट वर्णन में भी कहा गया है। इसी विद्या-माया से—"उदर माँझ''' " से—"राम उदर देखेउँ जग नाना।" तक देखना कहकर "तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥" पर दृश्य का उपसंहार है। इससे आगे भी "देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर, आयेउँ सुनु मतिधीर॥" (उ० दो० ८२)। यहाँ बार-बार कृपालु एवं मायापति कहने से उपर्युक्त "जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।" का ही चरितार्थ है। ऐसा ही कौशल्याजी का विराट् दर्शन जानना चाहिये। यह विद्या वेदों से भी परे है, यथा—"नाहं वेदैन तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥" (गीता ११।५३)। *इसी विद्यामाया का स्वरूप* आगे विराट्-रूप वर्णन के द्वारा शिवजी कहते हैं—

(२) 'आदि अंत कोउ'''—यहाँ बहुत तरह से लोग अर्थ किया करते हैं। अतः प्रथम निर्णय करके तब भाव कहेंगे—यहाँ प्रथम ही उपक्रम में आदि-अंत-राहित्य (अभाव) कहा है, यह विराट् वर्णन की भूमिका है। यथा—"भ्रमत मोहिं कल्पांत अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥" (उ० दो० ८१), 'मति अनुमान निगम' से भी—यथा—"बिस्वरूप रघुबंसमनि,'''लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥" (लं० दो० १४) वही कहा है। यह कल्पना और अनुमान एक ही है। अतः, वेद का 'अनुमान' भी विराट्-परक है।

इस वर्णन के अन्त (उपसंहार) में—'*महिमा जासु जाइ* ''' *से भी*—'अजानता महिमानं तवेदम्।' (गीता ११।४१) के अनुसार विराट्-प्रसंग है। पुन—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,'''" यह भी उपसंहार में कहा है। बुध, पंडित और विदुष पर्यायी शब्द हैं। विदुषों का ध्येय विराट् ही कहा है। यथा—"बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा।" (दो० २४१) और यह प्रसंग ज्यों-का-त्यों वेद में भी विराट् प्रकरण में ही है, यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" '''"अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न चास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥" (श्वे० ३।१४-१९)। अत, मानस में यहाँ विराट्-परक ही अर्थ चाहिये।

(३) 'बिनु पद चलइ'''महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।'—बृहदा० ३।७।३ के "यस्य पृथिवी शरीरम्'''" से २३ वें मंत्र तक जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का शरीर कहा है। शरीर से हुए कार्य शरीरी के कहे जाते हैं, वही यहाँ क्रम से कहे गये हैं। क्रम, यथा—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।" (गीता १३।५) अर्थात्—अव्यक्त (प्रकृति), बुद्धि, अहंकार,

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—यह अष्टधा प्रकृति है, इसे ही भगवान् के शरीर-रूप में कहते हैं कि प्रकृति बिना पैर के चलती है, क्योंकि मरने पर जीवात्मा सङ्कल्पानुसार अन्य शरीरों में प्रकृति के द्वारा ही जाता है। बुद्धि बिना कान के ही सुनती है। यथा—"मति अनुमानि निगम अस गावा" ऊपर कहा है। वेद श्रुति (सुनी हुई बात) कहा जाता है। बुद्धि के देवता ब्रह्मा ही वेद के विस्तार-कर्त्ता हैं। त्रिधा (सत्त्व-रज-तम) अहंकार बिना हाथ के ही अनेक कर्म करता है, जैसे सात्त्विक अहंकार (चित्त) इन्द्रियों की रचना करता है। राजस अहंकार उभय का अनुग्राहक है और तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रादि की सृष्टि होती है। आकाश बिना मुख के ही भक्षण करता है, क्योंकि सब उसी में समा जाते हैं और जल जिह्वा-बिना ही सर्व (षट्) रस धारण करता है तथा व्योम बिना वाणी के ही वक्ता है, क्योंकि उससे सहज ही शब्द होता है। [आकाश के साहाय्य में मुख और वाक् दो कर्मेन्द्रियाँ हैं। अतः, दोनों कही गई हैं और जल को क्रम-भंग करके यहाँ कहने का कारण यह है कि मुख में ही रसना है, उसी से वाणी और षड्रस ग्रहण दोनों कार्य होते हैं तथा जल मेघ द्वारा आकाश से गरज-गरजकर बरसाया जाता है। अतः, इससे व्योम शब्द का भी साहचर्य है। पुनः वेद अपौरुषेय (बिना पुरुष की वाणी से कहा गया) है; पर प्रभु की निजी वाणी है। यथा—"मारुत श्वास निगम निज बानी।" (ल० दो० १४)] पवन बिना शरीर का है, पर उसका स्पर्श सब को होता है। अग्नि बिना नेत्र के देखता है और उसके प्रकाश में सब कोई देखते हैं। पृथिवी नासिका इन्द्रिय के बिना ही सर्व गंध धारण करती है। यथा—"बिनु महि गंध कि पावइ कोई।" (उ० दो० ८९)।

यहाँ तक क्रम से आठो प्रकृतियाँ कही गईं, इन शरीरांगों से ब्रह्म (भगवान्) की 'करनी' अलौकिक है, क्योंकि लोक में बिना इन्द्रियों के उसके कार्य नहीं देखे जाते। यह उसकी अपार महिमा है।

दोहा—जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥११८॥

अर्थ—जिसे इस प्रकार से वेद और पंडित लोग गाते हैं तथा मुनि जिसका ध्यान धरते हैं, वे ही श्रीदशरथजी के पुत्र भक्तों के हित करनेवाले अयोध्या के स्वामी भगवान् हैं ॥११८॥

विशेष—(१) यह दोहा विराट्-वर्णन का उपसंहार है। इसका भाव यह कि विराट् रूप में जगत ही भगवान् का शरीर है। वे अयोध्या के एक व्यक्तिविशेष के पुत्र हुए, यह क्यों? इसका उत्तर 'भगत-हित' से दिया गया है कि भक्तों के हित के लिये लीला करनी है। यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १११)। अर्थात् भगवान् में असंख्य गुण हैं, पर लीला में वही-वही गुण क्रमशः दिखाते हैं, जिनसे भक्तों का उद्धार हो, यथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६)। 'कोसलपति भगवान'—का भाव यह कि यहाँ के परिमित स्थल में परिमित रूप में भी आप षडैश्वर्य युक्त हैं। षडैश्वर्य के उदाहरण—

ऐश्वर्य—"राम-राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं॥" (उ० दो० २१)।

धर्म—"चारिहु चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥" (उ० दो० २८)।

यश—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२); यह वेद स्तुति है।

श्री—"रमानाथ जहँ राजा,"'अनिमादिक सुख संपदा, रही अवधपुर छाय।" (उ० दो० २९)।
ज्ञान—"धर्म तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज विकसे विधि नाना।।" (उ० दो० ३०)।
वैराग्य—"सुख संतोष विराग विवेका। बिगत सोक ये कोक अनेका।।" (उ० दो० ३०)।

(२) श्री रामजी प्रथम श्री दशरथजी के पुत्र हुए, तब इन्होंने लीला करके भक्तों का कल्याण किया और अयोध्या के पति होकर षडैश्वर्य भी दिखाये कि मुझे जानकर भक्त लोग प्रीति-पूर्वक मेरा भजन करें। यथा—"यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। 'भगवान' पद का प्रयोग प्रायः भक्तों के हितार्थ ही होता है। यथा—"व्यापक विश्वरूप भगवाना।" सो केवल भगतन हित लागी।" (दो० १२); "भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" (बा० दो० १९५); "भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनुभूप॥" (उ० दो० ७२)।

(३) विद्यामाया, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४) अर्थात् एक (विद्या) जिसके वश में गुण हैं, वह जगत् की रचना करती है, पर प्रभु की प्रेरणा से ही करती है, उसके अपना बल नहीं है। यथा—"लवनिमेष महँ भुवननिकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (दो० २२५)। 'गुन बस'—यह त्रिगुणात्मिका है—'प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके।' यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥" (गीता ९।१०); अर्थात् जैसे कोई अपने जड़ हाथ-पैरों से प्रेरणा-द्वारा कार्य करे, वैसे भगवान् भी अपनी शरीररूपिणी प्रकृति द्वारा जगत्-रचना का कार्य करते हैं। अतएव भगवान् के शरीर-रूप में प्रकृति को जानना विद्यादृष्टि रूपा विद्यामाया है, यही सिद्धान्तरूपा माया है जो जीवों के अविद्यामाया से उत्पन्न भ्रम छुड़ाने के लिये है। यह स्वरूप से अनित्य और प्रवाह से नित्य है, यथा—"पल्लवत फूलत नवल नित संसारबिटप नमामहे।" (उ० दो० १२); इसमें 'नवल नित' से प्रवाहतः नित्य संसार भगवान् के शरीर-रूप में कहा गया है।

जगत् को पृथक्-पृथक् सत्तावान् (नानात्व रूप में) देखना अविद्या है और उसे श्रीरामजी के शरीर-रूप में देखते हुए, अपने को भी उनके शरीर-रूप में ही, किन्तु और जीवों से भिन्न देखना विद्या है। इससे जगत् के द्वारा किये हुए उपकारों को श्रीरामजी के किये उपकार जानकर प्रीतिपूर्वक भजन होता है। यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ३)। मंगल श्लोक ६ भी देखिये।

इस विराट्-रूप-वर्णन में 'मति अनुमानि निगम अस गावा।' उपक्रम है और 'जेहि इमि गावहिं वेद बुध' उपसंहार है।

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नामबल करउँ बिसोकी॥ १॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरजामी॥ २॥

अर्थ—जिनके नाम के बल से मैं काशी में मरते हुए जन्तु (जन्म लेनेवाले जीव मात्र) को देखकर विशोक (मुक्त) करता हूँ॥१॥ वे ही हमारे स्वामी (इष्टदेव) हैं और चराचर (जगत्) के स्वामी हैं, उनका नाम रघुबर है। वे सबके हृदय की जाननेवाले हैं॥२॥

विशेष—(१) 'कासी मरत जंतु'"—यथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू।"'" (दो० १८) देखिये, तथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥" (कि० दो० ६)।

(२) 'सोइ प्रभु मोर'"—केवल औरों को ही मुक्ति देने के लिये उपदेश नहीं देता, वरन्

मैं भी इष्ट माने हुए उन्हीं को जपता हूँ। वे ही चराचर के स्वामी और अंतर्यामी अर्थात् परात्पर ब्रह्म हैं।

श्रीगिरिजाजी ने मुनि, वेद और शिवजी—इन तीनों की सिद्धान्त-एकता में ही ब्रह्म का निश्चय माना है, यथा—"प्रभु जे मुनि परमारथबादी।" "सेष सारदा बेद पुराना।···" "तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती।···" (दो॰ १०७); उन्हीं तीनों के प्रमाणों से यहाँ शिवजी ने समाधान किया है। यथा—"जाहि धरहिं मुनि ध्यान।" "जेहि इमि गावहि बेद···" "सोइ प्रभु मोर।"

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥ ३ ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भववारिधि गोपद इव तरहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—विवश होने पर भी जिन (ईश्वर) का नाम मनुष्य कहते हैं, तो उनके अनेक जन्मों के बटोरे हुए पाप जल जाते हैं ॥३॥ और जो मनुष्य आदरपूर्वक स्मरण करते हैं, वे तो भवसागर को गाय के खुर की तरह तर जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बिबसहु जासु नाम···'—विवश, जैसे यवन, अजामिल आदि ने यमदूतों के भय से पुत्र के बदले तथा शूकर का धक्का लगने पर किसी प्रकार 'राम' शब्द मुख से निकाला। 'दहहीं' यथा—"जासु नाम पावक अघतूला।" (अ॰ दो॰ २४७) अर्थात् जैसे अग्नि रुई को तुरत भस्म कर देता है, वैसे ही रामजी का नाम पापों को जला डालता है।

(२) 'सादर सुमिरन जे...'—इससे जाना गया कि पूर्व के 'बिबसहु' वाले अनादरवाले हैं। अनादर और सादर का भाव, यथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मगमैं। गिरयो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो' हाय हाय करत परी गो काल फँग मैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो, नाम के प्रताप बात बिदित है जग मैं। सोइ राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा क्योंपै कही क्यों जाति अगमैं॥" (क॰ उ॰ ७६)। इसमें प्रथम के तीन चरणों में विवश एवं निरादर-पूर्वक स्मरण और चौथे चरण में सादर का उदाहरण है।

यहाँ तक नामपरत्व की चार अर्द्धालियों में प्रथम दो में श्रवण का और पिछली दो में कथन का माहात्म्य बराबर रूप में कहा गया है। 'विशोक होना' और 'भव सागर तरना' एक ही हैं।

ऊपर "जेहि जाने जग जाइ हेराई।" (दो॰ १११) में ज्ञान-दृष्टि कही गई है और यहाँ—"भव बारिधि गोपद इव..." से भक्तों की दृष्टि कही, क्योंकि सादर स्मरण भक्त ही करते हैं। प्रीति-पूर्वक स्मरण करना सादर है। ऊपर का कवित्त देखिये अर्थात् जानने मात्र में तो जगत् श्रीरामजी का शरीर होने से उन्हीं में हेराय (लीन हो) जाता है। फिर "मैं सेवक, सचराचर, रूप स्वामि भगवंत" (कि॰ दो॰ ३) की दृष्टि से भजन करते समय प्रारब्ध-क्षय पर्यंत जगत् का अल्प संसर्ग रहता है, वह भी भजन के साथ आनंद-पूर्वक समाप्त होने से गाय के खुर के समान ही कहा जाता है।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भवानी ! वे ही परमात्मा श्रीरामजी हैं, उनके विषय में तुम्हारे भ्रम के वचन अत्यन्त अयोग्य हैं ॥५॥ ऐसा संदेह हृदय में लाते ही ज्ञान-वैराग्यादि सब गुण चले जाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) राम सो परमातमा'''—ऊपर 'राम ब्रह्म व्यापक...' में ज्ञान-दृष्टि, 'कोसलपति भगवान' में भक्ति-दृष्टि और यहाँ 'सो परमातमा' में योग-दृष्टि है, क्योंकि ईश्वर को ज्ञानी 'ब्रह्म', भक्त 'भगवान्' और योगी 'परमात्मा' कहते हैं।

(२) 'अस संसय आनत '—श्रीरामजी का निश्चय होने पर ही उनके लिये सबका त्याग होने से वैराग्य होता है और फिर ज्ञान होता है। श्रीरामजी ही ज्ञान-वैराग्य के स्थान हैं। यथा—"ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।" (दो० २०५)। उनमें संदेह होने से ये गुण कैसे रह सकते हैं? ध्वनि से यह शिवजी का शाप सिद्ध होता है।

यहाँ तक "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८) के उत्तर में श्रीरामजी का परात्परत्व दाशरथी (दशरथकुमार) स्वरूप में ही कहा गया।

सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क कै रचना ॥ ७ ॥
भइ रघुपति-पद-प्रीति-प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥ ८ ॥

दोहा—पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि, जोरि पंकरुहपानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११९॥

शब्दार्थ—रचना गढ़न्त, स्थिति। दारुन=अति कठिन, भयंकर। असंभावना—(संभावना=कल्पना-अनुमान, अ उपसर्ग यहाँ दूषित अर्थ में आया है, जैसे—अभागा, अकाल)=दूषित कल्पना (यह कि परब्रह्म का नर-देह धारण करना असंभव है, अतः नर ही मानना), इसमें उनका अनादर है। यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परंभावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (गीता० ९।११)।

अर्थ—श्री शिवजी के भ्रमनाशक वचन सुनकर (उमा की) सब कुतर्कों की स्थितियाँ मिट गईं ॥७॥ श्री रघुनाथजी के चरणों में उनकी प्रतीति और प्रीति हुई तथा अति कठिन अनुचित कल्पना भी दूर हो गई। ॥८॥ बारंबार प्रभु (शिवजी) के चरण-कमलों को पकड़कर और अपने कर-कमलों को जोड़कर श्री पार्वतीजी श्रेष्ठ वचन, मानों प्रेमरस में सानकर, बोलीं ॥११९॥

विशेष—(१) 'सुनि सिव के भ्रम''''''—शिवजी ने पूर्व ही प्रतिज्ञा (उपक्रम) की थी—"भ्रम तम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५), उसी का यहाँ तक परितार्थ (उपसंहार) हुआ। 'कुतर्क के रचना'—यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०); "जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि" (दो० १०८)। पूर्व इन्हें अपार संशय हुआ। यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" (दो० ५०) इसीसे बहुत कुतर्कों की रचना (सृष्टि) भी हुई, क्योंकि संशय कारण और कुतर्क कार्य है। यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥" (उ० दो० ९३) अर्थात् सर्प काटने पर विष चढ़ने से लहरें आती हैं, वैसे संशय होने पर कुतर्कणाएँ होती हैं। ऊपर चौपाई में संशय रूप कारण और इसमें उसके कार्य निवृत्त हुए।

(२) 'भइ रघुपति पद ···'—संशय निवृत्त हुआ और श्रीरामजी का स्वरूप जान पड़ा। यथा—"राम सरूप जानि मोहि परेऊ।" आगे ही कहती हैं। यही प्रतीति और प्रीति का कारण है। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८)। 'दारुन असंभावना बीती'—प्रतीति होने से असंभावना की और प्रीति होने से दारुण असंभावना की निवृत्ति स्पष्ट हुई। प्रतीति से भावना और प्रीति से संभावना हुई। ऐसे ही कुतर्क की रचना मिटने में असंभावना का मिटना है। ब्रह्म में नरबुद्धि लाकर जो उसका अनादर होता है, उस भ्रम के मिटने में दारुण असम्भावना की निवृत्ति हुई।

(३) 'पुनि पुनि प्रभुपद ···'—बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञता में है। यथा—"मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा।" (उ० दो० ११४)—यह गरुड़जी ने कहा है। बारबार चरण पकड़ना प्रेम की अधिकता से भी है। यथा—"पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥" (दो० १०१)।

उमाजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से शिवजी में प्रकट हुई, यथा—"प्रेमरस सानि"—मन, "बोली"—वचन और 'पद गहि' एवं 'जोरि पानि' से कर्म स्पष्ट है।

'गिरिजा'—क्योंकि गिरि (पहाड़) की तरह प्रीति अचल हो गई।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ १॥
तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ २॥
नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा॥ ३॥

शब्दार्थ—सरदातप = शरद ऋतु के चित्रानक्षत्र में स्थित सूर्य का घोर ताप जिससे मृग काले पड़ जाते हैं।

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों के समान आपके वचनों को सुनकर मेरा (भारी) मोह रूपी भारी शरदातप मिट गया ॥१॥ हे कृपालो! आपने सब संदेह हर लिये, मुझे श्रीरामजी का स्वरूप (यथार्थ) समझ पड़ा ॥२॥ हे नाथ! आपकी कृपा से अब दुःख निवृत्त हुआ और हे प्रभो! आपके चरणों की प्रसन्नता से मैं सुखी हुई ॥३॥

विशेष—(१) 'ससिकर सम···'—पूर्व में कहा था—"आनन सरदचंद-छबिहारी॥" (दो० १०५) एवं "ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति-भ्रम भारी॥" (दो० १०७)। अतः, यहाँ वचनों को 'ससिकर' कहा, इसमें मुख चन्द्रमा और वचन किरणें हैं। कथा-पूर्त्ति पर भी कहेंगी, यथा—"नाथ! तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर।" (उ० दो० ५२)।

पूर्व शिवजी ने इन्हीं वचनों को रवि-किरण कहा था, यथा—"भ्रमतम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५) और यहाँ गिरिजाजी ने 'ससिकर सम' कहा। भाव यह—(क) भ्रम को तम कहा, इस सम्बन्ध से वचन को 'रबिकर' कहा और यहाँ मोह को 'सरदातप' कहा, अतः, वचन को 'ससिकर' कहा। अंधकार रात का और ताप दिन का विकार है अर्थात् रात दिन के दुःख दूर हुए। (ख) शिवजी ने इनके भ्रम की निवृत्ति के लिये ही उक्त वचन कहे। श्रीपार्वती ने भ्रम-निवृत्ति के साथ आह्लाद का भी अनुभव किया, इसीसे 'ससिकर सम' कहा। चन्द्रमा की किरणें अंधकार को दूर करती हुई आह्लादकारक भी होती हैं। पार्वतीजी ये ही दोनों गुण क्रमशः आगे की दो अर्द्धालियों से प्रकट करती हैं, यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। ···" यह अंधकार का दूर होना है और—"नाथ कृपा अब सुखी भइउँ ···" यह आह्लाद पाना है।

(२) 'तुम्ह कृपाल सब संसय'''—श्रीपार्वतीजी ने प्रथम संशय-हरण ही के लिये कृपा करने की प्रार्थना की थी। यथा—"अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥" (दो० १०८)। उसीका फलितार्थ स्वरूप यहाँ कहा है। संशय के रहते हुए श्रीराम-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता और न विषाद ही दूर होता है। यथा—"प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला।''' मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६) अर्थात् सुग्रीवजी ने परीक्षा द्वारा संशय-निवृत्त किया, तब राम-स्वरूप में प्रतीति और प्रीति हुई तथा उनका विषाद दूर हुआ। वैसे ही यहाँ भी—'नाथ कृपा ''''' से कहा है।

अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥ ४॥
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥ ५॥

अर्थ—यद्यपि मैं स्वाभाविक ही जड़ (नासमझ) हूँ, फिर भी स्त्री और ज्ञानहीन हूँ तो भी मुझे अपनी दासी जानकर अब॥४॥ हे प्रभो! यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं तो मैंने जो पहले पूछा है, वही कहिये॥५॥

विशेष—(१) 'अब मोहि आपनि...'—प्रथम ही श्रीपार्वतीजी ने दासी होने से कथा-श्रवण में अपना अधिकार कहा था। यथा—"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥" (दो० १०६)। वही हेतु यहाँ भी है। फिर श्रीमैनाजी ने भी वर माँगा था—"नाथ उमा मम प्रान-प्रिय, गृह-किंकरी करेहु। छमहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु॥" (दो० १०१), उसी का स्मरण कराते हुए 'किंकरी' कहा। अपने में नीच अनुसंधान की दृष्टि से 'जड़, अयानी' कहा कि मैं जड़ पर्वत से उत्पन्न हूँ, तो सहज जड़ होना युक्त ही है और स्त्री होने से अज्ञानी होना भी योग्य ही है, यह कथन शिवजी के कहे हुए—"अग्य अकोबिद अंध..." (दो० ११४) आदि वचनों पर है।

(२) 'प्रथम जो मैं पूछा...'—जो पूर्व में प्रश्न कहा गया—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०६); उसी का स्मरण कराती हैं। 'जौं मो पर प्रसन्न...' प्रसन्नता का अनुमान शिवजी के इन वचनों पर है कि—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'''राम कृपा ते पारवति, सपनेहु .." (दो० ११२)।

राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब-उर-पुर-बासी॥ ६॥
नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरामजी ब्रह्म हैं, वे ज्ञानमय, अविनाशी, सबसे निर्लेप और सबके हृदय-रूपी पुर में रहनेवाले हैं॥६॥ हे नाथ! उन्होंने नर-शरीर किस लिये धारण किया? हे वृषकेतु (शिवजी)! (यह) मुझे समझाकर कहिये॥७॥

विशेष—(१) 'राम ब्रह्म चिन्मय'''—जो ज्ञानमय स्वरूप हैं, वे स्थूल शरीर धारी क्यों होंगे? ब्रह्म अर्थात् वृहत् हैं, यथा—"अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।" यह एक देशीय और एक छोटी-सी देह क्यों धारण करेंगे? जो अविनाशी हैं, वे नाशवान् प्राकृत देहधारी कैसे होंगे? जो सर्वरहित

हैं, वे किसी के मित्र, शत्रु आदि क्यों होंगे? जो सबके हृदय के वासी हैं, वे एक के घर में आकर क्यों बसेंगे?

(२) 'नाथ धरेउ नर-तनु ···'—उपर्युक्त गुणविशिष्ट का नर-तन (पांचभौतिक शरीर) धरना बड़ा भारी आश्चर्य है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः, मुझे समझाकर कहिये। 'वृषकेतू' आप धर्मध्वज हैं, मैं आपकी दासी हूँ, जड़-अज्ञ आदि हूँ, मेरा अज्ञान दूर करना आपका धर्म है।

'समुझाइ कहहु'—इसीसे शिवजी चार कल्पों के हेतु लेकर समझावेंगे। उनमें तीन कल्पों में तो विष्णु-नारायण का चतुर्भुज से नराकार द्विभुज-रूप धारण करना और उससे प्राकृत नरवत् लीला करना तथा एक कल्प में अपने अनन्य भक्त मनु-शतरूपा के वरदान की पूर्ति के हेतु एवं भानुप्रताप के रावण होने पर उससे संसार के उद्धार के लिये अपने नित्य द्विभुज किशोर-विग्रह में ही प्राकृत मनुष्य के समान शिशु, बाल, पौगंड आदि अवस्थाओं की लीला एवं और भी अनेक नर-नाट्य करना नर-शरीर धरने का तात्पर्य होगा।

उमाबचन सुनि परम बिनीता। राम-कथा पर प्रीति पुनीता ॥ ८ ॥

दोहा—हिय हरषे कामारि तब, संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि, बोले कृपानिधान ॥

अर्थ—तब श्रीपार्वतीजी के परम नम्र वचन सुनकर और श्रीराम-कथा में उनकी पवित्र प्रीति देखकर ॥८॥ काम के शत्रु, स्वाभाविक सुजान शिवजी हृदय में प्रसन्न हुए और बहुत तरह से उमा की प्रशंसा करके वे कृपानिधान फिर बोले ॥

विशेष—(१) 'उमा बचन सुनि ···'—'परम बिनीता' यथा—"अब मोहिं आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥" एवं और भी नाथ! प्रभु! आदि सम्बोधन नम्रतासूचक हैं। 'प्रीति पुनीता'—निःस्वार्थ भाव से कथा सुनने के लिये ही प्रश्न किये हैं, साथ ही जगत् के उपकार पर भी दृष्टि है। इसीलिये प्रीति को पवित्र कहा है। यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (अ० दो० ३००) एवं—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल-बरजित प्रीती ॥" (दो० १५२)। उमा के प्रश्नों में अपनी विद्वत्ता दिखानी आदि दोष नहीं हैं, इससे भी प्रीति 'पुनीत' है।

(२) 'हिय हरषे कामारि ··'—छलहीन एवं पवित्र प्रीति-युक्त वचनों से हर्ष होता ही है। यथा—"सबके बचन प्रेम-रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने।" (उ० दो० ४६)। ऐसे ही यहाँ भी गिरिजा के वचन हैं, यथा—"बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि ॥" (दो० ११६)। यहाँ शिवजी के विशेषण साभिप्राय हैं। 'कामारि'—हर्ष पार्वतीजी के रूप पर मोहवश नहीं है, किन्तु 'राम कथा पर प्रीति पुनीता' देखकर ही है। वक्ता को ऐसा ही निष्काम भी होना चाहिये। 'संकर'—उमा के भ्रम दूर करके उनके द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं। 'सहज सुजान'—श्रोता के हृदय के मर्म को सहज ही जान लेनेवाले हैं। यथा—"राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०२)। इसीसे गिरिजाजी के भी हार्दिक प्रेम को जान लिया। यथा—"अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना ॥" (आ० दो०

२६)। 'कृपानिधान'—क्योंकि अपने मानस का परम रहस्य कृपा करके, सुनाते हैं। यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥" (दो० २६)।

(३) 'बहु बिधि उमहि प्रसंसि''' पूर्व—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी ''"–से—"राम-कृपा ते पारबति" " (दो० ११२) तक में कह आये। उसी के अनुसार 'बहु बिधि' वाली प्रशंसा समझ लेनी चाहिये। यहाँ उसे न दुहराकर संकेत कर दिया। यह काव्य का चमत्कार है। 'पुनि' शब्द को दीप-देहली रूप में लेने से यह प्रशंसा भी स्वयं आ जाती है।

सोरठा—सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़॥
सो संवाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम-अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ॥
हरिगुन नाम अपार, कथारूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु॥१२०॥

शब्दार्थ—उदार = बड़ा, श्रेष्ठ, दानशील। अनघ = निष्पाप एवं पापनाशक।

अर्थ—हे भवानी! निर्मल रामचरितमानस की मांगलिक कथा सुनो, जिसे श्री काकभुशुंडीजी ने विस्तार-पूर्वक कहा है और पक्षियों के स्वामी गरुडजी ने सुना है। यह उदार (भुसुंडि-गरुड़) संवाद जिस प्रकार हुआ, वह मैं आगे कहूँगा। अभी श्रीरामजी के परम सुन्दर, निष्पाप एवं पाप-नाशक अवतार और चरित सुनो। भगवान् के गुण, नाम, कथा और रूप—सभी अपार, अगणित और अमित हैं; मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा, हे उमा! आदर के साथ सुनो॥१२०॥

विशेष—(१) 'सुनु सुभ कथा ''—शुभ अर्थात् मंगल, यथा—"रामकथा जग मंगलकरनी।" (दो० ३) तथा—"सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।" (उ० दो० ५१); "यह सुभ संभु उमा-संबादा।" (उ० दो० १२१)। 'बिमल'—यथा -"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥" (दो० ३७); "बिमल कथा हरि-पद-दायिनी। भगति होइ सुनि अनपायिनी॥ (उ० दो० ५१)।

(२) 'सो संबाद उदार '—वह संवाद-प्रसंग बड़ा है, उसके कहने में तुम्हारा प्रश्न पड़ा ही रह जायगा। अतः, उसे आगे (उ० दो० ५१) से कहूँगा। पुनः उदार का अर्थ देश, काल, पात्र न देखकर याचक मात्र को तृप्त करना है, वैसे इस संवाद में भक्ति का पक्ष है जो ऊँच-नीच—सभी का उद्धार करनेवाली है।

(३) 'सुनहु राम-अवतार हरि-गुन नाम'' '—पूर्व में शिवजी ने प्रतिज्ञा की थी—"राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥ ''तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥" (दो० ११३)। फिर श्रीराम रूप-विषयक सगुण निर्गुण प्रसंग कहने लग गये, उसे पूरा करके फिर वही प्रसंग ग्रहण करके कहते हैं। यहाँ के 'अपार', 'अगनित', 'अमित', 'जथाश्रुत', 'सादर' आदि शब्दों के भाव एवं उदाहरण भी वहीं देखिये।

कैलाश-प्रकरण समाप्त

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये । बिपुल बिसद निगमागम गाये ॥ १ ॥
हरि - अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥ २ ॥

शब्दार्थ—इदमित्थं (इदम् = यह, इत्थम् = ऐसे = यों) = यह ऐसा (ही) है।

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो, हरि के चरित सुंदर हैं, बहुत हैं, उज्ज्वल हैं और वेद-शास्त्रों द्वारा गाये हुए हैं ॥१॥ हरि का अवतार जिस कारण से होता है, वह 'यह ऐसा ही है' (इस प्रकार) नहीं कहा जा सकता ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु गिरिजा···' सुनने में गिरि की तरह अचल—सावधान रहना। 'हरि-चरित'—क्योंकि चार कल्पों के चरित एक साथ रहेंगे, उनमें प्रथम विष्णु-नारायण के ही अवतार के हेतु कहेंगे। तब साकेत विहारी श्रीरामजी के अवतार के हेतु कहेंगे। 'हरि' शब्द से सबके भाव आ गये।

(२) 'हरि-अवतार हेतु जेहि ···' कोई भी मुनि एवं आचार्य निश्चय-पूर्वक यह नहीं कह सकते कि अमुक अवतार का अमुक ही कारण है। एक ही अवतार के भी अनेक हेतु होते हैं। जैसे साकेतविहारी के ही अवतार में प्रथम श्रीजानकीजी की प्रार्थना हेतु है। यह भगवद्गुणदर्पण में कहा है। फिर मनु-शतरूपा का वरदान और भानुप्रताप-रूपी रावण का उद्धार एवं विप्र-धेनु-सुर-संत-रक्षा आदि कई हेतु हैं।

यहाँ से—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू ॥" (उपर्युक्त) का उत्तर चल रहा है। यद्यपि श्रीपार्वतीजी ने साकेतविहारी को ही वन में देखा और परीक्षा में उसी रूप में नित्यत्व भी देखा था। अतः, उनका उस नित्यरूप में बाल-पौगंडादि अवस्थाएँ एवं प्राकृत नर नाट्य ही पूछने का अभिप्राय 'नर-तनु धरेउ' कहने में है, तथापि शिवजी और प्रकार के भी अवतारों के हेतु कहेंगे जिससे अन्य अवतारों की बात सुनकर फिर भ्रम न हो जाय कि यह ऐसा क्यों ? मैंने तो ऐसा ही सुना था।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहि सयानी ॥ ३ ॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना । जस कछु कहहिं स्वमति-अनुमाना ॥४॥
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही । समुझि परइ जस कारन मोही ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अतर्क्य = तर्क-शास्त्र से न सिद्ध होने योग्य, यथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥" (दो० ३४०); तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्तिरीय २।४)। अनुमान = अटकल, अंदाज।

अर्थ—श्रीरामजी बुद्धि, मन और वाणी—तीनों से अतर्क्य हैं; हे सयानी ! सुनो, ऐसा हमारा मत है ॥३॥ तो भी जैसा कुछ सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धि की अटकल से कहते हैं ॥४॥ (और) जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है, हे सुमुखि ! मैं तुमको वैसा ही सुनाता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'राम अतर्क्य···' सयाने लोग थोड़े ही इशारे से बहुत-कुछ समझ लेते हैं। इससे तुम समझ लो कि श्रीरामजी की तरह उनके जन्म, कर्म आदि सभी अतर्क्य ही हैं। यथा—"वेद

वचन मुनि मन अगम" (अ० दो० १२६) अर्थात् वेद के वचन और मुनियों के मन उत्कृष्ट हैं। रामजी उन दोनों से भी अगम्य हैं, ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

(२) 'स्वमति अनुमाना'—यथा—"सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥" (दो० १२); "निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहि। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥" (उ० दो० ९०)।

(३) 'तस मैं सुमुखि ···' 'तस' शब्द दीपदेहली रूप में है। अत, अर्थ होगा कि संत-मुनि आदि का और मेरा अपना (शिवजी का) मत भी। शिवजी का अपना पृथक् मत—जैसे भानुप्रताप की कथा जहाँ कही गई है, वहाँ शिव-उमा के सवाद रूप में ही प्राय पाई जाती है अथवा सत-मुनि-वेद पुराण तो बहुत कहते हैं, पर उनमें जितना मेरी बुद्धि में आ सका, उसके अनुसार कहता हूँ, यह कार्पण्य भी है।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ ६॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ ७॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥ ८॥

दोहा—असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, रामजनम कर हेतु॥१२१॥

अर्थ—जब-जब धर्म की हानि होती है, नीच (पापी) अभिमानी असुर बढ़ते हैं॥६॥ वे ऐसी अनीति करते हैं कि जो कही नहीं जा सकती। ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथिवी सीदते (दुःख पाते) हैं॥७॥ तब-तब वे कृपासागर प्रभु तरह-तरह के शरीर धरकर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं॥८॥ असुरों को मारकर देवताओं को स्थापित करते, अपने वेदों की मर्यादा रखते और जगत् में अपना उज्ज्वल यश फैलाते हैं—ये (कार्य) श्रीराम-जन्म के कारण हैं॥१२१॥

विशेष—(१) 'जब जब होइ···' यथा—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम· धर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥" (गीता ४।७-९) तथा—"इत्थ यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति। तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥" (मार्कण्डेयपुराण, सप्तशती, अ० ११), इत्यादि सब प्रसंग विशेष मिलते हैं।

(२) धर्म की हानि का कारण असुरों की बाढ़ है, वे अनीति करते हैं। यथा-"बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं। हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवन मिति॥" (दो० १८३)। 'सीदहिं बिप्र ···' यथा—"जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥" (दो० १८३)। "देवन्ह तजे मेरु गिरि-खोहा।" (दो० १८१), "अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥" (दो० १८३), इत्यादि।

(३) 'तब तब प्रभु · '—'बिबिध सरीरा'—यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी। जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (लं० दो० १०९)। जब जैसा काम पड़ा, वैसा ही शरीर धारण किया, विविध शरीर धरने में 'प्रभु' कहा, क्योंकि यह प्रभुता का कार्य है और पीड़ाहरण में कृपानिधि कहा, क्योंकि यह दया का काम है।

(४) 'जग बिस्तारहिं बिसद जस''' यथा—"यस्यामलं नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥" (श्रीमद्भागवत, स्कं० ९, अ० ११, श्लोक २१) तथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे ॥" (दो० २११) । और बातें सब अवतारों में प्रायः तुल्य रहती हैं, पर विशद यश विस्तार करना श्री रामजी ही में सर्वोपरि है, क्योंकि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं ''''" (श्रीमद्भागवत) ।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं ॥ १ ॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका ॥ २ ॥
जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी ॥ ३ ॥

अर्थ—वही यश गाकर भक्तलोग संसार-सागर तरते हैं, (अतः) वे कृपा के समुद्र अपने भक्तों के लिये शरीर धारण करते हैं ॥१॥ श्रीरामजी के जन्म के अनेक कारण हैं, जो एक-से एक परम विचित्र हैं ॥२॥ दो-एक जन्म बखान कर कहता हूँ, हे सुंदर बुद्धिवाली भवानी ! सावधान होकर सुनो ॥३॥

विशेष—(१) 'सोइ जस गाइ भगत '''—यहाँ तरने में भक्त मुख्य होते हैं। इससे ये ही कहे गये, और जो कोई यश गावेंगे, वे भी तरेंगे। यथा—"करिहउँ चरित भगत सुख दाता ॥ जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥" (दो० १५१) ।

(२) 'जनम एक दुइ कहउँ'''—श्री पार्वतीजी को सती-शरीर में शंका हुई थी—"विष्णु जो सुर-हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी ॥ खोजइ सो कि अग्य इव नारी।" (दो० ५०)। इसी से शिवजी प्रथम विष्णु भगवान् के दो जन्म और क्षीरशायी भगवान् का एक जन्म कहेंगे। इन तीन कल्पों के तीन हेतु कहकर विश्राम देते हुए चौथे में श्रीराम-जन्म के हेतु कहेंगे, जिसके लिये गिरिजाजी के मुख्य प्रश्न हैं। 'सावधान'—क्योंकि उमा ने कहा था—"मोहि समुझाइ कहहु ''"। अतः, कहते हैं कि चित्त लगाकर विचारती हुई सुनो। 'सुमति'—संक्षेप ही में कहूँगा तो भी सुंदर मति से समझ लो, यथा—"ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महँ जानिहहिं सयाने ॥" (दो० ११)।

उपर्युक्त विष्णु से त्रिदेव-गत विष्णु ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके लिये 'जथा त्रिपुरारी' कहा गया है। ये भी श्री रामजी का अवतार लेते हैं—यथा—"भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नाम ते विधिः। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः ॥ संकर्षणस्ततश्चाहं स्वाकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधायातं सृष्टिस्थित्यंतहेतवे ॥" (स्कन्दपुराण, निर्वाणखंड, श्रीरामगीता, महादेवजी की उक्ति *)

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥ ४ ॥
बिप्रस्राप तें दूनउँ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥ ५ ॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगतबिदित सुरपति-मद-मोचन ॥ ६ ॥
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराहबपु एक निपाता ॥ ७ ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रह्लाद-सुजस बिस्तारा ॥ ८ ॥

* इन दो श्लोकों की विस्तृत व्याख्या श्रीरामस्तवराज भाष्य (पृ० ५६-५९) देखिये।

शब्दार्थ—तामस=तमोगुण सम्बंधी। कनककसिपु=हिरण्यकशिपु। हाटकलोचन=हिरण्याक्ष। बिजई (विजयी)=जय पानेवाले। बपु=देह। बराह (वाराह)=शूकर। निपाता=नाश किया। नरहरि=नृसिंह भगवान्। जन=भक्त।

अर्थ—भगवान् विष्णु के प्रिय द्वारपाल (ड्योढ़ीदार) जय और विजय दोनो हैं। इन्हें सब कोई जानते हैं॥४॥ दोनों भाइयों ने विप्र (सनकादिक) के शाप से तामसी असुर शरीर पाया॥५॥ वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के नामों से जगत् में प्रसिद्ध हुए, जो इन्द्र के गर्व को छुड़ानेवाले थे॥६॥ लड़ाई में विजयी और वीरों मे प्रसिद्ध हुए। (तब) वाराह-शरीर धारण कर (हरि ने) एक (हिरण्याक्ष) को मारा॥७॥ फिर नृसिंह होकर दूसरे (हिरण्यकशिपु) को मारा और प्रह्लाद भक्त का सुयश फैलाया॥८॥

विशेष—(१) 'द्वारपाल हरि के प्रिय ..'—यह कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अ० १५-१६ में विस्तार से है। ब्रह्माजी ने इन्द्रादि से कही है—सनकादिक इच्छानुसार घूमते हुए योगमाया के बल से एक बार वैकुंठ धाम को गये। आनंदपूर्वक हरि के दर्शनों के लिये उनके भवन की छः ड्योढ़ियाँ लाँघ गये। सातवीं कक्षा पर जय-विजय द्वारपाल थे। समदृष्टि के कारण ऋषियों ने इनसे न पूछकर ही जाना चाहा, (इन्हें नग्न देख और बालक जान हँसते हुए) दोनो द्वारपालों ने बेत अड़ाकर रोका। इसपर ऋषियों को (हरिप्रेरणा से) क्रोध हुआ और इन्हें शाप दिया—"तुम रजोगुण एवं तमोगुण रहित भगवान् के निकट के योग्य नहीं हो; अतः, अपनी भेद दृष्टि के कारण काम-क्रोध-लोभात्मक योनियों में जाकर जन्म लो। इस घोर शाप पर ये दोनों दीन होकर प्रार्थना करने लगे कि चाहे हम नीचातिनीच योनि मे ही क्यों न जन्में, पर मुझे हरि-स्मरण बना रहे। ठीक उसी समय लक्ष्मीजी के साथ भगवान वहीं पर आ गये। मुनि दर्शन पाकर स्तुति करने लगे। फिर भगवान् ने गूढ़ वचनों से मुनियों का आश्वासन किया और कहा कि ये दोनो मेरे पार्षद हैं और आप भक्त हैं। आपने जो दंड इन्हें दिया है, उसे मैं अंगीकार करता हूँ। आप ऐसी कृपा करें कि ये शीघ्र मेरे निकट फिर चले आवें। ऋषिलोग भगवान् के अभिप्राय को न समझ सके और बोले कि यदि हमने व्यर्थ शाप दिया हो तो आप हमें दंड दें। भगवान् ने कहा—"आपका दोष नहीं, शाप मेरी इच्छा से हुआ है।" मुनियों के चले जाने पर भगवान् ने अपने प्रिय पार्षदों से कहा—"तुम मत डरो, मैं शाप को मिटा सकता हूँ, पर मेरी इच्छा ऐसी नहीं है, क्योंकि यह शाप मेरी इच्छा से हुआ है। मुझमें वैर-भाव से मन लगा शापमुक्त होकर थोड़े ही काल में तुम मेरे लोक में आ जाओगे।"

जय-विजय को यह शाप क्यों हुआ? इसपर कहा जाता है कि एक बार भगवान् ने योग-निद्रा में तत्पर होते समय इनको आज्ञा दी कि कोई भीतर न आने पावे। श्रीलक्ष्मीजी आईं, इन्होंने इनको भी रोका। यह न विचारा कि उनके लिये मनाई नहीं हो सकती। श्रीलक्ष्मीजी ने उस समय कहा कि इसका फल तुम्हें मिलेगा।

(२) 'कनककसिपु अरु···'—ग्रंथकार प्रायः बड़े छोटे भाई को क्रम से लिखकर सूचित करते हैं, यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि० दो० १); "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि० दो० ५)। अत, यहाँ हिरण्यकशिपु को बड़ा और हिरण्याक्ष को छोटा जनाया। ये दोनो भाई यमज (जोड़वाँ) हुए। हिरण्याक्ष प्रथम और हिरण्यकशिपु पीछे हुआ, पर वीर्य की स्थिति के अनुसार पिछला ही बड़ा कहाता है।

(३) 'धरि बराह-बपु···'—भाग० स्कं ३, अ० १३, १८ और १९ में यह कथा विस्तार से है। यहाँ संक्षेप में दी जाती है—सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी से मनु-शतरूपा हुए। इन्हें ब्रह्माजी ने धर्म से प्रजा पालन की आज्ञा दी, तब मनु ने कहा कि हमारे और प्रजा के लिये स्थान बतलाइये। पृथिवी तो महाजल में

डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिंता करने लगे कि सहसा उनकी नासिका से एक अंगुष्ठ-प्रमाण का शूकर निकल पड़ा। वह उनके देखते-देखते पल-मात्र में पर्वताकार होकर गरजने लगा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि चकित हुए। फिर निश्चय किया कि यज्ञपुरुष ने मेरी चिन्ता हरने के लिये अवतार लिया है; फिर उनकी स्तुति की। तब वाराह भगवान् प्रलय के महाजल में प्रवेश करके डूबी हुई पृथिवी को अपने दाँत पर उठाये हुए रसातल से निकले।

समाचार पा हिरण्याक्ष ने सामने आकर रोका और अनेक कटु वचन कहे, परन्तु भगवान् ने उनपर ध्यान न देकर उसके देखते-देखते पृथ्वी को जल पर स्थित कर और उसमें अपनी आधारशक्ति देकर तब व्यंग्य वचन कहते हुए दैत्य का सामना किया। दैत्य ने गदा-त्रिशूल आदि से घोर युद्ध किया; फिर अपने माया-बल से छिपकर भी लड़ता रहा। भगवान् भी गदा और सुदर्शन चक्र से प्रहार करते रहे, अन्त में लीलापूर्वक उसको ऐसा तमाचा जड़ दिया कि उसका प्राणान्त ही हो गया!

(४) 'होइ नरहरि दूसर ...'—इसकी कथा सूक्ष्म रूप से दो० २७ में भी है और अत्यंत प्रसिद्ध है। ऊपर कहा गया—'जग बिस्तारहिं बिसद जस' और यहाँ—'जन प्रहलाद-सुजस बिस्तारा।' कहते हैं। भाव यह कि भगवान् जैसे अपने यश का विस्तार करते हैं, वैसे अपने भक्तों का भी, क्योंकि दोनों से जगत् का कल्याण होता है। जनों का यश इस तरह फैलाते हैं कि जैसे श्रीभरतजी परम प्रिय भक्त हैं, फिर भी १४ वर्षों का वियोग देकर एवं वैसा हेतु रचकर उनका प्रेम, त्याग एवं निष्ठा प्रकट की, जिससे उनका यश फैला और जगत् को उपदेश हुआ। श्रीजानकीजी का महत्त्व प्रकट करने के लिये अग्नि परीक्षा कराई। ऐसे ही श्रीप्रह्लादजी का सुयश फैलाने के लिये उनके विरोधी के वध में विलंब लगाया, पीछे संताप करते हुए अपना वात्सल्य प्रकट किया है। यथा—"क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्क्वैताः प्रमत्तकृत-दारुणयातनास्ते। आलोकितं विषममेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमंग यदि मागमने विलंबम्॥" अर्थात् नृसिंह भगवान् प्रह्लाद को गोद में लेकर कहते हैं कि इस प्रकार का विषम कांड? कहाँ तो तुम्हारी शिशु-अवस्था तथा सुकुमार शरीर और कहाँ इस प्रमत्त दैत्य की की हुई दारुण यातनाएँ? हे वत्स! यह देखते हुए भी मुझे आने में विलम्ब हुआ, इसे क्षमा करो।

'प्रहलाद-सुजस'—यथा —"प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन्ह पाहन ते परमेस्वर काढ़े।"(क० उ०१२७)।

दोहा—भये निसाचर जाइ तेइ, महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट, सुरबिजई जग जान ॥१२२॥

मुकुत न भये हते भगवाना। तीनि जनम द्विजबचन प्रमाना ॥ १ ॥

अर्थ—वे ही महावीर बलवान् कुम्भकर्ण-रावण (नामक) राक्षस हुए जो बड़े ही योद्धा और देवताओं को जीतनेवाले हुए, उन्हें जगत् जानता है॥१२२॥ भगवान् से मारे जाने पर भी मुक्त न हुए, क्योंकि ब्राह्मणों के वचन का प्रमाण तीन जन्मों के लिये था॥१॥ (प्रमाण=सीमा, अवधि, पर्यन्त)।

विशेष—(१) 'भये निसाचर...' वे दोनों सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में निशाचर और द्वापर में आसुरी प्रकृति के क्षत्रिय हुए। क्रमशः विकारावस्था कम होती आई। अंत में मुक्त हुए। 'निसाचर' शब्द से त्रेता युग में कुम्भकरण-रावण का होना जनाया। पूर्वार्द्ध में कारण कहकर उत्तरार्द्ध में कार्य कहा। वे महा-बीर हैं, इसी से सुभट कहे गये; बलवान् हैं, इसी से सुरविजयी हुए और इन्हीं बातों से उनकी प्रसिद्धि जगत् में हुई।

तीनो अवस्थाओं में वे जगत् प्रसिद्ध ही हुए, यथा—"जय अरु विजय जान सब कोऊ।" "जगत विदित सुरपतिमदमोचन।" और यहाँ—"सुरविजई जग जान।" इसमें 'सुर' से इन्द्रादि समस्त देवता का अर्थ है।

(२) यहाँ शिवजी ने दो ही जन्म कहे, तीसरा नहीं, क्योंकि इन्हें श्रीराम-जन्म के हेतु पर्यंत ही कहने का प्रयोजन है। आगे की बात अगली अर्द्धाली से जना दी है।

(३) 'मुकुत न भये हते ···'—भगवान् के हाथ से मरने पर मुक्ति होती है, पर उनकी न हुई। उसका कारण यहाँ कहा। ब्रह्म शाप तीन बार जन्म लेने के लिये था। भगवान् ब्रह्मण्य देव हैं, अतएव ब्राह्मणों के वचन रखते हैं। भक्तों पर भी वात्सल्य है। तभी तो उनके उद्धार के लिये आपने चार बार जन्म लिया—वाराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। भगवान् ने कृष्ण-रूप से द्वापर में उन दोनों के शिशुपाल और दन्तवक्र होने पर वध कर उनको मुक्त किया।

शंका—जय विजय भगवान् के प्रिय पार्षद थे, फिर शाप से उनकी रक्षा क्यों न की ?

समाधान—(क) जगत् के सभी व्यापार किसी कारण पर ही होते हैं, वैसे उनके भी कारण लिखे गये। भगवान् अपने प्रिय भक्तों के सूक्ष्म पाप भी शुद्ध कर लेते हैं। जय विजय भगवान् के पार्षद हैं। अत, उनकी प्रकृति भी स्वामी के अनुकूल चाहिये। भगवान् तो ब्रह्मण्यदेव हैं और वे ब्राह्मणों का अनादर करनेवाले हुए। स्वामी के इष्ट का अपमान भारी पाप है। भगवान् ने उनके प्रियत्व से उनकी अपेक्षा एक जन्म अधिक भी लिया और उन्हें शुद्ध किया।

(ख) भगवान् वैदिक विधि स्थापन के लिये एवं अपनी लीला विधि में प्रिय भक्तों को भी माया-वश करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, जैसे श्रीनारदजी को मोहवश किया।

(४) 'द्विज वचन'—पूज्य कवि ने बार-बार इन्हें 'विप्र, द्विज' आदि शब्दों ही से सूचित किया है। यद्यपि ये लोग ब्रह्मज्ञानी मुनि हैं, तो भी इन्हें ऋषि, मुनि, ज्ञानी आदि नहीं कहे, क्योंकि ब्राह्मण हो जहाँ-तहाँ क्रोध करके विशेष शाप दिया करते हैं। श्रीमद्भागवत में भी इनके पास आने पर भगवान् ने इनके लिये 'ब्रह्मदेव' 'ब्राह्मण' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है, तथा श्रीनारदजी ने भी युधिष्ठिर से ऐसा ही कहा है। यथा—"पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ ॥" (भाग० स्कंध ७ अ० १।३२)।

एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत - अनुरागी ॥ २ ॥
कश्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥ ३ ॥
एक कलप येहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा ॥ ४ ॥

अर्थ—एक बार भक्तों के अनुरागी भगवान् ने उनके हित के लिये शरीर (नराकार द्विभुज शरीर श्रीरामरूप) धारण किया ॥२॥ वहाँ (उस अवतार में) कश्यप और अदिति माता पिता हुए, जो दशरथ कौशल्या नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३॥ एक कल्प में इस प्रकार अवतार लेकर अपने चरित्रों से संसार को पवित्र किया ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार तिन्ह के ···'—यद्यपि उपर्युक्त ब्रह्म शाप के सम्बन्ध से एक ही कल्प में चार बार आपने शरीर धारण किया, तथापि यहाँ एक बार कहा है, क्योंकि स्वामी ने श्रीरामजी के

ही अवतार-विषय में प्रश्न किया, यह एक बार ही रावण-कुंभकर्ण के वध के लिये हुआ। 'हितलागी'—रावण-कुंभकर्ण के शरीर छुड़ाकर शिशुपाल-दंतवक्र के कर दिये।

(२) 'कश्यप अदिति तहाँ'''—भाव यह कि और भी दशरथ-कौशल्या होते हैं, जैसे मनु-शतरूपा की कथा आगे आवेगी। आगे दो० १८६ चौ० ३ भी देखिये।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥ ५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा॥ ६॥
परम सती असुराधिपनारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥ ७॥

दोहा—छल करि टारेउ तासु ब्रत, प्रभु सुरकारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब, स्राप कोप करि दीन्ह॥१२३॥

अर्थ—एक कल्प में जब सब देवता जलंधर दैत्य से संग्राम करके हार गये, (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) तब उन्हें दुखी देखकर॥५॥ शिवजी ने घोर संग्राम किया, पर वह दैत्य महाबली था, मारे न मरता था॥६॥ उस दैत्यराज की स्त्री (वृन्दा) बड़ी पतिव्रता थी, उसी के बल से त्रिपुर दैत्य के नाशक (शिवजी) भी उस दैत्य को नहीं जीत पाते थे॥७॥ प्रभु ने छल करके उस स्त्री का पातिव्रत्य छुड़ाया और देवताओं का कार्य किया, जब उसने यह भेद जाना, तब कोप करके शाप दिया॥१२३॥

विशेष—(१) 'एक कलप सुर'''—'जलंधर'—यह शिवजी के कोपाग्नि से समुद्र में उत्पन्न हुआ था। पैदा होते ही बड़े जोर से रोने लगा, जिससे देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजी के पूछने पर समुद्र ने इसे अपना पुत्र कहकर उन्हें दे दिया। ब्रह्माजी ने ज्यों ही इसे गोद में लिया कि इसने उनकी दाढ़ी बड़े जोर से खींची। इससे उनके आँसू निकल पड़े; इसीसे ब्रह्माजी ने इसका नाम 'जलंधर' रक्खा। इसने इन्द्रादिक से अमरावती छीन ली। इन्द्र के पक्ष से शिवजी ने इससे बड़ा घोर संग्राम किया, पर जीत न हुई, क्योंकि इसकी स्त्री वृन्दा परम सती थी। वह कालनेमि की कन्या थी। शिवजी पातिव्रत्य-प्रभाव की मर्यादारक्षा करते हुए लड़ रहे थे। वृन्दा ने पति के प्राण बचाने के लिये ब्रह्माजी की पूजा प्रारम्भ की। तब शिवजी ने भगवान् का स्मरण करके सहायता चाही। भगवान् यती-रूप से वृन्दा के घर के पास विचरने लगे। वृन्दा ने पूजा छोड़कर पति का हाल पूछा। यती ने कहा कि वह तो मर गया। वृन्दा ने कहा कि मेरा पातिव्रत्य बना है तो वह कैसे मर सकता है? यती ने आकाश की ओर दृष्टि की तो दो बन्दर जलंधर के शरीर को विदीर्ण करते हुए देख पड़े। थोड़ी ही देर में शरीर के टुकड़े वृन्दा के समीप आ गिरे तब वह रोने लगी। यती ने कहा कि इसके अंगों को तू जोड़ दे, तेरे पातिव्रत्य धर्म से यह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। उस विग्रह में भगवान् ने प्रवेश किया और जलंधर बन गये। कारण, जलंधर भी युद्ध-काल में ही माया से शिव-रूप बनकर पार्वतीजी को मोहने के लिये कैलाश गया था। पर पार्वतीजी के तेज और कोप से वह वहाँ से भाग आया। इसीका बदला भगवान् ने जलंधर बनकर लिया। उस विग्रह के स्पर्श करने से वृंदा का पातिव्रत्य भंग हुआ, तभी इधर शिवजी ने जलंधर को मारा। वृन्दा को यह बात मालूम हो गई। तब उसने कोप करके शाप दिया कि मेरा पति (जलंधर) ही रावण होकर तुम्हारी स्त्री हरेगा। यह कथा पद्मपुराण में है।

भगवान् ने यह कहकर उसे संतुष्ट किया कि मुझे ही पति-भाव से वरण करने के लिये तुमने पूर्व जन्म में तपस्या की थी।

पुराणांतर में कल्प-भेद की कथा यों भी है कि वृन्दा ने भगवान् को पत्थर होने का शाप दिया जिससे भगवान् शालग्राम-रूप हुए। फिर वृंदा अपनी चिता से तुलसी-रूपा होकर प्रकट हुई। छल करके भगवान् ने वशीभूत होकर उसे सिर पर धारण करने का व्रत लिया। यथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय।" (आ० दो० ५)।

(२) 'न जितहि पुरारी'—त्रिपुरासुर का ही नाश कर दिया, तो यह कुछ बहुत न था; किन्तु पाति-व्रत्य धर्म की मर्यादा बचाने के लिये नहीं जीतते थे। इसमें पातिव्रत्य-प्रभाव और इधर मर्यादा की रक्षा—दोनों दिखाये गये।

'तेहि बल'—यथा—"यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा। स जयी सर्वलोकेषु स सुखी स धनी पुमान्॥ कंपते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः। भर्त्ता तस्याः सुखं भुंक्ते रममाणः पतिव्रताम्॥" इत्यादि प्रसिद्ध हैं। जलंधर के विषय में तो उसकी परम सती स्त्री का धर्म-बल कहा गया, वैसा शिवजी के विषय में भी परम सती गिरिजा का धर्म-बल नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी स्वयं सहज समर्थ हैं, उनका सामर्थ्य स्त्री के सतीत्व धर्म से (कृत्रिम) नहीं है। "संभु सहज समरथ भगवाना।" (दो० ११)।

(३) 'छल करि टारेउ···'—छल का दोष न लगा, क्योंकि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (दो० ६८)। पुनः परोपकार के लिये भी छल का दोष नहीं लगता। यहाँ भी प्रभु ने 'सुर-कार्य' के लिये छल किया है। तीसरा कारण यह है कि भगवान् ने छल के बदले छल किया है। ऊपर नं० १ देखें।

'जब तेहि जानेउ···'—भगवान् का मर्म उनकी कृपा ही से कोई जानता है—अन्यथा नहीं। यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत···" (अ० दो० १२६); "लछिमनहू यह मरम न जाना।" (आ० दो० २३); "तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु-पिताहू॥" (बा० दो० ७८)। प्रभु को वैसी लीला करनी थी, इसलिये जना दिया। यथा—"मम इच्छा कह दीनदयाला।" (दो० १२०)। इसी से आगे पास ही आपको—'कौतुक निधि' कहा है। 'कोप करि'—क्योंकि शाप क्रोध के अनुसार ही लगता है। यथा—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥" (दो० १२४); "बोले बिप्र सकोप तब···जाइ निसाचर होहु···" (दो० १७३)।

तासु स्राप हरि कीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ १॥
तहाँ जलंधर रावन भयेऊ। रन हति राम परम पद दयेऊ॥ २॥
एक जनम कर कारन येहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥ ३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥ ४॥

अर्थ—हरि (भगवान्) ने उसके शाप को प्रमाणित (सत्य) किया, (क्योंकि वे) कौतुक के स्थान, कृपालु और परैश्वर्यपूर्ण हैं॥१॥ वहाँ जलंधर रावण हुआ और श्रीरामजी ने उसे रण में मारकर परम-पद (नित्य धाम) दिया॥२॥ एक जन्म का यह कारण है जिसके लिये श्रीरामजी ने नर शरीर धारण

किया है ॥३॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे मुनि ! सुनो, प्रभु के प्रत्येक अवतार की अनेक कथाएँ हैं और कवियों ने उनका वर्णन किया है ॥४॥

विशेष—(१) 'तासु स्राप हरि ......' जैसे शिवजी पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये उसे नहीं मार सकते थे, वैसे यहाँ हरि ने भी उसके शाप को मान लिया जिससे पातिव्रत्य धर्म की महिमा रहे। अन्यथा हरि के स्मरण मात्र से शाप नहीं लगता, तो हरि को शाप कैसे लगेगा ? यथा —"सुमिरत हरिहिं स्राप-गति बाधी।" (दो० १२४)। जैसे श्रीमद्वाल्मीकीय ८० में कथा है कि भृगुजी ने भगवान् (हरि) को शाप दिया, उन्होंने अंगीकार नहीं किया, तब भृगु ने विचारा कि यदि मेरा शाप सत्य न हुआ तो ऋषित्व न रहेगा। इसलिये बड़ा तप कर भगवान् को प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरा शाप आप अंगीकार करें। तथा—"मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥" (दो० १३७); इसमें भी नारदजी का ऋषित्व रखने के लिये भगवान् ने 'मम इच्छा' कहकर शाप ग्रहण करने की दया की है। ऊपर दोहे में 'प्रभु' कहा है। 'प्रभु'—भाव यह है कि शाप को अन्यथा करने में भी समर्थ हैं।

(२) 'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना'—यहाँ शाप ग्रहण में तीन हेतु दिखाये, १—आप कौतुक-प्रिय हैं, कौतुकार्थ ग्रहण किया, अतः, इसमें आपको दुःख नहीं हुआ। २—कृपालु हैं, वृंदा पर कृपा की कि उसका शाप सत्य किया, जिससे उसे संतोष हो गया। ३ —भगवान् हैं, षडैश्वर्य से उत्पत्ति-पालन-संहार रूप महान् कौतुक के करनेवाले हैं, फिर यह तो बहुत थोड़ा कौतुक है, इसमें आपको किंचित् भी श्रम न होगा।

(३) 'तहाँ जलंधर रावन ......'—जय-विजय, रुद्रगण और भानुप्रताप, अरिमर्दन—ये तीन कल्पों के प्रसंगों में दो-दो कहे गये, तो वहाँ-वहाँ रावण-कुंभकर्ण भी दो-दो कहे गये हैं। यहाँ एक जलंधर का ही रावण होना कहा है, अतः, एक ही का वध होना भी कहा गया है। पद्मपुराण का प्रमाण देते हुए रामायणजी के टीकाकार बैजनाथजी और पंजाबीजी कहते हैं कि जलंधर का एक मित्र था, वही कुंभकर्ण हुआ था।

'घनेरी'—यहाँ तक दो जन्मों के हेतु कहे, उनमें 'एक बार तिन्ह के हित लागी।' पुनः 'एक जनम कर कारन येहा...' 'एक कलप सुर देखि दुखारे।' आदि—एक-एक ही कहा है, एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि नहीं कहे। इसका भाव यह कि अवतारों में आगे-पीछे होने के क्रम का कोई नियम नहीं है। गिनती न देकर घनेरी अर्थात् (अगणित) जनाया। इसी से अंत में स्पष्ट 'घनेरी' कथाएँ कहीं।

वैकुंठवासी विष्णु भगवान् के रामावतार का हेतु-प्रकरण समाप्त

क्षीर-शायी श्रीमन्नारायण का रामावतार

तदन्तर्गत

नारद-मोह-प्रकरण

नारद स्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥ ५॥
गिरिजा चकित भई सुनि बानी। नारद बिष्णुभगत मुनि ग्यानी॥ ६॥

कारन कवन स्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥ ७॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी॥ ८॥

अर्थ—एक बार श्रीनारदजी ने शाप दिया, इस कारण एक कल्प में अवतार हुआ॥५॥ यह वचन सुनकर श्रीपार्वतीजी चकित हुईं कि नारदजी तो विष्णु-भक्त और ज्ञानी मुनि हैं॥६॥ उन्होंने किस कारण शाप दिया? लक्ष्मीपति भगवान् ने क्या अपराध किया?॥७॥ हे त्रिपुरारि! यह प्रसंग मुझसे कहिये। मुनि के मन में मोह होना भारी आश्चर्य की बात है॥८॥

विशेष—(१) 'गिरिजा चकित भई'…'—प्रथम सनकादिक ज्ञानी के प्रति आश्चर्य न हुआ था, क्योंकि वहाँ विप्र-शाप ही कहा था, सनकादिक के नाम नहीं कहे। यों तो विप्र शाप दिया ही करते हैं और वहाँ जय-विजय का भी कुछ दोष था ही। यह भी हो सकता है कि पार्वतीजी वह कथा जानती रही हों। श्रीनारदजी गिरिजा के गुरु हैं, उनके विषय की बात सुनकर चकित हुईं कि उनमें शाप के कारण क्रोध आदि कैसे हो सकते हैं?

(२) 'नारद विष्णुभगत'…'—भाव ज्ञानी और भक्त दोनों में मोह का होना आश्चर्य ही है। यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० १६८); "मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० ११९) अर्थात् भक्ति-चिंतामणि के पास मोह नहीं आ सकता। भक्त अपने स्वामी को ही शाप दे, यह असंभव-सा है।

(३) 'कारन कवन स्राप'…'—शाप कारण के विना नहीं होता। शाप का कारण क्रोध है, क्रोध में अपराध ही कारण है। अभीष्ट-हानि से क्रोध होता है। भगवान् तो भक्तवत्सल और बड़े ही शीलवान् हैं, इसी से रमा (लक्ष्मीजी) ने सब देव छोड़कर उन्हें ही वरण किया है। यथा—"अस ज्ञानी मैं श्री-चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥ जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥" (आ० दो० ५)। उन 'रमापति' ने ही क्या अपराध किया? 'मुनि' तो शांत होते हैं, उन्हें क्रोध कैसे हुआ?

(४) 'यह प्रसंग कहहु'—शिवजी इतना ही कहकर समाप्त करना चाहते थे, पर गिरिजाजी की प्रेरणा से अब इसे कुछ विस्तार से कहेंगे।

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥

सो०—कहउँ राम-गुन-गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भवभंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद॥१२४॥

अर्थ—तब शिवजी हँसकर बोले कि न तो कोई ज्ञानी है और न मूर्ख, श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा कर देते हैं, वह उसी क्षण में वैसा हो जाता है॥ श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज! मैं श्रीरामजी के गुणों की कथा कहता हूँ, आदरपूर्वक सुनो। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि हे तुलसी! (हे मन!) मान और मद को छोड़कर भव के नाश करनेवाले श्रीरघुनाथजी का भजन करो॥१२४॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि···'—हँसने के भाव— क) हम और ब्रह्मा भी मायावश नाच चुके हैं, इन्हें नारद ही पर आश्चर्य है। (ख) अपनी बात भूल गई कि क्या क्या दशा हुई थी। अभी भी छाया नहीं मिटती। (ग) अभी तो शाप ही की बात सुनी है, सब कौतुक सुनेंगी, तो और भी कौतूहल होगा।

(२) 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'—श्रीरघुनाथजी अब जिसे जैसा चाहें, कर सकते हैं, यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, मायाप्रेरक सीव।" (आ० दो० १५); "मसकहिं करइ बिरंचि प्रभु, अजहिं मसक ते हीन।" (उ० दो० १२२)। जैसे ध्रुव अबोध शिशु थे, उन्हें क्षण-भर में ज्ञान की सीमा बना दिया। श्रीनारदजी व्यास वाल्मीकि आदि के भी गुरु हैं, उन्हें क्षण-भर में मूढ़ बना दिया। यथा—"माया-बिबस भये मुनि मूढ़ा।" (दो० १३२)।

जीव की निष्ठा एवं श्रद्धा देखकर भगवान् उसे ज्ञान की उच्च दशातक प्राप्त करा देते हैं, असावधानी से जो कहीं उसे ज्ञान का अभिमान हो आया, तो वे भक्तवत्सल प्रभु उसे शुद्ध करने के लिये माया की प्रेरणा करते हैं जिससे अभिमान टूटने का उपाय हो जाता है। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ॥ ···" से— "मातु चिराव कठिन की नाईं॥" (उ०दो० ७१) तक; यही 'राम-गुन-गाथ' है, जिसे शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी ने उपदेश-रूप में ग्रहण किया है। 'तजि मान मद'—मान और मद भजन के बाधक हैं, इसलिये इनका छोड़ना कहते हैं। यथा—"जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।" (कि० दो० १७); इन मान-मद से कैसी दुर्दशा होती है, यह आगे इसी प्रसंग में दिखावेंगे।

'भरद्वाज सादर सुनहु'—भरद्वाजजी के गुरु श्रीवाल्मीकिजी और उनके गुरु श्रीनारदजी हैं। अतः, कहते हैं कि अपने दादा-गुरु की कथा को मन-मति-चित्त लगाकर सुनो।

हिम-गिरि-गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥ १॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ २॥
निरखि सैल सरि बिपिनबिभागा। भयेउ रमा-पति-पद-अनुरागा॥ ३॥
सुमिरत हरिहिं स्रापगति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥ ४॥

शब्दार्थ—गुहा = गुफा। देवरिषि = देवर्षि श्रीनारदजी। बिभागा = अलग-अलग अंश। गति बाधी = शाप की राह रुक गई अर्थात् शाप की दशा नष्ट हो गई।

अर्थ—हिमालय पर्वत में एक बड़ी ही पवित्र गुफा थी, जिसके समीप ही में सुहावनी गंगाजी बह रही थीं॥१॥ आश्रम (स्थान) परम पवित्र और सुहावन था। देखकर देवर्षि श्रीनारदजी के मन को वह बहुत ही प्रिय लगा॥२॥ पहाड़, तालाब और वन के पृथक्-पृथक् अंशों को देखकर लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों में अनुराग हुआ॥३॥ भगवान् का स्मरण करते ही शाप की गति नष्ट हो गई। नारदजी का मन स्वाभाविक ही निर्मल है, अतएव समाधि लग गई॥४॥

विशेष—(१) 'आश्रम परम···'—'परम पुनीत' होने से 'भावा' और 'सुहावा' भी है। अतः, 'अति भावा' कहा है। पुनः यहाँ 'सुरसरी' हैं और ये 'देव-रिषि' हैं, तो अच्छा लगेगा ही। यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मनभावन॥" (दो० ४४); तथा—"सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।" (अ० दो० १२४)।

(२) 'हिमगिरिगुहा···'—हिमालय पवित्र स्थल है, उसमें गुफा और भी पवित्र है; फिर श्री गंगा-तट पर होने से 'अति पावनि' कही गई है।

(३) 'निरखि सैल सरि···'—श्रीगंगाजी का जल रमापति का पादोदक है, उसे देखकर उनके पद में अनुराग हुआ। चरणोदक की महिमा से चरण की महिमा का उद्दीपन हुआ, वे भक्ति के अनुराग से रूप में मग्न हो गये। यथा—"रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह···" (अ॰ दो॰ ११०); "देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलक सरीर भरत कर जोरे॥" (अ॰ दो॰ २०१)। शुद्ध वायु के लिये शैल, तप के लिये घोर वन एवं भोजन के लिये फल-मूल भी वन से प्राप्त होते हैं। 'सरि' से जल का सुपास आदि अन्य सुविधाएँ हैं ही, अतः भजन के लिये उपयुक्त स्थल है।

(४) 'सुमिरत हरिहिं स्रापगति···'—हरि के स्मरण-प्रभाव से शाप का प्रभाव नष्ट हो गया, जो दक्ष ने दिया था कि तुम एक स्थल पर दो घड़ियों से अधिक न ठहर सकोगे, तुम्हारा समय तीनों लोकों में घूमते ही बीतेगा। वह शाप नष्ट हो गया; अतः, बहुत काल तक ठहर गये। समाधि में मन की मलिनता बाधक है। यथा—"मन मलिन बिषय संग लागे।" (वि॰ ८२)' श्रीनारदजी का मन जन्म से ही निर्मल है। अतः, समाधि लग गई।

भगवान् का निष्काम भजन करने में तत्संबंधी बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं, यह दिखाया।

मुनिगति देखि सुरेस डेराना। कामहिं बोलि कीन्ह सनमाना॥५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचर-केतू॥६॥

अर्थ—मुनि की यह उत्तम दशा देखकर इन्द्र डर गया। कामदेव को बुलाकर उसका बड़ा सत्कार किया॥५॥ (फिर कहा कि) हमारे लिये तुम अपने सहायकों के सहित जाओ। (यह सुनकर) मकरध्वज कामदेव हृदय में हर्षित होकर चला॥६॥

विशेष—(१) 'मुनिगति···'—इन्द्र शाप की गति का रुकना एवं समाधिस्थ होना देखकर डरा कि अब मेरा लोक प्राप्त करना इनके लिये कुछ कठिन नहीं है।

'कीन्ह सनमाना।'—अपने स्वार्थ साधने में, विशेष कर शत्रु पर चढ़ाई के समय, सेवकों के सम्मान की रीति है, यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लेइ लेइ नाम सकल सनमाने॥ भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ॰ दो॰ १९१)।

(२) 'सहित सहाय'—मुनि का प्रभाव भारी देखकर इन्द्र बहुत डरा है, इससे अकेले कामदेव से कार्य होना न समझकर सहाय सहित भेज रहा है।

(३) 'हरषि हिय जलचरकेतू।'—ध्वजा कहने से रथ पर चढ़कर चलना जनाया। हर्ष के साथ चला, क्योंकि उसे अभिमान है कि नारदजी का जीतना कौन बात है? अभी कृतकार्य होकर लौटता हूँ तो स्वामी के यहाँ अधिक महत्त्व पाऊँगा। स्वामि-कार्य में हर्ष चाहिये ही। शूर भी है, अतः युद्ध का उत्साह है। पूर्वोक्त—"कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू।" (दो॰ ८४) के भाव भी देखिये।

सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥७॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं॥८॥

दोहा—सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज ॥१२५॥

शब्दार्थ—सुनासीर = इन्द्र।

अर्थ—इन्द्र के मन में अत्यन्त डर है कि देवर्षि नारदजी हमारे पुर में बसना (दखल करना) चाहते हैं ॥७॥ जगत् में जो कामी और लोभी लोग हैं, वे कुटिल कौए की तरह सभी से डरते हैं ॥८॥ जैसे मूर्ख कुत्ता सिंह को देख सूखी हड्डी लेकर भागे और मूर्ख यह समझे कि कहीं सिंह उसे छीन न ले, वैसे ही इन्द्र को लाज नहीं लगती ॥१२५॥

विशेष—(१) 'चहत देवरिषि·····'पहले तो तप करके देवर्षि हुए, अब देवराज होना चाहते हैं। 'अति त्रासा'—क्योंकि काम के भेजने पर भी शान्ति न हुई।

(२) 'जे कामी लोलुप · ·'—डर का कारण उसकी कुटिलता है, इससे कुटिल कौए की नाईं कहा। यथा—"काकसमान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (अ० दो० ३०१)।

(३) 'सूख हाड़ लै भाग···'—कुत्ता सूखी हड्डी को चूसता है तो उसके ही तालू से रक्त निकलता है, जिसे चूसकर वह सतोष मानता है, वैसे ही सौ यज्ञों के फल से भोग रूप इन्द्रासन मिलता है। सुकृत की सीमा तक ही भोग रहता है। अपने ही पुण्य का फल भोगना होता है। पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर नीचे आना होता है। श्वान को हड्डी का मोह व्यर्थ है, वैसे इन्द्र को इन्द्रासन का। इसी से कहा है—"सरिस स्वान मघवान जुवानू।" (अ० दो० ३०१)।

यहाँ नारदजी सिंह रूप हैं, ससार-सुख त्यागे हुए, एक मन-रूपी मतवाले हाथी के मारनेवाले हैं, वे सूखी हड्डी रूपी इन्द्रासन क्यों चाहेंगे ? यथा—"लखि गयंद भजि चलत लरि, स्वान सुखानो हाड़। गज गुन मोल अहार बल, महिमा जान कि राढ़॥" (दोहावली ३८०)। जैसे सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार भी नहीं ग्रहण करता, तो सूखी हड्डी क्यों लेगा ? वैसे नारदजी ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य के भी विरागी हैं तो उसकी अपेक्षा बहुत अल्प स्वर्ग के सुख की कब इच्छा करेंगे ? इन्द्र के इतना भी विचार नहीं है, इसीसे वह 'सठ' और 'जड' कहा गया।

तेहि आश्रमहिं मदन जब गयेऊ। निज माया बसंत निरमयेऊ ॥१॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा ॥२॥
चली सुहावनी त्रिबिध बयारी। कामकृसानु बढ़ावनिहारी ॥३॥
रंभादिक सुरनारि नवीना। सकल असमसर-कला-प्रबीना ॥४॥
करहिं गान बहु तान-तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि-पतंगा ॥५॥
देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना ॥६॥

शब्दार्थ—बयारी = हवा। सुरनारी = अप्सराएँ। असमसर = विषम-बाण, कामदेव। असम-सर-कला = काम कला, हाव भाव-कटाक्ष एवं नृत्य-गान आदि। तान-तरंगा = लय की लहर। क्रीड़हिं = केलि अर्थात् कल्लोल करती हैं। पानि-पतंगा = एक प्रकार का नृत्य जो हाथ चमकाकर किया जाता है या गेंद की क्रीड़ा। प्रपंच = माया।

अर्थ—जब कामदेव उस आश्रम में गया, तब उसने अपनी माया से वसन्त ऋतु का निर्माण किया ॥१॥ नाना प्रकार के वृक्ष बहुत रंगों के फूलों से खिल उठे, कोकिलाएँ कूज (कू-कू कर) रही हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२॥ कामाग्नि को प्रचंड करनेवाली सुहावनी (शीतल, मंद, सुगंध) तीनों प्रकार की हवा चलने लगी ॥३॥ रंभा आदि नव-यौवना अप्सराएँ, जो कामदेव की सब कलाओं में निपुण हैं ॥४॥ बहुत लयदारी के साथ गा रही हैं और बहुत तरह की पाणि-पतग आदि क्रीड़ाएँ कर रही हैं ॥५॥ कामदेव अपने सहायकों को देखकर प्रसन्न हुआ, फिर अनेकों प्रकार के प्रपंच (माया) रचे ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि आश्रमहिं मदन''''—इन्द्र ने सहाय सहित जाने की आज्ञा दी थी, उसीका वर्णन यहाँ से पाँच अर्द्धालियों में है। इसके उपक्रम में 'मदन' और उपसंहार में भी 'देखि सहाय मदन' कहा है। भाव यह कि जाता तो मद के साथ है, पर लौटेगा मदरहित होकर। 'वसन्त' इसके सहायकों में आदि है।

(२) 'कुसुमित विविध''''' '—विविध वृक्षों में रंग-बिरंग के फूल खिले हैं, उनकी सुगंध रक्त में गर्मी उत्पन्न करती है, जिससे काम उत्पन्न होता है। कोकिलाओं के कूजने से ध्यान में विक्षेप (बाधा) होता है, यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (आ० दो० ३१)।

(३) 'चली सुहावनि त्रिविध''''''—यहाँ गंगा तट होने से शीतल, फूलों से सुगंधित और वन में रुक-रुककर चलने से मंद-मंद वायु सुहावना (अनुकूल) चल रहा है, जैसे वायु अग्नि को भड़काता है, वैसे यह कामाग्नि को। 'वायु' पुँल्लिंग न कहकर 'बयारी' स्त्रीलिंग कहा गया है, क्योंकि जैसे स्त्री का स्पर्श कामोद्दीपक है, वैसे इस बयारि का भी। यथा—"सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदनअनल-सखा सही।" (दो० ८१)।

(४) 'रंभादिक सुर-नारि '' '—रंभा अप्सरा को आदि में दिया, क्योंकि यह क्षीर-सागर से प्रकट होनेवाले १४ रत्नों में है, एवं 'आदि' से मेनका, उर्वशी प्रभृति अप्सराओं की स्थिति भी जनाई। 'नवीना'—ये सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं।

(५) 'करहिं गान बहु...'—स्त्री कामदेव के लिये परम बल है। यथा—"येहि के एक परम बलनारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३०), इनमें भी देवांगनाएँ और फिर वे हाव-भाव के साथ गान आदि करती हों तो कहना ही क्या है? यथा—"सुरसुंदरी करहिं कलगाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना॥" (दो० ६०)। गान-सहित अप्सराओं को अंत में कहा, क्योंकि ये उसके बल की पराकाष्ठा हैं। 'तान-तरंगा'-यथा—"बहु भाँति तान-तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं॥" (गी० उ० १६)। काम की सेना का विशेष वर्णन—'सहित विपिन मधुकर खग'.. से—'सुभट सोइ भारी॥' (आ० दो० ३०) तक है।

काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥ ७॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ ८॥

दोहा—सहित सहाय सभीत अति, मानि हारि मन मैन।
गहेसि जाइ मुनिचरन तब, कहि सुठि आरत बैन॥१२६॥

अर्थ— कामदेव की कोई भी कला मुनि पर कुछ असर न कर सकी, (तब) वह पापी मनोज (काम) अपने ही भय से डर गया ॥७॥ लक्ष्मी के पति भगवान् ही जिसके बड़े रक्षक हों उसकी सीमा (मर्यादा=हद) कौन दबा सकता है ?॥८॥ सहायकों के सहित कामदेव मन में हार मानकर बहुत भयभीत हुआ, तब जाकर अत्यन्त आर्त वचन कहते हुए मुनि के चरणों को पकड़ लिया ॥१२६॥

विशेष—(१) 'कामकला कछु'''—पहले काम ने सहायकों-द्वारा उपाय किया, फिर बहुत तरह की माया की, तब क्रोध में आकर धनुष चढ़ाकर बाण भी चलाया। यथा—"सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत।'''कोपेउ हृदयनिकेत'''छाड़ेउ बिषम बिसिष उर लागे।" (दो० ८६)।

(२) 'निज भय डरेउ'''—श्रीनारदजी ने प्रतिकारात्मक दृष्टि नहीं की, तब भी स्वयं डरा, क्योंकि—"पर-द्रोही की होइ निसंका।" (उ० दो० १११)। 'पापी'—शिवजी की समाधि छुड़ाने में पापी नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ इसका कार्य सर्व-सम्मत से था, श्रीरामजी से भी शिवजी ने ब्याह की आज्ञा पाई थी, फिर भी समाधि लगा बैठे। ब्रह्माजी एवं सर्व देवताओं ने तीनों लोकों के हित के लिये काम को भेजा था। इसने भी कहा था कि—"परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहि तेही॥" (दो० ८३)। इस शुद्ध विचार से गया था, अतः पापी नहीं कहा गया। यहाँ तो स्वार्थी इन्द्र के मत में आकर ऐसा अन्याय किया, इसीसे इन्द्र काक-स्वान कहा गया और यह पापी।

(३) 'सीम कि चाँपि'''—काम की प्रवृत्ति मन से होती है। मन को वश में करना ही भूमि को दखल करना है, उस मन के किंचित् अंश को दबाना सींव (हद, मेड़) दबाना है। यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ० दो० ३८)। 'रमापति'—क्योंकि पूर्व कहा गया कि—"भयेउ रमापति-पद-अनुरागा।" (दो० १२४)। भाव यह कि वे जैसे रमा की रक्षा करते हैं, वैसे भक्त की भी करते हैं। यथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ४६)।

(४) 'सहित सहाय सभीत अति'''—इसने प्रथम सहायकों द्वारा अन्याय किया, फिर स्वयं भी किया, इसलिये सबके सहित डरा और शरणागत हो रहा है। मन, वचन और कर्म से शरण में आया। 'मानि हारि मन' में मन, 'कहि आरत बैन'—में वचन और 'गहेसि ''चरन' में कर्म की शरणागति है।

भयेउ न नारद-मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥१॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई। गयेउ मदन तब सहित सहाई॥२॥
मुनि-सुसीलता आपनि करनी। सुरपति-सभा जाइ सब बरनी॥३॥
सुनि सबके मन अचरज आवा। मुनिहिं प्रसंसि हरिहिं सिर नावा॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी के मन में कुछ भी क्रोध न हुआ, (प्रत्युत) उन्होंने प्रिय वचन कहकर कामदेव को सन्तुष्ट किया॥ १॥ तब मुनि के चरणों में माथा नवाकर और उनकी आज्ञा पाकर कामदेव सहायकों के सहित चला गया॥ २॥ देवराज इन्द्र की सभा में उसने मुनि की सुशीलता और अपनी 'करनी' (करतूत) का वर्णन किया॥ ३॥ सुनकर सबके मन में आश्चर्य हुआ, (इसपर सबने) मुनि की बड़ाई करके भगवान् को शिर नवाया॥ ४॥

विशेष—(१) 'भयेउ न नारद मन'''—रंभा आदि की कलाएँ न व्यापने में काम पर जय हुई थी और यहाँ क्रोध पर हुई। 'प्रिय बचन'—यह कि तुम्हारा दोष नहीं है, तुमने तो इन्द्र की प्रेरणा से ऐसा

किया है, इत्यादि तथा 'प्रिय' जो कामदेव को प्रिय लगे। ऊपर कहा गया कि कामदेव ने मुनि की मन, वचन कर्म से शरणागति की। यहाँ श्रीनारदजी ने भी उसे मन, वचन, कर्म से संतुष्ट किया। यथा—'नारद मन', 'कहि प्रिय वचन' 'परितोपा' (इसमें पीठ पर हाथ फेरना आदि कर्म होंगे ही)।

शंका—मुनि की समाधि का उपराम नहीं कहा गया, फिर ये परितोष आदि कार्य कैसे हुए ?

समाधान—समाधि दो प्रकार की होती है—(१) संप्रज्ञात, जिसमें निर्लिप्त भाव से व्यवहार-दृष्टि रहते हुए भी ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता है। यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर वैदेही। बिनु मन तनु-सुधि-बुधि कहु केही ॥" (अ० दो० २७४)। (२) असंप्रज्ञात, यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं ॥" (कि० दो० १०); इसे जड़ समाधि भी कहते हैं। यहाँ मुनि की समाधि संप्रज्ञात थी। अतः, ऐसा होना युक्त है।

(२) 'नाइ चरन सिर'''—प्रथम अभिमान सहित जीतने के लिये आया था, तब प्रणाम नहीं किया था। फिर हारने पर शरणापन्न होने में प्रणाम किया। अब विदाई का प्रणाम है, यह शिष्टाचार है। 'गयेउ मदन तब सहित सहाई।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम 'सहित सहाइ जाहु मम हेतू' है।

(३) 'मुनि-सुसीलता आपनि '''—यद्यपि पहले इसने 'करनी' ही की थी, तथापि मुनि का सौशील्य इसके हृदय में ऐसा बिध गया है कि प्रथम वही कहा। अपराध पर क्रोध न करना शील है, उसपर प्रिय वचन कहकर परितोष करना सु-शील है, उसका भाव सुशीलता है।

'सब बरनी'—यद्यपि 'करनी' का परिणाम इसकी न्यूनता है, तथापि उसे भी न छिपाया, क्योंकि देवता सत्य-भाषी होते हैं। पुनः मुनि के शील से उनमें प्रीति हो गई, इससे अपनी न्यूनता में उनका प्रभाव होना विचारकर विस्तार से कहा। 'सभा' में कही बात और भी प्रामाणिक होती है।

(४) 'मुनि ''अचरज आवा।' यथा—"नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर-क्रोध-तम-निसि जो जागा ॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥" (कि० दो० २०)। 'हरिहिं सिर नावा'—काम क्रोध से बचना असंभव-सा है, ये भगवान् की ही कृपा से बचे, ऐसे भक्तवत्सल भगवान् को प्रणाम है, इत्यादि से भक्त और उनके प्रभु को धन्य माना।

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं ॥५॥
मारचरित संकरहिं सुनाये। अतिप्रिय जानि महेस सिखाये ॥६॥
बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायेहु मोही ॥७॥
तिमि जनि हरिहिं सुनावेहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुरायेहु तबहूँ ॥८॥

शब्दार्थ—अहमिति (अहं + इति) = अहंकार। मार = काम। दुरायेहु = छिपा लेना, टाल देना।

अर्थ—तब नारदजी शिवजी के पास गये, 'मैंने काम को जीता है'—ऐसा अहंकार मन में है ॥५॥ शिवजी को काम का चरित सुनाया, (इनको) अपना अतिप्रिय जानकर महादेवजी ने सिखाया ॥६॥ कि हे मुनि! मैं बार-बार आपसे विनती करता हूँ कि जैसे यह कथा आपने मुझे सुनाई ॥७॥ वैसे भगवान् को कभी न सुनाना। प्रत्युत प्रसंग (चर्चा) चलने पर भी, छिपाना (प्रकट न करना, किन्तु टाल दे जाना।) ॥८॥

विशेष—(१) 'तब नारद गवने सिव···'—स्वर्ग में तो कामदेव ने कहा ही है। कैलाश में भी जना दें, इस अभिप्राय से चले। शिवजी कामारि हैं तो मैंने भी काम जीता है, अब मैं भी कामारि हो गया, उनके तुल्य हुआ तो चलकर उनसे मिलूँ। इस अभिमान से गये। 'अहमिति'—(मैं ऐसा !) अर्थात् शिवजी को तो काम के जीतने पर क्रोध हो ही गया, तब काम को भस्म किया। मेरी समाधि भी निर्विघ्न निबही, क्रोध भी न हुआ। विष्णु ने भी क्रोध को ही जीता है—भृगु-परीक्षा में, पर काम-जित् नहीं कहे जा सकते। पर मैंने दोनों को जीता तो मेरे बराबर तीनों लोकों में अब कोई नहीं है, ऐसा मन में है।

इन्होंने काम-क्रोध को जीता तो उन्हींका भाई अहंकार दोनों का बदला ले रहा है।

(२) 'मारचरित संकरहिं···'—यहाँ शिवजी को प्रणाम भी न किया, तुरंत मार-चरित सुनाने लगे कि जिससे शिवजी ही मुझे बड़ा जानकर अधिक मानें, क्योंकि इसमें मेरी काम-क्रोध दोनों पर विजय है। जीव भगवान् का शरीर-रूप नियाम्य एवं परतंत्र है, अहंकार होने से उल्टी वृत्ति हो जाती है, यह जनाने के लिये महाकवि ने काम के 'मार' नाम को ही चुना। श्रीनारदजी सदा रामचरित गाते थे, यथा— "गावत रामचरित मृदुबानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥" (आ० दो० ४०); "बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (उ० दो० ४१); इत्यादि। अब वृत्ति उल्टी होने से मार-चरित ही रुचता है। राम का उल्टा 'मार' है। कहा भी है—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम। तुलसी कबहुँ कि होत हैं, रवि रजनी यक ठाम॥" (तुलसीसतसई)।

शंका—काम को शिवजी ने जला डाला, फिर नारदजी के साथ का उसका बर्ताव कैसे हुआ ?

समाधान—यथा—"कलप-भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (दो० ३३)।

(३) 'अति प्रिय जानि महेस···'—श्रीनारदजी परम भागवत एवं श्रीरामनाम के जापक हैं और निष्काम एवं परम विरक्त हैं। शिवजी में भी ये सब गुण हैं, इस सजातित्व से प्रियत्व है। यथा— "नारद जानेउ नाम-प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥" (दो० २५)। शिवजी जानते हैं कि श्रीरामजी को अभिमान नहीं भाता। यथा—"होइहिं कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपा-निधाना॥"।(उ० दो० ९१); वही (गरुड़ की-सी) दशा इनकी न हो। अतः, सिखाया।

(४) 'बिनवउँ मुनि तोही।'—विनय-युक्त वचन श्रोता की धारणा में आता है, इसलिये विनती-पूर्वक कहते हैं। यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५); "बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" (सुं० दो० २१)। अति प्रियत्व से उनके कल्याण के लिये शिवजी विनय भी करते हैं—यद्यपि स्वयं बड़े हैं।

(५) 'चलेहु प्रसंग···' यहाँ तो आपने ही चर्चा छेड़ी, पर वहाँ दूसरा भी छेड़े, तब भी न कहना, छिपा लेना।

दोहा—संभु दीन्ह उपदेस हित, नहिं नारदहिं सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरिइच्छा बलवान॥१२७॥

राम कीन्ह चाहहि सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥१॥
संभुबचन मुनि मन नहिं भाये। तब बिरंचि के लोक सिधाये॥२॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम हो काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र), इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहिं कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि'''—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु को जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना ॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा ॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता ॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा) = एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास = जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा = वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता = रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि गुण गाते हुए ॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं ॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे ॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने'''—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'''" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि'''—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर शयन' ही रहते हैं।

हर्ष का यह भी हेतु कहा जाता है कि हर्ष से एवं उठकर मिलने से उनका और भी बढ़ेगा, तब शिवजी के वचन बिलकुल भूल जायँगे। इससे लीला का अंग बनेगा और हमें कौतुक एवं करने को मिलेगा।

(३) 'बैठे आसन'—भगवान् ने अपने आसन पर बराबर बैठाया, यह अति सत्कार इससे नारदजी का अहंकार और भी बढ़ा कि हम त्रिदेवों से भी अधिक हैं, क्योंकि काम-क्रोध जीता है। इसीसे भगवान् ऐसा मानते हैं, अहंकार में सेवक-धर्म भूल गये, इसीसे स्वामी के और बराबर बैठे। प्रणाम भी न किया, क्योंकि अपनेको उनसे श्रेष्ठ मानते हैं।

बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥६॥
कामचरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥

अर्थ—चराचर के स्वामी भगवान् हँसकर बोले कि हे मुनि ! (इस बार) बहुत दिनों पर की ॥६॥ यद्यपि श्रीशिवजी ने प्रथम ही बरज (मनाकर) रक्खा था, तथापि नारदजी ने कामदेव का चरित कह सुनाया ॥७॥ श्रीरघुनाथजी की माया अत्यंत प्रचंड है, ऐसा कौन जगत् में पैदा हुआ जिसे वह नहीं मोह सकती हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि ···'- हँसकर क्यों बोले ?—(क) आपका स्वभाव है कि प्रसन्नमुख रहते एवं हँसकर बोलते हैं। (ख) हास आपकी माया है, यथा—"माया हास बाहु पाला।" (लं० दो० १४); हँसे कि माया डाली। विश्वामित्र ऐश्वर्य कहने लगे तो आप मुसकुरा तुरत मोहित होकर माधुर्य कहने लगे, देखिये दो० २१५–१६ एवं कौशल्याजी ने ऐश्वर्य कहना किया कि मुसकुरा दिये, बस, माधुर्य माँग लिया, दो० १९१–९२ देखिये। वैसे यहाँ हँसकर बोले मोहित होकर नारदजी भीतर की बातें सब कह दें। (ग) अपनी माया की प्रबलता पर हँसे; यथा "निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥" (दो० ५२); कि इसने सब ज्ञानोपदेष्टा नारदजी को भी ऐसा मोहित किया !

(२) 'बहुते दिनन्ह···'—अर्थात् पहले शीघ्र-शीघ्र आते थे, पर अब की बहुत बेर लगा शिवजी ने कहा था—'चलेहु प्रसंग···', वह प्रसंग चलाना यही है। अब नारद अवश्य ही सब कि ऐसे-ऐसे कारणों से देर हुई।

(३) 'अति प्रचंड रघुपति···' यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि नचावा ॥" (उ० दो० ५१)। यह ब्रह्माजी का वचन है।

(४) 'जेहि न मोह अस को···' यथा—"सुर-नाग लोक महिमंडलहु, को जो मोह कीन्हो जय न कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख राम राजिवनयन ॥" (क० उ० ११०)।

(५) देव-माया चंड, त्रिदेव-माया प्रचंड और रघुपति-माया अति प्रचंड है।

दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम ही काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र); इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहिं कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि'''—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु भी जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना ॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा ॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता ॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा)=एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास=जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा=वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता=रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि-गुण गाते हुए ॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं ॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे ॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने'''—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'''" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि'''—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर सयन' ही रहते हैं।

हर्ष का यह भी हेतु कहा जाता है कि हर्ष से एवं उठकर मिलने से उनका और भी अभिमान बढ़ेगा, तब शिवजी के वचन बिलकुल भूल जायँगे। इससे लीला का अंग बनेगा और हमें कौतुक देखने एवं करने को मिलेगा।

(३) 'बैठे आसन'—भगवान् ने अपने आसन पर बराबर बैठाया, यह अति सत्कार किया। इससे नारदजी का अहंकार और भी बढ़ा कि हम त्रिदेवों से भी अधिक हैं, क्योंकि काम-क्रोध दोनो को जीता है। इसीसे भगवान् ऐसा मानते हैं, अहंकार में सेवक-धर्म भूल गये, इसीसे स्वामी के आसन पर और बराबर बैठे। प्रणाम भी न किया, क्योंकि अपनेको उनसे श्रेष्ठ मानते हैं।

बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥६॥
कामचरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥

अर्थ—चराचर के स्वामी भगवान् हँसकर बोले कि हे मुनि! (इस बार) बहुत दिनों पर कृपा की ॥६॥ यद्यपि श्रीशिवजी ने प्रथम ही बरज (मनाकर) रक्खा था, तथापि नारदजी ने कामदेव का सारा चरित कह सुनाया ॥७॥ श्रीरघुनाथजी की माया अत्यंत प्रचंड है, ऐसा कौन जगत् में पैदा हुआ है, जिसे वह नहीं मोह सकती हो? ॥८॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि'—हँसकर क्यों बोले?—(क) आपका स्वभाव है कि सदा प्रसन्नमुख रहते एवं हँसकर बोलते हैं। (ख) हास आपकी माया है, यथा—"माया हास बाहु दिग-पाला।" (लं० दो० १४); हँसे कि माया डाली। विश्वामित्र ऐश्वर्य कहने लगे तो आप मुसकुरा दिये, तुरत मोहित होकर माधुर्य कहने लगे, देखिये दो० २१५-१६ एवं कौशल्याजी ने ऐश्वर्य कहना प्रारम्भ किया कि मुसकुरा दिये, बस, माधुर्य माँग लिया, दो० १९१-९२ देखिये। वैसे यहाँ हँसकर बोले कि मोहित होकर नारदजी भीतर की बातें सब कह दें। (ग) अपनी माया की प्रबलता पर हँसे; यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥" (दो० ५२); कि इसने सब के ज्ञानोपदेष्टा नारदजी को भी ऐसा मोहित किया!

(२) 'बहुते दिनन्ह···'—अर्थात् पहले शीघ्र-शीघ्र आते थे, पर अब की बहुत देर लगा दी। शिवजी ने कहा था—'चलेहु प्रसंग···', वह प्रसंग चलाना यही है। अब नारद अवश्य ही सब कहेंगे कि ऐसे-ऐसे कारणों से देर हुई।

(३) 'अति प्रचंड रघुपति···' यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥" (उ० दो० ५९)। यह ब्रह्माजी का वचन है।

(४) 'जेहि न मोह अस को···' यथा—"सुर-नाग लोक महिमंडलहु, को जो मोह कीन्हो जय न? कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख राम राजिवनयन॥" (क० उ० ११०)।

(५) देव-माया चंड, त्रिदेव-माया प्रचंड और रघुपति-माया अति प्रचंड है।

दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम ही काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र); इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहि कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि···'—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु भी जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा) = एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास = जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा = वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता = रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि-गुण गाते हुए॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने···'—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः···" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि···'—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर सयन' ही रहते हैं।

सकल सोकदायक अभिमाना ॥ तातें करहिं कृपानिधि दूरी ।"···से—"तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।" (उ० दो० ७४) तक। यह अहंकार भारी वृक्ष है, पर अभी-अभी अंकुरित हुआ है। अतः, उखाड़ डालना सुगम है, इसीसे कहते हैं—

(२) 'बेगि सो मैं ···'—शीघ्र ही उखाड़ डालने में थोड़े ही कष्ट से भयंकर बाधा से मुनि बच जायँगे। यदि यह संदेह हो कि ये भी पराई वृद्धि नहीं देख सकते, इसलिये आगे कहते हैं,—'प्रन हमार सेवक हितकारी' है। अतः, करुणावश ऐसा करते हैं, ईर्ष्या से नहीं।

(३) 'मुनि कर हित मम कौतुक···'—मुनि का हित होगा, संसृति से बचेंगे, साथ ही हमारा कौतुक होगा, क्योंकि मुनि शाप देंगे, उसी को निमित्त बनाकर हम कौतुक करेंगे। यथा—"लगे करन सिसु-कौतुक तेई।" (उ० दो० ८७)। पूर्व कहा गया था—"भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो० १२७); उसका भाव यहाँ खुला कि कौतुक भगवान् का है—नारद का नहीं। इस कौतुक का आरंभ यहाँ से हो रहा है। इसीलिये अपनी माया को प्रेरित करेंगे—

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥८॥

दोहा—बिरचेउ मग महँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार।
श्री-निवास-पुर ते अधिक, रचना बिबिध प्रकार ॥१२९॥

शब्दार्थ—प्रेरी=नियुक्त किया। जोजन (योजन)=४ कोस। श्री-निवास-पुर=वैकुंठ या क्षीरसिंधु।

अर्थ—तब नारदजी भगवान् के चरणों में शिर नवाकर चले, उनके हृदय में अहंकार और अधिक हो रहा है ॥७॥ लक्ष्मीपति भगवान् ने तब अपनी माया को प्रेरित किया, उसकी कठिन करतूत सुनो ॥८॥ उसने रास्ते में चार सौ कोसों के लंबे-चौड़े नगर की विशेष रचना की, जिसकी अनेक प्रकार की रचनाएँ (बनावटें) वैकुंठलोक से भी अधिक थीं ॥१२९॥

विशेष—(१) 'हरि-पद सिरनाई।'—शिवजी ने इनका सत्कार विशेष नहीं किया, प्रत्युत शिक्षा देने लगे थे। यहाँ भगवान् उठकर मिले और बराबर बैठाया, यह विशेष आदर हुआ, यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई॥" (अ० दो० ६०)। इसी से चलते समय यहाँ प्रणाम किया, यह भी अहंकार से है अथवा यही प्रणाम आगे के कल्याण का कारण भी है, यथा—"मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल के खनै।" (गी० सु० ४०) तथा—"त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलिः। तथैवमुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" (आलवन्दार स्तोत्र)।

(२) 'चले हृदय अहमिति···'—प्रथम चले थे, तब कहा था—"जिता काम अहमिति मनमाहीं।" और अब यहाँ—'चले···' से अधिकता कहते हैं, क्योंकि प्रथम अहंकार का बीजमात्र पड़ा था, शिवजी के मना करने से दबा पड़ा था। यहाँ भगवान ने उन्हीं बातों की प्रशंसा की, और आदर किया। इससे अंकुर प्रकट होकर बढ़ चला। मन में सोचते हैं कि ठीक शिवजी ने स्पर्द्धा से ही रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न ही हुए।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥१॥
ब्रह्मचर्ज-ब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीभगवान् रूखा (-उदासीन) मुख करके कोमल वचन बोले कि आपका स्मरण करने से (औरों के) मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं, (तो ये कामादि आपको कैसे व्याप सकते हैं ?) ॥१२८॥ हे मुनि ! सुनिये, मोह तो उसके मन में होता है जिसके हृदय में ज्ञान-विराग नहीं रहते ॥१॥ आप तो ब्रह्मचर्यव्रत में तत्पर रहते हैं और धीरबुद्धि हैं, (तो भला) आपको कामदेव कैसे पीड़ित कर सकता है ? ॥२॥

विशेष—(१) 'रूख बदन करि'''—प्रथम भगवान् ने स्नेह का वर्ताव किया था, जिससे मुनि का अहंकार बढ़ता गया। स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। चिकनी वस्तु राख-बेसन आदि रूखी वस्तुओं से मिटती है। वैसे नारद के हित करने को किंचित् काल के लिये भगवान् स्नेह हटाकर रूखे बन रहे हैं। यथा—"जिमि सिसु-तनु ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥" (उ० दो० ७४)। रूखे वदन से सूचित कर दिया कि यह बात हमें प्रिय नहीं लगी। 'बचन मृदु'—आप सदा मृदु वचन ही बोलते हैं, पर आज तो यह भी ध्यान है कि नारद को इस व्यंग्य वचन से दुःख न हो। 'श्रीभगवान'—नारदजी का मन इस प्रकार मोहित होने योग्य न था, पर आप श्रीभगवान् हैं। जैसा चाहें—करें। इन्हें कौतुक का साज सजाना है।

(२) 'ज्ञान बिराग हृदय'''—ज्ञान राजा और वैराग्य उसका मंत्री है। यथा—"सचिव बिराग बिवेक नरेसू।" (अ० दो० २३७); इसका विरोधी मोह राजा है, अहंकार भाई और कामादि सुभट हैं। यथा—"मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार ''" (वि०५८)। दो विरोधी राजा साथ नहीं रह सकते। व्यंग्य का आशय यह है कि आपके हृदय में अब मोह आया है। अतः, विवेक गया।

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब-तरु भारी ॥४॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक-हितकारी ॥५॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई ॥६॥

अर्थ—नारदजी ने अभिमान के साथ कहा कि हे भगवान्! यह सब आपकी कृपा है ॥३॥ करुणानिधान भगवान् ने मन में विचार कर देखा कि इनके हृदय में गर्व-रूपी भारी वृक्ष का अंकुर जमा है ॥४॥ उसे मैं शीघ्र ही उखाड़ डालूँगा क्योंकि मेरा प्रण सेवक के हित करने का है ॥५॥ अवश्य मैं वही उपाय करूँगा, जिससे मुनि का हित और मेरा खेल होगा ॥६॥

विशेष—(१) 'करुनानिधि मन'''— सेवक का दुःख देखकर स्वामी का विकल हो जाना एवं उसके दुःख का नाश करके सुख सजना, यह करुणा गुण है। यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई ॥" (अ० दो० ८५)। इसी करुणा में आविष्ट होकर आप नारदजी का हित विचार रहे हैं। श्रीनारदजी को इस समय अहंकार हो गया है, यह भव का मूल है। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतिमूल सूलप्रद नाना।

'सीलनिधि'—शील गुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक मोहक है, यह उसका खजाना ही है।

(२) 'सत सुरेस सम ······'—प्रथम इन्हें एक इन्द्र का वैभव नहीं मोह सका, इसलिये यहाँ सैकड़ों गुणा अधिक रचा गया। 'सत' शब्द यहाँ अनंतवाची है, क्योंकि पूर्व वैकुंठ से अधिक रचना कही जा चुकी है। भोग-विलास में इन्द्र प्रधान है। यथा—"भोगेन मघवानिव।" (वा० मूलरामायण) एवं—"सुना-सीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १२); इसलिये इन्द्र की उपमा दी गई।

(३) 'बिस्वमोहिनी तासु···'—इतना रचने पर भी संदेह है कि मोहित हों या नहीं, इसलिये माया स्वयं मोहिनी-रूप धरकर राजकुमारी बनी। पूर्व रंभा आदि के गुणों से मोहित नहीं हुए थे; अतः, यह विलक्षण गुणों की खान भी बनी। रूप में श्रीजी को नीचा दिखानेवाली है और इसमें गुण ऐसे हैं कि जो इसे वरे, वह अमर, शत्रुजित् एवं चराचर-सेव्य हो, यह आगे कहा जायगा।

(४) 'सोइ हरि-माया······'—हरि की माया है, इसीसे अंत में इसने हरि ही को ब्याहा।

(५) 'सोभा तासु कि जाइ·······'—यह विद्यामाया है। यथा—"हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥" (उ० दो० ७८); पुनः 'गुनखानी' एवं 'प्रेरी' से भी स्पष्ट है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); अतः, निःसीम गुणों एवं अतुलित शोभा के कारण अकथ्य है।

करइ स्वयंबर सो नृपबाला। आये तहँ अगनित महिपाला॥६॥
सुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ। पुरबासिन्ह सब पूछत भयेऊ॥७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आये। करि पूजा नृप मुनि बैठाये॥८॥

दोहा—आनि देखाई नारदहिं, भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब, येहि के हृदय बिचारि॥१३०॥

अर्थ—वही नृप-बाला (राजकुमारी) अपना स्वयंवर कर रही है, (इसीसे) असंख्य राजा वहाँ आये हैं॥६॥ कौतुक-प्रिय मुनि उस कौतुकी नगर में गये और पुरवासियों से सब हाल पूछे॥७॥ (नारदजी) सब समाचार सुनकर राजमहल में आये। राजा ने पूजा करके मुनि को बैठाया॥८॥ राजा ने राजकुमारी को लाकर नारदजी को दिखाया (और कहा) कि हे नाथ! इसके सम्पूर्ण गुण-दोषों को हृदय में विचारकर कहिये॥१३०॥

विशेष—(१) 'मुनि कौतुकी ·· ··'—भाँति-भाँति के खेलों एवं विनोद में दिल बहलाने का इनका स्वभाव है। स्वयंवर के लिये आये हुए राजा लोग पुर के बाहर जहाँ-तहाँ छावनियाँ डाले पड़े हैं। यथा—"पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ-तहँ बिपुल महीपा॥" (दो० २१४); ये ही सब देखकर पुरजनों से पूछा कि यह कैसी भीड़ है? इत्यादि।

(२) 'करइ स्वयंबर····· '—यह धर्म-रीति का विवाह है, इससे रचा। माया ने सोचा कि मुनि और प्रकार से अधर्म मानकर मुझे ग्रहण न करेंगे। यदि दूसरे की विवाहिता जानेंगे, तब भी इधर न ताकेंगे। स्वयंवर के लिये रूप की आवश्यकता होगी, हरि से माँगेंगे, इत्यादि।

(३) 'श्रीपति निजमाया'''—यहाँ 'श्रीपति' विशेषण के साथ निज माया कहने से श्री से भिन्न 'निज माया' को प्रकट किया। यथा—"नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।" (दो० १३७)।

श्रीनारदजी पर इन्द्र की माया नहीं लगी थी, क्योंकि हरि-भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती। यथा—"विधि-हरि-हर-माया बड़ि भारी। सोउ न भरत-मति सकइ निहारी ॥" (अ० दो० २९५); किसी वैदिक विधि की स्थापना एवं अपनी लीला-विधि के लिये श्रीरामजी अपने भक्तों पर अपनी ही माया को प्रेरित करते हैं। यथा—"बहुरि राममायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा ॥" (दो० ५५)। इसका प्रमाण भी पूर्व दो० १२७ के वि० १ में दिया गया है।

'कठिन करनी'—क्योंकि इससे उस काल में नारदजी बड़ा दुःख समझेंगे। यथा—"देइहउँ साप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई ॥" (दो० १३५) और "संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (अ० दो० ९४) अर्थात् मरने से भी अधिक दुःख मानेंगे।

(४) 'बिरचेउ मग महँ''''''' चार सौ कोसों का विस्तार इसलिये रचा कि प्रायः विरक्त संत प्रसाद पाने (भोजन करने) पर बस्ती से अलग होकर जाते हैं, इसलिये इतना बड़ा रचा कि कहाँ तक दूर से होकर जायँगे ? 'श्रीनिवास''''''' जहाँ साक्षात् श्रीजी ही निवास करती हैं, वहाँ की शोभा का क्या कहना ? क्योंकि श्रीजी की कृपा-दृष्टि मात्र से लोकपालों का ऐश्वर्य होता है। वैकुंठ से अधिक रचा, क्योंकि वैकुंठ में श्रीनारदजी बराबर जाया ही करते हैं, कभी मोहित नहीं होते हैं, अतः, उससे अधिक चाहिये।

श्रीनारदजी वन, काम, कोकिल आदि की शोभा पर मोहित नहीं हुए थे, इसलिये अब की इतना ऐश्वर्य भर दिया कि नगर देखकर मोहेंगे। यथा—"नारदादि''''''देखि नगर बिराग बिसरावहिं।" (उ० दो० २९)। किसी-किसी का अनुमान है कि यह नगर जम्बू द्वीप ही में रचा गया, जब मुनि क्षीरसागर से जम्बूद्वीप को आये। कोई-कोई कहते हैं, कि यह स्थान आजकल काश्मीर में है। शीलनिधि की राजधानी 'श्रीनगर' में थी।

बसहिं नगर सुंदर नर-नारी। जनु बहु मनसिज-रति तनुधारी ॥१॥
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा ॥२॥
सत सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति-निवासा ॥३॥
बिस्वमोहिनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु रूप निहारी ॥४॥
सोइ हरि-माया सब-गुन-खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी ॥५॥

अर्थ—उस रमणीक नगर में सुन्दर स्त्री-पुरुष बसते हैं, मानों बहुत-से काम और रति ही शरीर धारण किये हुए हों ॥१॥ उस पुर में शीलनिधि नामक राजा रहता है। उसके अनगिनत घोड़े, हाथी, सेना और समाज हैं ॥२॥ उसका वैभव-विलास सौ इन्द्रों के बराबर था, वह (स्वयं) रूप, तेज, बल और नीति का स्थान ही था ॥३॥ उसकी कुमारी (लड़की) विश्वमोहिनी (नाम की) थी, जिसका रूप देखकर लक्ष्मीजी भी मोहित हो जायँ ॥४॥ वही सब गुणों की खान हरि-माया थी, उसकी शोभा क्या कही जा सकती थी ? ॥५॥

विशेष—(१) 'बसहिं नगर'''''''—इसमें 'सुंदर' शब्द दीपदेहली है। पूर्व नारद को एक काम नहीं मोह सका था, अब माया-नगर में काम ही-काम सशक्ति बसाये गये, पर नारदजी इनपर न मोहेंगे, यह उनके वैराग्य की महिमा है। प्रजा से अधिक रूप-गुण राजा में हैं। अतः, आगे कहते हैं—

(४) 'हर राखे'—अमरत्व, अजितत्व और ब्रह्मांड-सेव्यत्व इन तीनो बातों को हृदय में ही रक्खा कि दूसरा कोई न जानने पावे।

(५) 'सोच मन माहीं'—शोच कन्या के प्राप्त करने के लिये है। यथा—"एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥" (अ० दो० १५२)।

करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥७॥
जप तप कछु न होइ येहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥८॥

दोहा—येहि अवसर चाहिय परम, सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझइ कुँअरि, तब मेलइ जयमाल॥१३१॥

हरि सन माँगउँ सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति भाई॥१॥
मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। येहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥२॥

अर्थ—जाकर वही उपाय विचार कर करूँ, जिससे वह कन्या मुझे ब्याहे॥७॥ जप, तप—कुछ उस (स्वयंवर के) समय नहीं हो सकता (समय नहीं है और चित्त भी चंचल है)। हे विधाता! किस प्रकार (वह) कन्या मिले॥८॥ इस समय परम शोभा और विशाल रूप चाहिये, जिसे देखकर राजकुमारी रीझ जाय, तब वह जयमाल पहनावेगी॥१३१॥ (हाँ, एक बात हो सकती है, कि) हरि (भगवान्) से सुन्दरता माँगूँ, परन्तु अरे भाई! मुझे वहाँ जाने में भी तो देर लगेगी॥१॥ हरि के समान मेरा कोई भी हितू नहीं है। वे ही इस अवसर पर सहायक हों॥२॥

विशेष—(१) 'करउँ जाइ सोइ····' पूर्व में कह आये—'जो येहि बरइ' अर्थात् बलपूर्वक ब्याहे। अथवा 'बरइ कन्या जाही' अर्थात् रूपवान् हो। बल और रूप—दो तरह से कन्या मिल सकती है, पर ये दोनो ही मुझमें नहीं हैं, अतएव विचारकर यत्न करूँ।

(२) 'जप तप कछु न ···'—अब स्वयंवर उपस्थित है, उक्त दो उपायों के लिये यदि जप-तप करूँ तो समय नहीं है, स्वयंवर में उस समय सब के बीच में यह कैसे होगा? अतः, हे विधि! आप ही कोई विधान बताइये, क्योंकि आप सब के विधाता हैं।

(३) 'येहि अवसर चाहिय····'—विधि ने सुन लिया, उपाय सुझा दिया कि विशाल रूप हो और उसमें परम शोभा हो। बस, इसी पर रीझेगी। रूप=शरीर का चढ़ाव-उतार, यथायोग्य गढ़न। शोभा= सुन्दरता। स्वयंवर में जो राजा आये हैं, उनमें रूप और शोभा है और मुझमें परम शोभा एवं विशाल रूप होना चाहिये। तभी तो वह सब को छोड़ मुझे ब्याहेगी। 'मेलइ जयमाल' अर्थात् जयमाल-स्वयंवर है।

(४) 'हरि सन माँगउँ····'—नारदजी साधु हैं, इससे बल की कामना न की, क्योंकि लड़कर लेना इन्हें अभीष्ट नहीं है। रूप देखने से मोहित होकर मिल जाय, यही उपाय चित्त में आया।

(५) 'होइहि जात गहरु····' 'भाई'! मन के प्रति संबोधन है। 'जाने में देर होगी'—इसपर शंका हो सकती है कि ये तो अव्याहत गति हैं। यथा—"गति सर्वत्र तुम्हारि" (दो० ६६)। तुरंत सर्वत्र जा सकते हैं। पुनः योगबल से तुरंत जा सकते थे। इसका समाधान यह है कि मुनि मायावश हैं। यथा—

(३) 'आनि देखाई नारदहिं······'—माया ने प्रथम नगर, पुरवासी, तब राजा को रचा और फिर स्वयं राजकुमारी बनी, उसी क्रम से नारदजी का देखना भी है।

(४) राजा ने हिमालय की भाँति कन्या से प्रणाम नहीं कराया और न कन्या ने ही किया, क्योंकि इस कन्या के द्वारा मुनि की दुर्दशा होनी है। जिसे प्रणाम करे, फिर उसकी दुर्दशा करना योग्य नहीं।

(५) पार्वतीजी के हाथ देखने के प्रसंग में—"कहहु सुता के दोष-गुन" (दो० ६६) कहा गया है और यहाँ 'गुन-दोष' कहा गया है। इसका भाव यह कि वहाँ जो प्रथम दोष कहे गये, वे गुण ही हुए। यथा—"दोषउ गुन सम कह सब कोई।" (दो० ६८); और इस माया में अभी जो नारदजी गुण समझेंगे, वे दोष ही होंगे। इसलिये प्रथम गुण कहकर फिर दोष कहे गये। यथा—"सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखियहि, देखिय सो अबिबेक॥" (उ० दो० ४१)।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥१॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदय हरष नहिं प्रगट बखाने॥२॥
जो येहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई॥३॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥४॥
लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥५॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥६॥

अर्थ—(राजकुमारी के) रूप को देखकर मुनि अपना वैराग्य भूल गये। उसे बड़ी देर तक देखते ही रह गये॥१॥ उसके लक्षण देखकर भ्रम में पड़ गये। हृदय में हर्ष हुआ, प्रकट में नहीं कहा॥२॥ (हृदय में विचारते हैं कि) जो इसे ब्याहेगा, वह अमर हो जायगा, उसे रणभूमि में कोई जीत न सकेगा॥३॥ जिसे शीलनिधि की लड़की ब्याहेगी, सब चर-अचर जीव उसकी सेवा करेंगे। ॥४॥ सब लक्षण विचार कर हृदय में रख लिये, और कुछ और ही बनाकर राजा से कहा॥५॥ "लड़की सुलक्षणा है"—राजा से ऐसा कहकर नारदजी चल दिये, उनके मन में शोच है॥६॥

विशेष—(१) 'देखि रूप मुनि बिरति······'—मुनि कन्या का हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे, दृष्टि उसके रूप पर लग गई। राजा ने समझा कि मुनि विचार रहे हैं, पर मुनि का मन रूप में आसक्त हो गया। अतः, विराग चला गया।

(२) 'लच्छन तासु बिलोकि···'—यहाँ बुद्धि से लक्षणों का विपरीत अर्थ समझा। इसमें ज्ञान भी चला गया। मोह हृदय में छा गया। भगवान् ने कहा था—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥" (दो० १२८)। वह चरितार्थ हुआ, प्रथम वैराग्य गया, तब ज्ञान, क्योंकि ज्ञान का कारण वैराग्य है। यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। अतः, प्रथम कारण गया, तब कार्य का जाना योग्य ही है।

(३) 'जो येहि बरइ ···'—इसका यथार्थ अर्थ तो यह था कि जो इसे ब्याहेगा, वह अमर है, अजित है और चराचरसेव्य है। पर मुनि उलटा ही समझ गये कि जो इससे ब्याहा जायगा—जिसे शीलनिधि की कन्या ब्याहेगी, उसमें उक्त तीनों गुण आ जायँगे। यही भुलाना है।

(५) 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।'—यह अर्द्धाली भगवान् की इच्छा के अनुकूल उनकी ही प्रेरणा से कही गई। यथा—"प्रन हमार सेवक हितकारी।" (दो० १२८), नहीं तो नारदजी का काम इसके बिना भी चल गया था। अब तो दास का हित जिसमें होगा, वही प्रभु करेंगे। 'बेगि' नारदजी अति आतुर हैं, इसलिये 'बेगि' चाहते हैं, आगे इस प्रकरण में सर्वत्र शीघ्रता ही रहेगी।

निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥८॥

दोहा—जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥१३२॥

कुपथ माँग रुजब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥१॥
येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयेऊ ॥२॥

शब्दार्थ—कुपथ = कुपथ्य। रुज = रोग। ठयऊ (ठानेऊ) = ठाना है। अंतरहित = अंतर्द्धान।

अर्थ—अपनी माया का बहुत बड़ा बल देख मन में हँसकर दीनदयालु भगवान् बोले ॥८॥ हे नारद ! सुनो, जिस प्रकार तुम्हारा अत्यंत भला होगा, वही मैं करूँगा और कुछ नहीं, यह मेरा वचन झूठा नहीं होगा ॥१३२॥ हे योगी मुनि ! सुनो, जैसे रोग से व्याकुल रोगी कुपथ्य माँगे तो वैद्य उसे नहीं देता ॥१॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित ठाना है, ऐसा कहकर प्रभु अंतर्द्धान हो गये ॥२॥

विशेष—(१) 'निज मायाबल···'—माया जब कोई भारी कौतुक दिखाती है तब उसकी बड़ाई करते हैं। यथा—"निज माया बल हृदय बखानी।" (दो० ५२)। इसने कामजित् नारद को निर्लज्ज बना दिया। पूर्व कहा था—"सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।" (दो० १२८), उसी को यहाँ 'बल बिसाला' से कहा। 'हिय हँसि'—क्योंकि प्रकट हँसने से नारदजी को दुःख होगा और लीला में बाधा होगी।

(२) 'जेहि बिधि होइहि ..'—नारद ने कहा—'हित मोरा होइ', उसपर भगवान् कहते हैं कि हित ही नहीं, किन्तु मैं तुम्हारा परम हित करूँगा। इस विवाह से नारद का अहित है, इसलिये न होने देंगे, इसे आ० दो० ४२—४४ में भगवान् ने विस्तार से कहा है। वहाँ की दृष्टि से इस चरित्र में क्षणिक निष्ठुरता तो भगवान् में आती है, पर परिणाम की दृष्टि से इसमें परम दया है। इसलिये यहाँ 'कृपाला', 'दीनदयाला' आदि विशेषण बार-बार कहे गये हैं।

(३) 'कुपथ माँग रुज...'—मुनि एवं योगी के लिये स्त्री कुपथ्य है। काम-वासना की प्रबलता रोग की व्याकुलता है। हम वैद्य रूप हैं, कुपथ्य न देंगे। यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम आपने ही योग की समाधि में इसे कुपथ्य मानकर त्यागा था और क्रोध जीतकर मुनिपना निबाहा था।

(४) 'अंतरहित प्रभु भयेऊ'—मुनि शीघ्र शीघ्र सब काम चाहते हैं, इसलिये तुरत अंतर्द्धान हो गये वा यह इसलिये भी कि लीला के लिये इतना ही ठीक है, मुनि और न कुछ कहने पावें।

मायाबिबस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा ॥३॥
गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबरभूमि बनाई ॥४॥

"मायाविवस भये मुनि मूढ़ा।" (दो॰ १३२)। इससे मन की अव्याहत गति भूले हुए हैं और चित्त चंचल होने से योग में भी विलंब ही होगा।

(६) 'मोरे हित हरि सम नहिं'''—श्रीनारदजी हरि के अनन्य हैं और हरि के समान उनका अपना हितू दूसरा नहीं है। रूप भी हरि के तुल्य सुंदर और किसी का नहीं है। समय पड़ने पर सच्चा हितैषी ही सहायक होता है। हरि ही सबके सच्चे हितू हैं। यथा—"तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिये कि आँखिन हेर।" (वि॰ १९०)।

भक्त कारणवश अर्थार्थी भी होते हैं तो अपने प्रभु ही से माँगते हैं, यह शिक्षा भी है।

बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥३॥
प्रभु बिलोकि मुनिनयन जुड़ाने। होइहि काज हिये हरषाने ॥४॥
अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई ॥५॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावउँ ओही ॥६॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥७॥

अर्थ—उस समय नारदजी ने बहुत प्रकार से विनती की, तब कौतुकी कृपालु प्रभु प्रकट हुए ॥३॥ प्रभु को देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हुए और वे हृदय में हर्षित हुए कि कार्य होगा ॥४॥ बहुत आर्त्त (कातर) होकर उन्होंने सारी कथा कह सुनाई और प्रार्थना की कि कृपा कीजिये, कृपा करके सहायक बनिये ॥५॥ हे प्रभो! मुझे अपना रूप दीजिये, क्योंकि अन्य प्रकार से उसे न पाऊँगा ॥६॥ हे नाथ! जिस प्रकार मेरा हित हो, वह (विधि) शीघ्र कीजिये, मैं आपका दास हूँ ॥७॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि बिनय'''—'तेहि काला' दीप देहली है। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तभी तो सर्वत्र पहुँच जाते हैं एवं प्रकट हो सकते हैं। पूर्व कहा था कि—"मुनिकर हित मम कौतुक होई।" इससे 'कौतुकी' और मुनि का हित चाहते हैं, इससे 'कृपाला' कहा।

(२) 'प्रभु बिलोकि मुनि'''—प्रभु का रूप देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हुए। अतः, समझा कि यही रूप यदि मुझे मिलेगा, तो इसे देखकर राजकुमारी के नेत्र भी ठंढे हो जायँगे और वह मुझे ही जयमाला पहनावेगी, इसी से हर्ष हुआ। 'काज' बुँदेलखंड एवं रीवाँ आदि प्रदेशों में विवाह के अर्थ में कहा जाता है। अतः, विवाह होगा, ऐसा समझकर हर्ष हुआ।

(३) 'अति आरति कहि'''—प्रथम मुनि ने भगवान् से काम-क्रोध का जीतना कहा था, उन्हीं से अब स्त्री के लिये पूर्ण कामी की तरह प्रार्थना कर रहे हैं, लज्जा नहीं लगती, क्योंकि इस समय अत्यन्त आर्त्त हैं। यथा—"अति आरत अति स्वारथी'''बोलहिं न बिचारी।" (वि॰ ३४); तथा—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ॰ दो॰ २९८)।

(४) 'पावउँ ओही'—प्रथम विश्वमोहिनी को बाला, कुमारी, कन्या आदि संज्ञा से कहते थे, भगवान् के प्रकट होने से पूर्ण विश्वास हो गया कि वह मेरी दुलहिन हो चुकी, संदेह नहीं। अपनी दुलहिन का नाम नहीं लिया जाता। वह 'ओही' संज्ञा से कही जाती है, वैसे कहते हैं। यहाँ स्त्री के लिये आर्त्त होने में काम से और 'पावउँ ओही' में लोभ से पराजय हुई, आगे क्रोध से भी होगी।

(२) 'रहे तहाँ दुइ'''—रुद्र-गण को भी लीला में सम्मिलित करना है, ये इसलिये वे भेद समझ सके। 'परम कौतुकी'—नारदजी कौतुकी हैं। यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ।" (दो० १२१); ये उनका भी कौतुक देखते हैं। अतः, परम कौतुकी हैं।

जान पड़ता है कि जब नारदजी कैलाश से चले, इनका रुख देखकर ये दोनों कौतुकार्थ, अलक्ष्य रूप से साथ हो लिये कि देखें, ये क्या क्या करते हैं? शिवजी से आज्ञा नहीं ली थी।

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप-अहमिति अधिकाई ॥१॥
तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखइ न कोऊ ॥२॥
करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥३॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥४॥

अर्थ—जिस समाज में आकर मुनि बैठे थे और उनके हृदय मे अपने रूप का बड़ा अभिमान था ।।१।। वहीं पर शिवजी के दोनो गण ब्राह्मण-वेष में बैठे थे, उनकी गति (चाल—माया) कोई जान नहीं सकता था ।।२।। वे नारदजी को सुना-सुनाकर कूट (व्यंग्य) वचन कहते थे—"हरि ने अच्छी सुन्दरता दी है ।।३।। इनकी छवि देखकर राजकुमारी रीझ ही जायगी, इन्हें विशेषकर 'हरि' जानकर 'वरेगी'।" ।।४।।

विशेष—(१) 'जेहि समाज बैठे'''तहँ बैठे '''—यहाँ 'जेहि समाज' के साथ 'तहँ' का अर्थ 'तेहि समाज' है अर्थात् ये दोनो नारदजी के समाज मे मिल गये कि जिससे लोग उन्हें नारद के शिष्य एवं साथी जान रंगभूमि में बैठने दें, तब कौतुक देखने को मिले। और, इसीलिये विप्र-वेष भी बना रक्खा है। साथ बैठे रहने से कूट करने का भी अच्छा अवसर मिला।

(२) 'करहिं कूट नारदहिं'''—नारदजी के समझनेवाले अर्थ ऊपर हैं। उनमें 'हरि' का अर्थ 'नारायण' और 'बरिहि' का ब्याहेगी—है। पर वे कूट कर रहे हैं—एक कहता है कि हरि ने इन्हें अच्छे प्रकार से बंदर का रूप दिया है। तब दूसरा कहता है कि जी हाँ इनकी ऐसी छवि है कि राजकुमारी रीझ ही तो उठेगी—भाव खीझ उठेगी-कुढ़ेगी। इन्हें बन्दर जानकर विशेष जल उठेगी। हरि का अर्थ 'नारायण और 'बंदर' एवं 'बरिहि' का 'ब्याहेगी' और 'जलेगी' है।

मुनिहि मोह मन हाथ पराये। हँसहि संभुगन अति सचु पाये ॥५॥
जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम-सानी ॥६॥
काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृपकन्या देखा ॥७॥
मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥८॥

शब्दार्थ—सचु = आनन्द, यथा—"बिनोद सुनि सचु पावहीं।" (दो० ११)। अटपटि = उल्टे-सीधे। देही = शरीरवाला वा देह = शरीर, यथा—"चौंचन मारि बिदारेसि देही।" (आ० दो० २८)।

अर्थ—मुनि को मोह है, उनका मन दूसरे (विश्वमोहिनी) के हाथ मे है, शिवजी के गण बहुत ही प्रसन्न होकर हँस रहे हैं ।।५।। (हँसना गुप्त रूप से है कि नारद के अतिरिक्त और कोई न जाने) यद्यपि मुनि

निज-निज आसन बैठे राजा। बहु-बनाव करि सहित समाजा ॥५॥
मुनिमन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥६॥

अर्थ—माया के विशेष वश होने से मुनि मूढ़ हो गये, इससे वे भगवान् की 'निगूढ़' (जो गूढ़ नहीं=स्पष्ट) वाणी को (भी) नहीं समझ सके ॥३॥ ऋषिराज नारदजी तुरन्त ही वहाँ गये, जहाँ स्वयंवर की (रंग) भूमि बनाई गई थी ॥४॥ राजा लोग बहुत बनाव (शृंगार) किये हुए समाज के सहित अपने-अपने आसन पर बैठे हुए हैं ॥५॥ मुनि के मन में हर्ष है कि रूप तो मेरा ही अत्यन्त अधिक है। अतः, मुझे छोड़कर (वह कन्या) दूसरे को भूल से भी न वरण करेगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माया-बिबस'''—माया के वश तो संसार ही है, पर मुनि विशेष वश हुए हैं, क्योंकि माया ने देखा कि भगवान् भक्त से यथार्थ ही कहेंगे। यदि नारद विशेष मूढ़ न हो जायँगे तो उनके समझ लेने पर मेरा सारा उपाय ही व्यर्थ जायगा, अतः, नारद को यही समझ पड़ता है कि मेरा परम हित विश्वमोहनी के ब्याह में ही है, यही भगवान् कह रहे हैं।

(२) 'गवने तुरत तहाँ '''—प्रभु के अंतर्द्धान होते ही नारद का विष्णु-रूप हो गया, ऐसा देखकर वे तुरन्त रंगभूमि ही को गये, ऐसा जान पड़ता है। 'रिषिराई'—नारदजी व्यास-वाल्मीकि आदि के गुरु हैं। माया ने इनकी भी यह दशा की, फिर और किस गिनती में है? नारदजी भरद्वाजजी के दादा गुरु और गरुड़जी के उपदेष्टा हैं। अतः, इनके वक्ता लोग भी इन्हें लक्ष्य कराते हैं कि देखो।

(३) 'मुनि-मन हरष रूप'''—श्रीनारदजी ने औरों की अपेक्षा अपना अति (अधिक) रूप देखा, इससे मन में हर्ष है कि रूप तो सब को है, पर मुझको 'अति' है।

मुनिहित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥७॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहिं सिर नावा ॥८॥

दोहा—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन, ते जानहिं सब भेउ।
बिप्रबेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेउ ॥१३३॥

अर्थ—कृपानिधान भगवान् ने मुनि के हित के लिये ऐसा बुरा रूप उन्हें दिया कि जो कहा नहीं जा सकता ॥७॥ इस चरित्र को और कोई नहीं लख पाया, नारद जानकर सभी ने उनको प्रणाम किया ॥८॥ वहाँ पर दो रुद्र गण भी थे, जो सब भेउ (भेद) जानते थे। ब्राह्मण-वेष से वे दोनो देखते-फिरते थे तथा परम कौतुकी भी थे।

विशेष—(१) 'दीन्ह कुरूप' 'सो चरित्र'—समाज के लोगों की दृष्टि में नारदजी अपने ही रूप में हैं। अपने जानने में वे विष्णु-रूप हैं, इसीसे उन्हें हर्ष है—'रूप अति मोरे।' हर गण और विश्व-मोहिनी की दृष्टि में हरिरूप अर्थात् वानर-रूप है। अतः, इसे 'चरित्र' कहा। सब के प्रणाम करने पर नारदजी ने यही माना कि मुझे विष्णु मानकर लोग प्रणाम कर रहे हैं। 'कृपानिधाना'—क्योंकि नारद की लोक-मर्यादा भी बचाई और ऋषित्व की मर्यादा भी रक्खी। 'बखाना'—कहा भी नहीं जाता, तब देखने की कौन कहे?

विशेष—(१) 'सखी संग लै'''—वंदी जन के समान एक स्वयंवरा सखी होती है, जो सब राजाओं के वृत्तान्त जानती है। प्रत्येक राजा के सामने जाने पर उसका परिचय कहती हुई वह स्वयंवरा कन्या के साथ रहती है। महाकवि कालिदास कृत रघुवंश में कथित इन्दुमती-स्वयंवर में सुनन्दा भी ऐसी ही सखी थी।

प्रथम रूप देखकर मुनि का वैराग्य भूला था, लक्षण देखकर ज्ञान गया था, यहाँ उसने चाल से इनके हृदय को भी आकर्षित कर लिया कि उसी की ओर को उचकते हैं। 'सरोज' दीप-देहली है, क्योंकि लक्ष्मीजी क्षीरसागर से निकलीं तब उनके हाथों में भी कमल ही की जयमाला कही गई है। 'देखत फिरइ' क्योंकि विश्वमोहिनी के मन का कोई नहीं है। अतः, रंगभूमि में सब राजाओं को देखती-फिरती है।

(२) 'पुनि पुनि मुनि'''—मुनि ने समझा कि उसने अभी मुझे देखा ही नहीं, इससे उचकते एवं अकुलाते हैं कि किस प्रकार वह मुझे देख ले। 'हरगन मुसुकाहीं'—अब कूट एवं हँसना रुक गया, क्योंकि बड़े राजा की कन्या है, स्वयंवर में उसके आने पर मर्यादा से सारा काम होने लगा।

धरि नृपतनु तहँ गयेउ कृपाला। कुँअरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥३॥
दुलहिनि लै गे लच्छिनिवासा। नृपसमाज सब भयेउ निरासा ॥४॥
मुनि अति बिकल मोहमति नाँठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥५॥

अर्थ—कृपालु हरि राजा का शरीर धरकर वहाँ गये। राजकुमारी ने हर्ष-पूर्वक जयमाला पहना दी ॥३॥ लक्ष्मीनाथ भगवान् दुलहिन को ले गये। यह देखकर सब राज-मण्डली निराश हो गई ॥४॥ मोह से मुनि की बुद्धि नष्ट हो गई, इससे वे अति व्याकुल हो गये। मानों अपनी गाँठ से छूटकर कहीं मणि गिर गई हो ॥५॥

विशेष—(१) 'धरि नृप-तनु तहँ'''—भगवान् राजा का शरीर धारण कर क्यों गये ? इसके कारण ये हैं—(क) समाज के अनुकूल वेष चाहिये, यहाँ राजाओं का स्वयंवर था, इसलिये वैसा ही बने। यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥" (दो० २५०)। (ख) यदि भगवान् चतुर्भुज रूप से आते और कन्या को लेकर चलते, तो नारदजी वहीं पर लड़ने लगते। (ग) नृप-तनु होने का शाप लेना है। 'कृपाला'—क्योंकि नारदजी का दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं।

(२) 'दुलहिन लै गे'''—अभी तक उसे बाला, कुँअरि आदि कहते थे, ब्याह हो जाने से 'दुलहिन' कहा। इसी से वे अपनी दुलहिन ले गये। कवि के शब्द रखने की सावधानी प्रशंसनीय है। 'लच्छि-निवासा'—यह विश्वमोहिनी भी एक तरह की लक्ष्मी ही है और भगवान् ही में उसका भी निवास है, तब दूसरे की दुलहिन वह कैसे हो सकती है ?

(३) 'मुनि अति बिकल'''—सब राजा निराश हुए और मुनि अति विकल हुए, क्योंकि औरों को आशा थी, वे निराश हुए। मुनि तो उसको अपनी स्त्री मान चुके थे। यथा—"आन भाँति नहिं पावउँ ओही।" पर कहा गया। स्वयंवर में इन्हें निश्चय था कि वह मुझे ही वरेगी। यथा—"मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहिं तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥" (दो० १३२)। अतएव वह इनकी गाँठ की मणि थी। मणि बहुमूल्य होती है, वैसी वह अमूल्य लक्षणों वाली थी। यथा—"जो येहि बरइ अमर'''"। अपनी गाँठ की मणि गिर जाने से अत्यन्त विकलता होती है, वैसी दशा मुनि की हुई। मुनि को अपने

उलटे-सीधे वचन सुन रहे हैं, तब भी वे वचन उन्हें समझ नहीं पड़ते, क्योंकि बुद्धि भ्रम में सनी हुई है ॥६॥ उस विशेष चरित को और किसी ने नहीं देखा, उस स्वरूप को राजकन्या ने देखा ॥७॥ बन्दर का-सा मुख और भयंकर शरीरवाला रूप देखते ही उसके हृदय में क्रोध हुआ ॥८॥

विशेष—(१) 'मुनिहि मोह मन···'—मुनि ने जब से विश्वमोहिनी को देखा है, मन उसी में लग गया, तत्सम्बन्धी ही संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। इसी से इनकी बुद्धि में भ्रम हो गया, यथा —"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (गीता २।६७) इसीसे हर गणों की कूट की अटपट वाणी इन्हें समझ नहीं पड़ती। 'हँसहिं'—इनकी कामातुर दशा देखकर और प्रथम काम जीतने के अभिमान पर हँसते हैं।

(२) 'काहु न लखा सो···'—पूर्व कहा था—"सो चरित्र लखि काहु न पावा।" (दो॰ १३२); उसी में यहाँ इतनी विशेषता दिखाई कि नृपकन्या ने देखा और जो—'दीन्ह कुरूप' कहा था, उसे आगे—'मर्कट बदन' से खोलते हैं।

(३) 'मर्कट बदन भयंकर···'—भयंकर देह देखकर भय न हुआ, प्रत्युत क्रोध क्यों हुआ ?

समाधान—(क) साथ में सखियाँ हैं और समाज है, इससे भय न हुआ। क्रोध होने का कारण यह कि नारदजी रंगभूमि के द्वार के पास ही बैठे हैं, जिससे वह प्रथम मुझे देख ले, नहीं तो प्रथम ही किसी को जयमाल न डाल दे। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम इन्हीं पर पड़ी, प्रवेश में प्रथम ही बन्दर का देखना अशुभ है, यह जानकर क्रोध हुआ। (ख) प्रथम की भाँति अबकी भी कुमारी को घूर-घूरकर देखने लगे, सभा में ऐसी निर्लज्जता पर उसे क्रोध हो गया। (ग) भगवान् के इस चरित को सहसा माया ने भी न जाना कि ये नारद हैं। अतः, क्रोध हुआ कि मैंने तो नारद को मोहने के लिये सारा ठाट रचा। यह अमंगल रूप बन्दर कहाँ से आ गया है ? (घ) वह वेष ही ऐसा था जिससे क्रोध हो, इसी से नारदजी को स्वयं भी देखकर क्रोध ही हुआ। यथा— "बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" (दो॰ १३७)।

भगवान् अपनी लीला का प्रबंध कर रहे हैं, वेष देखकर तदनुसार ही शाप होगा। वानरों से सहायता लेनी है, उन्हें भयंकर होना ही चाहिये, जिससे राक्षसों को भय हो। आगे नराकार द्विभुज भूप-वेष से स्वयं भी आवेंगे कि जिससे वैसा ही रूप धरने का शाप मिले।

दोहा—सखी संग लै कुँअरि तब, चलि जनु राजमराल।
देखत फिरइ महीप सब, करसरोज जयमाल ॥१३४॥

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥१॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥२॥

शब्दार्थ—उकसहिं=उचकते अर्थात् ऊपर को उठते हैं एवं जगह से उठकर आगे बढ़ते हैं।

अर्थ—तब राजकुमारी सखियों को साथ लिये हुए, राजहंसिनी की तरह चली, वह कमलवत् हाथों में कमल की जयमाला लिये हुए सब राजाओं को देखती-फिरती है ॥१३४॥ जिस ओर नारदजी (दर्प से) फूले हुए बैठे हैं, उस ओर उसने भूल कर भी न देखा ॥१॥ मुनि फिर-फिर उचकते हैं और अकुलाते हैं, उनकी दशा देखकर हर-गण मुसकुराते हैं ॥२॥

की हँसी करना बड़ा पाप है। 'बहुरि हँसेहु मुनि कोउ'—किसी भी साधु-ब्राह्मण की हँसी करना खेल नहीं है—ऐसा ही फल मिलेगा।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा ॥१॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं ॥२॥
देइहउँ साप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई ॥३॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी ॥४॥
बोले मधुर बचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥५॥

अर्थ—फिर जल में देखा तो अपना (नारद) रूप मिला, तब भी उनके हृदय में संतोष नहीं हुआ ।।१।। होंठ फड़कते हैं, मन में क्रोध है, तुरत ही कमलापति भगवान् के पास चले ।।२।। (मन में सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा या मर जाऊँगा, (क्योंकि) जगत्‌भर में मेरी हँसी कराई है ।।३।। दैत्यों के शत्रु भगवान् बीच राह में ही मिल गये, साथ में लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी थीं ।।४।। देवताओं के स्वामी भगवान् मधुर वचन बोले—"हे मुनि ! विकल-से बने आप कहाँ जा रहे हैं" ? ।।५।।

विशेष—(१) 'पुनि जल दीख···'—पहले हर गणों को भागते देख जल्दी में ठीक से नहीं देखा था, अब उन्हें शाप देकर स्थिर हुए, तब अच्छी तरह देखना चाहा। 'संतोष न···'—क्योंकि जब काम बनाना था, तब तो वन्दर का-सा मुख दिया था, अब पूर्ववत् हुआ तो क्या ? अथवा अपना स्वरूप पाकर शांत हो जाना चाहिये, पर अभी तो लीला के कई अंग शेष हैं। अतः, हरि-इच्छा से शान्त न हुए।

(२) 'फरकत अधर कोप···'—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८)। अतः, कटुवचन एवं शाप के वचन कहने के लिये ओष्ठ फड़क रहे हैं। यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं ।।" (दो० २५१)।

(३) 'देइहउँ साप कि मरिहउँ···'—अच्छे मनुष्य का मान-भंग होने पर या तो वह मर ही जाता है, अथवा लज्जा से दूर देश चला जाता है ; क्योंकि—"सभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ।।" (अ० दो ६४) तथा—"संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४) दो सदिग्ध वचन कहने का प्रयोजन यह है कि भगवान् यदि शाप न लें तो उनपर कोई वश नहीं, क्योंकि वे समर्थ हैं, इसलिये कहते हैं कि अब तो अपकीर्त्ति से बचने का उपाय मर मिटना ही है।

(४) 'बीचहिं पंथ मिले···'—मुनि तो क्षीरसागर को जा ही रहे थे, पर भगवान् बीच ही में मिल गये कि वहाँ जाते-जाते कहीं क्रोध कम हो जाय अथवा वह सात्त्विक स्थल है, इससे भी क्रोध कम हो जायगा तो लीला के लिये उपयुक्त शाप न होगा, इसलिये बीच ही में मिल गये। 'दनुजारी'—क्योंकि हर-गणों को निशाचर (दनुज) होने का शाप मिल चुका है, उनके उद्धार के लिये उनके 'अरि' होने का शाप लेना है। पुनः नारद का क्रोधरूपी आसुरी विकार भी नष्ट करना है।

(५) 'संग रमा सोइ राजकुमारी।'—मुनि 'कमलापति' के पास चले, इसलिये कमला (लक्ष्मी) को भी साथ लिये हुए हैं, और उस राजकुमारी को भी ; मुनि जिससे जान जायँ कि ये ही राजा बनकर गये थे और छल करके राजकुमारी को ब्याह लाये हैं, अभी लिये चले जा रहे हैं। ईर्ष्या बढ़ाने को

अति रूप का अति हर्ष था एवं उसकी प्राप्ति का अति निश्चय था, इसीसे अति विकल हुए। पुनः प्रथम जब यह सामने होकर निकल गई थी, तब विकल हुए थे—'उकसहिं' 'मकुलाहीं' से स्पष्ट है, पर आशा थी कि फिर इधर आवेगी। अब तो एकदम गई। इससे 'अति विकल' हुए। यहाँ नृप-समाज का जाना नहीं कहा गया, क्योंकि सारा खेल मायामय था और प्रयोजन नारदजी ही से था। यहाँ पर कई कौतुकी एकत्र हुए—जैसे, प्रभु कौतुकी—"प्रकटे प्रभु कौतुकी कृपाला।" मुनि और नगर कौतुकी—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" इसमें 'कौतुकी' दीप-देहली है। रुद्रगण कौतुकी—"परम कौतुकी तेउ।" और, माया तो कौतुक के लिये है ही, इससे खूब कौतुक बना।

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥७॥
बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥८॥

दोहा—होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥१३५॥

अर्थ—तब हरगण मुसकुराकर बोले कि अपना मुँह तो जाकर दर्पण में देखिये ॥६॥ ऐसा कहकर दोनों भारी डर से भागे। मुनि ने जल में झाँककर अपना मुँह देखा ॥७॥ वेष देखकर अत्यन्त क्रोध बढ़ा, तब उन्हें बहुत ही घोर शाप दिया ॥८॥ कि तुम (दोनों) कपटी पापी हो, अतः, जाकर दोनों (कपटी-पापी) निशाचर हो, हमारी हँसी उड़ाई है तो उसका फल लो, (इतने में तृप्ति न हो तो) फिर किसी मुनि को हँसना ॥१३५॥

विशेष—(१) 'तब हरगन बोले''''''—इस अर्द्धाली के बिना लीला का कोई अंग ही नहीं बनता, क्योंकि बिना वेष देखे क्रोध नहीं होता और न शाप ही देते तथा नारदजी को पराजय क्रोध से कैसे होती? सारा कौतुक यहीं समाप्त हो जाता। अतः, भगवान् की प्रेरणा से हरगण-द्वारा यह उक्ति कही गई।

'निज मुख''''—अयोग्यता-सूचक मुहावरा है कि अपना मुँह तो देखो, उसे ब्याहने के योग्य था? 'जाई'—जहाँ दर्पण मिले, वहाँ जाकर देखो। यह भी भाव है कि जब तक मुनि दर्पण खोजेंगे, हमलोग भाग जायँगे।

(२) 'दोउ भागे'''बदन दीख'''—इसलिये भागे कि हमने कूट किया है, मुख देखने पर क्रोध कर शाप देंगे। इनको भागते देख मुनि को और सदेह हुआ। पास ही कमंडल में जल था, शीघ्रता से उसी में मुख देखा कि हरगण भाग न जायँ। मुनि शास्त्रज्ञ होते हुए भी मोहवश होने से मूढ़ हो रहे हैं! जल में मुख देखना निषिद्ध है।

(३) 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह''''''—'जाइ' तुरंत राक्षस होने का शाप नहीं था, यथा—"सपदि होहि पच्छी चंडाला।" (उ० दो० ११२) किन्तु आयु बीतने पर दूसरे जन्म में होंगे।

'कपटी'—क्योंकि ये जानते थे कि हरि ने कुरूप दिया है तो भी नहीं बतलाया, यही कपट है। 'पापी'—"हँसत देखि नखसिख रिसि ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥" (दो० २७१) अर्थात् किसी

(४) 'असुर सुरा विष···'—असुर शत्रु हैं, उन्हें मदिरा पिलाई। शिवजी मित्र एवं भक्त हैं, उन्हें विष पिलाया। हमें भक्त हैं, तब भी न छोड़ा अर्थात् तुम किसी को नहीं छोड़ते। 'आप रमा मनि चारु' से स्वार्थ-साधकता, 'विष संकरहिं' से ईर्ष्या और 'असुर सुरा' से कपट-व्यवहार और मुझसे स्नेही बन कर कहा कुछ, किया कुछ, यह कुटिलता है।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई ॥१॥
भलेहि मंद मंदहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू ॥२॥
डहँकि डहँकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू ॥३॥
करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। अब लगि तुम्हहिं न काहू साधा ॥४॥

शब्दार्थ—डहँकि = ठगकर। साधा = ठीक किया। परिचेहु = परच गये, परचना = चसका पड़ना।

अर्थ—तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे शिर पर कोई नहीं है, इससे जो मन में आता है, वही करते हो ॥१॥ भले को बुरा और बुरे को भला करते हो, विस्मय (आश्चर्य वा भय) और हर्ष कुछ भी मन में नहीं लाते ॥२॥ सब किसी को ठग-ठग कर परच गये हो, अत्यन्त निडर हो, मन में सदा उत्साह रहता है ॥३॥ शुभ-अशुभ कर्मों की बाधा तुम्हें नहीं होती, अभी तक किसी ने तुम्हें ठीक नहीं किया ॥४॥

विशेष—(१) 'भलेहि मंद मंदहि भल···'—हम भक्त भले थे, उसको जगत् में मंद कर दिखाया। अजामिल आदि मंद थे, उनका भला किया, यही 'परम स्वतंत्रता' अर्थात् उच्छृंखलपनी है।

(२) अति असंक मन···'—सब को ठगते-ठगते चसका पड़ गया है, इन्हीं बातों के लिये मन में सदा उत्साह रहता है अर्थात् नारदजी के बकते हुए भी भगवान् मुसकुरा रहे हैं।

(३) 'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'—ब्रह्मा सबके कर्मों के फल देते हैं—यथा-"कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१)। वे भी तुम्हें फल नहीं दे सकते। यथा —"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥" (गीता ४।१४)। 'न काहू साधा'—निर्लिप्तता से कर्म-फल नहीं होता, पर जिनकी हानि करते हो, उनसे तो दंड मिलना चाहिये था, परन्तु अभी तक तुम्हें किसी ने ठीक नहीं किया। जैसे शिवजी रहे, उन्हें बहका ही डाला, ब्रह्मा के हाथ कर्म की रस्सी है उससे अलग ही हो, देवता-दैत्यों को लड़ाया ही करते हो, तब फिर बचा कौन जो तुम्हें साधे?

इसी प्रकार ब्रह्माजी को वनवासी-स्त्रियों ने भी कहा है, यथा—"निपट निरंकुस निठुर निसंकू।" (अ० दो० ११८)—ये तीनो दोष क्रमशः यहाँ की चौ० १,२, ३ में कहे गये हैं। वहाँ की स्त्रियों ने विषाद में और नारदजी ने क्रोधवश होने पर ऐसा कहा है, क्योंकि क्रोध अज्ञानमूलक है। यथा—"घोर क्रोध तम निसि···" (कि० दो० २०)।

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥५॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु स्राप मम येहा ॥६॥
कपि-आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥७॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥८॥

भी लक्ष्मीजी को साथ लिया है, इससे मुनि का क्रोध और भी बढ़ेगा कि इनके तो एक स्त्री थी ही, तब भी हमसे कपट किया।

(६) 'बोले मधुर बचन सुरसाईं'।'—देवता सत्त्वगुणी होते हैं, ये उनके स्वामी हैं। अतः, मधुर वचन बोले वा शाप-द्वारा आगे निशाचर-वध कर देवताओं का हित करेंगे, इसलिये भी 'सुरसाईं' कहे गये। जो वचन कहे हैं, उन्हें मधुर रूप में कहना भी 'जले पर लोन' लगाना है, ये वचन ईर्ष्यावर्द्धक हैं।

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायावस न रहा मन बोधा ॥६॥
परसंपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी ॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु ॥८॥

दोहा—असुर सुरा बिष संकरहिं, आप रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह, सदा कपटव्यवहारु ॥१३६॥

शब्दार्थ—बोधा = ज्ञान, समझ। बौरायेहु = बावला बनाया, बेवकूफ बनाया।

अर्थ—वचन सुनते ही अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ, माया के वश होने से मन में ज्ञान न रहा ॥६॥ (बोले कि) तुम पराई सम्पत्ति (ऐश्वर्य) नहीं देख सकते, तुम्हारे (हृदय में) ईर्ष्या और कपट बहुत है ॥७॥ तुमने समुद्र मथते समय शिवजी को बौरा (पागल) बना दिया और देवताओं को प्रेरित करके (तुम्हीं ने) उनको विष पिलाया ॥८॥ दैत्यों को मदिरा, शंकर को विष (दिया) और अपने आप सुन्दरी लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लीं), तुम स्वार्थ के साधनेवाले एवं कुटिल हो, तुम्हारा सदा से कपट-व्यवहार है ॥१३६॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन उपजा'''—यहाँ मार्ग ही में मिलना, रमा और राजकुमारी को लेना, ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना—ये सब अति क्रोध के कारण हुए। सर्वस्व-हरण करने पर और जगत् में उपहास कराने पर मधुर वचन ही व्यंग्य-रूप से दाहक होते हैं। यथा—"सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद-चंद निसि जैसे ॥" (अ० दो० ६३)। 'उपजा अति क्रोधा' क्रोध तो प्रथम ही बढ़ा था। यथा—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" पर उसमें से हर गणों को शाप देने में खर्च हो गया था। अतः, भगवान् के मधुर वचन आदि से बढ़ गया, तब फिर 'अति' हुआ। 'मायावस'—बोध न रहने से क्रोध हुआ और क्रोध से कटु वचन निकल रहे हैं।

(२) 'पर-संपदा सकहु नहिं'''—विश्वमोहिनी को मुनि ने अपना ही स्त्रीरत्न मान लिया था। उसी को यहाँ 'पर-संपदा' कहा है। 'तुम्हरे इरिषा'''—ये दो विशेष हैं। और तो असंख्य अवगुण हैं ही। पराई सम्पत्ति न देख सकना ईर्ष्या है और उसे छिपकर ले लेना 'कपट' है। ध्वनि से 'खल' जनाया, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर-संपति देखी ॥" (उ० दो० ३८)।

(३) 'मथत सिंधु रुद्रहिं'''—शिवजी तो भोलेभाले हैं, देवताओं से कहलाकर और उन्हें अपनी बातों से चकमा देकर (आप देवों में ज्येष्ठ हैं। अब, प्रथम निकली हुई वस्तु—विष लो, ऐसा कहकर) विष पिलवाया। ये भाग्य से जीते रह गये। इसमें अपनी स्वार्थ-बुद्धि से काम करना कपट है और विष पिलाना ईर्ष्या है कि जिससे वे पागल हो जायँ, तो हम रमा और मणि ले सकें।

"निज मायाबल देखि बिसाला" (दो० १३१) उपक्रम है और यहाँ "निज माया कै प्रबलता" उपसंहार है।

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥१॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना ॥२॥
मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला ॥३॥

शब्दार्थ—निवारी = हटा दी। पाहि = रक्षा करो। मृषा = झूठा, व्यर्थ।

अर्थ—जब भगवान् ने माया को दूर हटा दिया, तब वहाँ न तो रमा रह गई और न वह राजकुमारी ही रही ॥१॥ तब अत्यन्त भयभीत होकर मुनि ने भगवान् के चरण पकड़ लिये और बोले—हे शरणागतों के आर्त्तिहरण! मेरी रक्षा कीजिये ॥२॥ हे कृपालो! मेरा शाप व्यर्थ हो जाय। दीनदयालु भगवान् बोले कि मेरी ऐसी ही इच्छा है ॥३॥

विशेष—(१) 'जब हरि माया ···' ऊपर माया खींचने से 'कृपानिधि' कहा था, यहाँ 'हरि' भी कहा, क्योंकि भगवान् कृपा से ही माया एवं उससे उत्पन्न दुःख हरण करते हैं। यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जौ दाया॥" (कि० दो० २०); "छूट न राम-कृपा बिनु" (उ० दो० ७१)। नारदजी के दुःख हरने से 'हरि' कहे गये।

(२) 'नहिं तहँ रमा न···' जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, जीव रमाजी को भगवान् से अभिन्न तत्त्व-रूप में और विद्यामाया को उनकी कृपात्मक इच्छा रूप में पाता है। अतः, ये दोनों उनसे भिन्न नहीं रह जातीं।

(३) 'तब मुनि अति सभीत···' 'अति सभीत' से मन, 'चरना गहे' से कर्म और 'पाहि प्रनतारति-हरना' से वचन की शरणागति हुई।

(४) 'मृषा होउ मम स्राप कृपाला।'—शाप को झूठा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। अतः, कृपा करके आप उसे मिथ्या (व्यर्थ) कर दें, जैसे भृगु के शाप को प्रथम अस्वीकार कर दिया था जो पहले लिखा गया है। पुनः शाप के प्रति भी प्रभु विनती ही करते हैं, इसपर भी 'कृपाला' कहा है।

(५) 'मम इच्छा कह दीनदयाला।'—शाप व्यर्थ होने से नारदजी का ऋषित्व न रहेगा। इस-लिये भक्त-हितकारी प्रभु उसे मिथ्या न करेंगे। यद्यपि नारदजी इष्ट के अपराध से दीन हैं, तथापि भगवान् की उनपर पूर्ण दया है। साथ ही हर-गणों की दीनता पर भी दृष्टि है। बिना इस शाप की स्वीकृति के उनका उद्धार भी न होगा। और—"नारद-बचन अन्यथा नाहीं।" (दो० ७०) इसपर दृष्टि तो है ही।

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे ॥४॥
जपहु जाइ संकर-सत-नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥५॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥६॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥७॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया नियराई ॥८॥

दोहा—स्राप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्हि।
निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्हि ॥१३७॥

शब्दार्थ—जवनि = जो। आकृति = रूप, सुरत। अपकार = अहित। करषि लीन्ह = खींच लिया। बायन = विवाहादि में पड़ोसी को भेंट में दी गई वस्तु, फिर उसमें भी उसका वैसा ही बदला मिलता है।

अर्थ—अब अच्छे घर तुमने बायन दिया है। अतः, अपने किये का फल पाओगे ॥५॥ जो देह धरकर (तुमने) मुझे ठगा है, वही देह धरो, यह मेरा शाप है ॥६॥ तुमने मेरा सुरत एवं रूप बन्दर का सा बना दिया था। अतः, तुम्हारी सहायता बन्दर ही करेंगे ॥७॥ तुमने हमारा भारी अनहित किया है। अतः, तुम भी स्त्री के विरह में दुखी होगे ॥८॥ प्रभु ने हृदय से हर्षित होकर शाप को शिरोधार्य किया और नारद से बहुत विनती की, फिर कृपानिधान प्रभु ने अपनी माया की प्रबलता को खींच लिया ॥१३७॥

विशेष—(१) 'भले भवन अब···'—तुमने अभी तक गरीबों के ही घर बायन दिये थे, इससे वे लोग न लौटा सके। हम अमीर हैं। अतः, यथायोग्य बदला देंगे। विवाह के सम्बन्ध में हमें कुरूपता आदि बायन दिये हैं, उनके फल भी लो। हम भी तुम्हारे विवाह ही के उपलक्ष्य में देते हैं जैसे-जैसे तुमने दिये, वैसे-वैसे हम लौटाते हैं।

(२) 'बंचेहु मोहि जवनि···'—'नृप-तनु' से भगवान् ने इनकी स्त्री को ब्याहा है—वही तनु धरने का शाप देते हैं। नर-तनु कर्म के अधीन होते हैं, दुःख सुख के भागी होते हैं, वैसा ही हो। यथा—"राम भगत-हित नर-तनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥" (दो० २४) अर्थात् भगवान् लीला-रूप में दुःख-सुख भोगते से प्रतीत होते हैं। भाव यह कि तुम्हें कर्म-बाधा नहीं थी, सो हम देते हैं। ईश्वर से मनुष्य बनाते हैं।

(३) 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।'—ईश्वर की कोई सहायता करे और वह भी बन्दर! यह बड़ी हीनता है। यथा—"सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥" (सुं० दो० ५५); "सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई॥" (लं० दो० २७)।

(४) 'मम अपकार···भारी।'—स्त्री-हरण करना भारी अपकार है। छः प्रकार के आततायि-कर्मों में यह एक भारी कर्म है, इसीसे मुनि उसका नाम भी नहीं लेते। उत्तरार्द्ध के बायन से ही जनाते हैं। भाव, जैसे स्त्री-विरह में हम दुखी हैं, वैसे ही दुखी होगे।

भगवान् ने प्रथम इन्हें बन्दर बनाया है, पीछे नृप तनु धरा है, पर मुनि ने पीछे बन्दरों के सहायक होने और प्रथम नृप तनु धारण करने को कहा। स्त्री-विरह प्रथम से होगा। तब वानर सहायक होंगे, इसमें भी क्रम-भंग है, क्योंकि नारदजी क्रोध-वश हैं। अतः, सँभाल नहीं है। इन तीनों (६–७–८) अर्द्धालियों के पूर्वार्द्ध में बायन देना और उत्तरार्द्ध में बदला कहा गया है।

(५) 'स्राप सीस धरि···'—आप भक्तों को बड़ा मानते हैं। अतः, उनके शाप-वचनों को भी शिरोधार्य किया। यथा—"आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी।" (दो० ७६)। मुनि को बहुत क्रोध है, उसे शान्त करने के लिये बहुत विनती की। प्रथम तो क्रोध बढ़ाते थे, पर अब लीला के सब अंग बन गये। अतः, शान्त करते हैं। 'हरषि'—क्योंकि लीला का साज बन गया। प्रसन्न रहना ही आपका स्वभाव सी है। 'कृपानिधि'—क्योंकि कृपाकर नारदजी की दुःखद माया खींची।

अर्थ—तब बहुत तरह से मुनि को समझाकर प्रभु अंतर्द्धान हो गये। श्रीनारदजी श्रीराम-गुण गान करते हुए ब्रह्मलोक को चले।

विशेष—'बहु विधि'—जैसा ऊपर कहा गया, शाप होने पर यदि तुरंत ही भगवान् चल देते, तो नारदजी को दुर्वचन आदि का पश्चात्ताप बना ही रहता, इसलिये समझाकर गये।

भगवान् ने पृथिवी पर विचरने की आज्ञा दी। ये प्रथम सत्त्वप्रधान ब्रह्मलोक को गये, फिर रजोगुणी मृत्युलोक में और तब तमोगुणी पाताल में भी जायँगे, पृथ्वी भिन्न-भिन्न प्रकार से सब लोकों में है।

'करत राम-गुन-गान'—प्रथम जैसे किया करते थे, यथा—"एक बार करतल बर बीना। गावत हरि-गुन-गान प्रबीना॥" (दो० १२७)। फिर माया के वश होने से छूट गया था, अब मायामुक्त होने पर फिर 'राम-गुन-गान' होने लगा। कहा है—"राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मन माँह। भूरि होति रबि दूरि लखि, सिर पर पगतर छाँह॥" (दोहावली ६६)। अतएव माया से बचने के लिये निरंतर भजन में निरत रहना चाहिये।

हरगन मुनिहिं जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेखी॥१॥
अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥२॥
हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया॥३॥
साप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला॥४॥

शब्दार्थ—अनुग्रह = अनिष्ट-निवारण। साप-अनुग्रह = शाप से उत्पन्न अनिष्ट निवारण।

अर्थ—शिवजी के गणों ने मुनि को मोह-रहित और विशेष प्रसन्न मन राह में जाते देखकर॥१॥ अत्यन्त डरे हुए नारदजी के पास आये और उनके चरण पकड़कर दीन वचन बोले॥२॥ हे मुनिराज! हम शिवजी के गण हैं, ब्राह्मण नहीं हैं; हमने बड़ा भारी अपराध किया और उसका फल पाया॥३॥ हे कृपालो! शाप के अनिष्ट-निवारण की कृपा कीजिये, तब दीनदयालु नारदजी बोले॥४॥

विशेष—(१) 'हरगन मुनिहि जात…'—हर-गण अनुग्रह के लिये मुनि की राह देखते थे, अतः देखा, प्रथम मुनि को मोह-विषाद-सहित देखा था, अब—'बिगत मोह मन हरष' देखा। विशेष हर्ष राम-गुण-गान से है।

(२) 'अति सभीत…'—हँसी करने पर भय था। यथा—"अस कहि दोउ भागे भय भारी।" (दो० १३४)। फिर शाप हुआ, तब से 'अति सभीत' हैं। 'अति सभीत' से मन, 'गहि पद' से कर्म, 'आरत बचन सुनाये' से वचन, तीनों से शरणापन्न हुए। 'आरत बचन', यथा—"प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहिं॥" (लं० दो० २०)।

(३) 'हरगन हम…'—संत निश्छल वचन से प्रसन्न होते हैं, इसलिये अपना परिचय दिया। भगवान् ने शिवजी में नारदजी की निष्ठा कराई है, इसलिये उनके सम्बन्ध से अनुग्रह चाहते हैं। नारदजी को जैसे भगवान् को शाप देने का शोच था, वैसे विप्रों के शाप देने का भी होगा, उसके निवारण के लिये भी कहा कि हम ब्राह्मण नहीं हैं।

(४) 'साप-अनुग्रह करहु कृपाला'—प्रथम क्रोध से शाप दिया गया है, अब कृपादृष्टि के अनुसार अनुग्रह कीजिये, तब वह दुःखरूप से सुखरूप हो जायगा। 'दीनदयाला'—श्रीनारदजी सदा से ही दीनों

अर्थ—मुनि ने (फिर) कहा कि मैंने बहुत दुर्वचन कहे हैं, मेरे पाप कैसे मिटेंगे ? ॥४॥ भगवान् ने कहा कि जाकर 'शंकर-शतनाम' जपो, उससे हृदय शीघ्र शांत हो जायगा ॥५॥ शिवजी के समान कोई मुझे प्रिय नहीं है, ऐसा विश्वास भूलकर भी न छोड़ना ॥६॥ जिसपर त्रिपुरारि शिवजी कृपा नहीं करते, हे मुनि ! वह मेरी भक्ति नहीं पाता ॥७॥ ऐसा हृदय में धारण करके पृथिवी पर जाकर विचरो, अब माया तुम्हारे निकट न आवेगी ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि पाप मिटिहिं·····' पाप के प्रायश्चित्त के लिये शंकर-शत-नाम जप रूप उपाय कहते हैं। इसमें 'मम इच्छा' नहीं कहा, क्योंकि पाप कर्म जीव अपनी प्रवृत्ति से ही करता है, उसमें हरि-इच्छा नहीं रहती। यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी सो निज करतूति।" (दोहावली ८८)। 'दुर्वचन' का प्रसंग—"सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।"······ से—"पावहुगे फल आपन कीन्हा।" (दो० १३५-१३६) तक है।

(२) 'जपहु जाइ संकर···'—जैसे विष्णु सहस्रनाम एवं गोपाल सहस्रनाम हैं, वैसे ही शंकर-शतक भी है। शिवजी ने पार्वतीजी से कहा है। यथा—"इति ते कथितं देवि मम नाम शतोत्तमम्।···" (लिंगार्चन तंत्र)। इसे जपना कहा, क्योंकि भागवतापराध भागवत भजन से ही छूटता है, जैसे दुर्वासा मुनि को अंत में अंबरीष की ही शरण में जाना पड़ा। इन्होंने शिवजी की उत्तम शिक्षा में ईर्ष्या एवं स्पर्धा की भावना की थी, यही इनसे भागवतापराध हुआ है। भगवान् ने अपने प्रति कहे हुए पाप को तो पाप गिना ही नहीं, क्योंकि—"निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७)। यह श्रीरामजी का स्वभाव है। 'तुरत बिश्रामा' अर्थात् भागवत भजन का फल बहुत शीघ्र ही मिलता है।

(३) 'कोउ नहिं सिव-समान प्रिय···' भाव यह कि शिवजी हमारे प्रिय हैं, तुमने उनका उपदेश न मानकर भूल की है, वह हमें अप्रिय लगा।

(४) 'जेहि पर कृपा न···' शिवजी कृपा करते हैं, तब भक्ति मिलती है और तब उससे हमारी अनुकूलता रहती है, उससे माया डरती रहती है। यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।···" से—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई।" (उ० दो० ११५) तक।

(५) 'अस उर धरि महि····'- संत परोपकार के लिये जगत् में विचरते हैं। यथा—"जड़ जीवन्ह को करइ सचेता। जग माहीं बिचरत यहि हेता॥" (वैराग्य सं० १)। स्वयं भी इसी में सुखी रहते हैं। यथा- "सब संत सुखी बिचरंति मही।" (उ० दो० १३); अर्थात् इस संवादात्मक बात का भी उपदेश करो। 'बिचरहु जाई' से यह भी सूचित किया कि विप्र (दक्ष) का शाप भी अन्यथा करने की बुद्धि न करो, क्योंकि दक्ष का ऐसा ही शाप है।

(६) 'अब न तुम्हहिं माया···'—भाव, शंकर की अनुकूलता से मेरी भक्ति रहेगी, उसके भय से माया निकट न आवेगी।

श्रीनारदजी को मोह तीन कारणों से हुआ—१ विप्र-शाप मिथ्या करना। २ शिव-अपमान। ३ शेषशय्या पर बैठना। प्रथम दो के प्रतिफल पा लिये, तीसरे के लिये भगवान् ने क्षमा की, विनती भी की और सदा के लिये माया से निर्भय कर दिया।

दोहा—बहु बिधि मुनिहिं प्रबोधि प्रभु, तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले, करत राम-गुन-गान ॥१३८॥

शब्दार्थ—विचित्र = रंग-विरंग के, आश्चर्यजनक। घनेरे = बहुत।

अर्थ—इस प्रकार हरि के जन्म और कर्म सुन्दर, सुखदायक, विचित्र और बहुत हैं ॥१॥ कल्प-कल्प (हर एक कल्प) में (जब-जब) प्रभु अवतार लेते हैं और अनेक प्रकार के सुन्दर चरित करते हैं ॥२॥ तब-तब परम पवित्र काव्य-रचना करके मुनीश्वरों ने कथा गाई है ॥३॥ तरह-तरह के प्रसंग अनुपम कहे गये हैं, उन्हें सुनकर बुद्धिमान् लोग आश्चर्य नहीं करते ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि ...'—ऊपर दोहे में कहा है—'लीन्ह मनुज-अवतार'—यह जन्म है और—'सुररंजन ...भुविभार'—यह कर्म है। चरित स्वयं 'सुंदर' हैं, और दूसरों के लिये 'सुखद' भी। 'विचित्र'—तरह-तरह के आश्चर्यजनक हैं, एवं वात्सल्य, सख्य, शृंगार आदि रसों के चरित्र किये हैं। 'घनेरे', यथा—"जल-सीकर महि-रज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'कलप कलप प्रति ...' इसमें उपर्युक्त जन्म-कर्म का ही विवरण है।

(३) 'तब-तब कथा मुनीसन्ह ...'—पूर्व कहा था—"नति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥" (दो० १२३)। यहाँ 'कबिन्ह' को स्पष्ट किया कि मुनीश्वर ही कवि हुए।

(४) 'बिबिध प्रसंग अनूप ...'—यहाँ 'बिबिध प्रसंग' में और पूर्व 'कथा अलौकिक' में आश्चर्य करने से रोका है, यथा—"कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥" (दो० ३१)। इसमें के 'ज्ञानी' और यहाँ के 'सयाने' एक ही हैं।

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ॥५॥
रामचंद्र के चरित सुहाये। कलप कोटि लगि जाहिं न गाये ॥६॥
यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहिं मुनि ज्ञानी ॥७॥
प्रभु कौतुकी प्रनत-हित-कारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी ॥८॥

सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिय महा-माया-पतिहिं ॥१४०॥

अर्थ—भगवान् अनंत हैं और उनकी कथा भी अंतरहित है, जिसे सब संत बहुत तरह से कहते सुनते हैं ॥५॥ श्रीरामचन्द्रजी के सुहावने चरित करोड़ों कल्पों तक भी नहीं गाये जा सकते ॥६॥ हे भवानी! मैंने यह प्रसंग कहा कि ज्ञानी मुनि भी हरि-माया में मोहित होते हैं ॥७॥ भगवान् कौतुकी एवं शरणागत का हित करनेवाले हैं, सेवा करने में सुलभ और सब दुःख हरनेवाले हैं ॥८॥ देवता, मनुष्य और मुनि—इनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे बलवती माया मोह न ले, मन में ऐसा समझकर महामाया के स्वामी (श्रीरामजी) का भजन करो ॥१४०॥

विशेष—(१) 'यह प्रसंग...प्रभु कौतुकी...'—यहाँ प्रसंग का सारांश कहा गया है कि ज्ञानी मुनि भी हरिमाया में मोहित होते हैं। भगवान् लीला की इच्छा से कौतुक करते और शरणागतों के दुःख दूर करते हैं। 'सेवत सुलभ' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८)। 'सकल दुख-हारी'—यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।" (वि० १३८)।

पर दया करते आये हैं। यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता।।" (आ० दो० १)। ऐसा ही संत स्वभाव होता है। यथा—"कोमल चित दीनन पर दाया।" (उ० दो० ३७)।

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ ।।५।।
भुजबल बिश्व जितब तुम्ह जहिया। धरिहहिं बिष्णु मनुज-तनु तहिया ।।६।।
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ।।७।।
चले जुगल मुनिपद सिर नाई। भये निसाचर कालहिं पाई ।।८।।

दोहा—एक कलप येहि हेतु प्रभु, लीन्ह मनुज-अवतार।
सुररंजन सज्जनसुखद, हरि भंजन-भुवि-भार ।।१३६।।

शब्दार्थ—बैभव = ऐश्वर्य। जहिया = जब। तहिया = तब। कालहि पाई = मरने पर।

अर्थ—तुम दोनों जाकर निशाचर बनो। तुम्हारे ऐश्वर्य, तेज और बल बहुत बड़े होंगे ।।५।। जब तुम अपनी भुजाओं के बल से संसार भर को जीत लोगे, तब विष्णु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करेंगे ।।६।। तुम्हारा मरण संग्राम में भगवान् के हाथों होगा, उससे मुक्त हो जाओगे, फिर तुम्हें संसार (का जन्म-मरण) न होगा ।।७।। दोनो (हर-गण) मुनि के चरणों में सिर नवाकर चले गये और काल पाकर निशाचर हुए ।।८।। देवताओं को आनन्द और सज्जनों को सुख देनेवाले एवं पृथिवी का भार हरनेवाले प्रभु ने एक कल्प में इस कारण मनुष्य अवतार लिया ।।१३६।।

विशेष—(१) 'निसिचर जाइ'''—'जाइ' अर्थात् शरीर छूटने पर जो आगे—'कालहिं पाई' से स्पष्ट है। 'बैभव बिपुल''' यहाँ तीन ही बातें दीं। राजाओं के पाँच अंग होते हैं, यथा—"सब सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति-निवासा।।" (दो० १२१)। इनमें रूप और नीति दो पदार्थ नहीं दिये, क्योंकि राक्षसों में ये दो नहीं होते। शाप तो रहा ही, पर उसे सुख-रूप कर दिया कि ऐश्वर्य, बल और तेज से पूर्ण हों और जिससे भगवान् ही के हाथों मारे जाने से मुक्त हो जायँ।

(२) 'भुजबल बिश्व''' यथा—"भुजबल बिश्व बश्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (दो० १८२)। श्रीनारदजी की दीनदयालुता ऐसी है कि एक प्रणाम में संसार-भर का राजा एवं विश्व विजयी बना दिया। यह लोक बनाया और 'होइहौ मुकुत''' से परलोक भी बनाया। 'चले जुगल'—इनका चलना कहा, नारदजी का नहीं, क्योंकि उनका चलना पूर्व ही कह चुके हैं, वे थोड़ा रुके, फिर चल दिये।

नारद-मोह एवं क्षीरशायी अवतार-प्रकरण समाप्त

येहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ।।१।।
कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं ।।२।।
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई ।।३।।
बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरज सयाने ।।४।।

(३) 'जो प्रभु बिपिन'''—'फिरत' से सीताजी का खोजना और 'मुनि-बेष' से राज्य त्याग जनाया।

(४) 'अवलोकि'''रहिहु बौरानी'—मोह-रूपी पिशाच लगने से पागल-सी हो गई थीं।

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम-रुज हारी ॥५॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति-अनुसारा ॥६॥
भरद्वाज सुनि संकर-बानी। सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी ॥७॥
लगे बहुरि बरनइ बृषकेतू। सो अवतार भयेउ जेहि हेतू ॥८॥

दोहा—सो मैं तुम्ह सन कहउँ सब, सुनु मुनीस मन लाइ।
रामकथा कलि-मल-हरनि, मंगल-करनि सुहाइ ॥१४१॥

अर्थ—अब भी उसकी छाया नहीं मिटती। उन्हीं रामजी के भ्रम-रूपी रोग के हरनेवाले चरितों को सुनो ॥५॥ उस अवतार में जो लीलाएँ की गई हैं, उन सबको मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥६॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज! शंकरजी के वचन सुनकर उमाजी सकुचकर प्रेम से मुसकुराने लगीं ॥७॥ फिर वह अवतार जिस लिये हुआ, उस कारण का वर्णन धर्मध्वज शिवजी करने लगे ॥८॥ उन सबको मैं तुमसे कहता हूँ, हे मुनीश्वर! मन लगाकर सुनो। राम-कथा कलि के पापों को हरनेवाली, मंगल करनेवाली और सुहावनी है ॥१४१॥

विशेष—(१) 'अजहुँ न छाया मिटति'''—अब भ्रम की छाया-मात्र (सामान्य) रह गई है। यथा—"तव कर अस बिमोह अब नाहीं।" (दो० १०८); जो—"राम ब्रह्म चिन्मय'''धर्यो नरतनु केहि हेतू।" (दो० ११०) पर कहा गया कि वे चिन्मय, अविनाशी आदि हैं। उन्होंने किन कारणों से इन गुणों के विरुद्ध मानव-शरीर धारण किया? यही यहाँ के—'अज अगुन अरूपा''' से जनाया है।

(२) 'तासु चरित सुनु'''—पूर्व—"जासु चरित अवलोकि'''" से भ्रम होना और यहाँ के "तासु चरित सुनु'''" से भ्रम का छूटना कहा; अर्थात् चरित देखकर सती, गरुड़ आदि को भी भ्रम हुआ और वह भ्रम उसी चरित के सांगोपांग सुनने से दूर भी हुआ। पूर्व पार्वतीजी ने कहा था,—"देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥" (दो० १०८); उसी के लक्ष्य से यहाँ 'भ्रम रुज हारी' कहा गया है।

(३) 'सकुचि सप्रेम उमा'''—'रहिहु बौरानी' 'अजहुँ न छाया मिटति''' के प्रति सकुच एवं मुसुकाकर उसका अंगीकार करना व्यक्त किया तथा—"तासु चरित सुनु'''" से प्रेम हुआ।

(४) 'लगे बहुरि बरनइ''' 'बृषकेतू' अर्थात् धर्म पर दृष्टि किये हुए सत्य ही कहेंगे। 'सो अवतार' यहाँ का 'सो' पूर्वोक्त—"जो प्रभु बिपिन फिरत'''" के 'जो' के प्रति है। पूर्वोक्त—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० १११) का उत्तर यहाँ के—'लगे बहुरि'' से चला।

(५) 'सो मैं तुम्ह सन''—'मन लाय'—यह प्रसंग परम गुह्य है। अतः, मन लगाकर सुनने से ही धारण होगा। लाभ भी कहते हैं कि 'राम-कथा' स्वयं उपासना-रूपा है, साथ ही 'मंगलकरनि'—

(२) 'सुर नर मुनि...'—सुर नर मुनि—ये ज्ञानवान् होते हैं, जब ये ही मोहित हो जाते हैं, तब और कौन है जो न मोहा जा सके ? जो माया के पति का सेवक होगा, उसपर माया का वश न चलेगा।

यहाँ शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामीजी ने भी प्रसंग की इति लगाई है—

शिवजी — { उपक्रम—"यह प्रसंग मोहिं कहहु पुरारी। मुनि-मन मोह आचरज भारी॥" (दो॰ १२३)। उपसंहार—"यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरि-माया मोहहिं मुनि ज्ञानी॥" (उपर्युक्त)।

याज्ञवल्क्य — { उपक्रम—"कहउँ राम-गुन-गाथ" (दो॰ १२४); "भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो॰ ११०)। उपसंहार—"रामचंद्र के चरित सुहाये।" "प्रभु कौतुकी..." (उपर्युक्त)।

गोस्वामीजी — { उपक्रम—"भजु तुलसी तजि मान-मद" (दो॰ ११७)। उपसंहार—"भजिय महामायापतिहिं।" (उपर्युक्त)

श्रीरामावतारों के त्रिविध भेद समाप्त

मनु-शतरूपा-प्रकरण

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी॥१॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर-भूपा॥२॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु-समेत धरे मुनिबेखा॥३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सतीसरीर रहिहु बौरानी॥४॥

अर्थ—हे शैलकुमारी (पार्वतीजी), अब और कारण सुनो, यह विचित्र कथा मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ॥१॥ जिस कारण से अजन्मा, गुणातीत, अरूप, ब्रह्म, अवधपुरी के राजा हुए॥२॥ जिन प्रभु श्रीरामजी को भाई-सहित मुनि-वेष धारण किये हुए और वन में फिरते हुए तुमने देखा था॥३॥ हे भवानी! सती-शरीर में जिनके चरित्र देखकर तुम बावली (सी) हो रही थी॥४॥

विशेष—(१) 'अपर हेतु सुनु...'—'सैलकुमारी'—क्योंकि परोपकार के लिये प्रश्न किया। 'बिचित्र'—पूर्वोक्त तीन कल्पों की भी कथाएँ विचित्र थीं। यथा—"राम-जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका॥" (दो॰ १२१);—उपक्रम और—"येहि बिधि जनम करम हरिकेरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥" (दो॰ १३९);—उपसंहार है। अतः, इस कथा को भी विचित्र कहा, पर इसे विस्तार पूर्वक कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(२) 'जेहि कारन अज अगुन...'—अवतार के विषय में पार्वतीजी के दो पक्ष थे—एक तो विष्णु भगवान् का अवतार लेना वे मानती थीं, पर उनकी लीला में संदेह था कि वे अज्ञ की तरह स्त्री कैसे खोजेंगे ? और दूसरा—"की अज अगुन अलख गति कोई।" के विषय में प्रथम अवतार मानती ही न थीं, फिर कैलाश-प्रकरण सुनकर मान गईं, तब उनके अवतार के हेतु के लिये प्रश्न किये। उनमें विष्णु एवं क्षीरशायी भगवान् के चतुर्भुज से द्विभुज राम-रूप होने के तीन जन्मों के हेतु कह आये कि वे अमुक अमुक के शापवश हुए। शाप-निर्वाह के लिये अज्ञ की तरह विरही होकर स्त्री खोजने आदि की उनकी लीलाएँ हैं और जो अज, अगुण, अरूप, परात्पर ब्रह्म नित्य द्विभुज श्रीसीतापति श्रीमनु-शतरूपा के प्रेमवश प्रकट होकर 'कोसलपुरभूप' हुए उनका जन्म-वृत्तान्त कहने का यहाँ संकल्प किया।

प्रशंसा ध्रुव ऐसे पुत्र के द्वारा की। यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगतपूज्य सुपुनीत। श्री रघुवीर परायन, जेहि नर उपज विनीत॥" (उ० दो० १२७)। ध्रुवजी की कथा पूर्व दो० २६ में लिखी गई है।

(२) 'लघु सुत नाम प्रियव्रत···' प्रियव्रत के ही वंश में ऋषभ भगवान् ने अवतार लिया। ये स्वयं बड़े वैराग्यवान्, विज्ञानी और भगवद्भक्त हुए। श्रीनारदजी की सेवा और उनकी कृपा से इन्हें सहज ही परमार्थतत्त्व का ज्ञान हो गया। ब्रह्मा, मनु आदि बड़ों की आज्ञा मानकर एवं भगवान् की इच्छा से इन्हें निवृत्ति-मार्ग से फिर प्रवृत्ति में आना पड़ा। ये चक्रवर्ती राजा हुए। सातो द्वीपों और सातो समुद्रों के विभाग इन्होंने ही किये हैं। इनकी विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ५. अ० १ में है। 'बेद पुरान प्रसंसत ताही' से इनके आचरणों को पिता के आचरणों के तुल्य जनाया।

(३) 'देवहूति पुनि···'—प्रियव्रत के पीछे देवहूति का नाम देकर इसे उनसे छोटी बताया, कन्याएँ तीन हुईं, परन्तु यहाँ एक का नाम दिया गया, जिसके पुत्र भगवान् हुए। 'प्रिय नारी' से पतिव्रता जनाया। यथा—"पारवती सम पतिप्रिय होहू।" (अ० दो० ११७)।

(४) 'आदिदेव प्रभु···'—'आदिदेव' से सृष्टि के कर्त्ता, 'प्रभु' से समर्थ रक्षक और 'दीनदयाला' से पालक जनाया। कपिल भगवान् ने कृपा करके इनके गर्भ में रहना स्वीकार किया।

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्वबिचार-निपुन भगवाना॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभुआयसु बहु बिधि प्रतिपाला॥८॥

दोहा—होइ न विषय-बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयेउ हरिभगति बिनु॥१४२॥

शब्दार्थ—प्रतिपाला = माना, पालन किया। चौथपन = वृद्धावस्था।

अर्थ—जिन्होंने (कपिल ने) सांख्य शास्त्र का प्रकट बखान किया, वे भगवान् तत्त्वविचार में बड़े निपुण थे॥७॥ उन (स्वायंभुव) मनु ने बहुत काल तक राज्य किया और बहुत प्रकार से प्रभु की आज्ञा का पालन किया॥८॥ घर में रहते हुए चौथापन हो आया, पर विषयों से वैराग्य न हुआ, (अतएव) हृदय में बहुत दुःख हुआ कि हरिभक्ति के बिना व्यर्थ ही जन्म बीत गया॥१४२॥

विशेष—(१) 'सांख्य सास्त्र जिन्ह···' 'प्रगट' अर्थात् वेद भी भगवान् के ही श्वास से हुए हैं, उनमें सब कुछ है, पर भगवान् स्वयं प्रकट होकर आचार्य-रूप से सांख्य का वर्णन कर गये हैं; अपने मुख से माता के प्रति प्रत्यक्ष कहा, जो उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'तत्त्वबिचार-निपुन···'—प्रथम सांख्य शास्त्र ग्रंथ कहा, अब उसका वर्ण्य विषय कहते हैं कि उसमें तत्त्व-विचार का वर्णन है। सांख्य शास्त्र में दो ही तत्त्व प्रधान माने गये हैं—प्रकृति और पुरुष। यह छः शास्त्रों में एक है।

(२) 'तेहि मनु राज कीन्ह···'—मनु ने जो बहुत काल तक राज्य किया, वह राज्य के लोभ से नहीं, किंतु प्रभु की आज्ञा के पालन की दृष्टि से किया। प्रभु की आज्ञा वेद है, उसके अनुसार राज्य किया। 'बहुबिधि' अर्थात् वेद की एक-एक विधि को कई-कई प्रकार से किया और संसार को सिखाया।

मंगलमय मोक्ष करनेवाली अर्थात् ज्ञान-फलरूपा है, यथा—"ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।" (मा० दो० १५)। 'कलिमलहरनि'—पाप नाश करने से कर्म-फलरूपा है। 'मुनीस'—याज्ञवल्क्यजी ने प्रथम ही कहा था कि मैं—'उमा-संभु-संवाद' सम्पूर्ण कहूँगा। अतः, दोनों संवाद एक ही हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भइ नरसृष्टि अनूपा ॥१॥
दंपति-धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका ॥२॥

अर्थ—(आदि मन्वन्तर में) स्वायंभुव मनु और शतरूपाजी (हुए थे) जिनसे मनुष्य-सृष्टि हुई (मनुष्य उत्पन्न हुए) ॥ १ ॥ (वे) दोनों स्त्री-पुरुष उत्तम धर्माचरणवाले थे, जिनकी मर्यादा अब भी वेद गाते हैं ॥ २ ॥

विशेष—(१) 'स्वायंभुव मनु अरु'''—स्वयंभू ब्रह्मा का नाम है, उनसे उत्पन्न होने से इनका नाम स्वायंभुव हुआ। भाग० (स्कं० ३, अ० १२, श्लोक० ५२–५३) में कहा गया है कि ब्रह्मा प्रथम मानसी सृष्टि करते थे। सृष्टि वृद्धि न होने से चिन्तित हुए और दैव की शरण गये, त्यों ही उनका शरीर दो खंडों में विभक्त हो गया। उनमें से एक से पुरुष हुआ और दूसरे से स्त्री उत्पन्न हुई। इनसे सृष्टि की वृद्धि हुई। पुरुष को स्वायंभुव मनु और स्त्री को शतरूपा कहते हैं। ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) में १४ मनु भोग करते हैं। एक-एक मनु ७२ चतुर्युगियों के लगभग रहते हैं। यहाँ आदि के स्वायंभुव मनु का प्रसंग है। आगे इन्हें 'मनु' नाम से ही कहेंगे।

'नर-सृष्टि अनूपा' यथा—"नर-तनु सम नहिं कवनिहुँ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥" (उ० दो० १२०)।

(२) 'दंपति धरम आचरन'''—ये मनु उत्तम धर्माचरण में प्रथम हैं। ब्रह्माजी से वेद प्रकट हुए और मनु भी। वेदों के धर्म मनु करते हैं। ये जो आचरण करते हैं, वेदों में मिलते हैं; इसीसे वेदों का गाना कहा गया। इनकी स्मृति धर्माचरण में मुख्य मानी जाती है।

नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयेउ सुत जासू ॥३॥
लघुसुत नाम प्रियब्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ॥४॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ॥५॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥६॥

अर्थ—उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए थे ॥३॥ उन (मनु) के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था, जिनकी प्रशंसा वेद-पुराण करते हैं ॥ ४ ॥ पुनः देवहूति उनकी कन्या थी जो कर्दम मुनि की प्रिय स्त्री हुई। ५॥ जिसने अपने जठर (गर्भ) में आदिदेव, प्रभु, दीनदयालु और कृपालु कपिल भगवान का धारण किया ॥६॥

विशेष—(१) 'नृप उत्तानपाद'''—मनु का धर्माचरण कहकर अब दिखाते हैं कि उत्तम धर्माचरण से ऐसी-ऐसी सन्तानें होती हैं जिनके लोक परलोक दोनों बने हैं उत्तानपाद का प्रथम नाम देकर ज्येष्ठ पुत्र बनाया, ज्येष्ठ राज्याधिकारी होता है। अतः, 'नृप' कहकर उसकी बड़ाई की। पुनः उनकी

(२) 'तीरथ बर नैमिष ···'—यह स्थान नैमिषारण्य (नीमसार) नाम से अवध-प्रान्त के सीतापुर जिले में है। इसकी दो प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१)—वाराह पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष भर में ही असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी। इसीसे यह स्थल नैमिषारण्य कहाया। (२)—देवीभागवत में इसकी कथा इस प्रकार है कि ऋषि लोग कलिकाल के भय से बहुत घबराये। तब ब्रह्माजी ने उन्हें एक मनोमय चक्र दिया और कहा कि इस चक्र के पीछे-पीछे चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि (चक्र-चक्रपरिधि) टूट-फूट जाय, उसे अत्यन्त पवित्र स्थल समझना। वहाँ कलि का भय न रहेगा। यहीं पर सौति मुनि ने शौनकादि ऋषियों से महाभारत और पुराणों की कथाएँ कही हैं। 'साधक सिधिदाता'—साधक लोग सिद्धि पाते हैं, इसलिये वहाँ जाते हैं और सिद्धि पाकर भी रहते हैं।

(३) 'बसहिं तहाँ मुनि ······'—जगत् के जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। इनमें यहाँ साधक और सिद्ध दो का बसना कहा गया, विषयी का नहीं। 'हिय हरषि'—कार्य-सिद्धि का शकुन है।

(४) 'ज्ञान भगति जनु······'—मनु स्त्री के साथ सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य छोड़कर नंगे पैरों जा रहे हैं, वैराग्य एवं साधन में मतिधीर हैं। अतएव सोहते हैं। भक्ति और ज्ञान भगवान् की प्राप्ति के साधन हैं, ये दोनों भी भगवान् ही की प्राप्ति के लिये जा रहे हैं; अतः, उपमा योग्य है।

पहुँचे जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥ ५॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥ ७॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। संतसमाज नित सुनहिं पुराना॥ ८॥

दोहा—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव - पद - पंकरुह, दंपति - मन अति लाग॥१४३॥

अर्थ—धेनुमती (गोमती) नदी के किनारे जा पहुँचे और निर्मल जल में हर्षपूर्वक स्नान किया॥५॥ धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियों ने आदर के साथ करा दिये॥७॥ दुर्बल शरीर मनु मुनियों के वस्त्र (वल्कल कौपीन आदि) पहने संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते॥८॥ पुनः अनुराग-सहित द्वादशाक्षर मंत्र जपते हैं। वासुदेव भगवान् के चरण-कमलों में राजा-रानी का मन बहुत ही लग गया॥१४३॥

विशेष—(१) 'हरषि नहाने निरमल नीरा।'—माहात्म्य सुनने से हर्ष हुआ, तब स्नान किया, यही विधि है। यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह।" (लं० दो० ११९); 'निरमल नीरा'—अर्थात् निर्मल शरद् ऋतु आ गई थी।

(२) 'आये मिलन सिद्ध ······'—क्योंकि मनु बड़े धर्मात्मा, वैराग्यवान् और हरि-अनुरागी हैं, राज्य छोड़कर वानप्रस्थ भी ले लिया है, गुणों का आदर करना ही चाहिये।

(३) 'होइ न विषय बिराग'''—इनका वैराग्य समय के अनुसार ही जाग्रत हुआ, यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन ॥" (लं० दो० ६)। इनमें विषयों से और घर से वैराग्य-उदय होना संसार की शिक्षा के लिये है, क्योंकि इनका विषयों में आसक्त होना नहीं कहा जा सकता। इनके कुल में प्रियव्रत, ध्रुव आदि हुए, उन्होंने भी अपने आचरण से यही दिखाया है कि घर में रहते हुए विषयों से वैराग्य होना कठिन है। श्रीमद्भागवत स्कंध ५, अ० १ में प्रियव्रत का कथन है—अहो! राज्यभोग में पड़कर मैं परमार्थ-मार्ग से भ्रष्ट हो गया। इन्द्रियों ने मुझे अविद्या-रचित विषम विषयों के गड्ढे में गिरा दिया। मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है। बस, अब विषयभोगों का त्याग करना चाहिये। ऐसा ही विचार यहाँ मनु का भी जानना चाहिये।

मनु का प्रथम धर्म-पालन करना कहा गया, तब विषयों से वैराग्य होना बताया और फिर भक्ति की लालसा कही। यथा—"प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निज धर्म निरत श्रुति-रीती॥ येहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥" (आ० दो० १५)। मनु के धर्म निष्काम हुए थे, तभी परिणाम में वैराग्य हुआ, वैराग्य के लिये पश्चात्ताप होना त्याग की पहली अवस्था है।

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि-समेत गवन बन कीन्हा॥१॥
तीरथबर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक-सिधि-दाता॥२॥
बसहिं तहाँ मुनि-सिद्ध-समाजा। तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा॥३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥४॥

अर्थ—तब (मनु ने) बरबस (हठपूर्वक) पुत्र को राज्य दिया और स्त्री-सहित वन को चले॥१॥ अत्यन्त पवित्र, साधकों को सिद्धि का देनेवाला, तीर्थों में श्रेष्ठ नैमिषारण्य प्रसिद्ध है॥२॥ वहाँ मुनियों और सिद्धों का समाज निवास करता है, वहीं को प्रसन्न मन होकर राजा मनु चले॥३॥ धीरबुद्धि राजा-रानी मार्ग में जाते हुए यों सोहते हैं, मानों ज्ञान और भक्ति शरीर धारण किये हुए जा रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरबस राज सुतहिं'''—श्रीमद्भागवत से जान पड़ता है कि उत्तानपाद और उनकी सन्तान राज्य करते थे और यह भी विस्तार से कहा गया है कि मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य देना चाहा। वे नहीं लेते थे, फिर ब्रह्माजी के बहुत समझाने पर राज्य ग्रहण किया। तब मनु तप के लिये गये। इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि मनु को मन्वंतर भोग करना होता है, पर उनकी संतानों को नहीं। उन्होंने अपने रहते हुए पृथिवी का राज्य उत्तानपाद को दे दिया था, फिर ध्रुव आदि भोगते थे। प्रियव्रत नारदजी से ज्ञान पाकर निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ थे। मन्वंतर-समाप्ति के पूर्व ही जब उत्तानपाद के वंश में कोई न रहा, तब मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य दिया और स्वयं वन गये अथवा कल्प-भेद की दृष्टि से बरबस राज्य देना ज्येष्ठ पुत्र के विषय में भी ले सकते हैं। बरबस देने से राज्य लेने में पुत्र की पितृ-भक्ति दिखाई और 'नारि-समेत' से रानी का पातिव्रत्य कहा। पतिव्रता स्त्री के साथ वन जाने का विधान है। यथा—"पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥" (मनु०)।

ऊपर कहा था कि 'होइ न बिषय बिराग'—अतः, 'बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा' 'भवन बसत' अतः, 'गवन बन कीन्हा' और—'हृदय बहुत दुख लाग' 'जन्म गयो हरि भगति बिनु' अतएव— "बासुदेव-पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग।" आगे है।

(३) 'तीरथ वर नैमिष ···'—यह स्थान नैमिषारण्य (नीमसार) नाम से अवध-प्रान्त के सीतापुर जिले में है। इसकी दो प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१)—वाराह पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष भर में ही असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी। इसीसे यह स्थल नैमिषारण्य कहाया। (२)—देवीभागवत में इसकी कथा इस प्रकार है कि ऋषि लोग कलिकाल के भय से बहुत घबराये। तब ब्रह्माजी ने उन्हें एक मनोमय चक्र दिया और कहा कि इस चक्र के पीछे-पीछे चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि (चक्कर-चक्रपरिधि) टूट-फूट जाय, उसे अत्यन्त पवित्र स्थल समझना। वहाँ कलि का भय न रहेगा। यहीं पर सौति मुनि ने शौनकादि ऋषियों से महाभारत और पुराणों की कथाएँ कही हैं। 'साधक सिधिदाता'—साधक लोग सिद्धि पाते हैं, इसलिये वहाँ जाते हैं और सिद्धि पाकर भी रहते हैं।

(३) 'बसहिं तहाँ मुनि ······'—जगत् के जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। इनमें यहाँ साधक और सिद्ध दो का बसना कहा गया, विषयी का नहीं। 'हिय हरषि'—कार्य-सिद्धि का शकुन है।

(४) 'ज्ञान भगति जनु······'—मनु स्त्री के साथ सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य छोड़कर नंगे पैरों जा रहे हैं, वैराग्य एवं साधन में मतिधीर हैं। अतएव सोहते हैं। भक्ति और ज्ञान भगवान् की प्राप्ति के साधन हैं, ये दोनों भी भगवान् ही की प्राप्ति के लिये जा रहे हैं; अतः, उपमा योग्य है।

पहुँचे जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥ ५॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥ ७॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। संतसमाज नित सुनहिं पुराना॥ ८॥

दोहा—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव - पद - पंकरुह, दंपति - मन अति लाग॥१४३॥

अर्थ—धेनुमती (गोमती) नदी के किनारे जा पहुँचे और निर्मल जल में हर्षपूर्वक स्नान किया॥५॥ धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियों ने आदर के साथ करा दिये॥७॥ दुर्बल शरीर मनु मुनियों के वस्त्र (वल्कल कौपीन आदि) पहने संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते॥८॥ पुनः अनुराग-सहित द्वादशाक्षर मंत्र जपते हैं। वासुदेव भगवान् के चरण-कमलों मे राजा-रानी का मन बहुत ही लग गया॥१४३॥

विशेष—(१) 'हरषि नहाने निरमल नीरा।'—माहात्म्य सुनने से हर्ष हुआ, तब स्नान किया, यही विधि है। यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह।" (लं० दो० ११९); 'निरमल नीरा'—अर्थात् निर्मल शरद् ऋतु आ गई थी।

(२) 'आये मिलन सिद्ध ······'—क्योंकि मनु बड़े धर्मात्मा, वैराग्यवान् और हरि-अनुरागी हैं, राज्य छोड़कर वानप्रस्थ भी ले लिया है, गुणों का आदर करना ही चाहिये।

(३) 'जहँ-जहँ तीरथ······'—इस क्षेत्र के तीर्थ मिश्रिख, पंचप्रयाग आदि हैं।

(४) 'कृस सरीर······'—तीर्थ-वास, नीरस (फलाहार आदि) भोजन, वल्कल वस्त्र आदि से शरीर दुबला हो गया। प्रथम तीर्थ दर्शन किये, फिर संतों से पुराण आदि की कथाएँ सुनीं।

(५) 'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि ····'—'सहित अनुराग' क्योंकि—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा॥" (उ० दो० ६१)। मंत्र-जप के साथ उसके देवता का ध्यान भी करना चाहिये। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र); तथा—"मंत्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। यहाँ द्वादशाक्षर मंत्र जपा गया है और उसके इष्ट देवता को वासुदेव संज्ञा दी गई है। अंत में श्रीसीतारामजी प्रकट हुए। यह नियम है कि जिस देवता का मंत्र-द्वारा आराधन होता है, वही प्रकट होता है। अतः, वासुदेव श्रीरामजी को ही कहा है, और इसका अर्थ भी अंत में खोल दिया है कि—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना।" (दो० १४५)। ये विश्व में बसनेवाले सीता-राम-रूप में ही प्रत्यक्ष हुए हैं। यथा—"सब के उर अंतर बसहु······" (अ० दो० २५७); "अन्तरजामी रामसिय" (अ० दो० २५६) तथा—"नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः। नमोऽस्तु रामदेवाय जगदानंदरूपिणे॥" (सनत्कुमार सं०); अर्थात् वासुदेव श्रीरामजी का ही विशेषण है। पुनः—"सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेऽस्मिन्वसते च यः। तमाहुर्वासुदेवञ्च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" (महारामायण); अर्थात् जिसमें सब बसते हैं और जो सब में बसता है, वही वासुदेव है। अतः, श्रीरामजी ही वासुदेव हैं।

द्वादशाक्षर मंत्र में दो मत हैं –(क) "ॐनमो भगवते वासुदेवाय" यही द्वादशाक्षर मंत्र श्रीनारदजी ने ध्रुव को दिया था। ध्रुव राज्य-कामना से निकले थे। श्रीनारदजी ने इन्हें वहाँ चतुर्भुज रूप का ध्यान बताया था। वही स्वरूप प्रकट हुआ और उन्हें वर दिया।

वासुदेव मंत्र चतुर्व्यूह गत वासुदेव और परवासुदेव दोनों का वाचक है। श्रीनारदपंचरात्र में परवासुदेव की मूर्त्ति का ध्यान यह लिखा है, यथा—"मरीचिमंडले संस्थं बाणाद्यायुधलांछितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः॥" अर्थात् तेजोमंडल में स्थित बाण आदि आयुधों से चिह्नित, द्विभुज, एक मुख—यही हरि का आदि रूप है। मनु-शतरूपा ने पर-वासुदेव रूप का ध्यान-सहित निष्काम आराधन किया, दर्शन-मात्र चाहते थे। अतः, पर-स्वरूप ही युगल विग्रह से सामने आये।

(ख) द्वादशाक्षर युगल मंत्र है, इसमें छः अक्षरों का श्रीराम मंत्र और छः अक्षरों का श्रीसीता-मंत्र है। इन दोनों मंत्रों का जप एकसाथ किया जाता है। इसी मंत्र से साथ ही सीतारामजी प्रकट हुए, यथा—"राम बाम दिसि सीता सोई।" (दो० १४७)। इसपर दो० १८ का विशेष भी देखिये।

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥ १॥
पुनि हरि-हेतु करन तप लागे। बारि-अधार मूल फल त्यागे॥ २॥
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ ३॥

अर्थ—(मनु) शाक (साग), फल, कंद (मूल) खाते और सच्चिदानंद ब्रह्म का स्मरण करते हैं॥१॥ हरि के लिये फिर तप करने लगे। मूल फल भी छोड़कर जल मात्र के आधार पर रहने लगे॥२॥ हृदय में निरंतर यही लालसा हुआ करती थी कि हम उन्हीं परम प्रभु को आँखों से देखें॥३॥

विशेष—(१) 'करहिं अहार साक···'—जब से तीर्थ में बसे, तब से फलाहार पर रहते थे। प्रथम कंद-मूल-फल, तब साग चाहिये, क्योंकि जैसे अन्न की अपेक्षा मूल-फल नीरस है, वैसे मूल-फल की अपेक्षा साग, परन्तु यहाँ कोई नियम नहीं है। जब जो कुछ मिल गया, खा लिया। श्रीपार्वतीजी अत्यन्त सुकुमारी एवं बालिका थीं, यथा—"अति सुकुमारि न तनु तप जोगू।" (दो० ७३)। अतः, उनका आहार क्रम से है और उनका आहार सहित तप भी कठिन तप है। इसी से उनके आहार सहित तप की संख्या दी गई है और मनु ने निराहार रहकर तपस्या की, क्योंकि इनका निराहार तप ही भारी तप है। इसीसे श्रीपार्वतीजी के निराहार तप की और मनु के आहार-सहित तप की संख्या नहीं दी।

(२) 'पुनि हरि-हेतु करन तप···' यहाँ 'पुनि' शब्द तप एवं आहार बदलने के साथ है। 'हरि' शब्द का तात्पर्य—'रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लोक ६) से है, वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, यथा—"राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (दो० ११५)।

(३) 'उर अभिलाष···'—उन परम प्रभु का अनुभव प्रायः मुनि लोग ध्यान-द्वारा ही करते थे, मनु को नेत्रों से देखने की अभिलाष होने लगी। इसका इन्हें दृढ़ विश्वास है। वही आगे कहते हैं—

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥४॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥५॥
संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥६॥
ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत-हेतु लीला तनु गहई ॥७॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥८॥

अर्थ—जो निर्गुण, अखंड (अविच्छिन्न), अंत और आदि (मरण और जन्म) रहित हैं, जिनका चिन्तन परमार्थवेत्ता (तत्त्ववेत्ता) किया करते हैं ॥४॥ जिनका निरूपण वेद 'नेति नेति' कहकर करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि (माया) और उपमा-रहित हैं ॥५॥ जिनके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उत्पन्न होते हैं ॥६॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवक के वश हैं और भक्तों के लिये अपने शरीर में लीला को ग्रहण करते हैं ॥७॥ जो वेद यह वचन सत्य ही कहते हैं तो हमारी अभिलाषा (अवश्य) पूरी होगी ॥८॥

विशेष—(१) 'अगुन अखंड अनंत···' यथा—"गुनातीत सचराचर स्वामी। राम ··" (आ० दो० ३८); "उमा एक अखंड रघुराई।" (लं० दो० ६०); "राम अनंत अनत गुन ··" (दो० ३३); "आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (दो० ११७); "प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥" (दो० १०८)।

(२) 'नेति नेति जेहि बेद···' यथा—"निगम नेति सिव अंत न पावा।" (दो० २०१); दो० १२ भी देखिये। "जो आनंदसिंधु सुखरासी।" (दो० १९६); "नरपधि निरुपम प्रभु जगदीसा।" (उ० दो० ११)।

(३) 'संभु बिरंचि बिष्णु···'—'नाना' शब्द अनेक ब्रह्मांडों के अनेक त्रिदेवों के लिये आया है। यथा—"लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसित्राता ॥" (उ० दो० ८०)।

(४) 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।'—जिनके अंश से त्रिदेव उपजते हैं वे भक्तों के लिये अपने शरीर में बाल, पौगंड आदि लीलाओं का ग्रहण करते हैं अर्थात् स्वयं उपजते-से दीखते हैं। यह भक्तों पर ममता है, यथा—"इच्छामय नर-बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१)।

(५) 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।'—वेद के प्रमाण, यथा—"भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैद्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥" (सामवेद सं० ड० १५।२।१।३)। इस मंत्र में श्रीरामजी की लीला कही गई है जो भाष्य में विस्तार से दिखाई गई है।

अपने नित्य शरीर में लीला-ग्रहण के प्रमाण श्रीरामतापनीय उपनिषत्पूर्वार्द्ध ७-१० मंत्रों में विस्तार से दिये गये हैं, वहाँ परात्पर ब्रह्म साकेताधीश श्रीरामजी के प्रति पंचधा कल्पनाएँ कही गई हैं—रूप, वर्ण, वाहन, शक्ति, सेना। ये पाँच कल्पनाएँ भाष्य मे विस्तार से हैं, वहीं देखना चाहिये।

(६) 'तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा।'—वेद भगवान् के वचन हैं। अत, सत्य हैं, ऐसे विश्वास से अवश्य फल होता है। 'अगुन अखंड'' से—'लीला तनु गहई' तक की बातें हृदय की ही हैं—किसी से संवाद-रूप में नहीं हैं।

न्याय के अनुसार प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। यहाँ चारो आये हैं। यथा—'अगुन अखंड ''' में 'चितहि' से अनुमान, 'निरूपा' से उपमान, वेद शब्द रूप है, वह नेति नेति कहता है। अतः, इसमें नहीं आता। 'लीलातनु गहई' यह प्रत्यक्ष है।

दोहा—येहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि-आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर-अधार॥१४४॥

बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार जल का आहार करते हुए छः हजार वर्ष बीत गये, फिर सात हजार वर्ष वायु के आधार पर (हवा पीकर) रहे॥१४४॥ दस हजार वर्ष इसको भी छोड़े रहे, दोनों (मनु और शतरूपा) एक पैर से खड़े रहे॥१॥

विशेष—यहाँ तक इनके तप की चार कोटियाँ क्रमशः अधिक कठिन होती गईं, जैसे (१) प्रथम तीर्थ में आने पर फल मूल-शाक आदि के आधार पर अन्न त्यागकर रहते थे। उसकी वर्ष-संख्या नहीं दी गई थी, क्योंकि यह उनके लिये कोई कठिन बात न थी। (२) फिर फलाहार त्यागकर केवल जलाहार पर ही छः सहस्र वर्षों तक रहे। (३) तब जल भी त्यागकर केवल वायु के ही आधार पर सात सहस्र वर्षों तक रहे। (४) इतने पर भी मनोरथ-सिद्धि न देखकर निराहार एक पैर पर खड़े रहकर तप करने लगे। इसमें कुछ आहार तो था ही नहीं कि जिसे छोड़कर दूसरा ग्रहण करते; इससे लगातार दस सहस्र वर्षों तक इसी नियम में रह गये। निष्ठा यही थी कि प्रभु के दर्शनों पर नियम समाप्त होगा। भगवान् की प्राप्ति में कोई नियमित साधन एवं समय नहीं है, वे जब चाहें, कृपा करके ही प्राप्त होते हैं। अत', चौथी कोटि नियमहीन थी।

विधि-हरि-हर तप देखि अपारा । मनु-समीप आये बहु बारा ॥२॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहिं चलहिं चलाये ॥३॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाक मनहि नहि पीरा ॥४॥

शब्दार्थ—अपारा = जिसका पार नहीं, बहुत बड़ा । अस्थि = हड्डी । मनाक (मनाक्) = किंचित्, थोड़ा ।

अर्थ—उनका बहुत बड़ा तप देख कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनु के पास बहुत बार आये ॥२॥ बहुत प्रकार से लालच दिया कि वर माँगो, पर वे परम धीर हैं । अतः, डिगाने से न डिगे ॥३॥ शरीर में हड्डी मात्र रह गई, तो भी उनके मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई ॥४॥

विशेष—(१) 'मनु समीप आये बहु बारा ।'—आकाशवाणी ही से संतुष्ट नहीं किया; किन्तु समीप आये, क्योंकि इनका मनोरथ परम प्रभु के दर्शनार्थ है, यथा—"उर अभिलाष निरंतर होई । देखिय···" इसीलिये तीनों बार-बार आये कि हम परम प्रभु के अंश हैं । तीनों के दर्शनों से यदि इन्हें अंश-अंशी में अभेद दृष्टि से संतोष हो जाय तो परम प्रभु को क्यों आना पड़े ? 'बहु बारा'—एक बार छः सहस्र वर्षों के अनुष्ठान पर, फिर सप्त सहस्र वर्षों पर और फिर दश सहस्र पर भी आये । 'बहु भाँति लोभाये'—अपने-अपने लोकों की प्राप्ति का लोभ दिखाया । पर ये अपनी अनन्यता में परम धीर (दृढ़) थे, इससे न डिगे । 'चलहिं चलाये'—और देवता अपने साधक की स्वयं परीक्षा लेते हैं, परम प्रभु की साधना में त्रिदेव ही आये और सब प्रकार से हार गये ।

(२) 'अस्थि मात्र होइ···'—पूर्व ही से शरीर कृश होने लगा था, यथा—"कृस सरीर मुनि-पट···" कहा गया । अब हड्डी मात्र रह गई । फिर कुछ भी पीड़ा क्यों न हुई ? इसका कारण पूर्व ही कहा गया है कि—"बासुदेव-पद-पंकरुह, दंपति मन अति लाग ।" (दो० १४३) अर्थात् इनका मन भगवान् में प्रीतिपूर्वक लगा है, फिर दुःख का अनुभव कौन करे ? यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ॥" (अ० दो० २०४); "बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही ॥" (सुं० दो० ३१) ।

प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ॥५॥
माँगु माँगु बर भइ नभबानी । परम गँभीर कृपामृत-सानी ॥६॥
मृतक-जियावनि गिरा सुहाई । श्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥७॥
हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये । मानहुँ अबहिं भवन ते आये ॥८॥

दोहा—श्रवन-सुधा-सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात ।
बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

अर्थ—सब जाननेवाले प्रभु ने तपस्वी राजा रानी की अनन्य गति देखकर उनको अपना (अनन्य) दास जाना ॥५॥ परम गम्भीर कृपा-रूपी अमृत में सनी हुई आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो' ॥६॥ मरे हुए को जिलानेवाली सुहावनी वाणी जब कानों के छेदों में होकर हृदय में आई ॥७॥

दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम-रस-पागे ॥७॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥८॥

दोहा—नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम ॥१४६॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्री-पुरुष। पागे=सने हुए, ओतप्रोत। भगत बछल=भक्तवत्सल। आश्रित के दोषों का भोक्ता होना वात्सल्य गुण है। गाय जैसे नवजात बछड़े को प्यार करती है और उसके घृणित विकारों को जीभ से साफ करती है, वैसे प्यार करना और दोष हरना वात्सल्य है।

अर्थ—दंपती (मनु शतरूपा) के वचन परम प्रिय लगे, (क्योंकि) वे कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे ॥७॥ भक्तवत्सल, कृपानिधान, संसार-भर में बसनेवाले एवं जगत् में व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हुए ॥८॥ नील कमल, नील मणि और नीले मेघों के समान श्याम वर्ण शरीर की शोभा देखकर करोड़ों-अर्बों कामदेव लज्जित होते हैं ॥१४६॥

विशेष—(१) 'दंपति-बचन ···'—पूर्व केवल मनु का बोलना कहा गया है। यथा—"बोले मनु करि दंडवत" और यहाँ उसे दंपती (मनु-शतरूपा)—दोनों—का वचन कहते हैं, यह विरोध क्यों?

समाधान—मनु शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिंग दोनों है, यह "मनोरौवा" इस सूत्र से स्त्रीलिंग भी सिद्ध होता है। अतः, राजा-रानी दोनों का बोध हुआ। बोलने में मनु ही थे, अर्द्धांगिभाव से रानी भी उसमें सहमत थीं।

(२) 'मृदुल बिनीत···'—कोमल वचन प्रिय होते हैं, विनीत भी होने से अति प्रिय और प्रेम-रस-पगे होने से परम प्रिय लगे। ऊपर दोहे में कहा गया—'प्रेम न हृदय समात'। ऐसे प्रेममय हृदय से वचन निकले हैं, इसीसे भक्त गुण का आना योग्य ही है। श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है। यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा" (अ० दो ११६); इसीसे वे प्रकट हो गये। यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो०१८५)।

(३) 'भगतबछल प्रभु ···'—प्रभु भक्तवत्सल हैं, समर्थ भी हैं, अर्थात् भक्त के लिये सब कुछ करने में समर्थ हैं। 'कृपानिधान' हैं, इसीसे प्रकट होते हैं। यथा—"भये प्रगट कृपाला" (दो० १९१)। 'बिस्वबास' यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (दो० १८४)। अतः, आपको कहीं से आना नहीं पड़ा, वहीं प्रकट हो गये, भक्त-हित सम्बन्ध से 'भगवाना' कहे गये हैं। यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप॥" (उ० दो० ७२)।

(४) 'नीलसरोरुह नीलमनि···'—यहाँ शरीर की श्यामता के लिये तीन उपमाएँ दी गई हैं। जीव तीन स्थानों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० ३)। यहाँ कमल जल में, मणि स्थल में और मेघ आकाश में रहते हैं, अतएव श्यामता में तीन विशेषण दिये गये।

शरीर के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये तीन उपमाएँ दीं। तीनों में १६ धर्म हैं। इनसे परम प्रभु के षोडश शोभामय गुण दिखाये हैं। कमल के छः धर्म हैं—सुंदरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता

और मकरन्द। वैसे प्रभु का शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगंधयुक्त, मनोहर और माधुर्य रस युक्त है। मणि के आठ धर्म हैं—उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरण-रहित, शुद्ध, अपवित्र न होनेवाला, सुषमा, एक रस दीप्ति, आब। प्रभु का शरीर—तमोगुणादि रहित, निरंजन, निर्मल एकरस, तन मन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज और लावण्ययुक्त है। मेघ में दो गुण हैं—गंभीर श्याम, बिजली-युक्त। वैसे प्रभु—गंभीर श्याम शरीर और पीतपट-युक्त हैं।

(५) 'लाजहिं तनु सोभा निरखि...' अर्थात् जैसा शरीर में रंग और शोभा है, वैसे प्राकृत उपमाओं में यथार्थ नहीं आते, उपमाओं को अल्प अंश में ही जानना चाहिये। यथा—"नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होति॥" (गी० बा० ११)। तथा—"श्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (दो० ३२६)। कई उपमाएँ देते हुए समता न पाकर अंत में—'लाजहिं...' से शरीर को अनुपम जनाया, यहाँ समष्टि में शरीर-शोभा कही, अब पृथक्-पृथक् अंग की शोभा कहते हैं—

सरद-मयंक-बदन छबिसींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा॥२॥
नव-अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाटपटल दुतिकारी॥४॥

शब्दार्थ—मयंक = चन्द्रमा। कपोल = गाल। चिबुक = ठोढ़ी। ग्रीवा = कंठ, गरदन। अधर = ओंठ। रद = दाँत। बिधु = चन्द्रमा। कर = किरण। निकर = समूह। अंबुज = कमल। अंबक = आँख। ललित = सुन्दर = स्नेह-भरी। भावती = सुहानेवाली। पटल = तह या समूह।

अर्थ—उनका मुख शरदपूनो के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा है, गाल और ठोढ़ी सुन्दर हैं और गला शंख के समान है॥१॥ ओष्ठ लाल, दाँत और नासिका सुन्दर हैं, हँसी चन्द्रमा की किरण-समूह को विशेष करके नीचा दिखानेवाली है॥२॥ नेत्रों की छवि नये खिले हुए कमल के समान सुन्दर है और स्नेह-भरी चितवनि हृदय को भानेवाली है॥३॥ भौंहें कामदेव के धनुष की छवि को हरनेवाली हैं, ललाट-पटल पर तिलक प्रदीप्त हो रहा है॥४॥

विशेष—(१) 'सरद-मयंक...' यहाँ शरद् मात्र में शरत्पूनो से तात्पर्य है। यथा—"सरद सर्बरी-नाथ-मुख..." (अ० दो० ११६)। 'सींवा' समुद्र को भी कहा जाता है, इस वर्णन का उपसंहार भी समुद्र ही पर हुआ है। यथा—"छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी।" इससे सर्वांग में अगाध सौन्दर्य जनाया। जिस अंग की अल्पांश में भी उपमा पाते हैं, तो कहते हैं, अन्यथा निरुपम जनाते हुए उनकी उपमा नहीं देते, जैसे यहाँ कपोल, चिबुक छोड़ दिये हैं। 'दर ग्रीवा' शंख के समान त्रिरेखायुक्त चढ़ा-उतार गला।

(२) 'अधर अरुन रद...... हासा।' हँसी के साथ ही अधर की ललाई और दाँतों की चमक भी सोहती है। अतः, साथ कथित हैं। यथा—"मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्द तड़ित सहित किय बासा (गी० ब० १२)। चन्द्रमा की किरणें आह्लादमयी होती हैं, वैसे आपकी हँसी हार्दिक आनंद का प्रकाश करनेवाली है। यथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (दो० १२७) अर्थात् आपका आनद-पूर्ण हास भक्तों के अनुग्रह के लिये होता है। इससे जनों का ताप दूर होता है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(ग) आगे इसे 'दंपतिवचन' कहेंगे। अतः, मनु की तरफ से 'सुरतरु' और शतरूपा की ओर से 'सुरधेनु' कहे गये हैं।

(२) 'विधि-हरि-हर-वंदित'…'—पूर्व त्रिदेवों का अंश से उपजना कहा था, अब यहाँ दिखाते हैं कि वे आप ही के चरण-रेणु की वंदना से अधिकार एवं उसमें सफलता पाते हैं। यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका।…चंदत चरन करत प्रभु-सेवा॥" (दो० ५४); "हरिहिं हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई। सोई जानकीपति…" (वि० १३५)।

(३) 'सेवत सुलभ सकल…' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); "तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करहिं " (वि० १६२)।

(४) 'अनाथहित' यथा—"नाथ तू अनाथ को" (वि० ७६); "अनाथ पर कर प्रीति जो सो एक राम"—(उ० दो० १३०)।

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥४॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥५॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन॥६॥

अर्थ—जो स्वरूप शिवजी के मन में बसता है, जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं॥४॥ जो काकभुशुंडीजी के मन रूप मानस-सर का हंस है, जो सगुण और निर्गुण दोनों है और जिसकी वेद प्रशंसा करते हैं॥५॥ हे शरणागतों की विपत्ति छुड़ानेवाले! कृपा कीजिये कि हम उस रूप को आँखें भरकर देखें॥६॥

विशेष—(१) 'जो सरूप बस सिव…निगम प्रसंसा'—शिवजी भगवान् हैं, राम-भक्ति के आचार्य हैं, योग ज्ञान-वैराग्य के निधि हैं। मुनि वाल्मीकि, व्यास आदि भी सर्वज्ञ हैं और भुशुंडीजी के आश्रम के आस-पास योजन तक माया नहीं व्यापती। ये लोग परात्पर रूप ही के नैष्ठिक होंगे और वेद भगवान् की वाणी एवं परम सत्य है, वह भी परात्पर को ही सगुण-निर्गुण कहेगा और प्रशंसा करेगा। हम वही रूप देखें।

(२) वेद कांडत्रय रूप मे प्रशंसा करता है। उसीके अनुसार शिवजी ज्ञानी, मुनि याज्ञवल्क्य आदि कर्मकांडी और भुशुंडीजी उपासक होकर उसका साक्षात्कार भी कर चुके हैं। वही निश्चित तत्त्व रूप परम प्रभु है, यह मनु का अभिप्राय है।

'मुनि जतन' यथा—"करि ज्ञान ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।" (आ० दो० ३१)।

(३) मनु ने केवल परम प्रभु की उपासना की है और उसके लिये उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं, अब जो स्वरूप इनके समक्ष मे आवेगा, वही परात्पर तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

(४) 'देखहिं हम सो रूप…' शिव आदि समर्थ हैं, पर हम तो आपकी कृपा से ही दर्शन चाहते हैं। कृपा प्रणत पर होती है, हम प्रणत हैं, और दर्शनों के लिये आर्त हैं, दर्शन देकर यह दुःख दूर कीजिये। शिवादि मन में ध्यान से देखते हैं और हम प्रत्यक्ष दर्शन चाहते हैं। अतः, यह कृपा ही से होगा।

तब उनके शरीर हट्टे-कट्टे (मोटेताजे) हो गये, मानों अभी-अभी घर से चले आ रहे हैं ॥८॥ कानों से अमृत के समान वचन सुनते ही शरीर पुलकावली से खिल गया, प्रेम हृदय में नहीं समाता, मनु दंडवत् प्रणाम करके बोले ॥१४५॥

विशेष—(१) 'प्रभु सर्वज्ञ दास……' त्रिदेव तप देखते थे, परम प्रभु ने अपनी सर्वज्ञता से इनके अंतःकरण का अनन्यता-सहित प्रेम देखा और अपना दास जाना। यथा—"एक बानि करुना-निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (आ॰ दो॰ ९); "तिन्हते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥" (उ॰ दो॰ ८५)। प्रभु ने जान लिया कि अब ये बिना दर्शन दिये प्राण ही त्याग देंगे, तब आकाशवाणी की।

(२) 'माँगु माँगु बर ……'– यहाँ शंका की जाती है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। अतः, जानते ही हैं कि मनु दर्शन चाहते हैं। फिर माँगने को क्यों कहा ? इसका समाधान है—प्रभु का यह नियम है कि भक्त के मुख से कहलाकर आशा पूर्ण करते हैं। जैसे षट् शरणागति में 'गोप्तृत्ववरण' नामक एक शरणागति है जिसका अर्थ यह है कि रक्षा के लिये प्रभु का वरण करे (प्रार्थना-पूर्वक कहे) ; यह भी कहा जाता है कि एकदम सम्मुख आने से अत्यन्त हर्ष से प्राण-त्याग की संभावना थी। अतः, प्रथम आकाशवाणी द्वारा थोड़ा सुख दिया, जिससे शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया। इससे परब्रह्म होने का विश्वास भी हुआ और अब दर्शनों का लाभ भी पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकेंगे। इनके वर माँगने से यह भी निश्चय होगा कि ये किस रूप के दर्शन चाहते हैं ? 'माँगु माँगु' में आदरार्थ 'वीप्सा' अलंकार है। 'परम गँभीर' यथा—"भाई सो करत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (गी॰ बा॰ ७१)।

(३) 'श्रवन सुधा …'—इसमें 'बोले' वचन, 'करि दंडवत' कर्म और 'प्रेम न …' में मन का भाव दिखाया। परम प्रभु ने इनका शरीर पूर्ववत् कर दिया, जो इनके लिये तप से सुखाया गया था। फिर भोग-त्याग के बदले स्वर्ग का भोग भी दे देंगे। स्वयं तो केवल कृपा से प्राप्त होंगे। क्योंकि आप साधन-साध्य नहीं हैं ; परिमित पदार्थ ही परिमित साधन से प्राप्त होता है, परम प्रभु नहीं। यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन।" (मुंडक १।२।१२)।

सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित-पद-रेनू ॥ १ ॥
सेवत सुलभ सकल-सुख-दायक। प्रनतपाल सचराचर-नायक ॥ २ ॥
जौं अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सेवकों के कल्पवृक्ष और कामधेनु ! सुनिये, आपके चरण-रज की वंदना ब्रह्मा, विष्णु और महेश करते हैं ॥१॥ सेवा करते ही सुलभ होनेवाले, सब सुखों के देनेवाले, शरणागत के रक्षक, चर और अचर सहित (जगत्) के स्वामी ॥२॥ और हे अनाथों के हित करनेवाले ! जो आपका हमपर स्नेह है तो प्रसन्न होकर यह वर दीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनु।'—ये दो उपमाएँ दी गई हैं, इनके भाव—(क) प्रथम कल्पवृक्ष कहा, फिर विचारा कि वृक्ष तो जड़ होता है, वहाँ तक पहुँचने की योग्यता चाहिये, यह हम दोनो में नहीं है। अतः, कामधेनु भी कहा। भाव यह कि आप दोनों प्रकार से इच्छापूरक हैं।

(ख) आकाशवाणी में 'माँगु-माँगु' के दो बार कहे जाने से परम प्रभु का शक्ति-सहित दो रूपों में होना समझ पड़ा, इसलिये प्रभु को कल्पवृक्ष और शक्ति को कामधेनु कहा।

(ग) आगे इसे 'दंपतिवचन' कहेंगे। अतः, मनु की तरफ से 'सुरतरु' और शतरूपा की ओर से 'सुरधेनु' कहे गये हैं।

(२) 'बिधि-हरि-हर-बंदित'''—पूर्व त्रिदेवों का अंश से उपजना कहा था, अब यहाँ दिखाते हैं कि वे आप ही के चरण-रेणु की वंदना से अधिकार एवं उसमें सफलता पाते हैं। यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका।'''बंदत चरन करत प्रभु-सेवा ॥" (दो० ५४); "हरिहिं हरिता बिधिहिं बिधिता सिवहि सिवता जो दई। सोई जानकीपति'''" (वि० १३५)।

(३) 'सेवत सुलभ सकल''' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २६८); "तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करहिं " (वि० १६२)।

(४) 'अनाथहित' यथा—"नाथ तू अनाथ को" (वि० ७६); "अनाथ पर कर प्रीति जो सो एक राम"—(अ० दो० १२०)।

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥४॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥५॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन ॥६॥

अर्थ—जो स्वरूप शिवजी के मन में बसता है, जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं ॥४॥ जो काकभुशुंडीजी के मन रूप मानस-सर का हंस है, जो सगुण और निर्गुण दोनों है और जिसकी वेद प्रशंसा करते हैं ॥५॥ *हे शरणागतों की विपत्ति छुड़ानेवाले! कृपा कीजिये कि हम उस रूप को आँखें भरकर देखें॥६॥*

विशेष—(१) 'जो सरूप बस सिव'''निगम प्रसंसा'—शिवजी भगवान् हैं, राम-भक्ति के आचार्य हैं, योग-ज्ञान-वैराग्य के निधि हैं। मुनि वाल्मीकि, व्यास आदि भी सर्वज्ञ हैं और भुशुंडीजी के आश्रम के आस-पास योजन तक माया नहीं व्यापती। ये लोग परात्पर रूप ही के नैष्ठिक होंगे और वेद भगवान् की वाणी एवं परम सत्य है, वह भी परात्पर को ही सगुण-निर्गुण कहेगा और प्रशंसा करेगा। हम वही रूप देखें।

(२) वेद कांडत्रय रूप से प्रशंसा करता है। उसीके अनुसार शिवजी ज्ञानी, मुनि याज्ञवल्क्य आदि कर्मकांडी और भुशुंडीजी उपासक होकर उसका साक्षात्कार भी कर चुके हैं। वही निश्चित तत्त्व रूप परम प्रभु है, यह मनु का अभिप्राय है।

'मुनि जतन' यथा—"करि ज्ञान ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।" (आ० दो० ३१)।

(३) मनु ने केवल परम प्रभु की उपासना की है और उसके लिये उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं, अब जो स्वरूप इनके समक्ष में आवेगा, वही परात्पर तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

(४) 'देखहिं हम सो रूप''' शिव आदि समर्थ हैं, पर हम तो आपकी कृपा से ही दर्शन चाहते हैं। कृपा प्रणत पर होती है, हम प्रणत हैं, और दर्शनों के लिये आर्त हैं, दर्शन देकर यह दुःख दूर कीजिये। शिवादि मन में ध्यान से देखते हैं और हम प्रत्यक्ष दर्शन चाहते हैं। अतः, यह कृपा ही से होगा।

दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम-रस-पागे ॥७॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥८॥

दोहा—नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम ॥१४६॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्री-पुरुष। पागे=सने हुए, ओतप्रोत। भगत-बछल=भक्तवत्सल। आश्रित के दोषों का भोक्ता होना वात्सल्य गुण है। गाय जैसे नवजात बछड़े को प्यार करती है और उसके घृणित विकारों को जीभ से साफ करती है, वैसे प्यार करना और दोष हरना वात्सल्य है।

अर्थ—दंपती (मनु शतरूपा) के वचन परम प्रिय लगे, (क्योंकि) वे कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे ॥७॥ भक्तवत्सल, कृपानिधान, संसार-भर में बसनेवाले एवं जगत् में व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हुए ॥८॥ नीले कमल, नील मणि और नीले मेघों के समान श्याम वर्ण शरीर की शोभा देखकर करोड़ों-अर्बों कामदेव लज्जित होते हैं ॥१४६॥

विशेष—(१) 'दंपति-बचन ···'—पूर्व केवल मनु का बोलना कहा गया है। यथा—"बोले मनु करि दंडवत" और यहाँ उसे दंपती (मनु-शतरूपा)—दोनो—का वचन कहते हैं, यह विरोध क्यों?

समाधान—मनु शब्द पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनो है, यह "मनोरौवा" इस सूत्र से स्त्रीलिंग भी सिद्ध होता है। अतः, राजा-रानी दोनो का बोध हुआ। बोलने में मनु ही थे, अर्द्धांगिभाव से रानी भी उसमें सहमत थीं।

(२) 'मृदुल बिनीत···'—कोमल वचन प्रिय होते हैं, विनीत भी होने से अति प्रिय और प्रेम-रस-पगे होने से परम प्रिय लगे। ऊपर दोहे में कहा गया—'प्रेम न हृदय समात'। ऐसे प्रेममय हृदय से वचन निकले हैं, इसीसे पक्त गुण का आना योग्य ही है। श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है। यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा" (अ० दो १३६); इसीसे वे प्रकट हो गये। यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो०१८४)।

(३) 'भगतबछल प्रभु ···'—प्रभु भक्तवत्सल हैं, समर्थ भी हैं, अर्थात् भक्त के लिये सब कुछ करने में समर्थ हैं। 'कृपानिधान' हैं, इसीसे प्रकट होते हैं। यथा—"भये प्रगट कृपाला" (दो० १९१)। 'बिस्वबास' यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (दो० १८४)। अतः, आपको कहीं से आना नहीं पड़ा, वहीं प्रकट हो गये, भक्त-हित सम्बन्ध से 'भगवाना' कहे गये हैं। यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप॥" (उ० दो० ७२)।

(४) 'नीलसरोरुह नीलमनि···'—यहाँ शरीर की श्यामता के लिये तीन उपमाएँ दी गई हैं। जीव तीन स्थानों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० ३)। यहाँ कमल जल में, मणि स्थल में और मेघ आकाश में रहते हैं, अतएव श्यामता में तीन विशेषण दिये गये।

शरीर के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये तीन उपमाएँ दीं। तीनो में १६ धर्म हैं। इनसे परम प्रभु के षोडश शोभामय गुण दिखाये हैं। कमल के छः धर्म हैं-सुंदरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता

और मकरन्द। वैसे प्रभु का शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगंधयुक्त, मनोहर और माधुर्य रस युक्त है। मणि के आठ धर्म हैं—उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरण-रहित, शुद्ध, अपवित्र न होनेवाला, सुपमा, एक रस दीप्ति, आब। प्रभु का शरीर—तमोगुणादि रहित, निरंजन, निर्मल एकरस, तन मन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज और लावण्ययुक्त है। मेघ में दो गुण हैं—गंभीर श्याम, बिजली-युक्त। वैसे प्रभु—गंभीर श्याम शरीर और पीतपट-युक्त हैं।

(४) 'लाजहिं तनु सोभा निरखि···' अर्थात् जैसा शरीर में रंग और शोभा है, वैसे प्राकृत उपमाओं में यथार्थ नहीं आते, उपमाओं को अल्प अंश में ही जानना चाहिये। यथा—"नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होति॥" (गी० बा० ११)। तथा—"श्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (दो० ३२६)। कई उपमाएँ देते हुए समता न पाकर अंत में—'लाजहिं···' से शरीर को अनुपम जनाया, यहाँ समष्टि में शरीर-शोभा कही, अब पृथक्-पृथक् अंग की शोभा कहते हैं—

सरद-मयंक-बदन छबिसींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा॥२॥
नव-अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाटपटल दुतिकारी॥४॥

शब्दार्थ—मयंक=चन्द्रमा। कपोल=गाल। चिबुक=ठोढ़ी। ग्रीवा=कंठ, गरदन। अधर=ओठ। रद=दाँत। बिधु=चन्द्रमा। कर=किरण। निकर=समूह। अंबुज=कमल। अंबक=आँख। ललित=सुन्दर=स्नेह-भरी। भावती=सुहानेवाली। पटल=तह या समूह।

अर्थ—उनका मुख शरदपूनो के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा है, गाल और ठोढ़ी सुन्दर हैं और गला शंख के समान है॥१॥ ओष्ठ लाल, दाँत और नासिका सुन्दर है, हँसी चन्द्रमा की किरण-समूह को विशेष करके नीचा दिखानेवाली है॥२॥ नेत्रों की छवि नये खिले हुए कमल के समान सुन्दर है और स्नेह-भरी चितवनि हृदय को भानेवाली है॥३॥ भौंहें कामदेव के धनुष की छवि को हरनेवाली हैं, ललाट-पटल पर तिलक प्रदीप्त हो रहा है॥४॥

विशेष—(१) 'सरद-मयंक···' यहाँ शरद् मात्र में शरत्पूनो से तात्पर्य है। यथा—"सरद सर्वरी-नाथ-मुख···" (अ० दो० ११६)। 'सींवा' समुद्र को भी कहा जाता है, इस वर्णन का उपसंहार भी समुद्र ही पर हुआ है। यथा—"छविसमुद्र हरिरूप बिलोकी।" इससे सर्वांग में अगाध सौन्दर्य जनाया। जिस अंग की अल्पांश में भी उपमा पाते हैं, तो कहते हैं, अन्यथा निरुपम जनाते हुए उनकी उपमा नहीं देते, जैसे यहाँ कपोल, चिबुक छोड़ दिये हैं। 'दर ग्रीवा' शंख के समान त्रिरेखायुक्त चढ़ा-उतार गला।

(२) 'अधर अरुन रद······ हासा।' हँसी के साथ ही अधर की ललाई और दाँतों की चमक भी सोहती है। अतः साथ कथित हैं। यथा—"मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित किय बासा (गी० उ० १२)। चन्द्रमा की किरणें आह्लादमयी होती हैं, वैसे आपकी हँसी हार्दिक आनंद का प्रकाश करनेवाली है। यथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (दो० १२०) अर्थात् आपका आनंद-पूर्ण हास भक्तों के अनुग्रह के लिये होता है। इससे जनों का ताप दूर होता है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'नव-अंबुज अंबक''''चितवनि' नवीन पूरे खिले हुए कमल के समान नेत्र दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुए कृपा रस से पूर्ण हैं। यथा—"रुचिर पलक लोचन जुग तारक, स्याम, अरुन सित कोये।" (गी० उ० ११); 'चितवनि' यथा—"चितवनि चारु मारमनहरनी। भावति हृदय जात नहिं बरनी॥" (दो० २१२)। 'ललित' यथा—"चितवनि भगत कृपाल" (गी० ब० २१)।

(४) 'भृकुटि मनोज चाप''''' सामान्य धनुष में वैसी सुंदरता नहीं होती, इसलिये काम के चाप की उपमा दी। भौंहें धनुष के समान टेढ़ी होती हैं।

(५) 'तिलक ललाटपटल''''''' यहाँ 'पटल' का अर्थ तह=पर्त (मस्तक का तल) और साथ ही (श्लेषार्थ से) पटला = बिजली भी ले सकते हैं। यथा — "अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।" (वि० १२), "भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेख। भ्रमर द्वै रबि किरन लाये करन जनु उनमेख॥" (गी० ब० ६); "भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥" (गी० ब० १२)।

यहाँ कवि ने मनु के वात्सल्य-भावानुसार छवि का वर्णन मुख से उठाया है, क्योंकि माता-पिता की दृष्टि पुत्र के मुख पर विशेष रहती है। यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० १५७); "निरखि बदन कहि भूप-रजाई॥" (अ० दो० ३८)।

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा॥५॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिकहार भूषन मनिजाला॥६॥
केहरिकंधर चारु जनेऊ। बाहुबिभूषन सुंदर तेऊ॥७॥
करि-कर-सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥८॥

शब्दार्थ—मकर=मछली, मगर। भ्राजा=शोभित है। जाला=समूह। केहरि=सिंह। कंधर=कंधा। करिकर=हाथी की सूँड़। निषंग=तरकश। कोदंड=धनुष। कटि=कमर।

अर्थ—मकराकृत कुंडल (कानों में) और मुकुट सिर पर शोभित है, टेढ़े (घुँघराले) बाल मानों भ्रमरों के समाज हैं॥५॥ हृदय पर श्रीवत्स चिन्ह एवं सुन्दर वनमाला और पदिक (हीरे) का हार तथा मणि-समूह के भूषण पहने हुए हैं॥६॥ सिंह के समान (ऊँचे) कंधे हैं, जनेऊ सुन्दर एवं भुजाओं के भूषण भी सुन्दर हैं॥७॥ हाथी की सूँड के समान सुन्दर भुजदंड हैं, कमर में तरकश और हाथों में धनुष-बाण हैं॥८॥

विशेष—(१) 'कुंडल मकर मुकुट'''—छोटी मछली या मगर का मुँह और पूँछ मिलाने से जैसा आकार होता है, वैसा गोलाकार कुंडल मकराकृत कहाता है। 'मुकुट'—सतखंडा है। केश काले, टेढ़े, चिकने और समूह (सघन) हैं, यथा—"चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।" (दो० १९८)। इसलिये भौंरों के समाज की उपमा दी गई है।

(२) 'उर श्रीवत्स रुचिर'''—श्रीवत्स=छाती पर पीताभ रोमावली का गुच्छा जो दक्षिणावर्त (भौंरी के रूप में) है। यह श्रीजानकीजी का प्रतिरूप कहा जाता है, श्रीरामजी सदा भक्ति आदि का दान दिया करते हैं, इसलिये श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूप से सदैव दक्षिणांक में रहती हैं। यथा—"श्रीवत्स-कौस्तुभोरस्कम्" (सनत्कु० स० रामस्तवराज १५) अर्थात्—"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्ति पीतरोमात्मकचिन्ह

विशेष: श्रीवत्सशब्देनोच्यते ॥" (हरिदासकृत भाष्य)। 'बनमाला' = तुलसी, कुंद, मंदार, पारिजात और कमल—इन पाँच पुष्पों की माला; यह गले से चरणों तक लंबी होती है, यथा—"सुंदर पट-पीत बिसद, भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका-प्रसून-रचित बिबिध बिधि बनाई ॥" (गी० उ० ३); इसमें तुलसिका और प्रसून ऐसा अर्थ करना चाहिये, तब उक्त चारों फूल और तुलसी की नई मंजरी भी आ जाती है।

(३) 'पदिकहार भूषन···'—'पदिक हार' = नवरत्न चौकी, धुकधुकी, जो हार के बीच में वक्षःस्थल पर रहती है। 'भूषन मनिजाला'—मणियों और छोटे मोतियों का पँचलरी हार जो पदिक के नीचे शोभित है, फिर भूषणों एवं मणियों का चार अंगुल चौड़ा जाल उर पर विराजमान है।

(४) '···चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन···'—पीत रंग का चमकता हुआ यज्ञोपवीत है, यथा—"पीत जनेउ महाछबि देई।" (दो० ३२६)। विभूषणों के प्रति 'तेऊ' बहुवचन कहकर बहुत भूषण जनाये, यथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (दो० १९८)।

(५) 'करि-कर-सरिस···'—हाथी की सूँड़ चढ़ाव-उतार, सुडौल और बलिष्ठ होती है, वैसी ही भुजाएँ हैं, किन्तु सुभग अधिक हैं। यथा—"काम-कलभ कर भुज बलसींवा।" (दो० २३२)। यहाँ पुरुष की भुजा का प्रसंग है। अतः, कड़ी होने से 'भुजदंड' कहा है, स्त्री की भुजाएँ कोमल (नाजुक) होती हैं, इसीसे वहाँ 'भुजबल्ली' कहते हैं। यथा—"चालति न भुजबल्ली" (दो० १२०)। 'कर सर कोदंडा'—क्रम से लिखकर दाहिने हाथ में बाण और बायें में धनुष जनाया है।

दोहा—तड़ितबिनिंदक पीतपट, उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन-भँवर-छबि छीनि ॥१४७॥

पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥१॥

अर्थ—बिजली को विशेष रूप से नीचा दिखानेवाला पीताम्बर है, पेट पर श्रेष्ठ तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं। मन को हरनेवाली नाभी मानों यमुनाजी की भँवरों की छवि को छीन लेती है ॥१४७॥ जिनमें मुनियों के मन रूपी भौंरे बसते हैं—ऐसे चरण-कमलों का वर्णन नहीं हो सकता ॥१॥

विशेष—(१) 'तड़ितबिनिंदक पीतपट···' यहाँ सर्वांग में पीत ही वस्त्र है, क्योंकि पट के साथ कोई अंग-विशेष नहीं कहा। अतः, धोती, कमर में फेंटा और उपरना सब आ गये। पेट पर त्रिवली रेखाओं का होना सौंदर्य एवं सुलक्षण है, यथा—"नाभी सर त्रिबली निसेनिका रोमराजि सैंवार छबि छावति। उर मुकुता मनि माल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति ॥" (गी० बा० १७)। श्यामता के लिये यमुना की भँवर की उपमा दी है, यथा—"उतरि नहाये जमुन-जल, जो सरीर सम स्याम।" (अ० दो० १०९)

(२) 'पदराजीव बरनि नहिं···'—वर्णन न हो सकने का कारण यह है कि इन चरणों में जो २४–२४ चिन्ह हैं, उनसे अवतार सूचित होते हैं, अतएव उनका महत्त्व अप्रमेय है। हाँ, कुछ सरसता गुण कहते हैं कि लाल कमल के समान कोमलता मात्र तो कुछ मिलती है, पर गुण में बहुत भेद है। कमल में भ्रमर रहते हैं, वे श्याम रंग के और विषय रस के लोभी हैं और इनके भ्रमर मुनियों के मन हैं, जो सात्त्विक होने से श्वेत, विषय-रस-रहित और परमार्थरत हैं और सदा प्रेम-रस का पान करते हैं। यथा—"तवामृतस्यन्दिनि

पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीहते ॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

> बामभाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला ॥२॥
> जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥३॥
> भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बामदिसि सीता सोई ॥४॥

अर्थ—बायें भाग में आदिशक्ति, छवि की राशि और जगत् की मूल कारण-रूपा (पति के) अनुकूल सोहती हैं ॥२॥ जिनके अंश से गुणों की खान अगणित लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती उत्पन्न होती हैं ॥३॥ जिनके भौंह फेरने ही मात्र से जगत् उत्पन्न होता है, वही श्रीसीताजी श्रीरामजी की बाईं ओर स्थित हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बामभाग'''—यहाँ 'भाग' शब्द का भाव यह है कि ये अर्द्धांगिनी (आधा अंगरूपा) हैं, दोनो मिलकर अखंड पूर्ण ब्रह्म हैं, देखने मात्र में दो हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं, देखिये दोहा १८। श्रीजानकीजी का ऐश्वर्य मात्र कहते हैं—नख शिख नहीं, क्योंकि वे जगत्-जननी हैं, अतः अधिकार नहीं। कहना भी चाहें तो कह नहीं सकते, यथा—"जगतजननि अतुलित छवि भारी।" (दो॰ २४७); तो भी अधिकारियों के लिये 'छबिनिधि' और 'अनुकूला' से दिखला दिया है कि श्रीरामजी के अनुसार ही शोभा-सौंदर्य इनका भी है, वे छविसमुद्र हैं तो ये भी छविनिधि हैं, उनसे त्रिदेव भगवान् होते हैं तो इनसे उनकी गुणखान शक्तियाँ। 'अनुकूला' का अर्थ पति की आज्ञानुकूला भी है, यथा—"पति-अनुकूल सदा रह सीता।"'''से "सोइ कर श्री सेवाविधि जानइ॥" (उ॰ दो॰ २४)।

'आदिसक्ति'—सब शक्तियाँ श्रीजानकीजी की कला-अंश विभूति हैं, मूल प्रकृति महामाया है, वह श्रीजानकीजी का महत् अंश है। अंश-अंशी भाव से श्रीसीताजी को 'जगमूला' भी कहा है, यथा—"जानक्यंशादिसम्भूताऽनेकब्रह्मांडकारणम्। सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी॥" (महारामायण)।

(२) 'जासु अंस उपजहिं गुन'''—प्रथम जिन्हें आदिशक्ति कहा था, उन्हीं को यहाँ प्रकट किया और 'जगमूला' को आगे—'भृकुटि बिलास''' से जनाया है।

(३) दक्षिण भाग में श्रीरामजी के प्रत्येक अंग के शोभा-वर्णन से माधुर्य कहा और बाम भाग में श्रीसीताजी का ऐश्वर्य बतलाया। फिर 'अनुकूला' शब्द से दोनो की बातें दोनो में जनाईं। इस तरह दोनों के माधुर्य-ऐश्वर्य आ गये।

श्रीरामजी का ऐश्वर्य पूर्व ही दो॰ १४३ की ४-६ चौ॰ में—कहा था। ठीक वैसा ही ऐश्वर्य यहाँ श्रीसीताजी का भी बताया और यह भी ध्वनित किया कि 'राम' और 'सीता'—यही इनके सनातन नाम हैं।

> छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी ॥५॥
> चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा ॥६॥
> हरषबिबस तनुदसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी ॥७॥

शब्दार्थ—एकटक = टकटकी लगाये। पानी (पाणि) = हाथ। तृप्ति = संतोष।

अर्थ—शोभा के समुद्र भगवान् का रूप देखकर मनु-शतरूपा आँखों की पलकें रोके हुए टकटकी लगाये रह गये ॥५॥ उस अनुपम रूप को आदर-पूर्वक देख रहे हैं, वे दर्शनों से तृप्ति नहीं मानते ॥६॥ विशेष हर्षवश होने से शरीर की सुधि भूल गई और दंड की तरह हाथों से चरण पकड़कर पड़ गये ॥७॥

विशेष—(१) 'सरद मयंक बदन छबिसींवा।' उपक्रम है और यहाँ—'छबिसमुद्र हरिरूप …' पर उपसंहार है। दोनो सरकार का ध्यान कहकर तब छवि-वर्णन की इति लगाई, इससे सूचित किया कि दोनो एक ही हैं। 'एकटक रहे' अर्थात् पलक मात्र का भी विक्षेप नहीं सह सकते थे। 'हरिरूप'—हरि ही के लिये वन आये—"जनम गयो हरि-भगति बिनु।" (दो० १४२) और हरि ही के लिये तप किया—"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे।" (दो० १४३), अत' वे ही 'हरि' यहाँ प्राप्त हैं।

(२) 'चितवहिं सादर रूप…'—यथा—"पियत नयनपुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥" (आ० दो० ११०)। 'अनूपा', यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२)। 'तृप्ति न मानहिं'—यह प्रभु का माधुर्य गुण है। यथा—"देखे तृप्ति न मानिये, सो माधुरी बखानि।" ये तो हजारों वर्षों के प्यासे हैं, छवि-समुद्र पा गये, तब भी तृप्ति नहीं मानते।

(३) 'हरष बिबस तनु …'—रूप देखकर अत्यंत हर्ष हुआ, देह-दशा की स्मृति भी न रही और दंडाकार चरणों पर पड़ गये। यहाँ 'दंड इव' कहा है। सुतीक्ष्ण मुनि और श्रीभरतजी के प्रति 'लकुट इव' (आ० दो० ९), 'लकुट की नाई' (अ० दो० २४०) कहा गया है, क्योंकि वे लोग तितिक्षा एवं विरह से दुर्बल शरीर के थे। अत', लकुट के समान कहे गये। लकुट पतली छड़ी को कहते हैं। मनु-शतरूपा हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं, इससे दंड की तरह कहे गये। दंड मोटा होता है। यह शब्द-प्रयोग की सावधानी है।

सिर परसे प्रभु निज-कर कंजा। तुरत उठाये करुनापुंजा॥८॥

दोहा—बोले कृपानिधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु बर जोइ भाव मन, महादानि अनुमानि॥१४८॥

सुनि प्रभुबचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदु बानी॥१॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥२॥

शब्दार्थ—परसे = स्पर्श किया। करुना (करुणा) = मन का वह विकार जो आश्रित एवं पराया दुःख दूर करने के लिये प्रबल प्रेरणा करे। पुंज = राशि, समूह। पूरे = पूर्ण हुए।

अर्थ—करुणा की राशि प्रभु ने अपने कर-कमल से उनका सिर स्पर्श किया और तुरत उन्हें उठा लिया॥८॥ वे कृपानिधान फिर बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी विचार कर जो मन में भावे, वही वर माँग लो॥१४८॥ प्रभु के वचन सुनकर (वे) दोनो हाथ जोड़कर और धैर्य धारण कर कोमल वाणी बोले॥१॥ हे नाथ! आपके चरण-कमलों को देखकर अब हमारी सब कामनाएँ पूरी हो गईं॥२॥

विशेष—(१) 'सिर परसे प्रभु …'—इस ग्रंथ में श्रीभरतजी, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी आदि के दण्डवत् करने पर प्रभु ने उन्हें उठाकर हृदय में लगाया है। यहाँ वैसा बर्ताव नहीं हुआ,

क्योंकि अभी दंपती का प्रभु में कोई निश्चित भाव नहीं है। राजा रानी दोनो ने बराबर तप एवं आराधन किया है। इससे दोनो के सिरों पर हाथ फेरे और उठाया—हृदय से नहीं लगाया, क्योंकि यदि अकेले राजा को छाती से लगाते और रानी को नहीं तो रानी का अपमान होता। रानी को हृदय मे नहीं लगा सकते, क्योंकि पराई स्त्री के प्रति यह अयोग्य है, अतएव केवल उठाना ही कहा। यह ग्रंथकार की सावधानी है। यह भी भाव है कि यहाँ प्रभु का वात्सल्य दंपती में है, अवध में दंपती का उनमें होगा; क्योंकि प्रभु पुत्र-रूप में रहेंगे। 'तुरत उठाये करुनापुंजा'—यदि सेवक स्वयं उठ पड़े तो उसके प्रेम की न्यूनता और देर में उठाने से स्वामी में निष्ठुरता आती है। फिर यहाँ तो स्वामी करुणापुंज हैं। अत:, तुरत उठाया। यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४)।

(२) 'बोले कृपानिधान पुनि···'—मनुजी ने जो वर माँगा, उसे देकर अब अपनी ओर से और देने को कहते हैं; इसलिये 'कृपानिधान' कहा। पूर्व—"तौ प्रसन्न होइ···" कहा था, यह तो प्रसन्न होकर दे दिया, प्रभु अंतर्यामी हैं। अत:, जानते हैं कि इनके हृदय में—"एक लालसा बड़ि उर माहीं।" है, उसके लिये 'अति प्रसन्न' और 'महादानि' कह रहे हैं कि जिससे उन्हें वह लालसा कहने में सकोच न हो। प्रभु मनु की उस लालसा पर भी अति प्रसन्न हुए। इतने पर भी मनु को संशय रहेगा ही। आगे कहेंगे—"तथा हृदय मम संसय होई।" क्योंकि वह लालसा ही ऐसी है—जगत् पिता को पुत्र-रूप में माँगना।

'महादानि'—ब्रह्मा आदि दानी हैं। अत, वे कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, जैसे रावण के विषय में—"बानर मनुज जाति दुइ बारे।" (दो० १७६) कहला लिया, तब वर दिया; पर आप तो 'महादानि' हैं। अतः, अपने आप तक को दे डालेंगे।

(३) 'सुनि प्रभु-बचन जोरि···'—अब की मनु ने हाथ जोड़े, क्योंकि ये हृदय में समझ रहे हैं कि हम बहुत बड़ा वर माँगेंगे तो ऐसा करें जिससे मिल जाय, यथा—"माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० १८)। पूर्व कहा था—"हरप-बिबस तनु-दसा भुलानी।" अत, यहाँ धीरज धरना कहा। यह पूर्वापर सँभाल ग्रंथ-भर में है।

(४) 'मन पूरे सब काम'···'—क्योंकि मनुजी चारो फल एवं सब कुछ श्रीरामजी ही को जानते हैं, यथा—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)।

एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥३॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहिं निज कृपनाईं॥४॥
जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई॥५॥
तासु प्रभाव जान नहिं सोई। तथा हृदय मम संसय होई॥६॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥७॥

अर्थ—मेरे मन में एक बहुत बड़ी लालसा है, वह सुगम और अगम दोनो है—इसी से कही नहीं जाती॥३॥ हे गोसाईं! आपको देने में बहुत ही सुगम है, पर मुझे अपनी ही कृपणता से अगम (अति कठिन) जान पड़ती है॥४॥ जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्ष को पाकर भी बहुत सपत्ति माँगने से सकोच (हिचक) करता है॥५॥ (क्योंकि) वह उसके प्रभाव को नहीं जानता, वैसे ही मेरे हृदय में सदेह होता है॥६॥ आप अंतर्यामी हैं। अत:, उसे जानते हैं। हे स्वामिन्! मेरे मनोरथ को पूरा कीजिये॥७॥

विशेष—(१) 'एक लालसा बड़ि····'—प्रथम लालसा दर्शन-मात्र की थी—"उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन·" "देखहिं हम सो रूप···"। पर इतने ही से तृप्ति न हुई। अब चाहते हैं कि जिससे सदा ही दर्शन होते रहें। यह काम इस प्रकार होगा कि आप हमारे पुत्र होंगे तो उस भाव में मेरी प्रीति अत्यंत होगी, यथा—"सुत की प्रीति ··" (वि० २६४); और पुत्र कभी पिता से उऋण नहीं हो सकता। अतः, ये सदैव हमें सुलभ रहेंगे, इसलिये इस लालसा को बड़ी बतलाया।

(२) 'तुम्हहिं देत अति · ' प्रथम सुगम-अगम कहा था, उसी को स्पष्ट किया कि अपनी ही कृपणता से अगम लगता है, यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले" (अ० दो० २६६)। दानी को सुगम है और आप महादानी हैं। अत., अति सुगम है।

(३) 'जथा दरिद्र बिबुधतरु···'—उपर्युक्त कृपणता को दृष्टान्त से दिखाते हैं कि दरिद्र को कल्पवृक्ष का मिलना ही कठिन है। दैव-योग से मिल भी जाय, तो बहुत धन माँगने में उसका साहस नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपनेको उतने धन का पात्र नहीं समझता। इसी से संदेह करता है—मिले या न मिले—यद्यपि कल्पवृक्ष देने में पूर्ण समर्थ है।

यहाँ 'निज कृपनाई' में मनु की कार्पण्य शरणागति भी है। जीव कितने भी जप-तप करे, पर परिमित शक्ति से किया हुआ साधन अपरिमित ब्रह्म के समक्ष वास्तव में कुछ भी नहीं है। अतः, यथाशक्ति साधन करते हुए भी दीनता परम आवश्यक है, इसी से प्रभु रीझते हैं।

(४) 'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।···'—प्रथम 'गोसाईं' कहा, फिर यहाँ अंतर्यामी भी कह रहे हैं। भाव यह कि आप ही इन्द्रियों के स्वामी और उर-प्रेरक हैं और 'सुरतरु' जड़ है, वह दरिद्र के हृदय की नहीं जानता। अतः, उससे माँगना पड़ता है। आप मेरे हृदय की जानकर वर देने की कृपा करें। आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, इस नाते मेरा मनोरथ पूर्ण करना आपका धर्म है। गोसाईं'—अर्थात् आप इन्द्रियों के स्वामी हैं; अत. वाक् इन्द्रिय से आप ही कहलावें, तो भले ही कहा जा सके। 'गो' इन्द्रियों का एक नाम है, यथा—"गो इंद्रिय दिक वाक जल, स्वर्ग सुदृष्टि अनद। गो भू गो सुर गो किरण, और वज्र गोविंद ॥" (नंददासकृत नाममाला)।

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही ॥८॥

दोहा—दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ ॥१४६॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा) हे राजन्! सकोच छोड़कर मुझसे माँगो, मेरे पास तुम्हारे लिये न देने योग्य (जो मैं तुम्हें न दे सकूँ) कोई भी पदार्थ नहीं है ॥८॥ (मनु ने कहा) हे दानियों में शिरोमणि! हे कृपानिधि! हे नाथ! मैं अपना (हार्दिक) सच्चा भाव कहता हूँ, प्रभु से क्या छिपाना? मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ ॥१४६॥

विशेष—(१) 'सकुच बिहाइ ···'—मनु ने कहा था कि 'बहु संपति माँगत सकुचाई।' उसी के प्रति प्रभु ने 'सकुच बिहाइ' और 'मोरे नहिं अदेय · ' कहा है। यथा—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (आ० दो० ४१)। मनु ने प्रभु को 'सुरतरु सुरधेनु' कहा था, इसी से फिर भी प्रभु 'माँगु' कहते हैं, क्योंकि

कल्पतरु से मांगा जाता है। अब देने को मैं स्वयं आतुर हूँ तो क्या संकोच ? 'मोही' अर्थात् मुझसे और मुझको ही—मनु ने कहा था—"हो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥" इसका उत्तर 'मोही' शब्द से ध्वनित किया कि तुम मुझको ही चाहते हो, वही हम देते हैं। अत, मुझसे मुझ ही को माँग लो। यह श्लेषार्थ हुआ।

(२) प्रभु ने कहा भी—'सकुचि बिहाइ माँगु', पर मनु को सकोच रहा ही। अतः, आप ही पुत्र हों, यह न कह सके, क्योंकि अखिल ब्रह्माड के पिता-माता को पुत्र होने के लिये कहने में बड़ी ही धृष्टता है, यथा—"प्रभु परतु सुठि होति ढिठाई।"···"तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी।" (दो० १५१)। अत, उनके समान पुत्र माँगा। 'समान' शब्द में एक और भी रहस्यात्मक बात है—सभ्यता युक्त परीक्षा, क्योंकि परात्परत्व के विषय में यह श्रुति है—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वेता० ६।८) अर्थात् उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं है। तथा—"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक कुतोऽन्य." (गीता ११।४३) और "जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (आ० दो० ५)। अत, यदि प्रभु कहेंगे कि हमारे समान अमुक है, तो समझ जायँगे कि ये परतम प्रभु नहीं हैं, कोई और परतम है।

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥१॥
आप सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥२॥
सतरूपहिं बिलोकि कर जोरे। देवि माँगु बर जो रुचि तोरे॥३॥

अर्थ—राजा की प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान प्रभु बोले कि ऐसा ही हो॥१॥ हे राजन्! मैं अपने समान और कहाँ जाकर खोजूँ, मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र हूँगा॥२॥ शतरूपाजी को हाथ जोड़े हुए देखकर कहा कि हे देवि! तुम्हारी जो रुचि हो, वह वर माँग लो॥३॥

विशेष—(१) 'देखि प्रीति सुनि ···'— अत करण की प्रीति देखी और ऊपर के अमूल्य वचन सुने, तब 'एवमस्तु' बोले, क्योंकि प्रीति ही से श्रीरामजी मिलते हैं, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। वचनों में अमूल्यता यह है कि इसका दाम चुकता हो ही नहीं सकता। पुत्र के वात्सल्य से निर्हेतु सेवा अत्यन्त परिश्रम से प्रेम-पूर्वक होगी, जिसका प्रत्युपकार पुत्र कर ही नहीं सकता, यथा—"निज कर खाल खैंचि या तनु ते जौ पितु पग पानहीं करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥" (गी० अ० ७१)।

(२) 'आपु सरिस खोजउँ कहँ ···'—मेरे समान दूसरा नहीं है, ऐसा कहने में आत्मश्लाघा (आत्म-प्रशसा) रूप दोष होता, क्योंकि श्रेष्ठ लोग अपने मुख से अपनी प्रशसा नहीं करते। इसलिये ऐसा कहा कि कहाँ जाकर खोजूँ ? अच्छा, मैं ही पुत्र हूँगा, इससे तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी। भाव यह कि सर्वत्र मेरी ही विभूति है, उसमें मेरे समान दूसरा है ही नहीं, फिर उससे भिन्न और कुछ नहीं है, जहाँ जाकर खोजा जाय। 'आई' अर्थात् अन्य जीवों की तरह गर्भ से एव कर्म-वश होकर नहीं, किंतु स्वेच्छा से एव 'निज इच्छा निर्मित तनु' से आकर प्रकट हूँगा।

(३) 'सतरूपहिं बिलोकि ······'—पूर्व दर्शनों की अभिलाषा में दपती एकमत थे, यथा—"दपति-बचन परम प्रिय लागे।" इससे वहाँ रानी से पृथक् माँगने को नहीं कहा और यहाँ प्रथम ही श्रीरामजी का वचन राजा के प्रति है—'माँगु नृप मोही', फिर इसमें रानी को अत्यन्त ढिठाई के कारण कुछ कहने

की रुचि भी है, इसलिये हृदय की जानकर प्रभु ने इनसे पृथक् माँगने को कहा। हाथ जोड़े खड़ी रहने में कुछ रुचि प्रकट होती है।

शंका—इस प्रसंग में श्रीसीताजी प्रकट हुई हैं, पर इनका कुछ बोलना क्यों नहीं है ?

समाधान—(क) दोनो तत्त्वतः अभिन्न हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि सम,···" (दो० १८), पर कहा गया। पुनः लोक-व्यवहार में पुरुष ही का प्राधान्य देखा भी जाता है, इस दृष्टि से श्रीरामजी के कथन में इनका भी आ गया। (ख) जब राजा ने पुत्र होने का वर माँग लिया तब श्रीसीताजी पुत्रवधू के नाते सकुच से न बोलीं। (ग) यहाँ पुत्र की चाह है। अतः, पुत्र होनेवाले ही बोले, क्योंकि—"दसरथ-सुकृत राम धरे देही।" (दो० ३०१); सीताजी के बोलने का प्रयोजन ही नहीं था। ये तो श्रीजनक महाराज की सुकृति-मूर्ति हैं; यथा—"जनक सुकृत मूरति वैदेही।" (दो० ३०१)। अतः, उनके द्वारा वरण किये जाने पर वहाँ बोलेंगी और वर देंगी। यह भुवनेश्वर-संहिता में कथा है। श्रीदशरथजी को श्रीरामजी के द्वारा श्रीजानकीजी प्राप्त हुईं और श्रीजनकजी को श्रीजानकीजी के द्वारा श्रीरामजी मिले; इससे दोनो ही दोनो सरकार के वात्सल्य रस के पूर्ण भोक्ता हुए।

शंका—तो फिर श्रीजानकीजी यहाँ प्रकट क्यों हुईं ?

समाधान - इनका परम प्रभु से नित्य संयोग है, जैसे सतीजी ने परीक्षा में सीताजी को लीलार्थ हरी जाने पर भी साथ ही पाया है—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।" (दो० ५४); यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके।" (दो० ७८), इससे साथ ही प्रकट हुईं; क्योंकि दोनो मिलकर अखंड ब्रह्म हैं और मनु ने अखंड ब्रह्म की ही आराधना की है।

जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥४॥
प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सुहाई ॥५॥
तुम्ह ब्रह्मादिजनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल-उर-अंतरजामी ॥६॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रमान पुनि सोई ॥७॥

अर्थ—हे नाथ ! जो वर चतुर राजा ने माँगा है, हे कृपालु ! वही मुझे अत्यंत प्रिय लगा ॥४॥ परन्तु हे प्रभो ! (इसमें) अत्यन्त ढिठाई हो रही है—यद्यपि भक्तों के हित के लिये आपको (यह भी) सुहाता है ॥५॥ आप ब्रह्मा आदि के पिता, जगत् भर के स्वामी और सबके हृदय की जाननेवाले ब्रह्म हैं ॥६॥ ऐसा समझकर मन में सदेह होता है, फिर भी जो प्रभु ने कहा, वही प्रमाण (सत्य) है ॥७॥

विशेष—(१) 'जो बर नाथ चतुर नृप······'—'चतुर' के भाव ये हैं कि जिन्हें शिव आदि ध्यान में पाते हैं, उन्हें हमारी आँखों के सामने प्रकट कर दिया। फिर दूसरा भी भाव है कि आगे के लिये भी माँग लिया कि पुत्र होने पर जन्म-भर देखते ही रहेंगे। पुन इस वात्सल्य रस के भीतर सब रस आ जायँगे, जैसे बाल-लीला में हास्य, विवाह में शृंगार आदि।

(२) 'सोइ कृपालु मोहि अति प्रिय लागा।'—'सोइ' अर्थात् जो राजा ने माँगा है, वही मेरे लिये भी हो कि आप मेरा ही मातृत्व ग्रहण करें। ऐसा न माँगने से सम्भव था कि राजाओं के और भी रानियाँ होती हैं, किसी दूसरी के पुत्र हों। 'मोहिं अति प्रिय' का भाव यह कि इसमें प्रथम राजा से

अर्थ—चरणों में प्रणाम करके मनु ने फिर कहा कि हे प्रभो! मेरी एक और प्रार्थना है ॥४॥ कि मेरी पुत्र-सम्बन्धी ही प्रीति आपके चरणों में हो—चाहे कोई मुझे बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे? ॥५॥ जैसे विना मणि के सर्प और विना जल के मछली होती है, वैसे ही मेरा जीवन आपके अधीन रहे ॥६॥ ऐसा वर माँगकर राजा चरण पकड़े रह गये, करुणासागर प्रभु ने कहा कि ऐसा ही हो ॥७॥

विशेष—(१) 'मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ।'—जो ईश्वर को न जाने, वह मूढ़ है। यथा—"ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तमकूप।" (उ० दो० ७१), और जो ईश्वर को पाकर भी उनमें ईश्वर का भाव न रक्खे, वह बड़ा मूढ़ है।

रानी ने पुत्र तो पाया ही और अनन्य भक्ति भी माँग ली। राजा ने सोचा कि मैं भी वैसा वर माँग लूँ कि जिससे मेरी प्रीति सदा बनी रहे, अतः फिर वर माँगा। यह भी कहा जाता है कि राजा ने समझा कि रानी ने व्यंग्य से 'चतुर नृप' कहा है, उन्हें मेरा केवल माधुर्य भाव का वर अच्छा नहीं लगा, इसीसे उन्होंने दूसरा भी वर माँगा कि मैं अपनी ही धारणा में दृढ़ क्यों न रहूँ? अतः, राजा ने इसी को दृढ़ किया कि हम पुत्र ही समझे हुए रहें। इसपर पूर्वोक्त—"बंदउँ अवधभुआल ···" (दो० १६) भी देखिये।

'पद-रति' यथा···"अस कहि गे निश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० १५५)।

यहाँ यह उपदेश है कि कोई निन्दा भी क्यों न करे, पर उसपर कान न देकर अपनी भावना में दृढ़ और निष्ठा में अचल रहना चाहिये।

(२) 'मनि बिनु फनि जिमि ···' राजा ने 'सुत विषयक' प्रीति माँगी, अब उसका प्रकार माँगते हैं कि जैसे मणि के विना सर्प व्याकुलता के साथ जीता है, वैसे हम आपके विना व्याकुल होकर जियें। पुनः जैसे जल के विना मछली मर ही जाती है, वैसे मैं आपके विना न जी सकूँ। यह वर श्रीरामजी की इच्छा से लीला के लिये माँगा गया, क्योंकि प्रथम बार मिथिला जाने में वियोग होगा, तब फणि-मणि की दशा रहेगी। यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥" (दो० ३००), दूसरी बार वियोग चौदह वर्षों की वन-यात्रा में होगा, उसमें 'जल बिनु मीन' की दशा होगी कि प्राण छोड़ देंगे। मछली स्वतः जल से अलग होना नहीं चाहती, वैसे राजा स्वेच्छा से वन जाने की आज्ञा न देंगे, कैकेयी रूपी मल्लाहिन पृथक् करेगी।

मछली मरने पर भी जल की प्रीति निबाहती है। यथा—"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिये, मुयेहु मीत की आस॥" राजा दशरथ ने ठीक ऐसा ही किया कि वियोग में प्राण छोड़कर स्वर्ग में बैठे हुए श्रीरामजी में वैसा ही स्नेह रक्खे रहे। जब लंका विजय पर आये, तब स्वयं कहा है—"न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षभैः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥" यह वाल्मीकीय (यु० स० ११९, श्लो० १९) में स्पष्ट है। फिर श्रीरामजी के द्वारा दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर नित्य धाम गये।

राजा ने तीन बार वर माँगे हैं और तीनो बार श्रीरामजी ने कृपा-पूर्वक ही दिये हैं-१—"भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे" २—"एवमस्तु करुनानिधि बोले।" ३—"एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ।" अर्थात् इनपर आदि से अंत तक एकरस कृपा रही।

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति - रजधानी॥८॥

सोरठा—तहँ करि भोग बिसाल, तात गये कछु काल पुनि।
होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥१५१॥

अर्थ—अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इन्द्र की राजधानी (स्वर्ग) में जाकर बसो ॥८॥ वहाँ बृहत् भोग करके हे तात ! कुछ काल बीतने पर तुम अवध के राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥१५१॥

विशेष—(१) 'अब तुम मम···'—राजा को अब विषय-सुख भोग की इच्छा नहीं है, इसीलिये प्रभु कहते हैं कि हमारी आज्ञा से ग्रहण करो। प्रभु इनसे तप का फल भोग कराना चाहते हैं। तप का फल देकर अपनी प्राप्ति तो कृपा से ही करेंगे। राजा को वियोग असह्य समझकर प्रभु ने कहा कि 'कछु काल' में ही तुम बहुत भोग-विलास कर लोगे। इन्द्रपुरी के भोग के पीछे अवध का राज्य दिया, क्योंकि यहाँ का ऐश्वर्य स्वर्ग से अधिक है। यथा—"अवधराज सुरराज सिहाई।" (अ० दो० ३२३)। अर्थात् प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसे उत्तरोत्तर अधिक सुख देते हैं।

(२) 'तात'—जैसे रानी को 'मातु' कहकर माता माना, वैसे यहाँ भी राजा को 'तात' कहकर अभी से 'पिता' मान लिया।

शंका—इन्द्रलोक ही क्यों भेजा ?

समाधान—तप का फल स्वर्ग-भोग ही है। अतः वहीं भेजे गये। भोग की अवधि भी इन्द्रपुरी ही है। यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मीकि मू०)।

इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥१॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत-सुख-दाता ॥२॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥४॥

अर्थ—अपनी इच्छा से नर-रूप बनाये हुए तुम्हारे घर में प्रकट होऊँगा ॥१॥ हे तात ! अंशों के सहित देह-धारण कर भक्तों के सुख देनेवाले चरित करूँगा ॥२॥ जिसे आदर से सुनकर बड़भागी मनुष्य ममता-मद छोड़ संसार से तर जायँगे ॥३॥ जिसने जगत् को पैदा किया है, वह आदिशक्ति मेरी यह माया भी अवतार लेगी ॥४॥

विशेष—(१) 'इच्छामय नर-वेष ······'—अर्थात् वह शरीर पांचभौतिक एवं कर्मपरिणाम न होगा, किंतु इच्छामय होगा, यथा—"निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया गुन गोपार ॥" (दो० १९२) अर्थात् देही-देह विभाग-रहित शुद्ध सच्चिदानंद विग्रह रहेगा।

प्रश्न—नर-वेष तो अभी भी है, फिर 'सँवारे' क्यों कहा ?

उत्तर—नर-देह में बाल, पौगंड, कौमार आदि अवस्थाएँ होती हैं, वैसे मैं अपने दिव्य विग्रह में ये सब लीलाएँ दिखाऊँगा, अवस्थाओं के अनुरूप ही कर्म, वचन आदि बर्ताव होंगे। ये सब बातें इच्छानुसार होंगी, यही इच्छामय नर-देह सँवारना है। यही प्रथम—'भगत हेतु लीलातनु गहई।' में भी कहा गया था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ।

(२) 'अंसन्ह सहित देह धरि ···· '—अंश दो प्रकार के होते हैं—एक महत् अंश और दूसरा विभूति अंश। जैसे गंगा आदि नदियों की धारा से स्रोत पृथक् निकल चले, पर धारा से मिला रहे—वह महत् अंश है। जो गंगाजल घट आदि में भरकर अलग किया गया हो, वह विभूति-अंश है। भरत आदि

अधिक सुख प्राप्त करने एवं सेवा का अवसर मुझे ही रहेगा। हमारी तो नित्य गोद ही में रहोगे और पिता से अधिक गौरव माता का रहता है, यथा—"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।" (मनु.), तथा—"तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।" (अ० दो० ५५)।

(३) 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।……'—हमलोगों की तरफ से तो ऐसा माँगना अत्यंत ढिठाई है ही, परन्तु आप भक्त-हितैषी हैं। अतः, गुण मानकर प्रसन्न होते हैं। यथा—"सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥" (अ० दो० २१७)।

(४) 'तुम्ह ब्रह्मादिजनक……'—उपर्युक्त ढिठाई को यहाँ प्रकट करती हैं कि जो जगत् के पिता ब्रह्मादि के भी पिता हैं, उनको पुत्र बनाना एवं पुत्र रूप से सेवा कराना, 'ब्रह्म' अर्थात् चराचर में व्यापक को परिमित रूप में छोटा बनाना और 'अंतरजामी' को अज्ञानी नरवत् होने को कहना अत्यंत ढिठाई है, यही इन्होंने कौशल्या रूप में भी कहा है—"अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥" (दो० २०१)।

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥८॥

दोहा—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज-चरन-सनेहु।

सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥१५०॥

अर्थ—हे नाथ! जो आपके निज (अनन्य) भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जो गति लाभ करते हैं॥८॥ हे प्रभु! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणों का अनुराग, वही विवेक और वही रहनि (आचरण) हमें भी कृपा करके दीजिये॥१५०॥

विशेष—(१) 'जे निज भगत नाथ तव……'—'निज भगत' के लक्षण पूर्व दो० १४४ चौ० ५ में भी कहे गये हैं। अपने भक्त (निज जन) सुतीक्ष्णजी भी कहे गये हैं, यथा—"देखि दसा निजजन मन भाये।" (अ० दो० १); वहीं पर और उन्हीं में यहाँ के माँगे हुए सब लक्षण भी हैं—सुख, यथा—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा।" गति "……करत मनोरथ आतुर धावा।" भगति—"अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।" चरन सनेहु—"परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिबर बड़ भागी॥" विवेक—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई।" रहनि—"मन क्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥"

वर मिलने पर कौशल्या शरीर में ये छओ बातें प्राप्त हुईं—

सुख—"येहि सुख ते सतकोटि गुन, पावहिं मातु अनंद।" (दो० ३५०); गति, (गति=गमन)—"देखि मातु आतुर उठि धाई।" (ब० दो० ८०) "ताहि धरे जननी उठि धावा।" (दो० २०१); भगति—"सो अस प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८), 'चरन-सनेहु'—"तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥" (दो० २०१), विवेक—"ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै।" (दो० १९१); 'रहनि'—प्रेम-मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान। सुत-सनेह-बस माता, बाल-चरित कर गान॥" (दो० २००)।

यहाँ 'सोइ' शब्द बार-बार देकर दृढ़ता दिखाई गई है कि भक्त-मत के अतिरिक्त एक भी बात नहीं चाहिये और यह भी कि अन्य प्रकार के सामान्य भक्तों एवं ब्रह्मज्ञानियों की नहीं। 'कृपा करि देहु' अर्थात् मैं इनके की पात्री नहीं हूँ, अपनी कृपा से ही दीजिये।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बच-रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना ॥१॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥२॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥३॥

अर्थ—कोमल, गूढ़ और सुन्दर वचनों की रचना सुनकर कृपासिंधु भगवान् कोमल वचन बोले ॥१॥ तुम्हारे मन में जो कुछ इच्छा है, उन सबको मैंने दिया, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ हे माता ! मेरी अनुग्रह (दया) से तुम्हारा अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़ ···'—"जो बर नाथ चतुर नृप माँगा।···"—मृदु, "प्रभु परंतु सुठि ···" से—"प्रमान पुनि सोई॥" तक गूढ़ और—"जे निज भगत ···" से—"कृपा करि देहु।" तक रुचिर है। 'कृपासिंधु'—शतरूपाजी ने कहा था—"हमहि कृपा करि देहु"; अतएव देने पर प्रभु को कृपासिंधु कहा। मनु के प्रति भी—"एवमस्तु करुनानिधि बोले" कहा गया है। अतः, दोनों पर बराबर कृपा दिखाई है।

(२) 'मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।'—राजा को वर मिलने में संशय था—"तदपि हृदय मम संसय होई।" अतः, उन्हें समझाना पड़ा था। रानी ने बहुत वर माँगे हैं, वे भी संशय न करें, इसलिये प्रथम ही संशय मिटा दिया।

(३) 'मातु बिबेक अलौकिक ···'—रानी ने छः वस्तुएँ माँगी हैं, उनमें विवेक भी एक है। उसमें अलौकिकता आप अपनी ओर से देते हैं। लौकिक विवेक वह है जो शम-दम आदि साधनों से प्राप्त होता है, उसमें विघ्न भी होते हैं। यथा—"मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ ॥" (आ० दो० ३८); अल्पज्ञ जीव के किंचित् चूकने से कामादि धर दबाते हैं अर्थात् लौकिक ज्ञान एकरस नहीं रहता। श्रीरामजी का ज्ञान नित्य एकरस है, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीताबर" (उ० दो० ७७)। अतः, यह अलौकिक है, यही अपने अनुग्रह से देंगे। 'अनुग्रह मोरे' में यह भी ध्वनि है कि मैं अपनी लीला के लिये चाहूँगा, तो कुछ काल के लिये मिट भी जायगा, यथा—"माता पुनि बोली सो मति डोली।" ·· से—"अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि॥" (दो० १९१–२०२) तक। किसी दूसरे विघ्न से नहीं मिटेगा।

विवेक को पुष्ट करने का कारण यह है कि लीला के लिये इसका प्रयोजन होगा। वन-यात्रा के वियोग में जीवित रखना है। पुनः यह भी कहा जाता है कि इन्होंने एक साथ ही सब वर विवेक से माँगे हैं। अतः, विवेक पर प्रभु प्रसन्न हुए हैं, इसीसे इसे अचल किया। यह विवेक इनका औरों से विलक्षण है, इसीसे अलौकिक कहा है।

'मातु'—रानी ने संदेह किया था कि जगत्-भर के पिता हमारे पुत्र कैसे होंगे ? वह यहीं पर मिटा दिया कि अवतार तो समय पर होगा, पर मैंने अभी से माता मान लिया।

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। और एक बिनती प्रभु मोरी ॥४॥
सुत-बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ ॥५॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना ॥६॥
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥७॥

पार्षद महत् अंश हैं और राम-रूप ही हैं। यहाँ तीन विशेष महत् अंशों के लिये कहते हैं कि धारक, पालक और संहारक अंशों से तीनो भाई अवतीर्ण होंगे। यह भी सूचित किया कि अंशों के भी 'तात' (पिता) तुम्ही होगे।

(३) 'जेहि सुनि सादर नर ······' अर्थात् भाग्यवान् ही सुनते हैं, अभागे नहीं, यथा—"तेहि सर निकट न जाहिं अभागा।" (दो० १०); ममता और मद भव (जन्ममरण) के कारण हैं। अत, इनका त्याग कहकर भव तरना कहा है।

(४) 'आदिसक्ति जेहि ··· सोउ अवतरिहि ···'—प्रणव रूप होने से ब्रह्म को भी वेदान्त-सूत्र में 'प्रकृति' शब्द कहा गया है, इसी तरह यहाँ श्रीसीताजी के लिये भी 'माया' कहा गया है, यथा—"श्रीराम सान्निध्यवशाज्जगदानंददायिनी। ·· प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदति ब्रह्मवादिनः ॥" (श्रीरामतापनीय उ०)।

श्रीसीताजी त्रिगुणात्मिक माया नहीं हैं, क्योंकि वह जड़ है और ये चिद्रूपा हैं यथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारयाचिता। श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोशलजात्मजः ॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय), पुनः कृपागुण प्राधान्य से भी माया कहा है—यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च", तदनुसार कहा है—"कृपा-रूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय।" श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व कहा है—"गिरा अरथ जल बीचि सम ··· " (दो० १८) की व्याख्या भी देखिये। इस प्रसंग में भी ऊपर कहा गया है कि श्रीराम सीता दोनो मिलकर पूर्ण ब्रह्म है। 'सोउ अवतरिहि'—अपने लिये तो 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।' कहा है, पर इन्हें 'अवतरिहि' मात्र ही कहा, क्योंकि ये जगत् में अन्यत्र अवतीर्ण होंगी, उनके यहाँ (अवध में) नहीं।

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा ॥५॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना ॥६॥

अर्थ—मैं तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूँगा, हमारा प्रण सत्य है, सत्य है, सत्य है ॥५॥ कृपानिधान भगवान् फिर-फिर ऐसा कहकर अन्तर्द्धान हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'पुरउब मैं अभिलाष···' राजा ने कहा था—'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी', उसका उत्तर यहाँ है। सत्य तीन बार कहा, क्योंकि प्रतिज्ञा की रीति है कि वह तिवाचा (तीन बार) कही जाती है। यह भी कहा जाता है कि अपने, अपने अंशों के और शक्ति के अवतार के लिये तीन बार कहा।

(२) 'पुनि पुनि अस कहि ··' फिर-फिर ऐसा कहने का कारण 'कृपानिधाना' से जनाया कि इनपर बड़ी कृपा है, इसलिये बारबार प्रतिज्ञा की। भक्त के हेतु कृपा होने से इस प्रसंग को 'कृपानिधाना' और 'भगवाना' से सपुटित किया। यथा—"भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥" (दो० १४५); उपक्रम है और यहाँ—"पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना ॥" पर उपसंहार है। अर्थात् कृपा से ही प्रकट हुए और कृपा ही से मनु को सन्तुष्ट करके अन्तर्द्धान हुए—कृपा एकरस रही।

दंपति उर धरि भगति कृपाला। तेहि आश्रम निवसे कछु काला ॥७॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति-बासा ॥८॥

दोहा—यह इतिहास पुनीत अति, उमहिं कहा वृषकेतु ।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि, रामजनम कर हेतु ॥१५२॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष (मनु-शतरूपा) दोनो ने कृपालु प्रभु की भक्ति हृदय मे धारणकर उसी आश्रम में कुछ काल निवास किया ॥७॥ फिर समय पाकर बिना परिश्रम शरीर-त्याग कर इन्द्र-लोक में जा बसे ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज ! धर्मध्वज शिवजी ने यह अत्यन्त पवित्र इतिहास उमाजी से कहा । अब और भी श्रीराम-जन्म के कारण सुनो ।

विशेष—(१) 'नृपति उर धरि'''—भक्ति की प्राप्ति से अन्य साधनों का क्लेश छूट जाता है, यथा—"जिमि हरि-भगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥" (कि० दो० १६) ; इसीसे मनु-शतरूपा ने अब अखंड, अगुण आदि का ज्ञान एवं तप आदि कर्म छोड़ दिये, क्योंकि फलरूपा भक्ति प्राप्त हो गई । यथा—"तीर्थाटन साधन समुदाई ।"'''से–'सब कर फल हरि-भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५) तक । ये मनोरथ सिद्ध होने पर भी घर नहीं आये । अतः, वैराग्य अंत तक एकरस रहा ।

(२) 'समय पाइ तनु '''—मृत्यु का नियत काल पाकर देह छोड़ी । 'अनयासा'—और लोगों को जन्मते-मरते दुःसह दुःख होता है । यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई ।" (उ० दो० १०८) वैसा दुःख जीवन्मुक्त भक्तों को नहीं होता । यथा—"जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान । जिमि नूतन पट पहिरै, नर परिहरै पुरान ॥" (उ० दो० १०९) ।

यह श्रीरामावतार-प्रसंग यहीं रखकर बीच में रावणावतार-प्रसंग कहेंगे, फिर आगे इसे ही—"अब सो सुनहु जो बीचहि राखा ॥" (दो० १८०) पर मिलावेंगे ।

(३) 'यह इतिहास'''—'पुनीत अति' से माहात्म्य कहा, यथा—"मन-क्रम-वचन जनित अघ-जाई । सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो०१२५) । पुनः इसमें शाप-दंड आदि की व्यवस्था नहीं है अनन्य भक्ति से अवतार-प्रसंग है । अतः, अति पुनीत है । "लगे बहुरि बरनइ वृषकेतू ।"—(दो० १४०) पर उपक्रम है और यहाँ—"उमहिं कहा वृषकेतु,'–पर उपसंहार है ।

(४) 'अपर पुनि'—अर्थात् दूसरा फिर, भाव साकेतविहारी परतम प्रभु के अवतार में एक हेतु मनु-शतरूपाजी हुए । दूसरा हेतु भी है, उसे अब कहता हूँ ।

मनु-शतरूपा-प्रकरण समाप्त

भानु-प्रताप-प्रकरण

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी । जो गिरिजा प्रति संभु बखानी ॥१॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू । सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥२॥
धरमधुरंधर नीतिनिधाना । तेज - प्रताप - सील बलवाना ॥३॥

अर्थ—हे मुनि ! यह पवित्र और पुरानी कथा सुनो, जिसे शिवजी ने पार्वतीजी से कहा था ॥१॥ जगत् में प्रसिद्ध एक कैकय देश है, वहाँ सत्यकेतु राजा रहता था ॥२॥ वह धर्मधुरन्धर, नीति का खजाना, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था ॥३॥

विशेष—(१) 'कथा पुनीत पुरानी'—'पुनीत'—इसके पढ़ने-सुनने से पाप नष्ट होते हैं। 'पुरानी' यह इतनी प्राचीन है कि पुराणों में भी प्रायः नहीं सुनी जाती, यह आदिकल्प की है। इसे शिवजी ही जानते हैं। यथा—"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥" (दो० १८४); ऐसे यह कथा भी वे ही जानते हैं। आजकल बहुत-से प्राचीन ग्रंथ नष्ट भी हो गये हैं। उन्हीं में कहीं यह कथा रही होगी।

'गिरिजा प्रति संभु'—इस कथा को महादेव-पार्वतीजी कहते-सुनते हैं। अतः, शिष्टपरिगृहीत है, तो सबके योग्य है। इस कथा को कल्याणमूलक और संसार का उपकार करनेवाली सूचित करते हुए, शंभु और गिरिजा के नाम दिये हैं।

(२) 'बिस्वबिदित एक···'। 'बिस्वबिदित' कहकर देश की श्रेष्ठता कही, यथा—"जग-बिख्यात नाम तेहि लंका।" (दो० १७७) और 'सत्यकेतु' नाम से देश के स्वामी का महत्त्व बतलाया अर्थात् जिसकी सत्य की पताका फहराती है। अतः, धर्म की पूर्णता है, यथा—"धर्म न दूसर सत्य समाना।" (अ० दो० ९४); "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७)।

'कैकय देसू'—बहुतों के मत से यह अब काश्मीर राज्य में है जो 'कक्का' कहलाता है।

(३) 'धरमधुरंधर नीति···'—उपर्युक्त सत्यकेतु नाम के अनुसार धर्मधुरन्धर होना योग्य ही है। ऊपर 'नरेसू' कहकर यहाँ 'नीतिनिधान' भी कहा, क्योंकि—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२)। पुन धर्मधुरन्धर शब्द से चारों चरण युक्त धर्म से पूर्ण कहे, यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा···" (उ० दो० २०)। सत्य, शौच, दया और दान ये चारो चरण धर्म के हैं।

(४) 'तेज-प्रताप सील बल-राना।'—ये चारो गुण चार लोकपालों के हैं। वे राजा में एक ही स्थान पर होते हैं, जैसे अग्नि के समान तेजस्वी, सूर्य की भाँति प्रतापी, चन्द्रमा के समान शीलवान् और पवन के समान बलवान् हैं। यथा—"···प्रताप दिनेस से सोम से सील···" (क० उ० ४३); "पवनतनय बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। "तेज कृसानु···" (दो० ४)।

तेहि के भये जुगल सुत बीरा। सब-गुन-धाम महा-रनधीरा॥४॥
राजधनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही॥५॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा॥६॥
भाइहि भाइहि परम समीती। सकल-दोष-छल-बरजित प्रीती॥७॥

शब्दार्थ—जुगल (युगल) = दो। राजधनी = राज्य का अधिकारी। अचल = न हटनेवाला, पर्वत-तुल्य। समीती = सुन्दर मित्रता, बड़ा मेल। अतुल = नि सीम। बरजित (वर्जित) = रहित।

अर्थ—उसके दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब गुणों के धाम और महा रणधीर थे॥४॥ राज्य का अधिकारी जो बड़ा पुत्र था, उसका प्रताप भानु (भानुप्रताप) ऐसा नाम था॥५॥ दूसरे पुत्र का अरिमर्दन नाम था, उसकी भुजाओं में नि सीम बल था और वह लड़ाई में तो पर्वत के समान अचल था॥६॥ भाई-भाई में बड़ा ही मेल एवं समस्त दोषों और छलों से रहित प्रीति थी॥७॥

विशेष—(१) 'तेहि के भये जुगल···'—प्रथम पिता के गुण कहकर अब संतान के कहते हैं कि पिता की तरह इसमें भी राजा के सब गुण हैं। यह अधिकता है—भानुप्रताप महारणधीर है, क्योंकि अपने बाहुबल से चक्रवर्ती भी हो जायगा।

(२) 'नाम प्रतापभानु अस···भुज-बल अतुल अचल···'—भानुप्रताप में प्रताप सूर्य के समान है, अर्थात् सूर्यवत् प्रतापी है और अरिमर्दन भुजबल में अतुल है। ये ही दोनो जब रावण-कुम्भकर्ण होंगे, तब दोनो के गुण प्रकट होंगे। रावण में प्रताप, यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप···" (सुं० दो० ११) और कुम्भकरण में बल—जैसे श्रीहनूमान्‌जी को रावण ने घूँसा मारा, पर वे भूमि में नहीं गिरे थे—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा।" (लं० दो० ८३); और कुम्भकर्ण के मारने पर—"घुर्मित भूतल पर्यो तुरंता।" (लं० दो० ७१) कहा गया है।

(३) 'भाइहि भाइहि परम···' मित्रता के दोष, यथा—"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।···" से—"जाकर चित अहि-गति सम भाई॥" (कि० दो० ७) तक; छल अर्थात् कपट, हृदय में स्वार्थसाधकता और ऊपर से सद्भाव दिखाना कपट है, इससे प्रीति नहीं रहती, यथा—"जल पय-सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि।" (दो० ५७)।

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि-हित आप गवन बन कीन्हा॥८॥

दोहा—जब प्रतापरबि भयेउ नृप, फिरी दोहाई देस।

प्रजा पाल अति बेद-बिधि, कतहुँ नहीं अघलेस॥१५३॥

शब्दार्थ—प्रतापरबि = प्रतापभानु। दोहाई (द्वि + आह्वा) = दोहरी पुकार, डंके के साथ राजा के अधिकार की घोषणा, यथा—"नगर फिरी रघुबीर-दोहाई।" (सुं० दो० १०)।

अर्थ—राजा ने बड़े पुत्र को राज्य दिया और आप हरि (भजन) के लिये वन को चले गये॥८॥ जब भानुप्रताप राजा हुआ और उसकी दुहाई देश में फिरी, तब वह सम्यक् प्रकार वेद की रीति से प्रजा का पालन अच्छी तरह करने लगा, लेश-मात्र भी पाप कहीं नहीं रहा॥१३५॥

विशेष—(१) 'जेठे सुतहिं···' ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देना और चौथेपन में वन जाना धार्मिक नीति है; यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप-नीति।" (अ० दो० ३१)। "संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६)।

(२) 'अति वेद-विधि'—इसमें 'अति' दीपदेहली है, वेद-विधि के साथ 'अति' का भाव यह कि वेद-विधि से तो सत्यकेतु भी प्रजा पालते थे, यह उनसे भी अधिक हुआ।

'नहीं अघलेस'—अर्थात हिंसा, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप-कर्म नहीं रह गये। यथा—"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरो स्वैरिणी कुतः॥" (छन्दोग्य उ० ५।११।५) यह कैकय देश के राजा अश्वपति ने उद्दालक आदि ऋषियों से कहा है।

नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक समाना॥१॥

सचिव सयान बंधु बलबीरा। आप प्रतापपुंज रनधीरा॥२॥

सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥३॥

शब्दार्थ—सुक (शुक्र)=शुक्राचार्य। सेन चतुरंग=रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल—ये चारों मिलकर चतुरंगिणी सेना कहाते हैं। जुझारा=जूझनेवाले बाँके वीर। बलबीरा=बलवान् और वीर एवं शूर-वीर वा बलवीर=बल में श्रेष्ठ; जैसे—दानवीर, कर्मवीर आदि।

अर्थ—धर्मरुचि नाम का मंत्री था, जो शुक्राचार्य के समान चतुर और राजा का हित करनेवाला था ॥१॥ मंत्री चतुर, भाई शूरवीर और आप (स्वयं राजा) बड़ा ही प्रतापी और रणधीर था ॥२॥ साथ में अगणित चतुरंगिणी सेना थी, जिसमें अगणित योद्धा थे, जो सब-के-सब युद्ध में बाँके लड़ाके थे ॥३॥

विशेष—(१) 'नृप हितकारक सचिव ···'—मंत्री राजा का हितैषी हो और राजनीति एवं धर्मनीति आदि का ज्ञाता हो तो उत्तम है, वे ही गुण इसमें थे।

'सुक समाना'—जैसे शुक्राचार्य ने अपना निरादर सहकर भी अपने राजा बलि का हित किया, वैसे यह था। शुक्रप्रणीत 'शुक्रनीति' राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है।

श्रीशुक्राचार्य देवता एवं सर्वज्ञ हैं, पर दैत्यों के आचार्य हैं और उनके पक्ष में रहते हैं। राजा बलि जब यज्ञ करते थे, वामन भगवान् ने देवताओं के हित के लिये आकर उन (बलि) से अपने पैरों की नाप से तीन पग पृथिवी माँगी। राजा बलि ने देना स्वीकार कर लिया। सर्वज्ञ दैत्य-गुरु शुक्र ने भगवान् का उद्देश्य जानकर बलि को दान करने से रोका और बहुत नीति समझाई। उसमें यह भी कहा कि अपनी जीविका-रक्षा के लिये तुम अब भी 'नहीं' कर सकते हो। बलि ने न सुना, तब शुक्र ने डाँटा और शाप का भी भय दिखाया। बलि को न मानते देखकर शुक्र जलपात्र में प्रवेश कर गये कि संकल्प के लिये जल ही न गिरे। परिणाम यह हुआ कि उनकी एक आँख फोड़ दी गई। इस तरह अपमान सहकर भी राजा का हित चाहा।

(२) 'सेन संग चतुरंग···'—चतुरंगिणी सेना—अक्षौहिणी में चतुरंगिणी सेना के चार अंगों से पृथक् पाँचवें में सुभट गिने जाते हैं। इसी से यहाँ 'अमित सुभट···' अलग कहे गये। अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, इतने ही रथ, इनके तिगुने घोड़े और पँचगुने पैदल—कुल २१८७०० होते हैं। बड़ी अक्षौहिणी की संख्या यों है—यथा—"अयुतञ्चनागास्त्रिगुणी रथानि लक्षं च योद्धाः दशलक्ष वाजिनः। पदातेश्च संख्या षट्त्रिंशकोट्य् अक्षौहिणीं ता मुनयो वदन्ति॥"

यहाँ 'अपार' शब्द से बहुत अक्षौहिणी और 'अमित' से असंख्य सुभट कहे।

सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥४॥
बिजय-हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥५॥
जहँ तहँ परीं अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं ॥६॥
सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥७॥

शब्दार्थ—गहगहे=धमाधम। निसान=डंका। कटकई=सेना। साधि=शोधकर। बजाई=डंका बजाकर। दंड=कर, वह धन जो अपराधी से अपराध के कारण लिया जाय। सप्तदीप (सप्त द्वीप)=जंबू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर—ये सातों क्रमशः एक से दूसरे दूने हैं। ये राजा प्रियव्रत के द्वारा विभक्त हुए हैं।

अर्थ—सेना को देखकर राजा हर्षित हुआ और धमाधम नगाड़े बजने लगे ॥४॥ राजा दिग्विजय के लिये सेना सजाकर, शुभ दिन (मुहूर्त्त) साधकर और डंका बजाकर चला ॥५॥ जहाँ-तहाँ अनेक लड़ाइयाँ हुईं। सब राजाओं को उसने बलपूर्वक जीत लिया ॥६॥ सातो द्वीपों को अपनी भुजाओं के बल से वश कर लिया और दंड ले-लेकर राजाओं को छोड़ दिया ॥७॥

विशेष—(१) 'सेन बिलोकि···'—सेना को अनुकूल देखकर हर्ष हुआ। हर्ष यात्रा के उपलक्ष्य में होना कार्य-सिद्धि का सूचक है। दिग्विजय के लिये डंका बजाने की प्रथा थी। यथा—"मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही॥" (दो० २२१)।

(२) 'कटकई बनाई'—पूर्व—'सेन संग चतुरंग···' कहा गया था, वह नगर की सेना थी। यहाँ 'कटकई बनाई' का अर्थ युद्ध के लिये व्यूह रचकर चलने का है।

(३) 'जहँ तहँ परी···'—सर्वत्र लड़ना नहीं पड़ा, कोई-कोई राजा लड़े, कितने यों ही आकर अधीन हो गये, कुछ भाग गये। 'बरिआई'—सम्मुख लड़कर जीता, कपट-युद्ध से नहीं।

(४) 'सप्त दीप भुजबल · '—शंका—इन सातो द्वीपों के बीच-बीच में बड़े-बड़े समुद्र पड़ते हैं, वह राजा कैसे पार गया? क्योंकि श्रीरामजी ने तो एक समुद्र पार करने के लिये सेतु बाँधा था।

समाधान—(क) प्रतापी को सभी राह दे देते हैं, इसीसे श्रीरामजी ने प्रथम राह माँगी थी, फिर सागर ने कहा भी है, यथा—"प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक ··" (सुं० दो० ५८)। (ख) उस समय भारत उन्नति पर था। अतः, पुष्पक विमान की तरह और विमान रहे होंगे। उस एक ही विमान (पुष्पक) पर श्रीरामजी सेना-समेत लंका से लौट आये थे।

सकल-अवनि - मंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला ॥८॥

दोहा—स्वबस बिस्व करि बाहुबल, निज पुर कीन्ह प्रबेस।
अरथ - धरम-कामादि-सुख, सेवइ समय नरेस ॥१५४॥

अर्थ—उस समय समस्त पृथिवी-मंडल में एक भानु-प्रताप ही राजा था ॥८॥ जगत्-भर को अपनी भुजाओं के बल से अपने वश में करके उसने अपने नगर में प्रवेश किया। वह राजा अर्थ, धर्म और काम आदि सुखों को (युक्त) समय-समय पर सेवन करता था ॥ १५४ ॥

विशेष—(१) 'तेहि काला'—इसके पूर्वज मांडलिक राजा न थे। इसने ही अपने प्रताप से यह पद प्राप्त किया था। श्रीरामजी के कुल में प्रथम से ही चक्रवर्ती होते आये हैं, इसलिये उनके वर्णन में 'तेहि काला' नहीं कहा गया है। यथा—"भूमि सप्त सागरमेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥" (उ० दो० २१)।

(२) 'अरथ धरम कामादि · '—प्रातःकाल से पूजा पाठ आदि धर्म के सेवन का समय, फिर राज्य कार्य के द्वारा धन लाभ में अर्थ-सेवन और शयन का समय काम-सुख सेवनका है। वह राजा सत्-संग के द्वारा मोक्ष-सुख का सेवन भी करता था। यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥" (सुं० दो० ४)।

भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई ॥१॥
सब-दुख-बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर-नारी ॥२॥
सचिव धरमरुचि हरि-पद-प्रीती। नृप-हित-हेतु सिखव नित नीती ॥३॥
गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकै सेवा ॥४॥

अर्थ—राजा भानुप्रताप का बल पाकर पृथिवी सुन्दर कामधेनु (सर्व मनोरथदात्री) हो गई ॥ १ ॥ प्रजा सब दुःखों से रहित और सुखी रहती थी। स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे ॥ २ ॥ धर्मरुचि (नामक) मंत्री का हरि-चरणों में प्रेम था, राजा के हित के लिये वह सदा नीति सिखाया करता था ॥ ३ ॥ गुरु, देवता, सन्त, पितृदेव और ब्राह्मण—वह राजा इन सब की सदैव सेवा करता था ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'कामधेनु भइ भूमि ···'—धर्मात्मा राजा के प्रभाव और प्रयत्न से पृथिवी इच्छानुसार अन्न उपजाती थी, उसीसे धर्म और काम की सिद्धि भी होती थी। यथा—"धरनि-धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। हाथ कछू नहिं लागि है, किये गोड़ की गाइ ॥" (दोहावली ५१२) अर्थात् राजा का उत्तम धर्माचरण चारा और प्रजा बछड़ा है। पृथिवीरूप धेनु चरकर पन्हाती है तो अर्थ आदि दूध देती है।

(२) 'सब दुख बरजित···' —'दुख' यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००); अर्थात् भय, रोग, शोक और वियोग आदि दुःख हैं तथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)। सब धर्मशील होने से सुखी हैं। यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)।

यहाँ 'कामधेनु भइ भूमि' से अर्थ, 'धर्मशील' से धर्म और 'सुंदर नर-नारी' से काम का सेवन राजा की तरह प्रजा का भी जनाया। प्रसिद्ध ही है—"यथा राजा तथा प्रजाः"।

(३) 'सचिव धरमरुचि हरि···'—मंत्री में इसी जन्म से भक्ति का बीज पड़ा है, वही आगे विभीषण शरीर में बढ़ेगा, क्योंकि भक्ति बीज का नाश नहीं होता। यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गी० ९।३१) तथा—"ताते नास न होइ दास कर।" (उ० दो० ७८)। पूर्व कहा था —'नृप-हितकारक सचिव सयाना।' उसीका यहाँ चरितार्थ किया कि वह मंत्री राजा के हित के लिये नित्य ही नीति सिखाता था, क्योंकि "राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२)।

(४) 'गुरु सुर संत पितर···'—ये पाँचो पंचदेवता की तरह प्रायः एक साथ कहे जाते हैं, यथा—"द्विज, देव, गुरु, हरि, संत बिन संसार पार न पावई।" (वि० १३६)। यहाँ 'पितर' की जगह 'हरि' हैं, क्योंकि 'पितृरूपी जनार्दनः' कहा ही जाता है। इन पाँचो का एक साथ ही पृथक्-पृथक् महत्त्वसहित वर्णन भी कि० दो० १६ के "जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" से "सद्गुरु मिले···" तक है। यहाँ 'सुर' की जगह 'संकर' कहे गये हैं, क्योंकि ये देव ही नहीं, महादेव हैं।

भूप-धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने ॥५॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनइ सास्त्रबर बेद पुराना ॥६॥
नाना बापी कूप तड़ागा। सुमनबाटिका सुंदर बागा ॥७॥
बिप्रभवन सुरभवन सुहाये। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाये ॥८॥

शब्दार्थ—बापी=बावली, वह कुँआ जिसमें नीचे जल तक जाने को सीढ़ियाँ बनी होती हैं।

अर्थ—राजाओं के धर्म जो वेद में कहे हुए हैं, उन सबको आदरपूर्वक और सुख मानकर करता था॥ ५॥ प्रत्येक दिन अनेक प्रकार के दान देता था और उत्तम शास्त्र एवं वेद-पुराण का श्रवण करता था॥ ६॥ सब तीर्थों में अनेक बावलियाँ, कुँए, तालाब, सुन्दर फुलवारियाँ और बाग, ब्राह्मणों के घर और देवताओं के सुहावने मंदिर विचित्र-विचित्र बनवाये॥ ७-८॥

विशेष—(१) 'भूप-धरम'''—प्रजा-पालन और देश-रक्षा आदि राजाओं के धर्म हैं जो वेद एवं उसके उपबृंहण (विस्तार) रूप महाभारत के शांतिपर्व में कहे गये हैं। पुनः यथा—"मुखिया मुख सौं चाहिये, खान-पान को एक। पालइ पोसइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥ राजधरम सर्बस इतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥" (अ० दो० ३१५)।

(२) 'दिन प्रति देइ'''—अन्यत्र प्रायः पर्व एवं उत्सव आदि अवसरों पर ही दान दिये जाते हैं, पर वह नित्य ही देता था। 'बिबिध बिधि' यथा—"गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥ (दो० १९५)।

(३) 'सुनइ सास्त्र बर'''—'बर' अर्थात् राजस और सात्त्विक शास्त्र-पुराण ही सुनता था, तामस नहीं। प्रातःकाल वेद, मध्याह्न में पुराण और संध्या-समय धर्मशास्त्र सुनने का समय है अथवा यथावकाश ही सुनता था।

(४) 'बिप्रभवन सुरभवन''' अर्थात् देव-मंदिर के साथ ही नित्य पूजा होने के लिये ब्राह्मण का भी घर बनवा देते थे। इसलिये दोनो को एक साथ लिखा है।

दोहा—जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग॥१५५॥

हृदय न कछु फल-अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना॥१॥
करइ जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी॥२॥

शब्दार्थ—अनुसंधान=चेष्टा, इच्छा। अर्पित=आदरपूर्वक दिया हुआ। ज्ञानी=शास्त्रज्ञानी।

अर्थ—जहाँ तक वेद-पुराणों में यज्ञ कहे गये हैं, उन सबमें प्रत्येक को हजार-हजार बार राजा ने अनुरागपूर्वक किया॥ १५५॥ राजा बड़ा विवेकी (विचारवान्) और चतुर था, (अतः) वह हृदय में कुछ भी फल की चेष्टा नहीं करता॥ १॥ जो-जो धर्म मन, वचन और कर्म से करता था, उसे वह ज्ञानी राजा मन-वचन-कर्म से वासुदेव भगवान् को अर्पित कर देता था।

विशेष—यहाँ—'करम मन बानी' दीपदेहली है। राजा शास्त्रज्ञानी था। अतः, कर्म, मन और वचन से सुकृत को भगवान् में अर्पित करता था। यथा—"हरिहिं समर्पे बिनु सतकरमा।''' श्रम फल किये'''" (आ० दो० २०); अन्यथा सकाम कर्म बंधन-रूप होता है। 'न कछु फल अनुसंधाना' अर्थात् निष्काम करता था। यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति''''''" (गीता १८।६)।

चढ़ि बर बाजि बार एक राजा। मृगया कर सब साजि समाजा॥३॥

विंध्याचल गँभीर बन गयेऊ। मृग पुनीत बहु मारत भयेऊ ॥४॥
फिरत विपिन नृप दीख पराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ॥५॥
बड़ बिधु नहि समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, अहेर। बराह = शूकर। दुरेउ = छिपा है। समाज = सामान।

अर्थ—एक बार राजा शिकार के सब सामान सजाकर और अच्छे घोड़े पर चढ़कर ॥३॥ विन्ध्याचल के सघन वन में गया और बहुत से पवित्र मृग मारे ॥४॥ राजा ने वन में फिरते हुए एक शूकर को देखा (वह ऐसा था) कि मानों चन्द्रमा को ग्रसकर राहु वन में आ छिपा है ॥५॥ चन्द्रमा बड़ा है, मुँह में नहीं समाता, मानों क्रोधवश वह उसे उगलता भी नहीं ॥६॥

विशेष—(१) 'बरबाजि'—तेज चालवाला एवं शिकार के अनुकूल रंगवाला हरा अथवा नीला घोड़ा जो वृक्षों के झुरमुट में छिप सके। 'पुनीत मृग'—वे मृग जो शास्त्र से मृगया के लिये ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। मृग (मृ = वन, ग = गमन) = जंगली जानवर।

(२) 'फिरत बिपिन · ·'—यह कालकेतु है। कपट से शूकर होकर फिर रहा है, जिससे राजा उसे देखे और पीछा करे। जैसे, मारीच मृग बनकर श्रीसीताजी के आसपास फिरने लगा था।

(३) 'बड़ बिधु नहि · ·'—यहाँ शूकर उपमेय और राहु उपमान हैं जो दोनो काले हैं। दसन (दाँत) उपमेय और चन्द्रमा उपमान—दोनो श्वेत रंग और गोलाकार हैं। काले रंग के मुख से गोलाकार बाहर तक निकले और चमकते हुए दिखाई पड़ना उत्प्रेक्षा का विषय है। 'क्रोधबस'—क्षीरसागर से अमृत निकला, भगवान् देवताओं को बाँट रहे थे, उनमें राहु भी आ बैठा था। चन्द्रमा और सूर्य ने इशारे से छल बतला दिया, जिससे उसका सिर भगवान् ने काट डाला, वह उस बैर से क्रोध करता है।

जैसे राहु और केतु दोनों सहवर्गी थे, वैसे इस शूकर (कालकेतु) का सहवर्गी कपटी मुनि है। वह केतुरूप है। केतु के उदय से राजा का नाश होता है, वैसे उसके देखने से भानुप्रताप का होगा।

कोल-कराल-दसन-छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई ॥७॥
घुरघुरात हय-आरव पाये। चकित बिलोकत कान उठाये ॥८॥

दोहा—नील महीधर-सिखर सम, देखि बिसाल बराह।
चपरि चलेउ हय सुटुकि-नृप, हाँकि न होइ निबाह ॥१५६॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। पीवर = मोटा, स्थूल। कोल = शूकर। घुरघुराना = शूकर का शब्द करना। हय = घोड़ा। आरव = आहट। महीधर = पहाड़। सिखर = चोटी। चपरि = चपलता से। सुटुकि = चाबुक लगाकर। निबाह = बचाव।

अर्थ—यह छवि शूकर के भयकर दाँतों की कही गई है, उसका शरीर बहुत ऊँचा एवं चौड़ा था और मोटाई अधिक थी ॥७॥ घोड़े की आहट पाकर शूकर घुरघुराता हुआ कान उठाये चौकन्ना हो (इधर-उधर) देख रहा था ॥८॥ नीलगिरि के शिखर के समान भारी शूकर को देखकर राजा घोड़े को चाबुक लगाकर चपलता से हाँक चला (सरपट छोड़ा) कि जिससे शूकर का बचाव न हो सके ॥१५६॥

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥१॥
तुरत कीन्ह नृप सरसंधाना। महि मिलि गयेउ बिलोकत बाना ॥२॥
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥३॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिसबस भूप चलेउ सँग लागा ॥४॥

शब्दार्थ—बाजी = घोड़ा। रव = शब्द। संधाना = चढ़ाया। भाजी = भागकर।

अर्थ—बड़ी आवाज के साथ (तेजी से) घोड़े को आता देखकर शूकर वायु की चाल से भाग चला ॥१॥ राजा ने तुरत बाण को धनुष पर चढ़ाया, उस बाण को देखकर वह पृथिवी में दुबक गया ॥२॥ राजा ने ताक-ताककर तीर चलाये, शूकर छल करके शरीर बचाता गया ॥३॥ कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता, इस प्रकार वह मृग (वन-पशु) भागता फिरता था और राजा क्रोध के मारे उसके पीछे लगा चला जाता था ॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत कीन्ह ···'—घोड़े पर से तलवार-भाले आदि के द्वारा शिकार किया जाता है, उसका घात न पाकर तुरत ही बाण चढ़ाया। बाण चलाने में दोनों हाथों से काम पड़ता है, इस प्रकार सवारी में राजा की निपुणता दिखाई।

(२) 'तकि तकि तीर···'—यहाँ राजा ने सीधे चलनेवाले बाणों से ही काम लिया। पशु समझकर बाण-विद्या के अभिमंत्रित बाणों का प्रयोग नहीं किया, अन्यथा नहीं बच सकता; पशु आदि अनभिज्ञों पर अभिमंत्रित बाण न चलाना युद्धनीति है।

(३) 'करि छल···'—प्रकट होना, छिप जाना, तिरछा हो जाना छल है। छल करके इसे कपटी-मुनि के समीप तक ले जाना है।

(४) 'रिसबस'—शिकार की कामना-हानि होते देख राजा को क्रोध हुआ, उससे फिर मोह होता है वह भी कपटी मुनि के यहाँ होगा। यथा—"कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः···" (गीता २।६२-६३)।

गयेउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिंन गज-बाजि-निबाहू ॥५॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृगमग तजइ नरेसू ॥६॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥७॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ॥८॥

दोहा—खेद-खिन्न छुद्धित तृपित, राजा बाजिसमेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयेउ अचेत ॥१५७॥

शब्दार्थ—गहन = वन का गुप्त स्थान। पैठ = घुस गया। खेद = ग्लानि। खिन्न = दीन।

अर्थ—शूकर दूर घने सघन वन के गुप्त स्थान में चला गया, जहाँ हाथी-घोड़े का निर्वाह नहीं हो सकता ॥५॥ यद्यपि राजा एकदम अकेला है और वन में बहुत क्लेश भी है, तो भी वह शिकार

का पीछा नहीं छोड़ता ॥६॥ शूकर ने देखा कि राजा बड़ा धीर है, तब वह भागकर पर्वत की एक बड़ी गंभीर (गहरी) गुफा में जा घुसा ॥७॥ उसमें अपना जाना दुर्गम देख राजा बहुत पछताकर फिरा, तो उस घोर वन में मार्ग भूल गया ॥८॥ ग्लानि से दीन चित्त और भूखा-प्यासा राजा घोड़े के साथ व्याकुल होकर नदी-तालाब खोजते हुए जल के बिना बेसुध हो गया ॥१५७॥

विशेष—'नरेसू'—राजा प्रायः हठी होते हैं, इससे पीछा नहीं छोड़ता।

'बड़ धीरा'—इतनी दूर तक पीछा न छोड़ा। अतः, मार ही न डाले !

'अति पछिताई'—नाहक यहाँ आये, इतना परिश्रम हुआ। शिकार भी न मिला, अब जल के बिना प्राणों पर आ बीती, इत्यादि।

'खेद-खिन्न······'—ऊपर-'परेउ भुलाई' कहा, उस भूलने का कारण यहाँ कहते हैं कि राजा का चित्त उदास है और घोड़ा भी शिकार निकल जाने से उदास हुआ तथा भूख-प्यास एवं थकावट तो दोनों को थी ही, फिर संध्या का समय भी हो आया था। इन कारणों से राजा बेसुध होकर दिशा-भ्रम से मार्ग भूल गया, वहीं आस-पास में घूम-फिरकर रह गया, यथा—"लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥" (कि॰ दो॰ २४)।

फिरत बिपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट-मुनि-बेखा ॥१॥
जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई। समर सेन तजि गयेउ पराई ॥२॥
समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी ॥३॥
गयेउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी ॥४॥
रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसइ तापस के साजा ॥५॥

शब्दार्थ—कपट = बनावटी। आश्रम = साधु का स्थान। समय = बढ़ती के दिन, भाग्य।

अर्थ—वन में फिरते हुए (राजा को) एक आश्रम देख पड़ा। जहाँ एक राजा कपट से मुनि-वेष बनाये रहता था ॥१॥ जिसका देश राजा भानु-प्रताप ने छीन लिया था, (क्योंकि) वह लड़ाई में सेना छोड़कर भाग गया था ॥२॥ भानुप्रताप का सुसमय और अपना अत्यंत असमय (दुर्दिन) समझकर ॥३॥ उसके मन में बहुत ग्लानि हुई, इससे घर लौटकर नहीं गया। वह अभिमानी राजा था, अतः, इस भानु-प्रताप से मिलाप (संधि) भी नहीं किया ॥४॥ वह राजा दरिद्र की तरह हृदय में क्रोध मारकर तपस्वी के साज (वेष) से वन में बसता था ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ क्रम से कारण कहे गये। कपट से मुनि वेष का कारण—उसका देश छिन जाना, देश छीनने का कारण उसका भाग जाना और अभिमान से न मिलना है। राजा का प्रताप ऐसा है कि यह साधुवेषधारी राजा ७० योजन पर, घोर वन में फिर भी वेष बदलकर भयभीत रहता है कि कहीं भानु-प्रताप जान पावेगा, तो मार ही डालेगा, क्योंकि ऐसी ही नीति है। यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ॰ दो॰ २२८), "रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।" (आ॰ दो॰ २१)।

(२) 'मिला न राजहि······'—साम, दाम, दंड, भेद—ये चार नीति के भेद हैं। जब राजा अपने को कमजोर देखे, तब 'दाम' नीति से कुछ देकर, शर्त आदि मानकर, प्रतिपक्षी से मेल कर ले, पर इसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि अभिमानी था।

(३) 'रिस उर मारि······'—जैसे कोई कंगाल एवं भिक्षुक अपमान सहते हुए प्रतिकार में असमर्थ होने से क्रोध को मन में ही दबा लेता है, वैसे इस कपटी राजा की दशा थी।

तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरवि तेहि तब चीन्हा ॥६॥
राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥७॥
उतरि तुरग ते कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥८॥

दोहा—भूपति तृषित बिलोकि तेहि, सरबर दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत-हय, कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ—जब राजा उसके समीप गया, तब उसने पहचान लिया कि यह भानु-प्रताप है ॥६॥ राजा प्यासा था, (इसी विकलता से) उसे नहीं पहचाना। प्रत्युत सुन्दर वेष देखकर महामुनि मान लिया ॥७॥ और घोड़े से उतरकर प्रणाम किया (परंतु) बड़ा चतुर था, इससे अपना नाम नहीं बतलाया ॥८॥ राजा को प्यासा देखकर उसने सरोवर दिखला दिया। राजा ने हर्षित होकर घोड़े के साथ स्नान और जलपान किया ॥१५८॥

विशेष—(१) 'उतरि तुरंग ते······'—धर्म-शास्त्र की विधि है कि देवमंदिर, तीर्थ एवं संत आदि बड़ों को देख सवारी से उतरकर और हथियार धरकर प्रणाम करना चाहिये। कपटी-मुनि को महामुनि समझकर राजा ने वही किया, परन्तु प्रणाम करते समय अपना नाम भी कहना चाहिये। यह रीति है; यथा—"मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु··· " (उ० दो० १); "पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा ॥" (दो० २६८); इसने नाम न कहा, यह परम चतुरता है, यही आगे दो० १६३ में कपटी-मुनि कहेगा।

(२) 'भूपति तृषित बिलोकि तेहि···'—चेष्टा से ही जान लिया कि राजा प्यासा है। स्नान-पान से थकावट दूर होती है और प्रसन्नता भी होती है, यथा—"मज्जन कीन्ह पंथ-श्रम गयेऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयेऊ ॥" (अ० दो० ८६); "मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।" (आ० दो० ४०)। वे ही गुण यहाँ भी हुए जिन्हें 'हरषाइ' और आगे-'गै श्रम ···' में कहा है।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयेऊ। निज आश्रम तापस लै गयेऊ ॥१॥
आसन दीन्ह अस्त रवि जानी। पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥२॥
को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले। सुंदर जुवा जीव परहेले ॥३॥
चक्रवर्ति के लच्छन तोरे। देखत दया लागि अति मोरे ॥४॥

शब्दार्थ—आसन दीन्ह = सत्कार के लिये कुछ वस्तु बैठने को दी। परहेलना (सं० प्रहेलन) = निरादर करना।

अर्थ—सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ, तब वह तपस्वी उसे अपने आश्रम पर ले गया ॥१॥ सूर्यास्त का समय जानकर बैठने को आसन दिया, फिर वह तपस्वी कोमल वचन बोला ॥२॥ तुम कौन हो ? वन में अकेले कैसे फिर रहे हो ? तुम्हारी सुन्दर युवा अवस्था है, फिर भी तुम अपने जीव

(प्राणों) की परवा नहीं करते अर्थात् प्राणों का निरादर करते हो ? ॥३॥ तुममें चक्रवर्त्ति राजाओं के लक्षण देखकर मुझे बड़ी दया लगती है ॥४॥

विशेष—(१) 'निज आश्रम तापस लै गयेऊ।' अर्थात् सरोवर दिखाने के लिये साथ ही गया, फिर अपने आश्रम पर लिवा लाया।

(२) 'आसन दीन्ह ·····'—आसन देने पर भी राजा नहीं बैठा, क्योंकि उसकी इच्छा तुरत चले जाने की थी। अतः, बातें छेड़ दीं। कपटी मुनि ने सोचा कि मीठी-मीठी बातों में फँसाकर कुछ देर रोकने पर अँधेरा हो जायगा तो राजा अवश्य ही रुक जायगा, इस प्रकार कपट से दावँ लेना है।

(३) 'को तुम्ह ····· '—प्रश्न का प्रयोजन यह है कि यदि राजा स्वयं इधर आ निकला हो, तब तो रोकना ठीक नहीं और यदि काल-केतु भटकाकर लाया हो तो इसे रोकना और अपनी सिद्धई आदि की बातें करनी ठीक होंगी, तदनुसार वह कर सकेगा।

(४) 'चक्रवर्त्ति के ·····'—उपर्युक्त 'सुन्दर युवा ···' का कारण कहता है कि तुम्हारे लक्षण चक्रवर्त्ती के हैं, ऐसे राजा को अकेले ऐसे घोर वन में फिरना योग्य नहीं है। न जाने, कब क्या विघ्न आ पड़े ? राजा की भलाई में प्रजा की भलाई है। अत., मुझे अति दया लगी।

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥५॥
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई ॥६॥
हम कहँ दुरलभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा ॥७॥
कह मुनि तात भयेउ अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ॥८॥

दोहा—निसा घोर गंभीर वन, पंथ न सुनहु सुजान।
वसहु आज अस जानि तुम्ह, जायेहु होत विहान ॥
तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ ॥१५६॥

अर्थ—(राजा ने कहा) हे मुनीश ! सुनिये। एक भानु-प्रताप नाम का राजा है, मैं उसका मंत्री हूँ ॥५॥ शिकार में फिरते हुए भूल पड़ा हूँ। बड़े भाग्य से आकर चरणों के दर्शन किये ॥६॥ मेरे लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं, समझता हूँ कि कुछ भला होनेवाला है ॥७॥ मुनि ने कहा कि हे तात ! अँधेरा हो गया और तुम्हारा नगर यहाँ से सत्तर योजन (५६० मील) पर है ॥८॥ हे सुजान ! सुनो, रात भयंकर अँधेरी है, वन सघन है, रास्ता नहीं है, ऐसा जानकर आज यहीं रहो, सवेरा होते ही चल देना ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जैसी भवितव्यता (हरि-इच्छा-रूपी प्रारब्ध) होती है, वैसी ही सहायता मिल जाती है। या तो वह (भवितव्यता) आप ही (स्वयं) उसके पास आती है या उसीको वहाँ ले जाती है ॥१५६॥

विशेष—(१) 'नाम प्रतापभानु'''—यह 'को तुम्ह' का उत्तर है। राजा ने समझा कि ये कोई भारी दैवज्ञ मुनि हैं, इसी से मुझे चक्रवर्त्ती जान लिया। अतः, युक्ति से उत्तर देना चाहिये कि राजाओं के जहाँ-तहाँ अनेक शत्रु होते हैं, इसलिये नाम छिपाने की नीति भी रहे और उत्तर भी हो जाय। फिर 'मंत्री' कहा। इससे जान पड़ता है कि मंत्री में भी राज-लक्षण होते हैं।

(२) 'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई '''—यह 'कस बन फिरहु अकेले' का उत्तर है। इससे कपटी-मुनि ने जान लिया कि इसे कालकेतु ही यहाँ लाया है। अतः, अब ठहराने का उपाय रचेगा। 'बड़े भाग'—बहुत प्रयास से खोजने पर साधु मिलें तो भाग्य है और अनायास मिल जायँ तो बड़ा भाग्य है। यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२)। मुनि के—'देखत दया लागि''' इस कथन के जोड़ में—'बड़े भाग देखेउँ''' कहा है।

(३) 'हम कहँ दुरलभ दरस'''—हमलोग विषयों में लिप्त हैं और आप विशुद्ध संत हैं, ऐसे संत दैवयोग से ही मिलते हैं, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥" (उ० दो० ६८)।

(४) 'निसा घोर'''—इससे कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी रात अर्थात् अमावस्या जनाई। इसमें तांत्रिक छल के प्रयोग भी किये जाते हैं। इसे यह योग भी मिल गया।

(५) 'तुलसी जसि भवितव्यता '''—यहाँ 'भवितव्यता' को हरि-इच्छा ही जानना चाहिये। शिव-संहिता के अनुसार श्रीरामजी के प्रतापी और बलवीर्य नामक दो सखा ही श्रीरामजी की आज्ञा से भानु-प्रताप और अरिमर्दन हुए हैं। अतः, वे भगवान् युद्धरूप कौतुक के लिये ऐसे संयोग स्वयं रचते हैं। ये दोनों सखा अगले जन्म में राक्षस होने पर पूरे वैर से युद्ध करेंगे।

बुद्धिमान् होकर राजा क्यों ठगा गया? इसका समाधान याज्ञवल्क्य ने किया, क्योंकि यह प्रसंग कर्मघाट का है। उसीको गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसी भावी होती है वैसे उसके सहायक (साधन) मिलते हैं, अर्थात् संयोग बनते जाते हैं। 'आपुन' अवधी मुहावरा है, इसका अर्थ 'स्वयं' होता है। यथा—"आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं।" (दो० १८१), "ऊपर आपुन हेठ भट'''" (लं० दो० ४१)। 'आपुन आवइ' अर्थात् भावी स्वयं 'ताहि पहिं' अर्थात् जिसपर भावी होनेवाली है, आती है। जैसे भानुप्रताप के पास कालकेतु भावी-प्रेरित शूकर बनकर पहुँच गया। अथवा 'ताहि' जिसपर भावी होनेवाली है, उसको, 'तहाँ' भावी-प्रेरित बाधा के स्थान पर, ले जाती है, जैसे वह भानुप्रताप को ही कपटी मुनि के पास ले गई।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा। बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा॥१॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन बंदि निज भाग्य सराही॥२॥
पुनि बोलेउ मृदुगिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, नाथ!' राजा ऐसा कह आज्ञा शिर पर रख (मान) कर और घोड़े को पेड़ में बाँधकर आ बैठा॥१॥ राजा ने उसकी बहुत तरह से प्रशंसा की तथा उसके चरणों की वंदना कर उसके संबंध से अपना भाग्य सराहा॥२॥ फिर सुहावने कोमल वचन बोला कि हे प्रभो! आपको पिता जानकर

मैं ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर ! मुझे अपना पुत्र और सेवक जानकर हे नाथ ! अपना नाम बखान कर कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'बाँधि तुरग...'—अभी तक राजा घोड़े की बागडोर थामे खड़ा था कि अभी चल देंगे, पर कपटी-मुनि ने बातों-बातों में लगाकर अँधेरा कर दिया और ठहरा लिया।

(२) 'बहु भाँति प्रसंसेउ...' राजा ने कपटी मुनि को श्रेष्ठ साधु मानकर—शास्त्रोक्त साधु-लक्षणों को कहकर—उनके अनुसार इसकी सराहना की। यथा—"बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी ॥" (दो० २); आप ऐसे महान् हैं कि आपकी चरण-वंदना देवता भी करते हैं, मेरे भाग्य का क्या कहना है कि इन चरणों के दर्शन हुए ?

(३) 'मृदुगिरा सुहाई', 'जानि पिता...'—कोमल वाणी तो तापस ने भी कही थी, पर उसके वचन छलसंयुक्त होने से 'सुहावने' न थे, राजा के वचन निश्छल हैं। अतः, 'सुहावने' हैं। मुनि ने राजा को 'तात भयो अँधियारा' में 'तात' कहा था। मुनि के संबंध में तात का अर्थ पुत्र ही लिया जायगा। अतः, राजा ने उसे 'पिता' कहा। महात्मा एवं स्वामी से ढिठाई अयोग्य है और बालक पिता से ढिठाई कर सकता है, इसलिये भी 'पिता' कहा।

(४) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी।...'—पुत्र पर प्रीति स्वतः होती है, यदि पुत्र सेवक भी हो तो और अत्यन्त प्रीति होती है, इसलिये दोनों कहे। नाम का बखान कर कहना यह कि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा आदि के जो नाम हों, उन्हें विस्तार से कहिये।

> तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपटसयाना ॥५॥
> बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहइ निज काजा ॥६॥
> समुझि राजसुख दुखित अराती। अवाँ अनल इव सुलगइ छाती ॥७॥
> सरल बचन नृप के सुनि काना। बैर सँभारि हृदय हरषाना ॥८॥
>
> दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ जुगुति-समेत।
> नाम हमार भिखारि अब, निर्धन रहित-निकेत ॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद=शुद्ध हृदयवाला। अराति=शत्रु। सुलगइ=जलती है, समकती है।

अर्थ—राजा ने उसे नहीं पहचाना, पर उसने राजा को पहचान लिया था। राजा का हृदय शुद्ध है, पर वह कपट में निपुण है ॥५॥ एक तो वह शत्रु, फिर जाति का क्षत्रिय, उसपर भी राजा है। अतः, छल-बल से अपना कार्य करना चाहता है ॥६॥ वह शत्रु अपने (पूर्व के) राज्य-सुख को समझकर दुखी है, उसकी छाती कुम्हार की भट्टी की आग की तरह (भीतर-ही-भीतर) भभक रही है ॥७॥ राजा के सीधे वचन कानों से सुनकर और अपने वैर का स्मरण करके वह हृदय में हर्षित हुआ ॥८॥ कपट रूपी जल में डुबाकर युक्ति-युक्त कोमल वाणी बोला कि अब तो हमारा नाम भिखारी है, हम धन-धाम-रहित हैं ॥१६०॥

विशेष—(१) 'तेहि न जान...'—प्रथम कहा गया था—"राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥" (दो० १५७); पर अब राजा सुस्थिर एवं सुखी है और उसके सामने ही बैठा है, फिर पहचान क्यों नहीं लिया ? इसका उत्तर यही है कि राजा सुहृद=सरल स्वभाव होने से उसके कपट को

नहीं भाँप सका, यथा—"सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ॥" (अ० दो० १६१); यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरल चित,..." (अ० दो० २१७)। अर्थात् सुहृद अपने समान सबको शुद्ध ही जानता है।

(२) 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा।...'—बैरी सदा अपने शत्रु पर आघात करना चाहता है, यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८); "रिपु पर कृपा परम कदराई।" (आ० दो० १८)। क्षत्रिय जाति क्रोधी एवं बलवान् भी होती है और बदला लेती है। यथा—"तदपि कठिन दसकठ सुनु, छत्रि-जाति कर रोष।" (लं० दो० २१)। राजा स्वार्थी होते हैं, जैसे बने, काम निकालते हैं, अभिमानी होने से एक देश में दो नहीं रह सकते। यहाँ यह तीन गुणों से तीनो बातें चाहता है—बैरी—छल, क्षत्रिय—बल और राजा—निज काज।

(३) 'समुझि राज-सुख...'—अर्थात् राज्य-सुख का छीनना बैर का कारण है। 'अवाँ इव' यथा—"तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।" (दो० ५७)। प्रथम बल से राज्य नहीं बचा सका, अब छल से लेगा।

'बैर सँभारि...'—यथा—"सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाव। बूड़त लखि पग डगत लखि, चपरि चहूँदिसि धाव॥" (दोहावली ५१०)। यहाँ 'बैर सँभारि' में क्षत्रिय का स्वरूप दिखाया।

(४) 'कपट बोरि बानी...'—यहाँ कपटमय वचनों से अपना कार्य साधने में राजा का स्वरूप दिखाया। इस तरह की बातों से वह राजा का भेद लेना चाहता है कि उसने मुझे—'मुनीस सुत सेवक जानी' हृदय से कहा है या नहीं। राजा समझता है कि ये प्रथम बहुत ऐश्वर्यवान् थे, अब सब त्याग बैठे हैं, अतएव बड़े महात्मा हैं। इसीसे नाम आदि नहीं बतलाये, क्योंकि—'सदा रहहिं अपनपौ दुराये।' 'अब' शब्द में इसकी युक्ति है कि यदि कहीं राजा जान ले, तब तो कह दूँगा, मैंने तो सत्य ही कहा है कि आपने राज्य ले लिया तो यहाँ भिखारी बनकर निर्वाह करता हूँ और यदि न जान पाया, तो आगे मुझे अपने को ब्रह्मा का पुत्र होना और तपोधन इत्यादि कहना है, अब तो मैं सब त्यागे बैठा हूँ। अतः, विरक्ति सिद्ध होगी।

कह नृप जे बिग्याननिधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥१॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥२॥
तेहि तें कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥३॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥४॥
जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिय अब स्वामी॥५॥

शब्दार्थ—गलित अभिमान = निरभिमान। अपनपौ = आत्मगौरव एवं अपने रूप को। अकिंचन = जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी चाह नहीं। अधन = निर्धन। अगेह = गृहरहित।

अर्थ—राजा ने कहा कि जो आपके समान विज्ञान के स्थान और निरभिमान होते हैं॥१॥ वे सदा अपनी प्रतिष्ठा को छिपाये रहते हैं, (क्योंकि) वे बुरा वेष बनाये रहने में सब प्रकार कुशल मानते हैं॥२॥ इसीसे संत और वेद पुकार कर कहते हैं, कि परम अकिंचन ही भगवान् के प्यारे हैं॥३॥ आपके समान निर्धन भिखारियों और गृहहीनों से ब्रह्मा-शिव को भी संदेह होता है॥४॥ आप जो हैं सो हैं मैं आपके चरणों को नमस्कार करता हूँ, स्वामिन्! आप मुझपर कृपा कीजिये॥५॥

(योऽसि सोऽसि = यः असि, सः असि = जो हैं, सो हैं अर्थात् जो भी हों, वही सही)

विशेष—(१) 'जे बिज्ञाननिधाना।...'—विज्ञानी शरीर के द्वारा होनेवाले गुणों को प्रकृति के गुण समझते हैं, इससे उनका अभिमानी न होना सहज है।

(२) 'सब बिधि कुसल कुबेष ....'—कुवेष देखने से उन्हें गँवार समझकर कोई पास नहीं आवेगा। नहीं तो कोई बेटा, कोई धन, कोई विजय आदि की इच्छा से घेरे रहेंगे, इससे भजन में बाधा होगी।

(३) 'होत बिरंचि सिवहिं संदेहा।'—कुवेष-अकिंचन आदि भगवान् को प्रिय हैं, इनसे ब्रह्मा शिव को संदेह होता है कि इनको देने के योग्य हमारे पास कुछ नहीं है, क्या दें? क्योंकि ये दोनों तप आदि कर्मों के फल देनेवाले हैं। यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो० १७६)। पुन यह भी भाव है कि कहीं वे हमारे ही लोक लेने की इच्छा न करें।

(४) 'मो पर कृपा करिय ....'—राजा ने सुत-सेवक बनकर नाम पूछा। इसने नहीं बताया। किन्तु, उदासीनता की बातों में टाल दिया। इसपर राजा ने समझा कि मुनि को अपना परिचय देना अभीष्ट नहीं है, अतएव प्रार्थना करता है कि आप कोई भी हों, पर मुझपर कृपा करें, मुझे सुत-सेवक मानें।

सहज प्रीति भूपति कै देखी। आप बिषय बिस्वास बिसेषी ॥६॥
सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई ।७॥
सुनु सतिभाव कहउँ महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला ॥८॥

दोहा—अब लगि मोहिं न मिलेउ कोउ, मैं न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल-सम, कर तप-कानन दाहु ॥
सो०—तुलसी देखि सुबेषु, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु, बचन सुधासम असन अहि ॥१६१॥

शब्दार्थ—सहज = स्वाभाविक। आप बिषय = अपने ऊपर। अपनाई = अनुकूल करके। केकिहि = मोर को। पेखु = देखो। असन = भोजन।

अर्थ—अपने ऊपर राजा की स्वाभाविक प्रीति और अधिक विश्वास देखकर ॥६॥ और सब तरह से राजा को अपने अनुकूल करके अधिक स्नेह प्रकट करता हुआ बोला ॥७॥ हे राजन्! सुनो, मैं सत्यभाव से कहता हूँ, यहाँ बसते हुए मुझे बहुत समय बीत गया ॥८॥ अब तक कोई मुझे न मिला और मैं अपनेको किसी के प्रति जनाता भी नहीं, क्योंकि लोक-बड़ाई तप रूपी वन को अग्नि के समान भस्म कर देती है ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर वेष देखकर मूर्ख ही नहीं, प्रत्युत चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं। देखिये, मोर देखने में सुन्दर होता है और उसके वचन अमृत के समान होते हैं, परन्तु भोजन उसका सर्प है ॥१६१॥

विशेष—(१) 'सहज प्रीति .. सब प्रकार....'—कपटी मुनि ने राजा की प्रीति-प्रतीति देखने के लिये युक्ति के वचन कहे थे, वह देख लिया। जब विशेष विश्वास पाया, तब सब भाँति अधीन करके अब पूर्व की अपेक्षा अधिक स्नेह जताते हुए बोला।

(२) 'सुनु सतिभाउ···' भाव अब नहीं छिपायेंगे। अतः, आगे जो कुछ कहेंगे, सत्य ही कहेंगे। 'महिपाला'—राजा ने अपनेको मंत्री कहा था, पर इसने महिपाल कहा, इससे अपनी सर्वज्ञता जनाई। इसीपर आगे कहेगा—'गुरु-प्रसाद सब जानिय···'। जब राजा को अपने अधीन जान लिया कि जो कहूँगा, वही मान लेगा; तब 'सतिभाउ' कहकर सिद्धई दिखाने लगा। 'बहु काला'—यह भी युक्ति का वचन है, राजा तो बहुकालीन महात्मा समझेगा और यह थोड़े ही समय से राज्य छिन जाने पर यहाँ आया है। 'बहुकाल' में दस-बीस दिन और बहुत कल्प—सभी का समावेश हो जाता है।

(३) 'अब लगि मोहि न···'—संतों के पास कोई आकर सिद्धई देखता है तो वह दूसरे से कहता है। ऐसे ही कानोंकान ख्याति हो जाती है, अथवा स्वयं भिक्षाटन के बहाने चेताने निकले, तो अपने वचन-कर्म से अपनी सिद्धई प्रकट करते हैं। कपटी मुनि अपने में इन दोनों रीतियों का निषेध करता है, इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा। 'लोकमान्यता अनल ···'—दावानल सम्पूर्ण वन में फैलकर उसे भस्म कर देता है, ऐसे ही लोक-बड़ाई संसार में फैलकर तप का नाश कर देती है। जैसे विश्वामित्र की बहुत तपस्या को त्रिशंकु ने, कुछ अप्सराओं ने और कुछ विप्र-पुत्र ने लूटा।

(४) 'तुलसी देखि सुबेषु ···'—राजा को प्रथम तापस वेष देखकर धोखा हुआ और यहाँ उसके स्नेहमय (सुधासम) वचनों पर भूला, इसी का समाधान ग्रंथकार करते हैं कि जैसे मोर देखने में सुन्दर होता है, उसकी बोली (वर्षा में दूर से) सुहावनी होती है, इससे आपाततः लोग मोहित हो जाते हैं। वैसे ही साधु-वेष और उसके स्नेहमय वचनों से चतुर भी धोखे में पड़ जाते हैं, यथा—"बचन बेष क्यों जानिये, मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना, दसमुख प्रमुख बिचारि॥" (दोहावली ४०८) अर्थात् वचन-वेष से हृदय को परखना अति कठिन है।

हाँ, जैसे मोर की संगति करने से उसके स्वभाव का पता लग जाता है कि वह हिंसक एवं घोर सर्पों को पचानेवाला है, वैसे ही वेषधारी कपटी साधु का संग कुछ काल करने से उसकी हार्दिक वृत्ति छिप नहीं सकेगी। यथा—"कपट सार-सूची सहस, बाँधि बचन पर बास। किय दुराव चहै चातुरी, सो सठ तुलसी दास॥" (दोहावली ४१०) अर्थात् इसने जब राजा को 'महिपाला' कहा, तभी शंका करनी थी कि यह कोई भेदी न हो। मैंने तो इसे मंत्री ही कहा था। पुनः कुछ काल सहवास करके हार्दिक स्थिति भी जान सकता था, पर यहाँ राजा भावी-वश एकाएक प्रीति-प्रतीति करके अधीन हो गया, जिससे परीक्षा-वृत्ति ही न उठ सकी। अतः, चतुर होते हुए भी भूल गया। (जो समदृष्टि से वेषमात्र के उपासक हैं उन्हें परीक्षा की अपेक्षा ही नहीं है। अतः, उन्हें भूल कहना अयोग्य है।)

यहाँ कपटी मुनि मोर है जो भानुप्रताप के वंशरूप अहिकुल का नाशक होगा, यह भी ध्वनित है।

तातें गुपुत रहउँ जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥१॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये॥२॥
तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरे। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे॥३॥
अब जौं तात दुरावउँ तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही॥४॥

शब्दार्थ—किमपि=कुछ भी। घटइ=लगेगा। रिझाये=प्रसन्न करने से।

अर्थ—इसीसे मैं जगत् में गुप्त रहता हूँ और भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता॥१॥ प्रभु तो बिना जनाये ही जानते हैं, कहो तो भला, लोक को रिझाने से क्या सिद्धि होगी?॥२॥

(३) 'तप ते अगम न कछु...'—भाव यह कि त्रिदेव ही नहीं, कोई भी संसार का ही व्यक्ति क्यों न हो, तप से त्रिदेवों का काम अकेला ही कर सकता है। जैसे, स्कंदपुराण के अनुसार राजा दिवोदास ने तप करके अकेले ही त्रिदेवों के पद लेने की चेष्टा की थी। पर पीछे उसके नास्तिक हो जाने पर सिद्धि नहीं मिली। इस प्रकार कपटी मुनि ने युक्ति से अपने को त्रिदेवों के तुल्य जनाया। तब राजा को निश्चय हो गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं।

भयेउ नृपहिं सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहइ सो लागा ॥४॥
करम धरम इतिहास अनेका। करइ निरूपन बिरति बिबेका ॥५॥
उद्भव - पालन - प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥६॥

अर्थ—यह सुनकर राजा को अत्यन्त अनुराग हुआ, तब वह पुरानी कथाएँ कहने लगा ॥४॥ कर्म, धर्म और तत्सम्बन्धी अनेक इतिहास कहे, उन्हीं के साथ ज्ञान-वैराग्य का भी निरूपण करता था ॥५॥ उत्पत्ति, पालन और संहार की अनेक प्रकार की बहुत आश्चर्ययुक्त आख्यायिकाएँ कह सुनाईं ॥६॥

विशेष—(१) 'अति अनुरागा। कथा...'—श्रोता का अनुराग देखकर कथा कहने लगा। यथा—"लागी सुनइ श्रवन मन लाई। आदिहुँ ते सब कथा सुनाई॥" (सुं० दो० १२)। 'पुरातन'—अपनी उत्पत्ति आदिकल्प में कही है। वही पुरानी कथाओं के वर्णन से सिद्ध करता है कि ये सब घटनाएँ हमारी आँखों के सामने हुई हैं; अतः, मैं जानता हूँ, वही कहता हूँ।

(२) 'करम धरम इतिहास...'—कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। यथा—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।..."से—"गहना कर्मणो गतिः॥" (गीता ४।१६–१७) तक। कर्म-गति ब्रह्मा ही जानते हैं। यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता॥" (अ० दो० २८१)। धर्म, यथा—"खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी॥" (कि० दो० १४) अर्थात् धर्म रजःकणों की तरह अनन्त एवं सूक्ष्म है। इन्हीं कर्म-धर्म के उदाहरण-रूप में अनेक इतिहास कहे कि अमुक कल्प में अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया और अमुक फल पाया। वैराग्य और ज्ञान का स्वरूप निरूपण किया। (देखिये आ० दो० १४।) इतिहासों में इनके भी साधकों एवं सिद्धों के उदाहरण कहे।

(३) 'उद्भव-पालन-प्रलय कहानी।......'—सर्वप्रेरक नर-शब्द वाच्य श्रीरामजी को सृष्टि की इच्छा हुई तब उन्होंने जल उत्पन्न करके उसमें चतुर्भुज-रूप से शयन किया। अतः, नारायण नाम पड़ा। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्मा हुए, तब उन्होंने त्रिगुणात्मक संसार रचा। विष्णु नाना अवतार लेकर रक्षा करते हैं एवं प्रेरक-रूप से चराचर जगत् का पालन अन्योन्य सम्बन्ध से करते हैं और शिवजी संहार (प्रलय) करते हैं। कभी-कभी शेषजी और सूर्य भगवान् से भी प्रलय-व्यापार होते हैं, इत्यादि।

'कहेसि अमित आचरज...'—आश्चर्य यह कि कभी-कभी तीनों काम एक ही करते हैं। यथा—"उद्भव पालन प्रलय समीहा" (लं० दो० १४), यह विराट् के प्रसंग में कहा है। कभी ब्रह्मा ही तीनों काम करते हैं। यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी।" (अ० दो० २८१) और भी जहाँ-तहाँ विराट्-प्रसंग में कही हुई आश्चर्य की बातें कहीं।

सुनि महीप तापसबस भयेऊ। आपन नाम कहन तब लयेऊ ॥७॥
कह तापस नृप जानउँ तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥८॥

दोहा—सुनु महीस असि नीति, जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

अर्थ—(ये सब) सुनकर राजा तपस्वी के वश में हो गया और अपना नाम कहने पर हुआ ॥७॥ तब वह (तापस) बोला कि हे राजन् ! मैं तुम्हें जानता हूँ । तुमने कपट किया, वह मुझे अच्छा लगा ॥८॥ राजन् ! सुनो, ऐसी नीति है कि राजा अपना नाम जहाँ-तहाँ न कहा करे । वही तुम्हारी चतुरता समझकर तुमपर मेरी अत्यन्त प्रीति है ॥१६३॥

विशेष—'नाम कहन तव लयेऊ'—कहने को हुआ, पर कहने न पाया । बीच में ही तापस ने इसकी बात काटकर सर्वज्ञता दिखाने के लिये स्वयं कहने लगा ।

'कीन्हेहु कपट लाग भल…… '—कपट किसी को भला नहीं लगता, क्योंकि वह प्रीति-प्रतीति का नाशक है । यथा—"जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि । बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥" (दो० ५७) । पर तापस को अच्छा लगा । इसका कारण आगे दोहे में कहा है कि यह तो कपट नहीं, नीति की निपुणता है ; यथा—"परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥" (दो० १५०) । इसी "परम चतुरता' पर तो तुमपर मेरी 'अति प्रीति' है ।

नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा । सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥१॥
गुरुप्रसाद सब जानिय राजा । कहिय न आपन जानि अकाजा ॥२॥
देखि तात तव सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीतिनिपुनाई ॥३॥
उपजि परी ममता मन मोरे । कहउँ कथा निज पूछे तोरे ॥४॥
अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं । माँगु जो भूप भाव मन माहीं ॥५॥

अर्थ—तुम्हारा नाम भानुप्रताप है, राजा सत्यकेतु तुम्हारे पिता थे ॥१॥ हे राजन् ! गुरु की प्रसन्नता (कृपा) से मैं सब जानता हूँ, पर अपनी हानि समझकर नहीं कहता ॥२॥ हे तात ! तुम्हारी स्वाभाविक सिधाई, प्रीति, प्रतीति एवं नीति में निपुणता देखकर ॥३॥ मेरे मन में ममत्व उत्पन्न हो गया है; अतः, तुम्हारे पूछने से अपनी कथा कहता हूँ ॥४॥ अब मैं प्रसन्न हूँ, इसमें संदेह नहीं । राजन् ! जो मन में भावे, माँग लो ॥५॥

विशेष—(१) 'नाम तुम्हार'' ……'—प्रथम राजा का नाम कहा, तब पिता का भी अर्थात् तुम्हीं को नहीं, तुम्हारे कुल भर को जानता हूँ, इस तरह अपनी सर्वज्ञता प्रकट की । यह भी भाव है कि दंडवत् करते समय राजा को अपने पिता-समेत नाम लेना था, उसकी पूर्ति कर दी ।

(२) 'गुरुप्रसाद सब जानिय…'—प्रथम इसने अपने में तपोबल होना युक्ति से कहा था, अब गुरु-प्रसाद भी कहा, तात्पर्य यह कि साधन के साथ-साथ गुरुकृपा भी चाहिये । क्योंकि—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान (उ० दो० ८९) । यह भाव भी ध्वनित करता है कि हमें गुरु करोगे तो हमारी कृपा से तुम भी ऐसा ही सिद्ध हो जाओगे ।

तुम पवित्र और सुन्दर बुद्धिवाले हो, (अतएव मुझे परम-प्रिय हो) मुझपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है ॥३॥ (इससे) हे तात ! यदि अब मैं तुमसे छिपाऊँ तो मुझे बड़ा कठिन दोष लगेगा ॥४॥

विशेष—(१) 'ताते गुपुत···'—'ताते' को प्रथम कहा कि—'लोकमान्यता अनल ··' । राजा ने कहा था—'परम अकिंचन प्रिय···' उसीको तापस ने कहा—'हरि तजि किमपि···' ।

(२) 'प्रभु जानत सब···'—प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, बिना जनाये ही जानते हैं । अतः, सर्वज्ञ हैं; अर्थात् वे स्वयं मन को जानकर मनोरथ-पूर्ति करने में समर्थ हैं । फिर अल्पज्ञ एवं स्वार्थी जगत् को रिझाने में क्या रक्खा है ?

(३) 'तुम्ह सुचि सुमति···'—उपर्युक्त दो अर्द्धालियों से राजा कुछ उदास हो गया कि तब हमसे भी क्यों बतावेंगे । इसपर तापस कहता है कि 'तुम्ह सुचि ··' अब जौं तात···' अर्थात् तुमसे छिपा नहीं सकता, इसीसे कहूँगा । पूर्वार्द्ध में 'सुचि-सुमति' और उत्तरार्द्ध में—'प्रीति प्रतीति' क्रमशः साधन-साध्य हैं; अर्थात् हृदय शुचि होने से प्रीति और सुंदर मति के द्वारा हमें यथार्थ जानने से प्रतीति है ।

(४) 'दारुन दोष घटइ···'—अपने में प्रीति करनेवाले से छिपाव रखना बड़ा पाप है और मैं तो साधु हूँ । मैं यदि ऐसे से छिपाव करूँ तो मुझे अत्यन्त भारी पाप लगेगा ।

जिमि-जिमि तापस कथइ उदासा । तिमि-तिमि नृपहिं उपज बिश्वासा ॥५॥
देखा स्ववस करम-मन-बानी । तब बोला तापस बकध्यानी ॥६॥
नाम हमार एकतनु भाई । सुनि नृप बोलेउ पुनि सिर नाई ॥७॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी । मोहि सेवक अति आपन जानी ॥८॥

दोहा—आदि सृष्टि उपजी जबहिं, तब उत्पति भइ मोरि ।
नाम एकतनु हेतु तेहि, देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

अर्थ—जैसे-जैसे तपस्वी उदासीनता की बातें कहता था, वैसे-वैसे राजा को उसपर विश्वास (अधिक) उत्पन्न होता था ॥५॥ कर्म, मन और वचन से (राजा को) अपने वश में देख लिया, तब वह बक-ध्यानी (दंभी) तपस्वी बोला ॥६॥ हे भाई ! हमारा नाम 'एकतनु' है । यह सुनकर राजा फिर प्रणाम करके बोला ॥७॥ कि मुझे अपना अत्यन्त (अनुगत) सेवक जानकर (एकतनु) नाम का अर्थ बखान कर कहिये ॥८॥ (वह बोला कि) सबसे पहले जब सृष्टि उत्पन्न हुई तभी मेरी उत्पत्ति हुई, एकतनु नाम उसी कारण से पड़ा कि फिर (दूसरा) देह-धारण नहीं किया ॥१६२॥

विशेष—(१) 'कथइ उदासा'—इसकी उदासीनता कथनमात्र है, फिर भी भावी-वश राजा को अंध-विश्वास होता जाता है ।

(२) 'देखा स्ववस करम मन बानी ।'—कर्म से, यथा—"जोसि सोसि तव चरन नमामी ।" मन से, यथा—"सहज प्रीति भूपति कै देखी ।" प्रीति मन का धर्म है । वचन से, यथा –"कह नृप जे बिज्ञाननिधाना ।"—से—"होत बिरंचि सिवहि संदेहा ॥" (दो० १६०) तक ।

'बकध्यानी'—जैसे बक ऊपर से सीधा बनकर ध्यान लगाये हुए रहता है, पर भीतर से उसे मछली खाने की ताक रहती है, वैसे ही यह ऊपर के वेष-मात्र से साधु बना है, पर भीतर से राजा के नाश का प्रयत्न कर रहा है, यथा—"जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ।" (दो० १६१)।

(३) 'नाम हमार एकतनु''''''—इस नाम-कथन में 'भाई' संबोधन से ध्वनित होता है कि हम तुम भाई अर्थात् एक वर्ग के हैं अर्थात् तुम राजा हो, हम भी राजा ही हैं। इसने बहुत प्रार्थना करवा कर तो नाम मात्र कहा। राजा ने बखानकर कहने की प्रार्थना की थी कि जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (जो मन में आवे)—चार प्रकार के नाम होते हैं, सब कहिये, जिससे पूरा परिचय हो जाय। 'एकतनु' नाम से राजा को संदेह होगा ही कि एकतनु तो सभी के होते हैं, यह कैसा नाम ? अतः, फिर प्रार्थना करेगा तो इसका अर्थ कहूँगा, वही हुआ।

(४) 'आदि सृष्टि उपजी''''''—इस नाम के अर्थ में भी तापस की युक्ति है। राजा तो समझेगा कि प्रथम कल्प में जब प्रथम सृष्टि हुई, तभी मैं पैदा हुआ। तब से अभी तक कितनी ही बार उत्पत्ति-प्रलय हो गये, पर मेरी वही देह बनी हुई है। पर यथार्थ यह है कि मेरे माता-पिता से जो आदि सृष्टि हुई; अर्थात् प्रथम संतान हुई, वही मैं हूँ, अर्थात् मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ। 'एकतनु भाई' का यह भी भाव है कि मैं अकेला भाई हूँ, जब से पैदा हुआ, अभी तक जीता ही हूँ। अतः, दूसरी बार देह धारण नहीं करना पड़ा। 'आदिसृष्टि' ब्रह्म-पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने चैत्र शुक्ल प्रतिप्रदा को सूर्योदय के समय पहले-पहल सृष्टि की रचना की; यथा—"चैत्रे मासे जगद्ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। शुक्लपक्षे समग्रन्तु तथा सूर्योदये सति॥ प्रवर्त्तयामास तदा कालस्य गणनामपि॥"

जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुरलभ कछु नाहीं॥१॥
तपबल ते जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्णु भये परित्राता॥२॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तप ते अगम न कछु संसारा॥३॥

शब्दार्थ—सृजइ = रचता है। परित्राता = रक्षक एवं पालन-कर्त्ता। संहारा = प्रलय। अगम = अप्राप्य।

अर्थ—हे पुत्र! मन में आश्चर्य मत करो, तप से कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥१॥ तप के बल से ही ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करते हैं; तप-बल से विष्णु भगवान् पालनकर्त्ता हुए॥२॥ और तपस्या के ही बल से शिवजी संहार करते हैं- तप से संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है॥३॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज''''''—उपर्युक्त बात पर राजा के मन में संदेह हुआ कि यह तो असंभव बात है, उसीको चेष्टा से जानकर समाधान करता है, कि—'जनि आचरज''''''। प्रमाण—यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमः॥" (मनु सं०); तथा—"तपबल रचइ प्रपंच बिधाता।''''''' से—"तप आधार सब सृष्टि भवानी॥" (दो० ७१) तक।

'सुत'—राजा ने कई बार उससे 'सुत-सेवक' मानने को कहा और पिता कहा है। अतः, इसने भी 'सुत' कहा। भाव यह कि मैंने तुम्हें 'सुत' मान लिया। दूसरा यह भी भाव है कि इस नाते से ही गुप्त बातें भी कहता हूँ। आगे अपनी श्रेष्ठता की पुष्टि में परम श्रेष्ठ त्रिदेवों का प्रमाण भी देता है—

(२) तप करके त्रिदेवों के सृष्टि आदि करने का प्रमाण दिया गया है। ये ईश्वर हैं, संकल्प-मात्र से उत्पत्ति-पालन और प्रलय करते हैं, इन्हें तप नहीं करना पड़ता। अतः, इनके विषय में तप का अर्थ विचार है, क्योंकि—'तप-आलोचने' धातु से 'तपस्' शब्द ही बनता है।

'कहिय न आपन जानि'''—सर्वज्ञता की ख्याति से व्यवहार में फँस जाऊँगा, इससे भगवद्भजन छूट जायगा और तप नष्ट हो जायगा। यथा—'लोकमान्यता अनल सम''' '।

(३) 'सहज सुधाई'—यथा—"सरल बचन नृप के सुनि काना।" (दो० १५१)। शेष प्रीति-प्रतीति आदि अभी ऊपर कही गई हैं।

(४) 'उपजि परी ममता मन मोरे।'''संत निर्मम होते हैं, वैसे मैं भी निर्मम था, पर तुम्हारे उपर्युक्त गुणों के कारण मुझसे न रहा गया, ममता उपज ही पड़ी। ममता अर्थात् मदीयत्व रूप स्नेह, यह माता-पिता में पुत्र के प्रति होता है अर्थात् तुममें मेरा पुत्रभाव हार्दिक वृत्ति से है। तापस ने अपनी कथा कहने में दो हेतु कहे—'ममता' और 'पूछे तोरे' अर्थात् दो में एक भी न होता तो न कहता।

(५) 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं।'—'संसय नाहीं' प्रथम जबतक तुमने कपट किया था, तबतक पूर्ण प्रसन्नता में संशय था, पर अब तुम निष्कपट हो गये, अतः, अब संशय नहीं। 'भूप'—भूमंडल के सातो द्वीपों के राजा तो तुम हई हो। और लोकों का जो ऐश्वर्य चाहो, माँग लो। अच्छी तरह स्ववश में करके अब नाश का उपाय करता है।

सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना ॥६॥
कृपासिंधु मुनि दरसन तोरे। चारि पदारथ करतल मोरे ॥७॥
प्रभुहिं तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ असोकी ॥८॥

दोहा—जरा-मरन-दुखरहित तनु, समर जितइ जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि, राज कलप सत होउ ॥१६४॥

अर्थ—राजा सुंदर वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और तपस्वी के चरणों को पकड़कर बहुत प्रकार से विनती की ॥६॥ हे कृपासागर मुनि ! आपके दर्शनों से चार पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मेरी हथेली पर हैं ॥७॥ तो भी प्रभु को प्रसन्न देख दुर्लभ वर माँगकर (क्यों न) शोकरहित हो जाऊँ ॥८॥ बुढ़ाई और मृत्यु के दुःखों से रहित शरीर हो, संग्राम में कोई जीत न सके, पृथ्वी पर कोई शत्रु न रहे और सौ कल्पों तक एकच्छत्र राज्य हो ॥१६४॥

विशेष— (१) 'सुनि सुबचन भूपति'''– राजा मन, वचन, कर्म से शरणागत हुआ। 'हरषाना' मन, 'गहि पद' कर्म, 'बिनय कीन्हि' वचन है।

(२) 'चारि पदारथ करतल'''—चारो पदार्थ मुझे प्रथम ही प्राप्त थे, यथा—"अरथ धरम कामादि सुख'''" (दो० १५४)। यहाँ इतनी विशेषता हुई कि अब हथेली पर हो गये, चाहे जिसको भी दे दूँ। यह आपके दर्शनों का महत्त्व है।

(३) 'प्रभुहिं अगम बर'''—भाव यह कि आप अगम (अप्राप्य) वर भी देने में समर्थ हैं।

(४) 'जरा-मरन-दुखरहित'''''—राजा को विश्वास है कि तपस्वीजी आदि कल्प से अभी तक 'एकतनु' से ही बने हैं तो हमें भी कर सकेंगे, शेष बातें तो इनके लिये सुगम हैं ही।

(५) 'कलप'''''—कल्प ब्रह्मा का एक दिन कहाता है जिसमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्प तीस हैं—(१) श्वेत वाराह, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६)

ब्राम, (७) बृहत्कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सत्य, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गारुड़, (१५) कौर्म (ब्रह्मा की पूर्णिमा), (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सौम, (२२) पावन, (२३) भावन, (२४) सप्तमाली, (२५) वैकुंठ, (२६) आर्चिष, (२७) वल्मी, (२८) वैराज, (२९) गौरी और (३०) पितृकल्प (ब्रह्मा की अमावस्या)। इन तीस कल्पों का ब्रह्मा का एक महीना होता है और बारह महीनों का एक वर्ष। ऐसे सौ वर्षों की आयु ब्रह्मा भोगते हैं। अभी ब्रह्मा के पचास वर्ष बीत चुके हैं। ५१ वें वर्ष में श्वेत वाराह कल्प चल रहा है। (विश्वकोष)

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ ॥१॥
कालउ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा ॥२॥
तपबल बिप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा ॥३॥
जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा ॥४॥

अर्थ—तपस्वी ने कहा कि हे राजन् ! ऐसा ही हो, किन्तु इसमें एक कठिन कारण है, वह भी सुन लो ॥१॥ हे राजन् ! एक ब्राह्मण-कुल को छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणों पर मस्तक झुकावेगा ॥२॥ (क्योंकि) तपस्या के बल से ब्राह्मण सदा प्रबल रहते हैं। (अतः,) उनके कोप से कोई रक्षक नहीं है ॥३॥ हे राजन् ! जो ब्राह्मणों को वश कर लो, तो तुम्हारे वश विधि, हरि और हर भी हो जायँ ॥४॥

विशेष—'कालउ तुअ पद···'—जब काल ही अधीन रहेगा तब मरण आदि के दुःख हो ही नहीं सकेंगे। इसमें जो एक कारण कहा, उसमें पूर्वोक्त अपने कथनानुसार तपोबल ही दिखाया था। विप्रों के वश होने से सहज ही में देवता और त्रिदेव भी वश हो जायँगे, यथा—"मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥" (आ० दो० ३३)। फिर यहाँ तापस ने विप्र-वश करने का महत्त्व तो कहा, पर उपाय नहीं कहा, क्योंकि आगे इसे कहना है कि इस युक्ति को गुप्त रखना। यदि अभी स्वयं बतला दे, तो आगे राजा कह सकेगा कि आपने तो मुझे यों ही कह दिया, तो मैं क्यों न कहूँ ? अतः, राजा के आग्रह पर कहेगा।

चल न ब्रह्मकुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई ॥५॥
बिप्रस्राप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहिं कवनेहुँ काला ॥६॥
हरषेउ राउ बचन सुनि तासू। नाथ न होइ मोर अब नासू ॥७॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना। मो कहँ सर्बकाल कल्याना ॥८॥

अर्थ—दोनों भुजाएँ उठाकर सत्य कहता हूँ कि विप्रकुल से प्रबलता नहीं चलती ॥५॥ हे राजन् ! सुनो, ब्राह्मणों के शाप के बिना तुम्हारा नाश किसी भी समय में नहीं है ॥६॥ उसके वचन सुनकर राजा प्रसन्न हुआ (और कहा कि) हे नाथ ! अब मेरा नाश न होगा ॥७॥ हे कृपानिधान ! आपकी प्रसन्नता से मेरा कल्याण सब समय में है ॥८॥

विशेष—(१) 'चल न ब्रह्मकुल···' अर्थात् तुम्हारी बरियाई (बल-प्रयोग) राजकुल पर चली है, यथा—"जीते सकल भूप बरियाई।" (दो० १५५), वैसी विप्रकुल पर नहीं चलेगी। 'दोउ भुजा उठाई'

यह शपथ की रीति है, यथा—"पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (दो० २४१)। यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९)। पर इसने दोनों भुजाएँ उठाकर अपनी प्रतिज्ञा को अधिक सत्य दिखाया कि मैं अगम वर भी अवश्य सत्य कर सकता हूँ। इसकी यह प्रतिज्ञा भवदेव से सत्य ही निकलेगी। राजा के कुलभर का नाश विप्रशाप ही से होगा। इसे अपने मित्र कालकेतु के कर्मों का विश्वास है। यह बार-बार नाश की ध्वनि से स्पष्ट है।

(२) 'हरषेउ राउ"" सर्वकाल कल्याना।'—राजा को इच्छित वर मिलने से हर्ष हुआ। फिर विप्र-वश-द्वारा सर्वकाल के कल्याण का भी उपाय है, यह भी तापस की प्रसन्नता एवं कृपा-द्वारा हो जायगा। यह अधिक मिला। अन्यथा काल ही को अपने वश में कर लेने से राजा शरीर से तो अमर रहता, पर उसका राज्य-सुख सौ कल्पों ही तक रहता।

दोहा—एवमस्तु कहि कपट मुनि, बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज, कहहु त हमहिं न खोरि॥१६५॥

तातें मैं तोहि बरजउँ राजा। कहे कथा तव परम अकाजा॥ १ ॥
छठे श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी॥ २ ॥
यह प्रगटे अथवा द्विजसापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा॥ ३ ॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरि हर कोपहिं मन माहीं॥ ४ ॥

शब्दार्थ—एवमस्तु = ऐसा ही हो। कहहु त = कहोगे तो। बरजउँ = मना करता हूँ।

अर्थ—'ऐसा ही हो', कहकर वह कुटिल कपटी मुनि फिर बोला कि हमारा मिलना और वन में अपना भटकना यदि कहीं कहोगे तो हमारा दोष नहीं॥१६५॥ इसीसे हम तुम्हें मना करते हैं कि हे राजन्! इस प्रसंग के कहने से तुम्हारी बड़ी हानि होगी॥१॥ छठे कान में इस कहानी (प्रसंग) के पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा, यह हमारी वाणी सत्य है॥२॥ हे भानुप्रताप! सुनो, इस बात के प्रकट होने या विप्रशाप से तुम्हारा नाश होगा॥३॥ यदि विष्णु और शिव भी मन में कोप करें तो और उपायों से तुम्हारा नाश न होगा॥४॥

विशेष—(१) 'मिलब हमार''''''हमहिं न खोरि।' ऊपर से तो कहता है कि हमने गुप्त बात बतला दी, छिपाव नहीं किया; यथा—'दारुन दोष घटइ अति मोही।' तुम किसी से कहोगे तो तुम्हारा नाश होगा, तब हमें दोष न देना। वास्तव में वह भीतर से शंकित है कि कहीं इसके सुजान मंत्री लोग जान पावेंगे तो हमारा भंडा फूटेगा; फिर हमारा ही नाश होगा। इसलिये युक्ति से मना करता है।

(२) 'परम अकाजा'—अभी-अभी जो बड़ा वर माँगा है, वह व्यर्थ हो जायगा।

(३) 'छठे श्रवन ·····'—इस समय यह कहानी हमारे-तुम्हारे (२+२) चार कानों में ही है, जहाँ तीसरे मनुष्य के कानों में अर्थात् छठे कान में पड़ेगी, तभी नाश होगा। अतः, किसी से भी न कहना। 'सत्य मम बानी' अर्थात् यह मेरा शाप समझो। अतः, ध्रुव सत्य है। यह इसके मन का डर है। 'छठे श्रवन' के श्लेषार्थ-द्वारा यह वाणी यथार्थ ही सत्य होगी, क्योंकि तीसरा कालकेतु है। उसके सुनते ही नाश का कार्य प्रारंभ हो जायगा।

(४) 'यह प्रगटे'—मन के डर से इसे विप्रशाप से भी अधिक दिखाते हुए प्रथम कहा।

(५) 'आन उपाय''''''—यहाँ विप्रशाप को हरि-हर कोप से भी अधिक कहा। यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। विप्रद्रोह-पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। यहाँ हरि और हर दोही कहे गये, पर ब्रह्मा नहीं, क्योंकि उनका अपने उपजाये हुए जीवों पर कोप करके नाश करना नहीं देखा गया।

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा। द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा॥५॥
राखइ गुरु जौं कोप बिधाता। गुरुबिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥६॥
जौं न चलब हम कहे तुम्हारे। होउ नास नहिं सोच हमारे॥७॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव-स्राप अति घोरा॥८॥

दोहा—होहिं बिप्र बस कवन बिधि, कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज, हितू न देखउँ कोउ॥१६६॥

अर्थ—मुनि के चरणों को पकड़कर राजा ने कहा कि हे नाथ! (आपका कथन) सत्य है, कहिये तो भला, ब्राह्मण और गुरु के कोप से किसने रक्षा की है?॥५॥ जो विधाता कोप करें तो गुरु रक्षा कर सकते हैं, पर गुरु से विरोध करने पर जगत् में कोई रक्षक नहीं है॥६॥ जो मैं आपके कहने पर न चलूँगा तो नाश हो जाय, मेरे हृदय में इसकी चिन्ता नहीं॥७॥ (परन्तु) प्रभो! एक ही डर से मेरा मन डरता है कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा कठिन होता है॥८॥ ब्राह्मण किस प्रकार वश में हों, वह भी कृपा करके कहिये। हे दीनदयालु! आपको छोड़कर मैं किसी को भी अपना हितैषी नहीं देखता॥१६६॥

विशेष—(१) 'सत्य नाथ पद गहि''''—तपस्वी ने 'सत्य मम बानी' कहा था, उसीको प्रमाणित करते हुए, राजा ने भी 'सत्य नाथ' कहा। पुनः, उसने कहा था—"आन उपाय निधन तव नाहीं।" अतः, 'पद गहि' से कृतज्ञता दिखाई। उपर्युक्त दो० १६३ चौ० ६ भी देखिये।

(२) 'राखइ गुरु जौं कोप''' जैसे काकभुशुंडीजी को शिवजी के कोप से उनके गुरु ने बचाया है, उ० दो० १०६-१०६ देखिये। गुरु-विरोध से जगत् भर में कोई रक्षक नहीं हो सकता। जैसे राजा त्रिशंकु ने गुरु वशिष्ठ से विरुद्ध होकर रक्षा चाही—उसे कोई बचा न सका। विश्वामित्र प्रस्तुत भी हुए तो परिणाम यह हुआ कि त्रिशंकु उलटा टँग गये!

(३) 'नहिं सोच हमारे'—तब तो अपने नाशक हम स्वयं होंगे, फिर शोच कैसा?

(४) 'एकहि डर'''—डर के कारण दो कहे गये—'यह प्रगटे अथवा द्विजसापा'—उनमें एक तो अपने अधीन है। मैं प्रकट न करूँगा और कुछ अनिष्ट न होगा। पर विप्र-शाप तो अपने वश की बात नहीं है, प्रत्युत हरिहर के कोप से भी भीषणतर है।

(५) 'होहिं विप्र बस कवन'''—'कृपा करि सोउ'—कृपा करके अगम वर दिया तो उसी का अंग-भूत यह (विप्र-वश का उपाय) भी कहिये। आप दीनों पर दयालु हैं और मैं दीन हूँ। 'हितू न देखउँ कोउ'—राजा तापस के वश हो गया है, इससे इसे वही हितैषी दिखता है, यथा—"तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कहँ भइसि अधारा॥" (अ० दो० २२)—यह मंथरा के वश होने पर कैकयी ने कहा है।

सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं । कष्टसाध्य पुनि होहिं कि नाहीं ॥१॥
अहइ एक अति सुगम उपाई । तहाँ परंतु एक कठिनाई ॥२॥
मम आधीन जुगुति नृप सोई । मोर जाब तव नगर न होई ॥३॥
आजु लगे अरु जब ते भयेऊँ । काहू के गृह ग्राम न गयेऊँ ॥४॥
जौं न जाउँ तव होइ अकाजू । बना आइ असमंजस आजू ॥५॥

अर्थ—हे राजन्! सुनो, संसार में बहुत प्रकार के उपाय हैं, पर उनका करना कठिन है, फिर भी वे सिद्ध हों या न हों ॥१॥ हाँ, एक उपाय अत्यन्त सुगम है, परन्तु उसमें भी एक कठिनता है ॥२॥ हे राजा! वह युक्ति मेरे अधीन है, परन्तु मेरा जाना तुम्हारे नगर में नहीं हो सकता ॥३॥ (क्योंकि) मैं जब से पैदा हुआ तब से आज तक किसी के घर या गाँव में नहीं गया ॥४॥ और, जो नहीं जाता हूँ तो तुम्हारा काम बिगड़ता है, आज यह बड़ा असमञ्जस (दुविधा, आगा-पीछा) आ पड़ा है ॥५॥

विशेष—(१) प्रथम तो अन्य उपायों को कष्ट-साध्य कहा और उनकी सिद्धि में भी दुविधा दिखाकर उनसे राजा की रुचि हटाई। फिर अपने इच्छित उपाय को अति सुगम कहकर उस ओर राजा की श्रद्धा बढ़ाई। '...परंतु एक कठिनाई' अर्थात् वह ऐसी कठिनाई है कि दूसरा कोई उसे न तो जानता है और न कर ही सकता है।

(२) 'मम आधीन...' 'आजु लगे...'—मेरे बिना वह युक्ति हो ही नहीं सकती। किसी के घर की कौन कहे, मैं किसी गाँव होकर भी नहीं निकला। प्रथम 'मम आधीन' कहा, तब राजा चलने को प्रार्थना करता, पर साथ ही इसने अपनी विरक्ति एवं दुर्लभता दिखाने के लिये—'आजु लगे...' भी कहा, तब राजा उदास हो गया कि ऐसा ऊँचा नियम ये मेरे लिये क्योंकर छोड़ेंगे? अतः, फिर कहा कि—'जौं न जाउँ...' अर्थात् दोनों ओर चित्त खिंचता है। 'बना आइ' अर्थात् मैं तुम्हें बुलाने तो गया नहीं था। अतः, दैवात् आ पड़ा। भीतरी आशय यह कि चलूँगा अवश्य, किंचित् प्रार्थना भी तो करो।

सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी । नाथ निगम असि नीति बखानी ॥६॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं । गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं ॥७॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू । संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥८॥

दोहा—अस कहि गहे नरेस पद, स्वामी होहु कृपाल ।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु, सज्जन दीनदयाल ॥१६७॥

अर्थ—यह सुनकर राजा ने कोमल वाणी से कहा—हे नाथ! वेदों ने ऐसी नीति कही है ॥६॥ (कि) बड़े लोग छोटों पर स्नेह किया करते हैं, पर्वत अपने शिरों (शिखरों) पर सदा तृणों को धारण किये रहते हैं ॥७॥ अथाह समुद्र के मस्तक (ऊपरी भाग) पर सदा फेन बहा करता है और पृथिवी धूलि-कणों को सदा सिर पर धारण किये रहती है ॥८॥ ऐसा कहकर राजा ने पाँव पकड़ लिये और कहा कि हे स्वामी! कृपा कीजिये, हे प्रभो! हे सज्जन! हे दीनदयालु! मेरे लिये दुःख उठाइये ॥१६७॥

विशेष—(१) 'निगम असि नीति'…'—वैदिक नीति का प्रमाण दिया, क्योंकि इसे संत भी मानते हैं। अतः, मेरी प्रार्थना स्वीकृत होगी। राजनीति नहीं कही, क्योंकि उसे संत सर्वात्मना—पूरा-पूरा नहीं भी मानते हैं, फिर उससे इसकी अभीष्ट हानि भी होती, यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३)। इस नीति से मुनि नहीं जा सकते थे।

(२) 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'—इसपर तीन दृष्टान्त दिये गये—पर्वत, समुद्र और पृथ्वी। संसार में ये तीन ही बड़े हैं। पहाड़ ऊँचे एवं ऊपर के हैं, सागर अगाध और नीचे का है, पृथिवी चौड़ी और मध्य की है। पर्वत और पृथिवी के साथ सदा और संतत पद दिया गया, समुद्र के साथ नहीं, क्योंकि उसमें फेन सदा नहीं रहता।

(३) 'अस कहि गहे नरेस पद'…'—उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह न पाया जाय कि यह भी हमारे सिर चढ़ना चाहता है; इसलिये राजा ने पैर पकड़े कि मैं चरणों का ही अधिकारी हूँ और आप स्वामी हैं। 'दुख' नियम छूटने का; 'प्रभु' अर्थात् हमारे कार्य में आप समर्थ हैं; 'सज्जन' अर्थात् सद्भाव से मेरी ओर देखें, 'दीनदयाल' हैं, अतः, मुझ दीन पर दया करें।

जानि नृपहिं आपन आधीना। बोला तापस कपटप्रवीना ॥५॥
सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुरलभ कछु मोही ॥६॥
अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन क्रम बचन भगत तैं मोरा ॥७॥
जोग-जुगुति-तप-मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ ॥८॥

अर्थ—राजा को अपने अधीन में जानकर वह कपट में निपुण तापस बोला ॥१॥ हे राजन्! सुनो, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मुझे जगत् में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥२॥ मैं तुम्हारा काम अवश्य करूँगा, (क्योंकि) तुम मन, कर्म और वचन तीनों से मेरे भक्त हो ॥३॥ योग, युक्ति, तप और मंत्र के प्रभाव तभी फलते हैं, जब वे छिपाकर किये जाते हैं ॥४॥

विशेष—'मन-क्रम-बचन भगत तैं'…'—देखिये दो० १६३ चौ० ६ वि० १।

'जोग-जुगुति-तप-मंत्र-प्रभाऊ।'—उपर्युक्त दो० १६५ में जो—'मिलब हमार'…' से गुप्त रखने को कहा था, उसे यहाँ प्रकट किया कि ये चारो गुप्त रखने ही से फलते हैं, यथा—"विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥" (मनुः)। यहाँ 'जुगुति' से तात्पर्य है, यथा—"मम आधीन जुगुति नृप सोई।" (दो० १६१)।

जौं नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परसहु मोहि जान न कोई ॥५॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई ॥६॥
पुनि तिन्हके गृह जेंवइ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ॥७॥
जाइ उपाइ रचहु नृप येहू। संवत भरि संकलप करेहू ॥८॥

शब्दार्थ—अनुसरई = अनुसरण करेगा, अनुकूल रहेगा। संवत = एक वर्ष। अन्न = भोजन।

अर्थ—हे राजन्! जो मैं रसोई करूँ, तुम परसो और मुझे कोई न जान पावे ॥५॥ तो उस अन्न को जो-जो खायँगे, वही-वही तुम्हारी आज्ञा के अनुकूल चलेंगे ॥६॥ फिर इनके घर जो भोजन करेंगे, हे राजन् सुनो, वे भी तुम्हारे वश हो जायँगे ॥७॥ हे राजन्! जाकर यही उपाय करो। एक वर्ष (नित्य-भोज) का संकल्प (प्रतिज्ञा) करना ॥८॥

विशेष—'संवत भरि संकलप'''—क्योंकि ब्राह्मणों को वर्षाशन दिया जाता है वा भावीवश ऐसा कहा गया, क्योंकि इसी के अनुसार संवत-भर में नाश का शाप होगा।

दोहा—नित नूतन द्विज सहस सत, बरेहु सहित परिवार।
मैं तुम्हरे संकलप लगि, दिनहिं करब जेवनार ॥१६८॥

येहि विधि भूप कष्ट अति थोरे। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरे ॥१॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिं बस देवा ॥२॥

शब्दार्थ—नितनूतन = नित्य नवीन। बरेहु = नेवता देना। मख = यज्ञ। जेवनार = भोजन।

अर्थ—नित्य नवीन परिवार-सहित एक लाख ब्राह्मणों को नेवता देना। मैं तुम्हारे संकल्प (एक वर्ष) पर्यन्त बराबर दिन ही में भोजन (तैयार) कर दिया करूँगा ॥ १६८ ॥ हे राजन्! इस प्रकार बहुत-ही थोड़े कष्ट में सब ब्राह्मण तुम्हारे वशवर्ती हो जायँगे ॥ १ ॥ ब्राह्मण होम, यज्ञ और सेवा-पूजा करेंगे, उसके संबंध से देवता सहज ही वश हो जायँगे ॥ २ ॥

विशेष—'बरेहु सहित परिवार'—क्योंकि राजा का परिवार-सहित नाश कराना है। 'संकलप लगि'—अर्थात् इतनी रसोई नित्य कैसे तैयार हो जाया करेगी? इसकी चिन्ता नहीं, मैं तप के बल से शीघ्र तैयार कर दिया करूँगा। 'कष्ट अति थोरे'—अर्थात् तुम्हारे पास धन की तो कमी है ही नहीं, रसोई करनी मुझे ही है। तुम्हें परसना भर है; वह शक्ति भी मैं दूँगा।

और एक तोहि कहउँ लखाऊ। मैं येहि बेष न आउब काऊ ॥३॥
तुम्हरे उपरोहित कहँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥४॥
तपबल तेहि करि आप समाना। रखिहउँ इहाँ बरष-परमाना ॥५॥
मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥६॥

शब्दार्थ—लखाऊ = लक्ष्य, पहचान। परमाना = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—तुमको एक और पहचान कहता हूँ, मैं इस वेष से कभी न आऊँगा ॥ ३ ॥ हे राजन्! मैं तुम्हारे पुरोहित को अपनी माया से हर लाऊँगा ॥ ४ ॥ और तप के बल से उसे अपने समान बनाकर यहाँ एक वर्ष पर्यन्त रक्खूँगा ॥ ५ ॥ हे राजन्! सुनो, मैं उसका वेष धरकर सब प्रकार से तुम्हारा कार्य सिद्ध करूँगा ॥ ६ ॥

विशेष—'लखाऊ'—जो तुम्हीं लख सकोगे। 'तुम्हरे उपरोहित कहँ···'—भाव यह कि वह मेरी जगह पर मेरे रूप में रहेगा, जिससे मेरे दर्शनों के लिये अंतरिक्ष से आनेवाले देवताओं और दिव्य ऋषियों को संदेह न हो कि मैं कहीं चला गया। इस प्रकार अपना प्रभाव जना रहा है। उसका आन्तरिक भाव यह भी है कि कहीं कपट खुल जाय और राजा यहाँ आवे तो मुझे अपना पुरोहित जानकर मार न डाले। अथवा पुरोहित रहेगा, सो इसकी रक्षा करेगा, अतः उसके हरण का प्रबंध कर रहा है। 'निबाहब काजा'—विघ्नों से रक्षा करता हुआ कार्य पूरा करूँगा।

गइ निसि बहुत सयन अब कीजे। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे ॥७॥
मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुँचइहउँ सोवतहि निकेता ॥८॥

दोहा—मैं आउब सोइ बेष धरि, पहिचानेउ तब मोहि।
जब एकांत बुलाइ सब, कथा सुनावउँ तोहि ॥१६६॥

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल ज्ञानी ॥१॥
श्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥२॥

अर्थ—हे राजन्! बहुत रात बीत गई, अब सोओ, मुझसे तुमसे अब तीसरे दिन भेंट होगी ॥७॥ मैं तप के बल से तुम्हें घोड़े के साथ सोते-ही-सोते घर पहुँचा दूँगा ॥८॥ मैं वही (पुरोहित का) वेष धरकर आऊँगा। जब तुमको एकान्त में बुलाकर सब कथा सुनाऊँ, तब मुझे जान लेना ॥१६६॥ राजा ने आज्ञा मानकर शयन किया और वह छल में निपुण (वा छल से सना हुआ ज्ञानी) अपने आसन पर जा बैठा ॥१॥ राजा थका हुआ था इससे उसे बड़ी नींद आई और वह (छल ज्ञानी) कैसे सोवे? उसे तो बहुत शोच है ॥२॥

विशेष—(१) 'सयन अब कीजै'—आधी रात बीत गई। फिर कालकेतु के आने का समय भी जाना और कपटी मुनि यह भी जानता है कि राजा के सामने कालकेतु नहीं आवेगा। पुनः इससे अलग होकर उससे बिना सब कहे मेरे समस्त वचन झूठे पड़ेंगे। इसलिये राजा को सोने की आज्ञा दी। राजा भी इसकी बातों में मुग्ध था, इसी से नींद भी न आई, कहने से सोया। 'दिन तीजै' अर्थात् दो दिनों के बाद तीसरे दिन। फिर ब्राह्मणों को नेवता दिया जायगा। समय पर मैं पहुँच जाऊँगा। अधिक समय के अंतर को राजा नहीं सह सकता, ये ही तीन दिन उसे युग के समान बीतेंगे, यथा—"जुग सम नृपहिं गये दिन तीनी।" (दो० १७१)।

(२) 'पहिचानेउ तब···'—इसने सोचा कि कहीं मेरे धोखे से पुरोहित से यह कुछ कह न दे, इसलिये पहचान बतलाता है, जिससे मुनि के पहचानने में भ्रम न हो।

(३) 'सयन कीन्ह नृप···'—एक तो महात्मा; फिर अपने परम हितकारी; अत, आज्ञा मानकर सोया, अन्यथा रुचि तो मुनि की बातों में ही थी। यह उसी शाला में सो रहा। साधु का आसन अलग था, इसलिये वह अपनी एकान्त जगह में गया, क्योंकि वहाँ कालकेतु से समागम का अवसर मिलेगा। कपट के सब विधान बड़ी सावधानी से निबाहे, इसलिये 'छल-ज्ञानी' कहा गया है।

(४) 'सो किमि सोव···'—इसे शोच बढ़ता जाता है कि अभी तक कालकेतु नहीं आया, इसके

बिना मैं भूठा बनूँगा। फिर वो राजा जीता न छोड़ेगा। पुन राजा के सर्वस्व नाश के लिये भी शोच है, यथा—"परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बियाधि बिधि खोई॥" (दो० १००)

कालकेतु निसिचर तहँ आया। जेहि सूकर होइ नृपहिं भुलावा ॥३॥
परम मित्र तापस-नृप केरा। जानइ सो अति कपट घनेरा ॥४॥
तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव-दुखदाई ॥५॥
प्रथमहिं भूप समर सब मारे। बिप्र संत सुर देखि दुखारे ॥६॥

अर्थ—कालकेतु निशाचर वहाँ आया, जिसने शूकर बनकर राजा को भुलाया था ॥३॥ वह तपस्वी राजा का परम मित्र (दिली दोस्त) था और अत्यन्त 'घनेरे' कपट जानता था ॥४॥ उसके सौ पुत्र और दस भाई बड़े खल, बड़े दुर्जय और देवताओं को दुःख देनेवाले थे ॥५॥ ब्राह्मणों, सन्तों और देवताओं को दुखी देखकर पहले ही राजा ने उन सब को युद्ध में मारा था ॥६॥

विशेष—(१) 'कालकेतु निसिचर तहँ ...'—प्रथम यह शूकर रूप में गुप्त था, इसी से ग्रंथकार ने भी इसे प्रकट नहीं किया था। अब यह राक्षस रूप से आया, प्रकट हुआ तो ग्रंथकार ने भी प्रकट कर दिया।

(२) 'तापस नृप केरा'—कालकेतु की दृष्टि में तो यह नृप है, तापस बना है, इसलिये 'तापस नृप' कहा। भानुप्रताप मुनि, तपस्वी समझते थे, इससे अभी तक मुनि आदि ही कहते थे। पुनः यहाँ पर इस समय दो राजा हैं, पृथकता के लिये भी तापस कहा है।

(३) 'सो अति कपट घनेरा'—'घनेरा कपट' तो तापस नृप भी जानता था, पर यह 'अति घनेरा' जानता है, क्योंकि राक्षस अति मायावी होते ही हैं। घनेरा = अनगिनत।

(४) 'खल अति अजय ...'—इन्द्रादि देवता अजय हैं इन्हें भी जीता था। इसी से 'अति अजय' थे, उनकी सम्पत्ति भी छीनी थी, इसी से खल भी कहे गये। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

तेहि खल पाछिल बैर सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा ॥७॥
जेहि रिपुछय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावीबस न जान कछु राऊ ॥८॥

दोहा—रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि-ससिहिं, सिर-अवसेषित राहु ॥१७०॥

अर्थ—उसी दुष्ट (कालकेतु) ने पिछले वैर का स्मरण किया और तपस्वी राजा से मिलकर सलाह की ॥७॥ जिससे शत्रु का नाश हो, वही उपाय रचा, राजा भावी-वश कुछ नहीं जान सका ॥८॥ तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो, तो भी उसे छोटा नहीं समझना चाहिये। (देखिये) जिसका शिर मात्र ही अवशिष्ट (बच) रहा है, वह राहु अब भी सूर्य-चन्द्रमा को दुःख देता है ॥१७०॥

विशेष—(१) 'तेहि खल'''—यहाँ विश्वासघात एवं छल के कारण फिर खल कहा गया। 'सोइ रचेन्हि उपाऊ'—उपाय वही जो पूर्व ठीक किया है—"आइ उपाय रचहु नृप येहू।"

(२) 'रिपु तेजसी'''—यह दोहा दोनों ओर लगता है, जैसे भानुप्रताप को चाहता था कि वह तेजस्वी शत्रु इस तापस नृप को तुच्छ जानकर नहीं छोड़ता। शिर-मात्र की तरह यह अपने सेना-रूप शरीर से अलग हो गया, तब भी राहु की तरह भानु-प्रताप और अरिमर्दन को सूर्य-चन्द्रमा की तरह ग्रसेगा। पुन तापस नृप और कालकेतु का विचार है कि यह राजा सो रहा है, चाहें तो मार डालें, पर है तेजस्वी। यद्यपि अकेला भी है, तो भी इसे छोटा नहीं मानना चाहिये, कहीं जग पड़ा तो हम दोनों को जीता न छोड़ेगा। इस अर्थ में सेना-रूप शरीर से पृथक् राजा राहु और तापस नृप तथा कालकेतु सूर्य और चन्द्रमा हैं। नीति भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० १२८)

तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयेउ सुखारी ॥१॥
मित्रहिं कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥२॥
अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥३॥
परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआधि बिधि खोई ॥४॥
कुलसमेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई ॥५॥

शब्दार्थ—सखहिं=मित्र को। साधेउँ=ठीक कर लिया, वश में कर लिया। बिआधि=व्याधि।

अर्थ—तपस्वी राजा अपने मित्र को देख हर्षित हो उठकर मिला और सुखी हुआ ॥१॥ मित्र को सारी कथा कह सुनाई, तब वह राक्षस सुखी होकर बोला ॥२॥ हे राजन्! सुनो, जो तुमने मेरे उपदेश के अनुकूल किया तो अब मैंने शत्रु को साध लिया ॥३॥ अब तुम शोच छोड़कर सो रहो, ब्रह्मा ने बिना दवा के ही रोग का नाश कर दिया है ॥४॥ वंश सहित शत्रु की जड़ (उखाड़) बहाकर चौथे दिन मैं तुमसे आ मिलूँगा ॥५॥

विशेष—तापस राजा शोच मे था, सखा को देखते ही सुखी हो गया, क्योंकि मनोरथ-सिद्धि की आशा हुई। कथा सुनकर सुखी होने में 'जातुधान' कहा गया, क्योंकि दूसरे के नाश से राक्षस ही को सुख होता है। 'जो तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा' अर्थात् इस राक्षस ने पहले ही सब कपट की बातें कपटी मुनि को सिखा रक्खी थीं कि किसी दिन जो मैं राजा को भटकाकर लाऊँ तो तुम इस प्रकार करना।

तापस नृपहि बहुत परितोषी। चला महाकपटी अति रोषी ॥६॥
भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचायेसि छन माँझ निकेता ॥७॥
नृपहि नारि पहिं सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई ॥८॥

दोहा—राजा के उपरोहितहिं, हरि लै गयेउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि-खोह महँ, माया करि मति भोरि ॥१७१॥

अर्थ—तपस्वी राजा को बहुत तरह से सन्तुष्ट करके वह महाकपटी अत्यंत क्रोध करके चला ॥६॥ छोटे

के साथ भानुप्रताप को क्षण-भर ही में घर पहुँचा दिया ॥७॥ राजा को उसकी रानी के पास लिटाकर घोड़े को अच्छी तरह घुड़सार में बाँध दिया ॥८॥ फिर राजा के पुरोहित को हर ले गया और अपनी माया से उसकी बुद्धि भोरी (भ्रमित) करके पर्वत की कन्दरा में ला रक्खा ॥१७१॥

विशेष—(१) 'महाकपटी'''—आगे वैसा कर्म करेगा। 'अति रोषी'—पिछले वैर के स्मरण से अत्यन्त क्रोध है। 'बाजि बनाई'—'बनाई' अर्थात् घुड़सार में जीन उतारकर और अगाड़ी-पिछाड़ी बाँधकर।

(२) 'राजा के उपरोहितहिं'''—भाव यह कि अन्य तपस्वी ब्राह्मणों पर इसकी माया नहीं लगती, यह राजधान्य (जो साधु के लिये निषिद्ध है) से पला है, इससे निस्तेज हो रहा है। अतः, हरा गया। इसके प्रति दो उपाय किये—एक तो बुद्धि 'भोरी' कर दी, दूसरे कंदरा में रख आया। अभिप्राय यह कि यदि यों ही कंदरा में रखने से पीछे यह चिल्ला उठे। यह जानकर कोई राजा को पता दे, तब तो पोल खुल जाय, इससे बुद्धि भी 'भोरी' कर दी कि चुप पड़ा रहेगा। पुनः बुद्धि ठीक रहने से संभव था कि जप, तप एवं मंत्र-द्वारा कहीं राजा के पास पहुँच जाता तो भी भंडा फूटता।

आपु बिरचि उपरोहित-रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा ॥१॥
जागेउ नृप अनभये बिहाना। देखि भवन अति अचरज माना ॥२॥
मुनिमहिमा मन महुँ अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहि जान न रानी ॥३॥
कानन गयेउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नरनारि न जानेउ केही ॥४॥
गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा ॥५॥

शब्दार्थ—सेज=ईंगसी की शय्या, पलँग। अनभये=बिना हुए। गवहिं=चुप के से। तेही=उसी। जाम जुग (याम युग)=दोपहर। बधावा=आनंद-उत्सव के गान, बाजा।

अर्थ—स्वयं पुरोहित का रूप बनाकर उसकी अनुपम शय्या पर जा पड़ा (लेटा) ॥१॥ राजा सवेरा होने से प्रथम ही जगा और घर को देखकर बड़ा आश्चर्य माना ॥२॥ मुनि की महिमा मन में विचार कर चुप के से उठा जिससे रानी न जान पावे ॥३॥ और उसी घोड़े पर चढ़कर उसी वन को गया। पुर के स्त्री-पुरुष—किसीने नहीं जाना ॥४॥ दोपहर बीतने पर राजा आया, (यह जानकर) घर-घर उत्सव होने लगे और बधाइयाँ बजने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा।'—अर्थात् पुरोहित की शय्या पर लेट रहा, पर घरवालों ने नहीं जाना कि यह दूसरा है। 'सेज' शब्द शय्या का अपभ्रंश है। 'अनूपा' अर्थात् जान पड़ता है कि वह सेज राजा से दान में मिली थी; इसीसे अनुपम थी।

(२) 'अति अचरज'''मुनि महिमा'''—प्रथम उसके वचनों पर आश्चर्य था। अब जो प्रत्यक्ष देखा कि मैं महल में हूँ तो अति आश्चर्य हुआ। फिर इसे मुनि की महिमा मानकर समाधान कर लिया। 'उठेउ गवहिं'''—किसी ने जाना नहीं। 'राजा कैसे आ गया ?' इस भाव को छिपाने के लिये वह चुप के से उठा, अन्यथा जागेगी तो रानी मर्म जानने के लिये हठ करेगी। यह भी मालूम होता है कि रानी और पहरेदारों को भी निशाचर ने मोहित कर दिया था। इसीसे किसी ने नहीं जाना।

(३) 'गये जाम जुग'''—दोपहर के बाद आया। नहीं तो लोग अवश्य पूछते कि रात कहाँ ठहरे थे ? और, अब तो जानेंगे कि कहीं बहुत दूर निकल गये, तभी तो दोपहर में आये हैं।

'घर-घर उत्सव'''—लोग राजा का पता पाये बिना दुखी थे। अब यथाशा बजने लगा।

उपरोहितहिं देख जब राजा। चकित बिलोकि सुमिरि सोइ काजा ॥६॥
जुगसम नृपहिं गये दिन तीनी। कपटी मुनिपद रहि मति लीनी ॥७॥
समय जानि उपरोहित आवा। नृपहिं मते सब कहि समुझावा ॥८॥

दोहा—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत।
बरे तुरत सतसहस बर, बिप्र कुटुंबसमेत ॥१७२॥

शब्दार्थ—चकित = चौंकना, आश्चर्य-युक्त। लीनी = निमग्न, लगी हुई। मते = निश्चित बातें।

अर्थ—जब राजा ने पुरोहित को देखा, तब अपने उसी कार्य का स्मरण कर चकित हो देखने लगा ॥६॥ राजा को तीन दिन युग के समान बीते, क्योंकि उसकी बुद्धि कपटी मुनि के चरणों में लीन थी ॥७॥ समय जानकर पुरोहित आया और राजा को (पूर्व की) निश्चित बातें कह समझाईं ॥८॥ गुरु को पहचानकर राजा हर्षित हुआ। भ्रम के वश उसे चेत (ज्ञान) न रहा। उसने तुरत एक लाख उत्तम ब्राह्मणों को परिवार के साथ नेवता भेज दिया ॥१७२॥

विशेष—(१) 'उपरोहितहिं देख''''''—राजा के घर उत्सव कराने को पुरोहित आया; तब देखकर चकित हुआ।

(२) 'जुग सम नृपहिं ''''''—(क) प्रथम राजा की मति परमेश्वर में लीन रही, उनकी कृपा से धर्म पूर्ण रहा और प्रताप उदित रहा। जब से कपटी राजा के पद में मति लीन हुई, तब प्रथम दिन सत्ययुग के समान ही रहा। कुछ अंश कपट का आया, तब सत्य गया। धर्म का एक पाँव नाश होने से दूसरा दिन त्रेता के समान बीता, तब शौच भी गया। दो चरण जाने से तीसरा दिन द्वापर के तुल्य बीता, फिर क्रमशः दया भी गई। तब चौथा दिन कलियुग के समान आने से एक चरण दान-मात्र रह गया है। यह युग राक्षस-रूप है। अत:, इसमें राक्षस कपट रूप से दान में विघ्न उपस्थित कर नाश कर डालेगा। तब पूर्ण धर्म का नाश होगा। (ख) कपटी मुनि में अत्यंत प्रीति के कारण दर्शनों के लिये व्याकुलता में तीन दिन युग के समान बीते कि कब मुनि मिलें ?

(३) 'नृप हरषेउ पहिचानि गुरु''''''—राजा इस भ्रम में पड़ गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं, तब तो मुझे तपोबल से सोते ही घर पहुँचा दिया और ठीक-ठीक पुरोहित बन गये। इसीसे कुछ विचार नहीं किया कि एक लक्ष ब्राह्मणों को नित्य प्रति नेवता भेजना और भोजन कराना तथा इससे देवता-ब्राह्मणों को वश करना संभव है या नहीं। 'बरे तुरत'—कालकेतु ही माया के बल से निमंत्रण भी तुरत दे आया। 'बरबिप्र'—कुलीन वेदपाठी ब्राह्मण।

उपरोहित जेवनार बनाई। छ रस चारि बिधि जसि श्रुति गाई ॥१॥
मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई ॥२॥
बिबिध मृगन्ह करि आमिष राँधा। तेहि महँ बिप्रमांस खल साँधा ॥३॥
भोजन कहँ सब बिप्र बोलाये। पद पखारि सादर बैठाये ॥४॥

शब्दार्थ—बिंजन (व्यंजन) = तरकारी, अचार आदि। राँधा = पकाया। आमिष = मांस। साँधा = मिलाया। षट् रस (षट् रस) = खट्टा, मीठा, तीता, कषाय, नमकीन और कड़ुआ।

अर्थ—पुरोहित ने षट् रस और चारों प्रकार के भोजन बनाये, जैसा श्रुति (सूपशास्त्र) में कहा है ॥१॥ उसने मायामय रसोई की, व्यंजन बहुत थे, उन्हें कोई गिन नहीं सकता था ॥२॥ तरह-तरह के पशुओं के मांस पकाये, उनमें उस दुष्ट ने *ब्राह्मण का मांस भी मिला दिया* ॥३॥ सब ब्राह्मणों को भोजन के लिये बुलाया और चरण धोकर उनको आदर के साथ बैठाया ॥४॥

विशेष—'मायामय तेहि कीन्ह'''—अकेले इसने लाखों ब्राह्मणों की रसोई कैसे बनाई ? इसका उत्तर है कि इसने बाजीगर के खेल के समान रसोई बनाई। वे व्यंजन देखने-मात्र में बहुत थे, पर थे झूठे ही। 'बिबिध मृगन्ह कर''''''—कहा जाता है कि आजकल केकय देश में मांसाहारी ब्राह्मण भी बहुत हैं। संभवतः उस समय भी रहे हों। वैष्णवों की रसोई अलग रही हो ; पर इसमें यह शंका है कि मांसाहारी 'बर बिप्र' नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ब्राह्मण धर्म सात्त्विक है और मांसाहार राजस। यहाँ प्रथम ही ग्रंथकार ने 'मायामय' कहकर बता दिया है कि सब विचित्र ही हैं। पदार्थ ऐसे दिखते हैं कि उन्हें कोई जान नहीं सकता कि क्या हैं। पीछे राजा देखने गया, तो कुछ रह ही नहीं गया था, क्योंकि मायावी के अदृश्य होते ही उसकी माया से दिखनेवाले पदार्थ भी कुछ नहीं रह गये। जब प्रथम बनाता था, तब भी परदे के भीतर ही, क्योंकि माया ओट में ही की जाती है। राजा के परसने के साथ ही आकाशवाणी से उसने कहा कि सब रसोई ब्राह्मण के मांस से हुई, जिससे शीघ्र ही ब्रह्मशाप हो जाय। अतः, इसने विप्रों को कुपित कराने के लिये ही ऐसा किया। राजा भी नहीं लख सका कि ये पदार्थ क्या है और न विप्रों ने ही जाना, क्योंकि सब विचित्र ही थे, जब आकाशवाणी से कहा गया कि विप्र-मांस है, तब तुरंत सबने विश्वास मान लिया अर्थात् देखने से नहीं जान सके थे। इससे स्पष्ट है कि कोई भी ब्राह्मण मांसाहारी न थे, सब सात्त्विक एवं श्रेष्ठ थे ; इसीसे उनका शाप भी लगा; अन्यथा रावणादि भी *ब्राह्मण ही थे, इनका शाप कहीं क्यों नहीं लगा था ?*

प्रश्न—तब—"बिबिध मृगन्ह''''''" में 'राँधा' और 'साँधा' क्रियाएँ क्यों हैं ?

उत्तर—राक्षसी माया उसकी प्रकृति के अनुसार है, उसने माया से विविध मृगों के मांस और *विप्रमांस मिलाकर बनाये थे, पर ऐसे विचित्र थे कि कहने से मांस की प्रतीति हो भी सके।*

परसन जबहिं लाग महिपाला। भइ अकासबानी तेहि काला ॥५॥
बिप्रबृंद उठि-उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥६॥
भयेउ रसोईं भूसुर - माँसू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥७॥
भूप बिकल मति मोह-भुलानी। भावी - बस न आव मुख बानी ॥८॥

अर्थ—जैसे ही राजा परसने लगा, वैसे ही उसी समय आकाशवाणी हुई ॥५॥ कि हे ब्राह्मणो ! उठकर घर जाओ, अन्न मत खाओ, इसमें बड़ी हानि है ॥६॥ यह रसोई ब्राह्मणों के मांस से हुई है। सब ब्राह्मण विश्वास मानकर उठ गये ॥७॥ राजा व्याकुल है, उसकी बुद्धि मोह से भूली हुई है, होनहार-वश, उसके मुख से वचन तक न निकला ॥८॥

विशेष—(१) 'भइ अकासबानी तेहि काला'—यह आकाशवाणी देव-वाणी नहीं है, किंतु

उसी कालकेतु ही के अदृश्य होकर कहे हुए वचन हैं। 'तेहि काला' से 'उस कालकेतु की' यह ध्वनित भी है। तुरत शाप दिलाने के लिये कहा ,है, क्योंकि आगे की शुद्ध आकाशवाणी को 'बर गिरा अकासा' कहा है।

(२) 'है बदि हानि'—अन्य जीवों के मांस-भक्षण में हानि और विप्र-मांस भक्षण में बड़ी हानि है, क्योंकि और मांसों का प्रायश्चित्त भी है और विप्र-मांस का नहीं। तुरत कोप उत्पन्न करने के लिये केवल विप्र-मांस ही कहा गया।

(३) 'भावी-बस न आव मुख बानी।'—राजा के शरीर, मन और वचन तीनों को भावी ने ही प्रेरित किया। यथा—"तुलसी जसि भवितव्यता,..... ताहि तहाँ लै जाय।" (दो० १५९)। इसमें शरीर के ले जाने में, "भावी-बस न जान कछु राऊ।" (दो० १६९); इसमें मन में, क्योंकि जानना मन से होता है और 'न आव मुख बानी' में वचन में, भावी की प्रेरणा है, नहीं तो पैरों पर गिरकर हाल कह देता, तो कुछ न होता।

दोहा—बोले विप्र सकोप तब, नहिं कछु कीन्ह विचार।
जाइ निसाचर होहु नृप, मूढ़ सहित परिवार ॥१७३॥

छत्रबंधु तैं विप्र बोलाई। घालै लिये सहित समुदाई ॥१॥
ईश्वर राखा धरम हमारा। जइहसि तैं समेत परिवारा ॥२॥
संवत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ॥३॥

अर्थ—तब ब्राह्मण कोप करके बोले, क्योंकि उन्होंने कुछ विचार नहीं किया—अरे मूर्ख राजन्! तू परिवार के साथ जाकर राक्षस हो ॥१७३॥ अरे छत्र-बंधु (क्षत्रियाधम)! तूने सब ब्राह्मणों को समुदाय (परिवार एवं समाज) के साथ नष्ट करने के लिये बुलाया था ॥१॥ ईश्वर ने ही हमारा धर्म रक्खा; फलतः तू ही परिवार-सहित नष्ट होगा ॥२॥ *एक वर्ष के भीतर तेरा नाश होगा, तेरे कुल में कोई जल देनेवाला भी न रहेगा* ॥३॥

विशेष—(१) 'बोले विप्र सकोप तब...' जब राजा कुछ न बोला तब; क्योंकि—'मौनं सम्मति-लक्षणम्' कहा जाता है। विप्र-मांस राक्षस ही खाते हैं, इसलिये राक्षस होने का शाप दिया कि जो तू हमें खिलाना चाहता था, वही तू खायेगा! इतनों का धर्म लेने चाहता था; अतः, भारी क्रोध किया और तुरत शाप दिया। 'सकोप' अर्थात् कोप से बोलने में विचार न रहा, इसलिये ये सब राक्षस होकर फिर इन्हीं ब्राह्मणों के वंश (विप्रों) को तो खायेंगे!

(२) 'ईश्वर राखा धरम...'—तूने तो नाश ही करना चाहा था, पर ईश्वर सब के धर्म के रक्षक हैं; अतः, हमारा धर्म भी बचाया।

(३) 'संवत मध्य नास...'—क्योंकि संवत् भर नित्य ब्राह्मणों को खिलाने का संकल्प था, यथा—"संवत भरि संकलप करेहू।" (दो० १६७)। ब्राह्मणों ने समझा कि इसने किसी राक्षसी तांत्रिक क्रिया से स्वयं अजर-अमर बनना चाहा था। अतः, संवत ही भर में नाश का शाप दिया। 'जलदाता न रहिहि...'

अर्थात् तुम्हारी सद्गति का उपायकर्ता भी कोई न रहे; क्योंकि हम भी वंश समेत धर्म-भ्रष्ट होने से असद्गति को ही प्राप्त होते, वैसा ही फल तुम लो।

नृप सुनि स्राप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा ॥४॥
बिप्रहु स्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥५॥
चकित बिप्र सब सुनि नभबानी। भूप गयेउ जहँ भोजनखानी ॥६॥
तहँ न असन नहिं बिप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥७॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥८॥

अर्थ—शाप सुनकर राजा अत्यंत डरा और अत्यंत व्याकुल हो गया, तब फिर श्रेष्ठ आकाशवाणी हुई ॥४॥ "हे ब्राह्मणो! तुमने भी विचारकर शाप नहीं दिया। राजा ने कुछ अपराध नहीं किया था ॥५॥ सब ब्राह्मण आकाशवाणी सुनकर चकित हो गये और राजा वहाँ (रसोईघर में) गया, जहाँ भोजन के पदार्थ रक्खे थे ॥६॥ वहाँ न तो भोजन ही *था* और न रसोइया *ब्राह्मण ही;* तब राजा मन में अत्यन्त चिन्तित होकर लौटा ॥७॥ और सारा वृत्तान्त ब्राह्मणों को सुनाया, फिर बड़ा ही व्याकुल और सभीत हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥८॥

विशेष—(१) 'अति त्रासा'—क्योंकि विप्रशाप अति घोर है—एक तो सकुटुम्ब नाश हो—वह भी अल्पकाल में ही; और राक्षस-योनि मिले, उसपर भी जलदाता न रहे। आकाशवाणी से दोषी भी बना। 'अति' शब्द दीप-देहली है।

'बहोरि बर गिरा अकासा'—अर्थात् पूर्व की आकाशवाणी श्रेष्ठ न थी, उसमें निरपराध राजा दोषी ठहराया गया था। अतः, जन्म-भर उसे ग्लानि रहती। यह श्रेष्ठ देववाणी है। अतः, राजा को परितुष्ट करेगी। 'बहोरि'—शाप की व्याकुलता पर। 'बिप्रहु'—राजा ने तो भ्रम-वश कुछ सफाई न दी, पर तुमको तो ध्यान से जान लेना था कि कैसा दोष है और किसका है?

(२) 'चकित बिप्र सब...'—ब्राह्मण चकित हैं कि जब राजा दोषी नहीं तब अभी तक कहा क्यों नहीं था! राजा की प्रतीति अभी भी कपटी मुनि मे है कि वे मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं। इससे वह कहानी कही, क्योंकि उसने कहने से मना किया था और गुरु के पास ही गया। जब वहाँ उसे न पाया तब अपार शोच हुआ अर्थात् शाप-जन्य दुःख-सागर से पार जाने में असमर्थ हो गया।

(३) 'सब प्रसंग महिसुरन्ह...'—आदि से सब हाल कहते हुए जब विप्रशाप पर आया, तब इसकी भीषणता पर डरकर रक्षा पाने के लिये ब्राह्मणों के सामने गिर पड़ा।

दोहा—भूपति भावी मिटइ नहिं, जदपि न दूषन तोर।
किये अन्यथा होइ नहिं, बिप्रस्राप अति घोर ॥१७४॥

अस कहि सब महिदेव सिधाये। समाचार पुरलोगन्ह पाये ॥१॥
सोचहिं दूषन दैवहिं देहीं। बिरचत हंस काग किय जेहीं ॥२॥

शब्दार्थ—सिधाये = गये। किये = उपाय करने से। अन्यथा = और प्रकार या झूठा।

अर्थ—(ब्राह्मण बोले) हे राजन्! यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं है, तथापि भावी नहीं मिटती। विप्रशाप अत्यन्त घोर है—उपाय करने से और प्रकार नहीं हो सकता ॥१७४॥ ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चले गये, पुरवासियों ने यह समाचार पाया ॥१॥ तो वे चिन्ता करते हुए ब्रह्मा को दोष देते हैं कि जिन्होंने हंस बनाते हुए कौआ कर डाला ॥२॥

विशेष—'किये अन्यथा होइ नहिं'—ब्राह्मणों ने राजा को निर्दोष जानकर शापानुग्रह के लिये ध्यान धरकर प्रयत्न किया, पर वे कुछ पता ही न पा सके, क्योंकि यह परात्पर का गुह्यतम चरित है, उनकी इच्छा से ही सब बातें हुईं, उनकी गंभीर मनोवृत्ति का थाह किसे मिल सकता है? फिर ब्राह्मण लोग अनुग्रह कैसे करें? अतः, निरुपाय होकर रह गये। पूर्व कहा गया कि राजा दोनों भाई पूर्व के श्रीरामजी के सखा हैं, उनकी रण-क्रीड़ा की इच्छा से प्रकट हुए हैं। इनपर अनुग्रह-निग्रह श्रीरामजी ही कर सकते हैं। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीर मनोनुसारिणः॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

'सहिदेव सिधाये'—प्रथम की ही आकाशवाणी पर उठे थे—"सब द्विज उठे मानि बिस्वासू।" अब चल दिये। इन्हीं से जहाँ-तहाँ वृत्तांत पहुँच गया।

'दूषन दैवहिं देहीं'—क्योंकि दैवयोग से ही सब बातें हुईं, राजा को देववाणी ने ही निर्दोष किया। ब्राह्मणों ने पहले विचार नहीं लिया, इससे दोषी हुए। पर अनुग्रह के लिये प्रयत्न कर असफल होने पर वे भी निर्दोष ही हैं। 'बिरचत हंस काग किय'—नाना प्रकार के शुभ कर्मों से राजा हंस के समान हो रहा था, उनसे देवता होता, किन्तु राक्षस-रूप कौआ किया गया, यथा—"लिखत सुधाकर गा लिखि राहू।" (अ० दो० ५४); "सुधा देखाइ दीन्ह बिष जेहीं।" (अ० दो० ४८)।

उपरोहितहिं भवन पहुँचाई। असुर तापसहिं खबरि जनाई ॥३॥
तेहिं खल जहँ तहँ पत्र पठाये। सजि सजि सेन भूप सब धाये ॥४॥
घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई ॥५॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधुसमेत परेउ नृप धरनी ॥६॥

अर्थ—पुरोहित को घर पहुँचाकर उस असुर (कालकेतु) ने तापस (नृप) को खबर दी ॥३॥ उस दुष्ट ने जहाँ-तहाँ पत्र भेजे। सब राजा सेना सजा-सजाकर दौड़ पड़े ॥४॥ और नगाड़े बजाकर नगर को घेर लिया। नित्य नाना प्रकार से लड़ाई होने लगी ॥५॥ सब योद्धा अपनी (वीर) 'करनी' करके जूझ गये और भाई के साथ राजा (वीर करनी करके) पृथ्वी पर गिरा ॥६॥

विशेष—'उपरोहितहिं भवन…'—कालकेतु विप्रों का शाप देखकर डरा हुआ था। अतः, पुरोहित को उसके घर पहुँचा दिया कि इसके भाई लोग मुझे भी न शाप दे डालें।

'तेहिं खल'—प्रसंगतः तापस ने; पुनः शब्दध्वनि से कालकेतु ने भी पत्र भेजने-भिजवाने का काम किया। यथा—"तेहि खल पाछिल बैर…" (दो० १६६) अर्थात् तापस राजा ने पत्र लिखे और कालकेतु ने राक्षसी माया से शीघ्र ही सर्वत्र पहुँचाये। 'जहँ-तहँ'—जिन्हें राजा भानुप्रताप ने जीता था, यथा—"जीते सकल भूप बरिआई।" (दो० १५३)। 'सब धाये'—वे राजा सब भी भानुप्रताप को जीतना

चाहते थे। 'विविध भाँति'—तरह-तरह की व्यूह-रचनाओं और दिव्यास्त्रों द्वारा लड़ाई होती थी। 'करि करनी'—दीपदेहली है। इन सुभटों एवं भाई समेत राजा ने पहले करणी करके विश्व-विजय की थी, वही करणी करके सब जूझ मरे अर्थात् पीछे पाँव न दिये, पर क्या करें ? शाप से नाश होना ही था।

सत्य-केतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। बिप्र-स्राप किमि होइ असाँचा ॥७॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जस पाई ॥८॥

दोहा—भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम, जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

अर्थ—सत्यकेतु के कुल में कोई नहीं बचा। भला, ब्राह्मणों का शाप झूठा कैसे हो सकता है ? ॥७॥ शत्रु को जीत, सब राजा नगर बसा तथा जय और यश पाकर अपने-अपने नगर को गये ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज ! सुनो, जब ब्रह्मा जिसके वाम (टेढ़े) होते हैं ; तब उसके लिये धूलि सुमेरु पर्वत के समान, पिता यमराज के समान और माला सर्प के तुल्य हो जाते हैं ॥१७५॥

विशेष—'बिप्र-स्राप किमि होइ···'—ब्राह्मण के द्रोह से कुल का नाश होता है, यथा—"जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" (कि० दो० १५) ; तब शाप कैसे झूठा हो !

'नृप नगर बसाई'—लड़ाई के कारण नगर उजड़ गया था, अतः, सब राजाओं ने आपस में समझौता करके उस नगर को सुस्थिर करके बसाया। 'जय जस पाई'— क्योंकि पूर्व के छीने हुए राज्य मिलने से यश और शत्रु जीतने से जय मिली।

'धूरि मेरु सम जनक ···'— राजा पर बीती हुई तीन बातों को दृष्टान्त से समझाते हैं कि कालकेतु के दस भाई और सौ पुत्र मारे गये। वह अकेला भागकर बचा। अतः, धूल की तरह था, उसीने पर्वत के समान होकर राजा को कुचला। कपटी मुनि को राजा ने पिता के समान माना था, वह यम के तुल्य हो गया और ब्राह्मण रत्नमाला के समान थे, राजा इनकी सार-सँभार करता और इस कार्य में शोभा मानता था। इन्होंने ही सर्प बनकर डँसा।

उपक्रम—(क) "भरद्वाज सुनु अपर पुनि······" (ख) "सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू।" (दो० १५२)।
उपसंहार—(क) "भरद्वाज सुनु जाहि जब···" (ख) "सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा॥"

रावणादि जन्म-प्रकरण

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयेउ निसाचर सहित समाजा ॥१॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा ॥२॥
भूपअनुज अरिमर्दन नामा। भयेउ सो कुंभकरन बलधामा ॥३॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयेउ बिमात्र बंधु लघु तासू ॥४॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्णुभगत बिज्ञाननिधाना ॥५॥

अर्थ—हे मुनि ! सुनो। समय पाकर वही राजा समाज के साथ राक्षस हुआ ॥१॥ उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं, उसका नाम रावण था। वह बरियंड (बलवंत एवं उद्दंड) वीर था ॥२॥ राजा (प्रतापभानु) के अरिमर्दन नाम का भाई था जो बल का धाम था, वह कुंभकर्ण हुआ ॥३॥ धर्म में जिसकी रुचि थी, अतः धर्मरुचि नाम था, वह मंत्री उसका सौतेला छोटा भाई हुआ ॥४॥ जिसका नाम विभीषण था और जिसे संसार जानता है कि वह हरिभक्त और विज्ञान का कोप था ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनु'—भरद्वाज मुनि के प्रति संबोधन यहाँ से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि इनका प्रश्न प्रधानतया श्रीराम-तत्त्व के विषय में था, वह यहाँ तक हो गया। आगे के रामगुण गूढ़ में वे ऐसे निमग्न हुए कि उनकी शंकित चेष्टा न पाकर वक्ता को संबोधन की आवश्यकता ही न पड़ी, क्योंकि—"ते श्रोता बकता सम सीला। समदरसी जानहिं हरि-लीला।" (दो० ११)।

(२) 'दस सिर ताहि बीस ...'—पुलस्त्य ऋषि ब्रह्मा के मानसिक पुत्र हैं। उनके पुत्र विश्रवामुनि हैं। कुवेर ने विश्रवा की सेवा के लिये तीन चतुर सुंदरी निशाचर कन्याएँ (पुष्पोत्कटा, मालिनी और राका) दीं। इन्होंने सेवा करके मुनि को रिझा लिया। मुनि का वरदान पाकर पुष्पोत्कटा से रावण-कुंभकर्ण, मालिनी से विभीषण और राका से खर-दूषण-त्रिशिरा और शूर्पणखा कन्या हुए—(महाभारत, वनपर्व, अ० २७४-७५) पैदा होते ही रावण के दश सिर थे। इसीसे इनका नाम 'दशग्रीव' था। पीछे जब कैलाश को उठा लिया और फिर शिवजी के दबा देने से बहुत समय तक रोया, तब शिवजी ने 'रावण' नाम रक्खा और यह भी कहा कि तू जगत को रुलानेवाला होगा। इससे भी रावण नाम से ख्यात है—(वाल्मी० उ०)

रावण के दस शिर होने के कारण—कहा जाता है कि (क) इसकी माँ को पुत्र का वरदान देकर मुनि दस मास तक किसी अनुष्ठान में लगे रह गये, तब तक वह खड़ी रही और उसके दस रजोधर्म हो गये। इस कारण मुनि ने उसे दस शिरों का एक ही पुत्र दिया। (ख) यह मोह (शरीराभिमान) का स्वरूप है। उसमें दसो इन्द्रियाँ इसके दसो मुख हैं। यथा—"मोह दसमौलि..." (वि० ५८)।

(३) 'सचिव जो रहा धरमरुचि जासू'—मंत्री धर्मरुचि में नाम के अनुसार गुण भी था। यथा—"सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती।" (दो० १५४)। भक्ति का संस्कार दूसरे जन्म में भी गया। यथा—"विष्णुभगत विज्ञाननिधाना।" कहा है। 'जगजाना'—विभीषणजी द्वादश महाभागवतों में हैं और भगवान् के पार्षद भी हैं तथा रामायण में तो प्रसिद्ध हो हैं। यहाँ प्रथम राजा, उसके भाई और मंत्री का राक्षस-योनि में जन्म कहकर तीनो के नाम रावण, कुंभकर्ण और विभीषण कहे और तीनो के गुण भी उसी क्रम से 'बीर बरिबंडा', 'बलधामा' और 'बिष्णुभगत बिज्ञाननिधाना।' बतलाये।

रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भये निसाचर घोर घनेरे ॥६॥
कामरूप खल जिनिस अनेका। कुटिल भयंकर बिगतबिबेका ॥७॥
कृपारहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं बिस्व-परितापी ॥८॥

दोहा—उपजे जदपि पुलस्त्यकुल, पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर-स्राप-बस, भये सकल अघ-रूप ॥१७६॥

शब्दार्थ—जिनिस = प्रकार, जाति। बिगत = रहित। परितापी = दुःख देनेवाले।

अर्थ—राजा के जो पुत्र और सेवक थे, वे सब अत्यन्त घोर राक्षस हुए ॥६॥ वे सब इच्छारूपधारी दुष्ट, अनेक प्रकार एवं जातियों के, कुटिल, भयंकर, विवेकरहित, निर्दय, हिंसा करनेवाले, पापी और जगत् भर को दुःख देनेवाले हुए जो कहने में नहीं आ सकते ॥७-८॥ यद्यपि पुलस्त्य मुनि के पवित्र, निर्मल और अनुपम कुल में पैदा हुए थे, तथापि ब्राह्मणों के शाप-वश वे सब पाप-रूप हो गये ॥१७६॥

विशेष—(१) 'रहे जे सुत सेवक···' शाप तो था कि –"जइहसि तैं समेत परिवारा।" फिर सेवक क्यों राक्षस हुए? उत्तर यह है कि यंत्रराज-पूजन में विभीषण, अंगद, हनुमान् आदि सेवक होते हुए भी रामजी के परिवार माने गये हैं, वैसे राजा के मंत्री और सेवक भी उसके परिवार ही हैं।

(२) 'कृपारहित हिंसक···'—कृपारहित हैं, इसीसे हिंसक हैं और हिंसक होने से पापी हैं तथा इसीसे वर्णन के योग्य नहीं हैं। यथा–"येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही। रघुबीर-सर-तीरथ···" (सुं० दो० २)। बहुत होने से भी अवर्णनीय हैं।

(३) 'उपजे जदपि पुलस्त्य-कुल···'—कुल का प्रभाव संतान पर पड़ता है, पर विप्रशाप ऐसा प्रबल है कि ये कुल के विरुद्ध पाप-रूप हुए। अतः, कुल के प्रभाव से ब्राह्मणत्व का प्रभाव श्रेष्ठ है।

कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ॥१॥
गयेउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥२॥
करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥३॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥४॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥५॥

अर्थ—तीनों भाइयों ने अनेक प्रकार से अत्यन्त कठिन तप किये, जो कहे नहीं जा सकते ॥१॥ तप देखकर ब्रह्माजी समीप गये और कहा कि हे तात! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ॥२॥ दशग्रीव ने चरण पकड़ विनय करके ये वचन कहे—हे जगदीश्वर! सुनिये ॥३॥ हम वानर और मनुष्य दो जातियों को बारे अर्थात् छोड़कर किसी के मारे न मरें ॥४॥ शिवजी कहते हैं कि मैंने और ब्रह्मा ने मिलकर उसे वर दिया कि ऐसा ही हो, क्योंकि तुमने बड़ा तप किया है।

विशेष—(१) 'कीन्ह बिबिध तप तीनिउँ भाई'—तीनों ने तीन तरह के तप किये—"रावण ने दस हजार वर्षों तक निराहार तपस्या की, प्रत्येक हजार वर्ष पर वह अपना एक-एक सिर अग्नि में हवन कर देता, दसवें सिर के हवन के समय ब्रह्माजी आये। कुंभकर्ण गर्मी में पंचाग्नि-सेवन करता, वर्षा में मेघ-जल से भींगता और जाड़े में जल में रहता था। इस तरह दस हजार वर्ष बीते। विभीषणजी ने एक पैर पर खड़े रहकर पाँच हजार वर्ष बिताये, फिर पाँच हजार वर्ष तक सूर्य की आराधना की। मस्तक और बाहु ऊपर उठाकर स्वाध्याय करते रहे।" (वा० उ० स० १०)। यही 'परम उग्र' तप है। अन्य तपस्वियों का तप उग्र था, इनका परम 'उग्र' क्योंकि राक्षस-शरीर अधिक सहिष्णु होते हैं।

(२) 'करि बिनती पद गहि'—इस तरह प्रसन्न करके भारी वर चाहता है।

(३) 'हम काहू के · बानर मनुज · '—ब्रह्मा और शिवजी की प्रेरणा से उसने ऐसा कहा, यथा—"रावन कुंभकरन बर माँगत सिव बिरंचि बाचा छले।" (गी० सुं० ४१)। नहीं तो उसका काम अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध

से ही चल जाता। वाल्मीकीय में लिखा है कि इसने पहले अमर होनाही माँगा। उसे न मिलता देखकर 'वानर-मनुज' दो को 'वराय' कर माँगा, यहाँ वह भी ठीक मिल जाता है। वानर, शब्द गोपुच्छ भालु आदि का भी उपलक्षक है।

शंका—यह वानर से तो मरा नहीं, कहा है—"नर के कर आपन वध बाँची।" (लं० दो० २८), अर्थात् जानता भी था कि मनुष्य से मृत्यु है। फिर वानरों को क्यों मिलाया ?

समाधान— वानर और मनुष्य—दो को तृणवत् तुच्छ मानकर छाँट दिया, यथा—"तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादय'।" (वाल्मी० उ० १०)। ये तो मेरे आहार हैं। इनसे अभयत्व माँगने में हँसी होगी। नर के हाथ मृत्यु को तो इसने झूठा ही माना था। हाँ, उसके शब्दों में वर की सार्थकता यों है कि 'हम' शब्द बहुवचन है। अत', वह नर से और राक्षस लोग वानरों से मरे। पुनः शंका—यह भी तो लिखा है कि—*"रावन मरन मनुज-कर जाँचा।" (दो० ४८); इसमें मनुज के हाथ मृत्यु माँगनी कही है* और ऊपर तृणवत् मानकर छाँटना कहा है, फिर दोनों का ऐक्य कैसे हो ?

समाधान—प्राकृत मनुष्य को तो तृणवत् ही मानता था, इस 'मनुज' शब्द का अर्थ मनु के तप से जायमान (उत्पन्न) होनेवाले अर्थात् परात्पर मनुष्याकार साकेतविहारी श्रीरामजी के हाथ से ही मरूँ, यह उसका अभिप्राय है, क्योंकि यह प्रतापी नाम का रामसखा है और साकेत से अवतीर्ण है। अतः, वैसा वर माँगा। इस ग्रंथ में समग्र चरित साकेतविहारी श्रीरामजी और प्रतापभानु—रावण के हैं।

शंका—ब्रह्माजी का आना तो स्पष्ट है, वर देने में शिवजी कहाँ से आ कूदे ?

समाधान—शिवजी का भी आना 'विधाता' शब्द में हो जाता है, क्योंकि पुराणों में सृष्टि-विधान करना शिवजी का भी पाया जाता है। अथवा शिवजी मूर्तिरूप से वहीं थे, उन्हीं के समक्ष में तो वह शिर काटता था। *यथा*—"हुने अनल महँ बार बहु, हरषि साखि गौरीस।" (लं० दो० २८)। *ब्रह्माजी के* आने पर शिवजी भी प्रकट हो गये।

पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गयेऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भयेऊ ॥६॥
जौ येहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥७॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी ॥८॥

दोहा—गये बिभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर माँग।
तेहि माँगेउ भगवंत-पद-कमल अमल अनुराग ॥१७७॥

तिन्हहिं देइ बर ब्रह्म सिधाये। हरषित ते अपने गृह आये ॥१॥

अर्थ— फिर प्रभु *ब्रह्माजी कुंभकर्ण* के पास गये, उसे देखकर मन में आश्चर्य हुआ ॥६॥ कि जो यह दुष्ट नित्य भोजन करेगा तो सारा संसार उजड़ जायगा ॥७॥ सरस्वती को प्रेरित करके उसकी बुद्धि फेर दी (तब) उसने छः महीने की नींद माँग ली ॥८॥ फिर विभीषणजी के पास गये और कहा कि पुत्र ! *वर माँगो। उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों में शुद्ध अनुराग माँगा ॥१७७॥* उन सबको वर देकर ब्रह्माजी चले गये और वे सब प्रसन्न होकर अपने घर आये ॥१॥

विशेष (१)—'पुनि प्रभु'—शिवजी कहते हैं, इसे ब्रह्माजी ने ही वर दिया।

'तेहि बिलोकि मन ''' जो येहि खल''''''—इसका पर्वताकार विशाल रूप देखकर आश्चर्य हुआ। यह खल है, किसी जीव को न छोड़ेगा; यथा—"कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।" (सुं० दो० ३)।

(२) 'सारद प्रेरि तासु''''''—पैदा होते ही इसने हजार प्राणियों को खा डाला। इन्द्र ने वज्र चलाया, उसे भी सह लिया और उन्हीं के ऐरावत का दाँत उखाड़कर ऐसा मारा कि वे भगे। (फिर यम ने दंड मारा। यह उसे निगल ही गया!) इसने सात अप्सराओं, दस देव-दूतों और बहुत ऋषियों को खा डाला था। जब ब्रह्माजी वर देने आये, तब देवताओं ने ब्रह्मा से सब वृत्तान्त कहे। इससे उन्होंने सरस्वती-द्वारा इसकी वाणी फेर दी, तब 'छः महीने जगें और एक दिन सोवें' की जगह उल्टा माँग लिया वा इन्द्र (होने) की जगह निद्र (निद्रा) माँगा।

रावण को तात और विभीषण को पुत्र कहा और इसे कुछ नहीं, क्योंकि इसके पास आने से ब्रह्मा स्वयं विस्मित हो गये थे!

(३) 'पुत्र बर माँग'—पुत्र अर्थात् जो पितरों को 'पुं' नाम के नरक से 'त्र' अर्थात् तारे। यह भक्त है, भक्ति माँगेगा, जिससे पितृगण भी तर जाते हैं। अतः, पुत्र कहा।

मयतनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥२॥
सोइ मय दीन्हि रावनहिं आनी। होइहि जातुधान-पति जानी॥३॥
हरषित भयेउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई॥४॥

शब्दार्थ—तनुजा = कन्या। ललामा = रत्न, श्रेष्ठ। जातुधान = निशाचर। जानी = (जाया) स्त्री।

अर्थ—मय (दानव) के मंदोदरी नाम की कन्या थी, वह परम सुन्दरी और स्त्रियों में रत्न थी॥२॥ उसे मय ने ले आकर रावण को यह जानकर दिया कि यह निशाचरपति की रानी बनेगी॥३॥ (रावण) सुन्दर स्त्री पाकर हर्षित हुआ। फिर जाकर दोनों भाइयों का विवाह किया॥४॥

विशेष—'मय'—यह दैत्य दिति से उत्पन्न (कश्यप) का पुत्र था। यह बड़ा मायावी और शिल्पी था। हेमा अप्सरा से इसके दो पुत्र—मायावी और दुंदुभी हुए और यह मंदोदरी कन्या हुई। यह पंचकन्याओं में है। यथा, पंचकन्या—'अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा और मन्दोदरी।'

'सोइ मय दीन्हि ''''होइहि जातुधानपति''' '—वाल्मी० उ० अ० १२ में लिखा है, मय जान भी गया था कि यह पिता विश्रवा से शापित एवं क्रूर स्वभाव है, पर इस डर और लोभ से भी कन्या दिया कि कन्या-रत्न पाकर क्रोध न करेगा। देने से इसका मान्य होऊँगा और यह निशाचरों का राजा होगा, क्योंकि भारी वर पा चुका है। 'बिआहेसि जाई'—इसका व्याह तो घर बैठे हो गया। दोनों भाइयों का विवाह बारात सजकर उनकी ससुरालों में जाकर हुआ। वैरोचन की लड़की की लड़की (दौहित्री) वज्रज्वाला कुंभकर्ण की और शैलूष गंधर्वराज की कन्या सरमा विभीषण की स्त्री हुई।" (वाल्मी० उ० स० १२)।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। बिधिनिर्मित दुर्गम अति भारी॥५॥
सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकरचित मनिभवन अपारा॥६॥

भोगावति जसि अहि-कुल-बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥७॥
तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका। जगबिख्यात नाम तेहि लंका ॥८॥

दोहा—खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव।
कनककोट मनिखचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव ॥
हरिप्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधानुपति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल, दलसमेत बस सोइ ॥१७८॥

शब्दार्थ—त्रिकूट=तीन शिखरोंवाला पर्वत—इसका एक शिखर सुन्दर नाम का था, जिसपर अशोक-वाटिका थी, दूसरा सुवेल था। यह युद्ध का मैदान था। मध्य का शिखर नीलवर्ण था। उसका नाम निकुंभिला था, जिसपर ३० योजन चौड़ी और १०० योजन लंबी लंका नगरी बसी थी। मँझारो=बीच में। निर्मित=रचा हुआ। दुर्गम=जिसमें दुःख से किसी की पहुँच हो। बंका=टेढ़ा, सुन्दर।

अर्थ—समुद्र के बीच में ब्रह्मा का रचा हुआ, अत्यंत भारी और दुर्गम त्रिकूट पर्वत था ॥५॥ उसीको मय दानव ने फिर से सजाया, उसमें मणि-जटित सोने के अनगिनत महल थे ॥६॥ जैसी नागकुल के रहने की भोगावती पुरी और इन्द्र का निवासस्थल अमरावती है ॥७॥ उनसे भी यह अधिक सुंदर और अत्यन्त बाँका (टेढ़ा) था। उसका संसार-प्रसिद्ध नाम लंका था ॥८॥ जिसके चारों ओर बड़े गहरे समुद्र की खाई फिरी हुई थी। मणि-जटित सोने का दृढ़ किला था, जिसकी बनावट कही नहीं जा सकती ॥ भगवान् की प्रेरणा से जिस कल्प में जो शूर-वीर, प्रतापी, अतुलित बली निशाचरपति होता है, वही सेना समेत उसमें बसता है ॥१७८॥

विशेष—'दुर्गम अति भारी'—यथा—"देवदानवयक्षाणां गंधर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लंकां रावणेन सुररक्षिताम् ॥" (वाल्मी० यु० स० १४); "शकुनैरपि दुष्प्राप्ये।" (वाल्मी० उ० स० ५।२४)। भोगावती पाताल में और अमरावती स्वर्ग में है।

'बस सोइ'—कहा जाता है कि त्रिकूट पर्वत हड्डी पर है। अतः, देवता उसपर नहीं रहते। यह भी कहा जाता है कि एक बार बल-परीक्षा के लिये गरुड़ और पवनदेव में सुमेरु पर विवाद हुआ। वायु के प्रचंड झोंके से सुमेरु का एक शिखर—जिसका नाम त्रिकूट था—टूटकर समुद्र में आ गिरा। उसीपर असुरों के लिये लंका-नगरी का निर्माण हुआ था।

रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे ॥१॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥२॥
दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥३॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई ॥४॥

अर्थ—वहाँ भारी-भारी निशाचर योद्धा रहते थे, उन सबको देवताओं ने युद्ध में मार डाला ॥१॥

अब वहाँ इन्द्र की प्रेरणा से कुबेर के एक करोड़ रक्षक रहते हैं ॥२॥ कहीं दशानन (रावण) ने यह खबर पाई तो सेना सजाकर उसने किले (लंका) को जा घेरा ॥३॥ बड़े विकट योद्धा और भारी सेना देखकर यक्ष अपने प्राण लेकर भाग गये ॥४॥

विशेष—'रहे तहाँ निसिचर भट···'—पहले इसमें सुकेश के पुत्र माल्यवान्, सुमाली और माली रहते थे। विष्णु भगवान् ने देवताओं की रक्षा करते हुए उन्हें परास्त किया था। (वा० उ०)। 'अब तहँ रहहिं···'—फिर पिता की आज्ञा से कुबेर उसमें रहने लगे थे, जिनके मालिक इन्द्र हैं। 'दसमुख कतहुँ खबरि···'—वाल्मीकीय उ० स० ११ में कथा है कि रावण के वर पाने पर उसके नाना माल्यवान् और मामा प्रहस्त आदि ने उक्त समाचार कहा है।

फिरि सब नगर दसानन देखा। गयेउ सोच सुख भयेउ बिसेखा ॥५॥
सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥६॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हें। सुखी सकल रजनीचर कीन्हें ॥७॥
एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पकजान जीति लै आवा ॥८॥

दोहा—कौतुक ही कैलास पुनि, लीन्हसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहुबल, चला बहुत सुख पाइ ॥१७९॥

अर्थ—रावण ने घूम-फिरकर सारा नगर देखा, तब चिन्ता मिट गई और वह विशेष सुखी हुआ ॥५॥ स्वाभाविक सुंदर और अगम विचार कर यहाँ रावण ने अपनी राजधानी बनाई ॥६॥ जिसके योग्य जो मकान थे, वैसे उनमें बाँट दिये और सब निशाचरों को सुखी किया ॥७॥ (रावण ने) एक समय कुबेर पर धावा किया और उनका पुष्पक विमान जीत लाया ॥८॥ फिर उसने खेल ही में जाकर कैलाश पर्वत को उठा लिया, मानों अपनी भुजाओं के बल को तौलकर बहुत प्रसन्न होता हुआ चला ॥१७९॥

विशेष—'अगम अनुमानी'—उपर्युक्त दुर्गमता आदि से अगम्य समझा। इसपर विश्वास था, तभी तो श्री रामजी के द्वारा पुल बँधना सुनते ही घबराकर दसों मुखों से एक साथ ही बोल उठा। लं० दो० ५ देखिये।

'जेहि जसजोग'—श्रीविभीषणजी ने अपने योग्य घर पाया था, यथा—"भवन एक पुनि दीख···" (सुं० दो० ५)।

'एक बार कुबेर पर···' कुबेरजी विश्रवा मुनि के पुत्र हैं। तपोबल से ये चौथे लोकपाल हुए। ये इन्द्र की नवों निधियों के स्वामी, यक्षों के राजा और उत्तर दिशा के अधिष्ठातृ देवता तथा धन-मात्र के स्वामी माने जाते हैं। इनकी राजधानी अलकापुरी है। ये बड़े तेजस्वी हैं। इनके एक आँख, तीन पैर और आठ दाँत हैं। 'पुष्पकयान'—यह विमान कुबेर का है। वाल्मी० उत्तर० सर्ग ३।१९ के अनुसार ब्रह्मा ने इन्हें दिया है। वाल्मी० सुं० स० ७-८-९ में इसका विशद वर्णन है। यह विमान सुंदर बहुमूल्य मणियों और तपे हुए सोने से बना था। यह मनोगामी और आकाश में उड़नेवाला था। हजारों आकाशचारी राक्षस (ड्राइवर) इस विमान को चलाते थे। इसमें अच्छे अच्छे बैठने और सोने के स्थान बने थे। जालीदार खिड़कियाँ बनी थीं। इसमें गाने बजाने के भी सामान थे। इसपर चढ़ने के लिये सोने की सीढ़ियाँ बनी थीं और झंडे लगे

थे। चंदन की सुगंधि से यह विमान गमगमा रहा था। यह विमान अच्छे विशाल भवन में रक्खा रहता था। ब्रह्माजी ने कुबेर से कहा था कि इसी विमान से तुम्हें देवत्व प्राप्त होगा। इसका रंग हंस की भाँति उज्ज्वल था, पर रत्नों की प्रभा से यह उगते हुए सूर्य के समान लाल देख पड़ता था।

'कौतुक ही कैलास'''—पुष्पक जीतने पर उसपर चढ़कर रावण कैलाश होकर जाना चाहता था, नंदीश्वर ने इसे वहाँ रोका। इसपर इसने क्रुद्ध होकर कैलाश पर्वत को ही उठा लिया। तब इसे विश्वास हो गया कि मेरी भुजाओं में अतुल बल है—मेरा सामना कोई नहीं कर सकता, यथा—"निज भुजबल अति अतुल कहाँ क्यों कदुंक लौं कैलास उठायो।" (गी० लं० ३)

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥१॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥२॥
अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहँ नहि प्रतिभट जगजाता ॥३॥
करइ पान सोवइ षट मासा। जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ॥४॥
जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥५॥
समरधीर नहि जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना ॥६॥
बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू ॥७॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई ॥८॥

दोहा—कुमुख, अकंपन, कुलिसरद, धूमकेतु, अतिकाय।
एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

शब्दार्थ—प्रतिलाभ = लाभ के साथ। प्रतिभट = जोड़ का योद्धा। जाता = जन्मा। तिहूँ पुर = तीनों लोक। चौपट = नष्ट। बारिदनाद = मेघनाद। लीक = गणना, रेखा। परावन = भगदड़। कुमुख = दुर्मुख।

अर्थ—सुख, संपत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, विजय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ॥१॥ ये सब नित्य नये बढ़ते जाते हैं—जैसे लाभ के साथ-साथ अधिक लोभ बढ़ता है ॥२॥ उसका भाई अत्यन्त बली कुंभकर्ण ऐसा था कि जगत् में उसके जोड़ का योद्धा नहीं पैदा हुआ ॥३॥ वह मदिरा पीता और छः महीने सोता था, उसके जागते ही तीनों लोक भयभीत हो जाते थे ॥४॥ जो वह प्रत्येक दिन भोजन करता तो संसार शीघ्र ही नष्ट हो जाता ॥५॥ संग्राम में ऐसा धीर था कि वर्णन नहीं हो सकता; (लंका में) उसके समान बलवान् वीर अनगिनत थे ॥६॥ मेघनाद उस (रावण) का ज्येष्ठ पुत्र था, योद्धाओं में जिसकी गणना प्रथम थी ॥७॥ जिसके सामने लड़ाई में कोई खड़ा नहीं होता था, देवलोक में तो सदा भगदड़ ही मची रहती थी ॥८॥ दुर्मुख, अकंपन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय—ऐसे ऐसे झुंड-के-झुंड योद्धा थे जिनमें से एक-एक (प्रत्येक) अकेला ही संसार को जीत सकता था ॥१८०॥

विशेष—(१) 'सुख संपति'''जिमि प्रतिलाभ'''—सुख सम्पत्ति आदि जैसे-जैसे उसे प्राप्त होती जाती थीं, वैसे-वैसे उसे अधिक की चाह होती थी। नित्य प्रति उन्हीं के बढ़ाने में लगा रहता था; जैसे लोभी

धन के बढ़ाने में संतुष्ट नहीं होता। निन्यानवे का फेर प्रसिद्ध है। यथा—"कारत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥" (लं० दो० १०१)। लोभ के बढ़ने से अधर्म बढ़ता है, वैसे रावण का वंश बढ़ने से होगा।

(२) 'अतिबल कुंभकरन···' यह ऐसा बली था कि वानरों की सेना में अकेला आ पैठा—माया-छल से युद्ध नहीं किया और न पीछे पाँव दिये। रावण को इसके बल का बड़ा गर्व था। यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि।" (लं० दो० २७)। जब रावण सबसे हतारा हुआ, तब व्याकुल होकर इसे ही जगवाया। यथा—"ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥" (लं० दो० ६१)।

(३) 'करइ पान' यथा—"महिष खाइ करि मदिरा पाना।" (लं० दो० ६३)।

'तिहुँ पुर त्रासा'—अर्थात् न जाने किधर झुक पड़े तो साफ ही कर दे।

'समरधीर' यथा—"कोटि कोटि गिरिसिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा॥ मुर्यो न मन तनु टर्यो न टार्यो। जिमि गज अर्क फलन्हि को मार्यो॥" (लं० दो० ६४)

(४) 'तेहि सम अमित बीर···'—पूर्व कहा—'नहिं प्रतिभट जगजावा' और यहाँ उसके समान अमित वीर कहते हैं, यह विरोध क्यों? उत्तर यह है कि जगत् में अन्यत्र उसके समान न थे, लंका में तो थे ही। लड़ाई बाहरवालों से होती है, घर में नहीं।

(५) 'बारिदनाद जेठ···'—यह जन्मते ही मेघ के समान गर्जा था, इसीसे मेघनाद नाम हुआ।

'भट महँ प्रथम लीक'—वाल्मी० उ० में अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि जब आपने मेघनाद ही को जीत लिया तब रावण-वध बड़ी बात नहीं। मेघनाद प्रबल पराक्रमी और महामायावी था। इसे केवल वरदान-ही-वरदान मिले थे, शाप नहीं मिला था। यह न पहुँच जाता तो इन्द्र रावण को जीत लेते। इन्द्र को इसने जीता और इन्द्रजित् नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह काम का रूप भी कहा जाता है। यथा—"पाकारिजित काम···" (वि० ५८)। यह उस रूप में भी भटों में मुख्य है—"मारि के मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भटमाहीं।" (वि० ४)।

(६) 'एक एक जग जीति सक···'—शंका—जब एक-एक राक्षस जगत् को जीत सकता था, तब वे सब वानरों के हाथ कैसे मारे गये?

समाधान—निशाचर लोग जगत् को जीत सकते थे और वानर-भालु तो जगत् को तृण के समान गिनते एवं लड़ने में बली थे—यथा—"द्विविद मयंद नील नल,···ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥ रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहिं गिनहीं॥" (सुं० दो० ५४)।

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया॥१॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा॥२॥
सुतसमूह जन परिजन नाती। गनइ को पार निसाचर-जाती॥३॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी। बोला बचन क्रोध मद-मानी॥४॥

अर्थ—सब इच्छारूपधारी थे (जब जो रूप चाहें, बना लें) और सब (राक्षसी) माया जानते थे।

स्वप्न में भी जिनके (हृदय में) धर्म और दया न थी ॥१॥ रावण एक बार अपनी सभा में बैठा और अपने अनगिनत परिवारों को देखा ॥२॥ पुत्र, सेवक, कुटुंबी और नाती वृंद-के-वृंद थे, उन निशाचर जातियों को गिनकर कौन पार पा सकता ? ॥३॥ सेना को देखकर स्वाभाविक ही घमंडी रावण क्रोध और मद-भरे वचन कहने लगा ॥४॥

विशेष—'गनइ को पार निसाचर-जाती ।'—वाल्मीकीय उ० स० ४ में कथा है कि विद्युत्केश की स्त्री सालकटङ्कटा (संध्या की कन्या) ने गर्भ प्रसव करके मार्ग के पास छोड़ दिया था। वह रोता था, उधर से शिव-पार्वतीजी जा रहे थे। शिशु को पड़ा और रोता देखकर पार्वतीजी के दया हो आई; तब महादेव ने उस शिशु की उम्र उसकी माता के बराबर कर दी और उसे अमर बना दिया। उसे एक आकाशगामी विमान भी दिया। उसका नाम सुकेश हुआ जो माल्यवान् आदि का पिता था। उसी समय महादेवजी ने राक्षस और राक्षसी मात्र के लिये वर दिया कि वह शीघ्र ही गर्भधारण करे, शीघ्र ही प्रसव करे और नवजात बालक शीघ्र ही अपनी माता की अवस्था का हो जाय। इस प्रकार की वृद्धि में फिर इन्हें कौन गिन सकता है ?

सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुधबरूथा ॥५॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई । देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥६॥
तिन्हकर मरन एक बिधि होई । कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥७॥
द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥८॥

दोहा—छुधाछीन बलहीन सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ, भली भाँति अपनाइ ॥१८१॥

अर्थ— हे राक्षसो ! सुनो, देव-समूह हमारे शत्रु हैं ॥५॥ वे सामने लड़ाई नहीं करते, शत्रु को प्रबल देखकर भाग जाते हैं ॥६॥ उनका मरण एक ही तरह से हो सकता है, मैं उसे अब समझाकर कहता हूँ, सुनो ॥७॥ ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ, हवन, श्राद्ध—तुमलोग जाकर इन सबमें बाधा पहुँचाओ ॥८॥ भूख से दुबले, निर्बल होकर देवता सहज में ही आ मिलेंगे, तब उनको या तो मार डालूँगा अथवा भली भाँति अधीन करके छोड़ दूँगा ॥१८१॥

मेघनाद कहँ पुनि हँकरावा । दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा ॥ १ ॥
जे सुर समरधीर बलवाना । जिन्हके लरिबे कर अभिमाना ॥ २ ॥
तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी । उठि सुत पितु-अनुसासन काँधी ॥ ३ ॥
येहि बिधि सबहीं आज्ञा दीन्ही । आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥ ४ ॥
चलत दसानन डोलत अवनी । गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी ॥ ५ ॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा ॥ ६ ॥

दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये ॥ ७ ॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी। देइ देवतन्ह गारि प्रचारी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हँकराया = बुलवाया। काँधी = कंधे या सिर पर रक्खा, स्वीकार किया। स्रवहिं = गिर जाते हैं। सुरस्त्रवनी = देवताओं की स्त्रियाँ। सक्रोहा = क्रोध युक्त। तके = ढूँढ़े, जा छिपे। नाद = गर्जन।

अर्थ—फिर मेघनाद को बुलवाया, उसे शिक्षा देकर उसके बल और देवताओं के प्रति वैर को उत्तेजित किया ॥ १ ॥ जो देवता युद्ध में धीर और बलवान् हैं, जिन्हें लड़ने का अभिमान है ॥ २ ॥ उन्हें लड़ाई में जीतकर बाँध लाना। पुत्र ने उठकर पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया ॥३॥ इसी तरह सभी को आज्ञा दी और स्वयं गदा लेकर चला ॥४॥ रावण के चलने से पृथिवी हिलती है और उसके गर्जने से देव-स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं ॥५॥ रावण को क्रोध-युक्त आता हुआ सुनकर देवतागण सुमेरु पर्वत की कंदराएँ ढूँढ़ने लगे (उनमें जा छिपे) ॥६॥ लोकपालों के सब सुन्दर लोकों को रावण ने खाली पाया ॥७॥ बार-बार सिंह की तरह भारी गर्जन करके देवताओं को ललकार-ललकारकर गाली देता था ॥८॥

विशेष—(१) '*दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा*।'—*प्रथम युद्ध-नीति की शिक्षा दी*। साम, दाम, भेद और दंड—ये नीति के चारो भेद समझाये। व्यूहरचना और उनके तोड़ने के उपाय बतलाये। पुनः यह भी कहा कि शत्रु को छोटा न जाने और न छोड़े; नहीं तो कभी वह शत्रु के द्वारा स्वयं नष्ट हो सकता है।

'बैर बढ़ावा'—सुर और असुर का वैर सदा से है। देवता छली होते हैं। छल से ही अमृत पीकर अमर हो गये। फिर लंका प्राचीन काल से हमीलोगों की थी; धात पाकर देवताओं ने ही छीन लिया था, इत्यादि।

(२) 'चलत दसानन डोलत अवनी'—इसने कैलाश पर्वत को गेंद की तरह उठा लिया तो इसके चलने से पृथिवी का डोलना भी संभव है। यथा—"जासु चलत डोल इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघुतरनी ॥" (लं० दो० २४); पुन: यथा—"परम सभीत धरा अकुलानी ॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही ॥" (दो० १८३)।

'गर्जत'''सुरस्त्रवनी'—इसका प्रतिफल भी राक्षसों को हनुमानजी के द्वारा मिला है। यथा—"चलत महा धुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचरनारी ॥" (सुं० दो० २७)

रन-मद-मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा ॥ ९ ॥
रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥१०॥
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा ॥११॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दस-मुख-बसवर्त्ती नरनारी ॥१२॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥१३॥

दोहा—भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि रावन, राज करइ निज मंत्र ॥

देव - जच्छ - गंधर्व - नर, किन्नर - नाग - कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहु-बल, बहु सुंदर बर नारि ॥१८२॥

शब्दार्थ—धनधारी = कुबेर । अधिकारी = जिन्हें लोक-शासन का अधिकार है, लोकपाल । मंडलीकमनि = सार्वभौम सम्राट् ।

अर्थ—लड़ाई के मद में मतवाला वह संसार-भर में दौड़ा फिरता था, पर अपने जोड़ का योद्धा कहीं नहीं पाता था ॥९॥ सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यमराज—इन सब लोकाधिकारियों और किन्नर, सिद्ध, मनुष्य, देवता और नाग—सभी के पीछे हठपूर्वक पड़ गया ॥१०-११॥ ब्रह्मा की सृष्टि में जहाँ तक देहधारी स्त्री-पुरुष थे, वे सब रावण के आज्ञाकारी (वश) थे ॥१२॥ सब डर के मारे उसकी आज्ञा का पालन करते थे और नित्य विनीत भाव से आकर उसके चरणों में प्रणाम करते थे ॥१३॥ अपनी भुजाओं के बल से जगत्-भर को वश में करके किसी को भी स्वतंत्र नहीं रहने दिया । सार्वभौम सम्राट रावण अपनी मति (इच्छा—नियम) के अनुसार राज्य करता था ॥ देवता, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य, किन्नर और नाग की कन्याओं को एवं और भी बहुत श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्रियों को अपने बाहु-बल से जीतकर ब्याह लिया ॥१८२॥

विशेष—(१) 'रवि ससि पवन···'—ये आठो लोकपाल हैं । अन्यत्र काल की जगह इन्द्र का नाम मिलता है ।

(२) 'पंथहि लागा'—अर्थात् कोई अपने अधिकार के अनुसार व्यापार नहीं कर पाता था ।

(३) 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि···'—शंका—अवधेश, मिथिलेश, वालि, सहस्रार्जुन और वलि तो रावण के वशवर्त्ती न थे, फिर यहाँ रावण को विश्वविजयी कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) जब सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा और संहारकर्त्ता शिवजी भी उसके वश में थे एवं सब लोकपाल हाथ जोड़े खड़े रहते थे तब बीच के इने-गिने वशवर्त्ती न भी पाये जायँ तो क्या ? इनलोगों ने उसे वश भी तो नहीं किया । यथा—"बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं । दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावैं ।।" (क० उ० २); "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ।।" (सुं० दो० ११) । देवताओं की अपेक्षा मनुष्य-वानर युद्ध में बहुत तुच्छ हैं, इसीसे तो रावण ने वर माँगने में इन्हें छोड़ दिया था, यथा—"अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः ।" (वाल्मी० बा० स० १६।६) । (ख) साहित्य की रीति है कि जिस समय जिसका उत्कर्ष कहा जाता है, उसके साथ ही अपकर्ष नहीं कहा जाता । इसका दो-चार जगहों का जो थोड़ा अपकर्ष है, वह अंगद-रावण-संवाद में कह देंगे । वाल्मीकीय उ० में भी श्रीरामजी के पूछने पर अगस्त्यजी ने अपकर्ष की रावण की बातें अलग कही हैं। सामान्य रीति से तो यह विश्व-विजयी था ही । 'मंडलीक'—१२ राजाओं के ऊपर कहाता है, 'मनि' से उनका भी स्वामी अर्थात् जगत्-सम्राट् ही अर्थ होगा ।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ । सो सब जनु पहिलेहि करि रहेऊ ॥१॥
प्रथमहिं जिन कहँ आयसु दीन्हा । तिन्हकर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥२॥
देखत भीमरूप सब पापी । निसिचर-निकर देव-परितापी ॥३॥

करहिं उपद्रव असुर - निकाया । नानारूप धरहिं करि माया ॥४॥
जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला । सो सब करहिं वेद-प्रतिकूला ॥५॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाँव पुर आगि लगावहिं ॥६॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव विप्र गुरु मान न कोई ॥७॥
नहिं हरिभगति जज्ञ तप ज्ञाना । सपनेहुँ सुनिय न वेद पुराना ॥८॥

अर्थ—मेघनाद से जो कुछ कहा गया, उन सबको मानों उसने पहले ही से कर रक्खा था ॥१॥ जिन्हें सबसे पहले आज्ञा दी थी, उन्होंने जो चरित किये, उन्हें सुनो ॥२॥ देवताओं को दुःख देनेवाले निशाचर वृन्द देखने में भयंकर और पापी थे ॥३॥ वे असुर-समूह उपद्रव करते थे और माया से अनेक रूप धारण करते थे ॥४॥ जिस प्रकार से धर्म निर्मूल हो जावे, वे ही सब वेद विरुद्ध उपाय करते थे ॥५॥ जिस-जिस देश में गायों और ब्राह्मणों को पाते थे, उस-उस नगर, गाँव और पुर में आग लगा देते थे ॥६॥ शुभ आचरण (विप्र-भोजन, यज्ञ, दान आदि) कहीं भी नहीं होते थे। देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं को कोई नहीं मानता था ॥७॥ स्वप्न में भी हरिभक्ति, यज्ञ, तप, ज्ञान नहीं होते और न वेद-पुराण ही सुनने में आते थे ॥८॥

विशेष—(१) 'इन्द्रजीत सन जो'''—मेघनाद को जैसे ही आज्ञा मिली, वह इतना शीघ्र इन्द्र को जीत लाया कि मानों उसने प्रथम ही से जीत रक्खा था। लाकर दिखा दिया, इसीसे यहीं पर उसका 'इन्द्रजित्' नाम दिया गया।

(२) 'नगर गाँव पुर'—गाँव से बड़ा पुर होता है और उससे बड़ा नगर। एक भी ब्राह्मण या गाय के छिपा होने का संदेह हो तो छोटे-बड़े नगर-गाँव आदि नहीं बचने देते, सबमें आग लगा देते थे।

छंद—जप जोग बिरागा तप मखभागा श्रवन सुनइ दससीसा ।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना ॥

सोरठा—बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहि कवन मिति ॥१८३॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट पर - धन पर - दारा ॥१॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥२॥
जिन्हके यह आचरन भवानी । ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥३॥

शब्दार्थ—घालै सीसा = नष्ट कर डालता, यथा—"छेदि के बल घालेहि बन खीसा।" (सु० दो० २०)।

अर्थ—जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञ में देवताओं का भाग (जैसे ही) रावण कानों से सुन पाता। (वैसे ही वह) स्वयं उठ दौड़ता, कुछ भी न रहने पाता, सबको नष्ट कर डालता था॥ ऐसा भ्रष्ट आचरण संसार में हो गया कि धर्म तो कानों से सुनने में नहीं आता था। जो कोई वेद-पुराण कहता, उसे बहुत प्रकार से डरवाता और देश से निकाल देता था॥ घोर निशाचरगण जो अन्याय करते थे उनका वर्णन नहीं हो सकता। हिंसा पर जिनकी अत्यन्त प्रीति है, उनके पापों की कौन सीमा? ॥१८३॥ बहुत दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़े, जो पराये धन और पराई स्त्रियों के कामुक रहते हैं ॥१॥ माता, पिता और देवता किसी को नहीं मानते और साधुओं से सेवा करवाते हैं ॥२॥ हे भवानी! जिनके ऐसे आचरण हैं उन सब प्राणियों को निशाचर ही के समान समझो ॥३॥

विशेष—'छंद'—यह चौपइया छंद है, इसके प्रत्येक चरण में ३०-३० मात्राएँ होती हैं तथा १०, ८, १२ वीं मात्राओं पर विराम होता है। यथा—'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला · ' " (दो० १९१)।

'हिंसा', यथा—"पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।" (उ० दो० ४०)।

'ते जानहु निसिचर सम प्रानी।'—उपर्युक्त आचरण उन निशाचरों के स्वाभाविक थे, पर अन्य किसी भी जाति या देश के प्राणी ऐसे आचरण करें, तो वे भी निशाचरों के समान ही हैं।

अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी ॥४॥
गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥५॥
सकल धरम देखइ बिपरीता। कहि न सकइ रावन-भय-भीता ॥६॥
धेनु-रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर-मुनि-झारी ॥७॥
निज संताप सुनायेसि रोई। काहू ते कछु काज न होई ॥८॥

छंद—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
सँग गो-तनु-धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जाकरि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई ॥

सोरठा—धरनि धरहि मन धीर, कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहि दारुन बिपति ॥१८४॥

शब्दार्थ—ग्लानी = खेद, खिन्नता। धरा = पृथिवी। झारी = सब। पीर = पीड़ा, दुख।

अर्थ—धर्म की अत्यन्त खिन्नता देखकर पृथिवी परम भयभीत और व्याकुल हो गई ॥४॥ (हृदय में विचारने लगी कि) मुझे पर्वत, नदी और समुद्र का वैसा भारी बोझ नहीं लगता, जैसा एक परद्रोही

भारी लगता है ॥ ५ ॥ वह सब धर्म उल्टे देख रही है, पर रावण के डर से डरी हुई कुछ कह नहीं सकती ॥६॥ हृदय में विचार कर, गाय का रूप धरकर, वहाँ गई, जहाँ सब देवता और मुनि थे ॥७॥ अपना दुखड़ा रोकर सुनाया, पर किसी से कुछ काम न हुआ ॥८॥ सुर, मुनि और गंधर्व—सब मिलकर ब्रह्मलोक को गये। भय और शोक से परम व्याकुल बेचारी पृथिवी भी गाय का रूप धारण किये साथ थी॥ ब्रह्माजी सब जान गये और मन में विचार कर कहा कि इसमें मेरा कुछ वश नहीं चलेगा। जिसकी तू दासी है, वह अविनाशी है, वही हमारा और तुम्हारा सहायक है। फिर ब्रह्माजी ने कहा कि हे पृथिवी! मन में धैर्य धारण करो और भगवान् के चरणों का स्मरण करो, वे प्रभु अपने दासों की पीड़ा को जानते हैं, अतः, इस कठिन विपत्ति को दूर करेंगे ॥१८४॥

विशेष—(१) 'धरा अकुलानी'—क्योंकि पापियों का बोझ धारण करने में असमर्थ है। अतः, 'धरा' नाम दिया। 'धेनु रूप'—गाय दीनता-द्योतक और सभी की दया का पात्र है। 'गई तहाँ'—सुमेरु पर्वत पर गई, क्योंकि वहीं सब छिपे थे, यथा—"देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा।" (दो० १८१)

'गे बिरंचि के लोका'- क्योंकि सृष्टि ब्रह्मा ही की रची हुई है और रावण को वर भी इन्होंने दिये हैं, उसी से भय है और धर्म हानि का शोक है। वे कुछ प्रबंध करेंगे ही। 'मोर कछू न बसाई' वर तो देही चुके, अब मेरा भी कुछ वश नहीं, नित्य उसके यहाँ वेद सुनाने के लिये जाना पड़ता है। 'हमरेउ तोर सहाई'—हमारी भी पराधीनता छुड़ावेंगे और मेरे वरदान की रक्षा करते हुए, तेरी भी रक्षा करेंगे।

'सो अविनासी'—भाव यह कि किसी भी नाशवान् व्यक्ति के द्वारा वह न मरेगा, प्रभु अविनाशी हैं, वे ही नर-शरीर धारण कर मारेंगे, तब हम सबके दु:ख दूर होंगे।

(२) 'धरनि धरहि मन ...'—पृथिवी परम व्याकुल थी, अत. धीर धरने को कहा और हरि-स्मरण भी करने के लिये उपदेश दिया, क्योंकि भय-शोक के हरनेवाले हरि ही हैं, यथा—"कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवकसुखदाता॥" (सु० दो० १४), अर्थात् धीर धरना और हरि-स्मरण ये ही दुःख नाश के उपाय हैं। दुःख हरने के संबंध से 'हरि' और विपत्ति-भंजन के सम्बन्ध से 'प्रभु' अर्थात् समर्थ विशेषण उपयुक्त हैं।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा ॥१॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ॥२॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥३॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेउँ। अवसर पाइ बचन एक कहेउँ ॥४॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥५॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥६॥
अग-जग-मय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥७॥
मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥८॥

शब्दार्थ—पुकारा = दुःख सुनावें। दिसि-बिदिसहु = चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ तथा ऊपर और नीचा—

ये सब मिलाकर दस दिशाएँ होती हैं। अग = स्थावर। जग = जंगम। बिरागी = ममता-रहित। साधु साधु (अव्यय) = ठीक है-ठीक है, धन्य-धन्य।

अर्थ—सब देवता बैठे हुए विचार करते हैं कि प्रभु को कहाँ पावें और कहाँ पुकार करें ? ॥१॥ कोई तो वैकुंठ जाने को कहता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीरसागर में बसते हैं ॥२॥ जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति है, प्रभु उसी प्रकार से उसके लिये सदा वहीं प्रकट हो जाते हैं ॥३॥ हे गिरिजे ! उस समाज में मैं भी था, अवसर पाकर मैंने भी एक बात कही ॥४॥ कि भगवान् सब जगह एक समान व्याप्त हैं, वे प्रेम से प्रकट होते हैं, यह मैं जानता हूँ ॥५॥ कहिये तो, वह कौन देश, काल, दिशा और विदिशा है, जहाँ प्रभु न हों ? ॥६॥ वे स्थावर-जंगम-मय हैं और सबसे पृथक् एवं रागरहित हैं, वे प्रभु प्रेम से ऐसे प्रकट हो जाते हैं, जैसे (लकड़ी से) अग्नि ॥७॥ मेरा वचन सबके मन में ठीक जँचा और ब्रह्माजी ने साधु-साधु कहकर प्रशंसा की ॥८॥

विशेष—'बैठे सुर सब करहिं''''—जय-विजय को शाप वैकुंठ में हुआ था और वृन्दा ने भी वैकुंठाधीश को ही शाप दिया था, इन प्रमाणों से कितनों का मत था कि वैकुंठ से ही अवतार होगा। श्रीनारदजी का शाप क्षीरशायी भगवान को हुआ है, इससे कुछ लोग कहने लगे कि वहीं से अवतार होगा। पर ब्रह्माजी मन-ही-मन विचार रहे हैं। ये जानते हैं कि अबकी बार उक्त स्थलों से अवतार न होगा, क्योंकि इनकी आयु बहुत बड़ी है, एक कल्प ही इनका दिन है, यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रांताम्...", (गीता ८।१७)। और—"कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।" (दो० १३६); अतः, ब्रह्मा ने बहुत अवतार देखे हैं, इनके एक दिन में ही देवताओं के कई जन्म हो जाते हैं। ब्रह्माजी के हार्दिक भाव को शिवजी जानते हैं, यथा—"कह विधि प्रभु तुम्ह अंतरजामी।" (दो ८७); अतः, शिवजी ने अवसर पाकर कहा, क्योंकि अवसर का वचन सार्थक होता है। यथा—"रानि राय सन अवसर पाई। ...कहब समझाई ॥" (अ० दो० २८१)। "अवसर जानि सप्तरिषि आये।" (दो० ८८); वैसे यहाँ जब देवताओं का यथार्थ मत न हुआ, तब अवसर पर शिवजी ने कहा। "हरि व्यापक...जिमि आगी" अर्थात् वे चराचर के स्वामी प्रभु सर्वत्र प्राप्त होते हैं, यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी ॥" (दो० ११८)। 'प्रेम ते प्रगट होहिं'—यथा—"जोई सुमिरै तेहि को तहँ ठाढ़े।" (क० उ० १२७) "जहँ न होहु तहँ देहु कहि।" (अ० दो०१२७)। 'जिमि आगी'—लकड़ी में अग्नि सर्वत्र व्याप्त रहता है, पर जहाँ रगड़ की विशेषता होती है, वहीं वह प्रकट होता है। यहाँ लक्षण से परात्पर श्रीरामजी का परिचय दे दिया, केवल नाम नहीं कहा, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥" (दो० ११५)। इस बात को ब्रह्माजी ही यथार्थ जान गये, अतः, साधु-साधु कहा। 'मोर बचन सबके मन माना।'—अर्थात् उक्त दोनों मतवालों को भी स्वीकार हुआ ; क्योंकि विष्णु-नारायण भी तो व्यापक हैं ही, अतः, जिस रूप का आविर्भाव होना होगा, वही होगा। यही कारण है कि आगे स्तुति में और तदनुसार आकाशवाणी में एवं प्रगट होने पर सूतिकागृह में भी उक्त दोनों मतों के लिये संतोषप्रद बातें हुई हैं और इस परम गुह्य अवतार के चरित में सबको अपने ही इष्ट का बोध हुआ है।

दोहा—सुनि बिरंचि मन हरष तनु, पुलक नयन बह नीर।

अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मतिधीर ॥१८५॥

छंद—जय जय सुरनायक जन-सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधु-सुता-प्रिय-कंता॥
पालन सुर धरनी अद्‌भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥

अर्थ—मेरे वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में हर्ष हुआ, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों से आँसू बहने लगे। सावधानता-सहित वे धीरबुद्धि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे॥१८५॥ हे देवताओं के स्वामी! भक्तों को सुख देनेवाले! शरणपाल भगवान्! आपकी जय हो, जय हो। हे गायों और ब्राह्मणों के हित करनेवाले! असुरों के शत्रु! श्रीलक्ष्मीजी के प्रिय स्वामी! आपकी जय हो॥ जो देवताओं और पृथिवी के पालन करने के लिये आश्चर्य कर्म करनेवाले हैं, जिनका भेद कोई नहीं जानता। जो स्वाभाविक कृपालु एवं दीनदयालु हैं, वे ही हम सबपर कृपा करें॥

विशेष—'मुनि बिरंचि...'—शिवजी ने कहा था—'प्रेम तें प्रगट होहिं...' इसलिये प्रथम ब्रह्माजी में प्रेम की दशा आई। परम भक्त शिवजी के वचन सुनकर प्रेम उमड़ आया। ब्रह्माजी ने ही रावण को वर दिये हैं और यहाँ सब में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने से सब के मुखिया हैं। कवि ने दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम करके ब्रह्माजी की प्रेम-विह्वलता प्रकट कर दी है। 'मन हरष' से मन, 'स्तुति करत' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म सूचित किया है, यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)। 'जय जय सुरनायक...'—जय शब्द तीन बार कहकर इसे अनन्त बार जनाया, क्योंकि तीन बहुवचन है, आदरार्थ वीप्सा भी है और प्रेमातिशय्य एवं विह्वलता का सूचक भी। आप 'सुरनायक' हैं, अतः, देवताओं के संकट हरें। 'जनसुखदायक' हैं, अतः, साधु, एवं ऋषि-मुनियों को अवतार से सुख दें। 'प्रनतपाल'—हम सब शरणागत हैं, रक्षा कीजिये। 'भगवंता'—आप षड़ैश्वर्य-पूर्ण हैं, आपके ऐश्वर्य-रूप जगत् को रावण से हानि पहुँच रही है। आप 'गोद्विज हितकारी' हैं और गो—ब्राह्मणों को रावण से दुःख है। 'असुरारी'—असुरों का नाश करना आप कैसे भूल रहे हैं? 'सिंधु सुता ..'—लक्ष्मी के पिता तीर्थपति समुद्र भी नीच रावण के संसर्ग से दुखी हैं। पुनः लक्ष्मीजी के ऐश्वर्य स्वरूप द्रव्य आदि का भी रावण के द्वारा असद्व्यय (बुरे कामों में व्यय) हो रहा है, अतः, वे भी दुखी हैं। 'अद्भुत करनी'—अखिल ब्रह्मांडमचक्र काल भी आपका भृकुटि विलास है, आप देव-पृथिवी के पालन के लिये मीन, कमठ, शूकर आदि बने, यह आश्चर्य ही है। आप—'सहज कृपाला' हैं, तब कृपा में देर क्यों? हमलोग दीन हैं, तो आपको दयालु होना ही चाहिये।

जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥

शब्दार्थ—अविगत=जो जाना न जाय, अज्ञेय। मुकुंद=विष्णु, मुक्तिदाता।

अर्थ—हे अविनाशी, घट-घट में वास करनेवाले, सबके व्यापक, परम आनंदरूप, अज्ञेय, इन्द्रियों से परे, पवित्रचरित, मायारहित, मुक्तिदाता विष्णु! आपकी जय हो, जय हो॥ जिसके लिये वैराग्यवान् मुनि-समूह मोहरहित होकर अत्यन्त अनुराग-पूर्वक रात-दिन ध्यान करते और जिनके गुण समूह गाते हैं, उन सच्चिदानंद भगवान् की जय!

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव-भय-भंजन मुनि-मन-रंजन गंजन बिपतिबरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल-सुर-जूथा॥

शब्दार्थ—उपाई=पैदा की। त्रिविध=तीन प्रकार की। चिंत=चिंतवन, स्मरण।

अर्थ—जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न कर उसे तीन प्रकार से बनाया। इस काम में दूसरा संगी एवं सहायक नहीं है। वे पापनाशक हमारी सुधि लें, हम भजन पूजन कुछ नहीं जानते॥ जो जन्म-मरण-रूप भय के नाशक, मुनियों के मन को आनंद देनेवाले और विपत्ति-जाल के नाशक हैं, हम सब देव-समूह चातुरी की बानि (प्रकृति) छोड़कर मन, वचन और कर्म से उनकी शरण में हैं॥

विशेष—(१) 'त्रिबिध बनाई'—जगत् की रचना में तीन कारण हैं—उपादान, निमित्त और सहकारी। जैसे घट बनने में मृत्तिका उपादान, कुम्हार निमित्त और दंड, चक्र, सूत आदि सहकारी कारण हैं। वेदान्त मत से जगत् के ऐसे ही तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म-चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म 'उपादान' कारण है। यथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।" (छां० ६।२।३) अर्थात् उस (ईश्वर) ने बहुभवन्—बहुत होने का संकल्प किया। इसमें संकल्पकर्तृत्व से 'निमित्त' कारण भी वही हुआ तथा उत्पत्ति आदि के साधक कारण ज्ञान शक्ति आदि छओ ऐश्वर्य भी ब्रह्म ही में रहते हैं। इससे 'सहकारी' कारण भी वे ही हैं। 'संग सहाय न दूजा'—अर्थात् उपर्युक्त तीनो कारणत्व ब्रह्म में ही हैं, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छां० ६।२।१)। इस वेद-वाक्य में एक सत्-रूप की स्थिति कही है, एक और अद्वितीय शब्द से उपादान और निमित्त भी उसीको कहा है।

सम्यक् प्रकार से आधार जानकर हमलोग आपकी ही शरण में प्राप्त हैं। 'बानी' का अर्थ आदत, स्वभाव या प्रकृति करना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति होगी, यथा—"एक बानि करुनानिधान की।" (अ० दो० ६)। 'जानिय भगति न''''''' अर्थात् हमलोग उपाय में असमर्थ हैं। शरणागति मात्र का भरोसा है।

(२) 'मन बच क्रम बानी''''—जब तक मन-वचन-कर्म की चातुरी रहती है, तब तक श्रीराम-कृपा नहीं होती। यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (दो० १६६); पुनः बालि के प्रसंग में भी—"परा बिकल महि" में शरीर का, "हृदय प्रीति मुख '''''" में मन का और "स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।" में वचन का अभिमान दूर हुआ, तो उसपर भी तुरंत कृपा हुई। यथा—"बालि-सीस परसा निज पानी। अचल करउँ तनु'''बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥" (कि० दो० ६)।

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥
भव-बारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगनगिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह॥१८६॥

अर्थ—सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि लोग—जिनको कोई नहीं जानते। जिन्हें दीन प्रिय हैं, ऐसा वेद पुकारकर कहते हैं, वे श्रीभगवान् कृपा करें॥ हे भवसागर के (मथन के लिये) मन्दराचल (रूप)! हे सब प्रकार से सुन्दर, गुणों के धाम और सुखराशि! हे नाथ! मुनि, सिद्ध और सब देवता परम भयभीत होकर आपके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हैं॥ देवताओं और पृथिवी को भयभीत जानकर और प्रेम-युक्त वचन सुनकर शोक और सदेह हरनेवाली गंभीर आकाशवाणी हुई॥१८६॥

विशेष—(१) 'सारद श्रुति सेषा ...' यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते।" (वाल्मीकीय उ० ११०।१०), "स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।" (गीता १०।१५)।

(२) 'दीन पियारे'—दो० १८ भी देखिये।

(३) 'भव-बारिधि-मंदर' अर्थात् मुमुक्षु के हृदय सिंधु के मथन में आप मंदर हैं, दैवी-आसुरी सम्पत्तियाँ मथनेवाली हैं, ११ इन्द्रियाँ और ३ अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्न रूप से प्रकट होते हैं। 'परम भयातुर... नमत'—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ..." (सुं० दो० ४३), इत्यादि रीति से अपनाइये।

स्तुति के चार छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) गर्भित हैं। पुनः प्रथम में क्षीरशायी, दूसरे-तीसरे में वैकुण्ठनाथ और चौथे छंद में साकेतविहारी के गुण-माहात्म्य का प्रत्यक्षीकरण है। विष्णु भगवान् और श्रीमन्नारायण का परात्पर श्रीरामजी से अंश-अंशी भेद होते हुए भी तत्त्वतः गुणतः अभेद है, इसीसे श्रीराम-स्तुति में भी इन दो रूपों के गुण मिश्रित हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउँ नरबेसा॥१॥
अंसन्ह सहित मनुज-अवतारा। लेहउँ दिनकर-बंस-उदारा॥२॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा॥४॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥५॥
नारद-बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥६॥

हरिहउँ सकल भूमि - गरुआई। निर्भय होहु देव - समुदाई ॥७॥

शब्दार्थ—सुरेसा = देवों के स्वामी, ब्रह्मा आदि। अंसन्ह सहित = देखिये दो० १५१ चौ० २। उदारा = श्रेष्ठ, अत्यंत दानशील। परम सक्ति = आदिशक्ति (श्रीसीताजी)।

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेशो! मत डरो, तुम्हारे लिये मैं मानव-शरीर धरूँगा ॥१॥ श्रेष्ठ सूर्यवंश में अंशों के साथ मैं मनुष्य का अवतार लूँगा ॥२॥ कश्यप और अदिति ने बड़ा भारी तप किया था, मैंने उन्हें प्रथम ही वर दिया है ॥३॥ वे दशरथ-कौशल्या-रूप से श्रीअयोध्यापुरी में राजा होकर प्रकट हुए हैं ॥४॥ रघुकुल में शिरोमणि हम चारो भाई उनके घर आकर अवतार लेंगे ॥५॥ श्रीनारदजी के सब वचन सत्य करूँगा, अपनी परम (आदि) शक्ति के साथ अवतार लूँगा ॥६॥ और पृथिवी के सब भार हरूँगा, हे देव-समूह! तुम सब निडर हो जाओ ॥७॥

विशेष—'मुनि सिद्ध···'—आकाशवाणी में मुनि और सिद्ध को प्रथम कहा, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं। 'दिनकर-बंस उदारा।'—ब्रह्माजी ने रावण-वध मनुष्य के हाथ कहा है, उसे मारने के लिये साकेत-विहारी प्राकृत मनुष्य की तरह अवतीर्ण होंगे। सूर्य-वंशी तेजस्वी और श्रेष्ठ होते आये हैं। अतः, इसमें भगवान छिप सकेंगे और उदारता आदि गुणभी इसमें ही घटित होंगे—"मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं।" (दो० ३३०)।

इस ग्रंथ में अशेषकारणपर श्रीरामजी का चरित है। इसी चरित में पार्वतीजी को मोह हुआ था। फिर उन्हीं के प्रश्नोत्तर-रूप में सम्पूर्ण कथा कही गई है। परन्तु अवतार-हेतु में तीन कल्पों के हेतु और लिखे गये, उनकी पूर्ति करके इस चौथे कल्प की कथा को मनुशतरूपा के प्रसंग से प्रारंभ किया। फिर इसी कल्प में भानु-प्रताप के रावण होने का प्रसंग भी कहा और उसी के उत्पात से ब्रह्मादि ने स्तुति की, इसपर यह आकाशवाणी हुई।

परन्तु, स्तुति करनेवालों में तीन मत रखनेवाले लोग थे। ब्रह्माजी सबकी ओर से स्तुति में नियुक्त थे। अतएव, सबके भाव लेकर स्तुति की। तदनुसार सबको संतोष देने के लिये आकाशवाणी हुई। (क) प्रथम की दो अर्द्धालियों में प्रस्तुत कल्प का प्रसंग है, क्योंकि प्रतापभानु-रावण से डरे हुए लोगों को निर्भय करना है। मनु-प्रसंग में—'इच्छामय नरबेष सँवारे' कहा गया था वही यहाँ 'नरबेषा' कहा। पुनः—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी यहाँ वैसे ही कहा है। 'मनुज-अवतारा' से मनु से जायमान होनेवाला सूचित किया है। (ख)—'कस्यप अदिति···' से—'चारिउ भाई॥' तक जलंधर और जय विजयवाले का प्रसंग है, क्योंकि इन दो के लिये अवतार वैकुंठ से कहा गया है और इनके संबंध में ही—'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता।' भी कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी कहा गया है। (ग)—'नारद-बचन सत्य···' यह क्षीरशायी के अवतारवाले कल्प का सूचक है। इस प्रकार की आकाशवाणी से तीनों प्रकार के लोगों को संतोष हुआ। इसीसे तीन बार 'अवतार' लेने के पृथक्-पृथक् शब्द भी कहे गये हैं। क्षीरशायी के कल्प में दशरथ-कौशल्या का भेद नहीं है, कश्यप-अदिति ही होते हैं, यह वैकुंठवासी के साथ कहकर जना दिया। आगे प्रकट होने के प्रसंग में भी यहाँ का-सा रहस्य रहेगा। शेष चरित सब कल्पों के एक से ही होते हैं, जैसे वृन्दा का शाप केवल वैकुंठाधीश को पाषाण (शालग्राम) होने का हुआ, परन्तु स्वरूपाभेद होने के कारण सभी विग्रह शालग्राम हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण पद्मपुराण आदि में कहे गये हैं। वैसे नारदशाप भी सब कल्प के अवतारों में ग्रहण होता है, उसीको यहाँ कहा गया है, क्योंकि उसी के अनुसार ब्रह्मा देवताओं को वानर-शरीर धरने को कहेंगे। अन्यथा नारद-वचन निकाल दें तो अन्य कल्पों में लीला ही नहीं रह जायगी। परम प्रभु ने मनु-शतरूपा से कहा था कि—"तात गये

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥
भव-बारिधि-मंदर सब विधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा ।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा ॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह ।
गगनगिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह ॥१८६॥

अर्थ—सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि लोग—जिनको कोई नहीं जानते। जिन्हें दीन प्रिय हैं, ऐसा वेद पुकारकर कहते हैं, वे श्रीभगवान् कृपा करें॥ हे भवसागर के (मथन के लिये) मन्दराचल (रूप)! हे सब प्रकार से सुन्दर, गुणों के धाम और सुखराशि! हे नाथ! मुनि, सिद्ध और सब देवता परम भयभीत होकर आपके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हैं॥ देवताओं और पृथिवी को भयभीत जानकर और प्रेम-युक्त वचन सुनकर शोक और संदेह हरनेवाली गंभीर आकाशवाणी हुई ॥१८६॥

विशेष—(१) 'सारद श्रुति सेषा ·····' यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते।" (वाल्मीकीय ड० ११०।१०); "स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।" (गीता १०।१५)।

(२) 'दीन पियारे'—दो० १८ भी देखिये।

(३) 'भव-बारिधि-मंदर' अर्थात् मुमुक्षु के हृदय-सिंधु के मंथन में आप मंदर हैं; दैवी-आसुरी सम्पत्तियाँ मथनेवाली हैं, ११ इन्द्रियाँ और ३ अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्न रूप से प्रकट होते हैं। 'परम भयातुर··· नमत'—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ·····" (सुं० दो० ४४); इत्यादि रीति से अपनाइये।

स्तुति के चार छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) गर्भित हैं। पुनः प्रथम में क्षीरशायी, दूसरे-तीसरे में वैकुंठनाथ और चौथे छंद में साकेतविहारी के गुण-माहात्म्य का प्रत्यक्षीकरण है। विष्णु भगवान और श्रीमन्नारायण का परात्पर श्रीरामजी से अंश-अंशी भेद होते हुए भी तत्त्वतः गुणतः अभेद है, इसीसे श्रीराम-स्तुति में भी इन दो रूपों के गुण मिश्रित हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउँ नरबेसा ॥१॥
अंसन्ह सहित मनुज - अवतारा। लेहउँ दिनकर - बंस - उदारा ॥२॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा ॥४॥
तिन्हके गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल-तिलक सो चारिउ भाई ॥५॥
नारद-बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्तिसमेत अवतरिहउँ ॥६॥

हरिहउँ सकल भूमि - गरुआई । निर्भय होहु देव - समुदाई ॥७॥

शब्दार्थ—सुरेसा=देवों के स्वामी, ब्रह्मा आदि । अंसन्ह सहित=देखिये दो० १५१ चौ० २ । उदारा=श्रेष्ठ, अत्यंत दानशील । परम सक्ति=आदिशक्ति (श्रीसीताजी) ।

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेशो ! मत डरो, तुम्हारे लिये मैं मानव-शरीर धरूँगा ॥१॥ श्रेष्ठ सूर्यवंश में अंशों के साथ मैं मनुष्य का अवतार लूँगा ॥२॥ कश्यप और अदिति ने बड़ा भारी तप किया था, मैंने उन्हें प्रथम ही वर दिया है ॥३॥ वे दशरथ-कौशल्या-रूप से श्रीअयोध्यापुरी में राजा होकर प्रकट हुए हैं ॥४॥ रघुकुल में शिरोमणि हम चारों भाई उनके घर जाकर अवतार लेंगे ॥५॥ श्रीनारदजी के सब वचन सत्य करूँगा, अपनी परम (आदि) शक्ति के साथ अवतार लूँगा ॥६॥ और पृथिवी के सब भार हरूँगा, हे देव-समूह ! तुम सब निडर हो जाओ ॥७॥

विशेष—'मुनि सिद्ध···'—आकाशवाणी में मुनि और सिद्ध को प्रथम कहा, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं । 'दिनकर-बंस उदारा ।'—ब्रह्माजी ने रावण-वध मनुष्य के हाथ कहा है, उसे मारने के लिये साकेत-विहारी प्राकृत मनुष्य की तरह अवतीर्ण होंगे । सूर्य-वंशी तेजस्वी और श्रेष्ठ होते आये हैं । अतः, इसमें भगवान छिप सकेंगे और उदारता आदि गुणभी इसमें ही घटित होंगे—"मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं ।" (दो० २१०) ।

इस ग्रंथ में अशेषकारणपर श्रीरामजी का चरित है। इसी चरित में पार्वतीजी को मोह हुआ था । फिर उन्हीं के प्रश्नोत्तर-रूप में सम्पूर्ण कथा कही गई है। परन्तु अवतार-हेतु में तीन कल्पों के हेतु और लिखे गये, उनकी पूर्ति करके इस चौथे कल्प की कथा को मनुशतरूपा के प्रसंग से प्रारंभ किया । फिर इसी कल्प में भानु-प्रताप के रावण होने का प्रसग भी कहा और उसी के उत्पात से ब्रह्मादि ने स्तुति की, इसपर यह आकाशवाणी हुई ।

परन्तु, स्तुति करनेवालों में तीन मत रखनेवाले लोग थे । ब्रह्माजी सबकी ओर से स्तुति में नियुक्त थे । अतएव, सबके भाव लेकर स्तुति की । तदनुसार सबको संतोष देने के लिये आकाशवाणी हुई । (क) प्रथम की दो अर्द्धालियों में प्रस्तुत कल्प का प्रसंग है, क्योंकि प्रतापभानु-रावण से डरे हुए लोगों को निर्भय करना है । मनु-प्रसंग में—'इच्छामय नरबेष सँवारे' कहा गया था वही यहाँ 'नरबेषा' कहा । पुनः—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी यहाँ वैसे ही कहा है। 'मनुज-अवतारा' से मनु से जायमान होनेवाला सूचित किया है । (ख)—'कस्यप अदिति···' से—'चारिउ भाई ॥' तक जलंधर और जय विजयवाले का प्रसंग है, क्योंकि इन दो के लिये अवतार वैकुंठ से कहा गया है और इनके संबंध में ही—'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता ।' भी कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी कहा गया है। (ग)—'नारद-बचन सत्य···' यह क्षीरशायी के अवतारवाले कल्प का सूचक है । इस प्रकार की आकाशवाणी से तीनों प्रकार के लोगों को संतोष हुआ । इसीसे तीन बार 'अवतार' लेने के पृथक्-पृथक् शब्द भी कहे गये हैं । क्षीरशायी के कल्प में दशरथ-कौशल्या का भेद नहीं है, कश्यप-अदिति ही होते हैं, यह वैकुंठवासी के साथ कहकर बता दिया । आगे प्रकट होने के प्रसंग में भी यहाँ का-सा रहस्य रहेगा । शेष चरित सब कल्पों के एक से ही होते हैं, जैसे वृन्दा का शाप केवल वैकुंठाधीश को पाषाण (शालग्राम) होने का हुआ, परन्तु स्वरूपाभेद होने के कारण सभी विग्रह शालग्राम हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण पद्मपुराण आदि में कहे गये हैं । वैसे नारदशाप भी सब कल्प के अवतारों में ग्रहण होता है, उसीको यहाँ कहा गया है, क्योंकि उसी के अनुसार ब्रह्मा देवताओं को वानर-शरीर धरने को कहेंगे । अन्यथा नारद-बचन निकाल दें तो अन्य कल्पों में लीला ही नहीं रह जायगी । परम प्रभु ने मनु-शतरूपा से कहा था कि—"तात गये

कछु काल पुनि, होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥" तो वे दूसरे कल्प का वियोग कैसे सह सकेंगे ? अतएव यह अवतार मनु संबंध का ही है। यह वाणी 'गंभीर' अर्थात् गूढ़ आशय युक्त है। अतः, सबको संतोष हुआ।

शंका—यहाँ के—'नारदवचन...' और—"मोर स्राप करि अंगीकारा ..." (बा॰ दो॰ ४०) तथा—"पुनि नारद कर मोह अपारा।" (उ॰ दो॰ ६३), को लेकर कोई सारी कथा ही नारद-शाप-कल्प की कहते हैं।

समाधान—ऊपर के दो वचनों के उत्तर तो ऊपर आ ही गये। तीसरा भुशुंडीजी का कथन गरुड़जी के प्रश्न पर है। गरुड़ के प्रश्न वहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि वे पार्वतीजी के प्रश्नों में ही आ गये हैं—"सुनु सुभ कथा भवानि, कहा भुसुंडि बखानि, सुना विहगनायक गरुड ॥" (दो॰ १२०) अर्थात् इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वहाँ कहे गये हैं, वही मैं (वहाँ सुनकर) तुमसे कहता हूँ। अतः, जैसे यहाँ अवतारहेतु के प्रसंग में नारदमोह के प्रति गिरिजा ने प्रश्न किया तो शिवजी ने विस्तार से कहा, वैसे वहाँ गरुड़जी ने भी प्रश्न किया है, तब भुशुंडीजी ने कहा है।

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥८॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥९॥

दोहा—निज लोकहिं बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि-धरि महि, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ—आकाश से हुई ब्रह्मवाणी को कानों से सुनकर देवताओं के हृदय शीतल हुए और वे शीघ्र ही लौटे ॥८॥ तब ब्रह्माजी ने पृथिवी को समझाया, वह निडर हुई और उसके जी को भरोसा हुआ ॥९॥ देवताओं को यही शिक्षा देकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये कि 'वानर-शरीर धर-धर कर तुम पृथिवी पर जाओ और भगवान् के चरणों की सेवा करो' ॥१८७॥

विशेष—'तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा।'—क्योंकि यह भय-शोक से परम विकल थी। अतः, ब्रह्मवाणी नहीं समझ सकी थी। इसे फिर से ब्रह्माजी ने कहकर समझाया। 'निज लोकहिं बिरंचि ...'—साक्षात् देवता पृथिवी पर पैर नहीं रखते, इसलिये वानर-शरीर धरकर पृथिवी पर रहना कहा। रावण ने वरदान में भी नर-वानरों को छोड़ दिया था और नारद वचन में—'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।' कहा है। अतः, वानर-शरीर धरना कहा।

प्रश्न—पूर्व लिखा गया कि भूमि सुर, मुनि आदि के साथ सुमेरु पर्वत पर गई, वहाँ से सब मिलकर ब्रह्मा के लोक को गये। वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं कहा गया, फिर यहाँ 'निज लोकहिं' में ब्रह्मा का जाना कैसे कहा गया है ?

उत्तर—(क) श्रीमद्भागवत के मत से ब्रह्मा का एक स्थान सुमेरु पर्वत के शिरोभाग पर भी है, वहाँ सभा-स्थान है। देवता लोग वहीं पुकार किया करते हैं। यहीं सब की भी गये थे। सभा-विसर्जन करके ब्रह्मा अपने सत्यलोक को गये। (ख) रावण के वरदाता ब्रह्मा और शिवजी दोनों हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो॰ १७६)। ब्रह्मलोक तक सबके जाने का प्रमाण स्पष्ट है, ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की, यथा—"मोर कछू न बसाई।" (दो॰ १८४)। तब शिवजी के यहाँ जाना

चाहिये, वहाँ भी कार्य न हो तो वैकुंठ एवं क्षीरसागर जाने की रीति है। यहाँ ब्रह्माजी के यहाँ से जाना नहीं कहा गया, पर जहाँ सबकी बैठक होकर विचार होने लगा है वहाँ शिवजी कहते हैं—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" फिर विसर्जन पर भी शिवजी का कहीं जाना नहीं कहा गया और न पहले कहीं से एवं किसी के साथ उनका आना ही कहा गया था। शिवजी ब्रह्माजी के तुल्य, किन्तु कहीं विशेष भी, माने जाते हैं; फिर उनके आने-जाने का उल्लेख न हो, यह भी असंभव है। इसका तात्पर्य यह है कि शिवजी स्वयं कथा कहते हैं। अतः, ब्रह्मादिक का अपने लोक में आना कहने में इष्ट-कथा के साथ अपनी महत्ता-सूचक घटना है। अतः, आत्मश्लाघा विचार कर नहीं कहा, प्रसंग से घटनास्थल का परिचय दिया कि वह बैठक कैलाश पर हुई। यह काव्य का एक गुण भी है। शिवजी के यहाँ प्रथम देवताओं ने अपने विचार प्रकट किये, फिर शिवजी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने विचार से निर्णय किया। उस रीति से कार्य हो गया, तब—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और—'गये देव सब निज निजधामा।' शिवजी वहीं रह गये।

गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिश्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥५॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थान को गये, पृथिवी के साथ सबके मन को विश्राम हुआ ॥१॥ जो कुछ आज्ञा ब्रह्माजी ने दी थी, उसमें देवता हर्षित हुए और देर न की ॥२॥ उन्होंने पृथिवी पर वानर-देह धारण किया। उनमें बल और प्रताप अपरिमित था ॥३॥ सब वीर हैं; पर्वत, वृक्ष, और नख ही उनके हथियार हैं। वे धीरबुद्धि भगवान् का मार्ग देख रहे हैं ॥४॥ अपनी-अपनी उत्तम सेना बनाकर जहाँ-तहाँ पर्वतों और वनों में भरे पड़े हैं ॥५॥ मैंने ये सब सुन्दर चरित कहे, अब उसे सुनो जिसे बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

विशेष—(१) 'मन कहँ बिश्रामा'—आकाशवाणी के उपक्रम में कहा था—'हरनि सोक संदेह'। शोक और संदेह मन में होता है, यहाँ 'मन कहँ बिश्रामा' कहकर शोक-संदेह की निवृत्ति दिखाई। 'भूमि सहित' क्योंकि इस उद्योग में भूमि मुख्य है। 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा'—वानर-देह निषिद्ध है, उसमें दुःख मानना और विलंब करना था, पर नहीं किया, क्योंकि—(क) 'हरिपद सेवहु जाइ' कहा गया है, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जोइ तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९५); "जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४१); "अधम सरीर राम जिन्ह पाये।" (दो० १७)। (ख) शोक-निवृत्ति का साधन है और रावण से बदला भी लिया जा सकेगा।

साक्षात् देवता अपने-अपने लोकों में रहे, उनके अंश वानर हुए, पर उनके बल प्रताप उनके अंश रूपों में पूर्ण हैं। यथा—"पवनतनय-बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। 'हरि-मारग चितवहिं' युद्ध के उत्साह से भरे हुए चाहते हैं कि कब प्रभु आवें और युद्ध हो? 'निज निज अनीक' देव-शरीर के मुखिया ने यहाँ भी मुखिया होकर अपने अनुयायियों की सेना सजाई है।

कछु काल पुनि, होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥" तो वे दूसरे कल्प का वियोग कैसे सह सकेंगे ? अतएव यह अवतार मनु संबंध का ही है। यह वाणी 'गंभीर' अर्थात् गूढ़ आशय युक्त है। अतः, सबको संतोष हुआ।

शंका—यहाँ के—'नारदवचन···' और—"मोर स्राप करि अंगीकारा···" (बा॰ दो॰ ४०) तथा—"पुनि नारद कर मोह अपारा।" (उ॰ दो॰ ६३); को लेकर कोई सारी कथा ही नारद-शाप-कल्प की कहते हैं।

समाधान—ऊपर के दो वचनों के उत्तर तो ऊपर आ ही गये। तीसरा भुशुंडीजी का कथन गरुड़जी के प्रश्न पर है। गरुड़ के प्रश्न वहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि वे पार्वतीजी के प्रश्नों में ही आ गये हैं—"सुनु सुभ कथा भवानि, कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़॥" (दो॰ १२०) अर्थात् इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वहाँ कहे गये हैं, वही मैं (वहाँ सुनकर) तुमसे कहता हूँ। अतः, जैसे यहाँ अवतार-हेतु के प्रसंग में नारदमोह के प्रति गिरिजा ने प्रश्न किया तो शिवजी ने विस्तार से कहा, वैसे वहाँ गरुड़जी ने भी प्रश्न किया है, तब भुशुंडीजी ने कहा है।

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥८॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥९॥

दोहा—निज लोकहिं बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि-धरि महि, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ—आकाश से हुई ब्रह्मवाणी को कानों से सुनकर देवताओं के हृदय शीतल हुए और वे शीघ्र ही लौटे ॥८॥ तब ब्रह्माजी ने पृथिवी को समझाया, वह निडर हुई और उसके जी को भरोसा हुआ ॥९॥ देवताओं को यही शिक्षा देकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये कि 'वानर-शरीर धर-धर कर तुम पृथिवी पर जाओ और भगवान् के चरणों की सेवा करो' ॥१८७॥

विशेष—'तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा।'—क्योंकि यह भय-शोक से परम विकल थी। अतः, ब्रह्मवाणी नहीं समझ सकी थी। इसे फिर से ब्रह्माजी ने कहकर समझाया। 'निज लोकहिं बिरंचि···'—साक्षात् देवता पृथिवी पर पैर नहीं रखते, इसलिये वानर-शरीर धरकर पृथिवी पर रहना कहा। रावण ने वरदान में भी नर-वानरों को छोड़ दिया था और नारद वचन में—'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।' कहा है। अतः, वानर-शरीर धरना कहा।

प्रश्न—पूर्व लिखा गया कि भूमि सुर, मुनि आदि के पास सुमेरु पर्वत पर गई, वहाँ से सब मिलकर ब्रह्मा के लोक को गये। वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं कहा गया, फिर यहाँ 'निज लोकहिं' में ब्रह्मा का जाना कैसे कहा गया है ?

उत्तर—(क) श्रीमद्भागवत के मत से ब्रह्मा का एक स्थान सुमेरु पर्वत के शिरोभाग पर भी है, वहाँ सभा-स्थान है। देवता लोग वहीं पुकार किया करते हैं। वहीं अब की भी गये थे। सभा-विसर्जन करके ब्रह्मा अपने सत्यलोक को गये। (ख) रावण के वरदाता ब्रह्मा और शिवजी दोनों हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो॰ १०१)। ब्रह्मलोक तक सबके जाने का प्रमाण स्पष्ट है, ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की, यथा—"मोर कछू न बसाई।" (दो॰ १८१)। तब शिवजी के यहाँ जाना

चाहिये, वहाँ भी कार्य न हो तो वैकुंठ एवं क्षीरसागर जाने की रीति है। यहाँ ब्रह्माजी के यहाँ से जाना नहीं कहा गया, पर जहाँ सबकी बैठक होकर विचार होने लगा है वहाँ शिवजी कहते हैं—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" फिर विसर्जन पर भी शिवजी का कहीं जाना नहीं कहा गया और न पहले कहीं से एवं किसी के साथ उनका आना ही कहा गया था। शिवजी ब्रह्माजी के तुल्य, किन्तु कहीं विशेष भी, माने जाते हैं; फिर उनके आने-जाने का उल्लेख न हो, यह भी असंभव है। इसका तात्पर्य यह है कि शिवजी स्वयं कथा कहते हैं। अतः, ब्रह्मादिक का अपने लोक में आना कहने में इष्ट-कथा के साथ अपनी महत्ता-सूचक घटना है। अतः, आत्मश्लाघा विचार कर नहीं कहा, प्रसंग से घटनास्थल का परिचय दिया कि वह बैठक कैलाश पर हुई। यह काव्य का एक गुण भी है। शिवजी के यहाँ प्रथम देवताओं ने अपने विचार प्रकट किये, फिर शिवजी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने विचार से निर्णय किया। उस रीति से कार्य हो गया, तब—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और—'गये देव सब निज निजधामा।' शिवजी वहीं रह गये।

गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिश्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥५॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थान को गये, पृथिवी के साथ सबके मन को विश्राम हुआ ॥१॥ जो कुछ आज्ञा ब्रह्माजी ने दी थी, उसमें देवता हर्षित हुए और देर न की ॥२॥ उन्होंने पृथिवी पर वानर-देह धारण किया। उनमें बल और प्रताप अपरिमित था ॥३॥ सब वीर हैं; पर्वत, वृक्ष, और नख ही उनके हथियार हैं। वे धीरबुद्धि भगवान् का मार्ग देख रहे हैं ॥४॥ अपनी-अपनी उत्तम सेना बनाकर जहाँ-तहाँ पर्वतों और वनों में भरे पड़े हैं ॥५॥ मैंने ये सब सुन्दर चरित कहे, अब उसे सुनो जिसे बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

विशेष—(१) 'मन कहँ बिश्रामा'—आकाशवाणी के उपक्रम में कहा था—'हरनि सोक संदेह'। शोक और संदेह मन में होता है, यहाँ 'मन कहँ विश्रामा' कहकर शोक-संदेह की निवृत्ति दिखाई। 'भूमि सहित' क्योंकि इस उद्योग मे भूमि मुख्य है। 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा'—वानर-देह निषिद्ध है, उसमें दुःख मानना और विलंब करना था, पर नहीं किया, क्योंकि—(क) 'हरिपद सेवहु जाइ' कहा गया है, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जोइ तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥" (उ० दो० ९५); "जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४१); "अधम सरीर राम जिन्ह पाये।" (दो० १०)। (ख) शोक-निवृत्ति का साधन है और रावण से बदला भी लिया जा सकेगा।

साक्षात् देवता अपने-अपने लोकों में रहे, उनके अंश वानर हुए, पर उनके बल प्रताप उनके अंश रूपों में पूर्ण हैं। यथा—"पवनतनय-बल पवन-समाना।" (कि० दो० २१)। 'हरि-मारग चितवहिं' युद्ध के उत्साह में भरे हुए चाहते हैं कि कब प्रभु आवें और युद्ध हो ? 'निज निज अनीक' देव-शरीर के मुखिया ने यहाँ भी मुखिया होकर अपने अनुयायियों की सेना सजाई है।

(२) 'यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु गिरिजा हरि-चरित सुहाये।" (दो० १२०) में है। इतने में 'अवतार-हेतु प्रकरण' कहा गया और गिरिजा के—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९) इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

'अब सो सुनहु जो बीचहि राखा'—पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति परम प्रभु का अवतार लेने का वर देना और—"तहँ करि भोग बिसाल…" से आश्वासन करना कहकर, यह प्रसंग वहीं छोड़, बीच का रावण-अवतार-प्रसंग कहने लग गये थे। उसे कहकर फिर पूर्व के छोड़े हुए प्रसंग को उठाते हैं।

अवतार-हेतु-प्रकरण समाप्त हुआ।

अवतार और बालचरित

अवधपुरी रघुकुल - मनि - राऊ। बेद - बिदित तेहि दसरथ नाँऊ॥७॥
धरम-धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारँगपानी॥८॥

दोहा—कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि-पद-कमल बिनीत॥१८८॥

अर्थ—श्रीअवधपुरी में रघुकुल में श्रेष्ठ दशरथ नाम के राजा हुए, जो वेद में प्रसिद्ध हैं॥७॥ वे धर्म-धुरंधर, गुणों के खजाना और ज्ञानी थे, उनके हृदय में शार्ङ्गपाणि श्रीरामजी की भक्ति थी और उनकी बुद्धि उन्हीं में लगी रहती थी॥८॥ उनकी कौशल्या आदि सब प्यारी स्त्रियों के आचरण पवित्र थे। वे पति की आज्ञाकारिणी थीं और पति में दृढ़ प्रेम करती थीं। वे भगवान् के चरण कमलों में (भी) विनम्र भाव से दृढ़ प्रेम रखती थीं॥१८८॥

विशेष—(१) 'बेद-बिदित'—यथा—"चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणीं नयन्ति।" (ऋ. २।१।११)। भूत, भविष्य और वर्तमान सब वेदों में बीजरूप से रहते हैं। पुनः अथर्व वेद की श्रीरामतापनीय उपनिषद् में भी दशरथजी प्रसिद्ध हैं।

'धरम धुरंधर' से कर्म, 'ग्यानी' से ज्ञान और 'भक्ति' से उपासना कहकर तब बुद्धि का श्रीरामजी में लगाना कहा, यथा—"सब साधन को एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों-त्यों मन-मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली १०) अर्थात् मनु शरीर का भक्ति-संस्कार बना रहा। 'सारँगपानी' यथा—"सुमिरत श्रीसारंग पानि छन में सब सोच गयो" (गी० बा० ७५)।

'कौसल्यादि नारि…'—राजा दशरथ के ७०० रानियाँ हैं, यथा—"पाँ-लागन दुलहियन्ह सिखावति सरिस सासु सत-साता।" (गी० बा० १०८)। इनमें कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी मुख्य हैं। इनमें भी कौशल्याजी प्रथम विवाहिता होने से मुख्य हैं, इसीसे इन्हें आदि कहा है। 'हरिपद'—पूर्व शतरूपा-रूप में, जिनका आराधन किया था, यथा—"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे।" (दो० १४३)। 'आचरन पुनीत' यथा—"तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी, तसि पुनीत कौसल्या देवी॥" (दो० २९४)।

एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरे सुत नाहीं॥१॥
गुरगृह गये तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला॥२॥

निज दुख सुख सब गुरहिं सुनायेउ । कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायेउ ॥३॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रिभुवन-बिदित भगत - भयहारी ॥४॥

अर्थ—एक बार राजा के मन में ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है ॥१॥ वे राजा तुरत गुरुजी के घर गये और चरणों में प्रणाम करके बहुत स्तुति की ॥२॥ पुनः अपना सारा दुःख और सुख गुरुजी को कह सुनाया, तब वसिष्ठजी ने बहुत तरह कहकर समझाया । ३॥ कि धैर्य धरो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध और भक्तों के भय हरनेवाले होंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भूपति···'—राजा का चौथापन आ पहुँचा, इससे ग्लानि हुई कि पुत्र होने का समय बीत चला । पुत्र के बिना वंश-परंपरा जा रही है, नरकों से उद्धार कौन करेगा ? फिर अब मुझे वन जाकर भगवद्भजन करना चाहिये, राज्य किसे दूँ ? यदि यों ही चल दूँ तो प्रजा के दुखी होने से राजा को नरक होता है, इत्यादि ।

(२) 'गुरु-गृह गये तुरत···'—एकाएक तीव्र ग्लानि हो उठी, क्योंकि परम प्रभु के प्रादुर्भाव का समय आ पहुँचा, इसी से शीघ्र ही 'गुरु-गृह' गये । 'बिनय बिसाला' यथा—"भानु बंस भये भूप घनेरे । ··"से—"असि असीसि राउरि जग जाना ॥" (अ० दो० २५४) तक अर्थात् जब कभी कुछ भी अशुभ रघुवंशियों पर आ पड़ा, आपही के आशीर्वाद से कल्याण हुआ है, मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिये ।

(३) 'निज दुख सुख···'– दुःख पुत्र के न होने का, सुख यह कि अयोध्या का यह ऐश्वर्य जो आपकी कृपा से प्राप्त है, उसे पुत्र के बिना कौन ग्रहण करेगा ? व्यर्थ ही जायगा । 'बहुबिधि' समझाना आगे की अर्द्धाली में कहते हैं ।

(४) 'धरहु धीर···'—तुम्हें एक ही पुत्र के लाले पड़े हैं, चार होंगे, वे भी—'त्रिभुवनविदित'—नागों को सुखी करने से पाताल में, देवताओं को सुखी करने से स्वर्ग में और धनुर्भंग आदि से इस लोक में प्रसिद्ध होंगे । यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं । सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि स नाहैं । (गी० उ० १२) । 'भगत-भयहारी'—भक्तों के भयहारी भगवान् हैं, वे ही प्रकट होंगे और शृंगी ऋषि के बुलाने एवं यज्ञ-विधि को भी कहकर समझाया । 'सुत चारी' से पूर्व जन्म का भी स्मरण कराया, यथा—"अंसन्ह सहित देह धरि ताता । करिहउँ चरित भगत-सुखदाता ॥" (दो० १५१) ।

शृंगी रिषिहिं बसिष्ठ बोलावा । पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ॥५॥
भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥६॥
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ॥७॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई । जथाजोग जेहि भाग बनाई ॥८॥

दोहा—तब अदृस्य भये पावक, सकल सभहिं समुझाइ ।
परमानंदमगन नृप, हरष न हृदय समाइ ॥१८६॥

अर्थ– वसिष्ठजी ने शृंगी ऋषि को बुलवाया और पुत्र की कामना से शुभ यज्ञ करवाया ॥५॥ मुनि ने भक्ति-सहित आहुतियाँ दीं, तब अग्निदेव हाथ में पायस लिये हुए प्रकट हुए ॥६॥ (और बोले) हे राजन् ! जो कुछ वसिष्ठजी ने हृदय में विचारा है, वह तुम्हारा सारा कार्य सिद्ध हुआ ॥७॥ यह हविष्यान्न ले जाकर जो जिस योग्य हो, उसमें वैसा भाग बनाकर बाँट दो ॥८॥ तब अग्निदेव सब सभा को समझाकर अदृश्य (अंतर्द्धान) हो गये। राजा परमानंद में मग्न हो गये, हृदय में हर्ष नहीं समाता ॥१८६॥

विशेष—(१) शृंगी ऋषि—इनके पिता का नाम विभांडक था और पितामह का नाम काश्यप। ये वन ही में पालित हुए और शरीर तथा मन से ब्रह्मचर्यनिष्ठ थे। श्री गंगा-तट पर रहते थे। एक समय अंग देश में अवर्षण हुआ। वहाँ के राजा रोमपाद ने ऋषियों से इसका उपाय पूछा; तब उन्होंने कहा कि शृंगी ऋषि यहाँ आवें, तो वर्षा होगी। बहुत सोच-विचार कर युक्ति से लाने के लिये वहाँ वेश्याएँ भेजी गईं। वे शृंगी ऋषि के आश्रम के समीप ही ठहरीं। संयोग से ऋषि वहाँ आये। इनका सुन्दर रूप देखकर उन्हें स्नेह हो आया। बातचीत कर उन्हें अपने आश्रम पर ले गये, मूल-फल देकर सत्कार किया। फिर ऋषि को भी उन वेश्याओं ने बुलाया और मोदक आदि मिष्टान्न फल कहकर दिये और यह भी कहा कि हमारे यहाँ ऐसे ही फल होते हैं। आप हमारे यहाँ चलें। शृंगी ऋषि साथ ही नौका पर चढ़कर चल दिये। इनके आते ही वर्षा हुई, राजा रोमपाद ने इनका पूजन किया और वर माँगा कि वे छल से लाये जाने पर क्रोध न करें। पुनः अपनी कन्या शान्ता इनको दी। (वाल्मी० बा० स० ९–१०)। हरिवंश के अनुसार रोमपाद ही का नाम दशरथ भी था। अयोध्या के महाराज दशरथ से नाम-साम्य के कारण इनकी बड़ी मैत्री थी। शान्ता पर दोनों राजाओं का पितृतुल्य वात्सल्य था।

(२) 'बसिष्ठ बोलावा'— श्री वाल्मीकीय बा० स० ११ में राजा दशरथ का स्वयं बुलाने के लिये जाना लिखा है और कहीं अपने बंधु-वर्ग को भेजकर बुलवाना कहा गया है, कल्प-भेद से सभी ठीक हैं। यहाँ गोस्वामीजी ने सब के मतों की रक्षा करते हुए, वसिष्ठजी का बुलवाना कहा है। गुरुजी ने जिसे उचित समझा, भेजकर बुलवा लिया।

शृंगी ऋषि इस यज्ञ के विधान में परम निपुण थे, अतः उन्हीं से यह यज्ञ कराया गया। वाल्मी० बा० स० ९–१०–११ में प्राचीन कथा भी सुमंत्र जी ने कही थी कि शृंगी ऋषि के द्वारा ही यज्ञ होगा और उससे आपके पुत्र होंगे। इसी के व्याज से राजा को अपनी मानी हुई कन्या और दामाद के दर्शन भी हुए। यह यज्ञ श्री सरयूजी के पार मनोरमा क्षेत्र में हुआ था। वसंतारंभ (चैत्र) से होने लगा, साल-भर होता रहा।

शंका—साल-भर यज्ञ हुआ, फिर रावण ने विघ्न क्यों नहीं किया ?

समाधान—श्री रामजी की इच्छानुसार ही जगत् की वृत्ति हो जाती है। जैसे श्री कृष्ण-जन्म पर पहरेदार सो गये, द्वार खुल गये, यमुना सूखकर घट गईं, इत्यादि, वैसे इस यज्ञ में महर्षि वसिष्ठ एवं शृंगी ऋषि रक्षक थे। भारी-भारी ऋषियों से रावण डरता ही था। फिर इस यज्ञ में शिव-ब्रह्मा भी आये थे और रघुवंशी राजाओं का प्रभाव भी कई बार रावण देख चुका था। इत्यादि कारणों से रावण इधर नहीं आ सका था।

(३) 'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।'—श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं अग्निदेव का प्रगट होना कहा है। वाल्मी० बा० स० १६।११–१५ में जो ब्रह्माजी के यहाँ से पुरुष आकर प्रकट हुआ, उसके लक्षण कहे गये हैं। उसने कहा है कि यह पायस देवताओं ने बनाया है, इससे पुत्र होगा।

(३) 'जो बसिष्ठ कछु हृदय'''—यह विचार अग्निदेव ने गुप्त ही कहा, क्योंकि प्रथम ही वसिष्ठजी ने राजा से—'बहु बिधि समझावा' में कह रक्खा था कि यज्ञ में अग्निदेव पायस लेकर प्रकट होंगे। इसमें से आधा कौशल्याजी को, चौथाई कैकेयीजी को और चौथाई के दो भाग करके और त्या कैकेयी के हाथों से सुमित्राजी को दिलाना।

(४) 'सकल सभहि समुझाइ'—राजा तो अग्नि का कहना वसिष्ठजी के द्वारा प्रथम से ही जानते थे, पर सभावाले सुनकर चकित हुए, तब वही बात अग्निदेव ने सभा को भी समझा दी कि इससे चार पुत्र होंगे, इत्यादि। 'परमानंदमगन नृप'- क्योंकि अग्निदेव और गुरुजी के वचन एक ही हुए और मनोरथ की सिद्धि हुई।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं॥१॥
अर्द्धभाग कौसल्यहिं दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा॥२॥
कैकेई कहँ नृप सो दयेऊ। रहेउ सो उभय भाग पुनि भयेऊ॥३॥
कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥४॥

अर्थ—राजा ने उसी समय अपनी प्यारी स्त्रियों को बुलाया। कौशल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आईं॥१॥ (पायस का) आधा भाग कौशल्याजी को दिया, (शेष) आधे के दो भाग किये॥२॥ राजा ने वह (इसमें का एक भाग) कैकेयीजी को दिया, जो बच रहा, उसके फिर दो भाग हुए॥३॥ कौशल्याजी और कैकयीजी के हाथों पर रखकर मन प्रसन्न करके दोनो भाग सुमित्राजी को दिये॥४॥

विशेष—'तहाँ चलि आईं'—अर्थात् समीप यज्ञशाला में ही तीनो रानियाँ थीं। अतः, चलकर आ गईं। 'मन प्रसन्न करि'—सुमित्राजी का मन प्रसन्न करके।

पायस-भाग-रहस्य—वसिष्ठजी ने विज्ञान-दृष्टि से निश्चित करके राजा को समझा रक्खा था, वैसा ही राजा ने किया। कौशल्याजी सबसे बड़ी हैं, इनका पुत्र राज्याधिकारी होगा, इसलिये प्रथम आधा इन्हें दिया, क्योंकि इनसे साक्षात् परम प्रभु अवतार लेंगे। शेष में तीन भाग होंगे, क्योंकि तीनो भाई श्रीरामजी के शेष (सेवक) और श्रीरामजी शेषी (सेव्य) होंगे। फिर चतुर्थ भाग कैकेयीजी को दिया गया; उससे भरतजी होंगे। इसपर व्यावहारिक दृष्टि से सुमित्राजी ने अपना अपमान समझा, क्योंकि कैकेयीजी उनसे छोटी हैं, इनसे पहले उन्हें क्यों दिया गया? तब राजा ने शेष चतुर्थ अंश के दो भाग करके कौशल्याजी और कैकेयीजी के हाथों पर धर दिया। राजा का अभिप्राय जानकर इन दोनों ने सुमित्राजी का मन प्रसन्नकर (समझा बुझाकर, कि लो, तुम्हारे दो पुत्र होंगे, इस तरह प्रसन्न कर) दिया। इस तरह राजा की ओर से लक्ष्मण-शत्रुघ्न का गर्भाधान कौशल्या और कैकेयी में ही हुआ, इसी से लक्ष्मणजी रामानुज और शत्रुघ्न भरतानुज भी कहे गये हैं और—"मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥" (लं० दो० ६०) की भी संगति होती है।

येहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी॥५॥
जा दिन ते हरि गर्भहि आये। सकल लोक सुख संपति छाये॥६॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी॥७॥

सुखजुत कछुक काल चलि गयेऊ । जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयेऊ ॥८॥

दोहा—जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल ।
चर अरु अचर हरषजुत, रामजनम सुखमूल ॥१९०॥

अर्थ—इस प्रकार सब स्त्रियाँ गर्भवती हुईं और भारी सुख के (आगम) से हृदय में हर्षित हुईं ॥५॥ जिस दिन से हरि गर्भ में आये, सब लोक सुख और सम्पत्ति से भर गये ॥६॥ महल में सब रानियाँ सुशोभित हो रही हैं (मानों) शोभा, शील और तेज की खान हैं ॥७॥ इस तरह सुखपूर्वक कुछ समय चला गया और वह अवसर आया, जिसमें प्रभु प्रकट होते हैं ॥८॥ योग, लग्न, ग्रह, दिन और तिथि—सभी अनुकूल हुए; जड़ और चेतन प्रसन्न हैं, (क्योंकि) श्रीरामजी का जन्म सुख का मूल(कारण) ही है ॥१९०॥

विशेष—(१) 'येहि विधि'—अर्थात् पिंड-विधि से, रज-वीर्य से नहीं । 'भईं' शब्द दीपदेहली है ।

(२) 'हरि गर्भहिं आये ।'—भगवान् अजन्मा हैं, उनका गर्भ में आना कैसा ? पुनः जन्म-समय में भी भगवान प्रथम किशोर अवस्था से प्रकट हुए; फिर माता की प्रार्थना से बालकरूप हुए । इसलिये यहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ वायु लिया जाता है । यथा—"वैश्वानरेऽथ हरिर्दिवाकरसमीरयो इति हेम." अर्थात् भगवान् की इच्छा पर पवनदेव उदर में गर्भाधान की प्रतीति माता आदि को कराते हैं । यथा—"तस्मादष्टमोगर्भो वायुपूर्णो बभूवह ॥" (ब्रह्मवैवर्त; कृष्णजन्म खंड) ; अर्थात् देवकी का आठवाँ गर्भ वायु से पूर्ण हुआ ।

(३) 'सोभा सील तेज की खानी ।'—तीनों रानियों में तीनों गुण पूर्ण हैं, किंतु एक-एक गुण का प्राधान्य भी भावी पुत्रों के अनुसार कहा जाता है कि क्रमशः इन तीन गुण रूप रत्नों की खान कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा हैं ; क्योंकि उनके गर्भों में शोभाधाम श्रीरामजी, शीलमय भरत और तेजोनिधान लक्ष्मण शत्रुघ्न हैं ।

(४) 'सुख-जुत कछुक काल···'—गर्भ बारह मास रहा, पर उतने समय को 'कछु काल' कहा है ; क्योंकि 'सुख जुत'—सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते ।

(५) 'जोग लगन ग्रह ···'—यहाँ (योग) आदि पाँच ही नाम देकर पञ्चांग की सभी उत्तम विधियों का अनुकूल होना सूचित किया । 'जोग' योग फलित ज्योतिष के अनुसार विष्कंभ आदि २७ माने जाते हैं, उनमें श्रीराम जन्म पर 'सुकर्मा' योग था । 'लगन' लग्न भी मेष आदि बारह हैं । उनमें कर्क लग्न था । 'ग्रह' नव हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु । इनमें प्रभु के जन्म पर—मेष का सूर्य, मकर का मंगल, तुला का शनि, कर्क का बृहस्पति और मीन का शुक्र—ये पाँच परम उच्च ग्रहों का योग हुआ, यह मंडलेश्वर योग है ।

'बार'—मंगलवार था । यथा—"नौमी भौमबार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥ जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं ।" (दो० ३४) । इसके अर्थ में पूर्व लिखा गया, वहाँ भी देखिये । तथा—"नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोदनिधान ।" (गीता० बा० २) । इसमें युक्ति से मंगल दिन भी कहा गया । जन्म-दिन कोई सोम और कोई बुध भी मानते हैं । सब मतों की रक्षा करते हुए ग्रंथकार ने इस प्रकार जनाया है । 'तिथि'—पक्षों के अनुसार तिथियाँ दो प्रकार की होती हैं—कृष्णा और शुक्ला । इनके भी पाँच भेद हैं—नंदा (१-६-११), भद्रा (२-७-१२), जया (३-८-१३), रिक्ता (४-९-१४) और पूर्णा

(४-१०-१४-३०)। नौमी रिक्ता है। यहाँ नवमी तिथि थी। चैत्र शुक्ला ९, पुनर्वसु नक्षत्र और मेष का सूर्य— ये तीनों कभी एकत्र नहीं होते। यहाँ इस योग ने पड़कर प्रभु का अघटित घटन सामर्थ्य दिखाया है।

पुनः, यथा—"मंगलमय प्रभु-जन्म समय में अति उत्तम दस योग परे। अपने अपने नाम सदृश फल दसो जनावत खरे खरे॥ रितुपति-रितु, पुनि आदि मास-मधु, शुक्ल पक्ष नित धर्म भरे। अंक अवधि नौमी, ससि-बासर, नखत-पुनर्वसु, प्रकृति-चरे॥ योग-सुकर्म, समय मध्ये दिन, रवि प्रताप जहँ अति पसरे। जयदाता अभिजित मुहूर्त वर, परम उच्च ग्रह पाँच ढरे॥ नवमि-पुनर्वसु-परस उच्च रवि, कबहुँ न तीनिउँ संग अरे। यहि ते देवरूप फलु लखिये, गाइ गाइ गुन पतित तरे॥" (रामसुधा), अर्थात् ऋतुराज और आदि मास के योग से रामजी ब्रह्मांडों के राजा और आदिपुरुष हैं। इनके उभय पक्ष (निर्गुण-सगुण एवं मातृ-पितृ) स्वच्छ हैं। अंकों की सीमा नव है, वैसे ये सबसे परे हैं। चन्द्र आह्लादकारक है, वैसे ये सबको सुखी करनेवाले हैं। (इन्होंने चंद्रवार में जन्म माना है)। रामजी सुग्रीवादि को फिर राज्य देंगे। चर (विचरणशील) प्रकृति से विश्वामित्र आदि को सुखी करेंगे। दुष्टों को दंड देकर सुकर्म का प्रचार करेंगे। मध्यान्ह के सूर्यवत् रामजी का प्रबल प्रताप संसार में प्रसरित होगा। अभिजित् के अनुसार विजयी होंगे, शेष के भाव ऊपर आगये, यह काष्ठजिह्वा स्वामी (देव) का विचार है। वाल्मीकिजी ने भी लिखा है—"ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु॥ ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥" (वाल्मी०, १।१८-६)।

'अचर हरषजुत'—अर्थात् पाँचो तत्त्व विकसित हैं यही आगे कहते हैं—"मध्य दिवस अति सीत न घामा"—इसमें घाम से तेज (अग्नि) तत्त्व, "सीतल मंद सुरभि बहु बाऊ।"—वायु, "बन कुसुमित गिरि गन मनियारा।"—पृथिवी, "सरिता मृत धारा"—जल, "गगन बिमल संकुल सुर"—आकाश। इस प्रकार पाँचो तत्त्वों की सेवा भी सूचित की।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥१॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोकबिश्रामा॥२॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ॥३॥
बन कुसुमित गिरिगन मनियारा। स्रवहिं सकल सरितामृतधारा॥४॥

शब्दार्थ—मधु=चैत। अभिजित=विजयी, इस नक्षत्र में तीन तारे सिंघाड़े के आकार में मिले होते हैं, यह मुहूर्त ठीक मध्याह्न में आता है। सुरभि=सुगंधित। बाउ=वायु। मनियारा=मणियों की खान से युक्त। यथा—"प्रगटी सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति॥" (दो० ६५)।

अर्थ—नवमी तिथि, पवित्र चैत्र का महीना, शुक्लपक्ष, भगवान् का प्यारा अभिजित् नक्षत्र॥१॥ दिन के मध्य (दोपहर) में, जब न बहुत जाड़ा था और न घाम ही, लोगों को विश्राम देनेवाला पवित्र समय था॥२॥ ठंढी, धीमी और सुगंधित हवा चल रही थी। देवता आनंदित थे और संतों के मन में उत्साह था॥३॥ वन फूले हुए थे, पहाड़ों की श्रेणियाँ मणियों की खानों से सुशोभित थीं और सब नदियाँ अमृत की धारा बहा रही थीं॥४॥

विशेष—'मधु मास पुनीता'—मेष के सूर्य का संबंध लेकर पुनीत कहा है।

'अभिजित हरिप्रीता'—यह श्रीरामजी को प्रिय है, क्योंकि वे सदा इसी मुहूर्त्त में प्रकट होते हैं।

'सतन्ह मन पाऊ'—क्योंकि जो शिव आदि के ध्यान में ही आते हैं, उनके दर्शन होंगे।

'गिरिगन मनियागर' से लोगों को धन का सुख और 'सरितामृत धारा' से अमृतोपम जल का सुख है।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना ॥५॥
गगन बिमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्ब - बरूथा ॥६॥
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी ॥७॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज-निज-सेवा ॥८॥

दोहा—सुर-समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जगनिवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक-बिश्राम ॥१९१॥

शब्दार्थ—संकुल = भरा हुआ, परिपूर्ण। बरूथ = झुंड, समाज। अखिल = निःशेष, समस्त।

अर्थ—जब ब्रह्माजी ने यह अवसर जाना, तब वे और समस्त देवता विमान साजकर चले ॥५॥ निर्मल आकाश देव-वृन्दों से भर गया, गंधर्वों के समूह गुण गाते और सुन्दर अंजलि में (फूलों को) सजाकर फूल बरसाते थे। आकाश में धमाधम नगाड़े बज रहे थे ॥६-७॥ नाग, मुनि और देवता स्तुति करते और बहुत प्रकार से अपनी-अपनी सेवा लगाते थे ॥८॥ देव वृन्द स्तुति करके अपने-अपने लोक में जा पहुँचे, सब लोकों को विश्राम देनेवाले, संसार भर में व्यापक प्रभु प्रकट हुए ॥१९१॥

विशेष—(१) 'गगन बिमल'—आकाश धूल और मेघ आदि से रहित होने के कारण निर्मल है। 'सुअंजलि साजी'—फूलों को अंजुलियों में भर-भरकर बरसाते हैं और मंगलसमय में हर्ष प्रकट करते हुए सेवा करते हैं।

(२) 'अस्तुति करहिं'''—नाग (पातालवासी), मुनि (मर्त्यलोक-वासी) और देवता (स्वर्ग-वासी) गर्भ-स्तुति करते हैं। यह रीति है कि स्तुति होने पर प्रभु प्रकट होते हैं। इसीलिये अवसर जानकर ब्रह्मा आये हैं। 'बहु बिधि'—फूल बरसाकर, नाच, गाकर और स्तुति आदि करके सेवा करते हैं।

(३) 'पहुँचे निज निज धाम'—देवता लोग स्तुति करके चले गये, क्योंकि शीघ्र ही विभव त्याग कर (विमान आदि छोड़कर) भिखारी बनकर अयोध्या में आयेंगे, निछावर लेंगे। यथा—"राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी० बा० ६)। उत्सव में शामिल होंगे। देवता भूमि में पैर नहीं देते। पुनः देवताओं को अपने-अपने रूप में आने से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होगा, तब ब्रह्मा का वरदान झूठा होगा, यथा—"प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा।" (दो० ४८)।

शंका—आगे—"देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥" (दो० १९५); कहा है। बीच में फिर देवताओं का आना नहीं कहा गया और यहाँ चले ही गये तो वे देवता कौन हैं?

समाधान—विशेष ऐश्वर्यवान् देवता चले गये, भिखारी बनकर आवेंगे, सामान्य रह गये। वे ऊपर से ही गुप्त भाव में उत्सव देखेंगे और पीछे जायँगे; क्योंकि प्रथम आने में 'सकल सुर' कहे गये हैं और यहाँ 'सुर-समूह' मात्र का जाना कहा गया है।

'जगनिवास'—से मनु-प्रसंग के—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" का स्मरण कराया है।

छंद—भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या-हितकारी।
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अद्भुतरूप विचारी॥
लोचनअभिरामा तनुघनश्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

अर्थ—कृपा के स्थान, कौशल्याजी के हित करनेवाले, दीनदयालु प्रभु प्रकट हुए। मुनियों के मन को हरनेवाले आश्चर्य रूप को विचारकर माता हर्षित हैं॥ आँखों को आनंददाता, मेघ के समान श्याम शरीरवाले, अपने आयुध भुजाओं में धारण किये (वा चारो भुजाओं में अपने आयुध लिये हुए) हैं। भूषण और वनमाल (पहने), बड़े-बड़े नेत्रों वाले, शोभा के समुद्र खरारि हैं॥

विशेष—(१) 'भये प्रगट···'—यहाँ रामजी प्रकट होने के सम्बन्ध से कृपालु कहे गये, यथा—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १११)। ब्रह्मा की स्तुति से अखिल लोक को दीन जानकर प्रभु ने दया करके अवतार लिया है। अतः, 'दीनदयाला' कहे गये। 'कौसल्याहितकारी'—क्योंकि सूतिका-गृह में प्रकट होकर यह दर्शन देना केवल कौशल्याजी को है।

'बिचारी'—पूर्व तन में कौशल्याजी को अलौकिक विवेक प्राप्त है, उसी से विचार का उदय हुआ है, जिससे अद्भुत रूप विचार करके परात्पर की स्तुति की है।

(२) 'लोचन अभिरामा' सबके नेत्रों को सुख देनेवाले श्रीरामजी; यथा—"चले लोक-लोचन-सुखदाता।" (दो० २१८); अन्यथा नेत्र-वर्णन मानने से 'नयन बिसाला' में पुनरुक्ति होगी।

'तनुघन श्यामा' के साथ 'लोचन अभिरामा' कहकर सूचित किया कि इसी श्यामता का कणमात्र श्याम पुतली नेत्रों में है, जिससे प्रकाश होता है। वे लोचन अपनी निधि को पाकर सुखी होते हैं; यथा—"कोटि भानु जो ऊगवें, तऊ उँजारु न होइ। नेकु श्याम की श्यामता, जो दृग परो न होइ॥" (बिहारी); दर्शनानंद नेत्रों से होता है। मेघ चलकर प्राप्त होते हैं, वैसे प्रभु स्वयं प्राप्त हुए।

'निज आयुध भुजचारी।'—पूर्व ब्रह्म-स्तुति और आकाशवाणी में कहा गया था कि वैकुंठाधीश और क्षीरशायी भगवान् के अवतारभूत श्रीरामरूप की निष्ठावाले भी सम्मिलित हैं। अतः, उनके संबंध की स्तुति भी की गई और उसी प्रकार आकाशवाणी से भी कहा गया; वैसे ही यहाँ भी ग्रंथकार ने श्लेषालंकार से 'भुज चारी' शब्द ही में दोनो पक्षों का अर्थ जनाया है। पूर्वोक्त तीन कल्पों में कश्यप-अदिति दशरथ कौशल्या होते हैं, उनके यहाँ जब-जब वैकुंठवासी एवं क्षीरशायी भगवान् प्रकट होते हैं, तब-तब प्रथम चतुर्भुज रूप से शंख, चक्र, गदा, पद्म - अपने इन आयुधों को लिये हुए दर्शन देते हैं। माता की स्तुति से और कहने से शिशु रूप होते हैं। पुनः, जब इस कल्प के मनु-शतरूपा दशरथ-कौशल्या होते हैं, तब आप अपने नित्य किशोर द्विभुज रूप से अपने आयुध धनुष-बाण धारण किये हुए प्रकट होते हैं। इस पक्ष में 'चारी' शब्द का अर्थ 'प्राप्त'='धारण किया है' होगा; क्योंकि 'चारी' शब्द "चर-गति भक्षणयोः" धातु से निष्पन्न होता है। गति का अर्थ प्राप्ति भी होता है। शतरूपा-शरीर में द्विभुज रूप में अनन्यता थी, वही देखा गया है। अब यदि चतुर्भुज रूप से आते, तो माता सुतीक्ष्ण की तरह व्याकुल हो उठतीं। अतः, इनके पक्ष में ऐसा ही अर्थ युक्त होगा।

(३) 'सोभासिंधु खरारी'—इसमें भी 'खरारी' शब्द श्लिष्ट है। "खर नाम का एक राक्षस पूर्व देवासुर-संग्राम में भगवान् विष्णु के हाथों मारा गया था, इससे विष्णु का नाम 'खरारि' पड़ा।" (हरिवंश) अथवा यह भी कहा जाता है कि चतुर्भुज भगवान् के सम्बन्ध में 'खरारी' का अर्थ 'खलारी' अर्थात् खलों के शत्रु होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' का अभेद भी होता है, यथा—"मिलु जरु जारि करइ सोइ छारा।" (च० दो० १६) "सरिता नस जारा।" (लं० दो० १४)। इनमें 'जल' और 'जाला' के अर्थ हैं। द्विभुज राम-रूप के सम्बन्ध में खर के शत्रु का अर्थ होता है। शोभातिशय्य दिखाने के लिये भविष्य की बात को लेकर भी कवि लोग वर्णन करते हैं, इसे भाविक अलंकार कहते हैं। खर शत्रु होते हुए भी रामजी की शोभा से मोहित हो गया, यथा—"प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।···" से—"बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥" (आ० दो० १८) तक या यों भी कहा जाता है कि कौशल्याजी को प्रभु-कृपा से अलौकिक विवेक प्राप्त है, उस दृष्टि से वे पूर्व के अवतारों के चरित जानती हैं। अतः, खर के मोहित होने को भी जानती हैं।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता।
मायागुन - ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुना-सुख-सागर सब-गुन-आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जनअनुरागी भयेउ प्रगट श्रीकंता॥
ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

शब्दार्थ—अमाना=परिमाण-रहित। भनंता=कहते हैं। श्रीकंता=श्रीसीताकांत, लक्ष्मीकांत।

अर्थ—(माता) दोनों हाथ जोड़कर बोलीं कि हे अनन्त! मैं आपकी स्तुति किस प्रकार करूँ? वेद-पुराण आपको माया, गुण और ज्ञान से परे एवं परिमाण-रहित कहते हैं॥ वेद और संत जिनको करुणा और सुख के समुद्र एवं सब गुणों के धाम कहते हैं। वे ही (आप) भक्तों पर प्रेम करनेवाले 'श्रीकंत' मेरे हित के लिये प्रकट हुए हैं॥ वेद कहते हैं कि माया के रचे हुए ब्रह्मांडों के समूह आपके एक-एक रोम (कूप) में हैं; वही (आप) मेरे गर्भ में रहे, यह हँसी की बात है—इसे सुनकर धीरों की बुद्धि भी ठिकाने न रहेगी॥ जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब प्रभु मुसकुराये, (क्योंकि) वे बहुत प्रकार के चरित किया चाहते हैं। माता को सुहावनी कथा कहकर समझाया कि जिस प्रकार उसे पुत्र का प्रेम प्राप्त हो॥

विशेष—(१) 'कह दुइ कर···माया गुन···' इन दो चरणों में निर्गुण रूप का ऐश्वर्य कहा है और—'करुना·· सो मम···' इनमें सगुण रूप-वर्णित है। 'श्री' लक्ष्मी और सीताजी का भी बोधक है। अगस्त्यसंहिता में 'श्री' को सीता-मंत्र का बीज ही कहा है। श्रीगोस्वामीजी ने तो बहुत जगह श्रीसीताजी को 'श्री' कहा है। अतः, उपर्युक्त रीति से 'श्रीकंत' से चतुर्भुज और द्विभुज दोनों रूपों का अर्थ है।

'सो मम उरवासी'''—अर्थात् जो सुनेगा, वही कहेगा कि ऐसा अपरिमित ब्रह्म कैसे कौशल्या के पेट में रहा होगा ? उनका पेट कितना बड़ा रहा होगा ? इत्यादि ज्ञानी लोग विश्वास न करेंगे, किंतु हँसी में उड़ा देंगे। वह भी जन-अनुरागी आपने अपनी कृपा से कर दिखाया। 'धीर मति थिर न रहे' यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥" (दो० ५०)।

(२) 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।'—पूर्व से प्राप्त अलौकिक ज्ञान उपज पड़ा अर्थात् बढ़ चला, तब प्रभु अर्थात् समर्थ, जो ज्ञानी को अज्ञानी और अज्ञानी को ज्ञानी करने में समर्थ हैं, वे मुसकुराये; अर्थात् हास के द्वारा इन्हें माया-मोहित किया, यथा—"माया हास'''" (लं० दो० १४)। इनका ज्ञान पलट दिया, उसका कारण कहते हैं कि बहुत तरह के चरित आप करना चाहते हैं, इससे माता को वात्सल्य का सुख देंगे, वह कथा-द्वारा समझाते हैं—

'कहि कथा सुहाई'—अर्थात् तुमने पूर्व जन्म में तप करके अमुक-अमुक वर माँगे हैं, इसीसे मैं पुत्र होकर तुम्हें वात्सल्य सुख देने को प्रकट हुआ हूँ, यह सुख प्राप्त करो।

यहाँ प्रभु ने माता पर माया डाली है, आगे दो० २०० पर रंग-पूजा प्रसंग से उसे हरेंगे, वहाँ फिर विराट् रूप दिखाकर ज्ञान देंगे। यद्यपि इनका यह उपजा हुआ ज्ञान पूर्व के वर से था, तो भी सामान्य दृष्टि से स्वकीय ज्ञान ही था। जीव का ज्ञान परिमित होता है, उससे अपरिमित ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। या तो प्रभु स्वयं ज्ञान करावें, अथवा कृपा-द्वारा सद्गुरु प्राप्त कराकर करावें, तभी वह ज्ञान यथार्थ होता है। इस मर्यादा की रक्षा के लिये भी अभी इनका ज्ञान आवृत करते (छिपा देते) हैं। आगे स्वयं कृपा करके विराट् रूप से प्रबोध करके देंगे। दो० १५० चौ० ३ भी देखिये।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजे सिसुलीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥

दोहा—बिप्र-धेनु-सुर-संत-हित, लीन्ह मनुज-अवतार।
निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया - गुन-गो-पार॥१९२॥

शब्दार्थ—डोली = फिर गई, डिग गई। सील (शील) = चरित, यथा—"शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः"

अर्थ—माता की वह बुद्धि फिर गई, तब वह फिर बोली कि हे तात! यह रूप छोड़िये और अत्यंत प्रियचरित शिशु-लीला कीजिये, (क्योंकि) इसका सुख बहुत ही अनुपम है॥ यह वचन सुनकर सुजान और देवताओं के स्वामी प्रभु बालक-रूप होकर रोने लगे। इस चरित को जो गाते हैं, वे भगवत्-पद को प्राप्त होते हैं, फिर संसार-रूपी कुँए में नहीं पड़ते॥ ब्राह्मणों, गायों, देवताओं और संतों के लिये (प्रभु ने) मनुष्य-अवतार लिया। भगवान् का तन (शरीर) माया के गुणों और इन्द्रियों से परे अपनी इच्छा से निर्माण किया हुआ है॥१९२॥

विशेष—(१) 'सिसु-लीला अति-प्रिय-सीला' यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाये॥ जिन्ह कर मन इन्हसन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता॥" (दो० २०३)। गीतावली बा० पद ७-८-९ भी देखिये। 'परम अनूपा'—"तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न बिये।" (गी० बा० ७)।

'होइ बालक सुरभूपा'—षोडश वर्ष के नित्य किशोर रूप से बालक बन गये। सामान्य देवता भी रूप बदल सकते हैं, आप तो उनके भूप हैं, देवताओं के शरीर दिव्य होते हैं, वैसे आपका शिशुरूप भी दिव्य ही है।

(२) 'सुजाना'—क्योंकि प्रभु ने माता के हृदय का पुत्र विषयक भाव जान लिया और रोने लगे। यथा—"अंतर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥" (आ० दो० ३१), तथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)।

(३) 'विप्र धेनु सुर ···'—ब्राह्मण धर्म के संस्थापक हैं। गाय के दूध, घी, दही आदि से यज्ञ, पूजन आदि होते हैं, वह बछड़े से जगत् का हित करती है। देवता पूजा लेकर जगत् की रक्षा करते हैं और संत परोपकारी होते हैं। ये सब रावण से दुखी हुए, अत, इनके हित के लिये अवतार लिया। 'धेनु' से यहाँ धेनु-रूपधारी भूमि का भी तात्पर्य है, क्योंकि वह तो अवतार-हेतु में मुख्य ही है। पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति वचन दिया था—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रकट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१)। उसी की पूर्ति यहाँ—'निज इच्छा ···' से की।

शङ्का—सामान्य लोगों के घर में भी प्रसवकाल में और स्त्रियाँ रहती हैं, पर यहाँ यह संवाद किसी ने नहीं जाना। 'सिसुरुदन' पर सब आईं, यह क्यों?

समाधान—भगवान् की लीला परम रहस्यात्मक है। जिसको भगवान् ही जनावें, वही जाने। वे विलक्षण संयोग से कोई भी कार्य कर लेते हैं, जैसे श्रीकृष्ण-जन्म पर पहरेवाले सो गये, फाटक खुल गये, इत्यादि।

सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥१॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँदमगन सकल पुरबासी॥२॥
दसरथ पुत्र-जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥३॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥४॥
जा कर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥५॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥६॥

शब्दार्थ—संभ्रम=आतुरता से, उत्कंठा-पूर्वक, यथा—"सहित सभा संभ्रम उठे, रविकुल कमल-दिनेस।" (अ० दो० २७४)।

अर्थ—बच्चे के रोने की परम प्यारी वाणी सुनकर सब रानियाँ आतुरता से वहाँ चली आईं॥१॥ दासियाँ प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़ीं, सभी पुरवासी आनंद में निमग्न हैं॥२॥ श्रीदशरथ महाराज पुत्र का जन्म कानों से सुनकर मानों ब्रह्मानंद में समा गये॥३॥ मन में परम प्रेम है, शरीर पुलक से पूर्ण है,

बुद्धि को धीर करके उठना चाहते हैं ॥४॥ जिनका नाम सुनते ही कल्याण होता है, वे ही प्रभु मेरे घर आये हैं ॥५॥ राजा ने मन में परमानंद से पूर्ण होकर (बाजे वालों को) बुलवाकर बाजा बजाने को कहा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि···चलि आईं'—रामजी के रुदन का शब्द परम गंभीर है। अतः, मधुर मेघ-गर्जन की तरह सबको निकट ही सुन पड़ा। यथा—"बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी० बा० ७१)। पूर्वोक्त 'रोदन ठाना' का प्रसंग यहाँ मिलाया।

(२) 'जहँ तहँ धाईं दासी'— आवश्यक व्यवहारियों को बुलाने के लिये दासियाँ दौड़ीं। राजा आदि प्रमुख लोगों को यह समाचार प्रथम सुनाने से पुरस्कार पावेंगी। यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥" (अ० दो० ७)। 'आनँदमगन'—अग्निदेव के वचनों से आशा थी, आज उसकी पूर्णता से आनन्द की पूर्णता हुई।

(३) 'मानहुँ ब्रह्मानंद ···'—श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं। अतः, उनके जन्म का समाचार ब्रह्मानंद-रूप ही है; पर राजा का उनमें पुत्र-भाव है। अतः, उत्प्रेक्षा की दृष्टि से कहा है। ब्रह्मानंद में देह की सुध-बुध नहीं रह जाती, वैसे ही आनंद से राजा की दशा हो गई, सब अंग शिथिल पड़ गये। 'करत मति धीरा'—प्रथम मति आनंद से अधीर हो गई थी, अब दर्शनों के लिये धीरज देते हैं। 'जाकर नाम सुनत सुभ होई'—जिनके नाम सुनाकर काशी में शिवजी जंतु मात्र को भी मुक्ति देते हैं, वे ही मेरे घर साक्षात् आये हैं। यहाँ 'सुभ' से मुक्ति का तात्पर्य है।

गुरु बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा। आये द्विजन्ह सहित नृप-द्वारा ॥७॥
अनुपम बालक देखिन्ह जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई ॥८॥

दोहा—नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥१९३॥

अर्थ—गुरु वसिष्ठजी को बुलावा गया, वे ब्राह्मणों के साथ राजा के द्वार पर आये ॥७॥ जाकर (ऐसे) बालक को देखा, जिसकी उपमा नहीं है, जो रूप की राशि है और जिसके गुण कहने से चुक नहीं सकते ॥८॥ (तब) राजा ने नान्दीमुख श्राद्ध करके जात-कर्म संस्कार के सब विधान किये और ब्राह्मणों को सोना, गायें, वस्त्र और मणियाँ दीं ॥१९३॥

विशेष—(१) 'आये द्विजन्ह सहित'—ब्राह्मण मंगलरूप हैं और इन्हें ही आगे नान्दीमुख श्राद्ध आदि में दान देना होगा। 'देखिन्ह जाई'—बाणभट्ट की कादम्बरी में भी लिखा गया है कि पुत्र-जन्म होने पर सूतिका-गृह में राजा तारापीड़ गुरु और मंत्री के साथ शिशु को देखने गये थे। यहाँ यह देखना ऐश्वर्य-दृष्टि से भी है।

'रूपरासि' यथा—"रूपरासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री॥" (गी० ब० १०४)

'गुन कहि न सिराई'—गुण का तात्पर्य यहाँ लक्षण से है, यथा—"कहहु सुता के दोष गुन"; "सब लच्छन सम्पन्न कुमारी।" (दो० ६६)। यहाँ गुण ही को लक्षण कहा है।

(२) 'नंदीमुख सराध करि···'—जीवों की सद्गति के लिये दस कर्म शास्त्रविहित हैं—गर्भाधान, सीमन्तक, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतककर्म।

इनमें विवाह पर्यन्त के आदि में आभ्युदयिक नांदी मुख श्राद्ध का अधिकार है। यह श्राद्ध मांगलिक है। जन्म पर जातकर्म होता है; अतः, उसके प्रथम यह श्राद्ध करना चाहिये। इसमें पिता को पूर्व मुख बिठाकर, वेदिका पर दूब बिछाकर और चौरीठा (चावल का चूर्ण), बेर का फल, तिल, दधि, हल्दी मिलाकर इनके नौ पिंड दिलाये जाते हैं। इससे पितर तृप्त होते हैं। फिर दक्षिणा दी जाती है। 'नान्दीमुख' का अर्थ है वह श्राद्ध जो वृद्धि के लिये किया जाय—'नान्दी वृद्ध्यर्थं मुखं यस्य'। इसके ग्रहण करने को पितृगण नाँद की तरह मुख फैलाये रहते हैं, इससे भी नाँदीमुख कहा जाता है। 'जातकर्म'—घृत और मधु मिलाकर पिता सोने के पात्र से बालक की जीभ में लगाता है। फिर कुश और जल से मंत्र-सहित बालक का प्रोक्षण (सेचन) करके उसके दाहिने कान में आचार्य तीन बार आठों कंडिकाएँ (यजुर्वेद के मंत्र) सुनाते हैं। पंच विप्र (बालक के चारों ओर चार और बीच में एक ब्राह्मण) आकर बालक के स्तनस्थल (देश), बालक और माता को अभिमंत्रित करते हैं। फिर माता अपना दाहिना स्तन धोकर नाल और बालक पर डालती है। विधिवत् घट और अग्नि स्थापन कर और गणेश आदि को पूज कर पीपल, सरसों, घृत से सात आहुतियाँ दी जाती हैं। फिर शिव-मंत्र से सूत्र बाँधकर छुरे का पूजन करके नाल काटा जाता है। (इन दोनों कर्मों का विधिवत् वर्णन बैजनाथ-टीका में है)। 'हाटक धेनु······दीन्ह'—नाल काटने के प्रथम ही दान दिया गया, क्योंकि पीछे सूतक होने पर दान का निषेध है। इसके प्रथम दान का बड़ा फल है।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥१॥
सुमन-वृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद-मगन सब लोई ॥२॥
बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाई। सहज सिँगार किये उठि धाई ॥३॥
कनक-कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा ॥४॥
करि आरती निछावरि करहीं। बार बार सिसु-चरनन्हि परहीं ॥५॥

अर्थ—नगर में ध्वजाएँ, पताकाएँ और बंदनवार छा गये; जैसी सजावट है, कहा नहीं जा सकता ॥१॥ आकाश से फूलों की वर्षा हो रही है, सब लोग ब्रह्मानंद में मग्न हैं ॥२॥ स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर चलीं, वे साधारण ही शृंगार किये हुए उठ दौड़ीं ॥३॥ सोने के कलशों और थालों में मंगल भर-भरकर गाती हुई राजा के द्वार में प्रवेश करती हैं ॥४॥ आरती करके न्योछावर करती हैं और बार-बार बच्चे के चरणों पर पड़ती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'ध्वज पताक' यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (बा॰ दो॰ ३०) अर्थात् ध्वजा चिन्ह-युक्त है और पाँच हाथ लम्बी होती है। पताका (झंडी) सात हाथ ऊँची होती है।

(२) 'बृंद बृंद मिलि चलीं······'—अपनी-अपनी टोली बाँधकर चलीं।

'सहज सिँगार······'—जो पिछड़ गईं, वे जैसे शृंगार किये बैठी थीं, वैसे ही उठ दौड़ीं कि जिससे भीड़ होने के प्रथम भीतर पहुँच जायँ, यथा—"जे जैसेहि तैसेहि उठि धावहिं।" (उ॰ दो॰ २)।

(३) 'कनक कलस मंगल······'—कलश में श्रीसरयू का जल भरा था। वह आम के पल्लव, यव एवं दीपक से सज्जित था और थाल में दल-फल आदि सजे थे, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि-भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी॥" (उ॰ दो॰ २)।

(४) 'बार बार सिसु-चरनन्हि परहीं'—अग्निदेव ने सभा को समझाया था। सभावालों ने अपने-अपने

घरों में कहा, उस ऐश्वर्य-दृष्टि से देव-भाव लेकर चरणों में पड़ती हैं। पुनः ये सब नित्य परिकर हैं, प्रभु की आज्ञा से लीला के लिये अवतरित हैं, यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी।······निज इच्छा प्रभु अवतरइ,···—सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं······" (कि० दो० २६)। अतः, जैसे विप्र-वेष मे भी श्रीहनूमानजी का शिर झुक गया, यथा—"माथ नाइ······" (कि० दो० १); वैसे यहाँ इनमें भी प्रणाम की वृत्ति हो आई।

मागध सूत बंदिगन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥६॥
सरबस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहि ताहू ॥७॥
मृग-मद-चंदन कुंकुम-कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥८॥

दोहा—गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ, नगर नारि-नर-बृंद ॥१९४॥

शब्दार्थ—मागध—ये राग-ताल में कीर्त्ति गाते हैं। सूत= पौराणिक, श्लोकों में यश वर्णन करनेवाले। बन्दी=भाट जो कवित्तों में विरद कहते हैं। गायक=कत्थक, भाँड आदि। सुषमा=अत्यंत शोभा। कंद= मूल, मेघ।

अर्थ—मागध, सूत, भाट और गवैये लोग रघुकुल के स्वामी दशरथ महाराज के पवित्र गुणों का गान करते हैं ॥६॥ सब किसी ने सर्वस्व दान दिया, जिसने पाया, उसने भी न रक्खा ॥७॥ कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम (केसर) का कीचड़ सभी गलियों के बीच-बीच में फैल गया ॥८॥ घर-घर मंगल बधाइयाँ बज रही हैं, (क्योंकि) परम शोभा के कंद (श्रीरामजी) प्रकट हुए हैं, नगर के स्त्री-पुरुषों के समूह, जहाँ देखो वहाँ ही, आनंदित हैं ॥१९४॥

विशेष—(१) 'सरबस दान दीन्ह सब काहू।······' (क) यहाँ तीन प्रकार के दान कहे गये हैं, (१) राजदान—"हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥" (दो० १९३); (२) पुरवासियों का दान—"सरबस दान ····" इसमें 'सब काहू' से पुरवासी लिये गये। (३) याचक दान—"जो पावा राखा नहिं ताहू ॥" इसमें 'जो पावा' से याचक लिये गये। (ख) सबने अपना सर्वस्व दान में लुटा दिया। जिन्होंने पाया, उन्होंने भी लुटा दिया कि जो चाहे ले, सब रत्न नगर भर में बिखरे पड़े हैं, यथा— "बगरे नगर निछावरि मनि गन जनु जुवारि जव धान।" (गी० बा० २)। अंत में धन कहाँ गया? यह प्रश्न ही व्यर्थ है अर्थात् दान की इति नहीं है। (ग) कोई-कोई बड़ी लंबी दौड़ लगाते हैं कि यहाँ सभी ने लुटाया और भिखारी बनकर देवता लेते गये, यथा—"राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेहि देखिये मानहु धनधारी।" (गी० बा० ६), "भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी ॥" इसमें देवों का प्रसंग है। उन देवता लोगों ने एक को कोटि गुने करके वर्षा की, यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई ॥" (बा० दो०१)।

(२) 'सरबस दान' यथा—"उमँगि चल्यो आनंद लोक तिहुँ देत सबन्हि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत, रामकृपा चितवनि चितये ॥" (गी० बा० ३), "पुरबासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई।" (गी० बा० १)।

(३) मृगमद चंदन'''—कस्तूरी, केसर, चन्दन आदि मिला अरगजा बनाकर महोत्सव में परस्पर छिड़कते हैं और गलियों में सींचते हैं, यथा—"बीथी सकल सुगंध सिंचाई।" (उ० दो० ८); "कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।" (गी० बा० २)।

'सुषमाकंद' क्योंकि ऊपर—"ध्वज पताक'''" से—"विषमीषा॥" तक सबकी परम शोभा कही गई है। इसकी वर्षा करनेवाले (मेघ) श्रीरामजी ही हैं, और मूल (कंद) कारण भी इनका प्रकट होना ही है।

'नारि वृंद' को प्रथम कहा गया है, क्योंकि शिशु के पास इनका प्रवेश प्रथम है।

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भईं ओऊ॥१॥
यह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा॥२॥

अर्थ—कैकेयी और सुमित्रा—इन दोनों ने भी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किये॥१॥ उस सुख, संपत्ति, समय और समाज को सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते॥२॥

विशेष—'दोऊ'—यह शब्द दीपदेहली है अर्थात् सुमित्रा ने दो पुत्र उत्पन्न किये—लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी। शत्रुघ्नजी के लिये गोस्वामीजी ने अन्यत्र स्पष्ट सुमित्रा का पुत्र कहा है। यथा—"जयति जय शत्रु करिकेसरी शत्रुहन सर्वांग सुंदर सुमित्रासुवन'''लक्ष्मणानुज" (वि० ४०), "सुमिरि सुमित्रा-नाम जग, जे तिय लेहिं सनेम। सुअन लखन रिपुदमन से, पावहिं पतिपद-प्रेम" (रामाज्ञा) 'सुंदर सुत जनमत भईं ओऊ।'—श्रीगोस्वामीजी का प्रधान मत तो यही जान पड़ता है कि चारों भाई एक ही दिन प्रकट हुए, यथा—"जनमे एक संग सब भाई।" (बा० दो० १); तथा—"पूत सपूत कौसिला जायो'''जात-कर्म करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान। तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भये मंगलमुद कल्यान॥" (गी० बा० २); "आजु महा मंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भये।" (गी० बा० ३)। पुनः मतभेद एवं कल्पभेद की दृष्टि से दो प्रकार और भी कहे हैं, यथा—"दिन दूसरे भूपभामिनि दोउ भई सुमंगलखानी।" (गी० बा० ४); इसमें दशमी को तीन पुत्रों का होना कहा है। "ज्यों आजु कालिहुँ परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये।" (गी० बा० १); इसमें दशमी को भरत और एकादशी को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म सिद्ध होता है, इसीके अनुसार तीन दिनों तक लगातार छठी हुई। वाल्मीकिजी ने भी श्रीराम-जन्म के दूसरे दिन भोर को भरतजी का और तीसरे दिन दोपहर को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म माना है। यथा—"भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः। अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ॥'''पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥" (सर्ग १८ श्लोक १२-१५)।

'यह सुख संपति समय समाजा।'—चौथेपन में एक भी पुत्र होता तो बहुत सुख होता और यहाँ तो एक साथ ही चार हुए, फिर सुख आदि का क्या कहना है? यथा—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई। सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दसदिसि कौन जतन कहौं गाई॥" (गी० बा० १); "अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समय समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं॥" (गी० बा० २)।

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती॥३॥
देखि भानु जनु मन-सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥४॥
अगरधूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥५॥

मंदिर-मनि-समूह जनु तारा। नृप-गृह-कलस सो इंदु उदारा ॥६॥
भवन-बेद-धुनि अति मृदु बानी। जनु खग-मुखर-समय जनु सानी ॥७॥

शब्दार्थ—अगर = एक सुगंधित लकड़ी, जिसके साथ लाख, चंदन, गुग्गुल आदि मिलकर धूप बनता है।

अर्थ—अवधपुरी इस तरह शोभती है मानों प्रभु से मिलने के लिये रात्रि आई है ॥३॥ सूर्य को देखकर मानों मन में सकुच गई, तो भी विचार करके संध्या बनकर यहाँ रह गई ॥४॥ अगर के बहुत-से धूप का धुआँ मानों संध्या का अँधेरा है, जो अबीर उड़ रहा है, वही उसकी ललाई है ॥५॥ राजमहल की मणियों के समूह मानों तारागण हैं, राजभवन का कलश ही उदार चन्द्रमा है ॥६॥ राजभवन में अत्यन्त कोमलवाणी से जो वेदध्वनि हो रही है, वही मानों समय से मिली हुई (समयानुसार) चिड़ियों की चहचहाट है ॥७॥

विशेष—'अवधपुरी'''जनु राती'—अवधपुरी की शोभा का वर्णन करते हुए, कवि बालरूप श्रीरामजी से अयोध्या के रात्रिरूप में मिलने का रूपक बाँधते हैं। दोपहर के समय में ही अगर-धूप, अबीर, महल में जड़ी हुई मणियाँ, महल के शिखर का कलश और वेदध्वनि आदि की शोभा उत्प्रेक्षा के विषय हैं। सुर-नर-नाग आदि की उत्सुकता देखकर अवधपुरी भी रात्रिरूप होकर मिलने चली, पर वहाँ भानुकुल-भानु को देखकर सकुच गई कि ये तो नित्य हमारी ही गोद में रहनेवाले हैं, जैसे दोपहर के सूर्य के समक्ष रात्रि सकुच जाय। फिर विचारकर बालसूर्य रूप श्रीरामजी के संयोग से संध्या बन गई। (यहाँ प्रातः संध्या समझना चाहिये)। रात्रि जीवों को विश्राम देनेवाली है, वैसे अयोध्यापुरी भी सब जीवों की विश्रामस्थली है, इसलिये तो रात्रि का रूपक बाँधा है। पर रात्रि में सुषुप्त्यवस्था होती है और अयोध्या नित्य जाग्रत अवस्था में रहती है, इसमें लोग श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से ध्यान धरते हैं। अतः, संध्या का रूपक बाँधा। वेद-ध्वनि का सायं-संध्या में अनध्याय रहता है और आगे 'पतंग भुलाना' का भी रूपक बाँधना है, इससे यहाँ प्रातः संध्या ही युक्त है, श्रीअयोध्या का अभ्युदय काल भी है।

प्रश्न—रात्रि क्यों मिलने आई, सकुचकर भी रही ही और संध्या-रूप से मिली, तो इसे क्या मिला?

उत्तर—प्रभु ने जन्म-संबंध से दिन को कृतार्थ किया, तो रात्रि सोचती है कि मुझे भी विवाह के समय ग्रहणकर कृतार्थ करें, इसे यह अभीष्ट मिला भी, यथा—"पुरी बिराजति राजति-रजनी।" (दो० ३५७)। 'बहु अँधियारी' यथा—"धूप धूम नभ मेचक भयेऊ।" (दो० ३१६)। 'मंदिर मनि समूह'''—अरुणोदय में छोटे तारे नहीं दिखते—बड़े ही दिखते हैं, वैसे यहाँ 'मनि-समूह' अर्थात् बड़ी-बड़ी मणियाँ कही गई हैं, छोटी मुक्ताएँ नहीं। राजमहल के कलश को 'उदार' चंद्रमा कहा। जो अपना सर्वस्व देने को उद्यत हो, वह उदार है, वैसे ही प्रातःकालिक चन्द्रमा सूर्य को सर्वस्व देता है। उदार श्रेष्ठ का भी वाचक है। अतः, पूर्णिमा के चन्द्रमा का अर्थ है—यद्यपि पूर्णिमा नहीं है। 'जनु खग मुखर'''—प्रातःकालीन पक्षियों की आनंद-पूर्ण ध्वनि सुहावनी लगती है, भले ही उसका कुछ अर्थ न हो। वैसे ही वेद की ऋचाएँ अर्थ न जाननेवालों को भी प्रिय लगती हैं, यथा—"लगे पढ़न रच्छा रिचा ऋषिराज बिराजे।" (गी० बा० ६)।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइ जात न जाना ॥८॥

दोहा—मासदिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।
रथसमेत रबि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होइ ॥१९५॥

शब्दार्थ—पतंग = सूर्य। थाकेउ = ठहर गये, यह 'स्था = तिष्ठ' धातु से बना है और बंगला भाषा का शब्द है।

अर्थ—यह कौतुक देखकर सूर्य भी भूल गया। एक महीने का बीत जाना उसे न जान पड़ा ॥८॥ महीने-दिन (३० दिनों) का एक दिन हो गया, इस भेद को कोई नहीं जानता, सूर्य अपने रथ समेत ठहर गया; (तो फिर) रात किस प्रकार होती? ॥१९५॥

विशेष—'रथसमेत'—अर्थात् रथी (सूर्य), सातो घोड़े और अरुण सारथी—सभी आनंद में डूब गये, किसी को भी चेत होता, तब तो रथ चलता।

'मास दिवस कर दिवस भा'...(क) श्रीरामजन्म पर मेष का सूर्य, पुनर्वसु और शुक्ला नवमी—ये तीनों योग पड़े थे, यह सर्वसम्मत है। सामान्य दृष्टि से यह असंभव है, क्योंकि आज अमावस्या को सूर्य-चन्द्रमा एक राशि पर रहते हैं। मेष के सूर्य के सम्बन्ध से अमावस्या को अश्विनी चाहिये, अश्विनी से पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है। यह शुक्ला नवमी को नहीं पड़ सकता, किन्तु उस दिन मघा नक्षत्र पड़ेगा, जब अमावस्या को पूर्वभाद्र पद हो, तब नवमी को पुनर्वसु पड़े, पर इसमें अमावस्या के पूर्वभाद्र पद से मेष का सूर्य नहीं हो सकता था। हो सकता है कि श्रीरामजी के जन्म के समय में ग्रहों का संपात कुछ और भाँति का रहा हो और उस हिसाब से उस समय इसकी संगति लग जाती हो। कालक्रम से ग्रह-संपात में तो परिवर्त्तन होता ही रहता है।

'मरम न जानइ कोइ'—इस असामञ्जस्य को सामञ्जस्य कर देने के मर्म को कोई न जान पाया। वही जान सकता है जिसे भगवान् स्वयं जना दें। श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम 'सकल भये अनुकूल' ही कहकर छोड़ दिया था कि सर्व शक्तिमान् परमात्मा के लिये यह करना युक्त ही है। जन्म होते ही पहले सूतिका-गृह से आनन्द उमड़ा। पहले उसने राजा को डुबाया, फिर नगर को और इस प्रकार सारे संसार को आप्लावित करता हुआ सौरमंडल पर्यन्त को डुबा दिया जिससे इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। यह आनन्द भी उस आनन्दसिन्धु का 'सीकर' मात्र है। दो० १९६ की ४-६ चौ० देखिये।

(ख) सूर्य के रुक जाने का हाल जानना असंभव है, इसीसे 'मरम न जानइ कोइ' कहा गया है। 'पतग' अर्थात् 'पतन् सन् गच्छतीति पतग' वह गिरने या अस्त होने के लिये चलता है। आनन्द में वह अपना अस्त होना ही भूल गया। साथ ही सारा ब्रह्मांड आनन्द में डूब रहा, किसी को कुछ मर्म नहीं जान पड़ा।

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना ॥१॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा ॥२॥
औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥३॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥४॥
परमानंद प्रेम-सुख-फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥५॥
यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई ॥६॥

शब्दार्थ—रहस्य = गुप्तचरित, गुप्त-भेद। दिनमनि = सूर्य। बीथिन्ह = गलियों में।

अर्थ—यह गुप्त चरित किसी ने नहीं जाना, सूर्य गुणगान करते हुए चले ॥१॥ देवता, मुनि और

नाग लोग महोत्सव देखकर अपना भाग्य सराहते हुए अपने-अपने लोकों को गये ॥२॥ हे गिरिजे ! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ है, इससे मैं एक और भी अपनी चोरी (गुप्त रहस्य) तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥३॥ काकभुशुंडीजी और मैं—दोनों साथ-साथ मनुष्य-रूप से, जिसमें कोई न जाने ॥४॥ परमानन्द प्रेम के सुख में फूले, गलियों में निमग्न मन से अपनपौ भूले हुए फिरते थे ॥५॥ यह माङ्गलिक चरित वही जान सकता है, जिसपर श्रीरामजी की कृपा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'औरउ एक कहउँ'''—पहले सूर्य की 'निज चोरी' कही। समय सूर्य का ही अंग है, उसकी चोरी उन्होंने की और उत्सव में सम्मिलित हुए, वे श्रीरामजी के माधुर्य में पुरुषा हैं। जब उन्होंने चोरी का मार्ग खोल दिया, तब मैंने भी चोरी की। 'निज' अर्थात् अपने रूप की चोरी की कि छिप कर नर-वेष से गया। चोरी अर्थात् छिपाई हुई बात, जिसे अभी तक मैंने गुप्त रक्खा था। गिरिजा ने कहा था, कि—"जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखेउ जनि गोई॥" (दो० ११०); उसका यह एक उत्तर है।

'सुनु गिरिजा'''—गिरि अचल होते हैं, वैसे ही तुम्हारी बुद्धि दृढ़ता में अचल है, यह मुझे विश्वास है, क्योंकि तुमने श्रीरामचरित के जानने में पूर्वजन्म से महान् प्रयास किया है तो प्राप्त करके अनधिकारी से नहीं कहोगी, उसमें भी गुप्त रहस्य को तो और भी गुप्त रक्खोगी।

(२) 'काकभुसुंडि संग हम'''—काकभुशुंडीजी ने शिवजी से ही चरित पाया है, इससे वे शिष्य हैं, शिष्य-भाव से साथ रहते भी हैं, यथा—'बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सिसु सिष्य'' " (गी० बा० १४)। अर्थात् शिवजी वृद्ध ब्राह्मण और भुशुंडीजी शिशु चेला-रूप से अयोध्या में आते हैं। दोनों ही बालरूप के नैष्ठिक हैं। किन्तु यहाँ काकभुशुंडीजी का नाम प्रथम देकर उन्हें प्रधानता दी है, क्योंकि जब-जब श्रीरामावतार होता है, वे यहाँ आते हैं और शिशु-लीला तक बराबर रहते हैं, यथा—"जन्म-महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥" (उ० दो० ७४)। अतः, चरित के और गलियों के भेदी हैं, उनके साथ रहने से उत्सव का आनन्द अधिक मिलता था। पुनः शिवजी ने यह भी कहा है कि मैंने काकभुशुंडीजी से सुनकर यह कथा कही है, यथा—"उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥" (उ० दो० ५१)। अतः, उन्हें सम्मान दिया, यह शिवजी की साधुता है, यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)।

'मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।'—मनुष्य-रूप धरे हुए हैं कि कोई जाने नहीं कि शिवजी हैं, नहीं तो श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुल जाने से ब्रह्मा का वचन झूठा होगा। यथा—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।'' रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा॥" (दो० ४८) मनुष्य रूप से सूतिका-गृह तक पहुँचने की भी आशा है और समाज के अनुकूल रूप से ही उसका यथार्थ आनन्द मिलता है।

(३) 'मीथिन्ह फिरहिं'''—मन का स्वभाव चपल है, वह प्रेम के कारण विस्मृत हो गया, इधर-उधर का ज्ञान भी नहीं रह गया। जिधर पाया, उधर ही घूम पड़े, गलियों में सर्वत्र पुरवासिनी स्त्रियाँ और राजमहल की भी दासियाँ परस्पर शिशु के गुण का अनुकथन (बातचीत) करती हैं, उसके सुनने का आनन्द मिलता है।

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा॥७॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥८॥

दोहा—मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस ।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस ॥१९६॥

अर्थ—उस समय जो जिस प्रकार आया, जो जिसके मन में रुचा, राजा ने उसे वही दिया ॥७॥ हाथी, रथ, घोड़े, सोना, गाय, हीरा और अनेक प्रकार के वस्त्र राजा ने दिये ॥८॥ सबके मन में संतोष है, जो जहाँ हैं, वहीं आशीष देते हैं कि तुलसीदासजी के स्वामी सब (चारो) पुत्र चिरञ्जीव हों अर्थात् बहुत काल जियें ॥१९६॥

विशेष—(१) 'जो जेहि विधि आया'—जैसे देवता याचक बनकर, वेद भाट बनकर, इत्यादि। 'गज रथ तुरग हेम गो हीरा'—इसमें 'रथ' को 'गज' और 'तुरग' के बीच में लिखकर सूचित किया कि गजरथ और अश्वरथ—हाथी - घोड़े जुते हुए दिये। पृथक् भी हाथी-घोड़े दिये। इसी तरह 'हेम' और 'हीरा' के बीच में 'गो' शब्द देकर गायों को अलंकृत करके देना सूचित किया। यथा—"सब विधि सकल अलंकृत कीन्हीं। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्हीं॥" (दो० ११०)। और सोना, हीरा पृथक्-पृथक् भी दिये गये।

(२) 'मन संतोष सबन्हि के···'—सबको मनोवांछित मिला; इससे संतोष हुआ, अतः, आशीष बहुत प्रकार से देते हैं, यथा—"असही दुसही मरहु मनहिं मन वैरिन्ह बढ़हु विषाद। नृप-सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद॥" (गी० बा० १)।

'तुलसिदास के ईस'—(क) सबको सब कुछ मिला, कवि भी अपने लिये कुछ माँगते हैं। वह यह कि आपके चारो पुत्र मुझे अपना दास बना लें। सबके साथ स्वयं भी आशीर्वाद देते हैं।

(ख) इस समय के याचकों एवं पुरवासियों के मुख से भविष्यकालीन दासत्व का निश्चय करा लेना साहित्य-रीति से 'भाविक' अलंकार है।

कछुक दिवस बीते येहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती॥१॥
नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी॥२॥
करि पूजा भूपति अस भाखा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा॥३॥
इन्हके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥४॥

अर्थ—कुछ दिन इस तरह बीत गये, दिन-रात जाते न जान पड़े॥१॥ नामकरण का अवसर (दिन) जानकर राजा ने ज्ञानी मुनि (वसिष्ठजी) को बुला भेजा॥२॥ उनकी पूजा करके राजा ने ऐसा कहा—हे मुनि! जो नाम आपने विचार रक्खे हैं, उन्हें ही धरिये॥३॥ (वसिष्ठजी ने कहा) हे राजन्! इनके नाम बहुत और अनुपम हैं, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा॥४॥

विशेष—(१) 'कछुक दिवस बीते···'—आनंदोत्सव में ११ दिन बीत गये, क्योंकि नामकरण बारहवें दिन होता है। नामकरण के विधान गी० बा० ६ में विस्तार से कहे गये हैं। यह पाँचवाँ संस्कार है। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं। अतः, जान न पड़े।

(२) 'मुनि ज्ञानी'—और संस्कारों में इतने विचार की आवश्यकता नहीं, पर इसमें ज्योतिष का ज्ञान चाहिये और यहाँ तो श्रीरामजी का यथार्थ स्वरूप जानकर तदनुसार ही नाम रखना है, इसलिये 'ज्ञानी'

कहा है। 'गुनि राखा'— क्योंकि विचार का काम शीघ्रता में ठीक नहीं होता। अतः, मुनि ने प्रथम ही विचार रक्खा है, उन्हें तो जाना हुआ था ही कि अमुक दिन नामकरण होगा।

(३) 'इन्ह के नाम अनेक'…'—अर्थात् ऐश्वर्य की दृष्टि से जगत् ही श्रीरामजी का शरीर है, तो सब चराचर की संज्ञाएँ आपही के नाम हैं, यथा—"सर्ववाच्यस्य वाचकः" (रा० पू० ता० १।१२); तथा—"विश्वरूपस्य ते राम विश्वे शब्दाहि वाचकाः।" यह स्मृति है। फिर भी श्रीरामनाम आपके साक्षात् सच्चिदानंद-स्वरूप का वाचक है, उसे ही गुरुजी अपनी बुद्धि के अनुसार कहेंगे।

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥५॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥६॥
बिश्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥७॥
जाके सुमिरन ते रिपु-नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥८॥

दोहा—लच्छनधाम रामप्रिय, सकल - जगत - आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार ॥१९७॥

शब्दार्थ—सीकर (शीकर)=बूँद का कणमात्र। सुपासी=सुखी। अखिल=निःशेष, सम्पूर्ण। भरन (भरण)=पालन। पोषन (पोषण)—बढ़ाना, पालन करके बढ़ाना एवं पुष्ट करना।

अर्थ—जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, जिसके कण-मात्र से तीनों लोक सुखी होते हैं ॥५॥ उन सुखस्थान का 'राम' ऐसा नाम है जो सम्पूर्ण लोकों को विश्राम देनेवाले हैं ॥६॥ जो जगत्-भर का पालन-पोषण करते हैं, उनका 'भरत' ऐसा नाम होगा ॥७॥ जिनके स्मरण से शत्रु का नाश होता है, उनका नाम 'शत्रुहन (शत्रुघ्न)' वेदों में विदित है ॥८॥ जो सुलक्षणों के स्थान श्रीरामजी के प्यारे और सारे जगत् के आधार-भूत हैं, उनका गुरु वसिष्ठ ने 'लक्ष्मण'—यह श्रेष्ठ नाम रक्खा ॥१९७॥

विशेष—(१) 'आनंदसिंधु'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही भगवान् आनंद के अधिष्ठान हैं, यथा—"सुभ को सुभ मोद मोद को राम नाम सुनायो॥ आलवाल कल कौसिला दल बरन सोहायो। कंद सकल आनंद को जनु अंकुरि आयो॥" (गी० बा० ६); "आनँदसिंधु मध्य तव वासा।" (वि० १३६); "सत-चेतन-घन-आनँद रासी। (दो० २२)।

'सीकर ते त्रयलोक…'—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई॥" (गी० बा० १)।

यहाँ सुखवाचक शब्द तीन बार आये हैं। ये तीन प्रकार के अधिकारियों की दृष्टि से कहे जाते हैं, जैसे ज्ञानी आनंद के प्यासे रहते हैं उनके लिये रामजी आनंद के समुद्र हैं। राशि दाने की ढेरी को कहते हैं, वैसे कर्मकांडी के लिये विविध सुखों की राशि हैं। उपासक प्रभु के सुखमय धाम की प्राप्ति चाहते हैं, यथा—"सुख्य रुचि होति बसिबे को पुर रावरे।" (वि० २१०)। पुनः वे भगवान् के विग्रह (देह) को ही सुख का स्थान मानते हैं, उनके लिये 'सुखधाम' है।

चारों भाइयों के नाम जगत् के हितसूचक हैं, यथा—'अखिल-लोकदायक बिश्रामा' 'बिश्वभरन पोषन कर' 'सुमिरन ते रिपु-नासा' और 'सकल जगत आधार' इन चारों विशेषणों से स्पष्ट हैं।

नामों के क्रम—नामकरण ऐश्वर्य-दृष्टि से हुआ है, इसीलिये उपक्रम में ही वसिष्ठजी को 'मुनि ज्ञानी' कहा है और उपसंहार में 'वेदतत्त्व'। वेद की मांडूक्योपनिषद् में ॐकार की व्याख्या करते हुए, अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में चार अवस्थाएँ और उनके प्रकाशक आत्मा का नाम कहा है, वैसे श्रीरामतापनीय उ० में भी अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में क्रमशः लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और श्रीरामजी की व्याख्या की गई है, यथा—"अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसंभूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥ प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकराक्षरसम्भवः। अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानंदैकविग्रहः॥" (रा० उ० ता० ३।१-२)।

श्रीवसिष्ठजी ने उपनिषद् की रीति से नामकरण किया है। भेद केवल इतना ही है कि इन्होंने पूर्ण ब्रह्म से प्रारंभ किया है, अंशों से नहीं। यहाँ ऐश्वर्य का प्रसंग है। अतः, माधुर्य की छोटाई-बड़ाई के विचार का प्रयोजन नहीं है। लक्ष्मणजी से पहले शत्रुघ्नजी का नामकरण होना इसी दृष्टि से है।

धरे नाम गुरु हृदय विचारी। बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी॥१॥
मुनिधन जन-सरबस सिव-प्राना। बाल-केलि-रस तेहि सुख माना॥२॥
बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥३॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई॥४॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥५॥

शब्दार्थ—बेदतत्त्व = प्रणव, ॐकार, वेद के सर्वस्व। बारे = बालपन। मानी = माननेवाले। रति मानी = प्रीति माननेवाले। तृन तोरी = तृण तोड़ना—मुहावरा है; सुन्दर वस्तु को देखकर दृष्टि-दोष बचाने के लिये तृण तोड़ा जाता है कि नजर तृण ही पर पड़े, यथा—"सुंदर तन सिसु-बसन-बिभूषन नखसिख निरखि निरैया। दलि तृन, प्रान निछावरि करि-करि लेइहैं मातु बलैया।" (गी० बा० ६)।

अर्थ—गुरुजी ने हृदय में विचार कर नामकरण किया (नाम रक्खा)। (और कहा)—राजन्! तुम्हारे चारों पुत्र वेद के तत्त्व हैं॥१॥ जो मुनियों के धन, भक्तों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं, उन्होंने बाल क्रीड़ा के रस में सुख मान लिया है॥२॥ बालपन ही से अपना हितैषी और स्वामी जानकर लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के चरणों में प्रीति मानी है (या प्रीति के मानी अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ हुए हैं)॥३॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयों ने स्वामी-सेवक की सी प्रीति बढ़ाई अर्थात् भरत में स्वामित्व और शत्रुघ्न में दासत्व प्रीति, एक दूसरे के प्रति अनुदिन बढ़ने लगी॥४॥ दोनों श्याम-गौर जोड़ियाँ सुन्दर हैं, माताएँ उनकी छवि को तृण तोड़-तोड़कर देखती हैं॥५॥

विशेष—(१) 'धरे नाम गुरु...'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'धरिय नाम जो मुनि गुनि...' में है। 'बेदतत्त्व नृप...'—यह पार्वतीजी के—"पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ग्यानी॥" (दो० ११०) इस प्रश्न का उत्तर है। वेदतत्त्व के प्रमाण ऊपर नामकरण में हैं। 'मुनि धन जन सरबस...'—यहाँ तीन के लिये उत्तरोत्तर अधिक प्रेमबोधक विशेषण दिये गये हैं—धन से सर्वस्व और उससे प्राण अधिक हैं, यथा—"माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥ देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥" (दो० २०७); अर्थात् मुनि से जन (भक्त) और जन से शिवजी का प्रेम अधिक है, शिवजी से भी अधिक अवधवासियों का प्रेम है, जिनके लिये आप

बाल-केलि कर रहे हैं, यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सबकहँ राम कृपाल ॥" (दो० २०४); "जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन ॥" (उ० दो० ८८)।

(२) 'मुनि धन', यथा—"लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१); "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।" (लं० दो० १०१); अर्थात् मुनिलोग नित्य प्रेम धन बढ़ाते हैं, मृत्यु के समय भी श्रीराम रूपी धन में ही चित्त रहता है। 'जन-सरबस' यथा—"जहँ लगि जगत सनेह सगाई।...मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१); "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।", (अ० दो० १३०); "त्वमेव सर्वं मम देवदेव" (पांडवगीता)। क० उ० ३६ और ११० भी देखिये।

(३) 'धारेहि ते निज हित...भरत सत्रुहन'—पूर्व कहा गया था—"कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि..." (दो० १८९); उसका अभिप्राय यहाँ खुला कि कौशल्याजी के हाथ से दिये हुए पायस से लक्ष्मणजी हुए, अतः, वे कौशल्या-पुत्र के प्रीति-पूर्वक अनुगामी हुए और कैकयीजी के हाथ के पायस-सम्बन्ध से शत्रुघ्नजी उनके पुत्र भरतजी के सप्रेम अनुगामी हुए। इन दोनों जोड़ियों की यह प्रीति जन्म-भर एकरस निबही, यह चरित में प्रसिद्ध है।

(४) 'स्याम गौर सुंदर ...'—श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौर की एक जोड़ी, वैसे ही भरत-शत्रुघ्न की दूसरी जोड़ी। पुन, श्रीराम-भरत श्याम की एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न गौर की दूसरी जोड़ी हैं।

चारिउ सील-रूप-गुन-धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥६॥
हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥७॥
कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ॥८॥

दोहा—व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत-बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद ॥१९८॥

शब्दार्थ—सील (शील) = सद्वृत्ति और संकोच; सद्वृत्ति, यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्र संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण); उदाहरण—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान ॥ तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान ॥" (दो० २९); संकोच का स्वभाव, यथा—"सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥" (अ० दो० ३१२)। रूप = शरीर की उत्तम रचना और वर्ण, सौन्दर्य, यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥" (वाल्मी० आ० स० १।१३)। पलना = (सं० पल्यंक) खटोले के आकार का झूला, देखिये गी० बा० ११। दुलारहिं = लाड़-प्यार की वे चेष्टाएँ जो बच्चों को प्रसन्न करने के लिये प्रेम से की जाती हैं। ललना = बच्चों के प्यार का नाम। यथा—"ललन लोने लेरुआ बलि मैया।" (गी० बा० १७)।

अर्थ—चारो भाई शील, रूप और गुणों के धाम हैं, तो भी सुख के समुद्र श्रीरामजी अधिक हैं ॥६॥ हृदय में कृपारूपी चन्द्रमा प्रकाशित है, मनोहर हँसी (चन्द्र) किरणों को सूचित करती है ॥७॥ कभी गोद में, कभी उत्तम पालने में माताएँ प्यारे-लालन (आदि नाम) कह-कहकर उनका दुलार करती हैं ॥८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष एवं मायामुक्त, तीनों गुणों से परे, क्रीड़ारहित और अजन्मा है, वही प्रेम एवं भक्ति (वा प्रेमाभक्ति) के वश कौशल्याजी के गोद में है ॥१९८॥

विशेष—(१) 'चारित सील रूप गुन···' यथा—"यद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समै चारु चारयो भाई। तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम-भगत-सुखदाई ॥" (गी० बा० १२)। इस पूरे पद में श्रीरामजी के गुणों का सुन्दर वर्णन है।

(२) 'अनुग्रह इंदु···हासा' यथा— "कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं।" (गी० बा० ७१)। इस हास से भव-ताप हरते हैं, यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'कबहुँ वर पलना'—इसमें सूक्ष्म रीति से दोलारोहण-उत्सव, जनाया है, इसका विस्तार गी० बा० १५, १९ और २० वें पदों में है। इस उत्सव में पालने पर शृंगार करके बच्चे को लिटाकर गाते हैं।

(४) 'व्यापक ब्रह्म निरंजन···'—इस दोहे में 'सूर्यावलोकन (सूर्य-दर्शन कराने का) उत्सव' सूचित किया गया है। कौशल्याजी बच्चे को शृंगार करके गोद में लेकर बाज आँगन में निकलती हैं। अब सब के देखने में आये। इसी से आगे सर्वांग माधुरी कहते हुए गोद का ध्यान दिखाया है।

'ब्रह्म' अर्थात् बृहत् से छोटे हुए। 'व्यापक' हैं, वे ही एक जगह कौशल्या की गोद में हैं। 'निरंजन' माया से निर्लिप्त हैं, वे ही मायिक (माया से निर्मित) भूमि पर लीला करते हैं। 'निर्गुण' हैं, फिर भी गुण धारण किया है। 'विगत विनोद' हैं, फिर भी बालक्रीड़ा करते हैं। 'अज' हैं, फिर भी जन्म लिया। क्यों?

दशरथ-कौशल्याजी ने पूर्व मनु-शतरूपा-शरीर में प्रेम एवं अनन्य भक्ति से ब्रह्म को वश में कर लिया है, उन्हींके कारण भगवान् ये लीलाएँ करते हैं। यथा—"देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ · नृप तव तनय होब मैं आई।" (दो० १५१); "दंपति उर धरि भगति कृपाला।" (दो० १५१)। · यहाँ अति माधुर्य लीला जानकर ग्रंथकार ने ऐश्वर्य भी कहा कि जिससे किसीको मोह न हो।

काम-कोटि-छवि स्याम सरीरा। नील-कंज बारिद-गंभीरा॥१॥
अरुन-चरन-पंकज-नखजोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती॥२॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर-धुनि सुनि मुनिमन मोहे॥३॥
कटि-किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जिहिं देखा॥४॥

अर्थ—नीलकमल और गंभीर (घने) मेघों के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेवों की छवि (प्रभा-शोभा) है॥१॥ लाल लाल चरणकमलों के नखों की ज्योति (द्युति) ऐसी है, मानों कमल के दलों पर मोती बैठे हैं॥२॥ वज्र, ध्वजा और अंकुश के चिन्ह सोहते हैं, नूपुर (पैंजनी) के शब्द सुनकर मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं॥३॥ कमर में किंकिणी (करधनी), पेट पर त्रिवली (रेखा) और नाभि गहरी है, जिन्होंने (इस छवि को) देखा है, वे ही जानते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'काम कोटि छवि स्याम ···'—यहाँ श्यामता के लिये कमल और मेघ—दो ही की उपमा दी। मनु के प्रसंग में उपमा के लिये 'मनि' शब्द भी कहा था, क्योंकि वहाँ किशोर अवस्था से प्रभु प्रकट हुए थे। यहाँ शिशु-रूप में अत्यन्त कोमल हैं। मणि को कठोर एवं पुष्ट जानकर उससे उपमा नहीं दी। ब्रह्मांड-भर को सौन्दर्य से मोहने के लिये एक काम ही बहुत है और यहाँ करोड़ों कामों की छवि एकत्र है, तो कौन नहीं मोहेगा?

(२) 'नख जोती···जनु मोती'—नखों में ललाई झलक रही है। उसे उत्प्रेक्षा से लक्ष्य

कराया कि मानों कमल के दलों पर मोती बैठे हों। कमल दल पर मोती रुक नहीं सकते; इसीसे बैठे हुए मोती कहे गये हैं। मोती अपने स्वच्छ वर्ण को छोड़कर कमल की ललाई ग्रहण करते हैं, वैसे तलवों की ललाई नखों में आ गई है। (तद्गुण अलंकार)

(३) 'रेख कुलिस ध्वज'''— श्रीरामजी के चरणों में ४८ (प्रत्येक चरण में २४+२४) चिन्ह कहे गये हैं, उनमें विशेष प्रयोजनीय चार ही चिन्हों को ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ कहा है। इन चार में भी यहाँ 'कमल' चिन्ह नहीं कहा। इनका महत्त्व ; यथा—"अंकुस मन गज बस कारी।" (वि० ६३) ; तथा— "मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं, ताके लिये अंकुश लै धारयो हिये ध्याइये। ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिवे को, भक्ति-निधि जोरिवे को कंज मन लाइये।" "छिनं में सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सों विशेप जानो अभय को विश्वास है।" (भक्तमाल टीका—भक्ति रस बोधनी)।

'मुनि-मन मोहे'—मुनियों के मन प्राकृत विषयों में मुग्ध नहीं होते। अतः, ये शब्द अप्राकृत हैं।

(४) 'कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।—'त्रयरेखा' दो० १४७ देखिये। 'जान जिन्ह देखा'—यहाँ ब्रह्माजी पर लक्ष्य है। "भगवान् ने सृष्टि की इच्छा से जल पैदा किया, उसमें वे चतुर्भुज-रूप से शयन करने लगे। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्माजी हुए। ब्रह्माजी ने इधर-उधर कुछ न देखकर कमल के आधार का पता लगाने के लिये कमल-नाल में प्रवेश किया। सौ वर्षों तक प्रयास किया, पर पता न लगा; तब समाधिस्थ हो गये। सौ वर्षों के बाद भगवान् के दर्शन हुए" (भाग० स्कं० ३ अ० ८) अर्थात् उस गहराई का पता ब्रह्माजी भी नहीं पा सके तो और कौन पा सकता है?

भुज बिसाल भूषनजुत भूरी। हिय हरिनख सोभा अति रूरी ॥५॥
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा ॥६॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित-मदन-छबि छाई ॥७॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे ॥८॥

शब्दार्थ—हरिनख=बघनखा ; यथा—"कंठा कंठ बघनहा नीके।" (गी० बा० २८) ; यह बच्चों को पहनाया जाता है कि वे डरें नहीं और वीर भी हों। भूरी=बहुत। रूरी=निराली, सुन्दर। पारे=पार पा सके।

अर्थ—लंबी भुजाएँ (घुटनों तक लंबी=आजानुबाहु) बहुत आभूषणों से युक्त हैं, हृदय पर बघनहे की शोभा अत्यन्त निराली है ॥५॥ छाती पर पदिक-सहित मणियों का हार सुशोभित है और भृगुपद देखते ही मन लुभा जाता है ॥६॥ कंठ शंख के समान (चढ़ा-उतार त्रिरेखायुक्त) और ठोढ़ी बहुत ही सुहावनी है, मुख पर तो असंख्य कामदेवों की छवि छा रही है ॥७॥ दो (ऊपर-नीचे) दाँत, लाल ओष्ट, नासिका और तिलक का वर्णन करने में कौन पार पा सकता है? ॥८॥

विशेष—(१) 'बिप्र-चरन देखत मन लोभा।'—यह भगवान् की क्षमाशीलता और हृदय की कोमलता का सूचक है, यथा—"उर बिसाल भृगु-चरन चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि० ६२)। श्रीमद्भागवत स्कंध १०, अ० ८९ में कथा है कि एक समय सरस्वती नदी के तट पर उपस्थित ऋषियों में विचार होने लगा कि त्रिदेवों में श्रेष्ठ कौन हैं? सबने ब्रह्माजी के पुत्र महर्षि भृगु को परीक्षा के लिये भेजा। वे प्रथम ब्रह्मलोक गये, परीक्षा के लिये पिता को प्रणाम-स्तुति कुछ न किया, इसपर ब्रह्मा को क्रोध आ गया। फिर मुनि कैलाश गये। शिवजी भाई से मिलने के लिये प्रेम से उठे, तब इन्होंने कहा कि तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता। ऐसे तिरस्कार पर शिवजी को अत्यंत क्रोध हुआ, उनपर त्रिशूल उठाया। श्रीउमाजी

ने उनको शान्त किया। तब मुनि वैकुंठ पहुँचे, भगवान् को लक्ष्मीजी की गोद में शिर रक्खे हुए शयन करते देख उनकी छाती में एक लात मारी। भगवान् शीघ्र उठ मुनि को प्रणाम कर मृदु वाणी से अपराध क्षमा कराने लगे और मुनि के चरण सहलाने लगे। पुनः कहा कि आपके कोमल चरणों में मेरी कठोर छाती से चोट लग गई होगी। इन तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले चरणों का चरणामृत दीजिये, मैं इस चरण-चिन्ह को सदा भूषण के समान धारण करूँगा। मुनि का हृदय प्रेम से भर आया, आँसू चलने लगे; कंठ गद्‌गद होने से कुछ कह न सके। मुनि ने लौटकर ऋषि-समाज में हाल कहा और निश्चित करके सब उन्हीं सत्त्व रूप का भजन करने लगे।

'मन लोभा'—भगवान् की भक्तवत्सलता और क्षमाशीलता पर मन मुग्ध होता है।

शंका—मनु-शतरूपा प्रसंग में श्रीरामजी का भृगुपद चिन्ह नहीं कहा गया, फिर उन्हीं के लीला-विग्रह में यहाँ क्यों आया?

समाधान—(क) पूर्व कहा गया कि भगवान् श्रीरामजी से विष्णु-नारायण का तत्त्वतः एवं गुणतः अभेद है। अवतार गुण प्रकट करने के लिये होते हैं। अतः, विष्णु भगवान् के संबंध के गुण भी श्रीरामजी ने अपने में दिखाये, जैसे वृन्दा का शाप विष्णु भगवान् को ही हुआ था, पर श्रीराम, नृसिंह आदि सभी रूपों ने शालग्राम होना स्वीकार किया है। (ख) मिथिला प्रान्त के नगाही के परमहंस १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजी का मानस उनके और ग्रंथों से निराला है। उसमें तीन ही जगह विप्र-चरण की चर्चा है। १– यहाँ, २—'उर धरासुर-पद लस्यो' (लं० दो० ८६); ३—'विप्रपादाब्ज-चिन्हम्' (उ० मं०)। तीनो जगह भृगु का नाम नहीं है। अतः, यह विप्रचरण श्रीवसिष्ठजी का चरण-चिन्ह है। गी० बा० १२ वें पद के अनुसार झड़वाने के पीछे कौशल्याजी ने प्रार्थना की कि बच्चे के वक्ष स्थल पर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं। गुरुजी ने वैसा ही किया, वही चिन्ह है। श्रीपरमहंसजी श्रीरामजी की रूपनिष्ठा की अनन्यता में प्रसिद्ध थे।

(२) 'आनन अमित मदन-छवि ···'—ऊपर सर्वांग के लिये 'कोटिकाम' की उपमा दी थी, मुख की शोभा अन्य अंगों से अधिक देखकर 'अमित' विशेषण दिया। 'तिलक' आदि दो० १४६ में देखिये।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥९॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥१०॥
पीत झँगुलिया तनु पहिराई। जानु-पानि बिचरनि मोहि भाई ॥११॥
रूप सकहि नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा ॥१२॥

दोहा—सुखसंदोह मोहपर, ज्ञान - गिरा - गोतीत।
दंपति परम प्रेमबस, कर सिसुचरित पुनीत ॥१९९॥

शब्दार्थ—गभुआरे = गर्भवाले (बाल) जो जन्म से ही रक्खे हैं। झँगुलिया = झंगा, ढीला कुरता (बच्चों का)। जानु पानि = बकैयाँ, हाथ और घुटने के बल से। संदोह = समूह, झुण्ड।

अर्थ—सुन्दर कान और अत्यन्त सुन्दर गाल हैं, मीठी और तोतली बोली सुनने में अति प्रिय लगती है ॥९॥ चिकने और घुँघराले गभुआरे बालों को माता ने बहुत तरह रचकर सँवारा है ॥१०॥ पीली झँगुली

देह पर पहनाई हुई है, उनका घुटने के बल चलना मुझे बड़ा प्यारा लगता है ॥११॥ रूप का वर्णन तो वेद और शेष भी नहीं कर सकते। इसे वही जान सकता है जिसने स्वप्न में भी देखा हो ॥१२॥ सुख के समूह (आनन्दराशि), मोह से परे, ज्ञान-वाणी और इन्द्रियों से परे श्रीरामजी राजा-रानी के अत्यन्त श्रेष्ठ प्रेम के वश होकर पवित्र बाल-चरित कर रहे हैं ॥१९९॥

विशेष—(१) 'बहु प्रकार रचि···'—ऐंछकर—झाड़कर सँवारना, गूँथना और मढ़ना—आदि प्रकार से माता ने सँवारा है।

(२) 'जानुपानि बिचरनि'—इसमें सूक्ष्म रूप से 'भूमि-उपवेशन' (पृथ्वी पर बिठाने का) उत्सव कहते हैं कि सर्वांग शृंगार-सहित जरतार रेशमी पीत रंग की झँगुली श्याम शरीर में पहनाकर प्रथम-प्रथम भूमि पर आँगन में माता ने बिठाया। रामजी घुटनों के बल चलने लगे।

(३) 'दंपति परम···'—पूर्व 'कौसल्या की गोद' कहा था, अब आँगन में 'जानुपानि' कहा। तब पिता भी गोद में लेने लगे। अतः, यहाँ 'दंपति परम प्रेम-बस' कहा गया है।

येहि बिधि राम जगत-पितु-माता। कोसलपुर-बासिन्ह सुखदाता ॥१॥
जिन्ह रघुनाथ - चरन - रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी ॥२॥
रघुपति-बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव-बंधन छोरी ॥३॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥४॥
भृकुटि - बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥५॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—कोरी = करोड़ों या व्यर्थ। भय भाखे = बोलते डरती है। बिमुख = प्रतिकूल।

अर्थ—इस प्रकार जगत् के माता-पिता श्रीरामजी अवधपुरवासियों के सुख देनेवाले हैं ॥१॥ हे भवानी ! जिन्होंने श्रीरामजी के चरणों की प्रेम-प्रतिज्ञा मानी है, उनकी यह दशा प्रसिद्ध है ॥२॥ श्रीरघुनाथजी से प्रतिकूल होकर करोड़ों उपाय करें, उनका भव-बंधन कौन छुड़ा सकता है ? ॥३॥ जिस माया ने चराचर जीवों को वश में कर रक्खा है, वह भी प्रभु से बोलते डरती है ॥४॥ जो प्रभु उस (माया) को भौंह के इशारे से नचाते हैं, उन ऐसे प्रभु को छोड़कर कहो तो (भला), किसका भजन किया जाय ? ॥५॥ मन, कर्म और वचन से चतुराई (चालाकी) छोड़कर भजन करते ही श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'तिन्ह की यह गति प्रगट···'—पूर्व में मनु-शतरूपा ने अनन्य प्रेम की प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। उसका फल प्रभु उन्हें दे रहे हैं, यह प्रत्यक्ष है। ऐसे ही अवधपुरवासियों ने भी प्रेम-प्रण निबाहा है। अतः, उन्हें भी प्रत्यक्ष सुख दे रहे हैं। 'रघुपति' 'रघुराई' आदि माधुर्य नामों से सगुण रूप के ही प्रेम का उक्त फल जनाया है।

(२) 'येहि बिधि राम···कोसलपुर···'—रामजी प्रथम गोद में थे, तब केवल माता के आँगन में आने और 'जानुपानि' चलने में दंपती के और अब विचरने लगे तो पुरवासियों के भी सुखदाता कहे गये। क्रम से होने से 'येहि बिधि' कहा गया है।

(२) 'रघुपति-बिमुख जतन'''—अर्थात् बिना श्रीरामजी की भक्ति के मुक्ति नहीं हो सकती, यथा—"बिना भक्तिन्न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते । यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे ॥" (सत्योपाख्यान); "रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं ॥'''" से—"बिनु-हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥" (उ० दो० १२२) तक नौ असंभव दृष्टान्तों से 'अपेल' (अटल) सिद्धान्त किया गया है।

(३) 'भृकुटि-बिलास नचावइ' यथा—"सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥" (उ० दो० ७१) अर्थात् चराचर को नचानेवाली माया प्रभु से डरती है तो उनके भजन से वह बाधा न कर सकेगी। यथा—"माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। ' भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥'''तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥" (उ० दो० ११५) ।

(५) 'मन क्रम बचन छाड़ि'''—'चतुराई' अर्थात् उपायाभिमान। जब जीव सब प्रकार से अभिमान छोड़कर श्रीरामजी को ही एकमात्र उपाय बनाता है, तब वे कृपा करते हैं, यथा—"जिन्ह के हीं हित सब प्रकार चित नाहिं न और उपाउ। तिनहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥" (गी० सुं० ४५); पर मन अपनी आदत नहीं छोड़ता, यथा—"नाम गरीबनेवाज को, राज देत जन जानि। तुलसी मन परिहरत नहिं, घुरबिनियों की बानि ॥" (दोहावली १६); पूर्वोक्त—"मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी'''" (दो० १८५) का विशेष भी देखिये।

येहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥७॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै ॥८॥

दोहा—प्रेममगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।
सुत-सनेह बस माता, बालचरित कर गान ॥२००॥

अर्थ—इस तरह प्रभु ने बाल क्रीड़ा की और सब नगरवासियों को सुख दिया ॥७॥ (माता) कभी गोद में लेकर हिलाती डोलाती हैं और कभी पालने में लिटाकर झुलाती हैं ॥८॥ प्रेम में डूबी हुई कौशल्याजी रात-दिन को बीतते नहीं जानतीं। पुत्र के स्नेह-वश माता उनके बालचरित का गान किया करती हैं ॥२००॥

विशेष—माता का बालचरित गाना गीतावली में देखने योग्य है, यथा—"हौंहौं लाल कबहि बड़े बलि मैया।'''" (बा० ८); "छोटी-छोटी गोड़ियाँ'''चुटकी बजावति नचावति कौसिल्या माता, बालकेलि गावति'''" (बा० १०); "सुभग सेज सोभित'''बाल-केलि गावति हलरावति'''" (बा० ७); इत्यादि।

एक बार जननी अन्हवाये। करि सिंगार पलना पौढ़ाये ॥१॥
निज - कुल - इष्टदेव भगवाना। पूजा - हेतु कीन्ह अस्नाना ॥२॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आप गई जहँ पाक बनावा ॥३॥
बहुरि मातु तहँवा चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई ॥४॥

शब्दार्थ—नैवेद्य = वे भोजन आदि पदार्थ जो देवता को निवेदित किये जाने के लिये हों। पाक = पक्वान्न, रसोई।

अर्थ—एक बार माता ने बच्चे को नहलाकर शृंगार करके पालने पर लिटा दिया ॥१॥ फिर अपने कुल के इष्टदेव (भगवान् श्रीरंगजी) की पूजा के लिये स्नान किया ॥२॥ पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया, तब जहाँ पक्वान्न बनाया गया था, वहाँ अर्थात् रसोईघर में गईं ॥३॥ और फिर माता वहीं (रंगजी के मंदिर में) चली आई तो वहाँ जाकर पुत्र को भोजन करते देखा ॥४॥

विशेष—यहाँ ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से अन्नप्राशन-उत्सव कहते हैं कि उस दिन बच्चे को प्रथम-प्रथम अन्न चटाने का शुभ दिन था। अतः, माता ने उबटकर नहलाया और बालोचित वस्त्र-भूषणादि पहना शृंगार करके लिटा दिया। शिशु रामजी सो गये।

(१) 'निजकुल इष्टदेव'''—रघुकुल के कुलदेवता श्रीरङ्गजी हैं। 'भगवाना' अर्थात् इस कुल के और देवी-देवता इष्ट नहीं हैं, भगवान् विष्णु ही हैं। अतः, यह कुल वैष्णव है। यथा—"किंचान्यद्वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल। आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥ आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः। तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः ॥" (वाल्मी० उ० स० १०८।२७-२८) अर्थात् श्रीरामजी ने परधाम प्रस्थान के समय विभीषणजी से कहा कि तुम देवताओं के सहित इन्द्रादि से पूज्य इक्ष्वाकुकुल के कुलदेवता इन जगन्नाथ की सदा आराधना करो। रंगक्षेत्र-माहात्म्य में विस्तृत कथा है कि जब भगवान् ने ब्रह्माजी को सृष्टि रचने की आज्ञा दी, तब उन्होंने संसार से निर्लिप्त रहने के लिये आधार माँगा कि मुझे अपने कारण-रूप भगवान् का ध्यान रहे, तब भगवान् ने आराधन की विधि कही। वही 'पञ्चरात्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर प्रणवाकार (ॐ के आकार का) विमान दिया, उसी में भगवान् का अर्चाविग्रह भी विराजमान था। रङ्ग नाम उस विमान का है। जब राजा इक्ष्वाकु ने मनु से पंचरात्र पढ़ा, तब उन्हें इसका पता लगा और आराधना करने की लालसा हुई, फिर वे तप करके ब्रह्माजी को प्रसन्न कर उसे माँग लाये। श्रीरामजी के समय तक उनकी पूजा होती आई। जब अयोध्या के प्राणिमात्र परमधाम जाने लगे, तब श्रीरामजी ने विभीषणजी को सौंप दिया और कहा कि इन्हें मार्ग में कहीं रखना नहीं, अन्यथा फिर न उठेंगे। विभीषणजी कावेरी-तट पर चन्द्र-पुष्करणी क्षेत्र में पहुँचे तो दैवयोग से उन्हें लघुशंका लगी, तब उन्होंने विमान भूमि पर रख दिया। फिर विमान वहाँ से न उठा। कहा जाता है कि आजतक भी गुप्तरूप से विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं!

'पूजा-हेतु कीन्ह'''—देव-पूजा के लिये पुनः स्नान किया। विचारा कि अपने कुलदेवता को पूजन करके भोग लगाकर तब बच्चे को प्रसाद खिलावें। यहाँ माता को वात्सल्य में ऐश्वर्य की सर्वथा विस्मृति हो गई है। इसीसे बच्चे को छूकर पूजा के लिये स्नान करती हैं। इसी अज्ञान को दूर करने के लिये आगे भगवान् विराट् रूप दिखावेंगे।

(२) 'करि पूजा नैवेद्य'''—षोडशोपचार विधि से पूजन करके पक्वान्न का थाल श्रीरंगजी के आगे रखकर उन्हें निवेदित किया। नैवेद्य चढ़ाना अर्थात् भोग लगाना—यह मुहावरा है। 'गई जहँ पाक''' अर्थात् यह देखने के लिये वहाँ गई कि कोई वस्तु छूट तो नहीं गई है।

'भोजन करत देखि'''—आज अन्नप्राशन है और यह पक्वान्न शिशु के खिलाने के उद्देश्य से बना है, इसीसे प्रभु स्वयं आकर खाने लगे।

गइ जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥५॥

बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई ॥६॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥८॥

दोहा—देखरावा मातहिं निज, अदभुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२०१॥

अर्थ—फिर डरी हुई माता बच्चे के पास गई तो बालक को वहाँ सोता हुआ देखा ॥५॥ फिर मंदिर में आकर देखा, तो वही पुत्र (यहाँ भी था)। हृदय काँपने लगा, मन में धैर्य नहीं होता ॥६॥ (माता सोचती है कि) यहाँ और वहाँ दो बालक देखती हूँ, मेरी बुद्धि भ्रमित है या और कोई विशेष (खास) कारण है ? ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी माता को व्याकुल देखकर मधुर मुसकान से हँसे ॥८॥ माता को अपना आश्चर्यमय अखंड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्मांड लगे हुए थे ॥२०१॥

विशेष—(१) 'भयभीता'—बालक को यहाँ किसने और कैसे लाकर बिठा दिया ?

'आन बिसेषा'—अन्य किसी देवता अथवा श्रीरंगजी ने ही तो यह प्रत्यक्ष भोजन के लिये बालक का रूप बना लिया हो या और कोई बात है !

(२) 'इहाँ-उहाँ'—जहाँ एक ही समय एक सम्बन्धी दो बातें दो जगहों में होती हैं, वहाँ ऐसा प्रयोग प्राय. होता है। यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे'''" और—"इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥" (अ० दो० ३२५–३२२)। 'इहाँ'—शब्द से भोजन करनेवाले रूप के पास कौशल्या का रहना और विचार करना है, क्योंकि बालक के सोते हुए में सदेह नहीं है, वे तो ज्यों-का-त्यों सोते हैं। अत , उसे 'तहाँ' कहा है।

(३) 'प्रभु हँसि दीन्ह'' '—कौशल्याजी के हृदय में भय स्थायी था। प्रभु ने हास्यरस से उसे शान्त कर दिया, जब विस्मयमात्र स्थायी रह गया, तब अपना यथार्थ अद्भुत रूप दिखाया। यह मंद मुसकान माता के भय हरण के लिये है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)। यहाँ हँसने के साथ 'प्रभु' कहा, क्योंकि हँसकर माया द्वारा अपनी प्रभुता दिखावेंगे। यथा—"माया हास ''" (लं० दो० १४)। मद मुसकान में ही हँसे, क्योंकि मुख के भीतर विराट् रूप दिखाना नहीं है। यहाँ रोमकूपों में ही अणु की भाँति कोटि-कोटि ब्रह्माड दिखावेंगे, क्योंकि कौशल्याजी ने जन्म-समय की स्तुति में 'रोम रोम प्रति' ही अमित ब्रह्मांडों का होना कहा है। यहाँ प्रभु उसीको दृढ़ करेंगे।

(४) 'देखरावा मातहिं निज ' '—यहाँ 'दिखावा' न कहकर 'देखरावा' यह प्रेरणार्थक क्रिया दी गई है, क्योंकि जिस रूप से आप सोये हुए हैं, वह-शैशव से क्रमश नित्यप्रति बढ़ता है। उस रूप से पौगंड आदि होते हुए कुमार और किशोर होंगे। उसी रूप से ब्रह्माजी के वरदान के अनुसार मनुष्यत्व दिखावेंगे। अत', उसमें विराट् नहीं दिखाया। किंतु अपने दूसरे बालरूप से दिखाया, जिसीसे भोजन करते हैं, इसलिये प्रेरणार्थक क्रिया है।

यहाँ विराट् रूप दिखाने का प्रयोजन पूर्व 'कहि कथा सुहाई' (दो० १११) के प्रसंग में कहा गया। यहाँ उसका अवसर है, क्योंकि माता आपके बालचरित-गान में अत्यन्त निमग्न रहकर ऐश्वर्य सर्वथा भूल गई हैं। वहाँ तो पूर्व जन्म में त्रिदेवों की ओर ताका भी नहीं, वे वर देने को आ-आकर लौट

गये, इनकी वृत्ति परम प्रभु में ही लगी थी, जिनके अंश से कोटि-कोटि त्रिदेव कोटि ब्रह्मांडों में होते हैं। जब वे ही आप पुत्र-रूप से घर में आये हैं, तब आपसे भिन्न इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद आपको खिलाना चाहती हैं। अतः, पूर्व का माँगा हुआ अलौकिक विवेक इन्हें देना चाहिये, जिसे जन्म-स्तुति के समय माया-द्वारा हरण किया था।

'रोम रोम प्रति लागे'—यहाँ ब्रह्मांड रोमों में बाहर लटके हुए हैं—ऐसा अर्थ नहीं है; क्योंकि भगवान् के शरीर से भिन्न कुछ है ही नहीं। यथा—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" (यजु० ईश० १)। अतः, रोम-रोम प्रति का अर्थ रोम-रोम के छिद्रों में होगा। रोमकूप कहते हैं जो त्वचा के भीतर होते हैं, इन्हीं से पसीना निकलता है। भुशुंडीजी, यशोदाजी और अर्जुन को भी शरीर के भीतर ही ब्रह्मांड दिखाया है।

अगनित रविससि सिवचतुरानन। बहु गिरिसरित सिंधु महि कानन ॥१॥
काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥२॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ॥३॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही ॥४॥
तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरननिह सिर नावा ॥५॥

शब्दार्थ—गाढ़ी = प्रबला, यथा—"मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४); अर्थात् उल्लंघन करने के अयोग्य।

अर्थ—असंख्य सूर्य, चन्द्रमा, शिव, चतुर्मुख ब्रह्मा, बहुत-से पहाड़, नदी, समुद्र, पृथिवी, वन ॥१॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान, स्वभाव तथा और भी (पदार्थ) देखे, जिन्हें कभी सुना भी न था ॥२॥ सब प्रकार प्रबल माया को देखा जो अत्यंत डरी हुई हाथ जोड़े खड़ी है ॥३॥ जीव को देखा, जिसे (माया) नचाती है और भक्ति देखी, जो उस (जीव) को छुड़ा देती है ॥४॥ शरीर पुलकायमान हो गया, मुख से वचन न आया, नेत्रों का बंद करके चरणों में शिर नवाया ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु गिरि सरित ···'—पहाड़ से नदियाँ निकलकर समुद्र को जाती हैं। समुद्र पर पृथिवी है और उसपर वन—इसी क्रम से सब लिखे गये हैं।

(२) 'काल करम ···'—उपर्युक्त 'बहु' विशेषण यहाँ के 'सुभाऊ' पर्यन्त का है। अतः, इन काल आदि के भी बहुत रूप देखे गये।

(३) 'गाढ़ी'—अर्थात् बड़े कठिन बंधन वाली है और सेना-सहित है, यथा—"माया-कटक प्रचंड।" (उ० दो० ७१)। 'अति सभीत ······' का भाव यह कि पास ही इसका अपराध भक्ति प्रकट कर रही है कि इसने बहुत काल तक जीव को बाँध रक्खा है और—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५) कहा ही है। भाव यह कि भजन करने से माया की करालता जान पड़ती है तो जीव दीन होकर रक्षा चाहता है और भगवान् माया पर शासन कर इसे मुक्त करते हैं, यथा—"चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचालि सब, अब अपडरनि डरयो हौं। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खरो हौं॥" (वि० २६६)।

(४) 'देखी भगति '—भक्ति के देखते ही कौशल्याजी की आँखें खुल गईं। भूले हुए ऐश्वर्य को जान गईं। प्रभाव-स्मरण होने से पुलक हो आया। स्तुति करना चाहती थीं, पर गद्गद कंठ होने से मुँह

से बात नहीं निकलती। साथ ही विराट् रूप पर दृष्टि होने से भयानक रस भी है। अतः, आँखें मूँद कर चरणों में प्रणाम किया।

बिसमयवंति देखि महतारी। भये बहुरि सिसुरूप खरारी ॥६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना ॥७॥
हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥८॥

दोहा—बार बार कौसल्या, बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि ॥२०२॥

शब्दार्थ—बिसमयवंति = आश्चर्ययुक्त। ब्यापइ = असर करे, सतावे।

अर्थ—माता को आश्चर्य-युक्त देखकर खर के शत्रु श्रीरामजी फिर बालक-रूप हो गये ॥६॥ स्तुति करते नहीं बनता, क्योंकि डर गई है कि मैंने जगत् के पिता को पुत्र करके मान लिया था ॥७॥ दुःख हरनेवाले भगवान् श्रीरामजी ने माता को बहुत तरह समझाया। (और कहा) हे माता! सुनो यह (रहस्य) कहीं न कहना ॥८॥ कौशल्याजी हाथ जोड़कर बार-बार विनय करती हैं कि हे प्रभो! मुझे आपकी माया अब कभी भी न सतावे ॥२०२॥

विशेष—(१) 'बिसमयवंति देखि···'—प्रभु का रूप विभाव, गद्गद वचन अनुभाव, रोमांच-स्तंभ संचारी, विस्मय स्थायी से पूर्ण अद्भुत रस आ गया। तब प्रभु फिर शिशु-रूप हो गये, अर्थात् प्रथम विराट् रूप हो गये थे। 'खरारी'—खर राक्षस के मारने के समय भी आपने अपने रूप से कौतुक किया था, यहाँ भी आश्चर्य-रूप दिखाया। अतः, 'खरारी' कहा। यहाँ श्रीरामजी ने देवरूप दिखाया है, देवता और उनके विशेषण अनादि होते हैं, यथा—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥" (दो० १००)।

(२) 'हरि जननी बहु बिधि··· '—समझाकर विस्मय हरने से 'हरि' कहा है। समझाया यह कि तुमने पूर्व ही हमसे वर माँगा था कि हमें आपका विवेक बना रहे। इस समय तुम हमारे स्वरूप को भूल गई थीं और हमसे भिन्न रंगजी को इष्टदेव मानकर उन्हें भोग लगाना और हमें वह प्रसाद खिलाना चाहती थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हम ही हैं, यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई॥"···से—"पेखेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत-हेतु लीलावनु गहई॥" (दो० १४१) तक। वे ही हम हैं जो तुम्हारे प्रेम-वश वात्सल्य माधुर्य सुख देने के लिये बाल-क्रीड़ा कर रहे हैं। 'जननी' को ही दिखाया, पिता को नहीं, क्योंकि उन्होंने केवल माधुर्य उपासना ही माँगी थी, यथा—"सुतबिषयक तव पद-रति होऊ।" (दो० १५०)।

(३) 'अब जनि कबहूँ ब्यापइ···'—प्रभु ने माता से कहा था कि इस रहस्य की चर्चा न करना, वैसे ही माता भी कहती हैं कि आपकी माया अब कभी मुझे न सतावे। यह माता ने वरदान माँगा और पाया है। इसपर व्यंग्योक्ति भी है। माता का कहना है कि आप मेरी न मानेंगे, तो मैं सर्वत्र कह दूँगी कि मेरा बेटा बड़ा मायावी है!

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥१॥

कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भये परिजन-सुखदाई ॥२॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई ॥३॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥४॥

अर्थ—भगवान् ने बहुत तरह के बाल-चरित किये और दासों को बहुत ही आनंद दिया ॥१॥ कुछ समय बीतने पर चारो भाई बड़े होकर कुटुम्बियों को भी सुख देनेवाले हुए ॥२॥ गुरुजी ने जाकर चूड़ाकरण संस्कार किया, ब्राह्मणों ने फिर भी बहुत दक्षिणा पाई ॥३॥ चारो सुकुमार राजकुमार अत्यंत मनोहर अनगिनत चरित करते फिरते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा।'–'बहु बिधि' यथा—"रोवनि, धोवनि, अनखानि अनरसनि, डिठि मुठि निठुर नसाइ हौं। हँसनि, खेलनि, किलकनि, आनंदनि भूपति-भवन बसाइ हौं॥" (गी० बा० १८)। ये सब चरित समय-समय पर किये गये।

(२) 'कछुक काल बीते सब भाई....'—अब आँगन में विचरने भी लगे, अतः, 'परिजन-सुखदाई' भी कहे गये हैं। इसके पूर्व रनिवास को ही सुख देते थे, अब परिजन आदि भी गोद में खेलाते हैं।

(३) 'चूड़ाकरन कीन्ह....'—(चूड़ा अर्थात् शिखा) चूड़ाकरण अर्थात् चोटी रखना। यह दस संस्कारों में एक है। यह जन्म से तीसरे या पाँचवें वर्ष में होता है। इसमें गर्भ के बाल प्रथम-प्रथम मुड़वाये जाते हैं और चोटी रक्खी जाती है। कोई-कोई कहते हैं कि चक्रवर्तीकुमार के सिर पर छुरा लगाने का निषेध है, पर यह बात नहीं है। अभिषेक होने पर उक्त निषेध की बात है। यह तो एक संस्कार है। 'जाई' अर्थात् घर से बाहर किसी देवस्थल एवं तीर्थ में जाकर यह संस्कार हुआ। 'पुनि'—नामकरण में दक्षिणा का वर्णन नहीं है, वहाँ का भी वर्णन यहाँ के 'पुनि' से जना दिया कि एक बार पाई थी, फिर भी अथवा, 'पुनि' शब्द 'तदनन्तर' के अर्थ में भी कहा जाता है, यह बुंदेलखंडी मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८)। "मैं पुनि गयेउँ बंधु-सँग लागा॥" (कि० दो० ५) इत्यादि।

मन-क्रम-बचन-अगोचर जोई। दसरथ-अजिर बिचर प्रभु सोई ॥५॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल-समाजा ॥६॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ॥७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरइ जननी हठि धावा ॥८॥
धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये ॥९॥

दोहा—भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि-ओदन लपटाइ ॥२०३॥

शब्दार्थ—अगोचर=अविषय, जिसका अनुभव मन आदि इन्द्रियों से न हो सके। ठुमुकि=थोड़ी-थोड़ी दूर पर पैर पटकते हुए चलना, फुरक फुरककर शीघ्रता से चलना। पराई=भागकर। धूसर=धूल लपेटे हुए, यथा—"बाल-

विभूषन बसन बर, धूरि धूसरित अंग।" (दोहावली ११०); अर्थात् धूसर-धूरि का अर्थ-(शरीर में) धूल लपेटे। विचर=चलते फिरते हैं। ओदन=भात। बोलत=बुलाने, यथा—"बोलि बिप्र गुर ज्ञाति।" (दो० ३५१)।

अर्थ—जो प्रभु मन, कर्म और वचन के अविषय हैं, वे ही दशरथजी के आँगन में विचर रहे हैं ॥५॥ भोजन करते समय जब राजा बुलाते हैं, तब बाल-सखाओं का समाज छोड़कर नहीं आते ॥६॥ जब कौशल्याजी बुलाने जाती हैं, तब प्रभु ठुमुक-ठुमुककर भाग चलते हैं ॥७॥ जिन्हें वेद नेति-नेति कहते हैं और शिवजी ने जिनका अंत नहीं पाया उन्हीं को माता हठपूर्वक पकड़ने के लिये दौड़ती है ॥८॥ (रामजी) शरीर में धूल भरे हुए आये, राजा ने हँस कर गोद में बिठा लिया ॥९॥ भोजन करते हैं, पर चित्त चंचल है, इधर-उधर से अवसर पाकर किलकारी (हर्षध्वनि) करते हुए मुख में दही-भात लपटाकर (फिर) भाग चले ॥२०३॥

विशेष—(१) 'मन क्रम बचन···' यथा—"बेद-बचन मुनि-मन अगम,···" (बा० दो० १११); "यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तिरीय २।४); वे ही प्रत्यक्ष 'दसरथअजिरबिहारी' हो रहे हैं, क्योंकि 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अतः, अघटित घटना कर दिखाई। 'बिचर' शब्द में सब क्रीड़ाएँ आ जाती हैं। 'अजिर' अर्थात् उपर्युक्त 'परम मनोहर चरित···' भी अभी आँगन में ही होते हैं।

(२) 'कौसल्या जब बोलन···'—वात्सल्य में भी उपासना का निर्वाह स्वतः होता जाता है। राजा श्री-रामजी को खिला लेते हैं तब स्वयं खाते हैं, इसीसे तब तक बैठे रहते हैं। अतः, सतीशिरोमणि कौशल्या-जी पति का रुख जानकर बुलाने जाती हैं। 'ठुमुकि ठुमुकि···'—जब तक माता दूर रहती है तब तक ठुमुक-ठुमुक चलते हैं, निकट देखते हैं तब भाग चलते हैं। तब माता भी हठ करके दौड़ती है कि देखें कहाँ तक भागोगे!

(३) 'सिव अंत न पावा'—शिवजी का अंत ब्रह्मा आदि ने नहीं पाया, यथा—"जोतिलिंग-कथा सुनि जाको अंत पाये बिनु आये बिधि हरि हारि सोई हाल भई है॥" (गी० बा० ८४); वे शिवजी भी श्री-रामजी की महिमा का अंत नहीं पाते, यथा—"जथा अनंत राम भगवाना।" (दो० ११३); शिवजी का इष्ट यह बालरूप ही है, यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू।···द्रवहु सो दसरथ-अजिर-बिहारी॥" (दो० १११); क्योंकि शिवजी ने सहज उद्गार से वहाँ यह मंगलाचरण किया है।

(४) 'इत उत'—इधर-उधर चपलता से देखते रहते हैं, इधर पिता-माता पर दृष्टि है और उधर बाल-समाज की ओर भी चित्त है कि अवसर मिले तो भाग चलें। प्रायः राजा के जल पीने के समय ऐसा अवसर मिलता है। बाल-स्वभाव से दही-भात में रुचि अधिक है, वही खाया है, मुख में लपटा है, बिना मुख धोये ही अवसर पाने से भाग चले। 'किलकारी' अवसर पाने की प्रसन्नता से है, पुनः बाल-समाज के सुनाने के लिये भी है कि हम आ गये। 'दधि ओदन लपटाय' यह भुशुंडीजी के लिये भी है, यथा—"जूठनि परइ अजिर महँ, सोइ उठाइ करि खाउँ।" (उ० दो० ७५)।

बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाये ॥१॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता ॥२॥
भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता ॥३॥
गुरुगृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई ॥४॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥५॥

शब्दार्थ—कुमार=५ वर्ष तक शिशु, फिर १० वर्ष तक कुमार, तंत्र-मत से ११ वर्ष तक को कुमार कहते हैं।

अर्थ—(रामजी के) बाल-चरित अत्यन्त सीधे और सुहावने हैं, इन्हें सरस्वती, शेष, शिव और वेदों ने गाया है ॥१॥ जिनका मन इनसे नहीं पगा, उनलोगों को ब्रह्मा ने मानों ठग लिया है॥२॥ ज्यों ही सब भाई कुमार-अवस्था के हो चुके त्यों ही गुरु, पिता और माता ने जनेऊ दिया, अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार किया॥३॥ रघुराज श्रीरामजी (भाइयों के साथ) गुरुजी के घर विद्या पढ़ने गये, थोड़े ही समय में सब विद्याएँ आ गईं ॥४॥ चारो वेद जिनके स्वाभाविक श्वास हैं वे भगवान् पढ़ते हैं—यह बड़ा भारी आश्चर्य है!॥५॥

विशेष—(१) 'अति सरल' अर्थात् कुटिलतादि दोषों से रहित, सीधे; यथा—"कबहूँ ससि माँगत आरि करैं···" (क० बा० ४)—इस पूरे छन्द में सरलता के चरित हैं। 'सुहाये' यथा—"पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि···"।(क० बा० २); "राम-लखन इक ओर भरत रिपुदवन लाल···" (गी० बा० ४३)।

(२) ते जन बंचित···' अर्थात् मनुष्य-शरीर का विधान परमार्थ-प्राप्ति के लिये है। विधाता ने नर-शरीर तो दिया, पर उसकी सफलता के योग्य बुद्धि न दी, भक्ति रूप पारसमणि (स्पर्शमणि) के अधिकारी को विषय-रूपी काँच-किरच देकर ठग लिया, यथा—"जेहि देह सनेह न रावरे सो असि देह धराय के जाय जियै (क० उ० ३८)।

(३) 'भये कुमार' 'दीन्ह जनेऊ···'—कुमार हो चुकने पर अर्थात् ११ वें वर्ष में, क्योंकि ८ वें में ब्राह्मण के लिये, ११ वें में क्षत्रिय के लिये १२ वें में वैश्य के लिये सामान्य रूप से यज्ञोपवीत का विधान है। स्मृतियों में उपनयन-काल के संबंध में मतभेद भी है। 'दीन्ह' क्योंकि जनेऊ हाथ में पकड़कर पहनाते हैं, इसमें विधानकर्त्ता गुरु मुख्य हैं। अतः, गुरु को प्रथम कहा है।

(४) 'गुरु-गृह गये···'—ब्रह्मचर्य आश्रम की रीति से गुरुजी के यहाँ उतने दिन रहे। 'अलपकाल' बहुत थोड़े दिनों में ही, कोई कोई ८ दिन ही कहते हैं। 'विद्या सब'-चौदहो विद्याएँ—चारो वेद, छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण।—(विश्वकोष)। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि की विद्याएँ भी 'सब' शब्द में आ गईं। 'जाकी सहज श्वास श्रुति···' उपर्युक्त अल्पकाल में विद्या आने का समाधान यहाँ किया कि इनका पढ़ना तो नर-नाट्यमात्र है, क्योंकि विद्या के मूलरूप वेद इनके श्वासरूप हैं, यथा—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः···" (बृह० २।४।१०); अर्थात् चारों वेद आदि उस महान् सत्य ब्रह्म के श्वासमात्र हैं।

बिद्या - बिनय - निपुन गुनसीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला॥६॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥७॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लोगाई॥८॥

दोहा—कोसल पुरबासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल॥२०४॥

शब्दार्थ—बिनय=नम्रता। थकित=मोहित एवं शिथिल। लोगाई=स्त्रियाँ।

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शील में निपुण हैं, सब राज्य-सम्बन्धी खेल ही खेलते हैं॥६॥

हाथों में धनुष-बाण अत्यन्त शोभा दे रहे हैं, रूप देखकर स्थावर जंगम सभी जीव मोहित हो जाते हैं ॥७॥ जिन मार्गों से सब भाई विहरते हुए निकलते हैं, वहाँ के सब स्त्री-पुरुष स्नेह से शिथिल एवं मोहित हो जाते हैं ॥८॥ अवधपुर-वासी पुरुष, स्त्री, बूढ़े और बालक—सभी को कृपालु श्रीरामजी प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं ॥२०४॥

विशेष—(१) 'विद्या-विनय निपुन ...'—विद्या पाकर नम्रता का होना उत्तम गुण है, यथा—"जथा नवहिं बुध विद्या पाये।" (कि० दो० १४), और, गुणों के साथ शील होने से उनकी शोभा है। शील-निपुणता, यथा—"सीलसिंधु सुनि गुरु-आगमनू।" .. से—"चले सबेगि राम तेहि काला।" (अ०दो०२४१) तक। "सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२)। "तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान।" (दो० ४४)। "बिनय-सील करुना-गुन-सागर।" (दो० २०४)। 'नृपलीला'—यह आगे कहते हैं। "करतल बान ..." यथा—"पद कंजन मंजु बनी पनही धनुही सर पंकज पानि लिये। लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिये॥'..." (क० बा० ४)। सरयू-तट आदि को ही आगे 'बीथिन्ह' कहते हैं।

(२) 'थकित होहिं सब...' यथा—"थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद-ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (दो० २३१), देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहुँ सरद इंदु बिलोकि॥" (गी० बा० ३८)। 'वृद्ध अरु बाल' कहकर नर-नारियों की मध्य की अवस्थाओं को भी जना दिया।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥१॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥२॥
जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥३॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं॥४॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥५॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, आखेट (अहेर)। संजोगा = उपाय। मृग = जंगली जानवर।

अर्थ—भाइयों और सखाओं को बुलाकर साथ लेते हैं और नित्य वन में शिकार खेलने जाते हैं ॥१॥ जी से जानकर पवित्र मृगों को मारते हैं और प्रत्येक दिन लाकर राजा को दिखाते हैं॥ २॥ जो मृग (जानवर) रामजी के बाणों से मारे गये, वे शरीर छोड़कर देवलोक को गये॥ ३॥ भाइयों और सखाओं के साथ भोजन करते हैं, माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं॥ ४॥ जिस तरह पुर के लोग सुखी हों, दयासागर श्रीरामजी वही संयोग कर देते हैं॥ ५॥

विशेष—(१) 'लेहिं बोलाई'—यहाँ श्रीरामजी ने स्वामित्व गुण दिखाया है, क्योंकि आप सबमें बड़े हैं। ऊपर—'नृप-लीला' कही गई, वही यहाँ भी है। आप इस कार्य में सबसे प्रथम उद्यत रहते हैं।

'बन मृगया...' यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं (आ० दो० १८), तथा—"कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने। मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः॥" (वाल्मी० अ० ४९।१४) अर्थात् श्रीसरयूतट के वनों में शिकार खेलने जाते थे। तथा—"सरजूबर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।" (क० बा० ७)।

(२) 'पावन मृग मारहिं'''—जो पुण्यात्मा जीव किसी शाप एवं वर के कारण मृग-योनि को प्राप्त हैं और शापानुग्रह के अनुसार प्रभु के हाथों से मुक्त होने की बाट जोह रहे हैं, उन्हें हृदय से जानकर मारते हैं और राजा दशरथ को लाकर दिखाते हैं कि पिता प्रसन्न हों और उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि कुमार के बाणों का लक्ष्य ठीक होने लगा है, क्योंकि आगे विश्वामित्र के साथ जाना है। 'प्रतिदिन'--कभी निशाना नहीं चूकता।

(३) 'जे मृग राम-बान'''--'सुरलोक' शब्द से स्वर्ग और साकेत दोनों अर्थ संगत हैं। सुर के अर्थ देवता और दिव्य पार्षद दोनों हैं। यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमांगतिम्॥" (वाल्मी० कि० १७ ८)। मृग, यथा--"प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा।" (दो० १५६); इसमें मृग शूकर को कहा है अर्थात् शूकर, गैंड़ा, व्याघ्र, रोजा आदि मृग कहाते हैं, इसीसे इनका राजा सिंह मृगपति कहाता है। यहाँ श्रीरामजी लाकर राजा को दिखाते थे, अतः बड़े-बड़े जानवरों का ही शिकार करते थे—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।" ऊपर कहा गया है। यथा—"बन बेहड़ गिरि कंदर-खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा। जहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब।" (अ० दो० १३५) अर्थात् वन के बीहड़स्थलों और कंदर-खोहों में सिंह आदि हिंसक ही मृग रहते हैं, उन्हींका शिकार करते थे। सिंह आदि हिंसक जीवों को राजनीति में मारने की आज्ञा है, यह गुण भी दिखाते हैं, अन्यथा रामजी को शिकार का व्यसन नहीं था—"नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने। रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसंमता।" (वाल्मी. अ. ४९।१५) साथ ही वन पुण्यात्मा जीवों का उद्धार भी करते हैं, जो गंधर्व आदि मृगयोनि में प्राप्त हैं, जैसे सत्योपाख्यान अ० ४१ में विल्व गंधर्व का अरना भैंसा होना और फिर श्रीरामजी के बाणों से मुक्त होना कहा है। गंधर्व आदि स्वर्ग में जाते हैं और कोई साकेत जाते हैं। अतः, यहाँ क्षात्र-धर्म के साथ अहिंसा-धर्म भी है, क्योंकि जो सदय हृदय से आत्मा का उद्धार करने के लिये निग्रह है, वह वास्तव में अनुग्रह ही है। भारी-भारी मृगों का शिकार कर अपनी शूरता दिखाकर पिता को सुख देते हैं।

(४) 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'--यद्यपि चक्रवर्ती-राज्य के उत्तराधिकारी हैं, फिर भी अपने में कुछ विशेषता न ग्रहण करके भोजन प्रसाद भी छोटे भाइयों और सखाओं को संग ही लेकर करते हैं, यहाँ आपके सौभ्रातृ और सौहार्द गुण हैं। शिकार-प्रसंग के साथ यह अर्द्धाली होने से यह भी कहा जाता है कि घर से विविध पक्वान्न साथ जाया करते हैं और वन में भी अनुज-सखाओं की गोष्ठी में भोजन होता है। सखाओं के साथ भोजन करना नीति भी है, ऐसे सखा एवं सेवक कभी विरोधी नहीं होते।

(५) 'करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।'--सुख का संयोग रचने से कृपानिधि कहा।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आप कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥६॥
प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥७॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥८॥

दोहा—ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप॥२०५॥

शब्दार्थ—अकल = अवयव-रहित, अखंड, सर्वांगपूर्ण। अनीह = इच्छारहित।

अर्थ—मन लगाकर वेद-पुराण सुनते हैं और आप भाइयों को समझाकर कहते हैं ॥६॥ रघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरु को प्रणाम करते हैं ॥७॥ और उनसे आज्ञा माँगकर नगर का काम करते हैं, (उनके) चरित देखकर राजा मन में प्रसन्न होते हैं ॥८॥ जो व्यापक, अकल, अनीह, अजन्मा, निर्गुण और नाम-रूप रहित है, वही भक्तों के लिये तरह-तरह के अनुपम चरित्र करता है ॥२०५॥

विशेष—(१) 'वेद पुरान'—वेद चार हैं। पुराण अठारह हैं; यथा—"म द्वयं भ द्वयं चैव ब्र त्रयं व चतुष्टयम्। अ ना प लि ग कू स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥" अर्थात् दो मकार—मत्स्य और मार्कण्डय; दो भकार—भविष्य और भागवत; तीन ब्र—ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मांड; चार व—विष्णु, वायु, वामन और वाराह; अ—अग्नि; ना—नारद; प—पद्म; लिं—लिंग, ग—गरुड़; कू—कूर्म और स्क—स्कंद।

(२) 'आपु कहहिं अनुजन्ह···'—छोटे भाइयों पर वात्सल्य है। अतः, प्रेम से सिखाने की वृत्ति स्वतः रहती है। अनुज लोग भी श्रीमुख-वाणी सुनना चाहते हैं। अतः, प्रश्न भी करते हैं।

(३) 'मातु पिता गुरु नावहि माथा।'—अभी माता के भवन में सोते हैं। अतः, प्रथम जागकर माता को, तब पिता को और बाहर जाने पर गुरु को प्रणाम करते हैं, वैसे ही क्रम से लिखा गया।

(४) 'भगत-हेतु नाना विधि······' अर्थात् वेद-पुराण सुनकर गुरु को, भोजन करने में माता को, पुरकाज (राजकाज) से राजा को और विविध संयोगों से प्रजा को सुख देते हैं, क्योंकि ये सब भक्त हैं। यहाँ भी माधुर्य के साथ ऐश्वर्य कहा। व्यापक आदि विशेषणों के भाव पहले आ चुके हैं।

यहाँ तक—"बालचरित पुनि कहहु उदारा।" (दो० १०६) का उत्तर पूरा हुआ।

अवतार और बाल-चरित-प्रकरण समाप्त

विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई ॥१॥
बिस्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥२॥
जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥३॥
देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—ये सब चरित मैंने गाकर कहे, अब आगे की कथा मन लगाकर सुनो ॥१॥ महामुनि और ज्ञानी विश्वामित्रजी वन में शुभ आश्रम जानकर रहते थे ॥२॥ जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते थे, मारीच-सुबाहु से अत्यन्त डरा करते थे ॥३॥ यज्ञ देखते ही निशाचर दौड़ पड़ते और उपद्रव करते थे, जिससे मुनि दुःख पाते थे ॥४॥

विशेष—(१) 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई।'—पूर्व बाल-चरित समाप्त किये, अब किशोर-अवस्था

के चरित कहेंगे। इस समय श्रीरामजी का १५ वाँ वर्ष चल रहा है, यथा—"ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।" (वाल्मी० बा० २०।२)। पार्वतीजी के चौथे प्रश्न—"कहहु तथा जानकी बिबाही।" (दो० १०६) का उत्तर यहीं से चला। यहाँ अपना गाना और श्रोता का मन लगाना सम्पूर्ण चरित में कहा गया है, अर्थात् मैंने यहाँ तक जैसे गाया, वैसे अगली कथा भी गाऊँगा और तुमने जैसे अभी तक मन लगाकर सुना, वैसे अगली कथा भी सुनो। इसी प्रकार—"सौंपे भूपति रिषिहि ··" (दो० २०८)। इसमें प्रणाम और आशीर्वाद दोनों पक्षों में लिया जाता है।

(२) 'बिस्वामित्र महा मुनि ज्ञानी ·····'—प्रजापति के पुत्र कुश, कुश के पुत्र कुशनाभ, कुशनाभ के पुत्र गाधि और गाधि के पुत्र महातेजस्वी विश्वामित्रजी हुए। गाधिराजा की कन्या सत्यवती ऋचीक ऋषि से ब्याही गई थी। उसकी सेवा पर रीझकर ऋषि ने उसे वर माँगने को कहा। उसने माँगा कि मेरे भाई और पुत्र दोनो हों। ऋषि ने एक ब्रह्म मंत्र से और दूसरा क्षात्र मंत्र से मंत्रित करके पृथक् पृथक चरु पकाकर दिया और कहा कि एक तुम खा लो और दूसरा अपनी माँ को दो। उसने माँ के सामने रखकर चरु का गुण कह दिया। पीछे माता ने सोचा कि ऋषि ने अपनी पत्नी के लिये अवश्य ही श्रेष्ठ चरु बनाया होगा। अतः, उसका भाग आप खा लिया और अपना भाग कन्या को दे दिया। रानी के पुत्र विश्वामित्र हुए जो चरु के प्रभाव एवं तप से क्षत्रिय होते हुए भी ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए। सत्यवती के जमदग्नि हुए जो ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र-प्रकृति के हुए। फिर सत्यवती की प्रार्थना पर ऋषि के अनुग्रह से जमदग्नि का क्षत्रियत्व उनके पुत्र परशुराम में उग्र रूप से आया। पीछे यही सत्यवती कौशिकी नदी के रूप में बहने लगी। (श्रीमद्भा० ९।१५) विश्वामित्रजी जिस प्रकार करणी करके ब्रह्मर्षि, महामुनि और ज्ञानी हुए, यह आगे—"मुनि-मन-अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥" (दो० ३५८) पर कहा जायगा। यहाँ केवल उत्पत्ति-प्रसंग थोड़े में कहा गया। 'महा मुनि'—क्योंकि क्षत्रिय-शरीर से तप करके ब्रह्मर्षि हो गये और वेदों के ऋषि हुए। 'ज्ञानी'—क्योंकि अपने आश्रम ही से प्रभु का प्रादुर्भाव जान लिया।

'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।'—विश्वामित्रजी वन में बसते थे, क्योंकि महान् विरक्त थे। 'सुभ-आश्रम जानी'—मुनि ने प्रथम ही से जान लिया था कि यह सिद्धाश्रम सिद्धपीठ है। क्योंकि पहले वामन भगवान् भी यहाँ कार्य सिद्ध कर चुके थे। अतः यहाँ साधन की सिद्धि शीघ्र होगी, वही हुआ भी। श्रीरामजी ने विघ्नों का नाश करके इनका यज्ञ सिद्ध किया। यथा—"सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः।" (वाल्मी० बा० स० ३०)। आजकल यह सिद्धाश्रम बक्सर नाम से बिहार में प्रसिद्ध है जो गंगातट पर है।

(३) 'जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं।'—जप से उपासना, यज्ञ से कर्म और योग से ज्ञान जनाया अर्थात्, मुनि यथावकाश कांडत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) में तत्पर रहते थे। 'जहँ' अर्थात् उस सिद्धाश्रम पर। 'अति मारीच ·····'—अर्थात् और राक्षसों से भी डरते थे, पर मारीच-सुबाहु से अत्यंत डरते थे। इनसे डरने का कारण आगे कहते हैं।

(४) 'देखत जज्ञ निसाचर···'—अर्थात् जप-योग के समय सामान्य डर रहता था, पर यज्ञ का धुआँ दूर से देखकर राक्षस तुरत दौड़ते थे। इससे यज्ञ में 'अति डर' होता था। 'दुख पावहिं'—अर्थात् दुःख सहते हैं, पर प्रतिकार नहीं करते, क्योंकि शाप देने में क्रोध करना होता है। क्रोध से पाप होता है; यथा—"सापे पाप नये निदरत खल······" (गी० बा० ३५)। वह यज्ञ ही ऐसा है कि इसमें शाप नहीं देना चाहिये। यथा—"न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव॥ तथा भूताहि सा चर्या न शापस्तत्रमुच्यते।" (वाल्मी० १।१९।७-८)। 'उपद्रव'—"राक्षस वेदी पर मांस फेंकने और रुधिर की वृष्टि कर देते हैं।" (वाल्मी० १।१९।६)।

गाधितनय-मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरिहिं न निसिचर पापी ॥५॥
तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ॥६॥
येहू मिस देखउँ पद जाई। करि बिनती आनउँ दोउ भाई ॥७॥
ज्ञान-बिराग - सकल - गुन - अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥८॥

दोहा—बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरजूजल, गये भूप दरबार ॥२०६॥

शब्दार्थ—मिस = बहाना। ब्यापी = विशेष उत्पन्न हुई, फैल गई। अयन = घर। बार = देर। दरबार = द्वार।

अर्थ—गाधिपुत्र विश्वामित्र के मन में विशेष चिन्ता हुई कि बिना भगवान् के पापी निशाचर नहीं मरेंगे ॥५॥ तब मुनिश्रेष्ठ ने मन में विचार किया कि पृथिवी का भार हरनेवाले प्रभु ने अवतार लिया है ॥६॥ इस बहाने भी जाकर उनके चरणों के दर्शन करूँ और प्रार्थना करके दोनों भाइयों को ले आऊँ ॥७॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और सब गुणों के स्थान हैं, उनको मैं आँखें भरकर देखूँगा ॥८॥ बहुत प्रकार से मनोरथ करते हुए जाने में देर न लगी। सरयू-जल में स्नान करके राजा के द्वार पर गये ॥२०६॥

विशेष—(१) 'गाधितनय मन ···'—चिन्ता राजाओं को होती है, मुनियों को नहीं; इसलिये पिता (राजा गाधि)-सम्बन्धी नाम दिया गया। यह भी भाव है कि मुनि राजा के पुत्र हैं और युद्ध-विद्या में कुशल भी हैं। फिर भी स्वयं मारने का उद्योग नहीं किया, क्योंकि ज्ञानी हैं, जानते हैं—"हरि बनु मरिहिं न निसिचर पापी।" व्यर्थ ही युद्ध के उद्योग से कष्ट से पाये हुए ब्रह्मर्षि पद की हानि होगी।

(२) 'तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा ···'—यहाँ विचार करने में 'मुनिवर' कहा गया, क्योंकि मुनि विचारवान् होते ही हैं। जैसे प्रभु का अवतार जाना, वैसे उपयुक्त समय भी जान लिया कि अब श्रीरामजी की शस्त्रास्त्रकुशलता का भी परिचय राजा को हो गया और साथ ही श्रीरामजी के लीला-कार्य प्रारंभ का समय भी जान लिया, क्योंकि मुनि त्रिकालज्ञ हैं। सत्योपाख्यान (अ० ५३) में यह भी लिखा है कि विश्वामित्रजी को स्वप्न में शिवजी ने कहा है; तब वे अयोध्या आये।

(३) 'येहू मिस देखउँ पद'''ये ज्ञानी हैं; अतएव जानते हैं कि प्रभु सब साधनों के फल हैं। यथा—"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पाये (गी० अ० २)। उनको प्राप्त कर उनसे यज्ञरूप साधन की रक्षा कराना अयोग्य है। अतः, अपनी दृष्टि से वे चरण-दर्शन ही को जाते हैं। यज्ञ का तो केवल बहाना है। तो फिर प्रभु से यज्ञ-रक्षा क्यों करावेंगे ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु का अवतार ही 'हरन महिभारा' और 'धर्म संस्थापनार्थ' है। अत, यह उनकी लीला का कार्य है। पुनः यह भी कहा जाता है कि यज्ञ-रक्षा के बहाने उनका ऐश्वर्य भी नहीं खुलेगा।

'करि बिनती आनउँ ···'—राजा दशरथ ने बड़े सुकृत से प्रभु को प्राप्त किया है। देना कठिन है, पर उन्हें विनती से प्रसन्न करके माँग लाऊँगा। यथा—"राजन रामलषन जो दीजै। जस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै॥" (गी० बा० ४८); "सादर समाचार नृप बूझिहै हौं सब कथा सुनाइहौं। तुलसी है कृतकृत्य आश्रमहि रामलषन लै आइहौं॥" (गी० बा० ४९)।

(४) 'ज्ञान बिराग-सकल-गुन अयना।'''—ज्ञान से हमारे हृदय की जानेंगे और विराग से माया-

पिता एवं गृह-सुख का सम्बन्ध छोड़कर हमारे साथ होंगे। 'सकल गुन' में कृपा, दया, युद्ध-विद्या आदि भी हैं अर्थात् हमारे ऊपर कृपा करेंगे। रण-कुशलता से राक्षसों का भय न करेंगे।

(४) 'बहु बिधि करत मनोरथ ··'—प्रभु सम्बंधी मनोरथ होने से प्रेमोद्गार के साथ जाने में मार्ग नहीं जान पड़ा। अतः, 'जात लागि नहिं बार' कहा गया है। यथा—"करत मनोरथ जात पुलकि, प्रगटत आनंद नयो। तुलसी प्रभु-अनुराग उमँगि मग मंगलमूल भयो॥" (गी० बा० ४५); मनोरथ, यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव, अवधि आनँद की, अवध विलोकिहौं पाइहौं॥ सुतन्हि सहित दसरथहिं देखिहौं, प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचंद-मुखचंद-सुधा-छबि नयन चकोरन्हि प्याइहौं॥ सादर समाचार···" (गी० बा० ४६)।

'करि मज्जन सरजू-जल, गये भूप दरबार।'—प्रथम नित्य क्रिया से निवृत्त होकर ही कहीं जाने की नीति है वा तीर्थ के भाव से प्रथम स्नान करके तब श्रीअवध में भीतर चले। 'दर-बार' का अर्थ वह द्वार जहाँ स्वतः जाने में वारण अर्थात् रुकावट हो। दर (फा०)=द्वार, बारना (क्रि० अ०)—मना करना, अर्थात् जहाँ डेवढ़ी लगती है, बिना आज्ञा लिये कोई नहीं जाने पाता। यथा—"एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं, भीर भूप दरबार।" (अ० दो० २३); यथा—"गयेउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम-पद-कंज" तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिं जनावा। सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥" (लं० दो० १८)। यहाँ भी आज्ञा लेकर भीतर जाना दरबार पर कहा गया है।

इस दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम है; अतएव अन्तिम 'जल' शब्द के 'ल' को विकल्प से दीर्घ पढ़ना चाहिये। ऐसा नियम है; यथा—"पादान्तस्थो गुरुः विकल्पेन" (श्रुतबोध)।

मुनि-आगमन सुना जब राजा। मिलन गयेउ लै बिप्रसमाजा॥१॥
करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥२॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥४॥

अर्थ—जब राजा दशरथ ने मुनि का आना सुना तब विप्र-समाज को साथ लेकर मिलने गये॥१॥ दंडवत्-प्रणाम करके मुनि का सम्मान करते हुए अपने आसन पर उन्हें ला बैठाया॥२॥ (उनके) चरण धोकर उनकी सम्यक् प्रकार से पूजा की और कहा कि मेरे समान भाग्यवान् आज दूसरा नहीं है॥३॥ उन्हें तरह-तरह के भोजन करवाये। मुनि-श्रेष्ठ हृदय में बड़े हर्षित हुए॥४॥

विशेष—(१) 'लै बिप्र समाजा'—विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि हैं। अतः, उनकी अगवानी विप्र-समाज को साथ लेकर की, क्योंकि सजातीय वृन्द देखकर उन्हें हर्ष होगा।

(२) 'करि दंडवत मुनिहिं···'—दंडवत् प्रणाम किया, अर्घ्य-पाँवड़े देते हुए लाये, फिर राज-सिंहासन पर बैठाया, यह सम्मान किया। 'निज आसन' देकर यह भी जनाया कि यह राज्य आप ही का है। 'अति पूजा'—षोड़शोपचार की एक-एक विधि प्रेम एवं विस्तार से की; क्योंकि मुनि ने स्वयं कृपा करके दर्शन दिये हैं, इससे अपना बड़ा भाग्य समझा। 'मो सम आजु धन्य···'—यह सम्मान करने की बड़े लोगों की रीति है। यह भी ध्वनित होता है कि मुनि अभी तक किसी दूसरे राजा के द्वार पर नहीं गये थे; यथा—"देखि मुनि! रावरे पद आज। भयो प्रथम गनती में अबते हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० बा० ४७)।

(३) 'हरष अति पावा'—विप्र-समाज को साथ लेकर उनकी अगवानी की, सम्मान और अति पूजा की, आगमन पर अपना भाग्य सराहा, षट्रस भोजन करवाया। राजा के इन सब कृत्यों से मुनि को आशा हुई कि यहाँ मेरा मनोरथ भी सिद्ध होगा, अतएव अत्यंत हर्ष हुआ।

पुनि चरननिन्ह मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी ॥५॥
भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरनससि लोभा ॥६॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥७॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥८॥

अर्थ—फिर चारो पुत्रों को मुनि के चरणों पर डाला (प्रणाम कराया)। श्रीरामजी को देखकर मुनि शरीर की सुधि भूल गये ॥५॥ (रामजी के) मुख की शोभा देखते ही वे ऐसे निमग्न हुए; मानों पूर्णचन्द्र को देखकर चकोर लुभा गया हो ॥६॥ तब राजा मन में प्रसन्न होकर वचन बोले कि हे मुनि! ऐसी कृपा तो आपने कभी न की थी ॥७॥ किस कारण आपका आगमन हुआ ? कहिये, उसके (पूर्ण) करने में देर न करूँगा ॥८॥

विशेष—'भये मगन···'—स्नेह की मग्नता से देह-सुधि को भूलना—इससे प्रकट हो गया कि मुनि आशीर्वाद तक देना भूल गये—टकटकी लगाकर देखते ही रह गये। मुख पर दृष्टि रह जाना वात्सल्य भाव का सूचक है। यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० ३५७)। 'तब मन हरषि···'—अपने पुत्रों पर मुनि की कृपादृष्टि एवं प्रसन्नता और स्नेह देखकर राजा को हर्ष हुआ।

असुरसमूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयेउँ नृप तोही ॥९॥
अनुज - समेत देहु रघुनाथा। निसिचर - बध मैं होब सनाथा ॥१०॥

दोहा—देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।
धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ, इन कहँ अति कल्यान ॥२०७॥

अर्थ—हे राजन्! मुझे राक्षस वृन्द दुःख देते हैं, इसलिये मैं तुमसे माँगने आया हूँ ॥९॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) के साथ रघुनाथ श्रीरामजी को दीजिये, निशिचरों का वध होने से मैं सनाथ हूँगा ॥१०॥ हे राजन्! प्रसन्न मन से दीजिये; मोह और अज्ञान छोड़िये, हे प्रभो! आपको धर्म और सुयश होगा और इनका अत्यन्त कल्याण होगा ॥२०७॥

विशेष—(१) 'मोही' और 'तोही'—अर्थात् मेरे समान याचक आपको दूसरा न मिला होगा और न आपके समान कोई दूसरा दानी है कि जिसके यहाँ मैं याचक बनता।

(२) 'अनुज-समेत देहु···'—अनुज तो भरत भी यहाँ साथ ही हैं, पर पायस के भाग के अनुसार कौशल्याजी के हाथ से दिये हुए भाग से लक्ष्मणजी रामानुज-रूप में मुख्य कहे जाते हैं, यथा—"रामअनुज जग जान" (अ० दो० १२१); तथा शत्रुघ्नजी 'भरतानुज' कहाते हैं, यथा—"सानुज निदरि

निपातउँ···" (अ० दो० २११)। पुनः पृथ्वी का भार उतारने के लिये लक्ष्मणजी का अवतार ही है—"सेष सहस्रसीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भयटारन॥" (दो० १६)। अतः, इन्हीं को साथ माँगा।

'होब सनाथा'—अभी मुझे अनाथ (रक्षकहीन) समझकर ये असुर बराबर सताया करते हैं। जब इनका वध होगा, तब रावण के शेष अनुचर समझ जायँगे कि मुनि के कोई समर्थ नाथ हैं। अतः, फिर नहीं सतावेंगे।

(३) 'देहु भूप मन···'—श्रीराम-लक्ष्मण का माँगना सुनते ही राजा की चेष्टा धृत-हीन हो गई, इसलिये मुनि 'नाहीं' करने के पूर्व ही सावधान करते हैं कि हे राजन्! हर्ष-पूर्वक ही दान देना चाहिये, यथा—"देव···तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

'तजहु मोह अज्ञान'—मोह प्राकृत पुत्र भाव के प्रीति-रूप ममत्व को कहते हैं और इन पुत्रों का ऐश्वर्य न जानना अज्ञान है; यथा—"दरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय बाम-देव अरु कुलगुरु, तुम्ह पुनि परम सयाने॥ रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति, अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की, कबिकुल कीरति गैहैं॥" (गी० बा० ४८)।

(४) 'धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ'—मुनियों की रक्षा, यज्ञ-रक्षा आदि से धर्म की प्राप्ति होगी, क्योंकि इससे धर्म का प्रचार और देवों का उपकार होगा। पुत्रों के बाहु-बल से राक्षस वध होने और प्रजा के सुखी होने से तथा याचक की तृप्ति से आपका सुयश बढ़ेगा। 'इन्ह कहँ अति कल्यान'—पास ही उपस्थित चारों कुमारों की ओर इशारा करके कहते हैं कि दो जो साथ जायँगे, उनका तो ब्याह होगा ही, शेष दो का भी विवाह हो जायगा, यथा—"कल्यान काज विवाह मंगल ··" (दो० १०२)।

वाल्मी० बा० १८।३७–३९ से स्पष्ट है कि राजा पुरोहित और मंत्रियों के साथ पुत्रों के विवाह के लिये चिंतित थे, उसी समय विश्वामित्रजी आये। इससे 'अति कल्यान' से विवाह का ही अर्थ है, यथा—"कौसिक मिस सीय-स्वयंवर गायो।" (गी० बा० १४)। इसमें धनुर्भंग से तीनों लोकों में इनका यश फैलेगा, तुम्हें किसी के ब्याह की चिंता नहीं करनी पड़ेगी।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी॥१॥
चौथेपन पायेउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥२॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥३॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥४॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गुसाईं॥५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥६॥

अर्थ—मुनि की अत्यन्त अप्रिय वाणी सुनकर राजा का हृदय काँप उठा और मुख की कान्ति फीकी पड़ गई॥१॥ (वे बोले) हे विप्र! आपने विचारकर वचन नहीं कहे। मैंने चौथेपन में चार पुत्र पाये हैं॥२॥ भूमि, गाय, धन, खजाना—जो माँगिये, मैं हर्ष एवं उत्साहके साथ आज सब कुछ दे डालूँगा॥३॥ देह और प्राण से अधिक प्यारी कोई वस्तु नहीं होती, वह भी मैं पलक-मात्र में दे दूँगा॥४॥ (यों तो) सब पुत्र मुझे प्राणों की तरह प्रिय हैं, पर हे गोस्वामी! राम को तो देते ही नहीं बनता॥५॥ कहाँ वे बड़े भयंकर कठोर राक्षस और कहाँ परम किशोर अवस्था के ये सुन्दर बालक!॥६॥

विशेष—(१) 'अति अप्रिय बानी'—प्रथम का वचन—'अनुज समेत देहु'···' अप्रिय लगा, क्योंकि प्राण-प्रिय पुत्रों का वियोग होता। फिर—'निसिचर बध'···' तो 'अति अप्रिय' लगा।

प्रथम राजा मन, वचन और कर्म से प्रसन्न थे, यथा—"तब मन हरषि बचन कह राऊ। केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा॥" (दो० २०६)। अब तीनों से मलिन पड़ गये, यथा—"हृदय कंप"—मन, "मुख दुति कुम्हिलानी"—कर्म और —"राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥" वचन। राजा दान में वीर हैं, पर यह श्रीराम-प्रेम की महिमा है, यथा—"मोह मगन मति नहि बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (अ० दो० २८५)। परम प्रिय एवं अति कोमल पुत्रों का वियोग और उनका घोर राक्षसों से सामना होना हृदय में छा गया, धर्म-सुयशवाले वचनों के गूढ़ आशय पर वृत्ति जाने ही नहीं पाई।

(२) 'चौथेपन पायेउँ सुत'···'—तरुणावस्था होती तो और पुत्रों की भी आशा रहती। अतः, चौथेपन में उत्पन्न संतान का अति प्रिय होना सहज ही है। उस समय राजा साठ हजार वर्षों के हो चले थे। यथा—"षष्टि वर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक। कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।" (वाल्मी० बा० २०।११)

'बिप्र बचन नहिं'···'—विप्र वेदवेत्ता होते हैं। यथा—"वेदपाठी भवेद्विप्रः" (मनु०); आप तो वेद के ऋषि ही हैं। अतः, विचार कर बात कहनी चाहिये। आपने यह न सोचा कि चौथेपन में उत्पन्न संतान का वियोग पिता को कैसे सहन होगा और न यही विचारा कि बालक अत्यन्त सुकुमार हैं। तब देने की प्रतिज्ञा क्यों की? इसपर आगे कहते हैं कि—'माँगहु भूमि'···'—राजा के लिये भूमि मुख्य है, उसे प्रथम कहा; अर्थात् ये सब चीजें माँगने की हैं, इन्हें माँगिये। मुनि ने कहा था—"मैं जाँचन आयेउँ'···' इसपर आप कहते हैं कि 'माँगहु'···'।

(३) 'सरबस देउँ आजु सहरोसा'—'आजु' अर्थात् सर्वस्व देने की सदा श्रद्धा नहीं रहती, इसलिये 'आजु' कहते हैं, क्योंकि बड़े भाग्य से आप ऐसे याचक मिले हैं। 'सहरोसा' शब्द सहर्ष का विकृत रूप है; अर्थात् हर्ष या उत्साह-पूर्वक, यथा—"सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।" (बा० दो० १२); छंदानुरोध से 'हरषा' का हरोषा, हरोसा किया गया है। अथवा 'रोष' का अर्थ जोश भी होता है, यथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा।" (दो० ३), तथा—"बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत।" (हरिश्चन्द्र); इससे 'सहरोसा' का अर्थ उत्साह-पूर्वक ही होगा।

(४) 'देह प्रान ते प्रिय'···'—प्रथम भूमि आदि प्रिय पदार्थ कहे, अब देह-प्राण रूप परम प्रिय पदार्थ देने को कहा, यथा—"सब के देह परम प्रिय स्वामी।" (सुं० दो० २१)। देह-प्राण देने में कष्ट एवं कठिनता होती है, पर मैं उन्हें पलक भर में ही दे सकता हूँ। देह-प्राण देने का आशय यह है कि बालक अति सुकुमार हैं, उनके बदले में चलकर युद्ध में देह-प्राण दूँगा, क्योंकि युद्ध में ये ही काम आते हैं। वाल्मीकीय में राजा ने जब जाना कि उन राक्षसों का मालिक रावण है, तब कहा कि उससे तो देवता भी नहीं जीत सकते, हम मनुष्यों का क्या सामर्थ्य है (बा० स० २०)? पर, यहाँ यह भाव उत्तम रूप में आया कि हम न भी जीतें, तो भी देह-प्राण देने को तैयार हैं।

(५) 'सब सुत प्रिय मोहि'···'—अर्थात् भरत आदि को भी नहीं माँगे, उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी को पृथक् करके कहा, क्योंकि मुनि ने प्रधान रूप से उन्हीं को माँगा है—"अनुज समेत देहु रघुनाथा।'···'। 'राम देत नहिं बनइ'—क्योंकि ये ज्येष्ठ पुत्र हैं जो पिता का अधिक प्यारा होता है। पुनः पूर्व मनु के वरदान के अनुसार—'जीवन राम-दरस आधीना।' भी कारण है। यथा—"चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥ ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।" (वाल्मी० बा० २०।१२) यहाँ श्रीरामजी को प्राणों से भी

अधिक प्रिय कहा, यथा—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (अ० दो० ११)। क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण अर्थात् प्रकाशक हैं, यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम।" (अ० दो० २९०)।

(६) 'कहँ निसिचर अति घोर'…—अर्थात् वे राक्षस अति घोर, ये अति सुंदर; वे अति कठोर, ये 'मृदु परम किसोर'—इस अयोग्यता को भी आपने नहीं विचारा! यह तो पृथिवी और आकाश का-सा अंतर है!

सुनि नृपगिरा प्रेम-रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी ॥७॥
तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृपसंदेह नास कहँ पावा ॥८॥
अति आदर दोउ तनय बोलाये। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये ॥९॥
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥१०॥

दोहा—सौंपे भूप रिषिहिं सुत, बहु बिधि देइ असीस।
जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस ॥

अर्थ—प्रेम-रस में सनी हुई राजा की वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि विश्वामित्र ने हृदय में हर्ष माना ॥७॥ तब वसिष्ठजी ने राजा को बहुत तरह से समझाया, (उससे) राजा का संदेह नाश हुआ ॥८॥ और अत्यंत आदर से दोनों पुत्रों को बुलाकर हृदय से लगाया और बहुत प्रकार से सिखाया ॥९॥ हे नाथ! ये दोनो ही पुत्र मेरे प्राण हैं, हे मुनि! आप ही इनके पिता हैं और कोई नहीं ॥१०॥ राजा ने बहुत तरह से आशीष देकर ऋषि को पुत्र सौंप दिये। तब प्रभु माता के महल में गये और (उनके) चरणों में माथा नवाकर चल दिये ॥२०८॥

विशेष—(१) 'हृदय हरष माना'…—मुनि कोरे ज्ञानी ही नहीं हैं, प्रेमी भी हैं। अतः, प्रेम-रस में सानी हुई वाणी से हर्ष ही माना, क्योंकि प्रेम से ज्ञान की शोभा है यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)। हृदय में ही हर्ष माना; अर्थात् ऊपर से रुखाई भी दिखाई; अन्यथा उनके कार्य में बाधा होती। इसमें वाल्मी० बा० स० २०–२१ में कहा हुआ रोष भी जना दिया। पुनः मुनि ज्ञानी हैं, इसीसे राजा के सप्रेम वचनों पर हृदय से उमड़े हुए प्रेम को हृदय में ही छिपा रक्खा; अन्यथा कार्य बिगड़ता।

(२) 'तब बसिष्ठ बहु बिधि'…—वसिष्ठजी ने अलग एकान्त में ले जाकर राजा को समझाया, क्योंकि आगे दोनों पुत्रों को विश्वामित्रजी के पास से बुलाना कहा गया है। 'अति आदर दोउ'…' श्रीरामजी विश्वामित्रजी के पास थे। अतः, वहाँ पर नहीं समझाया, क्योंकि समझाने में श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहना है जिसे सबपर प्रकट करना अनुचित होता। पुत्र (शिष्य) और सेवक आदि छोटों की प्रशंसा उनके सामने करने की रीति नहीं है। यथा—"प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे सेवकाः सुताः॥" (गरुड़पुराण)

'बहु बिधि'—(क) आप इक्ष्वाकुवंश में परम धर्मात्मा हैं। प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होने से सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। अतः, आप धर्म न छोड़ें। श्रीरामजी रण के योग्य हों चाहे अयोग्य; जब महातेजस्वी विश्वामित्र रक्षक हैं तब भय न करें। साथ ही विश्वामित्र का महत्त्व भी खूब बतलाया और कहा कि ये आपके पुत्रों का विशेष कल्याण करेंगे, इत्यादि—(वाल्मी० बा० स० २१)। (ख) श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहा, यथा—"गुरु वसिष्ठ समुझाय कह्यो तब, हिय हरषाने जाने सेषसयन।" (गी० बा० ४१)।

समझाने के कारण—(क) विश्वामित्र बड़े क्रुद्ध हुए, पृथिवी हिलने लगी, तब अवसर देखकर

गुरुजी ने स्वय समझाया। (ख) विश्वामित्रजी ने ही कहा था—"डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम्ह पुनि परम सयाने॥" (गी० बा० ४८), राजा ने पूछा तो गुरुजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहकर समझाया। (ग) राजा को प्रेम मे विहल देखकर गुरुजी ने स्वय समझाया, यथा—"ठगि से रहे नृप सुनि मुनिवर के बयन। कहि न सकत कछु "गुरु वसिष्ठ समझाय कह्यो तब ''" (गी० बा० ४६)। 'बहु विधि' में बहुत प्रकार के कारणों से एवं बहुत प्रकार से समझाने की मतभेद एवं कल्पभेद से जो विभिन्न रीतियाँ हैं, इसमें सब आ गईं। 'अति आदर दोउ '''—आदर से तो सदा ही बुलाते थे। आज वियोग जानकर और तुरत ही ऐश्वर्य जानने पर 'अति आदर' से बुलाया। 'हृदय लाइ'—यद्यपि ऐश्वर्य सुना था, तथापि रामजी के सम्मुख आने पर मुख देखते ही वात्सल्य ने ऐश्वर्य को भुला दिया। इससे हृदय लगाया और शिक्षा देने लगे कि इन्हें (विश्वामित्रजी को) ही गुरु पिता-माता जानकर इनकी सेवा करना और आज्ञा मानना। गुरु-सेवा का महत्त्व भी कहा, यथा—"जे गुरु चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥" (अ० दो० २), इत्यादि बहुत तरह सिखाना है।

(३) 'मेरे प्राननाथ '''—ये दोनों मेरे प्राण हैं, यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥" (दो० ३०७)। अत, इनकी रक्षा से मेरे प्राणों की रक्षा होगी। 'तुम्ह मुनि पिता'—यहाँ अपना पितृत्व मुनि में स्थापित किया। प्राण-रूप पुत्रों के वियोग मे राजा कैसे जीते रहे ? यह दोहा १६ में लिखा गया है।

(४) 'सौंपे भूप रिषिहिं सुत '''—मुनि को पिता बना चुके, तब अब श्रीरामजी उनके ही हैं। अत, उनकी वस्तु उन्हें देने को सौंपना कहा। 'जननी-भवन '—माता के यहाँ गये और माथा नवाकर तुरंत चल दिये, क्योंकि मुनि के साथ जाने एव पिता के वचन पालने में श्रद्धा है। 'बहु बिधि देइ असीस' और 'नाइ पद सीस' दोनों को दोनों ही जगह लगाना चाहिये। यह काव्य-गुण एव ग्रंथकार की रीति है। पहले भी इसपर लिखा गया है।

शंका—पिता तो वियोग समझकर इतने विहल हुए, पर माता ने कुछ न कहा ?

समाधान—माता को आगमी (ज्योतिषी) द्वारा जाना हुआ था कि कौशिक के द्वारा व्याह होगा। यह गी० बा० १४ मे कहा है। इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है और यह अन्न प्राशन के समय ऐश्वर्य देखने से दृढ भी हो गया है, किंतु फिर भी कुछ ही दिनों के पीछे वात्सल्य से चिंतित होंगी, यथा—"मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे। ' रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी।'''" (गी० बा० १७—१८) इन पदों में विस्तार से कहा है।

सोरठा—पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि-भय-हरन।
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल-बिस्व कारन करन ॥२०८॥

अर्थ—पुरुषों में सिंह-रूप, कृपा के समुद्र, धीर बुद्धि और निःशेष जगत् के कारण और करण दोनों वीर मुनि के भय हरने के लिये हर्ष के साथ चले।

विशेष—(१) 'पुरुषसिंह दोउ बीर'''—सिंह निर्भय अकेला ही हाथियों का नाश करता है, वैसे बिना सेना के ही ये दोनों वीर घोर निशाचरों का नाश करेंगे। सेना आदि के न लेने के कई कारण कहे जाते हैं। (क) इन राक्षसों को किसी मुनि का शाप था कि तुमलोग रथरहित बालक के द्वारा निरादर-

पूर्वक मारे जाओगे। (ख) यह भी संभव था कि भारी सेना आदि देखकर वे लड़ने न आते तो भी मुनि का भय बना ही रहता। (ग) श्रीरामजी का लीला-विधान ऐसा ही था—यह तो प्रधान ही है। ये 'बीर' हैं, अतः, हर्ष-पूर्वक युद्ध के लिये चले और सेना तथा सहायक भी न लिये। मुनि के भय-हरण के लिये जाते हैं। अतः, 'कृपासिंधु' कहे गये। माता-पिता एवं गृह के सुख के त्याग में उत्साह बना है। अतः, 'मतिधीर' कहे गये।

(२) 'अखिल बिस्व कारन करन'—श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के परम कारण हैं। यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरम्···" (.मं० श्लोक) और लक्ष्मणजी जगत्मात्र के करण हैं, क्योंकि जीवमात्र के नियामक एवं प्रतिनिधि हैं और संपूर्ण जीव जगत् के करण हैं। 'करण' का अर्थ यह है कि जिसके द्वारा कर्त्ता क्रिया को सिद्ध करता है। व्याकरण में यह एक कारक है, वैसे जीव के द्वारा ही भगवान् जगत् का व्यापार धारण करते हैं। यथा—"प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥" (गी० ७।५); तथा—"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गीता ११।३३)। अतः, पृथ्वी का भार उतारने में दोनों का प्रयोजन है।

'बीर'—वीरता पाँच प्रकार की है। यहाँ श्रीरामजी में इसके पाँचो भेद कहे गये हैं। यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरश्च शाश्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पंचधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। यहाँ 'पुरुषसिंह' में पराक्रम-वीरता, 'हरषि चले मुनि-भय-हरन' में धर्मवीरता, 'कृपासिंधु' में दयावीरता, 'मतिधीर' में त्याग-वीरता और 'अखिल बिस्व कारन करन' में ऐश्वर्य दृष्टि से विद्यावीरता है। माधुर्य की युद्धविद्यावीरता आगे प्रकट होगी कि एक बाण से ताटका को, बिना फर के बाण से मारीच को और अग्निबाण से सुबाहु को मारेंगे। लक्ष्मणजी अकेले ही सारी सेना को मार डालेंगे।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नीलजलद तनु स्याम तमाला॥१॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा॥२॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥३॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥४॥

शब्दार्थ—*ब्रह्मन्यदेव = ब्राह्मण ही जिनके देवता हैं, ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखनेवाले।*

अर्थ—(रामजी के) नेत्र लाल, छाती और भुजाएँ लंबी-चौड़ी और शरीर नील मेघ और श्याम तमाल वृक्ष की तरह श्याम है॥१॥ कमर में पीताम्बर है जिसमें तरकश कसे हुए हैं और दोनों हाथों में सुन्दर धनुष और बाण हैं॥२॥ दोनो भाई सुन्दर हैं—एक साँवले और दूसरे गोरे, (मानों) विश्वामित्र ने बड़ी निधि पाई है॥३॥ (मुनि सोचते हैं,) मैंने जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, (क्योंकि) भगवान् ने मेरे लिये पिता का त्याग किया॥४॥

विशेष—(१) 'अरुन नयन उर···'—नेत्र की अरुणता से लेकर कमर तक ही का वर्णन है, अतः, यह ध्यान वीर रस का है। यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ॥ छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरि निभ तनु कछु एक काला॥" (लं० दो० ५२)। मेघ और वृक्ष दोनो परोपकारी हैं; श्रीरामजी भी परोपकार के लिये चले हैं। अतः, उपमाएँ युक्त हैं। यह ध्यान प्रपन्नों (शरणागतों) को सुखद और खलों को दुःखद है। यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत-भयमोचन॥" (सुं० दो० ४४)।

श्रीरामजी भी मुनियों को सुख और खलों को दंड देने चले हैं। जलद की उपमा में दोनो युक्त हैं। यथा—"बरपि बिस्व हरपित करत, हरत ताप अघ प्यास। तुलसी दोप न जलद को, जो जल जरइ जवास॥" (दोहावली ३७८)। यहाँ पर यह वीर रस का ध्यान प्रथम दिग्विजय-यात्रा के लक्ष्य से है, क्योंकि इसमें निशाचर-वध, धनुर्भंग और परशुराम-पराजय से रामजी की दिग्विजय होगी।

(२) 'कटि पट पीत'…'—पीताम्बर भी वीर रस का ही साज है। यथा—"पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (भाग० दशम स्कं०)। 'वरभाथा'—अर्थात् तूण अक्षय्य है, इसमें से चाहे जितने ही वाण निकलें, किंतु यह भरा ही रहता है। 'रुचिर'—सुंदर एवं सफल। यथा—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" (आ० दो० २६); "जो मृग राम-बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥" (दो० २०७)।

(३) 'स्याम गौर …'- ऊपर 'दोउ बीर' से वर्णन प्रारंभ करके बीच में केवल श्रीरामजी का ध्यान कहा और साथ में लक्ष्मणजी भी हैं, यहाँ स्याम-गौर कहकर केवल-वर्णमात्र में भेद दिखाया। शेष वे ही बातें श्रीलक्ष्मणजी में भी हैं।

'महानिधि पाई'—निधि राजा के यहाँ से प्राप्त होती है, वैसे ये दोनो भाई भी राजा के यहाँ से प्राप्त हुए हैं। निधियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक नील और दूसरी शंख वर्ण की; वैसे ही स्याम-गौर दोनों भाई हैं। 'महानिधि' अर्थात् असंख्य धन। 'पाई' अर्थात् पाया हुआ धन थोड़े काल तक रहता है, वैसे ये दोनों भाई फिर अयोध्या ही में आ जायँगे। निधि नव हैं "महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ। मुकुंदकुंदनीलश्च खर्वश्च निधयो नव॥"।

(४) 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव ……' ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखते हैं और राक्षस-वध में प्रभु अर्थात् समर्थ हैं और भगवान् हैं। अतः, मेरी हार्दिक गति जान ली और भक्त जानकर रक्षार्थ पैदल आ रहे हैं—यद्यपि षडैश्वर्य पूर्ण हैं। अतः, मुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान्, यथा –"उत्पत्तिं प्रलयं चैव जीवानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" 'मैं जाना'—यह इनका स्वकीय ज्ञान है। अत, इसे प्रभु माधुर्य लीला से आवृत कर देंगे, फिर आगे ताटका-वध से स्वयं अपनेको जनावेंगे, वही यथार्थ ज्ञान होगा। पूर्वोक्त "कहि कथा सुहाई" (दो० १६१) का विशेष भी देखिये।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥५॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥६॥
तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥७॥
जाते लागि न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु-तेज प्रकासा॥८॥

दोहा—आयुध सर्व समर्पि कै, प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत-हित जानि॥२०६॥

अर्थ—मार्ग में जाते हुए मुनि ने (ताटका को) दिखा दिया, (मुनि के वचन) सुनकर ताटका क्रोध करके दौड़ी॥५॥ श्रीरामजी ने एक ही बाण से उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसे 'निज पद' दिया॥६॥ तब ऋषि ने अपने स्वामी को हृदय से जाना और विद्यासागर को विद्या दी॥७॥

जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीर में निःसीम बल और तेज का प्रकाश हो ॥८॥ सब अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभु को अपने आश्रम में ला उन्हें भक्त-हितकारी जानकर कंद-मूल-फल भोजन के लिये दिये ॥२०६॥

विशेष—(१) 'चले जात मुनि······'—वाल्मी० बा० स० २४-२६ में कथा है कि मुनि ने जाते हुए उस वन और ताटका का इतिहास कहा, तब श्रीरामजी ने धनुष का टंकार किया। ताटका शब्द सुनकर इधर को दौड़ी, श्रीरामजी स्त्री जानकर कुछ ढीले पड़े थे, उसका वेग बढ़ता देखकर मुनि ने हुंकार करके उसे डाँटा। इसे सुनकर वह और क्रुद्ध होकर दौड़ी। मुनि ने यहाँ ताटका-वन को एवं टंकार सुनकर आई हुई ताटका को दिखाया है और वह मुनि का हुंकार शब्द सुनकर अधिक क्रुद्ध हुई, तथा धूल आदि की वर्षा की, यह 'सुनि' का अर्थ है।

'दीन्हि देखाई' के पीछे 'सुनि' का यह भी भाव है कि मुनि के दिखाने पर रामजी ने उसे स्त्री जानकर उसपर अस्त्र प्रयोग करना अयोग्य समझा। इसपर मुनि ने समझाया कि इस तरह की दुष्टा स्त्री के वध में दोष नहीं। इन बातों को निकट होने से ताटका ने भी सुना। अतः, क्रोध करके दौड़ी।

स्त्री अवध्य है; फिर क्यों मारा? इसका समाधान गुरु की आज्ञा का पालन है, यथा—"गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी।······उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६)। मुनि ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी? इसका समाधान वाल्मी० बा० स० २५, श्लो १७–२२ में है कि प्रजा की रक्षा के लिये ऐसी दुष्टा के मारने में दोष नहीं।

शंका—यहाँ प्रथम स्त्री-वध से ही असुरनाश का श्रीगणेश हुआ, वैसे श्रीकृष्णावतार में भी पूतना-वध से ही आरंभ है, यह क्यों?

समाधान—नाम-वंदना में ताड़का को दुराशा-रूप कहा है, यथा—"सहित दोष दुख दास दुरासा।" (दो० २४) और दुराशा के प्रथम नाश होने से शेष आसुरी संपत्ति का नाश होता है। अतः, दोनों अवतारों में प्रथम स्त्री ही से सामना हुआ। आसुरी सम्पत्ति के नाश के लिये ही अवतार होते हैं।

(२) 'एकहि बान प्रान ······'—निशाचरों को अपना पराक्रम दिखाने और मुनि का भय शीघ्र मिटाने एवं उनकी आज्ञा पालने के लिये शीघ्र ही मार डाला।

'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।'—यह प्रथम यक्षिणी थी। अगस्त्यजी के शाप से राक्षसी हुई थी। शापित होने और अबला एवं विधवा होने से दीन हो थी। 'निज पद'—परधाम साकेत को गई। यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी॥ ··देहिं परम गति···" (लं० दो० ४४)।

(३) 'तब रिषि निज ···'—प्रथम मुनि ने अपने आश्रम ही से प्रभु को जान लिया था, फिर अभी ऊपर 'मैं जाना' कह आये, यहाँ फिर जी से 'चीन्हना' कहते हैं। इसका भाव यह कि जब दशरथजी ने अपना पितृत्व इन्हें दिया, यथा—"तुम्ह मुनि पिता······" तब वात्सल्य अधिक हुआ। इधर श्रीरामजी ने भी साथ में आते समय अति माधुर्यलीला से इन्हें मोहित करके इनका स्वकीय ज्ञान आवृत कर दिया था। यथा—"पैठत सरनि सिलन चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई॥" (गी० बा० ५०); "खेलत चलत करत मग कौतुक बिलमत सरित सरोवर तीर। ·····" (गी० बा० ५१); इत्यादि। फिर अब उन्हें अपने कर्त्तव्य से जनाया; तब जी से पहचाना (चीन्हा)। पूर्वोक्त—"कहि कथा सुहाई" (दो० १११) का विशेष भी देखिये।

'विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्ही।'—'निधि' खजाना। रामजी सम्पूर्ण प्राणियों में प्राप्त-विद्याओं के निधान हैं; इन्हीं से सबको विद्याएँ प्राप्त होती हैं। जैसे समुद्र का ही जल अंजलि में लेकर समुद्र को दे, वैसे विश्वामित्रजी ने अपनेमें विद्यमान विद्याओं को उनकी निधि में समर्पित किया। यथा—"विद्या दई जानि विद्यानिधि विद्यहु लही बड़ाई।" (गी॰ बा॰ ५१)। इन विद्याओं के नाम दो हैं—बला और अतिबला।

(३) 'जाते लागि न ......' यथा—"क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम। बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव ॥" "न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन।" "विद्ये तेजःसमन्विते॥" (वाल्मी॰ बा॰ स॰ २२)।

(४) 'आयुध सर्ब समर्पि कै .....'—इन आयुधों के नाम—"दण्डं चक्रं महद्दिव्यं..." से—तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत्॥" (वाल्मी॰ बा॰ २७।४-२३) तक हैं।

माधुर्य का भाव यह है कि इनके पिता ने सौंपा है, कहीं कंद-मूलाहार एवं भूख-प्यास से दुबले न हो जायँ। अत, विद्याएँ दीं। निशाचरों से कई दिनों तक लड़ना होगा, अतएव अस्त्रों और शस्त्रों के मंत्र दिये।

ऐश्वर्य के भाव—(क) जीव जिस समय सर्व-शरीरी ब्रह्म को यथार्थ जानता है, तब विद्या आदि प्रकाश एवं साधनादि अस्त्र उसीके निश्चित होते हैं, क्योंकि जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीर के गुण शरीरी के ही हैं। (ख) मुनि में ब्राह्मणत्व का अहंकार था—"प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना। मोहि निति .... " (उपर्युक्त)। उसे विद्या समर्पण द्वारा निवृत्त किया, क्योंकि विद्या ही ब्राह्मण का धन है और क्षत्रिय-अवस्था में तप द्वारा अस्त्रों को प्राप्त किया था, उस क्षत्रिय-बल को भी अर्पित करके वह अहंकार भी दूर किया। इस प्रकार सर्वस्व-सहित आत्म-समर्पण किया तब भगवान् इनके सर्वोपाय रूप हुए और इनकी रक्षा की।

'कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत.......'—जब क्षुधा न लगने की विद्या ही दी तब भोजन क्यों दिया? फिर जब ऋद्धि-सिद्धि इनके अधीन हैं तब कन्द आदि ही क्यों दिये? इसका समाधान 'भगत-हित जानि' कहकर किया कि भक्तों के यहाँ जो कुछ आहार होता है, उसीको भगवान् भी प्रेम-पूर्वक अंगीकार करते हैं। मुनि देखते हैं कि हमारे हित के लिये नंगे पैर सवारी के बिना हमारी तरह सभी आचरण कर रहे हैं, तो भोजन भी यही करेंगे। भक्त बिना भगवान् को भोजन कराये स्वयं कैसे करे? इसलिये भोजन भी दिया।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई ॥१॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी ॥२॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही ॥३॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा ॥४॥
पावकसर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर-कटक सँघारा ॥५॥

शब्दार्थ—झारी=सब, समूह। फर (फल)=अनी, बाण का अग्र भाग अर्थात् नोक।

अर्थ—सवेरे श्रीरघुनाथजी ने कहा कि आप जाकर बेखटके यज्ञ करें॥१॥ सब-के-सब मुनि होम करने

लगे और आप (रामजी) यज्ञ की रक्षा में रहे ॥२॥ (होम के स्वाहा शब्द एवं समाचार) सुनकर मुनियों के द्रोही, क्रोधी निशाचर मारीच ने सेना लेकर धावा किया ॥३॥ श्रीरामजी ने विना फल वाले बाण से उसे मारा, जिससे वह सौ योजनवाले समुद्र के पार जा गिरा ॥४॥ फिर अग्निबाण से सुबाहु को मारा और भाई लक्ष्मणजी ने कुल निशाचर-सेना का नाश किया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रात कहा मुनि सन······'—श्रीरामजी मुनि के सब कृत्य का समय जानते हैं, यथा—"समय जानि गुरु-आयसु पाई। लेन प्रसून चले······" (दो० २२६); वैसे यहाँ भी यज्ञ का समय जान गये और कहा। 'निर्भय'—क्योंकि मुनि को भय है—"अति मारीच सुबाहुहि डरहीं।" (दो० २०५)। 'जाई' अर्थात् जाकर यज्ञ करने के लिये कहा, क्योंकि आश्रम से यज्ञशाला पृथक् है।

(२) 'होम करन लागे ·····'—यज्ञ करने को गये, वहाँ उसके अन्य सामान्य विधान करके होम करने लगे। मुख्य होने से होम ही कहा गया। 'लागे'—क्योंकि यह यज्ञ छः दिनों तक हुआ है, यथा—"षष्ठेऽहनि तथा गते" (वाल्मी० बा० ३०।७)। 'झारी'—अर्थात् प्रथम समर्थ मुनि ही यज्ञ करते थे। इस समय श्रीरामजी का बल पाकर सब-के-सब एक साथ ही करने लगे।

'आप रहे मख ·····'--छः दिन-रात एकदम विना सोये हुए दोनों भाई यज्ञ-रक्षा करते रहे, यथा—"राजपुत्रौ यशस्विनौ। अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम् ॥" (वाल्मी० बा० ३०।५)।

(३) 'सुनि मारीच ·····'—प्रथम कहा गया था—"देखत जज्ञ निसाचर धावहिं।" क्योंकि मुनि लोग छिपे-छिपे यज्ञ करते थे, तब राक्षस धुआँ देखकर दौड़ते थे और अब एक साथ ही स्वाहा की गूँज हो गई, वही सुनकर दौड़े। 'क्रोधी' अर्थात् क्रुद्ध होकर दौड़े। 'लै सहाय'—क्योंकि ताटका का वध एक ही बाण से हुआ। अतः, शत्रु को प्रबल जानकर सेना के साथ पूर्ण उत्साह से दौड़ पड़े। आकाश-मार्ग से आये, यथा—"आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।" (वाल्मी० बा० स० ३०); तथा—"बेधे बरगद से बनाय बान-बान हैं।" (हनु० बाहुक ११)।

(४) 'सत जोजन गा···'—अर्थात् लंका में ही एक भाग में जा गिरा। यथा—"जो नाँघइ सत जोजन सागर।" (कि० दो० २८); अतः, शत-योजनवाले सागर के पार गया, इससे आगे लीला का काम लेना है। अतः, जीवित रखने के लिये विना फल के बाण से मारा। विना फल के बाण से मारने में कारण के विना कार्य हुआ। अतः, विभावना अलंकार है। यहाँ सर्वज्ञता दिखाई। शंका—जब लंका में ही जा गिरा तब उसने रावण से क्यों नहीं कहा? समाधान—श्रीरामजी ने विना फल के बाण में मानवास्त्र योजित कर दिया था, जिससे वह मोहित होकर भ्रमित-चित्त से भयभीत हो सब ओर श्रीराम-लक्ष्मण ही को देखता था। इससे वन में तपस्वी बनकर पड़ा रहा। रावण के पास जाने की बुद्धि ही न हुई। यथा—"भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (आ० दो० २४)। मारीच की कथा वाल्मी० बा० स० ३० में भी देखिये। ताटका आदि की कथाएँ दो० २३ चौ० ४-५ में देखिये।

मारि असुर द्विज-निर्भय-कारी। अस्तुति करहिं देव-मुनि-झारी ॥६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया ॥७॥
भगत-हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥८॥

अर्थ—राक्षसों को मारकर ब्राह्मणों को निर्भय किया, सब-के-सब देव-मुनि स्तुति कर रहे हैं ॥६॥

फिर वहाँ और कुछ दिन श्रीरघुनाथजी रहे और रहकर ब्राह्मणों पर दया की ॥७॥ भक्ति के लिये मुनि ने बहुत-सी प्राचीन कथाएँ कहीं—यद्यपि प्रभु इन्हें जानते थे ॥८॥

विशेष—(१) 'देव-मुनि'—मुनि लोग निर्भय हुए और देवताओं के यज्ञ-भाग की रक्षा हुई, इससे स्तुति करते हैं। यहाँ देव प्रथम लिखे गये, क्योंकि बहुत वर्षों पर इन्हें भाग मिला है। अतः, तृप्त होते ही प्रभु की स्तुति करने लगे। मुनि लोग श्रीरामजी की भुजा पूजने लग गये थे। यथा—"जे पूजी कौसिक-मख रिपयन्हि" (गी० ४० १३)। इसके पीछे स्तुति की, क्योंकि पूजा के पीछे स्तुति होती है।

(२) 'तहँ पुनि कछुक दिवस'''—यहाँ कोई ३, कोई ५ और कोई ७ दिन कहते हैं, सबके मतों की रक्षा है। 'विप्रन्ह पर दाया'—दया यह कि ब्राह्मण लोग कुछ दिन और भी दर्शनानंद चाहते थे, इससे उनपर दया करके रहे, नहीं तो पिता की आज्ञा भर का कार्य हो चुका। चाहते तो श्रीअवध लौट आते। नीति से यह भी हेतु है कि कहीं मारीच के पक्ष का कोई बदला लेने आ जाय तो फिर मुनि दुःख पावें।

(३) 'भगति हेतु बहु कथा'''—कथा-प्रसंग में प्रीति होना भक्ति है। यथा—"दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।" (आ० दो० ३४)। कथा-द्वारा अपनी भक्ति करते थे, कुछ प्रभु के उपदेश देने के लिये नहीं, क्योंकि वे तो सब जानते ही हैं और मुनि प्रभु के ऐश्वर्य से अभिज्ञ हैं ही। 'बहु कथा'—क्योंकि त्रिकाल कथा होती थी—सबेरे से दोपहर तक—"वेद-पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥" (उ० दो० २५); मध्याह्न से संध्या तक—"करि भोजन मुनिवर विज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥" (दो० २३६); संध्या से आधी रात तक—"कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥" (दो० २२५)।

यज्ञ-रक्षा-प्रकरण समाप्त

अहल्योद्धार-प्रकरण

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥९॥
धनुष-जग्य सुनि रघुकुल-नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा॥१०॥
आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥११॥
पूछा मुनिहिं सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेखी॥१२॥

दोहा—गौतमनारी स्रापबस, उपल-देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर॥२१०॥

अर्थ—तब मुनि ने आदरपूर्वक समझाकर कहा कि प्रभो! चलकर एक चरित देखिये॥९॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी धनुष-यज्ञ सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के साथ हर्ष से चले॥१०॥ मार्ग में एक आश्रम देखा, वहाँ पक्षी, पशु, जीव-जन्तु कुछ भी न था॥११॥ एक शिला (पत्थर) देखकर प्रभु श्रीरामजी ने मुनि से पूछा तो उन्होंने सारी कथा विस्तार से कही॥१२॥ गौतम की स्त्री शाप के कारण पत्थर की देह धरकर (शाप-अनुग्रह के अनुसार आपके भरोसे) धैर्य धारण किये हुए, आपके चरण-कमल की धूल चाहती है। हे रघुवीर! इसपर कृपा कीजिये॥२१०॥

विशेष—(१) 'तब मुनि सादर···'—इस समय श्रीरामजी ने प्रातःकाल नित्य-नियम से निवृत्त होकर मुनि को प्रणाम किया और पूछा कि अब मुझे क्या आज्ञा है, तब मुनि ने धनुष एवं धनुष-यज्ञ की प्रशंसा की जिससे वे वहाँ भी चलने के लिये उत्साह-पूर्वक उद्यत हों। फिर कहा कि यह चरित आपके देखने योग्य है। 'प्रभु'—अर्थात् वहाँ समर्थ ही का काम है। मुनि ने राजा दशरथजी से कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" अब उसी के लिये ले जा रहे हैं। सत्योपाख्यान अ० ५४ में लिखा है कि निशाचर-वध के पश्चात् ही राजा जनक का निमन्त्रण मुनि को आया था। अतः, मुनि ने वहाँ चलने की आज्ञा दी।

(२) 'धनुष-जग्य सुनि···'—मुनि ने धनुष की महिमा कही; इससे रामजी हर्ष के साथ चले, क्योंकि वहाँ वीरों का काम है और ये वीर रघुवंशियों में शिरोमणि हैं, यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई।···बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥" (दो० २५२)। हर्ष से चलना प्रयोजन-सिद्धि का शकुन भी है, यथा—"होइहि काज मोहि हर्ष बिसेषी।" (सुं० दो० १)। 'रघुकुलनाथा'—चक्रवर्ती-कुमार किसी राजा के यहाँ स्वयं नहीं जा सकते, पर यहाँ तो मुनिवर के साथ हैं। अतः, हर्ष से चले।

(३) 'आश्रम एक दीख मग माहीं'—यह आश्रम सिद्धाश्रम से पूर्व अहिरौली ग्राम में गंगातट पर है। गंगा उतरने पर जनकपुर मिलता है। वाल्मीकीय के अनुसार यह आश्रम तिरहुत में कमतौल (दरभंगा) स्टेशन के पास अहियारी गाँव में है। इसमें कल्पभेद समझना चाहिये। यह आश्रम मार्ग के पास वन में था, वन के वासी खग-मृग मुख्य हैं, जब वे न देख पड़े, तब सूक्ष्म 'जीव-जन्तु' को खोजा। जीव-जन्तु का अर्थ कीड़ा-मकोड़ा भी होता है। जब ये भी न दिखाई पड़े, तब मुनि से पूछा कि यह वन निर्जन क्यों है? और, यह शिला कैसी है?

(४) 'सकल कथा मुनि कही बिसेषी।'—मुनि ने प्रथम वन के निर्जन होने का कारण कहा कि—एक समय ब्रह्माजी ने दूषण-रहित परम सुंदरी कन्या उत्पन्न की। उसका नाम अहल्या रखा। यह गौतम मुनि से ब्याही गई थी। एक समय स्नान के लिये मुनि के बाहर जाने पर इन्द्र मुनि का वेष बनाकर आया और अहल्या का पातिव्रत्य भंग किया। अहल्या ने चलते समय इन्द्र से प्रार्थना की कि मेरी और अपनी रक्षा मुनि से कीजियेगा। जल्दी में आश्रम से निकलते समय इन्द्र अपना वेष धारण करना भूल गया था। उधर मुनि आ गये। अपने (गौतम) रूप से दूसरे को देखकर उससे मुनि ने पूछा कि तू कौन है और मेरा रूप क्यों बनाया? इन्द्र ने डरकर सब कुछ कह दिया। मुनि ने उसे शाप दिया और फिर आश्रम में आकर अहल्या को भी शाप दिया कि तूने जानकर अधर्म किया है। अतः, पाषाण होकर रह। तेरे समीप कोई प्राणी न रहेगा, वायुमात्र ही तेरा आहार रहेगा। फिर अनुग्रह किया कि श्रीरामजी के चरण-स्पर्श से तेरा उद्धार होगा। ऐसा कहकर गौतम मुनि हिमवान् के शिखर पर जाकर रहने लगे।

(४) 'कृपा करहु रघुबीर'—यहाँ दयावीरता की ओर लक्ष्य कर मुनि उसके उद्धार के लिये कहते हैं।

छंद—परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम-अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

अर्थ—पवित्र और शोक के नाश करनेवाले चरणों का स्पर्श होते ही ठीक तपःपुंज (तपोमूर्ति या

तेजःपूर्ण) अहल्या प्रकट हुई। भक्तों को सुख देनेवाले रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी को (सामने) देखकर सामने ही हाथ जोड़े खड़ी रह गई॥ अत्यन्त प्रेम से विह्वल हो गई, शरीर पुलकित हो गया, मुख से वचन नहीं निकलते। वह अत्यन्त भाग्यशालिनी है। अतः, श्रीरामजी के चरणों में लग गई, उसके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही है।

विशेष—'छंद'—यह त्रिभंगी (मात्रिक) छन्द है। इसका प्रत्येक चरण ३२ मात्राओं का होता है। १०,८,८,६ मात्राओं पर विश्राम होते हैं और अंतिम वर्ण गुरु होता है।

(१) 'परसत पद पावन ,सोकनसावन'—पावन गुण से उसके पाप नष्ट हुए और 'सोकनसावन' से पति-वियोग एवं शाप-से उत्पन्न शोक दूर हुआ। यथा—"प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सींचि बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुख-फरनि फरी॥" (गी० बा० ५५)। पाप कारण और शोक कार्य है, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक वियोग।" (उ० दो० १००)। अतः, एक गुण से कारण और दूसरे से कार्य भी निवृत्त किया।

'तपपुंज सही'—अहल्या ने शाप से पूर्व गौतम के साथ तप किया था, यथा—"स चात्र तप आतिष्ठदहल्या सहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि···" (वाल्मी० १।४८।११) । अतः, अहल्या तपोधन-पूर्ण तेजोमयी थी। शाप होने से निस्तेज पाषाण हो गई थी। शाप-निवृत्त होने पर ठीक पूर्ववत् तेजःपुंज रूप से प्रकट हुई। 'सही' शब्द पूर्व की रूपतुल्यता के प्रति है। यथा—"स्वंवपुर्धारयिष्यसि" (वाल्मी० १।४८।१२) अर्थात् शाप मुक्त होने से अपने पूर्व रूप को पावेगी। तथा—"सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के॥" (गी० बा० ६५); "राम-पद-पदुम पराग परी। रिषितिय त्यागि तुरत पाहन-तन छबिमय देह धरी॥" (गी० बा० ५५), "परत पद पंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट मानो दिव्य देह धरि जनु त्रिभुवन छबि छवनी॥" (गी० बा० ५६)। अतः, तपपुंज=प्रकाशमय, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८६)।

(२) 'सन्मुख होइ···' यथा—"निगम-अगम मूरति महेस-मति जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन-पथ इकटक ते न टरी॥" (गी० बा० ५५)।

(३) 'अति प्रेम अधीरा···'—चरण-स्पर्श से शापमुक्त होने पर प्रेम और प्रत्यक्ष दर्शनों के कारण अति प्रेम से अधीर हो गई, इसी से उमने प्रणाम नहीं किया, क्योंकि देह की सुधि ही न रही। 'अति प्रेम' से मन, 'पुलक सरीरा' से तन, 'नहिं आवइ बचन कही' से वचन की अधीरता प्रकट है।

(४) 'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी···'—जप-तप आदि सुकृतवाले भागी, श्रीराम-चरणों में अनुरागवाले बड़भागी और जिसपर स्वतः श्रीरामजी कृपा करें, वह 'अतिसय बड़भागी' है। यथा—"जे गुरुपद-अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़ भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥" (अ० दो० २५८)। श्रीरामचरणों के अनुरागी को मानो कांडों में बड़भागी कहा है—"ते पद परासत भागभाजन जनक जय जय सब कहैं।" (दो० ३११); "नाथ कुसल पद पंकज पेखे। भयउँ भागभाजन जन लेखे॥" (अ० दो० ८०); "भूरि भागभाजन भयो,···जो तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥" (अ० दो० ७४), "परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम-मगन मुनिवर बड़भागी॥" (अ० दो० ४); "सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन-अनुरागी॥" (कि० दो० २२); "अहोभाग मम अमित अति, रामकृपा सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४०); "बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन-कमल चापत बिधि नाना॥" (लं० दो० १०); "अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंद-अनुरागी॥" (उ० दो० १)।

धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपतिकृपा भगति पाई ।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई ॥
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जन-सुखदाई ।
राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ॥

अर्थ—मन में धैर्य धारण कर प्रभु को पहचाना । रघुनाथजी की कृपा से भक्ति पाई । अत्यन्त निर्मल वाणी से स्तुति करने लगी—ज्ञान से गम्य (जानने योग्य) रघुनाथजी ! आपकी जय हो ॥ मैं अपवित्र स्त्री हूँ और हे प्रभो ! आप जगत् को पावन करनेवाले, रावण के शत्रु और अपने भक्तों को सुख देनेवाले हैं । हे लाल कमल के समान नेत्रोंवाले ! हे संसार के भय को छुड़ानेवाले ! मैं शरण में प्राप्त हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥

विशेष—'धीरज मन कीन्हा'''—जब श्रीरामजी ने कृपा की और भक्ति दी, तब इसे धैर्य हुआ और प्रभु को पहचाना, तब चरण पकड़ लिये । अतः, वक्ता लोग इसका भाग्य सराहने लगे । धैर्य होने से उपर्युक्त मन, तन और वचन की अधीरता निवृत्त हुई, यथा—'धीरज मन कीन्हा'—मन, 'चरननि्ह लागी'—तन (कर्म), 'अस्तुति ठानी'—वचन । 'प्रभु कहँ चीन्हा'—पहले राजकुमार समझ रही थी । धैर्य होने से गौतम के वचन स्मरण हुए तब प्रभु समझा । विश्वामित्र की कृपा से चरण स्पर्श हुआ क्योंकि उन्होंने कथा कही थी । और श्री रामजी की कृपा से भक्ति मिली । कृपासाध्य भक्ति श्रेष्ठ है ।

(२) 'अति निर्मल बानी'''—चरण-स्पर्श से निर्मल और भक्ति पाने से अति निर्मल हृदय के अनुसार वाणी 'अति निर्मल' भी हो गई । यथा—"प्रेम-भगति-जल बिनु रघुराई । अभिअंतर-मल कबहुँ कि जाई ॥" (उ० दो० ४८) । 'ठानी'—देर तक की । यथा—"रोदन ठाना" (दो० १६१) । 'ज्ञान गम्य'—आप ज्ञान से जाने जाते हैं और मैं अज्ञ हूँ । यथा—"नारि सहज जड़ अज्ञ" (दो० ५७) अर्थात् आपकी कृपा से ही मुझे आपका ज्ञान हुआ । यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत''' (अ० दो० १२६) । प्रभु के ज्ञान के साथ ही इसे त्रिकाल का भी ज्ञान हुआ, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान होने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, क्योंकि जीव और माया उनके ही शरीर हैं ।

(३) 'मैं नारि अपावन '''—आप जगत् भर को पावन करने में समर्थ हैं । अतः, मुझे भी पावन कर लिया । रावण को मारकर भक्तों को सुख देंगे । भविष्य की बात प्रथम कहने में यहाँ भाविक अलंकार है । इसे त्रिकाल का ज्ञान हो गया, इससे कहा ।

(४) 'राजीवबिलोचन भव'''—राजीवलोचन विशेषण प्रायः रक्षा के प्रसंग में ही आता है । यथा—"राजिवनयन धरे धनुसायक । भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (दो० १७) ।

'सरनहिं आई' अर्थात् शरण में प्राप्त हूँ, क्योंकि प्रपत्ति में विश्वास आना मुख्य है । अतः, 'आई' कहा ।

मुनि स्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना ।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना ॥

विनती प्रभु मोरी मैं मतिभोरी नाथ न माँगउँ बर आना।
पद-कमल-परागा-रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना॥

अर्थ—मुनि ने जो शाप दिया, वह बहुत ही अच्छा किया। मैं उसे अत्यन्त दया मानती हूँ कि मैंने संसार के छुड़ानेवाले भगवान को आँखें भरकर देखा। इसीको शिवजी भी लाभ समझते हैं॥ हे प्रभो! मैं बुद्धि की भोरी (भोंदी) हूँ। हे नाथ! मैं और कोई वर नहीं माँगती, मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरण-कमल के रज के अनुराग-रूपी रस को मेरा मनरूपी भौंरा पिया करे॥

विशेष—१) 'मुनि स्राप जो ···'—जिस किसी भी उपाय एवं संयोग से भगवान् के दर्शन हों, वही परम लाभ एवं परम अनुग्रह है। यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (अ० दो० १०६), "बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), "रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम-स्राप परमहित माना॥" (दो० ३१६)। इसीसे मैंने शाप देने को अति भला करना और तत्सम्बन्धी क्रोध को अनुग्रह मान लिया एवं तत्सम्बन्धी अनुग्रह करने को परम अनुग्रह मान लिया।

(२) 'हरि भवमोचन'—पूर्व कृपा-दृष्टि से भक्ति देकर भव-भय छुड़ाने में 'राजीव' ' कहा था और यहाँ आपके दर्शनों से भव छूटना कहा, इसे कल्याणकर लाभ कहा। साथ ही शिवजी का उदाहरण भी दिया। यथा—"निगम आगम मूरति " (गी० बा० ५१) अर्थात् शिवजी बराबर ध्यान ही किया करते हैं, क्योंकि यही उनका परम लाभ है।

(३) 'बिनती प्रभु मोरी ···' 'भोरी' अर्थात् अभी तक तो आप गौतम के अनुग्रह एवं गुरु की आज्ञा के अनुसार किया, अब मेरी प्रार्थना सुनिये। मैं मति की भोरी होने से शास्त्रों के मत मतान्तरों को नहीं जानती, इससे 'आना' अर्थात् दूसरा वर नहीं माँग सकती, किन्तु जो स्वयं कृपा करके आपने दिया है—"रघुपति-कृपा भगति पाई।" बस, यही दृढ़ कर दीजिये, वह इस तरह—

(४) 'पद कमल परागा ···'—जैसे भ्रमर पराग में लोटता है और रस पीता है तथा उसी को परम लाभ मानता है, वैसे मेरा मन आपके पद-कमल में अनुराग-पूर्वक लुभाया रहे, यथा—"राम-चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (दो० १६), तथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवन्दार स्तोत्र)।

जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
एहि भाँति सिधारी गौतमनारी बार-बार हरि-चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गइ पतिलोक अनंद भरी॥

दोहा—अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारनरहित कृपाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाड़ि कपट जंजाल॥२११॥

अर्थ—जिस चरण से परम पवित्र गंगाजी प्रकट हुई और शिवजी ने उन्हें शिर पर धारण किया। जिसे ब्रह्माजी पूजते हैं वही चरण कमल कृपालु भगवान् ने मेरे शिर पर रक्खा॥ इस प्रकार बार-बार भगवान् के चरणों पर पड़कर और जो मन को बहुत भाया था वही वर पाकर, गौतम की स्त्री चली और आनन्द में भरी हुई अपने पति के लोक को गई॥ समर्थ श्रीरामजी ऐसे दीनों के सहायक, दुःख हरनेवाले और बिना कारण ही कृपा करनेवाले हैं। हे शठ तुलसीदास! कपट और जंजाल छोड़कर उन्हीं का भजन कर॥२११॥

विशेष—(१) 'जेहि पद सुरसरिता'''—जब भगवान् ने वामन-रूप से अवतार लिया और बलि से तीन पैर भूमि दान में लेते हुए, उसके नापने के लिये विशाल रूप हुए तब अपना दूसरा चरण सत्यलोक की सीमा तक पहुँचा दिया। वहाँ ब्रह्माजी ने चरण धोकर उसे कमंडल में रख लिया और चरण की पूजा की। वही परम पुनीत जल आकाशगंगा हुआ। फिर आराधना से ब्रह्माजी-द्वारा भगीरथ को प्राप्त हुआ। भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर शिवजी ने गंगाजी को अपनी जटा में धारण किया। गंगाजल की पवित्रता शास्त्र से तो प्रसिद्ध ही है। यह प्रत्यक्ष भी है कि उसमें कीड़े नहीं पड़ते और विज्ञान से सिद्ध है कि *गंगाजल पड़ने से अनेक भयंकर रोगों के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं।*

ब्रह्माजी और शिवजी ने धोवन को ही पाया और मैं तो साक्षात् चरण ही पा गई, इस परम उपकार की कृतज्ञता प्रकट करते हुए, अहल्या बार-बार चरणों पर पड़ी।

'बर पावा'—गुरुजी पास खड़े हैं, इससे रामजी ने आत्मश्लाघा बचाने के लिये 'एवमस्तु' नहीं कहा, पर मन से वर दे दिया। उसीको वक्ता लोगों ने औरों को जना दिया। 'अनंद-भरी'—शाप से मुक्त हुई, अविरल भक्ति पाई, पति की प्राप्ति हुई–आदि आनन्द की बातों को हृदय में भरे हुई है। 'गइ पति-लोक' —"गौतम मुनि हिमवान् पर तप करते थे। वहीं से यहाँ का हाल जानकर आये और अहल्या के विधिवत् पूजन करने के साथ स्वयं भी श्रीरामजी की विधिवत् पूजा की। अहल्या को पाकर सुखी हुए। फिर उसके साथ विधिपूर्वक तप करने चले गये।" (वाल्मी० १।४९।१८–२१), यथा—"गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।" (क० अ० ८); "राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये'''" (गी० बा० ६५)। "तुलसी है बिसोक पति-लोकहिं प्रभु गुन गनत गई।" (गी० बा० ५७)।

(२) 'अस प्रभु दीनबंधु '''''—अहल्या को पति और पुत्र सभी ने त्याग दिया था। रामजी ने ऐसी दीना के शोक का हरण किया और उत्तम आचरण से रहित व्यभिचारिणी पर स्वयं जाकर कृपा की। अतः, 'कारन रहित-कृपाल' कहा है। यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के।" (क० उ० २४)। "कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरहु सकल भव भीर।" (वि० १४४)।

(३) 'तुलसिदास सठ ''''—श्रीगोस्वामीजी अपने को धिक्कारते हुए औरों को शिक्षा देते हैं। इसी को पूर्व कहा था—"आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥" (दो० ४२)।

'कपट' भीतर का दुराव। 'जञ्जाल' बाहर का प्रपच, यथा—"गृह-कारज नाना जंजाला। ते इ अति दुर्गम सैल बिसाला॥" (दो० ३७)। 'सठ' अर्थात् जड़। भाव यह कि क्या तू पत्थर से भी अधिक जड़ है? देख, शिला दिव्यरूपा हो गई, क्या तेरा सुधार न होगा? तू भी क्यों नहीं शुद्ध हृदय से एवं सब बाहरी आडंबर छोड़-छाड़कर भजन करता है?

अहल्योद्धार-प्रकरण समाप्त

श्रीमिथिला-यात्रा-प्रकरण

चले राम लछिमन मुनि संगा। गये जहाँ जगपावनि गंगा ॥१॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥२॥
तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। बिबिध दान महिदेवन्ह पाये ॥३॥
हरषि चले मुनि-बृंद-सहाया। बेगि बिदेहनगर नियराया ॥४॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनि के साथ चले और जहाँ जगत् को पवित्र करनेवाली गंगाजी है, वहाँ गये ॥१॥ राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्रजी ने वह सारी कथा कह सुनाई कि जिस तरह देवनदी गंगाजी पृथिवी पर आई ॥२॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने ऋषियों के साथ स्नान किया। ब्राह्मणों ने तरह-तरह के दान पाये ॥३॥ मुनि-समूह के सहायक श्रीरामजी हर्षित होकर चले और शीघ्र ही जनकनगर के पास पहुँचे ॥४॥

विशेष—(१) 'चले राम लछिमन···'—सिद्धाश्रम से चलने पर अहल्या के उद्धार के लिये रुकना पड़ा था। अतः, फिर चलना कहा गया। क्रम भी यही है—आगे मुनि हैं, उनके पीछे श्रीरामजी तब लक्ष्मणजी।

शंका—जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी कहा गया है, *यथा*—"हरषि चले मुनि-भय-हरन।" (दो० २०८); "हरषि चले मुनिवर के साथा।" (दो० २०९); तथा यहीं पर आगे भी—"हरषि चले मुनिबृंद ···"कहा है। *पर, यहाँ ही 'हर्ष' शब्द नहीं है, यह क्यों?*

समाधान—भगवान् का यह अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम का है और अहल्या ब्राह्मणी है, उसे पैर से छूना पड़ा, जो क्षत्रिय राजकुमार के लिये अनुचित है। अतः, माधुर्य दृष्टि से ग्लानि है, इसीसे हर्ष नहीं लिखा गया। यथा—"सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुये पछिताउ ॥" (वि० १००)। गंगाजी जगत्पावनी हैं। अतः, इनको भी पावन (चिन्तारहित) करेंगी, इसलिये गंगा-स्नान के लिये 'मुनि संगा' अर्थात् मुनि लिवा गये। माहात्म्य सुनकर-स्नान-दान से शुद्ध होंगे, तब तुरत ही हर्ष से चलेंगे। यथा—"हरषि चले मुनिबृंद सहाया" (उपर्युक्त)। यह माधुर्य का भाव है।

(२)'गाधिसूनु सब कथा···'—मुनि नित्य ही भक्ति के लिये स्वयं कथा सुनाया करते थे, पर आज प्रभु के पूछने पर सुनाई। 'गाधिसूनु' कहने का भाव यह कि वाल्मी० १।३२-३४ में लिखा है—मुनि के साथ श्रीरामजी शोण (सोन) नदी के किनारे रात्रि में रहे तो श्रीरामजी के पूछने पर मुनि ने अपने कुल का पूरा वृत्तान्त कहा है। तब पीछे स० ३५ से गंगाजी की कथा प्रारंभ की है। वैसे यहाँ 'गाधिसूनु' शब्द से ध्वनित है कि मुनि ने अपने वंश की कथा सुनाई, तब गंगाजी की कथा कही जो 'जेहि प्रकार···' से स्पष्ट है। क्योंकि अन्यत्र कथा कहने में मुनि को मुनि, विप्र, ऋषि आदि कहते थे। यथा—"बूझत प्रभु सुरसरि-प्रसंग, कहि निज-कुल-कथा सुनाई। गाधिसुवन···" (गी० बा० ५१)।

'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।'—भाव यह कि गंगाजी देव-नदी हैं, तब पृथ्वी पर क्यों कर आईं? कथा—"इक्ष्वाकु-वंश में राजा सगर हुए। इनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनी के पुत्र असमंजस हुए और उनके पुत्र अंशुमान्। सुमति के साठ हजार पुत्र हुए। प्रजा को पीड़ा पहुँचाने के कारण असमंजस को राजा सगर ने निकाल दिया। राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ा।

इन्द्र ने घोड़ा चुराकर कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। सगर ने साठ हजार पुत्रों को घोड़ा खोजने के लिये भेजा। उन्होंने खोजते-खोजते पाताल में कपिल मुनि के समीप घोड़े को बँधा देखा। मुनि ध्यान में थे। इनलोगों ने 'चोर-चोर' कहकर हल्ला किया। मुनि की आँखें कोलाहल से खुल गईं। अपमान के कारण मुनि के क्रोध से वे सब भस्म हो गये। फिर सगर ने अंशुमान् को भेजा। इन्होंने वहाँ आकर गरुड़ से हाल जाना। गरुड़ ने ही कहा कि ये गंगाजी के द्वारा उद्धार पावेंगे। इसका उपाय करना। घोड़ा लेकर अंशुमान् आये और सगर से सारा हाल बतलाया। सगर के बाद अंशुमान राजा हुए। अंशुमान पुत्र दलीप को राज्य दे गंगा लाने के लिये ३२००० वर्ष तक तप कर स्वर्ग गये। राजा दिलीप को पितरों के तारने की चिंता बनी ही रही। वे भी कृतकार्य न हो सके। फिर उनके पुत्र भगीरथ ने बिना पुत्र हुए ही मंत्रियों को राज्य सौंपकर तप करना प्रारंभ किया। १००० वर्ष बीतने पर ब्रह्मा आये और वर देना चाहा। इन्होंने गंगाजी को माँगा और पुत्र भी। ब्रह्मा ने वर देकर कहा कि गंगा का धारण करने के लिये शिवजी को प्रसन्न करो। एक वर्ष के कठिन तप से शिवजी प्रसन्न हुए और गंगाजी के आने पर उनका वेग धारण किया। फिर शिवजी ने धारा छोड़ी तो आगे-आगे रथ पर भगीरथ चले, पीछे-पीछे गंगाजी चलीं। सगर-पुत्रों की राख पर पहुँचीं। इनसे उन सब का उद्धार हुआ॥" (वाल्मी० ११३५-४२)। पृथ्वी पर यह नदी गंगोत्तरी से निकलती है। मंदाकिनी, अलकनंदा आदि से मिलती हुई, हरद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरती है। फिर प्रयाग, काशी, कलकत्ता होती हुई गंगा-सागर में समुद्र में मिलती है।

(३) 'तब प्रभु रिषिन्ह समेत···'–'तब' अर्थात् माहात्म्य सुनकर स्नान किया, क्योंकि इससे प्रीति और श्रद्धा होती है, तब मनोरथ सफल होता है और सुनने से विधि भी मालूम हो जाती है।

'रिषिन्ह समेत'—अर्थात सब कृत्य ऋषियों के साथ ही करते हैं। यथा—"हरषि चले मुनिवर के साथा।" "उतरे तहँ मुनि-बृंद समेता।" "रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" "पुनि मुनि-बृंद समेत कृपाला। देखन चले···" इत्यादि। वैसे यहाँ साथ ही स्नान किया और 'विविध दान' भी स्वयं दिये एवं ऋषियों से भी दिलवाये। यथा—"*पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी, हरषित मज्जन कीन्ह। कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह॥*" (लं० दो० १२०)। जब वानरों से दान दिलाये, तब मुनियों से क्यों नहीं दिलाते? हाँ, इतना भेद है कि वहाँ वानरों के साथ 'दीन्ह' कहा गया है, क्योंकि पुष्पक विमान रत्नों से भरा था और यहाँ 'पाये' शब्द है अर्थात् संकल्प कर दिया गया और कह दिया गया कि अयोध्याजी में जाकर लें। प्रसिद्ध श्रीमानों एवं राजाओं की रीति भी यही है। यह भी कहा जाता है कि पिताजी की जगह विश्वामित्र हैं, सिद्धियाँ उनकी दासी हैं तो दान के लिये क्या कमी है? विविध= गाय, स्वर्ण, रत्न, वस्त्र आदि के दान।

(४) 'बेगि बिदेहनगर···'—मार्ग में दो जगह ठहरना पड़ा था—एक जगह अहल्या-उद्धार में और दूसरी जगह गंगा-तट पर। गंगा-माहात्म्य आदि कथाओं के सुनने से रास्ता चलना नहीं जान पड़ा। शीघ्र ही मिथिला के निकट आ गये। अथवा उस समय की चाल से मिथिला निकट ही थी।

पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज-समेत बिसेखी॥५॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनिसोपाना॥६॥
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥७॥
बरन-बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥८॥

दोहा—सुमन-वाटिका बाग बन, बिपुल बिहंगनिवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ॥२१२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने जब जनकपुर की शोभा देखी, तब भाई के साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥५॥ अनेक बावलियाँ, कुँए, नदियाँ और तालाब हैं, जिनमें अमृत के समान जल और मणियों की सीढ़ियाँ हैं ॥६॥ पुष्प-रस पीकर भौंरे मतवाले होकर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग बिरंग के पक्षी सुंदर शब्द कर रहे हैं ॥७॥ रंग-बिरंग के कमल खिले हुए हैं। शीतल, मंद, सुगंध—तीन प्रकार का पवन बहकर सदा सुख देता है ॥८॥ फुलवाड़ी, बाग और वन हैं जिनमें बहुत-से पक्षी रहते हैं। वे फूलते-फलते और सुन्दर पत्तों से लदे हुए नगर के चारों ओर सुशोभित हैं ॥२१२॥

विशेष—(१) 'पुर-रम्यता राम'''—श्रीरामजी के आनन्दित होने से रम्यता (शोभा) सराहनीय है। यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत॥" (दो० २२०)। यहाँ 'हरषे' में मुनिवृंद को साथ नहीं कहा, क्योंकि राजसी पदार्थ देखने का सम्बन्ध है और मुनि लोग सात्त्विक होते हैं। इन्हें श्रीराम-सम्बन्धी एवं सात्त्विक वस्तुओं से ही प्रसन्नता होती है। जैसे लंका में श्री हनुमान्‌जी को "रामायुध अंकित गृह'''"—आदि ही से हर्ष हुआ। राजकुमारों को राजसी पदार्थ से हर्ष होना योग्य है। प्रथम—"धनुष-जज्ञ सुनि'' हरषि चले''' " (दो० २०६)। अर्थात् वहाँ मुनि से पुर का वर्णन सुनकर हर्ष हुआ था। यहाँ आकर उससे कहीं अधिक देखा। अत, विशेष हर्ष हुआ। जब बाहर की यह शोभा है तो भीतर की तो अपूर्व ही होगी, इससे आगे भीतर नगर देखने की लालसा होगी और देखने जायँगे भी।

(२) 'बापी कूप'' '—सीढ़ियाँ सब में हैं—बावली में नीचे उतरने की, कुँए की जगत पर चढ़ने की और नदी-तालाबों में घाट की।

'गुंजत मंजु मत्त'''—यहाँ भौंरे और पक्षी जल-सम्बन्धी हैं।

'त्रिविध समीर सदा '''—क्योंकि यहाँ सदा बसंत ऋतु लुभाई हुई रहती है। इसीसे सदा सुख देना कहा है। पुन यहाँ पाँचों विषय प्राप्त रहते हैं—'गुंजत कल '''—शब्द, जो कान का विषय है, 'त्रिविध समीर'' '—इसमें त्वचा का स्पर्श और नासिका का गंध—दोनों विषय हैं।

'सलिल सुधासम'—रस, जो जिह्वा का विषय है। कमल आदि के रंग-बिरंग की सुंदरता में नेत्र का रूप विषय है। इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा गया है।

(३) 'सुमन-वाटिका बाग बन,'''—वृक्षों में दल, फल, फूल तीन सम्पत्तियाँ होती हैं। यहाँ तीनों की पूर्णता है—फुलवाड़ी में फूल की, बाग में फल की और वन में पल्लव की शोभा है। यथासंख्य अलंकार है। पुर के भीतर की ओर से प्रथम चारों तरफ एक आवृत्ति फुलवाड़ी की, फिर बाग की और तब वन की है। वाटिका आदि से पुर की शोभा है और पुर से इनकी शोभा है अर्थात् शोभा अन्योन्य सापेक्ष्य है।

'बिपुल बिहंग'—ये पक्षी स्थल के हैं—पूर्व जल के कहे गये थे। भौंरे यहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि जो जल के प्रसंग में कहे गये हैं, वे ही स्थल के भी हैं—एक ही जाति के भ्रमर सर्वत्र होते हैं।

बनइ न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ॥१॥
चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी ॥२॥
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना ॥३॥

चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई ॥४॥
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥५॥

शब्दार्थ—अँबारी=दोनों तरफ की दूकानों की पंक्ति या छज्जा। चौहट—चौक। चित्रित=चित्र कढ़े हुए। चितेरा=चित्रकार, चित्र बनानेवाला। निकाई=सुंदरता।

अर्थ—नगर की सुंदरता तो कहते नहीं बनती, (क्योंकि) मन जहाँ जाता है, वहीं लुभा जाता है ॥१॥ सुन्दर बाजार हैं, मणिजटित (एवं मणि सज्जित) विचित्र अंबारी है, मानों ब्रह्मा ने अपने हाथों से रचकर बनाई है ॥२॥ (श्रेष्ठ) कुबेर के समान अनेक श्रेष्ठ धनाढ्य बनिये सभी तरह की (बेचने की) वस्तुएँ लेकर (दूकानों में) बैठे हैं ॥३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ सदा सुगंध (अरगजा आदि) से सींची हुई रहती हैं ॥४॥ सब के घर मंगलमय हैं, उनमें चित्र कढ़े हुए हैं—मानों कामदेव-रूपी चित्रकार के बनाये हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत'''—बाहर के वन आदि कहे हैं, किन्तु नगर की सुन्दरता कहते नहीं बनती, क्योंकि मन की अधीनता में वाक् आदि इन्द्रियों के कार्य होते हैं। वही मन लुभा जाता है तो कैसे कहा जाय ? मन सावधान हो, तब न कहते बने ! यथा—"सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर ॥" (सुं० दो० १२)। आगे कहते जो हैं ? इसका समाधान यह है कि वह तो कुछ अंशों का दिग्दर्शन मात्र है।

यह वर्णन वक्ताओं का है, क्योंकि आगे जब नगर देखने के लिये राजकुमार प्रवेश करेंगे, तब वहाँ के संवाद कहे जायँगे। नगर-वर्णन का अवसर नहीं मिलेगा। इसलिये यहाँ ही वर्णन करते हैं। अभी राजकुमारों ने नगर की बाहरी ही शोभा देखी है। किनारे से जाकर बागीचे में ठहरेंगे। जब जनकजी स्वयं आकर आदर से लिवा जायँगे, तब नगर में प्रवेश करना उचित होगा। यदि कहा जाय कि भीतर होकर ही गये हैं, तभी नगर-वर्णन हुआ है, तो संभव नहीं; क्योंकि आगे अपरिचित कुमारों के प्रवेश करने से तो कोलाहल मच जायगा और यहाँ विश्वामित्र के साथ जाते, तो क्या यों ही चुपचाप चले जाते ? अत, यह वर्णन कवि एवं वक्ताओं का है।

(२) 'चारु बजार विचित्र'''—'विचित्र'—रंग-बिरंग की मणियाँ जड़ी हैं वा दूकानों में दोनों ओर रंग रंग के मणिमय पदार्थ रक्खे हुए हैं। इससे अंबारियाँ विचित्र हैं।

'बिधि जनु'''—ब्रह्मा मन के संकल्प से सृष्टि करते हैं। जिस वस्तु को वे हाथ से सँवारकर बनावेंगे, उसमें अवश्य ही उत्तमता होगी।

(३) 'धनिक बनिक बर'''—'बर' शब्द दीपदेहली है। धनिक वणिक् का ही विशेषण है, यहाँ हाट है, इसमें बनिये ही रहते हैं। वे नाना प्रकार की वस्तुएँ ले लेकर बैठे हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो वहाँ न मिले। यद्यपि वे श्रेष्ठ कुबेर के समान हैं, तथापि वर्णधर्म-निष्ठ होने से व्यवसाय करते हैं।

(४) 'सुगध सिंचाई'—इसीका स्मारक अभी तक जनकपुर में 'अरगजा-कुंड' है।

(५) 'मंगलमय मंदिर सब केरे।'''—नीच से ऊँच तक सभी के मंदिर मंगलमय हैं, यथा—"बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू ॥" (उ० दो० ८)। धनुष-यज्ञ के अवसर पर नगर सजाया गया है। पुन घरों में मणिमय मगल चित्र स्वत बने हुए भी हैं, यथा—"सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥" (दो० २८९)। 'रतिनाथ चितेरे'—कामदेव शृंगार,

रस का प्रमुख नायक है, वह रचेगा तो अवश्य ही रचना में अत्यन्त सुन्दरता होगी। यहाँ तक मंदिर आदि कहे, अब उनमें रहनेवालों को कहते हैं—

पुर-नर-नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता।६॥
अति अनूप जहँ जनक-निवासू। विथकहिं विबुध बिलोकि विलासू॥७॥
होत चकित चित कोट बिलोकी। सकल-भुवन-सोभा जनु रोकी॥८॥

दोहा—धवलधाम मनि पुरट पट, सुघटित नाना भाँति।
सियनिवास सुंदर सदन, सोभा किमि कहि जाति॥२१३॥

शब्दार्थ—विथकहिं=विशेष दंग रह जाते हैं। धवल=श्वेत (स्फटिक मणि आदि के)। पुरट=सोना। पट=किवाड़। सुघटित=सुन्दर रीति से गढ़े हुए।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष सुन्दर, पवित्र, संत स्वभाव, धर्मात्मा, विचारवान् और गुणवान् हैं॥६॥ जहाँ जनक महाराज का अत्यन्त अनुपम रहने का स्थान है, वहाँ के ऐश्वर्य को देखकर देवता भी विशेष दंग रह जाते हैं॥७॥ किले को देखकर चित्त चकित हो जाता है, उसने मानों सब लोकों की शोभा को रोक रक्खा है॥८॥ श्वेत महल में मणि-जटित स्वर्ण के किवाड़ लगे हैं, जो अनेक प्रकार की सुन्दर रीतियों से गढ़े हुए हैं। जहाँ श्रीसीताजी का निवास है, उस सुंदर महल की शोभा कैसे कही जा सकती है?॥२१३॥

विशेष—(१) 'पुरनर-नारि⋯'—'सुभग'—शरीर से सुन्दर हैं। 'सुचि' पवित्र आचरण है। 'संता'—साधु स्वभाववाले हैं। 'ग्यानी'—देश काल-वस्तु के जानकार और परमार्थ के भी ज्ञाता हैं। 'धर्मसील' वर्णाश्रम धर्म में नैष्ठिक हैं। 'धर्मसील'—कर्म, 'संत'—उपासना, 'ग्यानी'—ज्ञान; अर्थात् कांडत्रयनिष्ठ हैं।

(२) 'अति अनूप जहँ जनक⋯'—पूर्व-कथित भवन अनूप थे। प्रजा के घर देखकर थकित होते थे। यह राज-भवन है। अतः, विशेष थकित होते हैं।

(३) 'होत चकित चित कोट⋯'—यहाँ राजा का किला नगर से पृथक् है और किले के भीतर राज-भवन है। राज-भवन के चारों तरफ जो मणिमय कोट है, उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है। मानों यहाँ सब भुवनों की शोभा को बटोरकर दुर्ग-रूपी सीमा से रोक रक्खा है। भाव—किले के भीतर की रचना विलक्षण शोभामय है, इस विलक्षणता का कारण अगले दोहे में कहते हैं।

(४) 'धवल धाम मनि⋯'—श्रीजानकीजी अभी बालिका हैं। अतः, रनिवास से पृथक् इनका महल नहीं हो सकता; अन्यथा माता पिता के वात्सल्य में त्रुटि आवेगी। यहाँ समष्टि में राज-महल की शोभा कही जा रही है। श्रीसीताजी के साक्षात् निवास से इस राज-सदन में विशेष महत्ता है, यथा—"सोभा दसरथ-भवन कै, को कवि बरनइ पार। जहाँ सकल सुर सीसमनि, राम लीन्ह अवतार॥" (दो० २९७), "बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष। तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष॥" (दो० २८९)। प्रथम पुर के चारों ओर के वन आदि की, फिर पुर की, तब जनक-सदन की शोभा उत्तरोत्तर अधिक कही गई है।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥१॥

बनी बिसाल बाजि - गज-साला । हय-गय-रथ-संकुल सब काला ॥२॥
सूर सचिव सेनप बहुतेरे । नृपगृहसरिस सदन सब केरे ॥३॥

शब्दार्थ—कुलिस=वज्र (हीरा)। कपाट=किवाड़। सेनप=सेनापति। संकुल=परिपूर्ण। नट=कथक आदि। मागध=कीर्ति गानेवाली एक जाति। भाट=प्रताप कहनेवाले बंदी।

अर्थ—सब द्वार सुंदर हैं, सब में हीरे के किवाड़ लगे हैं। (द्वारों पर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटों की भीड़ लगी रहती है ॥१॥ घोड़ों और हाथियों के रहने के स्थान बड़े विस्तृत (लंबे, चौड़े एवं ऊँचे) बने हैं, जो सब समय में घोड़ों, हाथियों और रथों से परिपूर्ण रहते हैं ॥२॥ शूर, वीर, मंत्री और सेनापति बहुत-से हैं, इन सब के महल भी राज-भवन के तुल्य हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'सुभग द्वार सब ···'—यह राज-द्वार का वर्णन है। देश-देश के राजा लोग श्रीविदेह-राज के दर्शनों के लिये आते हैं और भेंट देते हैं, वही 'भूप-भीर' है। ये राजा लोग द्वार पर एकत्र हैं, यथा—"पितु-वैभव बिलास मैं दीठा।'नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा॥" (अ० दो० ९७)।

(२) 'बनी बिसाल बाजि ··'—हथिसार विशाल इसलिये हैं कि बड़े-बड़े पर्वताकार हाथी भी उनमें बँधे रहें। वे घर भी ठसाठस भरे रहते हैं। अत', हाथियों की अधिकता जनाई। उत्तरार्द्ध में 'रथ' भी कहे हैं अर्थात् अश्वरथ, गज-रथ आदि हैं, जो घोड़ों और हाथियों के समीप रहते हैं। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ तीन कहे गये। आगे—'सूर सचिव सेनप।···' भी कहकर चतुरंगिणी सेना सूचित की। 'सेनप' बहुत हैं तो उनकी सेनाएँ भी असंख्य होंगी। इससे पैदल भी आ गये। 'सूर' से योद्धा कहे गये हैं। जो इन चारों के अतिरिक्त हैं। 'सचिव' शूरों और सेनापतियों के बीच में रहते हैं, इसीसे कवि ने उन्हें दोनों के बीच में लिखा है। यह राजा की नीतिनिपुणता है, क्योंकि राजा के सात अंगों मे मंत्री मुख्य है। उसके सुरक्षित एवं साथ रहने से गया हुआ राज्य भी आ जाता है, जैसे सुग्रीव और विभीषण के मन्त्री साथ थे तो उनका गया हुआ राज्य भी प्राप्त हो गया।

(३) 'नृप-गृह सरिस सदन ··'—इससे भृत्यों पर राजा की प्रीति जानी गई कि मंत्री आदि को इतना ऐश्वर्य दे रक्खा है जिससे उनके महल भी राजा के महल के तुल्य हैं। अतः, स्वामी के कार्य को अपनेपन के साथ करते हैं। यहाँ तक राज-कोट का वर्णन हुआ।

पुर बाहेर - सर - सरित समीपा। उतरे जहँ - तहँ बिपुल महीपा ॥४॥
देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥५॥
कौसिक कहेउ मोर मन माना। इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना ॥६॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनि बृंद - समेता ॥७॥

अर्थ—नगर के बाहर नदी और तालाबों के समीप जहाँ तहाँ बहुत-से राजा उतरे हुए हैं ॥४॥ एक अनुपम आम का बाग देखकर, जहाँ सब प्रकार की सुविधा थी और जो सब तरह से सुंदर था ॥५॥ श्री विश्वामित्रजी ने कहा कि हे सुजान रघुवीर ! मेरे मन मे तो मान लिया है कि यहाँ रहा जाय ॥६॥ कृपा के स्थान श्रीरामजी ने कहा—"हे नाथ ! बहुत अच्छा" और वहीं मुनि-समूह के साथ उतरे (ठहर गये) ॥७॥

विशेष—(१) प्रथम बाहर से रचना कहते हुए भीतर तक पहुँच गये, अब फिर पुर से बाहर की

वास करते हैं। बाहर के वर्णन में ही पूर्व कहा था कि—"वापी कूप सरित सर नाना" (दो० २११)। यहाँ 'सर सरित समीपा' में दो ही नाम दिये, क्योंकि द्वीप-द्वीप के राजगण आये हैं, उनका निर्वाह वापी-कूप से न होगा। अतः, सर-सरित ही के समीप ठहरे हैं, यथा—"छोनी में के छोनीपति छाजैं जिन्हैं छत्र छाया, छोनी छोनी छाये छिति आये निमिराज के ॥" (क० बा० ८)।

(२) 'देखि अनूप एक···'—आम की छाया सब ऋतुओं में अनुकूल रहती है। यह साधु-समाज के और राजकुमारों के लिये भी अनुकूल है अर्थात् फल-फूल, स्नान, ध्यान, जल और एकान्त—सभी सुभीते हैं।

(३) 'कौसिक कहेउ मोर ···'—मुनि का राज-सम्बन्धी नाम दिया गया, क्योंकि उनका ध्यान विशेष कर राजकुमारों की प्रतिष्ठा पर है कि जब तक राजा जनक स्वयं आकर न लिवा जायँ, तब तक पुर के भीतर इनका जाना योग्य नहीं है। यही लक्ष्य जताने के लिये श्रीरामजी को भी 'रघुबीर सुजान' कहा है कि आप चक्रवर्त्तिकुमार हैं, सुजानता से विचारें कि ठीक है न ?

(४) 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता'—मुनि को नाथ कहा और उनकी बात को प्रामाणिक माना। इससे उनपर भी कृपा है। मुनि-वृन्द थके-प्यासे हैं, यहाँ शीघ्र विश्राम पावेंगे, इससे उतरे। अतः, उन सब पर कृपा है, इससे 'कृपानिकेत' कहा है, यथा—"येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर-तीर। जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥" (सुं० दो० ३५)।

'उतरे तहँ मुनि बृन्द समेता'—उतरने में श्रीरामजी को प्रधानता दी गई है, क्योंकि उनकी ही मर्यादा से यहाँ उतरा गया है, नहीं तो मुनि मात्र होते तो सीधे राज-दरबार में चले जाते, जैसे राजा दशरथ के यहाँ गये थे।

विस्वामित्र महामुनि आये। समाचार मिथिलापति पाये ॥८॥

दोहा—संग सचिव सुचि भूरिभट, भूसुर बर गुरु ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति ॥२१४॥

कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥१॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड राउ अनंदे ॥२॥
कुसल प्रस्न कहि बारहिं बारा। बिस्वामित्र नृपहिं बैठारा ॥३॥

अर्थ—'महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं'—यह समाचार मिथिला-नरेश (जनकजी) को मिला ॥८॥ (तब) राजा जनक ने मंत्रियों, बहुत से निश्छल योद्धाओं, श्रेष्ठ ब्राह्मणों और ज्ञाति (जाति) के गुरु (वृद्ध) लोगों एवं गुरु शतानन्दजी को साथ लिया। इस प्रकार प्रसन्न मन से वे मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र से मिलने चले ॥२१४॥ (मुनि के) चरणों पर शिर रखकर प्रणाम किया, मुनि नाथ विश्वामित्रजी ने प्रसन्नता-पूर्वक असीस दी ॥१॥ फिर सब ब्राह्मण समाज को आदर के साथ प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य जानकर राजा आनन्दित हुए ॥२॥ बारंबार कुशल-प्रश्न करके विश्वामित्रजी ने राजा को बैठाया ॥३॥

विशेष—(१) 'महामुनि' और 'मिथिलापति'—बड़े से मिलने के लिये बड़े का समाचार लेते हुए सावधान रहना और जाना योग्य ही है। जनकजी मिथिला भर के पति हैं, सबके समाचार लेते रहते

हैं। यहाँ तो मुनि समीप हो आ गये हैं; फिर क्यों न जानें। दूतों ने राजकुमारों का भी साथ में होना कहा है। अतः, तदनुसार मिलने चलेंगे। वसिष्ठजी के शाप से निमि का शरीर छूट गया। ऋषियों ने उनका शरीर मथकर 'मिथि' नामक पुत्र उत्पन्न किया जिन्होंने मिथिला नगरी बसाई। तब से इस वंश की तीन उपाधियाँ हुईं—१—'मिथिलेश'; क्योंकि इस गद्दी के पूर्वज राजा मथने से हुए। २—'जनक'; क्योंकि मिथि पिता (जनक) मात्र से उत्पन्न हुए। प्रजा का पितृवत् पालन करने से भी 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुए। ३—'विदेह'; क्योंकि मिथि स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न नहीं हुए। अथवा योगक्रिया से देह-सुधि से रहित रहते हैं। इस गद्दी के सभी राजा ज्ञानी, योगी एवं भक्त होते आये हैं।

'मिथिला'—बृहद्विष्णुपुराण में मिथिला की सीमा यों निर्द्धारित की गई है। यथा—"कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै। योजनानि चतुर्विंशद्व्यायामः परिकीर्त्तितः॥ गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्। विस्तारः षोड़शः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन॥ मिथिलानाम नगरी तत्रास्ते लोक-विश्रुता॥" अर्थात् कौशिकी से लेकर गण्डकी तक पूर्वी-पश्चिमी लम्बाई २४ योजन (९६ कोस) और गंगा की धारा से हिमालय के वन तक उत्तर-दक्खिन में चौड़ाई १६ योजन (६४ कोस) है। मिथिला की रामायणकालीन राजधानी जनकपुर धाम है। वह इस समय नेपाल राज्य में है। वह सीतामढ़ी से लगभग दस-बारह कोस पूरब है। उस समय के राजा "जनक का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। महाराज जनक ने सांकाश्यनगरी के राजा सुधन्वा को जीतकर वहाँ का राज्य कुशध्वज को दे दिया था।

(२) 'संग सचिव सुचि'···—साथ का समाज साभिप्राय है। प्रतिज्ञा के कारण बहुत-से राजा विरोधी हो गये थे, उनसे साल-भर युद्ध हुआ था। (वाल्मी० १।६६।२१-२३)। वे बाहर पाकर छिपे हुए कहीं आक्रमण न कर दें। अतः, सलाह के लिये मंत्री और रक्षा के लिये 'भूरि भट' साथ हैं। उधर गुरु विश्वामित्र और विप्र-मंडली हैं, तो इधर से भी गुरु शतानन्दजी और 'भूसुर बर' हैं। उधर राजकुमार हैं तो इधर जाति-वर्ग भी हैं। 'मुदित' शब्द पृथक् कहा, क्योंकि यह होना अत्यावश्यक है, कहा है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। सज्जन सों सज्जन मिले, पुलके सात करोरि॥" अर्थात् मिलने में दोनों तरफ की चार आँखें सम्मुख हों, ३२+३२=६४ दाँत प्रसन्नता की हँसी से खिल जायँ, हाथ जोड़ने में १०+१०=२० अंगुलियाँ रहें और ३½+३½=७ कोटि रोयें पुलक से खड़े हो जायँ!

(३) 'कीन्ह प्रनाम चरन ···'—राजा ने चरण पर माथ धरकर प्रणाम किया तो मुनि ने मुदित होकर असीस दी। उपर्युक्त 'मुदित' के अनुरूप इधर भी मुदित शब्द है। विप्र-वृन्द के प्रणाम में 'सादर' शब्द से वैसे ही चरण पर माथा धरकर प्रणाम करना जनाया, जिससे फिर वही शब्द नहीं दिया जाय। विप्र वृन्द को समष्टि में ही प्रणाम किया और अपने को बड़भागी माना। यथा—"भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ जानी॥" (दो० ३५१)। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना नहीं कहा गया, पर राजा के आनंदित होने से पाया गया कि सब ने पृथक् पृथक् आशीर्वाद दिया। असीस मुनि के अनुरूप होने से पृथक् नहीं लिखी गई। थोड़े शब्दों से बहुत आशय दिखाना कविता का चमत्कार है।

(४) 'कुसल प्रस्न कहि ···'—कुशल के प्रश्न बार-बार हुए, तदनुसार उत्तर भी बार-बार कहे गये। बार-बार धर्म, राज्य, सन्तान आदि के विषय में कुशल पूछी वा इनकी और इनके गुरु, मुनि आदि की कुशल पूछी, यथा—"पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्। स तांश्चाथ मुनीन्पृष्ट्वा सोपाध्याय

पुरोधस ॥" (वाल्मी० ११५०।६)। 'बारहिं बारा' दीपदेहली न्याय से बैठाने में भी है। बारबार मुनि के बैठाने से राजा बैठे। आसन न दिया, क्योंकि राजा विवेकी एवं ब्रह्मण्यदेव हैं। अत, महामुनि के समक्ष आसन पर नहीं बैठेंगे। ब्राह्मणों से प्रणाम हो जाने पर कुशल पूछने लगे, अन्यथा उनका अनादर होता।

तेहि अवसर आये दोउ भाई। गये रहे देखन फुलवाई ॥४॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन-सुखद बिस्व-चित - चोरा ॥५॥
उठे सकल जब रघुपति आये। बिस्वामित्र निकट बैठाये ॥६॥
भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता ॥७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी ॥८॥

शब्दार्थ—बयस = अवस्था। किसोर = १६ वर्ष के भीतर की अवस्था। मधुर = मनोरंजक, लावण्य-युक्त।

अर्थ—उस अवसर पर दोनों भाई आये, वे फुलवाड़ी देखने गये थे ॥४॥ उनमें एक श्याम—दूसरे गौर थे, वे कोमल शरीर और किशोर अवस्था वाले, आँखों के सुखदायक और विश्व के चित्त को चुराने वाले थे ॥५॥ जब श्रीरघुनाथजी आये, तब सभी उठकर खड़े हो गये। श्रीविश्वामित्रजी ने उन्हें अपने पास में बैठा लिया ॥६॥ दोनों भाइयों को देखकर सब सुखी हुए, सब के नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये और शरीर पुलकित हो गये ॥७॥ मधुर मनोहर मूर्त्ति को देखकर विदेह राजा विशेष रूप से विदेह (देह-सुधि से रहित) हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर आये दोउ'''—जब दोनों समाज बैठ गये, तब अवसर जानकर रामजी और लक्ष्मणजी आये। देर होती तो कोई प्रसंग छिड़ जाने से आने पर उसमें विघ्न होता। प्राय. वे अपनी मर्यादा के अनुसार अवसर पर ही आया करते हैं। यथा—"कहि मृदुबचन बैठारे नरनारि। राजकुँवर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। वैसे यहाँ भी फुलवाड़ी देखना सामान्य कारण है। राजा के आने पर अवस्था में छोटे होने के कारण इन्हें उठना चाहिये और उठने से चक्रवर्ती के कुल की अप्रतिष्ठा का भय है। अत, मुनि ने फुलवाड़ी देखने के व्याज से प्रथम ही इन्हें वहाँ से हटा दिया था कि सब के बैठने पर इनके आने से सब खड़े होंगे। इनके कुल की मर्यादा रहेगी। फुलवाड़ी देखने का भी प्रयोजन था, क्योंकि ये गुरुजी के लिये दल-फूल लाने की सेवा का नियम किये हुए हैं।

(२) 'लोचन सुखद बिस्व ''—लोचन को सुखदायक हैं। अत, दृष्टि पड़ते ही चित्त लुभा जाता है। पूर्वोक्त "लोचन अभिरामा" (दो० २११) भी देखिये। यहाँ सब के चित्त चुराये, आगे भी ऐसा ही करेंगे। यथा—"राजत राज-समाज महँ, कोसल राजकिसोर। सुंदर स्यामल गौर तनु, बिस्वबिलोचन चोर ॥" (दो० २४१)। नेत्रों के देखते हुए सुख देकर चित्त को चुरा लेते हैं, यथा—"चन्द्रकान्ताननं राममतीवप्रियदर्शनम् ॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।" (वाल्मी० २।३। २८ २९)। ये विलक्षण चोर हैं कि परम गुप्तस्थल हृदय है, उसे ही हर लेते हैं। फिर भी प्रियदर्शन होने के कारण इन्हें दंड न देकर लोग सर्वस्व ही अर्पित करते हैं !

(३) 'उठे सकल जब ' '—इनका किंचित् ही प्रताप दूत अंगद को प्राप्त था, तो उनके सामने शत्रु की सभा उठ गई, यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका।" (लं० दो० १७), "उठे सभासद कपि कहँ

देखी।" (लं॰ दो॰ १८); फिर स्वयं इन्हें देखकर सब क्यों न उठें ? यहाँ इनका तेज एवं प्रताप गुण प्रकट हुआ। सबने उठकर इनका सम्मान किया और गुरुजी ने वात्सल्य से निकट बैठाकर प्यार प्रकट किया।

(४) 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ विदेह...'—पूर्वोक्त—'लोचन सुखद...' का चरितार्थ यहाँ है—'मधुर' से नेत्रों को सरस और लावण्ययुक्त जनाया; यही 'लोचनसुखद' का भाव है और 'मनोहर' से मन एवं चित्त हरनेवाले हैं। इसी से विदेह विशेष विदेह हो गये अर्थात् प्रथम देह से चित्तवृत्ति सर्वथा हटाये हुए ब्रह्मानंद में लीन रहने से विदेह थे। अब इनके दर्शनों से परमानंद की प्राप्ति हुई जिससे उस ब्रह्मानंद-वृत्ति को भी चित्त ने त्याग दिया और इनमें अनुराग-सहित लग गया। यथा—"इन्हहिं बिलोकत अति " आगे कहते हैं। इससे विशेष 'विदेह' कहे गये। यथा—"भये बिदेह बिदेह नेह-बस देह-दसा बिसराये। पुलक गात न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाये॥" (गी॰ बा॰ ६३)। "देखे रामलखन निमेषैं बिथकित भईं प्रानहुँ ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मानंद हृदय दरस-सुख लोयनन्हि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं॥" (गी॰ बा॰ ५१)। "अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म-सुख सौगुन दिये।" (जानकी-मंगल ४५)।

यह भी भाव है कि इनके साथ के लोग सामान्य विदेह हुए और ये विशेष विदेह हो गये, यथा—"तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक-समान भये।" (गी॰ बा॰ ६१); तथा—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के से लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह-बिबस बिदेहता बिबाके हैं॥" (गी॰ बा॰ ६२)।

दोहा—प्रेममगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर ॥२१५॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृपकुल-पालक ॥१॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥२॥
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंदचकोरा ॥३॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥४॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥५॥

शब्दार्थ—गदगद = प्रेम-विह्वल दशा के वचन। गँभीर = गूढ़ आशययुक्त, गहरी। तिलक = शिरमौर। उभय = दो। थकित = मोहित। बरबस = बलात्, बरजोरी।

अर्थ—मन को प्रेम में डूबा हुआ जानकर राजा विवेक से धैर्य धारण किये रहे और मुनि के चरणों में शिर नवाकर गंभीर (गूढ़ आशय युक्त) और गद्गद वाणी बोले ॥२१५॥ हे नाथ ! कहिये, ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुल के सिरमौर हैं वा राजाओं के कुल के पालनेवाले हैं ? ॥१॥ क्या जिस ब्रह्म को वेद नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) धरकर आया है ? ॥२॥ (क्योंकि) मेरा मन, जो स्वाभाविक वैराग्य रूप है, इस तरह मोहित हो रहा है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर ॥३॥ इसीलिये हे प्रभो ! मैं आपसे सत्य भाव से पूछता हूँ, हे नाथ ! कहिये, छिपाव न कीजिये ॥४॥ इन्हें देखते ही मेरा मन इनमें अत्यन्त अनुरागपूर्वक लग गया और उसने बरजोरी ब्रह्म-सुख को छोड़ दिया है ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेम-मगन मन ······'—राजा के मन, वचन, कर्म तीनों अनुरक्त हैं। 'प्रेम मगन मन'–मन, 'नाइ सिर'—कर्म, 'गदगद गिरा'—वचन। विवेक-द्वारा बुद्धि से तीनों को सावधान करके जिज्ञासा-द्वारा विशेष निश्चय करना चाहते हैं।

(२) 'कहहु नाथ सुंदर दोउ······'—सुन्दरता-द्वारा ही राजा का मन हरा गया है। अतः, इसे प्रथम कहा। मुनि के साथ हैं और (संभवत) फुलवाड़ी देखने गये थे, इससे धनुप-बाण साथ में नहीं हैं। इससे प्रथम 'मुनि-कुल-तिलक' कहा। फिर राजलक्षण ही नहीं, किंतु चक्रवर्त्ती के लक्षण इनके अंगों में जानकर 'नृप-कुलपालक' का अनुमान किया। इनका अप्रमेय तेज देखकर दोनों कुलों की श्रेष्ठता कही कि मुनि-कुल के होंगे, तो तप से तेज होना संभव है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)। राजा में लोकपालों का तेज रहता है, इससे तेजस्वी होंगे। राजकुमार हैं, तो मुनि के पूर्व के राजकुल के कोई संबंधी होंगे। इससे राज-कुल का प्रश्न किया। यही प्रश्न—"ये कौन कहाँ से आये।" (गी० बा० ६९) पद में विस्तार से है। कोई-कोई यहाँ 'मुनिकुलतिलक' से 'नर-नारायण' और 'नृपकुल-पालक' से ब्रह्मांडपालक नृप विष्णु का अर्थ लेकर और आगे के ब्रह्म को मिलाकर तीन प्रश्न क्रमशः हनूमान्‌जी की तरह लगाते हैं जैसा कि० दो० १ में है।

(३) 'ब्रह्म जो निगम नेति ·····'—परम ज्ञानी श्रीजनकजी का भी मत है कि निर्गुण ब्रह्म शरीर धरता है। यथा—"जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयो कोसलपुर भूपा॥" (दो० १२०); "निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा।" (कि० दो० १६)। 'उभय वेष'—यहाँ ब्रह्म ही का दो वेष धारण करना कहते हैं। आगे पारस्परिक स्नेह देखकर ब्रह्म और जीव निश्चय करेंगे। यदि मुनि कहें कि अभी तो मुनि एवं राजा की दृष्टि थी। अब ब्रह्म कैसे कहते हो ? तो उसपर कहते हैं—

(४) 'सहज बिराग रूप मन ······'—अर्थात् मेरा मन जन्म ही से प्राकृत विषयों से निर्लिप्त है। यथा—"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान-अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३११)। यदि साधन से प्राप्त वैराग्य होता तो उसका च्युत होना भी संभव था। ऐसा बिराग-रूप मन भी इनमें थकित हो रहा है। जैसे चकोर चन्द्रमा के गुण नाम आदि से परिचित नहीं रहता, क्योंकि वह जड़ पक्षी है, फिर भी चन्द्रमा पर देह की सुधि भूले हुए टकटकी लगाये रहता है। मेरे मन की यही दशा हो रही है।

(५) 'ताते प्रभु पूछउँ···'—'ताते'—इस साश्चर्य घटना तथा अपने आप न निश्चय कर सकने पर हार्दिक सत्य भाव से (बाद दृष्टि से नहीं) अपने जानने के लिये पूछ रहा हूँ। छिपाइये नहीं। छिपाना संभव है, क्योंकि श्रीरामजी को अपना ऐश्वर्य प्रकट करना अच्छा नहीं लगता, इसी से मुनि लोग भी उनके निकट उनका ऐश्वर्य गुप्त ही रखते हैं। यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४) "गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु।" (दो० ४८)।

(६) 'इन्हहि बिलोकत अति······'। मन प्रथम ब्रह्म में अनुरागी था और ब्रह्मानंद भोगता था, उसीने बलात् उसे छोड़ दिया, अर्थात् मेरे बहुत यत्न करने पर भी उसमें नहीं ठहर सका। इनको देखते ही इनमें अति-अनुरागपूर्वक लग गया और उस ब्रह्मानंद की अपेक्षा अति सुख प्राप्त कर रहा है। यह रहस्य खोलकर कहिये।

कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥६॥
ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी॥७॥

रघुकुल-मनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाये ॥८॥

दोहा—राम लखन दोउ बंधु वर, रूप-सील-बल-धाम।
मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम ॥२१६॥

शब्दार्थ—मलीक = मिथ्या, मर्यादारहित। प्रानी (प्राणी) = देहधारी जीव। साखि = साक्षी।

अर्थ—मुनि ने हँसकर कहा कि राजन्! आपने अच्छा कहा, आपका वचन मिथ्या नहीं हो सकता ॥६॥ जगत् में जहाँ तक देहधारी जीव हैं, उन सभी को ये प्रिय हैं—मुनि के वचनों को सुनकर श्रीरामजी मन में मुसुकाते हैं—॥७॥ ये रघुकुलमणि दशरथ महाराज के पुत्र हैं, इन्हें राजा ने मेरे हित के लिये भेजा है ॥८॥ राम लक्ष्मण नाम हैं, दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बल के स्थान हैं। सारा संसार साक्षी है कि इन्होंने राक्षसों को लड़ाई में जीतकर मेरे यज्ञ की रक्षा की है ॥२१६॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि ···'—हँसकर मुनि ने प्रसन्नता जनाई, क्योंकि जिसे मुनि प्रथम जानकर भी माधुर्य में भूल गये थे, फिर उनके जनाने से जाना, उसे राजा ने जान लिया। अतः, राजा बड़े चतुर हैं। मुनि ने अच्छा ही कहा है—'तुम्हारा (ब्रह्म ज्ञानी का) वचन यथार्थ ही होता है'। इस तरह प्रथम राजा के वचन को प्रामाणिक किया। फिर स्वयं भी जनाते हैं।

(२) 'ये प्रिय सबहि जहाँ ···'—ये अर्थात् रामजी प्राणिमात्र को प्रिय हैं, क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण हैं, यथा—"यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा" (बृह० ३।७।१), "येन प्राणः प्रणीयते"—श्रुतिः। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह सत्, चित्, आनन्द रूप क्रमशः स्थिर, कान्ति और प्रिय—इन तीन गुणों से जाना जाता है। यहाँ 'प्रिय' से जनाया, इसीको आगे जनकजी स्पष्ट करेंगे—"आनँदहू के आनँद-दाता।" श्रुति भी है—"एषोऽस्य परमानंद एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" तथा—"आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" (तै० ३।६।१), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तै० २।१); "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥" (रा० पू० ता० १।६) अर्थात् इन दोनों ज्ञानियों का संवाद श्रुतियों के अनुकूल ही है। पुनः, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानु-कुल-केतु।" (अ० दो० ८७); इत्यादि, श्रीगोस्वामीजी ने सर्वत्र कहा है। 'मन मुसुकाहिं राम ···'—मन की मुसकान मुखचन्द्र की झलक से जानो। मुसकाने के हेतु—(क) जिसमें लोग लड़का ही जानें। (ख) आपकी हँसी माया है, अतः मुसकाकर मुनि पर माया डाली और मति फेरी कि वे ऐश्वर्य न प्रकट करें, अन्यथा—"रावन मरन मनुज कर ··" (दो० ४८), इत्यादि में बाधा होगी, वही हुआ। मुनि तुरंत ही व्यवहार-दृष्टि से कहने लगे। (ग) मुसकाये कि हम कितना भी छिपाते हैं, तब भी प्रेमी भक्त लोग जान ही लेते हैं। यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम-रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने॥" (अ० दो० १२७)। मन ही में मुसकाये, क्योंकि प्रकट मुसकाने से आत्मश्लाघा रूप दोष होता—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५)।

(३) 'रघुकुलमनि दसरथ ···'—राजा ने मुनि-कुल अथवा नृपकुल का संदेह किया था, उसमें नृपकुल की जगह 'रघुकुलमनि ···' कहा। और जो मुनि के साथ होने से मुनि-कुल का संदेह था। उसके विषय में 'मम हित लागि' कहकर समझाया। 'लागि'—अर्थात् वहीं तक के लिये इनके पिता ने भेजा था, यहाँ तो हम अपनी ओर से लिवा लाये हैं। इस तरह सारी कृतज्ञता का भार राजा पर धर दिया जिससे राजा ने चरणों के दर्शनों से भाग्य सराहकर कृतज्ञता प्रकट की है। यथा—"मुनि तव चरन देखि कह राऊ।"

इस माधुर्य कथन से चरित-द्वारा भी ब्रह्म का ही परिचय दिया, क्योंकि इस तरह राजा जान लेंगे, यथा— "येह सब जागवलिक कहि राखा।" (बा० दो० २८४)। 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये।' से अवतार कहा, यथा—"ते दसरथ कौसिल्या रूपा। कोसल पुरी प्रगट नरभूपा॥ तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल-तिलक सुचारिउ भाई॥" (दो० १८१)। 'राम लखन दोउ बंधु' से नाम और रूप, 'ममहित लागि' से लीला और 'रघुकुलमनि' से धाम श्रीअवध भी जनाया। 'बंधुबर' अर्थात् दोनों ज्येष्ठ ज्येष्ठ भाई हैं भरत-शत्रुघ्न (क्रमिक दोनों से) एक एक से छोटे भी हैं।

(३) 'रूप-सील-बल-धाम'''साखि जग'''—रूप प्रथम कहा, क्योंकि उसका पूर्ण प्रभाव अभी ही राजा पर पड़ा है। प्रथम देखने पर मुनि स्वयं भी ऐसे ही हो गये थे। 'सील' हमारा शील रखने के लिये माता-पिता, सुखमय गृह आदि छोड़े हुए साथ पैदल फिर रहे हैं। 'बलधाम' ऐसे हैं कि असुरों को संग्राम करके जीत चुके हैं। ये अत्यन्त सुकुमार हैं और राक्षस महान् क्रूर-कठोर हैं। उन्हें जीतने में संदेह हो सकता है, *इसलिये जगत्-भर का साक्ष्य (गवाही) दिया; अर्थात् मैंने इनके उत्कर्ष के लिये नहीं कहा।*

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्यप्रभाऊ॥१॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥२॥
इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मनभाव सुहावनि॥३॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥४॥

अर्थ—राजा ने कहा कि हे मुनि! आपके चरणों को देखकर मैं अपने पुण्यों के प्रभाव को नहीं कह सकता॥१॥ ये श्याम-गौर दोनों भाई सुन्दर हैं, आनन्द को भी आनन्द देनेवाले हैं॥२॥ इनकी आपस की प्रीति पवित्र और सुहावनी है, कही नहीं जा सकती, मन को भाती है॥३॥ राजा जनक ने प्रसन्न मन होकर कहा—हे नाथ! सुनिये, इनका स्वाभाविक स्नेह ब्रह्म-जीव की तरह है॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि तव चरन देखि''—एक तो पुण्यपुंज से संत मिलते हैं, फिर आप ऐसे संत हैं कि जो साक्षात् ईश्वर को लेकर ही आये। अतः, हमारे पुण्य अकथ्य हैं। इस प्रकार मुनि की प्रशंसा की। 'कहि न सकउँ'—से प्रतिज्ञा पूरी होने की भी आशा गर्भित है, जो अभी कहने की नहीं है।

(२) 'सुंदर स्याम गौर'' '—पुण्य के प्रभाव से आनन्द मिलता है। अतः, प्रथम उसे कहकर तब आनन्द की प्राप्ति जताई। इनकी सुन्दरता से आनन्द को भी आनन्द मिला। भाव, ब्रह्म आनन्द-रूप है, *यथा—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥"* (तै० ३।६।१); "आनंदसिंधु मध्य तव बासा।" (वि० १३६)। उसमें तन्मय होकर मैं ब्रह्मानन्द का भोक्ता था। अतः, आनन्द-रूप था, मुझे भी इन्होंने उससे विशेष आनन्द दिया। यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई।" (दो० २३१)। राजा राजकुमारों की सुंदरता पर मुग्ध हैं। अतः, यही सराहते हैं।

(३) 'इन्ह कै प्रीति परस्पर'''—ऊपर की सुन्दरता कहकर अब भीतर की प्रीति कहते हैं। 'पावनि' यथा—"प्रीति पुनीत भरत कै देखी।" (दो० २३०); "उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० २२१); छल-रहित प्रीति पुनीत है और भाई-भाई में स्वभावतः होती है, यथा—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छलबरजित प्रीती॥" (दो० १५३), "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥" (कि० दो० ५) तथा—"उपमा राम लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरनीरै।" (गी० लं० १५)।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि राजा ने देखने मात्र से अंतरंग प्रीति को कैसे जाना? भाई-भाई में तो कहीं-कहीं कपट-प्रीति भी होती है। इसका उत्तर 'कहि न जाइ मन भाव' में गर्भित है; अर्थात् जैसे अनुभव-द्वारा ब्रह्म का निश्चय किया है वैसे ही अनुभव से प्रीति एवं ब्रह्म-जीव का नाता भी जाना, अनुभव मन में होता है, इसी को 'मनभाव' से कहते हैं। अनुभव की बात अकथ्य भी होती है, यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।" (दो० २४१)। यही 'कहि न जाइ' से सूचित किया है।

(४) 'सुनहु नाथ कह मुदित···'—मुदित के साथ बिदेह पद से जनाया कि आनंद में देह सुधि भूल गई है। 'ब्रह्म-जीव इव' यथा—"राम लखन सम प्रिय तुलसी के।।···ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।।" (दो० १९) में भी राम के क्रमशः अर्थ में ब्रह्म-जीव का प्रसंग है।

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥५॥
मुनिहिं प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू ॥६॥
सुंदर सदन सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला ॥७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयेउ राउ गृह बिदा कराई ॥८॥

दोहा—रिषय संग रघुबंस-मनि, करि भोजन बिश्राम।
बैठे प्रभु - भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम ॥२१७॥

अर्थ—राजा बार-बार प्रभु को देखते हैं, शरीर में पुलकावली होती है और हृदय में बहुत उत्साह हो रहा है ॥५॥ मुनि की प्रशंसा कर और उनके चरणों में शिर नवाकर राजा उन्हें नगर को लिवा ले चले ॥६॥ एक सुंदर घर जो सब काल में सुखदायक था, वहाँ ले जाकर राजा ने इनको ठहराया ॥७॥ सब तरह से मुनि की पूजा और सेवा करके राजा विदा माँगकर घर गये ॥८॥ रघुकुल में शिरोमणि श्रीरामजी ऋषियों के साथ भोजन और विश्राम करके भाई के साथ बैठे, तब पहर भर दिन रह गया था ॥२१७॥

विशेष—(१) 'पुनि-पुनि प्रभुहि ··'—बार-बार देखकर राजा इनमें प्रभुता (सामर्थ्य) का भी अनुभव करते हैं, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ ॥" (जानकीमंगल ६६); इसी से यह निश्चय करते हैं कि ये धनुष भी तोड़ेंगे तब सीता इन्हें और उर्मिला लक्ष्मण को ब्याह देंगे—इसीका अति उत्साह और पुलक हो रहा है।

(२) 'मुनिहि प्रसंसि नाइ···'—प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिला। अतः, कृतज्ञता के लिये प्रशंसा और प्रणाम किया। पुनः मुनि विरक्त वनवासी हैं, घर में रहने के लिये भी प्रार्थना एवं प्रणाम आदि हैं। स्वीकृति होने पर लिवा ले चले। नगर को क्यों लिवा ले गये?—(क) वहाँ सब प्रकार की सेवा का सुपास रहेगा, क्योंकि और राजा लोग तैयारी से आये हैं और ये चक्रवर्ति कुमार हैं, पर मुनि की सेवा में हैं, यहाँ विरक्तों के बीच में वहाँ से कितने भी प्रबंध करेंगे, तो भी कुछ त्रुटि ही रहेगी। (ख) राजकुमार इक्ष्वाकुवंश की गद्दी के हैं और निमि-वंश भी वहीं की शाखा है, इस अपनपौ से भी किले के भीतर रक्खेंगे। (ग) राजा को नित्य प्रति बाहर आने में विशेष प्रबंध करना पड़ता, इसलिये भी भीतर लिवा ले गये।

(३) 'सुंदर सदन सुखद···'—देखने में सुंदर है और उसमें सब ऋतुओं का सुपास भी है, क्योंकि कार्तिक में मुनि यहाँ आये हैं, इस शरत् ऋतु में गर्मी, वर्षा और जाड़ा—तीनों रहते हैं। एक ऋतु

के अनुकूल गृह देने से उतने ही काल रहने की रुचि समझी जाती। 'लै दीन्ह'—साथ में ले जाकर, दिखाकर और उनकी रुचि जानकर वैसा भवन दिया। 'सुंदर सदन'—इस घर का नाम भी कहा जाता है।

(४) 'करि पूजा सब बिधि ' ''सब बिधि' दीपदेहली है। पूजा षोडशोपचार से की और 'सेवकाई' से सेवक, वस्तु, वस्त्र और भोजन आदि का प्रबंध सूचित है। 'बिदा कराई'—यह शिष्टाचार है। यह भी गर्भित है कि राजा मुनि के अधीन हैं।

(५) 'रिषय संग रघुबंसमनि ''—ऋषियों को साथ लेकर भोजन करने से रघुवंशमणि कहा, क्योंकि बड़े लोग समाज के साथ ही भोजन करते हैं। भोजन करके विश्राम करना आयुर्वेद की आज्ञा है। भोजन के पीछे भी कथा होती थी, पर आज नहीं हुई, क्योंकि रामजी को नगर देखने जाना है। अथवा भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है। अतः, आज श्रीजनकजी के राजमहल में ही भोजन हुआ है, सत्योपाख्यान में ऐसा लिखा भी है। इससे पकान्न आदि के भोजन से विश्राम करना आवश्यक था, इससे भी कथा नहीं हुई। 'भरि जाम'—राजा की सेवा में सावधानी भी देखी गई कि आज ही मुनि आये, राजा उनसे मिले, संवाद हुआ, नवीन वासा दिया, भोजन कराया, फिर विश्राम करने पर भी एक पहर दिन रह गया जो घूमने फिरने एवं नगर देखने का उपयुक्त समय है।

यहाँ चार शास्त्रों के मत दिखाये—'रिषय' बहुवचन है (व्याकरण); 'करि भोजन विश्राम'—(वैद्यक), 'बैठे प्रभु भ्राता सहित'—(नीति) और 'दिवस रहा भरि जाम' (ज्योतिष शास्त्र)।

लखन - हृदय लालसा बिसेखी। जाइ जनकपुर आइय देखी ॥१॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥२॥
राम अनुज-मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी ॥३॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु - अनुसासन पाई ॥४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के हृदय में बड़ी लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आवें ॥१॥ प्रभु का डर है और मुनि से सकोच करते हैं, इससे प्रकट नहीं कहते, किंतु मन ही में मुसुका रहे हैं ॥२॥ श्रीरामजी ने भाई के मन की दशा जान ली, उनके हृदय में भक्तवत्सलता उमड़ आई ॥३॥ गुरुजी की आज्ञा पाकर बहुत नम्रता और संकोच के साथ मुसकुराकर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-हृदय लालसा बिसेषी'—लालसा आपको भी है, पर लक्ष्मण के हृदय में विशेष है, क्योंकि बाहर की रचना देखकर दोनों भाई विशेष हर्षित थे। यथा -"पुर-रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी॥" (दो० २११), इससे भीतर नगर की भी रचना देखने की लालसा हुई। 'बिसेखी' अर्थात् उत्कृष्ट इच्छा हो पड़ी जिसकी चेष्टा नेत्र आदि में झलक आई, क्योंकि आगे— राम अनुज-मन की गति जानी' कहा है। मन अणु-स्वरूप है, उसकी गति बाह्य चेष्टाओं (आकार, सकेत, गति, चेष्टा, भाषण) से ही जानी जाती है। यथा—"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥"—नीतिसार (गरुड़पुराण)। नगर-दर्शन संकोच की बात है, लक्ष्मण बालक हैं, उनमें लालसा होना योग्य है।

(२) 'प्रभु-भय बहुरि'' '—प्रभु श्रीरामजी का भय छोटे भाई में होना योग्य ही है, यथा—"कहि न सकत रघुबीर-डर"(दो० १५१), "लखन राम-डर बोलि न सकहीं॥" (दो० २११)। मुनि बड़े हैं।

अतः, उनका संकोच होना भी युक्त है कि चपलता से रुष्ट होंगे। यह संकोच नगर-दर्शन के अन्त तक रहा है। यथा—"सभय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।" (दो० २२५)। लक्ष्मणजी की दृष्टि में प्रभु मुख्य हैं, यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काऊ।···मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)। अतः, 'प्रभु-भय' प्रथम कहा है। श्रीलक्ष्मणजी जीवमात्र के आदर्श आचार्य हैं, उनकी तरह सबको प्रभु का भय सदा रहना चाहिये। यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८)।

(३) 'राम अनुज-मन की···'—मन की गति जानने के सम्बन्ध से 'राम' कहा गया है, क्योंकि जीवों के मन की गति ईश्वर ही जानेगा। यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)। मुनि ने नहीं जाना, क्योंकि वे जीव हैं। जीव ध्यान-द्वारा ही आंशिक सर्वज्ञ होता है, यह सर्वज्ञता भी ईश्वर-सापेक्ष्य है। 'भगतवछलता···'—तुरन्त जन्मे हुए बछड़े मे गाय का जो प्रेम होता है, उसको वात्सल्य गुण कहते हैं। श्रीरामजी का भक्त लक्ष्मणजी के प्रति इस समय यही गुण उमड़ पड़ा। अतः, उनका मनोरथ पूर्ण करना चाहते हैं। पुन० 'राम' शब्द के अनुरोध से प्रेमी भक्त जनकपुरवासियों पर भी वत्सलता गर्भित है। वे कर्म-रूप रस्सी में बँधे हैं, प्रभु के दर्शन रूप दूध के अभिलाषी हैं, उन्हें भी तृप्त करना है, क्योंकि आगे मुनि ने कहा है,—"करहु सफल सब के नयन" और श्रीरामजी के चलते समय भी यही कहा गया है; यथा—"चले लोक-लोचन-सुख-दाता।" (दो० ११८)।

(४) 'परम विनीत सकुचि ···'—'परम' शब्द 'विनीत' और 'सकुचि' दोनों के साथ है। श्रीरामजी के तीन प्रकार के संकेतों से भी मुनि उनके हृदय की गति नहीं जान सके, तब श्रीरामजी ने आज्ञा पाकर वचन-द्वारा प्रकट किया था तीनों संकेत इसलिये ही हैं कि मुनि समझ जायँ कि ये कुछ कहना चाहते हैं। इसीके अनुसार मुनि ने कहा है कि क्या कुछ कहोगे ? तब आपने कहा है। 'परम' का भाव यह भी है कि सामान्यतया तो ये तीनों गुण आपमें सदा ही रहते हैं, पर आज ऐसी आज्ञा माँगनी है, जिसमे कुछ चपलता एवं स्वतंत्रता मानी जा सकती है। अत', 'परम' विशेषण से यह दोष दूर किया।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु-सँकोच-डर प्रगट न कहहीं॥५॥
जौं राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥६॥
सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥७॥
धरम-सेतु-पालक तुम्ह ताता। प्रेमबिबस सेवक-सुख-दाता॥८॥

दोहा—जाइ देखि आवहु नगर, सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥२१८॥

अर्थ—हे नाथ ! लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं, प्रभु (आप) के संकोच और डर से प्रकट नहीं कहते ॥५॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ, तो इनको नगर दिखलाकर शीघ्र ले आऊँ ॥६॥ यह सुनकर मुनीश्वर विश्वामित्रजी ने प्रेम-पूर्वक वचन कहा कि हे राम ! तुम क्यों न नीति की रक्षा करोगे ? ॥७॥ हे तात ! तुम धर्म की मर्यादा (सेतु) के पालन करनेवाले हो और सेवकों के प्रेम के विशेष वश होकर

उनको सुख देते हो ॥८॥ सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुख-कमल दिखाकर सब के नेत्र सफल करो ॥२१८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-सँकोच डर''' '''—प्रथम लक्ष्मणजी में श्रीरामजी का डर और मुनि का संकोच कहा गया, पर यहाँ श्रीरामजी ने वे दोनों बातें मुनि ही में कहीं, अन्यथा वैसा कहने में मुनि की बराबरी का दोष आता। प्रथम प्रभु-भय प्रधान और मुनि का संकोच गौण कहा गया था, पर यहाँ श्रीरामजी की अनुकूलता से लक्ष्मण का डर गौण हो गया। मुनि का संकोच प्रधान रह गया।

(२) 'जौं राउर आयसु मैं ''''''—यदि लक्ष्मण अकेले के लिये कहते तो संभव था कि मुनि बालक जानकर रोक देते। अतः, अपने लिये भी आज्ञा माँगी। दिन थोड़ा है और नगर बड़ा, कहीं बहुत विलंब न हो जाय, इसलिये 'तुरत' कहा है जिससे मुनि को आज्ञा देते ही बनेगा।

(३) 'सुनि मुनीस कह बचन''''''—कुछ काल का वियोग स्मरण कर मुनि प्रीति से भर गये, तथा वात्सल्य गुण से इनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिये प्रीति है। प्रीति के संबंध से 'मुनीस' कहे गये, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" अ० दो० २०६)। 'नीती'—नम्रता, संकोच और मुसकान—यह नीति है। गुरु-जन के समक्ष में यही चाहिये।

(४) 'धरम-सेतु-पालक तुम्ह'''—बड़ों की आज्ञा के अनुसार कार्य करना धर्म है। यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (दो० ७६)। यह श्रीरामजी का आचरण लोक-शिक्षा के लिये है। प्रथम वेद-शास्त्र द्वारा धर्म-मर्यादा-स्थापन रूप पुल बाँधा गया था, वह अधर्मियों ने अनाचार से छिन्न-भिन्न कर दिया। आप उक्त धर्माचरण को चरित-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं, यही सेतु-रक्षा है। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणे।" (श्रीमद्भागवत) ; "चारित्रेण च को युक्तः।" (वाल्मी० सू०)।

'प्रेम-बिबस सेवक''''''—प्रेम के विशेष वश होकर सेवक श्रीलक्ष्मण एवं नगर-वासी लोगों को आप सुख देनेवाले हैं।

(४) 'जाइ देखि आवहु नगर''''''—श्रीरामजी ने केवल साथ जाने को कहा था। मुनि दोनों भाइयों को देखने के लिये कहते हैं, क्योंकि मुनि की ऐसी आज्ञा न होने से संभव था कि श्रीरामजी इधर-उधर कुछ नहीं देखते। 'सुख-निधान' दीपदेहली है। मुनि ने प्रथम ही कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" (दो० २००)। अतः, भाव है कि तुम दोनों का ब्याह इस नगर में होगा तो तुम्हारे लिये यह नगर सुख का निधान होगा और तुम दोनों भी नगर के लिये सुख के निधान होगे। 'करहु सुफल'''—यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। निरखि बदन-पंकज भवमोचन॥" (आ० दो० ९); "निज प्रभु-बदन निहारि-निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७७); "निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।" (सुं० दो० २६)। 'देखि' और 'देखाइ' अर्थात् स्वयं रुचि से देखना और दर्शकों की रुचि के अनुसार भी देखना। भाव—जो पुष्प-वृष्टि आदि संकेत से आपके मुख-कमल की झाँकी चाहें उनकी ओर भी अवश्य देखना, तभी उनके भी नेत्र सफल होंगे।

मुनि के 'सप्रीति' वचन यहाँ चरितार्थ हैं। यथा—'जाइ देखि आवहु नगर'; इसमें कहना था कि—'जाइ नगर देखि आवहु' पर ऐसा न कहकर 'नगर' शब्द अंत में और 'आवहु' प्रथम ही कह दिया, अर्थात् हम भी देर तक वियोग न सह सकेंगे, शीघ्र आना। इसीसे 'जाइ' इस वियोग-सूचक शब्द के साथ ही 'आवहु' संयोग का शब्द कहा गया है। 'सुख-निधान' अर्थात् हमारे भी सुख के निधान तुम्हीं दोनों भाई हो। अतः, विशेष विलंब में दुःख होगा।

प्रथम 'देखि आवहु' माधुर्य में कहा, फिर ऐश्वर्य-दृष्टि से देखा कि इनकी माया से ब्रह्मांड रचना हुआ करती है तो यह क्या अपूर्व वस्तु है, जो देखेंगे? अतः,—'करहु सुफल ······' भी कहा।

मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख-दाता ॥१॥
बालक-बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥२॥
पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥४॥

शब्दार्थ—लोक=लोग ; यथा—"लोकस्तु भुवने जने।" अनुहरत=अनुकूल। खोरी (खौर)=मस्तक आदि पर चन्दन का लेपन करके उसपर अँगुली या कंघी से खरोंचकर चिह्न बनाना। परिकर=(परि=चारों ओर, कर=किये) लपेटे हुए।

अर्थ—लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनो भाई मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले ॥१॥ इनकी अत्यन्त शोभा देखकर बालकगण के नेत्र और मन लुभा गये, इससे वे साथ लग पड़े ॥२॥ (दोनो भाई) पीतांबर पहने और कमर में भी लपेटे हैं, जिसमें तरकश बँधा है। सुन्दर धनुष-बाण हाथों में शोभित हैं ॥३॥ शरीर के (रंग के) अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर (सुशोभित) है, ऐसी साँवली-गोरी जोड़ी मन को हरनेवाली है ॥४॥

विशेष—(१) 'चले लोकलोचन······'—पूर्व कहा गया कि यहाँ का नगर किले से बाहर है। राजकुमार किले के भीतर ही राजमहल में ठहरे हुए हैं। वहाँ बिना आज्ञा के साधारण लोग नहीं जाने पाते। इन्हें दर्शन देकर सुख देने को चले। जब बाहर निकले, तब बालकगण साथ लगे।

(२) 'देखि अति सोभा'—इस नगर के लोग स्वयं रूप-निधान थे। यथा—"नगर नारि नर रूप निधाना।···जिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥" (दो० २१३)। पर ये दोनों भाई अत्यन्त सुन्दर थे, इससे वे भी इन्हें देखते ही लुभा गये। यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (अ० दो० ११३)। प्रथम नेत्र लुभाये, तदनुसार मन भी लुभाया। कहा है—"मन सों अपर महीप नहि, दृग सो नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदर्यो, मन तेहि हाथ बिकान॥"

(३) 'पीतबसन परिकर······'—पीत वस्त्र धारण वीर बाना है। यथा—"पीतांबरधरःस्रग्वी-साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (श्रीमद्भाग०)। अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर काम को जीता है, वैसे यहाँ भी शृंगारवीरता का काम है, सबके हृदय रूप किले में प्रवेश करके मन को हरण करना है। इसीलिये कटि से वर्णन प्रारंभ किया है। वीर-रस का वर्णन कटि से; शृंगार का शिर से और शांत, दास, करुणा का वर्णन चरण से प्रारंभ होता है।

'चारु चाप सर······'—धनुष-बाण भी आपके परम सुन्दर शृंगार के अंग हैं।

(४) 'तनु अनुहरत सुचंदन···'—सु-चन्दन अर्थात् अच्छा चन्दन, केशर, कस्तूरी, कपूर आदि मिलाया हुआ। श्रीरामजी के श्याम शरीर पर पीत रंग और लक्ष्मणजी के गौर शरीर पर लाल रंग के अंगराग की खौर अनुकूल होती है अथवा पीत और श्याम रंग की कही जाती है। ग्रंथकार ने 'अनुहरत' से सब मतों की रक्षा कर दी है।

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग मनि-माला ॥५॥

उनको सुख देते हो ॥८॥ सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुख-कमल दिखाकर सब के नेत्र सफल करो ॥२१८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-सँकोच डर''' '''—प्रथम लक्ष्मणजी में श्रीरामजी का डर और मुनि का संकोच कहा गया, पर यहाँ श्रीरामजी ने वे दोनों बातें मुनि ही में कहीं, अन्यथा वैसा कहने में मुनि की बराबरी का दोष आता। प्रथम प्रभु-भय प्रधान और मुनि का संकोच गौण कहा गया था, पर यहाँ श्रीरामजी की अनुकूलता से लक्ष्मण का डर गौण हो गया। मुनि का संकोच प्रधान रह गया।

(२) 'जौ राउर आयसु मैं ·····' - यदि लक्ष्मण अकेले के लिये कहते तो संभव था कि मुनि बालक जानकर रोक देते। अतः, अपने लिये भी आज्ञा माँगी। दिन थोड़ा है और नगर बड़ा, कहीं बहुत विलंब न हो जाय, इसलिये 'तुरत' कहा है जिससे मुनि को आज्ञा देते ही बनेगा।

(३) 'सुनि मुनीस कह बचन''''''—कुछ काल का वियोग स्मरण कर मुनि प्रीति से भर गये, तथा वात्सल्य गुण से इनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिये प्रीति है। प्रीति के संबंध से 'मुनीस' कहे गये, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" अ० दो० २७१)। 'नीती'—नम्रता, संकोच और मुसकान—यह नीति है। गुरु-जन के समक्ष में यही चाहिये।

(४) 'धरम-सेतु-पालक तुम्ह'''-बड़ों की आज्ञा के अनुसार कार्य करना धर्म है। यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (दो० ७६)। यह श्रीरामजी का आचरण लोक-शिक्षा के लिये है। प्रथम वेद-शास्त्र द्वारा धर्म मर्यादा-स्थापन रूप पुल बाँधा गया था, वह अधर्मियों ने अनाचार से छिन्न-भिन्न कर दिया। आप उक्त धर्माचरण को चरित-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं, यही सेतु-रक्षा है। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं।" (श्रीमद्भागवत); "चारित्रेण च को युक्त।" (वाल्मी० मू०)।

'प्रेम-बिबस सेवक''''''—प्रेम के विशेष वश होकर सेवक श्रीलक्ष्मण एवं नगर-वासी लोगों को आप सुख देनेवाले हैं।

(४) 'जाइ देखि आवहु नगर''''''—श्रीरामजी ने केवल साथ जाने को कहा था। मुनि दोनों भाइयों को देखने के लिये कहते हैं, क्योंकि मुनि की ऐसी आज्ञा न होने से संभव था कि श्रीरामजी इधर-उधर कुछ नहीं देखते। 'सुख-निधान' दीपदेहली है। मुनि ने प्रथम ही कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" (दो० २०७)। अतः, भाव है कि तुम दोनों का ब्याह इस नगर में होगा तो तुम्हारे लिये यह नगर सुख का निधान होगा और तुम दोनों भी नगर के लिये सुख के निधान होगे। 'करहु सुफल '''—यथा—"होइहहि सुफल आजु मम लोचन। निरखि बदन-पंकज भवमोचन॥" (आ० दो० ९), "निज प्रभु बदन निहारि-निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७५); "निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।" (कि० दो० २६)। 'देखि' और 'देखाइ' अर्थात् स्वयं रुचि से देखना और दर्शकों की रुचि के अनुसार भी देखना। भाव—जो पुष्प-वृष्टि आदि संकेत से आपके मुख कमल की झाँकी चाहें उनकी ओर भी अवश्य देखना, तभी उनके भी नेत्र सफल होंगे।

मुनि के 'सप्रीति' वचन यहाँ चरितार्थ हैं। यथा—'जाइ देखि आवहु नगर', इसमें कहना था कि—'जाइ नगर देखि आवहु' पर ऐसा न कहकर 'नगर' शब्द अंत में और 'आवहु' प्रथम ही कह दिया, अर्थात् हम भी देर तक वियोग न सह सकेंगे, शीघ्र आना। इसीसे 'जाइ' इस वियोग-सूचक शब्द के साथ ही 'आवहु' संयोग का शब्द कहा गया है। 'सुख-निधान' अर्थात् हमारे भी सुख के निधान तुम्हीं दोनों भाई हो। अतः, विशेष विलंब में दुःख होगा।

प्रथम 'देखि आवहु' माधुर्य में कहा, फिर ऐश्वर्य-दृष्टि से देखा कि इनकी माया से ब्रह्मांड-रचना हुआ करती है तो यह क्या अपूर्व वस्तु है, जो देखेंगे ? अतः,—'करहु सुफल······' भी कहा।

मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख-दाता ॥१॥
बालक-बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥२॥
पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। श्यामल गौर मनोहर जोरी ॥४॥

शब्दार्थ—लोक=लोग ; यथा—"लोकस्तु भुवने जने।" अनुहरत=अनुकूल। खोरी (खौर)=मस्तक आदि पर चन्दन का लेपन करके उसपर अँगुली या कंघी से खाँचकर चिह्न बनाना। परिकर=(परि=चारों ओर, कर=किये) लपेटे हुए।

अर्थ—लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनो भाई मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले ॥१॥ इनकी अत्यन्त शोभा देखकर बालकगण के नेत्र और मन लुभा गये, इससे वे साथ लग पड़े ॥२॥ (दोनो भाई) पीतांबर पहने और कमर में भी लपेटे हैं, जिसमें तरकश बँधा है। सुन्दर धनुष-बाण हाथों में शोभित हैं ॥३॥ शरीर के (रंग के) अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर (सुशोभित) है, ऐसी साँवली-गोरी जोड़ी मन को हरनेवाली है ॥४॥

विशेष—(१) 'चले लोकलोचन······'—पूर्व कहा गया कि यहाँ का नगर किले से बाहर है। राजकुमार किले के भीतर ही राजमहल में ठहरे हुए हैं। वहाँ बिना आज्ञा के साधारण लोग नहीं जाने पाते। उन्हें दर्शन देकर सुख देने को चले। जब बाहर निकले, तब बालकगण साथ लगे।

(२) 'देखि अति सोभा'—इस नगर के लोग स्वयं रूप-निधान थे। यथा—"नगर नारि नर रूप निधाना।···तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥" (दो० ३१३)। पर ये दोनों भाई अत्यन्त सुन्दर थे, इससे वे भी इन्हें देखते ही लुभा गये। यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (अ० दो० ११३)। प्रथम नेत्र लुभाये, तदनुसार मन भी लुभाया। कहा है—"मन सों अपर महीप नहिं, दृग सो नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदर्यो, मन तेहि हाथ बिकान॥"

(३) 'पीतबसन परिकर······'—पीत वस्त्र धारण वीर बाना है। यथा—"पीतांबरधरःस्रग्वी-साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (श्रीमद्भाग०)। अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर काम को जीता है, वैसे यहाँ भी शृंगारवीरता का काम है, सबके हृदय रूप किले में प्रवेश करके मन को हरण करना है। इसीलिये कटि से वर्णन प्रारंभ किया है। वीर-रस का वर्णन कटि से; शृंगार का शिर से और शांत, दास, करुणा का वर्णन चरण से प्रारंभ होता है।

'चारु चाप सर······'—धनुष-बाण भी आपके परम सुन्दर शृंगार के अंग हैं।

(४) 'तनु अनुहरत सुचंदन···'—सु-चन्दन अर्थात् अच्छा चन्दन, केशर, कस्तूरी, कपूर आदि मिलाया हुआ। श्रीरामजी के श्याम शरीर पर पीत रंग और लक्ष्मणजी के गौर शरीर पर लाल रंग के अंगराग की खौर अनुकूल होती है अथवा पीत और श्याम रंग की कही जाती है। ग्रंथकार ने 'अनुहरत' से सब मतों की रक्षा कर दी है।

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥५॥

सुभग सोन सरसीरुह-लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय-मोचन ॥६॥
कानन्हि कनकफूल छवि देहीं। चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं ॥७॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक-रेख-सोभा जनु चाँकी ॥८॥

दोहा—रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नख-सिख-सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥२१९॥

शब्दार्थ—कंधर=गरदन। सोन (शोण)=लाल। कनकफूल=फूल के आकार के कुंडल जो लौंग के समान होते हैं। बाँकी=टेढ़ी। चाँकी (चक=चाकी=बिजली का पर्यायी है)=बिजली वा चक्रांकित की हुई, अन्न की राशि पर चाकना, चक्रांकित करना कि इसमें से निकालने पर जान पड़े। यथा—"तुलसी तिलोक की समृद्धि सौंज सम्पदा सकेलि चाकि राखी रासि जाँगर जहान भो।" (क०)। चौतनी=बच्चों की टोपी जिसमें चार बंद लगे रहते हैं, चौगसी। मेचक=श्याम।

अर्थ—सिंह के समान उन्नत कंधा, भुजाएँ लंबी और छाती पर अत्यन्त सुन्दर गजमुक्ता की माला है ॥५॥ सुन्दर लाल कमल के समान नेत्र हैं, मुखचन्द्र तीनों तापों को छुड़ानेवाला है ॥६॥ कानों में कनकफूल ऐसी शोभा दे रहे हैं कि देखते ही मानों चित्त को चुरा लेते हैं ॥७॥ उनकी चितवनि सुंदर (सौम्य, तिरछी कटाक्षादि रहित, जो स्थैर्य गुण की मुद्रा है), भौंहें श्रेष्ठ (बड़ी) टेढ़ी हैं, तिलक की रेखाएँ ऐसी हैं कि मानों शोभा (रूपराशि) पर छाप लगा दी गई है ॥८॥ सुन्दर सिर पर चौतनी टोपी दे रक्खी है, काले घुँघुराले बाल हैं। दोनों भाई नख से शिखा पर्यन्त (सर्वांग) सुन्दर हैं, सब शोभा, जहाँ जैसी चाहिये, वैसी है ॥२१९॥

विशेष—(१) 'केहरिकंधर बाहु···'—इसमें जनु आदि वाचक शब्द न देकर सिंह-रूप ही जनाया (रूपकालंकार), सिंह के हाथ (आगे के पाँव) विशाल होते हैं, वैसे यहाँ भी बाहु बिशाल हैं।

'नागमनिमाला'—नाग के अर्थ हाथी, सर्प और पर्वत तीनों होते हैं। अतः, तीनों प्रकार की मणियों की मालाएँ पहने हुए हैं। यथा—"मनि-मानिक-मुकुता-छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥"

(२) 'सुभग सोन सरसीरुह···'—नेत्र लाल कमल (रतनार) कहे गये, क्योंकि इनसे दर्शकों को मोहेंगे। कहा भी है—"अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार। जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार॥" (रसलीन)। इसमें यथासंख्यालंकार से लाल नेत्र से मोहना कहा गया है। 'तापत्रय'—धनुष-प्रतिज्ञा रूपी दैहिक ताप, खल-नृपों द्वारा (जो धनुभंग पर लड़ने को थे) भौतिक ताप और परशुराम (अचानक आये एवं देवरूप—एक अवतार हैं) द्वारा दैविक ताप दूर करेंगे।

(३) 'कानन्हि कनकफूल······'—कानन वन का और कनक धतूरे का भी नाम है। अतः, वन में धतूरे का नशा यात्री को देकर उसका धन हरा जाता है, वैसे यहाँ श्रवण वन, कनकफूल धतूरे का फूल, छवि उसका विष, 'देहीं' अर्थात् देते हैं जो चित्त रूपी वित्त (धन) को हर लेते हैं, यथा—"एक नयन-मग छवि उर आनी। होहिं सिथिल तनु मन बर बानी॥" (अ० दो० ११२)। 'चोरि जनु लेहीं' यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी प्रभु किधौं प्रभु को प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥" (गी० बा० २१)।

(४) 'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।'—(क) तिलक की दो रेखाएँ पीत रंग की हैं, बीच की श्री

लाल रंग की है। श्री का अर्थ शोभा भी होता है, शोभा का भी रंग लाल है। अतः, बीच की श्री शोभा हुई, यह बगल की दोनों रेखाओं से घिरी है। यही चाकना है, राशि के चारों ओर गोबर आदि से निशान रूप में घेरा करना भी चाकना है कि उसमें से कोई कुछ ले न सके; अर्थात् समस्त शोभा यहीं चाक चढ़ी (घेरी गई) है, अब कहीं जा नहीं सकती। (ख) शोभा की सीलमुहर है, पेटेन्ट है, अब दूसरे की ऐसी शोभा हो ही नहीं सकती। यदि कोई नकल करे, तो वह नाजायज है। (ग) तिलक की दोनों रेखाओं की शोभा बिजली की कांति की तरह है, यथा—"···तिलक कहउँ समुझाई। अलप तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥" (वि० ६२)।

(४) 'रुचिर चौतनी सुभग···'—कटि से शिर तक का वर्णन किया, शेष अंग 'नख-सिख सुंदर' से बता दिये। वीर-रस की मर्यादा से कटि के नीचे का वर्णन नहीं किया; फिर भी 'सोभा सकल सुदेस' से जना दिया। अन्यत्र तो कहा ही है।

यह भी कहा जाता है कि अन्यत्र प्राकृत शरीरों की शोभा एकरस नहीं रहती, उसमें कभी अकाल पड़ता है और श्रीरामजी दोनों भाई दिव्य-विग्रह हैं, यहाँ सदा एकरस शोभा रहती है, यही शोभा का 'सुदेस' है।

देखन नगर भूपसुत आये। समाचार पुरबासिन्ह पाये ॥१॥
धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥२॥
निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन-फल पाई ॥३॥

अर्थ—(जब) पुरवासियों को यह समाचार मिला कि राजकुमार नगर देखने आये हैं ॥१॥ (तब) सब घर और घर के कार्य (सब) छोड़कर (ऐसे) दौड़े, मानों दरिद्र खजाना लूटने के लिये दौड़े हैं ॥२॥ वे स्वाभाविक ही सुंदर दोनो भाइयों को देख नेत्रों का फल पाकर सुखी होते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'समाचार पुरबासिन्ह पाये'—प्रथम जब श्रीजनकजी मिलने आये थे, उनसे मुनि से संवाद हुआ था, यह संपूर्ण वृत्तान्त उनके मंत्री, ब्राह्मण आदि से घर-घर पहुँच गया था। सभी राजकुमारों के दर्शनों के इच्छुक थे, पर वहाँ किले पर पहरा था कि एकान्तवासी महात्मा आये हैं, बिना उनकी आज्ञा के वहाँ कोई न जाय। जैसे राजकुमार बाहर निकले, बालक गण साथ हो लिये, कुछ ने दौड़-दौड़कर अपने-अपने घरों में जनाया; कानोंकान सर्वत्र समाचार फैल गया।

(२) 'धाये धाम काम सब ····'—घर का छोड़ना यह कि उसकी फिक्र न रही। खुला फाटक था, तो वैसे ही छोड़कर चल दिया। 'काम सब'—जिस तरह श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० २९ में कहा गया है कि जो गोपी दूध दुह रही थी, वह दुहना छोड़कर चल पड़ी, जिसने दूध आग पर चढ़ाया था, वैसे ही छोड़कर चल दी। जो आँख में काजल लगा रही थी, एक में अंजन लगा और एक वैसी ही छोड़कर चल खड़ी हुई, इत्यादि; वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। भेद इतना ही है कि वहाँ भगवान् ने बाँसुरी-द्वारा गोपी-मात्र को आकर्षित किया था; इससे उनके पति आदि रोकनेवाले थे, पर यहाँ तो सभी दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, सभी दौड़े जा रहे हैं, कौन किसे रोके ? दृष्टान्त-द्वारा कवि लक्ष्य कराते हैं कि जैसे भारी खजाने की लूट सुनकर कँगले दौड़ते हैं और एक दूसरे को पीछे ढकेलते हुए पीछे की ओर नहीं देखते ; वैसे इन सब की दृष्टि घर की ओर नहीं है। यथा—"परिहरि राम लखन बैदेही। जेहि घर भाव

धाम बिधि तेही ॥" (अ० दो० २०१) । यथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु-पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाइ ॥" (अ० दो० १८५)। 'निधि'—यह निधि वह है, जिसके लिये मनु शतरूपा ने २३ हजार वर्ष कठिन तप किया, तब इन्हें मिली। विश्वामित्रजी भी महान् तपःप्रभाव से दूसरे ब्रह्मा हो गये। वे भी इस निधि के लिये याचक बने, तब मिली। यथा—"बिश्वामित्र महानिधि पाई।" (दो० २०८)। वही निधि ये पुरवासी लूट में पा रहे हैं। 'सबहुँ'—लीला-अनुरोध से प्रत्यक्ष सम्बंध अभी न होने से ये लोग कँगलों की तरह दौड़ रहे हैं। वास्तव में यह 'निधि' श्रीजानकीजी की है। यथा—"हरषे जनु निज निधि पहिचाने।" (दो० २११) और ये लोग श्रीजानकीजी के परिकर हैं, तब इनकी भी ये 'निज निधि' ही हैं।

(३) 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई।''''''—दोनों भाइयों की सुन्दरता भूषण-वस्त्र आदि से नहीं है, किंतु स्वाभाविक ही है; जैसे भूषण-वस्त्र रहित वनवासी-स्वरूप की शोभा कही गई है, यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥" (वाल्मी० ३।१।१४)।

'होहिं सुखी लोचन फल पाई। —गुरुजी ने कहा था—'सुख-निधान' वही यहाँ 'होहिं सुखी' में चरितार्थ हुआ और 'करहु सुफल' के अनुसार ही यहाँ 'लोचन फल पाई' भी कहा गया है।

जुबती भवन झरोखन्हि लागी। निरखहिं रामरूप अनुरागी ॥४॥
कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि-काम-छबि जीती ॥५॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीं ॥६॥

अर्थ—युवती स्त्रियाँ घर के झरोखों से लगी हुई श्रीरामजी के रूप को देख रही हैं ॥४॥ आपस में एक दूसरी से प्रीतिपूर्वक बातें कर रही हैं कि हे सखी! इन्होंने करोड़ों कामदेवों की छवि को जीत लिया है ॥५॥ देवताओं, मनुष्यों, दैत्यों, नागों, और मुनियों में कहीं भी ऐसी शोभा सुनने में नहीं आती ॥६॥

विशेष—(१) 'जुबती भवन''''''—पूर्व कहा गया था—"धाये धाम काम सब त्यागी।" उनमें ये युवतियाँ नहीं हैं। ये लज्जा के कारण बाहर नहीं आ सकीं, किंतु घरों के जँगलों में आ लगीं और अनुरागपूर्वक राम-रूप देखने लगीं। स्त्रियों को शृंगार प्रिय होता है, शृंगार का रंग श्याम है, श्रीरामजी भी श्याम हैं। अतः, ये इन्हें ही देखती हैं। अनुराग की स्थिति ही ऐसी है कि जिसमें यह होता है, वही सर्वत्र दीखता है। यथा—"व्यापकता जो प्रीति की, ज्यों सुठि बसन सुरंग। दृगन द्वार दरसै घटक, सो अनुराग अभंग॥" यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ दीख धरे धनु बाना॥" (अ० दो० १३०)।

(२) 'कहहिं परस्पर बचन''''''—प्रथम अनुराग-पूर्वक देखना कहा गया, अब तद्नुसार वचन कहना भी प्रीतिपूर्वक ही है, अर्थात् देखते हुए प्रशंसा करती हैं। कहना मात्र कहा है। सब प्रेम में भरी हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि कौन सुनता है और मैं किससे कहती हूँ? यहाँ तक समष्टि में 'कहना' कहा गया।

'सखि इन्ह कोटि''''''—यहाँ सीताजी की पुरवासिनी अष्ट सखियों का संवाद प्रारंभ होता है—करोड़ों कामों की छवियों को इन्होंने जीत लिया है। भाव, छवि रूप धन के गर्व से करोड़ों कामदेवों ने रामजी का सामना किया, तो भी वे इनके समक्ष में लज्जित हो गये, यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन।

सोभा कोटि मनोज-लजावन।" (दो० २१६) वा यह भी कहा जाता है, करोड़ों कामों की छवि को जीत कर ले लिया है। काम का सब छवि-रूप धन यहाँ ही आ गया है।

(३) 'सुर नर असुर नाग ······'—'सुर' से स्वर्ग, 'नर-मुनि' से मर्त्य लोक और 'असुर-नाग' से पाताल लोक जनाया। इन तीनो लोकों में ऐसी शोभा नहीं सुनी जाती। शोभा नेत्र का विषय है, पर यहाँ उसका सुना जाना कहा गया है, क्योंकि ये सब कुलाङ्गनाएँ हैं, बाहर नहीं निकलतीं। फिर तीनो लोक घूमकर कैसे देख सकती हैं ? इन्होंने पुराणों की सुनी हुई बात कही है। यह ग्रंथकार की सँभाल है।

राक्षसी शूर्पणखा ने कहा—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।" (आ० दो० १६)। इससे श्रीरामजी ने तुरंत ही जान लिया कि यह कुलटा एवं राक्षसी है, क्योंकि कुलटा ही पुरुषों को देखती फिरती है और राक्षसी ही तीनों लोक भ्रमण कर सकती है। पात्र के अनुकूल शब्द-योजना इन्हीं महाकवि के बाँटे पड़ी है !

बिष्णु चारिभुज बिधि मुखचारी। बिकट बेष मुखपंच पुरारी ॥७॥
अपर देव अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही ॥८॥

दोहा—बयकिसोर सुषमासदन, स्यामगौर सुखधाम।
अंग-अंग पर वारियहि, कोटि-कोटि सत काम ॥२२०॥

शब्दार्थ—बिकट = भयंकर। पटतर = तुल्यता, समता। वारना = निछावर करना।

अर्थ—विष्णु भगवान् चार भुजाओं वाले, ब्रह्माजी चार मुखों वाले और त्रिपुर दैत्य के शत्रु शिवजी पाँच मुखों तथा विकट वेष वाले हैं ॥७॥ हे सखी ! और देवताओं में ऐसा कोई नहीं है, जिससे इस छवि की समता (उपमा) दी जाय ॥८॥ किशोर-अवस्था, सुषमा के घर, श्याम और गौर (वर्ण)—दोनों सुख के स्थान हैं। इनके अंग अंग पर करोड़ों-अरबों कामदेवों को निछावर कर देना योग्य है ॥२२०॥

विशेष—तीनों लोकों के प्रधान-प्रधान सुन्दर पुरुषों को गिनाती हैं। विष्णु भगवान् मुख्य हैं। अत, प्रथम कहे गये, इनकी सुन्दरता प्रसिद्ध है। यथा—"अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला।" (दो० ७१)। ये क्षीर-सागर-निवासी हैं, सागर नीचे (पाताल) है। शिवजी की सुन्दरता—"कुन्द-इन्दु दर गौर सुन्दरम्।" (उ० म०), "नीलकंठ लावन्यनिधि" (दो० १०६), इनका लोक कैलास पृथिवी पर है। ब्रह्माजी संसार भर के रचयिता हैं। अत', स्वयं भी सुन्दर हैं। इनका ब्रह्मलोक ऊपर है। देवताओं में काम से बढ़कर सुन्दर और कोई नहीं है।

ये सब सुन्दर होते हुए भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि शरीर के प्रमाण से एक अंगुली भी अधिक होती है अथवा नाक-कान कोई अंग भारी होता है, तो शोभा जाती रहती है। यहाँ तो चार भुजाएँ, चार मुख और पाँच शिर हैं। शिवजी तो भयंकर वेष हैं ही (देखिये दो० ९२, ६४,)। फिर भी त्रिपुर के वध के समय क्रुद्ध होने पर मुख जैसा लाल हो गया था, वैसा रहता है, यह 'पुरारी' से ध्वनित है। देवताओं में काम ही से अधिक सुन्दर कोई नहीं है, और मनुष्य तो और भी न्यून हैं। अत, इनके नाम नहीं गिनाये। काम में यहाँ कोई दूषण प्रकट नहीं कहा गया, पर 'अंग-अंग' की ध्वनि से जना दिया है कि इनके अंग अंग में सुन्दरता है और उसका अंग ही जल गया है, इसीसे 'अनंग' कहाता है, यथा—"रति अति दुखित अतनु पति जानी।" (दो० २२१)।

सखियों द्वारा इस छवि वर्णन का उपक्रम—"सखि इन्ह कोटि काम-छवि जीती।" से हुआ और—*"कोटि-कोटि सत काम।" पर यहाँ उपसंहार है अर्थात् कोटि काम-छवि जीतने से प्रारम्भ* करके अन्त में करोड़ों-अरबों कामों के निछावर करने पर समाप्त किया गया। और लोगों के विषय में दोनों भाइयों की सुखनिधानता का चरितार्थ होना ऊपर कहा गया था। यहाँ युवतियों के विषय में भी केवल रामरूप में सुख-निधानता चरितार्थ हुई।

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी ॥१॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥२॥
ये दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल-मरालन्हि के कल जोटा ॥३॥
मुनि-कौसिक-मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥४॥

अर्थ—हे सखी! कहो तो भला, ऐसा कौन देह-धारी होगा, जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय ॥१॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमपूर्वक कोमल वाणी में बोली कि हे सयानी! जो मैंने सुना है, वह भी सुनो ॥२॥ ये दोनों दशरथजी के ढोटा (पुत्र) हैं, बालहंसों के से सुन्दर जोटे (जोड़े) हैं ॥३॥ विश्वामित्र मुनि के यज्ञ के रक्षक हैं, जिन्होंने लड़ाई के आँगन (मैदान) में राक्षसों को मारा है ॥४॥

विशेष—(१) 'कहहु सखी अस को…'—इस सखी ने केवल सुन्दरता कही, पूर्ण शोभा देखकर अन्त में—'अस को तनु…' कहती हुई रह गई। 'जो न मोह अस रूप…' यथा—"करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥" (दो० २०२) अर्थात् चेतन की कौन कहे, जड़ भी मोहित हो जाते हैं।

(२) 'कोउ सप्रेम बोली मृदु…'—दोनों भाइयों की शोभा देखते हुए हृदय में प्रेम उमड़ आया। अतः, यह राजकुमारों की जाति, ऐश्वर्य, नाम आदि का परिचय देगी। प्रथम सखी की तरह यह भी सुनी हुई ही कहती है। 'सयानी'—इसका कथन समझना सयानों का ही काम है।

(३) 'ये दोऊ दसरथ के ढोटा…'—पिता का नाम, जाति क्षत्रिय और चक्रवर्ती के पुत्र आदि परिचय और ऐश्वर्य कहे गये। 'बाल-मरालन्हि के…'—इसमें सुन्दरता के साथ बाल-क्रीड़ा भी सूचित की। 'रन-अजिर'—जैसे लड़के आँगन में खेलते हैं, उसी अवस्था में उसी प्रकार लीला-पूर्वक राक्षसों को मारा है। यहाँ तक दोनों भाइयों का साथ साथ वर्णन किया, अब आगे पृथक्-पृथक् लक्षण कहती हैं—

स्यामगात कल कंजविलोचन। जो मारीच-सुभुज-मद-मोचन ॥५॥
कौसल्यासुत सो सुखखानी। नाम राम धनुसायकपानी ॥६॥
गौर किसोर बेष बर काछे। कर सर चाप राम के पाछे ॥७॥
लछिमन नाम राम लघु-भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥८॥

दोहा—बिप्रकाज करि बंधु दोउ, मग मुनिबधू उधारि।
आये देखन चापमख, सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

शब्दार्थ—सुभुज = सुबाहु। काछे = बनाये, साजे, धारण किये। चापमख = धनुष-यज्ञ।

अर्थ—जिनका शरीर श्याम और नेत्र सुन्दर कमल के समान हैं। जो मारीच और सुबाहु के गर्व को छुड़ानेवाले और सुख की खान हैं, वे कौशल्याजी के पुत्र हैं। ये धनुष-बाण हाथों में लिये हुए हैं और उनका नाम 'राम' है॥५-६॥ जो गौर वर्ण, किशोर अवस्था वाले, सुन्दर वेष बनाये हुए और हाथों में धनुष-बाण लिये रामजी के पीछे हैं॥७॥ वे रामजी के छोटे भाई हैं, उनका नाम 'लक्ष्मण' है। हे सखी! सुनो, उनकी माता सुमित्रा हैं॥८॥ दोनों भाई विप्र विश्वामित्रजी का कार्य करके राह में गौतम मुनि की स्त्री का उद्धार कर धनुष-यज्ञ देखने आये हैं।—यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुई॥२२१॥

विशेष—इनमें 'कल कंज बिलोचन' और 'सुखखानि' श्रीरामजी के विशेषण श्रीलक्ष्मणजी में और श्रीलक्ष्मणजी के 'किसोर' और 'बेषधर काछे' विशेषण श्रीरामजी में लगा लेने चाहिये। माताओं के नाम इसने कैसे जाने? (क) अवधेश महाराज चक्रवर्त्ती थे। अत, इनकी प्रधान रानियों के नाम प्रसिद्ध थे। यह भी संभव है कि मिथिलेश महाराज के मंत्री आदि ने मुनि के द्वारा सम्बन्ध भी जान लिया हो, उनसे इसने सुना हो। (ख) कहा जाता है कि जनकपुरी की कोई तमोलिन अवध में ब्याही हुई थी। वह चक्रवर्त्तीजी के यहाँ पान देने जाती थी। उस समय वह मिथिला में ही आई हुई थी, उसीसे इसने सुना था, वही कहा। (विजय-दोहावली)।

'बिप्र-काज करि ···'—'बिप्र काज'—में वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था में संग्राम करके भयंकर राक्षसों को मारा है। 'मुनिबधू उधारि'—में प्रताप गुण है, क्योंकि चरण की धूलि मात्र से उसका उद्धार हुआ। इन दोनों गुणों से धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ। इससे सब स्त्रियाँ हर्षित हुई, क्योंकि धनुष के उठाने एवं तोड़ने में प्रथम वीरता चाहिये। फिर यह शिवजी का धनुष है, विष्णु भगवान् के क्रोध से जड़ हुआ है। अत, वैसा प्रताप भी चाहिये, तब वह टूट सकता है। यही बात अहल्योद्धार में है, क्योंकि वह भी गौतम मुनि के क्रोध से शापित एवं जड़ थी, उसका जड़त्व खंडन किया तो धनुष के जड़त्व का भी खंडन करेंगे, ऐसी प्रतीति हुई। यथा—"परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत अघभूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव-धनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। ···" (दो० २२१)। वैसे यहाँ भी हर्षित हुई।

देखि रामछबि कोउ एक कहई। जोग जानकिहिं यह बर अहई॥१॥
जो सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करइ बिबाहू॥२॥
कोउ कह ये भूपति पहिचाने। मुनिसमेत सादर सनमाने॥३॥
सखि परंतु पन राउ न तजई। बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी की छवि देखकर कोई एक (तीसरी) सखी कहती है कि ये वर जानकीजी के योग्य हैं॥१॥ हे सखी! जो राजा इन्हें देख पावें तो हठपूर्वक प्रतिज्ञा छोड़कर विवाह कर दें॥२॥ कोई (चौथी) सखी कहती है कि राजा ने इन्हें पहचान लिया है और मुनि के साथ इनका आदरपूर्वक सम्मान किया है॥३॥ पर हे सखी! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते, विधि के वश वे हठ कर, अविवेक का ही सेवन करते हैं अर्थात् अविवेक ही ग्रहण किये हुए हैं, (क्योंकि इन्हें जानकर भी प्रण नहीं छोड़ा)॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम-छवि'''—दूसरी सखी के जिस वचन पर सब प्रसन्न हुई थीं उसी को यह पुष्ट करती है। यह छवि के मेल से योग्यता का निर्णय करती है। यथा—'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी अरु रामहिं ऐसो रूप दियो री॥ तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री॥" (गी० बा० ७७)। पुनः 'जोग' से दूसरी सखी के कथन में वर, कुल आदि की भी योग्यता अनुकूल कहती है।

(२) 'जो सखि इन्हहिं'''—इस सखी को यह नहीं मालूम है कि जनकजी मिल चुके और राज-सदन में ही लाकर ठहराया है। (ये अष्ट सखियाँ नगर की रहनेवाली हैं, परन्तु श्रीकिशोरीजी की सखियों में हैं।) 'नरनाहु' अर्थात् राजा स्वार्थी होते हैं, स्वार्थ के लिये प्रतिज्ञा का त्याग भी कर सकते हैं। 'पन परिहरि हठि''' 'हठि' शब्द दीप-देहली है ; अर्थात् मंत्रियों के रोकने पर भी हठ करके प्रतिज्ञा तोड़ देंगे और हठ करके विवाह भी करेंगे, किसी के रोके नहीं मानेंगे।

(३) 'सखि परंतु पन राउ'''—तीसरी सखी के कथन का खंडन यह चौथी सखी करती है कि यों तो राजा बड़े चतुर हैं, पर वे इस समय विधि के वश हो रहे हैं। यथा—"भूप-सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि-गति कछु जात न जानी॥" (दो० २५५)।

'राउ'—राजा लोग प्रण (बात) का हठ करते हैं। यथा—"नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन।" (जानकी-मंगल ७४)।

(४) 'बिधि-बस हठि अबिबेकहिं भजई।'—विवेक से हानि-लाभ का विचार होता है, वह राजा का नहीं रह गया। यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥" (दो० २५७); 'अविवेक' यथा—"जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसियो मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ पन और कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु॥" (गी० बा० ८०); अर्थात् प्रेमान्ध दृष्टि से ही राजा अविवेकी कहे जा रहे हैं—वह भी विधि की ओट लेकर !

> कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिय उचित-फल-दाता॥५॥
> तौ जानकिहिं मिलिहिं बरु एहू। नाहिंन आलि इहाँ संदेहू॥६॥
> जौं बिधिबस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥७॥
> सखि हमरे आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥८॥
>
> दोहा—नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि।
> यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि॥२२२॥

शब्दार्थ—कृतकृत्य = कृतार्थ, परितुष्ट। आरति = बड़ी उत्कट लालसा या आर्ति, दुःख। संघट = संयोग। पुराकृत = पूर्व जन्म का किया हुआ। भूरि = बहुत।

अर्थ—कोई (पाँचवीं) सखी कहती है जो विधाता अच्छे हैं और सुने जाते हैं कि सबको उचित फल देनेवाले हैं॥५॥ तो जानकीजी को यही वर मिलेगा, हे सखी ! इसमें संदेह नहीं है॥६॥ जो दैवयोग से ऐसा संयोग बन जाय तो हम सब लोग कृतार्थ हो जायँ॥७॥ हे सखी ! हमारे हृदय में बड़ी लालसा हो रही है, इससे ये कभी तो इस नाते से आयेंगे॥८॥ नहीं तो (यदि यह नाता न हुआ, तो) हे सखी !

सुनो, हम सबको इनके दर्शन दुर्लभ हैं। यह संयोग तभी हो सकता है ; जब पूर्व के कई जन्मों के किये हुए बहुत पुण्य एकत्र हों ॥२२२॥

विशेष—(१) 'कोउ कह जौं भल···'—उचित फलदाता के सम्बन्ध से विधाता (विधानकर्त्ता) कहा ; क्योंकि इससे भला योग विधाता को नहीं मिल सकता।

(२) 'नाहिं न आलि इहाँ···'—'आलि'—क्योंकि ये सब भ्रमरी की तरह श्रीराम-मुख-कमल के छवि-रस को पान करती हुई, प्रीति-पूर्वक वचन-रूप गुंजार कर रही हैं। 'इहाँ'—अर्थात् राजा के प्रण त्याग में संदेह है, पर विधाता के विषय में नहीं।

(३) 'सखि हमरे अति आरति···'—हमारे हृदय में बड़ी लालसा है, इससे प्रतीति होती है कि कभी भी तो ये इस नाते से आवेंगे ; क्योंकि विधाता का नियम है कि जिसमें जिसकी सच्ची लालसा (चाह) रहती है, वह उसे मिलता है। यथा—"जाकर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू ॥" (दो० २५८) ; "निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माँह ॥" (दोहावली ८०)।

(४) 'यह संघट तब होइ जब, पुन्य···' यथा—"हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी ॥ जिन्ह जानकी-राम-छवि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी ॥" (दो० ३०१)।

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिवाह अति हित सबही का ॥१॥
कोउ कह संकर-चाप कठोरा। ये स्यामल मृदुगात किसोरा ॥२॥
सब असमंजस अहइ सयानी। यह सुनि अपर कहइ मृदु बानी ॥३॥
सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं ॥४॥
परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत - अघ - भूरी ॥५॥
सो कि रहिहिं बिनु सिवधनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे ॥६॥

शब्दार्थ—असमंजस (असामञ्जस्य) = दुविधा, अड़चन। कृत अघभूरी = बहुत पाप की हुई, घोर पापिनी।

अर्थ—और (छठी) सखी ने कहा, हे सखी ! तुमने अच्छी बात कही। इस विवाह से सभी का अत्यन्त हित है ॥१॥ कोई (सातवीं सखी) कहती है कि शिवजी का धनुष कठोर है, और ये साँवले (राजकुमार) कोमल शरीरवाले और किशोरावस्था के हैं ॥२॥ हे सयानी ! सब प्रकार असामञ्जस्य ही-असामञ्जस्य है। यह सुनकर और (आठवीं) सखी ने कोमल वाणी में कहा ॥३॥ हे सखी ! इनके विषय में कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभाववाले हैं, देखने ही में छोटे हैं ॥४॥ जिनके चरण-कमल की धूल (रज) को छूकर वह अहल्या तर गई, जिसने बहुत घोर पाप किये थे ॥५॥ वे क्या शिवजी के धनुष को बिना तोड़े रहेंगे ? यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ो ॥६॥

विशेष—(१) 'येहि बिबाह अति हित···'—औरों के विवाह में अपने सगे-सम्बंधी लोगों का ही हित होता है, पर इस विवाह में सुर-मुनि, विप्र आदि सभी का हित है। पुनः 'अति हित', यथा—"कहहिं परस्पर कोकिलबयनी। येहि बिबाह बड़ लाभ सुनयनी ॥ बड़े भाग बिधि ''बारहिं बार सनेह बस···बिबिध भाँति···तब-तब राम···" (दो० ३०१-१०)।

(२) 'सब असमंजस···' कई अड़चनें हैं—जयमाल में पिता का प्रण बाधक है, प्रण की पूर्ति में शिवजी का कठोर चाप बाधक है और उसके तोड़ने में इनकी कोमलता बाधक है। 'संकर-चाप'—जब विष्णु के हुंकार से जड़ हो गया, तब शिवजी से भी नहीं लचा। फिर भला ये परम कोमलशरीर किशोरावस्था के बालक उसे कैसे तोड़ेंगे ? हे सयानी ! विचारो। यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ श्यामल मृदु गात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिय हीरा॥" (दो १५७)।

'मृदु बानी'—क्योंकि कोमलवाणी से दिया हुआ उपदेश प्रभाव डालता है, यह सबको प्रबोध कर देगी।

(३) 'कोउ-कोउ अस···बड़ प्रभाव···'—इनका प्रभाव जानना दुर्लभ है। अतः, कोई-कोई ही जानते हैं और वे ही कहते हैं; अर्थात् जो कोई श्रेष्ठ लोग राजा के साथ गये थे और मुनि तथा विदेह का संवाद-प्रसंग सुना था वे ऐसा कहते हैं। उन्होंने—"मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम।" (दो० २१६) यह भी सुना है, पर यह वीरता का सामान्य प्रभाव है, बड़े प्रभाव को आगे कहती है—

(४) 'परसि जासु···कृत अघभूरी।'—अहल्या पतिवंचकता (पति को धोखा देने) से घोर पापिनी थी, यथा—"पतिबंचक पर-पति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥ छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥" (आ० दो० ५)। वह भी चरण-रज से तर गई।

(५) 'यह प्रतीति परिहरिय न भोरे।'—जैसे दूसरी सखी के वचनों से प्रतीति हुई और उसपर हर्ष भी हुआ था, वह थोड़ी ही देर में छूट गई, वैसे यह प्रतीति भूलकर भी न त्यागना। आगे पाँचवीं की संशयात्मक बातों को भी पुष्ट करती है—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि श्यामल बर रचेउ बिचारी॥७॥
तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥८॥

दोहा—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि-सुलोचनि-बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद॥२२३॥

अर्थ—जिस ब्रह्मा ने सीताजी को सँवारकर बनाया है, उसी ने विचारकर श्यामल वर भी रचा है॥७॥ इसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और कोमल वाणी में कहने लगीं कि ऐसा ही हो॥८॥ सुंदर मुखों और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियों के झुंड हृदय में आनंदित होते और फूल बरसा रहे हैं। जहाँ-जहाँ दोनो भाई जाते हैं, वहीं-वहीं परम आनंद होता है॥२२३॥

विशेष—(१) 'जेहि बिरंचि···तेहि···'—भाव यह कि जो बड़े श्रम से रचा जाता है, वह व्यर्थ नहीं किया जाता। यदि श्रीसीताजी को साँवला वर न मिला तो फिर उनका बनाया जाना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, चतुर विधाता चूकनेवाला नहीं है। ऊपर दो० २२१ चौ० १ का विशेष भी देखिये।

(२) 'तासु बचन सुनि···'—'सब' अर्थात् चौथी और पाँचवीं के संशय दूर हुए और सातवीं के 'असमंजस' का भी सामञ्जस्य हो गया। इससे सभी हर्षित हुईं। 'ऐसेइ होउ'—सातवीं ने भी कहा कि मेरा वचन असत्य हो, तेरा ही वचन सत्य हो।

अष्ट सखियों के संवाद पर दार्शनिक दृष्टि—श्रीजानकीजी से श्रीरामजी का विवाह हो जाय, इसपर सब विचार करने लगीं। अतः, यही विषय वाक्य है। इसमें पहली सखी ने श्रीरामजी की लोकोत्तर सुन्दरता कहते हुए,—"अस को तनुधारी। जो न मोह···" से सब को इनकी ओर आकर्षित किया। फिर दूसरी ने परिचय, योग्यता और राजा की प्रण-पूर्ति का सामर्थ्य भी इनमें लक्षित किया। तीसरी ने—'जोग जानकिहि यह बर अहई।' से विषय को प्रस्तुत कर दिया कि राजा के देखने मात्र की देर है—विवाह अवश्य होगा।

चौथी सखी ने राजा का प्रण न छोड़ना कहकर संशय किया कि उन्होंने विधिवश होकर प्रण का हठ कर रक्खा है। इस अविवेक का क्या उपाय है? पाँचवीं सखी ने विधि की ही शरण में उपाय निकाला, परन्तु इसने 'जौं बिधि-बस···' 'नाहिं त हम···' आदि वाक्यों से विधि की अनुकूलता में भी संशय ही रक्खा। पाँचवीं का विचारा हुआ उपाय—"हमरे अति आरति···" था कि उत्कृष्ट लालसा को ब्रह्मा पूरी करते हैं, उसी में सब को नियुक्त करने के लिये छठी सखी ने—'अति हित सबही का' कहा कि जिससे सभी की वैसी ही चाह हो, तो ब्रह्मा पूरी करें। अतः, ये तीनों 'संशय' में ही रह गईं।

सातवीं सखी ने शंकर-चाप की असाधारण कठोरता दिखाकर सब को असामञ्जस्य में डाल दिया कि जो शिवजी से भी न लचा, उसे ये कैसे तोड़ सकेंगे? अतः, इनसे विवाह न हो सकेगा। यह 'पूर्व पक्ष' हुआ॥

आठवीं सखी ने श्रीरामजी में धनुष तोड़ने का सामर्थ्य 'बड़ प्रभाव' से दिखाया और ब्रह्मा की अनुकूलता का भी पुष्ट प्रमाण देकर 'सिद्धान्त' कर दिया। फिर इस सिद्धान्त को सब ने मुक्तकंठ से सहर्ष स्वीकार किया—'ऐसेइ होउ'। अतः, अभीष्ट विषय निश्चित कर हृदय से हर्ष के साथ फूल बरसाने लगीं।

(३) 'हिय हरषहिं बरषहिं···'—दिग्दर्शन की रीति से एक जगह का आनन्द ग्रंथकार ने कहा। फिर कहते हैं कि जहाँ-जहाँ दोनो भाई जाते हैं, वहाँ-वहाँ ऐसा ही आनन्द होता है। यथा—"गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानु-कुल-कैरव-चंदू॥" (अ० दो० १२१)। श्रीरामजी के यश-वर्णन के संबंध से स्त्रियों को 'सुमुखि' और दर्शन-संबन्ध से 'सुलोचनि' कहा है।

(४) 'बरषहिं सुमन···'—राजकुमारों के स्वागत में भीतर से हर्ष प्रकट करती हैं और बाहर से फूल बरसाती हैं। सुंदर मुखों से इनके यश वर्णन करती हैं और सुन्दर नेत्रों से दर्शन करती हैं।

फूल बरसाने के और भी भाव कहे जाते हैं—(क) पुष्प-वृष्टि करके मार्ग को इनके कोमल चरणों के अनुसार कोमल बनाती हैं। (ख) पुष्पवृष्टि मंगल का अंग है। यथा—"सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन···" (दो० ३११) अतः, इनका मंगल बना रही हैं। (ग) श्रीरामजी बालकों के साथ सीधे चले जा रहे हैं, उनके ऊपर फूल बरसाने से ऊपर की ओर दृष्टि करेंगे तो वे कटाक्ष-युक्त बदन के दर्शन करेंगी। (घ) ये पुष्पवृष्टि-द्वारा क्रिया-चातुरी से संकेत कर रही हैं कि कल पुष्प-वाटिका में आइयेगा। शिर से लेकर फूल गिराती हैं कि हमारी स्वामिनी श्रीजानकीजी भी वहाँ आवेंगी। श्रेष्ठ फूल गुलाब एवं कमल बरसा कर सूचित करती हैं कि इनके खिलने के समय (प्रातःकाल) आना। इन फूलों के स्थल तालाब एवं उनके तट हैं, वहीं आकर रहना। फूल देवता को चढ़ते हैं, वे लोग देवी-पूजन को आवेंगी, आप भी देवी के मंदिर के पास फूल लेने के बहाने से आइयेगा। (ङ) 'सु+मन' अपने-अपने सुन्दर मन को निछावर करती हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनु-मख-हित भूमि बनाई॥१॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥२॥

चहुँ दिसि कंचनमंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ॥३॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच-मंडली बिलासा ॥४॥

शब्दार्थ—भूमि बनाई=रंगभूमि, उत्सव के लिये सजाई हुई भूमि। गच=पक्का फर्श जो चूने और सुरखी के मेल से रंग-बिरंग का बना हुआ रहता है, यथा—"जातरूप-मनि-रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥" (उ० दो० २६); काँच का फर्श। ढारी=ढली हुई। गच ढारी=ढालुवाँ गच, यथा—"महि बहु रंग रचित गच काँचा।" (उ० दो० २६)। वेदिका=वेदी। मंच=मचान।

अर्थ—दोनो भाई नगर के पूर्व ओर गये, जहाँ धनुष-यज्ञ के लिये भूमि बनाई गई थी ॥१॥ बहुत लंबी-चौड़ी सुंदर पक्की गच ढालुवाँ बनाई गई थी, उसपर निर्मल सुंदर वेदी सँवारी गई थी ॥२॥ चारों ओर सोने के बड़े-बड़े मचान रचे (सुंदर बने) हुए थे, जहाँ राजा लोग बैठें ॥३॥ उनके पीछे निकट ही चारों ओर और भी मंच (उन प्रत्येक राजाओं की अपनी) मंडली के लोगों के विलास (बैठने) के लिये हैं अर्थात् आगे राजा रहते हैं, उनके पीछे छत्र-चँवरबरदार आदि, बगल में मंत्री आदि एवं उनके विभव-विलास का समाज रहता है ॥४॥

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई ॥५॥
तिन्ह के निकट बिसाल सुहाये। धवलधाम बहुबरन बनाये ॥६॥
जहँ बैठे देखहिं सब नारी। जथाजोग निज कुल-अनुहारी ॥७॥
पुर-बालक कहि कहि मृदुबचना। सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना ॥८॥

दोहा—सब सिसु येहि मिस प्रेमबस, परसि मनोहर गात।
तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात ॥२२४॥

अर्थ—जो कुछ ऊँचाई पर था और सब प्रकार सुंदर था, जहाँ नगर के लोग जाकर बैठें ॥५॥ उनके पास बहुत लंबे-चौड़े सुंदर श्वेत घर रंग बिरंग के बनाये गये थे ॥६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने कुल के अनुसार यथायोग्य रीति से देखें ॥७॥ पुर के बालक कोमल वचन कह-कहकर आदरपूर्वक प्रभु को रचना दिखाते हैं ॥८॥ सब बच्चे इस बहाने प्रेम के वश हो (इनके) मनोहर शरीर को छू-छूकर शरीर में पुलकते (रोमांचित होते) हैं और दोनों भाइयों को देख-देखकर उनके हृदय में अत्यन्त हर्ष होता है ॥२२४॥

विशेष—वेदी के चारों ओर प्रथम आवृत्ति राजाओं के मचानों की है, दूसरी आवृत्ति उनकी मंडली-विलास की है, तीसरी आवृत्ति पुरजनों के बैठकों की है और चौथी आवृत्ति स्त्रियों के लिये है। इसमें चौमहला मचान बने हैं जहाँ ऊपर ब्राह्मणी, फिर क्षत्राणी इत्यादि क्रम से बैठें।

'सब सिसु येहि मिस'···—रचना दिखाने के बहाने हाथ पकड़कर कहते हैं, यह वस्तु तो देखिये। यहाँ कुछ श्रीराम-रहस्य भी है। सब बच्चे रचना दिखाते हैं, सब मनोहर शरीर स्पर्श करते हैं और सभी अपनी-अपनी रुचि से अपनी ओर बुला लेते हैं। यह आगे कहते हैं। अतः, भगवान् अनेक रूप होकर सबकी रुचि पूर्ण करते हैं, यथा—"अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहिं कृपाला॥" (उ० दो० ५); "अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछा नाहीं॥" (कि० दो० २१)।

यद्यपि ये सब प्रेमवश हैं, तो भी भगवान् में अमित तेज देखकर स्पर्श नहीं कर सकते। दिखाने के बहाने स्पर्श करते हैं। यह भी सूचित किया कि प्रभु का स्पर्श कर्मकांडी, ज्ञानी आदि नहीं कर सकते, यह सौभाग्य प्रेमी ही को है। यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥" (अ०दो०१३६)

प्रभु का शरीर दिव्य एवं सच्चिदानन्दमय है। अतः, स्पर्श होते ही आनन्द भर जाता है तो पुलक आदि लक्षण भी हो आते हैं, यथा—"परसत पद पावन'''अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा'''"(दो० २१०)। "हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग-अंबक जल छाये॥" (दो० २०६); "लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तनु पुलकावली।" (दो० ३२३)। वैसे यहाँ बालकों को भी पुलकावली कही गई है। यहाँ बालकों के मन, वचन, कर्म तीनों श्रीरामजी में लगे हैं—'अति हरप हिय'—मन, 'कहि कहि मृदु बचना'—वचन, और 'परसि मनोहर गात'—कर्म।

सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीतिसमेत निकेत बखाने॥१॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहि दोउ भाई॥२॥
राम देखावहिं अनुजहिं रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥३॥
लवनिमेष महँ भुवन-निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥४॥
भगति-हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुप-मख-साला॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सब बालकों को प्रेम के वश जानकर प्रीतिपूर्वक निकेत (रंगभूमि के स्थानों) की प्रशंसा की॥१॥ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब दोनों भाइयों को बुला लेते हैं और ये प्रेमपूर्वक जाते हैं॥२॥ कोमल, मीठे, और मनोहर वचन कहकर श्रीरामजी भाई को (रंगभूमि की) रचना दिखाते हैं॥३॥ जिनकी आज्ञा से लव-निमेष (निमेष=पल। लव=निमेष का साठवाँ भाग) में माया समस्त लोकों को बना डालती है॥४॥ वे ही दीनदयालु भक्ति के कारण धनुप-यज्ञ-शाला को चकित होकर देख रहे हैं॥५॥

विशेष—(१) 'निज निज रुचि ···' *अर्थात् श्रीरामजी प्रेमियों की रुचि रखते हैं, यथा—"राम सदा सेवक-रुचि राखी।"* (अ० दो० २१८)। 'दोउ भाई'—दोनों भाइयों का रहस्य कह रहे हैं कि सब शिशु दोनों भाइयों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाते हैं। ये प्रत्येक के साथ जाते हैं। यथा—"जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी॥" (अ० दो० २४१)।

(२) 'राम देखावहि अनुजहिं ···'—रामजी ने गुरुजी से कहा था कि—'नगर देखाइ'··' उसी को चरितार्थ कर रहे हैं। यह रचना बालकों ने दिखाई है। अतः, उनके संतोष एवं स्नेह-वृद्धि के लिये उनका चमत्कार भाई को दिखाते और प्रशंसा करते हैं। मृदु-मधुर भाषण करना तो इनका स्वभाव ही है।

(३) 'लव निमेष महँ···'—जहाँ-जहाँ विशेष माधुर्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ ग्रंथकार ऐश्वर्य भी कह ही देते हैं जिससे किसी को मोह न हो। यथा—"व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८)। वैसे यहाँ भी ऐश्वर्य कहा है।

(४) 'भगति हेतु'—भक्ति की महिमा दिखाने के लिये ऐसे चरित करते हैं जिससे लोग जान लें कि भगवान् भक्ति के अधीन हैं, भक्त की रुचि के पोषक हैं।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं ॥६॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजनप्रभाव देखावत सोई ॥७॥
कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं। किये बिदा बालक बरियाईं ॥८॥

दोहा—सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ॥२२५॥

अर्थ—(भगवान्) तमाशा देखकर गुरुजी के पास चले, देर जानकर मन में डर है ॥६॥ जिनके डर से मूर्त्तिमान् डर को भी डर होता है, वे ही प्रभु भजन का प्रभाव दिखा रहे हैं ॥७॥ कोमल, मीठी और सुहावनी बातें कहकर बालकों को बलात् बिदा कर दिया ॥८॥ अत्यन्त भय, प्रेम, नम्रता और संकोच के साथ दोनो भाई गुरु के चरण-कमलों में शिर झुका आज्ञा पाकर बैठ गये ॥२२५॥

विशेष—(१) 'कौतुक देखि'—जब तक कौतुक देखने में मन लगा था, समय नहीं जान पड़ा था, अब विलंब जानकर डरे कि कहीं मुनि पूछ न बैठें कि इतनी देर क्यों लगाई ? यह माधुर्य है।

(२) 'जासु त्रास डर कहुँ डर···'—बस, यहाँ फिर ऐश्वर्य कहने लगे। 'डर कहुँ डर'—सबको काल से डर होता है, वह काल भी भगवान् से डरता है। यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥ * ते फलभच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला ॥" (आ०दो०१२)।

'भजन-प्रभाव देखावत सोई'—अर्थात् वे ही भगवान् भजन करनेवाले को पुत्र, शिष्य आदि बनकर सुख देते हैं, उसके अधीन रहते हैं, उससे डरते हैं। यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" (श्रीमद्भागवत)।

(३) 'कहि बातें मृदु मधुर···'—बालक लोग साथ ही आकर डेरा देखना चाहते थे जिससे बराबर दर्शन हों, परन्तु मुनियों के यहाँ भीड़ भड़क्का ठीक नहीं, इसलिये उन बालकों को बलात् बिदा कर दिया। यथा—"किये धरम-उपदेस घनेरे। लोग प्रेम-बस फिरैं न फेरे ॥ सील सनेह छाड़ि नहिं जाई।" (अ० दो० ८४)। यहाँ बालकों का शील-स्नेह निबाहने के लिये 'मृदु मधुर सुहाई' बातें कहीं कि आपलोगों के माता-पिता राह देखते होंगे, देर होने से चिन्तित होंगे। इससे अब जाइये, हम फिर मिलेंगे, इत्यादि। मिलने का वादा 'सुहावना' है।

(४) 'सभय सप्रेम बिनीत '—देर होने में भय है। गुरु के प्रणाम सम्बन्ध से प्रेम है। यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'बिनीत'—क्योंकि रामजी धर्मसेतु के रक्षक हैं। 'सकुच' आदि में भी था और यहाँ अंत में भी है, क्योंकि पृथक् होकर खेल देखने गये थे, जिससे प्रौढ़ता नहीं समझी जाय।

निसिप्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदन कीन्हा ॥१॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥२॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥३॥

जिन्ह के चरनसरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥४॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुरु-पद-कमल पलोटत-प्रीते ॥५॥

शब्दार्थ—प्रवेस (प्रवेश)=आगमन । चाँपना=दबाना, पलोटना । संध्या-वंदन=आर्यों का एक विशिष्ट कर्म जो नित्य प्रातः, मध्याह्न और संध्या समय होता है ।

अर्थ—रात आने के समय मुनि ने आज्ञा दी, तो सभी ने संध्या-वन्दन किया ॥१॥ इतिहास की पुरानी कथाएँ कहते हुए सुन्दर दो पहर रात बीत गई ॥२॥ तब मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्र ने जाकर शयन किया और दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे ॥३॥ जिनके चरण-कमलों के लिये वैराग्यवान् लोग तरह-तरह के जप-योग करते हैं ॥४॥ वे ही दोनों भाई मानों प्रेम से जीते हुए प्रीतिपूर्वक गुरु के चरणकमलों को दबा रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'आयसु दीन्हा'—क्योंकि धर्म के लिये शासन करना गुरु का धर्म है। 'सब ही' मुनिगण और राजकुमार आदि सभी ने संध्या-वंदन कर लिया, क्योंकि शीघ्र ही कथा में उपस्थित होना है।

(२) 'कहत कथा इतिहास'''—ऐसी पुरानी और अनूठी कथा कहने लगे, जिसमें प्रेम से आधी रात बीत गई। कथा सुनते हुए बीतनेवाली रात्रि को 'रुचिर' कहा है; क्योंकि जो समय भगवान् की कथा-वार्त्ता में बीते, वही सुन्दर है। इस तरह कथा का माहात्म्य कहा। यह भी कहा जाता है कि फूल के संकेत के अनुसार प्रातःकाल की अभिलाषा है, उसमें कथा से आधी रात तो सुन्दर रीति से बीती, अब शेष उद्वेग से कटेगी।

विश्वामित्रजी चिरकालीन ऋषि हैं। अतः, प्राचीन ही कथाएँ प्रायः कहा करते हैं—"भगति हेतु बहु कथा पुराना।'''" (दो० २०१); "कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥" (अ० दो० १७०)। देश के अनुरोध से कोई-कोई यहाँ पर राजा निमि और वसिष्ठ मुनि की कथा का होना कहते हैं।

(३) 'मुनिबर सयन कीन्ह'''—'जाई' अर्थात् कथा के स्थल से शयनागार पृथक् है।

(४) 'करत बिबिध जप जोग'''—वैराग्यवान् भी जप-योग आदि करते रहते हैं, फिर भी उनमें से किसी विरले ही को भगवान् मिलते हैं, वे भगवान् भी प्रेम से अनायास वश हो जाते हैं। मुनि का प्रेम—"कौसिक-रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन॥ राम-रूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥" (दो० २६१); "दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति-रीति कहि जाती॥" (दो० ३५१)। इसी प्रेम से वशीभूत होकर भगवान् मुनि के पैर दबा रहे हैं!

श्रीजनकपुर में आज पहली रात है। अतः, रात्रि-चर्या का वर्णन कर दिया। इसी प्रकार नित्य समझना चाहिये। जैसे उत्तर कांड में श्रीसीताजी की चर्या एक जगह कह दी तो नित्य की समझी जाती है। यह भी कहा जाता है कि आज की चर्या इसलिये कह रहे हैं कि कल श्रीकिशोरीजी के प्रेम में विह्वल रहेंगे, तब इस चर्या में अंतर पड़ेगा, जिससे वह भेद जाना जाय।

बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥६॥
चाँपत चरन लखन उर लाये। सभय सप्रेम परम सचुपाये ॥७॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद-जलजाता ॥८॥

दोहा—उठे लखन निसिबिगत सुनि, अरुनसिखा-धुनि कान।
गुरु ते पहिले हि जगतपति, जागे राम सुजान ॥२२६॥

अर्थ—मुनि ने कई बार आज्ञा दी, तब रघुनाथजी ने जाकर शयन किया ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी राम चरणों को हृदय से लगाये हुए डर और प्रेम से आनन्द-पूर्वक दबा रहे हैं ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने बार-बार कहा, हे तात ! सोओ। तब हृदय में चरण-कमल रखकर लेट गये ॥८॥ रात बीतने पर मुर्गे (कुक्कुट) के शब्द कानों से सुनकर लक्ष्मणजी उठे, जगत् के स्वामी सुजान श्रीरामजी गुरुजी से पहले ही जाग गये ॥२२६॥

विशेष—(१) 'बार बार मुनि···'—श्रीरामजी बार बार कहने पर शयन करने के लिये गये, क्योंकि सेवा, भोजन और दान में गुरुजन की आज्ञा नहीं माननी चाहिये—"सेवा भोजन दान में, आज्ञा-भंग न दोष। पुनि पुनि गुरुजन रोकहीं, तऊ न कीजे तोष॥" यह कहावत है, इसीसे बिना आज्ञा लिये ही चरण दाबते और बार-बार कहने पर भी नहीं छोड़ते थे। एक बार ही कहने पर सेवा छोड़ देने से सेवक की अश्रद्धा समझी जाती है और यदि स्वामी बार-बार आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पाई जाती है। यहाँ दोनों में उत्तमता है। 'रघुबर जाइ···'—श्रीरामजी ही को शयन की आज्ञा दी, लक्ष्मणजी को नहीं, क्योंकि वे श्रीरामजी के भी सेवक हैं। गुरुजी उन्हें सोने की आज्ञा देते, तो उनका सेवक-धर्म भंग होता और शयन नहीं करते तो गुरु की आज्ञा टलती। 'जाइ'—क्योंकि गुरु के सामने सोना निषेध है।

(२) 'चाँपत चरन लखन ·····'—अति प्रिय होने से चरण हृदय में लगाये हैं। 'सभय'—कहीं मेरे हाथ कड़े न पड़ें, जिससे सरकार की निद्रा भंग हो जाय, एवं कहीं मेरे हाथ चरणों में न गड़ जायँ वा सोने की आज्ञा शीघ्र ही न दे दें। 'सप्रेम'—अति दुर्लभ वस्तु चरण-सेवा है। यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई।" (ल० दो० २१), उसकी प्राप्ति से उसमें प्रेम है। श्रेष्ठ सेव्य बड़े भाई जानकर भी प्रेम है। 'परम सचुपाये'—समग्र सेवा का अधिकार यहाँ मुझ अकेले ही को आज प्राप्त है, इससे आनंद है घर में और भाई भी बँटा लेते थे। यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई।" (उ० दो० २४)। पुन चरण-सेवा का महत्त्व इनकी दृष्टि में अत्यन्त अधिक है, इसीसे उसकी प्राप्ति में अति आनंद है।

(३) 'पौढे उर धरि पद ·····'—चरणकमल हैं तो लक्ष्मणजी का हृदय सरोवर है। इस तरह जाग्रत के समान ही स्वप्न की भी वृत्ति रहती है। 'पौढे'—इन्हें 'पौढे' मात्र लिखा है, वैसे ही आगे 'उठे लखन' कहा है अर्थात् ये सर्वत्र श्रीरामजी की सेवा में बड़े सावधान रहते हैं। यथा—"सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ॥" "उठे लखन प्रभु सोवत जानी। ··· जागन लगे बैठि बीरासन॥" (अ० दो० ८९), "प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥" (लं० दो० १०)। यहाँ तो श्रीरामजी मुनि की सेवा में हैं, वे सो रहे हैं, कहीं मुनि को कोई काम पड़े, उसे मैं कर दूँगा, तो श्रीरामजी को सेवा-विक्षेप (बाधा) का दुःख न होगा। यह भी भाव है। ग्रंथकार ने कहीं भी बाहर श्रीरामजी के साथ में इनका सोना नहीं लिखा।

(४) 'उठे लखन निसि ···'—यहाँ से दोनों भाइयों की दिन की चर्या कहते हैं। जिस क्रम से सोना कहा गया, उसके व्यतिक्रम से जागना कहते हैं। सबसे पीछे लक्ष्मणजी लेटे थे, पहले ही उठे। तब श्रीरामजी जागे, पीछे मुनि, क्योंकि धर्म की ऐसी ही मर्यादा है। यथा—"हीनान्नवस्त्रवेषः

स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥" (मनुः)—अर्थात् ..गुरुओं से पीछे सोवे और पहले जागे। इसीसे यहाँ श्रीरामजी को 'सुजान' और 'जगतपति' कहा है। 'सुजान' यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५४)। 'जगतपति' हैं, इसीलिये जगत् को धर्म-मर्यादा का उपदेश कर रहे हैं। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह-मर्त्यशिक्षणं......" (श्रीमद्भाग०); तथा—"नीच ज्यों टहल करैं, रुख राखे अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं॥" (गी० बा० ६६)। धर्म से ही जगत् का पालन होता है—"धर्माद्धारयते प्रजाः" कहा है। यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत...चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग॥" (उ० दो० २०)।

'जागे राम' के साथ 'जगतपति' से ऐश्वर्य पक्ष का यह भी भाव है कि ईश्वर की जागृति से जगत् की रक्षा होती है, और उसके सोने से जगत् सो जाता है। 'अरुनसिखा' अर्थात् यह ग्राम्य पक्षी है और इस देश में नियमित समय पर बोलता है। अतः, इसके शब्द से ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना जनाया। अभी तक वन में रहते थे, आज नगर में हैं। अतः, ग्राम्य-पक्षी लिखा है।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण

सकल सौच करि जाइ नहाये। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाये॥१॥
समय जानि गुरु-आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥२॥
भूप-बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंतरितु रही लोभाई॥३॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिबिताना॥४॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज संपति सुररूख लजाये॥५॥

शब्दार्थ—सकल सौच = वे कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं—हाथ-मुँह धोना, स्नान आदि। श्रीरामजी के विषय में ग्राम्य धर्म अहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनका शरीर चिदानंदमय है, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)। जाइ = नदी आदि में जाकर। नित्य निबाहि = संध्या-अग्निहोत्र आदि नित्य-कर्म करके। बितान = फैलाव, चँदोवा। संपति = धन, ऐश्वर्य। सुररूख = कल्पवृक्ष।

अर्थ—सब शौच-क्रिया करके जाकर स्नान किया और नित्य-कर्म करके मुनि को प्रणाम किया॥१॥ समय जानकर गुरु की आज्ञा पा दोनों भाई फूल लेने को चले॥२॥ राजा के श्रेष्ठ बाग को जाकर देखा, जहाँ वसन्त ऋतु लुभाकर रह गई है॥३॥ तरह-तरह के मनोहर (सुंदर) वृक्ष लगे हुए हैं, रंग-बिरंग की श्रेष्ठ बेलों के चँदोवे बने हुए हैं॥४॥ नवीन पल्लव, फल और फूल शोभा दे रहे हैं, (इन वृक्षों ने) अपनी (तीनों) संपत्तियों से कल्पवृक्ष को भी लज्जित कर दिया है॥५॥

विशेष—(१) 'समय जानि'—आगे 'लेन प्रसून' भी कहा है। अतः, दल-फूल लाने का एवं गुरुजी की पूजा का समय जानकर। 'गुरु-आयसु पाई'—स्वयं गुरुजी से आज्ञा प्राप्त की, गुरुजी को आज्ञा नहीं देनी पड़ी, यह उत्तम सेवक-धर्म है। 'समय जानि'—इसे श्लिष्ट मानकर और भी भाव कहे जाते हैं—(क) इस श्रेष्ठ बगीचे के फाटक खुलने का निश्चित समय जानकर। (ख) सरकार के गुप्त-प्रकट

चरित अपने अवसर पर ही होते हैं। अतः, पुष्पवाटिका के इस चरित का समय जानकर। (ग) समय=संकेत, (विश्वकोष, पृ० ५२२) तथा—"समयः शपथाचारः सिद्धान्तेषु ···। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोः॥" (मेदिनी)। जैसे प्रथम लक्ष्मणजी की लालसा जानकर गुरु से आज्ञा ले नगर-दर्शन को गये थे, वैसे यहाँ पूर्व दो० २२३ में कहे हुए संकेत को एवं उसके नियत समय को जानकर फूल के व्याज से गुरु की आज्ञा प्राप्त कर के चले।

(२) 'भूप-बाग बर''''''—राजा जनक के और सब बागों से यह श्रेष्ठ है। राजा जनक योग-विभूति के भी राजा हैं, यथा—"जोगी-जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५); "भूमि भोग करत अनुभवत जोग-सुख।" (गी० बा० ८६)। अतः, राजा के योग-बल से इसमें त्रिपाद-विभूति का प्रवेश हो रहा है। अतः, 'बर' कहा है। अथवा राजा की आराधना से श्रीजानकीजी के साथ ही साकेत के बाग आदि भी प्रादुर्भूत हुए हैं।

'जहँ बसंत रितु''''''—वसन्त शब्द पुँल्लिग है, पर ऋतु शब्द स्त्रीलिंग है, उसके योग से 'रही लुभाई' क्रिया स्त्रीलिंग दी गई है। यों तो ('ऋतु' शब्दरहित) 'बसंत' को गोस्वामीजी ने पुँल्लिग ही लिखा है; यथा—"देखहु तात बसंत सुहावा।" (आ० दो० ३१)। यह भी भाव है कि यहाँ श्रीकिशोरीजी आया करती हैं। अतः, वसन्त भी सखी-भाव से स्त्री-वेष धारण करके रह गया जिससे यहाँ रहने पावे और सखी-समाज के साथ आनंद-भागी बने।

'रही लुभाई'—इस बाग की शोभा अलौकिक है। देखते ही वसंत लुभाकर स्त्री-वेष भी धारण करके रह गया अर्थात् यहाँ सदा वसन्त की शोभा रहती है। यद्यपि अभी शरद ऋतु है, तो भी इसमें वसंत से कहीं अधिक शोभा है। वसंत-शोभा आ० दो० ३६-४० देखिये।

(३) 'लागे बिटप मनोहर''''—इसमें 'नाना' दीपदेहली है। बेलें जब वृक्षों पर फैलती हैं तब वितान की तरह तन जाती हैं। यहाँ 'नाना' बिटप के साथ नाना बरन के चँदोवे के आकार बने हैं, जैसे चम्पा पर विष्णुक्रान्ता, चाँदनी पर इश्कपेंच, आम्र आदि पर कुंदलता और तमाल पर हेमयूथिका, इत्यादि। यहाँ शृंगार रस का प्राधान्य है, शृंगार के उत्कर्ष पर नायिका नायक पर प्रबल रहती है, वैसे ही यहाँ बेलि-रूपा नायिकाएँ बिटप रूपी नायकों पर लिपट गई हैं। 'बर' विशेषण दिया गया है, क्योंकि इनके नीचे दिव्य चरित होनेवाले हैं।

(४) 'नव पल्लव फल-सुमन''''—'नव' विशेषण तीनों का है। यों तो प्रत्येक वृक्ष में तीनों (पल्लव, फल, फूल) सुंदर हैं। पर उपवनों में पल्लवों, बागों में फलों और वाटिकाओं (फुलवारियों) में फूलों की प्रधानता रहती है। इस तरह बाग में तीनों का होना सूचित किया। यथा—"सुमन-वाटिका बाग बन,'''फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँपास॥" (दो० २१२)। इसमें यथासंख्य अलंकार से क्रमशः तीनों के तीनों ऐश्वर्य कहे गये हैं। वैसे ही यहाँ भी तीनों हैं।

'भूप बाग बर'—बाग, 'परम रम्य आराम'—उपवन, यथा—"आराम उपवन कृत्रिम इत्यमरः" और—"करत प्रकास फिरति फुलवाई।"—फुलवारी है।

'निज संपति सुररूख लजाये।'—वृक्ष त्रय-संपत्ति भी कहे जाते हैं अर्थात् पत्ते, फूल और फल ही इनकी तीन सम्पत्तियाँ हैं। इन सम्पत्तियों से इन्होंने कल्पतरु को लज्जित कर दिया है। ग्रंथकार शब्द-ध्वनि से यह भी जना रहे हैं, रूख का अर्थ सूखा भी होता है। अतः इनकी त्रयसम्पत्ति की शोभा के सामने कल्पवृक्ष सूखे काठ की तरह नीरस है, क्योंकि इनके नीचे आज परम रसीला रहस्य होनेवाला है, जो ध्यान

करनेवालों को चारों फलों से कहीं अधिक फल देता है। 'लजाये' अर्थात् इसी से कल्पतरु भाग कर स्वर्ग में जा छिपा।

श्रीरामजी और श्रीजानकीजी के श्रीअवध और मिथिलाजी में प्रादुर्भाव के साथ ही त्रिपाद-विभूति साकेत के वन-बागादि भी प्रादुर्भूत होते हैं। अतः इनके आगे कल्पवृक्ष आदि का लज्जित होना स्वाभाविक ही है।

चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा ॥६॥
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा ॥७॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा ॥८॥

दोहा—बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बंधुसमेत।
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ॥२२७॥

चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥१॥

अर्थ—चातक, कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी बोल रहे हैं और सुन्दर मोर नाच रहे हैं ॥६॥ बाग के बीच में सुहावना तालाब शोभा दे रहा है। उसकी सीढ़ियाँ मणियों की हैं, उनकी रचना विचित्र है ॥७॥ जल निर्मल है, बहुत रंगों के कमल हैं, जलपक्षी कूजते हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥८॥ बाग और तालाब को देखकर प्रभु भाई के साथ प्रसन्न हुए। यह बाग (उपवन) परम रमणीक है, जो श्रीरामजी को सुख देता है ॥२२७॥ (श्रीरामजी) चारों ओर देखकर और मालियों से पूछकर प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'चातक कोकिल कीर चकोरा।…'—वन-बाग आदि की शोभा के वर्णन में इन पक्षियों का भी वर्णन होता है। यथा—"चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥ अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥" (अ० दो० २२५)। इनमें यहाँ पाँच ही पक्षियों के नाम कहे गये हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि और पक्षी यहाँ हैं ही नहीं। हैं तो बहुत—"बिपुल बिहंगनिवास" (दो० ११२) पूर्व कहा गया है, पर यहाँ शृंगार रस कहेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं। ये पाँचो पक्षी रसग्राही हैं। अतः, इन्हें शृंगार का उद्दीपक समझकर लिखा है। साथ ही बाग, सर, कमल, जल, पक्षी और भ्रमर आदि के वर्णन से उद्दीपित शृंगार रस हुआ। वही कहते हैं—"जो रामहि सुख देत।"

कोयल-कीर वसन्त में, मोर वर्षा में, चातक वर्षा और शरद् में तथा चकोर शरद् ऋतु में आनन्द माननेवाले हैं। इनमें यह शरद् का समय ही है, वसंन्त लुभाकर ही रह गया है। रही वर्षा, वह इस तरह है—पुराने वृक्षों के हरे-श्याम सघन पत्ते काली घटा, श्वेत पुष्पों के गुच्छे बगलों की पाँत, पीले पुष्प-समूह बिजली, लाल-पीले और हरे पुष्पों की कतार इन्द्रधनुष, लता-कुंजों में पवन के प्रवेश से शब्दों का होना मेघ-गर्जन और पुष्परस का टपकना जलवृष्टि की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, इससे मोर भी आनंदित होकर नाचते हैं।

पूर्व कहा गया—'भूप बाग बर' उसका अर्थ श्रेष्ठ राज-बाग भी होता है; अर्थात् यह बाग

अन्य मार्गों का श्रेष्ठ--राजा है। राजा के साज भी यहाँ हैं, जैसे विटप ही भट हैं; कदली-ताल ध्वजा-पताका हैं, वेलें वितान (शामियाने) हैं, फूल बानानंद चीर; हाथी, घोड़े और नाव के साज पक्षी हैं। प्रमाण—"विटप विसाल लता अरुझानी।···" से—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे।" (आ० दो० ३७) तक देखिये।

यह भी कहा जाता है कि पाँच प्रकार के भक्त ही यहाँ पक्षि-वेष में अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं--अर्थार्थी—चातक, जिज्ञासु—कोकिल, ज्ञानी—कीर, आर्त—चकोर और प्रेमी-मोर हैं, यथा--"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं।" (वि० २११)।

(२) 'मध्य बाग सर सोह···'--यहाँ 'बाग-सर' और 'सोह सुहावा' एक साथ एवं क्रम से लिखकर इनका अन्योन्य सापेक्षत्व दिखाया, क्योंकि बाग बिना सर के और सर बिना बाग के नहीं शोभित होते। सर स्वयं 'सुहावा' है, बाग के साहचर्य से अधिक सोहता है।

'मनि सोपान बिचित्र बनावा'—रंग-बिरंग की मणियों की सीढ़ियाँ और उनमें बेल-बूटा आदि बने हैं, जैसे कि श्वेत मणि का थाला, नील मणि की डालें, हरित मणि के पत्ते, पीत मणि के फूल और लाल मणि के फल बने हैं—यह विचित्रता है। पुनः सीढ़ियों पर वृक्ष-लता, पुष्प आदि और जल का आभास पड़ता है। जल में भी लता-वृक्षों और सीढ़ियों के आभास पड़ते हैं, अतः जल में स्थल और स्थल में जल की प्रतीति विचित्रता है। यथा—"जल जुत बिमल सलिल झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग। मानहुँ जगरचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग॥" (गी० म०)।

(३) 'बहुरंगा'—यह कमल, जलपक्षी और भृंग में भी लग सकता है। अतः, कमल बहुत रंगों के हैं। पक्षी भी बहुत रंगों के हैं। यहाँ 'जल-खग' कहकर उपर्युक्त चातक आदि को स्थल के पक्षी सूचित किया। भ्रमर जल और स्थल दोनों जगहों के एक ही होते हैं। इससे ये स्थल के पक्षियों के साथ नहीं लिखे गये। भ्रमर जिस रंग के कमल की धूल में लोटता है, उसी रंग का हो जाता है। अतः, ये भी बहुत रंगों के हैं।

(४) 'परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।'—श्रीरामजी स्वयं आनंद-सिंधु, सुख-राशि एवं सुखधाम (दो० १९६) हैं, उनको भी सुख दे रहा है, इसीसे 'परम रम्य' कहा गया है। 'हरषे'—भूतकाल, 'सुख देत'—वर्तमान और आगे यहीं पर सीताजी की शोभा देखकर सुख पावेंगे। अतः, श्रीरामजी को निरंतर सुखदायक है, यह जनाया है।

(५) 'चहुँ दिसि चितइ पूँछि···'—प्रथम चारों ओर देखा कि कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकार के अच्छे-अच्छे फूल हैं। फिर मालीगण से पूछा, क्योंकि बिना पूछे फल फूल भी लेने का शास्त्र में निषेध है, पुनः पूछकर लेना नीति का पालन एवं सभ्यता भी है।

यहाँ पूछना एवं चारों ओर देखना फाटक के पास ही है, मालीगण फाटक के बाहर से चारों ओर के प्रबंध करते हैं। भीतर उनकी स्त्रियाँ ही रहती हैं, क्योंकि इस वाटिका में श्रीसीताजी आती हैं। रामजी मालियों के एक मुखिया से पूछने लगे। इनके रूप को देखकर बहुत-से आ गये, अतः मालीगण से पूछना कहा गया है।

शृंगार-दृष्टि से यह भी अर्थ किया जाता है कि मा-आली-गण अर्थात् लक्ष्मी के तुल्य सखीगण, जो वाटिका के प्रबंध में नियुक्त हैं, उनसे पूछा।

'लगे लेन दल फूल···'—प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे, क्योंकि यहाँ उत्तम पुष्प हैं; अतः, गुरुजी प्रसन्न होंगे। 'दल' प्रथम कहा गया, क्योंकि पूजा में यह मुख्य है। दल से यहाँ तुलसी-दल ग्राह्य है। कोई चाहें तो और पत्ते का भी अर्थ ले सकते हैं। ग्रंथकार ने सब मतों की रक्षा करते हुए

'दल' मात्र ही लिखा है। कोई-कोई शंका करते हैं कि फूल स्नान से पहले ही उतारा जाता है, यहाँ श्रीरामजी स्नान के पीछे क्यों गये ? समाधान यह है कि अपनी पूजा के विषय में यह बात है। यहाँ तो गुरुजी के लिये फूल लेने आये हैं। फिर 'दल' भी उतारना है, यह तो स्नान करके ही उतारना चाहिये। अन्यथा दोष लगता है। यथा--"अस्नात्वा तुलसीं छित्वा यः पूजां कुरुते नरः। सोऽपराधी भवेन्नित्यं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।" (पुरोहितदर्पण)। यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर मुख्य कहा गया है, अतः शंका नहीं है।

शृंगार-दृष्टि—लक्ष्मी के तुल्य सखीगण से संकेत के अनुसार पूछा, तब जाना कि अभी श्रीकिशोरीजी की अवाई होगी, तब प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे। 'लगे' शब्द विलम्ब-सूचक है, जिससे तब तक वे आ जायँ। 'मुदित मन' अर्थात् पहले आते नहीं देखा तो कुछ विमन हो गये थे, जब आना सुना तो मुदित हो गये।

सम्बंध—दोनों भाइयों की कथा यहाँ तक कहकर तथा इन्हें दल-फूल लेने में लगाकर दूसरा प्रसंग कहते हैं—

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजापूजन जननि पठाई॥२॥
संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥३॥
सरसमीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥४॥
मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदितमन गौरिनिकेता॥५॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा॥६॥

अर्थ—उसी समय श्रीसीताजी वहाँ आईं, माता ने उनको गिरिजाजी की पूजा करने के लिये भेजा था॥२॥ साथ की सब सखियाँ सुन्दरी और सयानी हैं, वे मनोहर वाणी से गीत गा रही हैं॥३॥ तालाब के पास गिरिजाजी का मंदिर शोभित है; उसका वर्णन नहीं हो सकता, देखकर मन मुग्ध हो जाता है॥४॥ (सीताजी) सखियों के सहित तालाब में स्नान करके प्रसन्न मन से गौरीजी के मंदिर में गईं॥५॥ बड़े अनुराग से पूजा की और अपने योग्य सुंदर वर माँगा॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर सीता ...'—यहाँ 'सीता' यह मुख्य नाम दिया गया, क्योंकि एक तो चरित-सम्बंध में प्रथम यही नाम आया है, फिर जानकी आदि और नामों में उर्मिला आदि का भी भ्रम होता। यह भाव भी ध्वनित है कि किशोरीजी पिता की प्रतिज्ञा से संतप्त हैं। यहाँ के रहस्य एवं गिरिजाजी के आशीर्वाद से शीतल होंगी तथा पूर्व के संकेत से अनुराग-पूर्वक आये हुए राजकुमार को दर्शन देकर शीतल करेंगी।

'तेहि अवसर'—जिस समय श्रीरामजी फूल उतारने आये, उसी समय श्रीजानकीजी भी विधि के संयोग से गिरिजा-पूजन के लिये आ गईं। यथा—"सखिन सहित तेहि औसर बिधि के सँयोग गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजी आई हैं।" (गी० बा० ६१); पुनः जैसे श्रीरामजी संकेत के अनुसार आये, वैसे इधर से श्रीजानकीजी भी आईं।

'गिरिजा पूजन जननि ...'—माता ने इसलिये भेजा कि कल प्रतिज्ञा का अंतिम दिन है। अतः, भगवती का पूजन करके अपने अनुरूप वर माँग आओ। यही आगे हुआ भी—"निज अनुरूप सुभग बर माँगा।" कहा है। जिस कन्या के विवाह में कठिनता होती है, उससे देवी का पूजन कराने की रीति थी, फिर इसमें तो शिवजी का ही धनुष था। अतः, शिव-पत्नी की कृपा से बहुत कुछ आशा थी।

आगे कहा है—"पुनि आउब एहि बिरियाँ काली।" इससे यह भी निश्चित होता है कि इसी

समय प्रायः आया करती थीं। उधर गुरु की आज्ञा से और इधर माता की आज्ञा से आना समान है। उधर संग 'अनुज' और इधर संग 'सखी' हैं।

शंका—इस समय तो भवानी का सती नाम था, क्योंकि रामजी के इसी अवतार के अगले वन-चरित में भ्रम होना है, फिर गिरिजा नाम क्यों दिया गया ?

समाधान—गोस्वामीजी ने प्रथम ही लिख दिया है कि—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि।" (दो० १००); श्रीजानकीजी कुँमारी हैं। अतः, देवी के 'गिरिजा, गौरि' नाम दिये जाते हैं, जब श्रीरामजी को हृदय में बसाकर आवेंगी, तब 'भवानी' 'अर्थात् भव-पत्नी नाम देंगे।

(२) 'संग सखी सब सुभग ···'—साथ में सखियाँ ही हैं। अतः, वाटिका किले के भीतर ही है, नहीं तो संग में सुभट कहते, क्योंकि इस समय देश-देश के राजा यहाँ पड़े हैं। सब सखियाँ 'सुभग' अर्थात् शरीर से सुन्दरी हैं। 'सयानी' अर्थात् बुद्धि से चतुर हैं। अतः, भीतर-बाहर की शोभा से पूर्ण हैं, यथा—"चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाय।" (दो० २४६). "संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।" (दो० २६२)।

'गावहिं गीत मनोहर बानी।'—गिरिजा पूजन के अनुकूल गीत गा रही हैं। 'मनोहर' शब्द को दीपदेहली रूप में लें तो यह भी अर्थ होगा कि ऐसे मनोहर गीत गाती हैं कि जिसमें वाणी (सरस्वती) का भी मन हर जाय। सरस्वती गाने में प्रसिद्ध हैं—"गावहिं जनु बहु बेष भारती।" (दो० ३४४)

(३) 'सर समीप गिरिजा-गृह सोहा।······'—प्रायः जलाशयों के समीप मंदिर भी रहते हैं। यथा—"तीरन्तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८); "दीख जाइ उपवन वर, सर बिगसित बहु कंज। मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज॥" (कि० दो० २४)। वैसे यहाँ भी सर के पास गिरिजा-मंदिर है। प्रायः प्राचीन काल के उपवनों में दो भाग होते थे। दोनों के बीच में तालाब होते थे। वैसे ही इस बाग में भी था। जिस 'बाग-तड़ाग' का प्रथम वर्णन हो आया, वह एक भाग का सर है और यह दूसरे भाग का। इसमें तट पर गिरिजा-मंदिर भी है, जिसका वर्णन यहाँ किया गया, पर सर की शोभा नहीं कही, क्योंकि पूर्व बाग-तड़ाग-वर्णन में जो शोभा कही गई, वही यहाँ भी है। उपवन के दोनों सर प्रायः एक समान ही होते हैं। वर्तमान काल में भी गिरिजा-सर और बाग-तड़ाग—ये दो सर प्रायः दो सौ गज के अंतर पर हैं। ये जनकपुर के पास प्रसिद्ध हैं। आगे भी—"एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥" "चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई।" "कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि।" कहा है, जिससे उस सर का कुछ दूर होना जान पड़ता है।

यदि किसी तरह एक ही सर माना भी जाय तो जहाँ राजकुमार हैं, वहाँ पर-पुरुष के समीप में सखियों के साथ श्रीजानकीजी का स्नान किया जाना भी ठीक नहीं जान पड़ता।

'बरनि न जाइ देखि मन मोहा'—मन मोहित ही हो जाता तो उसके बिना वाणी कुछ कह ही नहीं सकती। यहाँ का वर्णन वक्ताओं की ओर से है। याज्ञवल्क्यजी वहाँ के राजा जनक के गुरु ही थे। यथा—"यया: स्वय कुलगुरुः किल याज्ञवल्क्यः······।" (प्रसन्न १।११); भुशुंडीजी और शिवजी ने देखा ही है। रहे गोस्वामीजी, इन्हें गुरुकृपा से सूझा है, यथा—"सूझहिं राम-चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (दो० १)।

(४) 'मज्जन करि सर······'—सखियों के साथ पूजन के लिये मंदिर में भी जायँगी, इसलिये साथ ही सब ने स्नान किया। स्नान के दस गुणों में मन का प्रसन्न होना भी एक है। देवी के पूजन के उत्साह से भी प्रसन्नता है और 'मुदित मन' से मंदिर में जाना शकुन भी है, मनोरथ पूरा होगा।

(५) 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।······'—पूजन की सामग्री में प्रेम ही मुख्य है, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। अतः, नित्य ही प्रेम से पूजा करती थीं, पर आज माता ने 'निज अनुरूप वर माँगना' भी कहा है और प्रतिज्ञा का अंतिम दिन भी है। इसलिये अधिक अनुराग से पूजन किया गया।

'बर माँगा'—वर मन-ही-मन माँगा गया, क्योंकि साथ में सखियाँ हैं, आगे भी—"मोर मनोरथ जानहु नीके।" कहा है। गिरिजा ने अभी वर दिया नहीं, क्योंकि उन्हें नारद-वचन भी सत्य कर दिखाना है। आगे जब श्रीरामजी में इनका मन रँग जायगा और फिर स्तुति करने आवेंगी, तब गिरिजाजी वर देंगी—"नारद-बचन सदा सुचि साँचा। सोइ बर मिलिहि···।" (दो० २३५)।

एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई ॥७॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिं आई ॥८॥

दोहा—तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन ॥२२८॥

अर्थ—एक सखी श्रीसीताजी का साथ छोड़कर फुलवारी देखने गई थी ॥७॥ उसने जाकर दोनो भाइयों को देखा, प्रेम के विशेष वश (विह्वल) होकर सीताजी के पास आई ॥८॥ सखियों ने उसकी दशा देखी कि शरीर पुलकित हो गया है और नेत्रों में जल भरा है। सब कोमल वाणी से पूछती हैं कि अपने हर्ष का कारण कहो ॥२२८॥

विशेष—(१) 'एक सखी सिय संग··'—श्रीगोस्वामीजी ने किसी सखी का नाम नहीं दिया; इससे कोई उस सखी का नाम 'गिरिजा' बतलाते हैं और कोई 'सुशीला।' यथा—"वैदेही वाटिका नित्यमगमत्सन्निरीक्षितुम्। नियुक्ता सीतया तत्र सुशीला शीलभूषिणी॥" (अगस्त्य सं० अ० ६८); किन्तु 'एक सखी' का अर्थ है मुख्य सखी, श्रीजानकीजी की सखियों में श्रीचन्द्रकलाजी मुख्य एवं महायूथेश्वरी हैं। अतः, इनका होना विशेष संगत है, क्योंकि आगे इन्हीं को—"चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।" कहा भी है।

'गई रही देखन फुलवाई।'—पूर्व सखियों को 'सयानी' कहा गया था। यहाँ उनका सयानपन दिखाते हैं। वह स्नान साथ में करके श्रीसीताजी को मंदिर में पहुँचा स्वयं फुलवारी देखने गई कि जिधर फूल-फल आदि की शोभा विशेष हो, उसी तरफ राजकिशोरीजी को दिखाने ले चलूँ अथवा सयानी है। नारद-वचन का स्मरण कर फुलवारी में देखने गई। उन्होंने कह रक्खा था कि श्रीसीताजी के भावी पति के दर्शन पुष्प-वाटिका में होंगे। अब प्रतिज्ञा का एक ही दिन रहा है। संभवतः कहीं आये हों। आगे के दोहे में स्पष्ट है।

(२) 'प्रेम-बिबस सीता पहिं आई।'—यद्यपि विह्वल हो गई थी, फिर भी वह परम सयानी है। अतः धैर्य धरकर किसी तरह श्रीसीताजी तक पहुँच ही गई। इसलिये कि वे अपूर्व कुमार हैं, इनके दर्शन स्वामिनीजी को करावें, ये विशेष कर उन्हींके दृष्टिगोचर होने योग्य हैं।

(३) 'तासु दसा देखी सखिन्ह···'—यहाँ पर हर्ष की पहचान में केवल 'पुलक गात' और

'जल नैन' कहे गये हैं। ये दोनों प्रायः दुःख में ही होते हैं—सुख में कहीं-कहीं। यथा—"सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥" (दो० ६७)। इसमें दोनों ही लक्षण गिरिजा में हर्ष के और सब में दुःख के कहे गये हैं। यहाँ इन सखियों ने हर्ष ही के लक्षण कैसे जाने? इसका उत्तर यह है कि दुःख में करुणा रस की प्रधानता से आँसू उष्ण और पुलक में त्वचा सिकुड़ी हुई रहती है एवं विषाद के भी चिह्न होते हैं। हर्ष में अद्भुत रस की प्रधानता से आँसू शीतल, पुलक में त्वचा का फूलना और नेत्र एवं मुख में विकास आदि हर्ष के चिह्न भी होते हैं। इन लक्षणों से जाना कि यह शृंगार रस के अंतर्गत अद्भुत रस की विह्वलता है।

'पूछहिं सब मृदु बैन' विह्वल होने से उसकी बोलती भी बंद है। अतः, एक के पूछने पर न बोली तो क्रमशः सब ने पूछा। 'मृदु'—क्योंकि (क) उसके मन का भेद लेना है। (ख) उसकी दशा देखकर सब प्रेम में भर गईं। अतः, वचन मृदु हो गये हैं। (ग) वह नवीं दशा को पहुँच गई है, कठोर वचनों से हृदय पर आघात पहुँचाने से दसवीं दशा को न प्राप्त हो जाय! (घ) श्रीसीताजी समीप ही गौरी के ध्यान में हैं, विघ्न न हो वा वे कहीं इसे देखकर स्वयं विह्वल न हो जायँ!

देखन बाग कुँअर दुइ आये। बयकिसोर सब भाँति सुहाये॥१॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥२॥
सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उतकंठा जानी॥३॥

अर्थ—दो कुँवर बाग देखने आये हैं, उनकी अवस्था किशोर है और वे सब प्रकार सुहावने हैं॥१॥ एक श्याम और दूसरे गोरे हैं, मैं उनका बखान कैसे करूँ? क्योंकि वाणी बिना नेत्र की है (अर्थात् उसने देखा नहीं कि वैसा ही कह दे) और नेत्र बिना वाणी के हैं (नहीं तो जैसा देखा है, कह देते)॥२॥ यह सुनकर और श्रीसीताजी के हृदय की अत्यन्त उत्कंठा (लालसा) जानकर सभी सयानी सखियाँ हर्षित हुईं॥३॥

विशेष—(१) 'देखन बाग कुँअर ...'—इसने बाग में फिरते हुए देखा था। अतः, 'देखन बाग' कहा। फूल उतारना नहीं कहा; क्योंकि सयानी है, अतः समझा कि ऐसा कहने से किशोरीजी दोनों कुमारों को माली के लड़के समझेंगी तो उत्कंठित न होंगी। अतः, उत्कंठा बढ़ाने के लिये 'देखन बाग' मात्र कहा। 'कुँअर' शब्द राजकुमारों के लिये प्रयुक्त होता है। ये बाग-वाटिका देखने जाते ही हैं, यथा—"गये रहे देखन फुलवाई।" (दो० २१७)। "सुंदर उपवन देखन गये।" (उ० दो० ३१)।

'बय किसोर सब भाँति ...'—जब तक राजकुमारों को राजगद्दी न मिले तब तक कुँवर कहे जाते हैं। संभवतः अधिक अवस्था के हों, तो देखने में संकोच होगा। अतः, देखने के योग्य 'बय किसोर' भी कहा। पुनः 'सब भाँति सुहाये' से सम्पूर्ण उत्तम राज-लक्षणों से सम्पन्न कहा। यथा—"सदैव प्रियदर्शनः॥ स च सर्व गुणोपेतः कौसल्यानंदवर्द्धनः।" (वाल्मी० १।१।१६-१७)। शुभ रीति से श्रीसीताजी के योग्य कहा, क्योंकि वे भी—"सर्वलक्षणसम्पन्ना" (वाल्मी० १।१।२७) हैं।

(२) 'गिरा अनयन ...'—जो आँख से देखा जाता है, वह वाणी से भी कहा जाता है, यदि वाणी के अपने नेत्र हों, तब भी वही कहा जायगा। फिर ऐसा क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी के रूप-गुण अकथ्य हैं, यथा—"राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर ..." (अ० दो० १२६)। अतः, उसके न कहने की एक युक्ति है कि यदि मैं कुछ अंश भी कहने लगूँगी और उधर राजकुमार चले गये तो सारा

प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, रंग और अवस्था मात्र कह दी, शेष 'सब भाँति सुहाये' और 'गिरा अनयन'''' से समाप्त कर दिया। भाव यह कि वे साक्षात् देखने ही के योग्य हैं। उत्कंठा बढ़ाने की यह उत्तम रीति है, यथा—"प्रभु सोभा सुख जानइ नयना। किमि कहि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना ॥" (उ० दो० ८७)। "या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।" (देवीभागवत) तथा—"नैनन को नहिं बैन बैन को नैन नहीं हैं ॥" (नंददासकृत—रासपंचाध्यायी)।

(३) 'सुनि हरषीं सब सखी'''—सब हर्षित हुईं, क्योंकि सब ने लालसा से पूछा था—'पूछहि सब मृदु बैन'। सखी की उत्तम युक्ति और श्रीसीता के हृदय की उत्कंठा को जानने से हर्ष हुआ। इसीसे सब 'सयानी' कही गई हैं। आगे भी सयानपना करती हैं। वे आपस में ही राजकुमार की चर्चा करती हैं। जानती हैं कि राजकिशोरीजी से कहने में उन्हें संकोच होगा। 'सिय-हिंय अति उत्कंठा'—उत्कंठा तो सब को है, पर श्रीराजकिशोरीजी को अत्यंत है।

एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि-सँग आये काली ॥४॥
जिन्ह निज रूपमोहनी डारी। कीन्हे स्ववस नगर-नर-नारी ॥५॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू ॥६॥

शब्दार्थ—आली = सखी। काली = कल। मोहनी डाली = जादू डाला। स्ववस = अपने वश।

अर्थ—एक सखी कहने लगी कि हे सखी! ये वे ही राजकुमार हैं, सुना है कि जो मुनि के साथ कल आये हैं ॥४॥ जिन्होंने अपने रूप की मोहिनी डालकर नगर के स्त्री-पुरुषों को अपने वश में कर लिया है ॥५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छवि का वर्णन करते हैं, उन्हें अवश्य चलकर देखना चाहिये, क्योंकि वे देखने ही योग्य हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'नृपसुत'''मुनिसँग'''—राजपुत्र कहकर गौरव प्रकट किया। 'मुनि-सँग' से शांतरसयुक्त एवं सदाचारी सूचित करती है। साथ ही मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या-उद्धार के प्रसंग के स्मरण से बली और प्रतापी भी कहा तथा परम तेजस्वी एवं त्रिकालज्ञ महर्षि का सहायक होना भी जनाया, जिससे धनुर्भंग की भी सम्भावना समझी जाय। यथा"—तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं कर तल। सो कि स्वयंबर आनिहि बालक बिनु बल।" (जानकीमंगल)

(२) 'जिन्ह निज रूपमोहनी'''—वशीकरण मंत्र द्वारा मोहिनी डाली जाती है। यहाँ रूप ही मंत्र है, दर्शन देना मोहिनी डालना है। 'नगर नरनारी' बड़े (नागर) चतुर होते हैं, शीघ्र नहीं मोहते, फिर भी इन कुमारों ने सब को वश में कर लिया। अतः, मोहने में बड़े समर्थ हैं। 'स्ववस'—सब के मन इन्हीं में लग गये, जैसे इस सखी की दशा हुई, वैसी ही दशा बहुतों की हुई। 'नरनारी' मात्र को वश किया अर्थात् जिन्हें देखना उचित है और जिन्हें नहीं, सभी ने देखा और मुग्ध हुए।

(३) 'बरनत छबि जहँ तहँ'''—जहाँ देखो, वहीं लोग उनकी ही छवि का वर्णन करते हैं। श्लिष्ट रीति से 'जहँ तहँ' के कई भाव हैं—(क) जहाँ जिस अंग पर जिसकी दृष्टि पड़ी, वह वहीं की (उसी अंग की) छवि देखता रह गया, उसीको कहता भी है, अर्थात् सर्वांग की छवि तो कोई कह ही नहीं सकता। (ख) जहाँ उनकी छवि कोई कहता है, वहीं सब लोग एकत्र हो जाते हैं। (ग) पतिव्रताओं को पर-पुरुष की छवि नहीं कहनी चाहिये, वे भी कहती हैं। (घ) सब छवि ही कहते रह जाते हैं, शील आदि गुण कहने का अवसर ही नहीं मिलता।

'अवसि देखिअहि देखन जोगू।'—यहाँ तक सुनी हुई बातें कहीं। अब देखने की सम्मति भी देती है कि वे देखने योग्य हैं, और यहाँ देखने का योग (अवसर) भी है कि हमारे ही बाग में हैं। उनके साथ भी प्रौढ़ अवस्था का कोई नहीं है। पुन. नगर के सभी ने देखा है, तो हमलोगों को भी देखना योग्य है। 'जोगू' अर्थात् नारदजी की भविष्यवाणी भी इनमें घट रही है। अतः, देखना योग्य है।

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने ॥७॥
चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई ॥८॥

दोहा—सुमिरि सीय नारद - बचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसुमृगी सभीत ॥२२९॥

अर्थ—उसके वचन श्रीसीताजी को अत्यन्त प्रिय लगे, दर्शनों के लिये नेत्र व्याकुल हो गये ॥७॥ उसी प्रिय सखी को आगे करके चलीं, उनकी पुरानी प्रीति कोई लक्ष्य नहीं कर पाता ॥८॥ श्रीनारदजी के वचनों के स्मरण से पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई, चकित होकर वे सब दिशाओं में इस तरह देखती हैं, जैसे डरी हुई बच्ची हरिणी इधर-उधर देखे ॥२२९॥

विशेष—(१) 'तासु बचन अति सियहि···'—यों तो इस चतुर सखी की बात सब को पसंद आई, पर किशोरीजी को अधिक जँची; क्योंकि इन्हें अत्यन्त उत्कंठा थी। 'तासु'—क्योंकि औरों ने शोभा आदि ही कही थीं, पर देखने को नहीं कहा था। इसने वैसा योग लगा दिया। 'लोचन अकुलाने'—कि कहीं चले न जायँ। आगे—'जनु सिसु मृगी सभीत' से भी यही डर है कि चले तो नहीं गये। कानों और मन को प्रशंसा सुनने से सुख हुआ, पर नेत्र देखने के लिये अकुला रहे हैं। जब सखी ने योग निश्चय कर दिया, तब दर्शनों के लिये नेत्र विकल हो गये। इसके पूर्व मर्यादा में बँधे थे।

(२) 'चली अग्र करि प्रिय···'—'सोई'—जो पहले देख आई है, उसी को। 'प्रिय'—जो सेवक अतिशय भानेवाले पदार्थ का स्वयं न भोग कर प्रभु ही को अर्पित करता है, वह स्वामी का प्रिय होता है और वही अग्रगण्य भी होता है। यह सखी स्वामी से मिलानेवाली है। अत', प्रिय है। सखी को आगे इसलिये भी कर लिया कि किशोरीजी की पुरानी प्रीति और अत्यन्त उत्सुकता को कोई लख न सके, किन्तु यह समझे कि सखी ही लिवाये जा रही है। 'प्रीति पुरातन'—इन युगल सरकार का संयोग नित्य है। लीला के अनुरोध से नर-नाट्य में क्षणकालीन ही वियोग है। अतः, पुरानी प्रीति उमड़ पड़ी है। साकेत के रंग-महल में एक साथ विराजते थे, वही 'पुरातन प्रीति' है।

(३) 'सुमिरि सीय नारद-बचन···'—लोक दृष्टि से धनुष के बिना टूटे किसी में प्रीति का होना 'अपुनीत' है। इससे परकीयत्व दोष आता है। उसी के निराकरण के लिये यहाँ नारदजी के वचन कहते हैं कि जैसे नारदजी के वचन थे, उन्हीं के अनुकूल प्रीति उत्पन्न हुई, अतएव 'पुनीत' है। इससे जान पड़ता है कि पहले ही कभी नारदजी ने कह रक्खा था कि पुष्पवाटिका में पति के प्रथम दर्शन होंगे, पीछे ब्याह होगा। इसके मिलान से जब श्रीसीताजी को निश्चय हो गया, तब प्रीति उपजी। अत, पुनीत है। इस नवीन प्रीति को सब ने लख लिया जो 'चकित बिलोकति' से प्रकट है।

नारदजी के वचन कब के हैं, यह अनुमान पर निर्भर है। कोई कहते हैं कि मुनि ने यही गिरिजा-

पूजन के समय आकर सखियों के सामने ही किशोरीजी के प्रणाम करने पर कहा था और कोई राजमहल में राजा-रानी के समक्ष में कहा जाना कहते हैं। श्रीसीताजी का नामकरण भी नारदजी ने ही किया है।

(४) 'चकित बिलोकति सकल'''—'चकित'—क्योंकि शंका है कि राजकिशोर चले गये क्या ? यह प्रीति सखियाँ न लख लें। पुनः यद्यपि हृदय में नारद-वचन से उपपति की शंका नहीं है, तथापि पिता का प्रण अभी शेष है। अतः, लोक-लाज की शंका से भी चकित हैं कि कोई देखता तो नहीं। 'सकल दिसि'—सखियों से छिपाने के लिये राजकिशोर की दिशाओं से भिन्न दिशाओं की ओर भी देखती हैं। 'जनु सिसु मृगी सभीत'—डरी हुई मृगछौनी की चारों ओर 'चितवनि' की तरह श्रीसीताजी की दृष्टि विलक्षण सौन्दर्य से भरी और भोरी है। मृग-छौनी को बाधक जीवों और बधिकों का भय रहता है; वैसे ही इन्हें पिता के प्रण का, माता का, सखियों के लखने का और राजकिशोरों की छटा में फँस जाने का है। इससे चौंक-चौंक कर देखती हैं।

शिक्षा भी है कि उपासना को ऐसा ही गुप्त रखना चाहिये कि भेदी ही चाहें तो जान सकें।

कंकन - किंकिनि - नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥१॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ॥२॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख-ससि भये नयन चकोरा ॥३॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥४॥

शब्दार्थ—गुनि = विचार कर। मनसा = इच्छा। सन = से। अचंचल = स्थिर। दृगंचल = पलक।

अर्थ—कंकण, किंकिणी और नूपुर के शब्द सुनकर श्रीरामजी हृदय में विचार करके श्रीलक्ष्मणजी से कहते हैं ॥१॥ (हे लक्ष्मण ! यह ध्वनि तो ऐसी हो रही है कि) मानों कामदेव ने संसार को जीतने की इच्छा करके डंका बजाया है ॥२॥ ऐसा कहकर फिर उसी ओर देखने लगे (तब) सीताजी के मुखचन्द्र पर श्रीरामजी के नेत्र चकोर की भाँति लग गये ॥३॥ सुन्दर नेत्र ऐसे स्थिर (एकटक) हो गये कि मानों राजा निमि ने सकुचकर पलकों (पर के निवास) को छोड़ दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि'''—इन तीन भूषणों में शब्द होता है, हाथ हिलने पर कंकण, कटि हिलने पर किंकिणी और पग उठाकर रखने पर नूपुरों का शब्द गंभीर होता है। यथा—"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि कामगज लाजहिं ॥" (दो० ३१७)। इन शब्दों को सुनते ही हृदय क्षुब्ध हुआ। आगे ऊपरी लक्षणों से भी दशा प्रकट हो जायगी। प्रभु शुद्धहृदय हैं। अतः, लक्ष्मणजी से कहते हैं। यह काम-कला लक्ष्मणजी पर प्रभाव नहीं डाल सकी; क्योंकि इनका अवतार ही काम को जीतने के लिये है। मेघनाद काम-रूप है, यथा—"पाकारिजित काम बिश्रामहारी।" (वि० ५८)। उसको ये मारनेवाले हैं। इस विषय में लक्ष्मणजी की प्रशंसा अन्यत्र भी की है। यथा—"देखि गयेउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटक हटकि मन-जात ॥" (आ० दो० ३७)।

लोक-मर्यादा की दृष्टि से छोटे भाई के प्रति अपने हृदय की अचानक दशा और उसकी सफाई

देना आवश्यक है, अन्यथा उनपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है कि किसी भी पर-स्त्री पर दृष्टि डालने में दोष नहीं है। हमारे बड़े यदि ऐसा करते हैं तो हमारे लिये क्या दोष ?

(२) 'मानहुँ मदन दुंदुभी······'— रामजी अपने हृदय को मर्यादा की सीमा समझते थे, पर आज उक्त ध्वनि से रस का उद्दीपन समझकर स्वयं उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों कामदेव आज विश्व-विजय का संकल्प करके चला है और उक्त ध्वनि-रूप में डंका बजाया है। "आपनीती जगबीती" कहावत है। यहाँ विश्व से तात्पर्य अपने पर है कि काम मानों हमें जीतना चाहता है। काम का परम बल स्त्री ही है, यथा—"जेहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥" (आ० दो० ३७)। कंकण आदि ताल-स्वर से मानों काम के नगाड़े बजते हैं। यथा—"मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति पर बाजहीं ॥" (दो० १११)। डंके के तीन शब्द होते हैं—'कुड़क-कुड़क धुम'। इनमें कंकण और किंकिणी के शब्द मधुर हैं, नूपुर का शब्द धुम है।

काम आज श्रीकिशोरीजी का बल पाकर परम प्रबल है। अतः, वह तीनो लोकों में अजेय है।

ऐश्वर्य-दृष्टि से रामजी ही विश्वरूप हैं। यथा—"विश्वरूप रघुबंसमनि" (लं० दो० १४)। अतः, आप प्रथम ही हृदय से हार रहे हैं।

(३) 'अस कहि फिरि चितये ······'—यहाँ श्रीकिशोरी का मुख एकरस है। अतः, चंद्रमा के समान कहा है और इधर श्रीरामजी में सात्विक भाव हो आया। अतः, चकोर की तरह आसक्त हो गये और एकटक देखते रह गये। यथा—"भये मगन देखत मुख-सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥" (दो० २०६)। 'तेहि ओरा'—जिधर से ध्वनि सुनी थी। 'सियमुख ससि····· नयन चकोरा'—इसमें सांगरूपक अलंकार है।

श्रीरामजी के मन, वचन, कर्म तीनों में क्षोभ हुआ—'हृदय गुनि'—मन, 'अस कहि फिरि चितये'—कर्म और—'कहत लखन सन···'—वचन।

(४) 'भये बिलोचन चारु······'—अचंचल (स्थिर, एकटक) होने पर नेत्रों की शोभा नहीं रहती, पर श्रीरामजी के नेत्र अब भी चारु अर्थात् सुन्दर हैं। टकटकी की उत्प्रेक्षा करते हैं, मानों निमि चले गये। पुनः जिन्होंने अपनी छवि से नगर-भर के नर-नारियों को मोह लिया था, वे ही श्रीसीताजी की छवि से कैसे मुग्ध हो गये ? कोई विशेष कारण होगा, वह कारण उत्प्रेक्षा के रूप में कहते हैं कि निमि ही चले गये तो निमेष कैसे हो ?

निमि—राजा इक्ष्वाकु की बारहवीं पीढ़ी में निमि राजा हुए। गौतम मुनि के आश्रम के पास वैजयन्त नाम नगर में रहते थे। इन्होंने पुरोहित वसिष्ठजी को यज्ञ के लिये वरण किया। वसिष्ठजी ने कहा कि मैं इन्द्र के यहाँ यज्ञ में वरण किया जा चुका हूँ, वहाँ से आकर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा। वसिष्ठजी के चले जाने पर महाराज निमि गौतम को पुरोहित बनाकर यज्ञ करने लगे। पाँच हजार वर्षों तक निमि ने यज्ञ किया। इन्द्र का यज्ञ समाप्त होने पर वसिष्ठजी आये और अपने स्थान पर गौतम को देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। थोड़ी देर निमि से मिलने की प्रतीक्षा की, पर उस समय निमि गाढ़ी नींद में सो रहे थे। वसिष्ठजी ने शाप दिया कि तुमने हमारा अपमान किया। अतः, तुम्हारा यह शरीर न रहे। जागने पर निमि ने भी उन्हें शाप दिया कि तुम्हारा भी यह शरीर न रहे। दोनों के शाप सत्य हो हुए। दोनो ही देहरहित हो गये। प्रथम वसिष्ठ ने ब्रह्माजी से दूसरा शरीर माँगा (यह कथा दो० ७ चौ० ३ में दी गई है)। इधर निमि की यज्ञ-समाप्ति पर महर्षि भृगु और देवता लोगों ने प्रसन्न होकर इन्हें सचेतन बनाना

चाहा, पर निमि की चेतना बोली कि मैं सब प्राणियों के नेत्रों पर रहना चाहती हूँ। देवताओं ने मान लिया। तब से निमि सबकी पलकों पर वायु-रूप से रहने लगे। इसीसे पलकों का नाम निमेष हुआ। पुनः इनका शरीर मथा गया, उससे जो पुरुष हुआ उसका नाम मिथि, विदेह एवं जनक हुआ। तब से उस नगर का नाम मिथिला हुआ। उस गद्दी के राजा मिथिलेश, जनक और विदेह कहाने लगे। (वाल्मी० ।।५५)। फिर इस वंश के पुरोहित गौतम मुनि ही हुए। उनके बाद उनके पुत्र शतानंदजी हुए। तभी से यह वंश रघुकुल से पृथक् हुआ और गोत्र भी दूसरा हुआ, इसीसे श्रीरामजी और श्रीसीताजी का ब्याह हुआ।

राजा निमि ने यहाँ अपने कुल की कन्या से दृष्टि का सम्बंध जानकर लज्जा से हट जाना ठीक समझा, क्योंकि अपनी संतानों का शृंगार-कौतूहल देखना मना है। श्रीरामजी का शरीर चिदानंदमय है। इनकी पलकों पर निमि का वास नहीं है, यहाँ केवल एकटक नेत्र के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है।

देखि सीयसोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा ॥५॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥६॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥७॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेह-कुमारी ॥८॥

दोहा—सियसोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसीताजी की शोभा देखकर सुख पाया। वे हृदय में सराहते हैं, मुख से वचन नहीं निकलते ॥५॥ मानों ब्रह्माजी ने अपनी सारी कारीगरी से रचकर संसार के सामने प्रत्यक्ष करके दिखाया है ॥६॥ (यह श्रीसीताजी की शोभा) मूर्त्तिमान् सुन्दरता को भी सुन्दर करती है, मानों छवि रूपी मंदिर में दीपक की लौ जलती हो ॥७॥ कवि लोगों ने सब उपमाओं को जूठी कर डाला है, इसमें विदेहकुमारी श्रीजानकीजी को किससे पटतर (उपमा) दूँ ? ॥८॥ हृदय में श्रीसीताजी की शोभा कहकर और अपनी दशा विचार कर प्रभु पवित्र मन से समयानुसार वचन भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३०॥

विशेष—(१) 'देखि सीय-सोभा सुख······'—वे जिस सुख की खोज में थे, वह पा गये। ऐसे मुग्ध हो गये कि हृदय में ही सराहते हैं, बोलती बंद हो गई, तब वह सुख दूसरा कैसे कहे ? यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ ॥" (दो० २११)। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी अर्थ है कि शोभा-रूपी बाण ('सर') से हृदय ('आहत') घायल हो गया, इससे बोलती बंद हो गई।

(२) 'जनु बिरंचि सब निज······'—श्रीजानकीजी स्वयं प्रकट हुई हैं, ब्रह्माजी की बनाई हुई नहीं हैं, यहाँ केवल सौंदर्य-कथन के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है। यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥" (दो० २२२)। उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती। 'बिरचि बिश्व कहँ ···' यथा—"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन, यथाप्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्य-दिदृक्षयेव ॥" (कुमारसंभव—सर्ग १)।

(३) सुंदरता कहँ सुंदर "" '—यहाँ सखियाँ छवि गृह हैं, उनके मध्य में किशोरीजी दीप-शिखा की तरह उन सबको भी प्रकाशित करती हैं। वे सभी सुन्दरता की मूर्ति हैं, तो भी आपके प्रकाश से अधिक सुशोभित हो रही हैं यथा —"सोहति बनिता वृंद महुँ, सहज सुहावनि सीय। छवि ललनागन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय॥" (दो० १२२), "सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छवि गन मध्य महा छवि जैसे॥" (दो० २१२)। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने भी इन्दुमती को उपमा दीप शिखा से दी है—"संचारिणी दीपशिखेव रात्रि" (रघुवंश)।

(४) 'सब उपमा कवि रहे ' '—कवियों ने प्राय सब उपमाओं को प्राकृत, अतएव तुच्छ नारियों में लगा-लगाकर जूठी कर दिया। यथा चदवरदाई ने 'रासो' में सयुक्ता के वर्णन में तथा जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मिनी के वर्णन में कोई उपमा उठा नहीं रक्खो। अत, वे उपमाएँ विदेह-कुमारी (अयोनिजा) के योग्य नहीं रहीं। यथा—"उपमा सकल मोहिं लघु लागी। प्राकृत नारि अग अनुरागी॥" (दो० २४६)। जब उन उपमाओं से समता के योग्य नहीं कहने लगे, तब बड़ा नाम 'विदेह-कुमारी' कहा और जहाँ वर्णन करना कहा—'सिय-सोभा हिय बरनि ··'। वहाँ 'सिय' यह छोटा-सा मधुर नाम दिया। भाव यह कि मैंने इनकी किंचित् शोभा की छटा का दिग्दर्शन कराया है। शब्दों का उचित प्रयोग प्रशसनीय है।

(५) 'सिय-सोभा हिय बरनि ··'—इस शोभा वर्णन का उपक्रम-"हृदय सराहत बचन न आवा।" से हुआ और यहाँ—"सिय सोभा हिय बरनि" पर उपसंहार है। इसके भीतर—"जनु बिरचि सब ' " से " बिदेहकुमारी।" तक का वर्णन शोभामय रत्न है। उपक्रम नीचे का डब्बा है। वह छोटा होता है, वैसे वह चौपाई भी छोटी है। ऊपर का डब्बा (ढकना) बड़ा होता है, वैसे ही उपसहार का दोहा भी बड़ा है। इस तरह यह रत्न डब्बे में रक्खा गया है।

'प्रभु'—क्योंकि अपने हृदय पर अब भी अधिकार है, इसीसे मीमासा कर रहे हैं। 'आपनि दसा बिचारि'—वर्णन तो हृदय में ही हुआ, पर स्वरभग, स्वेद, स्तम, कप, रोमाच, विवर्णता, अश्रुपात और प्रलय (मूर्च्छा) सात्त्विकानुभाव की आठो दशाएँ देह में प्रकट होने लगी हैं। प्रभु अपनी इस दशा का विचार करके बोले, क्योंकि आप पवित्र मनवाले हैं। शुचि अर्थात् छलरहित मन, यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाय छुआ छल नाहीं॥" (दो० २११)। 'सुचि मन' की व्याख्या आगे—'रघुबसिन्ह कर सहज सुभाऊ। ' से करेंगे। 'समय अनुहारी'—इस समय श्रीजानकीजी पास में हैं। अत, उन्हीं के विषय की वार्ता समय के अनुसार है। 'आपनि दसा बिचारि' में श्रीरामजी की धर्म-परायणता और सदाचार की दृढ़ता गर्भित है। आगे दशा को प्रकट करते हैं—

तात जनक-तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥१॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं। करत प्रकास फिरइ फुलवाईं॥२॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥३॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥४॥

अर्थ—हे तात! यह वही जनकजी की कन्या है, जिसके लिये धनुष-यज्ञ हो रहा है॥१॥ गौरी पूजने के लिये इसे सखियाँ ले आई हैं। (यही) फुलवारी को प्रकाशित करती हुई घूम रही है॥२॥ जिसकी अलौकिक (अनूठी) शोभा को देखकर मेरा स्वाभाविक पवित्र मन क्षोभित (चलायमान) हो गया॥३॥ इन सब कारणों को तो विधाता जाने, पर हे भाई! सुनो, मेरे शुभदायक दाहिने अग फड़कते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'तात जनकतनया यह···'—'सोई'—परिचित की तरह कह रहे हैं। इसपर रामचंद्रिका में केशव कवि का कथन घटित होता है। उन्होंने कहा है कि विश्वामित्र के निमंत्रण-पत्र के साथ श्रीजानकीजी के सहित यज्ञशाला का चित्र भी था। श्रीरामजी लक्ष्मणजी को उसीका स्मरण करा रहे हैं अथवा अलौकिक शोभा ही इन्हें अयोनिजा होने का अभिज्ञान करा रही है। इतना तो प्रसिद्ध ही था कि कन्या अयोनिजा और लोकोत्तर सुन्दरी है।

यह श्रीरामजी का कथन सदाचार और मर्यादा की दृष्टि से कैसा उत्तम है! इस समय श्रीसीताजी लोकोत्तर सुन्दरी होती हुई भी एक वाह्य वस्तु, सुन्दर चित्र एवं पुष्प आदि की तरह हैं, श्रीरामजी के पवित्र हृदय में उनकी शोभा का ही आभास प्रकट है, प्रेम-जनित भाव अप्रकट ही है।

'धनुपजग्य जेहि कारन ···' अर्थात् इनकी प्राप्ति में धनुभंग ही मात्र साधन है।

(२) 'पूजन गौरि सखी लै आई'—राजकुमारी बालिका हैं; अतएव सखियों का ले आना कहा तथा इससे मर्यादा और गौरव भी जनाया। 'प्रकास'—पूर्व दीपशिखा की उपमा दी थी, उसी के अनुरूप यहाँ प्रकाश करना कहा गया।

(३) 'जासु बिलोकि अलौकिक···'—इस कन्या में लोकोत्तर शोभा है। लौकिक स्त्री में मेरा मन, जो स्वाभाविक पवित्र है, क्षुब्ध नहीं हो पाता, अर्थात् इनकी प्राप्ति की इच्छा हुई। 'मोर मन'—यहाँ खड़े लक्ष्मणजी भी हैं, पर मन रामजी का ही क्षुब्ध हुआ है। इससे भी कुछ अनादिकालीन आत्मिक संबंध मालूम होता है।

(४) 'सो सब कारन जान बिधाता !'—प्रत्येक घटना किन्हीं कारणों से होती है, उनमें कर्म मुख्य है। फिर इसी के अनुरूप काल और स्वभाव भी होते हैं, इन सबकी व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१) अर्थात् मेरे मन के क्षुब्ध होने के और सब कारण ब्रह्मा जानें। एक कारण तो इसकी अलौकिक शोभा ही मुझे प्रत्यक्ष है। 'सुभद अंग फरकहिं'—से प्रकृति भी कुछ दाहिने कंधे, भुजा आदि के फड़कने से मानों वाम अंग को भूषित होने की सूचना देती है। (श्रीरामजी का तन प्राकृत नहीं है, यह कथन माधुर्य-लीला-रूप में है) फड़कने का भाव यह है कि दोनों अंग बराबर हैं तो एक को भारी लाभ जानकर दूसरा तड़फड़ाता है।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरइ न काऊ॥५॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥६॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन डीठी॥७॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥८॥

दोहा—करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान।
मुख - सरोज - मकरंद-छबि, करइ मधुप इव पान॥२३१॥

अर्थ—रघुवंशियों का जन्म ही से यह स्वभाव होता है कि उनका मन कभी भी बुरे मार्ग पर पैर नहीं रखता (या वे मन से भी कभी बुरे मार्ग पर पाँव नहीं देते)।५॥ मेरा तो अपने मन पर अत्यन्त

विश्वास है कि उसने स्वप्न में भी कभी पराई स्त्री को नहीं देखा ॥६॥ लड़ाई में शत्रु लोग जिनकी पीठ नहीं पाते, अर्थात् सम्मुख लड़ते हैं, भागते नहीं और जो परस्त्री पर मन और दृष्टि नहीं लगाते अर्थात् धीर होते हैं ॥७॥ जिनके यहाँ माँगनेवाले कभी 'नाहीं' नहीं पाते अर्थात् खाली हाथ नहीं लौटते, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जगत् में थोड़े हैं ॥८॥ छोटे भाई से बातें कर रहे हैं, (पर) मन सीताजी के रूप में लुभाया हुआ है। वह मुख-कमल के छवि रूप मकरंद (रस) को भौंरे की तरह पी रहा है ॥२३१॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह कर···'—यहाँ 'रघुबंसिन्ह' से लक्षणा-द्वारा केवल अपने कुल—रघु से लेकर श्रीरामजी तक—का तात्पर्य है। मन के पैर नहीं होते, उसका चलायमान होना ही चलना है। परस्त्री पर दृष्टि देना कुपंथ है। 'काऊ'=कभी भी, जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त भी।

(२) 'मोहि अतिसय प्रतीति ··'। भाव यह कि और तो जाग्रत में ही सावधान रहते हैं, पर मेरी अपने मन पर अत्यंत प्रतीति है कि उसने स्वप्न में भी पर-स्त्री की ओर नहीं देखा। यथा—"न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति॥" (वाल्मी० २।७२।४८); तथा—"कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन॥ मनसापि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्। स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।९।५-६)। (इस रीति से श्रीजानकीजी को अपनी ही शक्ति जनाया।) नहीं तो मेरा मन और नेत्र उधर न जाते। अपना उत्कर्ष कहना अनुचित है, पर यहाँ वंश के प्रभाव से कहा है।

पूर्व कहा गया कि लक्ष्मण से अपने हृदय की सफाई देना भी माधुर्य दृष्टि से आवश्यक है, उसी दृष्टि में यह आत्म-प्रशंसा भी है कि जिससे अनुयायियों को सच्चरित्रता का ज्ञान हो। यह भी सत्य है, कि आत्मज्ञान, स्वत्वाभिमान और इन्द्रियदमन मनुष्य को महान् शक्तिशाली बना देते हैं।

(३) 'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी'—प्रथम दृष्टि जाती है, तब मन भी जाता है, यथा—"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥" कहा गया है।

'ते नरवर थोरे जग माहीं'- ग्राम, नगर, देश आदि की कौन कहे; ऐसे मनुष्य जगत्-भर में भी थोड़े ही होंगे।

'जिन्ह के···डीठी'—यथा—"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयते जनैः। नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः॥" (भोजप्रबंध)।

यहाँ तीनों वर्णों के धर्म भी कहे गये हैं—'जिन्ह कै लहहिं न रिपु···' में क्षात्र धर्म, कि वे शत्रु के प्रति क्रोध करें, पीठ न दें। 'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी।' में ब्राह्मण धर्म कि इन्हें इन्द्रियजित् (कामजित्) होना चाहिये। 'मंगन लहहिं न···' में वैश्य धर्म, इनके लिये लोभ जीतना प्रधान है, यथा—"सोचिय बैस कृपिन धनवानू।" (अ० दो० १७२)। ये तीनों बातें सब में चाहिये, पर उक्त रीति से एक-एक गुण उनमें प्रधान रहेगा। यहाँ वक्ता श्रीरामजी क्षत्रिय हैं। इसलिये क्षात्र धर्म को प्रथम कहा है। पुनः—'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी' का यहाँ मुख्य प्रसंग है, इसलिये मध्य में लिखकर इसे भी प्रधानता दी। ये तीनों गुण दुर्लभ हैं, यथा—"नारि-नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०)।

यहाँ रण में पीठ न देने में कर्म, पर-स्त्री से बचाव में मन और दान में 'नाहीं' न करने में वचन की श्रेष्ठता कही गई। पुनः रण में पीठ न देने का साधन पर-स्त्री से बचना है और उसका साधन दानशीलता आदि पुण्य है जिनसे मन पवित्र रहकर कुमार्ग से बचता है।

(४) 'करत बतकही अनुज'''—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बोले सुचि मन अनुज सन'''" पर है। यहाँ भी—'करत बतकही'—वचन, 'मन सिय-रूप लुभान'—मन और 'मुख-सरोज मकरंद'' पान' कर्म है। 'मन सिय-रूप लुभान'—पूर्व कहा गया—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" चकोर चन्द्रमा में लुभाया रहता है, यथा—"जनु चकोर पूरन ससि लोभा।" (दो० २०६) वैसे श्रीरामजी का मन लुभाया हुआ है। यह रात का दृष्टान्त हुआ। पुनः उत्तरार्द्ध में दिन का दृष्टान्त कहते हैं। कमल दिन में खिला रहता है। अर्थात् श्रीरामजी का मन श्रीजानकीजी में भौंरे और चकोर की भाँति दिन-रात लुभाया रहता है।

भ्रमर मकरंद-पान के समय चुप रहता है, फिर कमल के आस-पास गूँजता है; वैसे ही श्रीरामजी श्रीसीताजी की मुख-छवि को निहारते हैं, तब मौन हो जाते हैं, फिर लक्ष्मणजी से बातें करने लगते हैं।

श्रीरामजी ने प्रथम अधर देखने में तर्क किया, जब सब कारणों पर दृष्टि दी, और शुभ अंगों के फड़कने से उनमें स्वकीयत्व का निश्चय हुआ, तब निःशंक मुख-छवि देखने लगे।

यहाँ श्रीरामजी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सुख प्रकट हुए, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।'—श्रवण का; 'सियमुख ससि भये नयन चकोरा।' नेत्र का; 'बोले सुचि मन'—जिह्वा का—इन तीन के सुख प्रकट में कहे गये, शेष दो स्पर्श और गंध के सुख इस दोहे के—'मधुप इव पान' से गुप्त रीति से कहे गये; क्योंकि भौंरा कमल को स्पर्श करता है और उसकी सुगंधि भी सूँघता है। अतः, त्वचा और नासा के सुख भी आ गये। वे दोनों अभी स्थूल रूप में अयोग्य हैं।

श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी से वार्ता करते हैं, पर वे बोले ही नहीं, क्योंकि बड़े भाई में इनके प्रेम, सहानुभूति और सम्मान के भाव हैं। इसीसे उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। बड़े भाई पर इनका पूर्ण विश्वास है। प्रभु की बातें सुनते भर हैं, पर इनकी तो प्रभु के बराबर दृष्टि भी नहीं पड़ती। यह छोटे भाई का शील अपूर्व है! 'बतकही' पर पूर्वोक्त दो० ८ चौ० २ भी देखिये।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता॥१॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नैनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी॥२॥
लता-ओट तब सखिन्ह लखाये। श्यामल गौर किसोर सुहाये॥३॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥४॥
थके नयन रघुपति - छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे॥५॥

शब्दार्थ—मृग-सावक=हिरन का बच्चा। बरिस=वर्षा होती है। सित=श्वेत। श्रेनी (श्रेणी)=पंक्ति। लखाये=इशारे से दिखाया। निमेखे=पलक पड़ना, पलक मारना।

अर्थ—श्रीसीताजी चारों दिशाओं में चौकन्नी होकर देखती हैं, राजकिशोर कहाँ चले गये? यह मन में चिन्ता है॥१॥ बाल-मृग-नयनी श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं, वहीं मानों श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती है॥२॥ तब सखियों ने सुहावने श्याम-गौर किशोर अवस्थावाले कुमारों को लता की ओट में दिखलाया॥३॥ उनके ललचाये हुए नेत्र रूप को देखकर प्रसन्न हुए (वा नेत्र ललचाये और प्रसन्न हुए) मानों उन्होंने अपनी निधि (खजाना) को पहचान लिया॥४॥ रघुनाथजी की छवि देखकर नेत्र थक गये (स्थगित रह गये) और पलकों ने भी निमेष मारना छोड़ दिया अर्थात् टकटकी लग गई।

विशेष—(१) 'चितवत चकित चहूँ'''—श्रीसीताजी का प्रसंग प्रथम—"चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत ॥" (दो० २२९) पर छोड़ा था, वहीं से मिलाकर फिर उसे उठाते हैं। अतः,—'चितवति चकित''' कहा है। पूर्व कहा था—'सकल दिसि', वही यहाँ 'चहूँ दिसि' कहकर स्पष्ट कर दिया। वहाँ 'सिसु मृगी' कहा था, यहाँ—'मृग-सावक-नयनी' कहा। वहाँ 'सभीत' कहा था, यहाँ 'चिंता' से सूचित किया। चिंता यही है कि राजकिशोर चले तो नहीं गये। पाठान्तर 'मनचीता' भी है, इसका अर्थ होगा कि जिन्हें मन ने चुन लिया था, वरण किया था जो—'उपजी प्रीति पुनीत' पर कहा गया था। 'नृपकिसोर' कहकर स्वाधीनता एवं चंचलता सूचित की, क्योंकि राजपुत्र स्वतंत्र होते हैं और किशोर अवस्था में चंचलता रहती है। अतः, चले तो नहीं गये।

(२) 'जहँ बिलोक मृगसावक'''—श्रीसीताजी की 'चितवनि' स्वच्छ है, इसलिये श्वेत कमलों की श्रेणी का बरसना कहा गया है। जिधर ये देखती हैं, उधर ही सखियों का समूह देखने लगता है, इस तरह कमल-श्रेणी का बरसना युक्त है। विद्यापति भी कहते हैं—"जहँ-जहँ नयन प्रकासे। तहँ-तहँ कमल बिकासे।" (पदावली)

शंका—नेत्रों की सुन्दरता, श्यामता और अरुणता में कही जाती है, यहाँ श्वेत रंग में किसलिये कही गई ?

समाधान—(क) श्वेत नेत्र अमृतमय प्रीति-भाव में, श्याम नेत्र विषमय वैर-भाव में और लाल नेत्र मदमय मध्यस्थ भाव में मोहकता के लिये कहे जाते हैं। यथा—"अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार ॥"—(रसलीन)। इस दोहे में तीनों गुणों की दृष्टि से तीन प्रकार की 'चितवनि' कही गई है। यहाँ श्रीजानकीजी की 'चितवनि' सात्त्विक और प्रीतिमय है, इसलिये उसका रंग श्वेत कहा है। (ख) श्रीसीताजी की 'चितवनि' पवित्र, और निर्मल है। अतः, श्वेत कमल की उपमा दी गई है। बरसना इससे कहा है कि दार्शनिक दृष्टि से ज्योति भी परमाणुओं का ही समूह है। ऐसा महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में निरूपित किया है। चकित 'चितवनि' है। अत', लगातार वृष्टि हो रही है। नेत्र रूप सरोवर से निकले हुए विमल 'चितवनि' रूपी श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती है। कवि की यह कल्पना विलक्षण है! (ग) राजकिशोरीजी अभी स्नान करके सखियों समेत पूजा में थीं, इससे सात्त्विक ही शृंगार किया है, जिससे नेत्र में काजल नहीं है। कजरारे नेत्रों की उपमा श्याम सरोज (नीलकमल) से दी जाती है। यथा—"रूप-रासि जेहि ओर सुभाय निहारइ। नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ ॥" (जानकीमंगल ४२)। (घ) शृंगार-रस की दृष्टि में श्वेत नेत्र खटकेंगे अवश्य, पर इनका भी इसमें ही गौरव है। इस तरह कि यहाँ शोभा-समर का भी प्रसंग है। नेत्रों की दृष्टि ही बाण-वृष्टि है, कजरारे नेत्रों की दृष्टि अनी-सहित बाण है और बिना शृंगार के नेत्रों की दृष्टि बिना फरके (थोथे) बाण हैं। राजकिशोरीजी ने प्रतिपक्षी पर दया करके थोथे ही तीर चलाये हैं। वे इसीसे कैद कर लिये गये, यथा—"चली राखि उर श्यामल मूरति ॥" (दो० २३४); तो फिर पैने बाणों की आवश्यकता ही नहीं रही। यथा—"गुड़ सों जो मरै ताहि माहुर न दीजिये"—कहावत प्रसिद्ध है।

(३) 'लता-ओट तब सखिन्ह'''—सब सखियों की एक साथ ही दृष्टि पड़ी। अत', सब ने एक साथ ही इशारे से दिखाया कि ये—'स्यामल गौर'''' हैं। जो विशेषण पूर्व देखनेवाली सखी ने कहे थे, वे ही यहाँ भी कहके लखाये गये—"बय किसोर सब भाँति सुहाये। स्याम गौर''" (दो० २२८)। 'लता ओट'—'ओट' शब्द तीन जगह आया है, १—'लता ओट''' (यहाँ)। २—"प्रभु देखहिं तरु ओट

लुकाई।" (आ० दो० ६)—यह सुतीक्ष्ण मुनि के यहाँ है। ३—"बिटप-ओट देखहिं रघुराई।" (कि० दो० ७); —यह सुग्रीव-बालि के युद्ध-प्रसंग में है। इनमें १—में शृंगार रस का प्रसंग है। अतः, 'लता' स्त्रीवाचक नाम है, क्योंकि इस रस में स्त्री की प्रधानता है २—में शांत रस का प्रसंग है, इसलिये 'तरु' नाम है, तरु अर्थात् तारनेवाला—शांत रस का नाम है। ३—में वीर रस का प्रसंग है, इसलिये 'बिटप' नाम है। यह पुरुषवाचक है, क्योंकि वीररस पुरुषों में होता है। रस के अनुकूल शब्दों का प्रयोग सराहनीय है। 'लखाये'—इशारे से ही, क्योंकि राजकिशोर पास हो हैं।

(४) 'देखि रूप लोचन ललचाने'।'''—(क) जब तक रूप नहीं देख पड़ता तब तक उसके लिये लालच रहता है; यथा—"पितु दरसन लालच मन माहीं।" (दो० २०६); पर देखने पर ललचाना कैसा ? अतः, अवरेब से अर्थ होगा—'ललचाने लोचन रूप देखि हरषे' अर्थात् जो नेत्र पूर्व से ललचे थे, यथा—"दरस लागि लोचन अकुलाने।" (दो० २२८); वे रूप देखकर हर्षित हुए। (ख) रूप को देखकर नेत्र ललचे, भाव यह कि जितना देखा, उतना सुना न था, पुनः रामजी का रूप ही ऐसा है कि जितना ही देखो, चाह बढ़ती ही रहती है—तृप्ति नहीं होती, यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सत-रूपा॥" (दो० १४७)। उनकी तो इतनी लालसा बढ़ी कि सदा के लिये देखने का लालच हुआ, तब पुत्र-रूप होने का वर माँगा कि जिससे सदा देखा ही करें।

'जनु निज निधि पहिचाने'—श्याम विग्रह सबके नेत्रों की निधि ही हैं, इन्हीं की श्यामता का अल्पांश पुतली-रूप से नेत्रों में प्राप्त है, जिससे प्रकाश होता है। अतएव रामजी लोचनों की 'निज निधि' हैं। 'जनु'—श्रीकिशोरीजी का रूप भी चिदानन्दमय ही है, श्रीरामरूप से अभिन्न तत्त्व है। लीलानुरोध से औरों की तरह कहते हुए 'जनु' कहा गया है। वास्तव में श्रीजानकीजी से क्षणमात्र भी श्रीरामजी का पार्थक्य (भिन्नता) नहीं है।

यह भी भाव है कि यह रूप श्रीजानकीजी की 'निज निधि' कहा गया। इनकी ही कृपा से यह रूप किसी को भी प्राप्त होता है। अगस्त्य-संहिता के 'जानकीस्तवराज' में कहा है कि शिवजी ने रामरूप-प्राप्ति के लिये तप करके वर माँगा तो श्रीरामजी ने कहा कि यदि मेरा रूप चाहते हैं तो श्रीजानकीजी को प्रसन्न करके उनसे भी माँगो, तभी पाओगे, वैसा ही करके शिवजी ने पाया। 'पहिचाने'—इससे पूर्व का परिचय सिद्ध होता है। संभवतः नारदजी ने लक्षण भी कहे होंगे।

(५) 'थके नयन रघुपति-छबि'''—'थके' शब्द 'स्थग' धातु से है जिसका अर्थ है ठग जाना, यात्री का जब सर्वस्व हर जाता है तब वह भौचक्का-सा खड़ा रह जाता है, यहाँ दृष्टि ही ठगी गई अथवा थके अर्थात् छबि पर ठहर गये। बँगला भाषा में 'थाकना' ठहरने को कहते हैं वा स्थगित हो गये अर्थात् छबि पर रुक गये या छबि-समुद्र की विस्तृत शोभा में थक गये, इससे टकटकी लग गई।

'पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेखे'—इसी तरह उधर भी—"मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।" कहा गया है।

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी॥६॥
लोचन-मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलककपाट सयानी॥७॥
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥८॥

दोहा—लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमलबिधु, जलद-पटल बिलगाइ ॥२३२॥

अर्थ—अधिक-स्नेह के कारण देह की सुधि नहीं रह गई, जैसे शरद् ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी निहार रही हो ॥६॥ नेत्रों के मार्ग से श्रीरामजी को हृदय में लाकर उन सयानी सीताजी ने पलक रूपी किवाड़ लगा दिये ॥७॥ जब सीताजी को सखियों ने प्रेमवश जाना, तब वे मन में बहुत सकुचीं, पर कुछ कह नहीं सकतीं ॥८॥ उसी समय दोनों भाई लताओं के कुंज से प्रकट हो गये, मानों दो निर्मल चन्द्रमा मेघ-समूह को अलग (चीर) कर निकले हैं ॥२३२॥

विशेष—(१) 'अधिक सनेह देह भइ···'—स्नेह तो प्रथम सुनने पर ही था, अब देखने से अधिक हो गया। 'देह भइ भोरी'—मन से देह की सुधि नहीं रह गई, नेत्र अचल हो गये। चकोरी को भी देह की सँभाल नहीं रहती। लता की ओट में श्रीरामजी के होने से इधर से पूर्ण रूप से निःसंकोच दृष्टि पड़ी और तृप्ति भी हुई, इसलिये इधर के देखने में शरद्-चंद्र का देखना और स्वयं चकोरी बनना कहा गया है। शरद्-चंद्र में चकोरी पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है। उधर श्रीराम-पक्ष में सामान्य चंद्र का देखना और नेत्रों का ही चकोर होना कहा गया था, यथा—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" इसी से उस एक बार मात्र के देखने में पूर्ण तृप्ति नहीं हो पाई थी, तभी तो—'मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान।' में फिर भी देखना कहा है।

एक को चकोर और दूसरे को चकोरी कहकर परस्पर अनन्यता सूचित की है; यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥" (वाल्मी० ५।२१।१५); "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति॥ (वाल्मी० १।७७।२६)। तथा—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।" (अ० दो० ६६); "तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" (सुं० दो० १४)।

(२) 'लोचन-मग रामहिं···'—अप्रकट रामरूप को शास्त्र से जानकर बुद्धि-द्वारा हृदय में लाया जाता है। यहाँ श्रीरामजी प्रत्यक्ष हैं। अतः, आँखों की राह से लाना कहा गया। प्रथम 'चितवनि को' कमल की श्रेणी कहा था। अतः, कमल के पाँवड़े देकर आदर सहित हृदय में लाईं।

श्रीरामजी बड़े कोमल हैं, नेत्र भी वैसे ही कोमल हैं। अतः, योग्य मार्ग से लाईं। उत्तम वस्तु यत्न से रक्खी जाती है, वैसे इन्हें हृदयस्थल में रक्खा, फिर नेत्र रूप कपाट बंद कर लिये। आँखें बंद कर लीं कि सखियाँ हमारी विशेष आसक्ति न जानें। वे यही जानें कि गौरीजी का ध्यान कर रही हैं। यही सयानपन है। पर, सखियाँ भी तो सयानी ही हैं, वे जान ही लेंगी। पुनः उधर साथ लक्ष्मण हैं और इधर सखियाँ। अतः, प्रत्यक्ष में शृंगार की पूर्णता का अभाव है, अतएव एकान्तस्थल हृदय में ले जाकर पल्ला बंद कर लिया।

(३) 'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस···'—सखियों ने लख लिया कि श्रीकिशोरीजी प्रेमवश हो गईं। अब इन्हें कुछ कहकर सावधान करना चाहिये, पर कुछ नहीं कह सकीं कि इनके मन में संकोच होगा। अन्त में उन्हें संकोच होगा ही—"सकुचि सीय तब नयन उघारे।"—आगे कहा है। पुनः राजकुमार समीप ही हैं, इससे भी कहने में संकोच है। सखियाँ सकुचा गईं, क्योंकि दर्शन कराकर प्रेमवश करने का उत्तरदायित्व इन्हींपर है। देर होने का डर, ध्यान छोड़ाने का डर एवं असमय में स्नेह लगने की अनीति का डर है, फिर सामने श्रीराजकिशोरजी हैं, दर्शनों का अवसर है, दर्शन न होने से भी पछतावा होगा, इत्यादि कई कारणों से सकुचा गई हैं।

(४) 'लता-भवन ते प्रगट भये''''''—पूर्व 'लता ओट' कहा था, अब 'लता भवन' कहते हैं। इससे सूचित किया कि लता का निकुंज बना था। पुनः परस्पर स्वीकार-भाव जानकर कवि ने गार्हस्थ्य-सम्बंध जनाते हुए, कुंज न कहकर 'भवन' कहा है। 'तेहि अवसर'—श्रीराजकुमार अवसर-ज्ञान में बड़े प्रवीण हैं, इधर श्रीराजकुमारीजी प्रेमवश हैं, आँखें मुँदी हैं। तब श्रीरामजी सामने आये। इसमें—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो० १८४),—इस नियम का निर्वाह किया। पुनः माधुर्य में सामना होने पर चार आँखों के होने की धृष्टता भी न होने पावे। इस प्रसंग में आँखें चार होने की बात नहीं है। यह कवि की सँभाल है।

'निकसे जनु जुग बिमल''''''—चन्द्रमा में दोष भी हैं, ये निर्दोष हैं। दो भाई हैं। अतः, दो चन्द्रमा कहे गये। यद्यपि उपमान रूप चन्द्रमा एक होता है, और उपमेय दो कहे गये, तो भी विरोध नहीं है। यहाँ कवि का प्रयोजन अपनी कल्पना से पाठकों का ध्यान मेघ-समूह को फाड़कर दो चन्द्रमाओं के निकलने के दृश्य की ओर ले जाना है। उत्प्रेक्षा अलंकार में ऐसा होता ही है।

'जलद-पटल बिलगाइ'—इस लता-भवन से निकलने का मार्ग दूर से था और श्रीरामजी प्रेमाधीन हैं, इससे शीघ्रता-पूर्वक लताओं को फाड़कर प्रकट हो गये। इससे भी शीघ्र निकलना था कि श्रीजानकीजी कहीं और दिशा में न चली जायँ तो फिर ऐसा अवसर सम्भवतः नहीं मिलेगा। 'बिमल बिधु' के साहचर्य से 'जलद-पटल' भी शरद् ऋतु के हैं, उन श्वेत मेघों की तरह श्वेत रंग की पुष्पित लताओं का वह कुंज था।

सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ॥१॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के ॥२॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छवि छाये ॥३॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे ॥४॥

शब्दार्थ—जलजाभ = कमल की आभा (कान्ति)। कुसुम = फूल। घूँघरवारे = घुँघराले। रतनारे = लाल।

अर्थ—दोनों वीर (राजकुमार) शोभा की सीमा है, सुन्दर ऐश्वर्यवान् हैं। नीले-पीले कमल की कान्ति के समान कोमलता एवं कान्तियुक्त शरीर वाले हैं ॥१॥ शिर पर मोरपंखी टोपी बहुत अच्छी सुशोभित है, जिसके बीच-बीच में पुष्प-कली के गुच्छे बने हुए हैं ॥२॥ माथे पर तिलक और पसीने की बूँदें शोभित हैं, कानों में सुन्दर भूषणों की छवि छाई हुई है ॥३॥ भौंहें टेढ़ी, बाल घुँघराले और नवीन लाल कमल के समान लाल नेत्र हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सोभासींव सुभग''''''—शोभा की सीमा हैं, सुभग से यदि सुन्दरता का ही अर्थ लें तो पुनरुक्ति होगी। अतः, सुष्ठु-भग अर्थात् ऐश्वर्यवान् हैं, यह अर्थ लेना होगा। इस सुभग का सम्बध 'दोउ बीरा' से है अर्थात् वीरता के ऐश्वर्य तेज-प्रताप आदि से युक्त हैं। वीर कठोर होते हैं। अतः, आगे कमल के समान कोमल कान्तियुक्त कहा। उसमें तेज-प्रताप आदि को कान्ति में लेते हुए भी शरीर को कमल के समान कोमल कहा है।

(२) 'मोरपंख सिर सोहत''''''—'मोरपंख' अर्थात् मोरपखी टोपी, जो आगे-पीछे कम चौड़ी, बीच में अधिक चौड़ी और लंबी होती है, यथा—"भोर फूल बीनबे को गये फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे''''''" (गी० बा० ६१)। 'टिपारा' (हिंदी—तीन + फारसी—पारः = टुकड़ा) = तीन भागों

की, मुकुट के आकार की एक टोपी, ऐसा हिंदी-शब्द-सागर में प्रमाण है। वही टोपी उपर्युक्त मोरपख में घटित होती है। इस मोर-पंखी टोपी का वर्णन अन्यत्र भी, है। यथा—"सिरनि सिखंड सुमन दल मंडन बाल सुभाय बनाये।" (गी० बा० ५४); इसमें 'सिखंड' से मोरपंख कहा है।

नगर-दर्शन में भी टोपी (चौतनी) कही गई है—"रुचिर चौतनी सुभग सिर।" (दो० २११); वहाँ लाल चमकदार टोपी, यहाँ मोरपंखी हरे रंग की टोपी और आगे धनुष-यज्ञ में—"पीत चौतनी सिरनि सुहाई।······" (दो० २४२) अर्थात् पीत रंग की चौतनी है जो उपर्युक्त 'टिपारे' के अर्थ में मुकुट के आकार की कही गई है। यथा—"राजिवनयन मिथुनदन टिपारे सिर ···" (गी० बा० ७१); वहाँ राजाओं के समाज में मुकुटाकार 'कमरखी ताज' ही अर्थ ठीक है। अतः, तीनों जगह शिर पर टोपी एवं ताज वर्णित है। यहाँ जो कोई मोर का पक्ष धारण करना कहते हैं, अथवा 'काकपक्ष' पाठ मानकर अर्थ करते हैं, उसमें शिर का नंगा होना पाया जाता है, और यहाँ तो आगे 'कच घूँघरवारे' से केश का वर्णन है ही। उसमें 'काकपक्ष' का भाव आ जाता है और मोर-पक्ष-धारण श्रीराम रूप में कहीं नहीं पाया जाता।

'गुच्छ बीच बिच कुसुम ···'—रेशम और सुनहले रुपहले तार आदि की कलियाँ टोपी पर कढ़ी हुई हैं, यथा—"कुसुम-कली बिच बीच बनाई।" (दो० २११)।

(३) 'भाल तिलक श्रमबिंदु ·····'—तिलक वर्णन पूर्व—"तिलक-रेख सोभा जनु चाँकी।" (दो० २१८) में हो गया है। 'श्रमबिंदु'—लता चीरकर निकलना पड़ा, प्रथम से भी फूल उतारने में कुछ श्रम था ही, इससे पसीने की बूँदें मोती की तरह झलकने से सुहावनी लगती हैं। 'सुहाये' का यह भी भाव है, कि श्रम की सफलता हुई जिससे राजकिशोरीजी के दर्शन हुए। 'श्रवन सुभग भूषन ···'—कानों के भूषण पूर्व—"कानन्ह कनकफूल छवि देहीं।" (दो० २१८) में कहे गये। 'छवि छाये'—अर्थात् छवि से परिपूर्ण हैं।

'बिकट भृकुटि' यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहि दै दोष। तुलसी से सठ सेवकन्हि, लखि जनि परइ सदोष॥" (दोहावली १८७) अर्थात् श्रीरामजी की भौंहें कान तक लंबी और बहुत अर्थात् धनुष के समान टेढ़ी हैं, जितनी टेढ़ी औरों की क्रोध में होती हैं, यह शुभ लक्षण है। 'नव सरोज लोचन ··' ऊपर लाल रंग के नेत्र मोहक कहे गये हैं। दो० २३१ चौ० २ का विशेष देखिये। तदनुसार इन नेत्रों के दर्शनों से सखियाँ मोहित होंगी—'बिसरा सखिन्ह अपान।' कहा है। पुनः 'नव' अर्थात् झुके हुए (नीचे को), क्योंकि सामने श्रीजानकीजी और उनकी सखियाँ हैं। अतः, मर्यादानुसार प्रभु नीचे दृष्टि किये हुए हैं। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी भाव है कि 'सिय-मुख ससि' के सामने पड़ने से नेत्र कमल नय (झुक) पड़ेंगे ही !

चारु चिबुक नासिका कपोला। हासबिलास लेत मन मोला॥५॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥६॥
उर मनिमाल कंबु-कल ग्रीवा। काम-कलभ-कर भुज बलसींवा॥७॥
सुमनसमेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥८॥

दोहा—केहरिकटि पट पीत धर, सुषमा-सील-निधान।
देखि भानु-कुल-भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥२३३॥

शब्दार्थ—विलास = क्रीड़ा। कलभ = हाथी का बच्चा। कर = सूँड़, हाथ। दोना = लावण्ययुक्त, सुंदर। सुषमा = परम शोभा। सील = सद्वृत्ति। अपान = अपनपौ।

अर्थ—चिबुक (ठोढ़ी), नाक और कपोल सुन्दर हैं। मुसकान की क्रीड़ा तो मन को मोल लिये लेती है॥ ५॥ मुख की छवि मुझसे नहीं कही जाती, जिसे देखकर बहुत कामदेव लज्जित होते हैं॥ ६॥ छाती पर मणियों की माला है, शंख के समान सुन्दर गला है, कामदेवरूपी सुन्दर हाथी के बच्चे की सूँड़ के समान भुजाएँ हैं, वे बल की सीमा हैं॥ ७॥ बायें हाथों में फूलों से भरा दोना है। हे सखी! साँवले कुमार तो अत्यन्त सलोने (सुंदर) हैं॥ ८॥ सिंह की सी (पतली) कमर, पीताम्बर धारण किये हुए शोभा और शील के स्थान सूर्यकुल के भूषण को देखकर सखियों का अपनपौ (आत्मसुधि) भूल गया॥ २३३॥

विशेष—(१) 'लेत मन मोला'—उनकी मुसकान की ओर दृष्टि जाते ही मन उन्हींके अधीन हो जाता है, तब और इन्द्रियों के व्यापार बंद हो जाते हैं, सुध बुध नहीं रहती।

(२) 'बहु काम लजाहीं'—बहुत काम एक साथ एकत्र करने से भी योग्य नहीं ठहरते।

(३) 'उर मनिमाल'—पूर्व—"उर अति रुचिर नाग-मनिमाला।" (दो॰ २१८) कहा गया था, इसलिये यहाँ मणिमात्र ही लिखकर उसीका संकेत किया है; अर्थात् वैसे ही यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य की मालाएँ समझनी चाहिये। 'कबुकल ग्रीवा' गरदन चढ़ाव उतार तीन रेखायुक्त है। यथा—"रेखैं रुचिर कंबुकल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा॥" (दो॰ १४२)। 'काम कलभ कर ···'—भुजाएँ हाथी के बच्चे की सूँड़ की तरह चढ़ाव-उतार और बलपूर्ण हैं, हाथी में सुंदरता नहीं होती। इसलिये काम को हाथी होना कहा है।

(४) 'सुमन समेत बाम ···'—श्रीमिथिलेश महाराज की फुलवारी के सुन्दर पुष्पों से पूर्ण दोना बायें हाथ को भूषित करता है, यथा—"दोना बाम करनि सलोने में सवाई है।" (गी॰ बा॰ ६१), पूर्व—'सोभासींव सुभग ··' से यहाँ तक सखी का सखी से ही कहना है। यहीं 'सखी' सम्बोधन प्रकट किया गया है। यह सखियों की चातुरी है। किशोरीजी ने अपना भाव छिपाने के लिये आँखों को मूँद लिया है, सखियाँ जान गई हैं, पर सकोच से कह नहीं सकीं। तब उनका ध्यान छुड़ाने के लिये कुमारों का छवि-वर्णन करने लगीं कि अब सामने हमलोग यह छवि प्रत्यक्ष देख रही हैं, आप भी आँखें खोलकर देखें। सफलता न होने पर अंत में एक सखी हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ावेगी। साथ ही यह भी चातुरी है कि जैसे श्रीरामजी ने किशोरीजी को समीप देखकर लक्ष्मणजी से 'समय अनुहारि' उन्हीं की शोभा का वर्णन किया था, वैसे ये सखियाँ भी कुमारों को समीप आये देख उन्हीं की शोभा का वर्णन परस्पर कर रही हैं।

(५) 'केहरि-कटि पट पीत ·····'—यहाँ का शोभा वर्णन शृंगार-रस से उठाया गया, यथा—"मोरपख सिर ···"। शृंगार रस में शिर से वर्णन प्रारंभ होता है और 'केहरि कटि' तक ही कहा अर्थात् वीररस पर विश्राम किया गया। पीतांबर भी इसीके अनुकूल कहा है। केसरिया बाना वीरों का है। 'सुषमा सील ···'—सुखमा (परम शोभा) की महत्ता शील-गुण से बढ़ जाती है, यथा—"सोभा सील ग्यान गुन मंदिर" (वि॰ ८५)। इसलिये 'सुषमा' के पीछे 'सील' भी कहा।

'भानुकुल भूषनहि'—सूर्यवंशी पर-स्त्री की ओर मन और दृष्टि नहीं देते। यथा—"नहि लावहिं परतिय मन डीठी।" (दो॰ २३०), सखियाँ श्रीरामजी की शोभा पर मुग्ध हैं, पर आप उनकी ओर दृष्टि नहीं देते, ऐसा उत्तम स्वभाव रघुवंशियों का है, इसीसे वे महा तेजस्वी होते हैं। ये तो उनमें भूषण हैं। 'बिसरा सखिन्ह अपान'—प्रथम लता ओट से देखा था, तब भली भाँति देखने में नहीं आये थे। अब सामने खड़े हैं, इससे सर्वांग की शोभा भली भाँति देखने से मुग्ध हो गईं। यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी।

रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥" (दो॰ २३२)। यहाँ इन सबकी टकटकी लग गई, इससे देह की सुध नहीं रह गई। यथा—"छबि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी ॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥ हरष-बिबस तनु-दसा भुलानी।" (दो॰ १४७)। ये सखियाँ श्रीकिशोरी को सावधान करने का प्रयत्न कर रही थीं, पर स्वयं बेसुध हो गईं।

> धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी ॥१॥
> बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥२॥
> सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे ॥३॥
> नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापन मन अति छोभा ॥४॥

अर्थ—एक चतुर सखी धैर्य धारण कर और (सीताजी का) हाथ पकड़कर सीताजी से बोली ॥१॥ गौरीजी का ध्यान फिर कर लेना, अभी राजकिशोर को क्यों नहीं देख लेतीं ? ॥२॥ तब श्रीसीताजी ने सकुचकर आँखें खोलीं, (तो) रघुकुल के दोनों सिंहों को सामने देखा ॥३॥ नख से शिख तक श्रीरामजी की शोभा देखकर और फिर पिता की प्रतिज्ञा का स्मरण कर मन बहुत ही क्षुब्ध हुआ ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज एक ·····'—'एक'=प्रधान, मुख्य। यह वही सखी है जो प्रथम देख आई थी, दोबारा देखकर मोही थी, इसीसे इसे पहले चेत हुआ। यह सब में मुख्य है, इससे समयानुसार कार्यक्रम पर ध्यान है। इसीसे इसने शीघ्र धैर्य धारण किया। 'सीता'—क्योंकि इस समय ध्यान से शीतलता को प्राप्त हैं। 'गहि पानी'—क्योंकि इस समय संकेत नहीं कर सकती, क्योंकि किशोरीजी आँखें मूँदे हुई हैं। यथा—"दीन्हें पलक कपाट सयानी।" कहा है। बोलने का अवसर नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हैं, मर्यादा की दृष्टि से धृष्टता होगी। हाथ पकड़कर प्रकट कहने में भी सयानपन ही है कि संकोच से किशोरीजी आँखें नहीं खोल रही हैं। हम स्वयं कहेंगी, तब संकोच छोड़ देंगी। यह प्रथम 'प्रिय सखि' कही गई है। अतः, इसने ही यहाँ हाथ पकड़ने की ढिठाई का साहस किया।

(२) 'बहुरि गौरि कर ध्यान ·····'—गौरीजी के ध्यान का तुम्हें कुछ अभ्यास-सा पड़ गया है, वह तो अपने वश की बात है। जब चाहो, कर सकती हो, पर ये भूपकिशोर हैं। अतः, स्वतन्त्र एवं चपल भी होंगे, कहीं चल दिये, तो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। इसलिये गौरीजी का ध्यान फिर कभी कर लेना। यद्यपि सखी इनके हार्दिक भाव को जानती है, तथापि गौरीजी के ध्यान का आरोपण कर इनका संकोच छुड़ाना चाहती है।

'भूपकिसोर देखि ·····'—देखने को कहती है कि कहीं धनुष किसी से न टूटा, तो जयमाल स्वयंवर ही होगा। ये राजकिशोर हैं और तुम राजकिशोरी हो। अतः, देखना योग्य है। इस समय देखे रहने पर फिर स्वयंवर में चूक न होगी।

(३) 'सकुचि सीय तब नयन ·····'—सकुचकर आँखें खोलीं, क्योंकि जो बात छिपाये हुई थीं, वह प्रकट हो गई, सखी ने उसे जान लिया या संकुचित अध खुली ही आँखें खोलीं कि कहीं सखी हँसी न करती हो। हम आँखें खोल दें, तो कहेगी कि देखो, ठीक-ठीक तुम गौरीजी का ध्यान नहीं करती थीं, तभी तो तुरत आँखें खोल दीं। तुम्हारे मन में तो ये ही बसे थे, गौरीजी के ध्यान का बहाना मात्र था। अतः, अध-खुली आँखों से जब जान लेंगी कि ठीक ही राजकुमार सामने हैं, तब पूरी आँखें खोल देंगी, नहीं तो फिर वह

कर लेंगी या इससे भी संकुचित आँखें खोलीं कि राजकुमार से बराबर दृष्टि न मिले। जब रामजी ने लक्ष्मणजी की ओर दृष्टि कर ली, तब जानकीजी ने पूरी दृष्टि से देखा।

'दोउ रघुसिंह'—समष्टि में श्रीरामजी का वीर स्वरूप देख पड़ा, क्योंकि धनुष की प्रतिज्ञा के लिये वीरता की आवश्यकता है। ये प्रथम ध्यान के विषय थे, आँखें खोलने पर सम्मुख देखने में आये, जैसे पिंजड़े में बंद सिंह खुलते ही सामने आ जाय।

(४) 'नखसिख देखि राम कै····'—यहाँ नख से प्रारंभ कर शिखा पर्यंत देखना कहा गया है, क्योंकि कुल-प्रसूता कन्या की सुशीलता-भरी दृष्टि नीचे से ही उठती है। प्रथम समष्टि में वीरता देखने में आई थी, पर जब अंग-अंग की शोभा देखी गई, तब कहीं भी धनुष के योग्य कठोरता न मिली। शोभा की सीमा सुकुमारता है। वह अंग-अंग में पूर्ण है, फिर ये धनुष कैसे तोड़ेंगे? यह स्मरण आते ही मन अत्यंत क्षुब्ध हो जाता है। *यथा*—"निरखि-निरखि रघुबीर-छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥ जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति।" (दो० २५४) तथा—"नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥" (दो० २५७)। इसीसे श्रीजानकीजी के चित्त में स्थिरता नहीं आती, वे अंग-अंग में धनुर्भंग की योग्यता खोजती हैं और श्रीरामजी को अपने बल का पूर्ण विश्वास है कि मैं अवश्य धनुर्भंग करके ब्याह लूँगा। इससे वे इनकी मुख शोभा पर ठहर गये हैं।

प्रथम अचानक दृष्टि दोनों 'रघुसिंह' पर पड़ी कि दोनों सामने खड़े हैं, पर श्रीजी ने श्रीरामजी का ही नखशिख शृंगार देखा, क्योंकि इनका मन नारद के वचनानुसार प्रथम ही से श्रीरामजी को वरण कर चुका था। पुनः अभी-अभी सखियों ने भी कहा है—"*सावर कुँअर सखी सुठि लोना।*" इस तरह *प्रथम* ही से धर्म को सँभाला है।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये गहरु सब कहहिं सभीता॥५॥
पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥६॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंब मातु भय मानी॥७॥
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपौ पितुबस जाने॥८॥

शब्दार्थ—गहरु=विलंब। बिरियाँ=समय। अपनपौ=अपनापन, आपा।

अर्थ—जब सखियों ने सीताजी को पराधीन देखा, तब सभी डरी हुई कहने लगीं कि 'देर हुई॥५॥ कल इसी समय फिर आवेंगी'—ऐसा कहकर एक सखी मन में मुसकाई॥ ६॥ गूढ़ वचनों को सुनकर सीताजी सकुच गईं, देर हो गई; इससे माता का भय मानने लगीं॥ ७॥ बड़ा धैर्य धारण कर श्रीरामजी को हृदय में ले आईं और पिता के वश अपने आपको जानकर लौट पड़ीं॥ ८॥

विशेष—(१) 'परबस सखिन्ह लखी····'—श्रीसीताजी श्रीरामजी के रूप में आसक्त होकर उनके वश में हैं। यह सखियों ने जान लिया कि किशोरीजी की घर चलने की इच्छा नहीं है। तब प्रकट रूप में उनका रुचि-भंग समझ भय से चलने को नहीं कह सकीं। बड़ी देर हुई—ऐसा कहकर जनाया कि अवश्य चलना चाहिये। 'सभीता'—कोई यहाँ आकर देखे और माता को कह दे कि ये लोग पूजा नहीं करतीं, किंतु कुमारी को लेकर राजकुमारों को देख रही हैं तो हमलोग अपमानित होंगी, फिर साथ नहीं आने पावेंगी। अतः, सब कहती हैं—'भयो गहरु'—बहुत दिन चढ़ गया—आज बड़ी देर हुई।

(२) 'पुनि आउब येहि बिरियाँ काली ।'—इसे ही आगे स्वयं ग्रंथकार 'गूढ़ गिरा' कह रहे हैं। अतः, इसमें गूढ़ता क्या-क्या है; वे सब शब्दों में ही हैं—(क) सखियाँ आपस में कहती हैं कि हमलोग इसी समय कल फिर आवेंगी। चलो आज चलें, यह आशय है। इससे राजकुमारी और राजकुमार भी समझ जायँगे कि आज चलना चाहिये, फिर तो कल मिलेंगे ही। 'चलना' वियोगसूचक शब्द है, इसे 'आना' इस संयोग के शब्द से ढँक कर कहती हैं। यह अभिप्राय इसमें गूढ़ है। मन में ही विहँसती हैं कि भाव समझकर लज्जा हो, जिससे लौट चलें और प्रकट में हँसने का इन्हें संकोच भी न हो। (ख) राजपुत्रों के प्रति भी इस कथन का अर्थ लग सकता है कि कल इसी समय फिर आइयेगा। भाव—हमलोग भी आज की भाँति आवेंगी, तो फिर ऐसे ही दर्शन होंगे। किंतु, आज चलना चाहिये। (ग) गुप्त रीति से भय भी प्रकट करती हैं, परस्पर कहती हैं कि क्या कल फिर आने पाओगी? अर्थात् आज देर होती है, कल माताजी न आने देंगी। (घ) राजपुत्रों से भी जनाती हैं कि आज देर से जाओगे, तो क्या कल इस समय फिर आने पाओगे? भाव, गुरुजी न आने देंगे। अतः, आज इतना ही प्रेम-नेम बस है। यहाँ गूढ़ोक्ति अलंकार है।

'मन बिहँसी'—से राजकुमारी और उधर राजकुमारों को कुछ लज्जा के हेतु भी प्रकट करती हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रेम पर लज्जा ही अंकुश है। इससे संकोच होगा, तब चलेंगे।

(३) 'भयो बिलंब मातु भय ···'—माता विलंब होने से अप्रसन्न होंगी, यह भय मन में लाई और सखियों के गूढ़ वचनों को समझकर एवं उनके हँसने से संकोच भी हुआ।

(४) 'धरि बड़ि धीर राम-उर आने'—सीताजी बड़े प्रेम से विशेष वश हो गई थीं, अतः, बड़ा धैर्य धरना पड़ा, तब लौटने की वृत्ति हुई। 'अपनपौ पितुबस···' जब बड़े-बड़े वीर्यवान् राजा लोग धनुष न तोड़ सके, तो इनसे भी कैसे टूटेगा? अतः, अब तो हम पिता के अधीन हैं, वे चाहें तो इनसे ब्याह दें, पर मेरा कोई चारा नहीं। ऐसा समझकर फिरीं। लौटने में तीन कारण कहे गये—सखियों का संकोच, माता का भय और अपने को पिता के अधीन मानना—यह धर्म का भय। 'राम उर आने'—हृदय में इसलिये लाईं कि प्रकट दर्शन छूटते हैं, तब ध्यान से ही देखेंगी। पुनः इन्हीं के लिये आगे भवानी से भी प्रार्थना करेंगी।

श्रीरामजी ने अपनी दशा को समझकर स्वयं विचार किया है और उसका विस्तृत वर्णन किया है, क्योंकि पुरुषों में मस्तिष्क प्रधान होता है, विचार एवं वक्तृत्व का मस्तिष्क से ही सम्बन्ध है। श्रीकिशोरीजी की निमग्नता पीछे देर में हुई और देर तक रही, सखियों के चेताने एवं भय की ठोकर देने से दशा का ज्ञान हुआ। इनकी ओर से वर्णन एवं विचार सखियों ने ही किया, क्योंकि स्त्री में हृदय की वृत्ति प्रधान होती है, जिससे प्रीति का बोध होता है। उसकी प्रबलता में मस्तिष्क-सम्बन्धी बातें दब जाती हैं।

दोहा—देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर-छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥२३४॥

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामलमूरति ॥१॥

शब्दार्थ—बिसूरति = खेद करती, चिंता = (सोच) करती, (सं०-विसूरण = शोक)—शब्दसागर।

अर्थ—मृग (हिरन एवं पशु), पक्षी और वृक्ष देखने के बहाने बार-बार लौट-लौट पड़ती हैं। रघुवीर श्रीरामजी की छवि देखकर कुछ थोड़ी प्रीति नहीं बढ़ती, अर्थात् बहुत अधिक बढ़ती है ॥२३४॥ शिवजी के धनुष को कठिन जानकर सोचती हुई अपने हृदय में साँवली मूर्ति को रखकर (सीताजी) चलीं ॥१॥

विशेष—(१) 'देखन मिस मृग ···'—'मृग', 'बिहँग' और 'तरु'—ये सामान्य शब्द हैं। ये सब भाँति-भाँति के हैं, इनके बहाने बार-बार किशोरीजी पीछे फिर-फिरकर देखती हैं कि सखियाँ यही जानें कि मृग आदि को ही देखती हैं। अनेक बार फिरकर देखना जनाया। तीन ही नाम देकर यह भी जनाया कि इनकी प्रीति मन, वचन और कर्म से है।

यद्यपि आप उपर्युक्त कारणों से फिरती हैं, तथापि मन नहीं मानता। अतः, उसके संतोष के लिये, फिर-फिरकर देख लेती हैं, देखने से तृप्ति नहीं होती, उस रूप में ऐसी ही माधुरी है। यह क्रियाविदग्धा का उदाहरण है। पूर्वानुराग पोषित होकर पुनीत प्रेम को स्थायी करेगा।

'देखन' और 'निरखि' में भेद है। देखना स्थूल दृष्टि और निरखना सूक्ष्म दृष्टि है। देखने में नख-शिख की शोभा से सुकुमारता का निश्चय करके अधीर हो गई थीं, तब पिता पर छोड़ निराश होकर चलीं। उस अधीरता को दूर करने के लिये इनकी वीरता का स्मरण करके फिर-फिरकर उसका तथ्य विचारती हैं कि मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या का उद्धार तो इन्हीं ने किया है। अतः, वीर एवं प्रतापी हैं, तो धनुष भी तोड़ेंगे—इसमें आश्चर्य ही क्या ? इस निरीक्षण पर प्रीति बढ़ चलती है। प्रथम—"सुमिरि सीय नारद-बचन, उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० २२९) कहा ही था। अब यह प्रीति बढ़ चली।

(२) 'जानि कठिन सिव-चाप···'—कई बार मूर्त्ति को हृदय में रक्खा; फिर शिवजी के धनुष की कठोरता ने उसे निकाल दिया। यथा—"लोचन-मग रामहिं उर आनी।" वैसे ही—"सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा।" में न रह गई; फिर—"धरि बड़ धीर राम उर आने", फिर वैसे ही—"जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति" में मूर्त्ति ध्यान में नहीं रह पाई। अब फिर तीसरी बार—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" से मूर्त्ति का हृदय में रखना कहा गया है। 'बिसूरति' यथा—"समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन।" (जानकी मं०); "···रानि बिसूरति। कहँ कठिन सिव-धनुष कहाँ मृदु मूरति ?॥" (जानकी मं०)। यहाँ 'बिसूरति' का अर्थ सोचना है। यह दीप-देहली है; अतः, पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों के साथ है। दो बार शिव-चाप की कठोरता ने मूर्त्ति को हृदय से निकाल दिया। अतः, अबकी उसे हृदय में रखकर सोचती हुई उसकी स्थिति के लिये दैव-बल प्राप्त करने चलीं। मूर्त्ति को बार-बार हृदय में लाने का हेतु नारदजी का वचन है। अतः, दोष नहीं है। तीसरी बार देवी के वर से इसका निश्चय हो जायगा, तब मुदित मन होकर महल में जायँगी।

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख - सनेह - सोभा - गुनखानी ॥२॥

परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही ॥३॥

अर्थ—सुख, स्नेह, शोभा और गुणों की खान जानकीजी को जब प्रभु ने जाते हुए जाना ॥२॥ तब परम प्रेममयी कोमल स्याही बनाकर (उससे) उनकी मूर्त्ति को अपनी सुंदर चित्तरूपी दीवार पर अंकित कर लिया ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रभु जब जात···'—'प्रभु' शब्द सामर्थ्य का सूचक है; अर्थात् आपने अपने सामर्थ्य का निश्चय करके इन्हें हृदय में बसाया है कि हम धनुष तोड़कर इन्हें अवश्य ब्याहेंगे। इसमें संदेह नहीं। श्रीसीताजी के आगमन पर भी 'प्रभु' विशेषण है, वहाँ अपने मन के ऊपर प्रभुता रखने के लिये और यहाँ श्रीसीताजी के वरण करने का सामर्थ्य जनाने में है।

'जब·· जानी'—पूर्व—'मुखसरोज मकरंद छबि, करत मधुप इव पान।' कहा गया है, अब यहाँ

के प्रसंग से जान पड़ा कि कैसे आसक्त हो गये थे कि श्रीकिशोरीजी लौट पड़ीं और फिर-फिरकर देखती हैं, तब आपने जाने का निश्चय किया और हृदय में इनका चित्र लिखा। श्रीसीताजी की सुन्दरता के विषय में कहा था—"छवि-गृह दीपसिखा जनु बरई।" उसका प्रभाव यहाँ चरितार्थ भी हुआ कि जैसे दीप-शिखा में मृग मोहित हो जाता है; फिर ज्यों-ज्यों दीप-शिखा दूर होती जाती है, त्यों-त्यों मृग में सावधानता आती जाती है, वैसी ही दशा यहाँ श्रीरामजी की भी हुई। यथा—"रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराय कै॥ (गी० बा० ८२)।

उदाहरण—'सुख', यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा"। 'सनेह'—"अधिक सनेह देह भइ भोरी।" 'सोभा'—"सुंदरता कहुँ सुंदर करई।" 'गुन'—"गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।" एवं 'मृग', 'बिहँग' और 'तरु' के देखने के बहाने फिर-फिरकर देखना भी गुण ही है। इन गुणों का स्मरण अब हो रहा है, क्योंकि संग छूटने पर ही गुणों की स्मृति होती है।

(२) 'परम प्रेममय मृदु'''—राजकिशोरीजी अत्यन्त कोमलांगी हैं और सोने की तरह गोरी हैं; इसलिये उनका चित्र उतारने की सब वस्तुएँ अनुकूल ही प्रस्तुत कीं। 'चारु चित्त' रूपी दीवार अत्यन्त कोमल है, पराकाष्ठा का प्रेम स्वतः कोमल होता है, फिर भी उसे और कोमल करके उसकी स्याही बनाई। स्याही काली होती है, पर किशोरीजी गोरी (स्वर्ण-वर्ण) हैं। प्रेम भी स्वर्णवर्ण का कहा गया है, इसीलिये 'मय' कहा है। मयट् प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है, यथा, लवण क्षारमय होता है, वैसे मसि भी परम प्रेममय है। इस मसि के बने हुए चित्र में भी वैसी ही कोमलता और रंग आवेगा, जैसा श्रीसीताजी के विग्रह में है। किसको लिख लिया? यह ऊपर की अर्द्धाली के 'जब जाव जानकी''' से लेना होगा। 'जब' का 'तब' से नित्य सम्बन्ध है। अतः, 'जानकी' शब्द कर्मकारक होकर 'लिखि लीन्ही' क्रिया में घटित है।

श्रीरामजी ने हृदय में लिख लिया, क्योंकि लिखी हुई बात पक्की होती है, भूलती नहीं। इससे इन्हें संदेह न होगा। श्रीजानकीजी ने हृदय में रख लिया है—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" रक्खी हुई वस्तु भूल भी जाती है, वैसे धनुर्भंग के समय प्रेम की विह्वलता में श्रीजानकीजी इनकी मूर्ति में वीरता भूल जायँगी, तब जिस-तिस को मनाने लगेंगी। यथा—"तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिन-वति जेहि तेही॥''' से—"प्रभु-तनु चितइ प्रेम पन ठाना॥" (दो० २५६-२५८); तक श्रीरामजी का सीता-चरण में पूर्ण विश्वास है। अत., लिख लिया। श्रीजानकीजी को आशामात्र है। अतः, अभी 'रखना' मात्र कहते हैं। श्रीरामजी ने चित्र-दर्शन और श्रीजानकीजी ने ध्यान-दर्शन ग्रहण किया।

गई भवानी-भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी ॥४॥
जय-जय गिरि-बर-राज-किसोरी। जय महेस-मुख-चंद-चकोरी ॥५॥
जय गज-बदन-षडानन-माता। जगतजननि दामिनि-दुति-गाता ॥६॥
नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिं जाना ॥७॥
भव-भव-बिभव-पराभव-कारिनि। बिस्वबिमोहिनि स्वबस-बिहारिनि ॥८॥

अर्थ—(सीताजी) फिर से भवानी के मंदिर में गईं और चरणों की वंदना करके हाथ जोड़कर बोलीं ॥४॥ हे गिरिवर-राजकिशोरी! आपकी जय हो! जय हो! हे महादेवजी के मुख रूपी चन्द्रमा की चकोरी! आपकी जय हो! ॥५॥ हे गणेश और स्वामि कार्तिक की माता! जगदम्बे! बिजली की तरह कान्ति

युक्तशरीर वाली ! आपकी जय हो ! ॥६॥ आपके आदि और अंत का विराम (समाप्ति) नहीं है, आपका प्रभाव अपार है, उसे वेद भी नहीं जानते ॥७॥ आप संसार का उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाली हैं। संसार को विशेष मोहनेवाली और स्वतंत्र रूप से विहार करनेवाली हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गई भवानी-भवन ···'—'बहोरी' अर्थात् एक बार पहले ही पूजा कर चुकी हैं, अब फिर गईं, क्योंकि आते और जाते समय भी वन्दना करनी चाहिये। भीतरी अभिप्राय यह भी है कि जो मूर्ति हृदय में बसा आई हैं, वर माँग कर उसी को पुष्ट करें। चरण की वंदना करनी और हाथ जोड़ना प्रार्थना की उत्तम रीति है, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)। 'बोली'—साभिप्राय विशेषणों से अपना प्रयोजन जनाती हुई स्तुति करती हैं, यही रीति है। अतः, यहाँ गिरिजाजी के विशेषणों में परिकर अलंकार है।

(२) 'जय जय गिरिवर राज···'—यद्यपि गौरीजी का वर्तमान में सती-शरीर था, तथापि देवता के रूप-गुण इत्यादि अनादि होते हैं। इस नियम से श्रीजानकीजी ने गिरिजाजी का ही पूजन किया है। पूर्व दो० २२७ की चौ० ४ भी देखिये। गिरिजाजी से नाता भी है। श्रीजानकीजी भूमि की पुत्री हैं, और वे पहाड़ की। भू और भूधर में अपनापन है। गिरि परोपकारी होते हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि की करनी ॥" (उ० दो० १२४)। गिरिजाजी परोपकारी की कन्या हैं। अतः, मेरा भी उपकार करेंगी। गिरि-राज के यहाँ जन्म लेकर आपने अपने प्रतिकूल पति को भी अनुकूल कर लिया। मेरे पिता के प्रण को इन श्यामल वर के अनुकूल करके इनकी प्राप्ति का सुख मुझे दीजिये। 'महेस-मुखचंद-चकोरी।'—आप महान्-ईश अर्थात् परम समर्थ की सानुकूला पत्नी हैं, पति के द्वारा सामर्थ्य दिलाकर धनुष तोड़ाने का प्रबंध कर दीजिये। चकोरी चन्द्रमा में अनन्य होती है, वैसे ही आप अनन्य पतिव्रता हैं। मुझे भी वही धर्म प्राप्त कराइये कि इन्हीं श्यामल वर से ब्याह हो।

(३) 'जय गजबदन षडानन माता'—गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नहर्ता और मंगलदाता हैं; स्वामि कार्तिक महान् प्रतापी हैं। तारकासुर को मारकर देवताओं को बसाया है। वैसे ही मेरी भी मनोरथ-सिद्धि हो। शिवधनुष रूपी तारकासुर को श्रीरामजी द्वारा नष्ट कर मुझे अपने मनोरथ स्थान में बसावें। पुनः जैसे आपके दो प्रबल प्रतापी पुत्र हैं, वैसे मेरे भी हों; यह भाव भी गर्भित है जो—"राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौंड़ी बनाय माँग कोखि पोषि तोषि फैलि फूलि फरि कै। रहोगी···" (गी० बा० ७१) इस गिरिजा की असीस से सिद्ध है।

'जगतजननि दामिनि दुति गाता।'—अब नाता भी दिखाती हैं कि आप जगत् की माता हैं, मैं भी जगत् में हूँ। इससे मेरी भी माता हैं। अतः, रक्षा कीजिये, यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (आ० दो० ४३)। [कार्य-सिद्धि के लिये कोई नाता अवश्य चाहिये, यथा—"तोहिं मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।" (वि० ७९ ;)] अँधेरे में मार्ग नहीं सूझता, बिजली की चमक से देख पड़ता है, वैसे ही धनुष अंधकार है। यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २३८); जिससे मुझे भविष्य नहीं देख पड़ता, उसीसे पिता को भी हानि-लाभ कुछ नहीं सूझता, यथा—"समझत नहिं कछु लाभ न हानी।" (दो० २५७)। आप अपने प्रभाव से वह अंधकार मिटा दीजिये अथवा मेरे पिता का प्रण-सम्बन्धी अज्ञान-अंधकार दूर कीजिये।

(४) 'नहिं तव आदि अंत अवसाना।'—'आदि'—आपका जो दक्ष एवं गिरिराज के यहाँ जन्म और यज्ञ में शरीर-त्याग कहा जाता है, वह लीला-मात्र है। वास्तव में आप अनादि काल

से हैं और कब तक रहेंगी, इसका भी पता नहीं, यथा—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि ॥'''निज इच्छा लीला बपु धारिनि ॥" (दो० ६०)।

(४) 'भव-भव विभव''' बिस्व बिमोहनि'''—'भव' = संसार। 'भव' = उत्पत्ति। 'स्ववस बिहारिनि'—काल, कर्म की पराधीनता आपको नहीं है,—चाहें तो आप भाल के कुअंक भी मिटा सकती हैं। 'बिस्व-बिमोहनि' हैं, मेरे पिता को मोहित कर प्रतिज्ञा ही हटा दीजिये कि यों ही मुझे अभीष्ट वर से व्याह दें।

'जय जय गिरिवर''' में पिता-पक्ष की श्रेष्ठता, 'महेस मुख-चंद''' में पति-पक्ष की श्रेष्ठता और 'जय गज-बदन''' में पुत्र-पक्ष की श्रेष्ठता कही गई। पुनः—'दामिनि-दुतिगाता।' तक माधुर्य और फिर—'स्ववस बिहारिनि' तक ऐश्वर्य कहा गया।

दोहा—पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेख ॥२३५॥

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनी पुरारि - पियारी ॥१॥
देवि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ॥२॥
मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सबही के ॥३॥
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही ॥४॥

शब्दार्थ—पति-देवता = पति ही जिसका देवता (इष्टदेव) हो, पतिव्रता स्त्री। रेख = गणना।

अर्थ—हे माता! सुन्दर पतिव्रता स्त्रियों में आपकी ही प्रथम गणना है, आपकी महिमा निःसीम है, हजारों सरस्वती और शेष भी उसे नहीं कह सकते ॥२३५॥ हे वर देनेवाली! हे त्रिपुर के शत्रु शिवजी की प्यारी! आपकी सेवा करने से चारों फल सहजही में प्राप्त हो जाते हैं ॥१॥ हे देवि! आपके चरण-कमलों को पूजकर देवता, मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं ॥२॥ मेरे मनोरथ को आप भली भाँति जानती हैं, (क्योंकि) सभी के हृदय रूपी पुर में सदा बसती हैं ॥३॥ इसी कारण से मैंने उसे प्रकट नहीं किया—ऐसा कहकर वैदेही श्रीजानकीजी ने चरण पकड़ लिये ॥४॥

विशेष—(१) 'पतिदेवता सुतीय'''—पतिव्रता होने से ही 'सुतीय' हैं। 'प्रथम रेख' अर्थात् यह मार्ग पहले से आपने ही स्थापित किया है। इसलिये आप इस धर्म की आचार्या हैं, दूसरों के लिये भी आचरण करके आपने दिखा दिया। अतएव मुझे भी इस मार्ग पर आरूढ़ कर दीजिये। इस धर्म के सम्बन्ध से भी आपकी महिमा अमित है। शेष पाताल के हैं और शारदा ब्रह्मलोक की, बीच में इनसे बढ़कर कोई है ही नहीं। अतः, दो ही कहे गये। पूर्व—'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना।' कहा गया। यहाँ 'प्रभाव' से निर्गुण ऐश्वर्य कहा गया, इसीसे उसे न जान सकना कहा; क्योंकि वह जानने मात्र का विषय है। यथा—"जाहि न जानत बेद।" (दो० ५०)। महिमा माधुर्य-सम्बन्धी है, यह कहने की वस्तु है। अतः, यहाँ इसे अकथ्य कहा।

यहाँ अकथ्य महिमा पातिव्रत्य धर्म सम्बंध की है। यह धर्म ऐसा श्रेष्ठ है कि इससे अधम से अधम स्त्री भी परम गति को पा जाती है, जो योगियों को दुर्लभ है। यथा—"नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी।'''" से—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥" (आ० दो० ४-५) तक। शंका—प्राकृत पति की उपासना

से स्त्री परमगति कैसे पा सकती है ? समाधान—वह पति को परमेश्वर-रूप ही मानकर उपासना करती है, उसकी भावना के अनुसार सिद्धि होती है, विश्वास के लिये शास्त्र हैं। जैसे एक प्राकृत देहधारी पंडित वैदिक यज्ञ में ब्रह्मा बनाया जाता है, यह वैदिक विधि है, वैसे ही पतिव्रता अधम से अधम पति को भी परमेश्वर बना लेती है और उसके साथ स्वयं भी तर जाती है। जलधर और वृंदा की कथा इसका प्रमाण है।

(२) 'सेवत तोहि सुलभ ……' आपही की सेवा से चारों फल सुगमता से मिलते हैं। वे औरों की सेवा से अगम हैं। 'बरदायिनी'—आपसे बराबर सब को वर मिलता आया है, अंतर्भाव यह भी है कि मैंने प्रथम पूजा के समय 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा।' है, वह मिलना चाहिये, क्योंकि उस समय 'एवमस्तु' नहीं कहा गया था। 'पुरारिपियारी'—पिनाक धनुष ही से त्रिपुर का वध किया गया है। यथा—"घोर कठोर पुरारि-सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।" (गी० बा० ८७); "सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो०२१६)। आप शिवजी की प्यारी हैं। आपके कहने से वे इसे प्रेरणा करके हलका कर सकते हैं। पुन पूर्व—'महेस मुखचंद…' में इनकी प्रीति शिवजी में कही गई थी, क्योंकि चन्द्रमा में चकोरी की एकांगी प्रीति होती है। यहाँ 'पुरारिपियारी' से पति शिवजी की भी इनमें प्रीति कहकर अन्योन्य प्रेम सूचित किया गया।

(३) 'देवि पूजि पद-कमल…'-यहाँ फल के अधिकारी तीन ही कहे गये, सुर अर्थ के-"आये देव-सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०१)। नर कामना के "मनकामना सिद्धि नर पावा।" (उ० दो० १२८) और मुनि मोक्ष के—"ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ।" (आ० दो० ८) अधिकारी हैं अर्थात् मुनि प्राय. लीन ही होना चाहते हैं। ऊपर-'सेवत तोहि सुलभ फल चारी।' कहा था। उसमें एक फल 'धर्म' का अधिकारी नहीं कहा, वही अपने लिये बचा रक्खा है कि मेरे धर्म की रक्षा हो। जिनको हृदय में बसा आई हूँ, वे ही वर मिलें, तभी मुझे धर्मफल की प्राप्ति हो सकेगी।

(४ 'मोर मनोरथ जानहु नीके …'-आप अंतर्यामिनी रूप से सदा हृदय में बसती हैं। अतः, मेरे हृदय की कामना और उसके प्रकट न कहने का संकोच जानती हैं, यथा—"अंतर्यामिनि भवभामिनि स्वामिनि सों हों कही चहौं बात मातु अंत तौं हौं लरिकै॥" (गी० बा० ७०)। 'बसहु सदा'-सगुण रूप का सदा हृदयमें बसना दुर्लभ है, पर अंतर्यामी तो वहाँ बसा ही रहता है।

(५) 'कीन्हेउँ प्रगट न कारन …'-जब आप जानती ही है, तब मैं क्यों कहूँ ? ऐसा कह चरण पकड़कर देह की सुधि से रहित हो गईं। यथा—"अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ।" (दो० १५०)। पूर्व—'बंदि चरन बोलो करजोरी।' उपक्रम है और यहाँ—'अस कहि चरन गहे' उपसंहार।

इस उपक्रम और उपसंहार के बीच में प्रार्थना की रीती दिखाई गई कि प्रथम कुल की प्रशंसा, फिर स्वरूप की बड़ाई और तब उदारता कहकर वर माँगने से मनोरथ की सिद्धि होती है तथा आदि-अंत में प्रणाम भी करना चाहिये।

विनय - प्रेम - बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी ॥५॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरष हिय भरेऊ ॥६॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी ॥७॥
नारदवचन सदा सुचि साँचा। सो बर-मिलिहि जाहि मन राँचा ॥८॥

अर्थ—भवानी श्रीगिरिजाजी विनय और प्रेम के वश हो गईं। माला खिसक पड़ी और मूर्त्ति मुसुकाई ॥५॥ श्रीसीताजी ने आदरपूर्वक प्रसाद शिर पर धारण किया (पहन लिया)। गौरीजी का हृदय आनंद से भर गया और वे बोलीं ॥६॥ हे सीताजी ! सुनो, हमारी असीस सत्य है, तुम्हारे मन की कामना पूरी होगी ॥७॥ श्री नारदजी के वचन सदा पवित्र और सत्य हैं। जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है, वही वर तुमको मिलेगा ॥८॥।

विशेष—(१) 'बिनय-प्रेम-बस भई'''–'बिनय'–वचन, 'प्रेम'–मन, 'चरन गहे'–कर्म; सीताजी के इन तीनों से भवानी वश हो गईं।

विनय के शब्दों के भावों ने भवानी को वश कर दिया। जैसे—'गिरिबरराजकिसोरी' से गौरीजी को बालपन की सुधि आई कि पति की प्राप्ति केलिये हमें भी ऐसी ही आतुरता थी। इससे करुणा हुई। 'महेस-मुखचंद-चकोरी'–का भाव यह कि चकोरी की तरह हमारी एकांगी प्रीति थी, चन्द्रमा की तरह चन्द्रशेखर (शिवजी) उदासीन थे, उनके लिये हमने शरीर ही भस्म कर दिया, इससे और भी प्रेम उमड़ा। इसमें भाव यह है कि रघुपति परस्त्री से उदासीन हैं, और पिता का प्रण कठिन है, यदि वे न मिलें तो मैं (सीताजी) भी शरीर न रक्खूँगी। फिर माता का नाता कहकर दोनों चरण पकड़ लिये, यह कृत्य भी हृदयद्रावक है। 'बैदेही' शब्द हृदय की प्रेम-दशा को जना रहा है, इन कारणों से गिरिजाजी प्रेम-वश हो गईं। प्रसाद देने के विचार से माला खसका दी। यहाँ तक मूर्त्तिरूप में होने की मर्यादा का निर्वाह किया, क्योंकि मूर्त्ति पर से जो फूलमाला गिरकर अपनी ओर आवे, वह प्रसाद कही जाती है, इसी से आगे उस प्रसाद का शिरोधार्य करना कहा गया है; यथा—"मूरति कृपालु मंजुमाल दै बोलत भई ''" (गी० बा० ७०); फिर अधिक प्रेमवश होने से गिरिजाजी की मूर्त्ति-रूपता की सँभार नहीं रह गई। वे मुसुकाकर बोलीं। प्रसाद देने के लिये माला कहाँ थी ? यह शंका नहीं उठती, क्योंकि प्रथम ही–"पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।' कहा है। उसी समय माला पहनाई गई थी; क्योंकि पूजा में माला पहनाना मुख्य है।

यहाँ यह भी कहा जाता है कि गिरिजाजी जब वश में हो ही गई हैं, मुसुकाईं और बोली हैं तब चाहतीं तो आदर-पूर्वक ही माला-प्रसाद भी देतीं। मालाप्रसाद शिर में पहना देने की रीति है। यह गिरिजाजी ने नहीं किया, क्योंकि 'दूध का जला मट्ठा फूँककर पीता है' यह कहावत है। एक बार वे चूकी थीं। परीक्षा के लिये सीता-रूप बनाने पर त्यागी गईं। अब यहाँ सीताजी हृदय में श्रीरामजी को बसा आई हैं। इनके गले में माला डालने से कहीं वह श्रीरामजी में जयमाला न समझी जाय और भोलानाथ फिर वही बात न कर बैठें !

'मूरति मुसुकानी'–मुसकाने के भाव–(क) सीताजी विधिवत् पूजन करके वर माँगकर हमारी स्तुति कर रही हैं, हमारी प्रतिष्ठा बढ़ा रही हैं। अतः, गिरिजाजी हर्ष से मुसकुरा पड़ीं। (ख) हम इनका ऐश्वर्य जानती हैं। यथा—"जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो० १४८)। इस माधुर्य में हम भूलने की नहीं। अतः, मुसुकाने में गूढ़ व्यंग्य है। यथा—"सुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥''''''ऊमरि तरु बिसाल तव माया।'''ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहिं मनुज की नाईं ॥" (आ० दो० १३)। (ग) नारद-वचन की परीक्षा भी मिल गई, फिर भी बाल-स्वभाव के कारण संतोष नहीं है। यद्यपि हम वर भी देंगी; तथापि ये धनुष टूटने तक बारबार घबरायँगी।

(२) 'सादर सिय प्रसाद''''''—भूमि में गिरकर पड़ने से माला का आदर न रहा, क्योंकि मालाप्रसाद शिर में पहनाने की रीति है, पर मूर्त्ति के द्वारा मर्यादा से वैसा ही दिया गया। अतः, उसके प्रति

आदर देती हुई उस माला को लेकर माथे चढ़ाया और फिर गले में पहन लिया। प्रसाद को माथे चढ़ाने का नियम है। यथा—"सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा।" (अ० दो० १०१)।

'बोली गौरि हरष'……'—सीताजी की विधिवत् विनय से, प्रेम से, चरण पकड़ने से और फिर माला-प्रसाद शिरो-धार्य करने से गौरी का हृदय हर्ष से भर गया। जैसे श्रीजानकीजी ने मन, वचन और कर्म से प्रार्थना की थी, वैसे ही भवानी ने तीनों से वर भी दिया—'हरष हिय भरेऊ'—मन, 'बोली'—वचन और 'प्रसाद' दिया, यह कर्म है।

शंका—मूर्त्ति का हँसना अमंगल कहा जाता है, यह क्यों हुआ ?

समाधान—पाषाण-विग्रह में ठठाकर हँसना अमंगल कहा जाता है, पर यहाँ तो मुसकाना मात्र है। फिर यहाँ मूर्त्ति-रूप में देवी साक्षात् रूप में प्रकट हैं, बातें कर रही हैं, प्रसाद एवं आशीर्वाद देकर स्वयं मंगल जना रही हैं। यथा—"सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस…… "(दो० ३११)। अतः, यहाँ यह शंका नहीं है।

(३) 'सुनु सिय सत्य'……'—देवी की असीस सची ही होती है, पर दृढ़ता के लिये 'सत्य' कहती हैं। फिर भी सीताजी बाल-स्वभाव से आगे धनुर्भंग के समय घबरा जायँगी। 'मनकामना'—श्रीकिशोरीजी ने कहा था—"मोर मनोरथ जानहु नीकें" उसीको 'मनकामना' कहा है।

(४) 'नारद-बचन सदा सुचि'……'—श्रीकिशोरीजी श्रीरामजी की सुकुमारता और धनुष की कठोरता पर घबरा उठी हैं। नारदजी के वचनों पर प्रतीति नहीं रह गई, इसलिये गिरिजाजी उनका सदा सत्य होना कहती हैं। यथा—"बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद-बचन अन्यथा नाहीं॥" (दो० ७०); ऊपर अपनी असीस को 'सत्य' कहा था, यहाँ 'नारद-बचन' को 'सदा सुचि साँचा' कहा। भाव यह कि मैं देवी हूँ और वे तो देवर्षि हैं। अत', उनके वचनों का गौरव अधिक है। वे गिरिजाजी के गुरु भी हैं। अत, उनके वचन श्रेष्ठ हैं ही। 'सदा' क्योंकि इन्हें परीक्षा मिल चुकी है। 'सुचि'—जैसे हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी ने वर दिया, वह सचा था, पर उसमें उसकी मृत्यु के कारण गुप्त थे। पर यहाँ नारद के वचनों में कोई कारण गुप्त नहीं है, वे शुद्ध सचे हैं।

'सो बर मिलिहि जाहि'……'—'नारद-बचन' के अनुसार ही श्रीकिशोरीजी का मन श्रीरामजी में रँगा है। दो० २२९ देखिये। उसीको लेकर गिरिजाजी असीस दे रही हैं। पूर्वार्द्ध में 'नारद-बचन' की महिमा कही, उत्तरार्द्ध में उसे प्रकट कर रही हैं अर्थात् नारदजी ने यही कहा था कि फुलवारी में जिससे तुम्हारा मन रँग जायगा, वही वर मिलेगा।

छंद—मन जाहि राँचेउ मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।
करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो॥
येहि भाँति गौरि-असीस सुनि सिय-सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहिं पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली॥

दोहा—जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय हरष न जाइ कहि।
मंजुल - मंगल - मूल, बाम अंग फरकन लगे॥२३६॥

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है, वही सहज (स्वाभाविक ही=बिना सजे-धजे) सुंदर, श्यामल पति तुम्हें मिलेगा। वे करुणानिधान और सुजान हैं, तुम्हारे शील और स्नेह को जानते हैं॥ इस प्रकार श्रीगौरीजी की असीस सुनकर श्रीसीताजी के साथ सब सखियाँ हर्षित हुईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे बार-बार भवानी की पूजा करके प्रसन्न मन से घर को चलीं॥ गौरीजी को अपने अनुकूल जानकर श्रीसीताजी के हृदय को जो हर्ष हुआ, वह कहा नहीं जा सकता। (उनके) सुन्दर मंगल के कारण (सूचक) बायें अंग फड़कने लगे॥२३६॥

विशेष—(१) 'मन जाहि राँचेउ······'—श्रीकिशोरीजी ने स्तुति में इनमें अन्तर्यामित्व भाव प्रकट किया था, उसी का यहाँ चरितार्थ है। 'मोर मनोरथ जानहु नीके' के उत्तर में 'पूजिहि मनकामना' कहा। पर मन-कामना खुली नहीं थी, अतः—'मिलिहि सो वर' कहा अर्थात् जो इन्होंने—'निज अनुरूप सुभग वर माँगा।' था; पर इसमें भी वर का स्पष्टीकरण नहीं हुआ, इसलिये 'सहज सुंदर साँवरो' कहा।

यहाँ वर देना तीन बार कहा गया—(क) 'पूजिहि मनकामना तुम्हारी।' (ख) 'सो वर मिलिहि···' (ग) 'मन जाहि राचेउ मिलिहि···'। गिरिजाजी ने अपने वचनों की दृढ़ता के लिये तीन बार कहा है। यथा—"पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना।···सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥" (दो॰ १५१)।

(२) 'करुनानिधान सुजान······'—'सुजान' हैं, इससे शील-स्नेह जान लेंगे। यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ॰ दो॰ ३१२)। शील और स्नेह-गुण श्रीजानकीजी में विशेष रूप से हैं, इसीसे माता सुनयना ने भी कहा है—"तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी।" (दो॰ ३३६)। इन गुणों पर करुणा अवश्य होती है। रामजी करुणा के निधान भी हैं। गिरिजाजी इन दो गुणों का परिचय पा चुकी हैं। यथा—"मन महँ रामहि सुमिरि सयानी।" (दो॰ ५८); तब सुजान श्रीरामजी ने जान लिया और शीघ्र ही वैसा संयोग कर दिया। पुनः शिवजी से इनका सम्बन्ध कराने में भगवान् का करुणा-गुण भी प्रकट हुआ था। यथा—"अति पुनीत गिरिजा के करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥······जाइ बिबाहहु सैलजहि·····" (दो॰ ७६)।

'सिय सहित हिय···'—यहाँ श्रीसीताजी के भीतर हर्ष अधिक है, पर ये संकोच के कारण छिपाये हुई हैं, क्योंकि इन्हें तो पहले भी गुप्त रूप से 'मन-कामना पूजिहि' के वर में ही उत्तर मिल गया था। पर यहाँ वर के लक्षण आदि प्रकट कहे गये, उन्हें सखियों ने भी सुना, इससे इन सबको प्रकट में विशेष हर्ष हुआ। अतः, हर्ष में सखियाँ ही प्रधान हैं।

(३) 'तुलसी भवानिहि पूजि···'—'पुनि-पुनि'—श्रीकिशोरीजी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उत्साह-पूर्वक बार-बार गिरिजाजी की पूजा करती हैं, यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।" (दो॰ २३५)। मन-भाया वर मिला है। इसलिये अत्यंत प्रेम है, बार-बार पूजा करती हैं। "गई मुदित मन गौरिनिकेता।" में उपक्रम है और—"मुदित मन मंदिर चली।" पर उपसंहार। उपक्रम में पूजा के उत्साह में मुदित थीं और यहाँ वर पाने से 'मुदित मन' हैं। 'तुलसी'—वर पाने के लिये 'तुलसी' भी मानसिक रूप से पूजन में सम्मिलित हो गये कि ये ही श्याम सुन्दर मेरे भी पति हों। साथ ही वर पाने से ये भी मुदितमन हैं।

(४) 'जानि गौरि अनुकूल···'—मंदिर के भीतर थीं, तब सखियों का हर्ष प्रधान था। यहाँ मार्ग में श्रीजानकीजी का हर्ष प्रधान है जो सर्वथा अकथ्य है, उसको प्रकट करने के लिये एक सोरठा पृथक् ही लिखा गया। हर्ष के कारण भी इसीमें कहे गये हैं—गौरी का अनुकूल होना और मांगलिक वाम अंगों के फड़कना आदि हैं।

फुलवारी में श्रीसीताजी का आना पीछे कहा गया था, इसीसे इनका जाना पहले कहा गया। पुनः राजकुमारों का आना पहले हुआ था तो उनका जाना भी पीछे हुआ। अतः, तुल्य वर्णन है।

हृदय सराहत सीय-लोनाई। गुरुसमीप गवने दोउ भाई॥१॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥२॥
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही॥३॥
सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे। राम लखन सुनि भये सुखारे॥४॥

अर्थ—दोनों भाई गुरुजी के समीप चले। (श्रीरामजी) हृदय में सीताजी की सुन्दरता सराहते जाते हैं॥१॥ श्रीरामजी ने श्रीविश्वामित्रजी से सारा हाल कह दिया (क्योंकि आप) सरल स्वभाव हैं, छल छू भी नहीं गया है॥२॥ फूल पाकर मुनि ने पूजा की, फिर दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया —॥३॥ 'तुम्हारे मनोरथ सुफल हों'— यह सुनकर श्रीराम-लक्ष्मण सुखी हुए॥४॥

विशेष—(१) पूर्व श्रीकिशोरीजी का 'मंदिर' जाना कहा; क्योंकि उनका मंदिर है, यथा—"सिय-निवास सुंदर सदन" (दो० २११)। अब यहाँ से श्रीरामजी का प्रसंग कहते हैं। ये यहाँ गुरुजी के समीप से आये थे अतः, वहीं को लौटना भी कहा। प्रथम—"लेन प्रसून चले दोउ भाई।" कहा था, उसीके जोड़ में यहाँ दोनों भाइयों का लौटना भी कहा गया। अन्यथा यह समझा जाता कि एक किसी कार्य से वहीं रह गये होंगे।

मानस मुखबंध में ग्रंथकार ने कहा है—"जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥" (दो० ३७) अर्थात् ग्रंथ का पूर्वापर प्रसंग देखकर अर्थ करना चाहिये। यहाँ आपाततः अक्षरार्थ लेने से 'हृदय सराहत' के कर्त्ता 'दोउ भाई' होते हैं, पर यह अयोग्य है। पूर्व में सराहना केवल श्रीरामजी की ही कही गई है। इसलिये चौपाई का अर्थ अवरेब से करना चाहिये। अन्वय करने में "गुरु समीप गवने दोउ भाई।" पहले पढ़कर तब -"हृदय सराहत सीय लुनाई" कहना चाहिये, तो आगे "राम कहा सब .." से सम्बंध भी मिल जाता है, क्योंकि निश्छल हार्दिक भाव से प्रेरित होकर आपने गुरुजी को सारा समाचार कह सुनाया।

(२) 'राम कहा सब कौसिक...'—सरल स्वभाव का अर्थ यहाँ खोला गया है कि जो भीतर हो, उसे ज्यों-का-त्यों कहना ही सरलता है। विशेष करके गुरु से तो दुराव करना मना है, यथा—"होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव॥" (दो० ४५)। 'छुआ छल नाहीं'—जैसे किसी काल-कर्म की प्रबलता से संतों के मन में छल आ भी जाता है, यही छू जाना है, तो वे उसे विचार-द्वारा हटा देते हैं। पर श्रीरामजी के हृदय में छल का स्फुरण ही नहीं होता, क्योंकि आप सत्यव्रत हैं।

(३) 'पुनि असीस दुहुँ...'—जब श्री रामजी ने सारा समाचार कह सुनाया तब गुरुजी ने उसी समय असीस क्यों नहीं दी, प्रत्युत पूजा करके दी? इसका उत्तर यह है कि धर्मशास्त्र से फूल लिये हुए प्रणाम और आशीर्वाद दोनों का देना मना है, अन्यथा वे फूल फिर देवता के योग्य नहीं रहते। यथा—"पुष्पहस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यंगे जले स्थिते। आशीर्नमस्कर्त्तारावुभौ नरकगामिनौ॥" (कृत्यार्णव)। इसलिये मुनि ने फूल लेकर पूजा करके तब असीस दी और फूल लिये हुए थे, इसलिये राजकुमारों ने प्रणाम भी नहीं किया, अन्यथा फूल व्यर्थ होते। यह धर्मशास्त्र की सँभाल एवं लोक-शिक्षा भी है।

(४) 'सुफल मनोरथ होहिं...'—यहाँ आशीर्वाद दोनों भाइयों को दिया गया, पर मनोरथ श्री रामजी ने ही प्रगट किया था, तुलसी और पुष्प लाने में लक्ष्मणजी भी साथ थे, उन्हें अपना मनोरथ नहीं है, किन्तु श्रीरामजी की मनोरथ सिद्धि ही उनका मनोरथ है। 'मनोरथ होहिं' यह बहुवचन है श्रीरामजी के मनोरथ चारो भाइयों का साथ ही व्याह होने के लिये हैं। यथा—"जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥ करनबेध उपबीत..." (अ॰ दो॰ १)। अत, आशीर्वाद के वचन वैसे ही कहे गये। नहीं तो यही कह देते, कि तुम्हें वह कन्या मिले।

करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥५॥
बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई ॥६॥
प्राचीदिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा ॥७॥
बहुरि, बिचार कीन्ह मन माहीं। सीय-बदन - सम हिमकर नाहीं ॥८॥

दोहा—जनम सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक ॥२३७॥

अर्थ—विज्ञानी मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्रजी भोजन करके कुछ पुरानी कथाएँ कहने लगे ॥५॥ दिन बीतने पर मुनि की आज्ञा पाकर दोनों भाई सध्या करने चले ॥६॥ पूर्व दिशा में सुहावना चन्द्रमा उदित हुआ। श्रीजानकीजी के मुख के समान देखकर सुख पाया ॥७॥ फिर मन में विचार किया कि श्रीजानकीजी के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है ॥८॥ समुद्र से तो इसका जन्म है और विष इसका भाई है, दिन में मलीन रहता है और कलंकी है। वेचारा (शोभा का) दरिद्र चन्द्रमा सीताजी के मुख की बराबरी कैसे पा सकता है? ॥२३७॥

विशेष—(१)'करि भोजन मुनि···'—जहाँ भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है, वहाँ भोजन करके विश्राम करना कहा है। यथा—"रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" (दो॰ २१०)। जहाँ मुनि की प्रधानता है, वहाँ भोजन करके कथा में बैठना कहा है, क्योंकि मुनियों का कालक्षेप कथा में ही हुआ करता है। यह भी कहा जाता है कि आज राजकुमार का चित्त चंचल है, इसलिये मुनि कथा सुनाने लगे, जिससे उनका मन बहले।

(२) 'बिगत दिवस गुरु···'—कोई बड़ी रोचक कथा थी जो दोपहर से संध्या पर्यंत हुई। फिर भी किसी की उठने की इच्छा नहीं हुई। मुनि की आज्ञा से संध्या करने चले। 'चले' अर्थात् गाँव से बाहर नदी, तालाब आदि पवित्र स्थान पर जाना सूचित किया।

(३) 'प्राची दिसि ससि उयेउ ···'—पूर्व दिशा की ओर संध्या करने गये, इससे सामने चन्द्रमा देखने में आया। इधर दिन बीता और उधर चंद्रोदय हुआ, इससे पूर्णिमा का चन्द्रमा जनाया और इसीसे 'सुहावा' भी कहा। श्रीजानकीजी का मुख देखकर सुख पाया था, यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा।" (दो॰ २११); वैसे ही सुख यहाँ भी मिला। यहाँ 'स्मरण' अलंकार है।

संध्या करने चले, पर कर न सके, क्योंकि चित्त व्यग्र था, इसी से 'संध्या की' ऐसा नहीं लिखा गया। पुनः सायंकाल की संध्या पश्चिम मुख बैठकर की जाती है, पर आपका पूर्व मुख बैठना

पाया जाता है, तभी तो सामने पूरब में चन्द्रमा देख रहे हैं। नित्य गुरु-सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम-मात्र करना लिखा है। यथा—"करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा।" (दो० २३७)। पूर्व शयन करना कहा गया था। यथा—"रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही।" (दो० २२५)। आज केवल विश्राम करना ही लिखा है, यथा—"आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा।" (दो० २३७) अर्थात् नींद भी नहीं पड़ी। इन सब का कारण ग्रंथकार ने स्पष्ट भी कहा है, यथा—"हरषीं सहेली, भयो भावतो गावतीं गीत, गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै॥" (गी० बा० ७०)। इसीसे संध्या में श्रीकिशोरीजी का ही ध्यान और उन्हीं की शोभा-वर्णन रूपी स्तुति भी हुई।

किसी-किसी का यह भी मत है कि विधिवत् संध्या करके तब चन्द्रमा की शोभा का वर्णन करने लगे। ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से ही सब जना देते हैं। यथा—"रघुबर संध्या करन सिधाये" (अ० दो० ८८); वहाँ भी संध्या अवश्य की गई है, पर कहा नहीं गया है। इसी प्रकार अन्य दिनों की भाँति आज भी गुरु-सेवा करके ही शयन में आये होंगे। पूर्व में नित्यचर्या कह दी गई है।

(४) 'बहुरि बिचार कीन्ह मन ···'— एकाएक दृष्टि पड़ने पर चंद्रमा की शोभा मात्र में सीताजी के मुख को समता पाकर सुखी हुए, पर विरही को चन्द्रमा दाहक होता है। इससे कुछ ही देर में दाहकत्व होने से उसमें दोष देख पड़े, तब विचार करने पर बहुत दोष देखने (समझने) में आये। वही कहते हैं—'हिमकर'—अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला वर्षा कर सबको जड़ कर देता है। यहाँ प्रतीप अलंकार का चौथा भेद है। पर, 'सिय-मुख समता पाव किमि ···' में प्रतीप का तीसरा ही भेद समझना चाहिये।

(५) 'जनम सिंधु पुनि···'—जन्म-स्थान, संग, शरीर और स्वभाव—इन चार से उत्तमता एवं निकृष्टता जानी जाती है। चन्द्रमा का जन्मस्थान समुद्र-जड़ है। संग विष का है, क्योंकि मंथन के समय हालाहल विष समुद्र से ही प्रथम निकला था, पीछे चन्द्रमा भी निकला। अतः, विष इसका बड़ा भाई है। इसके यह उसका अनुयायी (दाहक) होगा ही। दिन में मलीन रहता है और गुरु-पत्नी-गमन से कलंकी है एवं शरीर रोग-ग्रस्त है। आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ··" आदि में स्वभाव की भी निकृष्टता कही है। इसकी चारो प्रकार की निकृष्टता कही गई। असंबंधातिशयोक्ति अलंकार है।

घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥१॥
कोक-सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥२॥
बैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥३॥
सिय-मुख-छबि बिधु-ब्याज बखानी। गुरु पहिं चले निसा बड़ि जानी॥४॥
करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥५॥

अर्थ—यह घटता-बढ़ता और वियोगियों को दुःख दिया करता है, अपनी संधि पाकर राहु इसे ग्रस लेता है॥१॥ चकोर-चकवई को शोक देनेवाला और कमल का द्रोही है। हे चन्द्रमा! तुममें बहुत अवगुण हैं॥२॥ विदेहकुमारी श्री सीताजी के मुख से उपमा देना—यह अनुचित कर्म है। इसके करने से बड़ा दोष होगा॥३॥ चन्द्रमा के बहाने श्री सीताजी के मुख की छबि का वर्णन कर और रात बहुत गई जानकर गुरु के पास चले॥४॥ मुनिके चरण-कमलों में प्रणाम कर, आज्ञा पा, विश्राम किया॥५॥

विशेष—(१) 'घटइ बढ़इ बिरहिनि···'—घटना प्रत्यक्ष दोषरूप है। बढ़ने पर भी प्रथम तो विरहियों

को दुःख देता रहता है। फिर पूर्ण होनेपर 'संधि' अर्थात् अवसर पाकर, पूर्णिमा और प्रतिपदा के योग में राहु इसे ग्रसता है। अतः, बढ़ना भी दोष-रूप ही है।

जीव तीन स्थलों के होते हैं, यथा–"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० १)। तीनों को चन्द्रमा दुःखदायी है। यह सिद्ध करने के लिये तीनों के एक-एक उदाहरण देते हैं—'विरहिनि'–स्थलचर, 'कोक'–नभचर और 'कमल'–जलचर। उदाहरण–"पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥" (सुं० दो० ११); "ससि-कर छुवत विकल जिमि कोकू।" (अ० दो० २८); "सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥" (अ० दो० ७०)।

(२) 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।'–अभी तक कहते रहे। अवगुण बहुत हैं। कबतक कहेंगे? अतः, छोड़ दिया। श्रीसीता जी के पटतर में इसे अवगुणनिधि कहकर उन्हें गुण-निधि जनाया। 'होइ दोष बड़'–इसमें 'बड़' दीप-देहली है। इस तरह मानों कवियों को मना करते हैं कि वे श्रीकिशोरीजी का पटतर इससे न दें।

(३) 'प्रिय-मुख-छवि बिधु…',–यहाँ बखान करना मन-ही-मन हुआ, क्योंकि प्रथम ही कह दिया गया है, यथा–"बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं।" यहाँ से यहाँ तक बखान करना है। 'निसा बड़ि जानी'–बहुत रात बीत गई, शयन का समय हो गया (आधी रात बीत गई); क्योंकि पहुँचकर तुरंत आसन पर जाकर लेटना कहा गया है।

इस पुष्प-वाटिका-प्रसंग में श्रीरामजी और श्रीसीताजी के दो पक्ष समान कहे गये हैं—

श्रीरामजी	श्रीजानकीजी
१—जाइ नहाये	मज्जन करि सर
२—समय जानि	तेहि अवसर
३—गुरु-आयसु पाई	जननि पठाई
४—लेन प्रसून	गिरिजा-पूजन
५—संग अनुज	संग सखी
६—लगे लेन दल फूल मुदित मन	गईं मुदित मन
७—अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	लता-ओट तब सखिन्ह लखाये
८—सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा	सरद ससिहि जनु चितव चकोरी
९—भये बिलोचन चारु अचंचल	थके नयन रघुपति छबि देखे
१०—मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल	पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषे
११—देखि सीय-सोभा सुख पावा	देखि रूप लोचन ललचाने
१२—हृदय सराहत बचन न आवा	अधिक सनेह देह भइ भोरी
१३—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु—	लोचन-मग रामहि उर आनी—
१४—आपनि दसा बिचारि	दीन्हे पलक कपाट सयानी
१५—सहज पुनीत मोर मन छोभा	सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा
१६—फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	बाम अंग फरकन लगे
१७—चले बिच भीतो सिखि लीन्ही	चली राखि उर स्यामल मूरति
१८—गुरु समीप गवने दोउ भाई	गईं भवानी-भवन बहोरी

१९—राम कहा सब कौसिक पाहीं सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।	मोर मनोरथ जानहु नीके बसहु सदा उर-पुर सब ही के॥ कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।
२०—सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	बिनय-प्रेम-बस भई भवानी
२१—पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही	सुनु सिय सत्य असीस हमारी
२२—सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे	सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा
२३—राम लखन सुनि भये सुखारे	प्रिय-हिय हरष न जाइ कहि

यह पुष्पवाटिका-प्रसंग प्रसन्नराघव नाटक के द्वितीय अंक में वर्णित है। उसके कतिपय अंश यहाँ के प्रसंगों से मिलते हैं।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण समाप्त

धनुष-यज्ञ-प्रकरण

बिगतनिसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज-लोक-कोक-सुख-दाता॥७॥
बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदु बानी॥८॥

अर्थ—रात बीतने पर रघुनाथजी जागे। भाई को देखकर ऐसा कहने लगे॥६॥ हे तात! कमल, लोक और चक्रवाक को सुख देनेवाला अरुण-उदय हुआ, देखो॥७॥ लक्ष्मणजी हाथ जोड़कर प्रभु के प्रभाव को सूचित करनेवाले कोमल वचन बोले॥८॥

विशेष—(१) 'बंधु बिलोकि'—अर्थात् लक्ष्मणजी प्रथम ही उठकर पास बैठे थे।

(२) 'उयेउ अरुन अवलोकहु'''—प्रातः काल के सूर्य के दर्शन करने को शास्त्र में आज्ञा है। अतः, लक्ष्मणजी से देखने को कहते हैं। यह भी जान पड़ता है कि विरह में आँखें नहीं लगीं। प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते थे। तीन दंड रात रहने पर पूर्व दिशा में कुछ ललाई आ जाती है, उसे ही अरुणोदय कहते हैं। यथा—"पञ्चपञ्च उषाकालः सप्तपञ्चारुणोदयः। अष्टपञ्च भवेत्प्रातः शेषः सूर्योदयो मतः।" (कृत्यशिरोमणि)। पूर्व चन्द्रमा का तीनों स्थलों के जीवों के लिये दुःखदायी होना कहा था, उन्हीं तीनों के लिये सूर्य का सुखदायी होना कहते हैं, कमल जलचर, कोक नभचर और लोक अर्थात् मनुष्य स्थलचर; मनुष्यों में विशेष कर विरही लोगों से तात्पर्य है। श्रीरामजी स्वयं विरही हैं। अतः, चन्द्रमा तप्त, दुःखदायी और सूर्य सुखद लगता है।

(३) 'बोले लखन'—यहाँ श्रीरामजी के हृदय की व्यग्रता का लक्ष्य करके सांत्वना देते हुए लक्ष्मणजी उनका प्रभाव कहेंगे, जिससे यह सिद्ध होगा कि धनुष प्रभु ही तोड़ेंगे। इससे प्रभु को प्रसन्नता होगी। प्रभु के हृद्गत भाव लक्ष्य करने के सम्बन्ध से 'लखन' कहा गया है। 'जोरि जुग पानी'—यह शिष्टाचार है। पुनः यह भी भाव है कि आपके (श्रीरामजी के) विषय में वेद भी नेति-नेति कहते हैं, मेरे (लक्ष्मणजी के) कहने के दोषों और चपलता को क्षमा कीजियेगा।

दोहा—अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन ॥२३८॥

नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी ॥१॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा-अवसाना ॥२॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥३॥

अर्थ—अरुणोदय होते ही कुमुद (कुई) संकुचित हो गये, तारागण प्रकाशहीन हो गये। वैसे आपका आगमन सुनकर राजा लोग बलहीन हो गये हैं ॥२३८॥ सब राजा रूपी नक्षत्र उजाला करते हैं, पर धनुष रूपी भारी अंधकार को नहीं हटा सकते ॥१॥ रात के अंत होने से अनेक कमल, चकवाक, भ्रमर और पक्षी—सभी हर्षित हुए ॥२॥ इसी प्रकार, हे प्रभो! आपके सब भक्त धनुष टूटने पर सुखी होंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'अरुनोदय सकुचे···'—इसमें दो उपमेयों के लिये एक उपमान नृपति कहा है। यथा—"सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रवि कुमुदगन।" (दो० २४१); पुनः—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीपछवि छूटे॥" (दो० २६२); अर्थात् कुमुद के द्वारा राजाओं की प्रतापहीनता और उडुगण के द्वारा तेजोहीनता कही गई। ये दोनों गुण एक-एक प्रकार के बल हैं।

(२) 'टारि न सकहिं···'—सब तारागण मिलकर भी अंधकार का निवारण नहीं कर सकते, वैसे सब राजगण एक साथ भी लगकर भारी धनुष नहीं हटा सकेंगे।

(३) 'कमल कोक मधुकर ··ऐसेहि···'—कमल आदि रात के रहते चिन्तित रहते हैं, सूर्य के उदय पर सुखी होते हैं। वैसे यहाँ श्रीजानकीजी कमल की तरह प्रभु के प्रताप रूप सूर्य के उदय के आश्रित हैं, अन्यथा वे सम्पुटित ही रह जायँगी। उनके माता-पिता चकवे-चकई की तरह चिंतित हैं। श्रीजानकीजी की सखियाँ भ्रमरों की तरह हैं, इन्हें श्रीजानकी के ही सुख में सुख है। जैसे कमल के विकास में भ्रमरों को सुख होता है। 'नाना खग' की तरह जनकपुर के रहनेवाले हैं। ये सब धनुष टूटने ही पर सुखी होंगे। उपमाओं में कहीं-कहीं लिंग-विरोध भी हो तो ग्रहण करना चाहिये—यदि धर्म मिलते हों, जैसे—"सरसइ ब्रह्म बिचार···" (दो० १)। यहाँ ज्ञानी, आदि चार प्रकार के भक्तों को धनुर्भंग के निमित्त दुःख का प्रसंग नहीं है और उपर्युक्त लोगों में दुःख और सुख पूर्णतया घटित हैं। दुःख के उदाहरण ऊपर कह आये हैं। सुख के उदाहरण—"सीय-सुखहिं बरनिय केहि भाँती।" (दो० २६२)। सखियाँ इनके साथ ही सुखी हैं—"सखिन्ह सहित हरषी सब रानी।" "जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।" (दो० २६२), "मुदित कहहिं जहँ-तहँ नर-नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी॥" (दो० २६१)।

उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेज प्रकासा ॥४॥
रबि निज-उदय-ब्याज रघुराया। प्रभु-प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ॥५॥
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी ॥६॥
बंधुबचन सुनि प्रभु मुसकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने ॥७॥

नित्यक्रिया करि गुरु पहिं आये। चरनसरोज सुभग सिर नाये ॥८॥

शब्दार्थ—बिघटन = तोड़ने को। परिपाटी = रीति, परंपरा, प्रणाली। उदघाटी = उदयाचल की घाटी, खोलना।

अर्थ—सूर्य के उदय से बिना श्रम के अँधेरा मिट गया, नक्षत्र छिप गये और जगत् में तेज का प्रकाश हुआ ॥४॥ हे रघुनाथजी! सूर्य ने अपने उदय के बहाने से प्रभु (आप) का प्रताप सब राजाओं को दिखाया है ॥५॥ आपकी भुजाओं के बल की महिमा को खोलकर दिखाने के लिये धनुष तोड़ने की यह परंपरा प्रकट हुई है अथवा आपकी भुजाओं के बल की महिमा उदयाचल की घाटी है जहाँ से धनुष तोड़ने की परिपाटी-द्वारा उपर्युक्त प्रताप-रूपी सूर्य प्रकट होता है; क्योंकि उदयाचल की घाटी में आने से ही सूर्य को संसार जानने लगता है ॥६॥ भाई के वचन सुनकर प्रभु मुसुकाये, जो स्वाभाविक ही पवित्र हैं। वे शौच आदि से निवृत्त होकर नहाये ॥७॥ नित्य कर्म करके गुरु के पास आये और उनके चरण-कमलों में सुन्दर शिर झुकाया ॥८॥

विशेष—(१) 'रवि निज-उदय······प्रभु-प्रताप ···'—श्रीरामजी का प्रताप सूर्य है, यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा ॥" (उ० दो० ३०)। राजा लोग उडुगण (तारे) हैं, यथा—"देखियत भूप भोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। यहाँ सूर्य ने दिखाया है कि जैसे भारी अंधकार तारागण से नहीं हट सका था, वह हमारे उदय से बिना श्रम ही मिट गया, वैसे सब राजा लोग श्रम से भी धनुष नहीं हटा सकेंगे और हमारे कुल के भूषण श्रीरामजी ही उसे तोड़ेंगे। राजाओं को तारागण कहा, क्योंकि वे बहुत हैं। यद्यपि चन्द्रमा भी सूर्य के सामने निस्तेज हो जाता है, तथापि यहाँ नहीं कहा, क्योंकि वह एक ही है और कुछ अंशों में अंधकार हरता भी है, पर ये राजा अनेक हैं और धनुष को तिल भर भी नहीं हटा सकेंगे। पुनः आगे श्रीरामजी को चन्द्रमा भी कहना है, यथा—"राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ॥"

(२) 'बंधु वचन सुनि प्रभु ······'—'मुसकाने'—बड़ों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर सकोच से मन में ही मुसकाते हैं। यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने ॥" (अ० दो० १२७); लक्ष्मणजी छोटे हैं। अतः, संकोच नहीं है और प्रकट में मुसकुराये। 'प्रभु'—क्योंकि राजाओं का स्वभाव होता है कि प्रशंसा सुन मुसकाकर प्रशंसक का मन रखते हैं।

'बंधु बिलोकि कहन अस लागे।'—उपक्रम है, और 'बंधु-बचन सुनि ·····'—उपसंहार।

(३) 'नित्यक्रिया करि···',-नित्य नियम करके गुरु को प्रणाम करना चाहिये। इससे नित्य-कर्म की भूलचूक भी पूर्ण हो जाती है। प्रभु सब को शिक्षा देते हैं, क्योंकि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपना नित्य-नियम गुरुजनों के सामने से अलग करना चाहिये। 'सुभग सिर' प्रभु अपने आचरण से उपदेश देते हैं कि वे ही शिर सुभग हैं, जो हरि और गुरु को प्रणाम करें, यथा-"ते सिर कटुतुम्बरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु पदमूला ॥" (दो० ११३)।

सतानंद तब जनक बोलाये। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाये ॥ ९ ॥
जनकबिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई ॥१०॥

दोहा—सतानंद-पद बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा जनक बोलाइ ॥२३६॥

अर्थ—तब श्रीजनकजी ने श्रीशतानंदजी को बुलवाया और शीघ्र ही विश्वामित्रजी के पास भेजा ॥९॥ उन्होंने आकर राजा जनक की प्रार्थना सुनाई। मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने दोनों भाइयों को बुला लिया ॥१०॥ श्रीशतानंद जी के चरणों को प्रणाम करके प्रभु गुरुजी के पास जा बैठे। तब मुनि ने कहा—हे तात ! चलो, राजा जनक ने बुला भेजा है ॥२३९॥

विशेष—(१) 'सतानंद तब···'—विश्वामित्र महा मुनि हैं, उनके सम्मान के लिये अपने गुरु को भेजा और सबसे प्रथम। अन्य राजाओं के यहाँ मंत्रियों को भेजा। मुनि महात्मा हैं, इससे भी इनके यहाँ महात्मा ही को भेजा। 'तुरत'-जिससे भीड़ न होने पावे, मुनि आ जायँ और वे प्रथम ही सम्मान-सहित बैठा दिये जायँ। राजा ने अपनी ओर से यह उचित किया। पर मुनि पीछे जायँगे, यह इन्हें उचित है, क्योंकि बड़े लोग सभा में पीछे आते हैं।

(२) 'बोलि लिये'—श्रीरामजी नित्य-क्रिया करके गुरुजी को प्रणाम कर मुनि-मंडली को प्रणाम करते थे, इससे पास ही थे, अतः मुनि ने बुला लिया। यह साधुओं में नियम है कि नित्य-नियम करके गुरु को प्रणाम कर फिर पास के सब लोगों को प्रणाम करना चाहिये।

(३) 'मुनि कहेउ तब'—जब श्रीरामजी शतानंदजी की वंदना करके आसन पर बैठ गये, तब मुनि ने कहा ; अन्यथा ज्यों-के-त्यों खड़े ही रह जाते, इससे मुनि का प्रेम जाना गया।

यहाँ शतानंदजी की वंदना की। प्रथम जब ये जनकजी के साथ मिलने आये थे, तब नहीं की थी, क्योंकि परिचित न थे और सब ब्राह्मणों के साथ ये भी खड़े हुए थे, फिर कैसे जानते ?

सीय-स्वयंबर देखिय जाई। ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥१॥
लखन कहा जसभाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई ॥२॥
हरषे मुनि सब सुनि बरबानी। दीन्हि असीस सबहिं सुख मानी ॥३॥
पुनि मुनि-बृंद-समेत कृपाला। देखन चले धनुष-मखसाला ॥४॥

अर्थ—चलकर श्रीसीताजी का स्वयंवर देखिये। देखें, ईश्वर किसे बड़ाई देते हैं ? ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, हे नाथ ! यश का पात्र वही होगा, जिसपर आपकी कृपा होगी ॥२॥ इस श्रेष्ठ वाणी को सुनकर सब मुनि प्रसन्न हुए और सुख मानकर सभीने आशीर्वाद दिया ॥३॥ फिर कृपालु श्रीरामजी मुनि-समूह के साथ धनुष-यज्ञशाला देखने चले ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय स्वयंबर देखिय···'—श्रीसीताजी का स्वयंवर चार प्रकार से कहा गया है—(क) वर-कन्या की इच्छानुसार, यथा—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" और—"चाह चित्त भीती लिखि लीन्ही।" (ख) प्रतिज्ञानुसार—"टूटत ही धनु भयेउ बिवाहू।" (ग) जयमाल-स्वयंवर—"सिय जयमाल राम-उर मेली।" (घ) कुल-रीति के अनुसार—"तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस-ब्यवहार।" "कुँअरि कुँअर कल भाँवरि देहीं।" 'ईस' अर्थात् ईश्वर, महादेव, यथा—"सकहि ताहि ये तोरिहिं कहब महेस।" (बरवा १।१४)। ऐसा कोई-कोई कहते हैं कि धनुष श्रीशिवजी का है, वे चाहे जिसे बड़ाई दें। वस्तुतः यहाँ ईश्वर से परमात्मा का तात्पर्य है। विष्णु भगवान् के द्वारा जड़ हो जाने पर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरे से कैसे तोड़ा सकते हैं ? 'धौं'—यह दुविधावाचक अव्यय है। मुनि त्रिकालज्ञ होते हुए भी दुविधा कहते हैं, क्योंकि ईश्वर की गति को कोई भी सर्वथा जानने में असमर्थ

है। जितने अंश में वह स्वयं बनाता है, वह भी ध्यान-द्वारा जाना जाता है। पुनः दैवयोग से भी ऐसा कहा गया, जिससे यात्रा में पूर्व ही मुनियों का आशीर्वाद भी हो गया।

मानस-मुखबंध में कहा है—"सीय-स्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छवि छाई॥" (दो० ४०)। वह प्रसंग यहीं से प्रारंभ है और—"रघुबर-उर जयमाल" (दो० २६४) पर समाप्त है। इससे आगे—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" का प्रसंग है।

(२) 'हरषे मुनि सब सुनि···'—लक्ष्मणजी की वाणी में श्रेष्ठता यह है कि मुनि ने दुविधा कही थी, इन्होंने मुनि का प्रभाव आगे करके निश्चय कर लिया, क्योंकि मुनि दूसरे ब्रह्मा हैं। यथा—"रहे रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ हाथ सों विहारे करतूति जाकी नई है।" (गी० बा० ८४)। यह भी श्रेष्ठता है कि यदि कहते कि आपकी कृपा से श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजी से अधिक सर्वज्ञता पाई जाती, यह भी सँभाल है। यह वाणी सबको रुचिकर, गूढ़ आशय युक्त और स्नेह-वर्द्धक है कि हमारे ईश तो आप ही हैं। इससे मुनि स्वयं हर्षित नहीं हुए, क्योंकि इसमें उनकी प्रशंसा है और अन्य मुनियों के गुरु की लक्ष्मणजी के द्वारा प्रतीति और प्रशंसा है। इससे वे सब प्रसन्न हुए और आह्लादपूर्वक आशीर्वाद भी दिया—'तुम्हीं दोनों भाई यश के पात्र बनो।'

(३) 'पुनि मुनि वृंद-समेत···'—'पुनि' अर्थात् आशीर्वाद पाने के पीछे वा एक बार नगर-दर्शन के समय देख चुके हैं। अब दोबारा आ रहे हैं। अतः, 'पुनि' कहा है। 'कृपाला'—क्योंकि धनुर्भंग से बहुतों पर कृपा होगी। चलने में श्रीरामजी की प्रधानता है; क्योंकि राजाओं का स्वयंवर है। वहाँ राजाओं की ही प्रधानता चाहिये। पुनः यहाँ शृंगार और वीर-रस का प्रसंग है, इससे भी वीर और सुन्दर राजकुमारों की प्रधानता है।

रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई॥५॥
चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर नारी॥६॥
देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥७॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू॥८॥

दोहा—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर-नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि॥२४०॥

अर्थ—दोनों भाई रंगभूमि में आये, ऐसी खबर सब पुर-वासियों ने पाई॥५॥ बालक, युवा, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब घर के कार्य भुलाकर चल दिये॥६॥ राजा जनक ने देखा कि भारी भीड़ हो गई, तब सब पवित्र सेवकों को बुलवा लिया॥७॥ (और कहा कि) शीघ्र ही सब लोगों के पास जाओ और सब किसी को यथायोग्य आसन पर बैठाओ॥८॥ उन्होंने कोमल और नम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु (छोटे)—सभी स्त्री-पुरुषों को उनके योग्य स्थानों पर बैठाया॥२४०॥

विशेष—(१) 'रंगभूमि आये दोउ··'—यहाँ शृंगार-रस प्रधान है। अतः, संग में भी मुनि का नाम नहीं कहा।

'चले सकल गृह'…'—'चले'—क्योंकि यहाँ वृद्ध भी साथ हैं। अतः, धीरे-धीरे चल रहे हैं। नगर-दर्शन के समय—"धाये धाम काम सब त्यागी।" कहा है, वहाँ वृद्धों का साथ नहीं है 'चले' अर्थात् शरीर से त्याग दिया। 'बिसारी' अर्थात् मन से त्यागा। इस तरह दोनों प्रकार से गृह-कार्य छोड़कर चले हैं। चलने की रीति भी सूचित की है कि 'बाल' और 'जरठ' के बीच में 'जुवान' शब्द है। अतः, युवा पुरुष एक हाथ से बच्चों और दूसरे से बूढ़ों को थामे हुए चलते हैं, ऐसे ही युवती स्त्रियाँ भी एक ओर लड़कियों और दूसरी ओर बुढ़ियों को सँभाले चल रही हैं।

(२) 'सुचि सेवक सब लिये'…'—'सुचि' यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥" (अ० दो० १८५); अर्थात् जो स्वामी के आज्ञा-पालन-रूप स्वधर्म में दृढ नैष्ठिक हैं, ऐसे नहीं हैं कि कुछ घूस लेकर अथवा अपने लगाववाले को ऊँचे बैठा दें। 'सुचि' में सच्चरित्र, सदाचारी, चतुर एवं विश्वास पात्र—सभी गुणवाले आ सकते हैं।

(३) 'तुरत सकल लोगन्ह'…'—क्योंकि यदि पहले अनुचित जगह पर बैठ जायँगे तो उठाना भी अनुचित ही होगा।

(४) कहि मृदु बचन…'—मन से शुचि, वचन से मृदु और तन से विनीत हैं अर्थात् हाथ जोड़कर मृदुवाणी से उचित सम्बोधन के साथ हार्दिक प्रीतिपूर्वक यथायोग्य बैठाया।

राजकुँअर तेहि अवसर आये। मनहुँ मनोहरता तनु छाये॥१॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल-गौर-सरीरा॥२॥
राज-समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥३॥

शब्दार्थ—रूरे (सं० रूढ = प्रशस्त) = सुंदर, सबसे श्रेष्ठ, विलक्षण, प्रकाशवान्।

अर्थ—राजकुमार उसी अवसर पर आये, मानों मनोहरता से शरीर व्याप्त है॥१॥ गुणों के समुद्र चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं, सुन्दर श्याम और गोरे शरीर धारी हैं॥२॥ राज-सभा में सबसे श्रेष्ठ शोभायमान हैं, मानों तारागणों के बीच में दो पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हों॥३॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर'—सम्पूर्ण सभा के बैठ जाने पर, बड़े लोगों के आने का यही अवसर है कि सभा भर के लोग जानें कि अमुक आये और राजा की ओर से उनका कैसा स्वागत हुआ; आदि। ये अवसर के जानने में बड़े निपुण हैं, यथा—"तेहि अवसर आये दोउ भाई।" (दो० ११४)। शोभा-वर्णन का प्रसंग है। अतः, 'राजकुँअर' नाम दिया। 'आये' और 'छाये' बहुवचन हैं; अतः, दोनों भाइयों के लिये हैं। औरों के शरीर वस्त्राभूषणों से भरे हैं; अर्थात् वे सजने-धजने से सुन्दर हैं और ये राजकुमार सहज ही सुंदर हैं, अंग-अंग में मनोहरतापूर्ण है। यथा—"निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहि सुखी लोचनफल पाई॥" (दो० २११) अर्थात् नेत्र तृप्त होने से मन भी हर जाता है।

(२) 'गुन-सागर नागर बरबीरा'—ये तीनों गुण यहीं पर आगे प्रकट होंगे, यथा—"जिन्ह के रही भावना जैसी।"…से—"तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" तक में गुणसागरता है, वचनों से परशुराम को पराजित करने में नागरता है। यथा—"जयति बचन-रचना अति नागर।" (दो० २८४); और धनुष तोड़ने में लोकोत्तर वीरता है अथवा गुण-सागर से कृपा, दया आदि सात्त्विक गुण और नागर से व्यावहारिक चातुर्य भी जनाया। यथा—"गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।१२)। पुनः 'बर बीरा' कहने से कठोरता का संदेह होता। अतः—'सुंदर स्यामल…'

कहा। यह भी जनाया कि दोनों में वर्ण-मात्र का भेद है—एक श्याम और दूसरे गौर, पर और सब गुणों में दोनों ही समान हैं।

(३) 'उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे।'—यहाँ अभी धनुष रूपी 'तम' को (अर्थात् अँधेरी) रात घनी है। अतः, चन्द्रमा कहा; क्योंकि रात में चन्द्रमा के साथ तारा-गण शोभा पाते हैं, वैसे अभी राजा लोग भी सोहते हैं। आगे जब धनुष टूटने का समय आवेगा, तब रामजी को 'बाल पतंग' कहेंगे—"उदित उदय गिरि मंच···" (दो० २५४)। उस समय राजा लोग हारकर अत्यन्त फीके पड़ जायँगे। यथा—"देखियत भूपभोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। पूर्व—'रवि निज उदय ब्याज···' पर तो उदय की बात कही गई है, उसका कार्य तो आगे धनुर्भंग ही पर है। अतः, अभी चन्द्रमा ही कहना योग्य है।

जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी ॥४॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥६॥
रहे असुर छल छोनिप-बेखा। तिन्ह प्रभु प्रकट कालसम देखा ॥७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन-सुख-दाई ॥८॥

दोहा—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥२४१॥

अर्थ—जिनके (हृदय में) जैसी भावना थी, उन्होंने प्रभु की वैसी ही मूर्त्ति देखी ॥४॥ राजा लोग इन्हें महारणधीर देखते हैं, मानों वीर-रस ने ही शरीर धारण किया है ॥५॥ कुटिल राजा प्रभु को देख कर डर गये, मानों बहुत भारी भयावनी मूर्त्ति है ॥६॥ जो असुर (दैत्य) लोग छल से राजा के वेष में थे, उन्होंने प्रभु को प्रत्यक्ष काल के समान देखा ॥७॥ पुरवासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों में भूषण रूप और आँखों को सुख देनेवाले देखा ॥८॥ स्त्रियाँ हृदय में हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रभु को देखती हैं, मानों परम अनुपम मूर्त्ति धारण करके शृंगार रस सोहता है ॥२४१॥

विशेष—(१) 'जिन्हके रही भावना···'—'यादृशी भावना यस्य' अर्थात् भगवान् लोगों के ध्यान के अनुसार दीखते हैं। यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सम ज्यों दर्पन मुखकान्ति।" (वि० २३३) तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः ॥" यह स्मृति है। इसी का प्रसंग यहाँ चरितार्थ है। सामान्यतया श्रीरामजी राजकुमार-रूप में ही हैं, उसीमें अनेक प्रकार देख पड़े।

(२) 'देखहिं भूप महा रनधीरा···'—मंच के क्रम से राजा लोग आगे हैं, ये सब धनुष तोड़ने आये हैं। अतः, वीर और रणधीर हैं। यथा—"बिपुल बीर आये रनधीरा।" (दो० २५०)। इसलिये प्रभु इन्हें वीर और रणधीर के रूप में देख पड़े। यहाँ वीर-रस का ध्यान है और वीर-रस प्रधान है, इसलिये इसीसे वर्णन आरम्भ हुआ। आगत राजाओं को निश्चय हो रहा है कि ये ही धनुष तोड़ेंगे। इसी से आगे शीघ्र ही उठाने को दौड़ेंगे कि प्रथम ही हम तोड़ डालें।

(३) 'डरे कुटिल नृप'''—रामजी कुटिल राजाओं को भयंकर रूप में देख पड़े, यथा—"अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ-तहँ कायर गवहिं पराने॥" (दो० २८०)। ईश्वर-इच्छा में बँधे हैं, नहीं तो भाग जाते। 'प्रभुहिं'—ये लोग स्वयं भी प्रभुता वाले हैं, यथा—"लेहु छुड़ाइ सीय कह कोऊ।" (दो० २४५); परन्तु श्रीरामजी तो इनसे भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'भारी'—छोटा रूप भयानक भी हो तो विशेष भय नहीं होता। अतः, भारी देख पड़े। यहाँ भयानक रस है।

(४) 'रहे असुर छल'''—कपट वेष में देवता और असुर दोनों हैं। यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा।" (दो० २५०)। उनमें जो असुर थे, उन्हें काल-रूप देख पड़े। 'प्रगट' अर्थात् काल मूर्त्तिमान् नहीं है, पर उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा। यहाँ रौद्र रस है। (यहाँ तक प्रथम मच के राजा लोग हुए)।

(५) 'पुरबासिन्ह देखे '''—पुरवासियों का भाव शृंगार रस का ही है, यह नगर-दर्शन में कहा गया है। यथा—"जिन्ह निज रूप-मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर-नर-नारी" (दो० २१८)। उसी को यहाँ—'नर-भूषन-लोचन सुखदाई।' कहकर जनाया है। यहाँ शृंगार रस की कली है, अगले दोहे में उसका विकास है।

(६) 'नारि बिलोकहिं हरषि'''—इन नारियों का श्रीजानकीजी से जैसा नाता है, उन्हीं के अनुसार ये अपना नाता जोड़ती हैं। सबके जी में यही है कि ये श्रीजानकीजी के पति हों।

इनमें मुग्धा (वह नायिका जिसमें संकोच का भाव अधिक हो) शृंगार मूर्त्ति, मध्या (वह नायिका जिसमें संकोच और काम दोनो समान हों।) परम शृंगार-मूर्त्ति और प्रौढ़ा (वह नायिका जिसमें संकोच कम हो।) परम अनूप शृंगार-मूर्त्ति देखती हैं।

> बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर पग-लोचन-सीसा॥१॥
> जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥२॥
> सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी॥३॥
> जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा॥४॥
> हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥५॥

अर्थ—पण्डितों ने प्रभु को विराट् रूप में देखा, जिसमें मुख, हाथ, पैर, नेत्र और शिर बहुत थे॥ १॥ राजा जनक के जाति-वर्ग (कुटुम्बी) प्रभु को किस भाव से देखते हैं, जैसे सगे सजन (प्रियतम या स्व-जन) प्रिय लगते हैं॥२॥ जनकजी के साथ रानियाँ उन्हें बालक के समान देखती हैं, इनकी प्रीति कही नहीं जा सकती॥३॥ योगियों को शान्त, शुद्ध, सम (एकरस), स्वतः प्रकाशरूप और परम तत्त्वमय अनुभूत हुए॥४॥ हरिभक्तों ने दोनो भाइयों को सब सुख देनेवाले इष्टदेव के समान देखा॥५॥

विशेष—(१) 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय'''—बिदुष (पंडित) वेदों के ज्ञाता होते हैं। वेदों में प्रभु का विराट् रूप कहा गया है। यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥" सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।'''" (श्वे० ३।१४-१५)। इस

शिर-मुख आदि के वर्णन में क्रम नहीं है, क्योंकि मुख, कर, पग कहकर फिर नेत्र और शिर कहा है, इसका कारण ऊपर के श्रुति-प्रमाण में स्पष्ट है कि जब सभी तरफ आँख-पग आदि हैं, तब क्रम कहाँ ? पग में भी नेत्र-शिर होंगे। यही वीभत्स रस है।

(२) 'जनक जाति अवलोकहिं'''–'सजन सगे' अर्थात् सगे सम्बन्धी नातेदार जैसे प्रिय लगें। इसमें हास्य-रस एवं सख्य-रस है।

(३) 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी।'''—शिशु पर माता का विशेष वात्सल्य रहता है, इसलिये यहाँ रानियों की प्रधानता कही गई है। 'सिसु-सम' अर्थात् बालक के समान, अतः जामाता की प्रीति है। यहाँ करुणा और वात्सल्य-रस है। बच्चे के प्रति माँ-बाप में तरह-तरह के प्यार के भाव जाग्रत होते हैं, इसी से 'नहिं जाइ बखानी' कहा है।

जनक-जाति से राजा-रानी की और उनसे श्री जानकीजी की अधिक प्रीति है, वैसे क्रमशः अधिक शब्द रक्खे गये हैं, यथा—'प्रिय लागहिं' 'प्रीति न जाइ बखानी' और 'सो सनेह सुख नहिं कथनीया'।

(४) 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा'—और रसों में देखना कहा गया है। यहाँ 'भासा' पद है, क्योंकि परम तत्त्व का अनुभव होता है, वह देखने की वस्तु नहीं है। यथा—"ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥" (दो० २१)। शांत—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (दो० १०६) शुद्ध अर्थात् विकाररहित। सम=भेद-रहित। सहज प्रकाश, यथा—"सहज प्रकासरूप भगवाना।" (दो० ११५)। यहाँ शान्त रस है।

(५) 'हरिभगतन्ह देखे'''—भक्तों के प्रसंग में दोनों भाइयों का देखना कहा है, क्योंकि भक्त लोग परिकर-सहित भगवान् का ध्यान करते हैं। हरि शब्द विष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सब रूपों का बोधक है। अतः, सब रूपों के भक्त इन दोनों भाइयों को अपने ही इष्ट के रूप में देखते हैं। इससे जनाया कि सब हरिरूप एक ही हैं और सब भक्तों के इष्ट हम ही हैं। 'इव' अपने ही इष्टदेव की तरह; यहाँ जो जिस रूप के उपासक हैं, उन्हें अपने ही इष्टदेव के रूप में देख पड़े। अतः, अद्भुत रस है। पुनः भक्त एवं उनके सुख देने के सम्बंध से दास-रस भी है। यहाँ तक १२ प्रकार के रस कहे गये हैं। वर्त्तमान काल के साहित्यिक कवि साहित्य के नौ रसों के साथ सख्य, वात्सल्य और दास्य रसों का भी वर्णन करते हैं जो पहले शृंगार के ही अन्तर्गत माने जाते थे। ('रसकलस' देखिये)

रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥६॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ॥७॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥८॥

दोहा—राजत राजसमाज महँ, कोसल-राज-किसोर।
सुंदर-श्यामल-गौर-तनु, बिस्व-बिलोचन-चोर॥२४२॥

अर्थ—श्रीसीताजी जिस भाव से श्रीरामजी को देखती हैं, वह स्नेह-सुख अकथ्य है॥६॥ वे (उस स्नेह-सुख का) हृदय में ही अनुभव कर रही हैं, पर स्वयं भी नहीं कह सकतीं; फिर कोई

भी कवि किस प्रकार कह सकेगा ? ॥७॥ जिस प्रकार से जिसके हृदय में जैसा भाव था, उसने कोशल-राय श्रीरामजी को वैसा ही देखा ॥८॥ सुंदर श्याम और गौर शरीरवाले, किशोर अवस्थावाले और संसार भर के नेत्रों के चुरानेवाले कोशलपुर के राजा के पुत्र राजसभा में विराजमान हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'रामहिं चितव भाव जेहि सीया।'''—सपरिवार राजा जनक के वर्णन के साथ ही श्रीजानकीजी को कहना था, पर बीच में योगियों और हरिभक्तों को क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सब रसों की झाँकी कही जा रही है, उनमें श्रीजानकीजी पृथक् हैं। इनका भाव अकथ्य है, कोई एक स्थिति अवश्य है, पर वे हृदय में ही उसका अनुभव कर रही हैं। बिना जनाये कवि नहीं कह सकते अर्थात् यह इन्हींके भोगने योग्य है—कहने के योग्य नहीं। कवि जो कुछ अक्षर और अर्थ पावें, तो उसका विस्तार करें। इसलिये इन्हें सब के पीछे कहा है। पुनः यह भी भाव है कि राजा जनक योगी और हरिभक्त भी हैं। अतः, योगी और हरिभक्त जनकजी को अपने परिवार के समान प्रिय हैं, इसलिये ये दोनों बीच में रक्खे गये हैं। यहाँ एक ही को भिन्न-भिन्न रूपों से देखने में उल्लेख अलंकार का पहला भेद है।

(२) 'जेहि विधि रहा जाहि जस भाऊ '''—भगवान् को जो जैसे भजता है, उसे वे वैसे ही मिलते हैं। यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)। इसके उपक्रम में कहा है—'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति '''। वहाँ 'भावना' के सम्बन्ध से 'मूरति' स्त्रीलिंग कथित है और यहाँ उपसंहार के—'जेहि विधि''' में 'भाऊ' के सम्बन्ध से 'कोसलराऊ' पुँल्लिग का प्रयोग हुआ है। उपक्रम में ऐश्वर्य कहते हुए 'प्रभु' पद दिया, फिर उसे ही माधुर्य में मिलाते हुए उपसंहार में 'कोसलराऊ' कहा है। श्रीमद्भागवत में भी बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण के कंस की सभा में जाने पर वहाँ के लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही इन्हें देखा है। यथा—"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंग गतः साग्रजः ॥" (१०।४३।१७)।

यहाँ श्रीजानकीजी अभी नहीं आईं, पर उनका देखना प्रसंग के योग में प्रथम ही कह दिया है, जब आयेंगी, तब उनका यह दृश्य होगा।

(३) 'राजत राजसमाज महँ'''—इसका उपक्रम—"राज समाज बिराजत रूरे।" (दो० २४०) में है और यहाँ –"राजत राज-समाज महँ" पर उपसंहार है। पुन—"सुंदर स्यामल गौर सरीरा" (दो० २४०); उपक्रम है और यहाँ-"सुंदर स्यामल गौर तनु" उपसंहार है। उपक्रम में कहा गया है—"राजकुँअर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। यहाँ उपसंहार में बतलाया कि वे राजकुँअर—"कोसलराजकिसोर" हैं।

'विस्वविलोचन चोर'—यहाँ चोर-विद्या का उत्कृष्ट रूप वर्णित है। चोर की भारी बड़ाई तभी है जब वह आँख का काजल चुरा ले। ये उससे भी बढ़कर हैं कि संसार की आँखों को ही चुरा लेते हैं। चोर रात में भी छिपकर और राजकर्मचारियों से डरता हुआ चोरी करता है और ये राज-समाज में ही दिन दहाड़े निडर रूप से विश्व (संसार) की आँखों को ही चुरा लेते हैं, जिससे देखकर चोर पकड़ा जाता है। अब कौन देखे और कैसे पकड़े ?

पूर्वोक्त—"लोचनसुखद बिस्वचितचोरा" (दो० २१७) भी देखिये। यह भी भाव है कि आँखों का स्वरूप श्याम और गौर (श्वेत) है, ये दोनों कुमार भी श्याम-गौर हैं। विशेष ज्योति सामान्य को खींच लेती है। अतः, सब की दृष्टि इनकी ओर खिंच गई। पूर्व यह भी कहा गया कि इनकी श्यामता का किंचित् अंश ही नेत्रों में पुतली के रूप से प्रकाशक है।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि-काम-उपमा लघु सोऊ ॥१॥
सरद-चंद-निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के ॥२॥
चितवनि चारु मार-मन-हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥३॥
कल कपोल श्रुतिकुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥४॥

अर्थ—दोनों मूर्त्तियाँ स्वाभाविक ही (बिना सजेधजे) मनोहर हैं। (इनसे) करोड़ों कामदेवों की उपमा दी जाय, तो वह भी तुच्छ होगी ॥१॥ मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा की अच्छी तरह निन्दा करने वाले हैं और कमल के समान नेत्र जी को भानेवाले हैं ॥२॥ सुन्दर चितवनि काम के मन को हरनेवाली है जो हृदय को भाती (सुहाती) है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ सुन्दर कपोल और कानों पर कुंडल हिल रहे हैं। ठोढ़ी और ओठ सुन्दर हैं, बोली सुन्दर और कोमल है ॥४॥

विशेष—(१) 'सहज मनोहर मूरति······'—सब राजा सज-धजकर आये हैं, ये दोनों कुँवर साधारण ही आये हैं। दो० २४० चौ० १ भी देखिये।

(२) 'सरद-चंद-निंदक मुख······'—'नीके' शब्द दीप-देहली है। 'सरद' और 'निंदक'—इन दोनो शब्दों का क्रमान्वय 'नीरज' के साथ भी होना चाहिये। इस चन्द्रमा में यह निकाई (सौष्ठव) है कि मुखचन्द्र ने नेत्र-कमल को प्रफुल्ल रूप से अपने में बसा रक्खा है। इससे भी इसने शरद्-चन्द्र को लज्जित किया है। मुख-चंद्र में भी विकसित रहने से नेत्र-कमल ने शरत्कालीन कमल को पराजित कर दिया है। उपमाओं के निन्दित होने पर कवि के भाव ही रह जाते हैं।

(३) 'चितवनि चारु मार-मन······'—काम सब के मन को हर लेता है; राजकिशोर चारु अर्थात् सीधी (तिरछी नहीं) चितवन से ही काम के भी मन को हर लेते हैं। प्रथम नेत्रों की चोरी कही थी, अब मन का चुराना भी कहा; क्योंकि जहाँ नेत्र हर जाता है, वहाँ मन भी बिक जाता है। यथा—"लगे संग लोचन मन लोभा।" (दो० २१८)।

'भावति हृदय जाति···'—जब हृदय ही हरा गया (आसक्त हो गया) तब कैसे कहा जाय ?

(४) 'सुंदर मृदु बोला'—यथा—"भाई सों करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घन-घोर से बोलत थोर-थोर हैं। सन्मुख सबहिं बिलोकत सबहि नीके कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं ॥" (गी० बा० ७१); अर्थात् विश्वामित्र के दोनों ओर दोनों कुमार बैठे हैं। मुनि के संकोच से थोड़ा-थोड़ा बोलते हैं, बोलने में कभी थोड़ी हँसी भी आ जाती है, उसीको आगे कहते हैं—'कुमुदबंधु-कर निंदक हासा।' तथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचति किरन मनोहर हासा ॥" (दो० १९७)।

कुमुद-बंधु-कर-निंदक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा ॥५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं ॥६॥
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई। कुसुम-कली बिच बीच बनाई ॥७॥
रेखें रुचिर कंबु कलग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा ॥८॥

दोहा—कुंजर-मनि-कंठा कलित, उरन्हि तुलसिका-माल।
वृषभकंध केहरिठवनि, बलनिधि बाहु बिसाल ॥२४३॥

अर्थ—हँसी चन्द्र-किरण की निन्दा करनेवाली है। भौहें टेढ़ी और नाक सुंदर है ॥५॥ ऊँचे चौड़े ललाट पर तिलक झलक रहे हैं। केशों को देखकर भ्रमरों की पंक्तियाँ लज्जित होती हैं ॥६॥ शिरों पर पीली चौगनी टोपियाँ शोभित हैं जिनके बीच-बीच में फूलों की कलियाँ बनाई (काढ़ी) हुई हैं ॥७॥ शंख के समान सुन्दर गले में सुन्दर (तीन) रेखाएँ हैं, मानों तीनों लोकों की परम शोभा की हद है ॥८॥ गजमुक्ताओं का कलित (सुन्दर वा विचित्र रीति से गाँथा हुआ) कंठा (गले में), और हृदय पर तुलसी (के दल और मंजरी) की माला है। बैलों के से (ऊँचे, चौड़े एवं पुष्ट) कंधे, सिंह की सी ठवनि (अकड़=मुद्रा) और बल के निधान लम्बी भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं ॥२४३॥

विशेष—(१) 'मनोहर नासा'—क्योंकि नाक अश्विनीकुमार का रूप है। यथा—"जासु घ्रान अश्विनीकुमारा।" (लं० दो० १४) और अश्विनीकुमार बड़े सुन्दर हैं। यथा—"अश्विनाविव रूपेण।" (वाल्मी० १।५०।१८)।

(२) 'कच बिलोकि अलि······'—राजकुमारों के शिरों के बाल कंधे तक लटके हुए हैं। बाल-समूह हैं। इसलिये भ्रमरों की पंक्ति की उपमा दी, इससे बालों की श्यामता और चमक जनाई है।

(३) 'पीत चौतनी'—चौतनी टोपी के आकार का ताज है, क्योंकि उसमें कुसुम-कली के समान लाल रंग का कसीदा भी कहा गया है। यहाँ राजाओं के बीच में चक्रवर्ति-कुमार के शिरों पर टोपी मात्र की शोभा नहीं है।

(४) 'रेखैं रुचिर कंबु कल ·····'—शंख में तीन रेखाएँ होती हैं। उसीको उत्तरार्द्ध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि तीनों लोकों की परम शोभा एक-एक रेखा के भीतर पड़ी है अर्थात् इससे अधिक शोभा तीनों लोकों में नहीं है। यहाँ आगे कंठ के भूषण भी कहते हैं।

(५) 'कुंजर-मनि-कंठा······'—कंठा राजचिह्न है और तुलसी की माला ऋषि के शिष्य होने के चिह्न हैं। इन्हीं चिह्नों से राजा जनक ने दो प्रकार के प्रश्न किये थे। यथा—"मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक।" (दो० २१५)। इसमें वर्तमान में मुनि के निकट होने से मुनि-कुल की कल्पना प्रथम हुई। 'केहरि ठवनि' यथा—"ठाढ़ भये उठि सहज सुहाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये॥" (दो० २५१) अर्थात् सिंह की अकड़ निःशंकता को सूचित करती है। 'बलनिधि बाहु·····'—'निधि' समुद्र का भी वाचक है। आगे इन्हीं बाहुओं को सागर कहेंगे, यथा—"संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल। बूड़ सो सकल समाज·····" (दो० २६१)। अतः, अभी से वैसा ही रूपक बाँध रहे हैं।

कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे ॥१॥
पीत-जग्य-उपबीत सुहाये। नखसिख मंजु महा छबि छाये ॥२॥
देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥३॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि-पद-कमल गहे तब जाई ॥४॥
करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग-अवनि सब मुनिहिं देखाई ॥५॥

अर्थ—कमर में तरकश हैं, उन्हें पीतांबर में बाँध रक्खा है। (दाहिने) हाथ में बाण और श्रेष्ठ बाँयें कंधे पर धनुष है ॥१॥ पीले यज्ञोपवीत सुहावने लगते हैं। नख से चोटी तक सब अंग सुन्दर हैं, उनपर महा छवि छाई हुई है ॥२॥ देखकर सब लोग सुखी हुए, उनके नेत्र एकटक-से लग गये, तारे (आँखों की पुतलियाँ) नहीं चलते, अचल हो रहे हैं ॥३॥ राजा जनक दोनों भाइयों को देखकर प्रसन्न हुए। तब उन्होंने मुनि के चरण-कमलों को जा पकड़ा ॥४॥ स्तुति करके अपनी कथा सुनाई और सारी रंग-भूमि मुनि को दिखाई ॥५॥

विशेष—(१) 'कटि तूनीर पीतपट······'—पूर्व कहा गया था—"पीत बसन परिकर कटि भाथा।" (दो० २१८); और यहाँ—"कटि तूनीर······" अर्थात् वहाँ पीतपट को पहले और तरकश को पीछे लिखा था। यहाँ उसका उल्टा है। इसका कारण यह है कि वहाँ नगर-दर्शन के समय का शृंगार था। अतः, तरकश पीतांबर में ढके हुए थे, इससे प्रथम 'पीत बसन' ही कहा गया। यहाँ राज-समाज है। अतः, वीरों में वीर-बाना धारण किये हुए हैं, इससे तरकश ऊपर दिखाई देते हैं। सब साज पीत ही हैं। पीत पट, पीत चौतनी, पीत यज्ञोपवीत आदि से वीर का केशरिया बाना सूचित है। इसीसे कटि तक ही वर्णन हुआ। शेष अंगों की शोभा 'नख-सिख मंजु···' कहकर जना दी, जिससे यह न समझा जाय कि और अंग सुन्दर नहीं हैं।

(२) 'देखि लोग सब भये सुखारे।'—शंका—पूर्व कहा गया कि श्रीरामजी किसी को काल-रूप और किसी को भयानक-रूप में देख पड़े और यहाँ सबका सुखी होना कहा गया। यह क्यों ?

समाधान—"सहज मनोहर मूरति दोऊ।" (दो० २४२) से यहाँ तक का जिनका ध्यान है, उन्हीं सब लोगों का सुखी होना जानना चाहिये, सारी रंगभूमि का नहीं।

(३) 'नख-सिख मंजु······'—यह उपसंहार है और इसका उपक्रम—"मनहुँ मनोहरता तनु छाये।" (दो० २४०) में है।

(४) 'हरषे जनक देखि······'—'देखि'—राजा जनक ने इनके अलौकिक तेज-प्रताप-रूप देखकर जाना कि ये बल से भी पूर्ण हैं। अतः, हमारा प्रण पूरा होगा। यथा—"तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूमइ ॥" (जानकी मं० ६६)। इसीसे आनंदित हुए। मुनि की कृपा से ही इनके दर्शन हुए हैं। अतः, कृतज्ञता से मुनि के चरण पकड़ लिये। पुनः मुनि और ब्राह्मण को देखकर प्रणाम करना धर्म-नीति तो है ही।

(५) 'निज कथा सुनाई'—वाल्मीकीय बा० स० ६६ में इसी प्रसंग पर राजा जनक ने विश्वामित्रजी से कहा है कि राजा निमि के ज्येष्ठ पुत्र देवरात हुए। उन्हीं को यह धनुष थाती-रूप में मिला था। दक्ष-यज्ञ-नाश के समय महादेव ने इस धनुष को चढ़ाया था। यज्ञ-नाश के पीछे अपने भाग-हरण के कारण इसी से देवताओं के भी शिर काटने चाहे, तब देवताओं ने प्रसन्न किया। फिर प्रसन्न होकर शिवजी ने राजा देवरात को यह धनुष दे दिया। मैं (जनक) एक समय हल से खेत खोद रहा था। हल की नोक (सीता) से टकराकर एक कन्या निकली। इसी से वह 'सीता' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस अयोनिजा कन्या का शुल्क (वर-पक्ष से कन्या-पक्ष को मिलनेवाला द्रव्य) मैंने पराक्रम रक्खा है। अनेक राजाओं ने इस कन्या को माँगा, पर किसी ने उक्त धनुष को नहीं चढ़ाया; अतः मैंने नहीं दिया। अंत में उन्होंने क्रोध से लड़कर कन्या को छीन लेना चाहा। एक वर्ष तक युद्ध हुआ। तब मैंने देवताओं से सहायता लेकर सबको परास्त किया।

फिर सर्ग ७५ में परशुरामजी ने भी इस पिनाक धनुष की कथा श्रीरामजी से कही है कि विश्वकर्मा के बनाये हुए दो धनुष थे। एक तो वह था जिससे महादेवजी ने त्रिपुर का नाश किया था और जिसे आपने तोड़

राजा। दूसरा यह धनुष है, जो मेरे पास है। इसे भी कोई झुका नहीं सकता। देवताओं ने इसे विष्णु को दिया था। यह भी उक्त शिव-धनुष के समान है। एक समय शिव और विष्णु की पराक्रम-परीक्षा के लिये देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा। उन्होंने (नारद-द्वारा) दोनों में विरोध करवाकर लड़ा दिया। तब शिव-विष्णु में रोमांचकारी युद्ध हुआ। शिवजी का महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णु भगवान् के हुंकार से शिवजी स्तंभित हो गये। तब देवता, ऋषि आदि ने आकर दोनों को शांत करने की चेष्टा की। दोनों शांत होकर अपने-अपने स्थान को गये '।'' सब ने विष्णु को अधिक माना। फिर शिवजी ने क्रुद्ध होकर वह धनुष (पिनाक) उक्त देवरात राजा को दे दिया और दूसरा धनुष विष्णु ने भृगु के पुत्र ऋचीक को दिया, फिर उनके पुत्र जमदग्नि के पास रहा ;'''उनसे मुझे (परशुराम) को मिला।

श्रीगोस्वामीजी भी यही कहते हैं। यथा—"सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो० २४१) "मयन-महन, पुर-दहन-गहन जानि, आनि कै सबै को सार धनुष गढ़ायो है। जनक सदस्य जेते भले भले भूमिपाल किये बलहीन बल आपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्म-पीठ ते कठिन अति'''" (क० बा० १०) अर्थात् पिनाक धनुष त्रिपुर दैत्य के वध के लिये निर्मित हुआ था। (वाल्मीकीय में देवताओं का बनवाना और गोस्वामीजी के उक्त वचन से शिवजी का ही बनवाना मात्र थोड़ा भेद है। यह कल्प-भेद से हो सकता है।)

यह भी कथा है कि त्रिपुर को मारकर शिवजी ने यह धनुष मिथिला में रख दिया था। एक समय खेल-ही-खेल में श्रीजानकीजी ने सखियों के सामने धनुष को उठा लिया। यह सुनकर मैं (जनक) ने धनुष भंग की प्रतिज्ञा की। सत्योपाख्यान में यह भी कहा है कि श्रीसीताजी के विवाह की चिंता से जनकजी कुश बिछाकर उसपर सोये। तब शिवजी ने स्वप्न में कहा कि तुम मेरे जिस धनुष की पूजा करते हो, उसे तोड़ने की प्रतिज्ञा करो। जो तोड़े, उसी को कन्या विवाह दो। यह भी सुना जाता है कि शिवजी ने यह भी कहा है, जो इस धनुष को तोड़ेगा वही परात्पर ब्रह्म है। तभी विश्वामित्र आदि ज्ञानी मुनि निमंत्रण देकर बुलाये गये थे कि सब के सामने ब्रह्म का निर्णय हो जाय, अन्यथा कन्या के स्वयंवर में मुनियों की क्या आवश्यकता थी ? यथा—"जेहि कर कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक संसय मेट्यो।" (वि० १२८)।

इसमें ब्रह्मविषयक ही संशय विशेष संगत है, क्योंकि इसके पूर्व ब्रह्म में जो संशय था वह धनुष टूटने से निवृत्त हुआ और ज्ञानी लोग जनकजी के ही पास संशय मिटाने आते भी थे।

जहँ जहँ जाहिं कुअँरबर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥६॥
निज निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा॥७॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महा सुख लहेऊ॥८॥

दोहा—सब मंचन्ह ते मंच एक, सुंदर बिसद बिसाल।
मुनिसमेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल॥२४४॥

अर्थ—जहाँ-जहाँ दोनों सुन्दर श्रेष्ठ कुमार जाते हैं, वहाँ-वहाँ सभी लोग चकित हो कर देखने लगते हैं॥६॥ सबने अपनी अपनी रुचि के अनुसार एवं अपनी ही ओर मुख किये हुए रामचन्द्रजी को

देखा, कोई भी कुछ विशेष (खास) भेद नहीं जान पाया ॥७॥ मुनि विश्वामित्रजी ने राजा जनक से कहा कि बहुत अच्छी रचना (बनी) है; (यह सुनकर) राजा मुदित हुए, उनको महान् सुख प्राप्त हुआ ॥८॥ सब मंचों में से एक मंच अधिक सुन्दर, उज्ज्वल और ऊँचा-चौड़ा था, राजा जनकजी ने मुनि के साथ इन दोनों भाइयों को उसपर बैठाया ॥२४४॥

विशेष—(१) 'तहँ तहँ चकित चितव···'—जब दूर थे, तब—'एकटक लोचन चलत न तारे' कहा गया और जब समीप आ जाते हैं तब लोगों को शोभा अच्छी तरह देखने में आती है। फिर वे चकित हो जाते हैं, यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥" (दो० २६६)।

(२) 'निज निज रुख रामहिं'···—'रुख' (फा०) का अर्थ चेहरा, मुख, और एवं रुचि भी होता है, यथा—"पति-रुख लखि आयसु अनुसरहू।" (दो० ११३)। 'मरम विसेषा'—सबको रामजी अपने सामने ही देख पड़े, पीठ किसी की ओर नहीं है, यह विशेष भेद कोई नहीं जान सका कि इस समय रामजी ने "सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" (श्वे० ३।१६) की लीला भी की है। एक दूसरे की बात तक नहीं पूछते कि लोग पागल कहेंगे ।

(३) 'भलि रचना मुनि··· ···।'—सब देख चुके तब मुनि ने 'भलि' कहा कि जिससे सम्पूर्ण रचना की प्रशंसा हो, जाय, बीच में जिसके प्रति बोलते, उसीकी बड़ाई और शेष की न्यूनता समझी जाती। 'मुदित महा सुख'—मुदित से भीतरी आनंद और महा सुख से बाहरी आनंद की चेष्टा—पुलक आदि जनाई। मुनि ने राजा त्रिशंकु के लिये दूसरा स्वर्ग ही रच दिया, तो जब इन्होंने इस रचना की प्रशंसा की, तब अवश्य हमारा श्रम सफल हुआ। इनकी प्रसन्नता से प्रतिज्ञा-पूर्ति की भी आशा हुई, क्योंकि ये त्रिकालज्ञ एवं महान समर्थ हैं।

(४) 'सब मंचन्ह ते मंच···'—सब से ऊँचे बैठाने के कई कारण हैं—(क) ये चक्रवर्ति-कुमार हैं। इनके (निमि) वंश की मूल गद्दी के हैं। (ख) ये 'मुनि समेत' हैं। (ग) मुनि इनके सहायक हैं तो निश्चय इनसे प्रतिज्ञा पूरी होगी। यथा—"तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंवर आनहिं बालक बिनु बल॥" (जानकीमंगल ८९)। (संभवतः) यह सिंहासन विजयी राजा के लिये बना था। मुनि के गौरव से प्रथम ही रामजी को उसपर बैठाया। 'मुनि समेत'—मुनि को गौण कहा है, क्योंकि यहाँ राजकुमार की ही प्रधानता है। दो० २३९ चौ० ४ भी देखिये। औरों को शुचि सेवकों एवं मंत्री आदि ने बैठाया; इन्हें स्वयं 'महिपाल' ने। यह अधिक आदर हुआ। बैठने का प्रकार—"भूपति किसोर दुहूँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबे को दाउँ, देखो देखिबो बिहाइ कै। उदय-सैल सोहैं सुंदर कुँवर जोहैं मानों भानु भोर भूरि किरन छिपाइ कै॥" (गी०बा० ८२)।

प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे ॥१॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥२॥
बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम-उर माला ॥३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥४॥

शब्दार्थ—राकेस = पूर्ण चन्द्रमा। सक (शक फा०) = संदेह। भव = शिवजी।

अर्थ—प्रभु श्री रामजी को देख कर सब राजा हृदय से हार गये, जैसे पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर तारे (प्रकाशहीन = फीके) हो जाते हैं ॥१॥ सब के मन में ऐसा विश्वास है कि श्री रामजी धनुष तोड़ेंगे, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ शिवजी के भारी धनुष के बिना तोड़े भी श्रीसीताजी श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनावेंगी ॥३॥ ऐसा विचारकर हे भाइयो ! यश, प्रताप, बल और तेज को गँवा कर अपने-अपने घर चल दो ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभुहिं देखि सब...'—यहाँ पूर्व के—"देखहिं भूप महा रनधीरा ।" (दो० २४०) से प्रसंग मिलाते हैं। वहाँ जो 'देखहिं भूप···' कहा था, उसका फल यहाँ कहते हैं कि वे हृदय से हार गये। पुनः वहाँ—"उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ।" कहा था, उसे ही यहाँ –"जनु राकेस उदय भये तारे।" से उपसंहार किया ।

(२) 'असि प्रतीति सबके···'—ऊपर 'जनु राकेस···' कहा गया है, उससे इनका तेज देखकर विश्वास हुआ। यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी।" से—"सखी-बचन सुनि भइ परतीती।" (दो० २५५-५६) तक। 'सबके'—यह राजाओं के लिये ही है, जो हृदय से हारे हुए कहे गये हैं। सुनयना आदि को रामजी के प्रति संदेह होगा, फिर प्रतीति भी होगी। 'सक नाहीं'—तेजस्वी होने से बल भी जाना; इससे धनुष तोड़ने का निश्चय हुआ।

(३) 'बिनु भंजेहु भव···'—ऊपर जहाँ श्री रामजी का धनुष तोड़ना कहा, वहाँ बहुत छोटे 'चाप' शब्द का प्रयोग है; अर्थात् अल्प है, इससे टूट जायगा। पुनः जब 'बिनुभंजेहु···' कहा, तब बड़ा नाम- 'भव धनुष बिसाला' कह दिया कि यह शिवजी का धनुष बड़ा भारी है, सम्भवतः न टूटे। यह शब्द-प्रयोग की सँभाल है।

(४) 'जस प्रताप बल तेज गँवाई।'—इस समय श्रीरामजी के ही यश आदि प्रधान हैं। यह निश्चय राजाओं ने ऊपर 'प्रभुहिं देखि ' में ही किया। 'प्रभुहिं' में सामर्थ्य (बल), 'हिय हारे' में प्रताप, 'जनु राकेस' में तेज और यश के भाव हैं। इनके आगे हमलोगों के यश-प्रताप आदि नहीं रह गये। भाव यह है कि यहाँ धनुर्भंग करके यश आदि बढ़ाने आये थे, वे रहे-सहे भाम भी इनके आगे नहीं रहे।

अथवा यह भी भाव हो सकता है कि अभी चल देने से यश आदि बने हैं, धनुष के टूटने पर 'गँवाई' अर्थात् चले जायँगे, अभी तो कहने के लिये है भी कि जब श्री रामजी ने धनुष तोड़ा तब हम तो थे ही नहीं। यथा—"बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥" (दो० २५५)। ये वचन रजोगुणी मध्यम राजाओं के हैं।

बिहँसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी ॥५॥
तोरेहु धनुष ब्याह अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा ॥६॥
एक बार कालहु किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ ॥७॥
यह सुनि अपर महिप मुसुकाने। धरमसील हरिभगत सयाने ॥८॥

सोरठा—सिय बिआहबि राम, गरब दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम, दसरथ के रनबाँकुरे ॥२४५॥

अर्थ—दूसरे राजा, जो अज्ञान से अंधे और अभिमानी थे, इन वचनों को सुनकर विशेष हँसे ॥५॥ (और) बोले कि धनुष तोड़ने पर भी विवाह का थाह (पता) नहीं अर्थात् वह दूर है, फिर भला बिना उसे तोड़े कौन राजकुमारी को ब्याह सकता है? ॥६॥ काल भी क्यों न हो, सीता के लिये एक बार उसे भी हम संग्राम में जीत लेंगे ॥७॥ यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा, हरिभक्त और चतुर राजा मुसकुराने लगे ॥८॥ (इन) राजाओं के गर्व दूर करके श्रीरामजी सीताजी को ब्याहेंगे। महाराज दशरथजी के रण में बाँके (विकट) पुत्रों को युद्ध में कौन जीत सकता है? ॥२४५॥

विशेष—(१) 'जो अविवेक अंध···'—ऊपर—'जनु राकेस उदय···' कहा गया है, वे इन्हें नहीं देख पड़े। अतः, 'अंध' हैं। पुनः—'अस विचारि गवनहु···' पर विचार न किया, इससे 'अविवेकी' हैं। आगे अभिमान के वचन कहते हैं, अतः 'अभिमानी' हैं। विवेकहीन होने से अंधे कहे गये और इसीसे आगे अभिमान के वचन भी कहेंगे। 'विहँसे'—हँसकर मध्यम राजाओं के वचनों का निरादर किया। 'अपर भूप'—ये तमोगुणी अधम राजा हैं।

(२) 'तोरेहु धनुष···'—भाव—धनुष टूटने पर भी बड़ा गहरा युद्ध-रूप समुद्र उमड़ पड़ेगा, जिसके पार जाना तो दूर है, इन्हें उसका थाह भी न मिलेगा। अतः, ब्याह दूर समझो।

(३) 'एक बार कालहु···'—'कालहु' का लक्ष्यार्थ काल के समान बलवान् पर है। काल से अधिक बली तो कोई है ही नहीं। हम ऐसे बली का भी सामना करेंगे। 'एक बार'—का भाव यह कि दूसरी-तीसरी बार चाहे वही हमें जीते, पर पहले तो हम जीतेंगे ही। 'समर जितब'—ये धनुष तोड़कर ब्याह नहीं करेंगे, क्योंकि उसे सम्भवतः न तोड़ सकें, और 'राम चाप तोरब···' की दृष्टि से धनुष चाहे रामजी ही तोड़ें, पर इन राजाओं को लड़ाई का अभिमान है।

(४) 'यह सुनि अपर···'—ये सत्वगुणी उत्तम राजा हैं, उपर्युक्त तमोगुणियों पर तिरस्कार की दृष्टि से मुसकुराये। 'धर्मसील' से कर्मकांडी, 'हरि-भगत' से उपासक और 'सयाने' से ज्ञानी होना सूचित किया अर्थात् ये कांडत्रय-निष्ठ हैं।

(५) 'सीय बिआहबि राम···'—उपर्युक्त—'को कुँअरि बिआहा' का उत्तर—'सीय बिआहबि राम' है। 'समर जितब हम' का उत्तर—'जीति को सक···' है। 'दसरथ के'—राजा दशरथ भी समर में एक ही थे, यथा—"सुरपति-बसइ बाँह-बल जाके।" (अ० दो० २७) ये उनके महापराक्रमी पुत्र हैं, यथा—"जिते असुर संग्राम" (दो० २१६)। यह विरद विख्यात है, ये स्वयं भी 'रण बाँकुरे' अर्थात् बाँके लड़ाके हैं, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर को जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८)। राजा दशरथ ने शनैश्चर को भी रण में पराजित किया है, यह कथा पद्म-पुराण में प्रसिद्ध है; वहीं पर शनि-स्तोत्र भी है।

ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्हि कि भूख बुताई ॥१॥
सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥२॥
जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥३॥
सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी ॥४॥

शब्दार्थ—गाल बजाना = व्यर्थ बातें करना। बुताई = बुझेगी। मोदक = लड्डू।

अर्थ—व्यर्थ ही गाल बजाकर मत मरो, क्या मन के लड्डू खाने से भूख बुझेगी? ॥१॥ हमारी परम

पवित्र शिक्षा सुनकर सीताजी को हृदय से जगत् की माता समझो ॥२॥ और श्रीरघुनाथजी को जगत् के पिता विचार आँखें भरकर उनकी छवि को देख लो ॥३॥ सुंदर, सुख देनेवाले और सब गुणों की राशि ये दोनों भाई शिवजी के हृदय में रहनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'व्यर्थ मरहु जनि···'—भाव, बहुत बकोगे तो संग्राम छिड़ जायगा और मारे जाओगे, बातों के शूर व्यर्थ ही प्राण गँवाते हैं। 'मन मोदकन्हि'—राजकुमारी की प्राप्ति की इच्छा करना मन के लड्डू खाना है। 'भूख बुताना' सीताजी की प्राप्ति है। तमोगुणी राजाओं के मन, वचन और कर्म—तीनों दूषित हैं, यथा—'जीति को सक संग्राम···' से इनके कर्म की निन्दा, 'मरहु जनि गाल बजाई' से वचन की निंदा और—'मनमोदक···' से मन की निन्दा हुई।

(२) 'सिख हमारि सुनि···'—भाव यह कि रजोगुणी राजाओं की शिक्षा भी 'पुनीत' थी, पर हमारी तो 'परम पुनीत' है। उन्होंने मर्यादा रहते हुए घर लौटना कहा था और हम यहीं बैठे हुए जन्म-फल पाने का उपाय कह रहे हैं। पुनः इससे श्रीसीतारामजी में प्रीति होगी।

(३) 'लेहु निहारी'—मध्यम राजाओं ने भाग चलने को कहा था, उन्हें ये कहते हैं कि जाते कहाँ हो, दैवयोग से ये मिल गये हैं, इनकी छवि देखकर जन्म सफल कर लो। श्रीसीताजी के विषय में 'जानहु' और श्रीरामजी में 'निहारी' कहा है। भाव यह कि तुम सीताजी को निहारने के भी अधिकारी नहीं हो। पुनः 'जानहु' और 'बिचारी' से यह भी सूचित किया है कि ये देखने में तो लड़की-लड़के-से हैं, पर विचारने से जगत् के माता-पिता हैं।

(४) 'सुंदर सुखद सकल···'—सुंदर, सुखद और सकल-गुण-राशि होने से ही दोनों भाई शिवजी के हृदय में बसते हैं। शिवजी वर माँगकर बसाते हैं, यथा—"अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (लं० दो० ११४)। उपासक लोग परिकर-समेत प्रभु का ध्यान करते हैं, यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजना दांभिका जनाः॥" यह स्मृति है। बहुत जगह शंकर-हृदय में श्रीरामजी का ही बसना कहा है—"जय महेस-मन-मानस-हंसा।" (दो० २८४), "संकर सोइ मूरति उर राखी।" (दो० ७५) इत्यादि; इनमें प्रधानता से श्रीरामजी ही का नाम कहा गया है।

शंकर के ध्येय में संदेह होने पर सतीजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य देखा है तो वहाँ भी उपक्रम में—"आगे राम सहित श्री भ्राता।" और उपसंहार में भी—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता॥" (दो० ५२-५४) कहा है। अतः, शिवजी सदा ही तीनों का ध्यान धरते हैं।

सुधासमुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥५॥
करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनमफल पावा ॥६॥
अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे ॥७॥
देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥८॥

दोहा—जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाइ ॥२४६॥

अर्थ—अमृत का समुद्र पास में छोड़, तुम मृगतृष्णा के जल को देखकर क्यों दौड़ते मरते हो ? ॥५॥ जिसको जो रुचे, वही जाकर करो, हम तो आज जन्म लेने के फल पा गये ॥६॥ ऐसा कहकर भले राजा लोग अनुराग में निमग्न होकर अनुपम रूप देखने लगे ॥७॥ देवता गण आकाश में विमानों पर चढ़े हुए देखते और सुन्दर गान करते हुए फूल बरसा रहे थे ॥८॥ शुभ अवसर जानकर राजा जनकजी ने सीताजी को बुलवा भेजा, सब सुन्दर और चतुर सखियाँ उनको आदर-पूर्वक लिवा ले चलीं ॥२४६॥

विशेष—(१) 'सुधासमुद्र समीप······'—दोनों भाई अमृतमय समुद्र हैं, यथा—"ये जाने बिनु···न तरु सुधासागर परिहरि कत···" (गो० बा० ११); यही मानकर इन्हें शिवजी ने हृदय में बसाया है, यथा—"सुंदर सुखद सकल······" कहा गया। 'मृगजल निरखि ······'—पूर्व मन-मोदक का भोजन कहा गया, वैसा ही यहाँ जल भी कहा है। सुधासमुद्र समीप है अर्थात् इनके दर्शनों एवं भजन के द्वारा मृत्यु-रूप संसार से बचना सुलभ है और धनुष तोड़ना एवं श्रीसीताजी का प्राप्त करना तृष्णामात्र है, केवल मनोरथ की दौड़ लगाकर मरना भर है। 'धाई' अर्थात् तुम्हारे लिये बहुत दूर है। पास में अमृत-सिंधु छोड़कर मृग-जल के पीछे दौड़ना मूर्खता है। अतः, इन्हें मूर्ख कहा।

इन राजाओं को पूर्व कांडत्रयनिष्ठ कहा है, वैसे ही उपदेश भी इन्होंने दिये हैं। श्रीसीता-रामजी को माता-पिता जानने में 'धर्म' (कर्म), नेत्र-भर छवि देखने में उपासना और—'ये दोउ बंधु संभु-उर बासी।'—'मृगजल निरखि······' में ज्ञान के भाव हैं।

(२) 'करहु जाइ जा कहँ······'—कोई तो—'अस बिचारि गवनहु घर···' वाले और कोई—'सिय हित समर ······' वाले हैं, वे अपनी भावना चाहे छोड़ें या न छोड़ें। 'करहु जाइ'—अर्थात् उन्होंने—'अबिबेक अंध अभिमानी।' होने से नहीं माना, क्योंकि अभिमानी किसी की शिक्षा नहीं सुनते, यथा—"*मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि-सिखावन करसि न काना॥*" (*कि० दो० ८*)।

'हम तौ आजु ······'—अर्थात् राम-लक्ष्मण के दर्शनों से ही जन्म की सफलता है, यथा—"धन्य बिहँग मृग कानन चारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥" (अ० दो० १३५); तथा—"मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥" (वाल्मी० ७।८२।१०)।

(३) 'अस कहि भले भूप······'—ये दूसरे के ही उपदेष्टा नहीं हैं, प्रत्युत उपदेश के अनुसार चलते भी हैं। अतः, अनुराग-पूर्वक देखने लगे। देखते तो दुष्ट राजा भी हैं, पर वे दुर्भाव से देखते हैं।

(४) 'देखहिं सुर नभ······' कुछ देवता भूमि पर राज-रूप बनकर भी आये हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये······" (दो० २५०); वे छल से नर-रूप में हैं, पर ये देवता अपने ही रूप से आकाश में हैं और श्रीसीतारामजी के आगमन पर सुमंगलद्योतक पुष्प-वर्षा कर रहे हैं। यह एक ही चौपाई दीप-देहली रूप से श्रीरामजी के आगमन के अनन्तर और श्रीजानकीजी के आगमन के पूर्व देकर दोनों पर पुष्प-वृष्टि का भाव सूचित किया, यथा—"सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥" (दो० ३१३)।—यद्यपि श्रीसीताजी के आने के अन्त में भी इसका वर्णन है।

(५) 'जानि सुअवसर सीय······'—सारी सभा स्थिर हो गई, मंगलमय पुष्प-वृष्टि हो रही है और देवताओं का मंगल-गान हो रहा है। शुभ लग्न भी आ गई है, इत्यादि सुअवसर है; पुनः बिना राजकुमारी के आये कोई राजा धनुष उठाने को नहीं उठेगा। अतः, राजकुमारी को बुलवाया। 'चतुर सखी'—सभी सखियाँ चतुर हैं, इसीसे मुहूर्त्त जाने हुए तैयार थीं, तुरंत लिवा ले चलीं। उनमें दो-एक

ऐसी भी थीं, जो सब राजाओं के नाम, गुण, कुल आदि से भी परिचित थीं। शेष और सब बातों में चतुर थीं। 'आदर' अर्थात् पालकी पर चढ़ाकर छत्र-चँवर आदि से सजे हुए साथ में गान करती हुई चलीं, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ, सतानंद ल्याये सिय सिबिका चढ़ाइ के।" (गी० बा० ८१)।

सियसोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप-गुन-खानी ॥१॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी ॥२॥
सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई ॥३॥

अर्थ—रूप और गुणों की खान जगन्माता श्रीसीताजी की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ जँचीं, क्योंकि वे प्राकृत-स्त्रियों के अंग में अनुराग पूर्वक लगी हुई हैं ॥२॥ उन्हीं उपमाओं को देते हुए श्रीसीताजी का वर्णन करने से 'कुकवि' कहाकर कौन अपयश ले ? ॥३॥

विशेष—(१) 'सिय-सोभा नहिं''''''—श्रीरामजी के आगमन पर शोभा कही गई, वैसे ही श्रीजानकीजी की भी शोभा कहना चाहते हैं, पर वह नहीं कही जा सकती। न कह सकने के कारण अगले पूरे दोहे में कहते हैं। 'जगदंबिका' अर्थात् जगत् मात्र की माता हैं, माता की शोभा पुत्र कैसे कहे ? यथा—"जगत-मातु-पितु संभु-भवानी। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी ॥" (दो० १०२)। यदि कोई हठधर्म से कहने का प्रयास भी करे तो नहीं कह सकेगा; क्योंकि 'रूप-गुन-खानी' हैं; यथा—"कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जगजननि सोभा महा।" (दो० १००) इसपर यदि कहा जाय कि अच्छी उपमाओं द्वारा ही लक्ष्य कराइये, उसपर कहते हैं—

(२) 'उपमा सकल मोहि लघु''''''—सरस्वती (वाणी) उपमा रूपी द्रव्य से आदि शक्ति की पूजा करना चाहती हैं, पर सब उपमाएँ साधारण स्त्रियों में लगकर उनकी जूठी हो चुकीं, उन्हें विदेहकुमारी के लिये कैसे दें ? यथा—"सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी ॥" (दो० २२१)।

'मोहि'—अन्य कवियों ने भले ही यथार्थ मानकर उन उपमाओं से सीताजी का वर्णन किया हो, पर मुझे तो वे तुच्छ जान पड़ीं। 'सकल' सब-की-सब उपमाएँ किसी-न-किसी ग्रंथ में प्राकृत नारियों में लगी हुई पाई जाती हैं।

'प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी।'—अर्थात् प्राकृत नारियों में वे उपमाएँ अनुराग-पूर्वक लगी हैं, क्योंकि प्राकृत नारियों के अंग उपमेय हैं, वे उपमाओं से लघु हैं। अतः, वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं, इसीसे प्रसन्न रहती हैं, पर किशोरीजी में लगाने पर वे संकुचित हो जाती हैं, इनके दिव्य तन के समक्ष उनकी रही-सही शोभा भी संकुचित होने पर नहीं रह जाती। यथा—"भुजनि भुजग, सरोज नयननिंह, बदन बिधु जित्यो लरनि। रहे कुहरनि सरनि नभ उपमा अपर दुरीं डरनि ॥" (गी० बा० २४)।

(३) 'कुकवि कहाइ अजस को लेई।'—कवि तीन प्रकार के होते हैं—कवि, कुकवि और सुकवि। जो प्राकृत लोगों के गुणों का वर्णन करें, वे कवि हैं, यथा—"सब उपमा कबि रहे जुठारी।" जो प्राकृत उपमाओं को श्रीजानकीजी में लगावें, वे कुकवि हैं—"कुकवि कहाइ अजस को लेई ॥" और जो प्राकृत उपमाओं को अप्राकृत में न लगावे वे ही सुकवि हैं, इस तरह श्रीगोस्वामीजी सुकवि हैं। यश के लिये काव्य किया जाता है, जिसमें उल्टा अपयश हो, वह क्यों करें ? अपयश का कारण पाप है, यथा—

"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ।" (उ० दो० १११); चन्द्रमा आदि प्राकृत उपमाओं को सीताजी में लगाना पाप है, यथा—"वैदेही-मुख पटतर दीन्हे । होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥" (दो० २३०)।

जौ पटतरिय तीय सम सीया । जग असि जुवति कहाँ कमनीया ॥४॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी । रति अतिदुखित अतनु पति जानी ॥५॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही । कहिय रमा-सम किमि बैदेही ॥६॥

अर्थ—यदि श्रीसीताजी की समता में स्त्री की उपमा दी जाय तो जगत् में ऐसी सुन्दरी स्त्री है कहाँ ? ॥४॥ सरस्वती बहुत बोलनेवाली (बक्की) हैं, पार्वती आधे अंग की हैं और रति अपने पति (काम) को बिना शरीर के जानकर अत्यन्त दुःखित है ॥५॥ विष और मदिरा जिनके प्यारे भाई हैं, उन लक्ष्मीजी के समान जानकीजी को कैसे कहें ? ॥६॥

विशेष—(१) 'जौ पटतरिय तीय'''—प्राकृत नारियाँ उपमाओं से ही लघु थीं, यहाँ उपमाएं भी लघु लगीं। अब जगत् के तीनों लोकों की दिव्य तनवाली श्रेष्ठ स्त्रियों को तुलना के लिये मिलान करते हैं—

'गिरा मुखर तनु अरध'''—बहुत बोलना स्त्रियों में भारी दोष है। श्रीजानकीजी गंभीर स्वभाव की हैं, यह स्वभाव-भेद है। पार्वतीजी आधे तन की ही सुन्दरी हैं, आधे तन में अमंगल वेषधारी शिवजी हैं। रति का पति कामदेव शरीर-रहित है, इससे वह अति दुःखित रहती है। पार्वतीजी आधे तन से दुःखित और रति अति दुःखित रहती हैं। श्रीजानकीजी सदा प्रसन्न रहती हैं, यह गुण में भेद है। लक्ष्मीजी सागर से प्रकट हुई। अतः, नैहर के सम्बन्धी अश्व आदि भी उनके परिवार हैं, पर विष-वारुणी प्रिय बंधु हैं; जिनका फल नरक है; अर्थात् विष खाकर मरे, तो अकाल मृत्यु होती है। वारुणी (मदिरा) पीने से लोग मतवाला होकर प्रमाद से पाप करते हैं; पर श्रीसीताजी की कृपा-दृष्टि से भगवत्-प्राप्ति होती है। अतः, लक्ष्मी की उपमा में क्रिया-विरोध है। इसलिये ये उपमाएँ अयुक्त हैं। प्रतीप अलंकार का तीसरा भेद है।

यहाँ त्रिदेवों की शक्तियों के बीच में रति कही गई है, क्योंकि भवानी और रति में दुःख की समानता है; अर्थात् एक के पति बिना शृंगार के हैं, पुनः सर्पादि लपेटने से और भी दूषित हैं, और दूसरी के पति के अंग ही नहीं, तो शृंगार किसमें हो ? दुःख की क्रिया में समानता है, इसलिये साथ कहा है। जैसे—"सोचिय बटु" ''से—"बैखानस सोइ'''" तक (अ० दो० १७१-१७२) में बटु, गृही, बैखानस और यति के वर्णन में क्रम-भंग करके गृही और यति को साथ कहा है, क्योंकि उनमें कर्म के त्याग और ग्रहण में समता है कि एक कर्म-मार्ग छोड़ने में दूषित है और दूसरा सकाम कर्म के लिये प्रपंच-रत होने में दूषित है। पुनः यह भी कारण है कि यहाँ क्रमशः अधिक दोष कहते हैं; गिरा का मुख ही भर बिगड़ा है, भवानी का आधा तन नष्ट है, रति के पति के तन ही नहीं। अतः, अत्यन्त दुःखी होने से और भी मलिन रहती है। लक्ष्मी में तो कई दोष आ पड़े हैं, इससे वे बिलकुल ही हीन हैं।

नगर-दर्शन के प्रसंग में श्रीरामजी की शोभा कहने में काम और त्रिदेव को न्यून कहा था वैसे यहाँ उनकी शक्तियों को कहा। पुनः जैसे वहाँ—"अपर देव अस कोउ न आही।" कहा था, वैसे यहाँ भी—"जग असि जुवति कहाँ कमनीया।" कहा है। अतः, दोनों जगह समान वर्णन किया है।

सम्बन्ध—पूर्व-कथित उपमाएँ दोषों के कारण अयुक्त हो गईं, तो नवीन उपमा बनाते हैं—

जौं छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई ॥७॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथइ पानि-पंकज निज मारू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता - सुख - मूल।
तदपि सकोच-समेत कबि, कहहिं सीय समतूल ॥२४७॥

शब्दार्थ—छबि=लावण्य, शोभा, कान्ति।

अर्थ—जो छबि-रूपी अमृत का समुद्र होवे और कच्छप भगवान् वे ही रहें, पर वे परम सुंदर हों ॥७॥ शोभा रस्सी हो, शृंगार ही मंदराचल हो और कामदेव अपने ही कर-कमलों से मथे ॥८॥ इस तरह जब सुन्दरता और सुख की जड़ लक्ष्मी प्रकट हो, तो भी कवि संकोच के साथ ही कहेंगे कि वह श्रीसीताजी के समान है ॥२४७॥

विशेष—(१) 'जौं छबि सुधापयोनिधि···'—यों तो लक्ष्मी ही श्रेष्ठ मानी जाती हैं, पर उनके सम्बन्धी दोष बहुत हैं, इसलिये उनके कुरूपमय अंशों को दूर करके उत्तम सामग्री से लक्ष्मी बनाते हैं कि उस समुद्र में तो दूध ही था, यहाँ छबि-रूप अमृत हो। दूध में अवगुण भी होते हैं, अमृत में गुण ही। 'जौं'—ऐसा तो होता नहीं, पर यदि दैव-योग से हो जाय। 'परम रूपमय ···'—कच्छप भगवान् के अवतार हैं। अतः, वे ही रहें, पर प्रथम रूपमय ही थे, अब परम रूपमय हो जायँ। वहाँ वासुकी नाग रस्सी रूप में थे, जो विषैले थे, पर यहाँ शोभा ही रस्सी हो। वहाँ मंदराचल मथानी-रूप में था, पर्वत में सुन्दरता कहाँ? और, यहाँ शृंगार रस ही मंदर बने। वहाँ देवता और दैत्य मथनेवाले थे, जिनमें दैत्य तो भयानक थे, यहाँ देवताओं से कहीं अधिक सुन्दर कामदेव है, वही अपने ही दोनों हाथों से मथे।

(२) 'येहि बिधि उपजइ लच्छि···'—इस प्रकार से जो लक्ष्मी होंगी, वे सुन्दरता और सुख की जड़ ही होंगी। दूसरा भाव यह भी है, लक्ष्मी जो उपजी थीं, वे असुंदर एवं दुःख-मूलक थीं, क्योंकि उसके प्रकट होने की सामग्रियाँ सुन्दर न थीं और बड़े कष्ट से मंथन पर प्रकट हुई थीं। यहाँ सब सामग्रियाँ सुन्दर हैं और सुख-पूर्वक उत्पन्न हुई है। अतः, ये लक्ष्मी सुन्दरतापूर्ण एवं सुखमूलक हैं।

'तदपि सकोच समेत ···'—जब ऐसी अद्भुत उपमा मिल गई तब फिर संकोच किस बात का रहा? इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति दो कारणों से होती है—निमित्त और उपादान। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मृत्तिका उपादान और कुम्हार निमित्त कारण है। कार्य की उत्तमता कारण पर निर्भर रहती है। यहाँ निमित्त कारण कामदेव है, जो प्राकृतिक सृष्टि का एक अति अल्पांश है। उसमें इतनी योग्यता कहाँ कि श्रीसीताजी के तुल्य लक्ष्मी निकाले? यथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो॰ १४८); । यह उसकी कल्पना से भी बाहर है; इसलिये उक्त प्रकार की लक्ष्मी से भी उपमा देने में कवि को संकोच ही रहा। इसमें संभावना और प्रतीप अलंकार हैं।

चलीं संग लै सखी सयानी। गावति गीत मनोहर बानी ॥१॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी ॥२॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥३॥

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥४॥
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥५॥

शब्दार्थ—सुबेष=यथायोग्य अंगों में। पगु धारी=चरण रक्खे। मोहे=मुग्ध हो गये, एकटक देखते रह गये; प्रेमवात्सल्य से देह की सुधि न रही, यथा—"सोचिहु उनके मोह न माया।" (दो० ११)। नवल=सुंदर, नवीन।

अर्थ—मन को हरनेवाली वाणी से सुंदर मनोहर गीत गाती हुई सयानी सखियाँ (श्रीसीताजी को) साथ लेकर चलीं ॥१॥ सुंदर शरीर पर सुंदर साड़ी शोभित है। वे जगत् की माता हैं, उनकी भारी छवि उपमा-रहित है ॥२॥ सब भूषण यथायोग्य अंगों में शोभा दे रहे हैं, (जिन्हें) सखियों ने अंग-अंग में रचकर सजा दिया है ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने रंगभूमि में चरण रक्खे तब स्त्री-पुरुष रूप देखकर मुग्ध हो गये ॥४॥ देवताओं ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये, फूल बरसाये और अप्सराएँ फूल बरसाकर गाने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'चलीं संग लै…'—इसमें 'मनोहर' शब्द दीपदेहली है। यथा—"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥" (दो० २२७)। यह चौपाई फुलवारी-प्रसंग की है, इसमें श्रीजानकीजी की प्रधानता है, क्योंकि वहाँ माताजी ने श्रीजानकीजी को ही गिरिजा-पूजन के लिये भेजा था, सखियाँ साथ में थीं। यहाँ राजा एवं गुरु की आज्ञा से सखियाँ ले आई हैं, सभा में होने से यहाँ श्रीसीताजी को संकोच भी है, इसलिये सखियाँ ही प्रधान हैं। 'सयानी'—स्वयंवर की सभी रीतियों के जाननेवाली हैं।

(२) 'सोह नवल तनु सुंदर…'—सुन्दर दिव्य तनु के साहचर्य से साड़ी भी अत्यन्त सुहावनी हो गई है। 'जगत-जननि'—यहाँ शृंगार रस प्रधान है, पर उसके साथ शांत रस को भी लेकर ऐश्वर्य कहते हैं कि सीताजी जगत्-भर की माता हैं। अतः, शृंगार कैसे कहा जाय? हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी भारी छवि तुलना के योग्य नहीं है। इस तरह समष्टि में शोभा कह भी दी और नख-शिख वर्णन के दोष से भी बच गये। आगे भूषण भी कहते हैं। अतः, भूषण-वस्त्र एवं छवि कहकर सब कह दिये। इस तरह भक्ति, कविता और शृंगार—सभी का निर्वाह किया।

(३) 'भूषन सकल सुदेस…' यथा—"सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन, अँग-अँग सजे बनाइ॥" (उ० दो० ११); इसी तरह यहाँ सखियों ने प्रीति-पूर्वक रच-रच कर गहने सजाये हैं।

(४) 'देखि रूप मोहे नरनारी।'—यहाँ 'मोहे' का अर्थ कामासक्ति नहीं है; किंतु सुन्दर वस्तु पर लुभा जाना है, एकटक देखना मुग्ध होना है, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै। रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)। यहाँ नर-नारियों का वात्सल्य भाव-सहित रूप पर मोहित होने का प्रसंग है, यथा—"देखत रूप सकल सुर मोहे।" (दो० ६६)। "रमा समेत रमापति मोहे।" (दो० ३१६। उत्तरकांड की चौ०—"मोह न नारि नारि के रूपा।" (दो० ११५) में कामासक्ति का प्रसंग है।

(५) 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'—ऊपर जनकपुर के नर-नारियों का मोहित होना कहकर अब देवताओं का भी वैसे आनन्द में मग्न होना कहते हैं। श्रीरामजी के आगमन पर देवताओं का फूल बरसाना और गाना कहा गया, यथा—"बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।" (दो० २४५); वैसे ही यहाँ उनकी स्त्रियों का फूल बरसाना और गाना कहा गया। देवताओं का नगाड़ा बजाना यहाँ अधिक है। इस

तरह देवगणों ने युगल सरकार की सेवा की और मंगल शकुन भी जनाये, यथा—"सुर हरषत बरषत फूल बार-बार सिद्धि मुनि कहत सगुन सुभघरी है ॥" (गी० बा० ८०) ।

पानिसरोज सोह जयमाला । अवचट चितये सकल भुआला ॥६॥
सीय चकित चित रामहि चाहा । भये मोहबस सब नरनाहा ॥७॥
मुनिसमीप देखे दोउ भाई । लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥८॥

दोहा—गुरुजन-लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि ।
लागि बिलोकन सखिन्ह तनु, रघुबीरहिं उर आनि ॥२४८॥

अर्थ—(सीताजी के) कर-कमल में जयमाला शोभा दे रही है, उन्होंने अचानक दृष्टि से सब राजाओं की ओर देखा ॥ ६ ॥ सीताजी चकित चित्त होकर श्रीरामजी को ही देखने लगीं, तब सब राजा मोह के वश हो गये ॥ ७ ॥ दोनो भाइयों को मुनि के समीप में देखा, तब नेत्र अपना खजाना पाकर ललककर (लालच-पूर्वक) वहाँ जा लगे ॥ ८ ॥ गुरुजनों और बड़े समाज को देखकर (उनकी लज्जा से) श्रीसीताजी सकुचा गईं और श्रीरघुवीर को हृदय में लाकर सखियों की ओर देखने लगीं ॥२४८॥

विशेष—(१) 'पानिसरोज सोह···'—हाथ कमल के समान सुंदर हैं, वैसी ही माला भी सुंदर है, यथा—"कर-सरोज जयमाल सुहाई । विस्वबिजय सोभा जेहि छाई ॥" (दो० २६३) अर्थात् इसमें विश्वविजय की शोभा है ।

जयमाल में मतभेद है । कहीं कमल की, कहीं स्वर्ण की, कहीं दूब की और कहीं महुए की माला कही गई है । इसलिये ग्रंथकार ने सब मतों की रक्षा के लिये स्पष्ट नाम न देकर गुप्त रीति से कमल को ही जनाया है । यथा—"जयमाला जानकी जलज कर लई है । सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहुँ मदन माली आपु निरमई है ॥······पिय हिय सोहत सो भई है । मानस ते निकसि बिसाल सु तमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है ॥" (गी० बा० ९४)। इसमें 'जलज कर' श्लेषार्थक है, इसका अर्थ 'कमल का' और 'हस्त कमल' दोनों है तथा हंस की उपमा से श्वेत कमल लक्षित है । इसे ही आगे स्पष्ट कहते हैं कि मंगलशकुन-सूचक फूलों की बनी है । अन्यत्र चौपाइयों में भी 'सरोज' एवं इसके पर्यायी शब्द इसी तरह दीपदेहली रूप में रक्खे गये हैं । यथा—"कर सरोज जयमाल······" ऊपर आया है एवं मूल में भी—'पानिसरोज सोह जयमाला।' है तथा—"सीताजू रघुनाथ के, अमल कमल की माल। पहिराई जनु सबनि के, हृदयावलि भूपाल ॥" (केशवकृत रामचन्द्रिका) । "तस्यांसदेश-उशतीं नवकंज मालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ॥ तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥" (भाग० स्कंध ८ अ० ८ श्लोक २४) ; अर्थात् लक्ष्मीजी जब क्षीरसमुद्र से प्रकट हुईं, तब श्वेत कमल की माला हाथ में लिये थीं । तथा—"लसत ललित कर कमल माल पहिरावत । कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत ॥" (जानकीमंगल ११२) ।

'अवचट चितये ······'—'अवचट' अर्थात् इच्छा-रहित दृष्टि से, इन्हें श्रीरामजी के देखने की चाह है, इसलिये राजाओं में देखने के लिये उधर दृष्टि डाली । उस श्रेणी में न पाकर चकित हो गईं कि वे क्या आये ही नहीं ? क्योंकि सुन चुकी हैं कि वे मुनि के संग में हैं । मुनि लोग विरक्त होते हैं । यहाँ राजसमाज समझकर कदाचित् न आये हों ।

(२) 'रामहिं चाहा'—'चाहा' का अर्थ देखना है। यथा—"सुचित चख-चाही।" (दो० २८); अर्थात् वे उस राज-समाज में श्रीराम ही को खोज रही हैं, इसीसे किसी राजा की ओर दृष्टि न रुकी।

'भये मोह-बस सब'''''''—यहाँ इन राजाओं का मोहना पूर्वोक्त—'देखि रूप मोहे नर-नारी।' से पृथक् रीति का है, इनका मोहित होना प्राकृत शृंगार-दृष्टि से है।

(३) 'मुनि-समीप देखे दोउ भाई।''''''''—नेत्र चकित थे। अतः, ललकने लगे। यथा—"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥" (दो० २३१); इसमें फुलवारी का प्रसंग था, वहाँ बहुत काल पर प्रथम दर्शन हुए थे। अतः, 'निजनिधि' कहा गया था। यहाँ उसके एक ही दिन बाद फिर देखती हैं, अतः, 'निधि' ही कहा है।

(४) 'गुरुजन लाज समाज बड़''' '''—फुलवारी में कहा गया है—'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।' क्योंकि वहाँ एकान्त था। यहाँ थोड़ा ही देखने में सकुच गई, क्योंकि एक तो बड़ा समाज है, फिर भी गुरुजन समीप हैं, इससे भारी लाज का स्थल है।

'सिय' शब्द शीतलता पाने पर कहा है और 'रघुबीर' शब्द वीरता देख पड़ने में है।

राम-रूप अरु सिय-छबि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेखी॥१॥
सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं॥२॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥३॥
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू। सीय राम कर करइ बिबाहू॥४॥
जग भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी का रूप और जानकीजी की छवि देखकर स्त्री पुरुषों ने पलक मारना छोड़ दिया॥१॥ सभी मन में सोचते हैं, पर कहने में सकुचाते हैं, मन में ब्रह्माजी से विनती करते हैं॥२॥ हे विधाता! जनकजी की मूर्खता को शीघ्र हर लीजिये और हमारी ऐसी सुन्दर बुद्धि उन्हें दीजिये॥३॥ जिससे बिना विचारे ही प्रतिज्ञा को छोड़कर राजा सीताजी का विवाह रामजी से कर दें॥४॥ संसार इसे भला कहेगा, क्योंकि सब किसी को यह बात रुचती है। हठ करने से अंत में भी छाती जलेगी॥५॥

विशेष—(१) 'राम-रूप अरु सिय-छबि ''''''—श्रीरामजी के विषय में रूप का देखना कहा गया, रूप में नख शिख की आकृति, रंग, वस्त्र, आभूषण—सभी आ जाते हैं, क्योंकि इन्हें पूर्ण रूप से देखने का सबको अधिकार है। श्रीजानकीजी की छवि का देखना है, छवि में समष्टि सौंदर्य, कान्ति और छटा के ही भाव रहते हैं, क्योंकि इनके विषय में इतना ही अधिकार है। 'रूप' पुँल्लिंग है और 'छवि' स्त्री-लिंग। दोनों शब्दों को यथास्थान ही रक्खा है। यह श्री गोस्वामीजी की विलक्षण सँभाल है।

(२) 'बिधि सन बिनय करहिं''''''''—ब्रह्माजी से ही विनती करते हैं, क्योंकि संसार का विधान इन्हीं के हाथ है, वैसे ही यहाँ वर-कन्या का संयोग मिलाना ब्रह्मा ही का काम है; यथा—"जौ बिधि-बस अस बनइ संजोगू।" (दो० २२१), "जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी अरु रामहि ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास सोइ चतुर बिधाता निजकर यह संजोग सियो री॥" (गी० बा० ७७)। 'मन माहीं' क्योंकि प्रजा राजा को जड़ कहे, यह अयोग्य है, सुननेवाले क्या कहेंगे? इसलिये मन ही में विनय करते हैं, कहने में संकोच है।

ये लोग मन, वचन, कर्म—तीनों से श्रीरामजी में लगे हैं—'परिहरीं निमेखीं'—कर्म, 'कहत सकुचाहीं'—वचन और 'मन माहीं'—मन की वृत्ति है।

(२) 'हरु विधि वेगि जनक·······'—'वेगि'—क्योंकि अभी प्रतिज्ञा नहीं सुनाई गई, सुना देने पर फिर प्रतिज्ञा को छोड़ना अनुचित होगा या किसी ने धनुष तोड़ दिया, तब भी कुछ न हो सकेगा, फिर तो उसे ही कन्या देनी पड़ेगी।

(३) 'बिनु बिचार पन तजि ·····'—विचार करने पर प्रतिज्ञा को छोड़ना नहीं हो सकेगा। यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।" (दो० २५१); तथा—"नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन।" (जानकीमगल ७४)। 'नरनाहू'—राजाओं को अपना स्वार्थ और लाभ देखना चाहिये। यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥" (दो० २५७)। लाभ प्रण छोड़कर सीताजी का श्रीराम से व्याह करने में है।

(४) 'जग भल कहिहि ······'—यदि कोई कहे कि प्रण छोड़ने में अपयश होगा तो उसपर कहते हैं कि सबको तो यही रुच रहा है तो अपयश कौन देगा? यदि प्रण का हठ करेंगे तो जैसे अभी छाती जलती है कि इनको न देखा था, नहीं तो ऐसा प्रण न करते; यथा—"ये जाने बिनु जनक जानियत पन करि भूप हँकारे। न तरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे॥" (गी० बा० ८१)। पुनः आगे यदि किसी अयोग्य से धनुष टूटा अथवा नहीं ही टूटा तो फिर हृदय में जलन होगी।

येहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥६॥
तब बंदीजन जनक बोलाये। बिरदावली कहत चलि आये॥७॥
कह नृप जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरष न थोरा॥८॥

दोहा—बोले बंदी बचनबर, सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥२४९॥

अर्थ—इसी लालसा में सब लोग मग्न हैं कि जानकीजो के योग्य वर साँवला कुमार है॥६॥ तब ... जनक ने भाटों को बुलवाया, वे वंश की कीर्ति कहते हुए चले आये॥७॥ राजा ने (भाटों से) कहा कि तुम जाकर मेरा प्रण सबसे कहो। (यह सुनकर) भाट चले, उनके हृदय में बहुत हर्ष है (वा थोड़ा भी हर्ष नहीं है)॥८॥ भाट लोग श्रेष्ठ वचन बोले कि हे सब राजा लोगो! सुनिये, श्रीविदेहजी की प्रतिज्ञा को हम हाथ ऊँचा उठाकर कहते हैं॥२४९॥

विशेष—(१) 'येहि लालसा मगन सब····'—इस लालसा का प्रसंग—'सोचहिं सकल······' से यहाँ तक कहा गया, इसका विशद वर्णन—'रंगभूमि भोर ही आइकै' (गी० बा० ८८) में है।

(२) 'तब बंदीजन जनक···'—'तब' का 'जब' से नित्य सम्बन्ध है, यह पहले ही कहा गया है, यथा—"रंगभूमि जब सिय पगु धारी।" यहीं यह प्रसंग छोड़कर कवि सबकी दशा कहने लगे थे, फिर यहीं से उठाया। 'बंदीजन' अर्थात् वंश की कीर्ति कहनेवाले, उन्हें ही आगे—'बिरदावली कहत···' से सूचित किया है। यथा—"बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं।" (दो० ३१५), "मागध बंदी गुन गन गरना।" (बा० दो० १०)। 'बोलाये' और 'चलि आये' से जान पड़ता है कि राजा समाज के एक तरफ और बंदी दूसरी तरफ थे।

विरदावली कहते हुए आये कि जिससे राजा जनक के कुल की उत्तमता सबको मालूम हो जाय। भाट लोग समय पर स्वयं आते हैं, पर आज बुलाना पड़ा, क्योंकि ये लोग भी उपर्युक्त—'लालसा मगन सब लोगू।' में थे, अतः, प्रण कहने की इच्छा न थी।

(३) 'कह नृप जाइ कहहु···'—'जाइ' अर्थात् राजा समाज से दूर पर थे। 'हरष न थोरा'—स्वामी की आज्ञा के पालन में बहुत हर्ष होना उत्तम सेवकों का धर्म ही है। पुनः यह भी भाव है, इस कार्य में इन्हें कुछ भी हर्ष नहीं है, क्योंकि ये उपर्युक्त लालसावालों में हैं।

(४) 'बोले बंदी बचनबर···'—'बर' अर्थात् वचन श्रेष्ठ रोचक और राजाओं के आमर्ष बढ़ाने वाले हैं, वीरों को सुनकर हर्ष होगा। 'महिपाल' अर्थात् यह प्रण मुख्य करके राजाओं के लिये है, इसीलिये 'देव-दनुज' भी राजा बन-बनकर आये हैं। 'पन बिदेह कर'—राजा विदेह (ज्ञानी) हैं, उनका प्रण विचार-पूर्वक है। अतः, यह अन्यथा नहीं होगा, यथा—"बज्ररेख गजदसन जनकपन···" (गी० बा० ८०); अर्थात् वज्र-रेखा की तरह अमिट है और हाथी के दाँत की तरह है जो लौटकर मुँह में पुनः आनेवाला नहीं होता; अर्थात् वचन निकला सो निकला। पुनः यह भी भाव है कि यह सबकी देह की सुध-बुध खोनेवाला प्रण है। 'बिदेह-कर', भाटों का अंतर्भाव यह भी है कि देही ऐसा प्रण नहीं करेगा। जिसे देह ही पर ममता नहीं है वह कन्या पर कहाँ से ममत्व रक्खेगा ? देही होते तो प्रण छोड़कर 'सीय-राम' का ब्याह ही करते !

'भुजा उठाइ बिसाल'—भुजा उठाकर प्रण कहने की रीति है, यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९); "सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।" (दो० १६४)। भुजा उठाना इसलिये होता है कि उस ओर सबकी दृष्टि और मन आ जाय। 'बिसाल' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् ऊँची भुजाएँ देख लीजिये, पुनः प्रण भी विशाल है, सामान्य नहीं है। अंतर्ध्वनि यह भी है कि जो विशाल भुज (भारी पराक्रमी) हों, वे ही उठें—यह नहीं कि भारी लाभ सुनकर सभी दौड़ पड़ें।

नृप-भुज-बल बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥१॥
रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥२॥
सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा ॥३॥
त्रिभुवन - जय - समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरइ हठि तेही ॥४॥

अर्थ—राजाओं के बाहुबल रूपी चन्द्रमा के लिये शिवजी का धनुष राहु है। गरुअ (अधिक वजन का) और कठोर है, यह सबको विदित है ॥१॥ रावण तथा बाणासुर जैसे भारी महाभट भी धनुष को देखकर गँव (चुपके) से चले गये ॥२॥ उसी कठोर शिवजी के धनुष को आज राजाओं के समाज में जो तोड़ेगा ॥३॥ उससे बिना किसी विचार के तीनों लोकों की जय के साथ विदेह-नन्दिनी जानकीजी हठ-पूर्वक ब्याही जायँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'नृप-भुजबल बिधु···'—भाव यह कि तुम सब राजाओं के भी बल को ग्रस लेगा। 'बिदित सब काहू'—हम भय दिखाने के लिये नहीं कहते, किन्तु सब किसी को ज्ञात है, आगे पुष्ट करते हैं।

(२) 'रावन बान'—इनके नाम देकर जनाया कि एक कैलाश उठानेवाला और दूसरा सुमेरु उठानेवाला था। दोनों हार मानकर गये, छूने का भी साहस न पड़ा। 'गवहिं'—चुपके से एवं बहाना बनाकर।

रावण ने कहा कि हमारे गुरु का धनुष है, हम कैसे तोड़ें? और बाणासुर ने कहा कि जानकीजी माता हैं—ऐसा कहकर दोनों चल दिये।

सत्योपाख्यान अ० ३ में कहा है कि वह धनुष सभा के राजाओं में किसी को अजगर-रूप, किसी को सिंह-रूप और किसी को शिव-रूप से देख पड़ा। कोई उसके पास जाते ही अंधा हो गया। बाणासुर को शिवरूप देख पड़ा, इत्यादि, लोग डर-डरकर आसनों पर जा बैठे। बाणासुर चल दिया। प्रसन्न राघव नाटक के प्रथम अंक में भी रंगभूमि में रावण और बाणासुर का संवाद-प्रसंग वर्णित है।

(३) 'सोइ पुरारि कोदंड ···'—इसी धनुष से त्रिपुरासुर मारा गया था। अतः, अत्यंत कठोर है। 'राज-समाज'—यहाँ तीनों लोकों के लोग राजा के रूप में हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (दो० २५०); जो तोड़ेगा, उसकी जीत सबपर समझी जायगी, वही आगे—'त्रिभुवन-जय-समेत···' से स्पष्ट करते हैं। 'आजु' अर्थात् आज ही भर के लिये प्रतिज्ञा है। 'जेहि' अर्थात् चाहे जो कोई हो, यथा—"धनु तोरै सोइ वरै जानकी राउ होइ की रंक।" (गी० बा० ८०)।

(४) 'त्रिभुवन-जय-समेत ···'—'जय' क्षत्रियों को विशेष प्रिय होती है। अत, इसे प्रथम कहकर तब कहा कि वैदेही अर्थात् अयोनिजा दिव्य लक्षणा कन्या मिलेगी। 'बिनहिं बिचार'—यहाँ घर, वर, कुल कुछ नहीं देखा जायगा, यथा—"जौं घर बर कुल होइ अनूपा। करिय बिवाह सुता अनुरूपा॥" (दो० ७०)। जनकजी के प्रण का वर्णन इसी प्रकार हनुमन्नाटक में भी है। यथा—"शृणुत जनककल्पा क्षत्रियाः शुल्कमेते। दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्ति॥ नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन। त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दाराः॥" (१।१८)

सुनि पन सकल भूप अभिलाखे। भट मानी अतिसय मन माखे॥५॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥६॥
तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥७॥
जिन्हके कछु बिचार मन माहीं। चाप-समीप महीप न जाहीं॥८॥

दोहा—तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट-बाहु-बल, अधिक अधिक गरुआइ॥२५०॥

अर्थ—प्रतिज्ञा सुनकर सब राजाओं को अभिलाषा हुई; अभिमानी योद्धा मन में बहुत ही अप्रसन्न (कुपित) हुए॥५॥ कमर में फेंटा बाँधकर तथा अकुलाकर उठ खड़े हुए और अपने-अपने इष्टदेवों को प्रणाम करके चले॥६॥ वे क्रुद्ध होकर शिवजी के धनुष को ताकते हैं, फिर (उठाने एवं पकड़ने की घात) तककर उसे पकड़ते हैं। करोड़ों प्रकार से बल लगाते हैं पर वह नहीं उठता॥७॥ जिनके मन में कुछ विचार है, वे राजा लोग तो धनुष के समीप ही नहीं जाते॥८॥ मूर्ख राजा लोग क्रुद्ध होकर धनुष को पकड़ते हैं, पर वह नहीं उठता, तब लज्जित होकर चल देते हैं, मानों धनुष योद्धाओं की भुजाओं का बल पाकर अधिक-अधिक गरू (भारी) होता जाता है॥२५०॥

विशेष—(१) 'सुनि पन सकल भूप···'—अभिलाषा सबको हुई, क्योंकि बड़ा भारी लाभ था, यथा—"ईसहि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।" (दो० २५१)। 'भटमानी अतिसय ···'—

सामान्य भट 'मारे' (अप्रसन्न हुए), विशेष भट 'अति मारे' (अति अप्रसन्न हुए) और ज्ञानी भट 'अतिसय मन मारे'।

(२) 'परिकर बाँधि उठे······'—यहाँ इनकी व्याकुलता की दशा प्रकट है कि बैठे-बैठे ही फेंटा बाँधने लगे थे जिससे भाटों की बात पूरी होते ही हम दौड़कर झट उठा लें। इसलिये बाँधना प्रथम कहा है, तब उठना कहा। अकुलाकर उठ दौड़े, आगे-पीछे छोटे-बड़े का विचार न रहा। 'इष्ट देवन्ह सिर नाई', पर—(क) इष्टदेवों ने इनकी मूर्खता देखकर रहा-सहा बल भी खींच लिया कि ये जगज्जननी पर कुदृष्टि से जा रहे हैं। हम भी दोष भागी होंगे। (ख) महादेवजी का धनुष तोड़ना चाहते हैं। सामान्य देवताओं को मनाकर चले, तो कैसे टूटे ? जैसे कोई सागर तरने के लिये तालाब की पूजा करे तो व्यर्थ ही है। (ग) इनके इष्टदेवों ने ही लज्जा से शिर नीचा कर लिया कि हमारी भी लघुता हुई।

(३) 'कोटि भाँति बल करहीं'— प्रथम धनुष का एक कोना पकड़ा, हिलाया-डुलाया, फिर एक कोना पकड़कर उठाया, एक हाथ से—फिर दोनों हाथों से उठाया, पुनः भूमि में पैर अड़ाकर उठाया इत्यादि, तो भी 'उठइ न' अर्थात् नहीं उठा। यथा—"डगइ न संभु-सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥"

(४) 'जिन्हके कछु बिचार······' पूर्व कहा गया है कि—'सुनि पन सकल भूप अभिलाखे।' उसकी यहाँ सँभाल है कि जो उपर्युक्त सात्त्विक राजा हैं, वे तो पूर्ण विचारवाले हैं और जो राजस कहे गये थे, वे 'कछु' विचारवाले हैं, वे भी समीप नहीं जाते हैं। वे जानते हैं कि अमुक-अमुक से नहीं उठा, तो हमसे भी न उठेगा, जाने से हँसी होगी। फिर शिवजी का धनुष है, तोड़ने के प्रयास में भी भलाई नहीं है। पुनः सीता अयोनिजा हैं, इनपर और भाव लाना भी योग्य नहीं है, इत्यादि। इससे यह भी जाना गया कि जो उठाने को गये, उनके कुछ भी विचार नहीं है, वे तमोगुणी हैं, इसीसे मूढ़ कहे गये हैं।

(५) 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप·······'—पहले भी 'तमकि ताकि-तकि···' कहा गया था। बीच में और राजाओं की बात कहने लगे, अब फिर वहीं से उठाने का प्रसंग लेते हैं। इससे फिर भी—'तमकि धरहिं······' कहा गया है। अथवा एक बार बल करके थककर बैठ गये थे, सुस्ताकर फिर रोस से धरते हैं। यथा—"झपटहि करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहि सिर नाई॥ पुनि उठि झपटहिं सुर-आराती।" (लं० दो० ३३)। यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

'अधिक अधिक गरुआइ'—जैसे-जैसे भारी-भारी भट उठाते जाते हैं, न उठने से धनुष की प्रशंसा होती है कि वाह ऐसे भट से भी न उठा !

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥१॥
डगइ न संभु-सरासन कैसे। कामी-बचन सती-मन जैसे॥२॥
सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥३॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप-कर बरबस हारी॥४॥
श्रीहत भये हारि हिय राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥५॥

अर्थ—दस हजार राजा एक ही बार (धनुष को) उठाने गये, पर वह टाले न टला ॥१॥ शिवजी का धनुष किस तरह नहीं डोलता, जैसे कामी पुरुष के (प्रलोभनात्मक) वचनों से सती स्त्री का मन (नहीं चलायमान होता) ॥२॥ सब राजा हँसी के योग्य हो गये, जैसे बिना वैराग्य के संन्यासी होते हैं ॥३॥ भारी कीर्त्ति, विजय और वीरता को वे धनुष के हाथों बरबस गँवाकर चल दिये ॥४॥ सब राजा हृदय से हारकर कान्तिहीन हो गये और अपने-अपने समाज में जा बैठे ॥५॥

विशेष—(१) 'भूप सहस दस एकहि बारा।···'—जब पृथक्-पृथक् राजाओं से न उठा तब सबने एक साथ मिलकर उठाने का प्रयत्न किया कि किसी तरह जनकजी की प्रतिज्ञा तो निबह जाय। पीछे जयमाल-स्वयंवर अथवा आपस में युद्ध करके जो श्रेष्ठ होगा, कन्या को ब्याहेगा। धनुष के न उठने से तो सबकी नाक कटती है। यह सम्मत भी दैवयोग से हुआ, इससे श्रीरामजी की बड़ाई होगी जो दस हजार राजाओं से न उठा, उसे अकेले श्रीरामजी ने तोड़ डाला। जैसे सब वानरों के उपाय से मेघनाद न मरा तो उसके मारने से लक्ष्मणजी की प्रशंसा हुई।

शंका—धनुष का प्रमाण साढ़े तीन हाथ का है, उसमें दस हजार राजा कैसे लगे ?

समाधान—यह कोई विशेष नियम नहीं कि धनुष ३½ हाथ ही का हो। ब्रह्मवैवर्त-पुराण श्रीकृष्ण-जन्म-खंड में लिखा है कि उस धनुष का प्रमाण एक हजार हाथ लंबा और दस हाथ चौड़ा था जिसे श्रीकृष्ण भगवान् ने कंस के यहाँ तोड़ा है। इस धनुष के विषय में सत्योपाख्यान का प्रमाण ऊपर कहा गया कि यह दिव्य था। अतः, अनेक रूपों से देख पड़ता था। वही बात गोस्वामीजी ने भी सूचित की है। यथा—"दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है॥" (गी॰ बा॰ ८०); "सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु ब्यालहिं जैसे।" (दो॰ २५८); अतः, जैसे धनुष को अनेक रूपों से देख पड़ने एवं सिकुड़ने की शक्ति थी, वैसे उसमें बढ़ने की भी शक्ति थी। जैसे-जैसे राजाओं में हाथ लगते गये—यह अधिक-अधिक बढ़ता गया। यह बात ऊपर के दोहे में ध्वनित है—"मनहुँ पाइ भट बाहुबल, अधिक-अधिक गरुआइ॥" इसमें बाहु के साथ अधिक-अधिक होना और बल के साथ उत्तरोत्तर गरुआना (भारी होना) कहा है। यह यथासंख्यालंकार से संगत है। ऐसे ही सुंदरकांड में श्रीहनूमान्जी की पूँछ बढ़ने की भी बात है—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" (दो॰ २४)।

यहाँ जो 'एकहिं बारा' से एक दिन का अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि इसी एक ही दिन में तो सभा का जुड़ना, प्रण सुनाना और राजाओं का लगना, फिर पीछे श्रीरामजी का तोड़ना आदि सब कार्य हुए। उनके लिये एक दिन कहाँ से बचा ? पुनः 'दस' से दशानन और 'सहस' से सहस्रबाहु अर्थ लेना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे दोनों उठाने में लगे नहीं थे, उनके लिये तो 'गवनहिं सिधारे' 'रावन बान छुवा नहिं चापा' कहा है। अतः, उपर्युक्त ही अर्थ ठीक है।

(२) 'डगइ न संभु-सरासन···'—सती (पतिव्रता) स्त्री का मन एक अपने पति ही में अनुरक्त रहता है, हजारों कामी लोगों के वचनों से उसका सत नहीं डिगता, वैसे यह धनुष भी दिव्य है, इसमें भी सत धर्म है, यथा—"पारवती-मन सरिस अचल धनु···" (जानकी मं॰ १०४); यह श्रीरामजी से ही अनुरक्त है; अतः उन्हीं से टूटेगा। यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये जग, सबहिं बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥" (गी॰ बा॰ ८१)। और— "नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः। कामातुरस्य वचसामिव सन्निधानैरभ्यर्थितः प्रकृतिचारुमन सतीनाम्॥" (प्रसन्नराघव १।५६)।

(३) 'जैसे बिनु बिराग संन्यासी।'—यहाँ निवृत्ति का और ऊपर 'कामी बचन···' से प्रवृत्ति का—ये दो दृष्टान्त दिये गये। ऐसे ही अंगदपैज पर भी दो ही दृष्टान्त हैं, यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उर-

गारी। मोह-बिटप नहिं सकहिं उपारी॥" "कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग।" (लं० दो० १४); क्योंकि दोनों जगह प्रतिज्ञा एक ही तरह है। वैराग्य के विना संन्यासी मुँह पर हँसी करने योग्य हो जाता है कि वैराग्य नहीं था तो घर क्यों छोड़ा, वैसे ये लोग भी बल के विना हँसने योग्य हुए। बल और विराग समान हैं, यथा—"जब उर बल विराग अधिकाई।" (उ० दो० १२१)।

(४) 'कीरति विजय बीरता…'—वीरता से विजय और उससे कीर्त्ति होती है, इसलिये तीनों साथ ही कही हैं। 'भारी'—क्योंकि धनुष भी भारी है, यथा—"भंजेउ राम संभु-धनु भारी।" (दो० २६१)। 'चाप कर बरबस'—'बरबस' क्योंकि साधु राजाओं ने मना भी किया था। पूर्व कहा गया था—'जस प्रताप बल तेज गँवाई।' उसका यहाँ चरितार्थ हुआ। 'तेज' को आगे 'श्रीहत भये…' से कहते हैं।

पूर्व कहा गया था—"उठइ न चलइ लजाइ" (दो० २५०); उनका बैठना वहाँ नहीं कहा गया था। यहाँ भी—'चले चाप ' ' कहते हैं; दोनों का आगे साथ ही बैठना कहते हैं—'बैठे निज निज…'। क्योंकि प्रथमवाले वहीं पास में खड़े देखते रहे कि देखें, इनसे टूटता है या नहीं। जब किसी से न टूटा तब समाज में जाकर बैठे, क्योंकि अब कोई किसी को हँसनेवाला नहीं रह गया।

(५) 'श्रीहत भये हारि …' यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गी० बा० ८७); चाप तोड़कर कीर्त्ति आदि बढ़ाने आये थे। अपनी मूढ़ता के कारण गँवा बैठे। वही सोचते हैं; यथा—"पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः। अञ्जलिर्विरचिता न तु मुष्टिर्मौलिरेव नमिता न तु चापः॥" (प्रसन्न० १।२१)

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥६॥
दीप-दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पन ठाना॥७॥
देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥८॥

दोहा—कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनुदमनीय॥२५१॥

अर्थ—राजाओं को देखकर राजा जनक व्याकुल हो गये और ऐसे वचन बोले जो मानों क्रोध में सने हुए थे॥६॥ जो हमने प्रतिज्ञा की थी, उसे सुनकर द्वीप-द्वीप के अनेकों राजा आये॥७॥ मनुष्य शरीर धर-कर देवता और दैत्य भी आये; और भी बहुत-से वीर रणधीर आये॥८॥ मनोहर कन्या, बड़ी विजय और अत्यन्त सुंदर कीर्त्ति को प्राप्त करनेवाले और धनुष तोड़नेवाले को मानों ब्रह्मा ने रचा ही नहीं॥२५१॥

विशेष—(१) 'नृपन्ह बिलोकि जनक …'—जनक महाराज पूर्ण ज्ञानी हैं, इनकी दृष्टि में अज्ञान नहीं और विना अज्ञान के द्वैत नहीं होता। पुनः द्वैत के विना क्रोध नहीं हो सकता। यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११); इसीलिये यहाँ 'रोष जनु साने' लिखा है, रोष (क्रोध) है नहीं, यह उनकी व्यावहारिक युक्ति है। प्रथम भाटों के अमर्षवाले वचनों पर मानी भट अत्यंत फड़क उठे थे, कदाचित अब भी कोई छिपे हों तो वे भी फड़क उठेंगे, वैसा ही हुआ भी—'मारे लखन …'। जनक महाराज के वचन उत्तेजित करनेवाले हैं। यथा—"अनुहुंकुरुते घ घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि च केसरी।" (शिशुपालवध) अर्थात् सिंह मेघ के ही गर्जन पर गर्जता है—गीदड़ों के बोलने पर नहीं; वैसे लक्ष्मणजी ने भाटों के वचनों पर ध्यान नहीं दिया था, राजा जनक की ही बातों से क्रुद्ध हुए।

(२) 'दीप-दीप के भूपति···'—अर्थात् प्रत्येक द्वीप से बहुत-बहुत राजा प्रतिज्ञा सुनकर आये हैं। अत, सब वीर ही हैं। कुछ यह नहीं कि निमंत्रण से विवश होकर आये हों। यथा—"सप्त दीप नवखंड भूमि के भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ तहँ महिप मुरे॥" (गी॰ बा॰ ८०)।

(३) 'देव दनुज धरि मनुज-सरीरा'—देव से स्वर्ग, दनुज से पाताल और द्वीप द्वीप से मर्त्यलोक के विपुल वीर बनाये। 'धरि मनुज-सरीरा'—क्योंकि यहाँ मनुष्यों का समाज है। अत, इसी वेष में आना योग्य है, यथा—"धरि नृप-तनु तहँ गयेउ कृपाला।" (दो॰ १३४); इसमें क्षीर-शायी भगवान् भी राज-समाज में राज वेष से ही गये थे, तथा—"तब कछु काल मराल-तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।" (उ॰ दो॰ ५७)। यहाँ पक्षि-समाज में शिवजी पक्षी ही बनकर रहे।

(३) 'कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि···'—कुँअरि को मनोहर कहा, उससे अधिक बड़ी विजय, फिर उससे भी अधिक अत्यन्त सुन्दर कीर्त्ति कहकर उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया। यहाँ तीन वस्तुओं के लिये तीन विशेषण दिये गये हैं। उनमें हेर फेर करने से साहित्यिक दोष होगा। यदि कहा जाय कि अपनी कन्या का शृंगार राजा ने कैसे कहा? तो समाधान यह कि राजा ने अकुलाकर रोष में सने हुए वचन कहे हैं, ऐसी दशा में लोक-लाज नहीं रहती, यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ॰ दो॰ २७५)। इसमें विजय को बड़ी और कीर्ति को अत्यन्त सुन्दर कहा है, इसमें रावण-बाणासुर से भी जीतने की कीर्त्ति होगी। वह सदा संसार में अचल रहेगी। 'जनु'—ब्रह्मा की गति पर जीव की पहुँच नहीं है। अत, निश्चय नहीं रक्खा। सरस्वती ने राजा की वाणी से यह भी यथार्थ ही कहलाया, जो तोड़ेगा, वह ब्रह्मा की सृष्टि का नहीं है, यथा—"आपु प्रगट भये बिधि न बनाये।" (बा॰ दो॰ ११६)।

कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकरचाप चढ़ावा॥१॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई॥२॥
अब जनि कोउ माखइ भट मानी। बीर-बिहीन मही मैं जानी॥३॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥४॥
सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ॥५॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई॥६॥

अर्थ— कहिये तो, यह लाभ किसे नहीं रुचा? परन्तु किसी ने भी शिवजी का धनुष नहीं चढाया॥१॥ अरे भाई! चढ़ाना, तोड़ना तो (दूर) रहा, कोई उसे भूमि से तिल भर भूमि तो नहीं छुड़ा सका॥२॥ अब कोई अभिमानी वीर 'माख' न करे (क्रोध न करे, डींग न हाँके)। मैंने जान लिया कि पृथिवी वीरों से रहित है॥३॥ (सीता की) आशा छोड़िये, अपने-अपने घर जाते जाइये, ब्रह्मा ने वैदेही का ब्याह लिखा ही नहीं॥४॥ (यदि कोई कहे, कि किसी से न टूटा, तो प्रण ही छोड़ दो, इसपर कहते हैं कि) यदि मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ, तो सुकृत (पुण्य) नष्ट हो जायगा। अतः, मैं क्या कर सकता हूँ? भले ही कन्या कुँआरी रह जाय॥५॥ भाइयो! यदि मैं जानता कि पृथिवी योद्धाओं से रहित है तो प्रतिज्ञा करके हँसी के योग्य नहीं होता अर्थात् हँसी का पात्र नहीं बनता॥ ॥

विशेष—(१) 'यह लाभ न भावा'—हाथी, घोड़ा द्रव्य आदि ऐश्वर्य तो सबके पास हैं। पर यह लाभ नहीं है, क्योंकि—"सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।" कहा ही है।

'सकर-चाप'—अर्थात् यह चाप तोड़नेवाले के लिये शं (कल्याण) कर (करनेवाला) था।

(२) 'रहा चढ़ाउब तोरब ···'—अर्थात् पूर्वोक्त—'राज-समाज आजु जेहि तोरा' में 'तोरा' का अर्थ चढ़ाकर तोड़ना था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ। यह भी भाव है कि तोड़ना उत्तम, चढ़ाना मध्यम और तिल भर भूमि से छुड़ा देना निकृष्ट बल का कार्य था।

(३) 'अब जनि कोउ माषइ···'—यह पूर्वोक्त—'भटमानी अतिसय मन माखे।' के प्रति कहा गया है कि पूर्व वंदियों के कहने पर फड़के सो फड़के, पर अब नहीं फड़कना। 'मही'—पूर्व तीनों लोकों के वीरों और रणधीरों का आना कहा था, यहाँ पृथिवी ही को कहते हैं, क्योंकि तीनों लोकों के वीर अभी यहीं पर—पृथिवी ही में हैं।

शंका—राजा जनक श्रीरामजी का प्रभाव भी सुन चुके हैं, फिर एका-एक ऐसे वचन क्यों कह दिये—'वीर-बिहीन मही मैं जानी ?'

समाधान—राजा जनक एक तो व्याकुलता एवं परिताप में ये वचन कह रहे हैं, यथा—"मेटहु तात जनक-परितापा।" (दो० २५४), दूसरे इस समय श्रीरामजी में उनकी शिशु-दृष्टि है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी॥" (दो० २४१)। अतः, इनमें वीर-दृष्टि रही ही नहीं। पुनः दैव-योग से भी ये वचन निकले हैं, क्योंकि श्रीरामजी चुप बैठे ही रह गये, इन्होंने भाटों के कथन पर दृष्टि ही न दी; इन्हें वैसे ही आमर्ष के वचनों से जाग्रत् करना है, यथा—"तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई।" (गी० बा० १०१)। हनुमन्नाटक में भी ऐसा ही कहा है—"आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः। कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः। नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः। केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥" (१।१०)।

(४) 'तजहु आस निज···'—राजाओं को आशा थी कि अब जयमाल-स्वयंवर होगा। उसका दृढ़ निराकरण करते हैं कि प्रण-पूर्ति के विना ब्रह्मा ने ब्याह लिखा ही नहीं।

(५) 'सुकृत जाइ जौं ···'—यदि कोई कहे कि कन्या को विना ब्याहे रखना भी तो अयोग्य है, उसपर अपनी विवशता दिखाते हैं कि कन्या सुकृत से ही प्राप्त हुई है, प्रतिज्ञा छोड़ते ही सुकृत का नाश हो जायगा। यथा—"प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय॥" (वाल्मी० १।२१।८); "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७); जैसे सुकृत बचने का उपाय प्रण का नहीं छोड़ना है, वैसे यदि कन्या के ब्याह का दूसरा उपाय होता तो करते, पर है नहीं तो क्या करें ? जिस सुकृत ने ऐसी कन्या दी है, उसका निरादर तो उचित नहीं, यथा—"तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे॥" (अ० दो० ४२)।

(६) 'होतेउँ न हँसाई'—लोग हँसेंगे कि राजा जनक ज्ञानी होते हुए भी मूर्ख ही देखने में आये कि विचार कर प्रण नहीं किया जिससे कन्या कुँआरी ही रह गई, इत्यादि।

जनक - बचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥७॥

माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥८॥

दोहा—कहि न सकत रघुबीर-डर, लगे बचन जनु बान।

नाइ राम-पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥२५२॥

शब्दार्थ—गिरा प्रमान = प्रामाणिक वचन ।

अर्थ—श्रीजनकजी के वचन सुनकर सभी स्त्री-पुरुष श्रीजानकीजी को देखकर दुखी हुए ॥७॥ लक्ष्मणजी क्रुद्ध हुए, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोध-युक्त (लाल) हो गये ॥८॥ श्रीरघुवीर के डर से कह नहीं सकते, पर वचन बाणों की तरह लगे, श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर झुकाकर प्रामाणिक वचन कहने लगे ॥२५२॥

विशेष—(१) 'जनक-बचन सुनि······'—नर-नारी धनुष न टूटने से प्रसन्न थे कि अब जब जयमाल-स्वयंवर होगा, तब श्रीजानकीजी अवश्य ही श्रीरामजी को जयमाला पहनावेंगी । यथा— "बिनु भंजेहु भव-धनुष बिसाला । मेलिहि सीय राम-उर माला ॥" (दो० २४४); पर जब राजा ने नाहीं कर दी, तब ये लोग दुखी हुए ।

(२) 'माखे लखन······'—भाटों के वचन पर इन्हें क्रोध नहीं हुआ था, पर तुच्छ राजा घबरा उठे थे । अब स्वयं राजा ने कहा—'बीरबिहीन मही···' तब इन्हें क्रोध हो आया ; क्योंकि इस वचन में श्रीरामजी का भी अपमान है—वे भी यहाँ बैठे हैं । इनके अपमान पर लक्ष्मणजी पिता तक को कठोर वचन कह डालेंगे, परशुराम को भी बहुत कुछ कहेंगे; भरत-शत्रुघ्न के प्रति भी कुछ उठा नहीं रक्खेंगे, फिर वे यहाँ इतनी बड़ी सभा में इष्ट के अपमान पर चुप कैसे रह सकते थे ?

(३) 'कहि न सकत ·····'—यद्यपि श्रीरामजी से डरते हैं कि महाज्ञानी राजा के प्रति कठोर कहने से ये अप्रसन्न होंगे, तथापि क्षमा के लिये प्रणाम करके बोले । पुन, कार्यारंभ में इष्ट को प्रणाम करना ही चाहिये ।

'बचन जनु बान'—विषम बाण लगने पर हाहाकार किये विना रहा ही नहीं जाता, वैसे ही रघुवीर के डर से बोलना अयोग्य होते हुए भी विना बोले नहीं रहा गया ।

'गिरा प्रमान'—अर्थात् जनकजी के वचन अप्रामाणिक थे । इससे ये योग्य वचन बोले कि जिसमें स्वामी का सम्मान हो और अपने सामर्थ्य से बाहर भी न हों ।

रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहइ न कोई ॥१॥
कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी ॥२॥
सुनहु भानु - कुल - पंकज-भानू । कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू ॥३॥
जौ तुम्हारि अनुसासन पावउँ । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ ॥४॥
काँचे घट जिमि डारउँ फोरी । सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥५॥
तव प्रताप - महिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ॥६॥

अर्थ—रघुवंशियों में से कोई भी जहाँ रहता है, उस समाज में ऐसा कोई नहीं कहता ॥१॥ जैसे अनुचित वचन जनकजी ने, रघुकुल में शिरोमणि (आप) को उपस्थित जानते हुए भी, कहे हैं ॥२॥ हे सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य ! सुनिये, मैं स्वभाव ही कहता हूँ, कुछ अभिमान की बात नहीं कह रहा हूँ ॥३॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंद की तरह ब्रह्माण्ड को उठा लूँ ॥४॥ और उसे कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूँ । सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ ॥५॥ हे भगवन् ! ये सब आपके प्रताप की महिमा है, इसके सामने बेचारा पुराना शिव-धनुष क्या है ? ॥६॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ'''—'कोउ'—कोई भी इस कुल का हो, यह समाज भर की मर्यादा रखता है, उसके होते हुए, अनजान में भी ऐसा कोई नहीं कह सकता। इन्होंने रघुकुल के शिरोमणि को जानते हुए ऐसा कह डाला।

(२) 'सुनहु भानु-कुल-पंकज''''''—श्रीजनकजी के जानने में श्रीरामजी को 'मनि' कहा, अपनी परिभाषा में 'भानु' विशेषण कहा ; अर्थात् जनकजी ने आपका तेज कम माना; क्योंकि मणि में प्रकाश अल्प होता है और मैं आपके सूर्यवत् प्रताप को जानता हूँ।

'न कछु अभिमानू'—मैं केवल आपके प्रताप की महिमा कहता हूँ, इसमें मेरा अभिमान कुछ भी नहीं है। यह सफाई इसलिये देते हैं कि श्रीरामजी को जन का अभिमान नहीं सुहाता। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहि काऊ॥" (उ० दो० ७२)।

(३) 'जौं तुम्हारि अनुसासन '''—'जौं' यह दुविधा वचन है ; अर्थात् ऐसी आज्ञा मिल नहीं सकती, क्योंकि अभी प्रलय का अवसर नहीं है। 'तुम्हारि''''' '—क्योंकि ब्रह्मांड के मालिक आप हैं, बिना आपकी आज्ञा से मैं कैसे कुछ कर सकता हूँ ?

(४) 'काँचे घट जिमि डारउँ फोरी।''''' '—धनुष के विषय में उठाना और तोड़ना कहा गया था, इसलिये यहाँ ब्रह्मांड ही को गेंद के समान उठाना और उसे ही दोनों हाथों की हथेली से दबाकर फोड़ना कहा। पटककर फोड़ना नहीं कहते, क्योंकि जब ब्रह्मांड ही उठा लेंगे, तब तो शून्य ही रह जायगा; फिर पटकेंगे किसपर ?

'सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।—ब्रह्मांड में तो सुमेरु भी आ ही गया, पर उसे पृथक् भी कहते हैं, क्योंकि जनकजी ने तीन भेद कहे थे—चढ़ाना, तोड़ना और तिल भर भूमि से छुड़ाना। प्रतिज्ञा में 'गरुअ-कठोर' कहा गया था। उसकी पूर्ति में कहते हैं कि धनुष से बहुत अधिक भारी ब्रह्मांड है, हम उसे ही उठा लेंगे, तिल भर हटाना क्या ? चढ़ाने और तोड़ने के प्रति कठोर सुमेरु को कहते हैं—"का बापुरो पिनाक मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं।" (गी० बा० ८७) अर्थात् सुमेरु में रौदा चढ़ाकर मूली की तरह उसे तोड़ सकता हूँ !

(५) 'तव प्रताप महिमा भगवाना''''''—'भगवाना'—अर्थात् आप षडैश्वर्य पूर्ण हैं, उससे स्वाभाविक ही सृष्टि, पालन एवं प्रलय करते हैं, आपके प्रताप के आगे यह पुराना (देवरात जनक के समय से रक्खे हुए) पिनाक का तोड़ना तो कुछ है ही नहीं।

ब्रह्मांड को—'डारउँ फोरी'—उत्तम बल, 'मंदर मेरु नवावौं'—मध्यम बल, 'ब्रह्मांड उठावउँ'—निकृष्ट बल और—'का बापुरो पिनाक पुराना' (इसका तोड़ना) महा निकृष्ट बल की बात है। अंत में—'तव प्रताप महिमा''' कहकर उपर्युक्त सब बातों का होना इसीसे जनाया।

नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुकु करउँ बिलोकिय सोऊ॥७॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ। जोजन सत प्रमान लै धावउँ॥८॥

दोहा—तोरउँ छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ।
जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ, कर न धरउँ धनु-भाथ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रकदंड = कठछत्र, भुइँफोड़, कुकुरमुत्ता, यह वर्षा में स्वयं भूमि से छत्ते की तरह निकलता है। प्रमान = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—हे नाथ! ऐसा जानकर आज्ञा हो तो कुछ खेल करूँ, यह भी देखिये ॥७॥ धनुष को कमल की डंडी की तरह चढ़ा दूँ और सौ योजन पर्यंत लिये हुए दौड़ जाऊँ ॥८॥ हे नाथ! आपके बल और प्रताप से उसे मैं कुकुरमुत्ते की तरह तोड़ डालूँ। जो ऐसा न करूँ, तो हे प्रभो! आपके चरणों की सौगंद करता हूँ कि धनुष और तरकश हाथ में न लूँ अर्थात् न छुऊँ।

विशेष—(१) 'नाथ जानि अस······'—ऐसा जानकर कि आपके प्रताप से मैं सब कुछ कर सकता हूँ। 'आयसु होऊ'—प्रथम आज्ञा माँगने में 'जौ' कहा था, क्योंकि उसकी आशा न थी। यहाँ तो धनुष तोड़ने ही को रक्खा है। अतः, आशा है। पर आज्ञा का रुख न पाकर कहते हैं कि 'कौतुक करउँ' अर्थात् इसमें मुझे श्रम न होगा। फिर आप राजा हैं। राजा लोग कौतुक देखना चाहते हैं; अतः, मैं करूँ और आप देखें। 'कौतुक'—का यह भी भाव है कि मैं कौतुक के लिये धनुष उठाऊँ—तोड़ूँगा, प्रतिज्ञा के नियम से व्याह के लिये नहीं, क्योंकि उसका फल तो मेरे लिये पाप है। यथा—"ततरु'' चढ़ाइ चाप'' फल पापमई है।" (गी० बा० ८३) अर्थात् योग्य बड़े भाई के रहते हुए छोटे का प्रथम विवाह होना स्मृतियों में दूषित है।

(२) 'कमल-नाल जिमि''''—बिना श्रम ही चढ़ा लूँ। 'सत' शब्द अनंतवाची है। यह वचन 'तिल भरि भूमि''' के प्रति कहा गया है। यथा—"देखो निज किंकर को कौतुक क्यों कोदंड उठावौं। लै धावौं भंजउँ मृनाल ज्यों तव प्रभु-अनुग कहावौं॥" (गी० बा० ८०)।

(३) 'तोरउँ छत्रकदंड जिमि''''—पूर्व सुमेरु को मूली की तरह तोड़ना कहा था। पिनाक को पुराना कहा है। अतः, इसे उसकी अपेक्षा बहुत ही तुच्छ दिखाते हुए, छत्रकदंड की तरह तोड़ना कहते हैं, क्योंकि वह छूते ही टूटता है। पूर्व—'तव प्रताप महिमा ''' कहा था। वैसे यहाँ भी—'तव प्रताप-बल' कहा। अन्यथा समझा जाता कि इसे ये अपने पुरुषार्थ ही से कर लेंगे। भाव, मैं किसी योग्य नहीं, आपका प्रताप ही चाहे जो करावे।

'जौ न करउँ प्रभुपद''''—यहाँ प्रभु-पद की शपथ के साथ 'धनु-भाथ' न छूने की शपथ है और मेघनाद वध के समय—'तौ रघुपति-सेवक न कहावउँ' कहा है, क्योंकि वहाँ सेवा का कार्य था, प्रभु ने स्वयं करने को कहा था। यहाँ क्षात्रधर्म का कार्य है। अतः, धनुष-तरकश के न छूने की शपथ की है। 'कर न धरउँ' किसी वस्तु पर हाथ रखना छूने के अर्थ में भी होता है, वह अर्थ यहाँ है। केवल 'धरउँ' से भी काम चल जाता, पर यहाँ यह भी दिखाना है कि जिस कर से उपर्युक्त कार्य करना कहा है, उसकी क्रीड़ा एवं शोभा धनुष-बाण के सम्बन्ध से है, वह इनसे रहित रहेगा। तरकश के साथ बाण आ ही गये। ऐसा ही महानाटक में भी है—"देव श्रीरघुनाथ कि बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो, मेर्वादीनपि भूधरान् गणये जीर्णः पिनाकः कियन्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं, प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः॥" (हनु० १।११)

लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥१॥
सकल लोक सब भूप डेराने। सियहिय हरष जनक सकुचाने ॥२॥
गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ॥३॥

सैनहि रघुपति लखन निवारे। प्रेमसमेत निकट बैठारे ॥४॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोध से वचन बोले, तब पृथिवी हिल गई और दिशाओं के हाथी डोलने लगे अर्थात् अचल न रह सके ॥१॥ सभी लोग और सब राजा डरे। सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये ॥२॥ गुरु विश्वामित्रजी, रघुनाथजी और सब मुनि मन में प्रसन्न हो गये और फिर-फिर पुलकायमान हुए ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को मना किया और प्रेमपूर्वक अपने पास बैठा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन सकोप बचन···'—लक्ष्मणजी के वचन प्रमाणित करने के लिये—'डग-मगानि महि···' की घटना हुई। अन्यथा राजा लोग इनकी डींग ही समझते। इसी से इसके पीछे सब लोगों और सब राजाओं का डरना कहा गया। सामान्य लोगों की अपेक्षा राजा लोग धीर होते हैं। अतः, सब लोगों से पीछे उनका डरना कहा गया।

'सकोप वचन'—जब तक भौंहे टेढ़ी हुईं, नेत्र लाल हुए एवं ओष्ठ फड़कते रहे, तब तक पृथिवी आदि नहीं डोले, जब वचन सुने कि ये तो ब्रह्मांड ही तोड़ने फोड़ने पर तुले हैं, तब काँपने लगे कि हमारा ही नाश करेंगे। 'माखे लखन'—मन, 'रदपट फरकत'—कर्म, 'बचन बोले'—वचन, अर्थात् मन, वचन, कर्म से लक्ष्मणजी कुपित हुए।

(२) 'गुरु रघुपति सब···'—मन में ही प्रसन्न हुए, क्योंकि जनकजी सकुचा गये हैं, प्रकट हँसने एवं लक्ष्मण को बधाई देने में वे बहुत ही लज्जित होते। समझ-समझकर बार-बार पुलकते हैं कि हैं तो बालक, पर कैसे उत्तम वचन कहे हैं कि अपनी वीरता श्रीराम-कृपा से ही कही और राजा जनक के प्रति अपमान के वचन भी नहीं कहे। निर्भीक एवं श्रीरामप्रतापप्रदर्शक वचन हैं। इससे गुरुजी और मुनियों को हर्ष हुआ। उत्साह एवं आशावर्द्धक होने से श्रीजानकीजी को हर्ष हुआ। राजा जनक सकुचा गये; क्योंकि मुनि से श्रीरामजी का बल एवं कीर्त्ति सुन चुके थे। फिर भी माधुर्य में भूले हुए थे।

(३) 'सैनहिं रघुपति लखन ···'—संकेत से ही मना किया, प्रकट कहते कि बैठ जाओ तो उनका निरादर होता। कुटिल राजा लोग यह न समझें कि अब दोनों भाइयों में भी धनुष तोड़ने का झगड़ा होगा, इसलिये संकेत से बैठाकर सूचित किया कि ये मेरे अधीन हैं। 'निकट बैठारे'—लक्ष्मणजी प्रथम मुनि की बाईं ओर बैठे थे। समाज-भर को सुनाने के लिये खड़े होकर बोले थे, अब श्रीरामजी ने अपनी बगल में बैठा लिया। इससे अधिक स्नेह एवं आदर जनाया। यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं॰ दो॰ २०); "कर गहि परम निकट बैठावा।" (सुं॰ दो॰ १२)।

विश्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी ॥५॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनकपरितापा ॥६॥
सुनि गुरुवचन चरन सिर नावा। हरष-बिषाद न कछु उर आवा ॥७॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये ॥८॥

दोहा—उदित उदयगिरि-मंच पर, रघुबर बालपतंग।
बिकसे संतसरोज सब, हरषे लोचनभृंग ॥२५४॥

अर्थ—विश्वामित्रजी शुभ अवसर जानकर अत्यन्त स्नेहमयी वाणी से बोले ॥५॥ हे राम! उठो, शिवजी के धनुष को तोड़ डालो, हे तात! जनकजी का संताप मिटा दो ॥६॥ गुरुजी के वचन सुनकर (रामजी ने) चरणों में शिर नवाया, उनके मन में कुछ हर्ष या शोक नहीं आया ॥७॥ साधारण स्वभाव से उठ खड़े हुए उनकी ठवनि (शरीर की अकड़) से युवा सिंह लज्जित होते हैं ॥८॥ मंच-रूपी उदयाचल पर रघुवर-रूपी बाल सूर्य उदित हुए। सब संत-रूपी कमल प्रफुल्लित हुए, और (सबके) नेत्ररूपी भौंरे प्रसन्न हुए ॥२५४॥

विशेष—(१) 'विश्वामित्र समय···'—धनुष टूटने के योग्य शुभ मुहूर्त्त जानकर, तथा यह अवसर भी है, क्योंकि अब कोई राजा नहीं कह सकता कि श्रीरामजी ने तोड़ ही डाला, नहीं तो हम तोड़ते। अब तोड़ने से श्रीरामजी तीनों लोकों के विजयी होंगे, इत्यादि शुभ योग जानकर, अत्यन्त स्नेह से कहा। इसी से धनुर्भंग पर प्रथम इन्हें ही सर्वाधिक प्रेम एवं सुख होगा।

(२) 'उठहु राम भंजहु भव···'—राजा लोग—'त्रिभुवन-जय समेत बैदेही।' के लोभ से उठे थे। लोभ अप्राप्त पदार्थ में होता है। श्रीरामजी पूर्णकाम हैं, पुनः श्रीसीताजी तो इन्हीं की आदिशक्ति हैं, इसीलिये इन्हें भक्त जनक का परिताप मिटाना कहा; क्योंकि प्रभु भक्त के दुःख को दूर करते हैं। 'भव-चापा'—यह ईश्वर शिव का धनुष है, कुछ मनुष्य का नहीं है कि आपकी लघुता हो। यदि यह कहा जाय कि शिवजी भी भक्त हैं, उनका धनुष क्यों तोड़ें तो इसपर कहते हैं—'जनक-परितापा' अर्थात् शिवजी ने जनकजी को दे ही दिया है, उसके टूटने ही से जनकजी का दुःख मिटेगा।

(३) 'हरष-बिषाद न कछु······'—हर्ष-विषाद आदि यह जीव के धर्म हैं, यथा—"हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (दो० ११५)। श्रीरामजी इनसे रहित हैं, यथा—"बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ।" (अ० दो० ११); पुनः हानि-लाभ से विषाद-हर्ष होता है, इसे भी श्रीरामजी नहीं मानते, यथा—"का छति लाभ जून धनु तोरे।" (दो० २७१)। सब राजा बड़ा लाभ सुनकर अकुला उठे थे, पीछे न टूटने पर उन्हें विषाद भी हुआ था। इससे रामजी का 'सहज स्वभाव' से खड़ा होना कहते हैं। इसपर राजा जनक को शोच हुआ, यथा—"सोचत जनक पोच पेंच परि गई है।···" (गी० बा० ८१)।

(४) 'बिकसे संत-सरोज······'—बाल-सूर्य के उदय से कमल और भ्रमर दोनों को सुख होता है। 'सब' शब्द दीप-देहली है। सब संत कमल-रूप हैं, वे प्रफुल्लित हो गये। जब त्रिकालज्ञ संत प्रफुल्लित हो रहे हैं, पृथिवी आदि के डोलने पर भी विश्वास है कि सब लक्ष्मणजी के वचन से ऐसा हुआ तब रामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। ऐसा विचार कर सब लोगों के नेत्र-रूपी भौंरे प्रसन्न हुए। नेत्र का विषय रूप है, उसको देखता पर वह आनंदित होता है, यथा—"राम-रूप अरु सिय-छबि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेषी॥" (दो० २४८); "पुर-बासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन-लोचन सुखदाई॥" (दो० २२०); सरोज और भृंग भिन्न-भिन्न हैं। अतः, अंग-अंगी नहीं हो सकते कि दोनों बातें संतों में ही लगें। यदि कहो कि भ्रमर को सूर्य देखकर हर्ष नहीं होता तो इसका समाधान है—भ्रमर को सूर्य-उदय पर कमलों के खिलने से रस प्राप्त होता है, तब वे प्रसन्न होते हैं। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी के खड़े होने पर संत प्रफुल्लित हुए और श्रीरामजी के धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ, तब उनके रूप के दर्शनों से अधिक रस प्राप्त हुआ—अपने उचित नाते से प्रीति-पूर्वक देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखतअवली न प्रकासी ॥१॥

मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने ॥२॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा ॥३॥
गुरुपद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥४॥
सहजहि चले सकल-जग-स्वामी। मत्त - मंजु - बर - कुंजर - गामी ॥५॥

अर्थ—राजाओं की आशा-रूपी रात्रि नष्ट हो गई, उनके वचन-रूपी नक्षत्र-समूह का प्रकाश नहीं रह गया ॥१॥ अभिमानी राजा रूप कुमुद (कुई) संकुचित हो गये, कपटी राजा रूपी उल्लू छिप गये ॥२॥ मुनि और देवता-रूपी चकवे शोक-रहित हुए। वे फूलों की वर्षा करके अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं ॥३॥ अनुराग-पूर्वक गुरुजी के चरणों की वंदना करके श्रीरामजी ने मुनियों से आज्ञा माँगी ॥४॥ सम्पूर्ण जगत् के स्वामी श्रीरामजी सुन्दर मतवाले श्रेष्ठ हाथी के समान चाल से स्वाभाविक रूप में ही चले ॥५॥

विशेष—यहाँ अभ्युदय दिखाना है, इसलिये प्रातःकालीन सूर्य का रूपक बाँधा है, जहाँ अगाधता कहनी होती है, वहाँ सागर का और जहाँ दुःखद भाव कहना होता है, वहाँ सायंकाल का रूपक बाँधते हैं—यह ग्रंथकार का नियम-सा है।

(१) 'नृपन्ह केरि आसा निसि···'—सूर्य-रूपी श्रीरामजी के उदय से जयमाल-स्वयंवर की आशा-रूपी रात नष्ट हुई, यथा—"बिनु रवि राति न जाइ।" (उ० दो० ७८)। यहाँ सूर्य का सांग-रूपक बाँधा गया है, क्योंकि धर्म की समानता है और वाचक का लोप है।

(२) 'गुरु-पद बंदि सहित······'—गुरुजी ने 'अति-सनेह मय बानी' से आज्ञा दी थी, अतएव श्रीरामजी ने अनुराग से आज्ञा माँगी। बड़ों से आज्ञा लेनी नीति है। आप नीति के पोषक हैं।

(३) 'सहजहिं चले सकल जग ·····'—सब राजा कुछ-कुछ भूमि के स्वामी थे, पुनः जीव होने से अल्प दृष्टि वाले थे, इससे बड़ा लाभ सुन अकुलाकर दौड़ पड़े थे। श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, सब इन्हीं के हैं। अतः, घबराये नहीं, हाथी की तरह धीर-गंभीर चाल से चले। आगे भी इसी के अनुकूल कहना है, यथा—"तीनि लोक महँ जे भट मानी।·····तहाँ राम रघुबंसमनि, सुनिय महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकज-नाल॥" (दो० २९१)।

चलत राम सब पुर - नर-नारी। पुलक - पूरि - तनु भये सुखारी ॥६॥
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य - प्रभाव हमारे ॥७॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं ॥८॥

दोहा—रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता-मातु सनेहबस, बचन कहइ बिलखाइ ॥२५५॥

अर्थ—श्रीरामजी को चलते हुए देखकर नगर के स्त्री-पुरुष पुलकावली से पूर्ण हुए और सब सुखी हुए ॥६॥ पितरों और देवों की वंदना कर और अपने सब पुण्यों का स्मरण करते हुए कहते हैं कि जो हमारे

पुण्यों का कुछ भी प्रभाव हो ॥७॥ तो हे गणेश गोसाईं ! श्रीरामजी शिवजी के धनुष को कमल की डाँड़ी की नाईं तोड़ डालें ॥८॥ श्रीरामजी को प्रेम-सहित देखकर सखियों को पास बुला सीताजी की माता (सुनयनाजी) स्नेह-वश बिलखती हुई (दुःख-सहित) ये वचन कहती हैं ॥२५१॥

विशेष—(१) 'चलत राम सब······'—पूर्व लोगों के नेत्र भौंरों के समान रूप पर प्रसन्न हुए थे, अब चाल पर सुखी हैं। पुनः पूर्व कहा गया—"जनक-बचन सुनि पुर-नर-नारी। देखि जानकिहिं भये दुखारी ॥" (दो० २५१); अब वे सब सुखी हुए।

(२) 'जौं कछु पुन्य प्रभाव······'—'जौं' यह संदिग्ध शब्द देकर जनाया कि कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, इसे विधाता ही यथार्थ जानते हैं, जीव नहीं जानते, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता।" (अ० दो० २८१); "गहना कर्मणो गतिः।" (गीता ४।१७)। यदि कुछ भी पुण्य हो तो वह श्रीरामजी को इस कार्य के लिये प्राप्त हो। इसमें पुरवासियों का सौहार्द है।

गणेशजी से कहते हैं, क्योंकि पुण्य कार्य में इनका प्रथम पूजन होता है। अतः, ये साक्षी हैं, पुनः विघ्ननाशक और सिद्धियों के दाता भी हैं। 'गोसाईं'—अर्थात् अंतःकरण और बाह्य वृत्तियों के ये स्वामी हैं। अतः, हमारे हृदय के भाव को भी जानते हैं। यदि सत्य है तो वैसा ही हो।

(३) 'सीता-मातु सनेह बस ······'—पुरवासियों का प्रेम दिखाकर अब रनिवास का स्नेह दिखाते हैं। 'सीतामातु'—जनकजी के रानियाँ तो बहुत हैं, यथा—"रानिन्ह कर दारुन दुख दावा।" (दो० २५६); "रानिन्ह सहित सोचबस सीया।" (दो० २६१); पर यहाँ मुख्य पटरानी श्रीसुनयनाजी को कहते हैं, जिन्होंने श्रीसीताजी को अपनी पुत्री माना है, यथा—"जनकपाटमहिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी ॥" (दो० ३२१)। हरिवंश के अनुसार पितृकन्या होने से ये दिव्य नारी हैं। श्रीरामजी में इनका शुद्ध वात्सल्य भाव है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी ॥" (दो० २४१); श्रीसुनयनाजी अधिक स्नेह-वश हैं। अतः, चिन्ता है कि ये बालक अत्यन्त कोमल हैं, धनुष को कैसे तोड़ेंगे ? कहीं हाथों में मोच न आ जाय !

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे ॥१॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं ॥२॥
रावन बान छुआ नहि चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥३॥
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं ॥४॥
भूपसयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी ॥५॥

अर्थ—हे सखियो ! जो हमारे हितैषी कहलाते हैं, वे सब भी तमाशा ही देखनेवाले हैं ॥१॥ कोई भी राजा से समझाकर नहीं कहता कि ये बालक हैं, इनके साथ ऐसा हठ करना ठीक नहीं है ॥२॥ रावण और बाणासुर ने तो धनुष को छुआ तक नहीं और सभी राजा घमंड करके हार बैठे ॥३॥ वही धनुष अब राजकुमार के हाथों में दे रहे हैं, क्या बच्चा हंस मंदराचल उठा सकता है ? ॥४॥ राजा की सभी चतुराई समाप्त हो गई, हे सखी ! विधाता की गति कुछ समझ में नहीं आती ॥५॥

विशेष—(१) 'सखि सब कौतुक······'—राजा तो विधिवश होने से समझने ही नहीं हैं। यथा—"बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई।" (दो० २११); पर हितैषियों को समझाना चाहिये। यथा—

"कोउ समुझाइ कहै किन भूपहिं बड़े भाग आये इत ये री। कुलिस कठोर कहाँ संकरधनु मृदु मूरति किसोर कित ये री ॥" (गी० बा० ७६); "जनक मन की रीति जानि विरहित प्रीति, ऐसिओ मूरति देखे रह्यो पहिलो विचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ, पन औ कुँअर दोऊ प्रेम की तुला धौं वारु ॥" (गी० बा० ८०)। रानी का विचार है कि इन्हें सीधे ब्याह करने ही में चतुराई है, अभी इन्होंने हाथ भी नहीं लगाया है। अत, बिना शर्त के ही ब्याह हो सकता है।

(२) 'वे बालक असि हठ·····'—और राजा लोग योद्धा थे। अत', उनसे हठ योग्य था, पर ये तो बालक एवं परम सुकुमार हैं। 'असि हठ·····'—इनके साथ तो दूसरा हठ भला है। यथा—"पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।" (दो० २२१)। यहाँ 'नृप पाहीं' की जगह 'गुरु पाहीं' भी पाठ है कि गुरुजी ने ही श्रीरामजी को आज्ञा दी है। अतः, उनसे ही कहने को कहती हैं। किन्तु पूर्वापर के प्रसंग से 'नृप पाहीं' पाठ अधिक संगत है, गुरुजी ने राजा के ही परिताप-निवारण के लिये आज्ञा दी है। गीतावली के उपर्युक्त प्रमाणों से भी समझाना राजा ही के लिये है। गुरुजी ने प्रथम ही कहा है, वे कुछ हठ नहीं कर रहे हैं।

(३) 'रावन बान छुआ···'—रावण और बाणासुर उस समय के प्रसिद्ध वीर थे, इसलिये प्रथम कहे गये। 'सकल भूप'—पृथक् पृथक्, फिर सब मिलकर भी लगे, पर हार ही गये। 'करि तापा'—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ ···' 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।' 'हारे' यथा—"श्रीहत भये हारि हिय राजा।" छुआ नहिं'—छुए भी नहीं, डरकर बहाना करके चल दिये। यथा—"गँवहिं सिधारे।"। (दो० २४१)

(४) 'बालमराल कि मंदर लेहीं।'—बाल हंस चाल और सुकुमारता में प्रसिद्ध है, यहाँ सुकुमारता पर कहा गया है, यथा—"मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥" (अ० दो० ७१); अर्थात् जैसे सुमेरु को समस्त देवता-असुर भी नहीं सँभाल सके थे, वैसे इस धनुष को भी सब उठाकर हार गये, उसे ये हंस के बच्चे के समान सुकुमार रामजी कैसे उठा सकते हैं?

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी ॥६॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥७॥
रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन-तम भागा ॥८॥

दोहा—मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्व।
महामत्त - गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्व ॥२५६॥

काम कुसुम - धनु-सायक लीन्हे। सकलभुवन अपने बस कीन्हे ॥१॥
देवि तजिय संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी ॥२॥
सखीवचन सुनि भइ परतीती। मिटा बिषाद बढ़ी अति प्रीती ॥३॥

अर्थ—एक चतुर सखी कोमल वाणी से बोली कि हे रानी! तेजस्वी पुरुष को छोटा नहीं समझना चाहिये ॥६॥ (देखिये) कहाँ अगस्त्यजी (अत्यन्त छोटे) और कहाँ अपार समुद्र? फिर

भी उसे सोख लिया, यह सुयश समस्त संसार में फैला हुआ है ॥७॥ सूर्य का मंडल देखने ही में छोटा लगता है, परन्तु उसके उदय से तीनों भुवनों (भूः, भुवः, स्वः) का अंधकार दूर होता है ॥८॥ मंत्र अत्यन्त छोटा होता है, जिसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सभी देवता हैं। छोटा-सा अंकुश महामतवाले गजराज को वश में कर लेता है ॥२५६॥ कामदेव ने फूल के ही धनुष-बाण लिये हुए सब लोकों को अपने वश में कर लिया ॥१॥ हे देवि ! ऐसा जानकर संदेह छोड़िये। हे रानी ! सुनिये, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे ॥ २ ॥ सखी के वचन सुनकर विश्वास हुआ, दुःख मिटा और अत्यन्त प्रीति बढ़ गई ॥३॥

विशेष—(१) 'बोली चतुर सखी···'—सखी चतुर है। अतः, सब संदेह निवृत्त कर देगी और इसीसे 'मृदु बानी' कहा है, क्योंकि प्रिय वाणी से उपदेश लगता है। रानी ने राजा एवं मंत्रियों को दोष दिया था—उसका खंडन नहीं करती, इसलिये कि प्रथम ही उनकी बात काट देने से कहीं अप्रसन्न हो जायँ तो फिर और उपदेश नहीं सुनेंगी। अतः, यह प्रथम तेजस्वी की महिमा कहते हुए फिर पृथक्-पृथक् भी दृष्टान्तों द्वारा श्रीरामजी के प्रभुता-सम्बन्धी गुणों को दिखाकर प्रबोध करती है। 'तेजवंत' दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य रखनेवाले।

(२) 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु···'—घड़े से पैदा होनेवाले समुद्र को सोख लें। यह उनका प्रताप है, यथा—"कलसजोनि जिय जानेउ नाम-प्रताप। कौतुक सागर सोख्यो करि जिय जाप ॥" (बरवा रा० ५५)। इसकी कथा ऐसी है कि एक समय एक टिटिहरी (चिड़िया) के अंडे समुद्र अपनी लहर में बहा ले गया। उसने चोंचों से समुद्र का जल उलीचना शुरू किया। दैवात् अगस्त्य ऋषि वहाँ आ गये, यह कौतुक देखकर उन्होंने पूछा। उसने वृत्तान्त कह सुनाया और यह भी कहा कि मैं जन्म-जन्म समुद्र ही सुखाऊँगी। अगस्त्यजी को दया आ गई। वे वहीं पूजा करने बैठे कि एकाएक लहर आई और उनकी पूजन-सामग्री भी बह गई, तब तो वे कुपित हुए और 'रामाय, रामभद्राय, रामचन्द्राय' कहकर तीन चुल्लुओं में सारा समुद्र पी गये। यह सुयश हुआ, फिर उसे ज्यों-का-त्यों भर दिया यह और भी सुयश फैला, यथा—"रोक्यो विंधि सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम-बल हार्यो हिय खारो भयो भूसुर-डरनि ॥" (वि० १७०)।

इस दृष्टान्त से श्रीरामजी का प्रताप दिखाया, यथा—"देखियत भूप भोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँअरन को जदपि सकोची बानि हैं ॥" (गी० बा० ७८) अर्थात् यद्यपि धनुष रूप सागर में सभी राजा डूब गये तो भी ये प्रताप से उसे सोख लेंगे।

(३) 'रविमंडल देखत लघु;···'—सूर्य के छोटे-से मंडल में इतना अप्रमेय तेज है कि जिससे बिना श्रम ही सम्पूर्ण अंधकार का नाश हो जाता है; यथा—"यन्मध्यगतो भगवांस्तपतांपतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपयत्यवभासयत्यात्मभासा।······" (श्रीमद्भा० ५।२१।१)। इस प्रकार सूर्य भू (पृथ्वी), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्व. (द्यु) लोकों के प्रकाशक कहे गये हैं। पाताल में सूर्य की गति नहीं मानी जाती, वहाँ मणियों का प्रकाश रहता है। वैसे रामजी देखने में छोटे हैं, पर अपने तेज से धनुष-रूप अंधकार का नाश कर देंगे। यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २१८); "कोउ कह तेज प्रताप पुंज चितये नहिं जात भिया रे। छुवत सरासन सलभ जरैंगो ये दिनकर-बंस-दियारे।" (गी० बा० ८१); यहाँ तेज गुण कहा।

(४) 'मंत्र परम लघु···'—मंत्र से यहाँ ॐ का अर्थ है और इसके अ, उ, म, त्रिदेव के वाचक हैं। वह तीनों का वशकारक है और भी यह जिस देवता के मंत्र के साथ लगता है उसमें भी वशीकरण शक्ति देता है अतः, यह सब देवताओं का भी वशकारक है। मंत्र बुद्धि के द्वारा अर्थ के अनुसंधान के साथ जप करने से

सफल होता है, इस तरह यहाँ श्रीरामजी में बुद्धि का महत्त्व कहा गया। यदि कहा जाय कि बुद्धि-द्वारा चैतन्य प्राणी होते हैं, यह धनुष तो जड़ है। ऐसा नहीं है। धनुष में भी चेतनता है। पूर्व कहा गया कि यह घट-बढ़ सकता है। यथा—"होहि हरुअ रघुपतिहिं निहारी।" (दो० १५०)।

'महामत्त गजराज कहँ'''—चौथा दृष्टान्त अंकुश का देती हैं कि यह महामदवाले हाथी को वश कर लेता है। यह कठोर और नोकीला होता है, उसमें यह गुण है। ऐसे श्रीरामजी. गुणों से चाप को अधीन कर लेंगे।

(५) 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।'''—कामदेव अत्यंत सुकुमार है। वह फूल ही के धनुष-बाण भी धारण करता है, तो भी उसमें अप्रमेय बल है, जिससे उसने चौदहों भुवनों को वश में कर रक्खा है; यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३७); इसमें नारी के द्वारा काम का बल कहा है। वैसे श्रीरामजी यद्यपि अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर हैं, तथापि उनमें अप्रमेय बल है, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जा० मं० ६६); बलगुण अन्त में कहा गया, क्योंकि धनुष तोड़ने में यही प्रधान है, यथा—"तव भुज-बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनुविघटन परिपाटी॥" (दो० २८८)। "वय किसोर बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानि हैं। अवसि राम राजीवविलोचन संभुसरासन भानि हैं॥" (गी० बा० ७८)।

रानी ने कहा था कि—'बालमराल कि मंदर लेहीं।' अर्थात् ये छोटे और अत्यंत सुकुमार हैं, अतः, धनुष कैसे तोड़ सकते हैं? इसपर चतुर सखी ने तेजस्वी के आकार की छोटाई पर चार दृष्टांत देते हुए श्रीरामजी में प्रताप, तेज, बुद्धि और गुण दिखाये। फिर सुकुमारता पर काम का दृष्टान्त देकर *अप्रमेय बल दिखाया, तब रानी को प्रतीति हुई, क्योंकि ये पाँचो ऐश्वर्य जिसमें हों, वह सारा कार्य करने में* समर्थ होता है। जैसे भ्रम से रावण ने श्रीरामजी में इन पाँचों का न होना मानकर निन्दा की है। यथा—"बल प्रताप बुधि तेज न ताके॥ अगुन अमान जानि तेहि'''" (लं० दो० ३०); अर्थात् ये पाँचो होते तो वे समर्थ कहाते, यह रावण का अभिप्राय है। यहाँ पाँचो गुण प्रकट करने के लिये पाँच दृष्टान्त दिये गये। इन पाँचों में किसी को किंचित् भी श्रम नहीं हुआ, ऐसे ही श्रीरामजी को धनुष तोड़ने में कुछ भी श्रम न होगा।

(६) 'देवि तजिय संसय अस जानी।''' 'देवि' अर्थात् आप स्वयं दिव्य ज्ञानवाली हैं, यथा—"को बिबेकनिधि-बल्लभहिं, तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥" (अ० दो० २८३); अतः, मैं आपको क्या समझाऊँ? 'अस'''—अर्थात् मैंने लक्ष्यमात्र कहा, आप स्वयं विस्तार से जानकर संशय छोड़ें।

(७) 'सखी-बचन सुनि भइ'''''—श्रीरामजी का ऐश्वर्य जान पड़ा, इससे प्रतीति और प्रीति हुई। संशय दूर होने से विषाद मिटा। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८); "तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ-कृपा अब गयेउ बिषादा।" (दो० ११६)। 'अति प्रीती'—प्रीति तो प्रथम से ही थी, अब अत्यंत बढ़ चली कि हमारा जामाता त्रैलोक्य-विजयी एवं यशस्वी होकर विवाह करेगा।

तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥४॥
मन-ही-मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस-भवानी॥५॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चापगरुआई॥६॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तव सेवा॥७॥

बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चापगरुता अति थोरी ॥८॥

दोहा—देखि देखि रघुबीर-तनु, सुर मनाव धरि धीर।

भरे बिलोचन प्रेमजल, पुलकावली सरीर ॥२५७॥

अर्थ—तब (चलते समय) श्रीरामजी को देखकर श्रीजानकीजी भय से हृदय में जिस तिस की प्रार्थना करने लगीं ॥४॥ व्याकुल होकर मन ही-मन मना रही हैं कि हे महेश-भवानी ! प्रसन्न हूजिये ॥५॥ अपनी सेवा सफल कीजिये, हमपर हित (प्रेम) करके धनुष के भारीपन को हर लीजिये ॥६॥ हे गणों के नायक गणेशजी ! हे वर देनेवाले ! हे देव ! मैंने आजतक आपकी सेवा की है ॥७॥ मेरी बार-बार प्रार्थना सुनकर धनुष की गरुआई (भारीपन) बहुत कम कर दीजिये ॥८॥ रघुवीर की ओर देख-देखकर और धैर्य धरकर देवताओं को मनाती हैं, नेत्रों में प्रेम के आँसू भरे हैं, शरीर में पुलकावली भरी है ॥२५७॥

विशेष—(१) 'तब रामहिं बिलोकि···'—'तब'—जब श्रीरामजी मंच से उतरकर चले—"चलत राम सब पुर नरनारी ··"। तभी पुरवासीगण, सुनयनाजी और श्रीजानकीजी की पृथक्-पृथक् भावनाएँ हुईं, पर प्रथकार तो एक ही हैं, अत, वे क्रमश कह रहे हैं। प्रथम से दूसरे में और उससे भी तीसरे प्रसंग में प्रेम अधिक है। अत, उत्तरोत्तर अधिक कहा। श्रीरामजी को देखकर किशोरीजी का 'वैदेही' नाम सार्थक हो गया, इनकी देह की सुधि नहीं रह गई। अत, भयभीत होकर जो देवता स्मरण आते हैं, उन्हींकी प्रार्थना करने लग जाती हैं।

(२) 'मन-ही-मन मनाव··· ··'—इस समय विह्वलता में सीताजी गिरिजाजी का वरदान भूल गई हैं। श्रीरामजी की सुकुमारता पर घबरा गई, इसी से जिस-तिसको मना रही हैं। सकोचवश सखियों से भी नहीं कहतीं, नहीं तो उपर्युक्त चतुर सखी की तरह कोई प्रबोध कर देती। अत, इनका दुःख धनुर्भंग पर ही मिटेगा। 'करहु सुफल···'—अर्थात् आपकी सेवा निष्फल नहीं होती।

(३) 'गननायक बरदायक···' 'गणनायक' अर्थात् आप गणों के नायक हैं, अत, समर्थ हैं। 'बरदायक' अर्थात् उदार हैं। 'देवा' अर्थात् दिव्य ज्ञानपूर्ण हैं, अत, मेरे हृदय के भावों को जानकर तथा उदारता से देने में प्रवृत्त होकर सामर्थ्य से मुझे कृतार्थ करें। 'कीन्ही तब सेवा'—सेवा ही की है—अभी तक कुछ माँगा नहीं।

(४) 'करहु चाप-गरुता अति थोरी।'—'गरुआई'=गुरुता तो 'महेस भवानी' से दूर करा चुकीं, अब गणेशजी से उसे 'अति थोरी' करवाती हैं। यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी ने दो प्रकार कहा था—'कमल नाल जिमि चाप चढावउँ' और—'तोरउँ छत्रकदंड जिमि'। उसी में से पहले को पुरवासियों ने माँगा, यथा—"तौ सिव धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" और शेष दूसरा ये चाह रही हैं कि छत्रकदंड की तरह छूते ही तोड़ डालें।

(५) 'देखि देखि रघुबीर-तनु······'—एक बार देखती हैं, फिर सकुच जाती हैं। जब धनुष की स्मृति आती है, तब श्रीरामजी की धीरता भूल जाती हैं। अधीर हो जाती हैं। फिर धीर धरकर देवता मनाने लगती हैं। अथवा बिना देखे कल नहीं पड़ती, इससे बार-बार देखती हैं, यथा—"देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।" (दो० २३४)। यहाँ के 'सुर' से यदि 'सूर=सूर्य' का अर्थ लें, तो पचदेव की प्रार्थना-पूर्ति हो जाती है, जो एक सनातन रीति है। सूर का अर्थ सूर्य, यथा—"तुलसी सूधे सूर ससि, समय बिडंबित राहु।" (दोहावली १३०), "कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सुं० ४), ऊपर महेश,

भवानी और गणेशजी आ गये और आगे—"तो भगवान् सकल उर-बासी।" से विष्णु भी आ जाते हैं। यहाँ आँसू और पुलकावली प्रेम के हैं।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥१॥
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥२॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुधसमाज बड़ अनुचित होई ॥३॥
कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥४॥
बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस-सुमन-कन बेधिय हीरा ॥५॥

अर्थ—अच्छी तरह आँखें भरकर श्रीरामजी की शोभा देखी, पिता की प्रतिज्ञा को स्मरण कर फिर मन क्षुब्ध हो गया ॥१॥ (सोचती हुई कहती हैं) अहह (दुःख की बात है कि)! हे तात! आपने कठिन हठ कर लिया है; कुछ लाभ-हानि का विचार नहीं करते ॥२॥ सब मंत्री डरे हुए हैं; कोई शिक्षा नहीं देता। बुद्धिमानों के समाज में यह बड़ा अनुचित हो रहा है ॥३॥ कहाँ तो धनुष वज्र से भी बढ़कर कठोर और कहाँ ये श्यामल, कोमल शरीर और किशोर अवस्थावाले! ॥४॥ हे विधाता! मैं किस तरह हृदय में धैर्य धरूँ? क्या सिरस के फूल का कण हीरे को छेद सकता है? (वा सिरस के फूल के कण से हीरा छेदा जाता है?) ॥५॥

विशेष—(१) 'नीके निरखि नयन······' यथा—"नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा॥" (दो० २२१); यहाँ धैर्य धारण करके भली भाँति शोभा देख पाई हैं। इतना ही भेद है, अच्छी तरह देखने ही पर सुकुमारता अधिक जान पड़ी, तभी क्षुब्ध हुई।

(२) 'अहह तात दारुन हठ······'—'तात' शब्द श्लिष्ट मानने से पिता के अतिरिक्त संताप देनेवाले कठिन हठ ठानने का भी अर्थ होता है। 'अहह' शब्द अगली अर्द्धाली के साथ भी है। 'बुध समाज' एक दो नहीं, प्रत्युत बुद्धिमानों का समाज ही है, फिर भी सामान्य नहीं, किन्तु बड़ा अनुचित हो रहा है, यह बड़े खेद की बात है!

(३) 'कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि······'—'चाहि' [अव्यय सं० चैव=और भी]= अपेक्षाकृत (अधिक)। बँगला भाषा में भी इसका प्रयोग होता है। यथा—"एर चाहे ए भालो" कहा जाता है। अन्यत्र भी—"कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।" (उ० दो० १९); "मरन नीक तेहि जीवन चाही।" (अ० दो० २०)। कुलिश (वज्र) इन्द्र के हाथ में रहता है, श्रीरामजी मृदु सुकुमार भूमि में हैं। अतः, कुलिश आकाश में, श्रीरामजी भूमि में—दोनों में पृथ्वी-आकाश का-सा अंतर है। धनुष की कठोरता के लिये उपमा मिली, पर श्रीरामजी की सुकुमारता के लिये नहीं मिली। श्रीसुनयनाजी ने—'कर देहीं' कहा था। ये धनुष का स्पर्श भी नहीं चाहतीं। इतनी मृदुता चित्त में आ गई है!

(४) 'बिधि केहि भाँति धरउँ······'—धनुष को ऊपर वज्र से भी कठोर कहा था, वही यहाँ हीरा कहकर भी जनाया। यहाँ हीरे के साथ सिरस के फूल के कण को ग्रहण किया, क्योंकि इससे अधिक सुकुमारता अन्य वस्तुओं में नहीं पाई जाती। यथा—"कमठपृष्ठ कठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनंदनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥" (श्रीहनुमन्नाटक १।१)।

सकल सभा कै मति भइ भोरी। अब मोहि संभु-चाप गति तोरी ॥६॥

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥७॥
अति परिताप सीय-मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं ॥८॥

दोहा—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-जुग, जनु बिधुमंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ—सम्पूर्ण सभा की बुद्धि भोली (बावली) हो गई है, हे शिवजी के धनुष ! अब मुझे तुम्हारी ही शरण (अंतिम उपाय) है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी को देखते हुए अपनी जड़ता लोगों पर डालकर हलके हो जाओ ॥७॥ श्रीसीताजी के मन में अत्यंत परिताप है, उनके निमेष (पल) का एक लव (साठवाँ भाग) भी सौ युगों के समान बीतता है ॥८॥ प्रभु को देखकर फिर पृथिवी की ओर देखती हैं, इसमें उनके चंचल नेत्र इस तरह शोभते हैं, मानों काम की दो मछलियाँ चन्द्र-मंडल पर हिंडोले में झूल रही हों ! ॥२५८॥

विशेष—(१) 'अब मोहि संभुचाप गति तोरी।'—क्रम से—'पिता', 'मंत्री', 'बुध समाज' फिर 'सकल सभा' को कहा कि सबकी मति ठीक नहीं, एक प्रकार से उन सबकी शरण गईं, पर कहीं सहारा न मिला, तब शंभु-चाप की शरण में आईं, व्याकुलता की हद है !

(२) 'निज जड़ता लोगन्ह पर···'—धनुष से कहती हैं कि तुम जड़ हो, वह जड़ता निकाल दो और हलके हो जाओ। जड़ता रखने का स्थान भी कहती हैं कि लोगों पर डाल दो। वह इस तरह कि सारी सभा की बुद्धि भोरी हो रही है, उसी में जड़ता डाल दो कि वह जड़वत् हो जाए, वह समझ ही न पावे कि धनुष हलका हो गया। इस तरह तुम्हारी (धनुष की) और श्रीरामजी की—दोनों की मर्यादा रह जायगी। कितने हलके हो जायँ ? इसपर भी कहती हैं—'रघुपतिहि निहारी' अर्थात् इनकी सुकुमारता को देखकर तदनुसार ही हलके हो जाओ।

(३) 'अति परिताप सीय···'—यहाँ अत्यन्त परिताप है, अतः, पहले भी सामान्य ताप सिद्ध होता है। उसकी ऊपर दो दशाएँ कही गईं—एक तो—'सुर मनाव धरि धीर' और दूसरी—'पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा।' तीसरी यह 'अति परिताप' की दशा है। अतः, प्रथम में निमेष सौ युगों के समान बीतता था। दूसरी में दो लव सौ युगों के समान बीते और एक इस तीसरी दशा में तो एक ही लव सौ युगों के समान बीतता है !

(४) 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि···'—श्रीरामजी मंच से उतरकर नीचे धनुष की ओर आ रहे हैं। श्रीजानकीजी की दृष्टि एक बार श्री रामजी की ओर जाती है, फिर पृथिवी पर आती है। शिर के बिना हिले दृष्टि मात्र की यह क्रिया हिंडोले पर झूलने के समान है। चपल नेत्र की उपमा मछली से दी जाती है। यहाँ 'मनसिज मीन' से नेत्र की शोभा और 'राजत लोल' से नेत्र के व्यापार की शोभा कही गई। 'बिधु-मंडल' से मुख की शोभा कही है। 'प्रभुहि चितइ'—श्रीरामजी की कीर्ति, नारद-वचन, पार्वतीजी का वरदान आदि से प्रभुता पाई जाती है। उपर्युक्त 'अति परिताप' पर यहाँ फिर प्रभुता की स्मृति ने कुछ धैर्य दिया। फिर संकोच से नीचे दृष्टि हो जाती है। 'खेलत' का अर्थ कल्लोल ठीक नहीं, क्योंकि किशोरीजी चिन्तित हैं, अतः, हिलना-डोलना अर्थ लेकर झूलना ही ठीक है। प्रथम ही कहा गया है—'भरे बिलोचन प्रेम जल'; अतः मछली के लिये हिंडोल में जल भी है ही। प्रेम और लज्जा झुलानेवाले हैं। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

प्रभु की ओर देखकर फिर भूमि की ओर दृष्टि जाने के भाव—(क) रंगभूमि गचढारी है, उसपर श्रीरामजी का प्रतबिंब देख पड़ता है। (ख) प्रभु से कहती हैं कि मैं आपको प्रभु (स्वामी) मान चुकी, यदि आप न मिले तो मैं इसी भूमि में समा जाऊँगी। माता पृथिवी से भी कहती हैं कि अभी तक धनुष को पकड़े थीं—'तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।' अब इन प्रभु के लिये उसे छोड़ दीजिये। संकेत से जनाती हैं कि मैं इन्हें ही वरण कर चुकी। दूसरे को नहीं कर सकती, अन्यथा मुझे जगह दीजिये। (ग) प्रभु से कहती हैं— गिरिजाजी ने कहा है कि वे (आप) शील स्नेह-जानते हैं, फिर भी हमपर आपकी करुणा नहीं हो रही है, देर होने से मैं पृथिवी में समा जाऊँगी। इत्यादि।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाजनिसा अवलोकी ॥१॥
लोचनजल रह लोचनकोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥२॥
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥३॥
तन मन बचन मोर पन साँचा। रघुपति-पद-सरोज चित राँचा ॥४॥
तौ भगवान सकल-उर-बासी। करिहहिं मोहि रघुबर कै दासी ॥५॥

अर्थ—(श्रीकिशोरीजी के) मुखकमल ने वाणी-रूपी भ्रमरी को रोक लिया, लज्जारूपी रात को देखकर वह प्रकट नहीं होती ॥१॥ आँखों का जल आँखों के ही कोने में रह गया, जैसे बड़े कजूस का सोना (घर के कोने में ही गड़ा रह जाता है) ॥२॥ वे अपनी बड़ी व्याकुलता जानकर सकुच गई और धैर्य धरकर हृदय में विश्वास लाईं ॥३॥ जो शरीर (कर्म), मन और वचन से मेरा प्रण सच्चा है और श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में मेरा चित्त रँगा हुआ है ॥४॥ तो सबके हृदय में बसनेवाले भगवान् मुझे रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की दासी करेंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'गिरा अलिनि···'—भ्रमरी कमल के सम्पुटित होने के साथ रात को उसमें बंद हो जाती है, चाहे तो काटकर निकल आवे, पर प्रेम से रात की मर्यादा रखती है। यथा—"दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः निष्क्रियो भवति पंकजकोशे ।" (सुभाषित०) वैसे श्रीजानकी की वाणी मुख-कमल में बंद है, लज्जारूपी रात की मर्यादा की रक्षा के लिये बाहर नहीं निकलती। कुछ कहें तो भीतर दुःख कम हो, यथा—"कहेहू तें कछु दुख घटि होई ।" (सु० दो० १७) ; पर लाज से नहीं कहतीं। यहाँ अभेद रूपक है।

(२) 'लोचन जल रह लोचन···'—पूर्व कहा था—"भरे बिलोचन प्रेम जल" (दो० २५७) ; वही लोचन-जल यहाँ कहा जा रहा है, लज्जा के कारण उसे न गिरने देती हैं और न पोछती ही हैं, उसे नेत्रों के गोलक में ही कोने में छिपा रक्खा है, कि कोई देख न सके। जैसे—बड़ा कंजूस सोने को बड़ी युक्ति से रक्खे, वह न तो स्वयं खर्च करे और न किसी को जनावे। सोना भाग्यवान् के ही यहाँ रहता है, वैसे ही प्रेम के आँसू भी भाग्यवान् ही के होते हैं। इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'सकुची व्याकुलता बड़ि···'—संकोच आदि से ही चला, यथा—"मन-ही-मन मनाव ···" (आदि में) "प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि" मध्य में और यहाँ अंत में भी बना है। यहाँ व्याकुलता छिपाने के लिये सकोच है। 'धरि धीरज प्रतीति···'—प्रथम भी धैर्य धरना कहा है, यथा—"सुर मनाव धरि धीर", पर वह सुकृत और देवताओं के आधार से था, इससे पूर्णदृढ़ता नहीं हुई थी, यहाँ प्रेम के प्रण से धैर्य होगा तो निश्चलता आ जायगी।

(४) 'पद-सरोज चित राँचा।'—चित्त भ्रमर-रूप हुआ—"लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।" (दो० १६)।

(५) 'तो भगवान सकल...'—'सकल उरवासी' से विष्णु-रूप सूचित किया। यथा—"विशप्रवेशने धातोर्विष्णुरिति विधीयते।" (महारामायण); विष्णु को कहकर उपर्युक्त पंचदेवों की प्रार्थना की भी पूर्ति की। यह विष्णु-रूप भी श्रीरामजी का ही रूप है, यथा—"ततस्त्वमसि दुर्धर्षोत्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्॥" (वाल्मी० ७।१०४।१)। इस रूप से आप रक्षा का विधान करते हैं, इसलिये श्रीजानकी ने माधुर्य-लीला में उसी रूप से रक्षा की चाहना की है।

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥६॥
प्रभुतनु चितइ प्रेमप्रन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना ॥७॥
सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघुब्यालहि जैसे ॥८॥

दोहा—लखन लखेउ रघुबंसमनि, ताकेउ हर-कोदंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड ॥२५९॥

दिसि-कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥१॥
राम चहहिं संकरधनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥२॥

अर्थ—जिसका जिसपर सच्चा स्नेह होता है, वह उसे मिलता है, इसमें कुछ संदेह नहीं ॥ ६ ॥ प्रभु की ओर देखकर प्रेम का प्रण दृढ़ किया, कृपा-निधान श्रीरामजी ने सब-कुछ जान लिया ॥ ७ ॥ सीताजी को देखकर श्रीरामजी ने धनुष को कैसे ताका (देखा)? जैसे छोटे साँप को गरुड़ देखें ॥ ८ ॥ लक्ष्मणजी ने लक्ष्य किया कि रघुकुल-मणि श्रीरामजी ने शिवजी के धनुष को देखा है, तब ब्रह्मांड को अपने चरणों से दबाकर और शरीर से पुलकित होकर वचन बोले ॥ २५९ ॥ हे दिग्गजो! हे कच्छप! हे शेष! हे वाराह! धैर्य रखकर के पृथिवी का धारण करो कि डोलने न पावे ॥ १ ॥ श्रीरामजी शिवजी के धनुष को तोड़ना चाहते हैं, हमारी आज्ञा सुनकर सब सावधान हो जाओ ॥ २ ॥

विशेष—(१) 'जेहि के जेहि पर सत्य...'—उपर्युक्त 'सकल उरवासी' का कार्य कहती हैं, कि वे भगवान साक्षी-रूप से हृदय को देखते रहते हैं, जिसके हृदय में जिसके लिये सच्चा स्नेह होता है, वही उसे जन्मान्तर में भी प्राप्त कराते हैं, यथा—"निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबहि जग माहँ॥" (दोहावली ८०) अर्थात् जल और भोजन के लिये सबको सच्ची चाह रहती है, उसे उन भगवान् ने सब के लिये सुलभ किया है, ऐसे ही प्रभु के लिये भी सच्ची प्यास हो, तो वे भी मिल जाते हैं। यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १२९)।

(२) 'कृपानिधान राम सब जाना।'—पूर्व गिरिजाजी ने कहा था—"करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६); वह यहाँ चरितार्थ हुआ, कृपा से इनके स्नेह को जाना। हृदय की जानी। अतः, 'राम' नाम दिया गया।

(३) 'सियहिं बिलोकि...'—यथा—"पेखि पुरुषारथ परखि पन प्रेम नेम, सिय हिय की बिसेषि बड़ी खरभरी है। ताहि नो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक, महा ब्याल बिकल बिलोकि मानों जरी है॥" (गी० बा० ९०), भाव यह कि जो सीताजी ने मेरे लिये देह-त्याग का भी निश्चय किया है तो मैं इस धनुष को अभी तोड़ता हूँ।

श्रीरामजी के इस एक बार के ही देखने में श्रीजानकीजी को आश्वासन है और लक्ष्मणजी को भी संकेत है, जिससे वे सबको आगे सजग करते हैं। छोटा सर्प गरुड़ के देखने से सिकुड़ जाता है, वैसे ही चाप भी डरकर छोटा हो गया जिससे श्रीजानकीजी को भी सूक्ष्म देख पड़े, क्योंकि वे उसे बहुत कठिन जान रही थीं। यह भी जनाया कि सिकुड़े हुए सर्प को भी गरुड़ नहीं छोड़ता, वैसे मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।

(४) 'लखन लखेउ'''—वीरों को वीरता ही भाती है, इसी से पुलक से इनका हर्ष प्रकट हो गया, यथा—"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" (सु॰ दो॰ ५७)। संच ही पर से चरणों से ब्रह्मांड को कैसे दबाया ? इसका उत्तर यह है, कि इनको चरण से संकेत-मात्र करना है, इनके संकल्प मात्र से सब विधान होते हैं। जैसे मंत्र-जप का प्रभाव मन से ही देवताओं तक पहुँच जाता है, इसी तरह इनकी आज्ञा सर्वत्र पहुँच गई। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ये शेष आदि सब के नियंता हैं।

(५) 'धरहु धरनि धरि धीर'''—यहाँ एक तो धैर्य धरना, पुनः पृथिवी का धरना—दोनों कहते हैं। 'धरनि'—सबको धारण करती है, उसके हिलने से सभी का नाश होगा।

'दिसिकुंजरहु'—बहुवचन कहकर सब दिग्गजों को सूचित किया। दिग्गज आठ हैं—ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीक (विश्वकोष)। अनुरूप भाव, यथा—"पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां, त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः॥ दिक्कुंजराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां, रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥"(हनुमन्नाटक १।२१)।

इस कृत्य से डींग हाँकनेवाले अभिमानी राजाओं पर भी आतंक पहुँचा कि लड़ाई के भरोसे न रहना। यहाँ ब्रह्मांड तक को हिलाने-डुलानेवाले वीर हैं।

चाप - समीप राम जब आये। नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाये॥३॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥४॥
भृगुपति केरि गरब-गरुआई। सुर-मुनि-बरन्ह केरि कदराई॥५॥
सिय कर सोच जनक-पछितावा। रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा॥६॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥७॥
राम-बाहु - बल - सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कनहारू॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी जब धनुष के पास आये, स्त्री-पुरुषों ने देवताओं को मनाया और पुण्यों का स्मरण किया॥३॥ सबका संदेह और अज्ञान, मूर्ख राजाओं का अभिमान॥४॥ परशुराम के गर्व की गुरुता, देवताओं और श्रेष्ठ मुनियों का कायरपना॥५॥ श्रीसीताजी की चिंता, श्रीजनकजी का पछतावा (पश्चात्ताप), रानियों का कठिन दुःख रूपी दावानल॥६॥ वे सब समाज बनाकर, शिव-धनुष रूपी बड़े जहाज को पाकर जा चढ़े॥७॥ श्रीरामजी की भुजाओं का बल अपार समुद्र है। सब उसके पार जाना चाहते हैं, पर कोई कर्णधार (माँझी) नहीं दीखता॥८॥

विशेष—(१) 'चाप-समीप राम जब'''—पूर्व कहा गया—"सहजहिं चले सकल जग-स्वामी।" कवि यह प्रसंग छोड़कर सबकी दशा कहने लगे थे। अब यहाँ लिखते हैं कि श्रीरामजी चाप के पास आ गये।

(२) 'सब कर संसय अरु'''—संशय और अज्ञान तो सभी को है, अज्ञान-वश सभी को संदेह है, शेष बातों में एक-एक ही उक्त व्यक्तियों में हैं। मूर्ख राजाओं को घमंड है कि हमसे न टूटा तो इस बालक से क्या टूटेगा! या यह भी अभिमान है कि मुझसे न टूटा, और भी तो किसी से नहीं टूटा, तो क्या हम किसी से कम हैं? यह अभिमान धनुष के साथ टूटेगा।

(३) *'भृगुपति केरि गरब गरुआई'*—*परशुरामजी के गर्व था कि जब तक शिवधनुष बना है, तब* तक हमारी अव्याहत गति और क्षत्रियों का संहार करनेवाली दिव्य शक्ति बनी है। उनका यह गर्व बहुत पहले से सवार था। धनुर्भंग की प्रतिज्ञा पर भी इन्हें निश्चय नहीं था कि कोई तोड़ सकेगा। टूटने की आवाज पर ही दौड़ पड़े कि कोई मुझसे अधिक बलवान् हो चुका। यह प्रसंग और शेष संशय आदि सात साथियों को ग्रंथकार ने ला बैठाया है कि ये सब पार जाना चाहते हैं। यहाँ राम-बाहु-बल अपार अथाह सिंधु है, यथा—"सठ चाहत रघुपति-बल देखा॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा।" (आ० दो० १); "अमित अमल बल जल परिपूरन।" (गी० ड० १३); तथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।" (श्वे० ६।८)। शिवधनुष को भारी जहाज जानकर उसपर चढ़े हैं, इन सबको विश्वास है, कि हम पार हो जायँगे; पर माँझी कोई नहीं दीखता, जो इस सागर से पार ले जाय अर्थात् अब चाप को टूटने से बचा सके। शिवजी इसके प्रथम कर्णधार रूप से रक्षक थे, तब विष्णु के समर में ही न बचा सके, यह जड़ हो गया था, तो अब राम बाहु-बल से क्या बचावेंगे? परशुराम भी आकर क्या कर लेंगे? इस जहाज का डूबना आगे दो० २६१ पर कहेंगे। श्रीरामजी के बाहु-बल की अगाधता का यह विलक्षण रूपक है।

दोहा—राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि॥२६०॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलपसम तेही॥१॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करइ का सुधा-तड़ागा॥२॥
का बरषा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने॥३॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सब लोगों को देखा कि वे लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह देख रहे हैं। फिर उन कृपा के धाम ने श्रीसीताजी को देखा तो *उन्हें बहुत व्याकुल जाना॥२६०॥* वैदेही श्रीजानकीजी को बहुत तरह से व्याकुल देखा कि एक निमिष उन्हें कल्प के समान बीतता है॥१॥ जो किसी प्यासे का शरीर जल के बिना छूट जाय, तो मरने पर अमृत का तालाब भी क्या करेगा?॥२॥ सब खेती ही सूख गई, तब वर्षा होने से क्या? समय पर चूकने से फिर पछताने से क्या?॥३॥ ऐसा मन में जानकर श्रीजानकीजी की ओर देखा और उनकी विशेष प्रीति देखकर प्रभु पुलकित हो गये॥४॥

विशेष—(१) "तृषित बारि बिनु जो'''सुधा तड़ागा।" श्रीरामजी ने जब श्रीजानकीजी को अत्यन्त विकल देखा, तब विचार किया कि प्यासा यदि जल के बिना शरीर त्याग दे, तो फिर उसके अमृत का तालाब भी प्राप्त होना किस काम का? यहाँ प्यासी श्रीजानकीजी हैं, इन्हें श्रीरामजी के

हाथ से धनुष टूटने की आशा रूप प्यास है, यथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (दो० ४१), धनुष टूटने का तुरत जल है, अमृत के तड़ाग श्रीरामजी हैं, यथा—"जगतपिता रघुपतिहिं बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥'''सुधासमुद्र समीप बिहाई।" (दो० २४५)। यदि थोड़ा विलंब होने से श्रीजानकीजी शरीर त्याग दें, तो पीछे धनुष तोड़कर उन्हें श्रीरामजी के प्राप्त ही हो जाने से क्या लाभ?

स्मरण रहे कि अमृत का गुण अमर करना है—कुछ मरे हुए को जिलाना नहीं है, यथा—"सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।" (दो० ५); अर्थात् जीवित आदमी अमृत पी ले तो अमर हो जाय और विष खा ले तो मर जाय। यदि अमृत पी ले और अमर हो जाय, फिर पीछे विष उसे मार न सकेगा और जो विष पीकर मर जाय, तो अमृत जिला न सकेगा। दोनों अपने-अपने गुणों में प्रशंसनीय हैं। जो मर गया, और उसका आत्मा कर्मानुसार अन्यत्र प्राप्त हो चुका, तो फिर अमृत में यह शक्ति नहीं कि वह उसे ला सके अथवा दूसरा आत्मा ही तैयार कर सके। यह गूढ़ोत्तर(चित्रोत्तर) अलंकार है।

यदि प्रश्न हो कि—"सुधा बरषि कपि भालु जियाये।" (लं० दो० ११३) क्यों कहा है तो उत्तर यह है कि वे वानर-भालु 'सुर-अंसिक' (देवताओं के अंश से) थे, वहाँ रघुपति की इच्छा से जी गये। फिर इन्द्र से क्यों अमृत बरसाने को कहा? उत्तर यह है कि इन्द्र को बड़ाई देनी थी; उसने सेवा चाही थी। यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥" (लं० दो० ११३)। अतः, वहाँ वानर-भालुओं का जीना रघुपति की इच्छा से हुआ। नहीं तो राक्षसों पर भी तो अमृत-वर्षा हुई, पर उन्हें जिलाने की इच्छा श्रीरामजी की नहीं थी। इससे वे नहीं जिये।

(२) 'का बरषा सब''''''' कृषि (खेती) श्रीजानकीजी की माता और उनकी सखियाँ हैं। धनुष टूटने पर कहा है, यथा—"सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥" (दो० २६३); इन्हें श्रीजानकीजी का ब्याह देखने की अभिलाषा है, यदि धनुष टूटने में देर होने से श्रीजानकीजी का अमंगल हो जाय तो अभिलाषा जाती रहेगी, यही सुखाना है, फिर यदि धनुभंग रूपी वर्षा हो, तो किस काम की? पुनः श्रीजानकीजी को देर होने से कहीं अमंगल हो ही गया तो फिर समय चूक कर मेरा पछताना व्यर्थ होगा। इसलिये धनुष तोड़ने में शीघ्रता होनी चाहिये। महाकवि विद्यापति भी कहते हैं—"अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।" (पदावली)

(३) 'अस जिय जानि जानकी'''''''—'जानकी देखी' अर्थात् उनकी जान की नौबत आ गई है। 'लखि प्रीति बिसेषी'—श्रीजानकी ने श्रीरामजी को इस प्रसंग में सात बार देखा है और श्रीरामजी का उन्हें चार ही बार देखना लिखा है। अतः, उनकी प्रीति विशेष है।

युगल सरकारों की प्रीति और दृष्टि का मिलान

श्रीजानकीजी	श्रीरामजी
१—देखि-देखि रघुबीर-तनु'''''' (दो० २५७)।	१—सियहिं बिलोकि तकेउ धनु।
२—नीके निरखि नयन भरि सोभा (,,)।	२—चितई सीय कृपायतन।
३—प्रभुहिं चितइ पुनि'''''' (दो० २५८)।	३—देखी बिपुल बिकल बैदेही।
४—प्रभु-तनु चितइ '' (दो० २५८)।	४—अस जिय जानि जानकी देखी
५—मुनि-समीप देखे दोउ भाई। (दो० २३७)	
६—देखि सीय सकुचानि। (दो० २४८)	
७—तब रामहिं बिलोकि बैदेही। (दो० २५६)	
पुलकावली सरीर (दो० २५७)।	प्रभु पुलके लखि प्रीति'''

गुरहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥५॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयेऊ ॥६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥७॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मन-ही-मन गुरुजी को प्रणाम किया और अत्यन्त शीघ्रता से धनुष को उठा लिया ॥५॥ जब (उठा) लिया, तब वह बिजली की तरह चमका, फिर धनुष आकाश-मंडल के समान हो गया ॥६॥ उसे लेते (उठाते), चढ़ाते (प्रत्यंचा चढ़ाते) और दृढ़ रीति से कान तक प्रत्यंचा (डोर) को खींचते, कोई लक्ष्य नहीं कर पाया (कि कब एवं कैसे उठाया, चढ़ाया और जोर से खींचा)। सबने देखा कि खींचे खड़े हैं ॥७॥ उसी क्षण के भीतर श्रीरामजी ने धनुष को बीच से तोड़ दिया। संसार में (धनुष टूटने का) घोर-कठोर शब्द भर गया ॥८॥

विशेष—(१) 'गुरहिं प्रनाम मनहिं······'—यहाँ मन ही में प्रणाम किया, क्योंकि प्रकट करने में पाया जाता है कि साहस खो चुके हैं। अतः, गुरु से सहायता चाहते हैं। पुनः यहाँ मन से, पूर्व—"सुनि गुरु-बचन चरन सिर नावा।" (दो० २५३) में कर्म से और—"गुरु-पद-बंदि सहित अनुरागा। राम-मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥" (दो० २५४) में वचन से, इस प्रकार तीन बार प्रणाम किया। 'अति लाघव उठाइ'—बड़ी फुर्ती से उठा लिया। तेजी से काम करना वीरता है।

(२) 'दमकेउ दामिनि जिमि ······'—'जिमि' शब्द के बिना संदेह होता कि मेघ की बिजली ही चमकी है। लेने के समय बिजली-सी चमकी; चढ़ाने का कार्य—'नभ-मंडल सम' से सूचित किया कि श्रीरामजी शिर के ऊपर गोलाकार रौंदा चढ़ा हुआ धनुष लिये हुए हैं।

(३) 'लेत चढ़ावत खैंचत ···· '—लेना (पकड़कर उठाना), चढ़ाना (रौंदा चढ़ाना) और दृढ़ रूप से खींचना जिससे प्रत्यंचा कान तक चला जाय, इन कर्मों को तेजी से कोई लक्ष्य नहीं कर पाया कि कैसे क्या किया? सब यही देखते थे कि श्रीरामजी धनुष हाथ में लिये खड़े हैं। इसमें 'गाढ़े' शब्द क्रिया-विशेषण है जो 'खींचत' क्रिया के साथ है।

(४) 'तेहि छन राम मध्य ····'—जैसे लेने का कार्य बिजली-सी चमकना और चढ़ाने का 'नभ-मंडल सम' होना है, वैसे ही यहाँ 'गाढ़े खैंचत' का कार्य दिखाया कि बीचोबीच धनुष को तोड़ डाला। 'मध्य धनु'—इधर-उधर से तोड़ने से लोग कहते कि बगल पतला था, इससे तोड़ सके; बीच का भाग नहीं तोड़ पाते। धनुष पुराना था, इससे खींचने के साथ ही टूट गया।

यहाँ 'कृषी', 'बरषा', 'दामिनी का दमकना', 'नभ-मंडल सम धनुष', हैं और 'श्यामघन' उपमान की जगह श्रीरामजी घनश्याम हैं ही तथा आगे चातकी की तृप्ति एवं सूखते धान में पानी पड़ना भी कहा है। अतः, वर्षा का पूरा प्रसंग लक्षित किया है।

छंद—भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा—संकरचाप जहाज, सागर रघुबर - बाहु - बल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस॥२६१॥

अर्थ—घोर (भयावन) और कठोर (कड़ा) शब्द लोकों में भर गया (गूँज उठा)। सूर्य के घोड़े अपना मार्ग छोड़कर चलने लगे। दिग्गज चिघाड़ने लगे। पृथिवी हिलने लगी। शेष, वाराह और कच्छप कुलबुला उठे॥ देवता, दैत्य और मुनि सब कान में हाथ दिये व्याकुल होकर विचार रहे हैं, (जान पड़ता है) कि श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (ऐसा समझकर) सब-के-सब श्रीरामजी की जय जय का उच्चारण करते हैं॥ शिवजी का धनुष जहाज है, श्रीरघुनाथजी की भुजाओं का बल समुद्र है, वह सारा समाज (धनुष रूपी जहाज के टूटते ही) डूब गया, जो पहले ही मोह के वश उसपर जा चढ़ा था।

विशेष—'घोर कठोर'—क्योंकि आवाज ऊपर सूर्य तक और नीचे कच्छप तक पहुँची। आगे-'बिकल बिचारहीं' तक इस घोरता एवं कठोरता का ही प्रभाव है। 'घोर' से मन और कठोर से कान पर प्रभाव पड़ा। 'बिचारहीं'—कि ऐसा शब्द वज्रपात होने, पृथिवी डोलने एवं पहाड़ गिरने से भी नहीं हो सकता, पीछे चित्त में आया कि श्रीरामजी शिव-चाप तोड़नेवाले थे, वही टूटा है। तब सभी जय-जयकार करने लगे। राक्षस भय से व्याकुल हो 'जय-जय' के उच्चारण में सम्मिलित हुए। 'सुर, असुर, मुनि' से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और भूलोक जनाये।

'सकल समाज'—वे ही हैं, जो—"चढ़े जाइ सब संग बनाई।" (दो० २५१) पर कहे गये थे। धनुष के टूटने के शब्द से क्षुब्ध जगत् का चित्र हनुमन्नाटक में यों खींचा गया है—"त्रुट्यद्भीमधनुः कठोरनिनदस्त्राकरोद्विस्मयं। त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शंभोः शिरःकम्पनम्॥ दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं। वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम्॥" (१।२६)। अभेद रूपक है।

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥१॥
कौसिक - रूप - पयोनिधि पावन। प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥२॥
रामरूप - राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥३॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिं करि गाना॥४॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥५॥
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किन्नर गीत रसाला॥६॥

अर्थ—प्रभु ने धनुष के दोनों टुकड़े पृथिवी पर डाल दिये, देखकर सब लोग सुखी हुए॥१॥ श्रीरामरूप पूर्णचन्द्र को देखकर अथाह सुन्दर प्रेम-जल से भरे हुए विश्वामित्र रूपी पवित्र समुद्र में भारी

पुलकावली रूपी लहरें बढ़ने लगीं ॥१-३॥ आकाश में धमाधम नगाड़े बजने लगे, अप्सराएँ गा गाकर नाचने लगीं ॥४॥ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभु की प्रशंसा करते और आशीष देते थे ॥५॥ बहुत रंगों के फूल और फूलों की मालाएँ बरसा रहे थे, किन्नर रसीले गीत गा रहे थे ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु दोउ चाप-खंड ...'—हल्ला कुछ कम पड़ा, तब धनुष के टुकड़े फेंके कि जिससे सब कोई देख लें, नहीं तो कुटिल राजा लोग कहते कि माया से तोड़ा होगा—पुरुषार्थ से नहीं। 'लोग सब'—पहले तो चकाचौंध हो गये थे, क्षणिक घबराहट शांत हुई तो देखकर सुखी हुए। ये रंगभूमि के ही लोग हैं।

(२) 'कौसिक-रूप पयोनिधि...'—विश्वामित्रजी महर्षि हैं, इनका हर्ष-विषाद से कोई सम्बन्ध नहीं, पर इन्हें भी धनुष टूटने पर भारी हर्ष हुआ। हर्ष की अगाधता के लिये समुद्र का रूपक बाँधा है, प्रेम सम्बन्ध से 'पावन' कहा है। ऊपर के 'लोग सब' में ये भी आ जाते, पर श्रीरामजी के इस कार्य का गौरव दिखाने के लिये पृथक् कहे गये। इन्हें इतना अधिक हर्ष इसलिये हुआ कि इनकी आज्ञा पूरी हुई।

(३) 'बरिसहिं सुमन रंग...'—इनलोगों ने प्रथम ही से मालाएँ भी रंग-बिरंग की बना रक्खी थीं कि धनुष टूटने पर बरसावेंगे। 'गीत रसाला'—इनके गान उपर्युक्त देवनारियों के गानों से भी अधिक सरस हैं।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुष-भंग-धुनि जात न जानी ॥७॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी ॥८॥

दोहा—बंदी मागध सूतगन, बिरद बदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर ॥२६२॥

अर्थ—जय जयकार की वाणी (चौदहो) भुवनों में छा गई, धनुष के टूटने की ध्वनि को जाते किसी ने नहीं जाना ॥७॥ प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ स्त्री पुरुष कह रहे हैं कि श्रीरामजी ने भारी शिवजी के धनुष को तोड़ डाला ॥८॥ भाट, मागध और सूत लोग धीर-बुद्धि से विरद (यश) कहने लगे। सब लोग घोड़े, हाथी, मणि, धन और वस्त्र निछावर कर रहे हैं ॥२६२॥

विशेष—(१) 'रही भुवनभरि...'—धनुष-भंग की ध्वनि थी ही कि जय-जय ध्वनि प्रारंभ हो गई और यह इतनी अधिक हुई कि धनुर्भंग की ध्वनि का मिटना किसी को जान ही नहीं पड़ा, अर्थात् जय-जय ध्वनि ने उस ध्वनि को दबा दिया और फिर यह बड़ी देर तक रही, क्योंकि जैसे जैसे लोग सावधान होते जाते थे, वैसे-वैसे जय-जय कहते जाते थे।

प्रथम आकाश के देवता, सिद्ध, मुनि आदि सावधान हुए, पीछे भूमिवाले, क्योंकि इनके निकट ही धनुष टूटा था। 'जहँ तहँ नरनारी'—ये लोग वे ही हैं, जो मचों पर बैठे थे, जिनके विषय में ऊपर कहा गया था—"नर नारिन्ह परिहरी निमेषी।" "नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाये।"

(२) 'बंदी मागध सूत ...'—'मतिधीर'—सावधानी से शुद्ध उच्चारण करते हैं, भाट कवित्तों में, मागध पदों में और सूत श्लोकों में विरदावली कह रहे हैं।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥१॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाये। जहँ-तहँ जुवतिन्ह मंगल गाये ॥२॥
सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी ॥३॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥४॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीपछबि छूटे ॥५॥

अर्थ—झाँझ, मृदंग, शंख, शहनाई, बड़े ढोल (डके), ढोल और सुहावने नगाड़े ॥१॥ आदि बहुत-से सुहावने बाजे बज रहे हैं, जहाँ-तहाँ स्त्रियों ने मंगल गान किये ॥२॥ सखियों के साथ सब रानियाँ हर्षित हुईं, मानों सूखते हुए धान पर पानी (बरसकर भरपूर) पड़ा हो ॥३॥ श्रीजनकजी ने शोच त्याग कर सुख प्राप्त किया, मानों तैरते हुए थकने पर थाह पा गये ॥४॥ धनुष के टूटने पर राजा लोग ऐसे शोभा-हीन हो गये, जैसे दिन में दीपक की छवि जाती रहती है ॥५॥

विशेष—(१) 'दुंदुभी सुहाई'—लड़ाई में नगाड़े आदि घोर शब्द से बजाये जाते हैं। यथा—"पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥" (लं० दो० ७८) ; पर यहाँ ब्याह के अनुकूल सुहावने ढंग से बज रहे हैं। पुनः बाजे एक दूसरे से मिले हुए भी सुहावने बजते हैं। पहले आकाश के बाद्य और नृत्य कहे गये, तब पीछे यहाँ के बाजे बजे, क्योंकि यहाँ लोगों में सावधानता पीछे हुई। यहाँ पहले गान हुआ—इसे आगे कहेंगे।

(२) 'सखिन्ह सहित हरषीं सब ' '—यहाँ प्रथम रानियों का सुख कहते हैं कि सूखते हुए धान में कहीं भरपूर जल हो जाय, तो जैसे वह लहलहा उठे, वैसे इन्हें परम आह्लाद हुआ।

(३) 'जनक लहेउ सुख सोच'''—बुद्धि से विचार करना तैरना है—"तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।" यहाँ से थकने लगे। "कुँआरि कुँआरि रहउ का करऊँ।" यहाँ बहुत ही थक गये। बहुत शोच में पड़ गये कि अब तो प्रण गया, यही प्राणों पर आ बनता है। श्रीरामजी के हाथ धनुष का टूटना, थाह पाना है; यहाँ सुख का अनुमान बताया गया है कि जनकजी को वैसा सुख हुआ जैसा डूबते हुए को थाह पा जाने से होता है।

(४) 'श्रीहत भये भूप'''—इनकी शोभा चली गई। यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गी० बा० ८७)। पूर्व भी इनका श्रीहत होना कहा गया था—'श्रीहत भये हारि हिय राजा।' पर वहाँ कोई दृष्टान्त नहीं दिया गया था, क्योंकि चाप-रूप भारी अंधकार बना था। अतः, इनकी कुछ-कुछ कान्ति अवशिष्ट थी। अब धनुष टूटने पर वे नितान्त श्रीहीन हो गये। अतः, इसे 'दीप छवि छूटे' से सूचित किया। श्रीरामजी के प्रताप-रूपी सूर्य का उदय हुआ, धनुष-रूप अंधकार का नाश हुआ और दीपक रूप राजा लोगों का प्रताप नहीं रह गया।

सीयसुखहिं बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती ॥६॥
रामहि लखन बिलोकत कैसे। ससिहिं चकोर-किसोरक जैसे ॥७॥
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिं कीन्हा ॥८॥

दोहा—संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल-मराल-गति, सुषमा अंग अपार ॥२६३॥

अर्थ—श्रीसीताजी के सुख का वर्णन किस तरह किया जाय—जैसे चातकी स्वाती का जल पाकर (सुखी होती है।) ॥६॥ श्रीरामजी को लक्ष्मणजी किस प्रकार देखते हैं, जैसे चन्द्रमा को चकोर का बच्चा देखे ॥७॥ तब शतानंदजी ने आज्ञा दी, श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के समीप गमन किया ॥८॥ साथ में सुन्दर चतुर सखियाँ मंगलाचार के गीत गा रही हैं। श्रीसीताजी बाल-हंसिनी की चाल से चलीं, उनके अंगों पर अपार शोभा है ॥२६३॥

विशेष—(१) 'सीयसुखहिं बरनिय ···'—प्रथम चातुर्मास की वर्षा होती है, पर चातकी स्वाती ही की प्रतीक्षा में रहती है। वैसे चारों दिशाओं के राजा लोग धनुष तोड़ने में लगे थे, पर सीताजी की दृष्टि उनपर नहीं गई। चातकी की पुकार स्वाती ही के लिये रहती है वैसे श्रीजानकीजी की भी पुकार—"मन ही मन मनाव अकुलानी।" ··से—"प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना॥" तक श्रीरामजी के लिये है। जब धनुष तोड़कर श्रीरामजी स्वाती के जल की तरह प्राप्त हुए, तब वे चातकी की तरह सुखी हुईं।

(२) 'रामहिं लखन बिलोकत ···'—चकोर का बच्चा अग्नि-भक्षण करता है। अत, उसके हृदय में गर्मी बनी रहती है, वह चन्द्रमा के दर्शनों से शीतल होकर सुखी होता है। वैसे श्रीजनकजी के वचनों से लक्ष्मणजी के हृदय में क्रोध रूपी उष्णता थी, यथा—"मारे लखन···" कहा गया है, जब श्रीरामजी ने धनुष तोड़ दिया तब वह गर्मी दूर हुई और दर्शनों से शान्ति प्राप्त कर रहे हैं। श्रीजानकीजी को चातकी और इन्हें चकोर का बच्चा कहा, क्योंकि दोनों ही श्रीराम में अनन्य हैं। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'सतानंद तब आयसु दीन्हा ···'—प्रतिज्ञा-स्वयंवर के लिये उधर के गुरुजी ने आज्ञा दी थी—"उठहु राम भंजहु भव-चापा।" (दो॰ २५३), और जयमाल-स्वयंवर के लिये पुरोहितजी की आज्ञा हुई, क्योंकि विवाह का विधान पुरोहित के अधीन है।

(४) 'संग सखी सुंदर···'—इसके पूर्वार्द्ध में सखियों की और उत्तरार्द्ध में श्रीजानकीजी की शोभा कही गई। सखियाँ सुन्दरी हैं और उनकी शोभा का पार है, श्रीजानकीजी अति सुन्दरी हैं और इनकी शोभा अपार है। आगे चौपाई में दोनों को साथ कहते हैं।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबि-गन-मध्य महाछबि जैसे ॥१॥
कर-सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय सोभा जेहि छाई ॥२॥
तनु सकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू ॥३॥
जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥४॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥५॥

अर्थ—सखियों के बीच में श्रीसीताजी कैसे सुशोभित हैं, जैसे छबि-समूह के बीच में महाछबि हो ॥१॥ कर कमल में (कमल की) सुहावनी जयमाला शोभा दे रही है, मानों उसपर विश्व-विजय की शोभा

छाई हुई है ॥२॥ शरीर में संकोच है, पर मन में परम उत्साह है। गुप्त प्रेम है, वह किसी को जान नहीं पड़ता ॥३॥ पास में जाकर श्रीरामजी की छवि को देखकर राजकुमारी सीताजी लिखी हुई तसवीर की तरह अचल रह गईं ॥४॥ देखकर चतुर सखी ने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाला पहनाओ ॥५॥

विशेष—(१) 'सखिन्ह मध्य सिय...'—जैसे छवि-समूह के बीच में महा छवि सोहे, वैसी शोभा है। यहाँ अन्योन्य शोभा सापेक्ष्य है अर्थात् सखियों से श्रीजानकीजी की शोभा है और इनसे इन सबकी, यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छवि-गृह दीपसिखा जनु बरई ॥" (दो० २२६)। यहाँ भी दृष्टान्त अलंकार है।

(२) 'कर-सरोज जयमाल...'—इसमें 'सरोज' दीपदेहली है, 'विश्व-विजय' अर्थात् इसमें धनुष से हारे हुए सुर, नर, नाग-असुर आदि तीनों लोकों के वीरों पर विजय है।

(३) 'जाइ समीप राम...'—पुष्पवाटिका में दूर से देखा था, तब चकोरी की तरह होना कहा गया था, यहाँ समीप से देखा तो अधिक निमग्नता होने से चित्र की तरह खड़ी रह गई।

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेमबिबस पहिराइ न जाई ॥६॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला ॥७॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम-उर मेली ॥८॥

सोरठा—रघुबर-उर जयमाल, देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ॥२६४॥

अर्थ—(चतुर सखी के वचन) सुनकर (सीताजी ने) दोनों हाथों से जयमाला उठाई, पर प्रेम के विवश हैं, इससे पहनाई नहीं जाती ॥६॥ (दोनों हाथ) कैसे सोहते हैं, मानों डंडी के साथ दो कमल डरे हुए चन्द्रमा को जयमाल दे रहे हों ॥७॥ सखियाँ छवि देखकर गा रही हैं। श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनाई ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के हृदय पर जयमाल देखकर देवता लोग फूल बरसा रहे हैं और सब राजा लोग ऐसे सकुच गये, मानों सूर्य को देखकर कुमुद-समूह ॥२६४॥

विशेष—(१) 'प्रेमबिबस पहिराइ...'—यहाँ प्रेम की स्तंभ-दशा है, क्योंकि पूर्व ही—'चित्र अव-रेखी' कहा गया है। 'प्रेम' पर यह भी भाव कहा जाता है कि किशोरीजी छोटी हैं और श्रीरामजी १५ वर्ष के, अतः, ऊँचे होने से सिर तक हाथ नहीं पहुँच सकता। वे खड़ी हैं कि शिर झुकावें तो हम माला डाल दें, पर श्रीरामजी संकोच से शिर नहीं झुकाते।

(२) 'सोहत जनु जुग...'—यहाँ हाथ कमल हैं। बाहु-दंड नाल हैं। जयमाल रहने से हाथ संकुचित हैं, यही सभीत होना है। श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है। चन्द्रमा के समक्ष में कमल संकुचित होता ही है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(३) 'गावहिं छवि अवलोकि...'—सखियाँ विचारती हैं कि इस दशा में यदि फिर से कहा जाय तो इन्हें संकोच होगा। इससे जयमाला पहनाने के ही गीत गाने लगीं। श्रीजानकीजी ने सावधान होकर जयमाला पहना दी।

(४) 'सकुचे सकल भुआल...'—पूर्व कहा गया था—"अरुनोदय सकुचे कुमुद..." (दो० २३८);

वहाँ अरुणोदय पर सकुचना कहा गया और यहाँ देखकर, क्योंकि वहाँ श्रीरामजी के आगमन की बात थी और यहाँ तो प्रभाव ही प्रकट हो गया है।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे ॥१॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा ॥२॥
नाचहिं गावहिं बिबुधबधूटी। बार-बार कुसुमांजलि छूटी ॥३॥
जहँ-तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरदावलि उच्चरहीं ॥४॥
महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥५॥

अर्थ—नगर और आकाश में बाजे बज रहे हैं, दुष्ट लोग उदास हो गये, सब साधु (स्वभाव के) लोग प्रसन्न हुए ॥१॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नागदेव, मुनीश्वर 'जय हो ! जय हो ! जय हो !'—ऐसा कहकर आशीष देते हैं ॥२॥ देवताओं की स्त्रियाँ नाचती-गाती हैं, बारंबार हाथों की अंजलियों से फूल छूट रहे हैं ॥३॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मण लोग वेद-ध्वनि कर रहे हैं। भाट वंश का यश वर्णन करते हैं ॥४॥ पृथिवी, पाताल और आकाश में यश समा गया कि श्रीरामजी ने धनुष को तोड़ा और श्रीसीताजी को ब्याहा ॥५॥

विशेष—(१) 'पुर अरु ब्योम…'—जब धनुष टूटा था, तब आकाशवाले पहले सावधान हुए थे। इससे प्रथम ही बाजे बजाये और गीत गाये। यहाँ पुरवासियों ने पहले बाजे बजाये। अतः, 'पुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि ये लोग पास में हैं, जयमाल का पड़ना पहले इन्होंने ही देखा है। इसी से देवता फूल ही बरसाने में लगे हैं कि ये लोग पहले ही बाजे बजाने लगे, तब पीछे देवता लोगों ने भी बजाये।

(२) 'जय जय जय कहि…' यहाँ आदर की वीप्सा है। धनुष-भंग पर 'प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा।' कहा गया था, क्योंकि वहाँ सब से न टूटनेवाले धनुष के तोड़ने की प्रशंसा भी करनी थी, यहाँ जयकार और आशीष का ही प्रयोजन है।

(३) 'नाचहिं गावहिं बिबुध…'—'बिबुध' अर्थात् विशेष-बुद्धिमानों की स्त्रियाँ हैं। अतः, नाच-गान विद्या में निपुण हैं। 'बार-बार' अर्थात् नाच की गति एवं गान के साथ पुष्प-वर्षा होती है।

'जहँ-तहँ बिप्र…'—कुलरीति के ब्याह में भाँवरी के समय एकत्र होकर वेदध्वनि करेंगे। यहाँ कोई वैसी रीति नहीं है, तो भी जयमाल पड़ना भी एक तरह का ब्याह ही है। अतः, जो जहाँ है वहाँ ही अपने-अपने वेदों की ऋचाओं से आशीष दे रहे हैं, यथा—"निज-निज वेद की सप्रेम जोग छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषन दई है॥" (गी० बा० ९९)। 'बंदी' के साथ उपर्युक्त रीति से मागध-सूत को भी समझना चाहिये।

(५) 'महि पाताल नाक…'—यहाँ तीनों लोकों के लोग आये हैं और धनुर्भंग के शब्द ने भी तीनों लोकों में यश फैला दिया।

करहिं आरती पुर-नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी ॥६॥
सोहति सीय राम कै जोरी। छबि-सिंगार मनहुँ इक ठोरी ॥७॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरनपरस अति भीता ॥८॥

दोहा—गौतम-तिय-गति-सुरति करि, नहिं परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघुबंस-मनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष आरती करते हैं, धन को भुलाकर (धन की स्थिति से कहीं अधिक) निछावर करते हैं ॥६॥ श्रीसीतारामजी की जोड़ी ऐसी सुशोभित हो रही है मानों छवि और शृंगार एकत्र हो गये हों ॥७॥ सखियाँ कहती हैं कि हे सीते! प्रभु के चरणों को छुओ, पर वे अत्यंत भय के कारण चरण-स्पर्श नहीं करतीं ॥८॥ गौतम मुनि की स्त्री अहल्या की गति का स्मरण करके वे हाथों से चरणों को स्पर्श नहीं करतीं, इस अलौकिक प्रीति को देखकर रघुवंशमणि श्रीरामजी मन में हँसे ॥२६५॥

विशेष—(१) 'करहिं आरती पुर-नर…'—धनुर्भंग पर भी निछावर हुई थी। यथा—"करहिं निछावर लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" पर वहाँ आरती नहीं की गई, क्योंकि लोगों ने सोचा होगा कि जोड़ी एकत्र हो तो आरती की जाय। 'वित्त बिसारी'—हानि-लाभ की स्मृति नहीं रह गई, हैसियत से अधिक लुटा देते हैं।

(२) 'छवि-सिंगार'—स्वर्ण वर्ण छविवाली श्रीजानकीजी और श्यामवर्ण शृंगार रूप श्रीरामजी हैं। छवि = कान्ति, दीप्ति और श्यामता एकत्र होने पर अद्भुत छटा हो रही है। कहा है—'जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होइ।' (बिहारी)।

(३) 'गौतम-तिय-गति-सुरति…'—गौतम की स्त्री श्रीरामजी के चरण-स्पर्श होते ही अपने पति-लोक को चली गई, उसी दशा का स्मरण करके श्रीजानकीजी श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श करने से हमारा भी इन चरणों से वैसा ही वियोग हो जायगा। इस अलौकिक (छिपी हुई) प्रीति पर श्रीरामजी मन में विहँसे। (चरण स्पर्श कराकर सखियाँ लिवा ले जायँगी, इससे ही यह मिस करके विलंब किया जा रहा है)।

यहाँ जो यह भाव कहा जाता है कि अंगुलियों के भूषणों की मणियाँ नारी बनकर अनेक सौतें हो जायँगी, यह भय है। जैसा कहा है—"…दिव्योत्थिता जानकी। आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकंकणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम्॥ अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कंकणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः॥" (हनु० १४।५७)। यह ठीक नहीं है, क्योंकि भूषण बचाकर अंगुली के अग्र भाग मात्र से भी स्पर्श कर सकती थीं। पुनः उसमें प्रीति भी नहीं पाई जाती जो—'प्रीति अलौकिक जानि' से कही गई है।

तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे ॥१॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥२॥
लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ॥३॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ॥४॥
जौं बिदेहु कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥५॥

शब्दार्थ—सनाह = कवच। चाँड़ = स्वार्थ, यथा—"हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि असुद्ध बिनु चाँड़।" (दोहावली ३३०)। इसमें स्वार्थ को जगह 'चाँड़' कहा गया है।

अर्थ—तब सीताजी को देखकर राजा ललचा गये, वे क्रूर, कपूत और मूर्ख मन में क्रोधित हुए ॥१॥ वे अभागे उठ-उठकर कवच पहन जहाँ-तहाँ गाल बजाने लगे ॥२॥ कोई सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को पकड़कर बाँध लो ॥३॥ धनुष के तोड़ने से स्वार्थ नहीं सधेगा, हमारे जीते-जी राजकुमारी को कौन ब्याह सकता है ? ॥४॥ यदि राजा जनक कुछ सहायता करें तो संग्राम करके दोनों भाइयों के साथ उन्हें भी जीत लो ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सिय देखि भूप···'—पहले भी इनलोगों ने श्रीसीताजी को देखकर अभिलाषा की थी, तब इनको प्रशंसा ही हुई। यथा—"सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भटमानी अतिसय मन माखे॥" (दो० २४१); 'मानी' प्रशंसा-रूप में है, क्योंकि वहाँ इन्हें पराक्रम का अभिमान था, इससे क्रोध होना युक्त था। अब वे पराक्रमहीन सिद्ध हो चुके, पुनः अधर्म की दृष्टि से श्रीजानकीजी को चाहते हैं। अतः, 'क्रूर' और बाप-दादों के भी नाम डुबाये, इससे 'कुपूत' हुए। पुनः साधु राजाओं के समझाने से भी नहीं समझा और लक्ष्मणजी के कोप से पृथिवी आदि का काँपना देखा, फिर भी नहीं समझ पड़ा, अतः 'मूढ़' कहे गये।

(२) 'उठि उठि पहिरि सनाह···'—कवच पहनकर लड़ाई के लिये तैयार हो रहे हैं। श्रीराम-विमुख होने से 'अभागे' कहे गये, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद-विमुख अभागी॥" (वि० १४०); ये मन, वचन, कर्म—तीनों से राम-विमुख हैं—'मन माखे'—मन, 'पहिरि सनाह'—कर्म और 'गाल बजावन लागे'—वचन है। यथा—"लाव तोरि, साजि साज राजा राड़ रोपे हैं। कहा भो चाप चढ़ाये, ब्याह हैहैं बड़े खाये, बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं॥" (गी० बा० ९२)।

(३) 'लेहु छुड़ाइ सीय···'—ये बालक ही तो हैं। अतः, कोई भी छुड़ा ले। 'नृप-बालक' हैं। अतः, शत्रु-रूप में फिर इन्हें छोड़ना नहीं चाहिये, पकड़कर बाँध लो, यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई॥" (आ० दो० १०); ऊपर कहा था—'गाल बजावन लागे' यहाँ उसका चरितार्थ है कि—'कोई छीन तो लो' यह व्यर्थ जल्पना है। हृदय से तो भय है, ऊपर से व्यर्थ बकते हैं। 'सीय कहँ' अर्थात् सीय कहँ=सीय को, ठीक है। 'कह' को क्रिया मानकर 'कहना' अर्थ करना उतना संगत नहीं होता।

(४) 'जौ बिदेह कछु करइ···'—'जौ' अर्थात् हम सबको देखकर वे खड़े न होंगे। यदि हों तो उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। 'नृप-बालक दोऊ' को तो पकड़कर बाँध लो, क्योंकि वे बालक ही हैं। हाँ, विदेह के सेना-सुभट हैं तो उन्हें समर करके जीत लो।

साधु भूप बोले सुनि बानी। राज-समाजहि लाज लजानी ॥६॥
बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥७॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई ॥८॥

दोहा—देखहु रामहि नयन भरि, तजि इरिषा मद कोहु।
लखन-रोष-पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

अर्थ—इनके वचन सुनकर साधु राजा बोले कि इस राज-समाज में तो लज्जा भी लजा गई ॥६॥

तुम्हारे बल, प्रताप, वीरता और बड़ाई की जो नाक (इज्जत) थी, वह पिनाक (धनुष) के साथ ही चली गई ॥७॥ वही शूरता है, कि अब कहीं से और पा गये ? ऐसी बुद्धि है तभी तो ब्रह्मा ने तुम्हारे मुख में स्याही लगा दी ॥८॥ ईर्ष्या, मद और क्रोध छोड़कर श्रीरामजी को आँखें भरकर देख लो, लक्ष्मणजी के क्रोध-रूपी प्रबल अग्नि में जानकर भी पतंगे मत हो ॥२६६॥

विशेष—(१) 'साधु भूप बोले'''—इनके वचन सुनकर शीलवान् साधु राजाओं ने शिर नीचा कर लिया, यही समष्टि की मूर्तिमती लज्जा का लजाना है । अतः, ये महान् निर्लज्ज हैं ।

(२) 'नाक पिनाकहि संग'''—पिनाक इनसे न उठा, अतः इनकी नाक उसने ले ली, फिर जिसने पिनाक को तोड़ा, उसने इनकी नाक के साथ पिनाक का भी नाश किया, यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहिं विषाद बढ़ायो ।" (गी० बा० ९१) । अर्थात् पिनाक टूटने के साथ तुमलोगों की भी नाक कट गई । सहोक्ति अलंकार है ।

(३) 'विधि मुँह मसि लाई'—विधाता विधिवत् ही विधान करते हैं, तुम्हारी ऐसी क्रूर एवं तुच्छ बुद्धि देखकर ही तो ब्रह्मा ने तुम्हें धनुष में नियुक्त कर हराया और फिर उसे श्रीरामजी से तोड़वाकर तुम्हारे मुँह पर कालिख पोत दी है !

(४) 'तजि इरषा मद कोहु'—'ईर्षा'—श्रीरामजी की सीता-प्राप्ति देखकर डाह होना—"जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ।" 'मद'—बल का है, जिससे समर करने को कहते हैं । 'कोहु'—'मन माखे' कहा ही है । इन तीनों के छोड़ने ही से श्रीराम-रूप समझ पड़ेगा । 'लखन-रोष-पावक प्रबल'''—'जानि'—किंचित् कोप पर ब्रह्मांड डोल गया, यह प्रत्यक्ष देख चुके हो । पतंगे स्वयं अग्नि में गिरकर मरते हैं, अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ता, वैसे तुम स्वयं मर मिटोगे, उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा और न वे तुम्हें मारना ही चाहते हैं । लक्ष्मणजी का क्रोध दीपक नहीं कहा गया, क्योंकि बहुत पतंगों के साथ गिरने से दीपक बुझ जाता है । अग्नि में जितने ही पतंगे पड़ते हैं, वह नहीं बुझता, प्रत्युत बढ़ता है; वैसे ये सब-के-सब साथ ही लड़ेंगे, तब भी तुरत मारे जायँगे, लक्ष्मणजी का उत्साह नहीं घटेगा ।

'कोहु' की जगह 'मोहु' भी पाठांतर है, मोह पाठ से आगे के प्रसंग से षट्-विकार की पूर्ति भी होती है ।

बैनतेयबलि जिमि चह कागू । जिमि ससु चहइ नाग-अरि-भागू ॥१॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही । सब संपदा चहइ सिवद्रोही ॥२॥
लोभी लोलुप कीरति चहई । अकलंकता कि कामी लहई ॥३॥
हरि-पद-बिमुख परमगति चाहा । तस तुम्हार लालच नरनाहा ॥४॥

शब्दार्थ—बैनतेय = विनता के पुत्र, गरुड़ । ससु = खरहा । बलि = भाग, भेंट ।

अर्थ—जैसे गरुड़ का भाग कौआ चाहे और हाथी के शत्रु सिंह का भाग खरहा चाहे ॥१॥ बिना कारण के क्रोध करनेवाला अपनी कुशल चाहे और शिवजी का द्रोही सब सम्पत्तियाँ चाहे ॥२॥ लोभी-लोलुप कीर्ति चाहे ; अरे, क्या कामी मनुष्य निष्कलंकता पा सकता है ? ॥३॥ जैसे भगवान् के चरणों से विमुख परमगति (मोक्ष) चाहे, हे राजाओ ! तुम्हारा लालच वैसा ही है ॥४॥

विशेष—(१) 'बैनतेय बलि जिमि'''—यहाँ गरुड़ और सिंह श्रीरामजी हैं । कौए और खरहे क्रूर राजा लोग हैं । बलि एवं भाग श्रीजानकीजी हैं । साथ ही दो उपमाओं से दो प्रकार के भाव कहे गये

है। 'बलि' देवताओं के लिये होती है, देनेवाला देता है। श्रीजनकजी ने बलि की योग्यता-परीक्षा के लिये प्रतिज्ञा रक्खी, उसे श्रीरामजी ने पूरा किया। अतः, यह बलि इनके ही लिये है। जनकजी काक-रूप अन्य राजाओं को बलि नहीं देंगे—भले ही वे काँव काँव किया करें! यह 'जौ बिदेह कछु करइ सहाई' के प्रति है। वे कामी होने से कौए के समान हैं, यथा—"कामी काक बलाक बिचारे।" (दो० ३८)। सिंह अपने भाग (हक) की रक्षा सामर्थ्य से स्वयं कर सकता है, खरहा उसका भाग चाहे तो उसका चाहना व्यर्थ होगा, वैसे श्रीरामजी स्वयं सिंह-रूप हैं यथा—"पुरुषसिंह बन खेलन आये।" (बा० दो० २१), इनसे खरहे रूप राजा लोग नहीं छीन सकते, यह—'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।' के प्रति है।

(२) 'लोभी लोलुप कीरति चहई'''—लोभ में प्राप्त वस्तु की रक्षा करना चाहता है और उसके खो जाने के डर का भाव भी रहता है, यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१) और लोलुप में प्राप्ति के लिये चंचलता का भाव रहता है, यथा—"लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।" (वि० ८१); तथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।" (वि० १७०)। यहाँ कूर राजाओं को सीताजी की अभिलाषा है और साथ ही युद्ध करने के लिये भी चपल हैं, इसलिये एक साथ ही दोनों बातें संगत हैं। इनमें लोभ और लोभवश चंचलता भी है।

(३) 'तस तुम्हार लालच'''—'तस' के लिये 'जस' का भाव—"बैनतेय बलि'''से—"परम गति चाहा॥" तक है। अर्थात् तुमलोग न तो सीताजी को ब्याह की रीति से ही पाओगे और न लड़कर ही तुम्हारी कुशल होगी, सब संपदा जायगी। कीर्ति भी गई, कलंकी बने और हरि श्रीरामजी से विरोध करने से परम गति भी गई, यह ध्वनित है। यों तो इनके अनौचित्य पर ही पुष्टि के लिये कई दृष्टान्त दिये गये हैं।

कोलाहलु सुनि सीय सकानी। सखीं लिवाइ गईं जहँ रानी॥५॥
राम सुभाय चले गुरु पाहीं। सियसनेहु बरनत मन माहीं॥६॥
रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥७॥
भूप-बचन सुनि इत उत तकहीं। लखनु रामडर बोलि न सकहीं॥८॥

दोहा—अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंहकिसोरहि चोप॥२६७॥

शब्दार्थ—करनीया = करने की इच्छा। चोप = उत्साह, चाव। इत-उत = इधर श्रीरामजी की ओर और उधर राजाओं की ओर भी।

अर्थ—कोलाहल (हल्ला) सुनकर सीताजी डर गईं, सखियाँ उन्हें वहाँ लिवा ले गईं, जहाँ रानियाँ थीं॥५॥ श्रीरामजी स्वाभाविक ही गुरु के पास चले, श्रीसीताजी के स्नेह का मन-ही-मन वर्णन करते जाते हैं॥६॥ रानियों के साथ श्रीसीताजी शोच के वश हैं कि ब्रह्मा को अब न जाने क्या करने की इच्छा है?॥७॥ राजाओं के वचन सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर देखते हैं, श्रीरामजी के डर से कुछ बोल नहीं सकते॥८॥ आँखें लाल हैं, भौंहें टेढ़ी हो गईं, राजाओं को क्रोध से देख रहे हैं, मानों मतवाले हाथियों के झुंड को देखकर सिंह के नौजवान बच्चे को उत्साह हो आया हो॥२६७॥

विशेष—(१) 'सीय सकानी'—यह सोचकर कि कहीं राजा लोग मुझे न छू लें। अतः, यहाँ ठहरना ठीक नहीं। यह जानकर सखियाँ तुरंत लिवा ले गईं। पहले आने के समय— 'गवनी बाल सरालगति' कहा। पर अब की वैसा अवसर न देखकर शीघ्र ले गईं।

(२) 'राम सुभाय चले ···'—'सुभाय' अर्थात् अहंकार-रहित, जैसे पूर्व आये थे, यथा— "सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी ॥" (दो० २५४); 'सिय-सनेह···'— अब प्रिया-प्रियतम का भाव हो गया, इससे स्नेह को सराहते हैं। पूर्व फुलवारी में केवल सुन्दरता मात्र सराही थी, यथा—"हृदय सराहत सीय लुनाई।" क्योंकि धनुर्भंग शेष था।

(३) 'रानिन्ह सहित···'—इसमें श्रीसीताजी का शोच प्रधान और रानियों का गौण है।

(४) 'चितवत नृपन्ह···'—इन्हें तुच्छ जानकर दृष्टि मात्र से धमकी देते हैं, क्योंकि मारने में शोभा नहीं। यथा—"कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके ॥" (दो० २९२) तथा "कुँवर चढाई भौंहें अब को बिलोकै सौंहें जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं। देखे नर नारी कहैं, साग खाइ जाये माइ, बाँह पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं॥" (गी० बा० ९१)

परशुराम-पराजय

खरभर देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥१॥
तेहि अवसर सुनि सिव धनु-भंगा। आयेउ भृगुकुल-कमल-पतंगा ॥२॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥३॥

अर्थ—खलबली देखकर जनकपुर की स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं और सब मिलकर राजाओं को गालियाँ देने लगीं ॥१॥ उसी समय शिवजी के धनुष का टूटना सुनकर भृगुकुल रूपी कमल के (विकसानेवाले) सूर्य-रूप परशुरामजी आये ॥२॥ सब राजा उन्हें देखकर ऐसे सकुचा गये, मानों बाज के झपटने से लवा छिप जायँ ॥३॥

विशेष (१) 'खरभर देखि सकल ······'—श्रीजानकीजी ने राजाओं का कोलाहल सुना— 'कोलाहल सुनि सीय सकानी।' कहा है, क्योंकि पर-पुरुषों की ओर नहीं देखतीं। पुर की सामान्य स्त्रियों में उतना परदा नहीं है। अतः, उनका देखना कहा गया है। सब मिलकर गालियाँ देने लगी, अर्थात् कोई किसी को मना नहीं करती, क्योंकि इसमें सभी सहमत हैं। गाली, यथा—"देखे नर-नारी कहैं साग खाइ जाये माइ, बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।" (गी० बा० ९१)। रनिवास का गाली देना नहीं कहा गया, क्योंकि बड़े लोग गाली नहीं देते, यथा—"गारी देत न पावहु सोभा।" (दो० २७१)।

(२) 'तेहि अवसर सुनि सिव ·· ··'—जिस समय सब राजा लोगों ने खलबली मचा रक्खी है, उसी अवसर पर परशुराम का आना उत्तम हुआ। उन्हें देखते ही राजा लोग दुबक गये। फिर परशुराम दोनों भाइयों से वचनों ही में हार मानकर गये। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सर्वजेता परशुराम के हारने से ही संसार-भर के विजयी हुए और वह भी बिना युद्ध के तथा सबके समक्ष ! ऐसा उत्तम अवसर अन्य रामायणों में परशुराम-आगमन का नहीं है। वहाँ इनका आना एक तो धनुष टूटने के महीनों पीछे है और वह भी मार्ग के सुनसान जंगल में। 'सुनि' शब्द सुनने से धनुष का टूटना जानकर। वहाँ महीनों बाद आना है, यहाँ किसी से सुनकर आना है। साहित्यिक दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि

यहाँ वीर रस चरित्र के साथ ही यह—'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' भी निवृत्त करके आगे आनंदमय माधुर्य चरित्र ही बालकांड-भर में एक रस ले चलेंगे। हनुमन्नाटक में भी धनुष टूटने का शब्द सुनकर ही परशुरामजी का आना लिखा है—"जामदग्न्यस्त्र्यम्बकस्य धनुःकोलाहलामर्षमूर्छितः प्रलयमारुतोद्भूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः ॥" (१।२८)।

'भृगु-कुल-कमल पतंगा'—भृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, ये भी उन्हीं के वंशज हैं, फिर किसी से क्यों डरें? ये अनुचित वचनों के ही प्रहार करेंगे। यह भी भाव है कि अब इनका कुल-सम्बन्धी ही नाम रह जायगा—वीरता एवं ईश्वरांश जानेवाला है।

श्रीरामजी का उदय बाल पतंग रूप से प्रथम ही—'उदित उदय गिरि मंच पर······' कहा गया। परशुराम को 'पतंग' मात्र कहा गया। 'पतन्सन्गच्छतीति पतंगः' अर्थात् जो गिरने के लिये चले, इससे इन्हें दोपहर का सूर्य बनाया। ये अभी तपते हुए आते हैं फिर बातों-बात में गिरते हुए अस्त हो जायँगे। श्रीरामजी को बाल-पतंग कहकर उनका अभ्युदय बनाया। ब्रह्मांड में एक साथ दो सूर्य नहीं रहते। अतः, इनका तेज भी श्रीरामजी में ही लीन हो जायगा।

(३) 'देखि महीप सकल सकुचाने।'—इन राजाओं का गर्व दूर करने ही के लिये दैवयोग से परशुरामजी आ गये। ये लोग अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि फेंककर गाय बन बैठे। 'लुकाने' अर्थात् मचानों के नीचे जा छिपे। 'झपट' अर्थात् परशुरामजी बड़े वेग से आये हैं, इन्होंने पृथिवी कश्यपजी को दान कर दिया, तब से महेन्द्र पर्वत पर रहते हैं, वहीं से मनोवेग से इसलिये आये हैं कि ऐसा कौन वीर पैदा हुआ जिसने पिनाक को तोड़ा है?

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥४॥
सीस जटा ससिबदनु सुहावा। रिसिबस कछुक अरुन होइ आवा ॥५॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥६॥
बृषभ-कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला ॥७॥
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे ॥८॥

दोहा—सांत बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीररस, आयेउ जहँ सब भूप ॥२६८॥

अर्थ—गोरे शरीर पर विभूति अच्छी खिल रही है, ऊँचे और चौड़े ललाट पर त्रिपुण्ड्र विराजमान है ॥४॥ शिर पर जटा है, सुहावना मुखचन्द्र क्रोधवश कुछ लाल हो आया है ॥५॥ भौंहें टेढ़ी और आँखें क्रोध से लाल हैं, स्वाभाविक ही देखते हैं तो जान पड़ता है कि क्रोध से भरे हैं ॥६॥ बैल के से ऊँचे कंधे, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं। सुन्दर जनेऊ, माला और मृगछाला पहने हुए हैं ॥७॥ कमर में मुनिवस्त्र और उसी में दो तरकश बाँधे हुए हैं, धनुष-बाण हाथ में और सुन्दर कुठार सुन्दर कंधे पर है ॥८॥ वेष तो शान्त है, पर कर्तव्य कठिन है, स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। मानों वीररस ही मुनि का शरीर धरकर वहाँ जहाँ सब राजा हैं, आया है ॥२६८॥

विशेष—(१) 'त्रिपुंड'—शैवों की तरह भस्म की तीन आड़ी रेखाओं का तिलक। राते=लाल।

(२) 'तून दुइ बाँधे'—ये अर्जुन की तरह दोनों हाथों से बाण चलाना जानते थे जिस कारण उनका नाम ही 'सव्य-साची' पड़ गया था। इसलिये ये दोनों कंधों के पृष्ठ-भाग में एक-एक तरकश रखते थे, जिस हाथ से बाण चलाते थे, उसके दूसरी ओर के तरकश से बाण लेते थे।

(३) 'सांत-वेष करनी कठिन···'—शांतवेष के साज—'गौर शरीर' 'विभूति' त्रिपुण्ड्र आदि उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल हैं, शीश पर जटा, मुनि-वस्त्र—ये सब अनुकूल हैं।

'करनी कठिन'—२१ बार पृथिवी को क्षत्रियों से रहित किया, इनके कर्म ऐसे कठोर हैं, आगे स्वयं कहेंगे। वेष के विरुद्ध कर्म हैं, इसीसे स्वरूप वर्णन करने के योग्य नहीं है।

'धरि मुनि-तनु जनु बीररस···'—वीरों की सभा है। अतः, वीर-रस मुनि-वेष से आया, क्योंकि यों तो वीर वीर के चरणों पर नहीं गिरते, पर आज सभी दंड-प्रणाम करेंगे, इसलिये भी मानो वह मुनि-वेष में आया। यहाँ शांत और वीर कहा, आगे 'वेष कराला' से रौद्र रस भी मिला देंगे और वेष तथा कर्म के विचित्र मेल के कारण अद्भुत रस होने से भी वर्णन नहीं हो सकता।

देखत भृगुपति - बेष कराला। उठे सकल भयबिकल भुआला ॥१॥
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा ॥२॥
जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी ॥३॥

शब्दार्थ—आइ = आयु, जिंदगी। खुटानी = समाप्त हो गई।

अर्थ—परशुरामजी का कराल वेष देखकर सभी राजा भय से व्याकुल होकर उठ पड़े ॥१॥ पिता के साथ अपना-अपना नाम कहकर सब दंडवत् प्रणाम करने लगे ॥२॥ वे स्वाभाविक ही अपना हित जानकर जिसे देखते हैं, वह यही समझता है कि अब हमारी आयु ही बीत गई ! ॥३॥

विशेष—(१) 'उठे सकल भय-बिकल···'—पहले दुबककर बैठ गये थे, अब भय से व्याकुल होकर उठ पड़े, क्योंकि न उठने से भी गर्वीले समझे जाते।

(२) 'पितु समेत कहि···'—प्रणाम की रीति है। पर यहाँ यह भी भाव है जिससे परशुरामजी जान जायँ कि यह अमुक का पुत्र है, जिसे मैंने दीन जानकर छोड़ दिया था। अतः, दया का पात्र होने से क्षमा के योग्य है।

(३) 'हित जानी'—कि मैंने इसके पिता पर दया की थी। अतः, यह भी दया का ही पात्र है।

'सो जानइ जनु···'—क्योंकि—'सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते।' कहा ही है।

जनक बहोरि आइ सिर नावा। सीय बोलाइ प्रनाम करावा ॥४॥
आसिष दीन्हि सखी हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी ॥५॥
बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पद - सरोज मेले दोउ भाई ॥६॥

राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥७॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन ॥८॥

दोहा—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर ॥२६९॥

अर्थ—फिर राजा जनक ने आकर शिर नवाया और श्रीसीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया ॥४॥ परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया, सखियाँ प्रसन्न हुईं और फिर वे सयानी इन्हें अपने समाज में ले गईं ॥५॥ फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और दोनों भाइयों को चरण-कमलों में डाला (प्रणाम कराया) ॥६॥ ये राम-लक्ष्मण दशरथजी के पुत्र हैं, भली जोड़ी देखकर असीस दी ॥७॥ श्रीरामजी के कामदेव का मद छुड़ानेवाले अपार रूप को देखकर नेत्र स्थगित हो रहे (टकटकी लगाकर देखते रह गये) ॥ ८ ॥ फिर देखकर, जानते हुए भी अनजान की तरह विदेह राजा से पूछते हैं कि कहो, यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है ? (कहते-ही-कहते) शरीर में क्रोध व्याप्त हो गया ॥ २६९ ॥

विशेष—(१) 'जनक बहोरि आइ···'—सब राजाओं ने भय से साष्टांग दंडवत् किया, पर जनकजी ने केवल शिर नवाया। इससे जाना गया कि इन्हें भय नहीं है, क्योंकि ये ज्ञानी हैं। यथा—"आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति॰ २।९); श्रीसीताजी को भी प्रणाम कराया कि आशीर्वाद मिल जाय। सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद मिला, ऐसा जान पड़ता है; इससे इनका और श्रीरामजी का भी कल्याण हुआ। वे सखियाँ 'सयानी' हैं। अतः, तुरंत सीताजी को महल में लिवा ले गईं कि कहीं धनुष टूटा देखकर कुछ और न कह दें। यहाँ प्रथम आशीर्वाद दिया, इसीसे विश्वामित्रजी ने भी दोनों भाइयों को प्रणाम कराकर आशीर्वाद दिलाया है।

(२) 'बिस्वामित्र मिले···'—यद्यपि परशुरामजी विश्वामित्रजी की बहिन के पौत्र हैं, तो भी अभिमान वश उनके पास प्रणाम करने नहीं गये। दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिलाना है। अतः, वे स्वयं आये और मिले।

(३) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा।'—राज्य-सम्बन्ध पर असीस नहीं दी, किन्तु सुंदर जोड़ी देखकर ही दी। 'रूप अपार मार···'—इसमें 'अपार' शब्द दीप-देहली है। यथा—"सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार पावत न पर पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी॰ बा॰ ६२)।

(४) 'बहुरि बिलोकि बिदेह···'—आने के समय भी परशुरामजी की आँखें लाल थीं, मगर रामजी के देखने से कुछ ठंढे पड़ गये थे, फिर जब विदेह की ओर दृष्टि पड़ी, तब वही धनुर्भंग की बात चित्त में आ गई। इससे फिर कोप हुआ, किंतु अबकी शरीर भर में क्रोध व्याप गया—सर्वांग लाल हो गया।

परशुरामजी धनुर्भंग की बात जानते हैं—एक तो टूटने का शब्द ही पहुँचा, फिर सभी सुर-सिद्ध-मुनियों ने कहा ही है, यथा—"कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति···" (दो॰ २६१)। वाल्मी॰ बा॰ स॰ ७५ में कहा है, (···"भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तः।") कि ये वृत्तान्त सुनकर आये हैं। पर यहाँ अनजान की भाँति पूछते हैं—जनकजी का दोष उनके मुख से कहलाना चाहते हैं।

समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥१॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥२॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥३॥
बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू ॥४॥

शब्दार्थ—लहि = लगि, पर्यन्त, तक। अनत = दूसरी ओर।

अर्थ—जिस कारण सब राजा लोग आये हुए थे; राजा जनक ने सारा समाचार कह सुनाया ॥१॥ समाचार सुन परशुरामजी ने फिरकर दूसरी ओर दृष्टि डाली, तो धनुष के टुकड़े पृथिवी पर पड़े हुए देखे ॥ २ ॥ अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! बतलाओ, धनुष किसने तोड़ा? ॥३॥ अरे मूढ़! (वा उस मूढ़ को) शीघ्र दिखाओ नहीं तो आज ही जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, वहाँ तक की पृथिवी उलट दूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कहु जड़ जनक धनुष केइ'...—राजा जनक ने समाचार कहने में धनुष का टूटना और तोड़नेवाले का नाम—दोनों छिपा रक्खे थे, तभी तो परशुरामजी ने फिरकर देखा, तब धनुष को टूटा देखकर तोड़नेवाले का नाम पूछने लगे। 'अति रिस'—प्रथम ही शरीरभर में कोप व्याप्त था, अब अत्यन्त हो गया, क्योंकि आँखों से धनुष के टुकड़ों को देखा। क्रोध से कठोर वचन निकलते ही हैं, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); इसी से ज्ञानी राजा को 'जड़ मूढ़' कह दिया।

(२) 'बेगि देखाउ मूढ़ नत'...—'बेगि'—जिसमें तोड़नेवाला भागने न पावे। 'देखाउ'—अर्थात् नाम मात्र परिचय पाने से उसे खोजना पड़ेगा और तब तक वह कहीं छिप जायगा।

'उलटउँ महि'...—राज्यभर की भूमि उलटने की धमकी इसलिये है कि यह राजा धर्मात्मा है, प्रजा का नाश नहीं सह सकेगा, क्योंकि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (अ० दो० ७०); इससे तुरंत दोषी को सामने खड़ा कर देगा, अन्यथा राज्यभर के उलटने में वह भी जहाँ होगा, दबकर मर ही जायगा!

पृथिवी का उलटना इस प्रकार है, जैसे भूकंप आदि में किसी भूखंड के घर और सब जीव भीतर धँस जाते हैं—कहीं-कहीं जल भी ऊपर आ जाता है, जिससे पूर्व के नगर का नाम-निशान भी नहीं रह जाता।

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥५॥
सुर मुनि नाग नगर-नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥६॥
मन पछिताति सीयमहतारी। बिधि अब सवरी बात बिगारी ॥७॥
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता ॥८॥

दोहा—सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीरु ॥२७०॥

राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस, देखि भल जोटा ॥७॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार - मद - मोचन ॥८॥

दोहा—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर ॥२६९॥

अर्थ—फिर राजा जनक ने आकर शिर नवाया और श्रीसीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया ॥४॥ परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया, सखियाँ प्रसन्न हुईं और फिर वे सयानी इन्हें अपने समाज में ले गईं ॥५॥ फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और दोनों भाइयों को चरण-कमलों में डाला (प्रणाम कराया) ॥६॥ ये राम-लक्ष्मण दशरथजी के पुत्र हैं, भली जोड़ी देखकर असीस दी ॥७॥ श्रीरामजी के कामदेव का मद छुड़ानेवाले अपार रूप को देखकर नेत्र स्थगित हो रहे (टकटकी लगाकर देखते रह गये) ॥ ८ ॥ फिर देखकर, जानते हुए भी अनजान की तरह विदेह राजा से पूछते हैं कि कहो, यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है? (कहते-ही-कहते) शरीर में क्रोध व्याप्त हो गया ॥ २६९ ॥

विशेष—(१) 'जनक बहोरि आइ…'—सब राजाओं ने भय से साष्टांग दंडवत् किया, पर जनकजी ने केवल शिर नवाया। इससे जाना गया कि इन्हें भय नहीं है, क्योंकि ये ज्ञानी हैं। यथा—"आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति० २।९); श्रीसीताजी को भी प्रणाम कराया कि आशीर्वाद मिल जाय। सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद मिला, ऐसा जान पड़ता है; इससे इनका और श्रीरामजी का भी कल्याण हुआ। वे सखियाँ 'सयानी' हैं। अतः, तुरंत सीताजी को महल में लिवा ले गईं कि कहीं धनुष टूटा देखकर कुछ और न कह दें। यहाँ प्रथम आशीर्वाद दिया, इसीसे विश्वामित्रजी ने भी दोनों भाइयों को प्रणाम कराकर आशीर्वाद दिलाया है।

(२) 'बिस्वामित्र मिले…'—यद्यपि परशुरामजी विश्वामित्रजी की बहिन के पौत्र हैं, तो भी अभिमान वश उनके पास प्रणाम करने नहीं गये। दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिलाना है। अतः, वे स्वयं आये और मिले।

(३) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा।'—राज्य-सम्बन्ध पर असीस नहीं दी, किन्तु सुंदर जोड़ी देखकर ही दी। 'रूप अपार मार…'—इसमें 'अपार' शब्द दीप-देहली है। यथा—"सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार पावत न पर पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० बा० ६२)।

(४) 'बहुरि बिलोकि बिदेह…'—आने के समय भी परशुरामजी की आँखें लाल थीं, मगर रामजी के देखने से कुछ ठंढे पड़ गये थे, फिर जब विदेह की ओर दृष्टि पड़ी, तब वही धनुभंग की बात चित्त में आ गई। इससे फिर कोप हुआ, किंतु अबकी शरीर भर में क्रोध व्याप गया—सर्वांग लाल हो गया।

परशुरामजी धनुर्भंग की बात जानते हैं—एक तो टूटने का शब्द ही पहुँचा, फिर सभी सुर-सिद्ध-मुनियों ने कहा ही है, यथा—"कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति…",(दो० २६१)। वाल्मी० बा० स० ७५ में कहा है, ("…भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तः।") कि ये वृत्तान्त सुनकर आये हैं। पर यहाँ अनजान की भाँति पूछते हैं—जनकजी का दोष उनके मुख से कहलाना चाहते हैं।

समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥१॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥२॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥३॥
बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू ॥४॥

शब्दार्थ—लहि=लगि, पर्यन्त, तक। अनत=दूसरी ओर।

अर्थ—जिस कारण सब राजा लोग आये हुए थे; राजा जनक ने सारा समाचार कह सुनाया ॥१॥ समाचार सुन परशुरामजी ने फिरकर दूसरी ओर दृष्टि डाली, तो धनुष के टुकड़े पृथिवी पर पड़े हुए देखे ॥२॥ अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! बतलाओ, धनुष किसने तोड़ा? ॥३॥ अरे मूढ़! (वा उस मूढ़ को) शीघ्र दिखाओ नहीं तो आज ही जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, वहाँ तक की पृथिवी उलट दूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कहु जड़ जनक धनुष केइ'''—राजा जनक ने समाचार कहने में धनुष का टूटना और तोड़नेवाले का नाम—दोनो छिपा रक्खे थे, तभी तो परशुरामजी ने फिरकर देखा, तब धनुष को टूटा देखकर तोड़नेवाले का नाम पूछने लगे। 'अति रिस'—प्रथम ही शरीरभर में कोप व्याप्त था, अब अत्यन्त हो गया, क्योंकि आँखों से धनुष के टुकड़ों को देखा। क्रोध से कठोर वचन निकलते ही हैं, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); इसी से ज्ञानी राजा को 'जड़ मूढ़' कह दिया।

(२) 'बेगि देखाउ मूढ़ नत'''—'बेगि'—जिसमें तोड़नेवाला भागने न पावे। 'देखाउ'—अर्थात् नाम मात्र परिचय पाने से उसे खोजना पड़ेगा और तब तक वह कहीं छिप जायगा।

'उलटउँ महि'''—राज्यभर की भूमि उलटने की धमकी इसलिये है कि यह राजा धर्मात्मा है, प्रजा का नाश नहीं सह सकेगा, क्योंकि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (अ० दो० ७०); इससे तुरंत दोषी को सामने खड़ा कर देगा, अन्यथा राज्यभर के उलटने में वह भी जहाँ होगा, दबकर मर ही जायगा!

पृथिवी का उलटना इस प्रकार है, जैसे भूकंप आदि में किसी भूखंड के घर और सब जीव भीतर धँस जाते हैं—कहीं-कहीं जल भी ऊपर आ जाता है, जिससे पूर्व के नगर का नाम-निशान भी नहीं रह जाता।

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥५॥
सुर मुनि नाग नगर-नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥६॥
मन पछिताति सीयमहतारी। बिधि अब सवरी बात बिगारी ॥७॥
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता ॥८॥

दोहा—सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीरु ॥२७०॥

अर्थ—अत्यन्त डर के कारण राजा (जनक) उत्तर नहीं देते। कुटिल राजा मन में प्रसन्न हुए ॥५॥ देवता, मुनि, नाग और नगर के स्त्री-पुरुष सभी चिन्ता कर रहे हैं, सब के हृदय में भारी डर है ॥६॥ श्रीसीताजी की माता मन में पछता रही हैं कि ब्रह्मा ने अब सारी बनी-बनाई बात बिगाड़ दी ॥७॥ भृगुपति परशुरामजी का स्वभाव सुनकर श्रीसीताजी को आधा निमेष कल्प के समान बीता ॥८॥ श्रीरघुवीर (श्रीरामजी) ने सब लोगों को डरा हुआ देखा और श्रीजानकीजी को डरी हुई जाना, तब बोले—उनके हृदय में कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं है ॥२७०॥

विशेष—(१) 'अति डर उतर देत'.........'डर' राज्य-भर उलटने का; 'अति डर'—कि श्रीरामजी के प्राणों पर न आ बीते। राजा विचारते हैं कि भले ही राज्य-भर उलट जाय, वधसे हम नरक भले ही जायँ, पर श्रीरामजी का नाम नहीं बतायेंगे। कुटिल राजा प्रसन्न हुए क्योंकि वे श्रीरामजी और जनकजी से अपने को तिरस्कृत मानते थे, जिससे अपना मरण समझते थे। अब यह देख-सुनकर प्रसन्न हैं कि भले बिना श्रम के ही बदला चुक जायगा। 'मन माहीं'—ऊपर से प्रसन्न होने में डरते हैं कि कहीं परशुरामजी यह न समझें कि हमारे तो गुरु शिवजी का धनुष टूटा और ये हँसते हैं।

(२) 'सुर मुनि नाग नगर'......—इनलोगों ने धनुष टूटने पर आशीर्वाद दिया है। अतः, डरते हैं कि वह व्यर्थ न हो जाय, यथा—"ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा।" (दो० २६१); "सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥" (दो० २६४); सब की प्रीति श्रीरामजी में है, इससे डरते हैं।

(३) 'विधि अब सवरी बात बिगारी।'—पहले राजाओं की खलबली पर रानी सुनयना के संदिग्ध वचन थे—"अब धौं बिधिहिं काह करनीया।" (दो० २६६); क्योंकि राजाओं का और श्रीरामजी का बल देख चुकी थीं। अतः, संदेह था कि राजा लोग श्रीरामजी को जीत सकें या नहीं, पर अब तो लोक-विजयी परशुरामजी से सामना है, इनको तो श्रीरामजी नहीं ही जीत सकते। अतः, निश्चय ही सारी बात बिगड़ गई। इस तरह पछता रही हैं।

(४) 'अरध निमेष कलप'......—आधा ही निमेष (पल) बीतने पाया था कि इन्हें डरी जानकर श्रीरामजी ने तुरंत उत्तर दिया। इनके निर्भीक उत्तर से उन्हें कुछ संतोष हो गया।

(५) 'सभय बिलोके लोग'.....'श्रीरघुबीर'—श्रीरामजी सब आश्रितों के अभयदाता हैं, यथा—"अभयं सर्व-भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३); तथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं० दो० ४३)। आश्रित को अभय देना वीर ही का काम है। ये सबके दुःख दूर करेंगे और परशुरामजी का भी गर्व हरेंगे। 'श्री' अब इन्हीं में रहेगी, परशुराम की श्री गई वा परशुराम के आगे सब राजाओं की श्री नहीं रह गई थी; पर श्रीरामजी निर्भीक हैं। अतः, श्री (शोभा) से पूर्ण हैं। 'हृदय न हरष बिषाद कछु'—इनका ऐसा सहज स्वभाव ही है, यथा—"बिसमय हरष रहित रघुराऊ।" (अ० दो० ११); यहाँ तो न धनुष तोड़ने का हर्ष है और न परशुराम की धमकी पर विषाद।

नाथ संभु - धनु - भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा ॥१॥
आयसु काह कहिय किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही ॥२॥
सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरिकरनी करि करिय लराई ॥३॥

सुनहु राम जेइ सिव-धनु तोरा। सहसबाहु-सम सो रिपु मोरा ॥४॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। नत मारे जइहहिं सब राजा ॥५॥

अर्थ—हे नाथ ! शिवजी के धनुष का तोड़नेवाला कोई एक आपका दास ही होगा ॥१॥ क्या आज्ञा है ? मुझसे क्यों नहीं कहते ? यह सुनकर क्रोधी मुनि रुष्ट होकर बोले ॥ २ ॥ सेवक वह है, जो सेवा करे ; पर जो शत्रु का काम करे, उससे तो लड़ाई करनी चाहिये ॥ ३ ॥ हे राम ! सुनो, जिसने शिवजी का धनुष तोड़ा है, वह सहस्रबाहु के समान ही मेरा शत्रु है ॥४॥ वह समाज छोड़कर अलग हो आवे ; नहीं तो सब राजा मारे जायँगे ॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ संभु-धनु ······'—श्रीरामजी के वचनों का उपक्रम यहीं से है, उपसंहार—पर—"सुनि मृदु गूढ़बचन रघुबर के।" कहा जायगा। वह मृदुता एवं गूढ़ता यहीं से है, 'नाथ !' यह मृदुता की हद है। 'कोउ एक दास' यह गूढ़ है और मृदु भी। ऊपर से दास कहना मृदु है और 'एक दास' अर्थात् मुख्य दास, जिसने पद-प्रहार भी सहकर सेवा की और परीक्षा में पूर्ण उतरा, वही है, यह गूढ़ है। 'तुम्हारा' भृगुवंशी एवं ब्राह्मणमात्र का दास अर्थात् ब्रह्मण्यदेव ही होगा ; यथा—"नमो ब्रह्मण्य-देवाय महापुरुषाय" (श्रीमद्भा० ५।१६।३)। पुनः 'संभु-धनु-भंजनिहारा' को अभिमान चाहिये कि त्रिलोक-विजयी धनुष को तोड़ा है, पर वह अपने को दास कह रहा है, इससे भी उसका ईश्वर होना सिद्ध है, क्योंकि जीव में ऐसे भारी कार्य का अभिमान रहेगा ही, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना ॥" (दो० ११५); पर परशुरामजी क्रोधवश हैं, इससे समझ न सके। उन्होंने यही समझा कि इनसे भला वह कब टूट सकेगा ? ये तो तोड़नेवाले की तरफ से निहोरा कर रहे हैं !

प्रश्न—श्रीरामजी ने सीधे क्यों नहीं कह दिया कि मैंने धनुष तोड़ा है ?

उत्तर—मुनि लड़ाई करने के लिये प्रस्तुत हैं और ब्राह्मण हैं, सीधे कहने से लड़ने लगेंगे। फलतः ब्रह्म-हत्या होगी। इससे अच्छा है कि इन्हें बातों से ही परास्त कर दें। अत, श्रीरामजी ने वचन-चातुर्य से ही जीतना उचित समझा, यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ ॥" (दोहावली ४३३)। यही भाव परशुरामजी ने स्वयं स्तुति में कहा है, यथा—"जयति बचन-रचना-अति नागर।" (दो० २८४)।

(२) 'आयसु काह कहिय किन ······'—पहले दास कहा था, तदनुसार आज्ञा-रूप सेवा माँग रहे हैं, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००)। 'किन मोही' अर्थात् मुझको क्यों नहीं कहते ? जनकजी ने क्या बिगाड़ा है जो उन्हें 'जड' 'मूढ' कहते हैं ? 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही।' आदि में ही 'कोही' कहते हैं, यह क्रोध अंत तक रहेगा। इसीसे तो इस प्रसंग को—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" (दो० ४०) कहा है।

(३) 'सेवक सो जो'···'—धनुष तोड़ना शत्रु का काम है, सेवा नहीं। अत, यह काम करनेवाला शत्रु है, उसे लड़ाई करनी चाहिये। वह सेवक बनकर नहीं बच सकता।

(४) 'सुनहु राम जेहि ···'—सहस्रबाहु ने हमारे पिता को मारा था, इससे वह पितृ-द्रोही था, जिसने हमारे गुरु शिवजी का धनुष तोड़ा है, वह गुरु का द्रोही है। अतः, दोनों तुल्य शत्रु हैं। जैसे मैंने सहस्रबाहु को मारा है, वैसे ही इसे भी मारूँगा। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के गणेश-खंड में लिखा है कि सहस्रार्जुन को मारने ही के लिये परशुरामजी ने शिवजी से विद्या पढ़ी थी और फरसा पाया। वहीं पार्वतीजी ने उन्हें शैवदीक्षा भी दी थी।

(४) 'सो बिलगाउ बिहाइ'''—परशुरामजी ने देखा, जनकजी ने बतलाया नहीं कि मेरे बतलाने से यह मारा जायगा और मुझे पाप लगेगा। श्रीरामजी भी उसकी ओर से निहोरा कर रहे हैं, ये भी नहीं बतलाते। इससे सब राजाओं को मारे जाने की धमकी देते हैं कि वे ही लोग बतला दें। नहीं तो जैसे एक सहस्रबाहु के कारण सभी क्षत्रिय मारे गये थे, वैसे फिर भी मारे जायँगे। यह भी अर्थ है कि वह स्वयं अलग हो अथवा समाज ही उसे छोड़कर अलग हो जाय (जिससे वह स्वतः जाना जायगा कि यही है)।

सुनि मुनिबचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहिं अपमाने ॥६॥
बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं ॥७॥
येहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू ॥८॥

दोहा—रे नृपबालक कालबस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम त्रिपुरारि-धनु, बिदित सकल संसार ॥२७१॥

शब्दार्थ—परसुधरहिं = फरसाधारी, फरसे के अभिमानी परशुराम को। अपमाने = निरादर करते हुए।

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर लक्ष्मणजी मुसकाये और परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले ॥६॥ हे गोसाईं ! लड़कपन में हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं, पर आपने कभी भी ऐसा क्रोध नहीं किया ॥७॥ इस धनुष पर किस कारण से ममत्व है ? ये वचन सुनकर भृगुकुल के ध्वजा-रूप परशुरामजी कुपित होकर बोले ॥८॥ अरे राजपुत्र ! तू कालवश है, इससे बोलने में तुझे सँभाल (विचार) नहीं है, क्या त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी का धनुष धनुही के समान है जो सारे जगत् में प्रसिद्ध है ? ॥२७१॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि-बचन लखन'''—'मुसकाने'—लक्ष्मणजी निरादरार्थ हँसे—ये मुनि हैं और वचन क्रोध से भरे बोल रहे हैं, कि वह शत्रु है, उसके कारण सब राजा मारे जायँगे। इन्हें तो शांत रहना चाहिये, पर ये फरसे के अभिमानी हैं। मुनि के तो कोई शत्रु नहीं होते, पर इनके बहुत हैं। अतः, ये मूर्ख हैं या चाहे जितने शस्त्र धारण करें, पर हैं तो ब्राह्मण ही न !

'बोले परसुधरहि अपमाने।'—अपमान का कारण मुख्य तो इनका फरसा धारण करना है, फिर इन्होंने श्रीरामजी की प्रार्थना (आप नाथ हैं, मैं दास हूँ) का कुछ विचार नहीं किया। प्रत्युत उन्हें मारने की धमकी देकर अपमान किया। लक्ष्मणजी अपने प्रभु का अपमान नहीं सह सकते। अतः, अपमान-द्वारा ही प्रतिकार करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण का अपमान करना ही मारने के समान है। 'परसु-धर' नाम से फरसा धारण-रूपी वीरता का ही अपमान सूचित किया—ब्राह्मणत्व का नहीं।

(२) 'बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न'''—भाव यह कि मैंने बालपन में खेल में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डाली हैं, वैसे ही खेल-ही-खेल में इसे भी तोड़ डाला, यथा—"छोटे छोटे छोहरा छबीले रघुबंसिन के करत कलोलैं यूथ निज निज जोरि जोरि। ए हो भृगुनाथ चलो अवध हमारे साथ देखो वहँ कैसे चहुँ खेलत हैं कोरि कोरि ॥ 'रसिकबिहारी' ऐसी अमित कमानें सदा आनि गहि तानैं एक एकन ते छोरि छोरि। कोऊ झकझोरैं कोऊ पकरि मरोरैं यों ही जोरि जोरि नित्तहिं बहावैं नाल तोरि तोरि ॥" (रामरसायन)।

परशुरामजी को धनुष के भंग करने पर क्रोध है, क्योंकि उसका बड़ा गौरव मानते हैं; उसीको लक्ष्मणजी धनुहिया मानकर खेल में तोड़ना कहते हैं, इससे वह अति लघु एवं तुच्छ सिद्ध होता है, यही परशुरामजी का अपमान है। 'कबहुँ न'—हमने बहुत बार तोड़े होंगे तब कभी आप नहीं गये थे, आज क्यों क्रोध करके दौड़े आये ?

इसपर लोग बहुत-सी कथाएँ लाकर लगाते हैं कि शिवजी ने दिव्यास्त्र संग्रह किया था, परशुराम रखवाले थे, लक्ष्मणजी ने बचपन में उन्हें तोड़ा है। दूसरी कथा-दिग्विजय करके परशुरामजी ने बहुत-से धनुष रक्खे थे। शेषजी बालक बनकर पृथिवी माता के साथ उनसे अभय वर माँगकर रहते थे। एक दिन सबको तोड़ डाला, तब परशुरामजी क्षमा से नहीं बोले, इत्यादि। इनमें दोष है कि जब वे दिव्यास्त्र थे, तब यहाँ लक्ष्मणजी ने धनुही कहकर उन्हें तुच्छ क्यों कहा है ? पुनः जो उनकी क्षमा की सुधि करानी है, यह तो स्तुति है, अपमान के वचन नहीं। ये सब बातें एक एकबार की हैं और यहाँ 'कबहुँ न' से पाया जाता है कि हम रोज-रोज तोड़ते थे, पर आप वहाँ नहीं गये।

(३) 'येहि धनु पर ममता केहि हेतू।'—यह धनुष शिवजी का है, वे जनकजी के पूर्वजों को सौंप गये थे—अब जनकजी इसे चाहे तोड़वावें—चाहे रक्खें, इसके लिये आप क्यों दौड़े आये ? इसपर आपका कौन-सा अधिकार है, यथा—"रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।" (क० बा० १९); तथा—"जो पहिले ही पिनाक जनक को गयो सौंपि जिय जानि हैं।" (गी० बा० ७८)। लड़कपन में जो बहुत धनुहियों को तोड़ा है उस समय आप नहीं बोले थे, क्योंकि उनपर आपका कोई अधिकार न था, वैसे ही इसपर भी तो आपका बोलने का कोई अधिकार नहीं है।

'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू'—प्रथम जब—'कबहुँ न असि रिस कीन्ह' कहा है, तब 'गोसाईं' संबोधन है और जब क्रोध करना कहा तब 'भृगुकुलकेतू' कहा कि महाक्रोधी के कुल के ध्वजा-रूप हैं, फिर क्रोध क्यों न करें ? भृगु ने भगवान् को ही लात मारी, ये उसी कुल के न हैं, तब क्यों न ऐसा क्रोध करें ?

(४) 'रे नृप-बालक काल-बस···'—लक्ष्मणजी ने दो प्रश्न किये थे। १—हमने बहुत धनुहियाँ तोड़ी हैं, तब क्रोध नहीं किया, अब क्यों करते हैं ? २—इस धनुष पर इतनी ममता क्यों है; अर्थात् आपका क्या अधिकार है ? इनमें पहले प्रश्न को लेकर कहते हैं कि जिस धनुष से त्रिपुरासुर मारा गया और जो बड़े यत्न से बना एवं संसार में प्रसिद्ध है उसे तू धनुहियों के समान कहता है ? अतः, तेरे बोलने में सँभार नहीं है, 'तोहि न···' अर्थात् तेरा भाई सँभालकर बोलता है, पर तुझे ही सँभाल नहीं है। इसीसे तू काल-वश है, क्योंकि प्रतिष्ठित पिनाक को 'धनुही सम' कहना दुर्वचन है—"सुनि दुर्बचन काल-बस जाना।" (लं० दो० ८९); इसी पर अपना क्रोध प्रकट किया। दूसरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। प्रथम प्रश्न का जो उत्तर दिया है, आगे लक्ष्मणजी उसका भी खंडन करते हैं।

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना ॥१॥
का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयेन के भोरे ॥२॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू ॥३॥

शब्दार्थ—जाना = जानते, समझ में। छति (क्षति) = हानि। जून = (जीर्ण) = पुराना, जून गुजराती भाषा का शब्द है। नयेन = नये ही। भोरे = धोखे से।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि हे देव (भूदेव) ! सुनिये, हमारे जानते तो सब धनुष एक समान ही हैं ॥१॥ पुराने धनुष के तोड़ने में क्या हानि लाभ ? श्रीरामजी ने तो उसे नये ही के धोखे से देखा था ॥२॥ वह छूते ही टूट गया, अतः, रघुनाथजी का भी तो कुछ दोष नहीं है, हे मुनि ! बिना प्रयोजन आप क्यों क्रोध करते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहा हँसि'''—हँसे इसलिये कि धनुष तोड़ डाला गया, फिर भी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे तुच्छ कहने पर रुष्ट होते हैं, ठीक उत्तर नहीं दे सकते तो उसे कोप से पूरा करते हैं, ऐसे नासमझ हैं ये ! 'हमरे जाना'—हमसे न टूटता तो हम उसे बड़ा मानते, आप भले ही उसकी प्रशंसा करें, पर हमारी दृष्टि में तो सभी धनुष एक-से हैं।

(२) 'का छति लाभ जून'''—श्रीजनकजी ने उसे हीरा-मणि आदि से भूषित कर रक्खा था, श्रीरामजी ने समझा कि विदेहराज ने कोई नवीन कठोर धनुष रखकर प्रतिज्ञा की है, इसी धोखे से उन्होंने उसपर दृष्टि डाली, नहीं तो उसे देखते भी नहीं।

(३) 'छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू।'—वह तो 'जून'-पुराना था। इससे छूते ही टूट गया अर्थात् श्रीरामजी ने उसे तोड़ा थोड़े ही, वह तो पुराना होने से सड़ा था, छूते ही आप-से-आप टूट गया। इसमें श्रीरामजी का कुछ दोष नहीं। सड़ा होने से उसके टूटने से कोई हानि नहीं और पुराना था, छूते ही टूटा, अतः श्रीरामजी को तोड़ने का (श्रेय-रूपी) लाभ भी नहीं है।

'मुनि बिनु काज करिय'''—जिसमें कुछ हानि-लाभ नहीं; उस विषय पर क्रोध करना व्यर्थ ही है, इस तरह परशुरामजी को अकारण क्रोधित सूचित किया। यहाँ यदि लक्ष्मणजी कहते कि विदेहराज की प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये तोड़ा गया तो मुनि उन्हींसे जा भिड़ते और यदि कहते कि श्रीरामजी ने वीरता से तोड़ा तो उन्हींकी ओर झुकते। अतः, ऐसे वचन कहे कि मुनि ही का दोष सिद्ध हो और वे कुछ न कह पावें। लक्ष्मणजी परशुरामजी के क्रोध रूपी घोर धारा को फेर रहे हैं; देखिये—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।'''"

बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा ॥४॥
बालक बोलि बधउँ नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥५॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्वबिदित छत्रिय-कुलद्रोही ॥६॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥७॥
सहसबाहु-भुज-छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप-कुमारा ॥८॥

दोहा—मातुपितहि जनि सोचबस, करसि महीप-किसोर।
गरभन्ह के अरभक-दलन, परसु मोर अति घोर ॥२७२॥

शब्दार्थ—बोलि=समझकर, ठहराकर, यह अँचला आया है, यथा—'बालक बोले आमि छेदे विलुम्'। गरभन=गर्भों। अरभक (सं० अर्भक)=बालक, छोटा, अल्प। छेदनिहारा=काटनेवाला।

अर्थ—(परशुरामजी) फरसे की ओर देखकर बोले—अरे शठ, तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना ?॥४॥ मैं तो तुझे बालक जानकर नहीं मारता और मूर्ख ! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है ॥५॥ मैं बालब्रह्मचारी

और अत्यन्त क्रोधी हूँ। पुनः क्षत्रिय-कुल का द्रोही हूँ—यह संसार जानता है ॥६॥ अपनी भुजाओं के बल से मैंने पृथिवी को राजाओं से रहित किया और बहुत बार उसे ब्राह्मणों को दे दिया ॥७॥ हे राजकुमार! सहस्रबाहु की भुजाओं का काटनेवाला मेरा यह फरसा देख ले ॥८॥ हे राजपुत्र! अपने माता-पिता को शोक के वश मत कर, मेरा फरसा अत्यन्त घोर (कठिन एवं भयंकर) है, यह गर्भों के भी बच्चों का नाश करनेवाला है ॥२७२॥

विशेष—(१) 'बोले चितइ परसु'''—फरसे की ओर दृष्टि करके कहते हैं कि इसे देख ले, यदि सहने का सामर्थ्य हो तो बोल, इसी से तुझे भी काटूँगा। क्या तुझे इसका भय नहीं है? 'रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा।'—सुना होता, तो ऐसा निश्शंक नहीं बकता, यथा—"कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही॥" (सुं० दो० २०)। इसमें भी 'सठ' कहा है।

(२) 'बालक बोलि बधउँ नहिं'''—बालक का वध करना पाप है, यथा—"जे अघ तिय बालक बध कीन्हे;" (अ० दो० १६६); इसी से मैं तुझे नहीं मारता। पर मूर्ख! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है कि मारेंगे नहीं। इस धोखे में मत रहना। मैं वीर भी हूँ, कोरा मुनि नहीं हूँ। मेरे शाप और आशीष ही का बल नहीं, किंतु शरीर से भी समर्थ हूँ, आगे अपेक्षित वीरता कहते हैं।

(३) 'बालब्रह्मचारी अति'''—बालब्रह्मचारी से काम का जीतना कहा, जिसकी गणना वीरों में प्रथम है, यथा—"मारिके मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४); बालब्रह्मचारी तो नपुंसक भी कहे जा सकते हैं, इसपर आगे पुरुषार्थ कहते हैं कि अत्यन्त क्रोध से संसार भर के वीर क्षत्रियों का नाश किया है। सारा संसार साक्षी है।

ब्रह्मचारी को दयालु होना चाहिये, पर उसकी विरुद्ध वृत्ति में बड़ाई मान रहे हैं, यह स्वभाव स्वयं सुना रहे हैं कि जिससे लक्ष्मणजी डरें। यथा—"आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भ-विभ्राजमान ज्याघात-श्रेणिसंज्ञातवरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः" (हनु० १।२१)।

(४) 'भुजबल भूमि भूप बिनु'''—एक बार बड़ी सेना लेकर राजा सहस्रार्जुन जमदग्नि ऋषि के आश्रम में गया। ऋषि ने कामधेनु के द्वारा बड़ा सत्कार किया, तब उसने वह गाय माँगी, न देने पर ऋषि को मारकर गाय को ले गया। परशुरामजी आये, माता रेणुका को विलाप करते देखकर वृत्तान्त पूछा और सहस्रार्जुन पर दौड़ पड़े। युद्ध करके उसे मार डाला। फिर उसी के सम्बन्ध से सम्पूर्ण पृथिवी को क्षत्रियों से रहित किया, बचे-बचाये क्षत्रियों के बढ़ने पर फिर-फिर बहुत बार पृथिवी भर के क्षत्रियों को मारा। कहा जाता है कि २१ बार इनकी माता ने छाती पीटी थी। अतः, उतनी ही बार क्षत्रियों का नाश किया। आगे दो० २७५ चौ० २ भी देखिये।

'भुजबल' अर्थात् शाप से नहीं, किन्तु वीरता से मारा। 'बिपुल बार'—जब-जब क्षत्रिय बढ़ते गये, तब-तब खोज-खोजकर मारा। 'महिदेवन्ह दीन्ही'—कुछ भूमि के लोभ से ऐसा नहीं किया; किन्तु भूमि ब्राह्मणों को दे दी। जब-जब क्षत्रिय बढ़ते थे, और ब्राह्मणों से भूमि छीन लेते थे तब-तब हम क्षत्रियों को मारकर ब्राह्मणों को भूमि देते थे। 'महिदेवन्ह' अर्थात् एक किसी विप्र को चक्रवर्त्ती नहीं बनाते थे, किंतु सभी में भूमि बाँट देते थे। यदि समझें कि निर्बल क्षत्रियों को ही मारा होगा, इसपर आगे कहते हैं—

(५) 'सहसबाहु भुज'''—सहस्रबाहु को दत्तात्रेय भगवान् के वर से हजार भुजाएँ, सर्वत्र इच्छानुसार जानेवाला अजेय स्वर्ण का रथ, जगत्प्रसिद्ध मनुष्य से मृत्यु, नीति-पूर्वक राज्य करना और यह सिद्धि जिससे घर-बैठे प्रजा के मन की जान ले तथा पृथिवी भर का राज्य—ये सब मिले थे। (ब्रह्मवैवर्त्त, गणेश खंड)। ऐसे को इसी फरसे से मारा है। उसके तो हजार भुजाएँ थीं, तेरे तो दो ही हैं।

यह फरसा देख ले, सहने का ताव हो, तो बोल। 'महीपकुमारा'—अभी तो तू कुमार ही है, कुछ काल राज-सुख तो भोग ले, अभी ही क्यों मरना चाहता है?

(६) 'मातु पितहिं जनि···'—माता का स्नेह बच्चे पर अधिक होता है। अतः, उसे पहले कहा, अर्थात् तेरे माता-पिता ने तुझे चौथेपन में पाया है, इससे तू इनका अत्यन्त प्रिय है, प्राण-नाश कर उन्हें क्यों दुःख देगा? यहाँ धर्म निष्ठुरता दिखाई, किंतु देखा कि इससे तो और ढीठ होगा। अतः, क्रूरपना कहते हैं—'गरभन्ह के अरभक···' अर्थात् यह भी मत समझना कि बालक जानकर नहीं मारेंगे; किंतु यह फरसा गर्भगत बालक को भी नहीं छोड़ता, यथा—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि, सुनि कुठार-गति घोर।" (दो० २७१); (इसी से रनिवास में इनकी चर्चा नहीं होती थी) तू तो कुछ बड़ा हो गया, फिर सामने खड़ा है।

बिहँसि लखन बोले मृदुबानी। अहो मुनीस महा भटमानी॥१॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू॥२॥
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥३॥
देखि कुठार सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥४॥

शब्दार्थ—तरजनी (तर्जनी)=अंगूठे के पास की अंगुली, जिससे लोग दूसरे को धमकाते हैं।

अर्थ—लक्ष्मणजी हँसकर कोमल वचन बोले—अहो! मुनीश्वर! आपतो बड़े ही अभिमानी योद्धा हैं॥१॥ मुझे बार-बार कुल्हड़िया दिखाते हैं, (मानों) फूँककर पहाड़ उड़ाना चाहते हैं!॥२॥ यहाँ कोई कुम्हड़े की बतिया नहीं है जो तर्जनी देखते ही मर जाय॥३॥ कुल्हाड़ और धनुषबाण देखकर ही मैंने अभिमान के साथ कुछ कहा है॥४॥

विशेष—(१) 'बिहँसि लखन बोले···'—परशुरामजी जैसे-जैसे अपने गुण कहते हैं, वैसे-वैसे अधिक दोष प्रकट होते जाते हैं, जिससे लक्ष्मणजी की हँसी क्रमशः अधिक होती है, यथा—"सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने।" मुसकाना थोड़ा हँसना है। फिर—"लखन कहा हँसि हमरे जाना।" हँसने में मुसकान से अधिकता है। पुनः यहाँ 'बिहँसि' कहा है, यह विशेष हँसी का सूचक है कि वाह, अपने मुख से अपना गुण कहने में आपको लाज नहीं लगती!

'अहो मुनीस महा भट···'—जो मुनि होते हैं, वे भट नहीं होते और भट मुनि नहीं होते, क्योंकि मुनियों में शान्ति, समता, सुहृत आदि और वीरों में वैर, क्रोध, हिंसा आदि गुण हैं, आप दोनों के अभिमानी हैं। अतः, 'अहो' अर्थात् आश्चर्यरूप हैं। यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

(२) 'पुनि पुनि मोहि देखाव···'—तीन बार कुठार दिखाया—'बोले चितइ परसु की ओरा।' 'परसु बिलोकु महीप कुमारा।' 'परसु मोर अति घोर', अतः, 'पुनि-पुनि' कहा गया। 'चहत उड़ावन फूँकि···'—फूँकने से मच्छड़ उड़ते हैं अर्थात् आप वीर बनते तथा हमें मच्छड़ समझते हैं और चाहते हैं कि बातों की धमकी से ही डरा दें, जैसे फूँककर मच्छड़ उड़ाये जाते हैं। आपका फरसा फूँक के वायु के समान है और मैं सुमेरु पर्वत के समान हूँ—उससे नहीं उड़ सकता।

(३) 'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ···'—कुम्हड़े की छोटी बतिया तर्जनी दिखाने से सड़ जाती है, वैसे ही और राजा लोग आपको देखकर दुबक गये थे। अतः, वे कुम्हड़े की बतिया के समान हैं। यथा—

"सरुष भरजि तरजिये तरजनी कुम्हलैहै कुम्हड़े की जई है।" (वि० १३६); पर मैं परिपक्व कुम्हड़ा हूँ। अतः, नहीं डरने का। 'कोउ नाहीं' से अपने और श्रीरामजी की ओर संकेत है।

(४) 'देखि कुठार सरासन···'—मुनि के समक्ष अभिमान की बात नहीं कहनी चाहिये, पर मैंने कुठार आदि वीर बाने को देखकर ही कुछ कहा है।

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ॥५॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्हपर न सुराई ॥६॥
बधे पाप अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे ॥७॥
कोटि-कुलिस-सम बचन तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥८॥

दोहा—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ, छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुबंस-मनि, बोले गिरा गँभीर ॥२७३॥

शब्दार्थ—भृगुसुत = भृगुकुल, यहाँ सुत शब्द लक्षणा से कुल का वाचक है, अन्यत्र 'भृगुकुल' पाठांतर है।

अर्थ—जो कुछ आपने कहा है, उसे मैं आपको भृगुवंशी समझकर और जनेऊ देखकर क्रोध को रोके सहता जाता हूँ ॥५॥ देवता, ब्राह्मण, हरिभक्त और गाय—इनपर हमारे कुल में शूरता नहीं जनाई जाती ॥६॥ (इन सबके) मारने पर पाप और हारने पर अपयश (होता है, इसलिये) आप मारें तो भी हमलोग आपके चरणों पर ही पड़ेंगे ॥७॥ आपका वचन ही करोड़ों वज्रों के समान है, आप व्यर्थ ही धनुप-बाण और कुठार धारण करते हैं ॥८॥ जिन्हें देखकर मैंने अनुचित कहा है; उसे हे धीर महामुनि ! क्षमा कीजिये; यह सुनकर भृगुकुलशिरोमणि परशुरामजी क्रोध में भरी हुई गंभीर वाणी बोले ॥२७३॥

विशेष—(१) 'भृगुसुत समुझि···'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी परशुरामजी के लिये दो विशेषण देते हैं—एक भृगुवंशी होना और दूसरे जनेऊ धारण से ब्राह्मण होना। इन दो कारणों से क्रोध रोककर सहना पड़ता है, क्योंकि ब्राह्मण अवध्य हैं। यथा—"अवध्यो ब्राह्मणो गावः स्त्रियो बालाश्च ज्ञातयः। येषां चान्नानि भुंजीय ये चास्य शरणं गताः ॥" प्रसिद्ध है। ब्राह्मण के वध से पाप होता है, कहीं आपका वध न हो जाय, इसलिये सहते हैं। भृगुजी ने लात मारी तो भी विष्णु भगवान् ने प्रतिकार न करके उसका सहन ही कर लिया। विष्णु तो ब्रह्मांड भर के राजा हैं, उन्हीं के नियम से हम भी प्रतिकार में समर्थ होते हुए भी सहते जाते हैं। 'जनेउ बिलोकी'—जनेऊ चिन्हमात्र से ही आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं, शेष बातें तो प्रतिकूल ही हैं; यथा—"द्विज चिह्न जनेऊ······"(उ० दो० १००)। यह भी भाव है कि आप कुल्हड़िया दिखाते हैं, पर हम उसे नहीं देखते, नहीं तो आपका वध ही करना पड़े, प्रत्युत हम जनेऊ पर ही दृष्टि देते हैं, और इसीसे ब्रह्महत्या से डरते हैं। क्रोध रोकने का कारण आगे प्रकट कहते हैं—

(२) 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई।···'—'सुराई' अर्थात् शूरपना, अपकार का प्रतिकार करना। यथा—"असि रिस होति दसौ मुख तोरउँ।" (लं० दो० ३२); अर्थात् शूरता करते तो आपका शिर काट फेंकते, पर यह हमारे कुल का धर्म नहीं है। यथा—"निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः" (हनु० ११३६)। इसका भी कारण कहते हैं—

(३) 'बधे पाप अपकीरति···'—शूर को शूर मारे तो पाप नहीं होता, पर आप तो शूर हैं नहीं, ब्राह्मण हैं, इससे पाप होगा और हारने पर अपयश होगा कि एक भिक्षुक से हार गये। भाव यह कि लड़ने पर या तो आपको मार डालें, अथवा पाप से बचना चाहें तो हार ही मान लें, परन्तु हारने से संसार हँसेगा कि लड़ने गये और क्षत्रिय होकर भिक्षुक से हार गये। अतः, मैं प्रथम ही से आपके पाँवों पड़ता हूँ कि आप पूज्य हैं, वध्य नहीं।

(४) 'कोटि-कुलिस-सम बचन···'—यदि आप अपने ब्राह्मणत्व पर रहें तो आपका एक ही वचन करोड़ वज्रों से अधिक काम कर सकता है। यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरि-चक्र कराला॥ जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्र-द्रोह पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। अतः, आप हथियार छोड़ दें, व्यर्थ इन्हें क्यों लटका रक्खा है, आपके शाप ही का भारी प्रभाव है।

(५) 'जो बिलोकि अनुचित···'—कुठार आदि हथियारों को ही देखकर हमने अनुचित कहा है। यहाँ इनके वीरतापूर्ण कथन का निरादर है, महामुनि भाव को लेकर क्षमा है। 'धीर' से क्रोध होना अनुचित सूचित करते हैं। 'महामुनि धीर' पर व्यंग्योक्ति समझकर मुनि क्रुद्ध होकर बोले। 'भृगुबंस-मनि'—जब प्रथम आये, तब—'भृगुकुल कमल पतंगा' कहे गये थे, लक्ष्मण की बातों से घटते-घटते अब मणि के समान ही रह गये। यथा—"भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी। रिस तनु जरइ होइ बल हानी॥" (दो० २७७)। 'भृगुबंसमनि' से यह भी जनाया कि यह कुल ही क्रोधी है, फिर ये क्यों न क्रोध करें?

कौसिक सुनहु मंद यह बालक। कुटिल कालबस निज-कुल-घालक॥१॥
भानु-बंस-राकेस-कलंकू। निपट निरंकुस अबुध असंकू॥२॥
कालकवल होइहि छन माहीं। कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥३॥
तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा। कहि प्रताप बल रोष हमारा॥४॥

शब्दार्थ—घालक = नाश करनेवाला। निपट = नितांत। निरंकुस = उच्छृंखल। कवल = ग्रास। खोरि = दोष।

अर्थ—हे विश्वामित्र! सुनो, यह बालक मंद (नीच), कुटिल (टेढ़ा), काल के वश और अपने वंश का नाश करनेवाला है॥१॥ सूर्यवंश-रूपी पूर्ण चन्द्र में कलंक, नितान्त उच्छृंखल, बुद्धिहीन और निडर है॥२॥ क्षण-भर में काल (के मुख) का कौर (ग्रास) हो जायगा, मैं पुकारकर कहे देता हूँ, (फिर) मेरा दोष नहीं (देना)॥३॥ जो तुम इसे बचाना चाहते हो तो मेरा प्रताप, बल और रोष कहकर (समझाकर एवं डराकर) इसे रोको॥४॥

विशेष—(१) 'कौसिक सुनहु मंद···'—विश्वामित्रजी से कहते हैं, क्योंकि—(क) इन्होंने लाकर प्रणाम कराया है, इससे इनका कहना मानेगा। (ख) कुशवंशियों के मारते समय अपने वंश के बतलाकर इन्होंने बहुतों को मुझसे बचाया है। अतः, इसे भी यदि वैसे ही बचाना चाहते हैं, तो अभी से मना करें, नहीं तो क्रोध आने पर मारते समय फिर हम न सुनेंगे। (ग) ये दशरथ जी से माँगकर लाये हैं तब यदि यह मारा गया तो इन्हें कलंक लगेगा। अतः, ये इसे अवश्य चुप करेंगे।

यहाँ पूर्वोक्त—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी" (दो० ४०) का मुख दूसरी ओर फिरा।

'कुटिल कालबस···'—'कुटिल'—है, क्योंकि स्वयं, जो कल का बच्चा है वीर बनता है, और

हमको, जिसने कितनी बार संसार भर के वीर क्षत्रियों को मारा है, व्यर्थ कहता है। कुल के साथ अपने को ब्राह्मणपूजक कहता है और मेरा शिर भी काटने को तैयार है। इसीसे 'काल-वश' होने योग्य है। इसे मारकर फिर इसके कुल का भी नाश करूँगा। अतः,—'निज कुलघालक' है। परशुरामजी की दृष्टि सूर्यकुल पर है, जैसे लक्ष्मणजी की दृष्टि—'भृगुसुत समुझि ...' पर कही गई है; उसी के जोड़ में यह वचन है।

(२) 'कहि प्रताप बल रोष हमारा।'—भाव, यह कहकर मत मना करो कि ये बड़े बूढ़े ब्राह्मण हैं, जाने दो, अब न कुछ कहो। किन्तु हमारा प्रताप आदि कहकर, डराकर मना करो। प्रताप—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि, सुनि कुठार-गति घोर॥" (दो० २७१); बल—"सहसबाहु-भुज-छेदनिहारा।" (दो० २७१); रोष—"बालब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व-बिदित क्षत्रियकुल-द्रोही।" (दो० २७१); इत्यादि। ये सब स्वयं भी कहते हैं, पर समझते हैं कि कौशिक के कहने से विश्वास मानकर लक्ष्मणजी डर जायँगे।

लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा॥५॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥६॥
नहि संतोष तौ पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥७॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥८॥

दोहा—सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रताप॥२७४॥

शब्दार्थ—पारा=सकता है (बँगला भाषा)। बीरब्रती=वीरवृत्ति, वीरों का बाना धारण करनेवाले।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि! आपके रहते हुए आपका सुयश दूसरा कौन वर्णन कर सकता है?॥५॥ आपने अपने मुँह से अपनी करनी अनेक प्रकार से बहुत बार कही है॥६॥ यदि संतोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिये, क्रोध रोककर कठिन दुःख मत सहिये॥७॥ आप वीरवृत्ति हैं, धीर और क्षोभरहित हैं, गाली देते हुए (आप) शोभा नहीं पाते॥८॥ शूर-वीर लड़ाई में करनी करते हैं, कहकर अपने को नहीं जनाते, युद्ध में शत्रु को सम्मुख पाकर कायर ही अपना प्रताप कथन करते हैं वा डींग हाँका करते हैं॥२७४॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ मुनि सुजस......'—आपका सुयश जितना आप जानते हैं, उतना दूसरा नहीं जान सकता, इससे आप ही वर्णन करते जाइये, कौशिकजी को भजन करने दीजिये।

(२) 'अपने मुँह तुम्ह आपनि...... '—अपने मुख से अपनी बड़ाई करना निर्लज्जता है, यथा—"लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥" (लं० दो० २८)।

(३) 'जनि रिस रोकि दुसह......'—कह डालेंगे तो दुःख कुछ कम होगा, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (सुं० दो० १४)।

(४) 'बीरब्रती तुम धीर अछोभा ......'—आप ब्राह्मणत्व को नीचे करके वीरवृत्ति में अपना

गौरव मानते हैं, प्रथम इस वृत्ति में धीरता एवं क्षोभहीनता भी थी, पर गाली बकने से उसकी शोभा चली गई, क्योंकि वीरवृत्तिवाले गाली नहीं बकते। यथा—"आजु करउँ खल काल हवाले।''''''सुनि दुर्बचन'''' जनि जल्पना करि सुजस नासहि'''एक करहिं कहत न बागहीं॥" (लं॰ दो॰ ६०); अर्थात् आपने ब्राह्मणत्व की अवहेलना कर दी और गाली बकने से वीरत्व भी गँवा दिया। यह मुनि के—"भानुबंस राकेस-कलंकू।"'''से—"अबुध असंकू॥" तक के प्रति कहा गया है।

(५) 'सूर समर करनी''''''—यह मुनि के—'कालकवल होइहि''' का उत्तर है कि शत्रु के सम्मुख रहते हुए कर्त्तव्य नहीं करके प्रताप कथन करना कायरता है। यथा—"न वै शूराः विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।" (श्रीमद्भागवत)। यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार-बार मोहि लागि बोलावा॥१॥
सुनत लखन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा॥२॥
अब जनि देइ दोष मोहि लोगू। कटुबादी बालक बधजोगू॥३॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यह मरनिहार भा साँचा॥४॥

अर्थ—आप तो काल को मानों हाँक लाये हैं और बार-बार उसे मेरे लिये बुलाते हैं॥१॥ लक्ष्मणजी के कठोर वचन सुनते ही (परशुराम ने) घोर फरसे को सुधार कर हाथ में लिया (और कहा)॥२॥ लोग अब मुझे दोष न दें, कड़ुवा बोलनेवाला बालक वध करने के योग्य है॥३॥ बालक समझकर मैंने बहुत बचाया, अब यह सत्य ही मरनेवाला हो गया॥४॥

विशेष—(१) 'तुम्ह तौ काल हाँक''''''—हाँक लाना पशुओं के लिये कहा जाता है; अर्थात् काल-रूपी पशु को चरने के लिये हमें चारा मानकर बुलाते हैं, पर बार-बार के बुलाने पर भी वह नहीं आता, सम्भवतः उसे भूख ही नहीं है अथवा वह स्वयं डरता है कि मैं ही न उसे खा जाऊँ, यथा—"तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता।" (लं॰ दो॰ ८१)।

(२) 'सुनत लखन के बचन''''''—लक्ष्मणजी अब की हँसकर भी नहीं बोले थे और कायर भी कह डाला था, इससे परशुरामजी बहुत रुष्ट हुए। फरसा काँधे पर था, उसे हाथ में लिया, इसीसे मारना चाहते हैं, क्योंकि यह 'अति घोर' है और इसीसे सब क्षत्रियों को मारा था। लक्ष्मणजी भी क्षत्रिय-कुमार ही हैं।

(३) 'अब जनि देइ दोष''''''—पूर्व कहा था—'कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।' अब फिर भी कहते हैं—'अब जनि''''''' यह कहकर लोक से निर्दोष हुए। 'कटुबादी बालक''''''' यह कहकर वेद से भी निर्दोष बने।

(४) 'मरनिहार भा साँचा'—अभी तक तो मैं धमकाता ही था, पर बचाना चाहता था, अब नहीं छोड़ूँगा।

कौसिक कहा छमिय अपराधू। बाल-दोष-गुन गनहिं न साधू॥५॥
खर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥६॥

उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥७॥
नत येहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे ॥८॥

दोहा—गाधि-सूनु कह हृदय हँसि, मुनिहि हरियरइ सूझ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय, अजहुँ न बूझ अबूझ ॥२७५॥

शब्दार्थ—अकरुन=अकरुण=निर्दय, पाठा—'अकरन' भी है, उसका अर्थ बिना कारण है। सील (शील) संकोच। अय (अयस्)=लोहा। हरियरइ=हरा-ही-हरा। खाँड़=तलवार, खड्ग।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने कहा—अपराध क्षमा कीजिये, बालकों के दोषों और गुणों को साधु नहीं गिनते ॥५॥ (परशुरामजी ने कहा—) मेरा कुठार तीक्ष्ण है और मैं निर्दय एवं क्रोधी हूँ, पुनः अपराधी गुरु का द्रोही सामने है। ॥६॥ हे कौशिक! केवल आपके संकोच से उत्तर देते हुए भी बिना मारे इसे छोड़ता हूँ, ॥७॥ नहीं तो इसे कठोर कुठार से काटकर थोड़े ही परिश्रम में गुरु से उऋण (ऋण-रहित) हो जाता ॥८॥ विश्वामित्रजी ने हृदय में हँसकर कहा कि मुनि को हरा-ही-हरा सूझ रहा है। यह लोहे का घना खाँड़ है, कुछ ऊख के रस का नहीं है। अब भी इन्हें नहीं समझ पड़ता—ऐसे बेसमझ हैं ये ॥२७५॥

विशेष—(१) 'कौसिक कहा छमिय'''—परशुरामजी ने कौशिक से निहोरा किया था, वे लक्ष्मणजी का कोई अपराध तो देखते नहीं कि डाटें, यदि परशुरामजी के दोष कहें तो वे और चिढ़ेंगे कि बालक को तो समझाते नहीं, उल्टे हमारा ही दोष कहते हैं, अतएव मुनि ने कहा कि आप साधु हैं, क्यों न बचावें? जैसे अभी तक बचा आये, वैसे और भी क्षमा करें, क्योंकि बालकों के दोष-गुण साधु लोग नहीं देखते। यहाँ 'दोष-गुन' मुहावरा है, तात्पर्य दोष का ही है, जैसे किसी से कोई दोष हो जाता है तो लोग प्रायः कहते हैं कि इसके 'गुण-दोष' का विचार नहीं है। यथा—"निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (दो० ८१); इसी प्रकार द्वन्द्व-कथन को प्रायः रीति है।

अथवा 'दोष-गुन' का यथाश्रुत अर्थ लें, तो गुण न गिनने को इससे कहा है कि बालक के गुण अज्ञात दशा के और प्राकृतिक हैं। अतएव ये उसके नहीं कहा सकते। यह साधुओं की दृष्टि है। और लोग तो बालक के गुण को गुण मानते ही हैं।

(२) 'आगे अपराधी गुरुद्रोही।'—इसमें के 'अपराधी' के—'उत्तर देत''' में और—'गुरुद्रोही' के—"नत येहि काटि''''' में फल का चरितार्थ है।

(३) 'नत येहि काटि कुठार'''ऊपर—'कटुबादी बालक' को 'बधजोगू' कहा, उसी को यहाँ कहते हैं कि जैसे यह कठोर बोलता है, वैसे ही कठोर कुठार से बध करने के योग्य है। 'नत'—आपके संकोचवशात् हम गुरु के ऋणी रह गये हैं।

(४) 'गाधिसूनु कह हृदय'''—मुनि शांत एवं गंभीर होते हैं, हँसना राजसगुण है, उसके सम्बन्ध से इनका राज-सम्बन्धी नाम कहा गया।

'मुनिहि हरियरइ सूझ'—श्रावण के अंधे को हरा-ही-हरा सूझता है, यह लोकोक्ति है। यथा—"मोहिं तो सावन के अंधेहि ज्यों सूझत रंग हरो।" (वि० २२६), वैसे ही परशुरामजी ने बहुत बार पृथिवी को क्षत्रिय-रहित किया, सहस्रबाहु ऐसे वीर को मारा, वही गर्व मन में भरा है कि ये भी तो वैसे ही

क्षत्रिय हैं। यह नहीं देखते कि सब क्षत्रिय तो लवा की तरह दुबक गये और ये इतने निर्भीक होकर उत्तर दे रहे हैं, कैसे तेजस्वी हैं! जिस पिनाक को देखकर रावण-बाणासुर हार गये, उसे इन्होंने तोड़ डाला, इत्यादि से बूझ (समझ) लेना रहा, पर नहीं समझा। इसीपर विश्वामित्रजी हृदय में हँसते हैं कि मुनि बड़े अबूझ (मूर्ख) हैं और लोग कहते हैं--'अयमय खाँड़ न ऊखमय'—अर्थात् यह ऊख के रस की बनी हुई मिसरी नहीं है कि घोलकर पी जाओ, यह तो लोहे का खाँड़ है। पेट फाड़कर निकल जायगा अर्थात् प्राकृत क्षत्रियों में और इनमें ऊख के खाँड़ और लोहे के खाँड़ का-सा अंतर है। खाँड़ तलवार को भी कहते हैं, अर्थात् ऊख के रस से बने खाँड़ को चूसकर खा जानेवाला, कहीं लोहमय खाँड़ मुँह में धरे, तो जो हालत होगी, वही परशुराम की आ बनी है।

परशुरामजी ब्राह्मण हैं, मधुरप्रिय हैं, अतएव यहाँ मिठाई की उपमा से 'अबूझ' कहा, ऐसे ही 'अबूझपन' का प्रसंग राक्षसों में आया है, वहाँ मांस की उपमा राक्षसों के अनुकूल है, यथा—"जिमि अरुनोपल-निकर निहारी। धावहिं खल सठ माँस-अहारी॥ चोंच-भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० ४६)।

कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा। को नहि जान बिदित संसारा॥१॥
मातहि-पितहि उरिन भये नीके। गुरु-रिन रहा सोच बड़ जी के॥२॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गयेउ ब्याज बड़ बाढ़ा॥३॥
अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥४॥

शब्दार्थ—हमरेहि माथे=हमारे ही मत्थे पर। काढ़ा=ऋण लिया। बोली=बुलाकर। ब्यवहरिया=व्यवहार (कर्ज) देनेवाला, महाजन। चलि गयो=बीत गये।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा कि हे मुनि! आपका शील कौन नहीं जानता है अर्थात् वह जगत्-प्रसिद्ध है॥१॥ माता और पिता से अच्छी तरह उऋण हो गये, गुरु का ऋण रह गया है, (उसके लिये) मन में बड़ी चिन्ता है॥२॥ वह (ऋण) मानों हमारे ही मत्थे काढ़ा है; बहुत दिन बीत गये। अत, ब्याज भी बहुत बढ़ गया है॥३॥ अब महाजन (शिवजी) को बुला लाइये, मैं शीघ्र ही थैली खोलकर दे दूँ अर्थात् ऋण चुका दूँ॥४॥

विशेष—(१) 'कहेउ लखन मुनि सील ···'—यहाँ 'सील' शब्द में इसका वाच्यार्थ छोड़कर व्यंग्यार्थ से इसके विपरीत दुश्शील का भाव है। यह परशुरामजी के—"उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥" के उत्तर में है।

(२) 'मातहि-पितहि उरिन भये नीके।' कथा—महाभारत (शांति पर्व) में कहा है कि जमदग्नि ऋषि का विवाह प्रसेनजित् राजा की कन्या रेणुका से हुआ था। उनसे पाँच पुत्र हुए, पाँचवें परशुराम थे। फिर वन-पर्व में लिखा है कि एक दिन रेणुका नदी में स्नान के लिये गई थी। वहाँ उसने राजा चित्ररथ को अपनी स्त्री के साथ जल-क्रीड़ा करते देखा। इससे उसका मन विचलित हो गया। जमदग्नि उसकी दशा पर कुपित हुए और अपने चारों पुत्रों को एक-एक करके रेणुका के वध की आज्ञा दी, पर स्नेह-वश किसी से ऐसा न हो सका। इतने में परशुराम आये। इन्होंने आज्ञा पाते ही माता का शिर काट डाला। इसपर प्रसन्न होकर जमदग्निजी ने वर माँगने को कहा, तब परशुरामजी ने कहा कि पहले मेरी माता को जिला दीजिये और दूसरा वर यह दीजिये कि मैं परमायु प्राप्त करूँ तथा युद्ध में मेरे सामने कोई न ठहर सके। जमदग्नि ने 'एवमस्तु' कहा।

एक समय सहस्रार्जुन जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर आया। रेणुका के अतिरिक्त वहाँ कोई न था, उसने मुनि के आश्रम के वृक्षादि उजाड़ डाले और होम-धेनु का बछड़ा लेकर चल दिया। परशुरामजी ने आकर सुना, तब दौड़ पड़े और सहस्रबाहु की भुजाओं को भाले से काट डाला। उसके कुटुम्बियों एवं साथियों ने एक दिन आकर बदले में जमदग्नि का शिर बाणों से काट डाला। परशुरामजी ने आकर सुना तो बहुत विलाप किया, फिर सम्पूर्ण क्षत्रियों के नाश की प्रतिज्ञा की और शस्त्र लेकर सहस्रार्जुन के पुत्र-पौत्र आदि का वध करके सम्पूर्ण क्षत्रिय-वंश का संहार किया। ब्राह्मण-समाज में इस कर्म की निन्दा सुनकर दया से खिन्न चित्त हो तप करने चले गये।'''परशुरामजी ने फिर सुना कि क्षत्रिय-राजा बहुत प्रतापी हो गये, तो अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करके दौड़े और सब क्षत्रियों का नाश किया। गर्भवती स्त्रियों ने जैसे-तैसे गर्भ-रक्षा की। फिर परशुरामजी ने अश्वमेध यज्ञ किया, उसमें सब भूमि कश्यप को दान में दे दी। कश्यपजी ने क्षत्रिय-वंश की रक्षा के लिये इनसे कहा कि सब पृथिवी हमारी हो गई। अब आप महेन्द्राचल पर्वत पर रहें। समुद्र की भी सम्मति से आप वहीं रहने लगे। अव्याहत गति से दिन में कहीं भी चले जाते थे, पर रात में अपने स्थल पर ही रहते। पूर्वोक्त दो० २७१ की चौ० ७ के विशेष से कथा में कुछ भेद है। वह कल्पभेद से जानना चाहिये।

यहाँ आयुर्बल ही ऋण है, माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता को पहले मारा था। माता की आयु प्रथम समाप्त कर उनसे उऋण हुए, पिता से ज़ोर न चला, तब सहस्रबाहु के वंशजों से मरवा कर उनसे उऋण हुए (क्योंकि इन्हीं के कर्त्तव्य के बदले में तो पिता मारे गये।) अब रहे गुरु शिवजी, इनसे उऋण होने का सामर्थ्य आपमें नहीं है। अतः, हमारे मत्थे काढ़ा है। 'माथे काढ़ा'—का भाव यह कि कोई गरीब जब महाजन से कर्ज नहीं पाता, तब किसी दूसरे धनी को जामिन करके कर्जा पाता कि यदि वह कर्ज न दे सके, तो जामिनदार को देना पड़े। वही बात यहाँ है। शिवजी गुरु हैं, वे अविनाशी हैं, अतः, मर नहीं सकते। फिर उनसे कैसे उऋण हों? इसकी चिन्ता है, फिर बहुत काल बीत गये, ब्याज भी बहुत बढ़ गया अर्थात् शिवजी बहुत दिनों से जीते ही रह गये। 'नीके' व्यंग्य है अर्थात् दुःशीलतापूर्वक शिर काट-काटकर उऋण हुए।

'अब आनिय ब्यवहरिया'''—अभी तक देने का योग न था। अब हम देने को तैयार हैं, हम तो जामिन ठहरे। आपको कैसे दें? महाजन को ही बुला लाइये। उन्हीं (शिवजी) को हम तुरंत थैली खोलकर गिन दें; अर्थात् तरकश-रूपी थैली से बाण रूपी द्रव्य गिन दें। उन्हें मारकर मूल चुका दें और उन्हीं की शिक्षा से बढ़े हुए ब्याजरूप आप हैं, अतः, आपको भी मारने से ब्याज चुक जायगा। 'तुरत'—पिता से उऋण होने में कुछ देर हुई थी, इसमें तुरंत ही काम समाप्त हो जायगा।

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा ॥५॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृप-द्रोही ॥६॥
मिले न कबहुँ सुभट रन-गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥७॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहि लखन निवारे ॥८॥

शब्दार्थ—बचउँ = बचाता हूँ। गाढ़े = कठिन। भृगुबर = भृगुश्रेष्ठ, परशुराम।

अर्थ—कड़ुवे वचन सुनकर परशुरामजी ने फरसा सुधारा, (तब) सारी सभा हाहा करके पुकार उठी ॥५॥ लक्ष्मणजी बोले—हे परशुराम! आप मुझे फरसा दिखाते हैं, हे नृपद्रोही! मैं

ब्राह्मण जानकर आपको बचाता हूँ ॥६॥ कभी आपको रण में कठिन योद्धा से भेंट नहीं हुई। हे ब्राह्मण-देव ! अभी तक आप घर ही के बढ़े हैं ॥७॥ 'अनुचित है'—'अनुचित है' ऐसा कहकर सब लोग पुकार उठे, तब श्रीरामजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को रोका ॥८॥

विशेष—(१) 'सब सभा'—कुटिल राजाओं को छोड़कर और सब उपस्थित लोग ।

(२) 'बिप्र बिचारि बचउँ···'—आप नृप-द्रोही हैं। अतः, मार डालने योग्य हैं, पर ब्राह्मण जान कर मैं आपके प्राण बचाता हूँ।

(३) 'मिले न कबहुँ सुभट···'—अर्थात् पृथिवी के राजा लोग भट थे, सहस्रबाहु सुभट था, पर गाढ़े सुभट से आज ही पाला पड़ा है। हे ब्राह्मण देवता ! आप अभी तक घर ही के बढ़े हैं अर्थात् माता के शिर काटने में शूर हैं, बाहर के किसी मर्द से पाला नहीं पड़ा वा 'देवता' शब्द पुजाने में प्रयुक्त होता है अर्थात् आप अभी तक घर-घर पुजते रहे, संग्राम से पाला नहीं पड़ा था।

(४) 'सैनहिं लखन निवारे'—आगे मुनि का कोप अग्नि, लक्ष्मण के उत्तर आहुति और श्रीरामजी के वचन जल कहे जायँगे। प्रथम आहुति रोककर जल डालना चाहिये, तब अग्नि शांत होता है। वैसे ही लक्ष्मणजी को मना किया, इससे सभा के भाव भी रक्खे। संकेत से बैठाकर लक्ष्मणजी का आदर भी जनाया कि वत्स ! अच्छी सेवा की।

दोहा—लखन-उतर आहुति सरिस, भृगुबर-कोप कृसानु।
बढ़त देखि जल-सम बचन, बोले रघुकुल-भानु ॥२७६॥

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूधमुख करिय न कोहू ॥१॥
जौं पै प्रभुप्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥२॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥३॥
करिय कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी ॥४॥

शब्दार्थ—सूध = सीधा। दूध मुख = दूध पीनेवाला छोटा शिशु, जिसका माता का दूध पीना भी नहीं छूटा हो। अयाना = अज्ञान, भोला-भाला। अचगरि = अयोग्य कार्य, नटखटपन।

अर्थ—लक्ष्मणजी का उत्तर आहुति (होम द्रव्य) के और भृगु श्रेष्ठ परशुराम का कोप अग्नि के समान है, उसे बढ़ता हुआ देखकर रघुकुल के भानु (सूर्य) श्रीरामजी जल के समान (शीतल करनेवाले) वचन बोले ॥२७६॥ हे नाथ ! बालक पर दया कीजिये, यह सीधा है, दूधमुख है। अतः, इसपर क्रोध न कीजिये ॥१॥ यह अज्ञानी जो आपका कुछ भी प्रभाव जाने हुए रहता तो क्या आपकी बराबरी करता ? ॥२॥ यदि लड़के कुछ नटखटपन करते हैं, तो गुरु, पिता, माता मन में आनंदित होते हैं ॥३॥ शिशु और सेवक जानकर कृपा कीजिये। आप तो समदृष्टि वाले, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-उतर आहुति······'—इसमें 'रघुकुल-भानु' शब्द ब्राह्मण के कोपाग्नि से कुल की रक्षा के सम्बन्ध में पड़ा है, क्योंकि—"दहइ कोटिकुल भूसुर-रोषू।" (अ० दो० १२५), "त्रिमि

द्विज-द्रोह किये कुल-नासा।" (कि० दो० १५)। यहाँ रामजी विप्र-कोप की शान्ति का उपाय कर रहे हैं। पुनः आगे 'जल सम बचन' के लिये भी 'भानु' शब्द है, क्योंकि सूर्य से ही वृष्टि होती है। यह तद्रूप रूपक अलंकार है।

(२) 'नाथ करहु बालक पर···'—यह बालक है, आप माता-पिता के तुल्य हैं। मुनि ने लक्ष्मणजी को 'कुटिल' और 'कटुवादी' कहा है; उसपर श्रीरामजी कहते हैं कि नहीं, यह नितान्त सीधा और दूध-मुहा (मधुरभाषी) है, जब तक बालक दूध पीता है, हृदय से सीधा और काम-क्रोध से रहित रहता है। ऊपर ही से चंचलता दिखती है। तब ऐसे वचन क्यों कहे ? यह आगे कहते हैं—

(३) 'जो पै प्रभु-प्रभाव···'—'कछु' अर्थात् किंचित् भी नहीं जानता, इसी से 'अयाना' कहा है। केवल वेष देखकर ही ऐसा कहा है। श्रीरामजी तो—"विप्र-बंस कै असि प्रभुताई।" (दो० २८३)। का प्रभाव कह रहे हैं, पर मुनि अपने—'चाप स्रुवासर आहुति······' के प्रभाव पर प्रसन्न होंगे। यह उत्तर के शब्दों में विलक्षणता है। यद्यपि लक्ष्मणजी किशोर हैं, तथापि 'अयाना' के सम्बन्ध से 'दूधमुख' कहे गये, क्योंकि बालक बुद्धिहीन कहे जाते हैं। यथा—"अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः॥" (मनु०)। इसमें आपका प्रभाव जानने की बुद्धि नहीं है। यदि मुनि कहें कि अवस्था के अनुरोध से इसे कुछ तो दंड होना ही चाहिये, उसपर कहते हैं—

(४) 'जौं लरिका कछु ·····'—'जौं' से जनाया कि लक्ष्मण का कोई दोष नहीं है, दोष होने पर भी आपको मोद (प्रसन्नता) चाहिये। यहाँ 'लरिका' तथा ऊपर 'नाथ' और 'बालक' भी कहा गया है, आगे 'सिसु' भी कहते हैं अर्थात् आप 'गुरु-पितु-मातु' तुल्य हैं, और यह 'लरिका', बालक और शिशु के समान है। यहाँ लक्ष्मण में प्रीति कराना है। इसमें शिष्य के अतिरिक्त यदि पुत्र-भाव भी हो तो अधिक प्रीति होती है, फिर भी पुत्र एवं शिष्य यदि सेवक भी हुआ, तो उसपर अत्यन्त प्रीति होती है। यथा—"डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्।" (हनुमन्नाटक १।३८)। इसीलिये आगे प्रथम 'सिसु' तब सेवक कहा है।

(५) 'तुम्ह सम सील धीर·······'—आप समता में प्रवृत्त रहनेवाले हैं ; अतः, आपमें कोप और तद्विकार रूपी गाली नहीं चाहिये। 'धीर' हैं ; अतः, उद्वेग नहीं चाहिये। 'ज्ञानी' हैं ; अतः, वैर-बुद्धि नहीं चाहिये, यथा—"निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ० दो० ११२)।

राम-बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने॥५॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥६॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं। कालकूट-मुख पय-मुख नाहीं॥७॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही। नीच मीच-सम देख न मोही॥८॥

शब्दार्थ—अनुहरइ न = अनुकूल आचरण नहीं करता। जुड़ाने = ठंढे हुए, क्रोध शांत हुआ। पयमुख = दूधमुख।

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर परशुरामजी कुछ ठंढे हुए थे कि लक्ष्मणजी कुछ कहकर फिर मुसकुराये॥५॥ उन्हें हँसते देखकर (परशुरामजी को) नख से शिख तक क्रोध समा गया (और बोले) राम ! तुम्हारा भाई बड़ा पापी है॥६॥ शरीर से तो गोरा है, (पर) मन में (का) काला है। यह विष-

मुख है—दूध-मुख नहीं ॥७॥ स्वाभाविक ही टेढ़ा है, तुम्हारे अनुकूल आचरणवाला नहीं है। यह नीच मुझे मृत्यु के समान नहीं देखता ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-बचन सुनि कछुक ·····'—श्रीरामजी ने इनकी प्रशंसा तो बहुत की, पर ये कुछ ही ठंढे हुए, क्योंकि अत्यंत संतप्त थे। पुनः इन्हें बीच बीच में प्रभु ने 'मुनि ज्ञानी' आदि ही कहा है, वीरता या महत्त्व स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा। 'कहि कछु लखन '' ''क्या कहा ? स्पष्ट नहीं कहा गया, ध्वनि से जान पड़ता है कि जब श्रीरामजी ने—'करिय कृपा सिसु ''तुम्ह सम सील······' कहा, तब लक्ष्मणजी ने व्यंग्य किया कि क्या खूब ! अच्छे 'समसील ' आदि हैं। इनकी आकृति ही बतला रही है वा वाह ! हमें तो अच्छे 'गुरु पितु मातु' मिले, जिनके कुल की रीति है कि गुरु पिता माता को मारकर उनसे उऋण होते हैं ! इन्हें तो तीन को मारना पड़ा, हमको तो इन एक ही के मारने से तीनों से उऋण होना है। बड़े भाग्य की बात है !

(२) 'राम तोर भ्राता बड़ पापी !'—'बड़ पापी', जो ब्राह्मण को हँसे, वह पापी है, यथा—"होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥" (दो० १५१)। 'बड़' का भाव यह कि अपनी बातों में तो कूट करता ही है, तुम्हारी सीधी बातों को लेकर भी कूट में डाल देता है।

(३) 'गौर सरीर स्याम मन···'—तुम धर्मात्मा हो, यह पापी और यह ऊपर से तो गोरा है पर भीतर का काला है। तुम कहते हो कि यह दूध मुख है, पर है महाविष-मुख, इसीसे इसके वचन, हँसी आदि सब विषैले होते हैं।

(४) 'सहज टेढ़ अनुहरइ न ''—यह सहज (जन्म ही से) टेढ़ है, 'नहीं तो तुम्हारे संग से सुधर जाता ; पर तुम्हारी अनुकूलता इसमें कुछ भी नहीं है—तुम नम्र होकर हाथ जोड़ते हो और यह मुझे कायर बनाता है। तुम मन के स्वच्छ और तन के श्याम हो। यह तन का उज्ज्वल और मन का काला है, तुम ऊँच, यह नीच, तुम मुझसे डरते हो, यह नहीं डरता।

दोहा—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं, होहिं बिस्वप्रतिकूल ॥२७७॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोप करिय अब दाया ॥१॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिय होइहि पाय पिराने ॥२॥
जौ अति प्रिय तौ करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥३॥

शब्दार्थ—अनुचर = अनुगामी, सेवक, पीछे चलनेवाला।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे मुनि ! सुनिये, क्रोध पाप की जड़ है, जिसके वश होकर लोग अनुचित कर्म करते हैं और संसार के प्रतिकूल होते हैं ॥२७७॥ हे मुनिराज ! मैं आपका अनुगामी हूँ, अब कोप छोड़कर दया कीजिये ॥१॥ टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से नहीं जुड़ेगा। अब, बैठ जाइये,

पैर टूट गये होंगे ॥२॥ जो (धनुष) बहुत ही प्यारा हो तो उपाय कीजिये, किसी बड़े भारी गुणी को बुलवाकर जुड़वा लीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ हँसि···'—हँसना व्यंग्योक्ति के साथ है। मुनि ने इन्हें 'बड़ पापी' कहा था। उसीके उत्तर में कहते हैं कि पाप की जड़ क्रोध है, वह तो आपके सिर पर सवार है, तब बड़े पापी हम हुए या आप ? 'होंहि बिश्व-प्रतिकूल'—क्रोध-वश होकर ही आपने संसार भरके राजाओं को मारा, सबके प्रतिकूल हुए, क्योंकि राजाओं से संसार भर के धर्म की रक्षा होती है। सबके प्रतिकूल होना बड़ा पाप है, यथा—"बिश्व-द्रोह कृत अघ जेहि लागा।" (लं० दो० ३८)।

(२) 'मैं तुम्हार अनुचर···'—मैं आपकी ही वाणी के अनुसार कटु कहता हूँ। आप यदि क्रोध छोड़कर दया करें तो मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। आप मुनिराज हैं, तदनुसार आपमें दया चाहिये, वही कीजिये। कोप करना खल का स्वभाव है, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी।" (उ० दो० ३८); संत-स्वभाव—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३७) है।

(३) 'टूट चाप नहिं जुरिहि···'—कहीं रिसाने से भी काम होता है, यथा—"भय देखाइ लेइ आवहु" (कि० दो० १८); पर क्रोध से धनुष नहीं जुड़ने का।

(३) 'बड़ गुनी बोलाई'—क्योंकि यह चाप दधीचि की हड्डी का है, वह भी पुरानी हो गई। पुरानी हड्डी सामान्य डाक्टर-वैद्य से नहीं जुड़ती। अतः, इसमें बड़े भारी गुणी का काम है कि जिससे इसमें जोड़ भी न मालूम हो।

बोलत लखनहिं जनक डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥४॥
थर थर काँपहिं पुर नर-नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥५॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तनु जरइ होइ बलहानी ॥६॥
बोले रामहिं देइ निहोरा। बचउँ बिचारि बंधु लघु तोरा ॥७॥
मन मलीन तनु सुंदर कैसे। बिष - रस - भरा कनकघट जैसे ॥८॥

दोहा—सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुरु-समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम ॥२७८॥

शब्दार्थ—मष्ट = चुप ; यथा—"ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।" (सुं० दो० ३६)। निहोरा = कृतज्ञता। नयन तरेरे = आँखों के संकेत से डाँटा। बाम = टेढ़ी।

अर्थ—लक्ष्मणजी के बोलने से राजा जनक डर रहे हैं, (अतः, बोल उठे कि) चुप रहो, अनुचित (बोलना) अच्छा नहीं ॥४॥ नगर के स्त्री-पुरुष थर थर काँपते हैं (और मन में कहते हैं कि) छोटा कुमार बड़ा भारी खोटा है ॥५॥ निर्भय वचन सुन-सुनकर परशुरामजी का शरीर जल रहा है (उसी से) बल घटता जाता है ॥६॥ श्रीरामजी पर कृतज्ञता जताते हुए बोले—तुम्हारा छोटा भाई समझकर मैं इसे बचाता हूँ ॥७॥ यह मन का मलिन और शरीर से सुन्दर कैसे है, जैसे विष-रस से भरा हुआ सोने का

पड़ा हो॥८॥ यह सुनकर लक्ष्मणजी फिर हँसे, (तब) श्रीरामजी ने आँखों के संकेत से डाँटा। इसपर वे सकुचकर टेढ़ी वाणी छोड़ गुरुजी के पास चले गये ॥२७८॥

विशेष—(१) 'जनक डेराहीं'—जनकजी माधुर्य में भूल गये, इससे डरते हैं कि लक्ष्मणजी न बोलें, केवल श्रीरामजी ही बोलें तो मुनि शान्त हो जायँ। जब जनकजी डरे तब पुरवासी अत्यंत डरे। वे थर-थर काँपने लगे। उन्होंने स्नेहमयी दृष्टि से—'खोट अति भारी' कहा है, यह मुहावरा है।

(२) 'मन मलीन तनु ···'—पहले मुख ही में विष कहा था—'कालकूट, मुख'। अब कहते हैं कि इसके शरीर भर में (रग-रग में) विष-ही विष भरा है, जो ऊपर की सुंदरता में छिपा है। दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'गुरु समीप···परिहरि बानी···'—लक्ष्मणजी कुछ और कहने ही के लिये हँसे थे। वह टेढ़ी वाणी छोड़कर गुरु के पास गये, क्योंकि प्रभु को अप्रसन्न देखा। अत, रक्षक गुरु ही हैं—"राखइ गुरु जौ कोप बिधाता।" (दो० १६५)।

पूर्वोक्त 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' की धारा शिथिल पड़ती जाती है। प्रथम कौशिक की ओर फिरी थी, अब श्रीरामजी की ओर लौटी, फिर जनकजी की ओर फिरेगी। मुनि कभी बालक जानकर छोड़ने का बहाना करते हैं। श्रीरामजी ने तो कहा था कि 'सिसु-सेवक' जानकर इसपर कृपा कीजिये। पर मुनि कहते हैं कि तुम्हारा छोटा भाई जानकर छोड़ता हूँ। वास्तव में मुनि का हाथ ही नहीं उठता। यथा—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती···" आगे कहा ही है।

अतिबिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुगपानी॥१॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिअ नहिं काना॥२॥
बररै बालक एकु सुभाऊ। इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ॥३॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥४॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं॥५॥
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करौं उपाई॥६॥

शब्दार्थ—बररै = बौराहा, पागल (ततैया अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ अज्ञता के लिये दृष्टान्त है, बालक भी अज्ञान होते हैं, जिसमें लक्ष्मण निर्दोष सिद्ध हों)। बिदूषहिं = दोष लगाते।

अर्थ—श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र, कोमल और शीतल वचन कहा॥१॥ हे नाथ! सुनिये, आप स्वाभाविक ही सुजान हैं, बालक के वचनों पर कान न दीजिये॥२॥ बौराहे और अबोध बच्चे का एक-सा स्वभाव हुआ करता है, इनमें संत कभी भी दोष नहीं लगाते॥३॥ उस (लक्ष्मण) ने कुछ आपका कार्य भी नहीं बिगाड़ा, हे नाथ! आपका अपराधी तो मैं हूँ॥४॥ हे गोसाईं! कृपा, कोप, वध, बंधन (जो इच्छा हो) मुझपर दास की तरह (मुझे दास जानकर) कीजिये॥५॥ हे मुनिनायक! जिस प्रकार आपका क्रोध दूर हो, वह शीघ्र कहिये, मैं वही उपाय करूँ॥६॥

विशेष—(१) 'बररै बालक एक सुभाऊ। ···'—बौराहे और अबोध बच्चे कुछ दोष कर डालते हैं तो उसे पंडित लोग दोष नहीं मानते, क्योंकि जानते हैं कि इनकी चेतना ठीक नहीं है; इसीसे कानून में

भी पागल और नाबालिग को अपराध से माफी मिलती है। ततैया में बुद्धि का विकास नहीं होता, अतः, नासमझी में उसका दृष्टान्त मनुष्य के लिये अयुक्त है।

जब साधनों (विद्या-अध्ययन आदि) के द्वारा पंडित होनेवाले लोग भी दोष नहीं देते तो आप तो सहज सुजान हैं, कैसे दोष देते हैं! यदि कहिये कि अनुचित वचन क्षमा कर देंगे, पर धनुर्भंग तो असह्य है; तो उसपर कहते हैं कि—'तेहि नाहीं कछु ···'।

(२) 'कृपा कोप वध बंध···'—'गोसाईं' आप इन्द्रियजित् शुद्ध ब्राह्मण के रूप में स्वामी हैं और मैं ब्राह्मण-सेवक हूँ। अतः, आपका भी सेवक हूँ, इस नाते के अनुकूल कृपा आदि जो जैसा उचित समझें,करें। 'कृपा' को आदि में कहकर उसे प्रधान रक्खा, क्योंकि दास पर कृपा ही की जाती है, वध और बंधन भी कृपा ही की दृष्टि से सुधारने के रूप में किये जाते हैं, न कि वैर-दृष्टि से। तात्पर्य यह कि चोर बनकर पुनः वैर-दृष्टि से उक्त 'वध-बंध' आदि में एक भी मुझे स्वीकार नहीं है। आप 'मुनिनायक' हैं। अतः, आपकी सब प्रकार की आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, मुनि के रूप से शीघ्र आज्ञा दीजिये।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥७॥
येहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह कोप करि कीन्हा ॥८॥

दोहा—गर्भ स्रवहिं अवनिप-रवनि, सुनि कुठार-गति घोर।
परसु अछत देखउँ जियत, बैरी भूपकिसोर ॥२७६॥

बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृप-घाती ॥१॥
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥२॥
आजु दैव दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहँसि सिर नावा ॥३॥

शब्दार्थ—अनैसे = बुरी दृष्टि से, शत्रु-दृष्टि से। अवनिपरवनि = राजाओं की स्त्रियाँ। बहइ = चलता।

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे राम! क्रोध कैसे दूर हो? अभी भी तो तुम्हारा भाई बुरी दृष्टि (क्रोध-भरी दृष्टि) से देख रहा है ॥७॥ (अतः) इसके गले पर कुठार नहीं दिया तो मैंने क्रोध करके ही क्या किया? ॥८॥ मेरे (जिस) कुठार की कठिन करनी सुनकर रानियों के गर्भ गिर जाते हैं, उसके रहते हुए भी मैं बैरी राजपुत्र को जीता-जागता देख रहा हूँ ॥२७६॥ (क्या करूँ?) हाथ नहीं चलता, क्रोध से छाती जली जाती है, राजाओं का मारनेवाला फरसा आज कुंठित (भोथरा) हो गया ॥१॥ बिधाता टेढ़े हो गये (इससे) मेरा स्वभाव बदल गया, (नहीं तो भला) मेरे हृदय में कभी भी कृपा कैसी? ॥२॥ आज दैव ने कठिन दुःख सहाया, यह सुनकर लक्ष्मणजी ने फिर शिर नवाया ॥३॥

विशेष—(१) 'अजहुँ अनुज तव···'—पहले कुछ कठोर वचन कहने को था, तुम्हारे डाँटने से रुक गया, पर वह क़सर 'अनैसी' चितवन से निकाल रहा है!

(२) 'येहि के कंठ कुठार···'—श्रीरामजी ने कोप करके वध-बंधन दो बातें करने को कहा, उस-

पर मुनि कहते हैं कि इसका वध न करने से मेरा कोप ही व्यर्थ हो गया। सामान्य कोप का फल बाँधना और अतिकोप का फल वध है, मुनि का अतिकोप ही है ; क्योंकि बाँधने का तो ये नाम ही नहीं लेते।

(३) 'बहइ न हाथ दहइ रिस ···'—ऊपर कहा कि कुठार की घोर गति असह्य है, फिर क्यों नहीं मारते ? इसपर कहते हैं कि हाथ ही नहीं चलता और इसीसे क्रोध नहीं निकलता, छाती जलती है। न जाने राजाओं को काटते-काटते कुठार कुंठित हो गया या ब्रह्मा ही टेढ़े हुए, जिससे मेरा स्वभाव ही बदल गया। इस कारण अथवा शत्रु पर कृपा करने से कायर बना। यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई।" (आ० दो० १८)।

(४) 'आजु दैव दुख ···'—अभी तक कभी राजाओं पर कृपा नहीं की थी, पर आज ही दैवात् कृपा करके दुःसह दुःख उठाना पड़ा। 'मुनि सौमित्रि बहुरि ···'—'सौमित्रि' अर्थात् ये सुमित्राजी के पुत्र सुष्ठुमित्र भाववाले हैं। अतः, परशुराम पर भी कोप नहीं है, इसीसे विहँस कर ऊपर से प्रतिउत्तर करते हैं। विहँसने का भाव यह है कि जहाँ कोप है, वहाँ कृपा नहीं रहती। आप साथ ही दोनों के अधिष्ठान हैं कि रिस से छाती जलती है और कृपा के मारे भी दुःख सहना कहते हैं। कृपा से तो हृदय शीतल होता है, पर आपके यहाँ उल्टा ही होता है। वाह ! आप धन्य हैं, इसी पर—'सिर नवाया' अर्थात् आप वंदना करने योग्य हैं। सिर नवाना कुछ कहने का भी उपक्रम है।

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला ॥४॥
जौ पै कृपा जरिहिं मुनि गाता। क्रोध भये तनु राखु बिधाता ॥५॥
देखु जनक हठि बालक एहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥६॥
बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप-ढोटा ॥७॥
बिहँसे लखन कहा मुनि पाहीं। मूँदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ॥८॥

अर्थ—आपकी कृपा रूपी वाउ (वायु) आपकी मूर्ति के अनुकूल है, वचन बोलते हैं, मानों फूल झड़ रहे हों ॥४॥ हे मुनि ! जो कृपा करने से आपका शरीर जलता है तो क्रोध होने पर उस शरीर को विधाता ही रक्खें ॥५॥ जनक ! देख, यह बालक हठ करके यमपुरी (नरक) में अपना घर बनाना चाहता है ॥६॥ इसे शीघ्र ही क्यों नहीं आँखों के ओट कर देते हो ? यह राजपुत्र देखने में छोटा है, पर है खोटा ॥७॥ लक्ष्मणजी हँसे और मुनि से बोले कि आँखें मूँद लेने से कहीं भी कोई नहीं रह जाता अर्थात् अपनी ही आँखें मूँद लेना सुगम है, वही क्यों नहीं करते ? ॥८॥

विशेष—(१) 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला'—भाव, जैसे आप सौम्यमूर्ति हैं, वैसी कृपा भी होनी ही चाहिये और तदनुसार मृदु वचन निकलते हैं, मानों फूल झड़ते हैं, यह व्यंग्य कथन है। तात्पर्य यह कि आप जैसे कराल मूर्ति हैं वैसे ही उसमें कोप रूपी पवन भरा है और तदनुसार ही वचन मानों अंगारे झड़ रहे हैं। मुनि ने कहा ही है—"मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।"

(२) 'जौ पै कृपा करहिं मुनि···'—कृपा तो शीतल करनेवाली जल रूप है, यथा—"कृपा बारिधर राम खरारी।" (लं० दो० ११), अर्थात् जल से जो आपका शरीर जलता है, तो अग्नि-रूप क्रोध से ब्रह्मा ही शरीर बचाते होंगे, क्योंकि—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ॥" (अ० दो० १७१)।

(३) 'देखु जनक हठि'''—कौशिक से कहा था, पर वे मुनि ही को समझाकर रह गये, फिर श्रीरामजी के डाँटने से थोड़ी देर चुप रहे, पर फिर लक्ष्मणजी बोलने लगे। मुनि से उत्तर देते नहीं बनता। इसीसे चाहते हैं कि यह सामने से हट जाय तो मैं मनमानी कह लूँ। अतः, अब जनकजी से कहते हैं, क्योंकि इन्होंने प्रथम कहा था—'मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।' इसी के आधार पर कहते हैं कि यदि इस लड़के का उबार चाहो तो इसे यहाँ से हटा दो, नहीं तो यह अभी यमपुरी जायगा, तुम्हें पाप होगा। विश्वामित्रजी को हटकना ही कहा था, क्योंकि उनके तो वह साथ ही में है इससे अलग करना न कहा। जनकजी से दूर करने को कहते हैं, क्योंकि इनकी रंगभूमि है, इन्हें अधिकार है, चाहें तो हटा दें।

प्रथम ही कहा गया—'होइ बल हानी'—वही हो रहा है, जैसे-जैसे तेज घटता जाता है वैसे-वैसे एक-एक का निहोरा करते हैं। 'हठि'—क्योंकि इसे धृष्टता से प्रयोजन नहीं, धनुष तो श्रीरामजी ने तोड़ा है। 'जमपुर-नेहु'—अर्थात् बहुत काल तक नरक में रहेगा। नरक तो पाप से होता है, इनका भी पाप पूर्व कह आये हैं—"राम तोर भ्राता बड़ पापी।" 'बड़ पापी' है, अतः बहुत काल तक नरक में रहेगा। वहाँ पाप कहा था, यहाँ उसका फल कहा।

(४) 'बिहँसे लखन कहा ·····'—हँसे कि अभी तो कहा था कि हाथ ही नहीं उठता और अब यमपुर पहुँचाने को कहते हैं, इन्हें बात की सँभाल भी नहीं है। 'मूँदे आँखि ····' अर्थात् यह तो अपने वश की बात है, फिर जनकजी से निहोरा करने की क्या आवश्यकता ?

'मुनि पाहीं' की जगह 'मन माहीं' भी पाठांतर है, जिसका भाव यह कहा जाता है कि यहाँ जनकजी के अपमान के संकोच से मन में ही कहा, क्योंकि उनसे निहोरा किया गया है। पर आगे परशुरामजी रुष्ट होकर श्रीरामजी से कह रहे हैं—"बंधु कहइ कटु संमत तोरे।"; इससे जान पड़ता है कि उन्हें कुछ उत्तर दिया गया है। अतः, 'मुनि पाहीं' पाठ ही संगत है और प्राचीन तो है ही।

दोहा—परसुराम तब राम प्रति, बोले उर अति क्रोध।
संभु-सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोध ॥२८०॥

बंधु कहइ कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे ॥१॥
करु परितोष मोर संग्रामा। नाहिंत छाड़ु कहाउब रामा ॥२॥
छल तजि करहि समर सिवद्रोही। बंधुसहित न त मारउँ तोही ॥३॥

अर्थ—हृदय में अत्यन्त क्रुद्ध होकर परशुरामजी ने तब श्रीरामजी से कहा—रे शठ ! शिवजी का धनुष तोड़कर हमें ज्ञान सिखाता है ! ॥२८०॥ तेरी ही सम्मति से तेरा भाई कठोर वचन बोलता है और तू छल से हाथ जोड़कर विनती करता है ॥१॥ संग्राम करके मेरा संतोष कर, नहीं तो 'राम' कहलाना छोड़ दे ॥२॥ हे शिवद्रोही ! छल छोड़कर युद्ध कर, नहीं तो भाई के साथ तुझे मार डालूँगा ॥३॥

विशेष—(१) 'तब राम प्रति, बोले ·····'—मुनि ने देख लिया कि कौशिक और जनकजी से बालक नहीं डरता और श्रीरामजी के नेत्र के संकेत से डर जाता है, ये मना करते तो वह नहीं बोलता; इसीसे अब इन्हीं पर उबल पड़े।

(२) 'बंधुसहित न त मारउँ······'—कटुवादी और छली दोनों ही मारने योग्य होते हैं। अतः, दोनों को मारूँगा। हाँ, बचने का उपाय यही है कि वाक्चातुरी रूपी छल छोड़कर हमें युद्ध में सन्तुष्ट कर, अन्यथा 'राम' नाम कहाना छोड़ दे, क्योंकि यह नाम शूर को ही शोभा देता है। यदि तुममें शूरता नहीं है, तो मेरा-सा नाम क्यों रख लिया है! 'शिवद्रोही'—क्योंकि शिवजी का धनुष तोड़कर उनकी कीर्त्ति मिटाई है, उसी दोष से मैं तुझे मारूँगा।

भृगुपति बकहिं कुठार उठाये। मन मुसुकाहिं राम सिर नाये ॥४॥
गुनहु लखन कर हमपर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥५॥
टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू ॥६॥
राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा। कर कुठार आगे यह सीसा ॥७॥
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी ॥८॥

अर्थ—परशुरामजी फरसा उठाये बक रहे हैं और श्रीरामजी शिर नीचा किये हुए, मन-ही-मन मुसकुराते हैं ॥४॥ गुनाह (अपराध) लक्ष्मणजी का और क्रोध हमपर ! कहीं-कहीं सीधेपन में भी बड़ा दोष होता है ॥५॥ टेढ़ा जानकर सभी (चन्द्रमा को) प्रणाम (वन्दना) करते हैं, टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता ॥६॥ श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनीश्वर ! क्रोध को छोड़िये; आपके हाथ में फरसा है और सामने यह मेरा शिर ॥७॥ हे स्वामी ! जैसे क्रोध जाय, वही कीजिये और मुझे अपना दास समझिये ॥८॥

विशेष—(१) 'भृगुपति बकहिं'—जब श्रीरामजी को शठ तथा छल विनयी कहा और मारने की धमकी दी, तब ग्रंथकार से नहीं सहा गया, इन्होंने परशुराम के कथन को 'बकहिं' कहकर असत्य भाषण—डींग हाँकना कह ही डाला।

(२) 'गुनहु लखन कर ·····'—यह बात प्रत्यक्ष नहीं कही है, क्योंकि आगे लक्ष्मणजी को निर्दोष कहेंगे। लक्ष्मणजी का प्रति-उत्तर करना मात्र दोष है; वह भी परशुरामजी की दृष्टि के अनुसार है, क्योंकि उनके रोष करने पर ही विवेचना हो रही है कि वे लक्ष्मण का गुनाह मानते हैं, तो उनपर ही रोष करके निपटा लेना था, पर उधर से दृष्टि फेर ली और सीधा जानकर हमपर विजय चाहते हैं। 'कतहुँ सुधाइहु ते······'—सीधापन सर्वत्र अच्छा ही है, पर कहीं-कहीं बड़ा दोष भी है, ऐसे ही कहीं-कहीं टेढ़ेपन में बड़ा गुण भी है।—'लखन' का नाम ही लख न है। अतः, उनके गुनाह पर लक्ष्य नहीं करते, इससे परिकरांकुर अलंकार है।

(३) 'टेढ़ जानि बंदइ······'—द्वितीया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, तो जगत् उसकी वंदना करता है, यह टेढ़ाई का गुण है और पूर्णमासी का चन्द्रमा सीधा होता है, वह राहु द्वारा ग्रसा जाता है, ये दोनों बातें कभी कभी ही होती हैं। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

शंका—यहाँ तो परशुरामजी लक्ष्मणजी की वंदना तो नहीं करते !

समाधान—यहाँ श्रीरामजी ने अपनी अत्यन्त सिधाई पर ही दोष कहा और उसीकी अपेक्षा टेढ़ाई को गुण भी कहा है।

(४) 'कर कुठार आगे······' यथा—"अयं कंठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम् ॥" (हनु० १।३१); इसमें गुप्त भाव यह भी है कि युद्ध क्या माँगते हैं ? सामने तो मैं खड़ा ही हूँ। 'मोहि जानिय आपन···' अर्थात् ब्राह्मण वृत्ति से ही जो कीजिये, शत्रु दृष्टि से नहीं, इसमें गूढ़ आशय है कि मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ। अतः, आपका अनुगामी हूँ।

दोहा—प्रभु सेवकहि समर कस, तजहु बिप्रबर रोष।
वेष बिलोके कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोष ॥२८१॥

देखि कुठार - बान - धनु - धारी। भइ लरिकहि रिस बीर बिचारी ॥१॥
नाम जान पै तुम्हहिं न चीन्हा। बंस-सुभाय उतर तेइ दीन्हा ॥२॥
जौं तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥३॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्रबर कृपा घनेरी ॥४॥

अर्थ—स्वामी और सेवक में लड़ाई कैसी ? अतः, हे विप्र-श्रेष्ठ ! क्रोध को त्याग दीजिये, बालक का भी दोष नहीं है, उसने तो वेष देखकर ही कुछ कहा है ॥२८१॥ कुठार और धनुष-बाण-धारी देखकर वीर समझा, इससे लड़के को क्रोध हो आया ॥१॥ नाम तो जानता था, पर आपको पहचाना नहीं, वंश के स्वभाव के अनुसार उसने उत्तर दिया ॥२॥ जो आप मुनि की तरह (अर्थात् धनुष-बाण और फरसा उतारकर कोपीन आदि मुनि वस्त्र-धारण किये हुए ही) आते, तो हे गोस्वामी ! यह बच्चा तो आपके चरणों की धूलि को शिर पर धारण करता (संभावना अलंकार है) ॥३॥ अतः, बिना जाननेवाले की चूक को क्षमा कीजिये, ब्राह्मण के हृदय में तो विशेष कृपा चाहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'नाम जान पै तुम्हहिं न···'—यहाँ पहचानने का तात्पर्य ब्राह्मणत्व के महत्त्वपरक से है, यथा—"जो पै प्रभु-प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥" (दो० २७९)।

(२) 'छमहु चूक अनजानत केरी'—अनजान की चूक क्षम्य है, यथा—"अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता ॥" (दो० २८०)।

छमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥५॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु - सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥६॥
देव एक गुन धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ॥७॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥८॥

दोहा—बार बार मुनि बिप्रबर, कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुप हसि, तहूँ बंधु सम बाम ॥२८२॥

अर्थ—हे नाथ ! हमसे आपसे बराबरी कैसी ? कहिये न, कहाँ तो चरण और कहाँ शिर ? ॥५॥ हमारा तो 'राम' मात्र छोटा-सा नाम है और आपका नाम 'परसु' सहित होने से ("परशुराम") बड़ा है ॥६॥ हे ब्राह्मण देव ! हमारे तो एक ही गुण धनुष है और आपके परम पवित्र नौ गुण हैं ॥७॥ हम सब प्रकार से आपसे हारे हैं, हे विप्र ! हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये ॥८॥ श्रीरामजी ने परशुरामजी से बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' कहा (वीरत्व एक बार भी न कहा), तब परशुरामजी सक्रोध होकर बोले कि तू भी भाई के समान टेढ़ा हसि (है) ॥२८२॥

विशेष (१)—'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।'—आप शिर-रूप और मैं चरण-रूप, आप उत्तमांग-रूप ऊँचे और मैं अधमांग-रूप नीचे—ये विनीत वचन हैं। गूढ़त्व यह कि आप शिर के देवता हैं और मैं चरण का हूँ, ब्राह्मण जब त्यागी होते हैं, तब इनके शिर पूजे जाते हैं और भगवान् के चरण पूजे जाते हैं, इससे अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया।

(२) 'देव एक गुन धनुष'''—'गुन' शब्द के दो अर्थ हैं—एक गुण और दूसरा सूत्र एवं प्रत्यञ्चा। इनके भाव—(क) हमारे पास एक ही गुण है—धनुष धारण करना, यह पुनीत है, क्योंकि इससे गो, विप्र, प्रजा आदि की रक्षा होती है और आपके नौ गुण हैं—"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥" (गीता १८।४२); ये परम पुनीत हैं। 'हमारे' गुण हमें चाहिये और 'तुम्हारे' गुण तुम्हें—यह भाव गर्भित है। (ख) धनुष में प्रत्यञ्चा-रूप एक ही सूत्र होता है, वह अपुनीत है, क्योंकि उससे दूसरे पर प्रहार होता है। अतः, हिंसात्मक है। आपके यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) में नौ सूत्र परम पुनीत होते हैं, जिनसे जप-तप आदि विशेष प्रभावान्वित होते हैं और पवित्र ब्रह्म कर्म का अधिकार होता है। यज्ञोपवीत के नौ सूत्रों में क्रमशः नौ देवता कहे गये हैं, यथा—"ॐकारः प्रथमे सूत्रे द्वितीयेऽग्निः प्रकीर्तितः। तृतीये कश्यपश्चैव चतुर्थे सोम एव च ॥ पंचमे पितृदेवाश्च षष्ठे चैव प्रजापतिः। सप्तमे वासुदेवः स्यादष्टमे रविरेवच ॥ नवमे सर्वदेवास्तु '''"—इत्यादि। (ग) एक अंक से नीचा और नौ से ऊँचा कोई अंक नहीं है। (घ) गुप्तार्थ यह भी कहा जाता है कि एक गुण (प्रत्यञ्चा) वाले शार्ङ्ग धनुष को हमारे (लिये) देव (दो) और तुम्हारे परम पुनीत नौ गुण (हैं) उन्हें लो। आगे इसी वाक्य के गूढ़ार्थ को समझकर मुनि शार्ङ्ग धनुष देंगे और स्तुति में नौ बार जय शब्द कहेंगे, जिनमें नवो गुणों को स्वीकृति का भाव है। तथा—"भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्द्धनि ॥ यस्मादेक गुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजामस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ॥" (हनु० १।४०)।

(३) 'राम मात्र'''—में रूपक (तद्रूप) अलंकार है।

निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही ॥१॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू ॥२॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महामहीप भये पसु आई ॥३॥
मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजज्ञ जप कोटिक कीन्हे ॥४॥
मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे ॥५॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा ॥६॥

शब्दार्थ—निपटहि=कोरा, नितान्त। स्रुवा=वह आम आदि की लकड़ी से बना चमचे के समान होता है, जिससे यज्ञ में आहुति दी जाती है। समिधि=हवन में जलने की लकड़ी। दाप=घमंड।

अर्थ—तू मुझे कोरा ब्राह्मण ही समझता है। मैं जैसा विप्र हूँ, तुझे सुनाता हूँ ॥१॥ धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति (हवन द्रव्य) और मेरे अत्यंत घोर कोप को अत्यंत घोर अग्नि जानो ॥२॥ चतुरंगिणी सेना सुन्दर लकड़ी है, बड़े-बड़े राजा आकर उस यज्ञ के बलि-पशु हुए ॥३॥ मैंने इसी (काटने की मुद्रा दिखाते हुए) फरसे से काट-काटकर बलिदान दिये, इस तरह के करोड़ों युद्ध-यज्ञ मैंने संसार में किये हैं ॥४॥ मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं है ? (जो सामान्य) ब्राह्मण के धोखे से मेरा निरादर करता हुआ बोलता जाता है ॥५॥ 'चाप' को तोड़ा है, इसी का बड़ा घमंड बढ़ गया है कि (अब) 'मैं ही हूँ'—ऐसा अहंकार किये हुए, मानों जगत् को जीतकर खड़ा है ॥६॥

विशेष—(१) 'निपटहि द्विज'''—जैसा तुम कहते हो, मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ, सामान्य ब्राह्मण, यथा—"एकाहारेण संतुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा। ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते ॥" परशुरामजी इनमें गिने जाने में अपना निरादर मानते हैं, वही आगे—'बोलसि निदरि बिप्र के भोरे।' कहा है। आगे अपने-क्षत्रिय-कर्म कर्तृत्व को यज्ञ के रूपक में कहते हुए अपना महत्त्व दिखाते हैं। यहाँ समर-यज्ञ का सांग रूपक है।

(२) 'भंजेउ चाप'''—यहाँ 'पिनाक' 'त्रिपुरारि-धनु' आदि महत्त्वसूचक विशेषण धनुष के लिये नहीं दिये, 'चाप' मात्र ही कहा, नहीं तो श्रीरामजी का गौरव पाया जाता और परशुरामजी को श्रीरामजी का व्यर्थ अभिमानी होना दिखाना है।

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥७॥
छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना ॥८॥

दोहा—जौ हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ ॥२८३॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना ॥१॥
जौं रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ ॥२॥
छत्रिय-तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पामर आना ॥३॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥४॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई ॥५॥

शब्दार्थ—बदि=कहकर। सुखेन=सुख-पूर्वक। सकाना=डरा।

अर्थ—श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनि ! विचार कर कहिये, आपका क्रोध अत्यन्त बड़ा है और हमारी चूक थोड़ी है ॥७॥ पुराना धनुष छूने ही टूट गया, हम किस कारण अभिमान करें ? ॥८॥ जो हम

सत्य ही ब्राह्मण कहकर आपका अपमान करते तो हे भृगुनाथ! सत्य ही सुनिये, ऐसा संसार में कौन सुभट है, जिसे हम भयवश शिर झुकायें? ॥२८३॥ देवता, दैत्य, राजा, अनेक योद्धा, चाहे वे समान बलवाले हों—चाहे अधिक बलवान् ॥१॥ जो कोई हमें रण में ललकारे वो चाहे काल ही क्यों न हो? हम उससे सुख-पूर्वक लड़ेंगे ॥२॥ क्षत्रिय शरीर धारण कर जो लड़ाई में डरा, तो उसे कुल में कलंक और नीच जानना चाहिये ॥३॥ हम (वंश का) स्वभाव कहते हैं—कुछ कुल की प्रशंसा के रूप में नहीं कहते, रघुवंशी युद्ध में काल से भी नहीं डरते ॥४॥ ब्राह्मण-वंश की ऐसी प्रभुताई (महत्ता) है, जो आपसे डरे, वह (सबसे) भय-रहित हो जाता है (वा, जो सबसे अभय है, वह भी तुम से डरता है) ॥५॥

विशेष—(१) 'छुवतहि टूट पिनाक·······' अर्थात् इसपर मेरा अभिमान और आपका कोप दोनों व्यर्थ हैं।

(२) 'जौं हम निदरहिं·······'—हमने तो मुनि, विप्रवर आदि विशेषण आदर के लिये कहे हैं, आप अपना स्वरूप भूले हुए हैं। अतः, निरादर मानते हैं।

(३) 'देव दनुज भूपति'—से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्य लोक के योद्धाओं को बताया। 'नाना' अर्थात् चाहे एक-एक हों या बहुत मिलकर।

'सम बल अधिक होउ'—श्रीरामजी के बराबर और अधिक तो कोई है ही नहीं, यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वे० ६।८), पर यहाँ नर-नाट्य की रीति से शिष्टता है कि अपनी बड़ाई स्वयं न की।

(४) 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ।'—'सुखेन'—क्योंकि हर्ष के साथ ही युद्ध करना क्षात्र-धर्म है, यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु-पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। यद्यपि श्रीरामजी से रण में कोई जीत नहीं सकता, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" तो भी यही कहते हैं कि हम सुख पूर्वक लड़ेंगे; यह भी शिष्टता है।

(५) 'छत्रिय-तनु धरि··· ·'—यहाँ क्षत्रिय वर्ण का अधर्म कहा है, इसके विरुद्ध क्षात्र धर्म है।

(६) 'कालहु डरहिं न··· ···'—रघुवंशी की ओर से अपनी भी बड़ाई दिखाई कि काल से अधिक कोई नहीं, उससे भी हम नहीं डरते। यदि मुनि कहें कि हमसे क्यों डरते एवं हाथ जोड़ते हो? उसपर कहते हैं—'बिप्र बंस कै असि·······'—

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर-मति के ॥६॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटइ मोर संदेहू ॥७॥
देत चाप आपुहिं चलि गयेऊ। परसुराम मन बिसमय भयेऊ ॥८॥

दोहा—जाना राम-प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन, हृदय न प्रेम अमात ॥२८४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के मृदु और गूढ़ वचन सुनकर फरसा धारण करनेवाले (परशुराम) की बुद्धि के परदे खुल गये ॥६॥ हे राम ! विष्णु भगवान् का धनुष लीजिये और खींचिये, जिससे मेरा संदेह मिटे ॥७॥ देने के साथ ही यह धनुष स्वयं ही चला गया तब परशुरामजी के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ ॥८॥ तब परशुरामजी ने श्रीरामजी का प्रभाव जाना, उनका शरीर पुलक कर प्रफुल्लित हो गया। हाथ जोड़कर वचन बोले; प्रेम हृदय में नहीं समाता (अर्थात् रोमांच-प्रेमाश्रु द्वारा उमड़ा आता है) ॥२८४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़ बचन''''''—श्रीरामजी मृदु तो सदा ही बोलते हैं, पर परशुरामजी का क्रोध शान्त करना है, इससे और कोमल करके बोले हैं। मृदु, यथा-"हमहि तुम्हहिं सरबरि कसि''''''से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे।" (दो० २८१) तक; गूढ़—"जौं हम निदरहिं बिप्र बदि" '' से—"अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई॥" तक है, क्योंकि इनमें बहुत आशय भरे हैं, इन्हीं से श्रीरामजी अपना स्वरूप जनाया चाहते हैं। "बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई। '''" यह अन्तिम वाक्य है। प्रारंभ में कहा था--"होइहि कोउ यक दास तुम्हारा।" उसीको यहाँ स्पष्ट किया कि जो अभय है; यथा—"जासु त्रास डर कहँ डर होई।" (दो० ११४); वह भी आप से डरता है, इस तरह अपना ऐश्वर्य जनाया, यथा--"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥" (कठ० २।३।२)।

'असि प्रभुताई'—पर कहा जाता है कि रामजी ने 'भृगुलता' भी दिखाई है, जिससे बोध हुआ; पर यहाँ 'सुनि' से सुनकर ही पटल या परदे का दूर होना कहा गया है—देखकर नहीं। हाँ, यह आशय वचनों से भी तो निकल आता है कि इन परशुराम के वंश के आदिपुरुष भृगु से अभय-रूप विष्णु भगवान् भी डरे थे, पद-प्रहार भी सहन कर लिया। ऐसा गौरव ब्राह्मणत्व में है। उसी प्रकार मैंने आपके दुर्वचन सहे हैं। 'उघरे पटल'''—उघरे बहुवचन है। अतः, कई परदे उनकी बुद्धि पर थे, वे ही हटे हैं और आगे कहा है, यथा—"जय मद-मोह-कोह-भ्रम हारी।" मद अपने बल का, मोह श्रीरामपरत्व न जानने का, कोह (क्रोध) धनुर्भंग और लक्ष्मणजी के विवाद का और भ्रम श्रीरामजी को प्राकृत राजपुत्र होने का था, इत्यादि समस्त परदे हट गये। तब समझ पड़ा कि ये ईश्वर हैं, पर प्रत्यक्ष से भी निर्णय करने के लिये आगे कहते हैं—

उपक्रम में—'बोले परसुधरहिं अपमाने।' और उपसंहार में भी—'परसुधर-मति के' कहा गया है अर्थात् फरसा धारण के ही कारण प्रमाद की-सी लीला थी, वह बुद्धि हट गई। अतः, शस्त्र श्रीरामजी को सौंपते हैं।

(२) 'राम रमापति कर''''''—विष्णु भगवान् का शार्ङ्ग धनुष और किसी से नहीं चढ़ता था, यह परशुरामजी को ज्ञात था कि जब इसे कोई चढ़ावेगा तब हमारे अवतार-प्रभाव का अंत होगा। अतः, संदेह-निवारण के लिये चढ़ाने को देते हैं।

(३) 'देत चाप आपुहि चलि'''—(क) देते समय धनुष स्वयं श्रीरामजी के हाथों में चला गया; इससे जनाया कि मैं इन्हीं का हूँ। (ख) परशुरामजी का वैष्णव तेज आप ही से चला गया, यथा—"ज्याघोषमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तथा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशन्॥" (नृसिंहपुराण); अर्थात् इनका वैष्णव तेज चला गया, कोरे मुनि रह गये, क्योंकि इनका आवेशावतार था। (ग) चाप देने के साथ परशुरामजी स्वयं खिंचे चले गये।

'परसुराम मन बिसमय भयेऊ।'—उपर्युक्त तीनों प्रकार के कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। श्रीमद्-वाल्मीकीय में लिखा है कि श्रीरामजी ने परशुराम से धनुष लेकर उसपर तुरंत रोदा चढ़ाते हुए कहा कि यह वैष्णवास्त्र निष्फल न होगा। आप हमारे गुरु विश्वामित्र के सम्बन्धी हैं, अतः, वध न करेंगे। हाँ, आपकी

अव्याहत गति अथवा तपःप्रभाव से अर्जित लोकों का इस बाण से नाश करेंगे। इसपर परशुरामजी की अनुमति से यह बाण छोड़कर इनके लोकों का नाश किया, बाण चढ़ाते ही इनका तेज नष्ट हो गया, यथा— "निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामोराममुदैक्षत ॥ तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जड़ीकृतः।" (वा० स० ७६-११-१२); तथा—"नाक में पिनाकमिस बामवा बिलोकि राम रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै ॥" (क० लं० १६); अतः, उपर्युक्त तीन में मध्य का ही भेद प्रधान है।

(४) 'जाना राम-प्रभाव तब, पुलक···'—यहाँ परशुरामजी को हारने से ग्लानि नहीं हुई, प्रत्युत आनन्द हुआ, उसका कारण राम-प्रभाव का जानना है। यथा—"अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्। धनुषोऽस्य परामर्शात्···न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥" (वाल्मी० १।७६।१७-१९); अर्थात् मनुष्यादि जीववर्ग से हारते तो लज्जा की बात थी।

जय रघुबंस-बनज-बन-भानू। गहन-दनुज-कुल-दहन कृसानू ॥१॥
जय सुर-बिप्र-धेनु-हितकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी ॥२॥
बिनय-सील-करुना-गुन-सागर। जयति बचनरचना अतिनागर ॥३॥
सेवक-सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर-छबि कोटि अनंगा ॥४॥
करउँ काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस-मन-मानस-हंसा ॥५॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥६॥
कहि जय जय जय रघुकुल-केतू। भृगुपति गये बनहिं, तप हेतू ॥७॥

अर्थ—हे रघुवंश-रूपी कमल-वन के सूर्य! हे दैत्यकुल-रूपी सघन वन को जलानेवाले अग्नि! आपकी जय हो! ॥१॥ हे देवता, ब्राह्मण और गाय के हित करनेवाले! आप की जय! हे मद-मोह-क्रोध और भ्रम के हरनेवाले! आप की जय हो ॥२॥ हे नम्रता, शील और करुणा आदि गुणों के सागर! वचन-रचना में अत्यन्त चतुर! आप की जय ॥३॥ हे सेवकों को सुख देनेवाले! सब अंगों से सुन्दर! करोड़ों कामदेवों की छवि युक्त शरीरवाले! आपकी जय ॥४॥ मैं एक मुख से आपकी क्या प्रशंसा करूँ? हे शिवजी के मन रूपी मानस-सरोवर के हंस! आपकी जय ॥५॥ मैंने अनजान में बहुत अयोग्य वचन कहे, हे क्षमा के मन्दिर दोनों भाइयो! क्षमा कीजिये ॥६॥ हे रघुकुल के ध्वजा-रूप! आपकी जय हो, जय हो, जय हो—ऐसा कहकर भृगुनाथ परशुरामजी तपस्या करने के लिये वन को चले गये ॥७॥

विशेष—(१) 'जय रघुबंस-बनज-बन-भानू।'—श्रीरामजी ने कहा था—'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी' तदनुसार यहाँ 'जयमान' होना कहा। कमल-वन को प्रफुल्ल करनेवाले सूर्य प्रातःकाल के होते हैं, इस तरह श्रीरामजी का अभ्युदय कहा। आदि में ही परशुरामजी को—'भृगुकुलकमलपतंगा' कहा है। इस तरह पूर्वार्द्ध में रघुवंश में अवतार कहा; फिर उत्तरार्द्ध में उनका अस्त होना जनाया, यह प्रथम ही कहा गया। 'जय रघुबंस···' उसकी लीला कही गई। पुनः उससे प्रयोजन-रूप सुर-विप्र-धेनु का हित होना कहा गया। में 'उल्लेख अलंकार' है।

(२) 'जय मद-मोह-कोह···'—इसमें अपने हृदय के चारों परदों का दूर होना कहा है।

(३) 'बिनय सील करुना···'—'बिनय' यथा—"हमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि"···से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे॥" (दो० २८१) तक; यों तो आदि से अंत तक प्रार्थना ही है। 'सील'—मुनि ने शठ

आदि कटु वचनों का प्रयोग किया था, पर उत्तर में भगवान् ने प्रार्थना ही की है। 'करुना'—समर्थ होते हुए भी कोई दंड नहीं दिया, प्रत्युत दया ही की।

(४) 'सेवक सुखद सुभग ···'—ऊपर दनुज-नाश रूपी लीला से सुर-विप्र आदि का सुखी होना कहा गया; पर सेवक तो आपके सुन्दर रूप से ही सुखी होते हैं; यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (अ० दो० १२७); अतः, आपके सब अंग सुन्दर हैं।

(५) 'जय महेस-मन मानस-हंसा।' यथा—"सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी॥" (दो० २४५)।

(६) 'अनुचित बहुत कहेउँ ···'—श्रीरामजी ने प्रथम ही कहा था—"छमहु चूक अनजानत केरी" (दो० २८१); उसी नियम को लेकर यहाँ परशुरामजी भी क्षमा कराते हैं। 'दोउ भ्राता'—दोनों भाइयों को ये बहुत अनुचित वचन कहे थे और वे क्षमा करते आये, इससे 'छमा के मंदिर' कहते हैं। अब इन्हें चेत हुआ, तब अपनी ओर से क्षमा माँगते हैं।

(७) 'कहि जय जय जय···'—यहाँ तीन बार जय कहकर मन, वचन, कर्म से प्रार्थना सूचित की अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान का जयमान होना कहा। यहाँ तक नौ बार जय शब्द इस स्तुति प्रसंग में आया है, क्योंकि गिनती नौ ही तक है। इस तरह अनंत बार जय सूचित की। नौ का पहाड़ा जोड़ने पर सदा एक रस रहता है; अर्थात् दूने-तिगुने आदि में एकाई-दहाई जोड़ने पर नौ ही रहता है। अतः, नौ संख्या का परिणाम नहीं है, इस तरह श्रीरामजी को नित्य एकरस स्थित कहा, यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम···" (वि० २६१); तथा—"वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥" (श्वेता० ३।९); वा, 'नव गुन परम पुनीत' के ग्रहण के प्रति कृतज्ञता-रूप में भी नौ बार जय-जयकार किया।

(८) 'भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'—ऊपर इनके तप से अर्जित लोकों का नाश होना श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से कहा गया; उनके पुनः बनाने के लिये तप करने चले गये वा नव गुणों में 'तप' भी है, उसपर आरूढ़ होकर चले गये।

परशुराम-गर्व-हरण—इसका अधिकांश 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' से मिलता है। इसके कुछ भाव पूर्वोक्त—"तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा।" (दो० २६७) पर भी कहे गये हैं।

इस प्रसंग के चरित्र-चित्रण पर प्रायः अप्रगल्भता रूप दोष लगाया जाता है, यह भ्रम है। आलोचकों को विचारना चाहिये कि—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती॥" (दो० २७५); से निश्चित होता है कि परशुरामजी की प्रतिकार की इच्छा थी, पर तदनुसार क्रिया करने में वे असमर्थ थे। उनकी शक्ति के ह्रास का कारण यह है—श्रीरामजी ही के तेज ने परशुरामजी में प्राप्त होकर आसुरी प्रकृति के क्षत्रियों का संहार किया था, उसका ह्रास इसी रीति से क्रोध के द्वारा क्रमशः होता था, उसीके अनुसार श्रीलक्ष्मणजी के वचनों की प्रवृत्ति थी। नहीं तो ब्राह्मण के अपमान के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं कि—"हमरे कुल इन्ह पर न सुराई।" पुनः—"जो तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥" इत्यादि। परशुरामजी को मुनि, विप्र आदि ही बार-बार कहते थे। उसका भी रहस्य यही था कि वीरता के कार्य हमारे तेज से हुए हैं, यथा—"तेजस्तेजस्विनामहम्।" (गीता १०।३६); अन्त में धनुष-ग्रहण के साथ ही अवशिष्ट तेज भी ले लिया। परशुराम ऋषि मात्र रह गये और श्रीरामजी का परत्व भी जान गये। अतः, कृतकृत्य होकर अपने सहज कर्म रूप तपस्या के लिये गये। भगवान् की लीला का रहस्य गंभीर है। वे ही कृपा करें तो कुछ समझ में आ सके।

अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने॥८॥

दोहा—देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ—कुटिल राजा लोग अपने व्यर्थ भय (जो श्रीरामजी से लड़ने को तैयार थे, श्रीरामजी बदला नहीं लेते, पर ये स्वयं बिना कारण ही डरे, इस भय) से डरे और वे कायर चुपके से जहाँ-तहाँ भाग गये ॥८॥ देवताओं ने नगाड़े बजाये और प्रभु पर फूल बरसने लगे। नगर के सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए और उनका मोहमय शूल (दुःख) मिट गया।

विशेष—(१) 'अपभय'''जहँ तहँ कायर'''—जब से परशुरामजी आये, ये लोग खड़े ही थे, इसी अवसर में जिधर-तिधर भागने का गौं (दाव) मिल गया और अपने-अपने आसनों पर जाने के बहाने चुपके से निकल भागे।

(२) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी'''—धनुर्भंग पर देवताओं ने प्रथम नगाड़े बजाये और जयमाल में पुरवासियों ने पहले ही बाजे बजाये। अबकी फिर देवताओं के प्रथम बजाने की बारी है। इस तरह दोनों ओर उत्साह प्रकट किया गया। 'प्रभु पर'—क्योंकि यहाँ परशुरामजी की पराजय होने एवं शार्ङ्ग धनुष के ग्रहण से श्रीरामजी की प्रभुता प्रकट हुई, इसे देखकर देवता फूल बरसाने लगे।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे ॥१॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी ॥२॥
सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी ॥४॥

अर्थ—अत्यंत धमाधम बाजे बजने लगे, सभी ने सुन्दर मंगल सजाया ॥१॥ सुन्दर मुखों और नेत्रोंवाली, कोयल की तरह मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर गान करने लगीं ॥२॥ विदेह राजा का सुख-वर्णन नहीं हो सकता, मानों जन्म का दरिद्र (भारी) खजाना पा गया हो ॥३॥ श्रीसीताजी का डर दूर हुआ और वे सुखी हुईं, जैसे चन्द्रमा के उदय से चकोर-कुमारी (सुखी हो) ॥४॥

विशेष—(१) 'अति गहगहे'''—धनुष टूटने पर—"बाजे नभ गहगहे निसाना।" कहा गया, जयमाल पर—"पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।" और यहाँ—"अति गहगहे'''" कहा अर्थात् जैसे-जैसे आनन्द बढ़ता गया, बाजों की मात्रा भी बढ़ती गई।

(३) 'सुरा विदेह कर'''—विदेह महाराज भी परशुरामजी के आने पर माधुर्य-दृष्टि के कारण [illegible] गये थे—"अति डर उतर देत नृप नाहीं।" यह दरिद्र होना है, अब मानों राजाना पा गये।

(४) 'जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी।'—दोपहर के सूर्य से तप्त चकोर-कुमारी चन्द्रोदय से सुखी होती है। वैसे सीताजी प्रथम—'भृगु कुल कमल पतंग' से दुखी हुई थीं, अब शीतल हो रही हैं।

परशुराम-पराजय-प्रकरण समाप्त

श्री सियरघवीर-विवाह

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा ॥५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिय गोसाईं ॥६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिबाहु चाप-आधीना ॥७॥
टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥८॥

दोहा—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा-बंस-ब्यवहार।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु, बेदबिदित आचार ॥२८६॥

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं नृप दसरथहि बोलाई ॥१॥

अर्थ—जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, (और कहा कि) हे प्रभो ! आपके अनुग्रह से श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा ॥५॥ दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, अब जो (कार्य) उचित हो, वह कहिये ॥६॥ मुनि ने कहा—हे चतुर राजन् ! सुनिये, विवाह धनुष के अधीन था ॥७॥ (यद्यपि) धनुष टूटते ही विवाह हो गया, (यह) देवता, मनुष्य, नागदेव (क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल-वासियों) सब किसी को विदित हो गया ॥८॥ तो भी अब आप जाकर जैसी कुल की रीति हो, उसे ब्राह्मणों, कुल के बूढ़ों और गुरु से पूछकर जो वेदों की प्रसिद्ध प्रथा है, वह कीजिये ॥२८६॥ अवध नगर को दूत भेजिये, वे जाकर राजा दशरथ को बुला लावें ॥१॥

विशेष—(१) 'प्रभुप्रसाद धनु'''—यद्यपि राजा जनक ने श्रीरामजी का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष देखा है, फिर भी यहाँ मुनि का गौरव और श्रीरामजी में वात्सल्य दृष्टि से लाघव कहा, यही नीति है। मुनि को प्रणाम करना कृतज्ञता की दृष्टि से है।

(२) 'दुहुँ भाई'—लक्ष्मणजी ने ही इनकी व्याकुलता पर श्रीरामजी के उठने का संयोग लगाया और परशुराम-पराजय में भी उनके सहायक रहे, इत्यादि से दोनों भाइयों को कहा।

(३) 'तदपि जाइ तुम्ह'''—'तदपि' अर्थात् वंश-व्यवहार भी परम आवश्यक है। विप्र और गुरु वेद-रीति और कुल-वृद्ध लोग कुल-रीति एवं लोक-रीति बतलावेंगे।

दोहा—देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ—कुटिल राजा लोग अपने व्यर्थ भय (जो श्रीरामजी से लड़ने को तैयार थे, श्रीरामजी बदला नहीं लेते, पर वे स्वयं बिना कारण ही डरे, इस भय) से डरे और वे कायर चुपके से जहाँ-तहाँ भाग गये ॥८॥ देवताओं ने नगाड़े बजाये और प्रभु पर फूल बरसने लगे। नगर के सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए और उनका मोहमय शूल (दुःख) मिट गया।

विशेष—(१) 'अपभय···जहँ तहँ कायर···'—जब से परशुरामजी आये, ये लोग खड़े ही थे, इसी अवसर में जिधर-तिधर भागने का गँव (घात) मिल गया और अपने-अपने आसनों पर जाने के बहाने चुपके से निकल भागे।

(२) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी···'—धनुर्भंग पर देवताओं ने प्रथम नगाड़े बजाये और जयमाल में पुरवासियों ने पहले ही बाजे बजाये। अबकी फिर देवताओं के प्रथम बजाने की बारी है। इस तरह दोनों ओर उत्साह प्रकट किया गया। 'प्रभु पर'—क्योंकि यहाँ परशुरामजी की पराजय होने एवं शार्ङ्ग धनुष के ग्रहण से श्रीरामजी की प्रभुता प्रकट हुई, इसे देखकर देवता फूल बरसाने लगे।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे ॥१॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी ॥२॥
सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी ॥४॥

अर्थ—अत्यंत धमाधम बाजे बजने लगे, सभी ने सुन्दर मंगल सजाया ॥१॥ सुन्दर मुखों और नेत्रोंवाली, कोयल की तरह मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर गान करने लगीं ॥२॥ विदेह राजा का सुख-वर्णन नहीं हो सकता, मानों जन्म का दरिद्र (भारी) खजाना पा गया हो ॥३॥ श्रीसीताजी का डर दूर हुआ और वे सुखी हुईं, जैसे चन्द्रमा के उदय से चकोर-कुमारी (सुखी हो) ॥४॥

विशेष—(१) 'अति गहगहे···'—धनुष टूटने पर—"बाजे नभ गहगहे निसाना।" कहा गया, जयमाल पर—"पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।" और यहाँ—"अति गहगहे···" कहा अर्थात् जैसे-जैसे आनन्द बढ़ता गया, बाजों की मात्रा भी बढ़ती गई।

(२) 'जूथ जूथ मिलि···'—श्रीराम-यश-गान के सम्बन्ध से 'सुमुखि' और उनके दर्शनों के सम्बन्ध से 'सुनयनी' कहा गया है। यहाँ 'सुनयनी' में सुनयनाजी और 'सुमुखि' में उनकी सखियों को भी श्लिष्ट रीति से ले लेना चाहिये, क्योंकि धनुष टूटने पर श्रीजानकीजी, श्रीसुनयनाजी और विदेह महाराज का सुखी होना कहा गया, फिर परशुरामजी के आने पर श्रीसुनयनाजी का दुखी होना भी कहा गया। यथा—"सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी।" पुनः—"रानिन्ह सहित सोच-बस सीया।" अतः, परशुरामजी के जाने पर उनका भी सुखी होना स्वाभाविक है। 'जूथ जूथ'—अपनी-अपनी अवस्था और जाति से मिलकर।

(३) 'सुख बिदेह कर'''—विदेह महाराज भी परशुरामजी के आने पर माधुर्य-दृष्टि के कारण डर गये थे—"अति डर उतर देत नृप नाहीं।" यह दरिद्र होना है, अब मानों खजाना पा गये।

(४) 'जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी।'—दोपहर के सूर्य से तप्त चकोर-कुमारी चन्द्रोदय से सुखी होती है। वैसे सीताजी प्रथम—'भृगु कुल कमल पतंग' से दुखी हुई थीं, अब शीतल हो रही हैं।

परशुराम-पराजय-प्रकरण समाप्त

श्री सियरघवीर-विवाह

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा ॥५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाईं। अब जो उचित सो कहिय गोसाईं ॥६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिबाहु चाप-आधीना ॥७॥
टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥८॥

दोहा—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा-बंस-ब्यवहार।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु, बेदबिदित आचार ॥२८६॥

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं नृप दसरथहि बोलाई ॥१॥

अर्थ—जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, (और कहा कि) हे प्रभो! आपके अनुग्रह से श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा ॥५॥ दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, अब जो (कार्य) उचित हो, वह कहिये ॥६॥ मुनि ने कहा—हे चतुर राजन्! सुनिये, विवाह धनुष के अधीन था ॥७॥ (यद्यपि) धनुष टूटते ही विवाह हो गया, (यह) देवता, मनुष्य, नागदेव (क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल-वासियों) सब किसी को विदित हो गया ॥८॥ तो भी अब आप जाकर जैसी कुल की रीति हो, उसे ब्राह्मणों, कुल के बूढ़ों और गुरु से पूछकर जो वेदों की प्रसिद्ध प्रथा है, वह कीजिये ॥२८६॥ अवध नगर को दूत भेजिये, वे जाकर राजा दशरथ को बुला लावें ॥१॥

विशेष—(१) 'प्रभुप्रसाद धनु'''—यद्यपि राजा जनक ने श्रीरामजी का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष देखा है, फिर भी यहाँ मुनि का गौरव और श्रीरामजी में वात्सल्य दृष्टि से लाघव कहा, यही नीति है। मुनि को प्रणाम करना कृतज्ञता की दृष्टि से है।

(२) 'दुहुँ भाईं'—लक्ष्मणजी ने ही इनकी व्याकुलता पर श्रीरामजी के उठने का संयोग लगाया और परशुराम-पराजय में भी उनके सहायक रहे, इत्यादि से दोनों भाइयों को कहा।

(३) 'तदपि जाइ तुम्ह'''—'तदपि' अर्थात् वंश व्यवहार भी परम आवश्यक है। विप्र और गुरु वेद-रीति और कुल-वृद्ध लोग कुल-रीति एवं लोक-रीति बतलावेंगे।

(४) 'दूत अवध पुर पठवहु···'—'जाई' शब्द दीपदेहली भी है। ऊपर भी 'जाइ' पद आया है, वहाँ रंगभूमि से घर जाने के लिये है और यहाँ फिर देने का भाव यह कि घर जाकर तब वहाँ दूत भेजिये, और वे जाकर लिवा लावें। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि मुनि की आज्ञा के विना चक्रवर्ती महाराज को बुलाने में इन्हें संकोच होगा, यथा—"अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई।" (दो० १२६); पुनः मुनि ने विचारा कि यदि चक्रवर्त्तीजी न बुलाये जायँगे, तो एक तो वे इस महान् सुख से वंचित रह जायँगे, दूसरे यहाँ दोनों तरफ का व्यय जनकजी के ही द्वारा होगा—मानों दरिद्र का सा लड़का व्याहा जायगा और शोभा भी नहीं होगी। पुनः अवधवासियों को भी बारात में बुलाकर सुख दें। मुनि त्रिकालज्ञ हैं, यह भी जानते हैं कि भरत-शत्रुघ्न का भी व्याह यहीं होगा।

वाल्मी० १।११८।५०-५२ में कहा है कि श्रीरामजी के धनुष तोड़ने पर श्रीजनकजी ने कुश-जल लेकर कन्यादान करना चाहा, तब श्रीरामजी ने पिता का अभिप्राय विना जाने दान लेना स्वीकार नहीं किया, तब राजा जनक ने चक्रवर्तीजी के बुलाने का आयोजन किया। यह भाव भी 'अब जो उचित सो कहिय गोसाईं।' के कारण (साधन) रूप में लिया जा सकता है।

मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला। पठये दूत बोलि तेहि काला ॥२॥
बहुरि महाजन सकल बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥३॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥४॥
हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाये ॥५॥

शब्दार्थ—महाजन = श्रेष्ठ पुरवासी, रईस लोग। हाट = बाजार। बाट = मार्ग। पासा = तरफ, ओर।

अर्थ—राजा ने प्रसन्न होकर कहा, हे कृपालो ! बहुत अच्छा। उसी समय दूतों को (श्री अवध) बुलाकर भेज दिया ॥ २ ॥ फिर सब महाजनों को बुलाया, सबने आकर आदर से प्रणाम किया ॥ ३ ॥ (राजा ने उनसे कहा कि) बाजार, मार्ग, मंदिर—जिनमें देवताओं का वास है, और चारों तरफ नगर सजाओ ॥४॥ (वे महाजन लोग) प्रसन्न हो अपने अपने घर आये। फिर (राजा ने) परिचारकों (टहलुओं) को बुला भेजा ॥५॥

विशेष—(१) 'मुदित राउ कहि···'—राजा प्रसन्न हुए, क्योंकि इनके हृदय में भी लालसा थी, पर चक्रवर्ती को कैसे बुलावें ? यह अड़चन थी, वह मुनि की आज्ञा हो जाने से मिट गई। 'कृपाला'—क्योंकि पुराना टूटा हुआ सम्बन्ध मिला रहे हैं, पुनः स्वयं कृपा करके कहा, मुझे कहना भी न पड़ा।

(२) 'पठये दूत बोलि तेहि काला।'—मुनि ने कहा था कि घर जाकर दूत भेजो, पर राजा ऐसे आनन्दित हुए कि वह आज्ञा भूल गये और उसी समय वहीं पर दूत बुलाकर श्री अवध भेजा। वहीं से भेजने का यह भी भाव है कि जिससे मुनि की ही आज्ञा से दूतों का जाना और राजा दशरथ का बुलाया जाना हो तो उत्तम होगा।

(३) 'बहुरि महाजन सकल···'—'बहुरि' अर्थात् मुनि की आज्ञा का पालन प्रथम किया, तब बारात की अगवानी के सजाव में लगे। बहुरि का अर्थ और फिर तत्पश्चात् है। सभी आये और सादर सिर नवाये, क्योंकि सभी स्वामिभक्त हैं और राजा भी उनका स्नेह से पालन करते हैं।

(४) 'हाट बाट मंदिर सुरबासा।'—नगर तो सदैव सुसज्जित ही रहता है, यथा—"बनइ न बरनत नगर-निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई॥" (दो० २१२); पर यहाँ प्रीति की रीति से—"चंदन बार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू॥" (उ० दो० ८) की तरह सजायेंगे। यथा "जद्यपि अवध सदैव'''तदपि प्रीति कै रीति''" (दो० २९५)।

यहाँ धर्मात्मा राजा का राज्य है, अतः देव-मंदिर कहे गये हैं, ऐसे ही श्री अवध में भी हैं—"तीर तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८); पर लंका में नहीं कहे गये, क्योंकि वहाँ तो देवता हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उनकी पूजा कैसी? ऐसे ही राम-राज्य में ब्राह्मणों का अभिषेक करना लिखा है—"प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि'''" (उ० दो० ११); और सुग्रीव के राज्य-समय में भी—"लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन बिप्र-समाज।" (कि० दो० ११); पर विभीषण की राजगद्दी में नहीं कहा गया, क्योंकि विप्र और नर को तो राक्षस खा जाते थे, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी।" (लं० दो० ४४)। अतः, ब्राह्मण वहाँ थे ही नहीं।

(५) 'हरषि चले निज निज'''—ये महाजन लोग हाट-बाट आदि सँवारने के उत्साह से हर्षित होकर अपने-अपने घर गये। तब राजा ने वितान रचनेवालों को बुलवाया।

रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचु पाई॥६॥
पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना॥७॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनककदलि के खंभा॥८॥

दोहा—हरितमनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥२८७॥

शब्दार्थ—सचु = आनंद। पदुमराग = माणिक्य, लाल रत्न। भूल = धोखे में पड़ना, चकित होना।

अर्थ—(और कहा कि) विचित्र मंडप तैयार कराओ, वे सब आज्ञा शिरोधार्य करके आनन्द पाकर चले॥६॥ उन्होंने अनेक गुणियों (कारीगरों) को बुला भेजा, जो वितान की रचना में निपुण और सुजान थे॥७॥ उन्होंने ब्रह्माजी की वंदना करके काम प्रारम्भ किया और सोने के केले के खंभे बनाये॥८॥ हरी मणियों के पत्ते और फल एवं पद्मराग के फूल (ऐसे) बनाये कि अत्यन्त विचित्र रचना को देखकर ब्रह्माजी का भी मन भूल में पड़ जाय अर्थात् वे चकित हो जायँ॥२८७॥

विशेष—(१) 'सिर धरि बचन चले सचु पाई।'—ये उत्तम सेवक हैं। अतः, सुखी हुए, क्योंकि स्वामी की आज्ञा का पालन करना सेवक का सौभाग्य है, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००); "प्रभु-मुख-कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥" (उ० दो० २४)। 'चले' अर्थात् परिचालक बहुत हैं, इसलिये कि एक-एक को एक एक काम सौंप दिया जाय और शीघ्र हो।

(२) 'जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना।'—'कुसल' कृति में अर्थात् रचना करने में और सुजान' यह बात जानने में कि कौन रचना कहाँ अनुकूल पड़ती है। ये दोनों बातों में दक्ष हैं।

(३) 'बिधिहि बंदि तिन्ह'''''' ब्रह्माजी जगत् रचना के आचार्य हैं और जगत् में ही यह रचना होगी। अतः, उनकी वंदना से प्रारंभ किया।

शंका—ब्रह्माजी शाप से अपूज्य हैं, इनकी वंदना क्यों की गई ?

समाधान—यह निषेध ब्रह्माजी की स्वतंत्र पूजा के लिये है, कुछ नमस्कार तो निषिद्ध नहीं है, यहाँ तो वंदना ही की गई है। यह भी पाया जाता है कि उस समय ब्रह्माजी की पूजा भी होती थी, यथा—"आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्त्ता स्वयं प्रभुः।"'पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः। प्रणम्य विधिवच्चैनं'"" (वाल्मी० १।२।२३–२५)। अतः, सम्भवत शाप की बात उससे पीछे की होगी। 'विरचे कनक कदलि के खंभा।'—केले मांगलिक हैं और मंडप इन्हीं के आश्रित रहेगा। अतः, इन्हें प्रथम रचा, केले के खंभों का रंग स्वर्ण के रंग का होता है। अतः, सोने ही के केले बनाये, जिससे महीनों तक एक रंग शोभा और चमक-दमक भी रहे।

(४) 'हरितमनिन्ह के पत्र''''''—इसमें पहले फल कहकर तब फूल कहे गये, क्योंकि केले के घौद में फल और फूल साथ ही बढ़ते हैं और फल हरे एवं फूल लाल होते भी हैं। 'भन बिरंचि कर भूल'—यह बात आगे चरितार्थ है—"बिधिहि भयो आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥" (दो० ३१२)। जब जगत् के रचयिता भूल गये, तब औरों की क्या कहना है ? आगे ७ ही अर्द्धालियों पर दोहा है। अतः, यहाँ शोभा में मुग्ध होकर कवि भी भूले हैं, नहीं तो प्रायः सर्वत्र आठ से कम अर्द्धालियाँ नहीं रखते, ऐसे ही किन्हीं कारणों से दो-एक जगह और भी भूले हैं।

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥१॥
कनककलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥२॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच-बिच मुकुता दाम सुहाये॥३॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥४॥

शब्दार्थ—बेनु (वेणु)=बाँस। सरल=सीधे। सपरब (सपर्व)=गाँठ के साथ। अहिबेलि=नाग बेलि, पान की लता। कलित=(सं० कलन)=बनाई हुई, सुंदर। बंध=बंधन। दाम=माला, झालर। रचि-पचि=कारीगरी से सजाकर, पचि (पच्ची, सं० पचित)=धातु निर्मित पदार्थ पर अन्य धातु के पत्तर का जड़ाव। कोरि=कोरकर, खोद-खोदकर। मरकत=पन्ना, गहरे हरे रंग का रत्न। पिरोजा=(फारोजा)=हरापन लिये हुए नीले रंग का रत्न।

अर्थ—सब बाँस हरी-हरी मणियों के सीधे और गाँठदार ऐसे बनाये गये, जो पहचाने नहीं जा सकते (कि कृत्रिम हैं)॥१॥ सोने से रच-रचकर सुंदर पान की लताएँ बनाईं, जो सुन्दर पत्तों के साथ होने से पहचानी नहीं जा सकतीं॥२॥ उसी (नागवेलि) के रचकर पच्चीकारी करके बन्धन बनाये, जिनके बीच बीच में मुक्ता की झालरें शोभा दे रही हैं॥३॥ माणिक्य, मरकत, हीरे और फीरोजा को चीरकर खोद करके कमल रचे॥४॥

विशेष—(१) 'बेनु हरित मनिमय''' '—सब बाँस हरे ही बनाये गये, क्योंकि मंडप हरे बाँसों के ही बनते हैं और हरे ही मांगलिक माने जाते हैं, पीले-सूखे नहीं लगाये जाते। ये बाँस हरित-मणियों के हैं। अतः, बहुत काल तक रहने पर भी एक रंग हरे एवं दीप्तिमान रहेंगे। और वस्तुओं—केला आदि में नाना प्रकार की भी मणियाँ लगी हैं। 'सरल'—क्योंकि बाँस के सीधे होने में ही शोभा है। 'सपरब'—बाँस गाँठ के साथ सुन्दर होते हैं, अन्यथा लाठी के समान होने से नहीं सुहाते। 'बेनु हरित''' ' में 'मीलित अलंकार' है।

(२) 'कनककलित अहिबेलि··· ···' सोने के केले के खंभ बन चुके, उनपर सोने की ही पान की लता चढ़ाई। पान की शोभा पुराने होने से है और पुराने पान पीले हो जाते हैं। अतः, सोने के ही पान बनाये। 'सोहाई'—क्योंकि इन्हीं से सुंदर माँड़व छायेंगे।

(३) 'तेहि के रचि पचि बंध ···'—बिना बंधन के बाँस ठिकाने पर नहीं रहते। अतः, पान की बेलि ही की पच्चीकारी करके पतले चमकीले बंधन भी बनाये। बंधनों के दो-दो फेरे और दो-दो गाँठें बनी हैं, जिनके बीच-बीच में मुक्ताओं को मालाएँ एवं झालरें सजाई गई हैं। ये बाँस-केले आदि की तरह कृत्रिम नहीं हैं, किंतु सचमुच हैं। इसीसे इनको 'लखि नहिं परइ' एवं 'परहिं नहिं चीन्हे' आदि नहीं कहे।

(४) 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा।······'—इस ग्रंथ मे कमल चार रंगों के (नील, पीत, श्वेत, रक्त) कहे गये हैं। उन्हीं का चार प्रकार के रत्नों से बनना कहा गया है। यथा—"बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।" (दो० ४०)। यह भी कहा जाता है कि पिरोजा से कमल पुष्प के ऊपर को पँखुरियाँ बनीं, क्योंकि यह हरा-नीला होता है और माणिक्य से लाल, मरकत से नील और हीरे से श्वेत रंग के कमल बनाये गये। पीत रंग के कमल अन्य देशों में होते हैं, इससे यहाँ नहीं बनाये, यथा—"छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥" (दो० ३६)। यहाँ पान ही की लताओं में कमल खिलाये, क्योंकि कमल पुष्प तो मांगलिक हैं, पर पुरइन की गणना मंगल द्रव्यों में नहीं है। अतः, इसकी चर्चा ही न की, क्योंकि यहाँ मंगल का प्रसंग है, यह युक्ति भी नहीं लख पड़ती कि पान में कमल कैसे खिले।

किये भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा ॥५॥
सुर-प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल-द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥६॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनिमय सहज सुहाईं ॥७॥

दोहा—सौरभपल्लव सुभग सुठि, किये नीलमनि कोरि।
हेमबौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि ॥२८८॥

शब्दार्थ—प्रसंगा = सहारे से। काढ़ीं = निकाली। पुराईं = पूरी गईं, बनाई। घवरि = घौद, गुच्छे।

अर्थ—भौंरे और बहुत रंग के पक्षी बनाये, जो वायु के सहारे से गुंजार करते और चहचहाते हैं ॥५॥ खंभों में देवताओं की मूर्त्तियाँ गढ़कर निकाली गई हैं, वे सब मंगल पदार्थ लिये हुए खड़ी हैं ॥६॥ अनेक तरह की चौकें पुराई गईं, जो गजमुक्तामय (मुक्ताचूर्ण की बनी हुई) और स्वाभाविक ही सुन्दर हैं ॥७॥ नीलम को खोदकर अत्यन्त सुन्दर आम के पल्लव बनाये, सोने की बौर (मंजरी), पन्ने के घौदे, रेशम के डोर में बँधे हुए, शोभा दे रहे हैं ॥२८८॥

विशेष—'किये भृंग बहु···'—ऊपर कमल कहे गये, तो साथ ही भ्रमर और हंस आदि पक्षी भी चाहिये ही। इन भ्रमरों और पक्षियों की रचना भी उपर्युक्त कमल के रत्नों की ही जाननी चाहिये, जैसे—"तेहि के रचि पचि बंध बनाये।" में नियम कहा गया। ये सब ऐसे विलक्षण बने हैं कि

कुंजी आदि की भी आवश्यकता नहीं, केवल वायु लगने ही से कूजते—गूँजते हैं, जिससे कृत्रिम नहीं जान पड़ते।

(२) 'सुर-प्रतिमा खंभन्हि'''—केला स्वयं मांगलिक है, उसमें ही मङ्गलमय देवताओं की मूर्त्तियाँ भी बनाईं। वे मंगल द्रव्य—'दधि दूर्वा रोचन फल फूला।' आदि थालों में सजे हुए लिये खड़ी हैं, ये मंगल द्रव्य भी मणियों के बने हुए कृत्रिम ही हैं, सचमुच होते तो विवाह तक सूख जाते। किंतु ये भी कृत्रिम नहीं जान पड़ते। 'ठाढ़ीं'—यह कारीगरों की सुजानता है, क्योंकि बैठी हुई होने से श्रीरामजी के आगमन पर उठ नहीं सकेंगी तो इनका धर्म जायगा और लोग भी जान लेंगे कि ये कृत्रिम हैं।

(३) 'चौकें भाँति अनेक'''—गज-मुक्ता श्वेत होती है, अतः, उसीसे चौक पूरी गई, यह सब मणियों से श्रेष्ठ भी होती है। 'भाँति अनेक'—चौकें बहुत प्रकार से पूरी गई हैं, पर हैं सब गजमुक्ता ही की। यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥" (अ० दो० ●)।

(४) 'सौरभपल्लव सुभग सुठि'''—यहाँ आम का सौरभ नाम दिया गया है, यह आम की सी सुगंध-युक्त भी है, क्योंकि 'सुरभि' का अर्थ सुगंध है। 'पवरि'—चौदे मरकत मणि हैं, मरकत यहाँ पन्ना है, क्योंकि यह हरा होता है और फलों का गुच्छा भी हरा ही चाहिये। 'किये' सब वस्तुओं के साथ है।

ऐसी आश्चर्य-रचना उस समय की कारीगरी के उत्कर्ष का उदाहरण है। यह भी कहा जाता है कि ऐसी विलक्षण रचना-वर्णन का श्रेय और किसी कवि को नहीं मिला।

रचे रुचिर वर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सँवारे॥१॥
मंगल - कलस अनेक बनाये। ध्वज-पताक पट चँवर सुहाये॥२॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥३॥
जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनइ अस मति कबि केही॥४॥
दूलह राम रूप - गुन - सागर। सो बितान तिहुँ लोक उजागर॥५॥

अर्थ—सुन्दर श्रेष्ठ बन्दनवार बनाये गये, मानों कामदेव ने फंदे (जाल) सजाये हैं॥१॥ बहुत-से मंगल-कलश और सुंदर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर बनाये॥२॥ उसमें अनेकों सुन्दर मणियों के ही दीपक हैं, उस विचित्र वितान का वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ जिस मंडप में विदेहनंदिनी श्रीजानकीजी दुलहिन रूप से हैं, उसका वर्णन करे, ऐसी किस कवि की बुद्धि है?॥४॥ जिस मंडप में रूप और गुणों के समुद्र श्रीरामजी दूलह बनकर बैठेंगे, वह तो तीनों लोकों से ऊपर प्रकाशित होनेवाला है॥५॥

विशेष—(१) 'मनहुँ मनोभव फंद'''—यहाँ शोभा का प्रसंग है, शोभा से सब वशीभूत होते हैं, वैसे फंदा भी फँसाने के ही लिये होता है। यहाँ 'मनोभव' अर्थात् काम मन से होता है, मन ही को फँसाता है, यहाँ यह निर्लिप्त मुनियों के भी मन को फँसा लेगा, यथा—"मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे।" (दो० ३२०)।

(२) 'मंगल-कलस अनेक'''—कलश चाहे जिस धातु के हों, उनपर गणेश आदि देवताओं की स्थापना होती है और अक्षत, पल्लव, दीपक रक्खे जाते हैं, वे 'मंगल-कलश' कहाते हैं। वे प्रत्येक

चौक में रक्खे जाते हैं। 'चौकें भाँति अनेक···' कहा गया, अतः, अनेक कलश भी होने ही चाहिये। 'मंगल' शब्द ध्वज-पताक आदि के साथ भी है। साथ ही 'दीप मनोहर मनिमय···' भी कहा गया, क्योंकि प्रत्येक कलश पर एक-एक दीप चाहिये। इनके अतिरिक्त मंडप के चारों ओर भी दीपावली है।

(३) 'बरनि न जाइ बिचित्र···'—यहाँ जो कुछ वर्णन हुआ, वह अमुक वस्तु से अमुक अंग बना, इतना ही कहा गया। यों तो मंडप की शोभा का विस्तार अकथ्य है। 'रचहु बिचित्र बितान बनाई।' पर उपक्रम है और यहाँ 'बरनि न जाइ बिचित्र बिताना।' पर उपसंहार।

(४) 'जेहि मंडप दुलहिनि···'—'बैदेही' विदेह की पुण्य-मूर्त्ति अयोनिजा हैं, अतः, इनका मंडप भी अप्राकृत है, फिर उसे प्राकृत उपमादि सामग्री द्वारा कोई कवि कैसे कह सकता है? 'अस मति कवि केही'—श्रीजानकीजी के मंडप का कुछ वर्णन उनकी ही दी हुई बुद्धि से ग्रंथकार ने किया है; यथा—"जनक-सुता···जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १७)। अन्य कवियों को ऐसी मति नहीं मिली, इसीसे वे इतना नहीं कह सके। कन्या के पिता के यहाँ कन्या की ही प्रधानता होती है, इसलिये दुलहिनि का मंडप प्रथम कहा गया।

(५) 'दूलह राम रूप-गुन सागर। ···'—रूप और गुण से ही ख्याति होती है। श्रीरामजी दोनों के सागर हैं, इनके सम्बन्ध से मंडप की ऐसी शोभा क्यों न हो? 'उजागर' (उत्=ऊपर, जागर=प्रकाश-मान्) अर्थात् यह वितान तीनों लोकों के ऊपर दीप्तिमान् है।

यहाँ दूलह-दुलहिनि के वर्णन से मंडप का पूरा स्वरूप वर्णन हुआ, क्योंकि ये ही उनके अधिष्ठातृ-देवता हैं। इनके विराजने पर मंडपों की शोभा पूर्ण होगी।

जनक-भवन कै सोभा जैसी। गृह-गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥६॥
जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लाग भुवन दसचारी ॥७॥
जो संपदा नीच - गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥८॥

दोहा—बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष।
तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष ॥२८९॥

अर्थ—जैसी शोभा राजा जनक के महल की है, वैसी ही नगर के प्रत्येक घर में देख पड़ती है ॥६॥ जिसने उस समय तिरहुत (मिथिला) को देखा, उसे चौदहों भुवन तुच्छ लगे ॥७॥ जो ऐश्वर्य नीच (जाति) के घर शोभित है, उसे देखकर इन्द्र भी मोहित हो जाते हैं ॥८॥ जिस नगर में लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं, उस नगर की शोभा कहते हुए शारदा और शेष सकुचाते हैं ॥२८९॥

विशेष—(१) 'जनक-भवन कै···'—राजा जनक ने पूर्व महाजनों को—'हाट बाट मंदिर··· नगर सवारहु···' की जो आज्ञा दी थी, वही कार्य यहाँ कहते हैं। पूर्व यह भी कहा गया है—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप-गृह सरिस सदन सब केरे॥" (दो० २१३); अब यहाँ उनका सजाव भी राजभवन के तुल्य कहा है। श्रीजनक-महल में दूलह-दुलहिन के मंडप कहे गये, वैसे सबके भी घरों में हैं, वे भी सफल होंगे; क्योंकि अन्य रामायणों में लिखा है कि जितने कुमार श्रीअवधपुर

से गये थे, उनका भी विवाह जनकपुर में ही हुआ है। वह भी—'गृह-गृह प्रति ' में ध्वनित है। 'भुवन दस चारी'—ऊपर के सात लोक (भूः, भुवः, स्वः, मह, जन, तप, सत्य,) और नीचे के सात लोक (तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, धरातल और पाताल)।

(२) 'सो बिलोकि सुरनायक मोहा'—नीच भंगी आदि की सम्पत्ति देखकर इन्द्र का मोहना आश्चर्य सा है, उसपर दोहे में समाधान करते हैं—

(३) 'बसइ नगर जेहि···'—श्रीजानकीजी के अंश से अगणित लक्ष्मीजी होती हैं। अतः, अंशोऽंश अभेद से श्रीजानकीजी को भी लक्ष्मी कहा कि वे अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये स्वयं कपट से स्त्री का सुन्दर वेष धारण करके यहाँ बसती हैं। 'करि' से कर्मवश जन्म का निषेध कहा गया। श्रीजानकीजी की दृष्टिमात्र से लोकपाल होते हैं, यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०३); तो उनके साक्षात्-निवास के संसर्ग से शोभा-सम्पदा का क्या कहना ?

यह भी कहा जाता है कि श्रीसीताराम का विवाह देखने के लिये यहाँ लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं जो आगे कहा जायगा, यथा—"सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं आई॥" (दो० ३१७); उन्हीं को लेकर यहाँ नगर का महत्त्व कहा गया है।

'सकुचहिं सारद सेष'—शारदा से सबसे ऊपर का ब्रह्मलोक और शेष से पाताल लोक नीचे का कहा गया। मर्त्यलोक में इनसे श्रेष्ठ वक्ता है ही नहीं। कहने की लालसा होती है, पर शोभा का अल्पांश भी कहते नहीं बनेगा। अतः, वे सब सकुच जाते हैं।

पहुँचे दूत राम-पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥१॥
भूपद्वार तिन्ह खबरि जनाई। दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई॥२॥
करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आप उठि लीन्ही॥३॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥४॥
राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥५॥

शब्दार्थ—पाती = पत्रिका। खाटी मीठी = बुरी-भली, अप्रिय-प्रिय।

अर्थ—दूत श्रीरामजी के पवित्र नगर में पहुँचे, शोभायमान नगर देखकर प्रसन्न हुए॥१॥ उन दूतों ने राजा के द्वार (दरबार) पर से राजा दशरथ को सूचना दी। उन्होंने सुनकर बुला लिया॥२॥ उन दूतों ने प्रणाम करके पत्रिका दी, आनन्द मन से राजा ने स्वयं उठ कर उसे लिया॥३॥ पत्रिका पढ़ते ही दोनों आँखों में आँसू भर आये, शरीर पुलकित हो गया और छाती (कलेजा) भर आई॥४॥ श्रीराम-लक्ष्मण हृदय में हैं और हाथ में श्रेष्ठ चिट्ठी, वे (उसे हाथ में लिये) स्तम्भ रह गये, बुरा-भला कुछ नहीं कहते॥५॥

विशेष—(१) 'पहुँचे दूत राम-पुर पावन।'—'रामपुर' कहा गया है, क्योंकि (क) दूत लोग श्रीरामजी से परिचित हैं, उनके पास से आ रहे हैं, उनकी दृष्टि से यहाँ ग्रंथकार रामपुर कह रहे हैं। (ख) जैसे श्रीजनकपुर की शोभा-वर्णन के अंत में—'बसइ नगर जेहि लच्छि···' कहा है, अर्थात्

यहाँ का शोभाधिक्य श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से है, वैसे यहाँ 'राम-पुर' कहकर शोभा के हेतु श्रीरामजी को जनाया। 'पावन' पुर का विशेषण है, यथा—"बंदउँ अवधपुरी अति पावनि।" (दो० १५); "पावनि पुरी रुचिर यह देसा।" (उ० दो० ३)। श्रीराम-पुर होने से तीर्थ-रूप है। अतः, पावन है और राजधानी के सम्बन्ध से नगर है, वह सुहावन है। तीर्थ पवित्र होते हैं, पर यह नियम नहीं है कि वहाँ सुंदरता भी हो ही। यहाँ दोनों हैं। पूर्वार्द्ध में शांत रस की शोभा और उत्तरार्द्ध में शृंगार रस की पूर्णता कही गई है। 'हरषे नगर बिलोकि'''—ये जनकपुर के रहनेवाले हैं, वहाँ की रचना पर—'मन बिरंचि कर भूल' 'जो बिलोकि सुरनायक मोहा।' कहा गया है। वैसो अयोध्या की भी शोभा देखी। अतः, हर्ष हुआ कि योग्य सम्बन्ध होगा। श्रीअवध की शोभा पर भी ब्रह्माजी और इन्द्रादिक का मोहना कहा गया है, यथा—"देखत अवध को आनंद'''।" (गी० उ० २१)।

(२) 'भूपद्वार तिन्ह'''—राजा ने द्वारपालों से सुना और तुरत बुलाया, जैसे श्रीराम-लक्ष्मण का सदेश जाना कि शीघ्र बुलाया और द्वारपालों ने लौटकर कहा, तुरन्त ही दूत लोग राजा के पास आये। वैसी ही शीघ्रता कवि ने भी की कि एक ही अर्द्धाली में सब कह दिया।

(३) 'करि प्रनाम तिन्ह पाती'''—अपना नाम-ग्राम आदि प्रथम ही द्वार पालों से कहला भेजे थे, इससे यहाँ केवल प्रणाम करके पाती देना (पत्रिका) ही कहा गया। गीतावली में श्रीशतानन्दजी का आना लिखा है, पर यहाँ के—'करि प्रनाम' से उसका निराकरण है।

'मुदित महीप आप '''—अत्यन्त वात्सल्य में श्रीराम-प्रेम वश इतना विलंब नहीं सह सके कि मंत्री लेकर वाचें एव पहुँचावें, प्रत्युत स्वयं उठकर लिया। यह भी कहा जाता है कि राजा जनक योगिराज भी हैं। अतः, उन्हें आदर देने को उनका भेजा हुआ पत्र स्वय ही उठकर लिया।

(४) 'बारि बिलोचन बाँचत'''—यहाँ राजा के प्रेम की उत्कृष्ट दशा प्रकट हुई। यथा—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।" (दो० २२८); छाती भर आई अर्थात् कंठ गद्गद हो गया, प्रेम से विह्वल हो गये। अतः, वचन नहीं कह सकते। सभा के लोग राजा की दशा पर बुरे-भले, दोनों की तर्कणा करते हैं, पर राजा कुछ कह न सके। खट्टा-मीठा बुरे-भले के लिये मुहावरा है। श्रीराम-लक्ष्मण के समाचार पढ़ते ही उनका ध्यान हृदय में आ गया, राजा ज्यों-के-त्यों स्तब्ध रह गये।

(५) 'बर चीठी'—क्योंकि इसमें श्रीराम-लक्ष्मण का यश है। अत., श्रीरामजी से भी अधिक है, यथा—"प्रभुते प्रभु-चरित पियारे।" (गी० बा० ४४)।

'खाटी मीठी'—पर कहा जाता है कि ताटका-वध, यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुर्भंग, परशुराम पराजय और विवाह—ये ही खट्टी मीठी बातें हैं। यहाँ प्रत्येक में प्रथम अप्रिय, फिर प्रिय, बातें हैं—जैसे ताटका खान दौड़ी—यह खट्टी, उसे एक ही बाण में मारा—यह मीठी, यज्ञ-रक्षा में मारीच आदि से युद्ध हुआ—यह खट्टी, उन्हें मारकर सुयश पाया—यह मीठी, अहल्या को निर्जन वन में पत्थर बनी देखा—यह खट्टी, उसका उद्धार किया—यह मीठी, धनुष की कठोरता का वर्णन एव रावण आदि का उससे हारना—यह खट्टी, उसे क्षण भर में तोड़ चढ़ाया—यह मीठी, परशुराम क्रोध-पूर्ण आये—यह खट्टी, शस्त्र देकर प्रणाम करके गये—यह मीठी। आप बरात सजकर आवें - यह मीठी !!

पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥६॥
खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आये भरत सहित हित भाई ॥७॥
पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते पाती आई ॥८॥

दोहा—कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ, अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह-साने बचन, बाँची बहुरि नरेस ॥२९०॥

अर्थ—फिर धैर्य धरकर चिट्ठी पढ़ी, सारी सभा सची बात सुनकर प्रसन्न हुई॥६॥ जहाँ खेल रहे थे वहीं श्रीभरतजी ने खबर पाई तो वे मित्रों और भाई शत्रुघ्न के साथ (दौड़े) आये॥७॥ अत्यन्त प्रेमपूर्वक सकुचते हुए पूछते हैं कि हे तात! यह पत्रिका कहाँ से आई है?॥८॥ कहिये तो प्राणप्रिय दोनों भाई कुशल से तो हैं? और किस देश में हैं? इन प्रेम में सने हुए वचनों को सुनकर राजा ने पत्रिका को फिर से पढ़ा।२९०।

विशेष—(१) 'हरषी सभा बात सुनि साँची।'—इससे जान पड़ता है कि पहले भी कुछ उड़ती हुई खबर मिलती थी, पर आज लिखित प्रामाणिक समाचार आये, इससे सभा भर को हर्ष हुआ।

(२) 'आये भरत सहित हित भाई।'—'हित' का अर्थ सखा है, सखाओं के साथ खेल रहे थे, यथा—"नहिं आवहिं तजि बाल-समाजा।" (दो० २०२); वे सब सखा भी श्रीरामजी के प्रेमी हैं। अतः, श्रीभरतजी के साथ सब हो लिये और खेल छोड़कर दौड़े आये।

(३) 'पूछत अति सनेह सकुचाई।'—श्रीभरतजी का स्वभाव संकोचयुक्त है, यथा—"महूँ सनेह-सँकोच-बस, सनमुख कहे न बैन।" (अ० दो० २६०); "तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।" (अ० दो० २५१); किन्तु यहाँ स्नेह की अधिकता ने संकोच को जीत लिया कि बिना पूछे नहीं रहा गया। प्रश्न का उत्तर तो इतने ही में हो जाता कि जनकपुर से पाती आई है, वहीं पर कुशल से दोनों भाई हैं, पर इनका स्नेह देखकर राजा ने विचारा कि बिना पूरा सुने संतोष न होगा। अतः, फिर से पढ़ सुनाया।

'प्रान-प्रिय'—प्राणों से प्रिय और कुछ भी नहीं है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७); श्रीराम-लक्ष्मण भरतजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥१॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी॥२॥
तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥३॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम नीके निज नयन निहारे॥४॥
स्यामल गौर धरे धनु-भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा॥५॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेमबिबस पुनि पुनि कह राऊ॥६॥
जा दिन ते मुनि गये लिवाई। तब ते आजु साँचि सुधि पाई॥७॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने॥८॥

दोहा—सुनहु महीपति-मुकुटमनि, तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम-लखन जिन्हके तनय, बिस्वबिभूषन दोउ॥२९१॥

शब्दार्थ—भैया = प्रिय संबोधन है, यह यहाँ ज्येष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ भाई को कहा जाता है। बारे = बच्चे।

अर्थ—पत्रिका को सुनकर दोनों भाई पुलकित हुए, स्नेह इतना बढ़ा कि शरीर में नहीं समाता ॥१॥ श्रीभरतजी की पवित्र प्रीति देखकर सब सभा को विशेष सुख प्राप्त हुआ ॥२॥ तब राजा ने दूतों को पास में बैठाया और उनसे मीठे और मन को हरनेवाले (सुंदर) वचन बोले ॥३॥ भैया ! कहो, दोनों बच्चे कुशल तो हैं ? तुमने अपने नेत्रों से उन्हें 'नीके' (अच्छी तरह और सकुशल) देखा है ? ॥४॥ एक श्याम वर्ण और दूसरे गोरे हैं, धनुष और तरकश धारण किये रहते हैं, किशोर अवस्था है और विश्वामित्र मुनि के साथ हैं ॥५॥ जो तुम पहचानते हो तो उनका स्वभाव कहो। प्रेम के विशेष वश में होने से राजा फिर-फिर (ऐसे ही) पूछते हैं ॥६॥ जिस दिन से मुनि उनको लिवा ले गये, तब से आज ही सच्चा समाचार मिला ॥७॥ कहो तो, विदेह राजा ने उन्हें कैसे जाना ? ऐसे प्यार-भरे वचनों को सुनकर दूत मुसकाये ॥८॥ (और बोले) हे राजाओं के मुकुट मणि ! सुनिये, आपके समान कोई धन्य नहीं है कि संसार-भर के विभूषण (रूप) श्रीराम-लक्ष्मण दोनों जिनके पुत्र हैं ॥२९१॥

विशेष—(१) 'सुनि पाती पुलके दोउ···'—इनका स्नेह राजा के समान ही है, *यथा*—"बारि विलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥" (दो० २८९)। 'समात न गाता'—अर्थात् रोमांच और प्रेमाश्रुओं के द्वारा मानों निकला पड़ता है। सभा का प्रेम इनसे कम है तभी तो—'हरषी सभा' मात्र कहा गया।

(२) 'प्रीति पुनीत भरत कै···'—इनकी प्रीति मन, वचन और कर्म से पवित्र है—'पूछत अति सनेह सकुचाई।' स्नेह और संकोच मन का धर्म है। 'सनेह साने बचन' यह वचन में प्रीति है। 'अधिक सनेह समात न गाता।' में शरीर एवं कर्म में भी प्रीति है। 'पुनीत'—क्योंकि स्वार्थ-रहित है, यथा—"परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥" (अ० दो० २८८)। 'देखी'—पहले कानों से ही सुनते थे, आज आँखों से भी देख लिया कि सत्य ही भरत में श्रीरामजी के प्रति गूढ़ स्नेह है, यथा—"गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।" (अ० दो० १८२)। 'सकल सभा सुख···' प्रथम 'हरषी सभा' कहा गया था, अब सबको भरत का भायप देखकर विशेष सुख हुआ कि भ्रातृस्नेह हो तो ऐसा !

(३) 'तब नृप दूत निकट···'—निकट बैठाना आदर है, यथा—"*अति आदर समीप बैठारी।*" (लं० दो० २०)। 'मधुर'—सुनने में। 'मनोहर'—समझने में।

(४) 'भैया कहहु कुसल···'—इस अर्द्धाली के मूल ही में जो रस है, वह अर्थ में नहीं आ सकता। इतने बड़े चक्रवर्ती महाराज होकर दूतों को 'भैया' कहते हैं, क्योंकि इन्होंने श्रीरामजी का समाचार लाकर दिया है, यथा—"जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे॥" (अ० दो० २२३); "जो कहिहै फिरे राम लखन घर करि मुनि-मख रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहिं लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी॥" (गी० बा० ९८)। अतः, राजा ने दूतों के लिये श्रीरामतुल्य प्रिय मानकर वही संबोधन कहा जो ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी को (भैया) कहते थे। 'नीके' शब्द श्लिष्ट है—'दोउ बारे' के साथ 'कुशलता' के और 'निहारे' के साथ 'अच्छी तरह' के अर्थ में है। 'तुम्ह नीके' का यह भी भाव है कि हमसे तो तुम्हीं नीके (अच्छे) हो, क्योंकि उन्हें अपने नेत्रों से देखा है।

(५) 'स्यामल गौर धरे ···'—राजा विचारते हैं कि राम-लक्ष्मण तो सादे वेष में होंगे, बहुत राजकुमारों में इनलोगों ने उन्हें पहचाना हो या नहीं; इसलिये प्रथम ही उनकी हुलिया (रूप-रंग और आकार-प्रकार) कहते हैं। अंत में कौशिक मुनि के साथ कहा, क्योंकि वे महामुनि हैं, अतः प्रसिद्ध रहे होंगे।

(६) 'तब ते आजु साँचि सुधि…'—महाराज चाहते तो नित्य दूतों से समाचार लिया करते, पर राजा ने तो अपना पितृत्व मुनि में स्थापित कर दिया था, यथा—"तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।" (दो० २०७); उसका निर्वाह करते हुए सुधि तक नहीं लेते। यह मुनि पर दृढ़ विश्वास एवं निर्भरता है।

(७) 'कहहु बिदेह कवन बिधि…'—'विदेह' पद में व्यंग्य भी है कि वे तो ज्ञानी हैं, अतः, देह की भी सुधि नहीं रखते, तो राम-लक्ष्मण को कैसे जाना? यह चिट्ठी में नहीं लिखा था, इसलिये जानने का प्रकार मुखाग्र सुना चाहते हैं। 'दूत मुसुकाने'—क्योंकि इन्होंने दोनों भाइयों का तेज-प्रताप और वीरता देखी है और इधर वात्सल्य-वश उनका अत्यन्त लाघव सुनते हैं। अथवा 'प्रिय वचन' से विदेह शब्द के व्यंग्यार्थ पर भी मुसकुराये।

'बिस्वबिभूषन'—वे दोनों भाई जगत् भर को सुशोभित करनेवाले हैं।

पूछत जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजिआरे ॥१॥
जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥२॥
तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे। देखिअ रबि कि दीप कर लीन्हे ॥३॥
सीयस्वयंबर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक ते एका ॥४॥
संभुसरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा ॥५॥
तीनि लोक महँ जे भटमानी। सब कै सकति संभुधनु भानी ॥६॥
सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू ॥७॥
जेहि कौतुक सिवसैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा ॥८॥

दोहा—तहाँ राम रघुबंसमनि, सुनिअ महा महिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकजनाल ॥२९२॥

सके, सभी बली वीर हार गये ॥५॥ तीनों लोकों में जो-जो अभिमानी योद्धा थे, उन सबकी शक्ति को शिवजी के धनुष ने तोड़ डाला ॥६॥ जो बाणासुर सुमेरु पर्वत को उठा सकता था वह भी हृदय से हारकर परिक्रमा (या युक्ति—बहाना) करके चला गया ॥७॥ जिसने खेल ही-खेल में कैलाश को उठा लिया, उसने भी उस सभा में हार मानी ॥८॥ वहाँ (उस सभा में) हे महाराजाधिराज ! सुनिये, रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी ने धनुष को बिना श्रम के तोड़ डाला, जैसे हाथी कमल की दण्डी को (तोड़ता है) ॥२९२॥

विशेष—(१) 'पूछन जोग न तनय···'—इस तरह के प्रश्नों से वे पूछने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे सिंह के तुल्य हैं, सिंह के समान सामर्थ्यमान् और प्रतापी हैं, सिंह जिधर जा निकलता है उधर स्वयं हल्ला हो जाता है। सब जान जाते हैं, उसके प्रताप से सब दब जाते हैं। ऐसे ये आपके कुमार अपने यश-प्रताप रूप उजाले से तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाले हैं। आपके पुत्रों ने अपने सामर्थ्य संबंधी तेज-प्रताप से तीनों लोकों में उजाला कर दिया। इसी की व्याख्या अगली अर्द्धाली में है।

(२) 'जिन्हके जस प्रताप के···'—यहाँ यथासंख्यालंकार से यश को चन्द्रमा और प्रताप को सूर्य की उपमा है, यथा—"नव बिधु बिमल तात जस तोरा।" (अ० दो० २०८); "जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भये अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०); "काम से रूप प्रताप दिनेस से···" (क० उ० ४३); इनके यश के आगे चन्द्रमा फीके और प्रताप के सामने सूर्य ठंढे लगते हैं तो और कौन है जो समता कर सके ? यहाँ प्रतीप अलंकार है।

यहाँ बाहु-बल के अभिमानी राजा लोग चन्द्रमा-रूप थे—"नृप भुज-बल बिधु सिव-धनु राहू।" (दो० २४६), वे सब मलिन पड़ गये—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे।" (दो० २६२), और सूर्यवत् प्रतापी परशुरामजी आये—"आये भृगुकुल कमल पतंगा।" (दो० २६७), वे प्रथम तपते हुए आये, फिर ठंढे होकर गये—"छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।" (दो० २८४)।

(३) 'तिन्ह कहँ कहिय नाथ ····'—छिपी हुई वस्तु दीपक से देखी जाती है, चन्द्रमा और सूर्य की तरह जिनका यश और प्रताप है उनके पहचानने के लिये विदेह को अपने ज्ञान-दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह—'कहहु बिदेह कवन··' के प्रति है, या, राजा ने कहा था—'पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।' तदनुसार उनके कहे हुए उपाय—"स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बयकिसोर कौसिक मुनि साथा॥" आदि दीपक तुल्य है।

(४) 'सीय-स्वयंबर भूप···'—एक-से-एक अधिक बलवाले सुभट चारों ओर से एक ही दिन जुट आये, सबके आने का कारण सीय-स्वयंबर था। यथा—"दीप दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम-जो पन ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (दो० २५०)। 'एक ते एका'—एक उठा, उसके हारने पर उससे अधिक बलवाला उठा, इस क्रम से एवं सबका साथ उठना भी ले सकते हैं।

(५) 'संभु सरासन काहु न टारा'—'टारा' यथा—"तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।" (दो० २५१), 'हारे सकल बीर ··' यथा—"भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥" (दो० २५०)। 'हारे', यथा—"कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥" (दो० २५०)।

'तीनि लोक महँ जे ·· ··'—ये शिव-धनुष तोड़ने को अभिमान करके चले, पर शिव-धनुष ने ही इनकी शक्ति तोड़ डाली।

(६) 'सकइ उठाइ सरासुर····· '—'सकइ' मेरुको उठाया नहीं, पर उठा सकता है'। उपर्युक्त—

'चलत घोर' में भट, 'भट मानी' में सुभट और ये बाणासुर-रावण महाभट हैं, यथा—"रावन बान महाभट भारे।" (दो० २५१)।

(८) 'तहाँ राम रघुबंस मनि···'—दोनों भाई रघुवंश मणि हैं, इनमें 'राम' कहकर तोड़ने वाले को स्पष्ट किया। उपक्रम में—'सुनहु महीपति मुकुटमनि' कहा, उपसंहार में—'सुनिय महामहिपाल' कहा है। उपक्रम और उपसंहार में चक्रवर्तीजी की बड़ाई के कारण साथ ही लिखे हैं—'राम लखन जिन्हके तनय' 'राम रघुबंसमनि···भंजेउ चाप'। 'प्रयास बिनु'—अर्थात् और राजा लोग श्रम करके भी कुछ न कर सके, इन्होंने बिना श्रम ही तोड़ा—"छुअतहिं टूट पिनाक" (दो० २८२); 'जिमि गज पंकज नाल' यथा—"तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" (दो० २५४); ये जनकपुर-वासियों के वचन हैं। ये दूत भी उन्हीं में से हैं। अतः, वही बात कह रहे हैं।

सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥१॥
देखि रामबल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥२॥
राजन राम अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखन पुनि तैसे॥३॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥४॥
देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥५॥

अर्थ—(धनुर्भंग) सुनकर क्रोध-भरे परशुरामजी आये और उन्होंने बहुत तरह से आँख दिखाई॥१॥ श्रीरामजी का बल देखकर अपना धनुष दिया और बहुत विनय करके वन को चले गये॥२॥ हे राजन्! जैसे श्रीरामजी अतुलित बली हैं, वैसे ही तेजो निधान फिर लक्ष्मणजी भी हैं॥३॥ जिनके देखते ही (दृष्टि मात्र से) राजा लोग काँपते हैं, जैसे सिंह के नवयुवक बच्चे के ताकने पर हाथी काँपे॥४॥ हे देव (नरदेव)! आपके दोनों पुत्रों को देखकर अब कोई आँखों के तले (सामने) नहीं आता॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सरोष भृगुनायक···'—'सुनि' यथा—"तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आये···" (दो० २६७)। 'सरोष' के साथ 'भृगुनायक' देकर जनाया कि जैसे भृगु क्रुद्ध होकर विष्णु भगवान् को मारने गये थे, वैसे ये भी आये। 'बहुत भाँति तिन्ह···' यथा—"बोले चितइ परसु की ओरा।" (दो० २७२); फिर स्वयं वीरता कही, कौशिक से भी कहा—"कहि प्रताप बल रोष हमारा।" (दो० २७४); फिर फरसे की घोरता बतलाई—"परसु मोर अति घोर।" (दो० २७२), पुनः—"चाप-स्रुवा···" से—"समर यज्ञ जग···" (दो० २८३) तक; इत्यादि कहे, यथा—"काल कराल नृपालन के धनु-भंग सुने फरसा लिये धाये। "महा रिसि ते पुनि आँखि देखाये॥" (क० बा० २२); अर्थात् बहुत तरह से डरवाना चाहा।

(२) 'देखि राम-बल निज धनु···'—पहले अपने बल का मद था, अब वह क्रमशः क्रोध द्वारा घट गया, यथा—"रिस तन जरइ होइ बल हानी।" (दो० २७७); तब श्रीरामजी का बल उन्हें देख पड़ा, तब रमापति का शार्ङ्ग धनुष चढ़ाने को देकर संदेह मिटाना चाहा—"देव चाप आपुहि चलि गयेऊ।" पर बल का निश्चय हो गया, तो वही शार्ङ्ग-धनुष श्रीरामजी को दे डाला। इस तरह अपना धनुष (हथियार) शत्रु को देना अपनी पूर्णतया हार को स्वीकार करना है।

(३) 'राजन राम अतुल बल ···'—दूतों ने धनुष तोड़ने से श्रीरामजी का अतुल बल देखा, यथा—"तब भुज-बल-महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी॥" (दो० २३८); लक्ष्मणजी का तेज देखा, यथा—"कुँवर चढ़ाई भौंहैं अब को विलोकै सौंहैं जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं।" (गी० बा० ९९)। यही आगे—'कंपहिं भूप···' से कहते हैं। पुनः जैसे अतुलबल राम हैं, वैसे तेजो-निधान लक्ष्मणजी भी हैं, इस तरह बल और तेज दोनों भाइयों में कहा, यथा—"सुनु पति जिन्हहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥" (कि० दो० ९)।

'जिमि गज हरिकिसोर··· '—यथा—"अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप। मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंह-किसोरहिं चोप॥" (दो० २६७)। किशोर अवस्था के सिंह में उत्साह अधिक होता है, उपमेय लक्ष्मणजी भी किशोर ही हैं।

(४) 'देव देखि तव बालक दोऊ····· '—ऐसे पुत्रों के सम्बन्ध से आप देव-रूप हैं, जब से आपके पुत्रों को देखा है, तब से आँखों के सामने पृथिवी भर में और वीर देख ही नहीं पड़ता। प्रथम राजकुमारों को सूर्य-रूप कह आये—"देखिय रवि कि दीप कर लीन्हे।" जो सूर्य को देखता है, उसे और नहीं दिखाई देता। यह—'तुम्ह नीके निज नयन निहारे।' का उत्तर है।

दूत-बचन-रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप - बीर - रस - पागी॥६॥
सभासमेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे॥७॥
कहि अनीति ते मूँदहिं काना। धरम बिचारि सबहिं सुख माना॥८॥

दोहा—तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ, दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरुहि सब, सादर दूत बोलाइ॥२९३॥

अर्थ—दूतों के प्रेम, प्रताप और वीर रस में पगे हुए वचनों की रचना प्रिय लगी॥६॥ सभा के साथ राजा अनुराग-पूर्ण हुए और दूतों को न्योछावर देने लगे॥७॥ तब उन्होंने 'यह अनीति है'—यह कहकर (हाथों से) कान बन्द कर लिया, धर्म विचारकर सभी ने सुख माना॥८॥ तब राजा ने उठकर वशिष्ठजी के पास जा उनको पत्रिका दी और आदर-पूर्वक दूतों को बुलाकर गुरुजी को सारी कथा सादर सुनाई॥२९३॥

विशेष—(१) 'दूत-बचन-रचना···'—महाराज ने मधुर मनोहर वचन कहे थे, उत्तर में दूतों ने भी प्रेम, प्रताप और वीर रस में पगे हुए वचन कहे हैं, इन वचनों में—"सुनहु महीपति मुकुटमनि।" से—"पुरुष सिंह तिहु पुर उँजियारे॥" तक विशेष प्रेम रस के पगे, "जिनके जस प्रताप के आगे।" से—"देखिय रवि कि दीप कर लीन्हे॥" तक प्रताप रस के पगे, और "सीय स्वयंबर भूप अनेका।" से—"अब न आँखितर आवत कोऊ॥" तक वीर रस के पगे वचन हैं। यों तो समष्टि में सभी वचन प्रेम आदि रसों से पगे हैं 'वचन रचना'—युक्ति-पूर्वक क्रमशः लचीले शब्दों से सभ्यता के साथ कहना।

'दूतन्ह देन निछावरि लागे।'—दूतों ने बहुत-सी मंगलमयी प्रिय बातें एक साथ ही सुनाईं, जिन एक-एक बातों पर न्योछावर करना योग्य था। जैसे धनुष टूटने पर जनकपुर-वासियों ने किया है, यथा—

"करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" (दो० २९१)। पुन "प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये।" (अ० दो० ७), इन लोगों के समक्ष तो ये सब बातें मानों अभी ही हुई हैं। अत, सभी अनुराग-युक्त हुए और न्योछावर देने लगे।

(२) 'कहि अनीति ते'''—ये दूत लोग राजा जनक के मंत्री-वर्ग हैं, यथा—"कौशिकस्तु नयेत्याह राजा चाभाष्य मंत्रिणः। अयोध्यां प्रेषयामास" (वाल्मी० १।१०।२०); इससे ये राजा के सखा के तुल्य हैं, जैसे सुमंत्र मंत्री को राजा दशरथ सखा कहते थे। अतः, ये दूत श्रीजानकीजी को कन्या के समान मानते हैं। कन्या की ससुराल के ग्राम का लोग जल तक नहीं पीते, यह भारतवर्ष के धार्मिकों का नियम है, फिर ये लोग द्रव्य कैसे लें? अत, कान मूँदते हैं कि लेने की बात तो दूर है, हमलोग कानों से भी सुनना नहीं चाहते, क्योंकि यह हमारे धर्म के विरुद्ध है।

'तब उठि भूप '''—गुरुजी सभा में न थे, प्रेम के मारे राजा स्वय अकेले ही गुरुजी के पास चले गये। 'उठि'—क्योंकि दूतों से चिट्ठी लेकर बैठ गये थे। 'सादर' दीपदेहली रूप से कथा सुनाने और दूत बुलाने में भी है। दूतों को इससे बुलाया, कि सब बातें उनके सामने की हैं, पुन वे उसे प्रेम, प्रताप और वीर रस से मिलाकर कहेंगे, यही सादर सुनाना है। दूतों को सादर बुलाना श्रीराम सदेश लाने के सम्बन्ध से है। राजा ने गुरु से स्वय नहीं कहा, क्योंकि बड़ों के सामने पुत्रों का यश कहना अनुचित है।

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥१॥
जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥२॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाये। धरमसील पहिं जाहिं सुभाये ॥३॥
तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥४॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥५॥
तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके ॥६॥
बीर बिनीत धरम-ब्रत-धारी। गुनसागर बर बालक चारी ॥७॥
तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना ॥८॥

दोहा—चलहु बेगि सुनि गुरुबचन, भलेहि नाथ सिर नाइ।
भूपति गवने भवन तब, दूतन्ह बास देवाइ ॥२९४॥

अर्थ—(कथा) सुनकर गुरु अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि पुण्यात्मा पुरुषों के लिये पृथिवी सुख से छाई हुई रहती है ॥१॥ जैसे नदियाँ (स्वय) समुद्र में जाती हैं, यद्यपि उसे इनकी कामना नहीं रहती ॥२॥ वैसे ही सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये स्वाभाविक ही धर्मात्मा के पास जाती हैं ॥३॥ जैसे आप गुरु, ब्राह्मणों, गायों और देवताओं की सेवा करनेवाले हैं, वैसी ही कौशल्या देवी भी पवित्र हैं ॥४॥ ससार में आपके समान सुकृती न कोई हुआ, न है और न होने ही वाला है ॥५॥ हे राजन्! आपसे अधिक बड़ा

पुण्य किसका है कि जिनके राम के समान पुत्र हैं ॥ ६ ॥ आपके वीर, विशेष नम्र और धर्म के व्रत धारण करनेवाले, गुणों के समुद्र श्रेष्ठ चार बालक हैं ॥७॥ आपको सभी (भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों) कालों में कल्याण है, डंका बजाकर बरात सजिये ।८॥ शीघ्र चलिये, (यह) गुरुजी के वचन सुनकर, शिर नवा 'नाथ ! बहुत अच्छा' ऐसा कह और दूतों के ठहरने का प्रबंध करके राजा महल में गये ॥२९४॥

विशेष—(१) 'सुनि बोले गुरु अति'''—पत्रिका देखी और दूतों से संवाद भी सुना, इससे इन्हें अति सुख हुआ, जैसे पूर्व राजा का सुख होना कहा गया। 'अति' न होने से सब सभा के समान ही इनका सुख भी समझा जाता। 'छाई'—सर्वत्र सुख-ही-सुख है।

(२) 'जिमि सरिता'''तिमि सुख'''' यथा—"भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी॥ रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध-अंबुधि कहँ आई॥" (अ० दो० १); 'जद्यपि ताहि कामना नाहीं।" यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।" (गीता २।७०)। भाव यह भी है, कामनावालों को संपत्ति प्रायः नहीं मिलती, यथा—"दिये पीठ पाछे लगे, सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठ गँवाय॥" (दोहावली २५७)।

(३) 'बिनहि बुलाये' अर्थात् अभीष्ट-सिद्धि तो होती है, न चाहने पर भी सुख-साज हो जाते हैं।

(४) 'तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु ''''''—ऊपर सुकृत का फल कहा अब सुकृत का स्वरूप कहते हैं, साथ ही कौशल्याजी को भी कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त फल दोनों के सुकृत के फल हैं, पहले सुकृत किया था, फल पाकर पूर्व स्वभावानुसार फिर भी सुकृत ही करते हैं।

(५) 'तुम्हते अधिक पुन्य''''''''—प्रथम कह चुके कि तीनों काल में आपके समान सुकृती नहीं है, अब उसका प्रमाण देते हैं कि—'राम सरिस सुत जाके'। फल देखकर सुकृत का अनुमान किया जाता है, परब्रह्म परमात्मा रामजी स्वयं पुत्र होकर फल रूप में प्राप्त हुए, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (दो० २०१); अन्यत्र भी कहा है, यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहाँ जेहि सम जग नाहीं॥ जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आय।" (अ० दो० २०९); इसपर संदेह होता, कि केवल श्रीराम ही सुकृत के फल होंगे। अतः, आगे चारों भाइयों को कहते हैं—

(६) 'बीर बिनीत धरम व्रतधारी।''''''''—धनुष तोड़ना वीरता है, परशुराम के कठोर वचन सहना विनीत भाव और मुनि के यज्ञ की रक्षा आदि धर्म के कार्य हैं, गुण, यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (दो० २४०); तथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा।" (दो० १९०); पुनः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की वीरता क्रमशः हनुमान्‌जी को बिना फर के बाण से गिराने, मेघनाद वध और लवणासुर के वध से प्रसिद्ध है, तथा—"भरतहिं धरम धुरंधर जानी।" (अ० दो० २५८)। ग्रंथ में शेष सब बातें सब भाइयों की बहुत हैं।

(७) 'तुम्ह कहँ सर्बकाल''''''—ईश्वर ने ही जिनके अधीन होकर पुत्रत्व स्वीकार किया है, उनके कल्याण में प्रतिकूल भी काल आदि अनुकूल हो जायँगे, यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बाहुक ११)। इससे जान पड़ता है कि ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अगहन मास ज्येष्ठ पुत्र के विवाह के लिये निन्दित है, राजा के हृदय में यह खटका था, उसपर गुरुजी ने ऐसा कहा।

(८) 'चलहु बेगि सुनि''''''—'बेगि'—क्योंकि सभी अवधवासी दोनों भाइयों के दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम

लखन दोउ वीर (दो० ३००)। पुनः दूत लोगों ने भी शीघ्रता की प्रार्थना की थी। 'दूतन्ह'—क्योंकि कई दूत आये थे।

राजा सब रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँचि सुनाई ॥१॥
सुनि संदेस सकल हरखानी। अपर कथा सब भूप बखानी ॥२॥
प्रेमप्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिदबानी ॥३॥

शब्दार्थ—रनिवास = रानियों के रहने के महल, पर यहाँ सब रानियों से तात्पर्य है, यथा—"आयो जनक राज रनिवासू।" (अ० दो० २८०); "मन भोगवत रह नृप रनिवासू।" (दो० ३५१)।

अर्थ—राजा ने सब रनिवास को बुला श्रीजनकजी की चिट्ठी बाँचकर सुनाई ॥१॥ समाचार सुनकर सब प्रसन्न हुईं, (फिर) और कथा (जो दूतों के मुखाग्र सुनी थी) राजा ने कही ॥२॥ रानियाँ प्रेम से खिली हुई (प्रसन्नचित्त) ऐसी शोभित हो रही हैं, मानों मोरनी मेघों के शब्द सुनकर (सुखी हो) ॥३॥

विशेष—(१) 'राजा सब रनिवास बोलाई।'—सबको बुला लिया, तब बाँचा, नहीं तो पीछे आनेवाली के लिये, फिर से पढ़ना पड़ता। 'जनक पत्रिका'—क्योंकि इसमें जनकजी की बड़ी प्रार्थना है, वह मुखाग्र कहने से यथार्थ नहीं बनती। अत, उसे बाँच कर सुनाया। 'सकल'—सब आ गई थीं, पुन सबके हृदय में श्रीराम लक्ष्मण पर स्नेह है। अत, हर्षित हुईं। 'अपर कथा'—'सीय स्वयवर भूप अनेका।' से—'त्रिमि गज हरि···' तक।

'प्रेम प्रफुल्लित' यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥" (दो० २८१), अर्थात् राजा के समान ही इनका भी प्रेम है।

'मनहु सिखिन···'—जैसे ग्रीष्म से तप्त मोरनी मेघों के शब्द सुन और पावस के जल को पाकर शीतल होती है वैसे ये रानियाँ श्रीराम-लक्ष्मण के वियोग रूपी ग्रीष्म की तपी हुई थीं। राजा के मधुर गंभीर स्वर से भाषण रूप मेघ गर्जन सुनकर और श्रीराम सुयश रूपी जल पाकर शीतल एव प्रफुल्ल हुईं। 'बारिद' अर्थात् जो बारि (जल) दे। यथा—"बरषहिं राम सुजस बर बारी।" (दो० ३५); राजा का भाषण मेघ-गर्जन के समान होता भी था, यथा—"दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥" (वाल्मी० २।२।२)।

मुदित असीस देहिं गुरनारी। अति-आनंद-मगन महतारी ॥४॥
लेहिं परसपर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती ॥५॥
राम-लखन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूपबर बरनी ॥६॥
मुनिप्रसाद कहि द्वार सिधाये। रानिन्ह तब महिदेव बोलाये ॥७॥
दिये दान आनंद-समेता। चले बिप्रबर आसिष देता ॥८॥

अर्थ—गुरु-नारियाँ प्रसन्न मन से आशीर्वाद दे रही हैं, माताएँ अत्यन्त आनन्द में डूब गई हैं ॥४॥ उस अत्यन्त प्रिय पत्रिका को एक-दूसरी से ले लेकर हृदय से लगाकर छाती ठंढी करती हैं ॥५॥ श्रेष्ठ राजा ने श्रीराम-लक्ष्मण की कीर्त्ति और करणी का वर्णन बारंबार किया ॥६॥ 'सब मुनि की अनुग्रह से हुआ' ऐसा कहकर द्वार पर गये, तब रानियों ने ब्राह्मणों को बुलाया ॥७॥ और आनन्द सहित दान दिया, वे ब्राह्मण श्रेष्ठ आशीष देते हुए चले ॥८॥

विशेष—(१) 'मुदित असीस देहिं …'—'देहिं' बहुवचन के योग से गुरु नारी शब्द बहुत गुरु पत्नियों का बोधक है, इससे गुरु वशिष्ठ की स्त्री अरुंधतीजी के अतिरिक्त और भी गुरु वर्ग (ब्राह्मणों एवं कुल वृद्धों) की स्त्रियों को भी जनाया है, वा, आदरार्थ भी बहुवचन का प्रयोग होता है, गुरुनारी का आशीर्वाद अमोघ है। अत, माताओं को 'अति आनन्द' हुआ। समाचार से आनन्द और आशीष से अति आनन्द हुआ।

(२) 'लेहिं परस्पर अति…'—दोनों पुत्र अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं।" (दो० २०७); इस पत्र में उनका चरित है। अतः, यह भी 'अति प्रिय' है। प्रिय के सम्बन्ध की वस्तु भी वैसी ही प्रिय होती है, यथा—"राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमँगत अनुरागा ॥… भरत लीन्ह उर लाय।" (अ० दो० १९३); "कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (अ० दो० ११८); "हरषहि निरखि राम पद अंका।" …"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥" (अ० दो० १२७)।

'राम लखन कै कीरति …'—मुनि-मख-रक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भंग, परशुराम पराजय, ब्रह्मांड को पैर से दबाना, परशुराम को निरुत्तर करना इत्यादि करनी हैं, इनसे जो यश हुआ वही कीर्ति है, यथा—"मुनितियतरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥" (दो० ३५६), "महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भजेउ चापा ॥" (दो० २६४)। 'बारहिं बार'—रानियों से प्रथम बार कहा, फिर उनका स्नेह देखकर दोबारा कहा, पुनः गुरु-नारियों के आशीर्वाद पर कहा, इत्यादि प्रेम के कारण बार-बार कहते हैं। 'भूप बर'—श्रीराम प्रेम के सम्बन्ध से 'बर' विशेषण है।

'मुनि प्रसाद…'—हमारे पुत्र तो मृदु, सुकुमार बालक हैं ? वे क्या कर सकते हैं, ये सब बातें मुनि की कृपा से उनके द्वारा हुई हैं। ऐसे ही श्रीजनकजी ने भी कहा है—"प्रभु प्रसाद धनु भजेउ रामा।" (दो० २८५); तथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥" (दो० ३५६), ये कौशल्याजी के वचन हैं। यही माधुर्य की प्रबलता है जो ऐश्वर्य को दबा देती है। 'रानिन्ह'—सब रानियों ने अपने-अपने महलों में पृथक्-पृथक् दान दिये।

'दिये दान आनंद…'—दान आनन्द-सहित-ही देना चाहिये, यथा—"रामहि सुमिरत रनभिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'बिप्र बर' अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मण, यथा—"तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृन्दा। जनु तनु धरे सकल-श्रुति छंदा ॥" (दो० ३११)।

सोरठा—जाचक लिये हँकारि, दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरजीवहु सुत चारि, चक्रबर्ति दसरत्थ के ॥२९५॥

कहत चले पहिरे पट नाना । हरषि हने गहगहे निसाना ॥१॥
समाचार सब लोगन्ह पाये । लागे घर घर होन बधाये ॥२॥
भुवन चारि दस भरा उछाहू । जनक-सुता-रघुबीर-बिबाहू ॥३॥

शब्दार्थ—कोटि = करोड़, पर यहाँ बहुत के अर्थ में है, यथा—"कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा।" (अ० दो० ८१)।

अर्थ—भिक्षा माँगनेवालों को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार की न्योछावरें दीं। वे नाना प्रकार के वस्त्र पहने हुए, ऐसा कहते हुए चले कि चक्रवर्त्ती दशरथ महाराज के चारों पुत्र चिरंजीव (दीर्घायु) हों प्रसन्नतापूर्वक धमाधम नगाड़े बजे ॥२६५-१॥ सब लोगों ने समाचार पाया और घर-घर बधावे होने लगे ॥२॥ चौदहों भुवनों में उत्साह भर गया कि श्रीजानकीजी और रघुबीर श्रीरामजी का ब्याह है (अतः, हमलोग देखने चलेंगे, सब इस उत्साह में निमग्न हैं) ॥३॥

विशेष—'जाचक लिये हँकारि···'—प्रथम ब्राह्मणों को दान कहा गया, यहाँ याचकों को न्योछावर, क्योंकि वे दान लेने के अधिकारी हैं और ये न्योछावर के। याचक भी प्रत्येक उत्सव के द्वारा पाते-पाते धनाढ्य हो गये हैं, यथा—"याचक जन भये दानी।" (गी० बा० ४), "जाचक जहँ तहँ करहिं कबार।" (गी० बा० २)। इससे न्योछावर के लिये बुलाना पड़ता है, नहीं तो ये तो बिना बुलाये ही आनेवाले हैं। अथवा ये रानियाँ घर से बाहर नहीं जा सकतीं, इसलिये भीतर बुलाना कहा गया। 'कोटि बिधि' यथा—"करहिं निछावरि मनिगन चीरा।" (दो० ३४०)। 'सुत चारि'—क्योंकि चारों पुत्रों की न्योछावर पृथक्-पृथक् दी गई है। 'चक्रवर्ति दसरत्थ के'—भाव यह कि इसी तरह पुत्र भी चक्रवर्त्ति-पद का राज्य भोगें। बहुत अधिक धन पाने से भी ऐश्वर्य सूचक 'चक्रवर्त्ति' नाम कहते हैं।

'कहत चले'—पूर्व भी कहा गया—'चले बिप्र बर आसिष देता।' अर्थात् अत्यंत हर्ष से गली-गली आशीष देते जाते हैं। 'पहिरे पट नाना'—पाने के साथ ही वस्त्र पहन लिये, जिससे देनेवाले को हर्ष हो।

(२) 'हरषि हने गहगहे ···' प्रथम ही गुरुजी ने कहा था कि—"सजहु बरात बजाइ निसाना।" (दो० २९३), तदनुसार बाजे बजाये गये कि जिसमें तैयारी जानकर बरात सजे। याचकों और ब्राह्मणों के द्वारा खबर गली-गली हो गई, पुनः डंके के द्वारा भी दूर तक सूचना हो गई।

(३) 'लागे घर-घर होन बधाये।'—महाराज में अपनपौ एवं श्रीराम प्रेम के कारण महाराज के उत्सव को लोग अपना ही उत्सव मानते हैं। अतः, घर-घर बधावे होने लगे, यथा—"वारहिं मुकुता रतन राज महिषी पुर सुमुखि समान।" (गी० बा० २)।

(४) 'भुवन चारि दस भरा उछाहू।'—प्रथम 'चारि' कहकर 'दस' कहा गया; अर्थात् उत्साह प्रथम थोड़ी जगह से उठा फिर क्रमशः अधिक व्याप्त हो गया। प्रथम राजा को, तदनन्तर सभा को, गुरु को रनिवास को, नगर को, अन्त में पुनः चौदहों भुवन में फैल गया। यह भी भाव है कि जब यहाँ घर-घर बधावे होने लगे, तब चौदहों भुवनों के लोग भी वैसा ही उत्साह मनाने लगे, इन्हें खबर कैसे मिली? यह उत्तरार्द्ध से स्पष्ट है कि—'जनक सुता-रघुबीर बिबाहू' अर्थात् जनक-प्रतिज्ञा पूर्ति में श्रीरामजी ने वीरता की है, उससे यश फैल गया—"महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४)। यह भी कहा जाता है कि आनन्द के समुद्र श्रीसीतारामजी मिथिला में हैं, प्रथम वहीं उत्साह हुआ, वहाँ से एक हलक (लहर) पत्रिका द्वारा अयोध्या पहुँची, उसने क्रमशः राजा, सभा, गुरु, रनिवास, नगर और चौदहों भुवनों को भर दिया, फिर लौटती लहर की तरह सबको घसीटते हुए मिथिला समुद्र ही में डाल दिया, क्योंकि सभी वहाँ आये

सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे ॥४॥
जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि ॥५॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगलरचना रची बनाई ॥६॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम विचित्र बजारू ॥७॥
कनककलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥८॥

दोहा—मंगलमय निज-निज-भवन, लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथी सींची चतुरसम, चौके चारु पुराइ ॥२९६॥

शब्दार्थ—चतुरसम (चतुस्सम) = एक गंध द्रव्य, जिसमें कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम और कपूर मिले रहते हैं, इसे 'अरगजा' कहते हैं, यथा—"गली सकल अरगजा सिंचाई।" (दो० ३४३), तथा—"मृग मद-चदन-कुकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥" (दो० १९३)।

अर्थ—मंगल समाचार सुनकर लोग प्रेम में मग्न हो गये, मार्ग, घर और गली सजाने लगे ॥४॥ यद्यपि अवध सदा ही सुहावन है, (क्योंकि यह) श्रीराम जी की मंगल मय पवित्र पुरी है ॥५॥ तो भी यह प्रीति की सुहावनी रीति है, इससे सजाकर मंगल रचना रची गई ॥६॥ सुन्दर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर से बाजार बहुत ही विचित्र छाया हुआ है ॥७॥ सोने के कलश, बन्दनवार, मणियों की झालरें, हल्दी, दूब, दही, अक्षत और मालाओं से ॥८॥ लोगों ने अपने अपने घरों को रचकर मंगल मय बनाया, गलियों को अरगजा से सींचा और सुन्दर चौकें पुराई ॥२९६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुभ कथा···'—श्रीरामजी के मिथिला चरित्र ऐसे हैं कि लोगों को अनुराग हो ही जाता है, यथा—"सभा समेत राउ अनुरागे।" (दो० २९१)। 'गृह' से यहाँ देवालय लेना चाहिये। क्योंकि आगे—'निज निज भवन' कहेंगे।

'जद्यपि अवध·· तदपि···'—लोग 'सुहावन' को सुहावना करते हैं—"छावा परम विचित्र बजारू।" 'मंगल मय' को मागलीक करते हैं—"मगल रचना रची बनाई।" और 'पावन' को पावन करते हैं—"बीथी सींची चतुर · " यह क्यों? उत्तर में कहा गया है—"प्रीति कै रीति · ।" 'तदपि' अर्थात् आवश्यकता नहीं रहने पर भी।

'हरद दूब दधि···'—यह सब सोने के थाल में सजे हैं, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलीं · " (अ० दो० २)।

'चौके चारु'—'चारु' से गजमुक्ताओं से पूरना बनाया, यथा—"चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर मनि मय सहज सुहाईं॥" (दो० २८०)।

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल दुति-दामिनि ॥१॥
बिधुबदनी मृग-सावक-लोचनि। निज सरूप रति-मान-बिमोचनि ॥२॥

गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी ॥३॥
भूप-भवन किमि जाइ बखाना। विश्वविमोहन रचेउ बिताना ॥४॥
मंगलद्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना ॥५॥

अर्थ—जहाँ तहाँ, बिजली की-सी कान्तिवाली, चन्द्रवदनी, हरिणी के बच्चे की-सी आँखोंवाली, अपने स्वरूप से कामदेव की स्त्री रति के गर्व को छुड़ानेवाली, सब स्त्रियाँ सोलहो शृंगार किये हुए, झुंड-झुंड बनाकर मिलकर ॥१-२॥ सुन्दर वाणी से सुन्दर मंगल गान कर रही हैं, उनके सुन्दर स्वर को सुनकर कोकिलाएँ लजा गईं ॥३॥ राजमहल का बखान कैसे किया जाय? संसार भर को मोहित कर लेने वाला मंडप (माँड़व) निर्माण किया गया ॥४॥ अनेकों सुन्दर मंगल पदार्थ सुसज्जित हैं, बहुत से नगाड़े बज रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जहँ-तहँ जूथ···'—'जूथ' अर्थात् एक साथ चालीस-पचास मिलकर, 'नवसप्त' अर्थात् सोलहो शृंगार युक्त, इससे सौभाग्यवती जनाया। स्त्रियों के सोलह शृंगार; यथा—"अंग शुची मज्जन वसन, माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुक में, भूषण मेंहदी वेश ॥ मिस्सी काजल अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होय कर, तब नव सप्त प्रबंध ॥" (कवि-प्रिया)।

(२) 'बिधु बदनी मृग···'—चन्द्रमा में लाछन (चिह्न) की तरह,इनके मुख चन्द्र में नेत्र हैं।

'गावहिं मंगल···'—ये मंगल प्रजाओं के घर-घर के हैं, राज भवन का आगे कहा गया है—

(३) 'भूप भवन किमि···'—जनकपुर में बितान रचना विस्तार से कह दी गई, वही रचनाएँ यहाँ भी हैं, यहाँ उसे—'विश्वविमोहन' से सूचित कर दिया। ऊपर पुरवासियों का कहा गया—'मंगलमय निज निज भवन ···' उसी समय यहाँ भी रचना हुई। जनकपुर में—"सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥" कहा गया, वही यहाँ—"मंगल द्रव्य मनोहर नाना। राजत" से जनाया। 'बाजत'—अर्थात् बज रहे हैं, ऐसा कहा है, क्योंकि बजाना पूर्व ही कह चुके हैं—"हरषि हने गहगहे निसाना।"

कतहुँ बिरद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेदधुनि भूसुर करहीं ॥६॥
गावहिं सुंदरि मंगलगीता। लेइ लेइ नाम राम अरु सीता ॥७॥
बहुत उछाहु भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा ॥८॥

दोहा—सोभा दसरथ भवन कइ, को कबि बरनइ पार।
जहाँ सकल सुर-सीस-मनि, राम लीन्ह अवतार ॥२९७॥

शब्दार्थ—मंगल-गीता = इस गीत में प्रथम देवता के पुरुष-स्त्री का नाम गाकर तब वर-दुलहिन का नाम ले-लेकर गान किया जाता है।

अर्थ—कहीं भाट विरुदावली उच्चारण कर रहे हैं और कहीं ब्राह्मण वेद ध्वनि कर रहे हैं ॥६॥ सुन्दरी स्त्रियाँ राम और सीता का नाम ले लेकर मंगल गीत गा रही हैं ॥७॥ उत्साह बहुत है, पर घर

अत्यन्त छोटा है। (अतः,) मानों वह उत्साह चारों ओर उमड़कर निकल चला ॥८॥ जहाँ सब देवताओं के शिरोमणि श्रीरामजी ने अवतार लिया है। उस महाराज दशरथ के महल की शोभा का वर्णन करने में कौन कवि पार पा सकता है ? ॥२९७॥

विशेष—(१) 'राम अरु सीता'—यहाँ वर-पक्ष प्रधान होने से राम नाम प्रथम कहा गया।

(२) 'मानहुँ उमँगि चला चहुँ ओरा।'—महाराज के यहाँ मंगल आदि हुए, नगाड़े बजे, वे सर्वत्र गूँज उठे। यही उमड़ कर चारों ओर जाना है, फिर पुरवासियों के—"मंगलमय निज निज ···" पर वैसे उमड़कर चला, तो बाजार आदि को डुबाता हुआ चौदहों भुवनों को डुबा दिया।

(३) 'सोभा दसरथ-भवन···'— यहाँ भी श्रीराम-सम्बन्ध से ही शोभा का आधिक्य कहा गया है।

भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यंदन साजहु जाई ॥१॥
चलहु बेगि रघुबीर - बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता ॥२॥
भरत सकल साहनी बोलाये। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाये ॥३॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे ॥४॥
सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी ॥५॥
नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवन जनु चहत उड़ाने ॥६॥
तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरतसरिस बय राजकुमारा ॥७॥
सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर-चाप तून कटि भारी ॥८॥

दोहा—छरे छबीले छयल सब, सूर सुजान नवीन।
जुग पदचर असवार प्रति, जे असि-कला-प्रवीन ॥२९८॥

शब्दार्थ—साहनी = प्रबन्धक। छयल = बने-ठने। छरे = छँटे, चुने हुए। छबीले = छबियुक्त।

अर्थ—फिर राजा ने भरतजी को बुला लिया (और कहा कि) जाकर घोड़े, हाथी और रथ सजाओ ॥१॥ और शीघ्र रघुवीर श्रीरामजी की बरात में चलो, यह सुनते ही दोनों भाई पुलक से भर गये ॥२॥ भरतजी ने सब (हाथी, घोड़े, रथ के) प्रबन्धकों को बुलाकर आज्ञा दी, वे प्रसन्न मन से उठ दौड़े ॥३॥ उन्होंने रुचि (फबती हुई) जीनों (जो जीन जिस घोड़े के योग्य थी, उन जीनों) से रचकर घोड़ों को सजाया। रंग-बिरंग (वा, जाति-जाति) के उत्तम घोड़े शोभित हो रहे हैं ॥४॥ सभी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त चंचल करणी (चाल) के हैं, पृथिवी पर ऐसे पैर धरते हैं, मानों जलते हुए लोहे पर रखते हों ॥५॥ वे अनेक जातियों के हैं, कहे नहीं जा सकते, मानों पवन का निरादर करके उड़ना चाहते हैं ॥६॥ उन सबपर भरतजी की समान अवस्थावाले बने-ठने राजकुमार सवार हुए ॥७॥ सभी सुन्दर और सब आभूषणों को पहने हुए, हाथों में धनुष-बाण और कमर में भारी तरकश धारण किये हुए हैं ॥८॥ सभी छैले छबीले, चुने हुए, शूरवीर, सुजान और नवीन अवस्था के हैं, प्रत्येक सवार के साथ दो-दो पैदल हैं, जो तलवार की कला में निपुण हैं ॥२९८॥

विशेष—'भूप भरत पुनि लिये ······'—राजा जब रनिवास में गये, तब से भरतजी का साथ छूटा है। इसीसे फिर बुलाना पड़ा। गुरुजी ने कहा था—'सजहु बरात···' उसीके अनुसार आज्ञा दे रहे हैं—'हय गय स्यंदन···' यहाँ चतुरंगिणी में तीन ही कहे गये, पैदल नहीं, क्योंकि वे तो बिगुल (डंका) होने पर स्वयं सजकर आ जायँगे।

(२) 'चलहु बेगि रघुबीर······'—गुरुजी ने कहा था—"चलहु बेगि।" (दो॰ २९४); वही सिलसिला आ रहा है। 'सुनत पुलक पूरे'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन की लालसा है, यथा—"सब के उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ बीर।" (दो॰ ३००)। प्रथम इन्हें यह भी शंका थी कि दो भाई बाहर ही हैं, शत्रुघ्नजी लड़के हैं, कहीं हमें श्रीअवध की रक्षा में न छोड़ जायँ। अतः, 'चलहु' सुनकर पुलकित हो गये। 'उठि धाये'—उपर्युक्त 'बेगि' के अनुसार है।

(३) 'तुरग' अर्थात् तेजी से गमनवाले। इसे ही—'निदरि पवन ···' से पुष्ट किया है। घोड़ों का साज आगे दो॰ ३१५ में श्रीरामजी की सवारी पर कहेंगे, इसीसे यहाँ थोड़े में कह दिया, वहीं से जानना चाहिये। 'बरन-बरन'—श्याम कर्ण, सब्जा, कुम्मैत, अबलक, खुरसाब, अरबी, ताजी, हंस आदि। 'नाना जाति···'—घोड़ों की जाति के भेद बहुत हैं, उनमें मुख्य भेद कुछ कहे गये भी हैं—'अयइव जरत धरत पग धरनी।'—थलचर, 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।'—नभचर, 'जे जल चलहिं थलहिं की नाईं।'—जलचर, इत्यादि इन तीन भेदों में अनेक हैं।

(४) 'तिन्ह सब छयल भये ······'—ये सब किशोर अवस्था के हैं। 'भरत सरिस ·····'—से जनाया कि भरतजी आगे हैं, क्योंकि महाराज ने इन्हें आज्ञा दी थी—'चलहु बेगि'; इसलिये ये पहले चले, जिससे सब शीघ्रता करें। समान अवस्थावालों के साथ होने से शोभा है।

'सब सुंदर सब भूषन ······'—इसके पूर्वार्द्ध शृंगार और उत्तरार्द्ध में वीर रस कहा गया है, जैसे कामदेव सुन्दर होता हुआ भी भटों में मुख्य है, यथा—"जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि॰ ४); (इसमें काम का प्रसंग है।) 'भूषन धारी' के साथ ही 'कर सर चाप' भी कहा गया, क्योंकि धनुष-बाण भी क्षत्रियों का भूषण है। 'तून कटि भारी'—क्योंकि सुन चुके हैं कि धनुर्भंग पर बहुत-से राजा अपना अपमान समझकर लड़ने पर सन्नद्ध थे, इसलिये ये लोग तैयारी से हैं। छैल आदि कोमल होते हैं। अत, वीरत्व भी कहा गया है।

(५) 'छरे छबीले छयल ···· '—उपर्युक्त गुण यहाँ एकत्र कहे हैं—'राजकुमारा' को 'छरे' 'सब सुन्दर' को 'छबीले' 'सब भूषण धारी' को 'छैल' 'कर सर चाप ···' को 'सूर सुजान'। सुजान का अर्थ यह कि बाण चलाने और दिव्यास्त्रों के मंत्र-भेदों के भी ज्ञाता हैं और 'भरत सरिस वय' को 'नवीन' से सूचित किया है।

'असि-कला प्रबीन'—घोड़ों और उनके सवारों की रक्षा के लिये तलवार में कुशल की आवश्यकता है जिससे वे दोनों बगल से सावधान रहा करें। 'असि' से अश्व का भी अर्थ लिया जाता है, अश्व में एक मात्रा बढ़ जाती, इसलिये 'असि' रक्खा गया है, यथा—"अंगद गद बिकटासि" (सु॰ दो॰ ५४), इसमें भी विकटास्य की जगह बिकटासि है। इसका प्रयोजन यह कि दोनों बगल में दो रहेंगे, घोड़े भारी हैं, जहाँ कहीं राजकुमार उतरें वहाँ एक तो घोड़ा थामे और दूसरा कुमार की सेवा में रहे।

बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े ॥१॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना ॥२॥

रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनि भूषन लाये ॥३॥
चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं। भानु-जान-सोभा अपहरहीं ॥४॥
सावकरन अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते ॥५॥
सुंदर सकल अलंकृत सोहे। जिन्हहिं बिलोकत मुनिमन मोहे ॥६॥
जे जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाईं ॥७॥
अस्त्र सस्त्र सब साज बनाई। रथी सारथिन्ह लिये बोलाई ॥८॥

दोहा—चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर, लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुंदर सबहि, जो जेहि कारज जात ॥२९९॥

शब्दार्थ—पनव = ढोल, छोटा नगाड़ा। अपहरहीं = हर रहे हैं, छीन लेते हैं। ध्वजा चिह्न-युक्त एवं केले की ऊँचाई का और पताका बिना चिह्न का ताल (ताड़) की ऊँचाई का होता है यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (आ० दो० ३७)। सावकरन (श्यामकर्ण) = वह घोड़ा जिसका सर्वांग श्वेत और कान काला होता है। होते = यज्ञ में हवन के योग्य। पहले अश्वमेध यज्ञ के हवन में श्यामकर्ण घोड़े ही लिये जाते थे।

अर्थ—कठिन संग्राम के वीरों का बाना धारण किये हुए सब नगर के बाहर निकल कर आ खड़े हुए ॥१॥ अपने-अपने चतुर घोड़ों को अनेक चालों से फिरा रहे हैं, ढोलों और नगाड़ों का शब्द सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं ॥२॥ ध्वजाओं, पताकाओं, मणियों और भूषणों को लगाकर सारथियों ने रथों को विचित्र बना दिया है ॥३॥ सुन्दर चँवर लगे हैं, घंटियाँ शब्द कर रही हैं, (ये रथ) सूर्य के रथ की शोभा को हर रहे हैं ॥४॥ सारथियों ने उन रथों में अगणित हवन के योग्य (दुर्लभ) श्यामकर्ण घोड़े जोते ॥५॥ जो सभी देखने में सुन्दर और अलंकारों से सुसज्जित सोह रहे हैं। जिन्हें देखते ही मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ जो जल में भी पृथिवी पर ही के समान चलते हैं, ऐसे अधिक वेग से चलनेवाले हैं कि टाप भी नहीं डूबने पाती ॥७॥ अस्त्र-शस्त्र और सब साज सजाकर सारथियों ने रथ की सवारियों को बुला लिया ॥८॥ रथों पर चढ़-चढ़कर बरात नगर के बाहर जुटने लगी। जो-जो भी जिन-जिन कामों को जाते हैं उन सभी को सुन्दर शकुन होते हैं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'बाँधे बिरद बीर····'—उपर्युक्त राजकुमारों का ही वर्णन हो रहा है। 'पुर-बाहर'—क्योंकि यहीं से सजकर बरात चलेगी। 'फेरहिं'—घोड़े चंचल हैं, आगे बढ़ना चाहते हैं, सवार लोग लगाम खींच खींचकर रोकते हैं, फिराते हैं और तरह-तरह की चालों से नचाते हैं, उसी के अनुकूल 'पनव निसान' भी बज रहे हैं, अतः, आनन्दित होते हैं। यहाँ सुभटों को एकत्र देखकर मारू राग बजा दिया गया जिससे वे आनन्दित होते हैं, यथा—"मारू राग सुभट सुखदाई।" (लं० दो० ७); "बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ ॥" (लं० दो० ३१)।

(२) 'किंकिनि धुनि करहीं····'—अभी घोड़े जोते नहीं गये, पर जब नाधने के लिये लोग रथ खींच-खींचकर लाते हैं, तब उनकी किंकिणियाँ बजती हैं। 'भानु-जान' अर्थात् सूर्य के रथ की तरह दीप्तिमान हैं। 'मुनिमन मोहे'—मुनि वैराग्यवान होते हैं, जब उनका मन मोह जाता है, तब औरों की क्या बात ? पूर्व

राजकुमारों का शृंगार कहा गया, पर घोड़ों का नहीं और रथ के घोड़ों का शृंगार कहा गया, पर रथियों का नहीं। अतः, यहाँ के घोड़ों का शृंगार वहाँ के घोड़ों में और वहाँ के राजकुमारों का शृंगार यहाँ के रथियों में लगा लेना चाहिये। यह काव्य-कौशल है।

'जे जल चलहिं···'—पूर्व सवारी के घोड़ों को—'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।' कहा गया, पर यहाँ वे घोड़े नहीं हैं, वे यदि रथ में हों और लेकर उड़ें, तो रथ टँग जाय और सवार गिर पड़ें। अत, यहाँ दरियाई घोड़े हैं कि नदी आदि में जल पर भी चले जायँ।

'अस्त्र सस्त्र सब साज···'—क्षत्रियों के अस्त्र-शस्त्र मुख्य हैं, अतः, उन्हें प्रथम कहा। ऊपर घोड़े के सवारों को बुलाना नहीं कहा गया, क्योंकि वे सवार के आने पर तुरंत कस दिये गये। पर रथ सजाने में देर लगती है, अतः, सजने पर सवारी बुलाये गये। जो यंत्र वा मंत्र द्वारा फेंका जा सके वह अस्त्र और इसके भिन्न शस्त्र हैं; यथा—वाण आदि अस्त्र और तलवार आदि शस्त्र हैं।

'चढ़ि चढ़ि रथ···'—जब तक चक्रवर्ती महाराज आ जायँगे, तब तक यहीं पर बारात जुटती आवेगी। पुरवासी लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल जिस अभीष्ट-पूर्त्ति के लिये जाते हैं, उसमें शकुन होते हैं और तदनुसार कार्य की सिद्धि होती है।

कलित करिवरन्हि परीं अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी ॥१॥
चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन-घन-राजी ॥२॥
बाहन अपर अनेक बिधाना। सिविका सुभग सुखासन जाना ॥३॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृंदा। जनु तनु धरे सकल श्रुति-छंदा ॥४॥
मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक ॥५॥
बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती ॥६॥
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनइ पारा ॥७॥
चले सकल - सेवक - समुदाई। निज निज साज-समाज बनाई ॥८॥

दोहा—सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर।
कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ-बीर ॥३००॥

शब्दार्थ—कलित=सुसज्जित। अँबारी=हाथी की पीठ पर रखने का हौदा, जिसके ऊपर एक छज्जेदार मंडप होता है, (अ० अमारी)। राजी=समूह, पंक्ति। सिविका (शिविका)=पालकी। सुखासन=सुखपाल (तामजाम) जो कुर्सी के आकार का होता है, जिसमें बाँस नीचे की ओर रहता है। जान=विमान, सवारी। बेसर=खच्चर। काँवरि=बहँगी। निर्भर=परिपूर्ण। पारा=सकता है।

अर्थ—सुसज्जित श्रेष्ठ हाथियों पर सुसज्जित अँबारियाँ पड़ी हैं। वे जिस तरह सजाई हुई हैं, कहते नहीं बनता ॥१॥ घंटों से सुशोभित मतवाले हाथी चले, मानों सुंदर श्रावण के मेघों की श्रेणियाँ हैं ॥२॥

सुन्दर पालकी, सुखपाल और विमान आदि और भी अनेक प्रकार की सवारियाँ हैं ॥३॥ उनपर चढ़कर श्रेष्ठ ब्राह्मण वृन्द चले, मानों सब वेदों के छन्द शरीर धारण किये बैठे हैं ॥४॥ मागध, सूत, भाट और गायक जो जिस योग्य हैं, वे वैसी ही सवारियों पर चढ़कर चले ॥५॥ बहुत जातियों के खच्चर, ऊँट और बैल अगणित प्रकार की वस्तुएँ लादकर चले ॥६॥ करोड़ों (अनगिनत) कहार काँवर भरकर चले, जिनमें तरह-तरह की वस्तुएँ हैं ; उनका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥७॥ सब सेवक-समूह अपना-अपना साज-समाज बनाकर चले ॥८॥ सबके हृदय में हर्ष परिपूर्ण है, शरीर पुलकावली से पूर्ण है, (यही लालसा है कि) दोनों वीर राम-लक्ष्मण को आँखें भरकर कब देखेंगे ? ॥३००॥

विशेष—(१) 'कलित करिवरन्हि···'—पर्वताकार हाथियों पर वैसी अँवारियाँ हैं। 'मनहुँ सुभग सावन-घन ···'—श्रावण के मेघ काले होते हैं और प्रथम पावस के होने से चढ़ती अवस्था के होते हैं, वैसे हाथी काले और चढ़ती अवस्था के हैं, इसीसे 'मत्त' कहे गये हैं, यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।—हाथी रंग-बिरंग के चित्रित किये गये हैं, वे ही इन्द्रधनुष हैं। जहाँ काली रह गई हैं, वे ही काली घटाएँ हैं। मोतियों की झालरें बगलों की पंक्तियाँ हैं। मणियों की चमक बिजली की दमक है, चलने में शब्द होना गर्जन है, मत्तगजों का मद झरना वर्षा है, दर्शकगण खेती हैं, वे हर्षित होते हैं, चक्रवर्त्ती महाराज किसान हैं। श्रावण की घटा सुभग (सुंदर—प्रिय) लगती है। वैसे ही यह साज-समाज प्रिय एवं सुंदर है।

महाराज ने भरतजी को···'हय गय स्यंदन साजहु जाई' कहा था, उन्हीं तीन का विस्तार से वर्णन किया गया। अन्य सवारियों को 'बाहन अपर अनेक विधाना।' मात्र कहकर समाप्त कर दिया। सर्वत्र सवारियों को कहकर सवारों का चढ़ना कहा है, वैसे यहाँ भी कहते हैं—

'तिन्ह चढ़ि चले बिप्र···'—ब्राह्मणों की शोभा वेद-पठन से है, वही यहाँ कहते हैं—'जनु तनु धरे सकल ··' अर्थात् एक-एक ब्राह्मण को सम्पूर्ण वेद कंठस्थ है वे सब-के-सब मानों वेद की मूर्त्ति हो रहे हैं। इनके नाम—"वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ कश्यपः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे ··" (वाल्मी॰ १।६९।४-५)। ये ब्राह्मण आगे बारात में थे।

(२) 'बेसर ऊँट···कोटिन्ह काँवरि ··'—इन्हें अभी मालूम नहीं है कि राजा जनक ने नदियों में पुल बनवा दिये हैं, नहीं तो बैलगाड़ियों पर ही सब सामान ले चलते ! लौटती समय प्रायः गाड़ियों पर ही आवेगा, यथा—"कनक बसन मनि भरि भरि जाना।" (दो॰ ३३२)। यह जनकजी ने भेजा है।

'सबके उर निर्भर···'—हर्ष से भीतर की और पुलक से बाहर की दशा कही गई। कान समाचार सुनकर तृप्त हुए, पर आँखें दर्शनों के लिये व्याकुल हैं। 'बीर'—क्योंकि वहाँ इन दोनों वीरों ने वीरों के बीच में भारी-भारी वीरता के काम किये हैं। वही दृश्य सबके चित्त में है।

गरजहिं गज घंटाधुनि घोरा। रथरव बाजिहिंस चहुँ ओरा ॥१॥
निदरि घनहिं घुम्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिय न काना ॥२॥
महा भीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पखान पवारे ॥३॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिये आरती मंगलथारी ॥४॥
गावहिं गीत मनोहर नाना। अति आनंद न जाइ बखाना ॥५॥

तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रवि-हय-निंदक बाजी ॥६॥
दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने। नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने ॥७॥
राजसमाज एक रथ साजा। दूसर तेज-पुंज अति भ्राजा ॥८॥

दोहा—तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहँ, हरपि चढ़ाइ नरेस।
आप चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस ॥३०१॥

शब्दार्थ—हींस = हिनहिनाहट। घुमरहि = ऊँचे शब्द से बजते हैं। पँवारे = फेंके, चलाये।

अर्थ—हाथी गरजते हैं, घंटों का घोर शब्द होता है, रथों का शोर और घोड़ों की हिनहिनाहट चारों ओर हो रही है ॥१॥ बादलों का निरादर करते हुए नगाड़े ऊँचे शब्द से बजते हैं, अपना-पराया कुछ भी कानों से नहीं सुन पड़ता ॥२॥ राजा के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ है। यदि पत्थर भी फेंका जाय तो वह भी चूर्ण होकर धूल हो जाय ॥३॥ स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ी हुई थालियों में मंगल आरती लिये देख रही हैं ॥४॥ वे अनेक मनोहर गीत गा रही हैं, अत्यन्त आनन्द है, वह कहा नहीं जा सकता ॥५॥ तब सुमंत्रजी ने दो रथ सजाकर उनमें सूर्य के घोड़ों को लज्जित करनेवाले घोड़े जोते ॥६॥ दोनों सुन्दर रथों को राजा के पास लाये, सरस्वती से भी उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥७॥ एक रथ राजसी सामग्री से सजाया हुआ है और दूसरा (जो) तेज-पुंज अत्यंत शोभायमान है—॥८॥ उस सुन्दर रथ पर हर्ष-पूर्वक राजा ने वसिष्ठजी को चढ़ाकर; (फिर) हर, गुरु, गौरी और गणेशजी का स्मरणकर आप भी रथ पर चढ़े ॥३०१॥

विशेष—(१) 'गरजहिं गज ···'—ऊपर भरतजी की सवारी का वर्णन हुआ, इससे वहाँ घोड़ों को प्रथम कहा गया, क्योंकि घोड़े चंचल होते हैं, वैसे लड़के भी चंचल होते हैं। अब यहाँ से महाराज की सवारी का वर्णन होता है, अतः, प्रथम हाथी कहे गये, क्योंकि महाराज और उनके साथी वृद्ध हैं, वैसे हाथी भी शान्त होते हैं।

(२) 'महाभीर भूपति के द्वारे।'—भरतजी के आगे जाने से उनके साथी तो बाहर निकल गये, चक्रवर्त्तीजी के साथवाले रह गये हैं, उनकी भीड़ द्वार पर है। जब महाराज चलेंगे तब ये लोग भी साथ चलेंगे। वक्ताओं का अनुमान है कि वहाँ यदि पत्थर फेंका जाय तो भीड़ में कुचलकर धूल हो जाय!

(३) 'चढ़ी अटारिन्ह देखहिं···'—उपर्युक्त महा भीड़ के साथ ही ये भी कही गई हैं।' अत., अटारियों पर भी ऐसी ही भीड़ है। मंगल के लिये थाल में सजी हुई आरती के अर्थ में 'लिये' शब्द आया है, दूलह बरात में होता, तो आरती करतीं', क्योंकि दूल्हे की आरती उतारी जाती है।

'गावहिं गीत ··अति आनद···'—आनंद ही का वर्णन नहीं हो सकता, यहाँ तो 'अति' है, क्योंकि द्वार पर और अटारियों पर भी है, फिर भी वर्णन करने का कारण मन है, वह गान द्वारा हरा गया है।

(४) 'तब सुमंत्र दुइ ···'—'तब' अर्थात् जब उपर्युक्त सारथियों ने रथ सजाये हैं, तभी सुमंत्र ने भी दोनों रथ सजाये हैं, (सुमंत्रजी महाराज के मंत्री और सारथी भी हैं)। 'साजी' अर्थात् जैसे ऊपर रथ के साज कहे गये, वैसे ही उनका भी साज जानना चाहिये। 'रवि हय निंदक बाजी'—पूर्व श्यामकर्ण घोड़े रथों में कहे गये, पृथिवी में वे ही श्रेष्ठ जाति के हैं, उन पूर्व के घोड़ों से अधिकता दिखाने के लिये सूर्य के घोड़ों की उपमा देकर उनसे भी अधिक कहा।

'दोउ रथ···नहिं सारद···'—पूर्व सारथियों ने रथियों को ही बुलाया था, जिससे उन्हें कुछ चलना भी पड़ा था, पर यहाँ राजा के पास ही लाये, यह विशेषता है। पूर्व—'भानु-जान सोभा अपहरहीं।' कहकर वर्णन किया था। यहाँ शारदा से भी अवर्ण्य कहकर अत्यंत विशेषता कही।

(४) 'राज समाज एक रथ···'—इसमें उपर्युक्त–'अस्त्र सस्त्र सब साज सजाई।' की तरह सामग्री है, इसमें और भी चँवर, छत्र, सूर्यमुखी आदि हैं। 'दूसर तेज पुंज···'–यह सात्त्विक सामग्री—होम आदि सामग्री, पुस्तक, मुनि-वस्त्र, पूजा के सामान आदि हैं, इसमें ब्रह्मतेज प्रकट है, अत', 'अति भ्राजा' कहा गया है।

'तेहि रथ रुचिर···'—'हरषि चढ़ाइ'-यात्रा में हर्ष होना मंगल है पुनः गुरुसेवा में हर्ष चाहिये ही। यहाँ राजा ने गुरुजी को अपने हाथ से चढ़ाया। 'सुमिरि हर गुरु गौरि गनेस'-यहाँ पंचदेवों में तीन तो स्पष्ट हैं, शेष सूर्य और विष्णु को भी गुरु शब्द से सूचित किया है। क्योंकि अज्ञान तम नाशक होने से गुरु भी सूर्य रूप हैं—"जासु बचन रबिकर निकर" (मं० सो०); पुनः-'गुरुर्विष्णु.' भी कहा जाता है। 'हर', और 'गौरि' को एक साथ रखना कहा है, क्योंकि ये दो अपृथक् रूप हैं, पर 'गुरु'पद बीच में दिया गया है क्योंकि 'हर' को विश्वास रूप और 'गौरि' को श्रद्धारूपा कहा गया है "भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ।" (मं० श्लोक); गुरुश्रद्धा और विश्वास दोनों के करानेवाले हैं, अतः, बीच में देकर इन्हें दोनों के साधक बनाया। पुनः गकार की वर्णमैत्री भी मिल गई।

सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर-गुरु-संग पुरंदर जैसे ॥१॥
करि कुलरीति बेदबिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ ॥२॥
सुमिरि राम गुरुआयसु पाई। चले महीपति संख बजाई ॥३॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिं सुमन सुमंगल-दाता ॥४॥
भयेउ कोलाहल हय गय गाजे। ब्योम बरात बाजने बाजे ॥५॥
सुर नर नारि सुमंगल गाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥६॥
घंट-घंटि-धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिं पाइक फहराहीं ॥७॥
करहिं बिदूपक कौतुक नाना। हासकुसल कलगान सुजाना ॥८॥

दोहा—तुरग नचावहिं कुअँर बर, अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डगहिं न ताल-बँधान ॥३०२॥

शब्दार्थ—पुरंदर = इन्द्र। ब्योम = आकाश। अकनि (आकर्ण्य) = सुनकर। डगहिं = चूकते। ताल = नाचने गाने में उसके मध्यवर्ती काल और क्रिया का परिमाण, ताल के 'सम' का नाम 'बँधान' है; यथा—"उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान।" (गी० बा० १)।

अर्थ—वसिष्ठजी के साथ राजा दशरथ कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे देवताओं के गुरु बृहस्पतिजी के साथ इन्द्र हों ॥१॥ राजा ने कुल की रीति और वेद विधान करके और सब को सब तरह से बने ठने

देखकर ॥२॥ श्रीरामजी का स्मरण कर गुरु की आज्ञा पा पृथिवीपति महाराज दशरथ शङ्ख बजाकर चले ॥३॥ देवता लोग बरात देखकर प्रसन्न हुए, सुंदर मंगल देनेवाले फूलों को बरसाते हैं ॥४॥ हाथी-घोड़े चिंघाड़ने लगे, इससे बड़ा कोलाहल (हल्ला) मच गया, आकाश और बरात में बाजे बजने लगे ॥५॥ देवताओं और मनुष्यों की स्त्रियाँ (आकाश और भूमि पर) सुन्दर मंगल गा रही हैं, रसीले राग में शहनाई (रौशनचौकी) बज रही है ॥६॥ घंटों और घंटियों की ध्वनि का वर्णन नहीं किया जा सकता। पायक (पैदल सिपाही) लोग तरह-तरह के सरों (श्रम या कसरत के खेल) दिखाते जाते हैं, उनके हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं ॥७॥ विदूषक (मसखरे) लोग बहुत तरह से तमाशे करते हैं, वे मसखरी में निपुण और सुन्दर गान में चतुर हैं ॥८॥ सुन्दर राजकुमार मृदंग और नगाड़ों (के ताल गति को) को सुनकर घोड़ों को उनके अनुसार नचाते हैं। चतुर नट चकित होकर देख रहे हैं कि घोड़े ताल के सम नहीं चूकते ॥३०२॥

विशेष—(१) 'सुर गुरु संग पुरंदर जैसे'—इन्द्र की उपमा ऐश्वर्य सम्बन्ध से है। 'कुलरीति' और वेद-विधि रथ ही पर कर ली। अतः, सामान्य ही थीं। 'सुरगुरु संग...'में दृष्टांत अलंकार है।

(२) 'सुमिरि राम गुरु···'—श्रीरामजी का वात्सल्य भाव से स्मरण होते ही उतावली से गुरु की आज्ञा लेकर चले। ऐश्वर्य भाव से भी यात्रा में राम-स्मरण युक्त है। यथा—"अस कहिगे बिश्राम गृह, राम-चरन चित लाइ।" (दो० ३५५), शंख-मांगलीक है, अतः, उसे बजाकर चले। 'हरषे बिबुध···'—'बिबुध' - क्योंकि विशेष बुद्धिमानी का काम किया कि बारात के प्रस्थान पर फूलों की वर्षा की।

(३) 'भयेउ कोलाहल···'—कुलरीति आदि होने के कारण हल्ला बन्द हो गया था, फिर कोलाहल हुआ, जैसे पहले—'निज पराइ कछु सुनिय न काना।' कहा गया था। कोलाहल के कारण भी साथ ही कहते हैं कि हाथी, घोड़े गरजते हैं; बाजे बजते हैं और मंगल गान हो रहे हैं।

'सुर नर नारि सुमंगल···'—आकाश में देवताओं की स्त्रियाँ और भूमि पर नरों की स्त्रियाँ सुमंगल गा रही हैं, ये अटारियों पर की स्त्रियाँ नहीं हैं। बारात को पहुँचानेवाली नगर की स्त्रियाँ हैं।

(४) 'सरस राग बाजहिं···'- शहनाइयों का स्वर ऊँचा होता है, पर यहाँ वे मंगल गान से मिलकर रसीले रागों में बज रही हैं।

'सरव करहिं पायक फहराहीं।'—'सरव' का अर्थ 'श्रम' के अनुसार कसरत होता है; पूर्व में 'सरों' पटेबाजी आदि को भी कहते हैं। 'फहराहीं'—'पायक'-शब्द दीप-देहली से 'फहराहीं' के साथ में भी होकर 'फरहरा-पताका' के अर्थ में भी होगा, इस तरह झंडियों का फहराना अर्थ होगा।

'कल गान सुजाना'—गान में स्वर भी अच्छा है और वे उनके ताल-मात्रा आदि के ज्ञान में सुजान हैं।

(५) 'तुरग नचावहिं कुँअर···'—पूर्व कहा था—'फेरहिं चतुर तुरग गति नाना।' वहीं से प्रसंग मिलाया और यह भी जनाया कि अब महाराज वहाँ तक पहुँच गये जहाँ भरतजी हैं। इसी से घोड़े नचाये जाते हैं।

बनइ न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ॥१॥
चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई ॥२॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल-दरस सब काहू पावा ॥३॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी ॥४॥

लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा ॥५॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई ॥६॥
छेमकरी कह छेम बिसेखी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी ॥७॥
सनमुख आयेउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रवीना ॥८॥

दोहा—मंगलमय कल्यानमय, अभिमत - फल - दातार।
जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार ॥३०३॥

शब्दार्थ—बनी = सजी। चाषु = नीलकंठ। छेमकरी = एक चील, जिसका मुख श्वेत और सर्वांग लाल होता है, यह 'छेम-छेम' बोलती है। स्यामा = एक प्रसिद्ध काला पक्षी, इसके पैरमात्र पीछे होते हैं, इसका स्वर मधुर और कोमल होता है। लोवा = लोमड़ी। सुखेत = अच्छे खेत में।

अर्थ—बारात ऐसी सजी है कि उसका वर्णन नहीं करते बनता; शुभदायक सुंदर शकुन हो रहे हैं ॥१॥ नीलकंठ बाईं ओर चारा ले रहा है; मानों सब मंगलों को कहे देता है ॥२॥ दाहिनी ओर कौआ अच्छे खेत में सोह रहा है, न्योले के दर्शन सब किसी ने पाये ॥३॥ तीनों प्रकार की (शीतल, मंद, सुगंधित) हवा सानुकूल चल रही है। सुन्दर स्त्री घड़ा और बालक के साथ आ रही है ॥४॥ लोमड़ी पीछे घूम-घूम कर अपने दर्शन देती है। सामने खड़ी हुई गाय अपने बछड़े को दूध पिलाती है ॥५॥ हिरनों के झुण्ड बाईं ओर से घूमकर दाहिनी ओर आये, मानों मंगल-समूह दिखाई पड़े ॥६॥ क्षेमकरी विशेष कल्याण कह रही है और श्यामा पक्षी बाईं ओर सुन्दर वृक्ष पर देख पड़ी ॥७॥ दही, मछली और हाथ में पुस्तक लिये हुए दो विद्वान् ब्राह्मण सामने आये ॥८॥ मङ्गलमय, कल्याणमय और वांछित फल देनेवाले सब शकुन मानों सत्य होने के लिये एकबार ही प्रकट हुए ॥३०३॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत···'—इसके पूर्वार्द्ध में बारात-वर्णन का उपसंहार किया। इसका उपक्रम—"चलहु बेगि रघुबीर बराता।" (दो० २९०) पर है। आगे शकुन कहते हैं—'सुंदर सुभदाता'—सुन्दर अपने शरीर से और औरों को शुभदायक हैं। 'चाषु ··कहि देई' अर्थात् कुछ बोलता भी है। इसका 'बाम दिसि' रहना ही शकुन है। 'दाहिन काग सुखेत··'—यह दाहिनी ही ओर और अन्नयुक्त एवं हरे-भरे खेत में हो तभी शकुन है। 'नकुल' के विषय में दिशा नहीं लिखा, अतः, सब ओर से शुभ ही है। 'दरस सब काहू पावा'—नेवला प्रायः मनुष्यों को देखकर भागता है, पर उस समय निडर होकर विचर रहा था कि सब कोई देख लें। 'सानुकूल बह त्रिबिध···'—यात्रा में पीछे की ओर से वायु का चलना शकुन है और इसके विरुद्ध (सामने से आना) अपशकुन है वह तो मानों रोकता है। 'सघट सबाल···'—'नारि' अर्थात् स्त्री का सामने से आना शकुन है, वह 'बर' अर्थात् सधवा (सौभाग्यवती) हो। इसके विरुद्ध अर्थात् विधवा एवं पीछे से आती हुई तथा खाली घड़ा लिये एवं बाँझ का आना अपशकुन है। एक ही अर्द्धाली में स्त्री और वायु को कहना था, इसलिये वायु को स्त्रीलिंग के रूप में 'बयारि' कहा। पुनः एक का पीछे से दूसरी का आगे से आना शुभ है इसलिये भी साथ वर्णन किया गया।

(२) 'लोवा फिरि···'—यह आगे को चलती हुई घूम-घूमकर पीछे देखती जाय, मानों अपने दर्शन सबको दिखा रही है, तभी शकुन है। इसका खड़ी रह जाना अथवा एकदम भागना भी अपशकुन

है। 'दरस' का अर्थ स्वरूप का है, यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग।" (अ० दो० २१)। 'सुरभी···'—गाय सामने खड़ी बच्चे को दूध पिलाती हो, तभी शकुन है। 'मृगमाला फिरि···'—मृग वन्यपशुमात्र को कहते हैं, पर यहाँ 'माला' शब्द भी साथ देकर हिरनों को ही सूचित किया, क्योंकि ये झुंड-के-झुंड साथ चलते हैं। मृगों का झुंड बाईं ओर घूमकर सम्मुख होकर दाहिनी ओर आवे तब शकुन है। 'मंगल गन' का भाव यह कि आपलोग अभी एक विवाह के लिये जा रहे हो, वहाँ चार होंगे। अन्य रामायणों के अनुसार श्रीअवध के और भी कुमारों के ब्याह वहाँ होंगे।

'छेमकरी कह छेम···'—'कह' अर्थात् वह बोलती भी है। 'बिसेखी' अर्थात् यह भारी शकुन है। 'सुतरु' जैसे आम, पीपल, वट आदि, इसका वर्णन—"कुंकुम रंग सुअंग जितो मुख चंद सों चंद सों होड़ परी है। बोलत बोल समृद्धि चुवै अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥ गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है। पेखि सप्रेम पयान समय सब सोचबिमोचन छेमकरी है॥" (क० उ० १८०)। तंत्रसार में इसके नमस्कार का श्लोक लिखा है—"कुंकुमारुणसर्वांगि! कुंदेन्दुधवलानने। मत्स्यमांसप्रिये देवि, क्षेमंकरि नमोस्तु ते॥"

'सनमुख आयो दधि······'—एक ही व्यक्ति दोनो लिये हो, मछली जीवित ही जल के साथ हो, सामने से अपनी ओर को आता हो। 'बिप्र प्रबीना'—अर्थात् शास्त्र चर्चा करते हुए वे भी सामने से अपनी ओर को आते हों।

'मंगलमय कल्यानमय······'—ऊपर 'मंगल' एवं 'सुभ दाता' शब्द तीन ही जगह आये हैं। अतः, यहाँ उपर्युक्त सब के लिये—'मंगलमय···' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि जितने गिनाये गये, उतने ही नहीं हुए, किंतु जितने मंगलमय आदि हैं, वे सब हुए। 'मंगलमय' से मंगल करनेवाले और 'कल्यानमय' से उनको निर्विघ्न निबाहनेवाले हैं। यह भी भाव है कि वे मंगलमय—कल्याणमय अभिमत फल देनेवाले हैं। ये सब एक साथ ही क्यों हो पड़े? इसका समाधान उत्तरार्द्ध से करते हैं—'जनु सब साँचे ·····' अर्थात् शकुनों ने सोचा कि श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं, इनके संबंध का मंगल तो स्वतः होगा ही, यदि आज हमलोग आकर प्रकट होंगे तो भविष्य में लोग हमें शकुनों में मानकर पूजेंगे कि इन्हींके द्वारा श्रीरामजी के मंगल हुए हैं और उनका मनोरथ सिद्ध हुआ। इनके द्वारा हमारे भी मनोरथ सिद्ध होंगे। शकुन, यथा—"भेरी मृदंग मृदु मर्दल शंख वीणा वेद ध्वनिर्मधुर मंगल गीत घोषाः। पुत्रान्विता च युवती सुरभी सवत्सा धौताम्बरश्च रजकोभिमुखाः प्रशस्ताः॥" (रत्नमाला)।

मंगल सगुन सुगम सब ताके। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाके॥१॥
राम-सरिस बर दुलहिनि सीता। समधी दसरथ जनक पुनीता॥२॥
सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे॥३॥
येहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥४॥

अर्थ—जिसके सगुण ब्रह्म ही सुन्दर पुत्र हैं उसके लिये सभी मंगल शकुन सुलभ हैं॥१॥ श्रीराम-जैसे वर और श्रीसीताजी-सी दुलहिनि तथा दशरथजी और जनकजी-से पवित्र समधी हैं॥२॥ ऐसा ब्याह सुनकर सब शकुन नाचने लगे कि अब ब्रह्मा ने हमें सच्चा किया॥३॥ इस प्रकार बरात ने प्रस्थान किया, घोड़े हाथी गर्जते हैं और डंकों पर चोट पड़ रही है॥४॥

विशेष—(१) 'मंगल सगुन सुगम……'—जहाँ पर साक्षात् सगुण ब्रह्म ही पुत्र रूप में हैं, वहाँ एक साथ ही सब शकुनों का होना सुगम ही है, न होता तो आश्चर्य था।

'राम सरिस वर दुलहिनि सीता।……'—का भाव यह कि—"जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम……" (दो॰ ३१४); जब वे ही वर-दुलहिनि हैं, तो मंगल-शकुन क्यों न सुगम हों? 'पुनीता'—क्योंकि दोनों ने बड़े पुण्य से दोनों को पुत्र-पुत्री-रूप में प्राप्त किया है, एक भी श्रेष्ठ योग के कारण मंगल होते हैं, यहाँ तो कई योग उत्तम ही उत्तम हैं, फिर क्यों न हों?

(२) 'सगुन सब नाचे……'—आनंदित मन से बारातियों के समस्त नाच उठे, अर्थात् बिचरकर इनके दर्शनों से अपनेको कृतार्थ कर रहे हैं। भला हुआ कि ब्रह्मा ने ऐसे ब्याह का संयोग कर दिया। हमलोग आज से सच्चे गिने जायँगे। सब एक बार ही प्रकट हुए, वास्तव में शकुन अपना ही मंगल कर रहे हैं।

'येहि बिधि कीन्ह……'—महाराजा की सवारी निकली, तब सब चले, शकुन होते जाते हैं।

आवत जानि भानु - कुल - केतू। सरितन्हि जनक बँधाये सेतू॥५॥
बीच बीच बर बास बनाये। सुरपुर - सरिस संपदा छाये॥६॥
असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज-निज मन भाये॥७॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले॥८॥

दोहा—आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान।
सजि गज रथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान॥३०४॥

शब्दार्थ—सेतु=पुल। सयन=शय्या, यथा—"सयन-सयन-सब-सम सुखदाई।" (अ॰ दो॰ १३६)।

अर्थ—सूर्यवंश के ध्वजा रूप राजा दशरथ को आते हुए जानकर राजा जनक ने नदियों में पुल बँधा दिये॥५॥ बीच-बीच में ठहरने के लिये श्रेष्ठ निवास स्थान बनाये, जिनमें देव लोक के समान ऐश्वर्य छा दिये (भर दिये)॥६॥ अपने-अपने मनोऽनुकूल सुहावने उत्तम भोजन, शय्या और वस्त्र सब कोई पाने लगे॥७॥ अपने अनुकूल नित्य नया सुख देखकर सब बराती घर को भूल गये॥८॥ धमाधम नगाड़ों के शब्द सुन और इससे श्रेष्ठ बरात को आती हुई जानकर (कन्या पक्षवाले) हाथी, रथ, पैदल और घोड़े सजाकर अगवानी लेने चले॥३०४॥

विशेष—(१) 'आवत जानि भानु……'—जो दूत पत्रिका लेकर श्रीअवध गये थे, उनमें से कुछ ने शीघ्र ही लौटकर समाचार दिया तथा सूर्यवत् प्रतापी राजा का आगमन सबको विदित हो गया, जैसे सूर्य का उदय स्वयं सब जान जाते हैं। पुनः इनकी बरात के योग्य बड़े-बड़े पुल बनाये। 'जनक बँधाये सेतू'—श्रीजनकजी ने अपने विभव से ही पुल बँधवाया एवं पड़ाव का प्रबंध किया है, सिद्धियों एवं देव-बल से नहीं, नहीं तो वैसा लिखा जाता; यथा—"सिधि सब सिय-आयसु अकनि।" (दो॰ ३०६); "सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ॰ दो॰ २१२)।

(२) 'निज निज मन भाये।'—मुनि, विप्र, एवं क्षत्रियगण अपने-अपने अनुकूल ही पाते हैं।

'नित नूतन सुख ·····'—जो सुख आज है, उससे भिन्न ही भिन्न पदार्थ दूसरे दिन मिलते थे। जो अनुकूलता अपने ही घर में हो सकती है, वह सर्वत्र मिलती गई।

(३) 'सुनि गहगहे निसान'—कोई-कोई इसे राजा जनक की तरफ का बजाया जाना भी अर्थ करते हैं कि सुनकर अगवानी का सजाव हो। पर 'गहे-गहे' का 'बजाना' अर्थ नहीं है, किंतु 'धमाधम' एव घने का है। यथा—"अरु बाजे गहगहे निसाना।" (दो० १५२), यहाँ गहगहे के साथ 'बाजे' पृथक् दिया गया है।

कनककलस भरि कोपर थारा। भाजन ललित अनेक प्रकारा ॥१॥
भरे सुधासम सब पकवाने। भाँति भाँति नहिं जाहिं बखाने ॥२॥
फल अनेक बर बस्तु सुहाईं। हरषि भेंट हित भूप पठाईं ॥३॥
भूषन बसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहुबिधि जाना ॥४॥
मंगल सगुन सुगंध सुहाये। बहुत भाँति महिपाल पठाये ॥५॥
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥६॥
अगवानन्ह जब दीखि बराता। उर आनंद पुलक भर गाता ॥७॥
देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना ॥८॥

दोहा—हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।
जनु आनंदसमुद्र दुइ, मिलत बिहाइ सुबेल ॥३०५॥

शब्दार्थ—कोपर = बड़ा थाल, परात, सरलता से उठाने के लिये जिसमें कुंडा लगा रहता है। भाजन = पात्र, बर्तन। पकवान = पक्वान्न, घी में पके हुए खाने के पदार्थ। महामणि = बहुमूल्यमणि, उपहार = भेंट। सुबेला = समुद्र का सुन्दर किनारा, मर्यादा।

अर्थ—सुन्दर सोने के कलश जल भरे हुए, कोपर, थाल और अनेकों प्रकार के सुन्दर बर्तन, सब भाँति-भाँति के अमृत समान पकान्नों से भरे हुए, जिनके वर्णन नहीं किये जा सकते ॥ १-२॥ अनेकों प्रकार के उत्तम फल और उत्तम-उत्तम सुहावनी वस्तुएँ राजा जनक ने प्रसन्नता पूर्वक भेंट के लिये भेजीं ॥३॥ नाना प्रकार के भूषण, वस्त्र और महामणि, बहुत प्रकार के पक्षी, मृग, घोड़े, हाथी और रथ एवं सवारियाँ तथा बहुत तरह के सुन्दर मंगल सगुन के पदार्थ, सुगंध (अतर, गुलाब आदि) राजा ने भेजे ॥४-५॥ दही, चिउरा तथा और भी अनगिनत उपहार की वस्तुएँ काँवरों में भर-भरकर कहार ले चले ॥६॥ जब अगवानियों ने बरात देखी, तब उनके हृदय आनन्द से और शरीर पुलक से भर गये ॥७॥ (उधर) अगवानियों को सजे धजे देख बरातियों ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये ॥८॥ प्रसन्न होकर एक-दूसरे से मिलने के लिये दोनों ओर से कुछ-कुछ बागें ढीली करके उन्हें मिलाये हुए चलकर आ मिले, मानों आनन्द के दो समुद्र मर्यादा छोड़कर मिल रहे हैं ॥३०५॥

विशेष—(१) 'कनककलस भरि···'—इन सुवर्ण-कलशों में मंगल जल भरा है। अत, 'भरि' कहा है।

'भरे सुधासम'''—मार्ग में—'सुरपुर सरिस संपदा छाये।' कहा गया है, सुरपुर में अमृत होता है, उसकी जगह यहाँ 'सुधा सम' कहा गया है; अर्थात् मार्ग से यहाँ कम नहीं है। 'भाँति-भाँति' यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई॥" (दो० ३२८)। 'फल अनेक'—तरह-तरह के स्वादिष्ट फल। 'बर बस्तु' और भी उत्तम-उत्तम जो योग्य थीं। 'हरषि भेंट'''—राजा ने सब पदार्थ स्वयं देखे, तब योग्य जानकर प्रसन्न हुए और भेजे। 'खग'—शुक, सारिका, मयूर, कोकिल, चकोर आदि। 'मृग'—चीता, गैंड़ा, रोजा, हिरन, चिकरा, स्याह आदि। 'मगल'—हल्दी में रँगा हुआ चावल आदि।

(२) 'हरषि परसपर'''कछुक चले बगमेल'—जब बरात कन्या-पक्ष के द्वार के पास पहुँचती है, तब इधर से भी अगवानी के लिये लोग चलते हैं। समीप पहुँचने पर कुछ रुककर दोनों ओर से लोग कुछ कुछ आगे बढ़ते हैं। अगवानी लोग समधी के पास पहुँचकर उन्हें भेंट आदि से सत्कार कर साथ लेकर चलते हैं, यह रीति है। वही बात यहाँ बरती गई। दोनों ओर के लोग पास पहुँच रुक-रुक कर घोड़ों की बागें ढीली कीं और बढ़कर मिल गये। यहाँ दोनों तरफ के समाज हर्षित हैं, अतः आनन्द के समुद्र हैं। बीच का चलना मर्यादा है। आगे के घोड़-सवारों की श्रेणियाँ लहर हैं, उनका बढ़-बढ़कर मिलना, लहरों का लहरों से मिलना है। 'बगमेल' का अर्थ—"दूसरे के घोड़े के साथ बाग मिलाये चलना, पाँत बाँधकर चलना, बराबर-बराबर चलना" (शब्दसागर); यथा—"आइ गये बगमेल, धरहु ''" (अ० दो० १८)। 'बेला' का अर्थ समुद्र का किनारा होता है, 'सु' उपसर्ग सुन्दर के अर्थ में है। दोनों तरफ के सवार प्रथम रुक गये, यही मर्यादा बँध गई, मिलने की आतुरी में बढ़े, मानों मर्यादा छोड़ी।

बरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं॥१॥
बस्तु सकल राखी नृप आगे। बिनय कीन्हि तिन्ह अति अनुरागे॥२॥
प्रेम-समेत राय सब लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥३॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहँ चले लेवाई॥४॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धनमद परिहरहीं॥५॥
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा॥६॥

अर्थ—देवताओं की स्त्रियाँ फूल बरसा कर गा रही हैं, आनन्दित होकर देवता लोग नगाड़े बजाते हैं॥१॥ उन अगवानियों ने सब वस्तुएँ राजा दशरथ के सामने रख दीं, और अत्यन्त अनुराग-पूर्वक स्तुति की॥२॥ राजा ने प्रेम-सहित सब ले लीं, बख्शीशें हुईं, याचकों को दी गईं॥३॥ पूजा, सम्मान और बड़ाई करके जनवासों को लिवा ले चले॥४॥ तरह तरह के विचित्र वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, जिन्हें देखकर कुबेर अपने धन का अभिमान छोड़ देते हैं॥५॥ सबको अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया गया, जहाँ सबको सब तरह की सुविधाएँ हैं॥६॥

विशेष—(१) 'बरषि सुमन सुर'''''—बरात के प्रस्थान के समय—"सुरनर नारि सुमंगल गाई।" कहा गया था, यहाँ केवल 'सुरसुंदरि' हैं, क्योंकि अगवानियों के साथ नर-नारियों के आने की रीति नहीं है और यहाँ तो स्त्रियाँ बरात पहुँचाने की रीति में थीं। मिलने पर दोनों ओर के बाजे बजे, तब देवता लोगों ने भी नगाड़े बजाये।

'बिनय कीन्ह तिन्ह ······'—भेंट रखकर प्रार्थना की, अन्यथा अभिमान समझा जाता। अनुराग पूर्वक होने से विनय सच्चे भाव की समझी गई, अत राजा ने भी प्रेमपूर्वक ग्रहण किया। 'करि पूजा मान्यता बड़ाई'—पूजा कुछ पुष्प आदि वस्तुओं के द्वारा की जाती है, 'मान्यता' अपने से ऊँचा समझने के भाव को कहते हैं। बड़ाई प्रशंसा के वचनों को कहते हैं।

(२) 'बसन बिचित्र पाँवड़े ···'—'परहीं' अर्थात् जो वस्त्र पाँवड़े में बिछाये जाते हैं, वे वहीं पड़े ही रहते हैं, यह नहीं कि उन्हें ही उठाकर आगे बिछावें। यह देखकर कुबेर अपने धन का मद छोड़ देते हैं, विचारते हैं कि जैसे-जैसे महुमूल्य वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, वैसे हमारे यहाँ खजाने में भी न मिलेंगे। पुन आगे न जाने कितना दहेज आदि में दिया जायगा, इससे देने का मद भी नहीं रह गया। धनद का अर्थ है, जो धनवान् होते हुए धन दे भी। इस तरह के दोनों मद छूट जाते हैं।

'अति सुन्दर दीन्हेउ ··'—सुन्दर निवास स्थान तो मार्ग ही में दिया था—"असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज ··" (दो० ३०१), यहाँ जनवासा' उससे भी अधिक सुन्दर है।

जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥७॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप - पहुनई करन पठाई ॥८॥

दोहा—सिधि सब सिय आयसु अकनि, गई जहाँ जनवास।
लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर - भोग - बिलास ॥३०६॥

निज निज बास बिलोकि बराती। सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती ॥१॥
बिभवभेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना ॥२॥
सियमहिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी ॥३॥

अर्थ—श्री जानकीजी ने जाना कि बरात नगर में आ गई, तब उन्होंने कुछ अपनी महिमा प्रकट कर दिखाई ॥७॥ हृदय में स्मरण कर सब सिद्धियों को बुलाकर राजा की पहुनई करने को भेजा ॥८॥ श्रीसीताजी की आज्ञा सुनकर सब सिद्धियाँ सब सम्पदा, सुख और देवलोक के भोग विलास (की सामग्री) लिये हुए, जहाँ जनवासा था, वहाँ गई ॥३०६॥ बराती लोगों ने अपने अपने वासस्थल देख, देवताओं के सब सुख सब तरह सुलभ पाये ॥१॥ ऐश्वर्य का भेद कुछ भी किसी ने न जाना, सभी जनकजी की बड़ाई कर रहे थे ॥२॥ श्रीजानकीजी की महिमा को श्रीरघुनाथजी ने जाना और उनके हृदय की प्रीति जानकर प्रसन्न हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'कछु निज महिमा ···'—ऐसी ही पहुनई भरद्वाजजी ने भरतजी की की है, पर वहाँ उन्हें उसके लिये शोच हुआ और बड़ी महिमा प्रकट की। पर यहाँ कुछ ही महिमा में काम चल गया, क्योंकि मुनि जीव हैं और ये ईश्वरी हैं, इनकी महिमा अपरिमित है। वहाँ मुनि को मन्त्र द्वारा आवाहन करना पड़ा है—"सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ० दो० २१२), पर यहाँ स्मरण करते ही आ गई और हाथ जोड़े आज्ञा चाहने लगीं। यह ईश्वर जीव का भेद जनाया। 'प्रगटि जनाई'—श्रीरामजी को ही जनाया, अतः वे ही जान गये। अन्यथा सभी जानते। 'पठाई'—क्योंकि जब तक सम्बन्ध न होगा, चक्रवर्तीजी भीतर न आयेंगे, अत सिद्धियों को जनवासे में ही भेजा।

(२) 'लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग'''-यहाँ सब पदार्थ सुरपुर ही के हैं, इसी से 'सरिस' आदि वाचक पद नहीं दिये गये। यथा—"सुधा सरिस नहि जाहि बखाने।" (दो० ३२८), "भरे सुधा-सम सब पकवाने।" (दो० ३०४); इन सब में जनक जी की विभूति है।

(३) 'निज निज बास बिलोकि'''—प्रथम वासस्थान सबकी रुचि के अनुकूल दिये, तब देव-लोक की भोग-विभूति दी। 'बिभव भेद'''—जनाती बराती किसीने भी न जाना, क्योंकि राजा जनकजी ने मंत्रियों से प्रबंध के लिये आज्ञा दी थी ही, सब यही कहते हैं कि ऐसा आश्चर्य विभव तो देवलोक ही में सुनते थे, पर यहाँ देखते हैं; क्यों न हो, राजा जनक योगीश्वर हैं, जो कर दिखावें, वही थोड़ा।

(४) 'हरषे हृदय हेतु पहिचानी।'—'हेतु' का अर्थ प्रीति और कारण दो होते हैं, दोनों दो प्रकार-के भावों में सार्थक हैं। (क) हमपर इतना प्रेम है कि हमारी बरात भर की पहुनई कर रही हैं। (ख) हमने धनुभंग एवं नगर-दर्शन आदि से मिथिला वासियों को सुख दिया है, इसी कारण से ये हमारे अवध-वासियों को दिव्य-सुख दे रही हैं।

पितुआगमन सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंद अमाई ॥४॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु - दरसन - लालच मन माहीं ॥५॥
बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोष बिसेखी ॥६॥
हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग अंबक जल छाये ॥७॥
चले जहाँ दसरथ जनवासे। मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।८॥

दोहा—भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत।
उठे हरषि सुखसिंधु महँ, चले थाह - सी लेत ॥३०७॥

अर्थ—पिता का आगमन (आना) सुनते ही दोनों भाइयों को अत्यन्त आनंद हुआ, जो हृदय में नहीं अँटता ॥४॥ संकोच-वश गुरुजी से कह नहीं सकते, पर पिताजी के दर्शनों का लालच मन में है ॥५॥ बड़ी नम्रता देखकर विश्वामित्रजी के हृदय में विशेष संतोष उत्पन्न हुआ ॥६॥ उन्होंने हर्षपूर्वक दोनों भाइयों को हृदय में लगाया, शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये ॥७॥ जहाँ जनवासे में दशरथ महाराज हैं, वहाँ को चले, मानों तालाब ही प्यासे को ताक कर उसके पास जाय ॥८॥ राजा ने ज्योंही देखा कि मुनि पुत्रों के साथ आ रहे हैं वे आनंदित होकर उठ पड़े और सुख-समुद्र में थाह लेते हुए की तरह चले ॥३०७॥

विशेष—(१) 'हृदय न अति आनंद अमाई।'—वह आनन्द मुख द्वारा आज्ञा माँगने के रूप में निकलना ही चाहता है, पर संकोच है कि मुनि यह न समझें कि हमसे पिता को अधिक समझते हैं, लज्जा-रूप में भी संकोच है कि अपनी बरात देखने की लालसा है, अतः लज्जा से भी नहीं कहते, यथा—"गिरा, अलिनि'''प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥" (दो० २५८)।

(२) 'बिनय बड़ि'''—'देखी' अर्थात् मुख की चेष्टा और नम्रता द्वारा लख लिया। 'बिनय बड़ि' के योग से संतोष 'बिसेखी' उपजा—यह समझकर कि हमें पिता से भी अधिक मानते हैं।

'पुलक अंग'—दोनों भाइयों के आनंदमय शरीर हैं, अतः स्पर्श होते ही आनन्द भर आता है, इसीसे पुलक आदि होते हैं, यथा—"सब सिसु येहि मिसु प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहि अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात॥" (दो० २२४); प्रेम के कारण नेत्रों में आँसू आ गये हैं, हृदय लगाना वात्सल्य भाव में स्वाभाविक है।

(३) 'मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।'—(क) प्यासा सरोवर के पास जाता है, यह कहावत है, पर यहाँ सरोवर ने ही प्यासे को ताका है, श्रीराम-लक्ष्मण सरोवर हैं, श्रीचक्रवर्त्तीजी और अवधवासी प्यासे हैं—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००)। (ख) मानों प्यासे ने तालाब देखा—इसमें पिता का अंग सरोवर, रूप-दर्शन जल और प्यासे दोनों भाई हैं—"पितु दरसन लालच मन माहीं।" (उपर्युक्त); पर '(क)' में विशेषता है।

'उठेउ हरषि सुख सिंधु महँ, चले थाह सी लेत।'—पुत्रों के समेत मुनि को आते देख हर्षित होकर उठे, क्योंकि महात्माओं को आगे चलकर लेना चाहिये, पर इनके हृदय में प्रेम और आनंद का समुद्र उमड़ा, जिससे चलने की शक्ति न रह गई, यथा—"मोद-प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥" (दो० ३४५); इससे छड़ी के सहारे रुक-रुककर चलने लगे, जैसे अगाध जल में लोग पैर सँभालकर धरते हैं, फिर थोड़ा रुककर दूसरी डेग (कदम) रखते हैं। तथा—"सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं।" (अ० दो० २१४)।

मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा। बार-बार पदरज धरि सीसा॥१॥
कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई॥२॥
पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुख न समाई॥३॥
सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥४॥

अर्थ—राजा ने मुनि को दण्डवत् प्रणाम किया और बार-बार उनके चरण की धूलि शिर पर रक्खी॥१॥ कौशिक मुनि ने राजा को (उठाकर) हृदय से लगा लिया और आशिष देकर कुशल पूछी॥२॥ फिर दोनों भाइयों को दंडवत् प्रणाम करते देखकर राजा के हृदय में सुख नहीं समाता॥३॥ पुत्रों को हृदय से लगाकर असह्य दुःख को मिटाया, मानों मरे हुए शरीर को प्राण मिल गये॥४॥

विशेष—(१) 'बार बार पद-रज धरि सीसा।'—इन रजःकणों का प्रभाव—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥"; "सबु पायेउँ रज पावनि पूजे॥" (अ० दो० १)। राजा मानों ऐसा कहते हुए बार-बार रज शिर पर रखते हैं।

(२) 'कौसिक राउ……'—राजा से मिलने में कौशिक नाम दिया गया, यह राज्य-सम्बन्धी नाम है, क्योंकि अभी तक राजा दशरथ का श्रीराम-विषयक पितृत्व इनमें था, मानों राजा रूप थे, अब वह राजा दशरथ को मिलने के द्वारा सौंप रहे हैं। राजा के—'पद रज धरि सीसा' के प्रति 'लिये उर लाई' और 'दंडवत' के प्रति 'कहि असीस' है। 'पूछी कुसलाई' अपनी ओर से है।

'पुनि दंडवत करत दोउ भाई।'—प्रायः श्रीरामजी का शिर नवाना ही लिखा है, यथा—"प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहिं माथा॥" (दो० २०४), पर आज साष्टांग पड़ रहे हैं, क्योंकि बहुत दिनों पर मिलने से अधिक प्रेम है, पुनः संतों में रहकर दंडवत् की रीति भी सीखी है।

पिता के दर्शनों के लिये दोनों भाइयों को कहा गया—'हृदय न अति आनंद अमाई।' वैसे यहाँ—'देखि नृपति उर सुख न समाई।' कहा है; अर्थात् भगवान् भक्तों से भाव में बढ़े रहते हैं—"ये यथा मां…" (गीता ४।११)।

(२) 'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे'—पुत्रों को मुनि के प्रति सौंपते समय राजा ने कहा था कि—"मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।" (दो० २०८); प्राण-रूप पुत्रों के वियोग में अभी तक राजा मृतक तुल्य रहे, मरने में दुःसह दुःख होता है—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (उ० दो० १०८); अतः, अभी तक राजा को दुःसह दुःख था, वह पुत्रों के मिलने से मिट गया, प्राणों का मुख्य स्थल हृदय है। अतः, पुत्रों को हृदय में ही लगाया, देखिये दो० १६ भी।

पुनि बसिष्ठपद सिर तिन्ह नाये। प्रेममुदित मुनिबर उर लाये ॥५॥
बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मनभावती असीसैं पाई ॥६॥
भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा ॥७॥
हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम-परिपूरित गाता ॥८॥

दोहा—पुरजन परिजन जातिजन, जाचक मंत्री मीत।
मिले जथाबिधि सबहि प्रभु, परम कृपाल बिनीत ॥३०८॥

अर्थ—फिर उन्होंने वसिष्ठजी के चरणों में शिर नवाया, प्रेम और आनन्द के साथ मुनिश्रेष्ठ ने उन्हें हृदय से लगा लिया ॥५॥ दोनों भाइयों ने विप्र-मंडली की वंदना की और मनभाई असीस पाई ॥६॥ श्रीभरतजी ने भाई के साथ प्रणाम किया, श्रीरामजी ने उठाकर हृदय से लगाया ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाइयों को देखकर हर्षित हुए और प्रेमपूर्ण शरीर से मिले ॥८॥ परम कृपालु, विनीत प्रभु श्रीरामजी पुरवासियों, कुटुम्बियों, जाति के लोगों (रघुवंशियों), याचकों, मंत्रियों और मित्रों—सभी से जिससे जैसी रीति योग्य थी, मिले ॥३०८॥

विशेष—(१) 'बसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये ''बिप्रबृंद बंदे'—पिता का प्रेम सबसे ऊँचा है, तब कुल-गुरु का और फिर विप्रों का। वैसे प्रणाम में भी क्रमशः दंडवत्, शिर नवाना और वंदना, क्रमशः न्यून है। 'मन भावती'; यथा—"सुफल मनोरथ होहि तुम्हारे।" (दो० २२९)।

(२) 'लाइ उर रामा'—दोनों भाइयों को एक साथ ही उठाकर हृदय में लाये, अन्यथा एक को पीछे उठाने पर उसके प्रति प्रेम का अभाव होता, इसलिये 'रामा' कहा गया कि ये तो जगत् भर को साथ ही रमा सकते हैं।

(३) 'हरषे लखन'''मिले'''—जिस समय श्रीराम-लक्ष्मणजी ने पिता को प्रणाम किया, उसी समय श्रीभरत दोनों भाइयों ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया और शत्रुघ्नजी का लक्ष्मणजी को प्रणाम करना 'मिले' शब्द में आ जाता है। विस्तार भय से संकेत में जनाया।

'पुरजन परिजन '''—इनसे यथाविधि मिलने में 'प्रभु, परम कृपालु, विनीत' ये तीन विशेषण हैं। अतः, बड़ों से नम्रता पूर्वक मिले, छोटों पर कृपा की, बराबरवालों से अंकमाल देकर 'मिले'। 'प्रभु' पद

देकर शीघ्रता ही में सभी से एक साथ मिलने का समाधान किया कि यहाँ पर प्रभुता से काम लिया है, यथा—"सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥" (दो० १११); "छन महँ सबहिं मिले भगवाना" (उ० दो० ५)।

रामहिं देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥१॥
नृप-समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनुधारी॥२॥
सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर-नर-नारि बिसेखी॥३॥
सुमन बरषि सुर हनहिं निसाना। नाकनटी नाचहिं करि गाना॥४॥
सतानंद अरु बिप्र सचिवगन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥५॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना॥६॥
प्रथम बरात लगन ते आई। ताते पुर प्रमोद अधिकाई॥७॥
ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़हु दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥८॥

दोहा—राम सीय सोभा-अवधि, सुकृत-अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस, मिलि नर-नारि-समाज॥३०९॥

अर्थ—श्रीरामजी को देखकर बराती (हृदय से) शीतल हुए, उनकी प्रीति की रीति तो बखानी नहीं जा सकती॥१॥ राजा के पास चारों पुत्र ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानों धन-धर्म आदि (चारों फल) शरीर धारण किये हुए हैं॥२॥ पुत्रों के साथ राजा दशरथ को देखकर नगर के स्त्री-पुरुष विशेष आनंदित हैं॥३॥ फूल बरसाकर देवता लोग नगाड़े बजाते हैं, अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं॥४॥ श्रीशतानन्दजी, ब्राह्मणों, मंत्रियों, मागधों, सूतों, पंडितों और बंदी-जनों ने बरात के साथ राजा का सम्मान किया, फिर आज्ञा माँगकर ये अगवानी लोग लौटे॥५-६॥ बरात लग्न से पहले आ गई है, इससे नगर में आह्लाद बढ़ता जा रहा है॥७॥ सबलोग ब्रह्मानन्द प्राप्त करते हैं और ब्रह्माजी से कहते हैं (प्रार्थना करते हैं) कि दिन रात बढ़ जायँ॥८॥ श्रीराम-सीता शोभा की सीमा हैं और दोनों राजा पुण्य की सीमा। जहाँ-तहाँ पुरवासी स्त्री-पुरुषों के समाज मिल मिलकर ऐसा कहते हैं॥३०९॥

विशेष—(१) 'रामहिं देखि बरात जुड़ानी'—बरात के नेत्र दर्शनों के लिये व्याकुल एवं संतप्त थे; यथा—"कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००); "बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँह सरीरा॥" (सुं० दो० ३०); वे नेत्र शीतल हुए, यथा—"कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥" (सुं० दो० १४), यहाँ उपर्युक्त—'मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।' अर्थ (क) चरितार्थ हुआ।

'प्रीति कि रीति न जाइ···'—(क) मिलने एवं बातचीत में जो प्रेम के भाव प्रकट होते हैं, वे अकथ्य हैं। (ख) बरातियों को सुरपुर के भोग-विलास प्राप्त हुए तो भी उनके हृदय श्रीराम के बिना संतप्त ही थे, अब दर्शन पाकर शीतल हुए, यही तो प्रीति की रीति निराली है और इसीसे अकथ्य है। ऐसे ही—

"सब विधि सब पुर-लोग सुखारी । रामचंद्र मुख-चंद निहारी ॥" (अ० दो० १) में भी कहा है कि सब सुख रहते हुए भी श्रीरामदर्शनों से ही सुखी हैं।

(२) 'नृप-समीप सोहहिं सुत ···'—'नृप'—क्योंकि राजाओं के यहाँ ही अर्थ-धर्मादि की शोभा होती है, विरक्तों के यहाँ ये हों भी तो शोभा नहीं पाते। राजा दशरथ को धन-धर्मादिक सहज में ही प्राप्त थे, तो अब शोभा कैसे कहते। अतः, अर्थादि का 'तनुधारी' होना कहा। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूप क्रमशः शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी हैं। आगे—"कियन्ह सहित फल चारि" (दो० ३२५) पर भी देखिये। यों तो ये चार फलों के भी फल हैं, पर यहाँ उपमा मात्र है।

(३) 'सुतन्ह सहित दसरथहिं······'—पुत्रों से श्रीचक्रवर्त्तीजी की और पिता से शोभा पुत्रों की है। जैसे ऐश्वर्यवान् महाराज हैं, वैसे सर्वगुणसम्पन्न परम सुन्दर उनके चारो पुत्र हैं। यह देखकर नर-नारियों को विशेष आनन्द हुआ। विशेष हर्ष का यह भी हेतु हो सकता है कि इन्हीं चार पुत्रों के अनुरूप राजा जनक के चार कन्याएँ भी हैं।

'नाचनटी नाचहिं ······'—प्रायः राजा-रईसों के ब्याह में वेश्याएँ नृत्य के लिये आती हैं, पर यहाँ उनकी जगह आकाश (सुरलोक) की अप्सराएँ कही गई हैं, इससे वेश्या-नृत्य की प्रथा को दूषित जनाया।

(४) 'सतानंद···सहित बरात······'—अगवानियों में इतने लोग विशेष करके सम्मान करने के लिये गये। अपने गुरुओं से राजा एवं बरात का सम्मान किया, क्योंकि बरातियों के साथ ही सम्मान करने से राजा प्रसन्न होंगे। राजा जनक अभी नहीं आये, क्योंकि बिना 'सामध' हुए ये चक्रवर्त्तीजी से अभी नहीं मिलेंगे, यह रीति है। 'आयसु माँगि ······'—यह शिष्टाचार है।

(५) 'प्रथम बरात लगन ते······'—अगहन शु० ५ को ब्याह का मुहूर्त है और बरात कार्त्तिक कृष्ण पक्ष ही में आ गई। अतः, लगभग सवा महीने पहले ही आई। इससे प्रकर्ष मोद है कि नाना प्रकार के उत्सव-आनन्द होंगे। 'ब्रह्मानन्द लोग सब······'—चारों भाई सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतः इनके दर्शनों से सबको ब्रह्मानन्द मिल रहा है। पहले विदेह महाराज ही ब्रह्मानन्द-भोगी थे। 'बढ़हु दिवस निसि'—गिनती में तो दिन-रात बढ़ नहीं सकते। हाँ, इन्हीं दिन-रात को बढ़ाना चाहते हैं, इसके लिये 'विधि' से कहते हैं, क्योंकि वे विधान कर्त्ता हैं, पुनः इनके दिन रात सबसे बड़े होते हैं। यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)। अतः, अपने दिन-रात की तरह इन दिन-रातों को कर दें, यह प्रीति की दशा है। इनका भाव यह है कि ऐसा ही सदा देखते रहें। यथा—"प्रेम मगन सोंगत महेस सो देखत ही रहिये नित ये री।" (गी० बा० ७६)।

(६) 'राम सीय सोभा-अवधि······'—इसी दोहे की व्याख्या आगे के दो दोहों में है—'पुरजन कहहिं अस ······'—यहाँ उपक्रम है। आगे—"येहि विधि सकल मनोरथ करहीं।" (दो० ३११) पर उपसंहार है।

जनक - सुकृत - मूरति बैदेही। दसरथसुकृत राम धरे देही॥१॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥२॥
इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं॥३॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥४॥

जिन्ह जानकी - राम - छबि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेखी ॥५॥
पुनि देखब रघुबीर - बिवाहू । लेब भली बिधि लोचन लाहू ॥६॥

शब्दार्थ—अवराधे = आराधना की, पूजा की। लाधे = लब्ध किये, प्राप्त किये, पाये।

अर्थ—श्रीजनकजी के पुण्यों की मूर्त्ति श्रीजानकीजी हैं और श्रीदशरथजी के पुण्य देह धरे हुए श्रीरामजी हैं ॥१॥ इनके समान किसी ने भी शिवजी की आराधना नहीं की और न इनके समान किसी ने फल ही पाये हैं ॥२॥ इनके समान कोई भी कहीं जगत् में न हुआ, न है और न होनेवाला ही है ॥३॥ हम सब सभी पुण्यों की राशि हैं कि जगत् में जन्म लेकर जनकपुर के वासी हुए ॥४॥ जिन्होंने श्रीजानकीजी और श्रीरामजी की छवि देखी; ऐसे हमलोगों के समान विशेष पुण्यात्मा कौन है ? ॥५॥ (यही नहीं, किन्तु अभी) श्रीरघुबीर का ब्याह भी देखेंगे और भली भाँति नेत्रों के लाभ लेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'जनक-सुकृत-मूरति ···'—ऊपर दोहे में 'सुकृत अवधि दोउ राज' कहा गया, फल-द्वारा दोनों राजाओं के सुकृत का स्वरूप कहते हैं। ये 'सुकृत-अवधि' इससे हैं कि इनके ही सुकृत ने मूर्ति-मान होकर दर्शन द्वारा हमसब को भी सुकृती बना दिया। आगे शिवजी की आराधना को इनके 'सुकृत-अवधि' होने का साधन कहा कि इसी साधन से इन्हें श्रीसीतारामजी मिले हैं।

(२) 'को सुकृती हम सरिस···'—'हम' और 'जिन्ह' बहुवचनों से सभी जनकपुरवासी आ गये। 'भये जग जनमि' से भूतकाल, 'जिन्ह जानकी-राम छवि देखी।' से वर्त्तमान और 'पुनि देखब रघुबीर-बिवाहू।' से भविष्य के लिये भी अपने को धन्य कहा।

कहहिं परसपर कोकिलबयनी । येहि बिवाह बड़ लाभ सुनयनी ॥७॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई । नयनअतिथि होइहहिं दोउ भाई ॥८॥

दोहा—बारहिं बार सनेहबस, जनक बोलाउब सोय ।
लेन आइहहिं बंधु दोउ, कोटि - काम - कमनीय ॥३१०॥

बिबिधि भाँति होइहि पहुनाई । प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥१॥
तब तब राम - लखनहिं निहारी । होइहहिं सब पुरलोग सुखारी ॥२॥

अर्थ—कोकिला के समान मधुर प्रिय बोलनेवाली स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सुंदर नेत्रोंवाली ! इस विवाह में बड़े लाभ हैं, हमारे बड़े भाग्य हैं। विधाता ने बात सँवार दी कि दोनों भाई नेत्रों के पाहुन होंगे ॥७-८॥ प्रेम के वश बार बार श्रीजनकजी श्रीसीताजी को बुलावेंगे, करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सुन्दर दोनों भाइ लेने (लिवा जाने को) आया करेंगे ॥३१०॥ अनेक प्रकार से पहुनई होगी। हे माई ! ऐसी ससुराल किसे प्रिय नहीं लगेगी ? ॥१॥ तब-तब श्रीराम लक्ष्मणजी को देखकर सब पुरवासी सुखी होंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर कोकिल···'—ऊपर पुरुषों के वचन थे। यहाँ से स्त्रियों के वचन हैं। श्रीराम-यश-सम्बन्धी वाणी को 'कोकिलबयनी' कहकर सराहना की और 'विवाह' देखने के योग से

'सुनयनी' विशेषण है। 'बड़े लाभ' के योग में 'बड़े भाग' कहा है, पूर्व अपने को—'को सुकृती हम सरिस' कहा गया है। सुकृत के अनुसार भाग्य ब्रह्मा बनाते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१) इससे 'विधि बात बनाई' कहा गया है। यदि कहा जाय कि विवाह हो जाने पर तो श्रीजानकीजी भी चली जायँगी, तब किन्हीं के भी दर्शन न होंगे। उसपर कहती हैं–'बारहिं बार···' 'कोटि काम कमनीय'—यह विशेषण इन्होंने अपनी दृष्टि से दिया है, क्योंकि स्त्रियों को शृंगार अत्यन्त प्रिय है। यथा—"नारि विलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (दो० २४१)।

(२) 'बिबिध भाँति होइहिं···'—यह भी नहीं कि आकर दो-चार दिनों ही में चले जायँ, किन्तु तरह-तरह की पहुनइयों में १०-१५ दिन तो महाराज के ही महलों में लगेंगे, फिर उनके भाइयों, मंत्रियों एवं कोषाध्यक्ष आदि के यहाँ भी तीन-तीन दिन पहुनई होगी, फिर तो कई महीने रहेंगे। क्योंकि–'प्रिय न काहि···' अन्यत्र से चाहे जी ऊब भी जाय, पर ऐसी ससुराल भला किसे न प्रिय होगी? यथा—"असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम्। हिमालये हरः शेते हरिः शेते पयोनिधौ॥" (भोज-प्रबन्ध)।

सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥३॥
स्याम गौर सब अंग सुहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये॥४॥
कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥५॥
भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर-नारी॥६॥
लखन सत्रुसूदन एकरूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा॥७॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥८॥

अर्थ—हे सखी! जैसी श्रीराम-लक्ष्मण की जोड़ी है, वैसे ही राजा के साथ दो पुत्र और हैं॥३॥ एक श्याम हैं और दूसरे गौर, सभी अंगों से सुन्दर हैं—जो लोग देख आये हैं, वे सभी ऐसा कहते हैं॥४॥ एक ने कहा कि मैंने आज ही उन्हें देखा है, मानों ब्रह्मा ने अपने हाथों से सँवारकर बनाया है॥५॥ भरतजी श्रीरामजी की ही तरह हैं, एका-एक कोई स्त्री-पुरुष पहचान नहीं सकते॥६॥ लक्ष्मण शत्रुघ्न एक-रूप हैं, नख से शिखा पर्यन्त सभी अंग उपमारहित हैं॥७॥ मन ही-मन भाते हैं, मुख से वर्णन किये नहीं जा सकते, तीनों लोकों में उनकी उपमा के योग्य कोई नहीं है॥८॥

विशेष—'कहा एक मैं आजु···'—तू कल की, वह भी सुनी हुई, कहती है और मैंने तो आज ही प्रत्यक्ष देखा है। उन्हें ब्रह्मा ने स्वयं हाथों से सँवारकर रचा है। इस तरह शोभा को अत्यन्त कहा।

'भरत रामही की···लखन सत्रु···' यथा—"कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। राम लखन सखि होहिं कि नाहीं॥ बय बपु बरन रूप सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली॥" (अ० दो० २२१)। एक जगह 'अनुहारी' और दूसरी जगह 'एकरूपा' कहकर दोनों का एक ही अर्थ जनाया।

'मन भावहिं मुख···'—तीनों लोकों की उपमा योग्य न पाकर वक्ता के मन का भाव ही रह गया। पहले—'नख सिख ते सब अंग अनूपा।' कहा था, तब इसी लोक की उपमाएँ समझी गई थीं।

छंद—उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कविकोविद कहैं।
बल-विनय-विद्या-सील-सोभा-सिंधु इन्ह-से एइ अहैं।
पुर-नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।
ब्याहियहु चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

सोरठा—कहहिं परसपर नारि, बारिबिलोचन पुलक तनु।
सखि सब करब पुरारि, पुन्य-पयोनिधि भूप दोउ॥३११॥

येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। आनँद उमगि-उमगि उर भरहीं॥१॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी उपमा के योग्य कहीं कोई नहीं है। कवि और पंडित लोग कहते हैं कि बल, विनय, विद्या, शील और शोभा के समुद्र इनकी तरह ये ही हैं॥ सब जनकपुर की स्त्रियाँ अंचल फैलाकर ब्रह्माजी को ये वचन सुनाती हैं कि—चारों भाई इसी पुर में ब्याहे जायँ और हम सुन्दर मंगल गान करें॥ नेत्रों में जल भरे और शरीर से पुलकित होकर स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सखि! त्रिपुरारि शिवजी सब मनोरथ पूरा करेंगे, (क्योंकि) दोनों राजा पुण्य के समुद्र हैं॥३११॥ इस तरह सब (स्त्रियाँ) मनोरथ कर रही हैं और उत्साह-पूर्वक उमँग-उमँग कर आनन्द से हृदय को भर रही हैं॥१॥

विशेष—(१) 'बल, विनय, विद्या, सील, सोभासिंधु ···'—ये *पाँच गुण पुर-नारियों* ने देखे हैं, इससे इन्हीं को कहती हैं, अन्यथा गुण तो भगवान् में अनन्त हैं। 'बल' धनुष तोड़ने में, 'विद्या' यथा—"अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा ···" (दो० २६०), विनय और शील परशुराम-संवाद में देखे हैं; यथा—"बिनय सील करुना गुनसागर।" (दो० २८६); और शोभा-समुद्र का होना तो नगर-दर्शन ही से सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। "इन्ह-से एइ' में अनन्वय अलंकार है।

(२) 'पसारि अंचल'—यह देवता एवं बड़े से याचना की मुद्रा है, इसमें दीनता, विनय और अत्यन्त अभिलाषा के भाव रहते हैं, यथा—"बरन नाइ सिर अंचल रोपा।" (लं० दो० ५); "हिंडोल-साज बिलोकि सब अंचल पसारि पसारि। लागीं असीसन राम सीतहिं ···" (गी० उ० १८)।

'बिधिहि बचन सुनावहीं'—प्रथम धनुर्भंग के पहले भी ब्रह्मा से विनय करती थीं, किन्तु उस समय भय से मन ही में कहती थीं—"बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं।" (दो० २४८); यहाँ भय नहीं है। अब, प्रकट में सुनाते हैं। 'येहि पुर' अर्थात् नगर भर में चाहे कहीं हो, पर हम सुमंगल गावें, यही लालसा है कि चारों के सुमंगल गाने को मिले।

(३) 'सखि सब करब पुरारि···'—शिवजी ने त्रिपुरासुर को मारकर तीनों लोकों को सुखी किया, वैसे ही हमें भी सुखी करेंगे। शिवजी की प्रसन्नता के साधन भी पूर्व कहे गये—"इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।" अतएव—'सब करब पुरारि' कहा, अर्थात् नगर-भर में ब्याहे जाने की बात क्या कहती हो? महाराज के ही यहाँ चारों ब्याह होंगे, क्योंकि इसके योग्य 'पुन्यपयोनिधि, ये ही हैं, इसीसे सब प्रकार पूर्ण हैं।

जे नृप सीय-स्वयंबर आये। देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाये ॥२॥
कहत रामजस बिसद बिसाला। निज-निज भवन गये महिपाला ॥३॥
गये बीति कछु दिन येहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥४॥
मंगलमूल लगन दिन आवा। हिमरितु अगहनमास सुहावा ॥५॥
ग्रह तिथि नखत जोग बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥६॥
पठइ दीन्हि नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई ॥७॥
सुनी सकल लोगन्ह यह बाता। कहहिं जोतिषी आहि बिधाता ॥८॥

दोहा—धेनु-धूरि-बेला बिमल, सकल-सुमंगल-मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन, जानि सगुन अनुकूल ॥३१२॥

अर्थ—जो राजा सीता-स्वयंवर में आये थे, वे सब भाइयों को देखकर सुखी हुए ॥२॥ श्रीरामजी का विशाल (विस्तृत) निर्मल यश कहते हुए राजा लोग अपने अपने घर गये ॥३॥ कुछ दिन इस तरह बीत गये, सभी पुरवासी और बराती आनन्दित हैं ॥४॥ सम्पूर्ण मंगलों का मूल लग्न का दिन आ गया, हेमन्त-ऋतु में सुहावना अगहन का महीना ॥५॥ और श्रेष्ठ ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, दिन और लग्न शोधकर ब्रह्माजी ने विचार किया ॥६॥ उसी को नारदजी के हाथ से उन्होंने भेज दिया, जिसे राजा जनक के ज्योतिषियों ने प्रथम ही विचार रक्खा था ॥७॥ (जब) सब लोगों ने यह बात सुनी, तब कहने लगे—ज्योतिषी विधाता (ही) हैं ॥८॥ निर्मल और सब सुन्दर मङ्गलों की जड़ गोधूलि समय को अनुकूल सगुन जानकर ब्राह्मणों ने विदेह (जनक) जी से कहा ॥३१२॥

विशेष—(१) 'कहत राम-जस बिसद बिसाला।'—'बिसद' यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥" (दो० २९१)। 'बिसाला' यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥" (दो० २६४)।

(२) 'गये बीति कछु दिन'—सवा महीना बीत गया, पर कुछ ही दिन कहे गये, क्योंकि सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते, यथा—"सुख समेत संवत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहिं जाता ॥" (अ० दो० २७१)।

(३) 'मंगल मूल लगन……'—अगहन सब महीनों में श्रेष्ठ एवं भगवान् की विभूति है, यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहं…" (गीता० १०।३५) इसीसे इसे 'मंगलमूल' और 'सुहावा' कहा गया। यह भी भाव है कि इस महीने में ब्याह-संयोग से जगत्-भर का मंगल होगा, जो रावण द्वारा उठ गया है। कहा भी है—"मंगलेषु विवाहेषु कन्यासंवरणेषु च। दश मासाः प्रशस्यते चैत्र पौष-विवर्जिताः ॥"

'धेनु धूरि-बेला……'—सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व ही से जब गायें वन से चरकर लौटती हैं, उस समय उनके पग से जो धूल उड़कर आकाश में छा जाती है, उसी में सूर्य-किरण पड़ती है, उस समय

को गोधूलि वेला (समय) कहते हैं, यह समय निर्मल है, क्योंकि जब कोई शुभ लग्न ठीक न बने, तब भी इसमें कार्य करना शुभ माना जाता है। दिन आदि स्थूल हैं, इन्हें मङ्गल मूल कहा और वेला उससे सूक्ष्म है, इसे 'सकल सुमंगल मूल' कहा है।

उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारन काहा ॥१॥
सतानंद तब सचिव बोलाये। मंगल सकल साजि सब ल्याये ॥२॥
संख निसान पनव बहु बाजे। मंगलकलस सगुन सुभ साजे ॥३॥
सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेदधुनि बिप्र पुनीता ॥४॥
लेन चले सादर येहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती ॥५॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिं सुरराजू ॥६॥
भयेउ समय अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानन्हि घाऊ ॥७॥
गुरहि पूछि करि कुलबिधि राजा। चले संग मुनि - साधु-समाजा ॥८॥

दोहा—भाग्यबिभव अवधेस कर, देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहसमुख, जानि जनम निज बादि ॥३१३॥

शब्दार्थ—समाजू = साज, सभा, शोभा के वैभव इत्यादि सभी अंग इसमें आ जाते हैं।

अर्थ—राजा ने पुरोहित (शतानंदजी) से कहा कि अब देर होने का क्या कारण है ? ॥१॥ तब शतानंदजी ने मंत्रियों को बुलाया, वे सब मंगल सजाकर ले आये ॥२॥ बहुत-से शंख, नगाड़े और ढोल बजने लगे, मंगल कलश और शुभ शकुन (दधि, दूर्वा, रोचन, फल, फूल आदि) सजाये गये ॥३॥ सुन्दर सौभाग्यवती स्त्रियाँ गीत गा रही हैं और पवित्राचरणवाले विप्र पवित्र वेद-ध्वनि कर रहे हैं ॥४॥ इस प्रकार आदर-पूर्वक (बरात को) लाने के लिये चले, जहाँ जनवासे में बराती थे, वहाँ गये ॥५॥ अयोध्यापति राजा दशरथ का समाज (ऐश्वर्य) देखकर उन्हें देवराज इन्द्र और उसका राज ऐश्वर्य अत्यन्त तुच्छ जँचा ॥६॥ (उन्होंने आकर बिनती की कि) अब समय हो गया। अतः, पधारिये (चलिये), यह सुनकर नगाड़ों पर चोट पड़ी ॥७॥ गुरु से पूछकर और कुलविधि करके राजा दशरथ मुनियों और साधुओं के समाज के साथ चले ॥८॥ ब्रह्मा आदि देवता अवधेशजी के भाग्य और ऐश्वर्य को देखकर (इनके समक्ष में) अपना जन्म व्यर्थ मान हजारों मुखों से उनकी प्रशंसा करने लगे ॥३१३॥

विशेष—(१) 'सादर येहि भाँती'—'मंगल सकल···' से 'बिप्र पुनीता' तक आदर के विधान हैं। 'परा निसानन्हि घाऊ।'—सुनते ही बजानेवालों ने स्वतः (बिना आज्ञा ही) बजाया।

(२) 'चले संग मुनि साधु समाजा...।'—राजा के राजसी अंग सेना, परिजन आदि को नहीं लिखा, क्योंकि इनका होना तो स्वाभाविक है। अतः, हैं ही, जो बिना लिखे नहीं समझे जा सकते, उन मांगलिक मुनि-साधु-समाज को कहा गया। यह भी रीति है कि अवधेशजी के साथ मुनि-साधु-समाज सदा ही रहते हैं।

(३) 'लगे सराहन सहस मुख·····'—यहाँ बहुत-से देवता एक साथ सराहते हैं। अतः, 'सहस-मुख' कहा गया। या, एक ही मुख से अत्यन्त उत्साह पूर्वक सराहते हैं, मानों हजार मुखों से कह रहे हैं, यथा—"सहस बदन बरनइ पर दोषा।" (दो० ४) के अर्थ में कहा गया है। 'जानि जनम निज बादि'—राजा दशरथ को यह सुख पूर्वकृत अनन्य भक्ति से प्राप्त है, देवता लोग उसी की सराहना करते हुए कहते हैं और इसके बिना अपना जन्म व्यर्थ समझते हैं, यथा—"परिजन सहित राउ-रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चाखो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० २६); "हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत तव भगति बिसारी॥ भव-प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८); राजा दशरथ का विभव अप्राकृत है, यथा—"नाकेस-दुर्लभ भोग लोग करें न मन बिषयन्हि हरे।" (गी० उ० ११)।

सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥१॥
सिव ब्रह्मादिक बिबुधबरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा॥२॥
प्रेम - पुलक - तनु हृदय उछाहू। चले बिलोकन रामबिबाहू॥३॥
देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे॥४॥
चितवहिं चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥५॥
नगर - नारि - नर रूपनिधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥६॥
तिन्हहि देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजियारी॥७॥
बिधिहि भयेउ आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥८॥

शब्दार्थ—अलौकिक = लोकोत्तर, अद्भुत, अप्राकृत। सुघर = सुडौल। सुधरम आदि में 'सु' उपसर्ग अच्छा, श्रेष्ठ, सुन्दर आदि के अर्थ में है। करनी = करतूत, कारीगरी।

अर्थ—देवता सुन्दर मंगल का अवसर जानकर नगाड़े बजा बजाकर फूल बरसाते हैं॥१॥ शिव-ब्रह्मा आदि देवताओं के वृन्द नाना प्रकार की टोलियाँ बनाकर विमानों में चढ़े॥२॥ और प्रेम से पुलकित शरीर एवं हृदय में उत्साह के साथ श्रीरामजी का ब्याह देखने चले॥३॥ जनकपुर को देखकर देवता लोग अनुराग-सहित हो गये और उन्हें अपने-अपने लोक तुच्छ लगे॥४॥ वे विचित्र मँडव को आश्चर्य-युक्त होकर देख रहे हैं—नाना प्रकार की जितनी रचना है, वह सब अलौकिक है॥५॥ नगर के स्त्री-पुरुष रूप के निधान हैं, इनके सब अंग सुडौल हैं, वे सुन्दर धर्मात्मा, सुशील और सुजान हैं॥६॥ उन्हें देखकर सब देवता और देवांगनाएँ ऐसे फीके जँचते हैं, मानों चन्द्रमा के प्रकाश में तारागण॥७॥ ब्रह्मा को विशेष आश्चर्य हुआ, (क्योंकि) उन्होंने अपनी 'करनी' कुछ भी कहीं नहीं देखी॥८॥

विशेष—(१) 'सुमंगल अवसर जाना।'—उपर्युक्त सुमंगल मूल वेला है, विवाह के लिये यात्रा है, स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वेद-ध्वनि हो रही है। अतः, हमें भी मांगलिक पुष्प-वर्षा करनी चाहिये।

(२) 'सिव ब्रह्मादिक बिबुध···'—शिवजी को प्रथम कहा, क्योंकि आगे ये ही सबको समझायेंगे। 'बरूथा' विबुध के साथ है और 'जूथ' विमानों के साथ। विमान कई प्रकार के होते हैं, उनमें एक-एक भाँति के एक साथ एक टोली में हैं।

'नगर नारि नर रूप···'—पहले समष्टि में रूप-निधान से सुंदरता कही, फिर शरीर की गढ़न 'सुघर' से सराही। तब गुणों का वर्णन किया कि सब धर्मात्मा, सुशील एवं व्यवहार में चतुर हैं। 'नारि' को प्रथम कहा है, क्योंकि वे सुंदरता में पुरुषों से अधिक हैं।

(३) 'तिन्हहि देखि सब सुर···'—पहले कहा गया कि जनकपुर को देखकर देवताओं को अपने-अपने लोक लघु लगे। अब यहाँ कहते हैं कि यहाँ के स्त्री-पुरुष के आगे 'सुर सुरनारी' अपने-अपने रूप में भी फीके पड़ गये, चन्द्रमा की उपमा से रूप के अतिरिक्त शील आदि में भी फीका होना जनाया, क्योंकि चन्द्रमा रूपवान् और शीलवान् भी है, यथा—"सोम से शील··" (क० दो० ४३); चन्द्रमा धर्मात्मा भी है, क्योंकि इसने राजसूय यज्ञ किया है। इस प्रकार यहाँ स्थान और स्थानी दोनों हार गये।

'बिधिहि भयो आचरज···'—जैसे देवताओं के रूप और स्थान के गर्व जाते रहे, वैसे ही ब्रह्माजी की सृष्टि-रचना के गर्व का जाना भी कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि प्राकृत है। अतः, उसमें गुण के साथ अवगुण भी रहते हैं, यथा—"बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।" (दो० ५); पर यहाँ की सारी रचना त्रिपाद-विभूति साकेत की है। अतः, दिव्य है, इसमें अवगुण कुछ है ही नहीं। इससे ब्रह्मा चकित हुए कि क्या बात है ? कोई दूसरा ब्रह्मा तो नहीं हो गया ?

दोहा—सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय-रघुबीर-बिबाहु ॥३१४॥

जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल - अमंगल - मूल नसाहीं ॥१॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय-राम कहेउ कामारी ॥२॥
येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा। पुनि आगे बरबसह चलावा ॥३॥

अर्थ—शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि आश्चर्य में मत भूलो। हृदय में धैर्य धरकर विचार करो कि यह श्रीसीतारामजी का ब्याह है ॥३१४॥—"जिनका नाम लेते ही जगत् में समस्त अमंगल के कारण ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ तथा चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष करतल (अनायास प्राप्त) होते हैं, ये वही सीतारामजी हैं" ॥२॥ इस प्रकार शिवजी ने सब देवताओं को समझाया, फिर अपने श्रेष्ठ बैल (नंदी) को आगे चलाया ॥३॥

विशेष—(१) 'जिन्हकर नाम लेत···'—अमंगल के मूल काल, कर्म आदि हैं, इन्हीं के द्वारा जीव नाना क्लेशों के भाजन हो रहे हैं, यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा।" (उ० दो० ४४); ये चारों नाम की चर्चा से भी दब जाते हैं, यथा—"काल, करम, गुन, सुभाव सबके सीस तपत। राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत ॥" (वि० १३०); 'करतल होहिं पदारथ चारी'—करतल होना प्राप्त होना एवं किसी को चाहे तो दे सकना भी अर्थ होता है, श्रीरामनाम के द्वारा चारों फलों की अप्रमेय प्राप्ति एवं साधक का दूसरों के बीच भी लुटाना पूर्व ही दो० १८ की चौ० ३-७ में सप्रमाण लिखा गया; नामवंदना-प्रकरण देखिये।

'तेइ सिय-राम कहेउ कामारी।'—सब विकारों का मूल काम है, ये उसे जीते हुए हैं, इसी से इन्हें

मोह नहीं है, प्रत्युत औरों को भी समझाया कि ये वही सीतारामजी हैं, अर्थात् त्रिपाद-विभूति के स्वामी हैं और इन्हीं का विवाह है। अतः, वैवाहिक सब पदार्थ त्रिपाद विभूति के हैं, इनके आश्चर्य में मत भूलो, नहीं तो इन्हीं में उलझे रह जाओगे, तब पीछे पछताना होगा कि ब्याह नहीं देख पाये।

(२) 'येहि बिधि संभु सुरन्ह ···'—मोह तो प्रधान रूप से ब्रह्मा को था, पर देवताओं को समझाया, क्योंकि ब्रह्माजी सबसे बड़े हैं और पितामह कहे जाते हैं। स्पष्ट कहने से वे संकुचित हो जाते। अतः, देवताओं के उपदेश में उन्हें भी बोध हो गया। 'येहि बिधि' अर्थात् नाम-प्रताप के द्वारा, उपासना रीति से शीघ्र समझा दिया। 'संभु'—क्योंकि आप स्वयं कल्याण-रूप हैं। अतः सबका कल्याण किया। 'पुनि आगे बर···'—समझाने के लिये ठहर गये थे, फिर आगे को बढ़े, क्योंकि बहुत-कुछ देखना है।

देवन्ह देखे दसरथ जाता। महामोद मन पुलकित गाता ॥४॥
साधु-समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा ॥५॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनुधारी ॥६॥
मरकत-कनक-बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी ॥७॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे ॥८॥

दोहा—रामरूप नख-सिख-सुभग, बारहिं बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल, उमासमेत पुरारि ॥३१५॥

शब्दार्थ—अपबर्ग = मोक्ष—यह सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—प्रकार का है।

अर्थ—देवताओं ने देखा कि दशरथजी मन में महामुदित और शरीर से पुलकित जा रहे हैं ॥४॥ साथ में साधु-समाज और विप्र-समाज (सुशोभित) हैं मानों शरीर धारण किये हुए (सब प्रकार के) सुख सेवा कर रहे हैं ॥५॥ और साथ में सुंदर चारों पुत्र ऐसे शोभा दे रहे हैं, मानों सभी मोक्ष शरीर धरकर शोभित हैं ॥६॥ मरकत मणि और स्वर्ण के रंग की जोड़ियों को देखकर देवताओं को कुछ थोड़ी प्रीति नहीं हुई; अर्थात् बहुत प्रीति हुई ॥७॥ फिर वे श्रीरामजी को देखकर हृदय में हर्षित हुए और राजा की सराहना करके उन्होंने फूलों की वर्षा की ॥८॥ श्रीरामजी के नख से शिखा तक सुंदर रूप को बार-बार देखकर पार्वतीजी सहित शिवजी का शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये ॥३१५॥

विशेष—(१) 'देवन्ह देखे दसरथ···'—शिवजी के उपदेश का प्रभाव पड़ा, देवता लोग इधर-उधर से दृष्टि बटोरकर बरात देखने लगे। राजा दशरथ को बड़ा आनंद है, क्योंकि साथ में साधु-समाज एवं सुंदर पुत्र हैं। जनवासा दूर है, इससे सब सवारी पर हैं, जहाँ से पैदल चलेंगे वहाँ से पाँवड़े पड़ेंगे।

(२) 'जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा।'—'सुख' यथा—"अरथ धरम-कामादि-सुख, सेवइ समय नरेसु॥" (दो० १५४); सुख अनेकों चिन्ता एवं कष्टों से बचे हुए प्रिय अनुभूति को कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक नित्य, जो परमात्मा के साथ में मुक्तावस्था में प्राप्त होता है, दूसरा अन्य, जो सुत-वित्त आदि की प्राप्ति एवं आरोग्यता—भोग आदि से होता है। यहाँ राजा को साधु-समाज से नित्य सुख

और विप्र-समाज से जन्य सुख की अनुभूति है, यथा—"संत संग अपबरग कर" (उ० दो० ३३), और विप्र लोग धर्म-कर्म द्वारा लौकिक सुखों के दाता हैं, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)। ऊपर राजा को महामोद कहा था, उसे ही यहाँ उपमा द्वारा स्पष्ट किया। 'सेवा'—करना आनन्दित करने के अर्थ में उपमान में है, वैसे ही उपमेय में भी साधु विप्र से राजा आनन्दित हैं। ये उभय प्रकार के सुख तो राजा को सहज में प्राप्त हैं, इसीसे 'तनुधरे' से आज विशेषता दिखाई।

'सोहत साथ ''जनु अपबरग'''—पूर्व—'नृप समीप''' जनु धन धरमादिक''' कहा गया था; क्योंकि नृप की धन-धर्म आदि से शोभा होती है। यहाँ साधु समाज के संग से राजा को अपवर्ग के अधिकारी दिखाकर तब 'तनुधारी अपबरग' की प्राप्ति कही और आज की विशेषता दिखाई, क्योंकि नित्य साधु-समाज-सेवन से सामान्य अपवर्ग तो इन्हें सहज ही है। प्रथम साधु-ब्राह्मणों का संग कहकर तब मोक्ष की प्राप्ति की उत्प्रेक्षा की गई, क्योंकि साधु-ब्राह्मणों के संग से मोक्ष मिलता है।

यहाँ श्रीरामजी मानों सायुज्य हैं, उनके तुल्य रूप से भरतजी सारूप्य, प्रभु के पार्श्ववर्ती होने से लक्ष्मणजी सामीप्य और भरतजी के निकटवर्ती होने से शत्रुघ्नजी सालोक्य हैं।

(३) 'मरकत कनक बरन '''—श्रीरामजी और भरतजी श्याम वर्ण मरकत मणि के समान और श्रीलक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी गौर वर्ण स्वर्ण के समान हैं। श्याम-गौर की दो, अथवा श्याम-श्याम और गौर-गौर की दो जोड़ियाँ हैं।

'पुनि रामहिं बिलोकि'''—जोड़ी देखकर फिर श्रीराम ही को देखने लगे, क्योंकि—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (दो० १९७)। 'नृपहिं सराहि'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'भाग्य बिभव अवधेस कर'''लगे सराहन सहसमुख''' है। उपक्रम में स्वार्थ की सराहना है और यहाँ उपसंहार में परमार्थ की; अर्थात् इनके समान स्वार्थ और परमार्थ और किसी ने नहीं पाये। पुनः—'सुमन बिन्ह बरषे' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"बरषहिं सुमन" (दो० ३१३) है। देवताओं के मन, वचन कर्म तीनों लगे हैं—'हरषे'—मन, 'सराहि'—वचन और 'बरषे'—कर्म है।

(४) 'रामरूप नखसिख'''—शिवजी का बार-बार निहारना कहकर और देवताओं से अधिक प्रेम होना जनाया। यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०), यह रूप ही ऐसा है कि बार-बार देखे बिना तृप्ति ही नहीं होती, यथा—"तृपित न मानहिं मनु सतरूपा॥" (दो० १४७)। 'पुरारि'—क्योंकि आज श्रीरामरूप के दर्शनों से जो सुख मिल रहा है, वह त्रिपुरासुर की विजय के सुख से कहीं अधिक है, यथा—"मानहुँ समर सूर जय पाई॥ जेहि सुख ते सत कोटि गुन, पावहिं मातु अनंद। भाइन्ह सहित बियाहि घर, आये रघुकुलचंद॥" (दो० ३५०)। देवताओं के लिये 'देखि सुरन्ह' कहा गया है और शिवजी का नख शिख रूप को 'बारहिं बार' निहारना कहा गया। अतः, शिवजी का सुख भी अधिक है।

> केकि-कंठ-दुति स्यामल अंगा। तड़ितबिनिंदक बसन सुरंगा॥१॥
> ब्याहबिभूषन बिबिध बनाये। मंगलमय सब भाँति सुहाये॥२॥
> सरद-बिमल-बिधु-बदन सुहावन। नयन नवल-राजीव-लजावन॥३॥
> सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई॥४॥

बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा ॥५॥
राजकुँअर बरबाजि देखावहिं। बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं ॥६॥
जेहि तुरंग पर राम बिराजे। गति बिलोकि खगनायक लाजे ॥७॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजिबेष जनु काम बनावा ॥८॥

अर्थ—मोर के कंठ की कान्ति के समान श्याम अंग है, बिजली की भी विशेष निन्दा करनेवाले सुन्दर (पीत) रंग के वस्त्र (पहने) हैं ॥१॥ मंगलमय और सब प्रकार से शोभायमान अनेकों प्रकार के विवाह के भूषण अंग-अंग में सजाये हुए हैं ॥२॥ शोभायमान मुख शरद् ऋतु के निर्मल चन्द्रमा को और नेत्र नवीन खिले हुए लाल कमल को लज्जित करनेवाले हैं ॥३॥ सब सुन्दरता अलौकिक है, कही नहीं जा सकती, किंतु मन ही-मन अच्छी लगती है ॥४॥ साथ में मनोहर भाई शोभित हैं, जो चंचल घोड़ों को नचाते हुए जा रहे हैं ॥५॥ राजकुमार अपने श्रेष्ठ घोड़ों को दिखा रहे हैं, वंश की प्रशंसा करनेवाले विरुदावली सुना रहे हैं ॥६॥ *जिस घोड़े पर श्रीरामजी विराजमान हैं उसकी चाल देखकर गरुड़जी लज्जित हो गये* ॥७॥ सब प्रकार सुन्दर है, कहा नहीं जाता, मानों कामदेव ने घोड़े का वेष बनाया है ॥८॥

विशेष—(१) 'केकि कंठ दुति'''—यह शिवजी के ध्यान के अनुसार वर्णन है। देवताओं की दृष्टि में 'मरकत मणि' और 'कनक वर्ण' को उपमा दी गई थी, क्योंकि उनकी दृष्टि मे द्रव्य बसा था, इसीसे वे मँड़ब के देखने में मोहे थे और शिवजी विरक्त हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करं'''" (आ० मं०); अतः, वन के मोर के कंठ की उपमा दो गई। मोर श्याम मेघ का प्रेमी है, वैसे शिवजी इन श्याम विग्रह के प्रेमी हैं।

'बंधु मनोहर'''—जो शृङ्गार श्रीरामजी का है, वही भाइयों का भी है।
'चंचलता' के योग से 'तुरंग' कहा गया; अर्थात् जो तेजी से गमन करे।
'बर बाजि देखावहिं'—अपने-अपने घोड़ों के हुनर (गुण) दिखा रहे हैं।

(२) 'कहि न जाइ सब भाँति'''—'सब भाँति' यह आगे कहा है—'बय, बल, रूप, गुन, गति' इन सब प्रकारों में सुहावना ही है। अतएव 'कहि न जाइ' पर काम के 'बाजि बेष' द्वारा कुछ दिग्दर्शन कराते हैं। सवार के लिये भी ऐसा ही कह आये—"सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाय मन ही मन भाई॥" यहाँ उत्प्रेक्षा न मिली थी, अतः नहीं कहा।

और राजकुमार लोग घोड़ों को विधिवत् नचाते हैं, पर श्रीरामजी का घोड़ा स्वयं उत्तम गति से चलता है, पुनः ये सबमें बड़े हैं और विवाह समय के अनुसार इनमें गंभीरता है।

छंद—जनु बाजिबेष बनाइ मनसिज रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई।
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि-मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुरनर मुनि ठगे॥

दोहा—प्रभु मनसहिं लयलीन मन, चलत बाजि छबि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित घन, जनु बर बरहि नचाव ॥३१६॥

अर्थ—मानों कामदेव श्रीरामजी के लिये घोड़े का वेष बनाकर अत्यन्त शोभित हो रहा है। अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चाल से सभी लोकों को विशेष मोहित करता है॥ सुन्दर मोती, मणि और माणिक्य लगी हुई जड़ाऊ जीन की ज्योति जगमगा रही है। रमणीय किंकिणी और सुन्दर लगाम देखकर देवता, मनुष्य और मुनि ठगे से रह गये॥ प्रभु श्रीरामजी के मन में अपने मन को लवलीन किये चलते हुए घोड़ा ऐसी छवि पा रहा है मानों कोई बादल बिजली और तारागणों से भूषित (अर्थात् युक्त) किसी सुन्दर मोर को नचा रहा हो ॥३१६॥

विशेष—(१) 'रामहित अति सोहई'—कामदेव ने सोचा कि हम जब अत्यंत सोहेंगे तभी अत्यन्त सुन्दर गर्वीला जानकर श्रीरामजी हमें स्वीकार करेंगे, नहीं तो घोड़े तो वहाँ अनन्त हैं और वे सभी सोहते हैं। काम सोहता पहले भी था, पर आज श्रीरामजी के लिये घोड़ा बना है। अतः, 'अति सोहई' कहा गया है। कामदेव के पाँच बाण हैं, जिनसे वह सबको मोहता है, वैसे उसके अश्व रूप में भी बय, बल, रूप, गुण और गति ये पाँच गुण हैं, इन्हीं से वह 'सकल भुवन' को मोहता है। अब', उसके ये ही पाँचो बाण हैं। आज श्रीरामजी सवार-रूप से सहायक मिल गये, इससे विशेष मोहित करता है। 'सकल भुवन' में शिवजी आदि भी आ गये। कामदेव श्रीरामजी की शोभा-वृद्धि के लिये घोड़ा बनकर आया, इसीसे प्रभु के प्रभाव से उसे यह श्रेय मिला। 'किंकिनि ललाम ''बिलोकि सुर'''' अर्थात् किंकिणी आदि भी मोहने में सहायक हैं।

'भूषित उड़गन तड़ित'''—मेघ योजन भर पर रहता है, तब भी उसके सम्बन्ध से मोर नाचता है और यदि मेघ मोर की पीठ पर ही आ बैठे तब तो वह अत्यन्त आह्लादपूर्वक नाचेगा। वैसे यहाँ श्रेष्ठ घोड़े को उपमान समझकर 'बरहि' (बरही) को भी 'बर' (श्रेष्ठ) कहा गया है। यहाँ श्रीरामजी मेघ हैं, यथा—"लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा" (दो० १९१); मणि-मुक्ताओं की लड़ें तारागण हैं, यथा—"मंदिर मनि समूह जनु तारा।" (दो० ११९); पीताम्बर तड़ित है, यथा—"तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।" (दो० ३१५), और श्रेष्ठ घोड़ा श्रेष्ठ बरही (मोर) है, यथा—"मोर चकोर कीर बरबाजी।" (आ० दो० ३७)।

जेहिं बर बाजि राम असवारा। तेहि सारदउ न बरनइ पारा ॥१॥
संकर राम-रूप-अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे ॥२॥
हरि हितसहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे ॥३॥
निरखि रामछबि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने ॥४॥
सुर-सेनप-उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ़ सुलोचन-लाहू ॥५॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतमस्राप परम हित माना ॥६॥
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर-सम कोउ नाहीं ॥७॥
मुदित देवगन रामहिं देखी। नृपसमाज दुहुँ हरष बिसेषी ॥८॥

शब्दार्थ—सिहाहीं = अभिलाषा के साथ प्रशंसा करते हैं, अन्यत्र ईर्ष्या स्पर्द्धा, दाह भी अर्थ होता है।

अर्थ—जिस श्रेष्ठ घोड़े पर श्रीरामजी सवार हैं, उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती ॥१॥ शङ्करजी श्रीरामरूप पर आसक्त (अनुरक्त) हुए, (उस समय) उन्हें अपने पन्द्रहों नेत्र अत्यन्त प्रिय लगे ॥२॥ विष्णु भगवान् ने प्रेम से जब श्रीरामजी को देखा, तब वे लक्ष्मी के पति लक्ष्मी के साथ भी मोहित हो गये ॥३॥ श्रीरामजी की छवि देखकर ब्रह्माजी हर्षित हुए, (पर) आठ ही नेत्र जानकर पछताये (कि और न हुए) ॥४॥ स्वामि-कार्तिक के हृदय में अधिक उत्साह है कि (हम) ब्रह्मा से डेवढ़े नेत्रों का लाभ उठा रहे हैं ॥५॥ सुजान इन्द्र श्रीरामजी को देखकर गौतम मुनि के शाप को परम हितकर माना ॥६॥ सभी देवता सुरराज इन्द्र को सिहाते हैं कि आज इन्द्र के समान (धन्य) दूसरा नहीं है ॥७॥ देव-समाज श्रीरामजी को देखकर आनन्दित है और दोनों राज-समाजों में बड़ा हर्ष है ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि बर बाजि राम'''—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"जेहि तुरंग पर राम बिराजे।" है। 'जेहि' अर्थात् 'बर बाजि' तो सभी राजकुमारों के घोड़े हैं—"बरन बरन बर बाजि बिराजे" (दो० २९७); "राजकुँअर बर बाजि देखावहि।" (दो० ३१५); पर जिसपर श्रीरामजी बिराजे हैं। वह विलक्षण है, इसीसे उसे शारदा भी नहीं कह पाती। शारदा वक्तृत्व में श्रेष्ठ है, यथा—"सुक से मुनि, सारद से बकता'''" (क० उ० ३१)।

(२) 'संकर राम-रूप अनुरागे'''—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"राम-रूप नख सिख'''" है। इनका सदा दो ही नेत्रों से काम चलता था, पन्द्रहो आज ही काम आये, जिनसे प्रिय प्रभु के दर्शन का विशेष आनन्द मिला। (अग्नि नेत्र से काम को भस्म किया था, तब क्रोध था और यहाँ अनुराग दृष्टि है। अतः, शंका नहीं।) शिवजी देव-समाज में मुख्य प्रेमी हैं और इनका सबके आगे होना पूर्व कहा भी गया था। अतः, इनका वर्णन प्रथम हुआ। नख से शिखा पर्यन्त देखना कहा गया। अतः, इनका दास-भाव है। 'अनुरागे' अर्थात् इनकी सर्वात्मना चित्त-वृत्ति लगी है।

(३) 'हरि हित सहित राम'''—इसमें कोई-कोई 'हरि' का अर्थ घोड़ा करते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'संकर' 'बिधि' 'सुरेश' एवं 'देव गन' को घोड़े सहित देखना न कहकर राम-रूप ही देखना कहा गया है—'राम-रूप अनुरागे' 'निरखि राम-छवि', 'रामहिं चितव', 'रामहिं देखी' इत्यादि वाक्य इसी प्रसंग में कहे गये हैं, तो विष्णु भगवान् पर क्या केवल राम रूप का असर नहीं पड़ा कि उन्हें घोड़े-सहित देखने पर मोह हुआ? इस अर्थ में श्रीराम-छवि का अपकर्ष है।

फिर यदि कहा जाय कि तब तो 'रमापति' शब्द से पुनरुक्ति होगी। उसका समाधान यह है—'रमापति' शब्द हरि के विशेषण रूप में विलक्षणता दिखाने के लिये है कि रमाजी स्वयं रम्य रूपा हैं, उन्होंने जिन्हें पति बनाया (जयमाल देकर चुना) वे अवश्य ही परम सुन्दर हैं। रम्यरूपा लक्ष्मीजी के सहित रमणीयता के पति परम रम्यरूप विष्णु भगवान् भी मोहित हो गये। 'हित सहित' अर्थात् प्रेम-पूर्वक अपने अंशी को देखा, यथा—"उपजहिं जासु अंस ते नाना। विष्णु'''" (दो० १४१); केवल 'हरि' पद में अति व्याप्ति भी थी, वह 'रमापति' कहने से निवृत्त हुई। अन्य कल्पों के विष्णु के ही अवतार-प्रसंग में इस समय के अनूठे दूलह-वेष में मोहना अर्थ होगा।

(४) 'बिधि हरषाने'—शिव—विष्णु तो शक्ति-सहित कहे गये, ब्रह्मा नहीं, क्योंकि इनकी शक्ति तो घोड़े के वर्णन में लगी हैं—'तेहि सारदउ न बरनइ पारा।' (उपर्युक्त), यहाँ शिवजी का दास्य, विष्णु का सख्य और ब्रह्मा का वात्सल्य भाव है।

(५) 'सुर-सेनप उर'''—इन्हें देव-सेनापति होने की अपेक्षा यहाँ अधिक सुख है, क्योंकि सब देवताओं के पितामह से ढेवढ़े नेत्र हैं (इनके छ मुख और बारह नेत्र हैं) !

(६) 'सुरेश सुजाना'''गौतम स्राप ' '—अहल्या के सम्बन्ध में गौतम मुनि ने इन्द्र को शाप दिया था कि तेरे शरीर में सहस्रों भग हो जायँ, फिर प्रार्थना पर अनुग्रह किया कि तुम जब श्रीरामजी का दूलह वेष देखोगे, तब ये ही भग नेत्र हो जायँगे। इन्द्र ने कृतज्ञता-पूर्वक उसी चरित का स्मरण किया है इसी से वे 'सुजान' कहे गये, यथा—"हरषि राम भेंटे हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥" (लं० दो० ६०) । *'परम हित माना'—क्योंकि उसीसे श्रीराम-दर्शन का अत्यन्त आनन्द मिला, यथा—*"बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), अर्थात् शत्रु परम हित और उसका कोप प्रसाद है, यदि उससे श्रीरामजी की प्राप्ति हो।

'मुदित देवगन'' '—यहाँ तक देवताओं का श्रीराम दर्शनानन्द कहा गया।

छंद—अति हरष राजसमाज दुहुँ दिसि दुंदुभी बाजहिं घनी।
बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुल-मनी॥
येहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं॥

दोहा—सजि आरती अनेक बिधि, मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछन करन, गजगामिनि बर नारि॥३१७॥

अर्थ—दोनों तरफ के राज-समाज में अत्यन्त हर्ष है, घने (बहुत) नगाड़े बज रहे हैं। प्रसन्न होकर और 'रघुकुलमणि की जय हो, जय हो, जय हो' ऐसा कहकर देवता लोग फूल बरसाते हैं॥ इस प्रकार बरात को आते हुए जानकर बहुत बाजे बजने लगे। रानी सौभाग्यवती स्त्रियों को बुलाकर परिछन के लिये मंगल सजाने लगीं॥ अनेक तरह से आरती सजकर और सम्पूर्ण मंगलों को सजाकर, गजगामिनी श्रेष्ठ स्त्रियाँ आनन्द पूर्वक परिछन करने को चलीं॥३१७॥

विशेष—(१) 'अति हरष राज'''—दोनों राज-समाज समीप से श्रीराम-छवि देखते हैं। अत, इन्हें अत्यन्त हर्ष है, यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥" (दो० २६४)।

'बाजने बहु बाजहीं'—यहाँ सब प्रकार के सब बाजे बजे, इसीसे बहुत कहे गये हैं।

(२) 'सजि आरती अनेक'''—आरती कई प्रकार की, अर्थात् ५, ७, १०, १४ आदि बत्तियों की, पुष्पों की एवं कर्पूर आदि की होती है और परिछन का थाल भी खूब सजाया जाता है। अत, 'अनेक बिधि' दीपवेदली रूप में लिया जायगा। बहुत-सी सामें हैं, उन सबको निराले ढंग से सजाना ठीक ही है। 'मंगल सकल' यथा—"दधि दूर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम थार ' "(उ० दो० २)। 'गजगामिनि' से युवा अवस्था का और 'बर' से सौभाग्यवती का होना सूचित किया।

बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि । सब निज तनु-छबि रति-मद-मोचनि ॥१॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा । सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥२॥
सकल सुमंगल अंग बनाये । करहिं गान कलकंठि लजाये ॥३॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं । चाल बिलोकि काम गज लाजहिं ॥४॥
बाजहिं बाजन बिबिध प्रकारा । नभ अरु नगर सुमंगल चारा ॥५॥

अर्थ—सभी चन्द्रवदनी और मृगलोचनी हैं एवं सभी अपने शरीर की छवि से कामदेव की स्त्री रति के गर्व को छुड़ानेवाली हैं ॥१॥ सभी रंग-बिरंग के श्रेष्ठ वस्त्र पहने हुए हैं और सब भूषण शरीर में सज रक्खे हैं ॥२॥ सभी सुन्दर मंगलों से अंगों का सजाव किये हुए कोकिलाओं को भी लजाती हुई (सुन्दर स्वर से) गा रही हैं ॥३॥ कंकण, किंकिणियाँ और नूपुर बज रहे हैं, चाल को देखकर कामदेव-रूपी हाथी लज्जित होते हैं ॥४॥ तरह-तरह के बाजे बज रहे हैं, आकाश और नगर (दोनों) में सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बर चीरा' से सोलहो शृंगार करना जनाया, क्योंकि वस्त्र उनमें आदि है। 'सकल बिभूषन' से बारहों आभूषण आ गये—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसरि, बिरिया, टीका और शीशफूल—ये क्रमशः द्वादश आभूषण हैं। बारहो आभूषणों से सधवा होना जनाया।

'सकल सुमंगल···'—यावक, अरगजा, सिंदूर, रोरी, कज्जल आदि मांगलिक द्रव्य हैं, इन्हें अंगों में लगाया है।

(२) 'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं···'—ये भूषण चाल के साथ बजते हैं, अतः, साथ ही चाल का भी वर्णन किया है। 'चाल बिलोकि काम···'—इनके सभी व्यवहार कामरूप उपमानों को लज्जित करने वाले हैं, जैसे—'चाल बिलोकि काम-गज लाजहिं।' 'करहिं गान कलकंठि लजाये।' और—'कलगान सुनि...काम-कोकिल लाजहीं।' (दो० ३२२); 'सब निज तनु छबि रति-मद-मोचनि' इत्यादि।

(३) 'सुमंगल चारा'—कदली के पंखे झलना, माला पहनाना, चावल छिड़कना, फूल बरसाना, खील बरसाना आदि मंगल-सूचक आचरण हैं।

सची सारदा रमा भवानी । जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥६॥
कपट-नारि-बर-बेष बनाई । मिलीं सकल रनिवासहिं जाई ॥७॥
करहिं गान कल मंगल बानी । हरष बिबस सब काहु न जानी ॥८॥

छंद—को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्म बर परिछन चलीं।
कल गान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भलीं ॥
आनंदकंद बिलोकि दूलह सकल हिय हरषित भई।
अंभोज-अंबक-अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छई ॥

दोहा—जो सुख भा सिय-मातु-मन, देखि राम-बर बेष ।
सो न सकहिं कहि कलप सत, सहस सारदा सेष ॥३१८॥

नयन नीर हठि मंगल जानी । परिछन करहिं मुदित मन रानी ॥१॥
बेदबिहित अरु कुल-आचारू । कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू ॥२॥

शब्दार्थ—कपट बेष=बनावटी वेष, वास्तविकता छिपाये हुए कि कोई जान न सके। हठि=रोककर। आचारू=रीति। बेदबिहित=वेद से विधान किया हुआ-गौरी (गणेश-भूमि की पूजा आदि)।

अर्थ—इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती (आदि) देवताओं की स्त्रियाँ, जो स्वाभाविक पवित्र और निपुण हैं ॥६॥ वे सब सुन्दर स्त्रियों का बनावटी श्रेष्ठ वेष बना रनिवास में जा मिलीं ॥७॥ मनोहर वाणी से सुन्दर मंगल गान करने लगीं, सब हर्ष के विशेष वश हैं, इससे किसीने नहीं जाना ॥८॥ कौन किसे जाने ? सभी तो आनंदवश हैं, ब्रह्म दुलहे का परिछन करने चली जा रही हैं। सुन्दर गान हो रहा है, (तदनुसार ही) मधुर नगाड़े बजते हैं। देवता लोग फूल बरसा रहे हैं, अनूठी शोभा है। आनंद-कंद दुलहे को देखकर सभी हृदय में हर्षित हुईं। कमल के समान नेत्रों में जल उमड़ आया और सुंदर अंगों में पुलकावली छा गई ॥ श्रीरामजी का दूलह-वेष देखकर श्रीसीताजी की माता के मन में जो सुख हुआ, उसको लाखों शारदाएँ और शेष लाखों कल्प तक भी नहीं कह सकते ॥३१८॥ मंगल अवसर जानकर नेत्रों के जल को रोक प्रसन्न मन से रानी परिछन कर रही हैं ॥१॥ वेद-विधान के अनुसार और कुल की रीति से सभी व्यवहार भली प्रकार किये गये ॥२॥

विशेष-(१) 'सची सारदा रमा···'—शची आगे जाकर मिलीं, इससे इन्हें प्रथम कहा है। 'सहज' दीपदेहली है। *'सुचि सहज सयानी' कहकर कपट से रूप धरने का दोष निराकृत किया कि इन्होंने पवित्र* भाव से अपना ऐश्वर्य छिपाने और पुर नारियों के साथ निकट से दिव्य आनंद लेने के लिये निपुणता से वेष बदला है। पुनः 'सुरतिय' से अप्सराएँ भी कही जाती हैं। इसलिये 'सुचि' से *विवाहिताओं* को जनाया और 'सहज अपावनि नारि' (आ० दो० ५) में कथित दोष भी दूर किया। 'सहज सयानी'-से—"सहज जड़ नारि अयानी" (दो० ११९) का दोष भी हटाया।

(२) 'कपट नारि बर बेष···'—वेष बनावटी है, पर श्रेष्ठ है; इसी से इनको न पहचानकर भी उमा-रमा *आदि जान्सा इनका सम्मान किया गया। अस्तु, न पहचाना, तो भी पूछताछ* तो करनी थी, इसका समाधान करते हैं कि—'को जान केहि आनंद-बस···'—अर्थात् आनंद में मुग्ध होने से अपनी ही सुधि भुला गईं, तो दूसरी को कौन पूछता ? 'आनंदकंद' आनंद के मूल, जिनसे सभी आनंद पाते हैं, यथा—"जो आनंद-सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम..." (दो० १९७), "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२), "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" (तैत्ति० ३।६)।

(३) 'जो सुख भा सियमातु··'—इन्हें एक तो रामजी का वर-वेष देखकर सुख है, दूसरे यह कि हमारी पुत्री को ऐसा उत्तम वर मिला। 'सत-सहस' अर्थात् लाख, यह दीपदेहली है। 'परिछन करहिं मुदित मन रानी' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"चलीं मुदित परिछन करन" (दो० ३१७) पर है।

पंच सबद धुनि मंगल गाना । पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना ॥३॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा । राम गवन मंडप तब कीन्हा ॥४॥

दसरथ सहित समाज बिराजे। बिभव बिलोकि लोकपति लाजे ॥५॥
समय-समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला ॥६॥
नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपन पर कछु सुनइ न कोई ॥७॥
येहि बिधि राम मंडपहिं आये। अरघ देइ आसन बैठाये ॥८॥

छंद—बैठारि आसन आरती करि निरखि बर सुख पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिं नारि मंगल गावहीं।
ब्रह्मादि सुरबर बिप्रबेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल-कमल-रबि-छबि सुफल जीवन लेखहीं॥

दोहा—नाऊ बारी भाट नट, राम - निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर, हरष न हृदय समाइ॥३१९॥

शब्दार्थ—पंच सबद (पंच शब्द)=पाँच प्रकार के मंगलसूचक बाजे—तंत्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा और तुरही (सं० तूर)। या पाँच प्रकार की शब्द-ध्वनियाँ, यथा—"जय-धुनि बंदी-बेद-धुनि, मंगल गान निसान।" (दो० ३१४)। अरघ (अर्घ्य)=षोडशोपचार पूजा की एक विधि; जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों, तंडुल और यव को मिलाकर देवता को अर्पण करना अथवा सामने जल गिराना।

अर्थ—पंच शब्दों की ध्वनि और मंगल-गान हो रहा है, नाना प्रकार के वस्त्र पाँवड़े पड़ रहे हैं ॥३॥ उन रानियों ने आरती करके अर्घ्य दिया, तब श्रीरामजी मंडप में गये ॥४॥ श्रीदशरथजी समाज के साथ विराजमान हुए। उनके ऐश्वर्य को देखकर लोकपाल लज्जित होते हैं ॥५॥ देवता समय-समय पर फूल बरसाते हैं और ब्राह्मण (समय के) अनुकूल शान्ति-पाठ करते हैं ॥६॥ आकाश और नगर में कोलाहल मच रहा है। अपना-पराया कोई कुछ नहीं सुनता ॥७॥ इस प्रकार श्रीरामजी मंडप में आये, उन्हें अर्घ्य देकर आसन पर बैठाया ॥८॥ स्त्रियाँ आसन पर बैठा, आरती उतार, वर को देखकर सुख पा रही हैं। मणि-वस्त्र-भूषण-समूह निछावर करतीं और मंगल गा रही हैं। ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण-वेष बनाकर कौतुक देख रहे हैं। रघुकुल-रूपी कमल के (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्यरूप श्रीरामजी की छवि देखकर अपने जीवन को सफल मान रहे हैं॥ नाई, बारी, भाट और नट श्रीरामजी की न्योछावर पाकर माथा नवा प्रसन्न हो आशीर्वाद देते हैं, उनके हृदय में हर्ष नहीं समाता ॥३१९॥

विशेष—(१) 'पट पाँवड़े परहिं···'—यहाँ तक के विधान घोड़े पर ही हुए थे। 'पाँवड़े', देखिये दोहा ३०५ चौ० ५ भी। 'राम गवन मंडप···'—अभी चक्रवर्त्तीजी मंडप में नहीं गये, क्योंकि सामध की रीति अभी शेष है।

(२) 'समय-समय सुर···'—जब दूलह-दुलहिन मंडप में आते हैं तब शांति-पाठ पढ़ा जाता है; वही समय है। वेद के मंत्र विघ्न-शांति के लिये पढ़े जाते हैं, यथा—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः।···" (तैत्ति० १।१।१); "ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु···" (तैत्ति० २।१।१) इत्यादि।

(३) 'मनि बसन भूषन···'—यहाँ मणि और भूषण के बीच में वस्त्र रखकर इन वस्त्रों की बहुमूल्यता वस्त्र सूचित की। 'ब्रह्मादि सुर बर बिप्र···'—जैसे शची आदि के लिये 'सुचि सहज सयानी' कहा गया था, वैसे यहाँ भी 'बर' विशेषण है। 'कौतुक देखहीं'—ये लोग वेद-पाठ नहीं करते, क्योंकि इनकी वाक्पटुता पर ध्यान धरके ऋषि लोग लाज लेंगे, अतः केवल कौतुक देखते हैं। 'सुफल जीवन लेखहीं'—अर्थात् श्रीरामदर्शनों के बिना देव-शरीर भी व्यर्थ ही है।

(४) 'नाऊ बारी भाट···'—नाई का विशेष नेग होता है, अतः उसका नाम प्रथम आया। 'राम-निछावरि पाइ···हरष न हृदय समाइ'—'राम-निछावरि' पाने के लिये देवता भी भिखारी बनते हैं, यथा—"भूमिदेव देव ·· राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी॰ बा॰ ६)। वही न्योछावर हमें मिलती है, अत हर्ष है। 'हरष न हृदय समाइ'—मन, 'असीसहिं'—वचन, 'नाइ सिर'—कर्म, अर्थात् ये लोग मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं।

मिले जनक दसरथ अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती ॥१॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कबि लाजे ॥२॥
लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी ॥३॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जस गावन लागे ॥४॥
जग बिरंचि उपजावा जब ते। देखे सुने ब्याह बहु तब ते ॥५॥
सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥६॥
देवगिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ॥७॥
देत पाँवड़े अरघ सुहाये। सादर जनक मंडपहिं ल्याये ॥८॥

शब्दार्थ—सामध=समधियों का मिलाप, वर और कन्या के पिता परस्पर समधी कहाते हैं। माँची=फैल गई।

अर्थ—राजा जनक और राजा दशरथ वैदिक और लौकिक रीतियाँ करके अत्यन्त प्रीति-पूर्वक मिले ॥१॥ दोनों महाराज मिलते हुए अत्यन्त शोभित हुए; (इनके लिये) कवि लोग उपमा खोज खोजकर लजा गये ॥२॥ कहीं भी उपमा न मिली, तब हृदय में हार मानी और मन में निश्चय किया कि इनके समान ये ही उपमान हैं ॥३॥ इन समधियों का मिलाप देखकर देवता लोग अनुरक्त हो गये और फूल बरसाकर यश गाने लगे ॥४॥ जब से ब्रह्मा ने जगत् (या जगत् में हमें) उत्पन्न किया, तब से हमने बहुत-से ब्याह देखे और सुने हैं ॥५॥ पर सब प्रकार से साज और समाज एक समान और बराबर के समधी हमने आज ही देखे ॥६॥ देवताओं की यह सुंदर और सच्ची वाणी सुनकर दोनों ओर अलौकिक प्रीति फैल गई ॥७॥ सुन्दर पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए श्रीजनकजी श्रीदशरथजी को आदर के साथ मंडप में ले आये ॥८॥

विशेष—(१) 'मिले जनक दसरथ···'—श्रीजनकजी प्रथम आकर मिले, अत प्रथम कहे गये। 'अति प्रीति' को 'लौकिक वैदिक' रीति से प्रथम कहा, क्योंकि सब विधान हो, पर प्रीति न हो, तो मिलने की शोभा नहीं है। कहा भी है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। हरिजन सों हरिजन मिले, पुलके सात करोरि॥" यहाँ भेंट रखना, इत्र-चंदन आदि लगाना, कंधे-से-कंधे मिलाकर मिलना एवं वेद विधान भी हुए, पर प्रीति मुख्य है। यहाँ 'अति प्रीति' के योग से 'बिराजे' पद है, अर्थात् विशेष शोभित

हुए। 'लाजे'—प्रयत्न पर भी सफलता न पाकर लज्जित हुए, फिर भी कवि-स्वभाव से 'इन्द्र सम एइ उपमा' कहकर संतोष किया। यह अनन्वयोपमा अलंकार है।

(२) 'जग बिरंचि'''—जगत् के उत्पन्न होने के साथ ही अधिकार-सहित देवता भी उत्पन्न हुए, ब्याह में सर्वत्र इनका आवाहन होता ही है। अतः, 'देखे' कहा है और जिनका आवाहन नहीं होता, उन्होंने इनसे सुना है। अतः, उनके लिये 'सुने' कहा है।

(३) 'सकल भाँति सम'''—एक के यहाँ ब्रह्म और दूसरे के यहाँ उन्हीं की आदि-शक्ति (अर्द्धांगिनी) का आविर्भाव हुआ, दोनों तत्त्वतः एक एवं तुल्य हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि'''" (दो० १८), पुनः घर, पुत्र, कन्या, वरपक्ष, कन्यापक्ष, विभव, कुल आदि में भी दोनों तुल्य हैं। 'देव-गिरा सुनि'''—यह वाणी सुनने में प्रिय है। अतः, सुन्दर कहा। देवता सत्य ही बोलते हैं, अन्यथा देवत्व से च्युत हो जायँ। साँची का यह भी भाव है कि प्रशंसा-रूप में बढ़ाकर यह वाणी नहीं कही गई। वाणी की शोभा सत्य और प्रिय होने में है—"कहहि सत्य प्रिय बचन बिचारी।।" (अ० दो० १२१)।

(४) 'देत पाँवड़े '''—श्रीरामजी को रानियाँ ले गईं और महाराज को श्रीजनकजी ले आये।

छंद—मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि-मन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंहासन धरे॥
कुल-इष्ट-सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परइ कही॥

दोहा—बामदेव आदिक रिषय, पूजे मुदित महीस।
दिये दिव्य आसन सबहिं, सब सन लही असीस॥३२०॥

अर्थ—मंडप की विचित्र रचना और सुन्दरता देखकर मुनियों के मन हर गये। सुजान (निपुण) राजा जनक ने अपने हाथों से ला-लाकर सबके लिये सिंहासन रक्खे॥ अपने कुल-देवता के समान वसिष्ठजी की पूजा की और विनती करके उनसे आशीर्वाद पाया। विश्वामित्रजी को अत्यन्त प्रीति से पूजते हैं, उस (परम प्रीति) की रीति तो कहते नहीं बनती॥ (फिर) आनन्द-पूर्वक राजा ने वामदेव आदिक ऋषियों की पूजा की, सबको दिव्य आसन दिये और सबसे असीस पाई॥३२०॥

विशेष—'निज पानि जनक'''—'धरे' क्रिया भूतकाल की है। अत, सिंहासन प्रथम ही से रक्खे थे, नौकरों से लेकर अपने हाथों से सजाकर यथायोग्य रक्खे, इसीसे 'सुजान' कहा गया है। सुजानता यह भी है कि कन्या-पक्ष न्यून होता है, इस दृष्टि से भी आपने सत्कारार्थ सेवक-भाव ग्रहण किया है। अभी एक-एक ला-लाकर रखने में तो लग्न ही बीत जाता। प्रथम पृथक्-पृथक् सत्कार किया; फिर देर होने के भय से वामदेव आदि की समष्टि में ही पूजा की।

'मुनि-मन हरे'—मुनि विषयरस से रूखे होते हैं, जब इनका ही मन हर जाता है, तब औरों का क्या कहना ?

'कुल-इष्ट सरिस बसिष्ठ ···'—ये रघुकुल के गुरु एवं इष्ट हैं, यथा—"तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देव अभिमत माँगे ।" (गी० बा० १२) ; इस कुल से समधी (तुल्य-बुद्धि) का नाता हो गया। अत', हमारे भी इष्ट हैं, इस विचार से कुल इष्ट के समान पूजा की। 'बिनय करि ···'—निमि-कुल के भी प्रथम के पुरोहित वशिष्ठजी ही थे, राजा निमि के साथ परस्पर शाप से पार्थक्य हुआ था, तब से निमि-कुल के गौतमजी एवं उनके पुत्र शतानन्दजी पुरोहित हुए। अतः बहुत विनती से प्रसन्न कर राजा जनक ने वशिष्ठ जी से आशीर्वाद प्राप्त किया। 'कौसिकहि पूजत परम प्रीति····'—क्योंकि इस सम्बन्ध के मुख्य कारण ये ही हैं।

बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा । जानि ईस सम भाव न दूजा ॥१॥
कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई । कहि निज भाग्य बिभव बहुताई ॥२॥
पूजे भूपति सकल बराती । समधी सम सादर सब भाँती ॥३॥
आसन उचित दिये सब काहू । कहउँ काह मुख एक उछाहू ॥४॥
सकल बरात जनक सनमानी । दान मान बिनती बर बानी ॥५॥
बिधि हरिहर दिसिपति दिनराऊ । जे जानहिं रघुबीर - प्रभाऊ ॥६॥
कपट - बिप्र - बर - बेष बनाये । कौतुक देखहिं अति सचु पाये ॥७॥
पूजे, जनक देवसम जाने । दिये सुआसन बिनु पहिचाने ॥८॥

अर्थ—फिर अयोध्या के पति श्रीदशरथ महाराज की पूजा 'ईश' के समान जानकर की, दूसरे भाव से नहीं ॥१॥ हाथ जोड़कर अपने भाग्य-वैभव को बहुलता कहकर उनकी प्रार्थना और बड़ाई की ॥२॥ राजा ने समधी के समान ही आदर के साथ सब बरातियों की सब प्रकार पूजा की ॥३॥ सब किसी को यथा-योग्य आसन दिये, उस उत्साह को एक मुख से क्या कहूँ ? ॥४॥ राजा जनक ने सारी बरात का दान, मान, विनती और सुन्दर वाणी से सम्मान किया ॥५॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लोकपाल और सूर्य, जो श्रीरघुनाथजी का प्रभाव जानते हैं ॥६॥ वे बनावटी श्रेष्ठ ब्राह्मण का वेष बनाकर उत्सव देखते हैं और अत्यन्त सुख पाते हैं ॥७॥ राजा जनक ने देव-तुल्य जानकर उनका पूजन किया और बिना जाने भी उन्हें सुन्दर आसन दिये ॥८॥

विशेष—'जानि ईस सम'—श्रीवसिष्ठजी को इष्ट (भगवान्) के समान माना और राजा दशरथ उनके शिष्य एव सेवक हैं, अत, इन्हें शिवजी के समान माना, क्योंकि शिवजी भी भगवान् (श्रीरामजी) के सेवक हैं। 'भाव न दूजा' अर्थात् दूसरा तुल्यता का भाव (समधी-भाव) नहीं आने देते। 'जोरि कर बिनय ..'—इनमें शिवजी का सा भाव है। शिवजी हाथ जोड़ने से शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकृत न देखि दीन करजोरे ।" (वि० ६), अत', हाथ जोड़कर स्तुति की। 'आसन उचित ..'—पूजा में तो बरातियों को समधी के अग मानकर समान रूप से सबका सत्कार किया। पर आसन में यथायोग्य का भाव है, यह व्यवहार-दृष्टि है, क्योंकि बरात में कई वर्णों के लोग हैं। 'दान मान बिनती बरबानी'—ब्राह्मणों को दान से, क्षत्रियों को विनती से, वैश्यों को मान से और शूद्रों को बर बाणी अर्थात् प्रियवाणी से आश्वासन-द्वारा सम्मानित किया। यथा—"सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै ।" (दो० ३२५)। 'बिधि हरिहर'—'दिसिपति' से पृथक् भी सूर्य को कहा, क्योंकि वे यद्यपि अष्ट लोक-

पालों में हैं, तो भी श्रीरामजी के कुल के पुरुषा हैं। 'जे जानहिं रघुबीर...'— वे जानते हैं कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं, और गुप्त रूप में नरनाट्य कर रहे हैं, इसलिये वे भी अपना ऐश्वर्य छिपाकर आनंद लूटने आये हैं, अन्यथा श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुलना लीला के विरुद्ध होगा।

श्रीरामजी को कपट नहीं भाता—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४)। पर वे लोग कपट वेष से ही आये, क्योंकि उनका यह कपट किसी को ठगने के लिये नहीं है; किन्तु श्रीरामजी का ऐश्वर्य न खुले एवं अपना भी महत्त्व प्रकट न हो, इसपर श्रीरामजी भी प्रसन्न हैं। 'दिये सुआसन ..'—प्रथम 'सिंहासन' 'दिव्य आसन' और 'उचित आसन' कह आये, यहाँ 'सुआसन' कहकर राजा की सावधानता सूचित की। 'बिनु पहिचाने' भी 'सुआसन' दिये, क्योंकि किसी भी वेष में स्थित तेजस्वियों के तेज को अनुभवी लोग लख ही लेते हैं, यहाँ भी ज्ञानी राजा ने उन्हें देवतुल्य मानकर उनका सम्मान किया।

छंद—पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंदकंद बिलोकि दूलह उभय दिसि आनँदमई।
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।
अवलोकि सील सुभाव प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भये॥

दोहा—रामचंद्र - मुख - चंद्र - छबि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥३२१॥

शब्दार्थ—अपान = अपनी। मानसिक = मन की कल्पना से बिना द्रव्य की पूजा।

अर्थ—कौन किसे पहचाने और जाने, सबको अपनी ही सुध भूल गई है। आनंदकंद दूलह को देख-कर दोनों ओर (के लोग) आनन्दमय हो रहे हैं॥ सुजान श्रीरामजी ने देवताओं को देखा तो उनकी मानसिक पूजा करके मानसिक आसन दिये। प्रभु का शील-स्वभाव देखकर देवता मन में आनन्दित हुए॥ श्रीरामजी के मुखरूपी चन्द्रमा की छवि को सभी के सुन्दर नेत्ररूपी सुन्दर चकोर आदर-सहित पान कर रहे हैं और प्रेम और प्रमोद कुछ थोड़ा नहीं है॥३२१॥

विशेष—(१) 'पहिचान को केहिजान ···'—ऊपर बिना पहचाने सु-आसन देना कहा गया, उस न पहचानने का कारण यहाँ कहा कि अपनी सुधि नहीं तो दूसरे को कौन पूछे? इसका भी कारण—'आनंद-कंद···' कहा गया। 'सुर लखे राम सुजान···'—मुनि लोग ध्यान-द्वारा देवताओं को जानते हैं, पर श्री-रामजी ने यों ही जान लिया, अतः ये 'सुजान' कहे गये। 'मानसिक' दीपदेहली है। प्रकट पूजन एवं आसन देने में सर्वज्ञता आदि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होता और देवताओं का भी कपट खुल जाता, इसलिये मानसिक ही पूजा की और आसन भी दिये। आपने नर-नाट्य की मर्यादा से विप्र-वेष में देखकर उनकी पूजा की, अन्यथा स्वर्ग के देवता तो श्रीराम ही को पूजते हैं—"सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला।" (दो० ३२२)।

(२) 'अवलोकि सील सुभाव प्रभु को···'— इतने बड़े प्रभु होते हुए भी हम छोटों का आदर करते हैं,

यह शील-स्वभाव देखकर देवगण आनंदित हुए। 'बिबुध'—प्रभु के दिये हुए मानसिक पूजन एवं सम्मान को जान लिया; अतः, वि-बुध = विशेष बुद्धिमान् कहे गये।

(६) 'रामचंद्र-मुख-चंद्र···'—'चारु' शब्द दीपदेहली है। छवि अमृत है, यथा—"जौं छबि सुधा-पयोनिधि···" (दो॰ २४१); लोचन श्रीराम-मुख-चन्द्र को देख रहे हैं, इसीसे 'चारु' हैं और उनके उप-मान रूप चकोर भी 'चारु' कहे गये। 'प्रेम' मुखचन्द्र देखने में और 'प्रमोद' छवि के आनन्द-अनुभव से हैं। 'रामचंद्र' ही नाम कहा गया, क्योंकि चन्द्रवत् सबको सामने ही देख पड़ते हैं। अतः, सबके नेत्र कौतुक से हटकर चकोरवत् इन्हीं के प्रति लग गये हैं।

समय बिलोकि बसिष्ठ बोलाये। सादर सतानंद सुनि आये ॥१॥
बेगि कुअँरि अब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयसु पाई ॥२॥
रानी सुनि उपरोहित - बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी ॥३॥
बिप्रबधू कुलवृद्ध बोलाई। करि कुलरीति सुमंगल गाई ॥४॥
नारिबेष जे सुर - बर - बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥५॥
तिन्हहिं देखि सुख पावहिं नारी। बिनु पहिचानि प्रान ते प्यारी ॥६॥
बार बार सनमानहिं रानी। उमा - रमा - सारद - सम जानी ॥७॥
सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहिं चलीं लिवाई ॥८॥

अर्थ—समय जानकर वसिष्ठजी ने शतानन्दजी को सादर बुलाया, वे सुनकर आदर-सहित आये ॥१॥ (वसिष्ठजी ने कहा कि) अब जाकर कन्या को शीघ्र लाइये, मुनि की आज्ञा पाकर वे प्रसन्न होकर चले ॥२॥ सयानी रानी पुरोहित के वचन सुनकर सखियों के साथ बड़ी प्रसन्न हुई ॥३॥ ब्राह्मणियों और कुल की बूढ़ी स्त्रियों को बुलाकर सुंदर मंगल गाती हुई कुलरीति की ॥४॥ श्रेष्ठ देवताओं की श्रेष्ठ स्त्रियाँ जो (कपट) नारि-वेष में हैं, वे सब स्वाभाविक ही सुन्दरी और श्यामा (षोड़शवार्षिकी स्त्री) हैं ॥५॥ उन्हें देखकर स्त्रियाँ सुख पाती हैं, (अतः) बिना पहचानी होने पर भी वे प्राणों से प्यारी लगती हैं ॥६॥ रानीगण उन्हें उमा, रमा और शारदा के समान जानकर बार-बार सत्कार करती हैं ॥७॥ वे सब श्रीसीताजी का शृङ्गार करके और अपना समाज बनाकर आनन्दित मन से (सीताजी को) मंडप में लिवा ले चलीं ॥८॥

विशेष—'समय बिलोकि बसिष्ठ···'—वसिष्ठजी पुरोहित हैं। अतः, सावधानता से लग्न का समय जाना। शीघ्रता के लिये ही उधर के पुरोहित से कहा कि लग्न न बीत जाय, वे भी इसके ज्ञाता हैं। 'सयानी' क्योंकि लग्न के अनुसार प्रथम ही से सब प्रबंध कर रक्खे हैं।

'बिप्रबधू' गाने के लिये और 'कुल वृद्ध' कुल की रीति बतलाने के लिये बुलाई गई।

'समाज बनाई'—अपना समाज ठीक करके अर्थात् श्रीजानकीजी के हाथ में सिंदूरदानी रखकर, अपने में यह ठीक करके कि कौन दाहिने, बायें एवं पीछे कौन द्रव्य लेकर रहेंगी···। जैसे, उधर देववृन्द कपट वेष में साथ हैं, वैसे इधर उनकी स्त्रियाँ नारि-वेष में हैं, दोनों ओर बराबर साज हैं।

छंद—चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसप्त साजे सुंदरी सब मत्त कुंजर-गामिनी॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन तालगति बर बाजहीं॥

दोहा—सोहति बनिताबृंद महँ, सहज सुहावनि सीय।
छबि-ललना-गन मध्य जनु, सुखमा तिय कमनीय॥३२२॥

शब्दार्थ—मंजीर=मधुर ध्वनि करनेवाला गहना (विश्वकोष), यहाँ यह कटि-किंकिणी का उपलक्षक है, नूपुर अर्थ लेने से पुनरुक्ति होगी, क्योंकि वह पृथक् कहा ही गया है। ललना=स्त्री। सुखमा=परम शोभा। कमनीय=कामना करने योग्य, सुंदर।

अर्थ—सुन्दर मंगल साज सजाकर स्त्रियाँ और सखियाँ सीताजी को आदर-सहित लिवा ले चलीं। सब सुन्दरी सोलहो शृङ्गार किये हुई हैं और सभी मतवाले हाथियों की-सी चाल चलनेवाली हैं॥ उनका मनोहर गान सुनकर मुनि लोग ध्यान छोड़ देते हैं और कामदेव-रूपी कोकिल लज्जित होते हैं। किंकिणी, नूपुर और सुन्दर कंकण ताल की गति पर उत्तम ध्वनि से बज रहे हैं॥ स्वाभाविक ही सुन्दरी सीताजी स्त्रियों के झुंड में ऐसी शोभित हो रही हैं, मानों छवि-रूपी स्त्री-समाज के बीच में कमनीय परमा-शोभा-रूपी स्त्री हो॥३२२॥

विशेष—'सजि सुमंगल···'—यथा—"सकल सुमंगल अंग बनाये।" (दो० ३१७) पर कहा गया तथा दधि, दूर्वा आदि भी थालों में मंगल के लिये सजाये हैं। 'नव सप्त साजे' से सौभाग्यवती और 'मत्त कुंजरगामिनी' से युवती एवं धीमी चालवाली जनाया है। 'कल गान सुनि···' यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (अ० दो० ३१); और यहाँ तो 'काम-कोकिल लाजहीं' कहा गया है। 'लाजहीं' बहुवचन है; अर्थात् कामदेव ने बहुत कोकिलाओं का रूप धनाकर स्वर मिलाना चाहा, फिर भी उसे लजाना ही पड़ा। 'सोहति बनिता-वृन्द···'—ऊपर जिन्हें भामिनी और 'श्यामा' कहा था, उन्हें ही यहाँ 'बनिता' शब्द से कहा। 'सहज सुहावनि'—बनिता-वृन्द के साहचर्य से सीताजी की शोभा नहीं है; किन्तु स्वाभाविक है, प्रत्युत इनकी ही छटा से बनिता-वृंद शोभित हैं, यही उपमा से जनाते हैं—'छवि ललनागन···'—पूर्व कह चुके हैं कि "उपमा सकल मोहिं लघु लागी।" (दो० २४९); इसलिये नई उपमा रचते हैं कि मूर्तिमती होकर 'छवि' बहुत-से सुन्दर स्त्री-रूप बने, उनके बीच में जैसे परम शोभा हो, वैसी शोभा हो रही है। यथा—"सखिन्ह मध्य सिय सोहइ कैसे। छविगन मध्य महा छवि जैसे॥" (दो० २६४), तथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छवि-गृह दीप-सिखा जनु बरई॥" (दो० २३०)।

सिय-सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥१॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता॥२॥

सबहिं मनहिं मन किये प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा ॥३॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँद जेता ॥४॥
सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला। मुनि - असीस - धुनि मंगलमूला ॥५॥
गान - निसान - कोलाहल भारी। प्रेम - प्रमोद - मगन नर - नारी ॥६॥
येहि बिधि सीय मंडपहिं आई। प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई ॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि बुद्धि तो छोटी है और सुन्दरता बहुत है ॥१॥ रूप की राशि और सब प्रकार से पवित्र श्रीसीताजी को बरातियों ने आते हुए देखा ॥२॥ सभी ने उनको मन-ही-मन प्रणाम किया और श्रीरामजी को देख कर पूर्ण काम हो गये ॥३॥ पुत्रों के साथ श्रीदशरथजी हर्षित हुए, उनके हृदय में जितना आनन्द है, वह कहा नहीं जा सकता ॥४॥ देवता प्रणाम करके फूल बरसा रहे हैं, मंगल-मूल मुनियों की आशिष की ध्वनि हो रही है ॥५॥ गान और नगाड़ों का भारी हुल्ला है, स्त्री-पुरुष प्रेम और उत्कृष्ट आनन्द में मग्न हैं ॥६॥ इस तरह श्रीसीताजी मंडप में आईं, मुनिराज प्रकर्ष आनन्द सहित शान्ति पाठ कर रहे हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'सबहि मनहि मन···'—'सीताजी रूप-राशि' हैं। अतः, सबके मन खिंच गये। 'सब भाँति पुनीता' हैं; अर्थात् तन, मन, वचन से पवित्र भाव वाली हैं। अतः, प्रभाव देख सबको प्रणाम करने की बुद्धि हो आई, किन्तु कन्या को प्रणाम करना लोकरीति के विरुद्ध है। अतः, मन ही-मन किया। पुनः श्रीरामजी को देख (छवि जोड़ मिलाकर) पूर्ण-काम हो गये, क्योंकि इन्हें कामना थी कि श्रीरामजी के योग्य दुलहिन होती, वह पूरी हुई।

(२) 'सुर प्रनाम करि···'—देवता लोग आकाश में अपने विमानों पर हैं। अतः, ऐश्वर्य दृष्टि से उनका प्रकट प्रणाम करना कहा गया, क्योंकि वे तो इन्हें आदिशक्ति जानते ही हैं। भरत आदि भाई आनन्द में मग्न हैं—'कहि न जाइ उर आनंद जेता।' अतः, इनका प्रणाम करना नहीं है।

(३) 'येहि बिधि सीय मंडपहिं···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"मुदित मंडपहिं चलीं लेवाई।" (दो० ३२१) है। 'प्रमुदित सांति···'—'मुनिराई' अर्थात् वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि तो शांति-पाठ कर रहे हैं और सामान्य मुनि लोग आशिष की ध्वनि कर रहे हैं—"मुनि असीस धुनि मंगल-मूला।" ऊपर कहा है।

श्रीसीतारामजी के मंडप-प्रवेश का मिलान

श्री सीताजी	श्रीरामजी
१. "सीय सँवारि···मुदित मंडपहि चलीं लिवाई॥"	"राम गवन मंडप तब कीन्हा।"
२. "चलि ल्याइ सीतहि ··सजि सुमंगल भामिनी॥"	"सकल सुमंगल अंग बनाये॥"
३ "कल गान सुनि ··काम-कोकिल लाजहीं॥"	"करहिं गान कल-कंठि लजाये॥"
४ "मंजीर नूपुर कलित कंकन···बाजहीं॥"	"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं॥"
५. "सोहति बनिता-बृंद महँ।"	"बंधु मनोहर सोहहिं संगा॥"
६ "सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला॥"	"समय-समय सुर बरिसहिं फूला॥"
७. "गान निसान कोलाहल भारी॥"	"नभ अरु नगर कोलाहल होई।"
८. "प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥"	"सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला॥"
९. "येहि बिधि सीय मंडपहिं आई।"	"येहि बिधि राम मंडपहिं आये।"

तेहि अवसर कर बिधि व्यवहारू। दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू ॥८॥

छंद—आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं।
मधुपर्क मंगलद्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महँ चहैं।
भरे कनककोपर कलस सो तब लियेहि परिचारक रहैं॥
कुलरीति प्रीतिसमेत रवि कहि देत सब सादर किये।
येहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंहासन दिये।
सिय-राम-अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परै।
मन - बुद्धि - बरबानी - अगोचर प्रगट कवि कैसे करै॥

दोहा—होम-समय तनु धरि अनल, अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्रवेष धरि बेद सब, कहि बिबाह - बिधि देहिं ॥३२३॥

शब्दार्थ—विधि = कार्यक्रम। व्यवहारू = रीति। अचारू = रीति-रस्म।

अर्थ—उस समय के जो कार्यक्रम की रीतियाँ थीं, उनको दोनों कुल गुरुओं (वसिष्ठजी-शतानंदजी) ने किया॥८॥ गुरुजी ने कुलाचार कराया, ब्राह्मण लोग प्रसन्नतापूर्वक गौरी और गणेश का पूजन करा रहे हैं। देवता प्रकट होकर पूजा लेते, आशिष देते और अत्यन्त सुख पा रहे हैं॥ मधुपर्क (दही, घी, मधु, जल और चीनी मिलित पदार्थ) आदि जिस मंगल पदार्थ को जिस समय मुनि चाहते हैं, उसे उसी समय सोने के परातों और कलशों में भरे लिये हुए सेवक लोग खड़े रहते हैं॥ सब कुल रीतियों को प्रीति के साथ सूर्य भगवान् बता देते हैं, वे सब आदर-पूर्वक की गईं। इस प्रकार देवताओं की पूजा कराके श्रीसीताजी को सुन्दर सिंहासन दिया गया॥ श्रीसीतारामजी का आपस का देखना और प्रेम किसी को लख नहीं पड़ता। (क्योंकि) वह मन, बुद्धि और श्रेष्ठ वाणी से परे है, तो कवि उसे कैसे प्रकट करे?॥ हवन के समय अग्नि शरीर धारण करके अत्यन्त सुख से आहुति लेते हैं और सब वेद ब्राह्मण-वेष धरकर विवाह की विधि बतला देते हैं॥३२३॥

विशेष - (१) 'सुर प्रगटि पूजा लेहिं···'—श्रीसीतारामजी के हाथ से पूजा लेने के लिये प्रकट होने में 'सुख' और आशिष देने में 'अति सुख' होता है। 'परिचारक रहैं'—मुनि लोग भी बहुत हैं, उन प्रत्येक के सामने बहुत-से सेवक सब वस्तुएँ ठीक किये हुए खड़े रहते हैं, कहना नहीं पड़ता कि दे देते हैं। 'कुल-रीति प्रीति समेत रवि···'—सूर्य इस कुल के पुरुषा हैं, वे सब कुल-रीतियाँ यथार्थ जानते हैं। अतः, समय-समय पर कह देते हैं, और कुलवृद्धों के बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यथा—"बूझि बिप्र कुलवृद्ध गुरु···" (दो० २८६)।

'मंगल द्रव्य'—जैसे ओषधि, चन्दन, कुश, तीर्थ-जल, दूब इत्यादि। यहाँ देवताओं के प्रकट होने में ऐश्वर्य प्रकट होने की शंका नहीं है। क्योंकि इसमें लोग वसिष्ठ आदि ऋषियों की बड़ाई समझते हैं, कि उनके द्वारा शुद्ध-शुद्ध उच्चरित मंत्र का प्रभाव है।

'सिय राम अवलोकनि···'—पूर्व कहा गया—"गुरु जन लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि।" (दो० २४८); पर यहाँ पिता और गुरुओं के सामने बैठे एक-दूसरे को देख रहे हैं, क्योंकि विवाह पद्धति में ऐसी विधि है, कि वर और दुलहिन एक दूसरे को देखें। वही रीति यहाँ हुई। ऋषियों की आज्ञा से देखते हैं, पर इनके आपस में जो प्रेम है, कि परस्पर अवलोकन में महान् सुख पाते हैं, उसे कोई नहीं लख पाता। यथा—"राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक। दोउ तन तकि-तकि मयन सुधारत सायक॥" (जानकी मं० १४)।

'बर बानी अगोचर'—यहाँ सब से श्रेष्ठ वाणी वेद का अर्थ है—"बेद बचन मुनि मन अगम।" (अ० दो० १२६)।

'होम समय तनु···'—अग्नि की ज्वाला का उठ-उठ कर आहुति लेना शकुन है, क्योंकि इसमें अग्नि-देव की प्रसन्नता प्रकट होती है और यहाँ तो अत्यन्त प्रसन्नता से मूर्त्तिमान् होकर आहुति ले रहे हैं। 'विप्र वेष धरि वेद···'—यद्यपि वेदों के ऋषि ही विश्वामित्र और वशिष्ठ आदि हैं, तो त्रुटि नहीं रह सकती, फिर भी वेद लोग विप्र-वेष से जो विधि कहते हैं उससे वे अपनी सेवा प्रकट करते हैं, जैसे कि राजगद्दी के समय बंदी वेष में आवेंगे। और, देवता लोग भी तो अपनी सेवा जना रहे हैं। यथा—"अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा॥" (दो० ३१०); "समय-समय सुर बरिसहिं फूला।" (दो० ३१८)।

जनक - पाट - महिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी ॥१॥
सुजसु सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई ॥२॥
समय जानि मुनिबरन्ह बोलाई। सुनत सुआसिनि सादर ल्याई ॥३॥
जनक - बाम - दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना ॥४॥

शब्दार्थ—पाट महिषी=प्रधान रानी, जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठ सकती हो। सुआसिनि=उसी नगर की विवाहिता कन्या, सौभाग्यवती स्त्री। (सं० सुवासिनी)

अर्थ—श्रीजनकजी की जगत्-प्रसिद्ध प्रधान रानी, श्रीसीताजी की माता कैसे बखानी जा सकती हैं? ॥१॥ ब्रह्माजी ने सब सुयश, पुण्य, सुख और सुन्दरता समेटकर इन्हें बनाकर रचा है ॥२॥ समय जानकर मुनिवरों ने इन्हें बुलाया, सुनते ही सुआसिनें इन्हें आदर-पूर्वक ले आईं ॥३॥ श्रीजनकजी की 'बाम दिसि' सुनयनाजी शोभित हो रही हैं, मानों हिमाचलराज के साथ मैनाजी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जनक पाट महिषी···'—जनकजी के और भी बहुत रानियाँ हैं, यथा—"आयउ जनकराज रनिवासू।" (अ० दो० २८०)। उनमें ये मुख्या एवं पटरानी हैं, जगत्-भर में इन्हीं की ख्याति है। ये विवेक में भी जनकजी के तुल्य हैं—"को विवेक निधि बल्लभहिं तुम्हहिं···" (अ० दो० २८१), 'सीय मातु···' श्रीसीताजी की माता होने की महिमा तो अकथ्य है।

(२) 'सुजस सुकृत सुख'''—'सुजस'-रूपा होने से जगत् में ख्याति है, 'सुकृत'-रूपा होने से श्रीसीताजी की माता हुई, यथा—"जनक सुकृत मूरति वैदेही।" (दो० ३०१), सुकृत की ही अगाधता से सुख और सुंदरता भी है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१); "चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा'''सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।" (उ० दो० २०)। उत्तमता की पहचान चार तरह से होती है—जन्म, संग, शरीर और स्वभाव से। सुयश, सुकृत आदि से विधि ने बनाकर रचा है, इससे जन्म; 'जनक पाट-महिषी''' इससे संग; 'सुख सुन्दरताई' से शरीर और 'सीय मातु'' ' से स्वभाव की उत्तमता कही गई है। यथा—"रावरो सुभाव रामजन्म ही से जानियत'''" (क० उ० ४)। संतान की योग्यता से माता-पिता की महिमा होती है। यथा—"महिमा अवधि राम पितु माता।" (दो० १५)।

इन गुणों से श्रीसुनयनाजी में कन्यादान की योग्यता कही गई है।

'समय जानि'''सुनत'''—अब कन्यादान का समय आया, तब बुलाई गईं। 'सुनत' शब्द से सूचित किया कि वे भी तैयार बैठी थीं। अतः, सुनते ही ले आईं।

(३) 'जनक बाम दिसि सोह'''—विशेष प्रचलित प्रथा है कि कन्यादान के समय पत्नी दाहिने बैठती है और किसी-किसी स्मृतिकार के मत से बाईं ओर ही बैठने का विधान है। यहाँ 'बाम दिसि' शब्द से दोनों मतों की रक्षा हो जाती है—(क) 'बाम' शिवजी का नाम है, उनकी दिशा ईशान है, विवाह में वर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता है और कन्या के माता-पिता पच्छिम-मुख रहते हैं। इस तरह सुनयनाजी ईशान में पड़ती हैं। वा, इसमें सुनयना (एवं मयना) जी का वर्णन है, अतः उनका प्राधान्य है। तब जनकजी के बाम दिशि में होने से सुनयना उनके दाहिने पड़ती हैं, इसमें सुनयना अंगी और राजा अंग हुए। वा, अभी बैठक-मात्र कहा गया है, कन्यादान के समय दाहिने बैठ जायँगी। (ख) ग्रंथकार को दाहिने लिखना होता तो स्पष्ट लिखते। अतः, बाईं ओर बैठने का उपर्युक्त एकमत इन्हें इष्ट था, ऐसा भी जान पड़ता है।

'बनी जनु मयना'—जगज्जननी भवानी की माता होने से मयनाजी की शोभा थी, वैसे ही जगज्जननी श्रीसीताजी की माता होने से यहाँ इनकी भी शोभा है।

कनककलस मनिकोपर रूरे। सुचि-सुगंध-मंगल-जल-पूरे ॥५॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी ॥६॥
पढ़हिं बेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥७॥
बर बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे ॥८॥

अर्थ—पवित्र, सुगंधित और मांगलिक जल से भरे हुए सोने के सुन्दर कलश और मणियों के रूरे (श्रेष्ठ) कोपर राजा-रानी ने प्रसन्नता-पूर्वक अपने हाथों से लाकर श्रीरामजी के आगे रक्खे ॥५-६॥ मुनि मंगल वाणी से (स्वर के साथ गाते हुए) वेद पढ़ रहे हैं, अवसर जानकर आकाश से फूलों की झड़ी होने लगी ॥७॥ दूलह को देखकर राजा-रानी अनुरक्त हो गये और पवित्र चरणों को धोने लगे ॥८॥

विशेष—(१) 'कनककलस मनि'''—'मनिकोपर रूरे' से दो कोपर जनाये, क्योंकि यह बहु-वचन है। यथा—"राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥" (दो० २४०)। दो पात्र इसलिये लाये हैं कि श्रीजानकीजी अपना चरण श्रीराम-पद-प्रक्षालन जल में न धुलावेंगी। यथा—"प्रभु

पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥" (अ० दो० १२२)। सुनयनाजी ने इनके रुख से यह भाव जान लिया। यथा—"लखि रुख रानि जनायेउ राऊ।" (अ० दो० २८६)। 'सुचि सुगंध'''—'शुचि'—तीर्थ जल है, 'सुगंध'-इतर आदि मिश्रित है, 'मंगल'-चन्दन, हल्दी आदि मिश्रित है। 'धरे राम के आगे आनी।' इससे जनाया कि प्रथम श्रीरामजी की पूजा होगी।

'पढ़हि वेद'' गगन सुमन'''—यहाँ जब गा-गाकर वेद पाठ होने लगा तो मंत्रों से पद-प्रक्षालन का अवसर जान आकाश से सुनकर देवता लोग समय जान फूल बरसाने लगे।

(२) 'वर बिलोकि दंपति'''—स्त्री-पुरुष एक साथ धो रहे हैं, इससे 'दंपति' कहा है। शृङ्गार-युक्त साँवली छटा ही अनुराग का कारण है। अतः 'वर बिलोकि' कहा है। 'लागे' अर्थात् धीरे-धीरे इन चरणों की शोभा एवं महत्त्व को विचारते हुए धो रहे हैं। 'पुनीत' और आगे 'पाय-पंकज' भी कहते हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में चरणों की पवित्रता और शोभा दोनों हैं, वही आगे कहेंगे। केवट के चरण धोने में 'चरन-सरोज पखारन लागा' मात्र कहा है, क्योंकि वह इनकी तरह माहात्म्य का ज्ञाता नहीं था। पुनः उसके धोने में 'सुर सकल सिहाहीं' कहा गया है, क्योंकि वह इनके धोने का अधिकारी नहीं था, केवल सप्रेम गँवारी आडम्बर से धो लिया और यहाँ तो ये लोग परम सुकृती हैं, अतएव अधिकारी भी हैं और कन्यादान करके चरण धोते हैं, इसलिये यहाँ देवताओं का फूल बरसाना ही कहा गया है। यथा—"गगन सुमन झरि अवसर जानी।"

छंद—लागे पखारन पाय-पंकज प्रेम तन पुलकावली।
नभ नगर गान-निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली।
जे पद-सरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजहीं।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥
जे परसि मुनि-बनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंद जिन्ह को संभुसिर सुचिता अवधि र बरनई।
करि मधुप मुनि मन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक जय जय सब कहैं॥

अर्थ—चरण-कमलों को धोने लगे, प्रेम से शरीर में पुलकावली हो रही है। आकाश और नगर में गान, नगाड़ों की ध्वनि और जय ध्वनि मानों चारों दिशाओं में उमड़ चली। जो पद-कमल शिवजी के हृदय-रूपी तालाब में सदा ही विराजते हैं। जिनका एक बार भी स्मरण करने से हृदय में निर्मलता आ जाती है और सब पाप दूर हो जाते हैं॥ जिनका स्पर्श करके मुनि की स्त्री अहल्या ने उत्तम गति पाई, जो पापमयी थी। जिनका मकरंद (रस=चरणामृत, गंगाजी) शिवजी के शिर पर है, जिसे देवता लोग पवित्रता की सीमा कहते हैं॥ मुनि और योगी लोग अपने मन को भौंरा बनाकर जिन चरणकमलों का सेवन कर मनोवांछित गति पाते हैं। उन चरणों को भाग्य के पात्र जनकजी धोते हैं और सब लोग जय-जय कह रहे हैं॥

विशेष—(१) 'जे पद-सरोज मनोज···'—चरण कमलरूप हैं। अतः, शिवजी के हृदय-रूपी तालाब में रहते हैं। 'सदैव' अर्थात् सती वियोग-रूपी राग में भी संकुचित न हुए। इसका कारण 'मनोज-अरि' से जनाया कि इन्हों ने काम को जीता है, यथा—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।" शिवजी ने सदा हृदय में इन्हें क्यों बसाया है ? इसका कारण कहते हैं— .

(२) 'जे सकृत सुमिरत विमलता···' अर्थात् एक बार के स्मरण से भी मन, वचन, कर्म के सब पाप छूट जाते हैं। फिर आगे अहल्या का उदाहरण भी दिया है। 'रही जो पातकमई' यथा—"तरी अहल्या कृत अघ भूरी।" (दो० २२२); 'मकरंद जिन्ह को संभु सिर···' अर्थात् चरण-कमल को हृदय में और मकरंद-रूप उसका धोवन शिर पर, इसीसे भीतर-बाहर पवित्र रहते हैं। कमल और मकरंद कहकर उनके भोक्ता भ्रमर भी कहते हैं—'करि मधुप मुनि मन···'—'अभिमत गति' अर्थात् चाहे जो गति लें। मुक्ति के कई भेद होते हैं, वे सब प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'मकरंद···संभु सिर' से मज्जन और 'करि मधुप मुनि मन' से पान सूचित किया। यथा—"मज्जनपान पाप हर एका।" (दो० १४)।

'ते पद पखारत भाग···'—जिसे शिवजी ध्यान ही में पाते हैं, उसे जनकजी प्रत्यक्ष धो रहे हैं, अतएव ये भाग्य-भाजन हैं। 'भाग्य भाजन' पर—"अतिसय बड़ भागी" (दो० ३१०) देखिये।

बर कुअँरि करतल जोरि साखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं।
भयो पानिगहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं।
सुखमूल दूलह देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये।
करि लोक-बेद-बिधान कन्यादान नृपभूषन किये॥
हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई।
क्यों करइ बिनय बिदेह कियो बिदेह मूरति साँवरी।
करि होम बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी॥

दोहा—जय धुनि बंदी बेद धुनि, मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध, सुरतरु सुमन सुजान॥३२४॥

शब्दार्थ—साखोचार = विवाह के समय उभय पक्ष की वंशावली का कथन। पाणिग्रहण = विवाह की एक रीति, जिसमें कन्या का पिता उसका हाथ वर के हाथ में देता है।

अर्थ—वर और कन्या की हथेलियों को मिलाकर दोनों कुल-गुरु शाखोचार करने लगे। पाणिग्रहण हुआ, यह देखकर ब्रह्मा (आदि) देवता, मनुष्य और मुनि आनंद से भर गये। सुख के मूल दूलह को देखकर दोनों स्त्री-पुरुष (राजा-रानी) का शरीर पुलकित हो गया और हृदय में आनन्द का उल्लास हुआ।

राज-शिरोमणि श्रीजनकजी ने लोक और वेद की विधि करके कन्यादान किया॥ जैसे हिमाचलराज ने शिवजी को पार्वतीजी और सागर ने हरि-भगवान् को लक्ष्मीजी दीं वैसे ही जनकजी ने श्रीरामजी को सीताजी का समर्पण किया, जिससे संसार में सुंदर नवीन कीर्ति हुई॥ विदेहजी विनती कैसे करें, उस साँवली मूर्त्ति ने तो उन्हें विदेह (देहाध्यास-रहित) ही कर दिया। विधिपूर्वक हवन करके गँठ-बंधन किया गया और भाँवरी होने लगी॥ जय-ध्वनि, वंदी-ध्वनि, वेद-ध्वनि, मंगल-गान और नगाड़ों की ध्वनि सुनकर चतुर देवता लोग प्रसन्न होते हैं और कल्पवृक्ष के फूलों को बरसा रहे हैं॥३२४॥

विशेष—'साखोचार दोउ कुल-गुर करैं'—वाल्मी० १।७०।१९-४५ में वसिष्ठजी ने राजा दशरथ के वंश का उच्चारण किया है, किन्तु जनकजी ने वा० १।७१।१-२० में अपनी ओर से स्वयं कहा है। श्रीगोस्वामीजी के कल्प में उधर भी कुलगुरु ने ही कहा है। 'भयो पानि गहन' यथा—"अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानंदवर्धनम्। इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥ प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना। पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मंत्र-पूतं जलं तदा।" (वाल्मी० १।७३।२६-२८) इसमें 'कन्यादान' का भी अर्थ खुल गया है। 'नृप-भूषन'—क्योंकि चक्रवर्त्ती को भी इन्होंने दान दिया, यथा—"प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मयापुरा।" (वाल्मी० १।६९।१४)। इसमें चक्रवर्त्तीजी ने स्वयं जनकजी को दाता और अपने को प्रतिग्रहीता स्वीकार किया है।

'हिमवंत जिमि गिरिजा···'—हिमाचलजी ने श्रीनारदजी से जाना कि—"गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया।" (दो० ६८); तब—"भवहिं समर्पी जानि भवानी।" (दो० १००); अर्थात् शिवजी की शक्ति जानकर उन्हें उनकी वस्तु समर्पण किया। वैसे ही क्षीरसागर-मंथन से लक्ष्मीजी प्रकट हुईं, सागर ने भी हरि भगवान् को शक्ति जानकर उन्हें समर्पण किया। वैसे ही यहाँ श्रीजनकजी ने भी श्रीसीताजी के धनुष उठाने (हटाने) से और श्रीरामजी के उसे तोड़ने से इन्हें उनकी ही शक्ति जाना। अतः, उनकी वस्तु उन्हें ही समर्पण किया; अर्थात् दातृत्व के अहंकारी बनकर नहीं। श्रीजनकजी की इससे संसार में सुंदर नवीन कीर्ति हुई कि अखिल ब्रह्मांड के स्वामी को भी इन्होंने दान दिया और उन्होंने लिया। इसे राजा जनक आगे विश्वामित्रजी से स्वयं कहेंगे—"जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥ सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी॥" (दो० ३४२)। हिमाचल तुषारमय श्वेतवर्ण एवं क्षीरसागर भी श्वेतवर्ण हैं, वैसे जनकजी भी ज्ञानी हैं, अतः सत्त्वगुण-प्राधान्य से वर्णसाम्य भी है।

उपासकों के दो भेद हैं, एक मत से श्रीजानकीजी श्रीअवध आईं और आजन्म वहीं रहीं; उसके लिये गिरिजाजी को उपमा है। क्योंकि गिरिजाजी फिर कैलास ही पर रहीं। दूसरे मत से श्रीजानकी के सम्बन्ध से श्रीरामजी भी (अप्रकट रीति से) नित्य जनकपुर में रह गये, उसके लिये 'श्री' की उपमा है क्योंकि श्रीजी के सम्बन्ध से भगवान नारायण का भी क्षीर-सागर में ही वास है।

'क्यों करइ बिनय···'—विनय करना था कि ये तो आप ही की शक्ति हैं, हमें केवल यश हुआ। आपने हमें कृतार्थ किया, इत्यादि, पर प्रेम-विह्वलता में न कह सके। 'गँठि जोरी' अर्थात् श्रीरामजी का पीताम्बर और श्रीजानकीजी की चूनरी के छोर बाँधे गये। इसे गँठि-बंधन कहा जाता है। 'बिधिवत्'—विवाह-पद्धति के अनुसार।

'जय-धुनि बंदी···'—इसमें कल्पतरु के फूल बरसाने से देवताओं को 'बिबुध' (विशेष बुद्धिमान) और 'सुजान' कहा गया है, क्योंकि इस मुख्य अवसर के लिये ही इन्होंने इन पुष्पों को बचा रक्खा था और उन्हें समय पर बरसाया।

कुअँर कुअँरि कल भाँवरि देहीं। नयनलाभ सब सादर लेहीं ॥१॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी ॥२॥
राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीं ॥३॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत रामबिवाह अनूपा ॥४॥
दरसलालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥५॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥६॥
प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेगसहित सब रीति निबेरी ॥७॥

शब्दार्थ—प्रतिछाहीं = परछाईं। नेग = नियमित पुरस्कार। निबेरी = निबटाई, चुकाई। कल = सुन्दर।

अर्थ—सुन्दर वर और कन्या सुन्दर भाँवरे फेर रहे हैं, सब लोग आदर-पूर्वक नेत्रों का लाभ ले रहे हैं ॥१॥ मनोहर जोड़ी का वर्णन नहीं हो सकता, जो कुछ भी उपमा कहूँ, वह थोड़ी ही है ॥२॥ श्रीसीतारामजी की सुन्दर परछाईं मणि के खंभों में झलक रही है ॥३॥ मानों कामदेव और रति बहुत-से रूप धारण करके अनुपम श्रीरामजी का विवाह देख रहे हैं ॥४॥ दर्शन की लालसा और संकोच (दोनों) थोड़े नहीं हैं; अर्थात् बहुत हैं। (अतः,) बार-बार प्रकट होते हैं और छिपते हैं ॥५॥ सब देखनेवाले (आनन्द में) मग्न हो गये, राजा जनक के समान सभी अपनापन भूल गये ॥६॥ मुनियों ने आनन्द-सहित भाँवरी फिराई और सब रीति नेग-सहित निबटाई ॥७॥

विशेष—'राम सीय सुन्दर'''मनहुँ मदन रति'''—साक्षात् श्रीसीतारामजी के लिये उपमा न मिली, तो उनकी परछाईं के विषय में उत्प्रेक्षा करते हैं कि कामदेव रति के सहित इनकी परछाईं के सदृश भी नहीं है। कामदेव और रति को श्रीराम-ब्याह देखने की लालसा हुई इसलिये वे बहुत रूपों से आये, पर सम्मुख होते ही सकुच कर छिप जाते हैं। सकुच यह है, कि कोई देखेगा, तो इनके समक्ष में हमें तुच्छ जान कर हँसेगा। इसलिये लालसा से तो प्रकट होते हैं, और सकुच से छिप जाते हैं। भाँवरी फिरते समय जोड़ी जब एक खंभे के सामने से दूसरे पर पहुँचती है, तो परछाँहीं पीछेवाले खंभे से हट कर आगे वाले पर चली जाती है, उसी पर यह उत्प्रेक्षा है। एक सीध में भी कई खंभे हैं। अतः, बहुत रूप देख पड़ते हैं।

'प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी'''—उपक्रम में—'कुअँर कुँअरि कल भावरि देहीं' कहा था, और यहाँ भाँवरी होने का उपसंहार है। उपक्रम में 'कल' शब्द है, उसका गिनना भी अर्थ होता है; अर्थात् भाँवरें गिन कर पड़ती हैं, उपसंहार तक में सात अर्द्धालियाँ हैं, इससे सात भाँवरें पड़ना सूचित किया। 'प्रमुदित' और 'नेग सहित' कहने का भाव यह है कि अंतिम भाँवरी पर पुरोहित भाँवरी को रोक देते हैं, अपना नेग लेकर तब पूरी होने देते हैं। वही हुआ। नेग चुकाया गया, तब प्रसन्नता-पूर्वक भाँवरी पूरी हुई।

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥ ८ ॥
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूषअहि लोभ अमी के ॥ ९ ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बर दुलहिनि बैठे एक आसन ॥१०॥

छंद—बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु-फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाह रामबिवाह भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक येह मंगल महा॥
तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह-साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उर्मिला कुअँरि लईं हँकारि कै॥
कुस-केतु-कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब-रीति-प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥
जानकी-लघु-भगिनी सकल सुंदरि-सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुनआगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप-सील-उजागरी॥

अर्थ—श्रीरामजी श्रीसीताजी के शिर में सिन्दूर देते हैं। वह शोभा किसी तरह भी नहीं कही जा सकती ॥८॥ (मानों) कमल भली प्रकार से लाल रज को (अपने में) भर कर अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है ॥९॥ फिर वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, तो वर और दुलहिन एक आसन पर बैठे ॥१०॥ श्रीरामजानकीजी श्रेष्ठ आसन पर बैठ गये, राजा दशरथ मन में आनन्दित हुए। अपने पुण्य रूपी कल्पवृक्ष में नये फल देखकर उनका शरीर बार-बार पुलकित हो रहा है॥ चौदहो भुवनों में उत्साह भर गया, श्रीरामजी का विवाह हुआ, ऐसा सभी ने कहा। एक ही जिह्वा है और यह मंगल महान् है तो वह किस प्रकार उसके वर्णन करने से समाप्त हो सके। तब वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर और ब्याह का साज सजाकर राजा जनक ने मांडवी, श्रुतिकीर्ति और उर्मिला (इन) कुमारियों को बुला लिया॥ पहले राजा कुशध्वज (राजा जनक के छोटे भाई) की बड़ी कन्या जो गुण, शील, सुख और शोभा-रूपा ही थी, प्रीति-पूर्वक सब रीति करके राजा ने भरतजी को ब्याह दिया॥ जानकीजी की छोटी बहन (उर्मिलाजी) जो सब सुन्दरियों में शिरोमणि हैं ऐसा जानकर उस तनया (कन्या) को सब प्रकार सम्मान-सहित लक्ष्मणजी को ब्याह दिया। जिसका नाम श्रुति-कीर्ति है, जो सुलोचनी, सुमुखी और सब गुणों की आगरी (खान) एवं रूप शील में प्रसिद्ध है, उसे राजा ने शत्रुघ्नजी को ब्याह दिया।

विशेष—( ) 'अरुन पराग जलज भरि नीके...'—पहले तो कहा था कि शोभा किसी प्रकार नहीं कही जाती; अर्थात् बुद्धि की युक्ति एवं अनुभव आदि से भी अकथ्य है, पर अब कवि-स्वभाव से कुछ

लक्ष्य कराते हैं। सिंदूर पाँचो अंगुलियों से चुटकी में लेकर दिया जाता है। श्रीजानकी के मुखचन्द के ललाट भाग के ऊपरी भाग—माँग में सिंदूर दिया जाता है। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि श्रीरामजी की हथेली कमल और बाहु उसकी नाल है, सिंदूर अरुण-पराग है। श्रीजानकीजी का मुख चन्द्रमा है, चन्द्रमा के सामने कमल आने से संपुटित हो ही जाता है, चुटकी में सिंदूर लेने से वही दशा हस्त-कमल की है। चन्द्रमा का कमल से बैर है, वह शीत से कमल को जला देता है, जिससे कमल की मृत्यु हो जाती है। अतः, वह प्रीति एवं कृपा-दृष्टि-रूपी अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित करता है कि जिससे वह उसे न जलावे। कृपा-दृष्टि, यथा—"अमिय विलोकनि करि कृपा मुनिवर जब जोये।" (गी० बा० ११)। उपमेय में अमृत का लोभ यह है कि सिंदूर सोहाग का चिह्न है, स्त्री का सोहाग अचल होना पुरुष का अमरत्व है। यही अमृत का गुण है।

'भूपअहि' क्रिया है, इसका अर्थ भूषित करता है। कोई-कोई 'भूप+अहि' का पदच्छेद करके सर्प का कमल द्वारा चन्द्रमा को भूषित करना अर्थ करते हैं, पर उसमें श्रीरामजी की हथेली कमल और भुजा सर्प-रूप होती हैं, प्रथम-प्रथम प्रिया-मुख चन्द्र के स्पर्श में सर्प की उपमा योग्य नहीं, विवाह मंगल का समय है। पुनः भुजा को सर्प और हथेली को कमल, यह भिन्न-भिन्न उपमाने एक हाथ के लिये भी युक्त नहीं हैं।

(२) 'सुकृत सुरतरु फल नये'—कल्पवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम रूप फल ही होते हैं, वैसे अभी तक सभी सुकृती को उपर्युक्त अर्थ, धर्म, काम ही प्राप्त हुए। हमारे ही सुकृत-रूप कल्प वृक्ष में श्रीसीतारामजी पुत्र-पतोहू रूप फल लगे हैं। अतः, ये नवीन फल हैं।

'भरि भुवन रहा उछाह', यथा—"भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक सुता रघुवीर बिवाहू॥" (दो० २१५)। 'सबही कहा'—यह भी रीति है कि सब कोई कहें कि अमुक का ब्याह हुआ।

'केहि भाँति बरनि सिरात······' यथा—"प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥" (दो० १६०)।

(३) 'तब जनक पाइ बसिष्ठ···'—वाल्मी० बा० स० ७२ के अनुसार श्रीविश्वामित्र और वसिष्ठजी ने सम्मत करके और तीन कन्याओं के लिये राजा जनक से कहा कि एक और कन्या आपकी उर्मिला है और दो आपके भाई कुशध्वज की कन्याएँ हैं। उन्हें हम इन तीन कुमारों के लिये ब्याह देना चाहते हैं। इसपर जनकजी दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। पुरातन आर्य सभ्यता का ऐसा ही ऊँचा आदर्श था कि यद्यपि स्त्री-पुरुष में पुरुष की प्रधानता मानी जाती थी, फिर भी स्त्रियों की गौरव मर्यादा के रक्षार्थ कन्याओं की मँगनी होती थी और तब विवाह होता था। यह प्रथा अब भी दक्षिण में प्रचलित है। यहाँ 'जानकी लघु भगिनी' से उर्मिलाजी को कहा है, क्योंकि वे श्रीजनकजी की निजी कन्या हैं। 'भूपति' और 'नृप' संज्ञा से कुशध्वज महाराज को सूचित किया है। उपर्युक्त 'नृप भूषन' और 'जनक' संज्ञा से विदेह राजा शीरध्वजजी कहे गये हैं। श्रीजानकीजी को कहा था कि—"सिय सुंदरता बरनि न जाई।" (दो० ३२२); वैसे ही उनकी लघु भगिनी भी हैं—"सुंदरि सिरोमनि जानि कै" कहा है। वैसे ही मांडवीजी—'गुन सील सुख सोभा मई' और उनकी लघु भगिनी—'सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी—रूप-सील उजागरी' कही गई हैं। इनमें भी गुण में समता है। श्रीसीताजी और मांडवीजी गोरी और शेष दो श्याम-वर्ण की हैं।

अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं॥

सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव-उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं ॥

दोहा—मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि ॥३२५॥

अर्थ—(चारो) दुलह-दुलहिनें आपस में अपने-अपने अनुकूल जोड़ी देखकर सकुच कर हृदय में हर्षित हैं। सब लोग आनंद-पूर्वक सुन्दरता की बड़ाई करते हैं, देवता लोग फूल बरसाते हैं॥ सब सुन्दरियाँ सुन्दर दुलहों के सहित एक ही मंडप में ऐसी शोभित होती हैं, मानों जीव के हृदय में चारो अवस्थाएँ अपने विभुओं (स्वामियों) के सहित विराजती हैं॥ सब पुत्रों को बहुओं के साथ देखकर अवधेश श्रीदशरथजी ऐसे आनंदित हुए। मानो राज-शिरोमणि महाराज ने क्रियाओं के सहित चारो फल पाये हैं॥३२५॥

विशेष—(१) 'अनुरूप बर दुलहिनि......'—श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम हैं, इनकी दुलहिनें श्रीसीताजी और श्रीमांडवीजी गोरी हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गोरे हैं, इनकी दुलहिनें श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्याम हैं। अतः, चारो जोड़ी एक दूसरे के अनुकूल हैं; अर्थात् श्याम-गौर की जोड़ी विशेष शोभित हैं। अवस्था, रूप एवं गुणों में भी वर-दुलहिन एक-दूसरे के योग्य हैं।

'सुंदरी सुंदर बरन्ह सह......'—सुंदरी दुलहिनों की शोभा वर्णन उत्प्रेक्षा का विषय है। इनकी शोभा सुन्दर वरों के साथ होने से है, जैसे कि चारों अवस्थाओं की शोभा विभुओं के साथ में होती है। 'एक मंडप'—एक मंडप में एक ही वर-दुलहिन रहते हैं, वैसे ही जीव के उर में भी एक समय में एक ही अवस्था और उसके विभु रहते हैं, पर यहाँ चारो एक साथ कही गई हैं।

परमार्थ पक्ष में अवस्थाएँ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार हैं। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जाग्रत् अवस्था २४ तत्त्वों से युक्त रहती है—१० इन्द्रियाँ, ५ तत्त्व, ५ विषय और मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा विश्व होती है; अर्थात् जीवात्मा का विश्व के सत्त्वांश से सम्बन्ध रहता है। विश्व-निष्ठ होने से इसकी विश्व संज्ञा होती है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)। इस अवस्था का विभु विराट् है। विराट् के संयुक्त (विराट् के ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि जगत् को भगवान् के शरीर में देखने से राग-द्वेष का अवसर नहीं आता। यही इसकी शोभा है। यथा—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" (कि॰ दो॰ ३); "निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ॰ दो॰ ११२)।

स्वप्न अवस्था १७ तत्त्वों से युक्त रहती है। ५ प्राण, मन, बुद्धि और १० इन्द्रियाँ ये—१७ तत्त्व हैं। मन की तैजस संज्ञा है। इस अवस्था में राजस अहंकार (मन) की प्रधानता रहती है। अतः, इस अवस्था में प्राप्त जीवात्मा की तैजस संज्ञा होती है। इस अवस्था के विभु हिरण्य-गर्भ (ब्रह्माजी) हैं। कर्म के अनुसार मन की प्रवृत्ति है, उस के यथार्थ ज्ञाता एवं नियामक ब्रह्माजी हैं। अतः, इनके संयुक्त (ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, यही इसकी शोभा है।

सुषुप्ति अवस्था तमोगुण प्रधान है, इसके विभु ईश्वर (शिवजी) हैं, इनके परिज्ञान सहित यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि शिवजी जगत् के तामसांश (भूत, प्रेत, सर्प, बिच्छू आदि का संग

एवं भाँग, धतूर, आदि के सेवन) सहित भी निर्विकार रहते हैं। इनको विकार स्पर्श नहीं कर पाता, प्रत्युत ये आनंद रूप रहते हैं, इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा प्राज्ञ होती है, क्योंकि घोर निद्रा में प्रज्ञा (बुद्धि) का कार्य सुख-दुःख का ज्ञातृत्व यह रुद्र करता है। यह प्राज्ञ जीव शिवजी की सी दृष्टि से जगत् को तमोगुणमय देखता हुआ, उससे निर्लिप्त रहता है। जैसे लोगों को घोर निद्रा में जगत् का भान नहीं रहता। यही इस अवस्था की शोभा है।

तुरीयावस्था ज्ञानमय आनंदरूपा है, इसका विभु अंतर्यामी ब्रह्म है, यह अवस्था अंतर्यामी के सहित परम शोभा-रूपा।

जीवन्मुक्तों के हृदय में तुरीयावस्था के प्राधान्य में तीनों अवस्थाएँ वर्त्तती हैं, वैसे यहाँ श्रीजानकीजी के प्राधान्य में तीनों कुमारियाँ हैं। यहाँ मंडप जीव है उसका भीतरी अवकाश हृदय है, चारो कुमारियाँ चारो अवस्थाएँ और वर उनके विभु हैं। 'जनु' वाचक है और 'राजहीं' 'बिराजहीं' धर्म है। यहाँ शोभायमान होता रूप धर्म-मात्र से उत्प्रेक्षा का प्रयोजन है। यदि कहा जाय कि मंडप जड़ है और जीव चेतन है यह उपमान—उपमेय में धर्म-विरोध है तो यह विरोध नहीं, क्योंकि उपमा में सर्वांश नहीं देखा जाता। जैसे—"गये जहाँ रावन ससि राहू।" (बा० दो० २७) इसमें चंद्रमा की उपमा रावण को और राहु दैत्य की उपमा श्रीरामजी को दी गई है। अन्यत्र प्रायः चन्द्रमा की उपमा श्रीरामजी को दी जाती है और राहु दैत्य की उपमा रावण जैसे असुरों को। यहाँ कवि ने उपमा के धर्म से ही प्रयोजन रक्खा है। ऐसे ही—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके।" (अ० दो० २२१); इसमें भी रामस्नेह की उपमा मदिरा से दी गई है, इत्यादि। श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् में चारो भाई चारो अवस्थाओं के नियामक कहे भी गये हैं। नाम-करण प्रसंग देखिये।

'मुदित अवधपति ·····' प्रथम कहा गया है—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दशरथ भये।" (उपर्युक्त); वहाँ केवल एक पुत्र को वधू समेत देखा था और यहाँ चारो को देख रहे हैं, इससे फिर भी 'मुदित मन' होना कहा गया, क्योंकि चारो पुत्र समान प्रिय हैं। चारो पुत्र उपमेय हैं और चारो फल उपमान हैं, क्योंकि पुत्र और फल पुँल्लिंग हैं। वधूगण उपमेय और क्रियाएँ उपमान हैं, ये दोनों स्त्रीलिंग हैं। अर्थ-धर्म आदि की अपेक्षा राजाओं को हुआ करती है, अतः 'अवधपति' और 'महिपाल मनि' कहा गया है। राजाओं को क्रियाओं के सहित फलों की प्राप्ति में आनंद होता ही है।

सेवा, श्रद्धा, तपस्या और भक्ति क्रमशः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की क्रियाएँ हैं, वैसे ही क्रमशः, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला, मांडवी और सीताजी भी शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी की बहुएँ हैं। यहाँ कुमारों को अंगी और कुमारियों को अंग कहा गया है। क्रियाओं के सहित होने से फल अक्षय रहते हैं। यह सामान्यतया चार फल-प्राप्ति की अपेक्षा यहाँ विशेषता है।

जसि रघुबीर - ब्याह - बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी ॥१॥

कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनकमनि मंडप पूरी ॥२॥

कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहुमोल न थोरे ॥३॥

गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा - सी ॥४॥

बस्तु अनेक करिय किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा ॥५॥

लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सब सुख माने ॥६॥

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा । उबरा सो जनवासेहि आवा ॥७॥
तब कर जोरि जनक मृदुबानी । बोले सब बरात सनमानी ॥८॥

अर्थ—जैसी विधि श्रीरामजी के ब्याह की कही गई, उसी करणी (रीति) से सब कुँवर ब्याहे गये ॥१॥ दहेज की अधिकता कुछ कही नहीं जा सकती, मंडप सोने और मणियों से भर गया ॥२॥ तरह-तरह के बहुत-से कम्बल (ऊनी वस्त्र), विचित्र वस्त्र (सूती) और विचित्र पाटाम्बर (रेशमी वस्त्र) जो थोड़े दाम के न थे ॥३॥ हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासीगण, भूषित कामधेनु-सरीखी गायें ॥४॥ ऐसी अनेक वस्तुएँ थीं, उनकी गणना कैसे की जाय। वे कही नहीं जा सकतीं। जिन्होंने देखा है, वे ही जानें ॥५॥ लोकपाल लोग देखकर सिहाने लगे, अवधनरेश ने सभी को सुख मानकर लिया ॥६॥ जिन याचकों को जो रुचा, वही उन्हें दिया गया, जो बच रहा, वह जनवासे में आया ॥७॥ तब राजा जनक हाथ जोड़कर सब बरात का सम्मान करके मीठी कोमल वाणी बोले ॥८॥

विशेष—'ब्याहे तेहि करनी'—तीनों भाइयों का ब्याह ऊपर कहा गया, शेष रीतियाँ भी यहाँ कह दीं। 'रहा कनक मनि···'—पूर्व कहा गया था—"मरकत कनक बरन बर जोरी" वैसे ही मंडप में भी मरकत मणि और स्वर्ण-वर्ण की ही जोड़ियाँ हैं, तदनुसार इन्हीं द्रव्यों के विशेष दहेज दिये गये। 'गजरथ तुरग···अलंकृत···'—इनमें 'अलंकृत' शब्द अंत में होने से गज आदि सभी के साथ है। पुनः 'गज' और 'तुरग' के बीच में 'रथ' होने से गजरथ और तुरगरथ दोनों प्रकार के रथ भी सूचित किये हैं। 'कहि न जाइ जानहि···'—अर्थात् देखनेवाले जानकर भी नहीं कह सकते। 'लीन्ह अवधपति···' अर्थात्—"अवध-राज सुर राज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं॥" (अ० दो० ३२१); ऐसे पुर के राजा होते हुए भी जनकजी के सम्मानार्थ उनके दिये हुए सब पदार्थ सुखमान कर लिये, यद्यपि आपके वहाँ कोई कमी नहीं है। 'दीन्ह जाचकन्हि···'—उधर राजा जनक की देने में उदारता है, वैसे ही इधर निष्पृहता है कि सामान्य आज्ञा देते हैं कि जिसे जो रूचे वह ले लेवे। सबके तृप्त हो जाने पर भी बच रहा। 'तब करजोरि···' देने के पीछे यदि प्रार्थना न की जाय तो दाता में अहंकार पाया जाता है, इसलिये विनय करते हैं।

छंद—सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महा मुनिवृन्द बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै॥
सिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किये।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जलअंजलि दिये॥
कर जोरि जनक बहोरि बंधुसमेत कोसलराय सों।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों॥
संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब विधि भये।
येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥

ये दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।
अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई॥
पुनि भानु-कुल-भूषन सकल-सनमान-निधि समधी किये।
कहि जाति नहिं बिनती परसपर प्रेम परिपूरन हिये॥
बृंदारकागन सुमन बरिसहिं राउ जनवासेहि चले।
दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले॥
तब सखी मंगलगान करत मुनीस-आयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै॥

दोहा—पुनि पुनि रामहिं चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर-मीन-छवि, प्रेम पियासे नैन॥३२६॥

शब्दार्थ—प्रेम सहाइ कै=लाड़ (दुलार) प्रेम-सहित। कर संपुट किये=हाथ जोड़े हुए। बृंदारकागन=देवगण। कौतूहल=कौतुक, तमाशा। कोहबर=ब्याह में कुछ कुलरीतियों के किये जाने का घर, जहाँ वर-कन्या के क्रीड़ा-कौतुक होते हैं, (कौतुक-घर)।

अर्थ—आदर, दान, विनती और बड़ाई करके सब बरात का सम्मान कर बड़े ही आनन्द-सहित महा मुनियों के समूह की लाड़-प्रेम-सहित पूजा करके वन्दना की॥ प्रणाम-पूर्वक देवताओं को मनाकर हाथ जोड़े हुए सबसे कहते हैं कि देवता और साधु तो भाव चाहते हैं, क्या एक अंजलि जल देने से समुद्र को संतोष हो सकता है?॥ फिर भाई-समेत राजा जनक हाथ जोड़कर कोशल-राज दशरथजी से स्वाभाविक शील और स्नेह से सने हुए सुन्दर वचनों से बोले॥ हे राजन्! आपके सम्बन्ध से अब हम सब प्रकार से बड़े हुए। इस राज-साज-समेत हमको बिना मूल्य का लिया हुआ सेवक समझिये॥ हे करुणामय! इन लड़कियों को सेवकिनी मानकर करुणा-दृष्टि से पालन कीजियेगा। मेरा अपराध क्षमा कीजिये, जो मैंने बुला भेजा—यह बड़ी ढिठाई की है॥ फिर सूर्य-कुल-भूषण श्रीदशरथजी ने समधी को सम्मान का भंडार कर दिया। उनकी आपस की प्रार्थना कही नहीं जाती, दोनों के हृदय प्रेम से परिपूर्ण हैं॥ राजा जनवासे को चले, देवतागण फूल बरसाते हैं। नगाड़े की ध्वनि, जय-ध्वनि और वेद-ध्वनि हो रही है—आकाश और नगर दोनों में अच्छे कौतुक हो रहे हैं॥ तब मुनीश्वर की आज्ञा पाकर सुन्दर सखियाँ मंगलगान करती हुई दुलहिनों के सहित दुलहों को लिवा लेकर कोहबर को चलीं॥ श्रीसीताजी बार-बार श्रीरामजी को देखती हैं, (फिर) सकुच जाती हैं, पर मन नहीं सकुचता। प्रेम के प्यासे नेत्र सुन्दर मछली की छवि को हरते हैं॥३२६॥

विशेष—'सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये'—समुद्र तीर्थ-पति होने से देवता है, उसकी पूजा में हम यदि अर्घ्य के लिये तीन अंजलि देते हैं, तो उसे हमारी पूजा के भाव से तो 'तोष' अवश्य होता

है, पर जल की मात्रा से संतोष नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं जल का भंडार है। वैसे ही धन एवं प्रतिष्ठा के तो आप स्वयं सागर हैं, मैं जो कुछ दे रहा हूँ, यह अंजुली भर जल के समान है, इस रूप में मैं केवल अपना सद्भाव प्रकट कर रहा हूँ। समुद्र-देव की तरह आप मेरे भक्ति-भाव को ही ग्रहण कर प्रसन्न होंगे। कहा भी है—"अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णताऽस्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः ॥"

'ढीठ्यो' पद भाववाचक कर्मकारक है, 'ढीठ्यो कई' अर्थात् ढिठाई की है।

'सनमान निधि समधी कियो'—'समधी' अर्थात् यद्यपि जनकजी ने अपनेमें सेवक-भाव ही कहा है, तथापि ये अपने तुल्य ही का भाव रखते हुए सम्मान करते हैं, इतना आदर किया कि उन्हें सम्मान का समुद्र ही बना दिया, इस तरह कि आप दान के दाता हैं, हम तो प्रतिग्रहीता हैं, दाता की बड़ाई को प्रति-ग्रहीता कहाँ पहुँच सकता है? यह नम्रता आपकी साधु-भाव से है, इत्यादि।

'पुनि पुनि रामहिं'''—प्रेम के कारण दर्शनों की प्यास है, पर देखने में सखियों का संकोच है, जब वे मंगल-गान में लगती हैं, तब श्रीरामजी को बार-बार देखती हैं, जैसे मछली जल की प्यासी ही रहती है। पर सखियों के संकोच से फिर दृष्टि हटाकर नीचे कर लेती हैं, अवसर पाकर फिर देखती हैं, जैसे मछली जल के लिये उछलकर उसमें पड़ती है।

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि-मनोज-लजावन ॥१॥
जावकजुत पदकमल सुहाये। मुनि-मन-मधुप रहत जिन्ह छाये ॥२॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल-रबि-दामिनि-जोती ॥३॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर ॥४॥
पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चित लेई ॥५॥
सोहत ब्याहसाज सब साजे। उर आयत उर-भूषन राजे ॥६॥
पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥७॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदन सकल सौंदर्यनिधाना ॥८॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलक रुचिरता निवासा ॥९॥
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुतामनि गाथे ॥१०॥

शब्दार्थ—जावक (यावक)=महावर। काँखा सोती=जनेऊ की तरह दुपट्टा डालने का ढंग।

अर्थ—(श्रीरामजी का) साँवला शरीर स्वाभाविक ही शोभायमान है, उसकी शोभा करोड़ों कामदेवों को लजानेवाली है ॥१॥ महावर के साथ (लगे हुए) चरण कमल शोभा दे रहे हैं, जिनमें मुनियों के मन रूपी भौंरे छाये रहते हैं ॥२॥ पवित्र मनोहर पीली धोती प्रातःकाल के सूर्य और बिजली की ज्योति को हर लेती है ॥३॥ सुन्दर किंकिणी और कटि-सूत्र (सूत की करधनी) मन को हरनेवाले हैं, सुन्दर लंबी (आजानु) बाहुओं में विभूषण पहने हुए हैं ॥४॥ पीला जनेऊ बड़ी ही छवि दे रहा है, हाथ की अँगूठी चित्त को चुराये लेती है ॥५॥ (श्रीरामजी) सब ब्याह के साज सजे हुए सोह रहे हैं, चौड़ी छाती है, उसपर

चर-भूषण सुशोभित हैं ॥६॥ पीला दुपट्टा काँखा सोती पड़ा हुआ है, उसके दोनों छोरों (किनारों) पर मणि और मोती लगे हुए हैं ॥७॥ सुन्दर कमल के समान नेत्र हैं, कानों में सुन्दर कुंडल हैं और मुख तो सब सुन्दरता का भंडार ही है ॥८॥ भौंहें सुन्दर और नासिका मनोहर है, ललाट पर तिलक सुन्दरता का निवास (केन्द्र) है ॥९॥ मस्तक पर मनोहर, मंगलमय मुक्ता-मणियों से गुथा हुआ, सुन्दर मौर सोह रहा है ॥१०॥

विशेष—'जावकजुत पदकमल···'—चरण तो लाल कमल की तरह स्वाभाविक ही सुन्दर है, यावक से रंग-विशेषता नहीं है, पर यह विवाह के मंगल का अंग है, पुनः इसमें भाँति-भाँति की चित्रकारी रचना है, इससे विशेष शोभा हो रही है। 'मुनि मन मधुप' से माहात्म्य कहा है।

'पीत पुनीत मनोहर धोती···'—पीताम्बर रेशमी है, इससे 'पुनीत' कहा गया।

'बाल-रबि-दामिनि···'—कुछ ललाई लिये हुए पीत रंग है, उसपर दृष्टि नहीं ठहरती, इसलिये सूर्य की उपमा और चमचमाहट से बिजली की उपमा है। 'उरभूषण'—वनमाला, वैजयन्ती-माला, मणि-मुक्तामाला और धुकधुकी आदि। 'मंगलमय'—मंगल कार्य में लगनेवाले मणि-मुक्ता आदि मंगल माने जाते हैं। 'सौंदर्य निधान'—अर्थात् विश्व-भर में प्रसरित सुन्दरता का भंडार यही है, सुन्दरता यहीं से सबको प्राप्त है।

छंद—गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुरसुंदरी बरहि बिलोकि सब तृन तोरहीं॥
मनि बसन भूषन वारि आरति करहिं मंगल गावहीं।
सुर सुमन बरिसहिं सूत मागध बंदि सुजस सुनावहीं॥
कोहबरहि आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै।
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।
रनिवास हास-बिलास-रस-बस जनम को फल सब लहैं॥
निज-पानि-मनि महुं देखियति मूरति सुरूप-निधान की।
चालति न भुजवल्ली बिलोकनि-बिरह-भय-बस जानकी।
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।
बर कुअँरि सुंदर सकल सखी लिवाइ जनवासहिं चली॥
तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा।
चिरजिअहु जोरी चारु चारिउ मुदित मन सबही कहा।

जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी ।
चले हरषि बरषि प्रसून निज-निज-लोक जय-जय-जय भनी ॥

दोहा—सहित बधूटिन्ह कुअँर सब, तब आये पितु पास ।
सोभा मंगल मोद भरि, उमगेउ जनु जनवास ॥३२७॥

शब्दार्थ—तृन तोरहीं = बुरी दृष्टि बचाने का यह एक टोटका है—तिनका तोड़ना । लहकौरि = (लहुकौर या कौर खाना) यह एक विवाह की रीति है कि दूलह-दुलहिन एक-दूसरे के मुख में दही-बताशे आदि के कौर देते हैं । प्रतिमूरति = प्रतिबिंब । भुजबल्ली = भुजलता, नाज़ुक होने से स्त्रियों की भुजाएँ भुजबल्ली और मज़बूत पुरुषों की भुजाएँ भुजदंड कहाती हैं ।

अर्थ—सुन्दर मौर में महामणि गुथे हुए हैं, सभी अंग चित्त को चुराये लेते हैं । पुर की स्त्रियाँ और देवताओं की स्त्रियाँ वर को देख-देखकर तिनका तोड़ती हैं । मणि, वस्त्र, आभूषण को निछावर करके आरती करती और मंगल गाती हैं । देवता फूल बरसाते हैं, सूत, मागध और भाट सुयश सुनाते हैं ॥ सौभाग्यवती स्त्रियाँ सुख-पूर्वक कुमार और कुमारियों को कोहबर में लाईं और मंगल गा-गाकर अत्यन्त प्रीति-सहित लौकिक रीति करने लगीं । पार्वतीजी श्रीरामजी को लहकौरि सिखाती हैं और सरस्वतीजी श्रीसीताजी को (सिखाती हुई) कहती हैं । रनवास हास-विलास के आनंद में निमग्न है, सभी अपने जन्म लेने के फल पाती हैं ॥ अपने हाथ के (भूषणों के) मणियों में स्वरूप-निधान श्रीरामजी का प्रतिबिंब देखकर श्रीजानकीजी दर्शनों के वियोग के भय-वश भुजवल्ली और चितवनि को नहीं हटातीं । कौतुक, हास-विलास-क्रीड़ा, प्रकर्ष, आनंद और प्रेम कहा नहीं जा सकता, सखियाँ ही जानती हैं । सब सुंदर दूलह-दुलहिनों को सखियाँ जनवासे को लिवा ले चलीं ॥ उस समय नगर और आकाश में जहाँ देखो तहाँ ही आशीर्वाद सुना जाता है, महान् आनंद है । सभी आनंद-पूर्वक कहते हैं कि सुन्दर चारो जोड़ियाँ चिरजीवी हों । योगीश्वर, सिद्ध, मुनीश्वर और देवताओं ने प्रभु को देखकर नगाड़े बजाये और फूल बरसाकर जय, जय, कहते हुए अपने-अपने लोकों को हर्षपूर्वक चले ॥ तब सब कुँवर बहुओं समेत पिता के पास आये । शोभा, मंगल और आनंद से भरकर जनवासा मानों उमड़ पड़ा ॥३२७॥

विशेष—'गाथे महामनि मौर'''—सात खंड का मौर है, वह महामणियों के योग से झलकता है । नख से शिखा पर्यन्त सब अंगों की शोभा में चित्त हर जाता है । चित्त हरना यहाँ चरितार्थ भी है, यथा—'मनि बसन भूषन वारि'''—यहाँ प्रथम आरती करके निछावर करना चाहिये था, सो उल्टा कर गईं कि पहले ही निछावर करके आरती की ।

'मनि' और 'भूषन' के बीच में 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों का बहुमूल्य होना जनाया ।

'सुर सुमन बरिसहिं'''—यह कोहबर-गृह-प्रवेश पर है । 'सुख पाइ कै'—क्योंकि वहाँ मन मानी हास-विलास करेंगी । 'लहकौरि गौरि'''रनिवास हास'''—पार्वतीजी श्रीरामजी को सिखाती हैं कि यह दधि-मिश्री दुलहिनि को खिलाओ, उनके संकोच करने पर अपने हाथ से उनका हाथ पकड़कर खिला देती हैं । इसी तरह शारदाजी श्रीसीताजी का हाथ पकड़कर श्रीरामजी को खिलाती हैं और हँसी करती हैं कि दुलहिन के जूठे में बड़ा स्वाद होता है, और खा लीजिये । पुनः थाल में भूषण डालकर जुआ खेलाती

हैं। जब किशोरीजी प्रथम उठा लेती हैं तब जानुवर्ग श्रीरामजी की माँ को गाली देकर हँसी करती हैं और जब श्रीरामजी प्रथम उठा लेते हैं तो किशोरीजी की फूफूवर्ग इन्हें भी वैसे ही हँसती हैं। वर की हो जूती चूनरी से छिपा देवता बनाकर उसे वर से पुजाने की चेष्टा करती हैं, उसमें भी तरह-तरह के हास विलास करती हैं। 'चालति न भुजवल्ली'''—श्रीजानकीजी सबके समक्ष में श्रीरामजी को प्रकट देखने में सकुचाती हैं, इसलिये अँगूठी के नगों में उनका प्रतिबिंब देखने लगती हैं, हाथ हटाने से दर्शन न होने पर विरह सतावेगा इस भय से वे भुजा नहीं हटातीं—यद्यपि कहा भी जाता है—इसपर इनकी भौजाईगण हँसी करती हैं। 'जोगीन्द्र' याज्ञवल्क्य आदि, 'सिद्ध'—कपिल आदि, 'मुनीश'—नारद आदि, 'देव'—इन्द्रादि। 'सहित बधूटिन्ह' सोभा मंगल '''—चारों दुलहों से जनवासा भरा हुआ था, आज चारों दुलहिनें भी आईं, तब वह उमंग चला, देवों का जय जय कहकर आना, उमंग का प्रभाव है।

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठये जनक बोलाइ बराती ॥१॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा ॥२॥
सादर सबके पाय पखारे। जथाजोग पीढ़न्ह बैठारे ॥३॥
धोये जनक अवधपति-चरना। सील सनेह जाइ नहि बरना ॥४॥
बहुरि राम-पद-पंकज धोये। जे हर-हृदय-कमल महँ गोये ॥५॥
तीनिउ भाइ राम-सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी ॥६॥
आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे ॥७॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे ॥८॥

शब्दार्थ—जेवनार = भोजन के पदार्थ। बहु भाँती = चारि भाँति और षट्रस के अनेक प्रकार। सूपकारी = रसोइया, सूप दाल को कहते हैं, भोजन के पदार्थों में दाल मुख्य है, इसलिये रसोइये को सूपकारी कहते हैं।

अर्थ—फिर बहुत प्रकार की रसोई बनी, जनकजी ने बरातियों को बुला भेजा ॥१॥ राजा दशरथ पुत्रों के साथ चले। अनुपम वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते जाते हैं ॥२॥ (राजा जनक ने) आदर के साथ सबके चरण धोये और यथा योग्य पीढ़ों पर सबको बैठाया ॥३॥ उन्होंने राजा दशरथ के चरण धोये, उनका शील और स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४॥ फिर श्रीरामजी के चरण-कमलों को धोया, जिन्हें श्रीशिवजी अपने हृदय कमल में छिपा रखते हैं ॥५॥ तीनों भाइयों को श्रीरामजी के समान जानकर जनकजी ने अपने हाथों से उनके भी चरण धोये ॥६॥ राजा ने सबको उचित आसन दिया। (फिर) सब रसोइयों को बुला लिया ॥७॥ आदर से पत्तलें पड़ने लगीं, जो सोने की कीलों और मणियों के पत्तों से बनाई गई थीं ॥८॥

विशेष—(१) 'पठये जनक बोलाइ बराती'—रसोई प्रातःकाल से प्रारंभ होकर दोपहर के प्रथम ही तैयार हो गई। इधर बराती भी नित्य कर्म से निवृत्त हुए तब जनकजी ने उनको बुला भेजा। भोजन के लिये बुलाने में बरातियों को प्रधान रक्खा, क्योंकि समधी दहेज पाने से वर दुलहिन पाने से और बराती उत्तम रीति से भोजन पाने प्रसन्न होते हैं।

(७) 'परत पाँवड़े बसन अनूपा'''—प्रथम कहा गया था—"देत पाँवड़े अरघ सुहाये।" (दो० ३११); अर्थात् वहाँ 'देत' और यहाँ 'परत' कहा गया है, क्योंकि वहाँ चौखट से मंडप तक चक्रवर्तीजी के लिये ही पाँवड़े देने थे। अतः, जनकजी ने अपने हाथों से दिये थे और यहाँ सब बराती भोजन के लिये पाटांबर आदि वस्त्र पहनकर पैदल चल रहे हैं, पाकशाला कुछ दूर है, पाँवड़े बहुत पड़ेंगे। अतः, सेवक लोगों के द्वारा पड़ रहे हैं, अतः, 'परत' कहा गया। राजा अकेले कहाँ तक देते? पुन. 'परत' का यह भी भाव है कि जो पाँवड़े पड़ते हैं वे फिर उठाकर दूसरी जगह नहीं बिछाये जाते, पड़े ही रहते हैं। यह भी भाव है कि पहले से ही यदि बिछे रहते तो पशु पक्षीगण बिगाड़ देते, अत. जैसे-जैसे बराती चलते हैं तुरत-तुरत पाँवड़े पड़ते जाते हैं। 'अनूपा' यथा—"बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धन-मद परिहरहीं॥" (दो० ३०५)। 'भूपा'—राजा हैं, अतः इनके साथ पुत्रों के अतिरिक्त मंत्री, परिजन, साधु, ब्राह्मण आदि भी हैं। 'सादर सबके पाय पखारे'—'सादर'—सोने की चौकी पर मखमली गद्दे पड़े हैं, उनपर बिठाकर स्वर्ण-थाल में पद-प्रक्षालन कर अँगोछे से पोंछते हैं। यहाँ 'पखारे' शब्द से ब्राह्मणों के चरण धोये गये, क्योंकि 'पीढ़न बैठारे' में सादापन और सात्विकता है। आगे 'धोये' और 'आसन उचित' से क्षत्रियों के चरण धोना और विविध प्रकार के बहुमूल्य आसन आ जाते हैं। 'जथा जोग'—प्रथम मंडप की बैठक में कुछ क्रम कहे गये कि प्रथम वसिष्ठजी तब विश्वामित्रजी, फिर वामदेव आदि को उचित स्थल पर बिठाया।

(३) 'धोये जनक अवध '''—'पखारे' छोड़कर 'धोये' शब्द देकर यहाँ क्षत्रियों का प्रसंग अलग किया, और इनके चरण दूसरे थाल में धोये गये। 'अवधपति'—ये परम पवित्र चरण हैं, क्योंकि सर्व पापनाशिनीअयोध्या के पति हैं, यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (४० दो० १८); इस महत्त्व पर चित्त दिये हुए चरण धोते हैं। 'सील सनेह'''—'शील' यह कि बराबर दृष्टि तक नहीं करते, यथा—"गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२) स्नेह के चिह्न प्रकट हैं।

(४) 'बहुरि राम ''हर हृदय-कमल'''—शिवजी कामारि हैं, उनका हृदय-कमल निर्विकार है, इन पवित्र चरणों ने भी वहीं रहना स्वीकार किया, शिवजी भी परम दुर्लभ मान कर इन्हें छिपा रखते हैं और कृपा करके अधिकारी को प्राप्त कराते हैं। 'आसन उचित'—ब्राह्मणों को 'जथा जोग पीढ़न' कहा था, वैसे क्षत्रियों को यहाँ कहा। इस तरह ब्राह्मणों की पंक्ति का अलग बैठना सूचित किया।

(५) 'सूपकारी सब'—जिससे सब तरह की वस्तुएँ परोसने में विलंब न हो। 'सादर लगे परन पनवारे'—धीरे से पत्तल डालते हैं कि शब्द न हो, सँभालकर फेरना 'सादर' है। यहाँ आदि मध्य और अंत में 'सादर' कहा गया है—'सादर सबके पाय पखारे।'—आदि, यहाँ मध्य, और आगे—'सादर सहित आचमन दीन्हा।'—अंत में है; अर्थात् बराबर एकरस आदर बना रहा। भोजन कराने में आदर ही मुख्य है। 'मनि पान' से यहाँ पन्ना मणि जानना चाहिये।

दोहा—सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वाद पुनीत।
छन महँ सबके परसि गे, चतुर सुआर बिनीत॥३२८॥

पंच कवल करि जेवन लागे। गारि-गान सुनि अति अनुरागे॥१॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा-सरिस नहिं जाहिं बखाने॥२॥
परसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥३॥

शब्दार्थ—सूपोदन = दाल-भात। सुरभी = गाय, सुगंधित। सरपि = घी। सुआर = सूपकार = रसोइया। विनीत = विनययुक्त। पंच कवल = पाँच ग्रास अन्न जो स्मृति के अनुसार खाने के पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी और कौए आदि के लिये अलग निकाल दिया जाता है, अग्रासन। भोजन के समय पंच प्राणों के उद्देश से भी पाँच कवल खाकर आचमन किया जाता है। जेवना = भोजन करना। बिजन (व्यंजन) = पका हुआ भोजन।

अर्थ—चतुर और विनीत रसोइये सुन्दर स्वादिष्ट एवं पवित्र दाल, भात और गाय का सुगंधित बढ़िया घी क्षणमात्र में सबके आगे परस गये ॥३२८॥ पंच कवल (की विधि) करके सब खाने लगे, गालियों का गाना सुनकर अत्यंत अनुरक्त (प्रीति युक्त) हुए ॥१॥ अनेक प्रकार के अमृत के समान (स्वादिष्ट) पकवान पड़े (परोसे गये), वे बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ चतुर रसोइये परसने लगे, अनेकों प्रकार के व्यंजन हैं, उनके नाम कौन जानता है ! ॥३॥

विशेष—'सूपोदन सुरभी सरपि'''—नाता मिलाने के लिये प्रथम दाल कही गई, फिर भात कहा गया, क्योंकि दोनों मिलाकर खाये जाते हैं और स्नेह-वृद्धि एवं तत्संबंधी कीर्ति-रूप सुगंध के लिये सुगंधित घी कहा गया। इस कच्ची रसोई के खाने से ही पक्का नाता माना जाता है। इस प्रथम दिन भात के ही रस्म का दिन था, यह भी जनाया। 'सुंदर स्वाद पुनीत'—जिस गाय को ब्याये हुए २० दिन हो गये हों और उसका बछड़ा भी जीवित हो, उसका घी पुनीत माना जाता है, वह देखने में सुंदर और खाने में स्वादिष्ट होता है। ये सब विशेषण 'सूपोदन' के साथ भी हैं। 'सूपोदन' भी देखने में सुन्दर, सुगंधित, स्वादिष्ट और पवित्र (शास्त्र से ग्राह्य) हैं, जैसे छिलके के साथ दाल देखने में सुन्दर नहीं होती और मसूर की दाल अपुनीत मानी जाती है, भुजिया चावल भी अपुनीत कहा जाता है और नवसूतिका एवं मृतवत्सा गाय का घी अपुनीत होता है। 'चतुर सुआर विनीत'—परसने में कहीं इधर-उधर न गिरे और न कम-बहुत पड़े। नम्रता-पूर्वक और शीघ्रता में परसा जाय, ये सब बातें सूचित कीं। 'सुधा सरिस'—अमृत की तरह स्वादिष्ट, मधुर और पौष्टिक बनाया।

चारि भाँति भोजन विधि गाई। एक एक विधि बरनि न जाई ॥४॥
छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥५॥
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥६॥
समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥७॥
येहि विधि सबही भोजन कीन्हा। आदरसहित आचमन दीन्हा ॥८॥

दोहा—देइ पान पूजे जनक, दशरथ सहित समाज।
जनवासहिं गवने मुदित, सकल-भूप सिरताज ॥३२९॥

शब्दार्थ—आचमन दीन्हा = हाथ-मुँह धोआये। सिरताज = शिरोमणि।

अर्थ—भोजन की विधि शास्त्रों में चार प्रकार की कही गई हैं, उनमें से एक-एक विधि का भी वर्णन नहीं हो सकता ॥४॥ छओ रसों के बहुत प्रकार के सुन्दर व्यंजन हैं, जिनमें एक-एक रस के अगणित प्रकार के पदार्थ हैं ॥५॥ भोजन करते समय पुरुषों और स्त्रियों के नाम ले-लेकर मधुर राग में गाली दे (गा)

रही हैं ॥६॥ समय (के अनुसार) की गाली भी सुहावनी (रुचिकर) होने से सुशोभित है, उन्हें सुनकर राजा समाज के साथ हँसते हैं ॥७॥ इस प्रकार सभी ने भोजन किया, उन्हें आदर के साथ कुल्ली कराई गई ॥८॥ पान देकर राजा जनकजी ने समाज के साथ राजा दशरथ की पूजा की, सभी राजाओं के शिरताज श्रीचक्रवर्त्तीजी प्रसन्नता-पूर्वक जनवासे को चले ॥३२९॥

विशेष—(१) 'चारि भाँति······ छ रस रुचिर·········'—इन सबके अर्थ एवं भाव दो० ६८ में भी देखिये।

(२) 'जे यत देहि मधुर······ '—इसपर दो० ६६ छंद का अर्थ भी देखिये। प्रथम देवता-संबंधी मंगल गारी गाकर तब उसीके योग में श्रीमिथिला के पुरुषों के और योग्य नाते के अनुसार अवध की स्त्रियों से सम्बन्ध लगाकर गाली गाती हैं।

(३) 'हँसत राउ सुनि······ '—कहा जाता है कि स्त्रियाँ गाली गाते-गाते श्रीरामजी की छवि में मुग्ध होकर उल्टी गाली गा गईं—जनकजी के रनवास से अवधेश महाराज को लगाकर गाली गा गईं, इसपर सब हँस पड़े और चक्रवर्त्तीजी भी हँसे या गानेवाली स्त्रियाँ गाते-गाते रुक गईं, इसपर इधर हँस पड़े कि बस, इतनी ही जानती थीं ? अब चुक गईं, इत्यादि।

'देइ पान पूजे ······ '—पान देकर माला पहनाना, इत्र लगाना एवं चक्रवर्त्तीजी को भेंट चढ़ाना आदि पूजा शब्द से सब जना दिया। यथा—"अचइ पान सब काहू पाये। स्रग-सुगंध-भूषित छबि छाये॥" (दो० ३५४)।

नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं॥१॥
बड़े भोर भूपति-मनि जागे। जाचक गुनगन गावन लागे॥२॥
देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता। किमि कहि जात मोद मन जेता॥३॥
प्रात-क्रिया करि गे गुरु पाहीं। महाप्रमोद प्रेम मन माहीं॥४॥
करि प्रनाम पूजा कर जोरी। बोले गिरा अमिअ जनु बोरी॥५॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयेउँ आजु मैं पूरनकाजा॥६॥
अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाईं॥७॥
सुनि गुरु करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठये मुनिबृंद बोलाई॥८॥

दोहा—बामदेव अरु देवऋषि, बालमीकि जाबालि।
आये मुनिबर-निकर तब, कौसिकादि तपसालि॥३३०॥

शब्दार्थ—जामिनि (यामिनी) = रात। पूरनकाजा = पूर्णकाम, कृतकृत्य।

अर्थ—श्रीजनकपुर में नित्य नये मंगल होते हैं, दिन और रात पलक के समान बीतते जाते हैं ॥१॥ बड़े सवेरे राज-शिरोमणि दशरथजी जगे, याचक गुण-गण गाने लगे ॥२॥ सुन्दर बहुओं के साथ सुन्दर कुमारों को देखकर जो सुख उनके मन में है, उसे कौन कह सकता है? ॥३॥ प्रातःकाल की नित्य-क्रिया करके

गुरुजी के पास गये, मन में महान् आनंद और प्रेम है ॥४॥ प्रणाम और पूजा करके हाथ जोड़कर मानों अमृत में डुबाई हुई वाणी से बोले ॥५॥ हे मुनिराज ! सुनिये, आपकी कृपा से आज मैं पूर्णकाम हुआ ॥६॥ हे गोसाईं ! अब सब ब्राह्मणों को बुलाकर सब प्रकार से भूषित गायें दीजिये ॥७॥ यह सुनकर गुरुजी ने राजा की बड़ाई की और फिर ब्राह्मण-मंडली को बुला भेजा ॥८॥ वामदेव, देवर्षि नारद, वाल्मीकि, जाबालि और विश्वामित्र आदि तपस्वी श्रेष्ठ मुनियों के समूह आये ॥३३०॥

विशेष—'नित नूतन मंगल पुर माहीं'···—राजा के यहाँ की पहुनई कहकर कहते हैं कि वैसी ही नित्य नई पहुनाई पुरवासियों के यहाँ भी हुई, क्योंकि सभी राजा के प्रिय एवं तुल्य श्रीमान् हैं, यथा—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥" (दो० २१३)। 'बड़े भोर ··' यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा।" (अ० दो० ३७)। राजा की गुरु-भक्ति मन, वचन, कर्म से है—'प्रेम मन माहीं'—मन, 'प्रनाम करजोरी'—कर्म और 'बोले गिरा'···—वचन है। 'तुम्हरी कृपा'—क्योंकि गुरुजी के ही समझाने से विश्वामित्र के साथ पुत्रों को लगा दिया था। 'देहु धेनु'—'धेनु' अर्थात् थोड़े दिनों की ब्याई गाय, यहाँ संख्या नहीं खोली, क्योंकि गुरुजी जानते हैं कि चार लाख गौ का संकल्प हो चुका है जो आगे—'चारि लच्छ बर'··· पर खुलेगा। गोदान उत्तम ब्राह्मणों को देना चाहिये, कौन ब्राह्मण किस प्रकार की गाय के योग्य हैं, इसे गुरु ही जानते हैं, इसलिये उन्हें ही देने को कहा, तदनुसार 'गोसाईं' संबोधन भी ध्वनित कर रहा है कि गोदान में गायों के स्वामी आप ही हैं। 'सब बिप्र' से वेदपाठी एवं क्षमावान् आदि जानकर इन्हें सुपात्र भी बनाया। 'महिपाल बड़ाई'—'महिपाल' शब्द में बड़ाई के भाव भी आ गये कि आप जैसे पुण्यात्माओं से ही पृथिवी का पालन होता है। वसिष्ठजी धर्ममंत्री भी हैं, मंत्रियों को राजा की बड़ाई करके सम्मति देनी चाहिये, अतः बड़ाई करके बोले।

दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे ॥१॥
चारि लच्छ बर धेनु मँगाई। काम-सुरभि-सम सील सुहाई ॥२॥
सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही ॥३॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन-लाहू ॥४॥
पाइ असीस महीस अनंदा। लिये बोलि पुनि जाचक-बृंदा ॥५॥
कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबि-कुल-नंदन ॥६॥
चले पढ़त गावत गुन-गाथा। जय जय जय दिनकर-कुल नाथा ॥७॥
येहि बिधि राम-बिवाह-उछाहू। सकइ न बरनि सहसमुख जाहू ॥८॥

दोहा—बार बार कौसिक चरन, सीस नाइ कह राउ।
यह सब सुख मुनिराज तव, कृपा-कटाच्छ-प्रभाउ ॥३३१॥

शब्दार्थ—समसील=तुल्य स्वभाव। सब बिधि अलंकृत=सींग सोने से, खुर चाँदी से और पीठ ताँबे से मढ़ाई, काँसे की दोहनी, रेशमी झूलें पड़ी हुई। नंदन=आनंद देनेवाले।

अर्थ—राजा ने सभी को दण्डवत प्रणाम किया और प्रेम के साथ पूजा करके उनको बैठने के लिये उत्तम आसन दिया ॥१॥ चार लाख उत्तम गायें मँगाईं, जो कामधेनु के समान सुन्दर स्वभाववाली थीं ॥२॥ सबको सब प्रकार भूषणों से सजाया और प्रसन्नता पूर्वक राजा ने ब्राह्मणों को दिया ॥३॥ राजा बहुत प्रकार से विनती करते हैं कि जगत् में आज ही मैंने जीवन का लाभ पाया ॥४॥ आशिष पाकर राजा आनन्दित हुए, फिर उन्होंने याचकों को बुलवा लिया ॥५॥ उनसे बूझकर और रुचि जानकर सोना, वस्त्र, मणि, घोड़ा, हाथी और रथ सूर्यकुल नन्दन श्रीदशरथजी ने दिये ॥६॥ वे गुणगाथ पढ़ते और गाते हुए चले, सूर्यकुलनाथ की जय हो, जय हो, जय हो, ऐसा कहते जाते हैं ॥७॥ इस प्रकार श्रीरामजी के विवाह का उत्सव हुआ, जिसके हजार मुख हैं, वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता ॥८॥ विश्वामित्रजी के चरणों में बार बार शिर नवाकर राजा कहते हैं कि हे मुनिराज ! यह सब सुख आपकी कृपा-कटाक्ष के प्रभाव से हुआ ॥३३१॥

विशेष—(१) 'दंड प्रनाम सबहिं ‥ ‥'—अभिमान छोड़कर दण्डाकार पड़ गये। 'मुदित ‥ दीन्हीं'—क्योंकि दान हर्ष के साथ ही देना चाहिये। यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'मुदित महिप महिदेवन्ह ‥'—राजा की प्रसन्नता पृथ्वी के पालने से होती है, वह कार्य पुण्य से होता है और ब्राह्मण पूजा ही पुण्य है। 'करत बिनय ‥'—क्योंकि दान देकर विनय करना विधि है, इससे दान आदर पूर्वक होता है। चार कन्याएँ दान में ली गई हैं, उन एक-एक के प्रति एक एक लाख गायों के दान किये गये। दान तो कुमारों ने लिये हैं, पर प्रतिग्रह के प्रायश्चित रूप दान राजा ने किया, क्योंकि मुनि जानते हैं कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीसीताजी उन्हीं की शक्ति हैं, ऐसे ही उनके अंश भूत भाइयों की भी व्यवस्था है, उनकी शक्तियाँ उन्हें समर्पित हुई हैं—"रामहि सिय समरपी" (दो० ३२४), कहा भी गया है। राजा दशरथ की माधुर्य दृष्टि है, अतः, दान उन्हीं से दिलवाया। दान लेने के अधिकारी ब्राह्मण हैं, उन्हें देकर तब याचकों को बुलाया।

(२) 'कनक बसन मनि ‥ ‥'—'कनक' और 'मनि' के बीच में 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों को भी बहुमूल्य सूचित किया। 'रबि कुल नंदन'—इस कुल के लोग उदार और दान देने में ही आनन्द मानते हैं, यथा—"मगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं।" (दो० २३१)।

(३) 'चले पढ़त गावत ‥‥'—सूत आदि श्लोकों में गुण गण पढ़ते और भाट कत्थक आदि गुण गाते हुए चले। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना ऊपर कहा गया, पर चलना नहीं कहा गया। यदि यहाँ उनका भी चलना लें तो उनका आशीर्वाद आदि के श्लोक पढ़ना भी ले सकते हैं। 'बार बार कौसिक चरन‥ ‥'—बार-बार प्रणाम से कृतज्ञता और प्रेम की अधिकता प्रकट हुई, यथा—भये परस्पर प्रेम बस, पुनि पुनि नावहिं सीस।" दो० १४१), "सोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदौं तव पद बारहिं बारा।" (७० दो० १२९)।

जनक सनेह सील करतूती। नृप सब भाँति सराह बिभूती ॥१॥
दिन उठि बिदा अवधपति माँगा। राखहिं जनक सहित अनुरागा ॥२॥
नित नूतन आदर अधिकाई। दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई ॥३॥
नित नव नगर अनंद उछाहू। दसरथ गवन सोहाइ न काहू ॥४॥

बहुत दिवस बीते एहि भाँती। जनु सनेह-रजु बँधे बराती ॥५॥
कौसिक सतानंद तब जाई। कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥६॥
अब दसरथ कहँ आयसु देहू। यद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू ॥७॥
भलेहि नाथ कहि सचिव बोलाये। कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये ॥८॥

दोहा—अवधनाथ चाहत चलन, भीतर करहु जनाउ।
भये प्रेमबस सचिव सुनि, बिप्र सभासद राउ ॥३३२॥

शब्दार्थ—विभूति = बहुतायत (शब्द-सागर)। दिनप्रति = प्रतिदिन। जय जीव = जय हो और जियो, यह अभिवादन है।

अर्थ—जनकजी के स्नेह, शील और करनी की सब प्रकार बहुतायत (अधिकता) की राजा सराहना करते हैं ॥१॥ प्रतिदिन उठकर अवध के महाराज बिदाई की आज्ञा मानते हैं और जनकजी उन्हें अनुराग-पूर्वक रोक रखते हैं ॥२॥ नित्य नया आदर बढ़ता जाता है, प्रत्येक दिन सहस्रों प्रकार की पहुनाई होती है ॥३॥ नगर में नित्य-नया आनंद-उत्सव रहता है, राजा दशरथ का जाना तो किसी को भी नहीं सुहाता ॥४॥ इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, मानों बराती स्नेह-रूपी रस्सी से बँधे हुए हैं ॥५॥ तब विश्वामित्रजी और शतानंदजी ने जाकर राजा विदेह को समझाकर कहा ॥६॥ कि अब दशरथजी को आज्ञा दीजिये, यद्यपि स्नेह (के कारण आप) छोड़ नहीं सकते हो ॥७॥ राजा जनक ने—'हे नाथ ! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर मंत्रियों को बुलाया, 'जय जीव'—कहकर उन लोगों ने शिर नवाया ॥८॥ (जनकजी ने कहा) अवध नाथ चलना चाहते हैं, भीतर सूचना दो, यह सुनकर मंत्री ब्राह्मण, सभासद और राजा (स्वयं भी) प्रेम के वश हो गये ॥३३२॥

विशेष—(१) 'बिदा अवधपति माँगा'—अवध की रक्षा पर चित्त है, अवध आपको प्रिय है, उसका स्मरण कर बिदा माँगते हैं। 'सुहाइ न काहू'—प्रथम कहा गया—'देइ पान पूजे जनक' पुनः—'नित नूतन मंगल पुर माहीं।' फिर—'राखहिं जनक सहित अनुरागा।' पुनः—'नित नव नगर अनंद उछाहू।' कहा गया है; अर्थात् राजा-प्रजा किसी को भी अवधेश का जाना नहीं सुहाता। 'बहुत दिवस बीते येहि भाँती।' लग्न से—सवा महीना पूर्व ही बरात आई थी, वहाँ भी कहा गया—"गये बीति कछु दिन येहि भाँती। (दो० ३११); वहाँ 'कछु दिन' ही कहा था, क्योंकि तब लग्न की चाह थी और अब जाना चाहते हैं, इससे इधर के दो-तीन महीने 'बहुत दिवस' कहे जाते हैं, क्योंकि अब जाने पर चित्त है। 'जनु सनेह रजु '—स्नेह बड़ा दृढ़बंधन है, यथा—"बंधनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेम-रज्जु दृढ़-बंधनमाहुः। दारु-भेद-निपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकज-कोशे ॥" अर्थात् भ्रमर यद्यपि काष्ठ छेदने में निपुण है, फिर भी जब कमल में रहा हुआ रात में बंद होने पर बँध जाता है तब कमल की कोमल पँखुरियों को भी नहीं काट पाता, क्योंकि कमल में स्नेह रहता है। अतः, स्नेह दृढ़बंधन है। यही दशा बरातियों की है, राजा जनक के स्नेह में बँध गये हैं। 'कौसिक सतानंद'......'—विश्वामित्रजी ही श्रीराम-लक्ष्मण को लाये और बरात के भी बुलाने में मुख्य कारण हैं। अतः, इनका जनकजी पर दबाव है शतानंदजी को भी साथ लिया, क्योंकि वे उनके कुल-गुरु हैं, उनकी भी आज्ञा राजा को माननी होगी। अतः, ये ही आज्ञा दिलाने के लिये गये।

(२) 'कहा बिदेह नृपहिं···'—भाव जैसे आप देह-सुधि भूले रहते हैं, वैसे विदा करना एवं अवध-रक्षा का प्रबंध भी भूल गये। अब दोनों जगह के राज्य-प्रबंध की भी हानि है, अतएव विदा करने ही से बनेगा। फिर जब आप बुलायेंगे तो वे फिर भी आवेंगे, इत्यादि समझाकर कहा। 'भीतर करहु जनाउ'—क्योंकि भीतर बिदाई की तैयारी की जायगी। 'भये प्रेम बस' अर्थात् प्रेम के कारण विह्वल हो गये, यथा—"सत्य गवन सुनि सब बिलखाने।" आगे कहा है।

पुरबासी सुनि चलिहि बराता। बूझत बिकल परसपर बाता ॥१॥
सत्य गवन सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥२॥
जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती ॥३॥
बिबिधि भाँति मेवा पकवाना। भोजनसाज न जाइ बखाना ॥४॥
भरि भरि बसह अपार कहारा। पठये जनक अनेक सुआरा ॥५॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा ॥६॥
मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहिं देखि दिसिकुंजर लाजे ॥७॥
कनकबसन मनि भरिभरि जाना। महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना ॥८॥

दोहा—दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि।
जो अवलोकत लोकपति, लोक-संपदा थोरि ॥३३३॥

सब समाज येहि भाँति बनाई। जनक अवधपुर दीन्ह पठाई ॥१॥

शब्दार्थ—बिलखाने = व्याकुल हुए, दुखी हुए। सिद्ध = सीधा, आटा-दाल आदि कच्चा अन्न।

अर्थ—यह सुनकर कि बरात चलेगी, पुरवासीगण विकल हो गये, एक दूसरे से पूछने लगे ॥१॥ 'सत्य ही जायँगे' यह सुनकर सब दुखी होकर उदास हो गये, मानों संध्याकाल में कमल संकुचित हो गये ॥२॥ आते समय बराती जहाँ-जहाँ निवास किये हुए थे, वहाँ-वहाँ के लिये बहुत प्रकार का सीधा भेजा गया ॥३॥ तरह-तरह के मेवे, पक्वान्न और भोजन की सामग्री जो कही नहीं जा सकती ॥४॥ अगणित बैलों और कहारों पर भर-भरकर पुनः राजा जनक ने अनेकों रसोइयों को भेजा ॥५॥ एक लाख घोड़े, पचीस हजार रथ, सब नख से शिख तक सजाये हुए ॥६॥ दस हजार मतवाले हाथी साजे हुए, जिन्हें देखकर दिग्गज लज्जित होते थे ॥७॥ सोना, वस्त्र और मणि गाड़ियों एवं रथों में भर-भरकर, भैंसें, गायें और नाना प्रकार की चीजें ॥८॥ (इस तरह के) अमित दायज (दहेज) राजा जनक ने फिर से दिये, जो कहे नहीं जा सकते, जिन्हें देखकर लोकपालों के लोकों की सम्पदा थोड़ी जान पड़ती थी ॥३३३॥ राजा जनक ने इस प्रकार ठीक करके सब सामग्री को अवधपुर भेज दिया ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य गवन···'—राजा दशरथ का जाना तो नित्य ही सुनते थे, पर फिर सुन जाता था कि नहीं जाने पाये, पर आज का जाना सत्य ही निकला। 'बिलखाने'—नित्य नवीन पहुनाई

देख-देखकर प्रफुल्लित रहते थे, अब संध्या के कमल की भाँति संकुचित हो गये, उदासीनता आ गई। कमल को पुनः प्रातःकाल होने पर प्रफुल्ल होने की आशा रहती है, वैसे इन्हें भी नाते के सम्बन्ध से कुमारों के आने और दर्शनों से प्रफुल्लता की आशा है।

(२) 'तहँ-तहँ सिद्ध चला ...'—क्योंकि बनाया हुआ भोजन कई दिनों में बिगड़ जाता है। साथ में रसोइयों को भी भेजा, जिससे सर्वत्र ताजा भोजन मिले। सब मंजिलों पर एक साथ ही भेज दिया गया, क्योंकि बराती जाने में आतुर हैं, न जानें, किस-किस मंजिल पर जाकर ठहरें।

(३) 'दाइज अमित...बहोरि...'—'बहोरि' अर्थात् जितना प्रथम दिया था उतना ही फिर भी दिया, यथा—"कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। ..लोक पाल अवलोकि सिहाने।" (दो० ३२५); वैसे ही यहाँ भी—"दाइज अमित न ..लोक पति लोक संपदा थोरि।" कहा गया है। 'अवधपुर दीन्ह पठाई।'—(क) यदि यहाँ देते तो चक्रवर्त्तीजी सब यहीं लुटा देते, जैसे पहले किया था—"दीन्ह जाच कन्ह ..." (दो० ३२५)। अतः, सीधे अवधपुर भेज दिया कि वहाँ के लोग भी जो बरात में नहीं आये हैं देखें कि दहेज में क्या मिला? (ग) देकर फिर घर तक पहुँचा देना आदर दान है।

चलिहि बरात सुनत सब रानी। बिकल मीनगन जनु लघु पानी ॥२॥
पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावन देहीं ॥३॥
होयेहु संतत पियहि पियारी। चिर अहिवात असीस हमारी ॥४॥
सास - ससुर - गुरु - सेवा करेहू। पति-रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥५॥
अति - सनेह - बस सखी सयानी। नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी ॥६॥
सादर सकल कुअँरि समुझाई। रानिन्ह बार-बार उर लाई ॥७॥
बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी। कहहिं बिरंचि रची कत नारी ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर भाइन्ह सहित, राम भानु-कुल-केतु।
चले जनक - मंदिर मुदित, बिदा करावन हेतु ॥३३४॥

शब्दार्थ—चिर=दीर्घकाल। अहिवात=सौभाग्य। नारिधरम, यथा—"नारि धर्म पति देव न दूजा।" (दो० १०१); नारि धर्म शिव पुराण के पार्वतीजी के विदाई-प्रसंग में विस्तार से कहा गया है तथा आ० दो० ५ भी देखिये।

अर्थ—'बरात चलेगी' यह सुनते ही सब रानियाँ विकल हो गईं मानों मछलियाँ थोड़े जल में छटपटा रही हों ॥२॥ बार-बार श्रीजानकीजी को गोद में लेती हैं और आशिष देकर शिक्षा देती हैं ॥३॥ सदा पति को प्यारी हो, दीर्घ काल तक अहिवात हो, यह हमारी आशिष है ॥४॥ सास, ससुर और गुरु वर्ग की सेवा करना और पति का रुख देखकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलना ॥५॥ सयानी सखियाँ अत्यन्त स्नेह-वश कोमल वाणी से स्त्री-धर्म सिखाती हैं ॥६॥ रानियों ने आदर के साथ सब कुमारियों को (नारि-धर्म) समझाकर बार-बार हृदय से लगाया ॥७॥ माताएँ फिर-फिर भेंटती और कहती हैं कि विधाता ने स्त्री को क्यों बनाया? ॥८॥ उसी समय सूर्य-कुल के ध्वजा रूप श्रीरामजी भाइयों के साथ श्रीजनकजी के मंदिर में प्रसन्नता पूर्वक विदा कराने के लिये चले ॥३३४॥

विशेष—(१) 'विकल मीन गन ''''—पुरजनों को कमल कहा था, रानियों को मीन कहा, क्योंकि सूर्य और कमल की अपेक्षा जल और मीन में प्रेम की अधिकता है, वैसे ही रानियों का प्रेम पुरजनों से अधिक है। 'लघु पानी'—अब और दर्शन विदाई पर्यन्त ही रह गये हैं।

(२) 'होयेहु संतत''''' चिर अहिवात'—'होयेहु संतत''' '' यह 'सिखावन' (शिक्षा) है और—'चिर अहिवात '' ' यह आशिष है। पूर्वार्द्ध साधन और उत्तरार्द्ध फल है, क्योंकि पतिव्रता होने से उसका पति किसी से मर नहीं सकता। पति का जीवन ही स्त्री का जीवन है—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी॥" (अ० दो० ६४)। अतः, कुँअरि को 'चिर' नहीं कहा।

(३) 'पति • रुख लखि आयसु ''''' बहुत-सी आज्ञाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अतः, पति का अभिप्राय-सहित वचन मानना। सब धर्म पति के रुख रखने में हैं। यह भी भाव है कि कहना न पड़े, रुख-मात्र से समझकर व्यवहार करना।

(४) 'अति-सनेह-बस''' ''—यद्यपि श्रीसीताजी सब जानती हैं, तथापि अत्यन्त स्नेह का स्वभाव ही है कि वह सिखाने में प्रवृत्त कर देता है। 'सयानी'—अवस्था एवं बुद्धि में श्रेष्ठ।

(५) 'सादर सकल कुअँरि'''रानिन्ह ''–'सकल कुअँरि' को बीच में कहा गया; अर्थात् सबों को प्रथम सखियों ने समझाया, फिर रानियों ने भी। 'रचो कत नारी'—लड़कियाँ पराधीन रहती हैं, इस नियम से इन बालिकाओं को विदा करना पड़ता है, यथा—"कत बिधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥" (दो० १०१); या हमलोग नारि होने से पराधीन हैं, पुरुष होतीं तो जाकर देख भी आया करतीं, पर हमें तो विरह-दुःख सहना ही पड़ेगा।

'चले जनक-मंदिर मुदित''' ' '—यहाँ अवध जाने की उत्सुकता में मुदित हैं, अन्यथा अपवाद होता कि ससुराल प्रिय हो गई, छोड़ी नहीं जाती, यह लोक-दृष्टि का निर्वाह है।

चारिउ भाइ सुभाय सुहाये। नगर-नारि-नर देखन धाये॥१॥
कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥२॥
लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप-सुत चारी॥३॥
को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥४॥
मरनसील जिमि पाव पियूषा। सुरतरु लहइ जनम कर भूखा॥५॥
पाव नारकी हरिपद जैसे। इन्ह कर दरसन हम कहँ तैसे॥६॥
निरखि राम-सोभा उर धरहू। निज मन-फनि-मूरति-मनि करहू॥७॥
येहि बिधि सबहि नयन फल देता। गये कुअँर सब राजनिकेता॥८॥

दोहा—रूपसिंधु सब बंधु लखि, हरषि उठी रनिवास।
करहिं निछावरि आरती, महा मुदित मन सास॥३३५॥

शब्दार्थ—मरनसील = मरणप्राय, मरनेवाला। नारकी = नरक में रहनेवाला या नरक के योग्य पापी।

अर्थ—स्वाभाविक सुन्दर चारो भाइयों के देखने के लिये नगर के स्त्री-पुरुष दौड़ पड़े॥१॥ कोई

कहता है कि आज ही जाना चाहते हैं, विदेहजी ने विदा का सामान कर दिया है ॥२॥ चारो प्रिय पाहुन राजकुमारों के रूपों को आँखें भरकर देख लो ॥३॥ हे सयानो ! कौन जानता है कि किस पुण्य से विधाता ने इनको यहाँ लाकर हमारे नेत्रों के पाहुन बनाया है ॥ ४ ॥ जैसे मरनेवाला अमृत पावे जन्म का भूखा कल्पवृक्ष पावे और नरक में रहनेवाला जैसे हरिपद (भगवद्धाम) पा जाय—वैसे ही इनके दर्शन हमारे लिये हैं ॥५-६॥ श्रीरामजी की शोभा को देखकर हृदय में धर लो, अपने मन को सर्प और इनकी मूर्त्ति को मणि कर लो ॥७॥ इस तरह सबको नेत्रों का फल देते हुए सब राजकुमार राजमहल में गये ॥८॥ रूप के सागर सब भाइयों को देखकर रनिवास प्रसन्न हो उठा, सासें अत्यन्त आनंदित मन से न्योछावर करने और आरती उतारने लगीं ॥३३४॥

विशेष—(१) 'देखन धाये' यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (दो॰ २११)।

'कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू'—कोई देही भला ऐसे पाहुनों को कैसे विदा करेगा ? जिसे देह ही में ममता नहीं है, उसे देह-सम्बन्धी नातों में कब प्रीति दृढ़ हो सकती है—यह व्यंग्य है।

(२) 'को जाने केहि सुकृत···'—इनके दर्शन सुकृत के फल हैं, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय दरसन पावा॥" (अ॰ दो॰ १०६)। सुकृत की व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान विधाता।" (अ॰ दो॰ २८१); इसीसे कहा कि—'कीन्हे बिधि आनी' 'अतिथि'—इनके दर्शन अचानक प्राप्त हो गये।

(३) 'मरनसील जिमि पाव ···'—हमलोग मानस-रोग से मरनेवाले थे, इनके दर्शनों से अमृतवत् प्रेमाभक्ति प्राप्त हुई, जिससे अब पुनर्जन्म रूप मृत्यु से बचेंगे। यथा—"सुधा समुद्र समीप बिहाई।" (दो॰ २४५); "राम भगत अब अमिय अघाहू।" (अ॰ दो॰ २०८)।

'सुरतरु लहइ जनम···'—जब किसी से धनुष नहीं टूटा तब इन्हें उसकी भूख थी कि कुरूप से भी टूटता॰ तो उस कुअन्न से भी भूख मिट जाती, श्रीरामजी से टूटा तो मानों कल्पतरु द्वारा सुअन्न से भूख मिटी, परम सुन्दर चार विवाह हुए और सभी के सभी प्रकार के मनोरथ पूरे हुए, इन्हीं के विषय में इन लोगों ने कहा भी था—"जौं बिधि बस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥" (दो॰ २२१)। 'पाव नारकी हरिपद····'—अभी तक हमलोग सांसारिक नातों में आसक्त रहने से नरक के पात्र थे, अब इनके दर्शनों से इनमें दृढ़ प्रीति हुई और सांसारिक आसक्ति छूट गई, यथा—"निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन फनि मूरति मनि करहू॥" आगे कहते हैं। इससे हरिपद की प्राप्ति होगी, यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३)।

(४) 'निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन···'पहले दर्शन कहकर यहाँ हृदय में धरने को कहा, फिर इनपर ध्यान रहना कहते हैं कि जैसे सर्प मणि के प्रकाश में सुखी रहता है और उसके बिना व्याकुल-बिहाल होकर जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये व्याकुल बिहाल रे।" (वि॰ ६७); वैसे ही हमलोग इनके दर्शन रूप प्रकाश में सुखी और वियोग में प्रेम से व्याकुल बिहाल होकर जीवन व्यतीत करें; अर्थात् क्षण-भर भी इनका विस्मरण न हो।

(५) 'रूपसिंधु सब बंधु···'—प्रथम रानियों को कहा गया था—"बिकल मीन गन जनु लघु पानी।" (दो॰ ३३३), यहाँ 'रूपसिंधु' पाकर प्रसन्न हो उठीं। 'हरषि उठीं'—हर्षित हुईं, यथा—"सकल सभा सुनि लै उठी।" (वि॰ २०६)। 'महा मुदित मन' होने ही से सँभाल न रही, इससे प्रथम ही निछावर करके तब आरती की, यह उल्टा कर गईं। आरती करके निछावर की जाती है। यथा—"करहिं आरती पुर नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥" (दो॰ ३६४)। 'रूपसिंधु यथा—"शील सुधा के अगार,

सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० बा० ६२); इस अगाध शोभा सिंधु में मानों हर्षित हुईं। यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।" (कि० दो० १६)। ऊपर इन्हें मीन कहा गया है।

देखि राम-छबि अति अनुरागीं। प्रेम-बिबस पुनि-पुनि पद लागीं ॥१॥
रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेहु बरनि किमि जाई ॥२॥
भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाये। छरस असन अति हेतु जेंवाये ॥३॥
बोले राम सुअवसरु जानी। सील सनेह-सकुचमय बानी ॥४॥
राउ अवधपुर चहत सिधाये। बिदा होन हम इहाँ पठाये ॥५॥
मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू ॥६॥
सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेम-बस सासू ॥७॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्हीं। पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्हीं ॥८॥

छंद—करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ बिदित गति सबकी अहै ॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी ॥

सो०—तुम्ह परिपूरन काम, जानसिरोमनि भावप्रिय।
जन-गुन-गाहक राम, दोष-दलन करुनायतन ॥३३६॥

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेमपंक जनु गिरा समानी ॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी की छवि देखकर अत्यन्त अनुरक्त हो गईं, प्रेम के विशेष वश होने से बार-बार चरणों में लगीं ॥१॥ लज्जा न रह गई, (क्योंकि) हृदय में प्रीति छा गई, यह स्वाभाविक स्नेह कैसे कहा जा सकता है? ॥२॥ उन्होंने भाइयों के साथ श्रीरामजी को उबटन लगाकर स्नान कराया और अत्यन्त प्रीति-पूर्वक षट्रस भोजन कराया ॥३॥ सुन्दर अवसर जानकर श्रीरामजी शील, स्नेह और संकोच के साथ वचन बोले ॥४॥ "राजा अवधपुर को चलना चाहते हैं, विदा होने के लिये हम सबको यहाँ भेजा है ॥५॥ हे माता! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये, अपना बालक जानकर सदा स्नेह रखियेगा ॥६॥" इन वचनों को सुनकर रनवास दुःखी हुआ, सासें प्रेम-वश बोल नहीं सकतीं ॥७॥ उन्होंने सब कुमारियों को छाती से लगा लिया और पतियों को सौंपकर अत्यंत विनती की। ॥८॥ विनती करके श्रीसीताजी को श्रीरामजी के हाथों समर्पित किया, हाथ जोड़कर फिर-फिर कहती हैं—हे तात! हे सुजान! मैं बलिहार जाती हूँ, तुम्हें सबकी

गति मालूम है। परिवार को, पुरजनों को, मुझको और राजा को सीता प्राणों से भी प्यारी जानो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इसको सुशीलता और स्नेह को देखकर अपनी दासी करके मानना॥ हे श्रीरामजी! तुम सब प्रकार से पूर्णकाम हो, ज्ञानियों में शिरोमणि हो, तुम भाव-प्रिय हो, जनों (भक्तों) के गुण-ग्रहण करनेवाले, दोषों के नाश करनेवाले और करुणा के स्थान हो॥३३६॥ ऐसा कहकर रानी चरणों को पकड़कर रह गईं, मानों प्रेमरूपी कीचड़ में वाणी समा (फँस) गई हो॥१॥

विशेष—(१) 'रही न लाज प्रीति···'—ऊपर प्रेम के विवश होने पर दामाद के पैरों में लगना कहा गया, उसीका समाधान करते हैं कि सास को यह उचित नहीं है, पर क्या करें, प्रेम की व्याकुली में लज्जा नहीं रह जाती, क्योंकि प्रीति नदीरूपा है, उसमें लज्जा बह जाती है, यथा—"प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।" (सुं० दो० ४८); "सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा (अ० दो० २७५)

(२) बोले राम सुअवसर जानी'—सासें जब उबटन, स्नान एवं भोजन करा चुकीं और सावधान होकर बैठीं, तब विदा की बात चलाई, यही सुन्दर अवसर है।

(३) 'सील सनेह सकुच मय बानी' यथा—'राउ अवधपुर ··' यह शीलमय वाणी है, क्योंकि पिता की ओट से विदा की बात कही। 'बिदा होन हम ··' यह सकुचमय है, क्योंकि यह नहीं कहा कि हमलोग विदा होने आये हैं और 'मातु मुदित ··' यह अर्द्धाली स्नेहमय वाणी की है। विदाई की बातों पर सासों में उदासीनता देखकर 'मुदित मन' से आयसु देना कहा।

(४) 'करि बिनय सिय···'—ऊपर चारो भाइयों से विनती करना कहा गया, आगे उसकी विशेष व्यवस्था श्रीरामजी से ही कहती हैं, क्योंकि ये सबमें बड़े हैं, फिर इनके ही उत्तर में सबके उत्तर आ जायँगे। 'सुसील सनेह लखि···'—भाव यह कि इसका शील और स्नेह तो ऐसा है कि आप इसे अत्यंत प्रियतमा मानेंगे। श्रीसीताजी के इन दो गुणों को ऐसा ही गिरिजाजी ने भी कहा है—"करुना निधान सुजान सील-सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६)। वा रानी अपने विषय के शील स्नेह को कह रही हैं कि हमारी और हमारे स्नेह की ओर देखकर···वा, आप अपने शील-स्नेह को देखकर इसके दोष क्षमा करके इसपर स्नेह रक्खोगे। 'किंकरी करि मानबी' दासी करके मानने को कहती हैं, क्योंकि श्रीमुख वचन है—"मोरे अधिक दास पर प्रीती।" (उ० दो० १५)।

(५) 'तुम्ह परिपूरन काम···'—भाव यह कि तुम कुछ हमारे दान एवं सीता के गुण आदि से प्रसन्न हो—यह बात नहीं है, क्योंकि तुम पूर्णकाम हो, हमारे दान से भी प्रसन्न नहीं हो, क्योंकि तुम ज्ञानियों में शिरोमणि हो मैं केवल इसी बल पर कहती हूँ कि आप भाव-प्रिय हो, अतः हमारे सद्भाव को ग्रहण करोगे और अपने जनों के गुणों को ग्रहण करते हो, अतः सीता के शील-स्नेह आदि गुणों को ग्रहण करोगे और उसके दोषों को क्षमा करते हुए उसपर करुणा रक्खोगे यथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुण साधु समाज बखाने॥" (अ० दो० २१८); "जन गुन अलप गिनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन॥ (वि० २०६)।

(६) प्रेम पंक जनु गिरा···'—पूर्व—'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।' कहा गया, वहाँ बार-बार पद लगने की सावधानता थी, यहाँ वह भी नहीं रह गई, क्योंकि चरण पकड़े रह गईं। कंठ गद्गद हो गया, वाणी ही नहीं निकलती, मानों कीचड़ में फँस गई है।

सुनि सनेहसानी बर बानी। बहु बिधि राम सास सनमानी॥२॥
राम बिदा माँगत कर जोरी। कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी॥३॥

पाइ असीस बहुरि सिर नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥४॥
मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह-सिथिल सब रानी ॥५॥
पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेंटहिं महतारी ॥६॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी ॥७॥
पुनि पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥८॥

अर्थ—स्नेह में सनी हुई श्रेष्ठ वाणी सुनकर श्रीरामजी ने सासों का बहुत तरह से सम्मान किया ॥२॥ श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर विदा माँगी और बार-बार प्रणाम किया ॥३॥ आशीर्वाद पाकर फिर प्रणाम करके भाइयों के साथ श्रीरघुनाथजी चले ॥४॥ सब रानियाँ सुन्दर मधुर मूर्ति को हृदय में लाकर स्नेह से शिथिल हो गईं ॥५॥ फिर धैर्य धारण करके कुमारियों को बुलाकर माताएँ, बार-बार भेंटती (गले लगकर मिलती) हैं ॥६॥ कन्याओं को पहुँचाती हैं, वे लौटकर फिर से मिलती हैं, आपस में थोड़ी प्रीति नहीं है—अर्थात् दोनों ओर से बहुत प्रीति है ॥७॥ वे सखियों को अलग करके फिर-फिर मिलती हैं, जैसे नई जनमी हुई बछिया और नई ब्याई हुई गाय परस्पर मिलें ॥८॥

विशेष—(१) 'सुनि सनेह सानी बर बानी।'—यह उपर्युक्त-"बलिजाउँ···" से "करुनायतन" तक है। 'बहु बिधि राम सासु···'—प्रथम आश्वासन-पूर्वक सावधान किया और कहा कि आपकी सब आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, पुनः बार-बार प्रणाम आदि सम्मान के अंग हैं, अत्यन्त प्रेम से एवं चलने के लिये भी बार-बार प्रणाम करते हैं। आशिष पाकर फिर शिर नवाना आशिष के प्रति कृतज्ञता एवं उसे शिरोधार्य करने में है। 'मंजु मधुर मूरति···'—जैसे प्रवेश समय पुरवासियों को—'निरखि राम सोभा उर धरहू।···' कहा गया है, वैसे यहाँ रानियों ने चलते समय की छवि को हृदय में धारण किया। 'कुअँरि हँकारी'—क्योंकि स्नेह से सिथिल हो गई हैं, यथा—"चलहिं न चरन सिथिल भये गाता।" (दो० ३१५); अतः कुमारियों के निकट तक न जा सकीं। 'पहुँचावहिं फिरि···'—सखियाँ पहुँचाती हैं पर कुमारियाँ लौट लौटकर माताओं से मिलती हैं। 'परस्पर' अर्थात् इधर से माताएँ लौट-लौट कर मिलती हैं, उधर से वैसे ही कुमारियाँ भी मिलती हैं। इसीको अगली अर्द्धाली में स्पष्ट किया गया है।

दोहा—प्रेम-बिबस नरनारि सब, सखिन्ह सहित रनिवास।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना - बिरह - निवास ॥३३७॥

सुक सारिका जानकी ज्याये। कनक-पिंजरन्हि राखि पढ़ाये ॥१॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरज परिहरइ न केही ॥२॥
भये बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती ॥३॥

अर्थ—सब स्त्री-पुरुष और सखियों के साथ रनिवास प्रेम के विशेष वश हैं, मानो विदेह-पुर में करुणा और विरह ने डेरा डाल दिया है ॥३३७॥ जिन तोते मैनाओं को श्रीजानकीजी ने जिलाया (पाला) था और सोने के पिंजरों में रखकर पढ़ाया था ॥१॥ वे व्याकुल होकर कह रहे हैं कि वैदेही कहाँ हैं? यह

सुनकर किसको धैर्य न छोड़ देगा ॥२॥ जब पक्षी और पशु इस प्रकार व्याकुल हुए तब मनुष्यों की दशा कैसे कही जा सकती है ? ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रेम-बिबस नर-नारि···'—करुणा नारि रूप में और विरह नर-रूप में मानों मूर्त्तिमान हैं। 'निवास' अर्थात् आजन्म रहेंगे, तभी तो भक्ति पुष्ट होती है, यथा—"प्रीतम बिरह सो सनेह सरबस···" (गी० सुं० ७)। 'बिदेह पुर'—यह तो विरक्तों का पुर था, यहाँ करुणा और विरह नहीं होना चाहिये, पर श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से करुणा-विरह का होना ज्ञान-वैराग्य की शोभा है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)।

(२) 'सुक सारिका जानकी···'—पढ़ाये गये हैं, इससे ये अपना विरह शब्दों द्वारा प्रकट कर रहे हैं और 'खग-मृग' केवल विकल हैं। विचारवान् लोग धैर्य धरते हैं, पर धैर्य ही उन्हें त्याग देता है तो ऐसे मनुष्यों की दशा कैसे कही जाय ? यथा—"जहँ असि दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी ॥" (दो० ८४); "जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे ॥" (अ० दो० ९९); यद्यपि दास-दासी साथ में दिये गये, पर शुक-सारिका नहीं, क्योंकि ये यहाँ श्रीजानकीजी के नाम लेकर उन्हें पुकारती थीं और वहाँ ससुराल में ऐसा कहा जाना अनुचित है, वहाँ तो श्रीजानकीजी लाड़ली बहू आदि कही जायँगी।

बंधुसमेत जनक तब आये। प्रेम उमगि लोचन जल छाये ॥४॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी ॥५॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ज्ञान की ॥६॥
समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचार अनवसर जाने ॥७॥
बारहिं बार सुता उर लाई। सजि सुंदर पालकी मँगाई ॥८॥

दोहा—प्रेम-बिबस परिवार सब, जानि सुलगन नरेस।
कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह, सुमिरे सिद्ध गनेस ॥३३८॥

अर्थ—तब भाई के साथ राजा जनक आये, प्रेम की उमंग से नेत्रों में जल छा गया ॥४॥ श्रीसीताजी को देखकर धैर्य भाग गया—(यद्यपि ये) परम वैराग्यवान् कहलाते थे ॥५॥ राजा ने श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया, ज्ञान की महामर्यादा मिट गई ॥६॥ सब प्रवीण मंत्री समझाते हैं, (करुणा का) अवसर न जानकर विचार किया ॥७॥ और बार-बार पुत्री को हृदय से लगाकर सजी हुई सुन्दर पालकियाँ मँगाईं ॥८॥ सब परिवार प्रेम के विशेष वश है, ऐसा जानकर और सुन्दर लग्न समझ राजा ने सिद्ध गणेश का स्मरण करके कुमारियों को पालकियों पर चढ़ाया ॥३३८॥

विशेष—(१) 'बंधु समेत जनक···'—श्रीजनकजी बाहर ही बिदाई के विशेष प्रबंध में लगे हुए थे, जब कुमारियाँ द्वार तक आ गईं तब उन्हें दर्शन देने के लिये प्रेम की उमंग हुई। 'सिय बिलोकि धीरता···' औरों को धीरता ने त्याग दिया, पर इनकी धीरता तो भाग गई; ये अत्यंत विकल हुए। 'रहे कहावत···'—पहले कहाते थे, पर अब हैं नहीं।

(२) 'लीन्ह राय उर लाइ...'—विह्वलता में ज्ञान, वैराग्य और धैर्य नहीं रहते, मिथिलेशजी ज्ञान की पराकाष्ठा थे, यथा—"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सियराम-सनेह बड़ाई॥" (अ० दो० २७१)। आज वे भी ज्ञान, वैराग्य और धैर्य से रहित होकर रो रहे हैं, इसीसे ज्ञान की 'महामर्यादा' का मिटना कहा गया। ऐसे ही श्रीचित्रकूट में भी कहा गया है—"लीन्हि लाइ उर जनक जानकी...। मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (अ० दो० २८५)।

(३) 'नरेस। कुँअरि चढ़ाई ...'—परिवार के लोग विकल हैं, माता सुनयना को तो सुध ही नहीं है, अतः, राजा ने स्वयं कुमारियों को पालकी पर चढ़ाया। श्रीकौशल्याजी और श्रीजनकजी की विज्ञानावस्था और श्रीचक्रवर्तीजी और श्रीसुनयनाजी की माधुर्यवृत्ति रहती है।

बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारिधरम कुलरीति सिखाई॥१॥
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥२॥
सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहिं सगुन सुभ मंगलरासी॥३॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा॥४॥
समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ-गज-बाजि बरातिन्ह साजे॥५॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान-मान परिपूरन कीन्हे॥६॥
चरन-सरोज-धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा॥७॥
सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना। मंगलमूल सगुन भये नाना॥८॥

दोहा—सुर प्रसून बरषहिं हरषि, करहिं अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान॥३३९॥

अर्थ—राजा ने पुत्रियों को बहुत प्रकार से समझाया, स्त्रियों के धर्म और कुलरीति सिखाई॥१॥ बहुत-सी दासियाँ और दास दिये, जो श्रीसीताजी के प्रिय और पवित्र सेवक थे॥२॥ श्रीसीताजी के चलते समय पुरवासी व्याकुल हो गये, शुभ और मंगल के समूह शकुन हो रहे हैं॥३॥ ब्राह्मणों, मंत्रियों और समाज के साथ राजा साथ में पहुँचाने के लिये चले॥४॥ समय देखकर बाजे बजने लगे, बरातियों ने रथ, हाथी और घोड़े सजाये॥५॥ राजा दशरथजी ने सब ब्राह्मणों को बुला लिया और उन्हें दान, मान से परिपूर्ण कर दिया॥६॥ राजा ने उनके चरण-कमलों की रज को माथे चढ़ाया, उनकी आशिष पाकर प्रसन्न हुए॥७॥ गणेशजी का स्मरण करके प्रस्थान किया, (उस समय) अनेकों मंगल-मूल शकुन हुए।८॥ देवता प्रसन्न होकर फूल बरसा रहे हैं। अप्सराएँ गा रही हैं। राजा दशरथ डंका बजाकर आनन्द के साथ अवधपुर को चले॥३३९॥

विशेष—(१) बहु बिधि भूप...'—कन्याओं को वियोग से कातर जानकर समझाया कि ससुराल ही कन्याओं का अपना घर है, फिर वहाँ के लोग शीलवान् हैं, कोई कष्ट न होगा। हम शीघ्र बुला लेंगे।

तुम चार बहनें साथ हो, अनुकूल दासी-दास भी साथ जाते हैं। तुम चक्रवर्ती महाराज की पुत्र-वधू हो, वहाँ सब प्रकार के पूर्ण सुख हैं। तुम्हारा भाई जब तब तुम्हें देखने को जाया करेगा, इत्यादि। 'नारिधरम कुलरीति'''—'नारि-धर्म' पातिव्रत्य धर्म,—'कुलरीति'—सुशीलता, उदारता, गुरुजनों का आदर करना आदि। 'होहिं सगुन'—पुरवासी लोग स्वयं व्याकुल हैं, मंगल कौन करे? अतः, स्वयं शकुन मंगल होते हैं।

(२) 'दान-मान परि'''—मान पूर्वक दान से पूर्ण किया, या दान से और जो दान न लेनेवाले हैं, उन्हें मान से पूर्ण किया। 'सुर प्रसून बरषहिं'''—पुष्प-वृष्टि भी मंगल है, 'मुदित'—प्रस्थान में हर्ष होना मंगल है, पुनः पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ जाने से हर्ष है। फिर बहुत दिन हो गये, अवधपुरी छूटी थी, वहाँको आ रहे हैं, इससे भी हर्ष है। 'सुमिरि गजानन'''सगुन भये'—गणेशजी का स्मरण किया, इससे कामना-पूरक शकुन होने लगे।

नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥१॥
भूषन-बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥२॥
बार-बार बिरदावलि भाखी। फिरे सकल रामहिं उर राखी ॥३॥
बहुरि-बहुरि कोसलपति कहहीं। जनक प्रेमबस फिरै न चहहीं ॥४॥
पुनि कह भूपति बचन सुहाये। फिरिय महीस दूरि बड़ि आये ॥५॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेमप्रबाह बिलोचन बाढ़े ॥६॥
तब बिदेह बोले कर जोरी। बचन सनेह-सुधा जनु बोरी ॥७॥
करउँ कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई ॥८॥

दोहा—कोसलपति समधी सजन, सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर बिनय अति, प्रीति न हृदय समाति ॥३४०॥

शब्दार्थ—सजन=स्वजन।

अर्थ—राजा दशरथ ने प्रार्थना करके महाजनों को लौटाया और आदर-पूर्वक याचकों को बुलाया ॥१॥ सबको भूषण, वस्त्र, घोड़ा, हाथी दिये और प्रेमसे पोषण करके सबको खड़ा किया ॥२॥ वे सब बार-बार विरदावली वर्णन करके और श्रीरामजी को हृदय में रखकर लौटे ॥३॥ अवध-नरेश बार-बार लौटने को कहते हैं, पर जनकजी प्रेमवश फिरना नहीं चाहते ॥४॥ राजा ने फिर सुहावने वचन कहे—राजन्! बहुत दूर निकल आये, अब लौटिये ॥५॥ फिर राजा उतर कर खड़े हो गये, उनके दोनों नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा उमड़ चली ॥६॥ तब विदेहजी हाथ जोड़कर बोले, उनके वचन स्नेह-रूपी अमृत में मानों डुबाये हुए थे ॥७॥ मैं किस प्रकार बनाकर विनती करूँ? महाराज! आपने मुझे बड़ाई दी है ॥८॥ कोशलपति दशरथजी ने स्वजन समधी का सब प्रकार सम्मान किया, वह आपस का मिलना, अत्यन्त नम्रता और प्रीति हृदय में नहीं समाती ॥३४०॥

विशेष 'प्रेम-पोषि' अर्थात् प्रेम-युक्त वचन कहकर सब को रखा किया, क्योंकि वे लोग साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। 'विनय बनाई'—अर्थात् आपके गुण-गण अनन्त हैं, यथा—"बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा। बरनहि सब दसरथ गुन गाथा॥" (अ० दो० १७१); "दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (अ० दो० २०८)। अतः, मैं कितना भी बनाकर (युक्ति से) कहना चाहूँ तो नहीं कह सकता। 'मोहि दीन्हि बड़ाई' आपने इतने बड़े-चक्रवर्ती होकर मुझे समधी-भाव से बड़ाई दी, जिससे हम आपके तुल्य कहायँगे। 'मिलनि परस्पर विनय'''—दोनों तरफ से दोनों बातें हैं, पर जनकजी में 'विनय' और चक्रवर्ती जी में 'मिलन' प्रधान है। 'न हृदय समाति' अर्थात प्रीति अश्रु-रोमांच आदि के द्वारा प्रकट हो रही है।

मुनिमंडलिहि जनक सिर नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा ॥१॥
सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप-सील-गुन निधि सब भ्राता ॥२॥
जोरि पंकरुह-पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये ॥३॥
राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि-महेस-मन-मानस-हंसा ॥४॥
करहि जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी ॥५॥
व्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥६॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥७॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई ॥८॥

दोहा—नयनविषय मो कहँ भयेउ, सो समस्त-सुख-मूल।
सबइ लाभ जगजीव कहँ, भये ईस अनुकूल ॥३४१॥

अर्थ—राजा जनक ने मुनि मंडली को प्रणाम किया और सभी से आशीर्वाद पाया ॥१॥ फिर रूप, सील और गुणों के निधान सब भाई दामादों से आदर पूर्वक भेंटे (मिले) ॥२॥ सुन्दर कर कमलों को जोड़कर मानों प्रेम से पैदा हुए वचन बोले ॥३॥ हे राम! मैं किस प्रकार से आपकी प्रशंसा करूँ, आप तो मुनियों और महेशजी के मनरूपी मानससरोवर के हंस हैं ॥४॥ जिसके लिये क्रोध, मोह, ममता और मद त्यागकर योगी लोग योग-साधन करते हैं ॥५॥ जो ब्रह्म, व्यापक, अलक्ष्य, अविनाशी, चैतन्य, आनन्द-रूप, निर्गुण और गुणों की राशि है ॥६॥ जिसको मन सहित वाणी नहीं जान सकती, सभी अनुमान करनेवाले जिसकी विवेचना नहीं कर सकते ॥७॥ जिसकी महिमा का वर्णन वेद, 'न इति' ही कह-कहकर करता है। जो तीनों कालों (भूत, वर्त्तमान और भविष्य) में एक समान रहता है ॥८॥ वही समस्त सुखों का मूल मेरे नेत्रों का विषय हुआ, ईश्वर के अनुकूल होने से जीव को संसार में सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं ॥३४१॥

विशेष—(१) 'मुनि-महेश मन...'—मुनियों और महेश का मन निर्मल है, अतः, वहाँ आप सदा रहते हैं, जैसे हंस मानस सर में रहते हैं। 'कोह मोह ममता ..'—ये सब बड़े कष्ट से

छूटते हैं सब योगी लोगों की चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है तो फिर ब्रह्म में प्रवृत्ति होती है। 'निर्गुन' अर्थात् मायिक गुणों से परे और 'गुनरासी' अर्थात् दिव्यगुणों की राशि।

(२) 'मन समेत जेहि···' यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्यमनसा सह॥" (तैत्ति० २।४)। 'तरकि न सकहिं सकल···'—वह ब्रह्म अप्रमेय होने के कारण परिमित बुद्धि के अनुमान और तर्क में नहीं आ सकता। 'महिमा निगम नेति···'—वेद यद्यपि ब्रह्म-वाणी है तो भी आपकी अपरिमित महिमा को सम्पूर्ण करके कहने में असमर्थ हैं; अतः, 'न इति' अर्थात् 'यही नहीं', 'इतना ही नहीं' ऐसा कहकर, विवशता प्रकट करते हुए भी कहा करते हैं, क्योंकि यह उनकी भक्ति है, यथा—"हम तब सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)। 'जो तिहुँ काल एक रस अहई।' यथा—"तुम चहुँजुग रस एक राम···" (वि० २६६)। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता० ३।९)

(३) 'नयन विषय मोकहँ···'—'सो समस्त सुखमूल' यथा—"एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" (बृह० ४।३।३२) अर्थात् इसीके आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणी जीते हैं। तथा- 'जो आनन्द-सिंधु सुख रासी। सीकरते त्रैलोक सुपासी॥" (दो० १९६) वही मेरे नेत्रों का विषय हुआ। भाव जो औरों के मन-बुद्धि का भी विषय यथार्थ में नहीं है, वह मुझे प्रत्यक्ष है, यह 'ईश' अर्थात् परम समर्थ ईश्वर की अनुकूलता का फल है, यथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ० ।।२।२३)

(४) 'मानस हंसा'—उपमान, 'तरकि न सकहिं···'—अनुमान, 'निगम-कहई'—शब्द, 'नयन विषय' प्रत्यक्ष—इस प्रकार से यहाँ न्याय के चारो भेदों से श्रीरामतत्त्व विषयक स्तुति है।

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥१॥
होहिं सहस दस सारद सेखा। करहिं कलपकोटिक भरि लेखा ॥२॥
मोर भाग्य राउरि गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥३॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥४॥
बार-बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरइ चरन जनि भोरे ॥५॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे ॥६॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥७॥
बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥८॥

दोहा—मिले लखन रिपुसूदनहि, दीन्हि असीस महीस।
भये परसपर प्रेमबस, फिरि फिरि नावहिं सीस ॥३४२॥

बार-बार करि बिनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई ॥१॥

अर्थ—आपने मुझे सभी प्रकार से बड़ाई दी और अपना जन जानकर अपना लिया ॥१॥ यदि दशहजार भी शारदा-शेष हों और वे करोड़ों कल्पों तक लिखते रहें ॥२॥ तोभी, हे रघुनाथजी ! सुनिये, मेरा

भाग्य और आपके गुणों की कथा को कहकर पूरा नहीं कर सकते ॥३॥ मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अपने इस एक बल पर कि आप अत्यन्त थोड़े स्नेह से प्रसन्न होते हैं ॥४॥ मैं बार-बार हाथ जोड़कर यह वर माँगता हूँ कि मेरा मन आपके चरणों को भूलकर भी न छोड़े ॥५॥ प्रेम से मानों पोसे हुए श्रेष्ठ वचनों को सुनकर पूर्णकाम श्रीरामजी संतुष्ट हुए ॥६॥ और श्रेष्ठ प्रार्थना करके ससुर का सम्मान किया, उनको पिता, विश्वामित्र और वसिष्ठजी के समान जाना ॥७॥ फिर श्रीभरतजी से प्रार्थना की, प्रेम-सहित भेंट कर फिर असीस दी ॥८॥ राजा जनक लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी से मिले और असीस दी, आपस में प्रेमवश हो गये, अतः, फिर-फिर कर शिर नवाते हैं ॥३४२॥ बार-बार विनती और बड़ाई करके रघुनाथजी सब भाइयों को लिये हुए चले ॥१॥

विशेष—(१) 'तुम्ह रीझहु सनेहु सुठि थोड़े' यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३७)। 'सुनहु रघुनाथा'—'सुनहु' कहा, क्योंकि श्रीरामजी अपनी बड़ाई नहीं सुनते, यथा—"निजगुन श्रवण सुनत सकुचाहीं।" (अ० दो० ७५), यह सज्जनों का लक्षण है। 'एक बल मोरे' अर्थात् मुझे यह विश्वास है और मेरे पास यही एक वस्तु है भी। इसीकी पुष्टि के लिये आगे वर भी माँगते हैं कि मेरा मन चरणों से क्षण-भर भी पृथक् न हो, यही उत्तम स्नेह है। 'बार-बार माँगउँ'—बार-बार माँगते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सब कुछ तो शीघ्र ही दे देते हैं, पर भक्ति बहुत रीझने पर, फिर भी बहुत माँगने पर देते हैं, क्योंकि यह अति दुर्लभ है, यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यञ्जन जैसे॥" (उ० दो० ८४), 'मन परिहरइ चरन जनि'—अर्थात् इन चरणों में जनकजी का स्नेह है—"जाहि रामपद गूढ़ सनेहू।" (दो० १७) यहाँ उसकी अचलता माँगते हैं।

(२) 'करिबर बिनय ससुर...'—श्रीजनकजी को पिता के तुल्य माना, क्योंकि श्रीजानकीजी आपकी अर्द्धांगिनी हैं, ये उनके पिता हैं, तो श्रीरामजी के भी पिता-तुल्य हुए। विश्वामित्रजी के समान जाना, क्योंकि जैसे उन्होंने यज्ञ के सम्बन्ध से श्रीरामजी को प्राप्त किया, वैसे इन्होंने धनुषयज्ञ के द्वारा। वसिष्ठजी के समान जाना, क्योंकि जैसे वसिष्ठजी ने ज्ञान में अपना प्रेम गुप्त रक्खा, वैसे ही इन्होंने योग में—"जोग भोग महँ राखेउ गोई।" (दो० १७) "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी।" (दो० २१९)।

(३) 'पूरन काम राम परितोषे'—श्रीजनकजी के वचनों का उपक्रम—'बोले बचन प्रेम जनु जाये।' से है और उपसंहार—'प्रेम जनु पोषे' है; अतः, प्रेममय वचनों से श्रीरामजी परितुष्ट हुए, क्योंकि आप प्रेम ही के भूखे हैं; अतः, 'परितोषे' कहा। परितोषे से उपर्युक्त वर का देना भी सूचित किया, माधुर्य-दृष्टि से प्रकट में वर नहीं दिया। 'पूरन काम'—यद्यपि श्रीरामजी और बातों से पूर्ण-काम हैं, तो भी प्रेम से भूखे की तरह परितुष्ट हुए।

'फिरि-फिरि नावहिं सीस'—यहाँ प्रथम तो लक्ष्मण-शत्रुघ्न से मिले और असीस दी, फिर अत्यन्त प्रेम-वश होने पर परस्पर यही व्यवहार बार-बार होने लगा; अर्थात् राजा बार-बार मिलते और असीस देते हैं और ये दोनों बार-बार प्रणाम करते हैं। यहाँ मिलना तीन रीतियों से हुआ—श्रीरामजी से हाथ जोड़कर विनती की और इन्होंने उत्तर में—'करि बर बिनय ससुर सनमाने' अर्थात् सम्मान ही किया, इनका प्रणाम करना नहीं कहा गया, अतः, इनसे पूर्ण ऐश्वर्य-दृष्टि से मिले। श्रीभरतजी से विनती की, फिर असीस भी दी, अतः, ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रक्खे। श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में केवल माधुर्य मात्र है, इनसे विनती नहीं की।

चारो भाइयों के प्रसंग में प्रेम-पूर्ण रहा—श्रीरामजी की स्तुति में प्रेम-पूर्णता ऊपर कही गई । श्रीभरतजी में—'मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्हीं ।' श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में—'भये परसपर प्रेम बस ।' कहा है ।

(४) 'बार-बार करि बिनय'' '—जैसे श्रीरामजी ने 'बर बिनय' की है, वैसे इन तीन भाइयों ने भी विनय और बड़ाई की है ।

जनक गहे कौसिकपद जाई । चरनरेनु सिर नयनन्हि लाई ॥२॥
सुनु मुनीसबर दरसन तोरे । अगम न कछु प्रतीति मन मोरे ॥३॥
जो सुख सुजस लोकपति चहहीं । करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥४॥
सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी । सब सिधि तव दरसन-अनुगामी ॥५॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिर नाई । फिरे महीस आसिषा पाई ॥६॥
चली बरात निसान बजाई । मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥७॥
रामहिं निरखि ग्राम - नर - नारी । पाइ नयनफल होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—बीच बीच बर बास करि, मगलोगन्ह सुख देत ।
अवध समीप पुनीत दिन, पहुँची आइ जनेत ॥३४३॥

अर्थ—श्रीजनकजी ने जाकर श्रीविश्वामित्रजी के चरण पकड़े और उनके चरणों की धूल शिर और नेत्रों में लगाई ॥ २ ॥ हे मुनीश्वर ! सुनिये, आपके श्रेष्ठ दर्शनों से कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ऐसा मेरे मन में विश्वास है ॥ ३ ॥ जो सुख और सुयश लोकपाल चाहते हैं, पर मनोरथ करते हुए भी सकुचते हैं ॥ ४ ॥ हे स्वामिन् ! वही सुख और सुयश मुझे सुगमता से प्राप्त हो गया, क्योंकि सब सिद्धियाँ आपके दर्शनों की अनुगामिनी (पीछे-पीछे चलनेवाली) हैं ॥ ५ ॥ इस तरह बार-बार प्रार्थना की और फिर-फिर प्रणाम कर आशीर्वाद पा राजा लौटे ॥६॥ बरात डंका बजाकर चली, छोटे और बड़े सभी समुदाय प्रसन्न हैं ॥ ७ ॥ (मार्ग में) ग्रामों के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी को देखकर नेत्रों का फल पाकर सुखी होते हैं ॥ ८ ॥ बीच-बीच में श्रेष्ठ निवास करती हुई और मार्ग के लोगों को सुख देती हुई जनेत (बरात) अवधपुरी के समीप पवित्र दिन पर आ पहुँची ॥ ३४३ ॥

विशेष—(१) 'जो सुख सुजस लोक'-ब्रह्म रामजी हमारे दामाद हों, यह अलभ्य सुख है, पुनः वे हमारे हाथों से दान लें, यह सुयश भी परम दुर्लभ है, इसकी इन्द्र आदि देवता लालसा करते हुए भी सकुचते हैं । 'सुख' यथा "सुख बिदेहकर बरनि न जाई ।" (दो० १८५), "सुख-मूल दूलह देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हियो ।" (दो० ३२३), 'सुजस' यथा—"बिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कलकीरति नई" (दो० ३२३) विश्वामित्रजी सबसे प्रथम आये थे और सबसे पीछे विदा हुए, क्योंकि ये ही इस आनन्द उत्सव के मूल हैं, यथा—" यह सब सुख मुनिराज तब कृपा कटाच्छ प्रसाद ॥" (दो० ३३१) (२) 'चली बरात निसान'''-श्रीजनकजी आगे से मिलते

हुए पीछे लौटते आ रहे हैं, इससे बरात के चलने का क्रम भी सूचित किया है कि आगे चक्रवर्तीजी हैं, उनके साथ मुनिमंडली है, फिर भाइयों के साथ रामजी हैं, तब विश्वामित्रजी और उनके पीछे बरात है। 'छोट-बड़ सब समुदाई' में बराती, सेवक, वाहन सभी आ गये। (३) 'बीच बीच बर बास, यथा—"बीच बीच बरवास बनाये। सुरपुर सरिस" (दो० ३०२)।

हने निसान पनव बर बाजे। भेरि-संख-धुनि हय गय गाजे ॥१॥
झाँझि बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥२॥
पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥३॥
निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे ॥४॥
गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ तहँ चौकें चारु पुराई ॥५॥
बना बजार न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥६॥
सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥७॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कल करनी ॥८॥

दोहा—बिबिध भाँति मंगलकलस, गृह-गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब, रघुबर-पुरी निहारि ॥३४४॥

शब्दार्थ—भेरि = नगारा, तुरही; नफीरी। डिंडिमी = डुगडुगिया या डुग्गी नाम का बाजा। आलबाल = थाला।

अर्थ—नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं; श्रेष्ठ ढोल बजने लगे, भेरी और शंख की ध्वनि हो रही है, हाथी, घोड़े गरज रहे हैं ॥१॥ झाँझ, वीणा और डुगडुगियाँ सोह रही हैं, रसीले राग में शहनाइयाँ बज रही हैं ॥ २ ॥ बरात को आती हुई सुनकर पुरवासी आनन्दित हैं, सबके शरीर में पुलकावलि हो रही है ॥३॥ उन्होंने अपने-अपने सुन्दर घरों, बाजारों, मार्गों, चौराहों और नगर के बाहरी फाटकों को सजाया ॥४॥ सब गलियों को अरगजे से सिँचाया, जहाँ-तहाँ सुन्दर चौकें पुराई गईं ॥५॥ बन्दनवार, ध्वजा, पताका और चन्दोवों से बाजार ऐसा सजा हुआ है कि वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ६ ॥ फलदार सुपारी, केले, आम, मौलसिरी, कदम्ब और तमाल के वृक्ष लगाये गये ॥ ७ ॥ वे लगे हुए सुन्दर वृक्ष पृथिवी को (फलों के भार से झुके हुए) छू रहे हैं, उनके थाले मणिमय हैं जो सुन्दर कारीगरी से बने हैं ॥ ८ ॥ घर घर अनेकों प्रकार के मंगल कलश सजाकर रचे गये हैं, श्रीरघुवर श्रीरामजी की श्रेष्ठ पुरी को देखकर ब्रह्मा आदि देवता सिहाते हैं ॥ ३४४ ॥

विशेष—(१) 'हने निसान पनव...'—पूर्व—"लागी जुरन बरात" से—"येहि बिधि कीन्हि बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना ॥" (दो० ३११-३०२); तक जो विधि कही गई, वैसे ही यहाँ से भी चली। 'झाँझि बिरव...'—प्रथम ऊँचे स्वर के बाजे कहे गये, यहाँ झाँझ आदि से मधुर ध्वनि के बाजे कहते हैं। शहनाई को अन्त में कहकर उसमें मिलकर इन झाँझ आदि का बजना जनाया। 'पुरजन आवत अकनि...'—इनका ही प्रसंग अगले दोहे तक है। 'गली सकल अरगजा...'—यथा

—"बीथी सींची चतुर सम, चौकें चारु पुराइ।" (दो० २११)। 'सकल' अर्थात् जिधर से होकर बरात आवेगी, वही पथ नहीं, किन्तु सब गलियाँ सिंचाई गईं। 'सफल पूगफल...'—'लगे सुभग तरु ...'— फले-फूले हुए बड़े-बड़े पेड़ तुरत नहीं लगते, पर यहाँ श्रीरामजी के प्रभाव से 'परसत धरनी' लग गये, मानों वहीं पूर्व ही से लगे हुए हैं। पहले 'सफल' कहा था, फिर इन्हें ही 'सुभग' कहकर जनाया कि फलों के अतिरिक्त ये फूलों और पल्लवों से भी सुहावने हैं। 'सफल' लगाये जिससे चारो जोड़ियाँ फूलें-फलें।

भूपभवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदनमन मोहा॥१॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई॥२॥
जनु उछाह सब सहज सुहाये। तनु धरि-धरि दसरथ-गृह आये॥३॥
देखन हेतु रामवैदेही। कहहु लालसा होहि न केही॥४॥
जूथ-जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिं मदनबिलासिनि॥५॥
सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिं जनु बहु बेष भारती॥६॥
भूपति-भवन कोलाहल होई। जाइ न बरनि समय सुख सोई॥७॥
कौसल्यादि राम - महतारी। प्रेमबिबस तन - दसा बिसारी॥८॥

दोहा—दिये दान बिप्रन्ह बिपुल, पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु, पाइ पदारथ चारि॥३४५॥

अर्थ—उस समय राजा का महल ऐसा सोह रहा है कि उसकी रचना देखकर कामदेव का मन मोहित हो जाता है॥१॥ मंगल, शकुन, मनोहरता, ऋद्धि, सिद्धि, सुख और सुहावनी सम्पदा॥२॥ मानों सभी सहज ही सुन्दर उत्साह शरीर धर-धरकर दशरथजी के घर आये हैं॥३॥ श्रीरामजी और वैदेही श्रीसीताजी के दर्शनों के लिये, कहिये तो भला, किसे लालसा न होगी?॥४॥ झुंड-झुंड मिलकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ चलीं, वे अपनी छवि से कामदेव की विलासिनी (स्त्री) रति का निरादर कर रही हैं॥५॥ सभी समस्त मंगलों के साथ आरती सजे हुए गा रही हैं, मानों सरस्वती बहुत वेष धारण किये हुए (गा रही) हैं॥६॥ राजा के महल में कोलाहल हो रहा है, उस समय का सुख कहा नहीं जा सकता॥७॥ श्रीरामजी को कौशल्या आदि सब माताएँ प्रेम के विशेष वश होने से शरीर की सुधि भूल गईं॥८॥ गणेशजी और शिवजी की पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत-से दान दिये, और वे परम आनन्दित हुईं, जैसे परम दरिद्र चारो पदार्थ पाकर॥३४५॥

विशेष—'भूपभवन तेहि ...'—ऊपर 'रघुबर पुरी निहारि' ब्रह्मादि देवताओं का सिहाना कहा और यहाँ राजमहल की रचना पर काम का मोहना कहकर इसे श्रेष्ठ जनाया। पूर्व कहा गया था— "भूपभवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना॥" (दो० २११); यहाँ उसकी रचना पर विश्व-विजयी काम का भी मोहित होना कहकर विशेषता दिखाई, क्योंकि अब चारो दूलह दुलहिनों के साथ आकर विराजेंगे। 'बहुबेष भारती'—शुद्ध उच्चारण एवं मधुर स्वर के लिये सरस्वती की उपमा है।

'कोलाहल'—सुवासिनियों के गान और बाजों के शब्द से अपना पराया नहीं सुन पड़ता, अतएव को इन बातों से सुख हो रहा है। माताओं को परिछन में आगे चलना चाहिये, पर वे प्रेम के विशेष वश होने से देह-सुधि ही भूल गई हैं। 'परम दरिद्रजनु'''—परम दरिद्र दुःख की सीमा है, यथा—"नहि दरिद्र सम दुख जगमाहीं॥" (उ० दो० १२०); और वह अचानक एक साथ ही चारो फल पा जाय यह सुख की सीमा है।

मोद-प्रमोद-बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥१॥
रामदरस-हित अति अनुरागीं। परिछन साज सजन सब लागीं ॥२॥
बिबिध बिधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे ॥३॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला ॥४॥
अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ॥५॥
छुहे पुरटघट सहज सुहाये। मदन सकुन जनु नीड़ बनाये ॥६॥
सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी ॥७॥
रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना ॥८॥

दोहा—कनकथार भरि मंगलन्हि, कमल-करन्हि लिये मात।
चलीं मुदित परिछन करन, पुलकपल्लवित गात ॥३४६॥

शब्दार्थ—अंकुर = जव, चना आदि के अंकुर मंगल माने जाते हैं। रोचन = एक पीले रंग का सुगंधित द्रव्य, जो गाय के हृदय के पास पित्त से निकलता है अष्टगंध में है पवित्र एवं मांगलिक है, यथा—"चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।" (गी० बा० १०), कहा जाता है कि गाय के कान में स्वाती नक्षत्र का जल-बिन्दु पड़ने से गोरोचन होता है। रोचन = रोरी (भी अर्थ है)।

अर्थ—सब माताएँ मोद-प्रमोद के विशेष वश हो गईं, उनके शरीर शिथिल हो गये; इससे चरण नहीं चलते ॥१॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये अत्यन्त अनुराग में भर गईं, सभी परिछन के साज सजने लगीं ॥२॥ अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, सुमित्राजी ने आनन्द के साथ मंगल साज सजाये ॥३॥ हल्दी, दूर्वादल, दही (गाय का) पल्लव (आम आदि के), फूल, पान, सुपारी आदि मंगल मूलक वस्तुएँ ॥४॥ अक्षत (धोये चावल), अंकुर, गोरोचन, धान की खीलें और सुन्दर मंजरी युक्त तुलसी सुशोभित हैं ॥५॥ छुहे (ऐपन से पोते और गोंठे) हुए सोने के कलश स्वाभाविक ही सुंदर हैं, मानों कामदेव (रूपी पक्षी) ने घोंसले बनाये हैं ॥६॥ शकुन, सुगंध (गुलाब, केवड़ा, चन्दन, कपूर आदि) बखाने नहीं जा सकते, सब रानियाँ समस्त मंगल सजा रही हैं ॥७॥ बहुत प्रकार की आरतियाँ रची हैं और आनंद सहित सुंदर मंगल गीत गा रही हैं ॥८॥ सोने थ मंगलों से भरकर माताएँ कमल के समान हाथों में लिये हुए आनंद पूर्वक परछन करने चलीं, उनके शरीर पुलक से फूले (रोयें खड़े) हुए हैं ॥ ३४६ ॥

विशेष—(१) 'मोद-प्रमोद बिबस···'(क) पुत्रों के देखने को मोद (आनन्द) है और नई दुलहिनों के देखने के लिये प्रमोद (प्रकर्ष-आनन्द) है। (ख) अधिकता दिखाने को भी दोनों शब्द एक साथ आते हैं, यथा—"आनंद महँ आनंद अवध०" (गी० बा० २)।

(२) 'राम-दरस हित अति अनुरागीं' यथा—"सबके उर निर्भर हरप, पूरित पुलक सरीर कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन ··" (दो० ३००)।

(३) 'मंगल मुदित सुमित्रा साजे'—मंगल सजाने एवं चौक पूरने में श्रीसुमित्राजी प्रवीण थीं, इससे प्रायः जहाँ-तहाँ इन्हीं का नाम आता है, यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरी।" (अ० दो० ७)।

(४) 'मदन सकुन जनु नीड़ बनाये'—सोने के घड़े ऐसे बने हैं कि (पेट बड़े मुँह छोटे) जिन्हें देखकर काम पक्षी बनकर उनमें इस डर से छिप बैठा है कि श्रीराम-जानकी की सुंदरता के आगे हम फीके पड़ जायँगे। पाठान्तर 'सकुचि' भी है, इसमें अर्थ होगा कि उन घड़ों में काम (पक्षी) सकुचकर छिपा बैठा है, हेतु उपर्युक्त ही है, परन्तु इसमें अध्याहार से पक्षी को लाना क्लिष्ट कल्पना हो गई। 'आरती बहुत बिधाना'—आरती मणियों और पुष्पों की, कपूर की, दीपबत्तियों की, इन बत्तीवाली में भी समबत्ती ४, ६, ८ की, दूसरी विषमबत्ती ३, ५, ७, इत्यादि की होती है तथा और भी बहुत-से विधान पाये जाते हैं।

धूपधूम नभ मेचक भयेऊ। सावन घनघमंड जनु ठयेऊ ॥१॥
सुरतरु-सुमन-माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मन करषहिं॥२॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु-चाप सँवारे ॥३॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ॥४॥
दुंदुभिधुनि घनगरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा ॥५॥
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर-नर-नारी ॥६॥
समय जानि गुरु आयसु दीन्हा। पुर-प्रवेस रघुकुल-मनि कीन्हा ॥७॥
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा ॥८॥

दोहा—होहिं सगुन बरषहिं सुमन, सुर दुंदुभी बजाइ।
बिबुधबधू नाचहिं मुदित, मंजुल मंगल गाइ ॥३४७॥

शब्दार्थ—ठयेऊ (ठानेऊ)=ठहर गये, छा गये। घमंड=घुमड़कर। पाकरिपु=इन्द्र। ससि (सस्य)=खेती-बारी।

अर्थ—धूप के धुएँ से आकाश ऐसा काला हो गया कि मानों सावन के बादल घुमड़कर छा गये हैं ॥१॥ देवता लोग कल्पवृक्ष के फूलों की मालाएँ बरसा रहे हैं, वे मानों बगुलों की पाँत हैं, जो (शोभा से) मन को खींच लेती हैं ॥२॥ सुंदर मणियों से युक्त बन्दनवारें ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों इन्द्र धनुष सजाये गये हैं ॥३॥ स्त्रियाँ अटारियों पर प्रकट होती और छिपती हैं, मानों सुन्दर चपल

बिजलियाँ दमक रही हैं ।।४।। नगाड़ों की ध्वनि बादलों का घोर गर्जना है। चातक, मेढक और मोर भिक्षुक हैं ।।५।। देवता पवित्र सुगंध की जल-वृष्टि कर रहे हैं, खेती रूपी नगर के सभी स्त्री-पुरुष सुखी हैं ।। ६ ।। समय (मुहूर्त्त) जानकर गुरु ने आज्ञा दी, तब रघुकुल-शिरोमणि दशरथजी ने पुर में प्रवेश किया ।। ७ ।। श्रीशिवजी, पार्वतीजी और गणेशजी का स्मरण करके राजा समाज के साथ आनन्दित हैं ।। ८ ।। शकुन हो रहे हैं, देवता नगाड़े बजाकर फूल बरसा रहे हैं, देवताओं की स्त्रियाँ आनंद पूर्वक सुन्दर मंगल गान गाकर नाच रही हैं ।।३४७।।

विशेष—(१) 'धूप-धूम नभ'''—यहाँ से वर्षा का पूरा रूपक बाँधते हैं, वर्षा में मेघ मुख्य हैं ; अतः, प्रथम कहा श्रावण के मेघ काले होते भी हैं। 'बलाक अवलि' अर्थात् कल्प-वृक्ष के फूल श्वेत होते हैं, क्योंकि बगुले श्वेत होते और पंक्ति बाँधकर उड़ते हैं।

(२) 'मनहुँ पाक रिपु चाप '''—इन्द्र-धनुष में सात रंग माने जाते हैं ; अतः, इस उपमा से वन्दन-वारों को रंग-बिरंग की मणियों से युक्त होना सूचित किया। चाप शत्रु के लिये सवाँरा जाता है,इसलिये इन्द्र का 'पाकरिपु' (पाक नामक दैत्य के शत्रु) नाम दिया गया है। यथा—"जनु इन्द्र-धनुष अनेक की बर-बारि तुंग तमाल ही।" (छं० दो० ११) यहाँ रूपक में कहा गया है, पर इसका देखना और दिखाना निषेध है, इसीसे किष्किंधाकांड के वर्षा-वर्णन में नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ देखने और दिखाने का प्रसंग है।

(३) 'प्रगटहिं दुरहिं अटनि पर''''—स्त्रियाँ कोठों पर शीघ्रता से इधर-उधर आती जाती हैं, उनके कांति-युक्त गौर-अंग जंगलों से बिजली की चमक की तरह दिखाई देकर तुरत छिप जाते हैं, या वे जंगलों से झाँक-झाँक कर छिप जाती हैं।

'दुदुंभि धुनि घन गर्जनि''''—बिजली दमकने के साथ ही गर्जन भी कहते हैं। पर्वताकार हाथियों पर ऊँटों पर नगाड़े बज रहे हैं, वे ही गर्जन हैं। जो याचक श्रीराम-रूप के अनन्य हैं, उन्हीं के विरुद कहते और निछावर चाहते हैं, वे चातक रूप हैं, जो जय जयकार करते हैं, वे मेढक हैं, और जो आनन्द से भरे नृत्य कर रहे हैं, वे मोर हैं। इनमें मागध, सूत, बंदी और नट सब आ जाते हैं।

(४) 'सुर-सुगंध सुचि '''—देवता जल बरसाते हैं, यथा—"देव न बरषहिं धरनि पर"(द०दो० १०१); वैसे यहाँ देवता लोग सुगंधों की वर्षा कर रहे हैं, मानो वर्षा हो रही है। वर्षा से खेती हरी-भरी होती है, वैसे ही यहाँ पुर नर-नारी सुखी हैं।

(५) 'सुमिरि शंभु गिरिजा'''—श्रीअवध से बरात चलने के समय कहा गया है,—"आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस।" (दो० ३०१) यहाँ पुनः प्रवेश में भी वही स्मरण विधि है, गुरु का स्मरण उनकी आज्ञा पाकर चलने में है। 'होहिं सगुन'—शकुन भी यात्रा समय में विस्तार से कहे गये हैं, उन्हें ही यहाँ भी जानिये।

मागध सूत बंदि नट नागर । गावहिं जसु तिहुँ लोक उजागर ।।१।।
जयधुनि बिमल बेद-बर-बानी । दस दिसि सुनिय सुमंगल सानी ।।२।।
बिपुल बाजने बाजन लागे । नभ सुर नगर लोग अनुरागे ।।३।।
बने बराती बरनि न जाहीं । महामुदित मन सुख न समाहीं ।।४।।

पुरबासिन्ह तब राय जोहारे। देखत रामहिं भये सुखारे ॥५॥
करहिं निछावरि मनिगन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा ॥६॥
आरति करहिं मुदित पुरनारी। हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी ॥७॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सबही देत सुख, आये राजदुआर।
मुदित मातु परिछन करहिं, बधुन्ह समेत कुमार ॥३४८॥

अर्थ—मागध, सूत, वन्दी और चतुरनट दोनों लोकों में प्रसिद्ध यश गा रहे हैं ॥ १ ॥ जयध्वनि और निर्मल श्रेष्ठ वेद की ध्वनि सुन्दर मंगलों से सनी हुई दशों दिशाओं में सुनी जाती है ॥२॥ बहुत-से बाजे बजने लगे, आकाश में देवता और नगर के लोग प्रेम में मग्न हो गये ॥ ३ ॥ बराती ऐसे बने (सजे-धजे) हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता, वे मन में बड़े आनंदित हैं, सुख हृदय में नहीं समाता ॥ ४ ॥ तब पुरवासियों ने राजा को शिर झुकाया, श्रीरामजी को देखते ही सुखी हुए ॥ ५ ॥ मणियाँ और वस्त्र न्योछावर कर रहे हैं, नेत्रों में जल है और शरीर पुलकित है ॥ ६ ॥ पुर की स्त्रियाँ आनन्दित मन से आरती कर रही हैं, चारों सुंदर कुमारों को देखकर प्रसन्न हो रही हैं ॥ ७ ॥ सुंदर पालकी के सुंदर परदे उठा-उठाकर दुलहिनों को देख प्रसन्न होती हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकार सभी को सुख देते हुए राजकुमार बहुओं के साथ राजद्वार पर आये, माताएँ आनंद-पूर्वक उनका परिछन करने लगीं ॥ ३४८ ॥

विशेष—'जस तिहुँलोक उजागर'—श्रीरामजी का और श्रीचक्रवर्तीजी का यश, यथा—"महि पाताल नाक यश व्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४); "त्रिभुवन तीनिकाल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥" (अ० दो० १)। 'बिपुल बाजने'-पूर्व बाजों के नाम कहे गये हैं। 'करहिं आरती'···ऊपर पुरुषों का निछावर करना कहा और यहाँ स्त्रियों का आरती करना है। द्वार-द्वार पर स्त्रियाँ आरती सजे खड़ी हैं, राजा धीरे-धीरे आ रहे हैं; अतः, सर्वत्र आरती होती जाती है। 'मुदित मातु परिछन'—बाहर मार्ग में कुमार और बधुएँ भिन्न-भिन्न सवारियों पर आये, परन्तु राजद्वार के समीप आने पर एक साथ वर-दुलहिन सवार हुए, इसी से 'बधुन्ह समेत कुमार' का एकत्र परिछन लिखा है।

करहिं आरती बारहिं बारा। प्रेम प्रमोद कहइ को पारा ॥१॥
भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित भाँती ॥२॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंद - मगन महतारी ॥३॥
पुनि-पुनि सीयराम - छबि देखी। मुदित सुफल जग-जीवन लेखी ॥४॥
सखी सीयमुख पुनि-पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही ॥५॥
बरषहिं सुमन छनहिं छन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा ॥६॥

देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी ।७॥
देत न बनहिं निपट लघु लागी। एकटक रहीं रूप अनुरागी ॥८॥

दोहा—निगमनीति कुलरीति करि, अरघ पाँवड़े देत।
वधुन्ह सहित सुत परिछि सब, चलीं लिवाइ निकेत ॥३४९॥

अर्थ—बार-बार आरती करती हैं, उस प्रेम और प्रमोद को कौन कह सकता है ? ॥१॥ अगणित प्रकार से अनेक जातियों के भूषण, मणि और वस्त्र न्योछावर करती हैं ॥२॥ बहुओं के साथ चारो पुत्रों को देखकर माताएँ परम आनन्द में मग्न हैं ॥३॥ श्रीसीतारामजी की छवि को फिर-फिर देख अपने जीवन को संसार में सफल मानकर सुखी हैं ॥४॥ सखियाँ श्रीसीताजी के मुख को बार-बार देखकर अपने पुण्यों की सराहना करके गान कर रही हैं ॥५॥ क्षण क्षण पर देवता फूल बरसाते हैं और नाचते-गाते हुए अपनी सेवा पहुँचाते हैं ॥६॥ चारों मन हरनेवाली जोड़ियों को देखकर सरस्वती ने सब उपमाएँ खोज डालीं ॥७॥ पर कोई उपमा देते न बना, सभी एकदम तुच्छ जान पड़ीं, (तब हारकर) इन्हीं के रूपों को एकटक अनुराग पूर्वक देखती रह गई ॥८॥ वेद-विधान और कुल रीति करके अर्घ पाँवड़े देती हुई सब पुत्रों को बहुओं के साथ परिछन करके घर लिवा ले चलीं ॥३४९॥

विशेष—'करहिं आरती बारहिं...'—विविध-विधान की आरती रची गई हैं ; अत , करने में 'बारहिं बारा' कहा गया। परिछन की उत्सुकता में 'मोद-प्रमोद बिबस ' कहा गया था, यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन होने पर अपार 'प्रेम-प्रमोद' हुआ। पुरवासियों को आनन्द हुआ, माताओं को 'परमानद मगन' कहा गया। 'सीयराम-छबि' को 'पुनि पुनि' देखना कहकर इन्हें तीन जोड़ियों की अपेक्षा अधिक सुखसागर जनाया, यथा— चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (दो० १९७), पुन इस जोड़ा में श्रीसीताजी को उत्तमतर देखकर सखियाँ इनको फिर-फिर देखती हैं। अत ,—'सखी सीय मुख पुनि पुनि चाही।' कहा है। 'एकटक रहीं रूप '—जब कहीं उपमा योग्य न मिली, तब मुग्ध होकर इन्हीं को देखती रह गईं कि इनके समान बस ये ही हैं। 'अनुरागी'-प्रीतिपूर्वक देखती ही रह गई। 'निगम नीति कुल रीति ···'—वसिष्ठजी ने वेद-रीति कराई और कुल-वृद्धों ने कुल रीतियाँ कराई।

चारि सिंहासन सहज सुहाये। जनु मनोज निज हाथ बनाये ॥१॥
तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे। सादर पाय पुनीत पखारे ॥२॥
धूप दीप नैवेद वेद-बिधि। पूजे बर-दुलहिनि मंगलनिधि ॥३॥
बारहिं बार आरती करहीं। ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं ॥४॥
बस्तु अनेक निछावरि होहीं। भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥५॥
पावा परमतत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥६॥

जनमरंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचनलाभ सुहावा ॥७॥
मूकबदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई ॥८॥

दोहा—येहि सुख ते सत-कोटि-गुन, पावहिं मातु अनंद।
भाइन्ह सहित बिआहि घर, आये रघुकुल चंद ॥
लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिनि सकुचाहिं।
मोद बिनोद बिलोकि बड़, राम मनहिं मुसुकाहिं ॥३५०॥

अर्थ—सहज ही सुन्दर चार सिंहासन हैं, मानों कामदेव ने उन्हें अपने हाथों से बनाया है ॥१॥ उनपर कुमारों और कुमारियों को बैठाया और आदर-पूर्वक उनके पवित्र चरण धोये ॥२॥ वेद-रीति के अनुसार मंगल के निधान दूलहों और दुलहिनों की धूप-दीप-नैवेद्य आदि से पूजा की ॥३॥ बार-बार आरती कर रही हैं, सुन्दर पंखे और चँवर शिर पर डुलाये जा रहे हैं ॥४॥ अनेक वस्तुएँ निछावर हो रही हैं, परम आनंद में भरी हुई सब माताएँ सुशोभित हैं ॥५॥ मानों योगी ने परम-तत्त्व पाया, या, जन्म के रोगी को अमृत मिला ॥६॥ जन्म के दरिद्र ने पारस पाया, अंधे को सुन्दर नेत्रों का लाभ हुआ ॥७॥ गूँगे के मुख में (जिह्वा पर) सरस्वती आ बसी, अथवा मानों लड़ाई में शूरवीर ने जय पाई ॥८॥ इन सुखों से सौ करोड़ गुने सुख माताएँ पा रही हैं। रघुकुल के चन्द्र श्रीरामजी भाइयों के साथ ब्याह करके घर आये ॥ माताएँ लोक-रीति करती हैं और वर-दुलहिनें सकुचते हैं, इस बड़ी आनन्द-क्रीड़ा को देखकर श्रीरामजी मन ही में मुसकराते हैं ॥३५०॥

विशेष—(१) 'सहज सुहाये'—इनकी स्वाभाविक रचना ही सुंदर है, सजाने की आवश्यकता नहीं। "सादर पाय पुनीत..." से—"आरती करहीं ॥" तक षोडशोपचार पूजा जनाई। 'सादर'—इन्हीं चरणों से परम पावनी गंगाजी भी प्रकट हुई हैं एवं अहल्या तरी है, इत्यादि महत्त्व-दृष्टि से माताएँ और भी प्रेम-पूर्वक धोती हैं। यहाँ देव-पूजन की रीति से आरती की गई। 'वेद-विधि' अर्थात् वेदोक्त मंत्रों के साथ पूजा की गई : 'मंगल-निधि'—मंगल के लिये मंगल-निधि की पूजा की गई। 'ब्यजन चारु...'—पंखे के संबंध से वैशाख मास सूचित किया, क्योंकि बरात कार्तिक में जनकपुर पहुँची, अगहन में ब्याह हुआ, पूस, माघ, फागुन पहुनाई में बीत गये, चैत में विदाई होती ही नहीं ; अतः वैशाख में सब लौट आये, इसीमें पंखों की आवश्यकता हुई। 'भरी प्रमोद मातु...' पूर्व कहा था—'प्रेम प्रमोद कहइ को पारा।' उसी दशा को एक रस दिखाते हुए भरी प्रमोद कहा है।

(२) 'पावा परम तत्त्व ..'—जबसे श्रीराम-लक्ष्मणजी विश्वामित्रजी के साथ गये, तबसे कौशल्या आदि माताएँ दुःखी रहती थीं, अब चारों भाई दुलहिनों के साथ आये, तो उस दुःख की निवृत्ति और इस सुख की प्राप्ति को ग्रन्थकार दृष्टान्तों से कहते हैं जैसे योगी लोग परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये दुःख से चिन्तवन करते रहते हैं और उसकी प्राप्ति पर सुखी होते हैं, उसी तरह माताएँ श्रीरामजी के लिये सदा दुःख से चिन्तवन करती थीं ; अतः, दुलहिनों के साथ श्रीराम आदि की प्राप्ति से इन्हें योगियों से सौ करोड़ गुने आनंद हुआ, क्योंकि श्रीरामजी परम तत्त्व रूप हैं, यथा—"जोगिन्ह

परम तत्त्व मय भासा।" (दो० २३१)। 'अमृत लहेउ जनु ...'—दूसरी उपमा रोगी की दी, माताएं पुत्र-मोह-रूप मानस-रोग (आधि) से रोगी की तरह दुःखी थीं, इन्हें खाना-पीना नहीं सुहाता था— "सरुज सरीर बादि बहु भोगा" (अ० दो० १७७) कहा ही है। जब अमृत-रूप श्रीराम आदि के दर्शन हुए, यथा—"द्रुवा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥" (दो० २२५) तब वह दुःख निवृत्त हुआ और रोगी से सौ करोड़ गुने सुख की प्राप्ति हुई। 'जनम रंक जनु पारस पावा।'—यह तीसरी उपमा परम दरिद्र की है। दरिद्री द्रव्य-हीन होने से खाने-पहनने से दुःखी रहता है। उसे यदि पारस प्राप्त हो गया, तो खाने पहनने का पूर्ण सुख प्राप्त हो गया। उसी तरह माताओं को श्रीरामजी के विरह में खाना-पहनना नहीं सुहाता था, दरिद्र की-सी दशा में रहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि ऋषि लोगों के साथ श्रीरामजी कंद-मूल आदि ही खाते होंगे। जब श्रीरामजी आकर प्राप्त हुए, तब सब सुख माताओं को पुनः प्राप्त हुआ, जैसे दरिद्र को पारस की प्राप्ति से हो। 'अंधहिं लोचन लाभ सुहावा'—यह चौथी उपमा है। माताएँ श्रीरामजी के वियोग में दुःखी बैठी रहती थीं, अंधे की तरह बुद्धि से कोई बात नहीं सूझती थी, जब नेत्र रूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तब सब सूझ हो गई, चलने फिरने लगीं। इन्हें उस अंधे से शत कोटि गुण सुख मिला। नेत्र रूप श्रीरामजी हैं; यथा—"निज कर नयन कादि चह दीखा।" (अ० दो० ४६)। 'मूक बदन जनु सारद छाई'—यह पाँचवीं उपमा है, श्रीराम-वियोग में माताएँ गुमसुम बैठी रहती थीं; किसी से बोलना नहीं सुहाता था, जब श्रीरामजी आ गये, तब उनसे बोलने लगीं और इससे जो सुख हुआ वह गूँगे को सरस्वती की प्राप्ति से शत-कोटि गुण है, यहाँ श्रीरामजी शारदा-रूप हैं, यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई।" (उ० दो० ९१) 'मानहु समर सूर जय पाई'—यह छठी उपमा है। शूर-वीर प्रथम प्राण अर्पण करके समर करता है, संग्राम से विजय के साथ प्राण सुरक्षित पाकर अत्यन्त सुखी होता है। वैसे ही माताओं ने प्राण-रूप पुत्रों को ताड़का, मारीच आदि से संग्राम के लिये दिया था। इसीसे माताओं की उपमा शूर की है। इन्हें विजय-रूपा श्रीजानकीजी के साथ प्राण-रूप पुत्र सुरक्षित आकर प्राप्त हुए। इससे उस शूर से शतकोटि-गुण सुख माताओं को हुआ। इन छः प्रकार के भावों को दिखाने के लिये छः उपमाएँ दी गई हैं। अथवा आनन्द मात्र के आधिक्य दिखाने के लिये उसे कई प्रकार से पुष्ट किया।

(३) 'लोकरीति जननी करहिं'—श्रीरंगजी के मन्दिर में ले जाकर वहाँ गाँठ जोर वर-दुलहिनों को चौक पर बैठा, श्रीरंगजी एवं गौरी-गणेश आदि का पूजन कराया, लहकौर कराके थाल, में भूषण डालकर जुआ खेलाती हैं। भरत आदि को स्त्रियाँ जेठों के सामने सकुचाती हैं। इसी तरह भरत आदि भी बड़ों के बीच में वहाँ सकुचाते हैं। हार-जीत पर सखियाँ उभय पक्षों को गाली गाती हैं, इसपर भी उभय पक्ष सकुचते हैं। 'राम मनहिं मुसुकाहिं'—इसलिये कि जो योगियों को ध्यान में भी अगम है, उसे इन्होंने लोकरीति में बाँध रक्खा है। अथवा मन में यों भी मुसुकाना कहा जाता है कि ऐसे ही जनकपुर वासियों ने बड़ा मोद-विनोद किया, पीछे वियोग पर बिदाई-समय रोये, वैसे ही बारह वर्ष पीछे ये लोग भी वन यात्रा में दुःख भोगेंगे, यह लोक-लीला है।

देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजीं सकल बासना जी की ॥१॥
सबहि बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम-कल्याना ॥२॥
अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥३॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे ॥४॥

आयसु पाइ राखि उर रामहिं। मुदित गये सब निज-निज धामहिं ॥५॥
पुन-नर-नारि सकल पहिराये। घर-घर बाजन लगे बधाये ॥६॥
जाचक जन जाचहिं जोइ जोई। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई ॥७॥
सेवक सकल बजनिआ नाना। पूरन किये दान सनमानाँ ॥८॥

दोहा—देहिं असीस जोहारि सब, गावहिं गुन-गुन-गाथ।
तब गुरु-भूसुर सहित गृह, गवन कीन्ह नरनाथ ॥३५१॥

अर्थ—मन की सब वासनाएँ (इच्छाएँ) पूरी हुईं, (अतः,) देवताओं और पितरों की उत्तम विधान से पूजा की ॥ १ ॥ (फिर) सबकी वंदना करके वरदान माँगती हैं कि भाइयों के साथ श्रीरामजी का कल्याण हो ॥ २ ॥ देवता अन्तर्हित (अदृश्य) रूप से असीस देते हैं, आनन्दपूर्वक माताएँ अंचल भर-भरकर लेती हैं ॥ ३ ॥ राजा ने बरातियों को बुला लिया, और उन्हें सवारियाँ, वस्त्र, रत्न और आभूषण दिये ॥ ४ ॥ आज्ञा पाकर और श्रीरामजी को हृदय में रखकर सब अपने-अपने घर आनन्द पूर्वक गये ॥ ५ ॥ नगर के सब स्त्री-पुरुषों को (वस्त्र) पहनाये, घर-घर बधाइयाँ बजने लगीं ॥६॥ भिक्षुक लोग जो-जो माँगते हैं, आनन्द पूर्वक राजा वही वही देते हैं ॥ ७ ॥ सभी सेवकों और अनेक बाजेवालों को दान और सम्मान से परिपूर्ण कर दिया ॥ ८ ॥ सब प्रणाम करके असीस देते हैं और गुणगणों की कथा गाते हैं, तब गुरु और ब्राह्मणों के साथ राजा ने घर में प्रवेश किया ॥ ३५१ ॥

विशेष (१)—'देव पितर पूजे'—विश्वामित्र के साथ श्रीराम-लक्ष्मण के जाते समय मनौतियाँ मानी गई थीं कि यज्ञ-रक्षा करके कुशलपूर्वक आवेंगे तब अमुक-अमुक विधान से पूजेंगी, वे सब अच्छी विधि से की गईं। 'भाइन्ह सहित राम ···'—क्योंकि श्रीरामजी के तुल्य ही सभी प्रिय हैं, पुनः, श्रीरामजी भी भाइयों के सुख में सुखी होते हैं, यथा—"जनमे एकसंग सब भाई" से "बड़ेहि अभिषेकू।" (अ० दो० ६) तक 'अन्तरहित सुर···'—देवता अदृश्य रूप में बोलते हैं, क्योंकि उनका मूर्तिरूप से बोलना अमङ्गल है। जहाँ प्रकट बोलना है, वहाँ प्राय, मन्त्रों द्वारा आवाहन पर है, अथवा प्रत्यक्ष होकर बोलना है। 'जान बसन मनि-भूषन दीन्हें।'—'जान' से यहाँ सब सवारियों का तात्पर्य है, यथा—"चले जान चढ़ि जो जेहि लायक।" (दो० २९९), 'आयसु पाइ ' मुदित···'—इन्हें यान-बसन आदि के पाने से नहीं, किन्तु श्रीरामजी को हृदय में रखने में आनन्द हुआ।

(२) 'जाचक जन···प्रमुदित राउ···'—जैसे जैसे याचक लोग माँगते हैं, राजा को आनन्द बढ़ता जाता है, अत', 'प्रमुदित' कहा है। 'सेवक ··दान सनमाना'—सेवक आदि के संबंध से दान का अर्थ देने मात्र का है, सकल्प पूर्वक दान नहीं।

जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक - बेद - बिधि सादर कीन्ही ॥१॥
भूसुर- भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥२॥

पाय पखारि सकल अन्हवाये। पूजि भली बिधि भूप जेंवाये ॥३॥
आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे ॥४॥
बहु बिधि कीन्हि गाधि-सुत-पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥५॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पगधूरी ॥६॥
भीतर भवन दीन्ह बर बासू। मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥७॥
पूजे गुर-पद-कमल बहोरी। कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी ॥८॥

दोहा—बधुन्ह समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस।
पुनि पुनि बंदत गुरुचरन, देत असीस मुनीस ॥३५२॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठजी ने जो आज्ञा दी, उसे लोक और वेद विधि को आदर के साथ उन्होंने किया ॥१॥ ब्राह्मणों की भीड़ देख सब रानियाँ अपना बड़ा भाग्य जानकर आदर पूर्वक उठीं ॥२॥ चरण धोकर सबको स्नान करवाया, फिर अच्छी तरह से पूजन करके राजा ने उनको भोजन कराया ॥३॥ आदर, दान और प्रेम से पाले हुए वे मन से संतुष्ट होकर असीस देते हुए चले ॥४॥ गाधिपुत्र विश्वामित्रजी की पूजा बहुत विधान पूर्वक की, 'हे नाथ! मेरे समान धन्य दूसरा नहीं है' (इत्यादि रीतियों से) ॥५॥ राजा ने उनकी बहुत प्रशंसा की और रानियों के सहित उनके चरणों की धूलि को लिया (शिरोधार्य किया) ॥६॥ भीतर महल में उन्हें श्रेष्ठ निवासस्थान दिया, राजा और रनिवास उनके मन को जुगाते रहते हैं ॥७॥ फिर गुरु (वसिष्ठ) के चरण कमलों की पूजा और विनती की, उनके हृदय में थोड़ी प्रीति नहीं है, अर्थात् अत्यन्त प्रीति है ॥८॥ बहुओं के साथ चारो राजकुमार और सब रानियों के साथ राजा बार बार गुरुचरणों की वंदना करते हैं और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं ॥३५२॥

विशेष—(१) 'जो बसिष्ठ अनुसासन ··'—अब यहाँ से भीतर के कृत्य कहते हैं।

(२) 'सादर उठीं भाग्य ··'—एक ही ब्राह्मण विश्वामित्र के आने से कितना मंगल हुआ, अब तो बहुत से एक साथ आये हैं। अत, बड़ा भाग्य है, ऐसा जानकर उन सबके सत्कार के लिये सब उठीं। उठना आदर है, चरण धोकर स्नान करवाकर पीताम्बर पहनवाया, तब तक गुरु आज्ञा के कृत्य करके राजा आ गये, तब शेष कृत्य भोजन आदि राजा ने कराये।

(३) 'गाधि सुत पूजा'—पूजा के समय इस महत्त्व पर दृष्टि थी कि ये राज-पुत्र से ब्रह्मर्षि हो गये, ऐसे तपस्वी हैं। 'मोहि सम धन्य न दूजा'—क्योंकि आपने पधारकर मेरे भवन को पवित्र किया और पुत्रों के बहुत तरह से कल्याण किये, इन्हीं उपकारों के प्रति एवं उनके महत्त्व के अनुसार भूरि प्रशंसा की। 'जोगवना'—यत्न पूर्वक सार सँभार करना।

(४) 'पूजे गुरु पद कमल ··'—राजा जनकजी ने वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी और ब्राह्मणों की पूजा की थी, पर यहाँ उसका उलटा हुआ, क्योंकि प्रधान की पूजा पहले और पीछे भी होती है। दो जगहों में दोनों रीतियाँ दिखाई गई हैं।

'बधुन्ह समेत ··'—'पुनि-पुनि' से प्रेमाधिक्य और 'देत' से बहुत आशीर्वाद जनाये।

बिनय कीन्हि उर अति अनुरागे। सुत संपदा राखि नृप आगे ॥१॥
नेग माँगि मुनिनायक लीन्हा। आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा ॥२॥
उर धरि रामहि सीयसमेता। हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता ॥३॥
बिप्रबधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराईं ॥४॥
बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ॥५॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि-अनुरूप भूपमनि देहीं ॥६॥
प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने ॥७॥
देव देखि रघुबीर-बिबाहू। बरषि प्रसून प्रसंसि उछाहू ॥८॥

दोहा—चले निसान बजाइ सुर, निज निज पुर सुख पाइ।
कहत परसपर रामजस, प्रेम न हृदय समाइ ॥३५३॥

अर्थ—हृदय में अत्यन्त अनुराग के साथ पुत्रों और सम्पत्ति को आगे रखकर राजा ने विनती की ॥१॥ मुनि-श्रेष्ठ ने अपना नेग माँगकर ले लिया और बहुत तरह से आशीर्वाद दिया ॥२॥ सीताजी के साथ श्रीरामजी को हृदय में धरकर गुरु आनन्दित हो घर को चले ॥३॥ राजा ने सब ब्राह्मणियों को बुलवाया तथा सुन्दर वस्त्र और भूषण पहनवाये ॥४॥ फिर सुहागिनी स्त्रियों (गाँव की ब्याही हुई लड़कियों) को बुलवाया और उनकी रुचि समझकर उनके पहनने योग्य वस्त्र और आभूषण दिये ॥५॥ सब नेगी (नाई बारी आदि) अपनी इच्छा के अनुसार नेग लेते हैं, राज-शिरोमणि दशरथजी उनको रुचि के अनुकूल ही देते हैं ॥६॥ जिन प्यारे पाहुनों को पूजा के योग्य समझा, राजा ने उनका भली प्रकार सम्मान किया ॥७॥ देवता लोग रघुवीर श्रीरामजी का ब्याह देखकर और उत्सव की प्रशंसा करके फूल बरसाते हैं ॥८॥ देवता लोग आपस में रामयश कहते हुए नगाड़े बजाकर सुख-पूर्वक अपने-अपने लोकों को चले, उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता ॥३५३॥

विशेष—(१) 'रुचि बिचारि'—क्योंकि ये सब श्रीमान्-घरों की हैं, पूछने पर संकोच होगा; अतः, उनके योग्य विचार कर दिया। 'प्रिय पाहुने पूज्य'—कन्या-बहन आदि सुवासिनियों के पति। 'प्रेम न हृदय समाइ'—अश्रु आदि से प्रकट हो आता है।

(२) 'बिनय कीन्हि उर...'—ऊपर जो विनय की गई, वह पूजा के सम्बन्ध की है, और यह अर्पित वस्तुओं के ग्रहण करने के लिये है। 'नेग माँगि...'—जो इस अवसर पर पुरोहितों को मिलता है, उतना ही माँग लिया, क्योंकि ये 'मुनि नायक' हैं, इनकी कृपा-दृष्टि से दूसरे कुबेर के समान हो सकते हैं इन्हें क्या कमी है? इन्हें भी राजा के सर्वस्व देने पर अपने त्याग एवं संतोष आदि पर हर्ष नहीं हुआ, किन्तु—'उर धरि रामहि सीय समेता।' पर ही हर्ष हुआ, राजा ने 'सुत-संपदा' सब दिये, पर इन्होंने पुत्र रामजी को ही भाव-मात्र से लिया।

सब विधि सबहि समदि नरनाहू । रहा हृदय भरि पूरि उछाहू ॥१॥
जहँ रनिवास तहाँ पगुधारे । सहित बधूटिन्ह कुअँर निहारे ॥२॥
लिये गोद करि मोद समेता । को कहि सकइ भयेउ सुख जेता ॥३॥
बधू सप्रेम गोद बैठारी । बार बार हिय हरषि दुलारी ॥४॥
देखि समाज मुदित रनिवासू । सबके उर अनंद कियो बासू ॥५॥
कहेउ भूप जिमि भयेउ बिवाहू । सुनि सुनि हर्ष होत सब काहू ॥६॥
जनकराज - गुन सील बड़ाई । प्रीतिरीति सपदा सुहाई ॥७॥
बहु विधि भूप भाट जिमि बरनी । रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥८॥

दोहा—सुतन्ह समेत नहाइ नृप, बोलि विप्र गुरु ज्ञाति ।
भोजन कीन्ह अनेक विधि, घरी पंच गइ राति ॥३५४॥

शब्दार्थ—समदि (सम + घदि) = भली भाँति वश (राजी) करके, वा समदन = भेंट, नजर, (अ०) = प्रेम से मिलना ।

अर्थ—सब प्रकार से सबको भली भाँति वश (राजी) करने पर हृदय उत्साह से भर रहा ॥१॥ जहाँ रनिवास था, वहाँ गये और बहुओं के साथ कुमारों को देखा ॥२॥ उन्हें आनन्द सहित गोद में ले लिया, इससे उन्हें जो सुख हुआ, उसे कौन कह सकता है ? ॥३॥ गोद में बैठाये हुए बहुओं को प्रेम सहित बार-बार आनन्दित हो दुलारा ॥४॥ यह समाज देखकर रनिवास आनन्दित है, सभी के हृदय में आनन्द ने निवास कर लिया है ।५॥ जिस तरह विवाह हुआ, वह सब राजा ने कहा । सुन सुनकर सबको हर्ष होता था ॥६॥ राजा दशरथ ने भाट की तरह जनक महाराज के गुण, शील, बड़ाई और सुंदर प्रीति, रीति, सम्पदा का बखान किया । उनकी करनी सुनकर सब रानियाँ प्रसन्न हुई ॥७-८॥ पुत्रों के साथ स्नान करके राजा ने ब्राह्मण, गुरु और जाति-वर्ग को बुलाकर अनेक प्रकार के भोजन किये । इस प्रकार पाँच घड़ी रात बीत गई ॥३५४॥

विशेष— (१) 'जनक राज गुन सील ' '—'सील' यथा—"धोये जनक अवध पति चरना । सील सनेह जाइ नहिं बरना ॥" (दो० ३२६); 'बड़ाई' यथा—"सबध राजन रावरे हम बड़े अब सब विधि भये ।" (दो० ३२७), 'प्रीति' यथा—"मिले जनक दशरथ अति प्रीती ।" (दो० ३१४), 'रीति' यथा—"बहुरि कीन्हि कोसल पति पूजा ।" (दो० ३१०); 'सपदा' यथा—"जो अवलोकत लोक पति लोक सम्पदा थारि ।" (दो० ३३३), इत्यादि ।

(२) 'प्रमुदित सुनि ..'—प्रथम तो जो बात इन्हें सुनने की लालसा थी, वह सब बिना पूछे ही राजा सुनाने लगे, तब हर्ष हुआ, अब राजा जनक के गुण, शील आदि के सुनने पर अत्यन्त हर्ष हुआ कि हमें ऐसे योग्य समधी मिले और कन्याओं में भी पिता के से शील आदि गुण होंगे, वा हमारे घर की शोभा बढ़ेगी । 'भाट जिमि' भाट की तरह कहने में थकते नहीं । उत्साह-पूर्वक कहते हैं । 'घरी पंच गइ

राति'—रात के पहले ही पहर में भोजन करना हराम है, सवा पहर तक निशि-भोजन है, फिर आसुर भोजन है। ऐसी भीड़ में भी समय का सँभाल है।

मंगलगान करहिं बर भामिनि। भइ सुखमूल मनोहर जामिनि ॥१॥
अँचइ पान सब काहू पाये। स्रग-सुगंध-भूषित छबि छाये ॥२॥
रामहि देखि रजायसु पाई। निज-निज-भवन चले सिर नाई ॥३॥
प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई। समय समाज मनोहरताई ॥४॥
कहि न सकहिं सत सारद सेसू। बेद बिरंचि महेस गनेसू ॥५॥
सो मैं कहउँ कवन बिधि बरनी। भूमिनाग सिर धरइ कि धरनी ॥६॥
नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥७॥
बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन-पलक की नाईं ॥८॥

दोहा—लरिका श्रमित उनींद बस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ ॥३५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वह मनोहर रात्रि सुख की मूल (उपजानेवाली) हुई ॥१॥ आचमन करके सभी ने पान पाये, माला और सुगंध (इत्र आदि) से भूषित होने से सभी पर शोभा छाई हुई है ॥२॥ श्रीरामजी को देखकर राजा की आज्ञा पा प्रणाम करके अपने-अपने घरों को चले ॥३॥ वह प्रेम, प्रमोद, क्रीड़ा, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरता ॥४॥ सैकड़ों शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश और गणेश भी नहीं कह सकते ॥५॥ उसे मैं किस प्रकार वर्णन करके कहूँ? क्या केंचुवा (चारा–वाली) पृथिवी को शिर पर धारण कर सकता है? ॥६॥ राजा ने सभी का सब तरह सम्मान किया और कोमल वचन कहकर (रानियों) को बुलाया ॥७॥ "बच्ची बहुएँ दूसरे घर आई हैं, इन्हें नेत्र और पलक के समान रखना ॥८॥ लड़के थके हुए नींद के वश हैं, इन्हें जाकर सुलाओ"—ऐसा कह और श्रीरामजी के चरणों में चित्त लगाकर राजा विश्राम-स्थान (शयनागार) में गये ॥३५५॥

विशेष—(१) 'मंगलगान करहिं···'—ससुराल में भोजन के समय गाली गान होता है और अपने घर में मंगल गान होता है। 'भइ सुखमूल मनोहर जामिनि'—रात में दो अवगुण हैं, दोष और दुःख, यथा —"सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा॥" (दो० २१); तथा —"मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।" (दो० १), यहाँ इसे सुखमूल कहकर दुःख से रहित होना और 'मनोहर' कहकर अंधकार-रूप दोष से रहित होना जनाया, अर्थात् चाँदनी रात थी। 'चले सिर नाई'—ब्राह्मण आदि भी भोजन में थे, उनका राजा को प्रणाम करना अयोग्य है; अतः, यहाँ परस्पर का शिर नवना अर्थ है। प्रेम प्रमोद विनोद...'—'प्रेम प्रमोद' यथा—"प्रेम प्रमोद कहइ को पारा।" (दो० ३१८)। 'विनोद' यथा—"मोद-विनोद बिलोकि बड़" (दो० ३५०), 'बड़ाई' यथा—"भाग्य विभव अवधेश कर" (दो० ३१३); समय, ब्याह मंगल का। 'समाज' यथा—"कोसलपति कर देखि समाजू। अति ल—

लाग…"– (दो० ३१२); यहाँ प्रेम आदि सात बातें कही गई, वैसे इनके वक्ता भी शारद आदि छ कहे गये हैं, एक और श्रीगोस्वामीजी को लेकर सात होते हैं। प्रेम आदि सात ही कहकर सातो समुद्रों की तरह इन्हें अगाध जनाया। 'सो मैं कहउँ…'—वे बहुमुख और ईश्वर कोटि हैं, मैं एक मुख और मनुष्य, फिर वे भी जब सैकड़ों-सैकड़ों असमर्थ हैं, तब एक मैं क्या कह सकता हूँ, इसी को शेष और केंचुए के दृष्टान्त से समझाया।

(२) 'नयन पलक की नाईं'—जैसे पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करना, यथा—"पलक बिलोचन गोलक जैसे।" (अ० दो० १४१)। लरिका श्रमित…राम चरन चित लाइ।' यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं, यथा—'लरिका' और 'बधू लरिकिनी' माधुर्य दृष्टि से कहा है और 'राम चरन चित लाइ' ऐश्वर्य दृष्टि से हैं, क्योंकि पूर्व मनुरूप में आपने ऐसा ही वर माँगा था, यथा—"सुत बिषइक तव पद रति होऊ।" (दो० १५०)। इसमें 'सुत' भाव में माधुर्य और 'पदरति होऊ' में ऐश्वर्य है, वही यहाँ भी है। 'अस कहि गे…'—ऐसा न कह जाते तो यहाँ चित्त लगा रहता, अतः, नींद न आती।

भूपबचन - सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥१॥
सुभग-सुरभि-पय-फेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥२॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥३॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥४॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढ़ाये ॥५॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज-निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥६॥
देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥७॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥८॥

दोहा– घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय, किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ—राजा के स्वाभाविक ही सुंदर वचन सुनकर, स्वर्ण-मणि जटित पलँग बिछाये ॥१॥ सुंदर गाय के दूध के फेन के समान कोमल, बढ़िया, सफेद तोशक बिछाया ॥२॥ और बहुत-से श्रेष्ठ तकिये हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता। उस मणि मंदिर में माला, सुगंध ॥३॥ सुन्दर रत्न-दीप और चँदोवे हैं, वे कहते नहीं बनते, जिन्होंने देखे हैं, वे ही जानें ॥४॥ सुन्दर शय्या रचकर श्रीरामजी को उठाया और प्रेम-सहित पलँग पर सुलाया ॥५॥ श्रीरामजी ने बार-बार भाइयों को आज्ञा दी, तब उन्होंने अपनी-अपनी शय्या पर शयन किया ॥६॥ साँवले, कोमल, सुन्दर शरीर को देखकर सब माताएँ प्रेम-पूर्वक वचन कह रही हैं ॥७॥ हे तात ! मार्ग में जाते हुए तुमने भारी भयानक ताड़का को किस तरह मारा ? ॥८॥ दुष्ट मारीच सुबाहु और घोर निशाचरों को, जो बड़े ही विकट योद्धा थे और जो लड़ाई में किसी को कुछ नहीं गिनते थे, सहायकों के साथ कैसे मार डाला ॥३५६॥

विशेष—(१) 'नाना' शब्द अगली अर्द्धाली के 'रुचिरहन' के साथ है। 'मनिमंदिर' कहा है, अतः, 'रत्नदीप' कहा, क्योंकि रत्न में मणि से अधिक ज्योति होती है। 'सेज रुचिर' यथा—"यत्र चित्र-वितानानि पद्मरागासनानि च। पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः॥" (श्रीमद्भागवत० स्कंध० ७ अ० ४); 'आज्ञा पुनि-पुनि'—भाइयों को शयन के लिये बार-बार आज्ञा देते हैं, तब वे शयन के लिये सेवा छोड़कर गये, यह सेवा-धर्म की रीति जनाई। 'केहि बिधि तात'''—अर्थात् वे राक्षस, पर्वताकार, भयानक और कठोर थे, तुम मनुष्य, छोटे बालक, सुंदर और कोमल हो, अतः, कैसे मारा? 'गनइ नहिं काहु'—देव, दैत्य, नर, नागादि किसी को नहीं गिनते थे, यथा—"एक-एक जग-जोति सक" (दो० १८०)।

मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी॥१॥
मख-रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई॥२॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥३॥
कमठपीठि पबिकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥४॥
बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई॥५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥६॥
आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा॥७॥
जे दिन गये तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहि लेखे॥८॥

दोहा—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद, किये नींदबस नैन॥३५७॥

शब्दार्थ—करवरैं=बाधाएँ। पबिकूट=वज्र समूह, वज्र और पर्वत।

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हारी बलि जाऊँ, मुनि के प्रसाद (अनुग्रह) से ईश्वर ने तुम्हारी अनेकों बाधाएँ टालीं॥१॥ दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु की कृपा से सब विद्याएँ पाईं॥२॥ गौतम मुनि की स्त्री चरण की धूलि लगते ही तर गई, सब लोकों में कीर्ति भरपूर फैल गई॥३॥ कच्छप भगवान् की पीठ और वज्र-समूह से भी कठोर शिव-धनुष को राज समाज में तोड़ा॥४॥ संसार-विजय, यश और जानकीजी को पाया और सब भाइयों को ब्याहकर घर आये॥५॥ तुम्हारे सभी कर्म अमानुष (मनुष्य से विलक्षण) हैं, केवल विश्वामित्र की कृपा ने सुधारा है॥६॥ हे तात! तुम्हारा चन्द्र वदन देखकर संसार में आज हमारा जन्म सफल हुआ॥७॥ जो दिन तुम्हारे दर्शन के बिना बीत गये, उन्हें ब्रह्मा (मेरी आयु की) गिनती में न कर सकें॥८॥ बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर श्रीरामजी ने सब माताओं का संतोष किया और शिवजी, गुरुजी और विप्रों के चरणों का स्मरण करके नेत्रों को नींद के वश किया॥३५७॥

लाग ···"– (दो० ३१२); यहाँ प्रेम आदि सात बातें कही गईं, वैसे इनके वक्ता भी शारद आदि छः कहे गये हैं, एक और श्रीगोस्वामीजी को लेकर सात होते हैं। प्रेम आदि सात ही कहकर सातों समुद्रों की तरह इन्हें अगाध जनाया। 'सो मैं कहउँ···'—वे बहुमुख और ईश्वर कोटि हैं, मैं एक मुख और मनुष्य, फिर वे भी जब सैकड़ों-सैकड़ों असमर्थ हैं, तब एक मैं क्या कह सकता हूँ, इसी को शेष और केंचुए के दृष्टान्त से समझाया।

(२) 'नयन पलक की नाईं'—जैसे पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करना, यथा—"पलक बिलोचन गोलक जैसे।" (अ० दो० १४१)। 'लरिका श्रमित···राम चरन चित लाइ।' यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं, यथा—'लरिका' और 'बधू लरिकिनी' माधुर्य दृष्टि से कहा है और 'राम चरन चित लाइ' ऐश्वर्य दृष्टि से है, क्योंकि पूर्व मनुरूप में आपने ऐसा ही वर माँगा था, यथा—"सुत बिषइक तव पद रति होऊ।" (दो० १५०)। इसमें 'सुत' भाव में माधुर्य और 'पदरति होऊ' में ऐश्वर्य है, वही यहाँ भी है। 'अस कहि गे···'—ऐसा न कह जाते तो यहाँ चित्त लगा रहता; अतः, नींद न आती।

भूपबचन - सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥१॥
सुभग-सुरभि-पय-फेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥२॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥३॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥४॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढ़ाये ॥५॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज-निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥६॥
देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥७॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥८॥

दोहा– घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय, किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ—राजा के स्वाभाविक ही सुंदर वचन सुनकर, स्वर्ण-मणि जटित पलँग बिछाये ॥१॥ सुंदर गाय के दूध के फेन के समान कोमल, बढ़िया, सफेद तोशक बिछाया ॥२॥ और बहुत-से श्रेष्ठ तकिये हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता। उस मणि-मंदिर में माला, सुगंध ॥३॥ सुन्दर रत्न-दीप और चँदोवे हैं, वे कहते नहीं बनते, जिन्होंने देखे हैं, वे ही जानें ॥४॥ सुन्दर शय्या रचकर श्रीरामजी को उठाया और प्रेम-सहित पलँग पर सुलाया ॥५॥ श्रीरामजी ने बार-बार भाइयों को आज्ञा दी, तब उन्होंने अपनी-अपनी शय्या पर शयन किया ॥६॥ साँवले, कोमल, सुन्दर शरीर को देखकर सब माताएँ प्रेम-पूर्वक वचन कह रही हैं ॥७॥ हे तात! मार्ग में जाते हुए तुमने भारी भयानक ताड़का को किस तरह मारा? ॥८॥ दुष्ट मारीच-सुबाहु और घोर निशाचरों को, जो बड़े ही विकट योद्धा थे और जो लड़ाई में किसी को कुछ नहीं गिनते थे, सहायकों के साथ कैसे मार डाला ॥३५६॥

विशेष—(१) 'नाना' शब्द अगली अर्द्धाली के 'उपवरहन' के साथ है। 'मनिमंदिर' कहा है, अतः, 'रत्नदीप' कहा, क्योंकि रत्न में मणि से अधिक ज्योति होती है। 'सेज रुचिर' यथा—"यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च। पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥" (श्रीमद्भागवत० स्कंध० ७ अ० ४), 'आज्ञा पुनि-पुनि '—भाइयों को शयन के लिये बार-बार आज्ञा देते हैं, तब वे शयन के लिये सेवा छोड़कर गये, यह सेवा-धर्म की रीति जनाई। 'केहि विधि तात ···'—अर्थात् वे राक्षस, पर्वताकार, भयानक और कठोर थे, तुम मनुष्य, छोटे बालक, सुंदर और कोमल हो, अतः, कैसे मारा? 'गनइ नहिं काहु'—देव, दैत्य, नर, नागादि किसी को नहीं गिनते थे, यथा—"एक एक जग-जोति सक" (दो० १८०)।

मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी ॥१॥
मख-रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई ॥२॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥३॥
कमठपीठि पविकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥४॥
बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई ॥५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥६॥
आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा ॥७॥
जे दिन गये तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहि लेखे ॥८॥

दोहा—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद, किये नींदबस नैन ॥३५७॥

शब्दार्थ—करवरें = बाधाएँ। पविकूट = वज्र समूह, वज्र और पर्वत।

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हारी बलि जाऊँ, मुनि के प्रसाद (अनुग्रह) से ईश्वर ने तुम्हारी अनेकों बाधाएँ टालीं ॥१॥ दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु की कृपा से सब विद्याएँ पाईं ॥२॥ गौतम मुनि की स्त्री चरण की धूलि लगते ही तर गई, सब लोकों में कीर्ति भरपूर फैल गई ॥३॥ कच्छप भगवान् की पीठ और वज्र समूह से भी कठोर शिव धनुष को राज समाज में तोड़ा ॥४॥ संसार-विजय, यश और जानकीजी को पाया और सब भाइयों को ब्याहकर घर आये ॥५॥ तुम्हारे सभी कर्म अमानुष (मनुष्य से विलक्षण) हैं, केवल विश्वामित्र की कृपा ने सुधारा है ॥६॥ हे तात! तुम्हारा चन्द्र वदन देखकर संसार में आज हमारा जन्म सफल हुआ।७। जो दिन तुम्हारे दर्शन के बिना बीत गये, उन्हें ब्रह्मा (मेरी आयु की) गिनती में न करें ८॥ बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर श्रीरामजी ने सब माताओं का संतोष किया और शिवजी, गुरुजी और विप्रों के चरणों का स्मरण करके नेत्रों को नींद के वश किया ॥३५७॥

विशेष—(१) 'मुनि प्रसाद बलि···'—स्वयं उत्तर भी दे लेती हैं कि उक्त बातें मुनि की कृपा से हुईं। 'अनेक करवरें'—निशाचरों से युद्ध एवं परशुराम आक्रमण आदि। 'सब विद्या'-बला, अतिबला आदि विद्याएँ जो पूर्व कही गईं। 'लगत पगधूरी'—ब्राह्मणी को चरण छुआने की बात पर रामजी को पछतावा होता है, इसलिये छुवाना न कहकर 'लगत' कहा है। 'कमठ पीठ पविकूट'—से तीनों लोकों की कठोरता सूचित की, क्योंकि 'कमठ पीठ' से पाताल, 'पवि' से स्वर्ग और 'कूट' के पर्याय पर्वत से भूलोक की उपमा कही गई। 'कूट' का पर्वत अर्थ, यथा—"पन-बिनाक पवि मेरु ते गुरुता कठिनाई।" (गी० बा० १०१) अतः; यहाँ पर्वत से वज्र और उससे कमठ-पीठ अधिक कठोर कहा गया। कमठ-पीठ नहीं तो वज्र के समान, वह भी नहीं तो पर्वत-समान तो था ही। 'विश्व विजय जस···'—धनुर्भंग में तीनों लोकों के वीर एकत्र थे, वह किसीसे न टूटा, तब इन्होंने तोड़ा, अतः; विश्व-विजय प्राप्त हुई। 'जस', यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४) "भंजि सरासन संभु को जग जय कल कीरति, तिय तिय-मनि सिय पाई।" (गी० बा० १०१)

(२) 'सकल अमानुष करम···' यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खर-दूषन-त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड।" (आ० दो० २५)।

(३) 'आजु सुफल जग···'—श्रीराम-दर्शनों से ही, जन्म सफल होता है, यथा—"राम चरन बारिज जब देखउँ तब निज जनम सफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० १०६)।

(४) 'जे दिन गये तुम्हहिं···'—इन्हें ब्रह्मा गिनती में न ले सकें, यह प्रार्थना ईश्वर से है जो ब्रह्मा का भी नियंता है। प्रारब्ध कर्मानुसार आयु का विधान ब्रह्मा करते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१) अर्थात् मेरे सफल जीवन में इस निष्फल जीवन को न मिलावें। माता की प्रार्थना केवल इन्हीं कुछ महीनों के लिये थी, पर श्रीरामजी ने अपने जन्म के प्रथम की बीती हुई आयु को भी ब्रह्मा के हिसाब से हटा दिया, क्योंकि माताएँ श्रीरामजी के पृथिवी पर प्रकट रहने की अवधि के समीप तक रहीं। यथा—"दसवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्···अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी। पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत॥ अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी। धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता॥" (वल्मी० ७।१०० । १—१६)। 'राम प्रतोषी···कहि बिनीत···'—श्रीरामजी ने कहा, माता! ये सब कार्य गुरुओं की कृपा से, पिताजी के धर्म-बल से और आपलोगों के पातिव्रत्य धर्म की सहायता से हुए, हम तो निमित्त मात्र हैं, आपके सभी मनोरथ सफल ही होंगे। 'सुमिरि संभु गुरु बिप्र पद, यह जगत् के लिये मर्यादा दिखाई, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥" (श्रीमद्भागवत ५।१९।५)

नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥१॥
घर घर करहिं जागरन नारी। देहिं परसपर मंगल गारी॥२॥
पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिं बिलोकहु सजनी॥३॥
सुंदरि बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई॥४॥
प्रात पुनीतकाल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥५॥

बंदि मागधन्हि गुनगन गाये। पुरजन द्वार जोहारन आये ॥६॥
बंदि विप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता ॥७॥
जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति-संग द्वार पगु धारे ॥८॥

दोहा—कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं, आये चारिउ भाइ ॥३५८॥

शब्दार्थ—जागरन = जागने की क्रिया। सोना (शोण) = लाल; शोणः कोकनदच्छविरित्यमरः, रक्तोत्पलं कोकनदमित्यमरः = अर्थात् लाल कमल।

अर्थ—नींद में भी अत्यन्त सलोना (सुन्दर) मुख सोह रहा है, मानों सायंकाल का लाल कमल ॥१॥ स्त्रियाँ घर-घर में जागरण कर रही हैं और एक दूसरी को मंगल गालियाँ देती हैं ॥२॥ रानियाँ कहती हैं कि हे सखी! देखो, (आज) रात्रि शोभित है और (उससे) पुरी भी विशेष शोभित है ॥३॥ सासें सुन्दर बहुओं को लेकर सोईं, मानों सर्पों ने शिर की मणि को हृदय में छिपा रक्खा हो ॥४॥ प्रातःकाल पवित्र समय (ब्राह्ममुहूर्त्त) में प्रभु जगे, मुरगे बोलने लगे ॥५॥ भाटों और मागधों ने गुण-गण का गान किया, पुरवासी द्वार पर प्रणाम करने आये ॥६॥ ब्राह्मण, गुरु, देवता, पिता और माता को प्रणाम कर असीस पा सब भाई आनन्दित हुए ॥७॥ माताओं ने आदर-पूर्वक मुख-कमल के दर्शन किये, तब वे राजा के साथ द्वार पर गये ॥८॥ स्वाभाविक ही पवित्र सब शौचादि क्रिया कर और पवित्र सरयू नदी में स्नान करके चारो भाई पिता के पास आये ॥३५८॥

विशेष (१) 'नींदउ बदन'''मनहुँ साँझ सरसी''' साँझ के समय कमल संकुचित हो जाता ही है, वैसे ही यहाँ लाल कमल (राजीव) के समान नेत्र अधमुँदे से हैं, ललाई की कुछ वैसी ही झलक है, जैसे हरे दलों के भीतर लाल दलों की लालिमा संकुचित लाल कमल में झलकती है। यहाँ बदन के मुख्यांश आँखों पर ही उत्प्रेक्षा है। यहाँ 'सोना' का अर्थ 'सो जाना' नहीं है। 'साँझ' कहने ही से सो जाना (संकुचित होना) आ गया।

(२) 'पुरी बिराजति राजति'''—ऊपर राज-महल की बातें कहकर अब नगर की व्यवस्था क हैं। आज जागरण की रीति है। राज-महल में तो दूलह-दुलहिनें श्रमित होकर आये हैं, सो रहे हैं; इसलिये यहाँ उनकी निद्रा-भंग के भय से केवल जागरण हो रहा है। रानियाँ बैठी हुई आपस में पुरी की शोभा कह रही हैं। पर नगर-भर में सजावट है, मंगल-गान हो रहे हैं, घर-घर में सर्वत्र चहल-पहल है, (सन्नाटा नहीं है)। चाँदनी रात है। रानियाँ कहती हैं—हे सजनी! देखो तो आज की रात्रि कैसी सुहावनी है जिससे सारी पुरी विशेष शोभायमान है।

(३) 'सुंदरि बधुन्ह सासु लै''' सुलाने के लिये सासें भी साथ में बहुओं को हृदय में लगाकर सोईं, जैसे सर्प सोते समय मणि को हृदय में छिपाये हुए पिंडी बाँधकर रहता है कि बीच में फणि रहे। इस तरह वह प्राण के समान मणि की रक्षा करता है, क्योंकि राजा ने भी कहा है—'राखेउ नयन पलक की नाईं।'

(४) 'बंदि मागधन्हि'''—'प्रथम प्रभु जगे, तब मुरगे बोलने लगे, वह शब्द सुनकर समयानुसार बंदी, मागध आदि आकर गुण-गान करने लगे।

(५) 'बंदि विप्र सुर गुरु···'—ब्राह्मणलोग दर्शन देने के लिये द्वार पर आते हैं; अतः, प्रथम ब्राह्मणों की, फिर गुरु की तब पिता-माता की वंदना की। वात्सल्य-रस की दृष्टि बच्चों के मुख पर ही रहती है, यथा—"निरखि बदन कहि भूप रजाई।" (अ० दो० ३८)। अतः, यहाँ भी—'बदन निहारे' कहा है।

भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई ॥१॥
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन-लाभ-अवधि अनुमानी ॥२॥
पुनि बसिष्ठ मुनि कौसिक आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये ॥३॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि राम दोउ गुरु अनुरागे ॥४॥
कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीस सहित रनिवासा ॥५॥
मुनिमन-अगम गाधि-सुत-करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी ॥६॥
बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची ॥७॥
सुनि आनंद भयेउ सब काहू। राम-लषन-उर अधिक उछाहू ॥८॥

दोहा—मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस येहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति ॥३५९॥

अर्थ—राजा ने उन्हें देखकर हृदय से लगा लिया, आज्ञा पाकर हर्ष के साथ बैठे ॥१॥ श्रीरामजी को देख इनके दर्शनों को नेत्रों के लाभ की सीमा समझकर सम्पूर्ण सभा शीतल हुई, अर्थात् सबके तप्त हृदय शीतल हुए ॥२॥ फिर वसिष्ठ और विश्वामित्र मुनि आये, राजा ने मुनियों को सुन्दर आसनों पर बैठाया ॥३॥ और पुत्रों-समेत उनकी पूजा करके चरणों से लगे; अर्थात्, प्रणाम किया। श्रीरामजी को देखकर दोनों गुरु अनुरक्त हो गये ॥४॥ वसिष्ठजी धर्म के इतिहास कहते हैं, रनिवास के साथ राजा सुनते हैं ॥५॥ वसिष्ठजी ने आनंद के साथ गाधि राजा के पुत्र विश्वामित्रजी की करनी बहुत तरह से कही जो मुनियों के मन को भी अगम है ॥६॥ वामदेवजी ने कहा कि यह सब सत्य है, इनकी सुन्दर कीर्त्ति तीनों लोकों में फैली हुई है ॥७॥ सुनकर सब किसी को आनंद हुआ, श्रीराम-लक्ष्मण के हृदय में अधिक उत्साह हुआ ॥८॥ नित्य ही मंगल, मोद एवं उत्सव होते हैं, दिन इसी तरह व्यतीत होते हैं। अयोध्यापुरी आनंद से भरकर उमड़ पड़ी, उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है ॥३५९॥

विशेष (१) 'पुनि बसिष्ठ मुनि···'—'पुनि श्रोता समाज एकत्र होने पर। 'धरम इतिहासा'—क्योंकि राजाओं को विशेष कर धर्म का ही प्रयोजन रहता है, प्रजा-पालन धर्म से ही होता है, धर्म, जैसे वर्णाश्रम और पातिव्रत आदि। 'सहित रनिवासा'—क्योंकि धर्माचरण में रानियाँ भी साथ रहती हैं।

(२) 'मुनि मन अगम गाधिसुत···'—जो करनी करने की कौन कहे और मुनियों को उन बातों के लिये मनोरथ भी नहीं हो सकता। 'करनी'—विश्वामित्र के अलौकिक कार्य। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड के सर्ग ५१-६४ तक शतानन्दजी ने राजा जनक से इस 'करनी' का वर्णन किया है। अन्य पुराणों (मार्कण्डेय और देवीभागवत) में भी विश्वामित्रजी की कथा आई है। ये कान्यकुब्ज के पुरुवंशी

महाराज गाधि के पुत्र हैं। इन्होंने तपस्या के द्वारा ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त किया। क्षत्रिय शरीर मे इनका नाम विश्वरथ था, ब्राह्मण होने पर विश्वामित्र नाम हुआ। ये वैदिक ऋषि हैं। सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु गुरु वसिष्ठ के शाप से चांडाल हो गये थे। विश्वामित्रजी ने यज्ञ कराकर उन्हें सदेह स्वर्ग भेजा, क्योंकि पूर्व के भयानक अकाल में जब विश्वामित्रजी तप कर रहे थे, राजा त्रिशंकु ने उनके परिवार का पालन किया था। इन्द्र ने चांडाल जानकर त्रिशंकु को स्वर्ग से गिरा दिया। विश्वामित्रजी ने अपने तपोबल से त्रिशंकु को बीच ही में रोक लिया और उनके लिये दूसरे स्वर्ग की रचना करने लगे। देवताओं की प्रार्थना पर ही वे इस कर्म से निवृत्त हुए थे। त्रिशंकु के पुत्र राजा हरिश्चन्द्र हुए। वरुण देव के कोप से इन्हें जलोदर हो गया था, क्योंकि मनौती के अनुसार इन्होंने वरुणदेव को नर-बलि नहीं दी थी। विश्वामित्रजी ने वैदिक गाथा का गान कराकर वरुणदेव को प्रसन्न कर लिया और बिना बलि दिये ही राजा नीरोग हो गये।

(३) 'बोले बामदेव सब साँची।'—बहुत महत्त्व कथन से चापलूस एवं झूठा मानने की संभावना थी, इसलिये वामदेव ने 'साँची' कहकर सारी कथा का समर्थन किया और फिर उसे तीनों लोकों की प्रसिद्धि से पुष्ट किया।

(४) 'राम-लखन-उर अधिक उछाहू।'—क्योंकि इनके गुरु हैं। पुनः यह भी सुना था कि पूर्वावस्था में वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी मे विरोध था, तब सन्देह था कि दोनों की सेवा एकत्र से कैसे बनेगी? एक की सेवा से दूसरे के हृदय में भेद होगा। आज वसिष्ठजी ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की, तब वह सन्देह भी दूर हो गया।

(५) 'मंगल मोद उछाह नित...' जैसे माँडव सेराना, कुलदेव-पूजन आदि के उत्सव होते हैं।

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे ॥ १ ॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं ॥ २ ॥
बिस्वामित्र चलन नित चहहीं। राम-सप्रेम-बिनय-बस रहहीं ॥ ३ ॥
दिन दिन सयगुन भूपति-भाऊ। देखि सराह महा-मुनि-राऊ ॥ ४ ॥
माँगत बिदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ भे आगे ॥ ५ ॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी ॥ ६ ॥
करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥ ७ ॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी ॥ ८ ॥
दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति-रीति कहि जाती ॥ ९ ॥
राम सप्रेम संग सब भाई। आयसु पाइ फिरे पहुँचाई ॥ १० ॥

दोहा—रामरूप भूपतिभगति, ब्याह उछाह अनंद।
जात सराहत मनहिं मन, मुदित गाधि-कुल-चंद ॥ ३६० ॥

अर्थ—शुभ दिन शोधकर सुन्दर कंकन खोले गये। मङ्गल, मोद-प्रमोद और विनोद थोड़े नहीं हुए॥ १॥ देवता नित्य नये सुख देखकर ललचाते हैं और ब्रह्माजी से श्रीअवध में जन्म होना माँगते हैं॥ २॥ विश्वामित्रजी नित्य ही चलना (विदा होना) चाहते हैं, पर श्रीरामजी के प्रेम सहित प्रार्थना वश होकर रह जाते हैं॥ ३॥ दिन-पर-दिन राजा का सौगुना प्रेम देखकर महामुनिराज सराहना करते हैं॥ ४॥ विदा माँगते समय राजा अनुराग से पूर्ण होकर पुत्रों के साथ आगे खड़े हो गये॥५॥ (और बोले कि) हे नाथ! यह सब सम्पदा आपकी है, स्त्री-पुत्रों के साथ मैं आपका सेवक हूँ॥ ६॥ सदा लड़कों पर कृपा करते रहियेगा और हे मुनि! मुझे भी दर्शन देते रहियेगा॥ ७॥ ऐसा कहकर राजा पुत्रों और रानियों के साथ चरणों पर पड़ गये, उनके मुख से वचन नहीं निकलते॥ ८॥ विप्र विश्वामित्रजी ने बहुत तरह से असीस दी और चले, प्रीति की रीति कही नहीं जाती॥ ९॥ सब भाइयों के साथ श्रीरामजी प्रेम पूर्वक पहुँचाकर आज्ञा पाकर लौटे॥ १०॥ श्रीरामजी के रूप, राजा की भक्ति, विवाह और उत्सव आनन्द को गाधि कुल के चन्द्र-रूप विश्वामित्रजी आनंदित होकर मन-ही-मन सराहते हुए चले जा रहे हैं॥ ३६०॥

विशेष—(१) 'सुदिन सोधि कल…'—कंकन खोलना भारी उत्सव है, इसका मुहूर्त कई दिनों के शोधने पर मिला। 'विनोद'—स्त्रियाँ परस्पर जल छिड़कती हैं।

(२) 'विश्वामित्र चलन नित…'—शंका—श्रीराम-दर्शन और अवध का सुख छोड़कर मुनि वन को क्यों जाते हैं? समाधान—(क) व्यवहार की रीति से, जैसे सभी आये हुए लोग विदा हुए वैसे ये भी जाना चाहते हैं। (ख) जिस भजन से श्रीरामजी शिष्य होकर मिले, उसके आदर के लिये वन को जाते हैं, क्योंकि भजन वन में उत्तम होता है।

(३) 'लरिकन पर छोहू'—लड़के मुनि के शिष्य हैं; अतः, उनपर वात्सल्य से विशेष छोह रक्खेंगे और उस नाते से आकर दर्शन भी देंगे; अतः, अपनेको गौण में कहा। 'असीस बहुभाँती', क्योंकि प्रणाम करनेवाले राजा भी स्त्री-पुत्र आदि के साथ बहुत भाँति के हैं।

(४) 'रामरूप भूपतिभगति …'—'रामरूप'—"रूप सिंधु सब बंधु" (दो० ३१५)। 'भूपति-भगति'—"दिन-दिन सय गुन भूपति भाऊ।" 'ब्याह-उछाह'—"प्रभु बिबाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥" आगे कहा है। 'अनंद'—"बसे अनंद अवध सब तबते।" आगे कहा है। गाधि 'कुलचंद'—मुनि स्वयं भी राजा के पुत्र थे, वहाँ भी संत-सेवा एवं विवाह आदि उत्सव देखे थे, पर यहाँ तो इन्हें सब आश्चर्य ही देख पड़े।

बामदेव रघुकुल-गुरु ज्ञानी। बहुरि गाधिसुत कथा बखानी॥१॥
सुनि मुनि सुजस मनहिं मन राऊ। बरनत आपन पुन्यप्रभाऊ॥२॥
बहुरे लोग रजायसु भयेऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयेऊ॥३॥
जहँ तहँ रामब्याह सब गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥४॥
आये ब्याहि राम घर जब ते। बसे अनंद अवध सब तब ते॥५॥

अर्थ—वामदेवजी और रघुकुल के ज्ञानी गुरु वसिष्ठजी ने फिर भी विश्वामित्रजी की कथा बखान कर कही॥१॥ मुनि का सुयश सुनकर राजा मन-ही-मन अपने पुण्यों के प्रभाव का बखान करते हैं

॥२॥ आज्ञा हुई, और सभा के लोग अपने-अपने घरों को बहुरे अर्थात् लौटकर गये, पुत्रों के साथ राजा घर गये ॥३॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग श्रीरामजी का ब्याह गा रहे हैं, पवित्र यश तीनों लोकों में छा गया ॥४॥ जब से श्रीरामजी ब्याह करके घर आये, तब से सभी आनन्द अवध में आ बसे ॥५॥

विशेष—(१) 'बहुरि गाधि-सुत कथा'''—पहले मुनि की कथा मुनि के सामने कही गई थी, उससे यह भी समझा जाता कि उनकी प्रसन्नता के लिये कही होगी ; इसलिये उनके परोक्ष में भी आनन्द के कारण फिर से उसका विस्तार किया, प्रथम कुछ संक्षेप में कहा था।

(२) 'बसे अनंद अवध सब तब ते'—जबसे विश्वामित्रजी श्रीराम लक्ष्मण को साथ ले गये थे, तबसे अवध के सब प्रकार के आनन्द उजड़ गये, वे फिर आ बसे। अथवा, इनके वियोग से लोग सब दुःखित थे, वे आनन्द से बसे। अथवा, आनन्द के मूल श्रीसीतारामजी हैं, दोनो के यहाँ पर आ जाने से सब तरह के आनन्द यहीं पर आ बसे।

प्रभुबिबाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥६॥
कबि - कुल - जीवन - पावन जानी। राम - सीय - जस मंगलखानी ॥७॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी ॥८॥

छंद—निज गिरा-पावनि-करन-कारन रामजस तुलसी कह्यो।
रघुबीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कवने लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ॥

सोरठा—सिय - रघुबीर - बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाह, मंगलायतन रामजस ॥३६१॥

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने सुख-सम्पादनो नाम
॥ प्रथमः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—प्रभु के ब्याह में जैसा उत्साह हुआ, उसे सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते ॥६॥ श्रीसीतारामजी के यश को कवि के परिवार का जीवन, पवित्र करनेवाला और मंगलों की खान जानकर मैंने अपनी वाणी पवित्र करने के लिये कुछ बखान कर कहा है। मुझ तुलसीदास ने अपनी वाणी पवित्र करने के लिये (ही) राम-यश कहा। (नहीं तो) श्रीरघुवीर-चरित अपार समुद्र है, किस कवि ने उसका पार पाया है? जो लोग यज्ञोपवीत, ब्याह, उत्साह और मंगल को सुनकर आदर सहित गावेंगे। वे लोग श्रीसीतारामजी की प्रसन्नता से सदा सुख पावेंगे॥ श्रीसिय-रघुवीर के विवाह को जो प्रेम के साथ गाते और सुनते हैं, उनको सदा उत्साह होता है, (क्योंकि) श्रीराम-यश मंगल का धाम ही है ॥३६१॥ समस्त कलि के पापों को नाश करनेवाले श्रीमद्रामचरितमानस में 'सुख-सम्पादन' नाम का पहला सोपान समाप्त हुआ ॥१॥

विशेष—(१) 'अपार वारिधि पार'''—श्रीराम-चरित अपार समुद्र है, इसका पार किसी ने नहीं पाया, तो मैं कैसे पाऊँगा। मैंने तो अपनी वाणी की पवित्रता के लिये कहा है, कुछ पार पाने के लिये नहीं। इसी तरह सातों सोपान मानो सातों समुद्र हैं।

(२) 'उपबीत ब्याह-उछाह मंगल...'—अब इस काण्ड की फलश्रुति कहते हैं। 'ब्याह-उछाह' तो बहुत विस्तार में कहा गया है, पर यज्ञोपवीत की एक ही अर्द्धाली है—"भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु-माता ॥" (दो० २०१); तो इसे क्या गावें? इसका उत्तर यह है कि विवाह के जो मातृका पूजा एवं होम आदि कृत्य होते हैं, वे ही सब यज्ञोपवीत में भी होते हैं। भेद यही है कि विवाह में भाँवरी और इसमें जनेऊ। 'उछाह', यथा—"प्रभुबिवाह जस भयेउ उछाहू ॥" (उपर्युक्त); मंगल'—"प्रशस्ता चरणं नित्यमप्रशस्ता विवर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनयस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" (बृहस्पतिः)।

(३) 'बैदेहि-राम-प्रसाद'''—सुख सुकृत से मिलता है और वह परिमित है, पर यह यश-गानरूप सुकृत नित्य है; अतः, इसका फल रूप-सुख 'सर्वदा सुख' पाना कहा है। प्रसाद के विषय में पिता की अपेक्षा माता प्रधान है, अतः, वैदेहीजी को प्रथम कहा गया है, यथा—"कबहुंक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी'''" (वि० ४१)।

(४) "सिय रघुबीर बिवाह...सदा उछाह..."—ब्याह से उछाह की वृद्धि होती है, यथा—"प्रभु-बिवाह जस भयेउ उछाहू ॥" इसी से वक्ता श्रोता को उछाह (उत्साह) सदा होता है। पुनः; उत्साह से सुख होता है, इसी से आगे 'सुख-संपादन' सोपान का महत्त्व कहते हैं।

'इति श्रीरामचरितमानसे'—ग्रंथकार अपने कृत इस ग्रंथ के एक भाग रूप सोपान की इति लगाते हैं, चरित की नहीं; उसे तो ऊपर 'अपार बारिधि' कह आये हैं। 'कलि-कलुष विध्वंसने' यथा—"मनक्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मनलाई ॥" (उ० दो० ११५) इस सोपान में कहे हुए उपवीत-विवाह आदि कर्म एवं सुकृत हैं, इनका फल सुख है, स्पष्ट 'सर्वदा सुख पावहीं' कहा भी है; अतः, इस सोपान का नाम 'सुख संपादन' कहा गया है।

यहाँ तक पार्वतीजी के चार प्रश्नों के उत्तर आ गये। इस सोपान का प्रारम्भ भाषा में सोरठा छंद से हुआ था, उसी से समाप्त भी हुआ है।